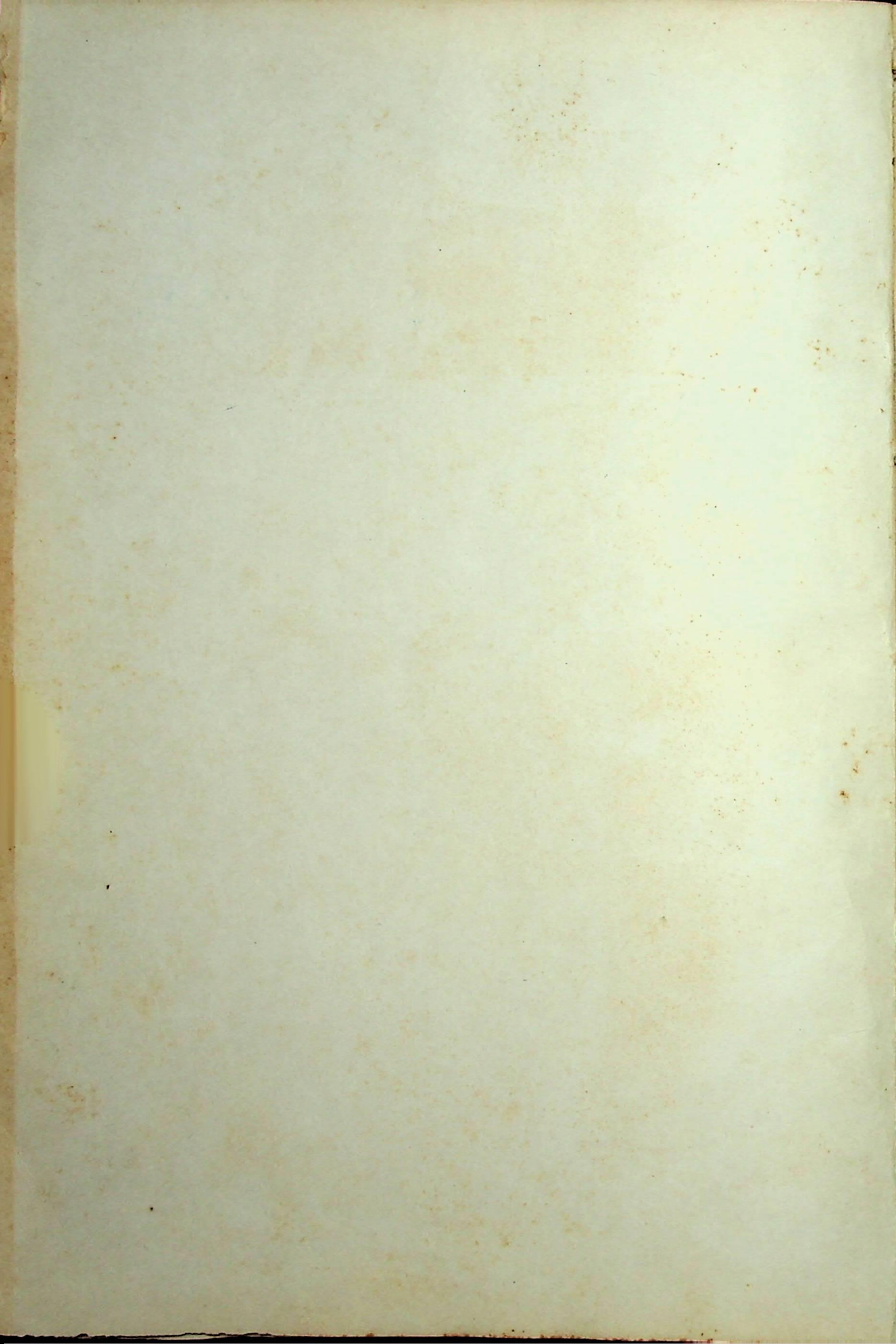






वैदिक धर्म

ओ३म्

जनवरी १९४१ से दिसम्बर १९४१

१० अंक



दिक धर्म ।

जनवरी १९४

पौष १८६२



र्ष २२] क्रमांक २५३ [अंक १

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क १

विषयानुक्रमणिका

१ सर्वाधार प्रभु ।		१
२ सदैक्यवाद और द्वैतवाद ।		२
३ ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप ।	श्री. पं० रामावतारजी विद्याभास्कर	१७
४ कृष्ण कौन ?	श्री. आचार्य पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति	२६
५ स्वास्थ्यरक्षा और हवनयज्ञ ।	श्री. डॉ० कुन्दनलालजी, एम्. डी., डी. एस्., एल्. एम्. आर. ए. एस्. (लंडन)	२८
६ श्राद्ध और तर्पणपर विचार ।	श्री. पं० रामचन्द्रजी आर्य, हेडमास्तर (रिटायर्ड)	३४
७ श्री वाल्मिकीय रामायणका भाषानुवादसमेत मुद्रण ।		४४
८ वेदोपदेश ।		१७-२४
९ ऋग्वेदानुक्रमणी ।		९७-१०४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५३

वर्ष २२ : : : : अङ्क १

पौष संवत् १९९७

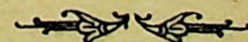
जनवरी १९४१

सर्वाधार प्रभु।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां
वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं
प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि, कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १०-७-३९)

सब देवताएं हाथों, पावों, वाणी, कान और आंख से जिसको अर्पण करने के लिये अपरिमित बलि सदा लाकर देतीं हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है, वही सबको आनन्द देनेवाला है।



सदैक्यवाद और द्वैतवाद।

कुछ शंकाएँ।

हमारे पास इस विषयपर कई शंकाएं आ गयीं हैं, जिनमेंसे श्री० म० श्रीभूषणजी गुप्तके तीन पत्र हम यहां देते हैं और उनका विचार करते हैं—

[१] सोजतरोड ३-७-३९

(१) मैं तो दैवत-संहिता के प्रकाशन को उत्सुक-हृदय से बाट जोह रहा हूं। कृपया छपते ही भेजने का प्रबन्ध करें।

(२) विश्वरूप-दर्शन में मेरे विचार आपके अनुभव से एकदम मिलते हैं। परन्तु एक बात का भय है। सज्जन-वृन्द ईशसाक्षात्कार पर अधिक जोर देते हैं और उसके उपरान्त आगे क्या करना है, यह नहीं बताते। इसलिए तथा समाज में फैली हुई सैद्धांतिक भ्रांति के कारण साधारण लोग ईशोपासना को अन्तिम समझते हैं। मेरे विचार से ईशसाक्षात्कार ईशोपासना से कुछ न्यून ही है, तथापि ईशोपासना भी अन्तिम चीज नहीं-उस उपासना के कारण ईश से हम में कर्तव्यज्ञान की एक अक्षय धारा स्फुरित होने लगती है और हमें अनन्त कर्म की ओर प्रेरित करती है।

(३) फिर किसी व्यक्ति के रूप साक्षात्कार से ही उसके गुण, कर्म और स्वभाव का परिचय नहीं प्राप्त हो जाता- और जबतक यह नहीं होता, विद्वान् पुरुष उससे कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करते- फिर मित्रता और घनिष्टता तो कोसों दूर की वस्तु है। आपके लेखोंने ईश्वर के रूप पर तो विशद प्रकाश डाला और समझाया कि, ईश्वर देखा जा सकता है-परन्तु गुत्थी अभी सुलझी नहीं। ईश्वर की काया को ईश्वर मानकर उस काया की आत्मा से अनभिज्ञ पुरुष काफी इधर उधर भटक सकता है। जैसे स्वयं में अपनी कायाके गुणोंके पीछे चलकर अपने आध्यात्मिक हित से दूर भाग जाता हूं। इसलिए प्रार्थना है कि, इस लेखमाला को आगे बढायें और स्वरूपसाक्षादनन्तर गुण-साक्षात्कार, कर्मसाक्षात्कार तथा स्वभावसाक्षात्कार तक इसे पहुंचायें, जिससे ईश्वर का वास्तविक विज्ञान हो सके।

ईश्वरविषयक यह सब कर लेने पर भी उस विज्ञान को क्रियात्मक स्वरूप देनेके लिये आवश्यक है कि, प्रत्येक मनुष्य अपने रूप, गुण, कर्म और स्वभाव का भी उतना ही सूक्ष्म दर्शन करे और फिर निश्चित करे कि इस बृहत्-ब्रह्मके शरीर में उसका कौनसा स्थान है- वह हाथ है पैर, अथवा आंत का एक क्षुद्र खट्टा-रस- इस प्रकार निर्णय करनेपर ही उसे स्वधर्म का ज्ञान हो सकता है और वह मेरी अंगुली की तरह अंगुलीका कार्य करके धर्म निबाह सकता है- अन्यथा अंगुली सिर का कार्यविचार करनी करने लगे, तो देह में अनुशासन नष्ट हो जाये और व्याधि उत्पन्न हो जाये। आशा है आप इस ओर वैदिक अनुसंधान कर परिमार्जित लेख दे सकेंगे।

[२] सोजतरोड ११-३-४०

(४) सिद्धांतरूपसे " सदैक्यवाद " से मैं पूर्ण रूपसे सहमत हूं, यह मेरे पत्रमें मैंने स्पष्ट कर दिया था।

(५) वस्तु एक है- पर वेद में उसके लिये अनेक शब्द क्यों प्रयुक्त हैं। क्या अग्नि के स्थान पर इंद्र है, ईश्वर आदि शब्द का प्रयोग करने से वेदमंत्र शुद्ध बना रहेगा। मेरे सिद्धांत से ऐसा करना वेद की वैज्ञानिकता को नष्ट करना होगा और महान् अधर्म होगा। इस पूर्वपक्ष पर मैं यह भी साहस करूंगा कि, ब्रह्म और ईश्वर शब्द पर्यायवाची नहीं- यद्यपि ब्रह्म का एक पहलू ईश्वर भी है। अतैव ब्रह्म और ईश्वर से गुणभेद व्यक्त होता है- एक दूसरे के स्थान पर उनका प्रयोग भ्रान्तिकर, अवैज्ञानिक तथा अवैदिक है।

' ब्रह्म ' वेद में कम आया है, तो ' वर ' सहित ' ईश ' भी अधिक नहीं आया है। सामान्य पुस्तकों की गडबड गोष्टी में हमें पडना नहीं है- उनके कारण ही हमारा वैज्ञा-

निक दृष्टिकोण नष्ट होकर एक काल्पनिक ईश्वर का सृजन हुआ है। गीता में ईश्वर शब्द किन अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, यह देखने के पूर्व हम शब्द के धात्वर्थ से व्यञ्जित उसके द्वैतभाव को आपके सामने रखेंगे। 'ब्रह्म' शब्द यद्यपि अत्यन्त निर्विकार है, तथापि अत्यन्त निर्विकार ही परमैक्य स्थान गति अथवा उद्देश्य है- विकार भेदवाला है, यह आपने स्वयं स्वीकार किया है और जहां भेद है, वहां पूर्ण अद्वैत कुंठित होता है। जो जैसा है, उसे वैसा कहना ही वैदिक नामकरण है- सामान्य नामकरण तो दरिद्र को हजारीलाल कहना जैसा है, उससे भ्रांति होती ही है—

गीता में ईश्वर शब्द 'भूतानां ईश्वरः' ऐसा विशेषण के साथ प्रायः आता है, जिसमें भूत और ईश दो वस्तुएं रहती हैं। फिर स्वामी के लिये उसका स्वामित्व व्यक्त करनेवाला पदार्थ तो चाहिये ही। वेद में ईश से आवासित जगत् का वर्णन है ही- माण्डूक्योपनिषद् में सर्वेश्वर शब्द ओ३म् की म् मात्रा का व्यञ्जक है, जो सुषुप्त स्थान का द्योतक माना गया है- अव्यय ओ३म् तो अत्यन्त निर्विकार तथा अव्यवहार्य है ही—

गीता में ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर ऐसे विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि, गीता ग्रंथ के समयमें ईशत्व किसी एक पदार्थमें ही नहीं माना जाता था, परन्तु इन बृहत ईशोंमेंसे एक ईश ईड्य था- उसके लिये 'ईड्यं ईशम्' ऐसा प्रयोग किया- (ईश-ब्रह्मा गीता: ११-१५) यही हाल ईश्वर शब्द के साथ गीता में है।

ईश्वर शब्द- गीता ४-६ में भूतानाम् ईश्वरः। १३-२८में है, परन्तु १३-२७ में परमेश्वर शब्द पडा है, उसके स्थान पर यह लघुरूप काव्यदृष्टि से है। १५-८ में तो ईश्वर शब्द सामान्य जीवात्माबोधक ही है। १५-१७ में ईश्वर के विशेषण फिर परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि आ गये। फिर १६-१४ में स्पष्ट अपने को ईश्वर माननेवाला मूर्ख कह दिया गया।

(६) ईश्वर के रहने का स्थान गीतानुसार हृदय है (गीता १८-६१) और 'रूपमैश्वरं' का अवलोकन चर्मचक्षु न होकर दिव्यचक्षु हैं (गीता ११-८)।

(७) फिर गीता इन क्षर और अक्षर दोनों पुरुषों से परे एक और पुरुष मानती है, वही पूर्ण अद्वैत है- व्यक्त में तो भेद है ही और भेद तीन प्रकार का है- ईश्वर, जीव और अष्टधा प्रकृति, यह गीता को मान्य है—।

खैर हमारे विषय के लिये पर्याप्त है कि, गीताका ईश्वर उसके ब्रह्म का पर्यायवाची नहीं। गीता में अधिकतर ईश्वर शब्द गुणवाची ही है और ब्रह्म शब्द उससे अधिक आया है, तथा विशिष्ट अर्थ रखता है- गीता ने अपने क्लिष्ट शब्दों की परिभाषा स्वयं की है- सामान्य शब्दों का यौगिक प्रयोग किया है- गीता का वार्तालाप अद्वैतवादी न होकर द्वैतवादी है- और अर्जुन में और कृष्ण में स्वामी और सेवक (आज्ञापालक) के भेद को स्पष्ट करता है- यद्यपि वह भी ब्रह्मैक्य का समर्थन करता है। आशा है आप इस पर विचार करेंगे और शास्त्रपूत शब्द का ही प्रयोग करने का हठ करेंगे, अन्यथा आप के लेख काल बीतने पर भ्रांतिकर बन सकेंगे। अस्तु।

(८) दूसरी शंका यह है- वह आपके उदाहरण से ही चलकर बताने का प्रयत्न करेंगे। मिश्री का टुकडा प्राप्त हुआ- उसका मीठापन और रूप दोनों एक साथ मिल गये- आप का कथन हैं। मेरे विचार में एक अनभिज्ञ को उसका रूप और पार्थिव हिस्सा पहले प्राप्त हुआ, फिर चखने पर उसका मिठास, फिर उसकी वासना और फिर उसकी कामना आदि आदि (अर्थात् मिश्री का गुण जो हमें आकर्षित करता है, वह उसके शरीरके पश्चात् मिला), फिर उससे स्वास्थ्य-उसका कार्य व जीवात्मा मिला- परन्तु अधिक खा गये बिगडा स्वास्थ्य- तब प्रतीत हुआ कि, इसका जीवात्मा अपना अलग राज्य बना रहा है और हमारे साम्राज्य में विप्लव कर रहा है- इस पर ज्ञात हुआ उसके प्रयोग करने का नियम तथा उसकी उचित मात्रा- इससे मिला हमें आनन्द (यह है मिश्री का ईश्वर)। एक के पश्चात् एक होता है- अब ज्ञानी को मिश्री का सान्निध्य होते ही यह सब ज्ञात हो जाता है- परन्तु अज्ञानी को नहीं- श्रुति भी अविद्या और विद्या का पृथक् पृथक् ज्ञान होना सम्भव मानती है- हां, उनके एक साथ ज्ञान से कल्याण होता है, यह तो सिद्धांत है ही- कृपया अपने विचार लिखें।

[३] सोजतरोड ३।१२।४०

(९) वैदिक धर्म में 'ईश्वर-साक्षात्कार' लेखमाला

*

बडे सुन्दर विषय को लेकर प्रकट हुई। परन्तु खेद है कि, प्रतिपक्ष सामने आनेपर वयोवृद्ध सम्पादकजी ने उसे बन्द कर देना ही उचित समझा।

इस लेखद्वारा मूल सिद्धान्तपर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं।

सिद्धान्त।

वेद में तत्त्व (ईश्वर, जीव, प्रकृति) सम्बन्धी द्वैत (त्रैत) मान्य है। ब्रह्मात्मक (सर्वात्मक) अद्वैत मान्य है।

भ्रान्ति के प्रधान कारण।

संस्कृत भाषा के अप्रचलित हो जाने से, वैयाकरणी टीकाओं का पाण्डित्यपूर्ण परन्तु अवैदिक, सृष्टिनियमविरुद्ध तथा अवैज्ञानिक प्रभाव।

वैदिक देवताओं और ऋषियों का पौराणिक (पुराण वास्तव में काव्यात्मक-लाक्षणिक ग्रंथ है) देवताओं और ऋषियों से मिलान-जिस कारण से, वेद ऐतिहासिक ग्रंथ हैं, वेद के देवता और ऋषि द्वन्द आदि बाद में मंत्रों पर जोड दिये गये हैं, ऋषि व्यक्तिविशेष हैं, जिन्होंने समय समय पर वेदमंत्रों का दर्शन किया; अतः वेद संकलित ग्रंथ हैं, आदि आदि वाद प्रचलित हुए और आश्चर्यजनक रीति से " वेद ईश्वरप्रणीत हैं " ऐसा माननेवालों में भी फैले।

धर्मप्रवर्तकों के समयोचित पक्षमण्डन की ओर सत्याग्रह के स्थान पर अनुयायीवर्ग का पक्षपातपूर्ण दुराग्रह।

सिद्धान्तपक्ष में प्रमाण-

विपक्ष के प्रमाणों को देख जाना ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य है, अन्यथा लेख का कलेवर अत्यधिक हो जाने की सम्भावना है।

(१०) अतः हम संपादकजी के दृष्टांत को लेकर चलेंगे। मिश्री क्या है- एक वस्तु-अतः अद्वैत सिद्ध है। सूक्ष्मरूपेण यही विपक्ष है। विश्लेषण कीजिये-मिश्री क्या है मिठास, रवा (Crystle), उसमें एक कपास का सूत्र भी। अब न रवा मिश्री है, न मिठास, यदि ऐसा कहें तो शास्त्र में प्रसिद्ध अतिव्याप्ति-दोष आ जायगा। सूत्र तो साफ ही मिश्री नहीं है। अब क्या इन तीनों के 'एकत्व' (मिश्री) में मिठास, रवा अथवा सूत्र तीन होकर 'एकैव' शेष है। स्पष्ट है कि, तीनों के 'योग' का नाम मिश्री है।

बस ब्रह्म भी ऐसा ही है- प्रकृति, जीव, परमात्मा- **'अयं यदा विंदते ब्रह्ममेतद्' 'सर्वं खविदं ब्रह्म'** आदि आदि। 'एकत्व' के ऊपर विशेष आग्रह है- उसी उपनिषद् से 'एकत्व' देखने की रीति भी देख लें-समत्वदर्शन करना चाहिये, गीता उठा लें, ब्राह्मण, चाण्डल, गौ और कुतिया के 'समत्व' देखनेवाला पंडित है। गौ को कुतिया और ब्राह्मण को चाण्डाल समझनेवाला साफ मूर्ख है- परन्तु सबके साथ पक्षपातरहित व्यवहार करनेवाला तथा सब को इस विराट् विश्व का अंग समझने वाला ही वास्तव में पंडित है। एकत्व और समत्व आँग्ल भाषा के Union, and Balance के पर्यायवाची हैं। ब्रह्म-विषयक हमारे विचार और स्पष्ट हो जायेंगे, यदि प्रकृति, जीव, परमात्मा (जो पौराणिक वातावरण के कारण रूढ व्यक्तियें बन गई हैं) के स्थान पर, सत्, चित्, आनन्द (Matter Energy, Bliss) रख कर विचार किया जाये। यदि अघमर्षण मन्त्र के सत्य, ऋत और तपस् पर ध्यान दें, तो सर्वोत्तम हो, प्रतिदिन सन्ध्यासमय सब प्रहेलिका खुलती रहे और अघों का नाश हो जाये।

थोडा उपनिषदों को भी देख लें— 'उद्गीथमुपासित' अद्भुत उपदेश है— 'ओ३म्' एक महान् सूत्र है। उपासना कीजिये, मालूम हो जायेगा- क्या है, किस प्रकार है- ओ३म्, सच्चिदानन्द आदि पर विचार करें। हमें अभी तक कोई अद्वैतवादी इन मंत्रों के विपक्ष में वेद अथवा उपनिषदोंसे एकाक्षर मंत्र निकाल देनेवाला मिला नहीं है- कदाचित् भविष्य में आशा भी नहीं है।

(११) हमारे पूर्वजों ने योगमार्ग सर्वप्रशस्त बताया है। कदाचित् वे शब्दशास्त्री थे, अतः 'लोप' के स्थान पर उन्हों ने 'योग' का वर्णन किया है? गीता सर्वयोग समन्वय ग्रंथ होने से ही इतना पूज्य है। सर्व योगों का समन्वय जिस के जीवन में हो, वह ही जीवनमुक्त, योगेश्वर आदि हो सकता है। एकांगी (Ill-balanced) जीवन ठीक नहीं- भारतवासियों की यह साधारण कमी है।

पूर्व इस के कि सम्पादकजी के वैदिक प्रमाणों को देखें, एक और बात ध्यान में रखें। एक सज्जन " गीतापातञ्जलयोग का ग्रंथ है, " उसके प्रत्येक अध्याय से योग शब्द निकाल कर प्रतिपादित किया करते थे, गीता में

" योगः कर्मसु कौशलम्, " "समत्वं योग उच्यते " आदि होने पर भी। पातञ्जल योग गीता में वर्णित है, यह सब मानते हैं— परन्तु केवल वही है, यह स्पष्ट पक्षपात है। आजकल भी Techincal Books अपने Terms की व्याख्या स्वयं कर देती हैं और उस पुस्तक में उस शब्द के वही अर्थ लिये जाते हैं। अतः बह्वर्थबोधी शब्दों को कामधेनु न बनाकर हमें पुस्तकप्राप्त परिभाषाओं का विचार रखना चाहिये, यह सिद्धान्त है।

(१२) सम्पादकजी ने पेश किया है— पुरुषसूक्त, अर्थ भी दिये हैं- परन्तु न जाने क्यों ' पुरुष ' के अर्थ मानव पुरुष न मानकर परमात्मा कर दिये। सूक्त के ऋषि हैं नारायण=ईश्वर, देवता हैं ' पुरुष '। इन संकेतों का ध्यान भूल गये। ऋषि मंत्र का विषय नहीं और न ऋषि और देवता एक बात हैं। ' पुरुष ' का क्या अर्थ लेना चाहिये, यह उस महात्मा नारायण ने स्वयं सूक्त के दूसरे मंत्र में दे दिया है ' पुरुष एवेदं सर्वं। ' ईश्वर सर्व का एक अंग है- अंग अंगी के बराबर कभी हो नहीं सकता। पुरुषसूक्त हमें सृष्टिविकासक्रम बताता है और उसके भिन्नभिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध सुंदर कल्पनाद्वारा अलंकारिक भाषा में समझा देता है— कल्पना शब्द मेरा नहीं, सूक्त स्वयं उसे प्रयोग करता है।

(१३) दूसरा मंत्र पेश है यजुर्वेद का-मंत्र या ऋषि स्वयम्भु ब्रह्म, देवता आत्मा। यह ऋषि-देवताक्रम पूर्व-क्रम से बिलकुल विपरीत है और विशेष ध्यान देनेयोग्य है। यह वास्तव में ईश्वरपरक मंत्र है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि, ईश्वर चांद है सूरज है, और कदाचित् इस लेख का लेखक भी है। मंत्र के वैदिक अर्थ अध्याय के दूसरे मंत्रकी सहायतासे कीजिये। स्पष्ट " विद्युतः अधि-पुरुषात् " विद्युत्-तुल्य अधिपुरुष है, यह आत्मा। इस विद्युत्युग में, विद्युत् सब कुछ है—बल्ब में प्रकाश, भट्टी में अग्नि, पंखे में वायु, विस्फोटक में इन्द्र, रिफ्रीजरेटर में शीत (चन्द्रमा), तार, टेलीफोन, रेडियो आदिमें शब्द (आकाश)। परन्तु बल्ब आदि बिजली नहीं, यद्यपि साधारण बोलचाल में हम " बिजली जला दो, भाई " ऐसा प्रयोग भी कर बैठते हैं।

(१४) तीसरा मन्त्र है ऋग्वेद का ऋषि दीर्घतमा औचथ्यः, देवता सूर्य- स्पष्ट ही मन्त्र में जितने नाम आये हैं, सब सूर्य के लक्षणों के द्योतक हैं और आज भी सूर्य के पर्यायवाची माने जाते हैं- सूर्य=केन्द्रीय शक्ति आदि लक्षणोंसे इस मन्त्र के अनेक अर्थ लग सकते हैं- राजा और परमात्मा-परक भी। परन्तु, यह मन्त्र परमात्मा के एक लघ्वांश को ही बता सकेगा, सर्वव्यापक अथवा सामूहिक शक्तियों का निर्देश न कर सकेगा। उससे वैसा करना, वेद के साथ अन्याय होगा।

(१५) अब तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली का अनुवाकांश उपस्थित है- ' आत्मा ' शब्द पर गोलमाल है- आईये प्रथम अनुवाक् के पश्चात् दूसरे अनुवाक् का तत्सम वाक्य देख डालें ' इस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैषः पूर्णः। स वा एष पुरुष-विध एव। ' अनुवाक पर अनुवाक देखते जाइये, आत्मा= कोष, साफ निकल आयेगा। कुल वल्लीमें क्या है- यह भी देख लें- कारण प्रकृति से विकासक्रम द्वारा बना पिण्ड- अन्नमय कोष। उसके अन्दर है प्राणमय कोष, उसके अन्दर मनोमय कोष, फिर विज्ञानमय कोष और सबके अन्दर आनन्दमय कोष। इन कोषों पर अधिकार करनेवाले व्यक्तियों का गौरवगान है और अन्त में आनन्दमय-कारण शरीरपर अधिकारप्राप्त व्यक्ति का मुक्त होना व ' आप्नोति परं। ' इत्यलम्।

(१६) अब मोक्ष से पुनरावृत्ति विषयपर भी विचार कर लें- जीव और ईश्वर की भिन्नता उपर्युक्त पंक्तियों में प्रमाणित हो जाने से, सम्पादकजी अपनी प्रतिज्ञानुसार कदाचित् अब पुनरावृत्ति स्वीकृत कर लें, परन्तु फिर भी हम मोक्ष पर अन्य दृष्टियां नीचे लिखते हैं। संपादकजी कृपया निर्णय करें, स्वामिजीने जो ऋग्वेद का मन्त्र इस विषय में दिया है, उसकी भूल बतायें और सृष्टिनिर्माणा-वसर पर क्या होता है, ऐसा वेद से प्रतिपक्ष में मन्त्र दे, तो धर्मलाभ हो।

अद्वैतवादी-पुनरावृत्ति नहीं मानते। ब्रह्म=ईश्वर स्वयं हर एक सृष्टि में मायावश पुनः पुनः आवृत्त होता है, यह मानते हैं। इस वाद में जीव है ही नहीं, ब्रह्म आवृत्त होता ही है, फिर मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं है, यह माया नहीं तो क्या है।

द्वैतवादी-पुनरावृत्ति नहीं मानते-ईशावतार की शरण लेते हैं। सर्वथा शुद्ध मुक्त आ और जा सकता है, परन्तु अनेकवार पाप कर एक बार शुद्ध हुआ व्यक्ति नहीं आ सकता। बडे, अच्छे महल में नजरबन्द व्यक्ति इनकी परिभाषा से मुक्त ही है।

फिर मुक्ति में सायुज्य सर्वश्रेष्ठ है, न कि सामीप्य-ईशावतार में मुक्तांश अवतरित नहीं हुआ, ऐसा जानने का उपाय क्या है ?

अपने मोक्ष की त्रुटि कदाचित् इन्हें मालूम हो गई। अतः भक्त मोक्ष को ठुकराकर भक्ति (ईश व दीनसेवा) का वरदान मांग गौरवान्वित हुआ।

स्वामिजी के भाव उक्त भक्तभावना से अपूर्व साम्य रखते हैं। इस गौरवका अनुभव करनेवाला या तो पौराणिक भक्त हो सकता है या शुद्ध वैदिक मोक्षद्रष्टा दयानन्द। वैदिक चरमोद्देश्य मोक्ष है न कि भक्ति और चरमोद्देश्य की योग्यता वैदिक मोक्ष में ही है, न कि काल्पनिक मोक्ष में।

(संपादकीय विचार)

ऊपर श्री श्रीभूषण गुप्तजीके तीन पत्र दिये हैं, पहिला पत्र ता० ३।७।१९ का है, दूसरा ११।३।४० का है और तीसरा ३।१२।४० का है। ये पत्र हमारे पास आकर बहुत दिन हुए, परन्तु इनकी समालोचना करने के लिये हमें समय नहीं मिला। जो कार्य आज इस लेखद्वारा करने का संकल्प किया है।

दैवत-संहिता

(१) प्रथम पत्र के प्रारंभ में ' दैवत-संहिता ' के विषय में लिखा है, **दैवत-संहिता** की आतुरता से प्रतीक्षा सैकडों ग्राहक कर रहे हैं। ऋग्वेद की छपाई के कारण दैवत-संहिता का मुद्रण नहीं हो सका, अब ऋग्वेद का द्वितीय वार का मुद्रण हो चुका है, अतः सबसे प्रथम **' दैवत-संहिता '** ही छपेगी। निःसंदेह दैवत-संहितासे वेदका अध्ययन करनेवालों को अत्यंत लाभ होनेवाला है, इसीलिये सब अन्य कार्य छोडकर **दैवत-संहिता** को ही पहले छापना है।

ईश्वरसाक्षात्कार और ईश्वरोपासना।

(२) ईश्वरसाक्षात्कार, ईश्वर-उपासना में जो भेद लेखकने बताया है, वह ठीक है। ईश्वरसाक्षात्कार से ईश्वर का सत्य स्वरूप जाना जाता है, जिससे कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, आदिका ठीक ठीक बोध हो जाता है, कर्तव्य-पालनमें अशुद्धि नहीं होती। ईश्वरसाक्षात्कार अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका यथावत् ज्ञान होना ही सब धर्मकी बुनियाद है। इसके उपरान्त ईश्वर की सच्ची उपासना होना सम्भव हो सकता है, पहिले नहीं।

ईश्वर-उपासना का फल ईश्वर-साक्षात्कार नहीं है, प्रत्युत ईश्वर-साक्षात्कार होनेसे ईश्वरोपासना उत्तम रीतिसे हो सकती है। ईश्वरसाक्षात्कार के पूर्व जो ईश्वर-उपासना नाम का कुछ कार्य लोग करते हैं, वह केवल नाममात्र ही उपासना का कार्य है।

जबतक ईश्वर के स्वरूपका ही ज्ञान नहीं, तबतक ईश्वर की उपासना होना असंभव है। ईश्वर का सत्य स्वरूप ' विश्व ' है, और यह ' विश्व ' अखण्ड है, अर्थात् खण्ड-रहित है, अर्थात् इसमें अनेक परस्पर भिन्न टुकडे नहीं हैं, **संपूर्ण विश्व मिलकर एक अखण्ड, अनन्य, एकरस सत्ता है,** और उपासक उसका एक अंश है। यह जिस क्षण में ज्ञान होगा, उसी क्षण में अनन्य भावसे उपासना कैसी करनी चाहिए, इसका ज्ञान हो सकता है। मैं अन्य (दूसरा) नहीं हूं, यह जानकर अर्थात् मैं भी उपास्यकाहि अंश हूं, यह ठीक ठीक जानकर सच्ची उपासना होती है।

आजकल जो उपासनानामक विधि करते हैं, न वह वैदिक उपासना है, न उपनिषदिक उपासना है और नाही भगवद्गीतोक्त उपासना है। वास्तव में वह एक उपासना की विडंबनामात्र है। अतः ईश्वर को यथावत् जानकरहि उपासक ईश्वर की ठीक ठीक उपासना कर सकते हैं।

ईश्वर की काया और ईश्वर की आत्मा।

(३) ईश्वर की काया और ईश्वर की आत्मा में वैसा भेद नहीं है, जैसा उक्त लेखमें लेखकने बताया है। **प्रकृति और पुरुष** दो विभिन्न वस्तु माननेवालेहि **ईश्वर की कायासे भिन्न ईश्वर की आत्मा है,** ऐसा मानते हैं। पर ऐसा माननेवाले दो वस्तुएं मानते हैं। वेदका सिद्धान्त तो (**एकं सत्**) सत् वस्तु एक ही है, दो नहीं हैं। प्रकृति-पुरुष; जड-चेतन; पञ्चभूत--आत्मा; ये परस्पर भिन्न दो वस्तुएं नहीं हैं। चेतनतत्त्व ही जड दीखता है। अर्थात्

वस्तुतः चेतन आत्मासे भिन्न तत्त्वतः जड ऐसी कोई अलग वस्तु या अलग सत्ता हि नहीं है।

दार्शनिकोंने किसी विशेष रीतिसे अल्पज्ञ मानवों को समझानेके लिये जड--चेतन के भेद की कल्पना घडी है। परन्तु वही ऐसी जम चुकी है कि, उसके नीचे वेदका '**सदैक्यवाद**' दब गया है। ''**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च।**' (बृ० उ० २।३।१) एक ही ब्रह्मके मूर्त (जड) और अमूर्त (चेतन) ये दो रूप हैं। यह स्पष्ट उपनिषदोंका सिद्धान्त है।

वस्तु एक ही है, उस एकहि वस्तु का साक्षात्कार नाक से हुआ, तो नाक उसके गन्ध का ग्रहण करती है, उसी एक वस्तु का साक्षात्कार आंख से हुआ, तो उसी वस्तु का रूप दीखता है, उसी एक वस्तु का ग्रहण कान करने लगी, तो उसके शब्द का ग्रहण होता है; इसी तरह अन्य गुणों के विषय में समझना चाहिये। हमारी पांच इंद्रियां क्रमसे गन्ध--रस--रूप--स्पर्श--शब्द का ग्रहण करती हैं, ये पांच गुण पांच विभिन्न वस्तुओं के नहीं हैं; परन्तु एक ही सद्वस्तु के अन्दर ये पांचों गुण विद्यमान हैं, हमारे इंद्रियों की शक्ति मर्यादित है, अतः एक इंद्रिय अनेक गुणों का ग्रहण नहीं कर सकती। इससे जितने इंद्रिय हैं, उतने विभिन्न पदार्थ हैं, ऐसा मानना अनुचित है।

दार्शनिकोंने अज्ञोंको समझाने के लिये पञ्चभूत विभिन्न हैं, ऐसा युक्तिसे बताया है, परन्तु वह सब प्राथमिक स्वरूप का ज्ञान आगे के ब्रह्मविचार में लुप्त हो जाता है। अर्थात् तत्त्वतः जड और चेतन ये भेद नहीं हैं और नाही पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश ये पांच विभिन्न पदार्थ हैं। जो एक त्रिकालाबाधित '**सत् तत्त्व**' है, उसी के जड-चेतन-पंचभूत आदि भासमान रूप है।

इस कारण '**ईश्वरकी काया और ईश्वर की आत्मा**' ऐसी दो वस्तुएं कोई न मानें। वह वेद का सिद्धान्त नहीं है।

ईश्वर के सत्य स्वरूपका ज्ञान होने के बाद, जब अनन्य भावसे उपासना होगी, तब स्वरूपसाक्षात्कार, गुणसाक्षात्कार आदि का ज्ञान स्वयं प्रकट होगा। **जो सबसे कठिन बात है, वह सबसे प्रथम ईश्वर का स्वरूप ठीक ठीक समझने की हि है।** वेदका तथा उपनिषदों का और भगवद्गीता का दृष्टिकोण (View-point) ध्यान में आनेकी हि बात कठिन है। वह वैदिक दृष्टिकोण (Vedic view point) एक बार ध्यान में आ गया, तो पश्चात् कोई कठिनता नहीं है।

वस्तु और उसके नाम।

(५) वस्तु एक है, तो वेदने उसके अनेक नाम क्यों दिये हैं? वेदका अध्ययन ठीक ठीक होने तक हि यह शंका रहनेवाली और खटकनेवाली है। अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य आदि शब्द जब एक ईश्वर के वाचक माने जाते हैं, तब वे उसके गुण बताते हैं और तब ये शब्द वस्तुदर्शक नहीं होते।

जैसा एक ही मनुष्य को पुत्र, पति, पिता, भाई, चचा, मामा, काका, सभापति, तहसीलदार, वकील, आदि नामोंसे पुकारते हैं और इन नामोंका एक ही व्यक्ति वाच्य होता है, यह हम व्यवहार में भी देखते हैं। इतने नाम एक व्यक्ति को प्रयुक्त होनेपर भी उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। अनेक नामोंके कारण व्यक्तियां अनेक नहीं होतीं। उसी तरह अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य आदि नाम जिस समय एक ईश्वर के लिये प्रयुक्त होंगे, तब उनसे अनेक सत्ताओंका बोध कदापि नहीं होगा, परन्तु एक सत्ता के अनेक गुणोंका ही बोध हो सकता है।

पर यहां जो कठिनता उत्पन्न होती है, वह **अग्नि, इंद्र, वायु, सूर्य** आदि शब्दोंसे बताई जानेवाली अनेकविध देवताएं हैं, उनकी पृथक् सत्ता मानना या न मानना, इसी विषय में संदेह उत्पन्न होता है। इनकी पृथक् सत्ता निःसंदेह है। अग्नि वायु नहीं है, न वायु सूर्य है, और नाही जल अश्विनौ हैं। प्रत्येक देवता भिन्न है। किसी को भी देवताओंके भिन्नत्व में संदेह करना योग्य नहीं।

यह विषय समझानेके एक उदाहरण लेते हैं। ऐसा मान लीजिए कि, किसी एकने खांडको पिघलाकर उसके रस से अनेक जानवर, अनेक पक्षी, अनेक मनुष्य तथा अन्यान्य अनेक वस्तुएं बनायीं हैं। ये सब चित्र खांडकी दृष्टिसे ऐक्य-भाव रखते हैं, क्योंकि सब खांडके ही बने हैं, तथापि शकल सूरत, आकारभेद की दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु विभिन्न है।

खांडका ऊंट, खांडके कुत्ते से आकारतः पृथक् है, परन्तु मीठास की दृष्टिसे सब एक जैसे मीठे हैं, क्योंकि उनका तत्त्वतः स्वरूप खांड ही है।

इसी तरह अग्नि, जल, वायु, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य ये सब तत्त्वतः ब्रह्म होनेपर भी आकारतः, कर्मतः और रूपतः भिन्न हैं। इस उदाहरण को जो पाठक विचार कर सकेंगे, वे जान सकते हैं कि, तत्त्वतः एकता होनेकी अवस्था में भी रंग-रूप-आकारों में भेद रह सकता है। इससे सिद्ध हो सकता है कि, अग्नि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, ये पदार्थ सृष्टि की दृष्टिसे या उनके उपयोग की दृष्टिसे विभिन्न होनेपर भी, उन सब का मूल तत्त्व एक ही है, और वह ब्रह्म अथवा आत्माही है।

सोने के आभूषण अनेक किए गए। तो सुवर्ण की दृष्टि से सब का तत्त्व एक ही सुवर्ण (Gold) है, उसमें कोई भेद नहीं है। तथापि आकार के भेद के कारण कान का आभूषण पांवमें नहीं रखा जाता और नाक का जेवर गले में भी रखना असंभव है। अर्थात् यह भेद का अनुभव होनेपर भी सुवर्ण की दृष्टिसे सब का एक तत्त्व होने में भी किसी को सन्देह नहीं है।

आजकल का सायन्स भी Spirit से Matter होना मानने लगी है और इलेक्ट्रॉन से सब वस्तुओंका होना मानती है। अतः जो सायन्स जाननेवाले हैं, उनके लिए Spirit और Matter का भेद अब रहा नहीं है, जो वेद और उपनिषदोंने एकात्मवाद की घोषणा करके अनादिकाल से पूर्व कहा था, वही आज सायन्स प्रयोगों द्वारा सिद्ध करने की तैयारी में है।

क्षर, अक्षर, उत्तम पुरुष।

(७) गीतामें क्षर, अक्षर इन दोनों पुरुषोंसे भिन्न तीसरा एक पुरुष माना है। वास्तव में यह ठीक नहीं है। **गीता केवल एक ही पुरुष मानती है,** जो '**पुरुषोत्तम**' नाम से प्रसिद्ध है। इसी पुरुषोत्तम का एकरूप '**क्षर**' है और दूसरा '**अक्षर**' है। क्षर और अक्षर ये किसी सूरत से उत्तम पुरुष से भिन्न नहीं हैं। यही तो यहां समझने की बात है। जिस समय '**क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम**' की व्यवस्था ठीक तरह समझ में आ जायगी, तब एक ही पुरुष सामने दिखाई देगा और दो अथवा तीन पुरुषों की भ्रांति मिट जायगी। यहां इस विषय के एक दो उदाहरण देते हैं।

एक मनुष्य के दायीं ओर से, बाईं ओर से और सामने से ऐसे तीन फोटू लिए, तो ये तीनों फोटू तो निःसंदेह परस्पर भिन्न हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु जिसके ये फोटू हैं, वह एक ही है, तीन नहीं हैं। पुरुषोत्तम के तीन फोटू लिए हैं, एक '**क्षर**' (प्रकृति), दूसरा '**अक्षर**' (आत्मा), और तीसरा **पुरुषोत्तम** (परमात्मा)। एक फोटू दाईं ओर का है, दूसरा बाईं ओर का है और तीसरा सामनेका है, जिस में दाईंबाईं ओर के भाग मिल गये हैं।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च। (बृ० उ०)

इसका यही अर्थ है। एक ही ब्रह्मके दो रूप हैं। एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। इसी को क्षर और अक्षर गीता में कहा है। ये परस्पर भिन्न नहीं हैं, एकही के ये दो ओर के दो रूप हैं। ये दोनों मिलकर एक अखण्ड एकरस ब्रह्म होता है।

अतः गीताने दो पुरुष (क्षर, अक्षर) मानकर तीसरा पुरुष एक और माना है, ऐसा कहना योग्य नहीं। न गीता का तीन पुरुषों का सिद्धान्त है, न उपनिषदोंका यह मंतव्य है और नाही वेद का यह कथन है। इन सब का (**एकं सत्**) एक तत्त्व का सिद्धान्त हि है।

मिश्रीका टुकडा।

(८) आगे चलकर लेखक मिश्री के टुकडे का उदाहरण देते हैं। (१) मीठास, (२) रवा, (Crystle) ये मिश्री के टुकडे के दो भाव हैं, ये दोनों भाव (३) मिश्री के एक भाव में रहनेवाले हैं। एकहि मिश्री के ये दो फोटू हैं, एक फोटू मीठास रूप में अनुभूत होता है और दूसरा रवा (Crystle) के रूप में। ये दोनों मिश्री के हि भाव हैं, कभी ये पृथक् रह नहीं सकते।

१ मीठास-	चेतन-	आत्मा-	अक्षर
२ रवा-	जड-	**प्रकृति-**	क्षर
३ मिश्री-	(जड+चेतन)-	(प्रकृति+आत्मा)-	(क्षराक्षर)
			= पुरुषोत्तम

जैसे (१) रवा, (२) मीठास, (३) मिश्री, ये भिन्न तीन पदार्थ कदापि नहीं हैं, प्रत्युत एक के ही तीन भाव हैं, उसी तरह गीता के '**क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम**' ये तीनों पुरुष कदापि तीन नहीं हैं, वे एकके ही तीन भाव हैं।

अज्ञ जनों को समझाने के लिये गीताने तीन अलग करके वर्णन किये हैं. इसी तरह सब शास्त्रकारोंने तीनोंका वर्णन अज्ञ जनों को समझाने के लिये किया है, और जब समझ में आ गया, तब तीनों को एक किस तरह समझना है, यह भी वहीं दर्शाया है। जब तक '**एक के तीन और तीनों का एक**' कैसा है, यह समझ में नहीं आता, तबतक झगडा किया जाता है; जब '**तीनों का एकत्व**' समझ में आ जाय, तब किसी तरह झगडा नहीं रह सकता।

जो तीन सत्ताओंका वर्णन है, वह परस्पर पृथक् सत्ताओं का नहीं है, परन्तु एक सत्ता के तीन भावोंका हि वर्णन है। **यही वेदके रहस्य की बात है। वेद-उपनिषदों के 'सदैक्यवादके सिद्धांत' का यही रहस्य है।** जबतक यह रहस्य समझ में नहीं आता, तबतक वेद का सिद्धान्त समझमें आना असम्भव है।

प्रत्येक वस्तु में ये तीनों भाव मौजूद हैं, पर ये केवल भाव हैं, पृथक् सत्तावाले विभिन्न पदार्थ नहीं है। जैसा पूर्वोक्त उदाहरणमें देखिये, मिश्रीके '**रवों**' (crystle) की कल्पना भिन्न है और '**मीठास**' की कल्पना उससे सर्वथा भिन्न है। परन्तु यह भेद कल्पनाका है, वस्तु तो एक ही है, जो 'मिश्री' नाम से हमारे पास रहती है। इसी तरह क्षर + अक्षर = **पुरुषोत्तम**; जड + चेतन = **परमात्मा**; प्रकृति + जीव = **परब्रह्म**, ये सब एकके तीन भाव, और तीन भावोंकी मिलकर एक हि सत्ता है। परस्पर विभिन्न तीन सत्ताएं नहीं हैं, एक सत्य सनातन सत्ता के हि ये तीन भाव हैं। भाव केवल कल्पना से जाने जाते हैं, सत्ता अचल, स्थिर रहनेवाली है।

आजकल लोक जडचेतन को पृथक् और भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ मानने लगे हैं। यह अवैदिक मत है। वेद में (**एकं सत्**) सत् एक ही माना है। इसी एक सत् के जड और चेतन ये दो भाव हैं—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च। (बृ० उ०)

मूर्त और अमूर्त ये एक ही ब्रह्मसत्ता के दो भाव हैं। विश्वभर ये तीनों भाव दीखते हैं, परन्तु एक सत्ता के आश्रय से ही ये रहनेवाले हैं, अतः एक सत्ता सत्य है। शेष भाव केवल कल्पना के हैं। वस्तुसत्ता उनको नहीं है।

लेखमाला स्थगित।

(९) '**ईश्वरसाक्षात्कार** की लेखमाला कुछ दिन के लिये स्थगित की, इसका कारण प्रतिपक्ष का खडा होना नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्ष तो पहिले से ही खडे थे। '**वैदिक धर्म**' में भी द्वैतवादी प्रतिपक्षी के लेख इस लेखमाला के पूर्व भी छपते रहे हैं। **ईश्वरसाक्षात्कार** की लेखमाला थोडे दिन के लिय स्थगित करने के कारण अनेक हैं, उनमें से कुछ कारण यहां देते हैं—

(अ) ईश्वरस्वरूपविषयक लेख श्री० पं० रामावतार जी विद्याभास्कर के इस **वैदिक धर्म** में छप रहे हैं, इसलिये ये लेख छपनेतक एक ही विषय की दो लेखमालाएं छापना उचित नहीं समझा। तथा इस लेखमाला में जो हम लिखना चाहते हैं, उस में से बहुतसा विषय आ रहा है।

(आ) आशंका करनेवाले पाठकों के लेख भी छपते हैं और उन शंकाओं का समाधान भी किया जा रहा है, अर्थात् ये शंकासमाधान के लेख भी उसी सिलसिले के हैं, अतः '**ईश्वरसाक्षात्कार**' नाम की लेखमाला बंद रही, तो भी वही विषय पाठकों के सन्मुख वैदिक धर्मद्वारा अन्य रीतिसे आ रहा है।

(इ) वेदमुद्रण का कार्य अत्यधिक बढने से समय कम मिल रहा है और दैवत-संहिता तैयार होने तक समय मिलना बहुत कठिन हो रहा है।

(ई) तबतक जो पाठक आशंका लिख कर भेजेंगे, उनका समाधान करने का यत्न किया जायगा।

(१०) आगे लेखक महाशय फिर मिश्रीका दृष्टांत देते हैं। इस विषय में ८ वें परिच्छेद में विशेष रीतिसे लिखा गया है। पाठक वह यहां फिर देखें। मिश्री में कपासके सूत्र का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि सूत्रकी सत्ता (अस्तित्व, हस्ती) स्वतन्त्र है, मिश्री का भाग सूत्र नहीं है। सूत्र किसी कारण मिश्री की बनावट में आता है। सूत्र फेंक कर जो मिलती है, वही मिश्री है। उसी मिश्री की एक हि सत्य सत्ता के (१) **मीठास** और (२) **रवा** (Crystle) ये दो पहलू हैं, ये सदा (३) **मिश्री** की सत्ता में लीन हि रहते हैं, ये कदापि मिश्री से पृथक् नहीं रह सकते। क्योंकि ये मिश्री के ही दो पहलू हैं। अतः (१) **मीठास**

(अक्षर = चेतन), (२) रवा (Crystle, क्षर = जड), ये दो पुरुष, (३) मिश्रीरूपी (पुरुषोत्तम) के आश्रय से रहनेवाले हैं, अतः एक सत् के आश्रय से ये दोनों रहते हैं। एक वृक्ष के ऊपर रहनेवाले ये ही दो पक्षी हैं। (द्वा सुपर्णा सयुजा० । ऋ० देखो)

कृपाकर आक्षेपक लेखक सूत्रको मिश्री का भाग न होनेके कारण, हटा दें और शेष मिश्री का उदाहरण अपने सिद्धान्त में घटा देवें, तो वेदका सिद्धान्त ठीक रीतिसे विशद होगा।

गौ, कुत्ता, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें सम-दर्शन अर्थात् ब्रह्मदर्शन करना है। यहां 'सम' का अर्थ 'ब्रह्म' है। व्यवहार में इनका भेद हो, पर इन सब में ब्रह्म समभावसे है, ब्राह्मण में ब्रह्म अधिक और चाण्डाल में कम, ऐसा नहीं है। इन में ब्रह्म सम-भाव से है, इसलिए हि इन से पक्षपातरहित व्यवहार होना चाहिए। इतना ही नहीं, परन्तु ब्राह्मण को उचित है कि, वह चाण्डाल में भी ब्रह्मभाव देखे और उसको ज्ञान देकर उसकी सेवा करे, और उसकी सेवा से परमेश्वर-परमात्मा-परब्रह्म की सेवा हुई ऐसा समझे। समत्वदर्शन से अनेक कर्तव्य करने होते हैं, वे करें। समत्वदर्शन इस तरह विश्वसेवा का क्षेत्र बढानेवाला है।

द्वैतवादी लोक हि ब्राह्मण का आत्मा उच्च और चाण्डाल का नीच मानेंगे और कुत्ते का उससे हीन अथवा असंस्कृत आत्मा है, ऐसा मानेंगे। जन्मजन्मान्तर से चाण्डाल का आत्मा शुद्ध होता हुआ ब्राह्मणत्व को प्राप्त होगा, ऐसा पक्ष अनेकात्मवादियों का है। इसका सर्वथा निर्मूलन उक्त **समदर्शन** के सिद्धान्त ने किया है। सर्वत्र ब्रह्म अथवा आत्मा एक है, एकरस है, न्यूनाधिक नहीं है। यह देखना और समबुद्धि से उन से विचार, उच्चार, आचार जैसा योग्य होगा, वैसा करना ही धर्म है।

प्रकृति-जीव-परमात्मा को क्रमशः '**सत्-चित्-आनन्द**' कहने से कुछ आपत्ति टल सकती है, ऐसा श्री लेखक कहते हैं, परन्तु '**एकं सत्**' इस ऋग्वेदमंत्र के आधार से परमात्मा के लिये 'सत्' शब्द का प्रयोग हो सकता है, जीव-प्रकृति ये परमात्मा के हि दो भाव हैं, इनको स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः '**सत्-चित्-आनन्द**' ये शब्द केवल परमात्मा के लिये ही प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः यह सूचना कि, मैटर-एनर्जी-ब्लिसवाचक 'सत्-चित्-आनन्द' का प्रयोग होने से कठिनता दूर होगी, संभव नहीं दीखता। यदि ये तीनों पदार्थ एक सत्ता के हि आविर्भाव माने जायगें, तब तो वह वैदिक सिद्धान्तहि होगा। वेदमें सत्-चित्-आनन्द एक अद्वितीय ब्रह्मसत्ता के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। आज कल सायन्स भी 'मैटर-एनर्जी' ये एक दूसरे में परिवर्तित होनेवाले मानने लगी है। अतः 'मैटर और एनर्जी' का भेद रहा नहीं है। सायन्स तो वेदसिद्धांत को मानने लगी है, और विशेष खोज होने पर '**एकं सत्**' को ही सायन्स प्रकट करेगी, इसमें हमें संदेह नहीं है।

पुरुष।

(१२) आगे श्रीमान लेखक महाशय लिखते हैं, "पुरुष-सूक्त के अर्थ में 'पुरुष' शब्द के अर्थ मानवपुरुष न मानकर परमात्मा अर्थ क्यों कर किया है ?"

उत्तर में निवेदन है कि, यहां 'पुरुष' शब्द का अर्थ मानवपुरुष अर्थात् मनुष्य नहीं है, और जगद्बीज परमात्मा, परब्रह्म, ही है, इसलिये यहां के 'पुरुष' शब्द का अर्थ मानवपुरुष किया नहीं, और परमात्मा किया है। आगे संपूर्ण पुरुषसूक्त में किसी भी मंत्र में मानवपुरुष का वर्णन नहीं है, इसलिये मानवपुरुष ऐसा अर्थ किस तरह कर सकते हैं ?

एक बात यहां अवश्य है कि, पुरुष शब्द के व्यष्टि पुरुष अर्थात् '**एक व्यक्ति**' और विश्वपुरुष '**समष्टि-पुरुष**' ऐसी कल्पना करने पर, इस पुरुषसूक्त का वर्णन समष्टिपुरुष-विश्वपुरुष-परमात्मा का स्पष्ट है, उससे वही वर्णन व्यष्टि का है, ऐसा मानकर व्यष्टिगत व्यक्ति पुरुष का अर्थ इस प्रथम मंत्र में समष्टि के अनुसंधान से कदाचित् कोई देख सकते हैं। ऐसा अनुसंधान करने पर प्रथम मंत्र का अर्थ निम्नलिखित प्रकार हो सकता है—

" (पुरुषः) एक पुरुष है, जो (सहस्रशीर्षा) सहस्र मस्तकवाला, (सहस्राक्षः) सहस्रों आंखवाला, (सहस्र-पात्) सहस्रों पांववाला है। वह (भूमिं विश्वतः वृत्वा) पृथ्वी के चारों ओर व्यापकर (दशांगुलं अति अतिष्ठत्) दश इंद्रियों से अनुभव में आनेवाले विश्व के परे अधिष्ठातारूप हो कर रहा है।"

यहां का वर्णन वस्तुतः परमात्मा का ही है, क्योंकि वही सब विश्व का अधिष्ठाता (अति अतिष्ठत्) है।

हजारों मस्तक उसी को हैं, हजारों आंखें और हजारों पांव उसी को हैं। अर्थात् जितने प्राणी इस पृथ्वी पर हैं, उन सब के मुख, बाहू, ऊरु, पेट, पांव ये सब उसी परमात्माके हैं, इसलिये उस को सहस्र मस्तकवाला आदि कहा है।

अब यहां का यह वर्णन मानवपुरुष का कैसा मानें ? यदि शीर्षस्थान में सहस्रों (Ameba) कीटाणु अथवा cells हैं, आंख के स्थान में सहस्रों सेल्स हैं, पेट और पांव के स्थान पर सहस्रों सेल्स हैं, ऐसा कोई मान सकता है, पर यह सब कल्पना बहुत खींचातानी की है, सरल नहीं है। अतः इस मंत्र का अर्थ मानव-पुरुष-मनुष्य-व्यक्तिपरक हो नहीं सकता, यह हमारी निश्चित संमति है। मंत्र के शब्द देखने से सुस्पष्टता के साथ हर कोई कह सकता है कि, यह मंत्र परमात्मापरक है। किसी तरह यह मानवपुरुष के वर्णनपरक सरलतया नहीं लग सकता।

यहां का '**सहस्रशीर्षा**' (हजारों मस्तकवाला) यह शब्द मनुष्यके मस्तकों का ही वाचक नहीं है, प्रत्युत पशु, पक्षी, कृमि, कीटक आदिकों के जो जो मस्तक हैं, वे सब मस्तक परमात्मा के हि मस्तक हैं, यह भाव दर्शाता है, पर मानवपुरुष मानने पर यह सब अर्थ का गौरव लुप्त होगा। और '**सहस्रशीर्षा**' आदि शब्दों के अर्थों का संकोच करना पडेगा। इसलिये हमारी अन्तिम संमति तो यही है, कि इस मंत्र में मानवपुरुष का अर्थ नहीं है, और केवल विश्वात्मा परमात्मा का ही अर्थ है, इसलिये वैसा अर्थ हमने यहां किया है।

लेखक लिखते हैं कि, सूक्त के ऋषि- 'नारायण' हैं, और देवता 'पुरुष' है, इन संकेतों का ध्यान संपादक भूल गये।

लेखक के मत से हमने ऋषिदेवता का अनुसन्धान नहीं किया। परन्तु वारंवार विचार करने पर भी हमारे ध्यानमें हमारी भूल नहीं आयी। और हमारा किया अर्थ-हि सत्य अर्थ है, यही भावना दृढ हुई है। अतः १२ वें परिच्छेद में लेखक महाशय जो कहना चाहते हैं, वह हमारे समझ में नहीं आया, अतः उसका उत्तर देना असंभव हुआ है।

ईश्वर 'सर्व' का एक अंग मानने पर भी पुरुषसूक्त का 'पुरुष' मानवपुरुष नहीं हो सकता। और न हमारा अर्थ अशुद्ध सिद्ध होगा। यदि हमारे समझ में हमारी अशुद्धि आ जायगी, तो हम उसको ठीक कर लेंगे। परन्तु इस समय तक हमारा अर्थ बदलने के लिये कोई प्रमाण हमारे ध्यान में नहीं आया।

*

सूरज ईश्वर है वा नहीं ?

(१३) आगे १३ वें परिच्छेद में श्री लेखक महाशय लिखते हैं कि, यजुर्वेद अ० ३२ मं० १ इस मंत्र का अर्थ यह नहीं है कि, 'ईश्वर चांद है, और सूरज है' और कदाचित् इस लेख का लेखक भी है।

हमें लेखक महाशयजी की यह टिप्पणी देखकर बडा ही आश्चर्य हुआ। इसका कारण यह है कि, यदि '**सहस्र-शीर्षा पुरुषः**' पद से 'परमात्मा सहस्रों अथवा लाखों मस्तकोंवाला है, और यदि १३ वें परिच्छेद के लेखक के तथा १३ वें परिच्छेद का उत्तर देनेवाले संपादक के सिर-स्थान में '**मस्तक**' कहनेयोग्य कोई वस्तु है, तब तो वह मस्तक (संपादक वैदिक धर्म का और १३ वें परिच्छेद के लेखक का) परमात्मा का ही मस्तक है। **हमें उचित है कि हम अपने मस्तक परमेश्वर के भावों को प्रकट करनेवाले बनाने का प्रयत्न करें।** हमारी तो धारणा वेदमंत्रों को देखने से यही होती है और वही इस समय सुस्थिर है। अतः १३ वें परिच्छेद के लेखकने ऐसा वाक्य क्यों लिख दिया और 'कदाचित् इस लेख का लेखक भी ईश्वर है,' ऐसा सन्देह प्रकट क्यों किया ? यदि परमात्मा का सत्यस्वरूप '**विश्व**' है और यदि इस कारण परमात्मा को '**विश्वरूप**' कहते हैं, और यदि सचमुच १३ वें परिच्छेद के लेखक तथा वैदिक धर्म के सम्पादक '**विश्व**' में तथा '**विश्वरूप**' में विद्यमान हैं, तब तो उनके पर-मेश्वरस्वरूप में संमिलित होने में अर्थात् ईश्वर के अंगी बनने में संदेह ही नहीं हो सकता। हमारे समझ में यह बात नहीं आती कि विश्व में रहते हुए कोई व्यक्ति विश्व-रूपी परमात्मा से सर्वथा भिन्न या पृथक् रह भी कैसे सकते हैं ?

अब प्रश्न है कि, क्या सूरज और क्या चांद ये परमात्मा के रूप हैं वा नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में मन्त्र को ही यहां देखना योग्य है—

तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः, तत् वायुः,

तत् उ चन्द्रमाः। तत् एव शुक्रं, तत् ब्रह्म, ताः
(तत्) आपः, स (तत्) प्रजापतिः।
(वा० यजु० ३२।१; काण्व सं० ३५।२३)

इस मन्त्रका सरल अन्वय ऐसा है– **'तत् एव अग्निः आदित्यः, वायुः, चन्द्रमाः, शुक्रं, ब्रह्म, आपः, प्रजापतिः।'**

यहां के **'ताः आपः, सः प्रजापतिः'** के स्थानपर भी पूर्व के अनुसंधान से **'तत् एव आपः, तत् एव प्रजापतिः'** ऐसा मानना उचित है। क्योंकि पूर्वके सब मंत्र-भागों में ऐसाहि प्रयोग है। इस कारण यह आर्षप्रयोग मानना उचित है। अब इस मंत्र का अर्थ स्पष्ट है—

तत्= परब्रह्म, परमात्मा,
एव= निःसंदेह, सत्यता के साथ,

वह परमात्माही निःसंदेह अग्नि, आदित्य (सूर्य), वायु चन्द्रमाः (चांद), शुक्र (वीर्य), ब्रह्म, आपः (जल), और प्रजापति (प्रजापालनकर्ता, राजा, राजपुरुष) है।

मंत्रका यह कहना तो अत्यंत स्पष्ट है। मंत्र कहता है कि, परमात्मा, परब्रह्म (अथवा परमेश्वर भी) सूर्यचांद हैं। मंत्र का कहना तो अत्यंत स्पष्ट है, मंत्र तो संदेहरहित होकर कहता है कि 'परमात्मा ही जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति है।' और १३ वें परिच्छेद के लेखक लिखते हैं कि 'इस मंत्र का अर्थ यह नहीं कि ईश्वर चांद है, सूरज है!!'

हम यहां घोषणा करके बडे जोर से कहना चाहते हैं कि, **वेदमंत्रों का अर्थ यदि सत्य है, तब तो पृथ्वी-आप-तेज-वायु-सूय-चन्द्र-प्रजापति-वीर्य-ये सब ईश्वर के, परमात्मा के, अथवा परब्रह्म के हि रूप हैं।** वेद का यही आशय है।

तत् एव आदित्यः
तत् एव चंद्रमाः

का अर्थ '(तत्) ब्रह्म हि सूरज और चांद है।' निः-संदेह यही है। वेद का आशय बदलना किसी को उचित नहीं है। वेद का आशय समझना, अपनाना और तदनुसार व्यवहार करना ही मनुष्यों के लिये योग्य है।

आपका कथन है कि, अगले मंत्र से इस मंत्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, अतः हम यजु. अ. ३२ के मंत्र देखते हैं-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥१॥

वह ब्रह्म हि निःसंदेह अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (वीर्य), ब्रह्म (ज्ञान), जल और प्रजापति है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यंचं न मध्ये परि जग्रभत्॥२॥

(सर्वे निमेषाः) सब आंखोंकी पलकें बूंझना और खोलना, भी (विद्युतः पुरुषात्) बिजली के समान तेजस्वी परमात्मा से (अधि जज्ञिरे) होती हैं। इस परमात्मा को ऊर्ध्व भाग से, मध्यमें अथवा तिरछा कोई (न परिजग्रभत्) ग्रहण कर नहीं सकता।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येषः, मा मा हिंसीदित्येषा, यस्मान्न जात इत्येषः॥३॥

(तस्य) उसके लिये कोई (प्रतिमा) प्रतिमा अर्थात् उपमा (न अस्ति) नहीं है। उसका वर्णन **'हिरण्यगर्भ मा मा हिंसीत्, यस्मान्न'** आदि मंत्रों से होता है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः, पूर्वो ह जातः, स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः, स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥

(ह) निःसंदेह (एष देवः) यही परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः अनु) सब दिशा और उपदिशाओं में है। यही (ह) निःसंदेह (पूर्वः जातः) भूतकाल में बना था, अर्थात् अनेक रूपों में प्रकट हुआ था, विश्व के विविध रूपों में उत्पन्न हुआ था, और (उ) निःसंदेह (सः गर्भे अन्तः) वह इस वर्तमानकाल में भी गर्भ के अन्दर आ गया है। अर्थात् जैसा वह भूतकाल में नाना रूपों में प्रकट हुआ था, वैसा ही वह वर्तमानकाल में भी नाना रूपों में नाना योनियों में प्रकट होने के लिये गर्भ में आ गया है। (जातः) जो भूतकाल में जन्मा था, जो भूत-काल में नाना रूपों में प्रकट हुआ था, (सः एव) वही परमात्मा है, तथा (जनिष्यमाणः) भविष्यकाल में जन्म लेनेवाला भी (सः) वही परमात्मा है। (सर्वतोमुखः) सब ओर मुखवाला यही परमात्मा (जनाः प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक जन्म लेनेवाले में रहता है।

आगे भी इसी तरह मंत्र देखे जा सकते हैं, परन्तु फल

क्या होगा ? घर-घर में जो बालक जन्म लेते हैं, पशु-पक्षियों को जो बच्चे पैदा होते हैं; वृक्ष जो ऊगते हैं, वे सब परमात्मा के रूप हैं, यही इसका आशय है। फिर लेखक और संपादक इन नाना रूपों में से दो रूप नहीं है ? क्या ये ही दो रूप विश्व से पृथक् हैं ?

' एष देवः जातः जनिष्यमाणः

' यही देव भूतकाल में नाना रूपों में जन्मा था, और यही देव भविष्यकाल में विविध रूपों में जन्मेगा, अर्थात् इस वर्तमानकाल में जो अनेक रूप दिखाई देते हैं, वे भी उसी परमात्मा के रूप हैं। '

पुरुषसूक्त का ही यह स्पष्टीकरण है । पुरुषसूक्त में कहा है कि, ' परमात्मा के सिर ब्राह्मण हैं, बाहू क्षत्रिय हैं, पेट और जंघाएं वैश्य हैं और पांव शूद्र हैं। (ऋ० १०।९०।१२)

यही बात वा० यजु० ३२।४ में ' वह देव जन्मा था, जन्मा है और जन्म लेगा ' ऐसा कहकर स्पष्ट की है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों के रूपों में हमारा उपास्य देव परमात्मा जन्म लेता है। अत: हमको उचित है कि, हम उस परमात्मा की सेवा इन रूपों में करें। यही धर्म है। यही हमारा कर्म है, हमारा कर्तव्य है। वेदका यही आदेश है। अब जो वेद के इस आदेश को नहीं मानेंगे और कहेंगे कि न सूर्य-चांद ईश्वर हैं और न प्राणी ईश्वर है, उनके उस वचन का हम कैसा मण्डन कर सकते हैं ?

हमारा वेदपढने से तो यह निश्चय हुआ है कि, वेदने जिस परमात्मा का वर्णन किया है, वह परमात्मा संपूर्ण मानवों के रूपों में अवतीर्ण हुआ है, पशुपक्षियों के रूपोंमें प्रकट हुआ है, वृक्ष-वनस्पति-औषधियों के रूप से हमारा सहाय्यक हो रहा है, अन्न के रूप से हमारा पोषण कर रहा है, जलरूपसे हमें शान्ति दे रहा है, सूर्य के रूपसे हमें गर्मी दे रहा है, अग्नि का रूप लेकर हमारा अन्न पका रहा है, वायु के रूप से हमारा प्राण बना है। इसी तरह हमारे पुत्र के रूप में हमारे घरों में जन्मता है। माता, पिता, गुरु आदि के रूप में विविध सहायता कर रहा है। अनन्त रूपों में वही प्रकट हुआ है। विश्व के अन्दर का प्रत्येक रूप उसका ही रूप है।

पाठक विचार करें और जानें कि, आजकल इस विविध रूपों में अवतीर्ण परमेश्वर का कितना अपमान किया जाता है।

गीता में कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ गी० ९।११

' मनुष्यों के शरीर के आश्रय से प्रकट होनेवाले ईश्वर की निन्दा मूढ लोग करते हैं, क्योंकि परमेश्वर के श्रेष्ठ भाव को वे नहीं समझते। '

मानवी शरीर में जो ईश्वर का भाव प्रकट हुआ है, उसी की सेवा मनुष्य कर सकते हैं। इसी तरह पशुपक्षी, वृक्ष वनस्पति आदि के रूप से प्रकट हुए परमात्मा की सेवा उपासक कर सकते हैं। परन्तु यहां पाठक विचार करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, धार्मिक-धार्मिक करके जो लोग प्रसिद्ध हैं, वे भी इसी ईश्वर का तिरस्कार करते हैं और अन्यान्य उपासना में रमते हैं !!! कितना वेद के धर्म का लोप हुआ है ? देखिये !

सनातन हिंदूधर्मी लोग अंत्यजों को हीनदीन अवस्था-में रखेंगे, क्योंकि उनके मतसे अंत्यज ईश्वरके रूप नहीं हैं ! गरीबों को भूखे रहने देंगे, क्योंकि उन के मत से गरीब विश्वरूपमें नहीं हैं !! और मंदिरोंमें स्थापित मूर्ति के भोगों के लिये लाखों रुपया खर्च करेंगे, क्योंकि उनके मत से मूर्तिहि ईश्वर है !!! आर्यसमाजी भी सूर्य-चांद, जल-अग्नि ये ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप होते हुए भी नहीं मानेंगे, क्योंकि आर्यों के मत् में ये सब जड हैं !!! संपूर्ण मानवों में प्रकट हुआ परमात्मा भी आर्यसमाजी दूर रखेंगे, ईश्वर चांदसूरज नहीं है ऐसा बोलेंगे, सूरज को जड पदार्थ करके धिक्कार करेंगे, और आंख बंद करके परमात्मा की उपासना होगी ऐसा मानेंगे, आंखे खोलकर दीखनेवाला परमात्मा धिक्कारेंगे, और इसी को वैदिक धर्म मानेंगे!!! दो मुख्य संप्रदायों की यह अवस्था है, फिर अन्यान्य संप्रदायों के विषय में कहना ही क्या है ?

वेद का आदेश स्पष्ट होते हुए भी वैदिक धर्मी लोग उसका स्वीकार करने को हिचकते हैं। नाना प्रकारके भाष्य वेदपर हुए हैं, परन्तु अपने मन की बातें वेदपर लगाने का यत्न हि किया गया है। वेद के पदपदार्थ से जो स्पष्ट अर्थ है, उसको दबाकर विपरीतहि अर्थ किया गया है। क्या इस का विचार वैदिक धर्मीयों को नहीं करना चाहिये ?

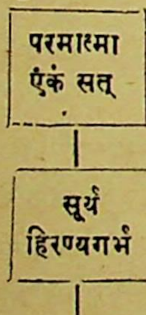
पाठको ! यदि आपका धर्म वेद है, तब तो आपको वेद का आदेश मानना चाहिये, अन्यथा मुकाबला प्रत्यक्ष ईश्वर के साथ ही करना पडेगा। इसका जो परिणाम होगा, वह होगा।

(१४) आगे चतुर्दशवें परिच्छेद में श्री लेखक महोदय कहते हैं कि '**सूर्य**' देवता के मन्त्र को सर्वव्यापक परमात्मपरक लगाया है, यह वेद के साथ अन्याय है। मंत्र यह है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋ० १।१६४।४६)

इसका हम अर्थ ऐसा समझते हैं- " (एकं सत्) एक हि सत् है, (विप्राः) ज्ञानी लोग उसका (बहुधा) अनेक प्रकार से (वदन्ति) वर्णन करते हैं। उसको अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा (वायु), दिव्य सुपर्ण आदि कहते हैं।"

यहां यह समझना चाहिये कि, इस मंत्र की देवता 'सूर्य' है। परब्रह्म परमात्मा जो कि (**एकं सत्**) एक ही सद्वस्तु है, वह '**सूर्य**' के रूप में सब से प्रथम प्रकट हुआ। यही '**हिरण्यगर्भ**' कहलाता है। इस सूर्य से इन्द्र-विद्युत्-अग्नि आदि देवगण प्रकट हुए, पृथ्वी-आप आदि यथाक्रम उनसे उत्पन्न हुए। प्रकट होने का क्रम ऐसा है-



'**एकं सत्**' जो मूल में एक था, वही सूर्य में, और सूर्यहि इतने विश्व के रूपों में प्रकट हुआ है। अग्नि के बाद आप्, आप् के बाद पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधि, औषधिसे अन्न, अन्नसे रेत (शुक्र), रेतसे सब प्रजा हुई है। अर्थात् (**एकं सत्**) एक ही सत् से सूर्य, अग्न्यादि देव और सब प्रजा हुई। ये एक ही सत् के सब रूप हैं। सूर्य देवता होने का यही कारण है। इससे अर्थ में कोई वैपरीत्य नहीं होता और न किसी मन्त्र से अन्याय होता है। हमने हि वेद के मन्त्र के साथ अन्याय किया, यह पढकर आश्चर्य ही हुआ !

संपूर्ण वेद में सब देवताओं में सूर्य को परम देव उक्त कारण मान लिया है। अथर्ववेद में इस विषय के सूक्त के सूक्त पडे हैं।

(१५) तैत्तिरीयोपनिषद् के वचन के विषय में भी ऐसीहि बात हुई है। कितने भी अनुवाक् देखे और कितने भी कोशों का वर्णन किया गया, तो भी यह '**सब विश्व आत्मा का रूप**' अथवा '**आत्मा का प्रकटीकरण है,**' इस में बाधा नहीं आती है। आत्मा का विश्वरूप दर्शाने के लिए ही सब अन्य वर्णन है। द्वैत का वर्णन करते करते पूर्ण '**एकं सत्**' को समझाना ही सब उपनिषद् का उद्देश्य है। प्रत्येक उपनिषद्में, न केवल तैत्तिरीय उपनिषद् में, प्रारंभ द्वैतसे होकर अन्तिम सिद्धान्त '**एकं सत्**' ही कहा है। ब्रह्मानन्दवल्ली में '**एकं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म**' प्रारंभ में हि कहा है। एकवचनी प्रयोग से यह '**एकं सत्**' है यह सिद्ध है। इसी एक से क्रमपूर्वक आकाश- वायु- अग्नि- आप- पृथ्वी- अन्न- प्राणी की उत्पत्ति प्रारंभ में हि कही है। आगे जो भी कहा गया है, वह इसका हि विस्तार है। न कि प्रारंभ में '**एकं सत्**' कहकर अन्त में '**अनेकत्व**' सिद्ध किया है।

प्रतिपादनकी शैली भिन्न रही, तो भी जो तत्त्व पतिपादन किया जाता है, वह एक ही '**सत्**' निःसंदेह है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ये पांच अथवा और भी जितने चाहे, उतने कोश कल्पना किये जा सकते हैं। जब पहिले चेतन का जड हुआ, इतना भेद होने की कल्पना मान ली जाय, तब तो उसके बाद अनेक कोश बनने की कल्पना सहज ही से मानी जा सकती है। खांड की यदि एक मूर्ति ढाली गयी, तो उस एकरससे सहस्रों मूर्तियां बनने में कोई सन्देह रह नहीं सकता। अतः पांच कोशों का भेद कोई ऐसा कठिन भेद नहीं, इस जगत्में जितनी वस्तुएं हैं, उनमेंसे प्रत्येक वस्तु दूसरीसे भिन्न है। भेद पर हि जगत् खडा है। इसलिये भेद है, यह बताने से कुछ भी विशेष सिद्ध नहीं हो सकता। 'भेद है' यह सब को पता है, छोटा बालक भी अन्य व्यक्तियों से मैं भिन्न हूँ और प्रत्येक वस्तु दूसरी से भिन्न है, यह जानता है।

भेद बताने के लिये गुरु की जरूरत नहीं है, न शास्त्र की जरूरत है। भेद का ज्ञान मनुष्यमात्र को है। इस भेद के अन्दर जो अभिन्नता है, इन विभक्तों में जो अविभक्तता है, इन अनेकों में जो एकत्व है, उसको पहचानने के लिये हि गुरु चाहिये, शास्त्र चाहिये और मनन चाहिये।

इसी तरह पञ्चकोश तो प्रसिद्ध हैं; इतने ही भेद नहीं हैं, पञ्चकोश हैं, स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर हैं, त्रिपुटी हैं, द्वन्द्व हैं, सब कुछ है। यहां विचार करना आवश्यक है कि, यह भेद परमार्थतः सत्य है या नहीं है।

वेद का कहना है कि (**एकं सत्**) सत् जो है, वह केवल एकही है, वहां कोई भेद नहीं है, भेद जो दीख रहे हैं वह तत्त्वतः नहीं है, वस्तुतः नहीं है, परमार्थतः नहीं है।

बंध और मोक्ष ।

(१६) सोलहवें परिछेद में मोक्षसे पुनरावृत्तिपर लेखकने विचार किया है। द्वितीय वाक्य ही ऐसा लिखा गया है- "जीव और ईश्वर की भिन्नता उपर्युक्त पंक्तियोंसे प्रमाणित हो जानेसे सम्पादकजी अपनी प्रतिज्ञानुसार कदाचित् अब पुनरावृत्ति स्वीकृत कर लें।"

हम यह नहीं समझते कि, जीव और शिव का सुस्थिर भेद किस प्रमाण से और कब साबित हुआ है? गीता में-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गी. १५।७)

गीताने तो कहा है कि, ईश्वर का ही अंश जीव हुआ है। तो गीता के प्रमाणसे जीव ईश्वरका अंश है। वेदने भी-

पादोऽस्येहाभवत् पुनः। (ऋ० १०।९०।३)

परमात्माका एक अंश यहां वारंवार विश्व में जन्मता है, ऐसा साफ कहा है। १३ वें परिच्छेदके विचार करनेके समय इसका विचार किया जाय- सब दिशाओं में व्यापनेवाला ईश्वर भूतकाल में यहां जीवभावसे जन्मा था, इस समय गर्भ में आ रहा है, और भविष्य में जन्म लेगा (**जातः, जनिष्यमाणः**) इस मन्त्रका आशय क्या है? इस परमात्माने-

एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा। (अथर्व० १०।७।९)

'सर्वाधार ईश्वरने अपना एक अंग सहस्रधा विभक्त किया' जिस से यह जड-चेतन विश्व बना, ऐसा कहा है।

इस तरह के सैंकडों वचन हम देखते हैं, जो मूलतः (**एकं सत्**) एकहि सत् तत्त्व है, जिसके अनेक रूप बने हैं, ऐसा सदैक्यवाद का वैदिक सिद्धान्त प्रमाणित होता है। ये वेदवचन हम भूल नहीं सकते और ना हि वेदवचनों का उलटा अर्थ बताने का हमारे अन्दर धैर्य है। ऐसी अवस्था में जीव और ईश्वर का परमार्थतः भेद मानना, वेद का धर्म मानते हुए, हमारे लिये असम्भव है।

सृष्टिनिर्माणावसर पर क्या होता है, यह एक ऐसा प्रश्न है कि, जिस के लिये सहस्रों पृष्ठ लिखने की आवश्यकता होगी। न इतना इस समय हमारे पास अवसर है और नाही वह कार्य आजही हम से हो सकता है।

अद्वैतवादी जो मानते होंगे, उसका उत्तर देने की हमें आवश्यकता नहीं। प्रचलित अद्वैतवाद और वेद का '**सदैक्यवाद**' (**एकं सद्वाद**) ये दो भिन्न हैं। अतः मायावश जो होता होगा, वह वेद के सदैक्यवाद से बिलकुल भिन्न है। मायावादी जो अद्वैत मानते हैं, और वेदवादी जो '**सदैक्य**' मानते हैं वह परस्परभिन्न है। इसके कुछ भेद यहां आक्षेपकर्ता को यह विषय स्पष्ट होने के लिये लिख देते हैं। इन भेदों को वे देखें और मायावाद और सदैक्यवाद को एक न समझें।

मायावाद और सदैक्यवाद ।

१. मायावादी सृष्टि को मिथ्या मानते हैं, परन्तु वेद के सदैक्यवाद में सृष्टि अथवा **विश्व ही प्रत्यक्ष दीखनेवाला परमेश्वर का सत्य स्वरूप है** और यही उपास्य, सेव्य, यज्ञीय देव है।

२. मायावादी दृश्य संसार को माया, भ्रम, अथवा मायामोह कहता है, परन्तु वेद के सदैक्यवाद में पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-सूर्य- चन्द्र- नक्षत्र- विद्युत् आदि सब ही परमेश्वर के प्रत्यक्ष जीते जागते रूप हैं। इसी तरह सब प्राणी, मनुष्य-पशु-पक्षी आदि सब, वृक्ष-वनस्पति, स्थावर जंगम सब के सब रूप, (**इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** ऋ० ६।४७।१८) इन्द्रनामक परमात्मा ही अपनी अनंत शक्तियों से अनन्त रूप लेकर हमारे सन्मुख खडा है, ऐसा वेदधर्मी मानता है।

३. मायावादी चार वर्णों को ईश्वरका रूप नहीं मानता, परन्तु वेदधर्मी **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों को अपने उपास्य परमात्मा के सिर-बाहु-ऊरु-पांव मानता है।** और इस जनतारूपी नारायण की-परमात्मा की-सेवा

करना ही एक मात्र उपाय अपनी मुक्ति के लिये है ऐसा वैदिकधर्मी मानता है।

४. मायावादी अद्वैती मायाविना अपना मंतव्य सिद्ध नहीं कर सकता, परन्तु वैदिक धर्मी '**एकं सत्**' मान कर, उसी के '**इन्द्र-अग्नि**' आदि रूप हैं, ऐसा मानता है। वैदिक धर्मी माया का अर्थ '**ईश्वर की शक्ति**' मानता है, परन्तु मायावादी माया को '**अज्ञान**' मानता है।

५. अद्वैतवादी मायावश ईश्वर मानता है, परन्तु वैदिक धर्मी ईश्वर की सहजशक्ति '**माया**' (कुशलता skill)' है और वह ईश्वर के आधीन है, ऐसा मानता है। वह ईश्वर को बन्धनकारक नहीं है, परन्तु वह उस के आधीन रह कर विश्व निर्माण करती है।

६. मायावाद में ईश्वर का अज्ञानवश जीव बनना माना जाता है, परन्तु वैदिक धर्म के सदैक्य-वाद में जलनेवाली अग्नि से जैसी चिनगारियां निकलती हैं, वैसी परमात्मा से जीवरूप चिनगारियां निकलती हैं। यही (अथर्व १०।७।९) (**एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्**) एक अंग का सहस्रधा विभक्त होना है। यहां जीव और ईश्वर तत्वतः एक ही है। बडा और छोटा इतना ही भेद है। जैसा वृक्ष से फल वैसे ही ईश्वर से जीव होते ही हैं।

७. प्रत्येक चिनगारी दावानल बनने की शक्ति अपने अंदर रखती है, उसी तरह प्रत्येक जीव ईश्वर होने की शक्ति रखता है। यह वेद का सिद्धान्त है। (**अमृतस्य पुत्राः**) अमृत परमात्मा के पुत्र जीव हैं, पुत्र का पितृसम होना ही उसका स्वभाव है। पुत्र में पितृसम सब गुणधर्म हुए तो वही उस की मुक्ति है।

८. पुत्र एकवार पितृसम-पिता-हुआ, तो वही पिता फिर पुत्र नहीं बन सकता। एक चिनगारी दावानल हो गयी तो फिर वही दावानल फिरसे चिनगारी नहीं होता। उस दावानल से अनेक चिनगारियां होंगी, वह बात और है। सबका सब दावानल फिर चिनगारी नहीं बनेगा, न पिता फिर पुत्र की शकल में परिणत होगा।

पिता से पुत्र बनना और बात है और एक वार जो पुत्र पिता बन चुका वही फिर पुत्र होनेकी सम्भावना मानना और बात है। '**अमृतस्य पुत्राः**' जीव अनेक हैं और वे सब अमृत के पुत्र हैं, अग्नि की चिनगारियां हैं। पुत्र पिता बना, वही फिर पुत्र नहीं होगा। चिनगारी महान् अग्नि बनी, तो फिर वही चिनागारी नहीं होगी। इसी तरह एक वार मुक्त हुआ तो फिर वही पुनः बद्ध नहीं होगा। उस से और कई अंश निकलेंगे, परन्तु पुत्र अनेक होनेपर भी पिता पिता ही रहता है। पिता के एक अल्प अंश से पुत्र होता है। अस्तु।

इस तरह वेद-धर्म का सदैक्यवाद और मायावाद में बहुत ही भिन्नता है। आक्षेपकर्ता दोनों को एक मानकर गडबड न करें।

सायुज्य और सामीप्य।

सायुज्य श्रेष्ठ है, या सामीप्य, ऐसा प्रश्न आक्षेपक करते हैं। सलोकता, स्वरूपता, समीपता और सायुज्यता ये चार प्रकार की मुक्ति केवल शुद्ध द्वैतवादियों की कल्पना है। वेद के सदैक्यवाद में ये मुक्तियां नहीं हैं। वैदिक धर्मी के लिये तो उपास्य देव परमात्मा विश्व के रूप से उस के सन्मुख है। चातुर्वर्ण्य-रूप से परमात्मा वैदिक धर्मी को प्रत्यक्ष है। हरएक प्राणी के साथ, हरएक मनुष्य के साथ होनेवाला व्यवहार वैदिक धर्मी की दृष्टि से प्रत्यक्ष परमेश्वर के साथ व्यवहार है। वैदिक धर्मी मनुष्य पाठशाला में गया तो उस के लिये सब विद्यार्थीगण प्रत्यक्ष ईश्वर के के स्वरूप हैं, वैदिक धर्मी अपनी दुकानपर बैठा तो जो गिऱ्हाईक आ जाय वह उसके लिये ईश्वर का स्वरूप है।

वैदिक धर्मी साहुकारी करने लगा तो ऋण लेनेके लिये आनेवाला अधमर्ण प्रत्यक्ष ईश्वर हि है, यदि वैदिक धर्मी वैद्य या डाक्तर रहा तो जो रोगी उसके पास आवेगा वही परमेश्वर का स्वरूप है, जो उससे सेवा लेनेके लिये और उसको कृतकृत्य करने के लिये आया है। वैदिकधर्मी पुलीसों में भर्ती हुआ तो सब जनता-जनार्दन उसका उपास्य देव उसकी सेवा लेनेके लिये सर्वत्र उपस्थित है। चोर भी (**तस्कराणां**। वा. यजु. १६।२१) परमेश्वर हि है, वह उस रूप में इसलिये आता है कि पुलीस अपना कर्तव्य करते हैं वा नहीं, यह देखना है। वेद में परमेश्वर के रूपों की गिनती में (**वञ्चत्, परिवञ्चत**) ठगानेवाले, (**स्तायु, तस्कर**) चोर लुटेरे, (**मुष्णत्**) लुटेरे ये सब ईश्वर के रूप (यजु० १६।२१ में) कहे हैं। इस तरह यह अध्याय सैकडों ईश्वर के रूपों से भरा है। यहां राजा और

[शेष भाग पृ० ४२ पर देखो]

ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

[श्री पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ]

[२७] पापपुण्य की परिभाषा।

अपने को पापी कहना साधारण अपराध नहीं है। अपने को लोगों की दृष्टि में निष्कपट, स्पष्ट वक्ता, भक्त सिद्ध करने के लिये अपने को पापी, खल, कामी कहने की अत्यन्त दूषित परिपाटी है। ऐसा कहना अपने स्वरूप का अज्ञान, अपने पर अश्रद्धा, और अपने विषय में संशय की सूचना है। जो आत्मस्वरूप के मर्म को जानता है, जिसे अपने दैवी स्वभाव पर श्रद्धा है, जिसे अपने सुविचारों में संशय नहीं है, वही मनुष्य है। अपने को पापी न कहने के कारण को जानने के लिये पापपुण्य की परिभाषा का विचार पूर्ण रूप से कर लेना चाहिये, और पापसे बचना चाहिये। क्योंकि पाप से बचे रहने की अदम्य दृढता ही भक्ति है।

पापपुण्य की परिभाषा का निर्णय करने के लिये यह आवश्यक है कि उससे प्रथम अपने स्वरूप का निरूपण कर लिया जाय कि हम क्या हैं? हमें अपने स्वरूप को इस प्रकार समझना चाहिये, कि हम विराट् 'देही' हैं। हमने जैसे वस्त्र पहन रक्खे हैं, वैसे ही इस देह को भी पहना हुआ है। विराट् 'देही' के पहनने के इन देह-नाम के वस्त्रों को गिन सकना शक्ति से बाहर है। ये देह अनगिनत हैं। ये हो भी रहे हैं, और मर भी रहे हैं। फिर होंगे और फिर टूटफूट जायंगे। इन देहरूपी वस्त्रों का यह क्रम सदासे चल रहा है, और सदा चलता रहेगा। इन होने-जानेवाले अगणित देहोंमें से किसी देहके बंधन में न रहना ही हमारा स्वरूप है। हमारा स्वरूप अनादि-काल में देहधारण तथा देहत्याग का काम कर रहा है। अपने इस स्वरूप को कदापि न भूल जाना हमारा 'स्वधर्म' (अर्थात् हमारे देहधारण का अभिप्राय) है। इस धर्म के अनुकूल आचरण को 'पुण्य' कहा जाता है। इस स्वधर्म के विरुद्ध आचरण करना 'पाप' है। आत्म स्वरूप को भुला देना पाप है। इस देह में रहकर इस के और संसार भरके भौतिक रूपरसादि विषयों के प्रभावमें न आना ही 'पुण्य' है। तथा इनके प्रभावमें आ जाना 'पाप' है।

रूप, रस, स्पर्श आदि विषयों के साथ हमारे मन का बन्धन और मुक्ति दोनों का सम्बन्ध है। जहाँ बन्धन रहता है, वहीं बन्धन को तोडने का भी सम्बन्ध रहता है। बन्धनों को तोडकर बन्धनातीत बन जाना मुक्ति या छुट-कारे की अवस्था है। यदि बन्धन न रहते तो मुक्ति का दर्शन करना असम्भव कल्पना रह जाती। क्योंकि बन्धन हैं, इसी से मनुष्य को मुक्ति का दर्शन मिलता है। जो मनुष्य बन्धनों को तोडे विना, बन्धनोंको ज्योंका त्यों रहने देकर, बन्धनों से आँख मिचौनी खेलकर, मुक्ति का दर्शन करना चाहता है, वह मुक्ति से पृथक् रहकर बन्धनों में जकडा रहता है।

मुक्ति छिन्नभिन्न किये हुये बन्धनों की छाती पर ही आसन जमाकर बैठती है। बन्धनों को देखते ही वहाँ से भाग खडी होकर एकान्त में जाकर दम लेनेवाली और बन्धनों के पास रहना पड जाय तो दम घोट कर मर जानेवाली मुक्ति नाम की कोई स्थिति नहीं है। वह स्थिति 'धोका' है। वह स्थिति धोके में रहकर बन्धनों में और भी अधिक गाठ लगाकर अपने को जकड डालना है। अमृत या अमरभाव कहीं बाहर से नहीं आता। यह अपने अन्दर ही है। मन में उत्पन्न होते रहनेवाले 'विषय-वासना' नामके विष को त्यागते रहने का नाम ही 'अमृत' है। मन विषयवासना पर विजय प्राप्त कर ले, यही 'अमृत' है। इसके अतिरिक्त अमृत भरा कटोरा कहीं नहीं रक्खा, जिसे बाहर से ढूंढ कर पिया जा सकता हो, और अमर बना जा सकता हो।

बात यह है कि, देह धारण करके मनुष्य को विषय-वासनारूपी माया के साथ रहना पडता है। परन्तु जब मनुष्य इस विषयवासनारूपी अपनी माया को पछाड कर निर्विकार और इससे अप्रभावित बनता है, तब ही इस जगत् के सर्जनहार की सृष्टिरचना का तथा उस रचना के अन्तर्गत इस देह को धारण करने का अभिप्राय पूरा होता है। नहीं तो वह अभिप्राय अधूरा पडा रहता है। इस भागवत अभिप्राय को पूरा करना ही मनुष्यजीवन

का लक्ष्य है। यही जीवन-मुक्ति है। यही अमरभाव को प्राप्त कर लेना है। मन की ऐसी अप्रभावित स्थिति की रक्षा करते रहना ही तपश्चर्या या सत्यमयी स्थिति है। मनुष्य की इस सत्य की रक्षा करने की शक्ति का कोई अन्त नहीं है। यदि तुम संसार के सब कर्मों में अपनी इस मानसिक अवस्था को सुरक्षित रखते हो, तो तुम लक्ष्यारूढ हो। तुमने अपने सत्य स्वरूपको नहीं भुलाया। तुम पापसे बच रहे हो और पुण्य कर रहे हो।

जब तुम्हें कर्म करना पडे, या कर्म से बचकर रहना पडे, दोनों समय अपने उस स्पष्ट कर्म को, और अपने नैष्कर्म्य दीखनेवाले कर्म को इस कसौटी पर परखते रहो। यदि उस कर्म से अपनी मानसिक स्थिति की रक्षा होती देखो, तब उसे करो, नहीं तो उसे छोड दो। यही सत्य है। यही पुण्य है। यदि उस काम से तुम्हारा मन प्रभावित होता हो, या आत्मविस्मृति में डूबने लगता हो, तो वह पाप है। वह आत्मविस्मृति है। वह असत्य है। वह त्याज्य है। ऐसे काम को कभी हाथ मत लगाओ।

यदि तुम साहस करके जीवन के किसी भी क्षण इस सत्य पर आरूढ हो जाओगे, तो फिर तुम्हारा असत्य के बन्धन में आना असम्भव बन जायगा।

जीवन में कुछ पाप और कुछ पुण्य, कुछ बुरे काम और कुछ भले काम, ऐसी मिलीजुली अवस्था का होना असम्भव है। जब तक पापको पूरा नहीं छोडोगे, तब तक पुण्य करना असम्भव बना रहेगा। जब तक कोई पुण्य को पूरा नहीं छोड देता, तब तक कोई पाप नहीं कर सकता। जब इन दोनों में से एक को त्याग दिया जाता है, तब ही दूसरे का ग्रहण होता है। इनमें से एक को पकडे रहा जाय, तो दूसरे का कदापि ग्रहण नहीं हो सकता। जब कि पापी बने रहने की अवस्था में पुण्य किया हुआ समझा जाता है तब उस पुण्य समझे हुये कर्म में किसी न किसी ढंग की स्वार्थभावना का दूषण लगा रहने से वह पुण्य प्रतीत होने पर भी पाप ही होता है। वह पुण्य, पापों को उत्पन्न करनेवाला, पापों के लिये उत्तेजित करनेवाला होता है। जिस पुण्य में थोडे से भी पापकी सम्भावना है, वह पाप है।

यदि तुम इसी क्षण पापमय जीवन बिताते रहोगे तो तुमने अब तक का पिछला समय पाप में या पाप की आशारूपी पाप में, या पाप के अवसर की प्रतीक्षारूपी पाप में काटा है। पाप की आशा प्रतीक्षा और तय्यारी भी पाप कराते रहने से भिन्न (पापरहित निष्पाप) स्थिति नहीं है। यदि तुम्हारे मन की ऐसी अवस्था हो, तो भविष्यत् में तुम्हारे पुण्यशाली होने की कोई निश्चित संभावना नहीं है। यदि तुम इसी क्षण पुण्य की स्थिति में (अर्थात् मन की प्रभावित स्थिति में) आरूढ हो सको, तो समझ लो कि तुमने अपना समग्र जीवन सत्यारूढ पवित्र स्थिति में अटल रहकर बिताया है। यही पापपुण्य का विश्लेषण है। जहाँ पाप है, वहाँ पुण्य का होना असम्भव है। जहाँ पुण्य विराज रहा है, वहाँ पाप का रहना असम्भव है।

[२८] 'अपनेको कामासक्त हो जानेके लिये विवश मान लेना भक्तोचित नहीं है।'

'विषयवासना का न रहना ही ब्रह्मानन्द है।' यही 'विषय-वैराग्य' है। यही भक्ति है, और यही शान्ति है।

मनुष्य के मन में ब्रह्मानन्द और विषयवासना दोनों में से कोई एक न हो, यह सर्वथा असम्भव है। जब तक मनुष्य को ब्रह्मानन्द नहीं मिला, तब तक उसमें विषय-वासना अवश्य रहेगी। एक मनुष्य नास्तिक और वैरागी (त्यागी) नहीं हो सकता। त्याग, वैराग्य नास्तिकता के साथ नहीं रहते। विषयों में फंसा हुआ मन नास्तिक है। जिस प्रकार काटा दीखने पर काटों में न फंसना उनका सदुपयोग है, इसी प्रकार विषय दीखने पर विषयों में न फंसना विषयों का सदुपयोग है। विषयों का सदुपयोगही सच्चा 'विषयत्याग' है। विषयों को मनपर उनका प्रभाव न पडने देने के उपयोग में लाना ही 'विषय-त्याग' है। मन में वसनेवाली विषयवासना ही विषयों का बन्धन कहाता है। विषय स्वयं बन्धन नहीं है, किन्तु उन्हें चाहना बन्धन है। बन्धन बाहर नहीं है, किन्तु मन में है। मन अपने दुष्ट विचारों में बंधकर अपने हाथों से अपना 'ब्रह्मानन्द' भोगने का अधिकार छीन कर दुःखी होता है। मन को बन्धन से मुक्त रखना ही इस बन्धन का सदुपयोग करना है। धन, संपत्ति, माता, पिता आदि संसार के जितने पार्थिव सम्बन्ध अपना लिये जाते हैं, वेही

सब बन्धन बन जाते हैं। ये सब अपनाये जाकर ईश्वर को भुलाये जानेवाले पदार्थ बन जाते हैं। इन सब बन्धनोंमें न फंसना मुक्ति है।

प्रश्न हो सकता है कि, जिसके पास धन, सम्पत्ति है, मातापिता हैं, परिवार है वह 'ईश्वरदर्शनार्थी' हो, तो क्या वह इन सब को छोडकर संन्यासी बन जाय? वह इन सब का क्या करे! उत्तर यही है कि इन सब के प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य हो, केवल उसी का पालन किया करे। यदि मनुष्य इनके प्रति शुद्ध कर्तव्य का पालन किया करेगा, तो इन सबका होना उसके ईश्वरदर्शन में सहायक बन जायगा। मनुष्य को चाहिये कि वह इनके किसी मोह या बाह्य प्रभाव में आकर कर्तव्य से मुँह न मोडे। यही इनके सम्बन्ध में 'ईश्वरदर्शन' या अनासक्ति की अवस्था है।

प्रश्न हो सकता है कि, कर्तव्य क्या है? उत्तर यही है कि निर्विकार मानसिक स्थिति की रक्षा करते रहना मनुष्य का कर्तव्य है। यदि मनुष्य को अपने मन को निर्विकार रखने में धन, संपत्ति, मातापिता आदि से विच्छिन्न होना पडे, तब भी इस मनोदशा की रक्षा करने की दृढता रखना ही परिजन, धन, संपत्ति आदि के द्वारा मिलनेवाला 'ईश्वर-दर्शन' या 'अनासक्ति' नामका धर्म है। इसी को कर्तव्य कहते हैं। धन, संपत्ति, मातापिता आदि को छोडकर अक्रिय संन्यास नाम के भ्रम में दीक्षित हो जाना कर्तव्य नहीं है। इन सब को अपने पास रखना भी कर्तव्य नहीं है। किन्तु मानसिक स्थिति को सुरक्षित रखना ही मनुष्य का कर्तव्य है। यदि अपनी मनोदशा को सुरक्षित रखते हुये उसके साधनरूप से धन, संपत्ति आदि रखनी पडे, तो रखना कर्तव्य होता है, और छोडनी पडे, तो छोडना कर्तव्य बन जाता है।

यदि कोई मनुष्य असत् समाज में रहकर अपनी मनोदशा को ठीक रखना चाहेगा, तो उसे सब प्रकार के पार्थिव सम्बन्धों को छोडकर रहना पडेगा। असत्-समाज में पार्थिव सम्बन्ध का विच्छेद अवश्य हो जायगा। सत् समाज में जितने पार्थिव सम्बन्ध होते हैं, उन सब का उपयोग सत्य की रक्षार्थ होता रहता है। सत्य ही सत् समाज का धन और बन्धन होता है। सत्-समाज में पार्थिव पदार्थ सत्य के अनुगामी बन जाते हैं, और निर्विकार मनोदशा के साधन के रूप में उपयोग में आते हैं। असत्-समाज में पार्थिव पदार्थ सदा पतनकारी उपयोगों में आते हैं।

पार्थिव पदार्थ स्वयं 'सत्य' या 'असत्य' नहीं हैं। किन्तु मनुष्य जिस भावना को लेकर उन (पार्थिव पदार्थों) का उपयोग करता है, वह भावना या तो सत्य होती है, या असत्य होती है। मन की निर्विकार अप्रभावित अवस्था ही 'सत्य' कहाती है। वह अपने आप ही अपनी (अर्थात् सत्य-स्वरूप परमात्मतत्त्व की) रक्षा करती है। सुविचार ही सुविचार की रक्षा करनेवाला परमेश्वर है। अपने जीवन में इस भावना को प्रकट करनेवाले भक्त लोग ही सत्यारूढ समाज की नींव होते हैं। ऐसे भक्त अकेले अपने आप ही अपने सत्यारूढ समाज होते हैं। वे अपना विरोध करनेवाली विरोधिनी शक्तियों के अस्तित्व को अस्वीकार करके उन्हीं के बीच में गौरव से रहते हैं। ऐसे भक्त लोग अपने हाथों से उत्पन्न किये हुये सत्यारूढ समाज से अपने आपको कभी पृथक् नहीं होने देते। हो सकता है कि बाह्य समाज स्थूल दृष्टि से उनका विरोध करता दीखता हो। परन्तु वह (भक्तविरोधी समाज) उन भक्तों को उनकी सत्यारूढ स्थिति के अटल सेवक बनाये रखने का साधन बन जाता है, और उन्हें धन्य बनाता रहता है।

भक्तोंका विरोधी समाज उनका विरोध करके उनसे सत्य की सेवा कराता है। उनका जितना तीव्र विरोध होता है, उनकी सेवा-तत्परता में उतनी ही तीव्रता आ जाती है। भक्त लोग सत्यारूढ समाज में रहने पर सत्य की जितनी सेवा कर सकते, विरोधी समाज में रहने पर भी, उनके हाथों से उतनी ही सत्य की सेवा होती है। वे कभी सत्य की साक्षात् सेवा करते हैं, और कभी असत्य का मानमर्दन करके परम्परा से सत्य की सेवा करते हैं। भक्त लोग सत्यारूढ समाज में अनुकूलता की परिस्थिति में सत्य की सेवा करते हैं, तथा असत्यारूढ समाज में प्रतिकूलता की परिस्थिति में असत्य-दलन के द्वारा सत्य की सेवा करते हैं।

जब कि समाज से भक्तों का सम्बन्ध सत्य की सेवा के नाते है, और जब कि सत्य की सेवा करने में तथा सत्या-

रूढ समाज की सेवा करनेमें कोई अन्तर नहीं है, तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि सत्यारूढ भक्त लोग कभी अपने सेव्य सत्यारूढ समाज की सेवा से पृथक् नहीं किये जा सकते। बाह्य समाज के सत्यारूढ तथा असत्यारूढ दीखने पर भी वे अपनी कल्पना के सत् समाज के सेवक बने रहते हैं। सत्यारूढ भक्त लोग विरोधी दीख पडनेवाले समाज को कभी अपने सत्यारूढ भक्तजीवन की रुकावट नहीं बनने देते। यदि भक्त लोग उस असत्यारूढ समाज को अपने जैसा सत्यारूढ बना हुआ न देखें तब भी वे अकेले अपने को सत्यारूढ स्थिति पर डटे रहने में असमर्थ नहीं पाते। वे मन में उस असत्यारूढ समाज को अपने अविरोधी या सहायक के रूप में देखने की नपुंसकोचित अनधिकार चेष्टा की भावना नहीं रखते।

इस प्रकारके सत्यारूढ भक्त अपने आराध्य सत्य-स्वरूप भगवानमें तीन अटल बातें पाते हैं (१) एक तो उनका भगवान् कभी कहींसे अनुपस्थित होना नहीं जानता। (२) दूसरे भक्त हृदयमें रहनेवाला उनका भगवान् अपने भक्त को कभी पाप नहीं करने देता। (३) तीसरे उनका वह भगवान् अभक्त-हृदयों में पुण्य कर्म नहीं होने देता।

यद्यपि इस संसार में ईश्वर से भिन्न दूसरी कोई सत्ता नहीं है, तब भी सत्य और असत्य ये दो विरोधी पदार्थ देखने में आते हैं। इन दोनों में एक को सत्य मानना चाहिये, तथा दूसरे को असत्य, या भ्रान्ति अर्थात् अस्थिरता जानना चाहिये। सत्य ही सत्तावाला पदार्थ है, स्थिरता-हीन पदार्थ को असत् कहते हैं। असत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। असत् के स्वतन्त्र अस्तित्वकी प्रतीति ही मनुष्य को ' धोखा ' देनेवाली निरीश्वर-बुद्धि है। ईश्वर भिन्न वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्व का निश्चय हो जाना ही निरीश्वर-बुद्धि है। संसार में ईश्वर से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ हो सकता है, यह धारणा ही निरीश्वर-बुद्धि है। निरीश्वर-बुद्धि ही अकर्तव्य करानेवाली कल्पना है। निरीश्वर-बुद्धि लोग ही अकर्तव्य में हाथ डालते हैं। समस्त संसारको ईश्वर जान लेना ही पापदाहक मनोदशा है। पाप, पातित्य, निर्बलता आदिका असम्भव बन जाना ही ' ईश्वर-बुद्धि ' है। समर्थ तथा ईश्वर दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। पाप न हो सकना ही सामर्थ्य है। यही ईश्वरभाव है।

संसार में जो असत् के अस्तित्व की स्वतन्त्र प्रतीति होती है, इसी को ईश्वर की ' माया ' या ईश्वर की ' सृष्टि ' कहा जाता है। सृष्टि स्रष्टाको याद दिलाने के लिये है। सत्य ईश्वर की सृष्टि नहीं है, वह तो साक्षात् ईश्वर है। जिस मानव में सत्यस्वरूप ईश्वरतत्त्व प्रकट रूप में वास करने लगता है, उसके मन की अलौकिक अवस्था हो जाती है। उसके मनमें असत्प्रतीति का होना (अर्थात् किसी पदार्थ का निरीश्वररूप में दीख सकना) असम्भव हो जाता है। जिस हृदय में ईश्वरभाव प्रकटावस्था में रहता है, उस का अनीश्वर हो सकना ' शैतान ' बन सकना, ईश्वरभाव से विपरीत काम कर सकना, ये सब असम्भव घटना बन जाती है। इसी प्रकार जिस हृदय में अनीश्वरभाव प्रकट हुआ रहता है, उस हृदय से सम्पूर्ण कामों में भ्रांति होना स्वाभाविक हो जाता है। उस हृदय से भ्रांतिरहित काम नहीं होते। वह ईश्वरभाव में रहकर हो सकनेवाला कोई भला काम नहीं कर सकता।

क्योंकि भ्रांति भी ईश्वर की रची हुई एक प्रतीति है, इसलिये अपने भ्रांतिपूर्ण कार्यों के कर्तापन (उत्तर-दायित्व) को भी ईश्वर पर डालकर निरपराध बनने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। भक्तों के द्वारा किये हुये अभ्रांत कार्यों को तथा अभक्तों के किये हुये भ्रमपूर्ण कर्मों को एक ही कर्ता की क्रिया होने के कारण एक समान अनिन्द्य समझ लेना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि, भ्रान्त मनुष्य जो काम अनीश्वरभाव में आकर करता है, वह उस काम के कर्तापन को अपने शुद्ध मनरूपी परमेश्वर तक नहीं पहुंचने देता। वह उसके कर्तापन को अपनी अनीश्वर ' या विषयलोलुप ' भावनाके पास रखता है।

जब भक्त किसी कार्य को करता है, तब अपने आप को भेंटकर ईश्वरभाव में रहकर करता है। इसलिये उसका कर्तापन उसके पास न रहकर उसके ईश्वरभावना नाम के शुद्ध मनरूपी नारायण के पास चला जाता है। क्योंकि ये दोनों भावनायें एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं, इसलिये इन दोनों को एक मूल्य का मान लेना भ्रांतिमूलक और अकल्याणकारी है।

क्योंकि विचार का उद्देश्य भ्रांति से बचकर रहना है, इसलिये अनीश्वर-भावना को (चाहे वह ईश्वर की माया

या सृष्टि के अन्तर्गत ही क्यों न हो) ईश्वरभाव से पृथक् रखना ही पडेगा, और उसे प्रकाश के सामने म्लान हो जानेवाले अन्धकार के समान म्लान तथा तुच्छरूप में देखना होगा। जब तक अनीश्वर-भावको तुच्छ, उपेक्ष्य, और अस्वीकरणीय नहीं माना जायगा, तबतक कोई किसी विषय पर भ्रांतिरहित विचार नहीं कर सकेगा। प्रत्येक अनीश्वर-भाव को तुच्छ, हेय, उपेक्ष्य, या अस्वीकरणीय समझ लेने पर ही मानवमन में भ्रांतिरहित विचार की पुण्यसलिला भागीरथी बह सकती है। अंधेरे को प्रकाश जैसा मूल्यवान् समझ लेना या प्रकाश को अंधेरे जैसा मूल्यहीन बना डालना प्रकाशहीन अन्धी या अज्ञानी मनोदशा का परिचय देना है।

[२९] 'स्वयं इच्छा किये बिना इच्छा के विपरीत काम नहीं हो सकता।'

इस संसार में भलाई और बुराई के समझौते की (अर्थात् एक मनुष्य में दोनों का वास होने की) कोई अवस्था नहीं है। प्रत्येक मनुष्य या तो विषयासक्त या विषयातीत हो सकता है। कुछ विषयातीत तथा कुछ विषयमग्न (अर्थात् कभी भूल करनेवाला और कभी सावधान रहनेवाला या साधक नाम की अवस्था रखनेवाला) कोई मनुष्य नहीं हो सकता। अपनी विषयवासना को अवसर देने का अधिकार चाहने की मनोवृत्ति ने ही अपना नाम साधकावस्था रख लिया है। साधकावस्थावाला सिद्धावस्था में जाने के संकट में पडकर विषयों से बचने को उद्यत नहीं है। सिद्धावस्थ होने का साहस न दिखाना ही 'साधकावस्था' है। यदि मनुष्य पूर्ण ज्ञानी नहीं है, तो निश्चय ही वह पूर्ण मूर्ख है। इस सृष्टि में कुछ ज्ञानी और कुछ मूर्ख इस प्रकार के विरुद्ध स्वभावधारी मनुष्यका मिलना असम्भव है। ऐसे मनुष्यों का होना 'धोका' है। क्योंकि ज्ञान तथा अज्ञान के समझौते की अवस्था नहीं हो सकती। इसे दूसरे स्पष्ट शब्दों में यों कहना चाहिये कि जो सुधरता है वह पूरा सुधरता है। अधूरा सुधार असम्भव है।

मानवमन में एक समय दो विरोधी भावना नहीं रहतीं। किसी काम को करते समय उसे करें? या न करें? इस प्रकार की दोनों भावनाओं का रहना असम्भव है। पहले मनमें एक बात को जमा लिया जाता है, तब ही दूसरे के सम्बन्ध में विचार होना सम्भव होता है। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य एक ही समय में अपनेमें 'चोरी करूं, या न करूं!' इन दोनों भावनाओं को एक समान महत्त्व देकर नहीं रख सकता। वह इन दोनों में से एक का पक्षपात अवश्य करता है। जब कि वह अपने मनको चोरी करने की ओर झुकाकर यह विचार करने लगा है तब इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उसके मन में चोरी करने का विचार जम कर बैठा हुआ है। उसके मन में चोरी न करने की कोई 'कल्पना' या 'आग्रह' नहीं है। यदि उसके मनमें चोरी न करने की कल्पना या आग्रह होता, तो उसका चोरी करने को उद्यत होना असम्भव हो जाता।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि फिर चोरी करने को उद्यत होकर भी चोरी न करने की पक्ष की युक्तियों को क्यों ढूंढा जाता है? उत्तर यही है कि, यदि कोई मनुष्य मनमें चोरी करने को कटिबद्ध होकर कर्तव्याकर्तव्य का विचार करता है, और विचार कर भी चोरी कर लेता है, तो समझ जाओ कि उसके मन में चोरी न करने का महत्त्व उत्पन्न नहीं हुआ। उसने अचौर्य के महत्त्व को अपने विचारों से बाहर रख छोडा, और वह चोरी की विधि की 'सफलता' 'असफलता' या मारपीट से बच सकने आदि के सम्बन्ध में ही कर्तव्याकर्तव्य का विचार करता रहा। उसके कर्तव्याकर्तव्य की कसौटी अचौर्य का महत्त्व नहीं था। किन्तु चोरी करने या न करने के लाभालाभही उसके विचारणीय विषय बन गये थे। उसके चोरी कर बैठने से ही उसकी विचारधारा स्पष्ट समझ में आ जाती है, कि उसने अपने सामने केवल चोरी करने के तथा चोरी से बचे रहने के भौतिक परिणामों को रखकर ही विचार किया था।

वह यही सोच रहा था कि, चोरी सफल हो गई, तो चोरी की वस्तु मिलने से लाभ होगा, और यदि असफल होकर पकडा जाकर दण्डित होना पड गया, तो दुःख उठाना पडेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने चोरी में सफल होने से लोभ की तृप्तिरूपी सुखेच्छा को देखा था और पकडे जाने में भय देखा था। उसने लालच तथा भयनामकी दो दृष्टियों को लेकर अपने कर्तव्याकर्तव्य का

विचार किया था। उस समय चोर ने 'अचौर्य, निर्लोभ, तथा निर्भीक, स्थिति पर कोई विचार नहीं किया। वह स्थिति उसकी कल्पना से बाहर खडी रही। उसके मनमें उसकी कल्पना तक नहीं आई। उस समय उसके मनका झुकाव चोरी न करने की ओर नहीं था। चोरी में 'लोभ' और 'भय' नामवाली दो अनुकूल प्रतिकूल-परिस्थितियाँ रहती हैं। ये दोनों परिस्थिति के अनुसार चोरी के ही दो रूप हैं। उसने उन्हें ही मन में बैठाकर विचार किया था, और उन दोनों में से 'भय' को छोडकर 'लोभ' के वश में होकर चोरी कर बैठा था। यदि उस चोर ने उस समय चोरी न की होती, तो वह लोभ को छोडकर भय के वश में होकर ही चोरी से बचा होता। उसका चोरी से बचना संतपने के कारण से नहीं होता।

ऐसा पुरुष चोरी करके भी बन्धन में रहता है और चोरी से बचकर भी बन्धन में रहता है। वह चोरी करे, या न करें, उसका चोरी करने का स्वभाव नहीं जाता। अन्तर केवल अवसर मिलने या न मिलने का रहता है। उसके मन में अपनी सुखेच्छा नाम की चौर्यप्रवृत्ति बैठी रहती है। वह उस से कभी चोरी कराती है और कभी उसे चोरी से बचा लेती है। उसकी चौर्यप्रवृत्ति अपने स्थान से नहीं टलती।

चोर के मन में 'त्याज्य' या 'ग्राह्य' का कोई प्रश्न उदय नहीं हुआ। 'त्याज्य' 'ग्राह्य' का भाव यही है, कि जब किसी के सामने त्याज्य अवस्था आती है तब वह 'ग्राह्य' अवस्था का विरोध करती हुई आती है। वह उसके सर्वथा विपरीत होती है। इसी प्रकार जब 'ग्राह्य' अवस्था आती है, तब वह 'त्याज्य' अवस्था का विरोध करती हुई आती है। वह उसके सर्वथा विपरीत होती है।

जब 'लोभ' पर विजय पाने का अवसर सामने आता है, तब 'लोभ' विजयी मनुष्य अपने मनके सामने 'निर्लोभ' स्थिति को ही 'ग्राह्य' रूप में खडा कर लेता है। मनुष्य 'निर्लोभ' स्थिति को 'ग्राह्य' समझ लेनेपर ही 'लोभ' को 'त्याज्य' रूप में देख सकता है। इसी प्रकार जब भय को 'त्याज्य' रूप में देखने का अवसर आये, उसी समय 'निर्भय' स्थिति को 'ग्राह्य' रूप में अपने सामने ले आना चाहिये। जब कहीं 'त्याज्य' 'ग्राह्य' का प्रश्न उठता है, वहाँ यदि आँखों के सामने दोनों विपरीत परिस्थितियोंको लाया जाता है, तो 'ग्राह्य' की ही विजय होती है। अर्थात् वहाँ 'त्याज्य' का 'त्याग' नहीं किया जाता, किन्तु 'ग्राह्य' का ग्रहण होता है और 'ग्राह्य' का ग्रहण होने से 'त्याज्य' स्वभाव से व्यक्त रह जाता है। 'त्याग' के भीतर 'असत्य' को त्यागना तथा 'सत्य' को ग्रहण करना ये दोनों भाव रहते हैं। जब कोई चोर चोरी करते समय या उससे बचते समय निर्लोभ या अभय-स्थिति को अपनी कल्पना से बाहर रखकर, कभी तो 'लोभ' को अपनाकर 'भय' को त्यागता है, और कभी भयको छोडकर 'लोभ' को अपनाता है, तब समझना चाहिये कि उसके हृदय में चोरी के स्वभाव को ही भिन्न भिन्न रूपों में अपने हृदय में दृढता से रखने की नई नई कल्पना उदय हो रही है, और उसे चोरी के ही बन्धनजाल में फंसा रही हैं।

यदि उस चोर के मन में सदसद्विचार के परिणाम के रूपमें चोरी को विपरीत स्थिति (अर्थात् चोरी न करने देनेवाली अचौर्यनाम की आनन्दमयी स्थिति) उदय हो गई होती, तो वह चोरी करने से बच गया होता, और निर्लोभ, निर्विकार मानसिक स्थितिरूपी सत्यनारायण का दर्शन करके सदा के लिये उसी में निमग्न हो गया होता। फिर चोरी करने की प्रवृत्तिवाला चोर 'अहं' कदापि न जाग पाता। सारांश यही है कि, मनुष्य के मनमें एक समय में दो विपरीत विचार कभी नहीं रहते। बुराई-भलाई के समझौते की कोई अवस्था नहीं है। जब तक मनुष्य स्वयं ही भूल करने की इच्छा नहीं करता, तबतक उसके हाथों से विपरीत काम नहीं हो सकता। हमारा मन हमारे न चाहने पर भी पाप कर लेता है, यह 'भ्रांत' विश्वास है। इसमें सचाई नहीं है,

[३०] 'मन पर दोषारोपण करने की भावना अभक्तोचित है।'

तुम मन को चंचल बताकर अपने को निर्दोष क्यों कहते हो! मन चंचल कहाँ है, वह तो पूर्ण स्थिर है, वह जैसा बना लिया गया है, वैसा ही है। वह यदि चोर बनाया गया है, तो सदा चोरी की बात सोचता है! वह यदि

संत बनाया गया है, तो सदा संतपने की बात सोचता है। मन कभी चोर हो जाय, और कभी संत बन जाय, ऐसी चंचलता कभी नहीं दिखाता। फिर भी मनुष्य अधिकता से ऐसा कहते पाये जाते हैं, कि हमारा मन प्रयत्न करते हुये भी हमारे वश में नहीं आता। आइये इस वश में न आनेवाले मन के स्वरुप का विचार करें।

यदि आप इस वशमें न आनेवाले, समझे जानेवाले मन को अपनी सब बात खोलकर कहनेका अवसर दें, तो यह आप के लगाये हुये दोषों को आप पर लौटा देने में अवश्य समर्थ हो जाय। यदि कोई मनुष्य विचारशील मनुष्य की श्रवणशक्ति लेकर, इस मन की बात सुनेगा, तो उसे यही सुनाई पडेगा कि मन निम्न शब्दों में अपनी निर्दोषता का समर्थन कर रहा है– कि हे मानव ! तुम्हारा यह बडा विचित्र व्यवहार है। तुमने मुझे अपनी कल्पना से अपने से पृथक् कर दिया है, और मेरा नाम 'मन' रख लिया है। तुम मुझ पर निरन्तर गालियों की बौछार करते रहते हो। तुम मुझे मूढ मन, पत्थर मन, चंचल मन, पागल मन, बताते हो। मुझ में इस प्रकार के चुने हुये दुष्ट विशेषणों को लगाकर अपने को भूलरहित निर्दोष प्रमाणित करके कहते हो, कि हमारा तो कोई दोष नहीं; जितना दोष है, सब मन का है। परन्तु मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ, कि तुम जो 'हमारा' 'हमारा' तथा 'हम' 'हम' करते हो, यह तुम्हारा 'अहं' कौन है? और कहाँ है? जो कि मुझ (मन) को गालियाँ देकर अपने आप को निर्दोष ठहराना चाहता है। यदि मैं (मन) भूल करने में स्वतन्त्र हूँ, तो तुम्हारा यह 'अहं' मुझे क्यों नहीं रोकता? मेरे भूल करने के समय तुम्हारा 'अहं' किस काम में आता है? सो बताओ। यदि वह अहं संत बना रहना चाहता हो और मैं (मन) उसकी इच्छा के विपरीत उसको दुष्ट बना देने में सफल हो जाता हूँ, तो यह कैसे माना जा सकता है, कि यह 'अहं' अच्छा है, सचाई यह है कि जो सचमुच अच्छा है, उसके अच्छा रहने में किसी का भी प्रतिकूल आचरण बाधा नहीं डाल सकता। जो ऐसी बात कहता हो, वह विश्वास करनेयोग्य नहीं है। मुझ (मन) को दुष्ट बताकर अपने को अच्छा बतानेवाले दूसरे शब्दों में अपने मन ही मन स्वीकार करते रहना चाहते हैं कि, मनरूपी दुष्ट शत्रु उनकी अच्छाई को नहीं बिगाड सकता। उनका अनिष्ट नहीं कर सकता। मन उनसे पृथक् है और वे अच्छे हैं, इस प्रकार अपने आप को ठगना विचित्र आत्मोपहास है। सचाई यह है कि वे मन के प्रभाव में आकर स्वयंभी कलुषित हो गये हैं। उन्हें चाहिये कि वे झूंठमूठ मन को उत्तरदायी न बनायें। किन्तु अपनी कलुषित वृत्ति को उत्तरदायी समझें और अपनी भूल को किसी बनावटी सत्ता के सिर मंढनेका दूषित प्रयत्न त्याग दें।

कहने का भाव यह है कि, यदि मन तुम्हें वश में करने में असमर्थ है, अर्थात् यदि तुम मन के दुष्ट होते हुये भी सच्चे हो, तो मन तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं कर सकता। जो अनिष्ट कर सकता है, वही शत्रु है। यदि शत्रु समझे जानेवाले से कोई अनिष्ट न हो सकता हो, तो समझ लो कि वह इष्ट करने में सहायक बन रहा है और वह शत्रु नहीं है; किन्तु मित्र है। यदि कोई शत्रु के प्रभाव में आ कर अपनी हानि कर बैठे, तो समझ लो कि उसकी शत्रु के प्रभाव में आ जानेवाली दुर्बल प्रवृत्ति या स्वभाव ही उसका सच्चा शत्रु है।

ऐसे अवसरों पर बाह्य शत्रुओं के वश में आ जानेवाले बलहीन मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने शत्रुओं को बाहर किसी वस्तु में न देखकर अपने भीतर टटोलें। जब ऐसा करेंगे, तब काल्पनिक भला बनना चाहनेवाले उस 'अहं' को मन से पृथक् समझना और मन पर कटाक्ष तथा गाली की बौछार करना छोड देना होगा। तब उन सब दुष्ट विशेषणों को अपने ही ऊपर लगाना होगा।

हे मनुष्य ! यदि तुम न्याय करो, तो जिन विशेषणों को 'मन' नाम के कल्पित अपराधी पर लगाकर स्वयं निर्दोष होने का मिथ्या संतोष लेना चाहते हो, वे सब विशेषण तुम्हें अपने पर ही लगाने चाहिये। तुमने केवल गालियाँ देने के लिये मुझ जैसे एक कल्पित अपराधी को बनाकर खडा कर लिया है। सचाई यह है, कि मैं तुम्हारा दुष्ट समझें जानेवाला मन तुम से पृथक् नहीं हूँ। जो मैं हूँ, वही तुम हो। तो तुम वही मैं हूँ। तुमने अपराधों के दण्ड से बचने और उसे किसी दूसरे को दिया जा सके तो दे देने लिये मुझे एक काल्पनिक प्रतिनिधि बना लिया

है । तुम आत्मवंचना कर रहे हो ।

हे मनकी शिकायत करनेवाले मनुष्य ! तुम सचाई को पहिचानों । तुम स्वयं दुष्ट हो और अनन्तकालतक दुष्ट रहना चाहते हो । तुम सदा दुष्ट बने रहने के लिये एक अर्थहीन वाग्जाल की सृष्टि करके अपने को इसी जाल में छिपाना चाहते हो । हे मानव ! तुम इस वाग्जाल को काट डालो । ऐसा करने पर तुम स्पष्ट देखोगे कि, तुम्हारा दुष्ट 'मन' तुमसे पृथक् नहीं है । तुम ही तुम्हारा दुष्ट मन हो । तुम अच्छे और तुम्हारा 'मन' बुरा, यह एक असम्भव बात है । जिस दिन तुम अच्छा होना चाहोगे, उस दिन देखोगे कि संसार में तुम्हें दुष्ट बनाये रखनेवाली शक्ति नहीं है । तुम जितने दिन दुष्ट बने रहना चाहोगे, उतने दिन तक तुम्हें कोई अच्छा नहीं बना सकेगा । अपने को पतित करनेवाले भी तुम ही हो, और अपने पतितपावन भी तुम ही हो ।

जबतक तुम पतित रहना बुरा नहीं समझोगे, तबतक तुम ही अपने को पतित रखनेवाले रहोगे । जिस दिन तुम अच्छा होनेका दृढ और अत्याज्य संकल्प कर लोगे, उस दिन तुम अपने को ही पतितपावन के सिंहासन पर बैठा हुआ पाओगे । यदि तुम अपने को निर्दोष बताना चाहकर मन को अपराधी बना सकने की चिंता में फंसोगे, तो अपने आप अपराधी बने रहोगे । यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो 'मन' पर लांछन लगाना छोडो, और इन लांछनों को सदा के लिये त्यागो । तुम्हारे अच्छा होने में इस सत्यको पहिचानकर इस पर अटल हो जाने की ही देर है, कि मैं भला हूँ, और भला ही रहूँगा ।

मनुष्य के जीवन में सदसत् का विचार करके सदा के लिये सत्पर अटल हो जाने का अवसर प्रत्येक क्षण आ रहा है । जब मनुष्य किसी भी क्षेत्र में क्रोधादि नाम के शत्रु का विरोध करके, उसे एक बार परास्त कर देता है, तब वह सदा के लिये अजेय बन जाता है । यदि जीवनभर असत्य के साथ लडनेवाले पुरुषको कभी असत्य से पराजित होता हुआ सुनो, या देखो, तो समझ जाओ, कि इसने आज तक शत्रु को शत्रु नहीं समझा । किन्तु यह शत्रु के एक रूप को छोडकर उसके दूसरे रूपों को अपनाता रहा है । वह कपट धार्मिक है, वह जीवनभर किसी न किसी असत्य का प्रभावक्षेत्र बना रहा है । वह त्याग के नामपर ग्रहण करता रहा है ।

कोई मनुष्य सदसद्-विचार भी करे और फिर भी असत्याचरण कर बैठे, यह सिद्धान्त 'मनोविज्ञान' को स्वीकार नहीं है । जो मनुष्य एक बार भी सत्य का दर्शन कर लेगा, वह अटल रूपसे सत्य पर आरूढ हो जायगा । सत्य पर, अटल रूपसे आरूढ हो जाना ही मनुष्यदेह धारण करने का अभिप्राय है । कोई मनुष्य पहले सत्य में आरूढ हो गया हो, और फिर असत्य में लौट गया हो; पहले ऋषि बन गया हो, फिर पतित हो गया हो; पहले योगी बन गया हो, और फिर योगभ्रष्ट हो गया हो; ये अवस्था स्वविरोधी असम्भव अवस्था हैं । ऐसा कभी नहीं हो सकता । पतित होनेवाला मनुष्य कभी ऊँचा नहीं उठ सकता । सत्य तक चढा हुआ मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से अबतक पतित नहीं हुआ ।

सत्य अवस्था की प्राप्ति की इच्छा और उसकी प्राप्ति दोनों बात एक साथ होती हैं । जिसे सत्य की इच्छा करते ही सत्य की प्राप्ति न हुई हो, उसे समझना चाहिये और उसे अपने मन को भली प्रकार टटोल कर देखना चाहिये कि सत्य की प्राप्ति की इच्छा नहीं हुई । विलम्ब या अप्राप्ति, अनिच्छा के ही रूपान्तर हैं । जिसे सत्य की इच्छा करने पर भी सत्य नहीं मिला, उस मन में निश्चित सत्य को न पाने की (अथवा उससे पृथक् रहने की) इच्छा है ।

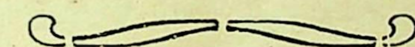
अमुक बात हो जाय, तब सत्य मिले; इस प्रकार सत्य किसी पर निर्भर नहीं रहता । सत्य स्वयंभु, स्वनिर्भर, स्वाधीन, स्वतन्त्र और सब की प्रतीति तथा सत्ता का आधार है । सत्य को पानेकी इच्छा और सत्य पर आरूढ हो जाने के बीच में देश, काल, वस्तु, या अवस्था, नाम-वाले मध्यस्थ नहीं होते । जब सत्य अवस्था को पाने की इच्छा दृढता का रूप धारण करके बाहर आती है, तब कोई भी वस्तु सत्यार्थी और सत्य के बीच में व्यवधान बनकर खडी नहीं रह सकती । उस समय मनुष्य को यह सचाई दीखती है कि व्यवधान कल्पना है, और बहकानेवाला है । अपने को कल्याण-बुद्धि से रोक रखने-वाली 'माया' व्यवधान का रूप धारण करके मनुष्य को

ठगती है। इस कल्पना की दूरी (व्यवधान) ने ही मनुष्यों को सत्य से दूर किया है।

मनुष्यने अपनी दूषित कल्पनाओंसे सत्य को एक दूरस्थ सहस्त्रों वर्षों की तपस्या से प्राप्तव्य निर्जनारण्यवासिनी, मानव-समाज-भयभीता वस्तु बनाकर उसे अप्राप्तव्य वस्तु बना डाला है। जो सत्य सबका आपा है, यह यदि दुष्प्राप्य हो तो बस हो गया। यदि सत्य दुष्प्राप्य होता, तो सत्य का दर्शन संसार में कहीं न मिलता। क्या मनुष्य भला इससे बडा कोई अपराध कर सकता है, कि उसे अपने स्वरूप सत्य का प्रत्यक्ष न हो और वह आठों पहर संसार भर से परिचय का नाता जोडने की धुन में व्यग्र हो ? सत्य को पाने का यह काल्पनिक व्यवधान, लक्ष्यहीन, नास्तिक ' मन ' की घडी हुई बात है। जब नास्तिक ' मन ' असत्य के मोह में फंसा रहता है, और सत्य का दर्शन नहीं करना चाहता, तब इस वाक्चातुरी से अपनी कपट धार्मिकता की रक्षा करता है कि, मैं सत्य को पाने का उद्योग कर रहा हूँ। विचारकों की दृष्टि में इस भाषा का यह भाव है कि मैं अभी तक असत्यको छोडने को उद्यत नहीं हूँ।

सत्यको पाने का उद्यम स्पष्ट रूप से ' आत्मवंचना ' है। सत्य को पाया तो जा सकता है, किन्तु उसके लिये उद्यम करने की भाषा कपट से भरी हुई है। सत्य के लिये उद्यम होना और सत्य से दूर रहना दोनों एक बात हैं। मनुष्य जिस क्षण सत्यावस्था के पाने का दृढ-निश्चय करेगा, उसी क्षण असत्यरूपी बादलों को छिन्नभिन्न होकर सत्यरूपी सूर्य को उदित होने के लिये मार्ग छोड देना पडेगा, क्योंकि असत्य से ' सत्य ' का ' तेज ' नहीं सहा जाता। वह सत्य के लिये क्षेत्र छोडकर हट जाता है।

असत्य में रहकर असत्य के दोष नहीं दीखते। असत्य में रहते हुये असत्य को नहीं त्यागा जा सकता। सत्य ही असत्य के दोषों को देख और उन्हें छोड सकता है। सत्य अवस्था ' असत्य ' के दोषों को देखते ही अपनी अवस्था को अटल रखने के उद्यम का रूप धारण कर लेती है। जब सत्यावस्था असत्यावस्था को देखती है, तब ही उसमें स्वरूपस्थ रहने का ' अदम्य ' उत्साह उत्पन्न हो जाता है। सत्य अवस्था में पहुँच कर ही सत्य के लिये उद्यम हो सकता है। कोई मनुष्य सत्य से दूर अर्थात् असत्य में बैठे बैठे सत्य के लिये उद्यम नहीं कर सकता। कोई असत्य में रहते हुये सत्य को नहीं समझ सकता, और ऐसी अवस्था में उसके लिये कोई उद्यम भी नहीं बन सकता।



कृष्ण कौन?

[लेखक- श्री० आचार्य पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, वैदिक रीसर्च स्कॉलर]

गीता के अन्त में संजय की उक्ति है, " **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।** जहाँ योगेश्वर कृष्ण है, धनुर्धर अर्जुन है, वहाँ लक्ष्मी है, विजय है, स्थिर नीति है- यह मेरी दृढ सम्मति है। " श्लोकमें ऐतिहासिक कृष्ण तथा अर्जुनकी आड में अलौकिक कृष्ण की अनोखी झलक दिखाई दे रही है।

कृष्ण तथा अर्जुन की इस गुह्य स्वरूपता को समझने से गीता का हार्द समझा जा सकता है। कुछ समयपूर्व पादरियों तथा कुछेक पाश्चात्य विचारकों ने एक कपोलकल्पना उडाई थी, कि भगवद्गीता पर ईसायत का, कृष्णचन्द्रपर ईसामसीहका प्रभाव है। ओर्फ्यूस की कथाओं में, एशिया माइनर के ख्रिस्ती धर्म में कृष्णजीवन का स्रोत है। इस कल्पना को शिलालेखों तथा साहित्य के प्रबल प्रमाणों से निस्सार प्रमाणित किया है। कृष्णचन्द्र के वैष्णव अंशको प्रतिपादित करके गोप-गोलोकसबन्धी उनके लीलायें भारतीय वाङ्मय में दिखाई देती हैं।

ऋग्वेद के " **विष्णुर्गोपा अदाभ्यः** " " **यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः** " इन मंत्रांशों में इन कथाओं का बीज अवश्य है। ईसा तथा बाइबल से पूर्वके वेद की इन अमर कविताओं में जो विष्णुगोपा हैं, वे ही महाभारत-पुराण तथा भागवत के द्वन्द्वों में स्वच्छन्द गोप बन गये हैं। फिर इन्हीं वेद के विष्णु तथा महाभारत के गोप कृष्ण ने रूपक की ओढनी ओढकर Sheep तथा Lamb के मार्गप्रदर्शक Shepherd ईसामसीह का रूप क्यों न धारण किया हो।

महाभारत के ऐतिहासिक वातावरण में जो कृष्ण तथा अर्जुन नायकरूप में अभिनय कर रहे हैं, उनको क्रमशः विष्णु का अंश और इन्द्रके पुत्ररूप में स्मरण करने पर वेद के विष्णु तथा उनके सखा इन्द्र " **इन्द्रस्य युज्यः सखा** " हमारी आंखों के सामने नाचने लगते हैं। महाभारतकारने मंगलाचरण के आद्य श्लोक में ऐतिहासिक कृष्ण तथा अर्जुन के चित्रों पर आध्यात्मिक रंग की लाली छीडककर क्या ही अनुपम कहा है ?

" **नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्** " कृष्ण नार अर्थात् जीवों के समूह के अयन का शरण होने से नारायण हैं और अर्जुन कर्मफल में रमण करने की इच्छा न करने से निष्काम पथका पथिक " न रमते इति नरः " मनुष्योंका मार्गदर्शक " 'नयतीति नर' है। गीतामें अर्जुनने कृष्णको सखा कहकर पुकारा है। " **सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।** " (भ. गी. ११-४१)

इस मित्रभाववर्णन कृष्ण तथा अर्जुन के आध्यात्मिक रूपक नारायण-नर और जीव तथा शिवमें भी दृष्टिगोचर होता है। कठोनिषद् की श्रुति आती है कि " **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति-अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**' अर्थात् संसाररूपी पलाश व अश्वत्थ वृक्ष पर भोक्ता तथा द्रष्टारूप में जीव तथा परमात्मारूपी दो पक्षी मित्रभाव से बैठे हुए हैं। 'जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान्।' उत्तर है। ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आनन्दघन " उत्तम " पुरुष है। ब्रह्मसंसार में व्याप्त होते हुए भी अनासक्त हैं, प्रकृतिपराङ्मुख हैं। यही अनासक्ति कृष्णचन्द्रजीने अर्जुन के सारथी रहते हुए निःशस्त्र रहकर पालन की है। संसारसरोवर में पद्मपत्र के समान असंग रहने में ही प्रभु की प्रभुता है। राजसूय-यज्ञ में दिये गये तिलकको महाभारत-संग्राम का मूल समझ अश्वमेध-यज्ञ के समय अर्घ्य लेने से इन्कार करके कृष्णचन्द्रजीने असंगता की पराकाष्ठा बताई है। वेदांत के ब्रह्म तथा सांख्य के पुरुष में इसी अनासंग के भाव की खूबी देखी जा सकती है।

कृष्ण के पवित्र चरित्र पर मध्यकाल में अनीतिका आवरण आ गया था। समय समय पर सुधारकों के प्रहार से कृष्णजीवन पर चढे हुए इस आवरण को दूर किया जाता रहा है। आगे चलकर उपनिषदों की खोज के साथ पुराणों की महत्ता लुप्त होती गई। रामचन्द्रजी भारतीय इतिहास में अपने शुद्ध वेष में दिखाई दिये। कृष्ण परदे के पीछे छिप गये। बंकिमचन्द्र की तर्कप्रधान नीरक्षीरविवेकदृष्टिने कृष्ण के जीवन से संबद्ध धर्म के गहन भावों की उपेक्षा करके कृष्णजीवन को सच्चे स्वरूप में उपस्थित करने का

स्तुत्य प्रयत्न किया है। कराल काल महोदधि की तरंगों में आज भी कृष्णजीवन के कुछ अमर अंश चमक रहे हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि, कृष्णजीवन की ऐतिहासिकता में भी कृष्णकवनों की अमरता छिपी हुई है। गौरांग महाप्रभु भक्त चैतन्यदेव तथा वल्लभाचार्य के पंथ से गोस्वामियों ने कृष्णकथा की आध्यात्मिकता बताई है।

भागवत में श्रीकृष्ण के आयुधों को प्रभु के विशेष गुणों के रूपमें वर्णित किया गया है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के चतुर्व्यूह को क्रमशः प्रभु, जीव, अहंकार तथा मन के रूप में वर्णन करके व्यास के शारीर भाष्यने कृष्ण के अध्यात्मस्वरूप की महत्ता बताई है। सर जोर्ज ग्रीयर्सन के निम्न शब्दों में यही कुछ भाव भरा हुआ है। "Hence the soul's devolion to the deity pictured by Radha's self-abandonment to her beloved Krishna and all the hot blood of Oriental passion."

वस्तुतः संस्कृत साहित्य के प्राचीन इतिहास में कविता की धारा में इतिहास के पुष्प बिखरे गये हैं। इतिहास को कल्पना से अनुप्राणित करके प्राचीन विचारकों ने विश्व के गुह्य सत्य प्रकट करनेका सुन्दर मार्ग निकाला है। "कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निवृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" श्लोक में कृष्णके व्युत्पत्तिगम्य यौगिक अर्थ के द्वारा अतिमानव रूप का प्रतिपादन है।

कृष्णचन्द्रजी में विष्णु (व्यापक-प्रभु) का अंश होने से वे वैष्णव हैं, वहाँ उनमें विष्णु अर्थात्- सूर्य का रूपक चरितार्थ होने से भी वे वैष्णव हैं। नील आकाश में चारों दिशाओं में अपनी किरणें फैलानेवाले सूर्य को विष्णु कहते हैं- इसी प्रकार नील वपु, चतुर्भुज, पीतांबरधारी कृष्ण के विष्णु का अंश कहा जा सकता है। विष्णु के आधिभौतिक सूर्यकी महिमाको समझानेके लिये कवियोंने कृष्ण-जीवन को उपर्युक्त रूपमें चित्रित किया है। इसी प्रकार गोपियोंके रासमें रस लेनेवाले कृष्णमें ज्योतियोंके रासके केन्द्रस्थानीय सूर्य (विष्णु) का स्वरूप देखा जा सकता है। कहीं कहीं रासमें मध्यबिन्दु कृष्ण तथा राधा दोनों बताये गये हैं।

यह नाना शक्तियों से आलिंगित ब्रह्म का स्वरूप बताने का एक प्रयत्न है। कृष्णजी रास के मध्य में ही नहीं अपितु परिधि में भी हैं— क्या प्रभु संसार के केन्द्र तथा परिधि दोनोंमें (Both centre and circumference) नहीं है ? परब्रह्म विश्व के अणु अणु में व्यापक, अन्तर्यामी होते हुए भी 'Transcendent (अतीत) परात्पर हैं "स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु" रास में रमण करते हुए भी प्रभु नित्य ब्रह्मचारी हैं। यह रहस्य प्रभु को सूर्य 'उद्गीथ' रूपमें बताकर उसमें संगीत के अध्यारोप से पुष्ट किया गया है।

कहीं कहीं कृष्णजीवन को कुब्जा के साथ जोडकर कलुषित चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु सचाई यह है कि, सत्त्व, रज, तमरूपी गुणों की विषमावस्था ही कुब्जा है। पुरुष को नीरस बनकर इससे भागना नहीं है। अपितु इसे समता में लाकर सुन्दर बनाना है। गीता का सांख्य संन्यासवादी सांख्यसे इसी अंश में भिन्न है। गीता की दृष्टि में पुरुष प्रकृति में रमता हुआ भी असंग रहता है। भागवत के दश स्कन्ध में कृष्णलीला की कथाका रहस्य खोला गया है। पूतनावध में भगवान की कल्याणी शक्ति की महत्ता का ही प्रदर्शनमात्र है।

कृष्णचन्द्रजी ने गोपियों के वस्त्र हर लिये थे। इस हीनोपमा से प्रभु तथा हम आत्माओं के बीच में कोई आवकाश नहीं है। इस तात्त्विक सत्यको प्रस्फुट किया गया है। ग्रीक साहित्यमें आत्मा (Psyche आत्मा-स्त्रीवाची) धर्मराज के सन्मुख नग्न दशा में उपस्थित हुवा करता है। इसका भी यही तो अन्दरका रहस्य है कि, कृष्णको गोपीजनप्रिय कहकर प्रभु को प्रेमका भूखा बताकर कवि ने क्या ही सौंदर्य भर दिया है। भागवत के रास के रूपक में और उपनिषदों के उद्गीथ में कैसा अपूर्व साम्य और सौंदर्य है ? संसारकी अनन्त शक्तियों-अप्सराओं का तथा आन्तर्वृत्तियों का Tug of war ही रास है। इस स्वरूप को समझकर ही हम "रसो वै सः" के रस-सागरमें डुबकी लगा सकते हैं। कृष्ण का यह स्वरूप ही हमें प्रिय है, इसी स्वरूप ने कृष्णके इतिहासको अलौकिक रंगरूप दिया है। मधुसूदन सरस्वतीने इसीलिये कहा है, **"कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने।"** ×

× अमदाबाद "श्रीमन्नाथूराम शर्मा आनन्दाश्रम" में कृष्णाष्टमी के दिन दिये हुए व्याख्यान में से।

*

सर्वदा स्वस्थ रहने का एक उत्तम, सरल, प्राचीन तथा वैज्ञानिक उपाय।

स्वास्थ्य-रक्षा और हवन-यज्ञ।

[लेखक- डॉ० फुन्दनलालजी, एम्० डी०, डी० एस०, एल० एम आर० ए० एस० (लंडन), भूड (बरेली)]

(१) इस लेखके लेखक यज्ञचिकित्सा के आविष्कारकर्ता, तपेदिक (राजयक्ष्मा) चिकित्सा के विशेषज्ञ, दो लाख से ऊपर रोगियों की चिकित्सा किये हुए हैं।

(२) जो सज्जन यज्ञ के वैज्ञानिक लाभों पर डाक्टर साहब के व्याख्यान अपने यहां हिन्दी व अंग्रेजी में कराना चाहते हैं वह डाक्टर साहबसे ऊपर के पते पर पत्रव्यवहार कर सकते हैं।

(१)

संसार रोगी है।

काल की विचित्र गति है। एक समय था जब इस पवित्र भारतदेश में वेद का घर घर प्रचार था, लोग सत्य ज्ञान के भंडार वेद से शिक्षा ग्रहण कर नित्य कर्म और वर्ण-आश्रम की मर्यादा का पालन कर प्राकृतिक और सादा जीवन बिता कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि प्राप्त किया करते थे। उसी समय देशदेशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर के लोग ज्ञान-उपलब्धि के निमित्त हमारे देश की शरण लेते थे। आज वही देश गिरते गिरते इस अवस्था को पहुँच गया है कि भोजन, वस्त्र-यहांतक कि-शुद्ध जल, वायुतक प्राप्त करने का भी अधिकार नहीं रखता। हमारी शिक्षा, दीक्षा, खान, पान सब कुछ विदेशियों के हाथ में है। इस समय दूसरों को शिक्षा देने की तो बात ही क्या, स्वयं हमारे बालक विदेशी शिक्षा पाकर अपने वेदशास्त्र, रीतिरिवाज, धर्म, कर्म, और संस्कृति को तिलाञ्जली देकर विदेशियों के ही गुणगान करने लगते हैं। अन्य विषयों पर लिखने का यहां स्थान नहीं।

जब हम अपनी शारीरिक अवस्था की ओर देखते हैं और उसका मिलान अपने पूर्वज भीम, अर्जुन इत्यादि से करते हैं, तो हमारी गर्दन लज्जा से नीचे झुक जाती है। इस समय भारतवर्ष में हकीम व डाक्टरों की संख्या इतनी है कि कदाचित् ही किसी समयमें रही हो, पर विलासताके साथ साथ रोग दिन-प्रति-दिन बढते ही जाते हैं। इसका कारण केवल वैदिक दृष्टिकोन का बदलना है। हजारों वर्ष बीते, आश्विनीकुमार-संहिता में ऋषिने बताया था कि वैद्य का कर्तव्य संसार में जनता के स्वास्थ्य के नियम बतलाना और उनका प्रचार करना भी है न कि केवल रोगों की चिकित्सा करना।

दूसरी ओर नीतिकारों ने जनता को परामर्श दिया था कि वैद्यको सर्वदा पूज्य समझें, स्वस्थ अवस्थामें भी उसके पास कभी बिना भेंट लिये न जावें, जिस नगर में वैद्य न हो, वह निवास न करें। कितना अच्छा सम्बन्ध वैद्य और जनता का था। उस समय वैद्य को अपने जीवननिर्वाह की चिन्ता न थी, उस की चिन्ता तो नगर-निवासियों को रहती थी। वह केवल इस बात की चिन्ता में रहता था कि नगर में कोई रोग न फैलने पावे। क्योंकि रोग फैलने पर जहां उसकी अपकीर्ति होती थी, वहां कार्यभार ही अधिक बढता था, पर आज स्वस्थ अवस्था में लोग वैद्य को कुछ देना तो बडी बात है, उस से बात करना भी व्यर्थ समझते हैं। साधारण रोग होने पर भी ऊटपटांग कह वैद्यों की चिकित्सा करेंगे। योग्य वैद्य व डाक्टर के पास केवल उसी समय जावेंगे, जब रोग कठिनसाध्य अथवा असाध्य हो जावे। वैद्य लोग भी अपने कर्तव्य को भुला स्वास्थ्य के नियमोंका उपदेश न कर, केवल रोगचिकित्सा में अपना समय लगा उस को धन-उपार्जन का साधन समझते हैं। इस उलटे मार्ग के अनुसरण का परिणाम यह हुआ है कि, जहां वैद्य और डाक्टर दिनरात केवल अपनी आय बढने की चिन्ता में घुलते रहते हैं। वहां जनसाधारण में ९९ में प्रति शत मनुष्य स्वास्थ्य के नियमों से अनभिज्ञ होने अथवा चिकित्सकों पर पूर्ण विश्वास रखने के कारण रोगी हैं। कई

कई रोगों को आयुपर्यन्त साथ लिये हुए जीवननिर्वाह कर कष्ट सहते हैं और मनुष्यजीवन का कोई भी उद्देश्य पूर्ण न कर के संसार से वैसे ही चल देते हैं ।

कुछ लोगों का कहना है कि, देश परतन्त्र होने के कारण निर्धन और शिक्षारहित है, इसी से हम लोग रोगी हैं। देश के स्वतन्त्र होने पर यह अवस्था दूर हो जावेगी । उन का यह कहना किसी अंश में तो अवश्य ठीक है, पर सर्वांश में नहीं । यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि, परतन्त्रता तथा निर्धनता स्वास्थ्य के शत्रु हैं । पर इनके दूर हो जाने पर भी यदि हमारे विचार अवैदिक ही रहे, तो हम कभी स्वस्थ व सुखी नहीं रह सकते । क्योंकि संसार में जो देश इस समय पूर्ण स्वतन्त्र हैं, अपने को उच्च कोटि का शिक्षित तथा सभ्य समझते हैं और लक्ष्मी के कृपापात्र भी हैं, उन देशों के विचारवान् पुरुष भी हमारी तरह यही रोना रो रहे हैं, कि " संसार रोगी हैं " । देखिये प्रसिद्ध डाक्टर निकल्सन, एम्. डी., क्या कहते हैं ? सारे सुधार और मनुष्योंको अपने जीवन उद्देश्य की ओर उन्नति करना इस बात पर निर्भर है कि, संसार में स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार हो । व्यक्तिगत मनुष्य रोगी हैं । सभा-समाजें रोगी हैं । कौमोंकी कौमें रोगी हैं, बल्कि इस समय सारा संसार ही रोगी है ।

अब इन सबकी चिकित्सा मिलाकर करना परम आवश्यक है । किन्तु सुधार व्यक्तिगत आरम्भ होना चाहिए । जो पुरुष अपने आपको तथा अपने जीवनको पवित्र बनाता है वह संसार का किसी अंश में भला कर रहा है । जो स्त्री स्वस्थ है और रोग के कारण और निरोग रहने के साधन जानती है, वह देश और संसार की सहायता कर रही है । और इस प्रकार के स्त्रीपुरुष मिलकर अपने पवित्र और शुद्ध आहारव्यवहार तथा सच्चरित्रतासे स्वस्थ और बलवान् सन्तान उत्पन्न करें, तो वे संसारके क्लेश मिटानेमें एक बडा उपयोगी कार्य करेंगे ।

यही नहीं प्रोफेसर 'मान' अपनी पुस्तक ' Practical Self-help ' में लिखते हैं ' मुझे विश्वास है कि, यदि मैं २१ वर्ष की आयु में इतने भी स्वास्थ्य के नियम जान लेता, जितने अब जानता हूं, तो मैं इस से दुगना मानसिक और शारीरिक परिश्रम कर सकता । कालिज में मुझे पृथिवी से गुजर कर बडे ध्यान और विस्तार से चन्द्र और तारा-मंडल के भ्रमता के नियम सिखाए गए और मैं इसका हिसाब ऐसी उत्कंठा से निकालता था, मानो वे सितारे अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिये मेरी सहायता के मोहताज हैं । किन्तु मेरे शरीर की बनावट और शरीर को स्वस्थ रखनेके नियमोंके सम्बन्ध में मुझे नितान्त अन्धकारमें रक्खा गया । इससे अधिक और क्या मूर्खता हो सकती है ? मुझे पहले अपने घर से बाहर जाना चाहिए था । सितारों को उस समय जानता, जब उनकी बारी आती । परिणाम-स्वरूप कालिज में दूसरे वर्ष ही मेरा स्वास्थ्य बिगड गया । इसके पश्चात् कभी भी मैं वैसा स्वस्थ नहीं रहा । "

स्वास्थ्य के विषय में यह उन देशोंके विचारवान् विद्वानों की सम्मति है, जहां अपना स्वराज्य है, देश धनधान्य से पूर्ण है और प्रत्येक स्त्रीपुरुष शिक्षित है । यदि अपने देश के विषय में हम लोग केवल यह सोच कर कि जब देश स्वतन्त्र होगा, तो हम उन्नत देशों की नकल कर स्वस्थ हो जावेंगे; चुप बैठे रहें, तो महा मूर्खता होगी । हमारे रोगी होने का एक कारण दरिद्रता अवश्य है । पर जब हम देखते हैं कि हमारे देश के धनवान् निर्धनों से भी अधिक रोगी हैं, तब यही कहना पडता है कि, रोगी होनेंका मुख्य कारण कुछ अन्य ही है ।

इस कारण की खोज में जब हम प्राचीन साहित्य के पृष्ठ उलटते हैं और अपने पूर्वजों के लम्बेचौडे निरोग शरीर और सैकडों वर्ष की आयु के उल्लेख पाते हैं और यह भी देखते हैं कि उस समय पिता के सामने पुत्र का मरना एक असाधारण और आश्चर्यजनक घटना समझी जाती थी । वे न डाक्टरी पास करने विलायत जाते थे, न करोडों रुपये की विलायती औषधियां मंगाते थे, न युवा पुरुष की आंख पर चशमा, न ९९ प्रतिशत पाईओरिया और मंदाग्नि (Dyspepsia), आदि के रोगी थे । न इतने चिकित्सालय थे, न इतने रोगी थे । तो हमें यही कहना पडता है कि, हमारे रोगी होने का सबसे बडा कारण अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति, आचारविचार, रहनसहन और नित्य कर्मकी अवहेलना करना और पाश्चात्य संस्कृतिको अपनाना है । और यदि यह बात सत्य है, जिसका सत्य होना प्रत्यक्ष ही है, तो फिर उसी मार्ग पर जाकर और पश्चिम की नकल करना छोड कर हम फिर अपने पूर्वजों जैसे स्वस्थ बन सकेंगे ।

रोगी होना आपत्तिजनक तो सबही के लिये है, किन्तु

हम भारतीयों के लिये एक और विशेष आपत्ति उपस्थित होती है। एक समय था जब हमारे देश में केवल अपने देश की संस्कृति का राज्य था, विदेशी संस्कृति का कोई प्रभाव न था। उस समय चिकित्सा करनेवाला वैद्य कहलाता था और वह इस विद्या का पूर्ण ज्ञानी होता था। औषधिचिकित्सा, जलचिकित्सा, यज्ञचिकित्सा इत्यादि सभी आयुर्वेद के अन्तर्गत थीं। और इन सब का ही ज्ञाता वैद्य कहला सकता था। पर इस समय अवस्था बदली हुई है। हम कई विदेशी संस्कृतियों से प्रभावित हैं और उनके अधूरे चिकित्सासिद्धान्त भी हमारे देश में प्रचलित है। इस समय वैद्यक, यूनानी, एलोपैथी, होम्योपैथी, एलेक्ट्रो होम्योपैथी, क्रोमोपैथी, हाईड्रोपैथी इत्यादि इत्यादि अनेक ढंग चिकित्सा के पृथक्पृथक् विद्यमान हैं।

इन सब के चिकित्सक भी केवल अपनी अपनी चिकित्सा का ज्ञान रखने के कारण दूसरे तरीकों के गुणों से प्रायः अनभिज्ञ हैं। फिर एक अनजान रोगी के लिये तो अपने लिये उपयोगी चिकित्सा छाटना बडा कठिन है। रोगी तो रोगी एक स्वस्थ विद्वान भी चक्कर में पड जाता है। जब इन भिन्न भिन्न चिकित्सकों से मिलता है। एक चिकित्सा–विधि के अनुयायी दूसरी सब विधियों को हानिकारक बताते हैं। यद्यपि सचाई यह है कि, सब ही विधियोंमें कुछ विशेषता और कुछ न्यूनता है। और एक रोगी मनुष्य को अपने लिये ठीक मार्ग निर्धारित कर लेना कठिनही नहीं लगभग असम्भव है। ऐसी अवस्था में सुखी रहने का एकही मार्ग है कि, हम वे साधन काम में लावें जिनसे हम अपने पूर्व-पुरुषों की भांति रोगग्रस्त ही न हों।

उन साधनों में से एक बहुत बडे साधन 'हवनयज्ञ' पर आज हम आप से निवेदन करना चाहते हैं, जिसके विषयमें हमारे पूर्वज तो सब कुछ जानते थे, पर आज लोग केवल पूजापाठ और अंधविश्वास की चीज समझ किसी और ही दृष्टि से उसे देखते हैं। हमारा तो दृढ विश्वास और पूर्ण अनुभव है कि, हवनयज्ञसे जो आत्मिक उन्नति होती है, वह तो और भी बडी चीज है, किन्तु शारीरिक उन्नति के लिये भी यह एक औषधि सब औषधियों की शिरोमणि है। यह जहां प्रतिबंधक अर्थात् प्रत्येक रोगके आक्रमण से बचानेवाली है, वहां तपेदिक आदि भयङ्कर रोगों में जब अन्य सब विधियें लाचार हो जाती हैं, तो अपना रामबाण प्रभाव दिखाकर रोगी को पूर्ण स्वस्थ बना देती है।

साधनों की कमी से पूर्ण परीक्षण न होने के कारण हम अभी यह तो नहीं कह सकते कि, प्रत्येक रोग हवनयज्ञ से दूर हो सकता है, पर यह हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि, स्वास्थ्य के अन्य मोटे नियमों की अवहेलना न करके ऋतु-अनुकुल सामग्री से विधिपूर्वक नित्यप्रति हवन करनेवाला कदापि किसी कठिन रोग में ग्रस्त नहीं हो सकता। कुछ रोग जैसे तपेदिक, इत्यादि जिन के दूसरी चिकित्साओं से अच्छा होना असम्भवसा समझा जाता है, वहां हवनयज्ञ-द्वारा रोग अवश्य दूर हो सकते हैं। पाठक आप हमारे कथन पर शंका न करें, हमने जो कुछ लिखा है, अनुभव के आधार पर लिखा है। और उसे हम आगे वैज्ञानिक ढंग पर सिद्ध करेंगे।

हम यह भी जानते हैं कि, आजकल सूत्रकाल नहीं है कि, जो किसी विद्वान् ने विशेष अनुभवके पश्चात् मूल-तत्त्व को सिद्धान्तरूप में थोडे शब्दों में समझा दिया और जनता ने श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया। आजकल की शैली दूसरी है शंका और अश्रद्धा बुद्धिमत्ता की निशानी मानी जाती है। यह विज्ञान–युग कहलाता है। इस समय समझाने की शैली यह है कि, एक ही बात को कई प्रकार से समझाया जावे। इतना समझाया जावे कि सुननेवाले के मन में कोई संदेह न रह जावे। क्योंकि यह लेख इस युग में लिखा जा रहा है, अतः हम हवनयज्ञ के शारीरिक लाभों को इसी नवीन ढंग से आप के सन्मुख आगे के पृष्ठों में रखेंगे।

सम्भव है हम आप की शंकाओं को दूर कर हवन पर श्रद्धा उत्पन्न करा सकें। यह सिद्धान्त प्राचीन है, इतना प्राचीन है कि आदिसृष्टि से ही इसका प्रचार पाया जाता है। इसके अनेक लाभ हैं, जो सूत्ररूप से सारे ऋषिग्रन्थों में पाए जाते हैं। उन में से केवल एक भाग पर अर्थात् शारीरिक लाभों पर हम कुछ लिखेंगे, जिसकी इस समय रोगी संसार को बडी आवश्यकता है।

(२)

हवनयज्ञ का महत्त्व।

प्रभु की वाणी वेद से लेकर आजतक के सब आर्ष ग्रंथ यज्ञ की महिमा गाते आए हैं और आदिसृष्टि से लेकर अब

तक कोई समय ऐसा नहीं मिलता जब किसी न किसी रूप में हवनयज्ञ का प्रचार न रहा हो। वेद, शास्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत इत्यादि प्राचीन ग्रंथ तो इस का प्रमाण हैं ही, पर हमारे इस कथन को आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। राजरत्न मास्टर आत्मारामजी 'संस्कारचंद्रिका' में बताते हैं " प्रोफेसर मैक्समूलरसाहब की पुस्तक ' फिजिकल रिलीजन ' के पाठ से विदित होता है कि यवन देश के तत्ववेत्ता प्लूटर्की ने आग को वायु-शोधक माना है। और इस पर उक्त प्रोफेसरसाहब लिखते हैं कि, आग जलाने की रीति गत शताब्दि तक स्कॉटलैण्ड में पाई जाती थी। तथा आयर्लैण्ड और दक्षिणी अमेरिका में महामरी के लिये अग्नि चलाने की प्रथा प्रचलित रह चुकी है। मैक्समूलर की पुस्तक के पाठ से सिद्ध होता है कि हवनयज्ञ का प्रचार एक समय सर्व भूमण्डल पर रह चुका है। जापान और चीन में होम को घोम कहते हैं और मन्दिरों में सुगन्धित द्रव्य जलाते हैं। जर्मनी में लवेंडर की बत्ती जलाई जाती है। ईरान के पारसी लोग हवनयज्ञ को हिन्दुओं की तरह उत्तमता से करते हैं। "

युरोपादि में जितने प्रकार आजकल वायुशुद्धि के प्रचलित हैं, उनमें प्रायः " फायर स्टोव " (अंगीठियों) का उपयोग किया जाता है, अतः दूषित वायु उष्ण होकर फैले और हलकी होकर गृह की खिडकी अथवा भिन्न मार्गों से दूर निकल जावे और उस की जगह तात्कालिक ठंडी वायु नीचे के द्वारों से आ सके। पर यह लोग यह भूल गए हैं, कि इस अग्नि में सुगन्धित और रोगनाशक पदार्थ जलाने से इस का लाभ लाखों गुणा बढ जाता है। प्राचीन काल में जब वर्षा न होती थी, या युद्ध में किसी बलवान शत्रु से सामना हो जाता था और विजय का कोई मार्ग दृष्टिगोचार न होता था, तो बलवान् शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये यज्ञ की योजना की जाती थी। महाराज दशरथ के तीन विवाह करने पर भी जब बुढापे तक कोई पुत्र न हुआ, तो पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा ही रामलक्ष्मण जैसे योधा और भरत जैसे धर्मात्मा पुत्ररत्न जन्मे। राक्षस होते हुए भी इंद्रजित राम पर विजय पाने को यज्ञ कर रहा था। जिसे वानरोंने इस भय से कि यज्ञ पूरा हो गया, तो उस को जीतना असम्भव हो जावेगा, पूरा न होने दिया। आर्योंका कोई संस्कार नहीं हो सकता, तबतक उस में हवनयज्ञ न हो। वह आर्यगृह ही नहीं कहला सकता जिस में नित्य प्रति सूर्योदय होते ही हवन की सुगन्धि पास पडोसवालों तक को प्रसन्न न कर दे। वर्तमानकाल के सब से बडे तार्किक, निःपक्ष अद्वितीय विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द कहते हैं कि, इस से वायुशुद्धि होती है, अतः मनुष्य अपने मलमूत्र से जो दुर्गन्धि उत्पन्न करता है, उसे हवन द्वारा दूर कर के जलवायु के बिगाडने का कारण नहीं होता जिससे संसार में रोग नहीं फैलने पाते। वह यहां तक कहते हैं कि नित्य प्रति हवन न करनेवाला पापी है।

हवनयज्ञ की इस असाधारण प्रतिष्ठा का कारण उस के असंख्य लाभ हैं, जिन को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है—

(१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक.

वैसे तो इस का आध्यात्मिक लाभ ही इतना है जिस की विद्यमानता में यदि आधिभौतिक लाभ कुछ भी न होता तब भी हवन-यज्ञ का मूल्य कुछ कम न था। पर इस पुस्तक का उद्देश्य जैसा कि इस के नाम से प्रकट है, उस का बताना नहीं है। अतः इस विषय को तो हम किसी और योग्य विद्वान के लिये छोडते हैं। रहा आधिभौतिक लाभ, उस को चार भागों मे बांटा जा सकता है—

(१) शारीरिक आरोग्यता (३) वर्षावृद्धि.
(२) जलवायुशुद्धि (४) वनस्पतिवृद्धि

यह विषय भी इतना बडा है कि पूरे विषय पर एक बडी पुस्तक लिखी जा सकती है। अतः इनमें से भी इस लेख में मुख्यतया शारीरक आरोग्यता पर ही लिखने का विचार है। शेष बातोंपर केवल उतना ही प्रकाश डाला जायगा, जिस का स्वास्थ्य से विशेष सम्बन्ध है। हवनयज्ञ और स्वास्थ्यरक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध है, इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि कुछ लोगों का विचार है कि अंग्रेजी भाषा का शब्द " हाईजीन (स्वास्थ्यरक्षा)" हवनयज्ञका अपभ्रंश है। और जब हम देखते हैं कि स्वास्थ्यरक्षा के जितने साधन अबतक ज्ञात हुए हैं, उन में हवनयज्ञ सब से ऊंचा आसन रखता है। तो हमें उन का यह विचार सत्य ही मालूम होता है। स्वास्थ्यरक्षा के साधनों में हवनयज्ञ क्यों प्रधान हैं, यह आगे बताते हैं।

(१) पदार्थविद्या का यह सिद्धांत है कि, किसी वस्तु का नाश नहीं होता, किन्तु उसका रूप बदल जाता है। हवन में चार प्रकार के पदार्थ डाले जाते हैं—

(क) पुष्टिकारक (ग) सुगन्धित
(ख) रोगनाशक (घ) मिष्ट।

हवन करते समय दूर बैठे मनुष्य की नासिका में भी सुगन्धि पहुंचती है। इससे पदार्थविद्या के उपरोक्त सिद्धांत की सत्यता प्रकट होती है और ज्ञात होता है कि, उन वस्तुओं के परमाणु वायु में फैल गए। यह परमाणु जब श्वासद्वारा हमारी नासिका में जावेंगे तो रोगनाशक औषधियों के होनेसे रोग का नाश करेंगे। मिष्ट और पुष्टिकारक औषधियों के परमाणु पुष्टि देवेंगे और सुगन्धित औषधियों के चित्त को प्रसन्न करेंगे। और जब नित्य प्रति प्रातः सायं ऐसा होता रहेगा, तो हम कभी भी रोगी न हो सकेंगे। यह थोडी बात नहीं है।

(२) जैसा कि ऊपर बताया गया है अग्नि से वायु-शुद्धि वर्तमान साइंस भी मानती है, अतः हवन की अग्नि जलने तथा कार्बन गैस निकलने से गर्मी बढ जाती है। इस प्रकार हमारे घरों की गंदी वायु गर्म होने से हलकी होकर बाहर निकल जावेगी और उसका स्थान शुद्ध वायु लेवेगी। इस पर भी हवन गैस में तो अनेक ऐसी औषधियों में सूक्ष्म परमाणु हैं, जो रोगकृमि का नाश करते हैं। अतः उनसे सैकडों ऐसे रोगों का बीज उनके उत्पन्न होने से पूर्व ही नष्ट हो जावेगा, जो यदि प्रकट हो जाते, तो कष्टके साथ साथ हजारो रुपये डाक्टरों की भेंट कराते और कभी कभी तो उन का परिणाम मृत्यु ही होता।

(३) रक्त की अशुद्धि अनेक रोगों का कारण है। रक्त-शुद्धि के लिये लोग अनेक उपाय करते हैं। डाक्टर लोग कडवी कडवी औषधियां पिलाते हैं। स्वादिष्ट भोजन छुडवा देते हैं, इंजेकशन करते हैं फिर भी रक्त शुद्ध नहीं होता, तो फस्द खुलवाते हैं। इतना करने पर भी रक्तदोष के रोग हो ही जाते हैं। हवन में डाली हुई सोमलता चिरायता इत्यादि के सूक्ष्म परमाणु प्रातः-सायं श्वासद्वारा फुप्फुसों में पहुंच कर रक्त के दोषों को नित्यही दूर करते रहते हैं, जिस से हवन करनेवाले का रक्त सर्वदा शुद्ध रहता है। और वह कभी भी रक्तदोष के रोग में नहीं फंस सकता। और यदि कभी किसी भूल से रक्तदोष हो ही जावे, तो बिना औषधि के केवल हवन से शुद्ध हो जाता है।

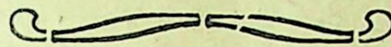
(४) तपेदिक इत्यादि जब कोई कठिन रोग हो जाता है, जिस में औषधि भी काम नहीं देती, तो डाक्टर लोग रोगी को पहाड व समुद्र पर जाने का परामर्श देते हैं। इस कारण कि वहां की-वायुमें न केवल शुद्ध ओषजन किन्तु उससे भी उत्तम भाग ओजोन (Ozone) होता है, जो बडी उपयोगी गैस है और एक प्रकार की तीव्र आक्सीजन है, निर्मल वायु में बहुत अधिक पाई जाती है, और अशुद्ध वायुमें बहुत कम। ओजोनकी पहचान उसकी गन्ध है, जो बहुत तीव्र होती है, यहां तक कि यदि वायु के पच्चीस लाख भाग हों और उसमें ओजोन केवल एक भाग हो, तब भी उसकी विद्यमानता प्रगट हो सकती है। जङ्गलवाटिका अथवा समुद्र की खुली हवा में श्वास लेने से जो आनन्द प्रतीत होता है, यह उसी की विद्यमानता का फल है। अंग्रेजी भाषा में जिसे ओजोन कहते हैं, उसीको हम अपनी भाषा में शुद्ध प्राणप्रद अथवा सुगन्धित वायु कह सकते हैं।

हवन करने पर वही आनन्द और उससे अधिक सुगन्धि प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। अतः हवन करनेवाला नित्य प्रति कुछ देर उस वायु में श्वास लेता है, जो ओजोन का भंडार है। फिर ऐसे व्यक्ति को तपेदिक इत्यादि भयानक रोग सताही नहीं सकते। और जो इन रोगों में फंस चुके हैं, वह भी कुछ साधनों के साथ हवन-यज्ञ करने से निरोग हो सकते हैं।

(५) यह सब जानते हैं कि, पुष्ट शरीर न केवल रोगों से सुरक्षित रहता है, किन्तु जीवन के सारे आनन्द एक पुष्ट शरीरवाला मनुष्य ही भोगता है। हवन में जो पुष्टि-कारक पदार्थ डाले जाते हैं, उनके सूक्ष्म परमाणु शरीर में पहुंच उसे पुष्ट बनाते हैं। पुष्टिकारक पदार्थों का खाना भी बल देता है। इसलिये इन्हें अवश्य खाना चाहिए। पर उस से अधिक उपयोगी इनका हवन में जलाना है। जलाने में दो गुण विशेष हैं, प्रथम यह कि खाने में सम्भव है, आप पुष्टिकारक पदार्थ अपनी शक्ति से अधिक खाकर लाभ के स्थान में हानि उठावें। पर हवन में यह खटका नहीं। क्योंकि इसके परमाणु सीधे रक्त में पहुंचते हैं और पाचन शक्ति पर कोई बोझ नहीं डालते। तब ही तो पुत्रेष्टि यज्ञमें

जब खाने के पदार्थों से वीर्य पुष्ट नहीं होता और अधिक खाने से पाचन शक्ति बिगडती है । उस समय हवनयज्ञ में डाले पुष्ट पदार्थों के सूक्ष्म परमाणु सीधे रक्त में पहुंचकर वीर्य पुष्ट करते हैं ।

दूसरे औषधिको घोटनेसे इसकी भीतरी प्राणशक्ति उभर आती है । अतः ऐसी थोडी चीज बिना घुटी बहुत चीजकी अपेक्षा अधिक बल देती है । आप १० बादाम नित्य प्रति एक मास तक खावे । फिर एक मास ४ बादाम पत्थर पर घिस कर पीवें । आप स्वयं अनुभव करेंगे कि आप में पूर्व की अपेक्षा अधिक बल आ रहा है । अब सोचिये हवन में जो पदार्थ डाले जाते हैं, वह अग्निद्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाते हैं, अतः थोडा पदार्थ भी अधिक बल देता है । इससे हवनयज्ञ की उपयोगिता और महत्ता और भी बढ जाती है ।



श्राद्ध और तर्पण पर विचार।

[श्री०पं० रामचन्द्रजी आर्य, हेडमास्तर (रिटायर्ड), अम्बाला शहर, पञ्जाब]

(द्वितीय लेख)

आप शायद यह कहें कि, यह कोई अच्छी बात तो नहीं। यह तो लकीर का फकीर बनना है। और उन्नति और क्रांति से विमुख रहना है। हम उत्तरमें कहते हैं कि, आपके इस ख्याल में जरा भी वजन नहीं। लकीर का फकीर तो वह होता है कि, जो भी लकीर उसको दीखे उसीपर विना सोचे समझे चल पडे, या अपनी पहिली लकीर को बुरी साबित होने पर भी न छोडे। परन्तु हिन्दू जाति में यह दोनों ही बातें इतनी नहीं जितनी और जातियों में देखी जाती हैं। कुछ थोडे से शिक्षाहीन हिन्दुओं को छोडकर हम यह निर्भयता से कह सकते हैं कि हिन्दुओं ने सभी स्थलों (Departments) में उन्नति की है। और इतनी की है कि जितनी किसी अन्य जाति ने नहीं की। हां, वह अपनी पुरातन मर्यादा को (जो हजारों वर्षों के तजुरबे की कसौटी पर पास हो चुकी है) कायम रखते हुए भी उन्नति करना जानता है। आज भी महात्मा गांधीजी अपनी पुरानी लंगोटी और चादर पहिने हुए उन्नतिशील श्रेणियों की आंखों को चकाचौंध कर रहे हैं। कवीराज रवीन्द्रनाथ टैगोरजी अपनी पुरातन झोपडियों में ही पडे हुए दुनिया के मान्य और पूज्यास्पद बने हुए हैं। श्रीमान् पं० म० मो० मालवीयजी अपने पुराने दुपट्टे और पटके से सज्जित होकर सच्चे ब्राह्मणके अस्तित्व की घोषणा दे रहे हैं। श्री पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य अपने भगवे वस्त्रों के पीछे पूर्वीय और पाश्चात्य विद्याओं के अगाध सरोवर को छिपाये हुए हैं। किम्बहुना अब भी हजारों ऐसी व्यक्तियां मौजूद हैं, जो उन्नति के शिखर पर भी पहुंचकर अपनी पुरानी मर्यादाओं को उनके तत्त्वरूप (in spirit) में कायम रक्खे हुए हैं। बस पाठको! ऐसा होते हुए भी हिन्दुओं को लकीर के फकीर बनाना हिन्दूधर्म के गौरव से अपनी अनभिज्ञता का सबूत देना है।

और भी प्रभाव हो सकते हैं, परन्तु हम प्रतिवादी को सन्तुष्ट करने के लिये इन दोनों प्रभावों को पर्याप्त समझते हैं।

हां एक दो बुरे प्रभाव भी पडे हैं। वह यह कि कभी कभी श्राद्धों के साथ साथ मिथ्या कल्पनाएं (Superstitions) या फजूलखरची ने भी दखल पा लिया है। सो यह शास्त्रोक्त न होने से त्याज्य है।

अब रहा यह प्रश्न कि क्या यह युक्तियुक्त है कि हम मर्त्य लोकवासी मृत पितरोंसे कुछ सम्बन्ध रख सकते, उनको प्रसन्न कर सकते, या उनको कुछ सहायता दे सकते हैं या नहीं।

इसका उत्तर यह है कि, एक हिन्दू अपने और पितृलोकादि परोक्ष लोकोमें कोई ऐसी रुकावट (Barrier) नहीं समझता जो मानसिक शक्तिसे उल्लंघनीय नहीं। बेशक जिनको विचारशक्ति का महत्त्व ज्ञात नहीं, वह इसको असम्भव समझेंगे। जैसे वह जो एक्सरेज के प्रभाव को नहीं जानते, वह किसी ठोस पदार्थ के पार की चीज को देख लेना असम्भव ही कहते हैं। रेडियोके आविष्कार (इजाद) से पहिले कौन कह सकता था कि लन्दन के ब्रौडकास्ट को एकही समयमें सारे दुनियाके कोनेकोनेमें सुन सकते हैं।

वास्तविक बात यह है कि मनुष्य भूल यह करते हैं, कि वह इस दृश्यमान स्थूल जगत से परे सूक्ष्म जगत का अस्तित्व नहीं समझते। परन्तु उनका यह समझना विज्ञान-बुद्धि के सर्वथा विरुद्ध है। सायंस (भौतिक विज्ञान) हमें बताता है कि, सब पदार्थ शब्द या रूप में ही हमतक पहुंचते हैं। शब्द और रूप यह दोनों स्पन्दन (Vibration) या लहरें हैं। और सायन्स यह भी बताती है कि मर्यादा विशेष के भीतर के स्पन्दनही हमारी आंखों या कानोंपर अपना असर करते हैं। उस मर्यादा विशेषसे नीचे या ऊपर के स्पन्दन हमारी आंखों या कानों की पहुंचसे बाहर हैं।

अतः वह हमसे परोक्ष (अनभिज्ञात) हैं। पर प्रक्रियाविशेष से प्रकट हो सकते हैं। ब्रोडकास्ट-सेन्टर में जब कोई मनुष्य बोलता है, तो उसके शब्दोंके स्पन्दन

(Vibrations) सूक्ष्म रूपमें आकाश में ही स्थित रहते हैं। और पुनः प्रक्रियाविशेषसे जिसको रेडियो इंस्ट्रुमेंट कहते हैं फिर मर्यादित स्पन्दनों में लाए जाकर प्रगट किये जाते हैं। अतः हजारों ऐसे स्पन्दन हो रहे होंगे, जो हमारी आंखों या कानों के निकट होते हुए भी मर्यादित अवस्था से ऊपर या नीचे होने के कारण हमारे इंद्रियगोचर नहीं होते। अतः यह कहना कि इस स्थूल, दृश्यमान जगतसे परे कोई सूक्ष्म जगत् नहीं, सर्वथा निर्मूलही है। यह ऐसा है जैसे कोई कहे कि मनुष्यशरीर की त्वचा से (जो सबको दीखती है,) परे ओज, वीर्य, मज्जा, रक्त, हड्डी, रसादि कुछ नहीं। या एक वृक्ष की छाल से दो देट गुर्दादि कुछ पदार्थ नहीं। सबही पदार्थ सूक्ष्मावस्था से शनैःशनैः स्थूलत्व को प्राप्त होते हैं। अतः यह सिद्धांत कि इस स्थूल, दृश्यमान जगत् से परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए कई लोक हैं। परन्तु वह कई कटोरों की तरह एकके भीतर दूसरा, दूसरे की भीतर तीसरा, इस तरह नहीं। अपि तु वह ठंडाई के गिलास की तरह, जिसके कणकण में पानी, मिर्च, इलायची, मीठा, केवडा, सौंफ इत्यादि पदार्थ मिश्रित हैं, एक दूसरेमें ओतप्रोत (Interrelated and interpenetrated) हैं।

अब यदि किसी पीनेवाले पुरुष की जिव्हा में कोई दोष है, तो सम्भव है कि उसको उसमें मिर्च का स्वाद न आवे, और यदि किसी की नाक में कोई दोष है, तो उसको केवडे की सुगंधि न आवे। पर केवडा और मिर्च उसमें मौजूद जरूर हैं। इसी तरह से हमारी इंद्रियों के बहिर्मुखता की आधिक्यता के कारण हमें वह सूक्ष्म लोकदृष्टि या श्रुतिगोचर न होते हों पर हैं जरूर। यह सबही मानते हैं कि जब कोई प्राणी मर जाता है, तो उसकी जीवात्मा उस समय उसके शरीर में तो नहीं है। पर बिलकुल नष्ट भी नहीं हुई। अतः कोई न कोई सूक्ष्म (अदृश्य-परोक्ष) अवस्था विशेष होनी चाहिये, जहां वह उस समय होनी चाहिये। उपनिषदोंने इस समस्यापर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। परन्तु शोक है कि मनुष्य उसको मनन नहीं करते।

अब जिस तरह से जिह्वा के दोष को दूर करनेपर, उस पुरुष को मिर्च का स्वाद आने लग जाता है, इसी तरहसे इंद्रियों की बहिर्मुखताके दोषके दूर करनेपर सूक्ष्म जगत् में भी रसादि हो सकती है। बस यह आन्तर दृष्टि उत्पन्न होने की देर है। जहां यह हुई सूक्ष्म जगत फिर उस दृष्टिके लिये अगोचर नहीं रहेगा। पूर्वयुगोंमें मनुष्य इतना स्थूल दृष्टि नहीं था, जितना अब कलियुगमें है। अतः उन युगोंसे लोगों की रसाई इन सूक्ष्म लोकों और इनके वासियों तक बडी आसानीसे हो जाया करती थी। अब भी यदि हम चित्तकी एकाग्रता के अभ्यास को बढावें, तो हम ऐसाही कर सकते हैं। 'हिप्नाटिस्ट' बहुत कुछ ऐसा कर रहे हैं। और सभी Sir Oliver Lodge जो एक बडे सांयटिस्ट (Scientist) थे और जिनका देहान्त अभी कुछ दिन हुए हुआ था, सूक्ष्म जगत पर बडा विश्वास रखते थे। उनके जीवन की कइ एक घटनायें और तजुरबे इस बात पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं। मृत पुरुषोंसे बातचीत करने के तजुरबे.अमेरीका आदि देशोंमें हो रहे हैं, हमें आशा है कि थोडे ही समय में यह विषय ऐसा साफ हो जावेगा, जैसा कि हवाई जहाज या रेडियो का।

जब यह सिद्ध हो गया कि सूक्ष्म लोक है, उन लोकोंमें पितर लोक कुछ देर रहते हैं, तो फिर उनकी सहायता करना, या उन से सहायता लेना, या उन से आशीर्वाद चाहना, या उनको प्रसन्न करना भी क्या मुशकिल है?

मनकी शक्ति बडी विचित्र है, जिसका उस शक्ति पर (Control) काबू हो जाता है, वह यहां ही बैठा हुआ अपने मन की भावना को किसी दूसरे पुरुष के मन में जो सैकडों मीलों के फासले पर हो पहुंचा सकता है। जब ईथर (आकाश) की लहरद्वारा शब्द हजारों कोशोंपर पहुंच सकता है, तो मन की स्पन्दनाद्वारा जो आकाश से भी सूक्ष्म है, क्यों नहीं पहुंचेगा? इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में बहुत से पुस्तकें लिखी जा रही हैं। पाठक इनको पढकर अपन निश्चय करें।

रही यह बात कि जो वस्तुएं भोजन-वस्त्रादि पितरों के निमित्त वहां ब्राह्मणादिको देते हैं, वह उनके पास किस तरह पहुंच सकते हैं। वह तो, हम देखते हैं, यहां ही रह जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि, सूक्ष्म जगतमें वस्तुओं का सूक्ष्म अंश ही जाया करता है, स्थूल नहीं। वही अंश देव और पितरोंको पहुंचा करता है। जिस प्रकार रेडियो द्वारा आकाशस्थ शब्द या रूप देखे या सुने जाते हैं, इसी तरह

श्राद्ध-कर्म-विशेष भी एक प्रकारका रेडिओ यन्त्र बन जाता है, जिसमें पितृलोकस्थ आत्माएं भी समावेश कर जाती हैं। और जिस प्रकार एक ही ब्रॉडकास्ट सेन्टरसे हजारों रेडिओ में एक ही समय में वही शब्द पहुंच जाते हैं, इसी प्रकार पितृलोग भी एक ही समयमें भिन्नभिन्न स्थानोंमें आवाहित हो सकते हैं। यह शंकाएं तभी तक मन में उठती हैं जबतक सूक्ष्म जगत् के व्यवहार को हमने नहीं समझा। जहां यह समझमें आ गया, तो यह शंकाएं स्वयमेव शान्त हो जावेंगी।

शंका- "भला हमें यह किस तरह ज्ञात हो कि, हमारे पितर इस समय कहां हैं? संभव है कि वे मुक्त हो गये हों और फिर उनको हमारी सहायता की आवश्यकता ही न हो। संभव है कि वह क्रममोक्षके रास्तेको तैरकर रहे हों, तथा किसी अन्य सूक्ष्म लोकमें चले गये हो, या इस मर्त्य लोक में ही किसी योनि में जन्म ले लिया हो। जब हमको यह पता ही नहीं, तो हम उनको कैसे आवाहन करें, किस तरह उनके पास अपना सन्देश भेजें?"

उत्तर- जिस प्रकार हम एक पत्रपर पता लिखकर डाक में डाल देते हैं, और डाकप्रबन्धद्वारा वह पत्र लन्दन या दिल्ली जैसे स्थानमें भी यथेष्ट पुरुषको मिल जाता है, इसी तरह श्राद्धकर्मद्वारा हमारी भावनाएं यथेष्ट पितरको, चाहे वह कहीं भी हो, पहुंच सकती हैं। जब मनुष्यका, जो अल्पज्ञ है, ऐसा डाकप्रबन्ध है, तो क्या सर्वज्ञेश्वर का डाकप्रबन्ध कुछ भी नहीं होगा? श्राद्धकर्म में जो पितरोंका पता दिया जाता है, वह पत्रके पते की तरह नहीं होता। श्राद्ध में पितर को नाम तथा ध्यान (अर्थात् उनकी सूरत को अपने मनके सामने ले आना) ही पता है। यदि वह ऐसी अवस्था में है, कि हमारा सन्देह समझ सकता है और हमें फायदा पहुंचा सकता है या हम उसको फायदा पहुंचा सकते हैं, तो ऐसा हो जाएगा नहीं तो नहीं।

चूंकि हमें निश्चय नहीं है कि उनकी क्या गति हुई है, अतः श्राद्ध न करनेसे करना अच्छा है। यदि उनको हमारा सन्देह या सहायता पहुंच गई, तो समझे हमारा मतलब पूरा हो गया, यदि नहीं पंहुचना तो भी हमारी कोई हानि नहीं। श्राद्धकर्म करने से हमारी आत्मिक उन्नति तो हो ही गई है। क्योंकि श्रद्धा, कृतज्ञता, आस्तिक्यता यह आत्मिक (रूहानी-Spiritual) भाव है। श्राद्ध करने से इनको अभ्यास (Exercise) मिलता है। अभ्यास (Service) से ही प्रत्येक भाव उन्नत होता है। बस श्राद्ध, श्रद्धा, आस्तिक्यता, और कृतज्ञता को विकसित × करनेवाला कर्म है। श्रद्धा (जोकि विज्ञानमय कोष का शिर है) बढने से हमारी रसाई विज्ञानमय कोष में होती है। बस यदि यह पहुंचने पहुंचानेका प्रश्न सर्वथा छोड भी दिया जाए, तो भी श्राद्धकर्ता का तो बडा लाभ हो गया। यही नहीं कि उसने केवल अपना ही लाभ किया। अपितु उसने इस प्रथा को जीवित रखकर आनेवाली सन्तान को भी इस लाभप्राप्तिका साधन और अवसर दिया। जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने अपने पूर्वजोंका श्राद्ध करके हमें इस प्रथा को सिखाया, इसी तरह हम श्राद्ध करके अपने सन्तानों को यह प्रथा सिखाते हैं। बस इस प्रथा को स्थिर (कायम) रखना मानो एक आत्मिक उन्नति के साधन को स्थिर रखना है।

शंका- तो क्या श्राद्ध के न करने से कोई पाप होता है और करने से पुण्य?

समाधान- हां श्राद्धका करना पुण्य है और न करना पाप। हमारी समझमें वह कर्म पुण्य है, जिस से कर्ता तथा दूसरों को आत्मिक उन्नति में सहायता मिले, और वह कर्म पाप है, जिस से इस प्रकार की सहायता से कर्ता तथा दूसरे भी वंचित रहें। यह पहिले हम बता आए कि यह प्रथा आत्मोन्नति का साधन तो जरूर है, अतः इस का करना पुण्य है, और न करना, इस प्रथाको मिटाना, या इस उत्तम प्रथा से दूसरों को भी वंचित रखना है और यह पाप है।

इन सब गहरी बातोंको छोडकर यदि हम साधारण तथा सामाजिक दृष्टि से भी देखें, तो भी यह प्रथा बडी उत्तम ज्ञात होती है। इसके बहाने से कर्ता के हाथ से दान, स्वार्थत्याग, आत्मसंयम, पितृभक्ति, इष्टमित्रों से लेन, देन प्रेम और संगट्ठन (सामीप्यता) के होने में तो किसी को भी शंका ही नहीं हो सकती। जब यह प्रथा ऐसी उत्तम और लाभदायक है, तो हमें समझमें नहीं आता, क्यों बाज भाई इसके पीछे पडे हैं

× तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा॥ (तैत्तिरीयोपनिषत्। २।४)

शंका— भला जो लोग श्राद्ध की प्रथा में विश्वास न करके अपने मृत पितरोंका श्राद्ध नहीं करते, तो क्या उनके पितरों को कुछ कष्ट उठाने पडते हैं ?

समाधान— हां, जिस प्रकार एक मुसाफिर अकेला, असहाय अपनी यात्रा को उसकी कठिनाइयां कीलना काल-मा, पूरी करना है, उसी प्रकार वह पितर भी करते हैं जिनके श्राद्ध नहीं होते। फर्क केवल इतना है कि, असहायय पुरुषको यदि १५ दिन लगते हैं, और कठिनाइयां भी सहनी पडती है, तो सहायतावाले को दिन भी कम लगेंगे और आराम से भी जावेगा।

साथ ही यह भी याद रहे कि ऐसी कोई भी सभ्य जाति नहीं, जिसे अपने मृत पितरोंके प्रति कुछभी श्रद्धा न हो। क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि मृत्यु के पीछे न केवल मनुष्य के सम्बन्धियों, इष्टमित्रोंही की अपितु उसके शत्रुओं की भी श्रद्धा बढ जाती है। कोई भी सभ्य पुरुष अपने शत्रुको भी बुराई से नहीं याद करता। बल्कि आदर और इज्जतसे ही प्रकाटता है क्योंकि उसकी उस विवशता की दशा को देखकर उसके शत्रुका भी दिल पिघल जाता है। वह भी उस समय उस के गुण ही स्मरण करता है, दोष उसकी दृष्टि से परे हट जाते हैं। सारांश यह है कि यह श्रद्धा का भाव सभी सभ्य जातियों में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। और उस श्रद्धा से प्रभावित होकर मृत पितरों के कल्याण के लिये गरीबों को भोजन देते हैं। उनके नामपर दानपुण्य करते हैं, अच्छी अच्छी कबरें सीढियां बनाते हैं, उनकी तारीफें उन कबरों या मढियोंपर लिखवाते हैं, उनके नामपर कूप, तडाग बागबगीचे, मन्दिर, खानगृहें, स्कूल, कालिजादि स्थापन करते हैं। यह भी एक प्रकार का श्राद्ध है। परन्तु यह प्रथा आर्य-हिन्दुओंमें इसकी श्रद्धा, विद्या, और उपनिषत् को ठीक ठीक समझ कर, वैज्ञानिक रूपसे प्रचरित है, संभव है औरों ने इसकी देखादेखी से यह भाव अपने अन्दर लिया है।

यह भी ध्यान रहे कि श्राद्धकर्म में जो क्रियाविशेष की जाती है, वह गौण है मुख्य नहीं। मुख्य जो तीव्र मानसिक भावना ही है। सो यदि अन्य जातियों के श्राद्धपरक कर्मों में यह तीव्र भावना मौजूद है तो वह भी श्राद्धही है। चाहें वे उसे श्राद्ध न भी कहते हों।

श्राद्धका दूसरा अंग तर्पण है। यह प्रतिदिन प्रातः संध्योपासना के पश्चात् किया जाता है। इस में यह क्रिया होती है कि, जल, तिल, पुष्प का अपनी अंजुलीमें भरकर दिव्य पितरों तथा अपने पितरोंके नाम लेकर छोडते हैं और यह भावना करते हैं कि यह पितर सदा तृप्त रहें। अर्थात् हमारा यह कर्तव्य हो कि हम सदा ऐसे ऐसे काम करते रहें, जिस से यह पितर लोग हम से सदा खुश रहे। यह हमारा अर्पण किया हुआ जलदी उनको तृप्त करे। यह एक प्रकार का संकल्प या भावना है, जो प्रत्यहः प्रत्येक हिन्दुके लिये कर्तव्य है।

बहुत से भाई हंसेंगे कि एक चुल्लुभर जल जो वहां ही रह जाता है पितरोंको कैसे तृप्त कर सकता है। वह वास्तव में इस रहस्य को नहीं समझते। स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् में यही तो फर्क है। जो सत्ता एक स्थूल पदार्थ में होती है, उससे हजारों गुण सत्ता उसके सूक्ष्म अंश में होती है। रेल्वे इंजिनमें जो जल होता है यदि उसी जलके सहारे रेलगाडी को चलावें तो रेलगाडी एक पद भी न चल सके। परन्तु जब उसी पानी का सूक्ष्मरूप भाप (बाष्प) बन गया, तो उसमें इतनी सत्ता आ जाती है कि वह सारी गाडियों को बडी तेजी से खैंच ले जाता है। अतः सूक्ष्म सृष्टिके नियम इस स्थूल सृष्टिके नियमों से निराले हैं। हां, यह एक नियम हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि, जितना सूक्ष्म कोई स्वरूप है उतनी ही अधिक उसमें शक्ति होती है।

यह भी ध्यान रहे कि जलादि पदार्थ जो देवता या पितरों को अर्पण किये जाते हैं, वह केवल प्रतीकमात्र हैं, क्योंकि साधारणतया स्थूल जगत् में व्यवहार करनेवाले मनुष्य बिना किसी स्थूल पदार्थ की सहायता के कोई कर्म नहीं कर सकते, अत: अर्पण की साधनामें इन स्थूल पदार्थों का जो सब जगह आसानीसे प्राप्त हो सकते हैं, प्रयोग किया गया है, वैसे अर्पण करना तो मन की भावना ही का + है।

+ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन: ॥ (गीं० ९।२६)
यहां 'भक्त्या', 'भक्त्युपहृतम्', 'प्रयतात्मनः', यह शब्द विशेष महत्त्व के हैं। पाठक विचार करें।

इसके इलावा जल, पुष्प, तिल (अन्न) यह चीजें सब पदार्थों के रस या सार है। सारे पदार्थ इन्हींके आश्रय से बनते हैं। जैसा कि उपनिषत कहते हैं-

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्याः आपः, अपामोषधयः। औषधीनां पुष्पाणि। पुष्पाणां फलानि। फलानां पुरुषः। इत्यादि ॥

देवता या पितरादि सूक्ष्म जगतवासी स्थूल पदार्थों को खाते पीते नहीं। वह इन पदार्थों के अमृतांश को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं। यथा-

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ (छां० ३।६।१)

बस प्रिय पाठको ! जो लोग इस सूक्ष्म जगत् के ज्ञान को समझते हैं, उनके लिये ऐसी सब क्रियाओंमें सार है। लेकिन जो कूपमंडूक की तरह इस स्थूल दृश्यमान जगत् से बाहर न जा सकते हैं और न जाना चाहते हैं, उनको इसमें कुछ सत्ता नहीं प्रतीत होगी-। श्राद्धकर्म में सब ही पदार्थ ऐसे लिये गए हैं, जो सब जगह आसानी से मिल सकें और जिनको गरीब से गरीब भी अनायास से ही प्राप्त कर सके। जैसे, पत्ते, कुश, दुर्वा, जल, तिल, पुष्प, शहद, इत्यादि; और यह पदार्थ भी मानसिक भावनाको सहारा देनेके लिये ही हैं। जिनकी मानसिक भावना इतनी तीव्र है, वह इनके बिना भी पितरोंको आवाहन कर सकते हैं। और आजकल कई नये तरीकोंसे भी ऐसा किया जाता है।

परन्तु लोकसंग्रह के लिये कोई न कोई मर्यादा बांधना आवश्यक ही होता है। अतः तीव्र मनोभावनावाले भी लोकसंग्रहार्थ इन क्रियाओंको करना ही उचित समझते हैं।

बाज भाई कहा करते हैं कि, आजकल श्राद्ध करना निरर्थक है, क्योंकि शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त ब्राह्मण आजकल नहीं मिलते। हमारा ख्याल है कि उनका यह कहना न करनेके लिये एक बहाना हो सकता है। हेतु (reason) कोई नहीं। मान लो कि, आजकल आदर्श ब्राह्मण नहीं मिलते, तो क्या आदर्श क्षत्रिय और आदर्श वैश्य मिलते हैं? और क्या हमको हवनयज्ञादि करानेवाले उक्त लक्षणयुक्त आचार्य, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा मिलते हैं? तो फिर क्या हमने हवन कराना छोड दिया? क्या आदर्श अध्यापक मिलते हैं? तो क्या हमने बच्चोंको स्कूल या पाठशाला में भेजना छोड दिया? इत्यादि अनेक व्यवहार इस हेत्वाभास को करनेवाले मौजूद हैं।

प्रिय पाठको ! विश्वास रक्खो जैसे हम होंगे, वैसे ही हमारे ब्राह्मण होंगे। हमको चाहिये कि, हम एक दूसरे के दोषान्वेषण को छोड दें। अपने दोषोंको ही देखना सीखें। अपने दोषोंको देखा, और दोष दूर हुए, यह भी एक सच्चा सिद्धान्त है। ज्यों ज्यों हमारे अपने आचार, व्यवहार ऊंचे होंगे, त्यों त्यों हमारे पुरोहितो और पंडितोंके भी आचार, व्यवहार उच्च होते जायेंगे।

यहां हमें पूज्य श्री स्वामी दयानन्दजी की जीवनीसे एक पाठ सीखना चाहिये; कहते हैं कि, एक बार स्वामिजी किसी गलीसे गुजर रहे थे। मार्ग में एक छोटी लडकी बैठी थी। स्वामिजीने झुक कर उसको नमस्ते किया। साथके लोगोंने पूछा कि महाराज यह क्या बात है, आप इस छोटी बच्ची को क्यों नमस्कार करते हो। स्वामिजीने उत्तर दिया कि, मैं उस मातृत्व (motherhood) को नमस्कार करता हूं, जो इस बच्चीके शरीरमें गुप्त रूप से स्थित है। आहा! क्या ही भावपूर्ण यह उत्तर है। बस भाईयो! आपको यदि पूर्ण लक्षणयुक्त ब्राह्मण न मिलें तो जो भी यथाप्राप्त अच्छे आपको मिलें, आप उनको ही स्वीकार करते हुए उनके भीतर गुप्तरूप से स्थित ब्राह्मणत्व को अनुभव करते हुए उनका आदर करें। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि, ऐसा करनेसे आप अपने आपको तथा उस ब्राह्मण को भी उन्नत करेंगे। आपके दिल में ब्राह्मणत्व के लिये श्रद्धा और प्रेम होकर आप ब्राह्मणाभिमुखगामी होंगे। तथा आपके इस आदरभाव से उस ब्राह्मण के भीतर भी सत्यरूप में ब्राह्मणत्व जागने लग जाएगा। यह एक मनोविज्ञानशास्त्र (Psychology) का नियम है।

बाज भाई कहेंगे कि "वैसे तो हम इस प्रथामें कोई हानि नहीं समझते। और नहीं कोई इसमें कोई आचरणसम्बन्धी (दखलाकी) बुराई है। परन्तु हमें यह बताया गया है कि, यह वेदविरुद्ध है, अतः नहीं करनी चाहिये।" उनकी सेवामें हमारा यह निवेदन है, प्रथम तो यह प्रथा वेदविहित है, जिसका सबूत हम आगे

चलकर देंगे। और यदि दुर्जनतोष-न्यायसे हम कुछ देरके लिये यह मान लें कि यह वेदविहित नहीं, तो हम पूछते हैं कि, क्या यह वेदनिषिद्ध है? यदि वेदविरुद्ध नहीं, तो यह करनी चाहिये तबतक कि यह वेदनिषिद्ध या विरुद्ध साबित न हो।

हम हजारों ऐसे काम करते हैं, जो वेदविहित नहीं पर विरुद्ध भी नहीं। हां जो वेदनिषिद्ध हो, जो उनको न करना तो वेदानुयायियों का धर्म है। जिनको निषिद्ध वेदने नहीं किया, उनको करनेमें कोई हानि या पाप नहीं। जैसा कि मीमांसाशास्त्र कहता है–

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥
(मीमांसा १।३।३)

वेद से विरुद्ध हो, तो वह काम चाहे स्मृतियोंमें भी निर्दिष्ट हो तो भी नहीं करना। परन्तु यदि साक्षात् विरोध न हो, तो उसके होनेका अनुमान कर लेना चाहिये।

अब हम यह साबित करेंगे कि श्राद्धकर्म (मृत पितरोंके उद्देश्य से) वेदविहित भी है।

हम यहांपर वेदमंत्रोंको उद्धृत करके लेखविस्तारको बढाना नहीं चाहते। यह मंत्र अनेक बार ग्रन्थोंमें निकल चुके हैं। इनपर शास्त्रार्थ भी हो चुके हैं। जरुरत मंत्रोंकी नहीं, अपितु पक्षपातरहित होकर मंत्रोंके अर्थोंपर विचार करनेकी है। परन्तु शोक से कहना पडता है, अर्थ करनेवाले अपने मनोगत भावों से प्रभावित हो कर अर्थ करते हैं, और जो एक बार अपना मन्तव्य बना चुके हैं, उसी को वेद में से भी सिद्ध करना चाहते हैं। असत्य का त्याग और सत्य को ग्रहण करनेवाली व्यक्तियां बहुत ही थोडी हैं। अतः हम अपने पाठकोंसे यह प्रार्थना करते हैं कि, वह हमारे निम्न-लिखित भाव पर विचार करें।

वेद स्वयं तो बोलते नहीं कि हमारा यह अर्थ है। अतः अर्थ करने के लिये हमे तीन पद्धतियोंका अनुसरण करना होगा।

१. "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्," वाला मंत्र बताता है कि जिस योगी की परमव्योम अर्थात् परम आकाश तक सूक्ष्म जगत् में गति होगी, वह तो वेदार्थ को योगबलद्वारा साक्षात् कर सकता है। वह तो मंत्रद्रष्टा ऋषी ही थे, जिनका अब अभाव ही समझो।

२. वेदमंत्रों से ही वेद का अर्थ जाना जाए - अर्थात् यह देखा जाय कि अमुक शब्द वेदों में कहां कहां और किन किन अर्थों में आया है। यह काम बडा लम्बा है। और प्रत्येक साधारण विद्यावाले पुरुष के लिये दुष्प्राप्य ही है। हां स्वाध्याय-मंडल इस पहलू में बडा काम कर रहा है। "यम और पितर" नाम से उसने पुस्तक भी प्रकाशित किया है। पाठक उसको अवश्य पढें।

३. ब्राह्मणग्रन्थादि ऋषिकृत ग्रन्थोंके आश्रय से अर्थ जानता। यही नीति साधारणबुद्धि पुरुषों के वास्ते सुकर है। अतः हम अपने पाठकों का ध्यान इसी तरफ खैंचते हैं।

आप अबही भली भांति जानते हैं कि, ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौत, स्मार्तसूत्रों, स्मृतिशास्त्रों, पुराणों, भागवत, महाभारत, भगवद्गीता, सभी ग्रन्थों में यह विषय आया है। सभी मृत्पितरोद्देश्य से कर्म-विशेष का विधान करते हैं। [चिर-काल हुआ कि हमने पत्रव्यवहाराद्वारा कलकत्तेके प्रसिद्ध पं० सत्यव्रत सामाश्रमीं जी से पूछा था कि इस विषय में ब्राह्मणग्रन्थादि क्या बताते हैं। उनका उत्तर था कि इन सब में मृत्पितरों के उद्देश्य से कर्मविशेष का विधान है। शोक है वह पत्र हम से खोया गया है]

बहुत से प्रमाण हम पहिले दे चुके हैं। और भी दिये जा सकते हैं। परन्तु विस्तारभय से ऐसा नहीं करते। इस में किसी का विवाद भी नहीं, यह सर्वसम्मत ही है कि इस विषय का विधान जहां वहां ग्रन्थों में मिलता है।

अब प्रश्न है कि क्या इन ग्रन्थों के कर्ता वेदानुयायी नहीं थे? यदि थे तो वह वेदों को अधिक अच्छी तरह समझ सकते थे या आजकल के पुरुष? और चूंकि सभी ने ऐसा लिखा है, तो क्या सारेही वेद को समझ में भूल करते हैं?

जब आप इन प्रश्नोंपर विचार करेंगे, तो आपको स्वयं यह अनुभव होने लग जायगा, कि निस्सन्देह यह विषय वेदों के अन्दर है। बस आप इन तीन प्रश्नों को ध्यान में रखकर वेदमंत्रोंपर विचार आरंभ करें। हम उनकी सुभीता के लिये कुछ वेदमंत्रों के पते देते हैं। तथा उन से प्रार्थना करते हैं कि वह "पितृ-यज्ञ की संहति" नाम पुस्तक को पढें। (यह No. 402, Upper Chitpore Road, Calcutta से मिलेगी।)

१. पितृलोक के सम्बन्ध में—

देखो— [ऋग्०- ११३५।६,९।६९।८] [यजु० ५।२६ तथा ६।१) (अथर्व० १८।२।४८; १८।३।५९,७३; १८।४।७९; १८।४।६७]

२. पितृयान— [ऋग्० १०।१४।७; १०।२।७; १०।८८। १५], [यजु० १९।४७]; [अथर्व० १८।४।१; १८।१। ५४; १२।४।६२; ६।१७।७; १५।१२।४; १५।१२।८,९]

३. पितरों के कार्य—

१. रक्षा करना— (ऋग्० १०।१५।१ तथा १।१०६।३; ६।५७।४) [यजु० १४।४९।५-११] [अथर्व० ८।८।१५; ६।५२।४, ५।२४।१५]

२. पापसे छुडाना— [अथर्ववेद ११।६।१६]

३. सुख व कल्याण करना— (अथर्व० १८।३।१६; १९।११।११] (ऋग्० ७।३५।१२)

४. सूर्यका प्रकाश देना— [ऋग्० ४।१।१३;४।२।१६; ७।७६।४; १।७१।२; ९।२७।३९; १०।६८।१];[यजु० १९।६९]; [अथर्व० १८।३।२१; २०।१६।११

५. गर्भधारण करनेमें सहायता देना— [ऋग्० ९।८३।३]; [यजु० २।३३]

६. संतति बढाना-- (ऋग्० १०।५६।६)

७. पुनर्जन्ममें सहायता- [ऋग्० १०।५७।५; १०।५७।३]; [यजु० ३।५५, ३।५३]

८. पितरोंसे दीर्घायुप्रार्थना— [अथर्व० १८।३।१०] [यजु० १९।३७]

४. पितरोंकी तर्फ हमारे कर्तव्य—

१. नमस्कार— [ऋग्वेद १०।१५।२] [यजु० १९।६८] [अथर्व० १८।१।४६; ५।३०।१२; १४।२।२०]

२. स्वधा— [यजु० २।७; १९।३६।४५] [अथर्व० १२।२।३२; १२।४।३२; १२।४।७५-७६-७७-८५; ७।४१।२]

३. जलद्वारा पितृतर्पण— [यजु० २।३४] [अथर्व० १८।३।७२; १८।४।३९, १०।१।११]

४. प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ- [अथर्व० ८।१२।३-४]

५. पितरों को आसन- [अथर्व० १८।४।६८]

६. अग्निद्वारा पितरोंका आवाहन--[ऋग्० १०।१६।१२] [यजु० १९।७०] [अथर्व० १८।१।५६,५७; १८।२।३४]

७. अग्नि का पितरों को हवि पहुंचाना— [ऋग्० १०।१५।१२, १०।१६।११] [यजु० १९।६५-६६] [अथर्ववेद १८।३।४२; १८।४।५४]

८. अग्निका दूरगत पितरों को जानना-- [अथर्व० १८।४।४१; १८।४।६४]

९. अग्निका मृत पुरुषोंके पितरों के पास पहुंचाना— [ऋग्० १०।१७।३; १०।१६।१-२] [अथर्व० १८।२।४; ११।२।५४]

५. मरनेपर पितृलोकमें जाना—[अथर्व० १२।२।४५] [ऋग्० १०।१६।५]

६. वैश्वानर अग्निका पितरों को धारण करना— [अथर्व० १८।४।३५]

७. अग्निष्वात्तपितर—

यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः॥ [शतपथ २।६।१७]-[ऋग्० १०।१५।१४;१०।२५।११] [यजु० १९।६०, ५८, ६१; २४।२८]

८. बर्हिषत् पितर— [ऋग्० १०।१५।३-४] [अथर्व० १८।१।४५; १८।१।५१] [यजु० १९।५५]

९. प्रेत और अन्त्येष्टि—

प्रेतको सोना पहिनाना-- [अथर्व० १८।४।५६]

प्रेतदेह का स्नान— [अथर्व० ५।१९।१४]

प्रेत-देह को वस्त्र— [अथर्व० १८।२।७५]

स्मशानकी तरफ ले जाना— [अथर्व० ८।२।२७; १८।२।२६; १८।४।४४; १८।४।४९]

१०. स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंको भगाना-- [यजु० ३५।१] [ऋ० १०।१४।९] [यजु० १२।४५]

११. प्रेतका जलाना-गाडनादि-- [अथर्व० १८।२। ३४-३५; १८।४।६६]

अन्त्येष्टिसंस्कार- [ऋ० १०।१६।१-४]; [यजु० ३२।१३] [अथर्व० १८।२।४-८]

ऐसे ऐसे अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु लेख-विस्तारभय से हम अधिक लिखना उचित नहीं समझते। पक्षपातरहित हृदय के लिये यही पर्याप्त हैं। अन्त में हम अपने सनातनधर्मावलम्बी तथा आर्यसमाजी भाइयों से

कर जोड, विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वह इस लेख को जरा ध्यान से पक्षपातरहित होकर विचारें ।

पक्षपातरहित विचार से ही सत्य की प्राप्ति होती है। हमारा अपना विश्वास तो यही है कि इस सुन्दर धार्मिक भावयुक्त प्रथा को हिन्दु जाति के अन्दर से निकाल देने से हम जातीय मन्दिरकी आधारशिला को उखाडते हैं। हम पहिले ही कह आए कि, इस प्रथाकी तहमें आस्तिक्यता, कृतज्ञता, श्रद्धा के सुन्दर भाव हैं। श्राद्ध को छोडने से, श्रद्धा को भी शिथिल करना होगा। जिस से धर्मभाव को बडी ठेस लागनेकी संभावना है। हां जो जो त्रुटियां इसमें आ गई हैं, या जो जो क्रियाएं इस समय के अनुकूल नहीं प्रतीत होती, उन में न्यूनाधिक्यता करने तथा संशोधन करने के लिये कोई विद्वन्मंडली नियत हो सकती है। जो भली भांति सोच विचार के बाद कोई नई पद्धति तय्यार कर सकती है।

हम अपने आर्यसमाजी भाईयों की सेवा में भी एक-दो शब्द कहना चाहते हैं। और वह यह है कि उनको अपना हृदय जरा उदार और विशाल करना चाहिये। उन के हृदम में उन भाइयों के लिये जो श्राद्धप्रथा को वेदानुकूल मानते हैं सहनशीलता, क्षमता (Toleration) होनी चाहिये। उनका यह कहना कि वेदों का भाष्य जो हम करते हैं, वही ठीक है, दूसरों का मिथ्या या अशुद्ध है, यह हमें उचित नहीं प्रतीत होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही दृष्टिकोणसे वस्तुको देखता है तथा वैसा ही उसको समझता है। जैसा उसको प्रतीत होता है, वैसा ही वह मानता है। जैसा आपको प्रतीत होता है, वैसा ही आप मानते हैं। अपना अपना दृष्टिकोण एक दूसरे को सभ्यतापूर्वक प्रेम से समझानाभी कोई बुरी बात नहीं। परन्तु ब्राह्मणों के पेट को लेटर-बोक्स बनाना इत्यादि असभ्य कटाक्ष करना आर्य-समाज जैसी सभ्य सोसाइटी की शानसे सर्वथा दूर है। स्वामीजी की दीर्घ-दृश्यताकी ओर देखो! उनके दश नियम जो आर्यसमाज के बुनयादी सिद्धान्त [असूल] हैं कितने खुले और सार्वभौम हैं।

वैदिक धर्म, सनातनधर्म, आर्यधर्म एक व्यक्तिगत तथा जातिगत धर्म नहीं है, यह एक सार्वभौम धर्म है। यह एक छोटासा राज्य [Kingdom] नहीं है, बल्कि यह एक चक्रवर्ती राज्य [Vast empire] है। इस में किसी पुरुषविशेष के ही दृष्टिकोण को ही प्रधानत्व नहीं है। इस में सब प्रकार के दृष्टिकोणोंका समावेश है। यह एक छोटा सा स्कूल नहीं है, बल्कि एक महान् विश्वविद्यालय [University] हैं। यह किसी विचारविशेष का ही संकुचित प्रवाह नहीं है, अपितु अनेक विचारप्रवाहों के अन्तिम समावेश का अगाध, अथाह, अपरिमित पारावार सागर है। सचमुच यह एक आत्मिक जीवन की अनादि अनन्त धारा-प्रवाह की गंगा है, जो सतत आगे ही आगे बढ रही है, जिसकी शाखाएं विविध प्रकार से छोटी, बडी, चौडी, तंग रूप में फैल रही हैं और जो अन्तमें अपनी सब शाखाओं को समेटसमाट कर अनन्त, अनादि, शाश्वत ज्ञानानन्द-सागर में समाप्त होती है।

यदि आर्यसमाज वेद के इस महत्त्वपूर्ण विस्तार को नहीं समझता और अपनी कार्यप्रणाली [Activities] को उसी तंग दायरे में बन्द रखना चाहता है, और कहता है कि जो वेदमंत्रों का भाव [interpretation] हम [आर्य समाज] समझते हैं, वही ठीक है, और नहीं, और न हम उस दायरे से बाहर जाना चाहते हैं, जो हमने अब बनाया हुआ या समझा हुआ है, तो निस्सन्देह, हमारा विश्वास है कि, वह आर्यसमाज को सार्वभौमधर्म बनाने की इच्छा नहीं रखता। वह उसकी आगामी उन्नति के रास्तेमें बाधा डालता हैं।

हमारी हार्दिक इच्छा यही है कि, किसी न किसी तरह आर्यसमाज और सनातनधर्म आपस में प्रेमपूर्वक मिल कर अपने मतभेदोंका निर्णय करके एक हो जावें। और जबतक ऐसा शुभ अवसर न आवे, मतभेदों की खलीज को चौडा करने की बजाए उसको कुछ न कुछ तंग ही करते जाए।

प्रभु परमात्मा से कर जोड विनयपूर्वक हमारी यही प्रार्थना है कि, वह अपनी अपार कृपासे हम सबकी आंखों से पक्षपात की बिमारी को दूर कर दे और हम सब आपस में भ्रातृ-भावसे प्रेमपूर्वक अपनी जीवनयात्राको पूर्ण करने में समर्थ हो।

सदैक्यवाद और द्वैतवाद ।

[पृ० १६ से आगे]

मन्त्री से चोर तक सब मानवोंके रूप (रुद्र) ईश्वरके रूप हैं। इस अध्यायके मनन से सब मानव, सब प्राणी, सब अन्य पदार्थ ईश्वरके हि रूप हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अतः वैदिक धर्मी के लिए तो उनका उपास्य देव विश्व के रूप से आगेपीछे, दायींबाईं ओर तथा ऊपरनीचे, अन्दर-बाहर विद्यमान है। उसके लिए सामीप्य और सायुज्य मुक्ति का मूल्य ही क्या है?

जो सायुज्यादि मुक्तियों का मत है, वह तब का है, जब प्रत्येक जीव भिन्न माना जाता था और परमेश्वर तीसरे आसमान में है, ऐसा माना जाता था।

वेद के सिद्धान्त के सामने वह अज्ञानपूर्ण कल्पना कुछ भी मूल्य नहीं रखती।

आगे आक्षेपक पूछते हैं कि, 'ईश्वरावतारमें मुक्तांश अवतरित नहीं हुआ, ऐसा जानने का उपाय क्या है?' इस से उलटा भी पूछा जा सकता है कि, 'ईश्वरावतार में मुक्त अंश आ गया है, इस में भी क्या प्रमाण है?' परन्तु इस तरह प्रश्न पूछने से कुछ भी लाभ नहीं है।

चिनगारियों की कल्पना का अच्छा मनन होना चाहिये। चिनगारी दावानल बनी तो मुक्ति है। वह दावानल फिर चिनगारी नहीं होता। चिनगारियां उस अग्नि से निकलती हैं, उनमें से कौनसी चिनगारी पहिली चिनगारी है जो मुक्ति से पुनरावृत्त हुई है? अमृत से पुत्र हुआ (**अमृतस्य पुत्राः**) अमृत के वीर्यबिंदु से पुत्र हुआ। वह पुत्र बढते बढते पिता हुआ। अर्थात् पुत्रस्वरूपबन्धन से वह मुक्त हुआ। उस पिता को फिर कई संतानें-पुत्र-बन गये। अब प्रश्न है, जो पिता का वीर्यबिंदु पुत्र में आया था, जिसका वह पिता बना, क्या वही वीर्यबिंदु पुत्र में फिर पुनरावृत्त हुआ है?

```
अमृतपिता — पिता — मुक्त
    |          |
वीर्यबिंदु  — पुत्र -- बद्ध
               |
             पिता — मुक्त
               |
           वीर्यबिन्दु
               |
           पुत्र -- बद्ध
               |
           पिता -- मुक्त
```

पुत्रमें जो वीर्यबिन्दु आया था, वह पितारूपमें मुक्त हुआ, क्या वही वीर्यबिन्दु उसके लडके में पुनरावृत्त होता है। सब जीव '**अमृतस्य पुत्राः**' कहकर वेदने यही मुक्तिके अपुनरावर्तन का सिद्धान्त स्पष्ट कर दिया है। जो विचार करेंगे, उन को यह कठिन नहीं है। पुरुषसूक्त में भी यही कहा है।

मोक्ष की त्रुटी और मोक्ष को ठुकराना, यह एक कविकल्पना है। वस्तुतः वैदिक धर्मी के लिए अपने अन्तर्गत संपूर्ण शक्तियोंके अनुभवका हि मोक्ष नाम है। उसके लिए जीवभाव कोई हानिकारक नहीं, और ना ही मोक्ष कोई हौवा है। जहां पुनरावृत्ति की आवश्यकता अवश्य होगी!!!

वैदिक धर्मी के लिए सर्वदा परमेश्वरका साक्षात्कार है, जन्मसे मृत्युतक परमेश्वर में हि वैदिक-धर्मी विचरता है, वैदिक धर्मी तो अपने आपको परमेश्वरका अंश अनुभव करता है, वह अपने आप को ईश्वर से पृथक् मान ही नहीं सकता। उसके लिए बन्ध और मोक्ष कोई चीज ही नहीं है। अनन्यभाव (मैं पृथक् नहीं इस) भावसे-सर्वभावसे-विश्वसेवा ही उसका स्वाभाविक कर्तव्य है।

वेदका यह धर्म न समझना बन्ध है और वेदका यह सिद्धान्त समझनेके पश्चात् वह निज स्वभाव बनतेही मोक्ष है। वह स्वतःसिद्ध अवस्था है। कहांसे आनेवाली नहीं। न जानेवाली है। वेद का सिद्धान्त समझना ही है।

हमारा यह ख्याल है कि, आक्षेपकर्ता महाशय पूर्ण वैदिक धर्मी हैं और सदैक्यवाद को दिलसे मानते और समझते भी हैं। यह तो उनके उक्त लेख से ही स्पष्ट है।

कईयों की आशंकायें जनताके सन्मुख रखने के लिए उन्होंने ये तीन पत्र लिखे हैं, ऐसा हमें इन पत्रोंके पढनेसे विदित होता है। अतः हमने वेदका सिद्धान्त इस लेखमें पाठकों के सन्मुख रखा है।

अन्तिम निवेदन।

अन्त में निवेदन यह है कि एक ही पत्र में अनेक शंकाएं

लिखने से व्यर्थ लेखका कलेवर बढ जाता है, उत्तर देनेके लिए बहुत हि लिखना पडता है, उतना समय भी नहीं है, क्योंकि आजकल वेदमुद्रण के कार्य का भार बहुतहि सिरपर चढा है। इसलिए सबसे प्रथम केवल एकहि सिद्धांत का विचार किया जाय, तो अच्छा है। वह इस तरह—

प्रथम मन्तव्य

१ वेद ही अपना धर्मपुस्तक है।

२ वेदका जो सिद्धान्त है, वही माननीय है।

३ वेद का अर्थ जो होगा और उससे जो सिद्धान्त सिद्ध होगा, वही मानना होगा।

४ अन्य मतमतान्तरों को वेदसिद्धान्त में मिलाना योग्य नहीं है।

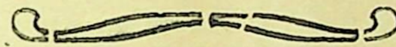
५ वेदका सिद्धान्त समझनेका यत्न करना प्रत्येक वैदिक धर्मीका कर्तव्य है।

यदि इतना मान्य है, तब तो आगे वार्तालाप हो सकती है। उक्त ५ मन्तव्य मान्य है, ऐसा मानने पर वेदका मंत्र या मन्त्रभाग मनन के लिये ले सकते हैं। जैसा—

तत् एव अग्निः, तत् एव आदित्यः
तत् एव वायुः, तत् उ चंद्रमाः। (यजु० ३२।१)

इस का अर्थ '(तत्) वह ब्रह्म ही अग्नि (Fire), सूर्य (Sun), वायु (Wind), चांद (Moon) है।' यह वेदका महा सिद्धान्त है।

यह वेदका कथन है। अतः वैदिक धर्म के संपादक इस को ऐसा ही मानते हैं। अधिक न लिखते हुए, इसीपर आक्षेपकर्ता आक्षेप कर सकते हैं। आक्षेपकर्ताओंके लेख इस मंत्रकी व्याख्या तक ही सीमित रहें। हम यह कहते हैं कि, इस मन्त्र में कहा तत्व वैदिक धर्म का मूल सिद्धान्त है। वेदमन्त्र, उपनिषद् के मन्त्र विचारके लिए लिए जा सकते हैं। इस मन्त्रका ऐसा अर्थ नहीं है, ऐसा कोई विद्वान् कहे, अथवा सब पाठक इस अर्थ को तथा इससे प्रकट होनेवाले सिद्धान्त को स्वीकार करें। तीसरा मार्ग अब नहीं है।



श्री वाल्मिकीय रामायण का भाषानुवादसमेत मुद्रण।

आदर्श पुरुषों में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीदाशरथी रामचंद्रजी का सुरम्य, मनोहारी चरित्र अत्यंत बोधप्रद है। श्रीरामचन्द्रजी के अनेक चरित्र हैं, परन्तु आदिकवि श्रीवाल्मीकि-द्वारा जो रामायण निर्माण हुआ, वही सबसे प्राचीन और सबों में प्रामाणिक माना जाता है।

श्रीरामचरित्र सब चरित्रों में अत्यंत रमणीय और बोधप्रद होने से तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम का आदर्श सब कवियों के सामने सदा आदरणीय रहनेसे अनेक कवियोंने इस चरित्र पर कुछ न कुछ अवश्यहि लिखा है, और अपनी निज कविकल्पना उस में डालकर काव्यरस बढाने का यत्न किया है। परन्तु इस प्रकार के प्राचीन अथवा अर्वाचीन जो जो काव्यरस बढाने के यत्न हुए हैं, उन के कारण श्रीरामचन्द्रजी का जो आदर्श श्रीवाल्मीकिमुनिने जनता के सन्मुख रखा था, वह कुछ न कुछ बिगड हि गया है।

कथा का बिगाड

इस तरह के बिगाड अनेक हुए हैं, परन्तु यहां केवल नमूने के लिये दो कथाएं हम जनता के सन्मुख रख देते हैं—

(१) अहल्योद्धार।

अहल्यादेवी की कथा सबको विदित है। आजकल यह कथा ऐसी कही जाती है—'गौतम ऋषिके शापसे अहल्या शिला बनी थी, उस शिला को श्रीरामचन्द्रजीने अपने पांव का स्पर्श किया, जिससे अहल्या उस शिला से फिर से स्त्री बन गयी, पश्चात् उस अहल्यादेवीने श्रीरामचन्द्रजीके पांव पर अपना मस्तक रखा, अर्थात् उसे प्रमाण किया' इ० इ०।

इस तरह की कविकल्पनाद्वारा रची अनेक प्रकार की कथाएं ग्रन्थों में तथा जनप्रवादों में प्रचलित हैं। इन कथाओं से श्रोताओं को रस तो आता ही होगा, परन्तु ये कथाएं श्रीवाल्मीकिमुनिने जो आदर्श जनता के सामने रखा था, उससे बहुतहि गिरावट का सबूत देती हैं। देखिये—

(१) अहल्यादेवी कभी शिला बनी हि नहीं, फिर उसका पादस्पर्श से उद्धार किस कारण हो सकता है? अहल्या का शिला होने की बात वाल्मीकि के कथन से सर्वथा विरुद्ध है। (२) दूसरी बात यह है, कि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी जो श्रुतिस्मृति के आचारसंपन्नता का उच्च आदर्श है, वह क्षत्रियकुमार गौतममहर्षि की पत्नी गुरुपत्नी-को अपना पांव किस तरह लगा सकते हैं? (३) अहल्या ब्रह्मदेवकी मानसकन्या थी, महर्षिकी पत्नी थी, ब्राह्मणकी स्त्री अर्थात् ब्राह्मणी थी, और आयुसे बडी भी थी, ऐसी स्त्रीको वेदशास्त्रज्ञ क्षत्रियकुमार अपना पांव लगाये, यह कैसे हो सकता? यह सर्वथा वैदिक आदर्शसे विरुद्ध है। और पांव भी क्यों लगावे? जब वह शिला बनीहि नहीं थी।

अर्थात् कवियों की ये सब कपोलकल्पित कल्पनाएं हैं, जो वाल्मीकि के आदर्श से निःसन्देह अधःपतित अवस्था की सूचना देती हैं।

(२) शबरी।

शबरी की दूसरी कथा भी ऐसी हि है। शबरी एक स्त्री का नाम था, इस नाम का आशय न समझने से इन कवियोंने इस को भील जाति की स्त्री बना दिया। और उसके उच्छिष्ट अर्थात् जूठे बेर भी श्रीरामचन्द्रजीको खिलाये! क्या कवियों का यह साहस कम है? पहिले जो भील नहीं थी, उसको भील स्त्री बनाया, मूल रामायण में जहां बेरों का नाम भी नहीं, वहां बेर उत्पन्न किये, इतना ही नहीं, प्रत्युत उनको भील स्त्री के उच्छिष्ट भी बना दिये और अन्त में श्रौतस्मार्त आचार के आदर्शभूत श्रीरामचन्द्रजी से वे खाये भी गये !!!

वाल्मीकि मुनिके आदर्शकी कुछ भी कल्पना इन कवियों को नहीं थी, इस कारण ऐसे ऐसे अनर्थकारी प्रक्षेप श्रीरामचरित्र में इन्होंने काव्यरस बढाने की बुद्धि से किये हैं। यद्यपि ये प्रक्षेप बहुत शताब्दियोंसे रामायणमें होते आये हैं, और शताब्दियों से भारतीय जनता इन प्रक्षेपोंको अपनाती भी आयी है, तोभी इन प्रक्षेपोंको हटाना और परिशुद्ध अवस्था में श्रीवाल्मिकीय रामचरित्र जनताके सन्मुख रखना अत्यंत आवश्यक है, वह हम इस समय करना चाहते हैं।

आधुनिक लेखक।

आधुनिक लेखकोंने भी कोई कम प्रक्षेप नहीं किये हैं,

बौद्धोंने तो दशरथ-कौसल्या को भाई-बहिन मान कर उन का विवाह कर दिया है ! म० मल्लादि व्यंकटरत्नं, तथा कई अन्यान्य आधुनिक लेखकोंने (१) श्रीरामचन्द्रजी को अनार्य ठहराया, (२) राम की अनेक स्त्रियां बतायीं, (३) सीतादेवीजी के पातिव्रत्य के विषय में शंकाएं उठाईं, (४) कुश और लव को रावण की संतान बताया, (५) मारुति को अब्रह्मचारी कहा, (६) सुग्रीव तथा बिभीषण को देशद्रोही कहा, तथा (७) श्रीरामचन्द्रजी को स्त्री-दाक्षिण्यहीन साबित किया !!!

इस तरह के घृणित आक्षेप आधुनिक उपाधिधारियोंने आंग्रेजी, हिंदी और मराठी के लेखों में किए हैं। ये आक्षेप सर्वथा निर्मूल तो हैं हि, परन्तु इनकी निर्मूलता हमने वाल्मिकीय रामायण की समालोचना करते हुए सप्रमाण सिद्ध करनी है।

प्राचीन कवियोंके प्रक्षेपों तथा आधुनिक लेखकों के घृणित आक्षेपकों का सप्रमाण खण्डन करके मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका परिशुद्ध जीवन-चरित्र हमने जनता के सन्मुख रखना है।

वाल्मीकिमुनिने जो आदिकाव्य जैसा बनाया, वैसा ही शुद्ध रूप में भाषानुवादसहित जनता को देनेका संकल्प किया है। परमेश्वर उसको सफल करे।

मुद्रण कैसा होगा ?

१. श्री आदिकवि श्रीवाल्मीकिरचित श्रीरामायण के सब श्लोक पृष्ठ के ऊपर दिए जायगे और नीचे इन श्लोकों का सरल भाषानुवाद दिया जायगा। श्लोकों में कुछ भी **न्यून वा अधिक नहीं किया जायगा, जैसा श्री वाल्मीकि का पाठ है, वैसा हि सबका सब श्लोक-पाठ दिया जायगा।**

२. भाषानुवाद भी सब श्लोकोंका यथाक्रम दिया जायगा। इस में भी कोई हेरफेर नहीं होगा। अनुवाद प्रामाणिक और सरल होगा।

३. अनेक स्थानोंपर विस्तृत टिप्पणियां देकर मूल ग्रन्थ का आशय अनेक प्रमाणों से स्पष्ट किया जायगा। ये टिप्पणियाँ इस ग्रंथ की विशेषता होगी। इन टिप्पणियों में अनेक आर्यशास्त्रों के सिद्धान्त सप्रमाण बताये जायगे।

४. अयोध्या, किष्किंधा, लंका आदि नगरों के नकशे (Maps) दे कर इन नगरों की रचना किस तरह हुई थी, इन में रहनेवालों का रहनसहन कैसा था, इन में आबादी कितनी थी, इन नगरनिवासियोंका कलाहुन्नर आदि कैसा था, इनकी सभ्यता (Civilisation) किस प्रकार की थी, आदि सब भूमिका में दर्शाया जायगा।

५. रामायणके समय युद्धनीति कैसी थी, युद्धके समय उस समयके सेनापति अपनी सेनाके व्यूह किस तरह करते थे, और उन व्यूहोंसे वे किस तरह लडते थे, यह सब व्यूहों के नकशे (War-maps) देकर विस्तारसे बताया जायगा।

६. रामरावण के युद्ध का युद्धक्षेत्र (Front) कितना बडा था, वहां दोनों ओर के सैन्य की व्यवस्था कैसी थी, लंका नगरी की रक्षा का प्रबंध कैसा था, रामकी सेनाने हमला किस युक्तिसे किया, लंकानगरी का पराजय (Fall) क्यों हुआ, दोनों ओर के कुशल सेनापतियोंने कौनसी युक्तियां प्रयोग में लायीं, अन्त में रावण क्यों हर गया और श्रीरामचन्द्रजी विजयी कैसे हुए, यह सब (War-maps) युद्ध के नकशों के चित्र दर्शाकर बताया जायगा।

७. रामरावण का युद्ध (**रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव**) रामरावणके युद्ध के समानहि है, ऐसा वर्णन प्राचीन काल से चला आया है। परन्तु अज्ञान के कारण तथा रामरावणयुद्ध और कौरवपाण्डवयुद्ध का भेद न समझने के कारण आजकल के लोग कौरवपांडवों के द्वन्द्व को महायुद्धहि कहते हैं और रामरावण का महायुद्ध कौरव-पांडवों के द्वन्द्वयुद्ध से बीसियों गुणा बडा था, इस बातको सब भूल गए हैं !!! इस विषयका सब वर्णन यहां किया जायगा और ' **रामरावणयुद्ध रामरावणयुद्धके ही समानहि था** ' इस की सत्यता दर्शायी जायगी।

८. श्रीरामचन्द्रजीने युद्ध की तैयारी कैसी की, सेना की रचना (formation of the army) कैसी की, सेतु-निर्माण का महत्त्व क्या है और वह कैसे बनाया, लंकापर हमला कैसा हुआ, रावणने अपना बचाव (defence) कैसा किया, अन्त में रामका हमला क्यों प्रभावशाली हुआ, इसका सप्रमाण और युद्धशास्त्र के नियमों और प्रमाणों से वर्णन इन ग्रंथों में किया जायगा।

९. शूर्पणखाकी कुटिल नीति, मारीच और कुंभकर्णका रावण को धर्मनीतिका उपदेश, रावणकी राजनीति, श्रीरामचन्द्रजी

की धर्म्य राजनीति, राक्षसोंका गुप्त षड्यन्त्र करनेका स्व-भाव, रामचन्द्रजी का दूरदर्शी राजनीतिकौशल्य, रामचंद्रजी की सेना का गमन (Marching of the army), बानरों और राक्षसोंका (Engineering) स्थापत्यकौशल्य, श्रीरामचन्द्रका युद्धसमितिनिर्माण (Council of war), वानरसेना का लंका को घेरना, राम-रावणों की युद्धकुशलता, हनुमानजी का व्यवस्थित पीछे हटना (orderly retreat), समय पर फिर मारक आघात शत्रुपर करना, रावण के पराभव के कारण, इन सबका वर्णन प्राचीन तथा आधुनिक युद्धशास्त्र के अनुसार किया जायगा। और यह सब वर्णन चित्रों और नकशों के साथ होगा।

१०. रामारावणयुद्ध में रणक्षेत्र में रसायनशास्त्र का उपयोग गोला, बारूद आदि (explosives) का प्रयोग कितना हुआ था, प्राचीन काल में इनका उपयोग किस तरह किया जाता था, इस विषय के अस्त्र कैसे बनते थे और प्रयोग कैसा किया जाता था, इसका शास्त्रप्रमाणों से सचित्र वर्णन इन ग्रंथों में होगा।

श्रीवाल्मिकीय रामायणका भाषाभाष्यसमेत इस तरह का मुद्रण इस समयतक किसीने नहीं किया है। वह हम करना चाहते हैं और जागतिक महायुद्ध के समय शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करना चाहते हैं। पाठक इस ग्रंथ का महत्त्व ध्यान में लाकर इस की सहायता जितनी हो सकती है, करें।

मुद्रण कैसा होगा ?

श्रीवाल्मिकीय रामायण के ७ काण्ड हैं। इन सातों कांडों के १० ग्रंथ होंगे। (१) बालकाण्ड का १ ग्रंथ, (२) अयोध्या-काण्ड के २ ग्रंथ, (३) अरण्यकाण्ड, (४) किष्किंधाकाण्ड, (५) सुन्दरकाण्ड का प्रत्येक एक एक ग्रन्थ, (७) युद्धकाण्ड के ३ ग्रन्थ और (७) उत्तर-काण्ड का एक ग्रन्थ, इस तरह ये ७ काण्ड १० ग्रंथों में प्रकाशित होंगे।

प्रत्येक ग्रंथ में दो चित्र रंगीन होंगे, और कई सादे एक-रंगी चित्र होंगे। इन के अतिरिक्त कई नकशे और दूसरे चित्र दिये जांयगे। इस तरह यह सर्वांगसुन्दर वाल्मिकीय रामायण का प्रकाशन होगा।

इस का मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रंथों में होगा, प्रत्येक ग्रंथ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) रु० होगा। डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महिनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षोंमें ग्राहकों को मिलेगा।

प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रंथ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठाहि आना चाहिये।

(२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिख देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इन को डा० व्य० माफ होगा और सब ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अंतिम भागों में मुजरा किये जांयगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा।

इनकी वी. पी. वापस आगयी, तो वह नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा।

(३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रन्थोंका डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रंथ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा।

(४) जो ग्राहक दो सौ रु० अनामत रामायणसमाप्तितक रखेंगे, उनको सब रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी, और रामायण का मुद्रण समाप्त होनेपर उनका सब धन वापस भी किया जायगा।

(५) जो ग्राहक १००) सौ रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगा हि, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगे, मिलेंगी।

संस्कृत-पाठ-माला ।

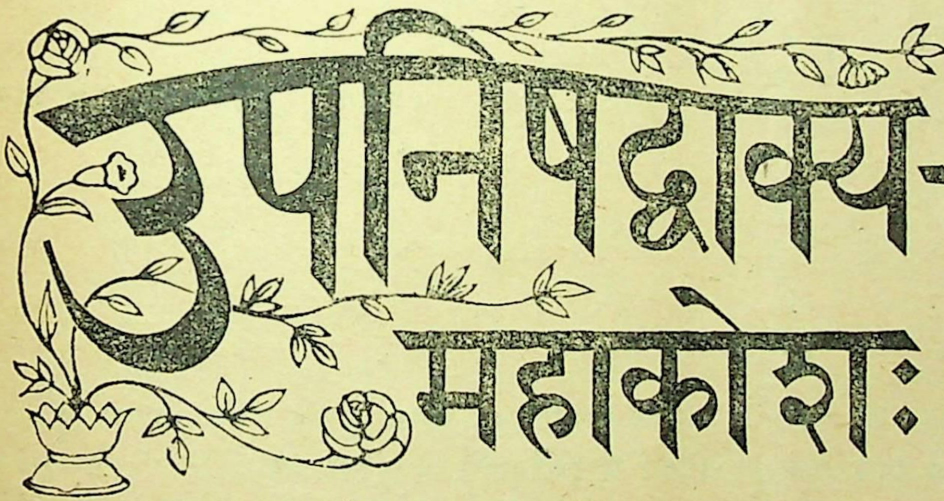
[संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय ।]

संस्कृत-पाठमाला के अध्ययन से लाभ- (१) अपना कामधन्धा करते हुए फुरसद के समय आप किसी दूसरेकी सहायता के विना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृतका ज्ञान बढा सकते हैं। (२) प्रतिदिन १ घंटा पढनेसे एक वर्षके अन्दर आप रामायण-महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। (३) पुस्तक अत्यन्त सुगम हैं। विना नियमों को कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है। (४) पाठशाला में जानेवाले विद्यार्थी भी इन पुस्तकोंसे बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है- (१) **प्रथम-द्वितीय और तृतीय भाग।** इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है। (२) **चतुर्थ भाग।** इस चतुर्थ भागमें संधिविचार बताया है। (३) **पंचम और षष्ठ भाग।** इन दो भागों में संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है। (४) **सप्तमसे दशम भाग।** इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग नामों के रूप बनानेकी विधि बताई है। (५) **एकादश भाग।** इस भाग में सर्वनाम के रूप बताये हैं। (६) **द्वादश भाग।** इस भाग में समासों का विचार किया है। (७) **तेरहसे अठारहवें भाग तकके छः भाग।** इन छः भागों में क्रियापद-विचार की पाठविधि बताई है। (८) **उन्नीससे चोवीस तकके छः भाग।** इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

एक पुस्तकका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =)
३ पुस्तकों का मूल्य १) और डा० व्य० ।)
१२ पुस्तकोंका मूल्य ४) और डा० व्य० ॥)
२४ पुस्तकोंका मूल्य ६॥) रु० और डा० व्य० ।॥=)

मन्त्री-स्वाध्याय मण्डल, औन्ध [जि० सातारा]



इसका पूर्वार्ध तैयार है और मूल्य रु०७) है। डाकव्यय ॥।=) है। उत्तरार्ध छप रहा है, जिसका मूल्य ७) होगा। डाकव्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। बंबई युनिवर्सिटी और बडोदा नरेश ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये बडी सहायता दी है।

इस कोश में वेद-वेदान्त-योग-स्वार्थ-परमार्थ-साधक २२३ उपनिषदों की परमोपयोगी ४०,००० वाक्य अकारादिवर्णानुक्रम से संग्रहीत हैं, जो पण्डित-शास्त्री-पुराण-प्रवचनकार-कीर्तनकार-- व्याख्याता आदिकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। साधारण संस्कृतज्ञ भी इन वाक्यों का नित्य व्यवहार में उपयोग कर सकते हैं। हरएक भारतीय संस्कृत पाठशाला वेद-विद्यालय, गुरुकुल, वाचनालय आदि के लिये यह ग्रन्थ बहुमोल और संग्रहणीय है।

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध [जि० सातारा]

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है–

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) साढे नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है। यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	।॥)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३।॥)	१।॥=)	५।॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण–व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद–यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद–अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्य सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

मंत्री–स्वाध्याय–मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

(शंकाकार)—

१५. शाट्यायने श्रूयते हि त्रैशोक ब्राह्मणे तथा ।
अत्र शाट्यायनकम् ।
कण्वो वै नार्षदो बकस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत ।
तस्यां हास्य त्रिशोकनाभाकौ पुत्रौ जज्ञाते । इति ॥

शाट्यायन ब्राह्मण और त्रैशोक ब्राह्मण में ऐसी श्रुति है कि– 'नृषद् के पुत्र कण्वने असुर बक की कन्या से विवाह किया। उस से त्रिशोक और नाभाक दो पुत्र उत्पन्न हुए।'

१६. श्रूयतां परिहारोऽत्र यो यजाति यजात इत् ।
इत्येवमादिकः कश्चिदनुवाकः स्मृतो बुधैः ॥
१७. अन्ते तस्यानुवाकस्य नाभाकः पर्यवस्थितः ।
उत्तरस्यानुवाकस्य विरूपो मुखतः स्थितः ॥
१८. इमे विप्रस्य वेधसः सूक्तमाग्नेयमुच्यते ।
आ घा ये अग्निमिन्धते ऐन्द्रं त्रैशोकमुच्यते ॥
१९. मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात्प्राक् स्थापितं बुधैः ।
अनुवाकान्तरत्वाच्च न भ्रातृत्वं नियामकम् ॥

इसमें जो परिहार है सुनिये ।

'यो यजाति यजात इत्' (ऋ० ८।३१)

इत्यादि एक अनुवाक (५म) विधानोंने बतलाया है । इस अनुवाकके अन्तमें (ऋ०मं० ८,सू० ४२) नाभाक ऋषि है । उससे अगले अनुवाक आदिमें (षष्ठ अनुवाक) विरूप ऋषि दृष्ट 'इमे विप्रस्य वेधसो' (ऋ०मं०८, सू० ४३) स्थित है। यह सूक्त आग्नेय है। 'आ घा ये अग्निमिन्धते०' इत्यादि इन्द्र देवताक सूक्त त्रिशोकदृष्ट हैं । मण्डलों में विद्वानोंने अग्नेय सूक्त को प्रायः सर्वत्र सूक्तोंके पूर्व ही रखा है । दूसरे वहांसे अनुवाक भी दूसरा ही प्रारम्भ होता है। अतः केवल भ्रातृता होना ही क्रम में नियामक नहीं है ।

२०. अथायं केन विन्यासः सर्वो दृष्टो महर्षिणा ।
सर्वस्यां संहितायां यः सर्वैरिति विपश्चितः ॥

(प्रश्न)– अब यह बतलाइये कि सम्पूर्ण संहिता में जो सूक्तों का विन्यास है, वह संपूर्ण किस महर्षिने साक्षात् किया था ?

(उत्तर)– विद्वानोंका मत है कि सभी ऋषियोंने सूक्तों का यही क्रम देखा था ।

२१. मण्डलान्यृषयो दृष्ट्वा सर्व एव समागताः ।
विन्यासं ददृशुः पश्चाद् इति वृद्धेभ्य आगमः ॥

मण्डलों का दर्शन करके सभी ऋषि एकत्र हुए और एकत्र होकर पीछे उन्होंने इस प्रकार का विन्यास देखा, ऐसा वृद्ध गुरुजनों से श्रवण किया है ।

२३. कल्पनं चानुवाकानामृषिदृष्टमिति स्थितिः ।
नह्यनार्षमिदं युक्तं यद् दृष्टं ब्राह्मणेष्विति ॥

अनुवाकोंकी कल्पना भी ऋषियोंने साक्षात् की, जो ब्राह्मण ग्रन्थोंमें देखा गया है, वह अनार्ष नहीं हो सकता।

२४. स्वादिष्ठया मदिष्ठया तासामध्ययने फलम् ।
प्रादर्शयद् वसिष्ठोऽन्ते यः पावमानीरध्येति ॥
२५. एवं सर्वैः प्रदृष्टानां सूक्तानां क्रमदर्शनम् ।
युक्तमन्ते सङ्गतानामिति वृद्धेषु निर्णयः ॥

'स्वदिष्ठया मदिष्ठया०' (ऋ० मं० ९, सू १-११४) इत्यादि नवम मण्डलकी सभी पावमानी ऋचाएं अनेक ऋषियोंने देखी हैं, जिनका फल वसिष्ठ ने अन्तमें 'यः पावमानीरध्येति' (ऋ. मं.९ सू०६७।३१-३२)में दिखलाया है । इस प्रकार अन्तमें एकत्र हुए सब ऋषियोंके देखे सूक्तों का क्रम देखना चाहिये, ऐसा वृद्ध गुरुओंका निर्णय है ।

२५. तथैवान्येन दृष्टेषु मन्त्रेष्वन्ये महर्षयः ।
नानाविधानि सूक्तानि पश्यन्त्यपि च संगताः ॥

इसी प्रकार अन्योंसे देखे मन्त्रोंमें ऋषियोंने नाना प्रकार के सूक्तों का दर्शन किया है । अनेक ऋषि एकसाथ मिलकर भी सूक्तों का दर्शन करते हैं ।

अचिन्त्यमद्भुतं वेदं साङ्गोपाङ्गमधीयते ।
अस्यागमं यथातत्त्वमृषिरेवावगच्छति ॥
ऋषिनामार्षगोत्रेषु पञ्चमेऽस्माभिरष्टके ।
अध्यायादिषु वक्तव्यं विभज्योक्तं क्रमादिति ॥

इस प्रकार अङ्ग उपाङ्गोसहित अद्भुत अचिन्तनीय वेद का अध्ययन किया जाता है, इस का यथार्थ तत्त्वज्ञान ऋषि ही जान पाता है ।

पांचवें अष्टक में अध्यायों के आदि में ऋषियों के नाम और अर्ष गोत्रों के सम्बन्धमें जो कुछ कहना उचित था, सबको विभाग करके क्रम से कह दिया है ।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

॥ इति पञ्चमोऽष्टकः ॥५॥

ऋग्वेदानुक्रमणी।

षष्ठोऽष्टकः।

अथ छन्दोऽनुक्रमणी।

प्रथमोऽध्यायः।

अथ षष्ठोऽष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते।
यच्छन्दसीह वक्तव्यं विद्यते छान्दसैर्द्विजैः॥

अब षष्ठ अष्टक प्रारम्भ है, उसके अध्यायों के आदिमें छन्दःशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मण 'छन्द' के विषयमें जो विशेष प्रवचन करते हैं, वह कहा जायगा।

१. गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पंक्तिरेव च।
त्रिष्टुप्-जगत्यौ सप्तेति छन्दांसि कवयो विदुः॥

गायत्री, उष्णिग्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, और जगती। विद्वानोंने इन सात छन्दोंका उपदेश किया है।

२. ननु चातिजगत्यस्ति शक्वर्यप्यतिशक्वरी।
तथैव चाष्टिरत्यष्टिर्धृतिश्चातिधृतिस्तथा॥
३. सर्वाणि दृष्टानि च संहितायां।
तथैव चासँश्चतुरुत्तराणि॥
ततश्च वेदे वचनीयमित्थ-
मिमानि छन्दांसि चतुर्दशेति॥

(प्रश्न)- उक्त सात छन्दों के अतिरिक्त अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, और अति धृति ये छन्द भी तो हैं?

(उत्तर)- हां, ये सब छन्द भी संहिता (ऋग्वेद) में देखे जाते हैं, इसी प्रकार इनके भी आगे और छन्द हैं, जिनमें चार चार अक्षरों की वृद्धि होती है। तब इस प्रकार कहना चाहिये कि वेद में ये छन्द १४ भी हैं।

तीन छन्द, चार छन्द।

४. ननु च त्रीणि छन्दांसि चत्वारीति च दृश्यते।
आहुः प्रवादौ भाक्तौ तौ सप्तत्वं चैव तादृशम्॥

(प्रश्न)- कहीं केवल तीन छन्दही दीखते हैं और कहीं चार छन्दों का ही उल्लेख दीखता है। इसका क्या कारण है?

(उत्तर)- इसका उत्तर विद्वान् लोग इस प्रकार कहते हैं कि- ये दोनों प्रवाद गौण हैं। इसी प्रकार सात छन्दों के होने का कथन भी गौण ही है।

५. भवन्ति छान्दसानीह पदानि त्रीणि तद्यथा।
एकमष्टाक्षरं दृष्टमेकमेकादशाक्षरम्॥
६. द्वादशाक्षरमप्येकं तेन त्रीणीति भाषते।
पदं दशाक्षरं चाल्पं वैराजं तदुपेक्षितम्॥

छन्दों के तीन प्रकार के पद (पाद=चरण) होते हैं। एक आठ अक्षरोंवाले, दूसरे ११ अक्षरोंवाले और तीसरे १२ अक्षरोंवाले। १० अक्षर का पाद भी विराट् छन्द का होता है। वह बहुत कम मिलता है, इसलिये उसकी उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार तीन छन्दही कह देते हैं।

७. गायत्र्येवोष्णिगभवत् पंक्तिमल्पामुपेक्षते।
अनुष्टुबेव बृहती तेन चत्वारि भाषते॥
८. तद्वद् भूयांसि सप्तैव प्रधानान्यपि वा पुनः।
कथ्यन्ते नामभिश्चैव गायत्री जगतीति च॥

गायत्रीछन्द ही 'उष्णिग्' हो जाता है। छोटे पंक्ति छन्द की उपेक्षा कर देते हैं और अनुष्टुप् छन्दही बृहती छन्द हो जाता है। इस प्रकार शेष गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती ये चार छन्दही बतलाये जाते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक छन्द हैं। परन्तु सात छन्दही प्रधान कहे जाते हैं, जो गायत्री से जगतीतक हैं।

[स्पष्टताके लिये नीचे 'छन्दश्चक्र' देते हैं, जिसके देखने से समस्त छन्दों का अनायास ज्ञान हो जाता है और आगे जो प्रकरण कहेंगे, उसके समझने में सुविधा होगी।

७ छन्द (छन्दश्चक्र)

छन्दः नाम।	गायत्री।	उष्णिक्।	अनु-ष्टुप्।	बृहती।	पंक्ति।	त्रि-ष्टुप्।	जगती
आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
दैवी	१	२	३	४	५	६	७
आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

१४ अतिच्छन्द ।

अतिजगती	५२	अक्षर	कृति	८०	अक्षर
शक्वरी	५६	,,	प्रकृति	८४	,,
अतिशक्वरी	६०	,,	आकृति	८८	,,
अष्टि	६४	,,	विकृति	९२	,,
अत्यष्टि	६८	,,	संस्कृति	९६	,,
धृति	७२	,,	अभिकृति	१००	,,
अतिधृति	७६	,,	उत्कृति	१०४	,,

गायत्री से पूर्व के दश छन्द ।

मा	४	अक्षर	हर्षिका	२	अक्षर
प्रमा	८	,,	सर्षिका	६	,,
प्रतिमा	१२	,,	सर्वमात्र	१०	,,
उपमा	१६	,,	विराट्	१४	,,
समा	२०	,,	कामा	१८	,,

एक अक्षर अधिक होने से छन्द 'भूरिग्' और दो अक्षर अधिक होने से छन्द 'स्वराट्' कहाता है। एक अक्षर न्यून होने से छन्द 'निचृत्' और दो अक्षर न्यून होनेसे छन्द विराट् कहा जाता है । जैसे गायत्री २४ अक्षरों का है। मन्त्र में २३ अक्षर हों, तो 'निचृद् गायत्री' २२ हों, तो 'विराट् गायत्री,' २५ हों तो 'भुरिग् गायत्री' २६ हों तो 'स्वराट् गायत्री' कही जावेगी । इत्यादि ऋषि दयानन्द ने अक्षरगणना के आधारपर छन्दश्चक्र प्रदर्शित छन्दों वा अतिछन्दों को दर्शाया है ।]

९. निचृतो भुरिजश्चाहुस्ताश्चेदूनाधिकाक्षराः ।
द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ च निचृदुष्णिक् भुरिक् ककुप्

यदि वे ऋचाएं एक अक्षर कम वा एक अक्षर अधिक हों, तो वे क्रमसे 'निचृत्' और 'भुरिक्' कहाती हैं । दो अक्षर कम वा दो अक्षर अधिक हों तो वे 'विराट्' और 'स्वराट्' कहाती हैं । जैसे– 'निचृद् उष्णिक्' और 'भुरिक् ककुप्'।

[ककुम्मध्ये चेदन्त्यः । (पिंगलसूत्र ३।१९)
उष्णिग् गायत्रौ जागतश्च ॥ (पिं० सू० ३।१८)

२८ अक्षरके 'उष्णिक्' और 'ककुप्' होते हैं। दो अष्टाक्षर पादोंके बीचमें एक जगती का अक्षर १२ का चरण हो, तो उसे 'ककुप्' कहते हैं । एकाक्षर न्यून वा अधिक होने से 'निचृदुष्णिक' व 'भुरिक् ककुप्' कह देते हैं] जैसे–

१०. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिर्गायत्री सा निचृद् उच्यते ।
विद्वांसाविदुरः पृच्छेद् गायत्री सा भुरिक् स्मृता ॥

(१) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ (ऋ० १।१।२)

यह ऋचा निचृद् गायत्री कही जाती है।

(२) विद्वांसाविददुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो
अचेताः। नू चिन्नु मर्त्ते अक्रौ ॥ (ऋ० १।१२०।२॥)

यह ऋचा भुरिग् गायत्री कही गई है । [भुरिक्, निचृत् स्वराट्, विराट् आदि विशेष सूक्ष्मभेदोंको बतलाते हुए छन्द का निर्देश करने की भी प्राचीन शैली थी, ऐसा माधवभट्ट के कथन से विदित होता है, जिसका अनुसरण ऋषि दयानन्दने अक्षरगणनानुसार अपने भाष्योंमें किया है। माधवभट्टने 'उच्यते,' 'स्मृता' दो पदोंसे निर्देश किया है कि पूर्व विद्वानोंने प्रति मन्त्र इस प्रकार छन्दोंका उपदेश शास्त्रवत् किया है। सर्वानुक्रमणी आदिमें इस प्रकार के सूक्ष्म निर्देशों की उपेक्षा भी की है । सूक्त का प्रधान छन्द कह दिया है। निचृद् भुरिक् विराट् स्वराट् आदि का भेद नहीं दर्शाया है । अथर्वसर्वानुक्रमणीमें–

'विद्वांसा विद् दुरः०' इस ऋचाको 'ककुप्' लिखा है। परन्तु 'ककुम्मध्ये चेदंत्यः' (पिं० सू० ३।१९) के अनुसार दो गायत्र (अष्टाक्षर) पादोंके बीचमें एक जागत (१२ अक्षर) चरण नहीं है, प्रत्युत जागत चरण पूर्वमें विद्यमान है । सो चिन्त्य हैं]

११. विराजमाह राजन्तमध्वराणमिमामृचम् ।
इन्द्र जुषस्व प्रवह सैषाऽनुष्टुम् स्वराडिति ॥

(१)राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ (ऋ० १।१।८)

इस ऋचाको विराट् गायत्री (२२ अक्षर) बतलाते हैं-

(२)इन्द्र जुषस्व प्रवहा याहि शूर हरिहे ।
पिबा सुतस्य मतिर्न मधो श्चकानश्चारुर्मदाय॥

सामवेदे उत्तरार्चिके (प्रपा० ३, पूर्वार्ध सू० २२।१)

यह ऋचा ३४ अक्षर होनेसे 'स्वराड् अनुष्टुप्' है। ["इन्द्र जुषस्व०" ऋचा पाठभेदसे अथर्ववेद (२।५।१) में भी आई है। माधवभट्टको वह अभिप्रेत नहीं है। क्यों कि उसमें द्वितीय चरण में 'हरिभ्याम्' और तृतीय चरणमें "मतिर्न" के स्थान में "मतेरिह" पाठभेद होनेसे ३५ अक्षर होनेसे 'निचृद् बृहती' होती है।]

१२. चत्वारः पञ्चकाः पादाः षट्कश्चैको यदा भवेत्।
गायत्री पदपंक्तिः सा अधाह्यग्ने क्रतोरिति ॥

चार पाद पांच पांच अक्षरके हों और एक पाद छः अक्षरों का हो, तो वह गायत्री 'पदपंक्ति' कहाती है। जैसे-

(१)अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ (ऋ० ४।१०।२)

(इस ऋचामें चार चरण पांचपांच अक्षरों के हैं, जैसे-
अधा हि+अग्ने। क्रतोर्भद्रस्य। दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य। बृहतो बभूथ॥

अन्तिम चरण छः अक्षरों का है।

पिंगलने इस को गायत्रीका भेद उल्लेख नहीं किया है।

कात्यायन- पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकश्चतुर्थ-चतुष्को वा पदपंक्तिः ॥

पंचकाः पंच षड्वाऽन्त्यः, पदपंक्तिर्हि सा भुरिक्।
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च, षड्कश्चैकस्त्रिपंचकाः ॥
(शौनकीये ऋक् प्रातिशाख्ये ६।१५)

(१) पांच पांच के पांच पाद (२) वा अन्तिम पाद ६ का। (३) एक पाद ४ का, एक पाद ६ का, शेष तीन पाद ५।५ के हों तो भी 'पदपङ्क्ति' होती है।]

१२. चतुष्को वा चतुर्थः स्यात् तत्रोदाहरणं त्विदम्।
अग्ने तमद्याश्वमिति चतुष्को हि हृदि स्पृशम्॥

यदि चतुर्थ चरण ४ अक्षर का हो, तो वह भी 'पदपंक्ति' गायत्रीही होती है। जैसे-

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि-स्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥ (ऋ० ४।१०।१)

[इसके पाद ऐसे होंगे- अग्ने तमद्य। अश्वं न स्तोमैः। क्रतुं न भद्रं। हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥

इस ऋचामें 'हृदिस्पृशम्' यह चतुर्थ चरण ४ अक्षरोंका है। पाचवां पाद पूर्ववत् ६ अक्षरों का ही है।
(५+५+५+४+६=२५)

१४. पदपंक्तिं तु पठति पंक्तिष्वेव पतञ्जलिः।
कात्यायनस्य गायत्री पदपंक्तिरिति स्थितिः॥

पतञ्जलि (पिंगलाचार्य)ने 'पदपंक्ति' छन्दको पंक्ति-छन्दके प्रकरण में ही पढा है। परन्तु कात्यायन ने इसको "गायत्री पदपंक्ति" कहा है।

("पदपंक्तिः पञ्च।" (पिंगलच्छंदःसूत्र। अ० ३।४६)
यदा पञ्चकाः पञ्च पादा भवन्ति तदा पद-पंक्तिर्नाम च्छन्दः। (हला०)

पिंगलाचार्य महर्षि पतंजलिका ही नाम था, "प्राकृत च्छन्दोग्रन्थ" के मंगलाचरण में लिखा है—

जो विविहमत्तसाअरपारं पत्तो वि विमलमइ हेलम्।
पढमं भाषतरम्मो णाओ सो पिङ्गलो जअइ ॥

इसी प्रकार छन्दोवार्तिक टीकाकार चन्द्रशेखरने लिखा है-

यो विविधवर्णमात्राप्रस्तारात् सागरं प्राप्य।
गरुडमवञ्चयदतुलः स हि नागः पिङ्गलो जयति ॥

नाग पिंगल, वा पिंगलनाग छन्दःशास्त्रके प्रथम प्रणेता हैं, 'नाग' वा 'शेष' आदि पंतञ्जलिमुनिके ही नाम प्रसिद्ध हैं॥ कात्यायनका उद्धरण पूर्व लिख आये हैं।)

१५. षट् सप्तैकादशाः पादा उष्णिग्गर्भेति तां विदुः।
सा ता मे अश्व्यानामिति ॥

यदि तीन चरणोंमें क्रमसे ६,७, और ११ अक्षर हों, तो उसे 'उष्णिग्-गर्भा गायत्री' कहते हैं। जैसे-

ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना।
उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा ॥(ऋ०८।२५।२३)

(उष्णिग्गर्भा गायत्री (६+७+११=२४)। मध्यमें उष्णिग् छन्द का एक चरण (७ अक्षरोंका) होनेसे 'उष्णिग्-गर्भा' कहा है। प्रथम चरणमें- "इयादि पूरणः" के अनुसार 'ता मे अश्वियानां' ऐसा पाठ करके व्यूहसे ६ अक्षर सम्पन्न

करने चाहियें। ऋषि दयानन्दने 'ता मे अश्व्यानां०' ऋचाको विना व्यूहके २१ अक्षर गिनकर "आर्ची उष्णिग्" माना है। मं० ८, सू० २५ वां समस्त सूक्त उष्णिक् छन्द ही है। इसलिये उस सूक्त में 'उष्णिग्गर्भा गायत्री' रखना उचित नहीं जाना।]

... ... त्रयश्च यदि सप्तकाः।
१६. सा तु पादनिचृत् प्रोक्ता युवाकु हि शचीति सा॥

यदि तीनों चरण सात अक्षर के हों तो वह पादनिचृत् गायत्री होती है। जैसे—

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।
भूयाम वाजदाव्नाम्। (ऋ० १।१७।४)

[क्वचित् त्रिपाद् ऋषिभिः। सा पादनिचृत्॥
(पिंग० ३।९,१०)

त्रयः सप्तकाः पादनिचृद्। (कात्यायन)
युवाकु हीति गायत्री त्रयः सप्ताक्षरा विराट्।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्येवैकविंशिका॥
(ऋक्प्रातिशाख्य १६।१८)

सात अक्षरों के तीन चरणवाली गायत्री को 'विराट् गायत्री' वा 'पादनिचृद् गायत्री' दोनों नाम हैं। इसीको "त्रिःसप्ताक्षरा गायत्री" भी कहते हैं। प्रत्येक पादमें एक अक्षर न्यून होनेसे 'पादनिचृत्' कहते हैं।]

यदि सप्तकयोर्मध्ये षट्कः सातिनिचृत्स्मृता।
१७. सा पुरूतमं पुरूणां स्त तृणामिति दृश्यते।

सात सात अक्षरों के दो चरणों के बीच में एक चरण छः अक्षरों का हो तो उसे 'अतिनिचृत् गायत्री" कहते हैं। जैसे —

(१) पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते॥ (ऋ० १।५।२॥)

[षट्क-सप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत्।
(पिं० छ० ३।११)

मध्यमः षट्कश्चेदतिनिचृत्। (कात्यायन)
षट्कः सप्तकयोमध्ये स्तोतॄणां विवाचीति।
यस्याः सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विर्दशाक्षरा॥
(शौनक, ऋ० प्रा० १६।१९)

अतिनिचृत् (७+६+७=२०)।

'वरियाणां' व्यूहसे 'आर्च्युष्णिग्' ऋषि दयानन्दके मतसे यह २१ अक्षरकी ऋचा है। इसको व्यूहसे 'पादनिचृत्' गायत्री भी कह सकते थे। माधवभट्टके मतसे व्यूह अपेक्षित नहीं है।)

यदि सप्तकयोर्मध्ये दशकः स्यात् प्रतिष्ठितः।
१८. यवमध्या सा भवति स सुन्वे यो वसूनाम्॥

सात सात अक्षरके दो पदोंके बीचमें यदि दश अक्षरोंका एक चरण हो तो वह 'यवमध्या गायत्री' कहाती है। जैसे—

स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम्।
सोमो यः सुक्षितीनाम्॥(ऋ० ९।१०८।१३)

(दशकश्चेद् यवमध्या (कात्यायन
आद्यान्त्यौ सप्तकौ यस्या मध्ये च दशको भवेत्।
यवमध्या च गायत्री स सुन्व इति दृश्यते॥
(शौनक ऋ० प्राति० १६।२४)

यवमध्या (७+१०+७=२४)

'सुन्वे यो' इत्यादि गायत्री ऋषि दया०)

षट्कसप्तकाष्टकाश्चेद् वर्धमानेति कीर्तिता।
१९. विपरीता प्रतिष्ठेति तत्रोदाहरण शृणु॥
त्वमसि प्रशस्य इति त्वमग्ने व्रतपा असि॥

यदि तीनों चरण क्रमसे ६, ७, ८ अक्षरोंवाले हों तो 'वर्धमाना गायत्री' कहाती है। इससे विपरीत यदि क्रमसे तीनों चरण ५,७,६ अक्षरों वाले हों तो उसका नाम 'प्रतिष्ठा गायत्री' होता है। उदाहरण जैसे—

[१] त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य।
अग्ने रथीरध्वराणाम्॥ (ऋ० ८।११।२)

[२] त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥ (ऋ० ८।११।१)

(षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना। विपरीता प्रतिष्ठा।
(पिंग० ३।१४-१५)

उत्तरोत्तरिणः पादाः षट्सप्ताष्टाविति त्रयः।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति।
(ऋ० प्रा० १६।२१)

अष्टकौ मध्यमः षट्कः एकेषामुपदिश्यते ॥
(ऋ० प्रा० १६।२)

'त्वमग्ने०' व्यूहसे प्रतिष्ठा गायत्री है । तृतीय चरणमें ५ अक्षर हैं । व्यूहसे वहां भी ६ अक्षर लिये जाते हैं । समस्त व्यूह लेनेसे यह 'भूरिग् आर्षी गायत्री' हो जाती है ॥दया०)

२०. षट्कैश्चतुर्भिर्गायत्री पदैस्तु भवति क्वचित् ।
इन्द्रः शचीपतिरिति तत्राहुस्तन्निदर्शनम् ॥

६-६ अक्षरोंके चार चरणोंसे भी कहीं कहीं गायत्री होती है । उदाहरण जैसे-

इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीळितः । (व्रीडितः)
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः ॥

(यह ऋचा वर्तमान शाकल संहितामें नहीं है । शाखान्तरकी प्रतीत होती है । पिङ्गल-छन्दःसूत्रके टीकाकार हलायुधने लिखा है-

आद्यं चतष्पाद् ऋतुभिः । (पिं० छ० ८)
ऋतु-शब्देन लक्षणया षडक्षरः पादोऽभिधीयते । तैः पादैश्चतुष्पादं गायत्रं छन्दो भवति । एवं चतुर्विंशत्यक्षराणि सम्पद्यन्ते । तत्रोदाहरणं ऋग्वेदे- 'इन्द्रः शचीपतिः०' इत्यादि ।
गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा ॥
अष्टाक्षरास्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षडक्षराः ॥
(शौनक-ऋ० प्रा० १६।१४)

इसपर उवटभाष्य में भी उक्त मन्त्रही उदाहरणरूपसे उद्धृत है ।

गायत्री के और भी कुछ भेद हैं जैसे-

द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी । विपरीता वाराही ॥
(पिंगल अ० ३।१२-१३)

नागी गायत्री (९+९+६=२४) जैसे-
अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः० । (ऋ० ४।१०।१)

वाराही गायत्री । (६+९+९ = २४) जैसे-
अग्ने मृड महाँ असि० (ऋ० ४।९।१)

तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्र्याभ्याम् । त्रिपात्त्रैष्टुभैः ।
(पिंगल । अ० सू० १६-१९)

द्विपाद् विराड् गायत्री (१२+८=२०) जैसे-
नृभिर्येमानो हर्षन्यो० (ऋ० ९।१०७।१६॥)

त्रिपाद् विराड् गायत्री (११+११+११=३३) जैसे मंत्र-ब्राह्मणमें-

(१) पूर्णहोमं यशसे जुहोमि योऽस्मै जुहोति वरमस्मै ददाति । वरं वृणे यशसा भामि लोके ॥

[२] दुहीयन् मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै । इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै ॥
(ऋ० १।१२०।९)]

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

वयमु त्वामपूर्व्येति व्याचिख्यासति माधवः ।
उष्णिगादिषु वक्तव्यमादावेव प्रदर्शयन् ॥

'वयमु त्वामपूर्व्य०' (ऋ० अष्टक ९।३०।२॥ मण्डल ८।२१।१)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या के पूर्व उष्णिग् आदि छन्दों के सम्बन्ध में माधवभट्ट प्रवचन करते हैं ।

१. पादे द्वितीये ककुभोऽपि वृद्धिं
पुरोऽपि वृद्धिं प्रवदन्ति युक्ताः ।
छन्दःसु तेनोष्णिगभूद् द्वितीया
तस्याष्टकौ द्वादशकश्च पादाः ॥

ककुप् छन्दके द्वितीय पादमें और पूर्वके पादोंमें भी विद्वान् अक्षरों की वृद्धिका उपदेश करते हैं । इस कारण छन्दों में 'उष्णिग्' छन्द द्वितीय है । इसके दो पाद आठ अक्षरोंके और एक पाद १२ अक्षरोंका होता है (८+८+१२ =२८) (उष्णिग्गायत्रौ जागतं च । पिं० अ० ३-१७)

२. पादो यदा द्वादशकः पुरस्तात्
तदा भवेत् सा पुरउष्णिगाख्या ।

अप्स्वन्तरेतां प्रवदन्ति तां च
ककुप् प्र सो अग्न इतीरितार्यैः ॥

जब १२ अक्षरोंका (जागत) पाद प्रारम्भ में हो, तो उसे 'पुर उष्णिग्' कहते हैं (१२+८+८=२८)। जैसे-

(१) अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥ (ऋ० १।२३।१९)

यदि १२ अक्षरों (जागत) का पाद बीच में हो तो उष्णिक् को ही 'ककुप्' कहते हैं (८+१२+८=२८) जैसे-

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाज-
भर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमावरः ॥
(ऋ० ८।१९।३०)

(उष्णिग् गायत्रौ जागतं च ॥ ककुम्मध्ये चेदन्त्यः ॥ पुरउष्णिक् पुरतः ॥ परोष्णिक् परतः ॥ चतुष्पाद् ऋषिभिः ॥ (पिंगल० अ० ३। सू०१८-२२)

३. पादो यदैकादशकः पुरस्तान्
मध्ये भवेज्जागत पाद एकः।
सा स्यात् ककुम्न्यङ्कुशिरा तृतीयः
पादो भवेन्नूनमथेति तस्याः ॥

प्रथम पाद ११ अक्षरोंका हो, बीचमें १२ अक्षरों का (जागत) पाद हो, तृतीय पाद छोटा (४ अक्षरोंका) हो तो वह 'ककुम्न्यंकुशिरा उष्णिग्' कहाती है । जैसे-

दुदी रेक्णस्तन्वे दुदिर्वसु दुदिर्वाजेषु पुरुहूत
वाजिनम् । नूनमथ ॥ (ऋ० ८।४६।१५)

(न्यंकुशिरा उष्णिग् (११+१२+४=२७)

व्यूह से उक्त ऋचाके २७ अक्षर होते हैं, विना व्यूहके २६ अक्षर होनेसे 'विराट् गायत्री' होती है (दया०)।

त्रैष्टुभजागतचतुष्का न्यङ्कुशिराः। (कात्यायन)
पिंगलने यह भेद नहीं दर्शाया है ।

ददी रेकण इति त्वेषा ककुम्न्यंकुशिरा निचृत् ।
एकादशोऽस्याः प्रथम उत्तरश्चतुरक्षरः ॥
(ऋ० प्रा० १६।३०)

४. पादौ यदैकादशिनौ पुरस्तात्
प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे ।
षट्को भवेत्तस्य शिरस्तृतीयो
वदन्ति विप्रास्तनुशीर्षनाम्नीम् ॥

प्रथम के दो चरण ११ अक्षरों के (त्रैष्टुभ) हों और तृतीय शिर अर्थात् चरण ६ अक्षरोंका हो, तो उसे विद्वान् लोग 'तनुशीर्ष उष्णिग्' नामसे कहते हैं । जैसे-

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे
यया वाचा यजति पज्रियो वाम् ।
प्रैषयुर्न विद्वान् ॥ (ऋ० १।१२०।५)

(तनुशिरा उष्णिग्=(११+११+६=२८)
ताभ्यां (एकादशाक्षराभ्यां) परः षडक्षरः
'प्र या०' तनुशिरोनाम ॥ (ऋ० प्रा० १६।३३)
एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिराः कात्यायनः।
(अ० ५)

५. हरी यस्य सुयुजा वि व्रता वे-
रस्या मध्ये षट्कपादो निविष्टः ।
पिपीलिकापूर्वकमध्यशब्दं
समस्तमस्याः प्रवदन्ति संज्ञाम् ॥

मध्य में यदि ६ अक्षरोंवाला पाद रखा हो, उसको ''पिपिलीकामध्या उष्णिग्'' (११+६+११=२८) कहते हैं। जैसे—

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा ।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ॥
(ऋ० १०।१०५।२)

[एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैकः षडक्षरः ।
उष्णिक् पिपीलिकमध्या हरी यस्येति दृश्यते ॥
(ऋ० प्रा० १६।३१)

एकादशिनः परः षट्कस्तनुमध्या ॥ मध्यमश्चेत् पिपिलीकामध्या ॥ (कात्यायन)
'हरी यस्य०' आर्ची स्वराड् अनुष्टुप् ॥ (अजमेर ऋक्संहिता) ॥ तच्चिन्त्यम् ॥ आर्ची स्वराड् अनुष्टुप् २६ अक्षर॥ 'हरी यस्य०' में २८ अक्षर हैं।)

६. त्र्योष्टकाः पञ्चक आद्य एकः
सा पितुन्नुस्तोषमनुष्टुब्गर्भा।
नदं व इत्युष्णिगियं चतुर्भिः
पदैरुपेताक्षरसप्तसंख्यैः॥

तीन पाद आठ आठ अक्षरोंके और आदिका एक पाद पांच अक्षरों का हो, तो वह 'अनुष्टुब्गर्भा उष्णिग्' कहाती है। जैसे—

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वं मर्दयत्॥
(ऋ० १।१८७।१)

सात अक्षरोंके चार चरणों की भी 'उष्णिक्' ही कहाती है। जैसे—

नदं व ओदतीनां नदंयोयुवतीनाम्।
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि॥
(ऋ० ८।६९।२)

[अनुष्टुब्-गर्भा उष्णिक्= (५+८+८+८=२९) 'पितुं नु स्तोषं०' ऋचामें 'व्योजसा' में व्यूह से आठ अक्षर होते हैं। व्यूह न करें तो २८ अक्षर हैं, अक्षर-गणनासे शुद्ध 'उष्णिग्' हैं। २८ अक्षरोंमेंही अनुष्टुप् के ८ अक्षरों के चरण होनेसे अनुष्टुप्गर्भा भेद है। यह भेद कात्यायन और प्रातिशाख्यमें दर्शाया है।

आद्यः पंचाक्षरः पाद उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः।
अनुष्टुब्गर्भे षोष्णिक् साऽगस्त्येऽस्ति पितुं न्विति॥
(ऋ० प्रा० १६.३३)

आद्यः पञ्चकस्त्रयोऽष्टका इत्यनुष्टुब्गर्भा।
चतुष्पदा उष्णिग् = (७+७+७+७=२८)
चतुष्पाद् ऋषिभिः- (पिंगल ३, २२) चतुःसप्तकोष्णिनेव॥ (कात्या० यजु० सर्वानुक्रम० । अ० ५]

अत्र शाट्यायनकम्।
सा ककुबब्रवीत् बलिष्ठावाऽहमस्मि। पराक्रममाणः खलु मेऽक्षराणि समौहीत्। पूर्वं मा प्रयुञ्जताम्। इति। अथोष्णिग् अब्रवीत्। अथ मां पूर्वमाचक्षन्ताम्। इति। तथेति तस्मिन्त्समपाद्येताम्। पूर्वप्रयोगमन्यावृणीत। पूर्वाख्यानमन्या च। तस्मादेने एवं प्रयुञ्जीत। तस्मादुष्णिक् ककुभावित्याख्यायेते इति॥
(जैमिनिब्राह्मणे)

इस सम्बन्ध में शाट्यायन ब्राह्मणका वचन है कि– 'ककुप्' बोली मैं सबसे अधिक बलवती हूं। पराक्रमी पुरुष ही मेरे अक्षरों को एकत्र करता है, इसलिये प्रथम मेरा प्रयोग करना चाहिये। उष्णिग् बोली, मेरा पूर्व पाठ होना चाहिये। इसी प्रकार उस यज्ञमें उन दोनोंका प्रयोग किया गया। एकने पूर्वप्रयोग वरण किया था, दूसरी ने पूर्व आख्यान वरण किया, इसलिये ककुप् और उष्णिक् इन दोनोंको इसी प्रकार प्रयोग करना चाहिये। इससे उनको 'उष्णिक् - ककुप्' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उष्णिक् को पूर्व रखा जाता है,

इत्युष्णिक्प्रकरणम्।

अथानुष्टुप्-प्रकरणम्।

७. चतुष्पदाऽनुष्टब् अथो यदा स्युः
पदानि पञ्चापि च पञ्चकानि।
महापदाद्यां प्रवदन्ति पंक्तिं
षट्कं च रोचत उपाके पदम्॥

अनुष्टुब् छन्द के चार चरण होते हैं, परन्तु अब अनुष्टुप् (३२ अक्षर के छन्द) में पांच पद पांच पांच अक्षरोंके हों और छठा ६ अक्षरोंका हो, जैसे 'रोचक उपाके' उसे 'महापदपंक्ति अनुष्टुप्' कहते हैं। जैसे–

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः। श्रिये रुक्मो न रोचन्त उपाके॥ (ऋ० ४।१०।५)

[अनुष्टुप् = (८+८+८+८ = ३२)
महापदपंक्ति अनुष्टुप् = (५+५+५+५+५+६=३१)
इस ऋचा में द्वितीय चरणमें व्यूह से ५ अक्षर हैं। अक्षर-मात्रागणना से स्वराड् उष्णिक् (३०अक्षर)। (दया०)

षण्महापदपंक्तिस्तु षट्कोऽन्त्यः पंच पंचकाः॥
तव स्वादिष्ठा (ऋ० प्रा० १६।४०)
पञ्चपञ्चका षट्कश्चैको महापदपंक्तिः,
(कात्यायनः)

मन्त्रस्थ शब्दोंका अर्थ ।

१. तमस् = अन्धकार, अज्ञान ।
२. आदित्यवर्ण= सूर्यके सदृश तेजस्वी ।
३. वेद= जानता हूं ।
४. अयनं= गति, उच्च स्थिति ।

(अहं वेद) I know (एतं) this (महान्तं पुरुषं) mighty Supreme Being, (आदित्यवर्णं) whose colour is like that of the sun, (तमसः परस्तात्) and who is beyond the reach of darkness. He who (तं एव विदित्वा) knows Him, (मृत्युं अति एति) leaves death behind him. (अन्यः पन्थाः न विद्यते) There is no other path than this (अयनाय) to travel upwards.

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

पदानि— प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अजायमानः । बहुधा । वि । जायते । तस्य । योनिम् । परि । पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् । ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥१९॥

अन्वयः— प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति । अजायमानः बहुधा विजायते । धीराः तस्य योनिं परि पश्यन्ति । तास्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥१९॥

अर्थ— (प्रजा-पतिः) प्रजाओंका पालन करनेवाला परमात्मा (गर्भे अन्तः) गर्भ के अन्दर (चरति) संचार करता है। अर्थात् (अ-जायमानः) वह परमात्मा कभी जन्म न लेनेवाला होता हुआ भी (बहु-धा) अनेक प्रकार की योनियोंमें (वि-जायते) विशेष प्रकारों से जन्मता है । (धीराः) ज्ञानी जनही (तस्य योनिं) उसके उत्पत्तिस्थानको (परि पश्यन्ति) देखते हैं । (तस्मिन्) उसीमें (ह) निश्चयसे (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (तस्थौ) ठहरे हैं ॥१९॥

भावार्थ— परमात्मा विविध योनियोंमें जन्म लेता है। वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी विशेष रीतियों से अनेक योनियों में उत्पन्न होता है । [इसी रीतिसे उससे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि मानव, सब प्रकारके पशुपक्षी, उत्पन्न होते हैं, ऐसा मंत्र ८-१२ तक इसी पुरुषसूक्तमें कहा है ।] इस विशेष प्रकारकी उत्पत्तिको और उसकी शक्तिको बुद्धिमान् लोग जानते हैं । अज्ञ लोग उसके इस शक्ति को जान नहीं सकते । इसी परमात्मामें सब भुवन ठहरे हैं। अर्थात् इसके एक अंशसे उत्पन्न होकर उसीमें आश्रित होकर रहे हैं ॥१९॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. प्रजापतिः = प्रजा-पालन करनेवाला, परमात्मा, परमेश्वर ।
२. गर्भ = गर्भ, स्त्री का गर्भाशय, जहां गर्भ रहता है ।
३. अजायमान = अजन्मा, न जन्मनेवाला ।
४. विजायते= विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है, विशेष युक्तिसे जन्म लेता है।
५. योनि = उत्पत्तिस्थान, मूलस्थान ।
६. धीर = बुद्धिमान् । ज्ञानी ।
७. भुवन = लोकलोकान्तर, विश्व ।

(गर्भे अन्तः) In the womb (चरति) moves (प्रजापतिः) the Protector of the universe, (अजायमानः) He who is never being born, (विजायते) is born (बहुधा) in many forms; (धीराः) the wise only (परिपश्यन्ति) see (तस्य योनिं) His womb. (तस्मिन्) In Him alone (तस्थुः) stand (विश्वा भुवनानि) all existing creatures & the worlds.

यो दे॒वेभ्य॑ आ॒तप॑ति॒ यो दे॒वानां॑ पु॒रोहि॑तः। पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॑ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये ॥२०॥

पदानि– यः। दे॒वेभ्यः॑। आ॒त॒प॒तीत्या॑ऽत॒पति॑। यः। दे॒वाना॑म्। पु॒रोहि॑त॒ऽइति॑ पु॒रःऽहि॑तः। पूर्वः॑। यः। दे॒वेभ्यः॑। जा॒तः। नमः॑। रु॒चाय॑। ब्राह्म॑ये ॥२०॥

अन्वयः– यः दे॒वेभ्यः आ तपति, यः दे॒वानां पुरोहितः, यः दे॒वेभ्यः जातः, रुचाय ब्राह्मये नमः ॥२०॥

अर्थ-- (यः) जो (देवेभ्यः) देवोंके लिये (आ तपति) तपता है, प्रकाशता है, (यः) जो (देवानां) देवोंका (पुरोहितः) अगुआ है, अग्रगामी है; (यः) जो (देवेभ्यः पूर्वः जातः) देवोंके पहिले से हि प्रकट है, उस (रुचाय ब्राह्मये नमः) प्रकाशमय ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न हुए विश्वात्माके लिये हमारा प्रणाम है ॥२०॥

भावार्थ— जो प्रकाशनेसेहि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देव प्रकाशित होते हैं, जो सूर्यादि देवताओं का सब प्रकारसे हित करनेवाला नेता अथवा संचालक है, जो सूर्यादि देवोंके पूर्वसेहि विराजमान था, उस ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न हुए विश्वात्माके लिये हम प्रणाम करते हैं ॥२०॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. देवः= सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवतागण।
२. पुरोहित= अग्रगामी, नेता, चालक, पूर्ण हित करनेवाला, पुरोहित।
३. रुच= प्रकाश से पूर्ण, तेजस्वी।
४. ब्राह्मिः= ब्रह्मसे उत्पन्न। ब्रह्मके अंश से जो उत्पन्न हुआ।

(यः) He who (आतपति) gives light and heat to (देवेभ्यः) all the deities, (यः देवानां पुरोहितः) Who is the foremost leader of all the deities, (यः) He who (देवेभ्यः पूर्वः जातः) was born even before all the deities, to Him, (रुचाय) the Light, (ब्राह्मये) born of Brahman, (नमः) we revere.

रु॒चं ब्रा॒ह्मं ज॒नय॑न्तो दे॒वा अग्रे॒ तद॑ब्रुवन्। यस्त्वै॒वं ब्रा॑ह्म॒णो वि॒द्यात्तस्य॑ दे॒वा अ॑स॒न्वशे॑ ॥२१॥

पदानि– रु॒चम्। ब्रा॒ह्मम्। ज॒नय॑न्तः। दे॒वाः। अग्रे॑। तत्। अ॒ब्रु॒व॒न्। यः। त्वा। ए॒वम्। ब्रा॒ह्म॒णः। वि॒द्यात्। तस्य॑। दे॒वाः। अ॒स॒न्। वशे॑ ॥२१॥

अन्वयः– अग्रे ब्राह्मं रुचं जनयन्तः दे॒वाः तत् अब्रुवन्। यः ब्राह्मणः त्वा एवं विद्यात्। तस्य वशे दे॒वाः असन् ॥२१॥

अर्थ-- (अग्रे) प्रारंभमें (ब्राह्मं रुचं) ब्रह्मसे उत्पन्न हुए प्रकाशको (जनयन्तः देवाः) प्रकट करनेवाले देव (तत् अब्रुवन्) ऐसी घोषणा करते रहे कि (यः ब्राह्मणः) जो ज्ञानी (त्वा एवं विद्यात्) तुझ परमात्मा को ऐसा विश्वरूपमें प्रकट हुआ जानेगा, (तस्य वशे) उसके वशमें (देवाः असन्) सब देव रहेंगे ॥२१॥

भावार्थ— ब्रह्मसे उत्पन्न हुए प्रकाश को अपने अन्दर लेकर जिन देवताओंने विश्वको प्रकाशित किया, उन्होंने निःसन्देह रीतिसे ऐसी घोषणा करके सबको कहा कि, '**जिस को परब्रह्म का एक अंश इस तरह विश्व के रूप में प्रकट हुआ है, इसका यथावत् ज्ञान होगा, उसीके वशमें सब देवताएं रहेंगी।**' अर्थात् उस ज्ञानीके आधीन रहकर सब देवतागण कार्य करेंगे, ऐसा सामर्थ्य उस ज्ञानी को प्राप्त होगा।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. ब्राह्म= ब्रह्म से उत्पन्न, परमात्मा से प्राप्त।
२. जनयन्= उत्पन्न करनेवाले।
३. ब्राह्मणः= ब्रह्मका यथावत् ज्ञान जिसको है, ऐसा ज्ञानी।
४. वशे= आधीन, वशमें।

(तत् अब्रुवन्) Thus spake (देवाः) the deities (अग्रे) at first, (रुचं जनयन्तः) as They spread the light (ब्राह्मं) taken from the Holy one, Brahman: "(ब्राह्मणः) the sage (यः विद्यात्) who may know (त्वा) Thee (एव) thus (असन्) shall have (देवाः) the deities (तस्य वशे) in his control."

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म् । इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ इषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण ॥२२॥

पदानि— श्रीः । च॒ । ते॒ । ल॒क्ष्मीः । च । पत्न्यौ॑ । अ॒हो॒रा॒त्रेऽइत्य॑होरा॒त्रे । पा॒र्श्वे इति पा॒र्श्वे । नक्ष॑त्राणि । रू॒पम् । अ॒श्विनौ॑ । व्या॒त्तमिति॑ विऽआत्त॑म् । इ॒ष्णन् । इ॒षा॒ण । अ॒मुम् । मे॒ । इ॒षा॒ण । स॒र्व॒लो॒कमिति॑ सर्वऽलो॒कम् । मे॒ । इ॒षा॒ण ॥२२॥

अन्वयः— श्रीः च लक्ष्मीः च ते पत्न्यौ । अहोरात्रे पार्श्वे । नक्षत्राणि रूपम् । अश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन् ! इषाण । अमुं मे इषाण । सर्वलोकं मे इषाण ॥२२॥

अर्थ— हे प्रभो ! श्री और लक्ष्मी ये दो (ते पत्न्यौ) तेरी पत्नियां हैं, (अहोरात्रे) दिन और रात तेरे (पार्श्वे) दोनों ओर हैं, (नक्षत्राणि) ये तारागण (रूपं) तेरे रूपको प्रकट करते हैं, और (अश्विनौ) अश्विनी देव तेरा (व्यात्तं) फैला मुख है। हे (इष्णन्) प्रार्थना करने वाले साधक (इषाण) ऐसी इच्छा कर कि, हे प्रभो (मे अमुं इषाण) मुझे यह चाहिये। (सर्व लोकं मे इषाण) सब लोकों की प्राप्ति मुझे हो जाय ॥२२॥

भावार्थ— श्री और लक्ष्मी ये दो प्रभुकी स्त्रियोंके समान सहचारिणियाँ हैं । दिनरात्र ये सदा पीठ में रहती हैं, सब तारागण प्रभुका प्रकाश फैलाते हैं, द्यु और पृथ्वी ये प्रभुके मुख हैं। यह सर्वव्यापी विश्वरूपी प्रभु सबका उपास्य है, इसको अपने चारों ओर देखो, आगेपीछे दोनों ओर, ऊपरनीचे सर्वत्र उसका साक्षात्कार करो। इसी के स्वरूपमें अपने आपको देखो, जब आप विश्वरूपके साथ अपने आपका अभेद संबंध अनुभव करेंगे, तब विश्वरूप और आपका रूप ये दोनों एक हो जायगे और इसके साथहि आपका मृत्युभय हट जायगा। क्योंकि विश्वरूपके साथ आप परमात्माके रूप में संमिलित होंगे। जो कुछ करना है, वह इस निजभाव की स्थिरता ही करना है। सर्वलोकप्राप्ति इसीका नाम है, यही अन्तकी इच्छा इस समय रहेगी।

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. श्रीः = शोभा, ऐश्वर्य।
२. लक्ष्मीः = संपदा, धन।
३. व्यात्तं = खुला हुआ।
४. इष्णन् = इच्छा करनेवाला।
५. इषाण = इच्छा करो।

(श्रीः) Beauty & (लक्ष्मीः) fortune (ते पत्नीः) are Thy wives, (पार्श्वे) each side of Thee (अहोरात्रे) are day and night. (नक्षत्राणि) The constellations are (रूपं) Thy beautiful form; (अश्विनौ) the earth & sky are Thine (व्यात्तं) open jaws. O (इष्णन्) wishing fortune! (इषाण) wish (अमुं मे) 'yonder world for me,' (इषाण) wish (सर्व लोकं मे) 'that the Universe be mine.'



उच्छिष्ट-ब्रह्मसूक्तम् ।

(अथर्व० ११।७।१)

अथर्वा । अध्यात्मं, उच्छिष्टः । अनुष्टुप्, ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्याबृहती।

उच्छि॑ष्टे॒ नाम॒ रू॒पं चोच्छि॑ष्टे लो॒क आहि॑तः । उच्छि॑ष्ट॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ विश्व॑मन्तः स॒माहि॑तम् ॥१॥

पदानि– उत्ऽशिष्टे। नाम। रूपम्। च। उत्ऽशिष्टे। लोकः। आऽहितः। उत्ऽशिष्टे। इन्द्रः। च। अग्निः। च। विश्वम्। अन्तः। सम्ऽआहितम् ॥१॥

अन्वयः- उच्छिष्टे नाम च रूपं च। उच्छिष्टे लोकः आहितः। उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च। उच्छिष्टे अन्तः विश्वं समाहितम्॥१॥

अर्थ-- [उच्छिष्टे] (उत्) ऊपर (शिष्टे) अवशिष्ट रहे हुए परब्रह्ममें नाम और रूप रहा है। सब सूर्यादि (लोकः) लोकलोकान्तर उसी उच्छिष्ट में (आहितः) आश्रय पाये हैं। इन्द्र और अग्नि उच्छिष्टमें रहे हैं और सब विश्व उसी उच्छिष्टके अन्दर स्थिर हुआ है ॥१॥

भावार्थ-- नाम रूप, सब लोकलोकांतर, इन्द्र अग्नि आदि देवतागण, तथा संपूर्ण विश्व उसीके आश्रयसे स्थिर हैं, जो ऊपर ऊर्ध्व भागमें सब विश्व निर्माण करनेके बाद अपने निज स्वरूपमें अवशिष्ट रहा है ॥१॥

(उत्) ऊपर (शिष्ट) अवशिष्ट, बचा हुआ जो परमात्मा है, उसका नाम उच्छिष्ट है। पुरुषसूक्तमें कहा है कि एक अंशसे सब विश्व बना और शेष तीन भाग ऊपर द्युलोक में अवशिष्ट रहा है (पुरुषसूक्त, ऋ० १०।९०।३-४)। यह त्रिपाद् जो ऊपर (ऊर्ध्वः) अवशिष्ट है, उसका नाम है (उत्+शिष्ट) उच्छिष्ट। पुरुषसूक्तके समझनेपर इस सूक्तका विषय समझमें आ सकता है। सब विश्वके निर्माण होनेपर, अपने एक अंशसे संपूर्ण विश्वका निर्माण करके, जो अवशिष्ट रहा है, वह उच्छिष्ट परमात्मा या परब्रह्म है। अर्थात् इसीके आश्रयसे सब विश्व है, सब लोक हैं, सब देवता हैं, सब नामरूप भी इसी आश्रय से हैं, यह सब स्पष्ट ही है। परमात्मा के चार भाग माने गये हैं, एक भागसे सब विश्व हुआ और शेष तीन भाग ऊपर रहे हैं। इस ऊपर रहे तीन भागोंका आधार एक अंशसे उत्पन्न हुए विश्वके लिये है।

(उच्छिष्टे) In the Remnant are set (नाम रूपं च) name and form, (उच्छिष्टे) in the Remnant (आहितः) is set (लोकः) the world; (उच्छिष्टे) within the Remnant both (इंद्रः अग्निः च) Indra and Agni are set and (विश्वं) everything also (समाहितं) is set (अन्तः) in It.

[The Remnant is that which we get after subtracting the universe- all the forms of the world of phenomena-all the manifestations of the Supreme Soul- from the Original One Supreme Being.]

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥

पदानि– उत्ऽशिष्टे। द्यावापृथिवी इति। विश्वम्। भूतम्। सम्ऽआहितम्। आपः। समुद्रः। उत्ऽशिष्टे। चन्द्रमाः। वातः। आऽहितः ॥२॥

अर्थ– (उच्छिष्टे) ऊपर अवशिष्ट रहे परब्रह्म में (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोक तथा (विश्वं भूतं) सब बना हुआ पदार्थमात्र (समाहितं) सुस्थिर हुआ है। इसी (उच्छिष्टे) अवशिष्ट परब्रह्ममें (आपः समुद्रः) जल और महासागर (चन्द्रमा वातः) चन्द्रमा और वायु (आहितः) स्थिर रहा है ॥२॥

भावार्थ— परमात्माके आश्रयसे सब विश्व रहता है ॥२॥

(उच्छिष्टे) In the Remnant (द्यावापृथिवी) heaven and earth, (विश्वं भूतं) all existence (समाहितं) is set together; (उच्छिष्टे) in the Remnant (आपः) the waters, (समुद्रः) the ocean, (चन्द्रमाः) the moon, (वातः) the wind (आहितः) is set.

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥३॥

पदानि- सन् । उत्ऽशिष्टे । च । उभौ । मृत्युः । वाजः । प्रजाऽपंतिः । लौक्याः । उत्ऽशिष्टे । आऽयंत्ताः । व्रः । च । द्रः । च । अपि । श्रीः । मयि ॥३॥

अर्थ— (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परब्रह्म में (सन् असन् च) सत् और असत् ये (उभौ) दोनों तथा (मृत्युः) मृत्यु, (वाजः) बल और (प्रजापति) प्रजाओंका पालनकर्ता रहे हैं । (उच्छिष्टे) उसी ऊर्ध्व अवशिष्ट ब्रह्ममें (लौक्याः आयत्ताः) इन लोकलोकांतरसंबंधी सब वस्तुमात्र स्थिर रहा है, (व्रः च) स्वीकार करना और (द्रः च) विदारण करना, ये भी भाव उसीमें हैं, तथा (मयि श्रीः अपि) मुझमें जो शोभा है, वह भी उसीसे है ॥३॥

(उच्छिष्टे) In the Remnant are (उभौ) both (सन्) being and (असन् च) non-being, as well as (मृत्युः) death, (वाजः) Vigour, (प्रजापतिः) and the protector of subjects. (लौक्याः) The worldly ones (आयत्ताः) are supported (उच्छिष्टे) in the Remnant, both (व्रः च) choosing and (द्रः च) destroying, and also (श्रीः) fortune (मयि) in me are set in It.

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश । नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥

पदानि- दृढः । दृंहस्थिरः । न्यः । ब्रह्म । विश्वऽसृजः । दश । नाभिम् इव । सर्वतः । चक्रम् । उत्ऽशिष्टे । देवताः । श्रिताः ॥४॥

अर्थ-- (दृढः) सुदृढ और (दृंहस्थिरः) सुस्थिर रहा हुआ (न्यः= नेता) नेता, (ब्रह्म) ज्ञान, और (विश्वसृजः दश देवताः) विश्वकी उत्पत्ति करनेवाले दश देवता ये सब (उच्छिष्टे श्रिताः) ऊर्ध्व अवशिष्ट परब्रह्म के आश्रय से रहते हैं, (नाभिं सर्वतः चक्रं इव) नाभिके चारों ओर जैसा चक्र रहता है ॥४॥

(दृढः) The firm, (दृंहस्थिरः) fast & strong, (न्यः) leader, (ब्रह्म) the Knowledge and (विश्वसृजः) all- creating (दश) ten (देवताः) deities (उच्छिष्टे श्रिताः) are fixed in the Remnant (चक्रं इव) as a wheel (नाभिं सर्वतः) about the nave.

इस मन्त्रमें **'विश्वसृजः दश देवताः'** विश्वकी रचना करनेवाले दस देवताओं का उल्लेख है । इसका मनन करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभागोंका विचार साथ साथ करना उचित है । (१) **भूत-कृतः ऋषयः** । अथर्व० ६।१०८।४; (२) **पूर्वे भूतकृत ऋषयः** । अथर्व ६।१३३।५; १२।१।३९ **ऋषीणां भूतकृतां** । अथर्व० ६।१३३।४; **सप्त ऋषयो भूतकृतः** । अथर्व० ११।१।३;२४; **भूतकृतो विश्वरूपाः** । अथर्व० ३।२८।१; **भूतकृतः** । अथर्व० ४।३५।२; **भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु** । अथर्व० १९।१६।२; इनमें विश्वकी रचना करनेवाले ऋषि और देवताओं का वर्णन है । दस देवोंका उल्लेख निम्न लिखित मन्त्रोंमें है—

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
(अथर्व० ११।८)

'आदिकालमें देवोंसे दस देव हुए थे, उन पुत्रोंको-उन दस देवों को-स्थान देकर वे किस लोकमें रहने लगे ? इन दस देवोंका नाम (**संसिचः**) सबको सम्यक् पवित्र करनेवाले ऐसा है । इन्होंने सब मरणधर्मवाले को सिंचन करके पवित्र किया और वे देव पुरुष में प्रविष्ट हुए ।'

इस तरह दस देवोंका वर्णन अथर्ववेदमें है । ये दस देव विश्व की रचना करनेवाले हैं । तथा—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥
(अथर्व० ११।८।३)

"पूर्वकालमें देवों से दस देव साथ साथ उत्पन्न हुए । जो इनको प्रत्यक्ष जानेगा, वही उस (**महत्**) बडे ब्रह्म के विषय में कहेगा ।"

इतना कहकर दस देवों की गिनती अगले मन्त्र में की है-

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥
(अथर्व० ११।८।४)

'प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक् और मन ये दस देव हैं ।' जो मानवशरीरमें आ कर बसे हैं । इनके ही पितृरूप देव विश्वमें हैं, वायु, सूर्य, दिक्, अग्नि, इन्द्र, चन्द्र आदि उनके नाम हैं ।

इन मन्त्रों तथा इस तरह के अन्यान्य मन्त्रों का विचार यहां करना उचित है । ये सब देवतागण परमात्माके आश्रय से रहे हैं, यह तात्पर्य यहां समझना चाहिये ।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् । हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥

पदानि– ऋक् । साम । यजुः । उत्ऽशिष्टे । उत्ऽगीथः । प्रऽस्तुतम् । स्तुतम् । हिङ्ऽकारः । उत्ऽशिष्टे । स्वरः । साम्नः । मेडिः । च । तत् । मयि ॥५॥

अर्थ--(ऋक् साम यजुः) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, तथा साम के (उद्गीथः) उच्च स्वर के गान, (प्रस्तुतं स्तुतं) प्रस्तोता के स्तवनके मन्त्र, स्तुतिके मन्त्र, यह सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परब्रह्ममें है । इसी तरह (हिंकारः) हिंकार (साम्नः स्वरः) साम का स्वरमण्डल तथा (मयि मेडिः च तत्) मुझमें जो आलापशक्ति है, वह सब (उच्छिष्टे) अवशिष्ट परमात्मामें ही है ॥५॥

(ऋक्) The Verse, (साम) the chant, (यजुः) the formula are (उच्छिष्टे) in the Remnant, also (उद्गीथः) the song, (प्रस्तुतं) introductory praise, (स्तुतं) praise, (हिंकारः) the sound 'Hing' is (उच्छिष्टे) in the Remnant, (स्वरः) the tone, (मेडिः) the ring (साम्नः) of the Sama chant (तत्) that is (मयि) in me is also in It.

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् । उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

पदानि– ऐन्द्राग्नम् । पावमानम् । महाऽनाम्नीः । महाऽव्रतम् । उत्ऽशिष्टे । यज्ञस्य । अङ्गानि । अन्तः । गर्भःऽइव । मातरि ॥६॥

अर्थ— (ऐन्द्राग्नं) इन्द्र और अग्नि के मन्त्र, (पावमानं) पवमान सोमके मन्त्र, (महानाम्नी = महाव्रतं) महानाम्नी नामक साममन्त्र, और महाव्रत करके जो सत्र नामक यज्ञ का भाग है वह, (यज्ञस्य अंगानि) यज्ञ के सब अंग यह सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परमात्मामें रहे हैं, (मातरि अन्तः गर्भ इव) जैसा माता के अन्दर गर्भ रहता है ॥६॥

(ऐन्द्राग्नं) That relating to Indra and Agni, (पावमानं) that relating to purifying Soma, (महानाम्नी) the great named Samans, (महाव्रतं) the great ceremony, are all (उच्छिष्टे) within the Remnant as (अंगानि) the members of the (यज्ञस्य) sacrifice, (गर्भ इव) like an embryo (मातरि अन्तः) within a mother.

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥

पदानि– राजऽसूयम् । वाजऽपेयम् । अग्निऽस्तोमः । तत् । अध्वरः । अर्कऽअश्वमेधौ । उत्ऽशिष्टे । जीवऽबर्हिः । मदिन्ऽतमः ॥७॥

अर्थ-- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, (तत् अध्वरः) वह हिंसारहित यज्ञ, (अर्क-अश्वमेधौ) अर्क और अश्वमेध, (मदिन्तमः) आनन्द बढानेवाली (जीव-बर्हिः) जीवन देनेवाली औषधिविशेष ये

सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहे परब्रह्ममें रहते हैं ।

राजसूयः = (राजा सूयते यस्मिन्) जिस यज्ञमें राजा निर्माण किया जाता है। यह क्षत्रिय का यज्ञ है।

वाजपेयः = (स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य यज्ञः। तं वा एतं वाजपेयमित्याहुः) = यह वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण और क्षत्रिय का है।

अग्निष्टोमः= (अग्नि-स्तोम) अग्नि-प्रशंसारूप महायज्ञ।

अध्वरः= (अ-ध्वरः) जहां हिंसा, कुटिलता, छलकपट नहीं है।

अर्कः= (अग्निः) = अर्क संज्ञक यज्ञ।

अश्वमेधः= राष्ट्र-साम्राज्य-संरक्षण और संवर्धन जिसे होता है, ऐसा यज्ञ।

मदिन्तमः= तृप्तिकर, आनन्द देनेवाला सोमयाग।

जीवबर्हिः= जीवनवर्धक औषधि-प्रयोगसे होनेवाला यज्ञ।

(राजसूयः) Royal consecration, (वाज-पेयः) Vigour-giving food and Drink, (अग्निष्टोमः) praise of fire, (अध्वरः) sacrifice without killing, (अर्क अश्वमेधौ) fire, sun & horse-sacrifice, (जीवबर्हिः, living grass, (मदिन्तमः) the most delighting sacrifice are all (उच्छिष्टे) in the Remnant.

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह। उत्सन्ना यज्ञाः सत्त्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥८॥

पदानि— अग्निऽआधेयम् । अथो इति । दीक्षा। कामऽप्रः । छन्दसा । सह। उत्ऽसन्नाः। यज्ञाः। सत्त्राणि । उत्ऽशिष्टे । अधि । समऽआहिताः ॥८॥

अर्थ-- (अग्न्याधेयं) अग्न्याधान, (अथो दीक्षा) और यज्ञ की दीक्षा, (छन्दसा सह कामप्रः) मन्त्रों के साथ होनेवाला, कामना पूर्ण करनेवाला यज्ञ, (उत्सन्नाः यज्ञाः) प्रचार में जो यज्ञ नहीं हैं अथवा जो ऊंचा उठानेवाले यज्ञ हैं वैसे यज्ञ (सत्राणि) विविध प्रकार के सत्रयज्ञ, ये सब (उच्छिष्टे अधि समाहिताः) ऊर्ध्व अवशिष्ट परमात्मामें रहे हैं ॥८॥

(अग्न्याधानं) The establishing of a fire, (दीक्षा) the consecration, (काम-प्रः) the desire-fulfiller, (छन्दसा सह) that exists with metrical Verses, (उत्सन्नाः यज्ञाः) elevating sacrifices, (सत्राणि) sacrificial sessions, (अधि समाहिताः) are set together (उच्छिष्टे) in the Remnant.

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः। दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥

पदानि— अग्निऽहोत्रम् । च । श्रद्धा । च । वषट्ऽकारः । व्रतम् । तपः । दक्षिणा । इष्टम् । पूर्तम् । च । उत्ऽशिष्टे । अधि । समऽआहिताः ॥९॥

अर्थ— अग्निहोत्र, (श्रद्धा) आस्तिक्यबुद्धि, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, (इष्टं) इष्टियां, (पूर्तं) अन्नदान, कूपतडागादि परोपकारके कर्म (उच्छिष्टे अधि समाहिताः) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परब्रह्ममें रहे हैं ॥९॥

वषट्कार= दानका सूचक शब्द है, (वसत्-कार) उत्तम प्रकार के निवास के लिये जो दिया जाता है, सत्कारयोग्य के सत्कार के लिये जो अर्पण किया जाता है।

(अग्निहोत्र) Fire-offering, (श्रद्धा) faith, (वषट्कार) offering-exclamation, (व्रतं) the vow, (तपः) penance, [दक्षिणा] the sacrificial gift, [इष्टं] what is offered in sacrifice, [पूर्तं] what is bestowed [समाहिताः] are fixed [उच्छिष्टे अधि] in the Remnant.

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः। ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥१०॥

पदानि—एकऽरात्रः। द्विऽरात्रः। सद्यःऽक्रीः। प्रऽक्रीः। उक्थ्यः। आऽउतम्। निऽहितम्। उत्ऽशिष्टे। यज्ञस्य। अणूनि। विद्यया ॥१०॥

अर्थ— (एकरात्रः) एक रात्री में होनेवाला यज्ञ, (द्विरात्रः) दो रात्रियों की अवधि में होनेवाला यज्ञ, (सद्यः क्रीः) तत्काल एक बैठक में होनेवाला यज्ञ, (प्रक्रीः) प्रयत्न से होनेवाला यज्ञ, (उक्थः) प्रशंसारूप यज्ञ, ये सब (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञ के भाग (विद्यया) ज्ञान के द्वारा (उच्छिष्टे ओतं निहितं) ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट परब्रह्म में बुने गये और स्थिर हुए हैं ॥१०॥

(एकरात्रः) One-night sacrifice, [द्विरात्रः] the two-night, [सद्यः क्रीः] the same-day sacrifice, [प्रक्रीः] the elaborate sacrifice, (उक्थः) sacrifice by praise, [यज्ञस्य अणूनि) the minute things of the sacrifice, (विद्यया) by Knowledge (ओतं निहितं) are woven and placed (उच्छिष्टे) in the Remnant.

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह। षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

पदानि—चतुःऽरात्रः। पञ्चऽरात्रः। च। उभयः। सह। षोडशी। सप्तऽरात्रः। च। उत्ऽशिष्टात्। जज्ञिरे। सर्वे। ये। यज्ञाः। अमृते। हिताः ॥११

अर्थ— (चतूरात्रः) चार रात्रियोंसे समाप्त हानेवाला यज्ञ, (पञ्चरात्रः) पांच रात्रियों में होनेवाला यज्ञ, [षड्रात्रः] छः रात्रियोंमें होनेवाला यज्ञ [उभयः सह] पूर्वोक्त यज्ञोंके द्विगुणित रात्रियों में अर्थात् आठ, दस, बारह रात्रियोंमें होनेवाले यज्ञ, [षोडशी] सोलह स्तोत्रासे होनेवाला यज्ञ, [सप्तरात्रः] सात रात्रियोंमे होनेवाला यज्ञ [ये सर्वे] ये सब [अमृते हिताः यज्ञाः] अमृतमें रहे यज्ञ, [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं।

इससे पूर्व मन्त्रोंमें 'यह सब उच्छिष्टमें स्थिर है', ऐसा कहा है, पर इस मन्त्रमें 'यह सब उच्छिष्टसे उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है। उच्छिष्टसे उत्पन्न होकर उच्छिष्टमें रहा है, ऐसा अर्थ यहां और आगे भी समझना उचित है—

[चतूरात्रः] The four-night, [पञ्चरात्रः] the fivenight, [षड्रात्रः] the six-night, [उभयः सह] of both kinds, together, [षोडशी] the one of sixteen, [सप्तरात्रः] and the seven-night sacrifices [जज्ञिरे] were born [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] from the Remnant, [सर्वयज्ञाः] all the sacrifices [ये अमृते हिताः] which are connected with immortality.

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः। साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥

पदानि—प्रतिऽहारः। निऽधनम्। विश्वऽजित्। च। अभिऽजित्। च। यः। साह्नऽअतिरात्रौ। उत्ऽशिष्टे। द्वादशऽअहः। अपि। तत्। मयि ॥१२॥

अर्थ— [प्रतिहारः निधनं] सामगान का प्रारंभ और अन्त, [विश्वजित्] विश्वका विजय करनेका यज्ञ, [अभिजित् च यः] और जो चारों ओर जीतने का यज्ञ है, [साह्न-अतिरात्रौ] एक दिनमें होनेवाला, रात्री समाप्त होनेपर भी चलनेवाला ये दोनों यज्ञ, [द्वादशाहः] बारह दिनों में समाप्त होनेवाला यज्ञ, [मयि तत्] जो यज्ञ मुझमें-मेरी शक्ति से होनेवाले हैं, वे सब [अपि उच्छिष्टे] भी ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहे परब्रह्म में रहते हैं ॥१२॥

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता। (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससें आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके-ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

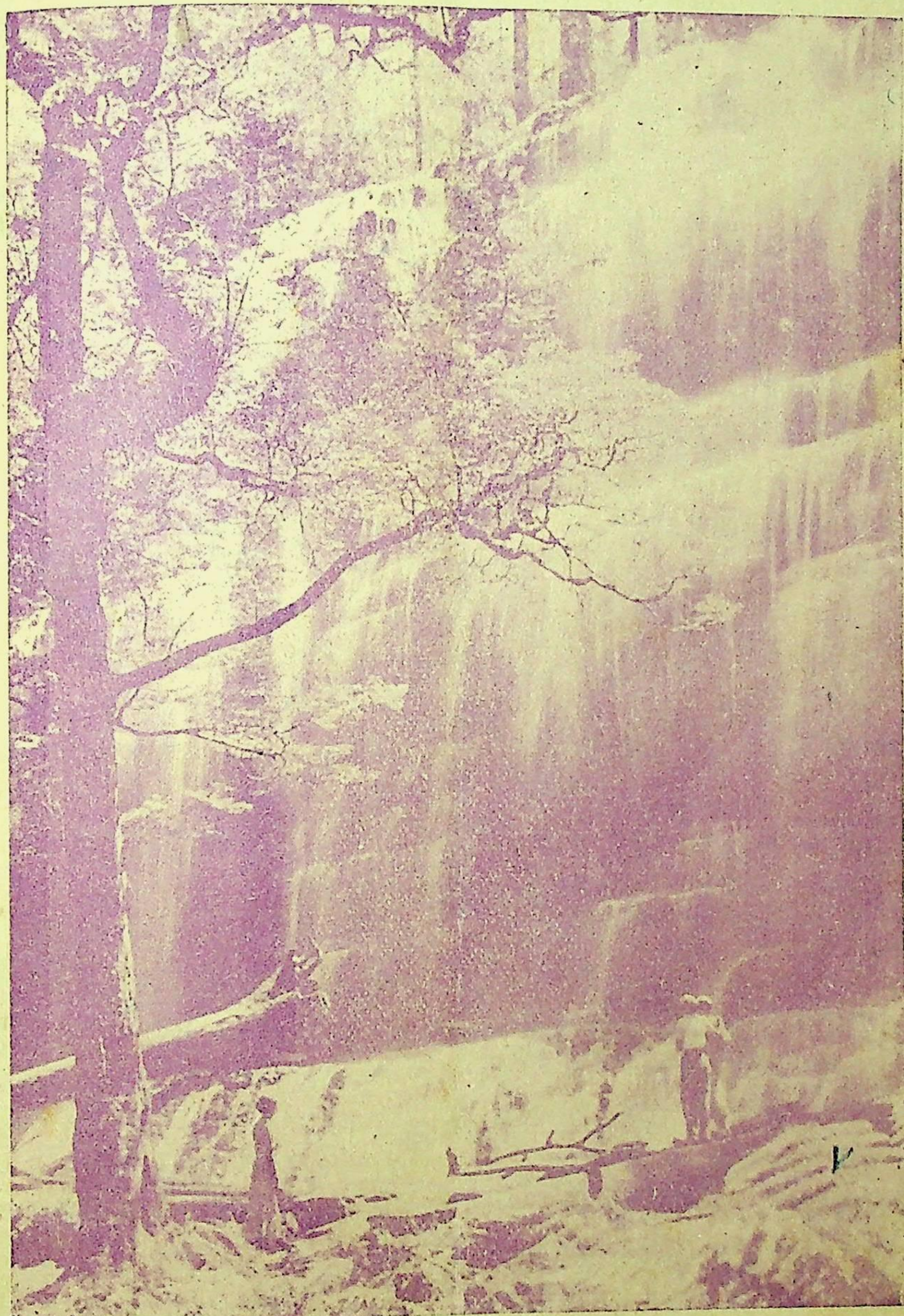
अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡) रु० भेज दें।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म ।

फर्वरी १९४१
माघ १९९७



वर्ष २२]　　क्रमांक २५४　　[अंक २

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २२] [अङ्क २

विषयानुक्रमणिका

१ बडा यक्ष ।		४३
२ अहल्याके उद्धारकी कथा ।	संपादकीय	४४
३ वेद (ब्राह्म) धर्मही सर्वतोभद्र क्यों है ?	आचार्य पं० चंद्रकान्तजी, सूरत	५९
४ धर्म, शिक्षण और समाज ।	श्री० भारतेन्दु वेदालंकार	६२
५ आर्य विद्वानोंसे-	श्री० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, ज्वालापूर	६४
६ मानस पाप ।	श्री० गंगाप्रसादजी, टिहरी	६६
७ माताजीसे वार्तालाप ।	श्री० मदनगोपाल गाडोदिया	६९
८ वैदिक देवता ।	पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति	७६
९ ऋग्वेदानुक्रमणी ।	पं० जयदेवशर्माजी अजमेर	१०५-११२
१० वेदोपदेश ।		२५-४०

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५४

वर्ष २२ : : : : अङ्क २

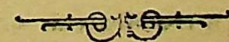
माघ संवत् १९९७

फर्वरी १९४१

बडा यक्ष ।

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये
तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः
वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥
(अथर्व० १०-७-३८)

" (भुवनस्य मध्ये) भुवन के मध्यमें (महत् यक्षं) एक बडा पूजनीय देव है । वह (तपसि क्रान्तं) प्रकाश में सबसे बडा है, जो (सलिलस्य पृष्ठे) जल के पीठ पर भी विराजता है । इसी एक अद्वितीय (तस्मिन्) तत्व में (ये उ के च देवाः) जो कोई देव हैं, वे सब (श्रयन्ते) आश्रय लेते हैं, जैसे (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षके कन्धेके (परितः शाखा इव) चारों ओर शाखाएँ होती हैं।"



आदिकवि श्रीवाल्मीकि-महामुनि-प्रणीत
रामायण का भाषानुवादसमेत मुद्रण।



आदर्श पुरुषों में मर्यादापुरुषोत्तम श्री दाशरथी रामचंद्रजी का सुरम्य, मनोहारी चरित्र अत्यंत बोधप्रद है। श्रीरामचन्द्रजी के अनेक चरित्र हैं, परन्तु आदिकवि श्रीवाल्मीकिद्वारा जो रामायण निर्माण हुआ, वही सबसे प्राचीन और सबों में प्रामाणिक माना जाता है।

वाल्मीकिमुनिने आदिकाव्य जैसा बनाया, वैसा ही शुद्ध रूप में भाषानुवादसहित जनताको देनेका संकल्प हमने किया है।

मुद्रण कैसा होगा ?

श्रीवाल्मीकिरचित श्रीरामायण के सब श्लोक पृष्ठके ऊपर दिए जायँगे और नीचे इन श्लोकोंका सरल भाषानुवाद दिया जायगा। अनेक स्थानोंपर टिप्पणियां देकर मूल ग्रंथ का आशय स्पष्ट किया जायगा। अयोध्या, किंष्किधा, लंका आदि नगरों के नकशे (Maps) देकर इनकी सभ्यता किस प्रकार की थी, रामायण के समय युद्धनीति कैसी थी, सेनापति सेनाके व्यूह किस तरह करते थे, रामरावणके युद्ध का युद्धक्षेत्र कितना बडा था, अन्तमें रावण क्यों हार गया और श्रीरामचन्द्रजी विजयी कैसे हुए, यह सब युद्ध के नकशों के चित्र दर्शा कर बताया जायगा।

श्रीवाल्मीकीय रामायण के ७ काण्ड हैं। इन सातों कांडों के १० ग्रंथ होंगे- (१) बालकाण्ड का १ ग्रंथ, (२) अयोध्या-काण्ड के २ ग्रंथ, (३) अरण्यकाण्ड, (४) किष्किंधाकाण्ड और (५) सुन्दरकाण्ड का प्रत्येक एक एक ग्रंथ, (६) युद्धकाण्ड के ३ ग्रंथ और (७) उत्तरकाण्ड का एक ग्रंथ, इस तरह ये ७ काण्ड १० ग्रंथों में प्रकाशित होंगे।

प्रत्येक ग्रंथ में दो चित्र रंगीन होंगे और कई सादे एकरंगी चित्र होंगे। इन के अतिरिक्त कई नकशे और दूसरे चित्र दिये जायँगे।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रंथों में होगा, प्रत्येक ग्रंथ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महिनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षोंमें ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रंथ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अंतिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। इनकी वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) सौ रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Aundh, (Dist. Satara)



अहल्या के उद्धार की कथा



श्री वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत श्री रामायण में अहल्या-देवीके उद्धार की कथा है। यह कथा अन्यान्य पुराणों में भी है, परन्तु उन में कुछ वैपरीत्य है। अतः इस कथाकी विशेष खोज करनेकी आवश्यकता है। सबसे प्रथम अहल्या का नाम शतपथब्राह्मण में आता है, वह प्रकरण ऐसा है।

अहल्या का जार (इन्द्र)

इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाह 'इन्द्र' आगच्छेति। हरिव आगच्छ, मेधातिथेर्मेष, वृषणश्वस्य मेने, गौरावस्कन्दिन्, अहल्यायै जारेति। तद्यानि एवास्य चरणानि, तैरेवैनं एतत् प्रमोदयिष्यति॥

(श० ब्रा० ३।३।४।१८; तै० आ० १।१२)

'इन्द्र यज्ञ की देवता है, इसलिए यज्ञकर्ता कहता है कि, 'हे इन्द्र ! तू आ'। (हरिवः) घोडे जिसके पास हैं, ऐसे इन्द्र ! तू आ। हे मेधातिथि के मेंढे ! हे वृषणश्वके मेने (स्त्री) ! हे भैंसे पर बैठनेवाले ! हे अहल्या के जार ! तू यहां आ। यह जो इन्द्र के चरित्र हैं, उनका इस तरह उच्चारण करके उनको बुलाने से यह स्तवन इन्द्रको आनन्द देता है, उसके अन्तःकरण में इससे सन्तोष उत्पन्न होता है।'

यहां इन्द्रके वर्णन में निम्नलिखित बातों का उल्लेख आया है-

१ (**हरिवः**) अच्छे घोडे इन्द्र के पास हैं।

२ (**मेधातिथेः मेषः**) मेधातिथिका मेंढा इन्द्र बना था।

३ (**वृषणश्वस्य मेना**) वृषणश्व की पुत्री मेना इन्द्र बना था।

४ (**गौरावस्कन्दिन्**) इन्द्र भैंसेपर बैठता है।

५ (**अहल्यायै जारः**) अहल्या के लिए इन्द्र जार बना था।

ये पांच इन्द्र के कर्तूत हैं, ये पांच इन्द्रके चरित्र हैं। इन्द्रके सामने इन पांचों का वर्णन करनेसे इन्द्र बडा सन्तुष्ट होता है और अपने ये वर्णन सुननेसे उसको बहुतहि हर्ष होता है। अर्थात् इन वर्णनों में किसी प्रकार भी अपनी निन्दा नहीं है, ये अपने सब प्रशंसायोग्य कृत्य हैं, ऐसा इन्द्र का ख्याल है।

यज्ञ की भरी सभा में, इन्द्र जैसे प्रमुख देवता को, सब देवताओं को सुनने में आने योग्य उच्च स्वर में '**तू अहल्या के साथ जार कर्म करनेवाला है,**' ऐसा कहना है और ऐसे वाक्य से इन्द्र को बडा आनन्द होता है, अतः इससे अनुमान हो सकता है कि इसका कुछ और आशय होगा। अन्यथा ऋषिपत्नी के साथ किया हुआ व्यभिचार प्रशंसापरक कैसे हो सकता है?

१. इन्द्रके पास घोडे अच्छे होने की बात वेद में प्रसिद्ध है। इस विषयके मन्त्र बहुत हैं। '**हरी समत्सु शत्रवः।** (ऋ० १।५।४), **हरी विपक्षसा रथे।** (ऋ० १।६।२) ये इन्द्रसूक्त के वर्णन इन्द्र के घोडों की प्रशंसा कर रहे हैं।

२. मेधातिथिके मेण्ढे का वर्णन वेदमन्त्र में है- **इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम्। मेषो भूतोऽभि यन्नयः॥** (ऋ० ८।२।४०) (धीवन्तं काण्वं मेध्यातिथिं) बुद्धिमान् कण्वपुत्र मेध्यातिथि को (इत्था) इस तरह (मेषः भूतः) मेंढा होकर हे (अद्रिवः) वज्रधारी इन्द्र ! (अभियन्) तूने उठाकर (अयः) पहुंचा दिया। इस तरह इन्द्रने मेंढा बनकर मेध्यातिथी की सहायता की थी, यह कथा सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण में भी लिखी है- '**मेधातिथिं हि काण्वायनिं मेषो भूत्वाजहार।** (ष० ब्रा० १।१) कण्वपुत्र मेधातिथीको इन्द्रने मेंढा बनकर उठाया था। इतना इन्द्र के मेंढा बननेके विषय में वर्णन वेद में मिलता है।

३ वृषणश्व की मेना कन्या इन्द्र ही स्वयं बन गया था, इस विषय में (ऋ० १।५१।१३) में यह मन्त्रभाग है- '**मेनाऽभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो।**' हे उत्तम ऋतु करनेवाले इन्द्र ! तू वृषणश्वकी कन्या मेना बना था। इस संबन्ध का शाट्यायन ब्राह्मणवचन ऐसा है- '**वृषणश्वस्य मेन इति वृषणश्वस्य मेना भूत्वा मघवा कुल उवास इति।**

...वृषणश्वस्य मेना नाम दुहितास । तामिन्द्रश्चकमे इति । ' वृषणश्व की कन्या मेना हुई थी, इन्द्रही यह कन्या बना था ।'

(४) ' गौर ' नामक पशु भैंसा है वा मृगविशेष है, इसका निर्णय करना चाहिए । इन्द्र इसपर बैठता है ।

(५) अहल्या का जार इन्द्र है । इसका वचन वेदों में नहीं मिलता । परन्तु श० ब्राह्मण में यह वचन होनेसे इसका मूल किसी वेदमन्त्रमें होना चाहिए, यह बात स्पष्ट है । पर ऐसा कोई वचन आज प्राप्त होनेवाली संहिताओं के मंत्रोंमें नहीं है । अहल्या शब्द भी संहिता में नहीं है, फिर अहल्या के साथ हुए व्यभिचार की कथा कहां से मिलेगी ?

शतपथ ब्राह्मणने यह कथा किसी लुप्त वेदभाग से उद्धृत की होगी, ऐसा प्रतीत होता है । जो वेदका भाग इस समय उपलब्ध नहीं है । यहां जो ये इन्द्र के पांच कर्म कहे हैं, उन में से चारों का पता वेदमंत्रों में लगता है । पांचवे कृत्य का पता नहीं लगता । पूर्वोक्त चार कृत्यों का वास्तविक निर्णय क्या है, इस का विचार हम किसी समय स्वतन्त्र लेख लिखकर करेंगे, इस समय हमें इन्द्र के अहल्या के साथ किए जार कर्म का ही विचार करना है । यहां इतना कहना आवश्यक है कि, इस का उल्लेख करने से अथवा इस का उल्लेख भरी सभा में करनेसे इन्द्र को बडा सन्तोष होता था । अर्थात् इंद्र की दृष्टि से इसमें किसी प्रकार अनीति या बेइज्जती का संबन्ध प्रतीत नहीं होता । इसीलिए यह बात समुदाय में कही जाती है, अन्यथा यह स्तुति नहीं हो सकती ।

जो पूर्वस्थान में शतपथका वचन दिया है, वैसा ही षड्विंशब्राह्मण (अ० १।१) अथवा ताण्ड्य महाब्राह्मण (२६।१) में कहा है, वह देखिए–

" इन्द्रागच्छेति, यदाहेन्द्रागच्छेति, एतद्वा अस्य प्रत्यक्षं नाम, तैनैवैनं तदाह्वयति ।

१ हरिव आगच्छेति, पूर्वपक्षावपरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति ।

२ मेधातिथेर्मेष इति, मेधातिथिं ह काण्वायनं मेषो भूत्वाऽऽजहार ।

३ वृषणश्वस्य मेन इति, वृषणश्वस्य ह मेनस्य मेनका नाम दुहिता, स तां ह इन्द्रश्चकमे ।

४ गौरावस्कन्दिन्निति, गौरमृगो ह स्म भूत्वावस्कन्द्यारण्याद्राजानं पिबति ।

५ अहल्यायै जारेति, अहल्याया ह मैत्रेय्या जार आस । कौशिक ब्राह्मणेति, कौशिको ह स्मैनां ब्राह्मण उपन्येति, गौतमब्रुवाणेति, देवासुरा ह संयत्ता आसंस्तानन्तरेण गोतमः शश्राम, तमिन्द्र उपेत्योवाच, इह नो भवांन्स्त्वयसश्चरत्विति, नाहमुत्सह इत्यथाहं भवतो रूपेण चराणीति यथा मन्यस इति स यत्तद्गोतमो वा ब्रुवाणश्चचार, गोतमरूपेण वा तदेतदाह । '

(षड्विंश ब्रा० १।१; ताण्ड्य महा ब्रा० २६।१)

शतपथ के वचन की ही यह व्याख्या दीखती है । इस वचनमें से अहल्यां के संबन्धके वचनका आशय ऐसा है–

(५) अहल्या मैत्रेयी थी, उसका जार इन्द्र है। कौशिक नाम का ब्राह्मण (इन्द्र ही स्वयं) ' मैं गोतम हूं ' ऐसा कहकर अहल्या के पास गया । देव और असुरों का युद्ध हो रहा था, उस युद्ध में गौतमने बहुत ही परिश्रम किया था, इसलिए वह अत्यन्त थक गया था । उसके पास इन्द्र गया और कहने लगा कि, ' आप यहां ही विचरें । ' गौतमने कहा कि ' अब मुझ में उत्साह नहीं है । ' इसपर इन्द्रने कहा कि ' मैं आप के रूपसे यहां विचरूंगा । ' गोतमने कहा ' जैसा आप चाहते हैं वैसा करिए । ' यह सुनकर इन्द्र गोतम के रूप से वहां विचरने लगा और सबको कहने भी लगा कि, ' मैं गौतम ही हूं '।

यद्यपि यहां अहल्या के साथ व्यभिचार करनेका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि इन्द्र गोतम के रूपसे वहां संचार करने लगा था, इस में संदेह नहीं है । और इस तरह गोतम के रूपसे अथवा वेषसे संचार करनेके समय इन्द्र से कुछ वैसा बर्ताव अहल्या के साथ हुआ होगा, ऐसा यहां प्रतीत होता है ।

जैमिनीय ब्राह्मण में भी यही कथा (२।७० में) है। प्रायः यही आशय वहां है । षड्विंश ब्राह्मण के वचन से पता चलता है कि, देवासुरयुद्ध के राजकारण के प्रसंग में इस तरह का बर्ताव करना इन्द्र के लिये आवश्यक हुआ।

गौतमने इस देवासुरयुद्ध में बडा भाग लिया था, और बिलकुल उत्साहरहित होनेतक उन्होंने बहुत ही परिश्रम किये थे। गौतम का कार्य इस युद्ध में बहुत हि बडा प्रभावशाली होने के कारण हि गौतम के विश्राम लेने के दिनों में इन्द्र को भी गौतम के वेष में युद्धक्षेत्र में रहकर सेना का नेतृत्व आदि करना पडा होगा। ऐसे समय में अहल्या से भी नित्यनैमित्तिक कार्य में गौतमरूपी इन्द्र से कुछ विशेष वास्ता पडा ही होगा। ऐसे कठिन अवसर पर अहल्या से यदि वह कहता कि, मैं सच्चा गौतम नहीं हूँ, तो गुप्त बात प्रकट होती और युद्ध का परिणाम कदाचित् उलटा निकल आता। ऐसे समय में इन्द्र से कुछ वैसा कुकर्म हुआ होगा। अथवा उसने इस अवसर का अयोग्य लाभ ही कदाचित् लिया होगा।

रामायण में इन्द्र देवों से कहने के समय कहता है कि, (वा० रा० बालकाण्ड ४९।४ सुरकार्यकरं) मैंने देवों का कार्य करने के लिये ऐसा किया, इसलिये देव मुझे सफल करें। वाल्मीकि रामायण में देवकार्य क्या था, इस का कुछ भी पता नहीं चलता, परन्तु इस षड्विंश ब्राह्मण के वचन से स्पष्ट पता चलता है कि, देवासुरयुद्ध में गौतमने बहुत परिश्रम किये, बाद बहुत ही थकनेके कारण वे विश्राम करने गये और इन्द्रने सेना का नेतृत्व किया। इस समय उस को गौतम का ही वेष पहन कर युद्धभूमि में उपस्थित रहना पडा और अपने आपको गौतम कहाना भी पडा, अर्थात् इस समय उसको गौतम के सब कार्य करना आवश्यक ही हुआ। इस तरहके राजकारण के समय विवश होकर अहल्या के साथ गृहकार्य करने में जो कुछ हुआ होगा, वही हुआ होगा। यह भाव षड्विंश ब्राह्मण से प्रतीत होता है।

सेनापति की पहचान मुख की पहचान से नहीं की जाती, परन्तु वह उसके वेष और चिन्हों से ही होती है। सैनापत्य करने के समय गौतमने जो शिरस्त्राण, जो कवच आदि वेष अपने शरीरपर धारण किया होगा, वही तथा उन के सब चिन्ह यदि इन्द्रने धारण किये होंगे, तो कौन इन्द्र और कौन गौतम इस की समीप से भी पहचान होना कठिन कार्य है। किसी किसी शिरस्त्राण में केवल चार अंगुल मुख ही केवल खुला रहता है और कई शिरस्त्राण ऐसे होते हैं कि, जिन में मुख के स्थानपर भी जाली लोहे की लगी रहती है। अन्य शरीर तो युद्धक्षेत्र में कवच से ढंका ही रहता है, पर यदि मुखपर जाली से ढंका शिरस्त्राण बर्ता जाय, तो शरीर का कोई भाग दीख ही नहीं सकता।

गौतम का उक्त युद्धक्षेत्र में वेष किस तरह का था, इस का वर्णन कहां भी नहीं है। देवासुरों के भयानक युद्ध में गौतम थकनेपर विश्राम लेने गए और उनके स्थानपर उन का वेष और चिन्ह धारण कर इन्द्र आये, इतना ही उल्लेख है। यदि शरीर पूर्ण रीतिसे कवच से ढंक जाय, तो वीरको दूरसे चिन्ह से हि पहचानना होता है। ऐसी अवस्था में इन्द्रने उक्त अवस्था में बुरी भावना से भी कुकर्म किया होगा अथवा लाचारी से भी वैसा करना पडा होगा। वा०रामायणमें 'मैंने सुरकार्यके लिए यह किया,' ऐसा इन्द्र कहता है, वह भी संभवनीय है और उसी स्थानपर जो लिखा है कि अहल्याने जानबूझकर ' यह इन्द्र है और गौतम नहीं है, ' ऐसा जानकर उनसे कुकर्म किया, वह भी उक्त परिस्थितिमें संभवनीय प्रतीत होता है। वेष और चिन्ह धारण करनेपर भी सूज्ञ सहधर्मचारिणी अपने पति को पहचान सकती है। अर्थात् यह षड्विंश ब्राह्मण का वृत्तांत वाल्मीकीय रामायण के वृत्तांत के साथ जोड देनेसे ' सुरकार्य ' का पता लगता है, और इन्द्र के वेषान्तर करनेका भी सयुक्तिक कारण ध्यान में आ जाता है।

इतनी संगति लगनेपर भी ' अहल्या का जार ' ऐसा कहने में शतपथ के वचनानुसार यह बात सभा में कहने योग्य अथवा प्रशंसा के योग्य कैसी हो सकती है, यह समझ में नहीं आता।

उक्त षड्विंश ब्राह्मण में अहल्या को मैत्रेयी कहा है। मित्र की पुत्री मैत्रेयी हो सकती है। मित्र सूर्य का नाम प्रसिद्ध है। सूर्यकी स्त्री या पुत्री उषा अथवा स्त्री रात्री है। रात्री, उषा, सूर्य का रूपक पत्नी, पुत्री, बहिन, माता, पुत्र, पति, जार आदि अनेक प्रकारसे किया जाना सम्भवनीय है। यह संभावना देखकर संदेह उत्पन्न होता है कि क्या यह सच्चा इतिहास है, अथवा केवल रूपक ही है? इस का निर्णय करने के लिए हमें वेदमंत्रों की खोज करना आवश्यक है।

'अहल्या' शब्द वेदसंहिताओं में नहीं है, यह त्रुटी इस खोजमें रहेगी ही। शतपथादि ब्राह्मणों में 'अहल्यायै जारेति' यह प्रतीक किसी लुप्त वेदमन्त्र-भाग से लिया है। वह मन्त्र आज हमारे पास नहीं है। अतः वेद में केवल 'जार' शब्द के अर्थ की खोज करना ही हमारा इस समय का कार्य शेष रहता है। वेद की संहिताओंमें केवल २८ मंत्र 'जार' शब्दवाले आये हैं, इन में से ६ मन्त्र पुनरुक्त हुए हैं, अर्थात् इस तरह ३४ वार 'जार' शब्द चारों वेदसंहिताओं में आया है। (यजु-र्वेद की अन्य शाखाओं में और थोडी बार अधिक आया होगा, इसको हमने गिना नहीं है।)

ऋग्वेद में २६, वा० यजुर्वेद में २, सामवेद में ३ और अथर्वमें ३ बार सब मिलकर ३४ बार 'जार' शब्द संहिताओं में है और वह २८ मंत्रों में ही आया है। इन मंत्रोंका हम अब विचार करते हैं-

संधि के लिये जार ।

संधि करने के लिये 'जार' को नियुक्त करने का आदेश यजुर्वेद में आया है—

संधये जारम् । (वा० य० ३०।९; काण्व० ३४।९)

यही मंत्र तै० ब्राह्मण में भी है। काण्वसंहिता में भी है। दो युध्यमान पक्षों में संधि करना हो, तो वहां 'जार' को बुलाना चाहिये। यहां जार का अर्थ 'व्यभिचारी' नहीं है, प्रत्युत 'वृद्ध मनुष्य' ऐसा है। युद्ध के पश्चात् दोनों दलों में स्थायी संधि करना हो, तो मध्यस्थ 'वृद्ध मनुष्य' ही रखना योग्य है। विकारवश होनेयोग्य तरुण युवा मनुष्य संधि करने में रहा, तो एक युद्ध की संधि से ही दूसरा युद्ध छिड जायगा। इसलिये संधिके समय अनुभवी शान्त, दान्त, वृद्ध मनुष्य को मध्यस्थ रखना योग्य है। वेद का यह आशय युद्धमान राष्ट्रों में संधि करने के समय अवश्य ध्यान में धारण करनेयोग्य है।

यहां 'जार' शब्द के अत्यन्त उत्तम अर्थ का हमें पता लगा। इसी तरह जार शब्द का प्रयोग व्यभिचारी से भिन्न अर्थ में वेदमें जहां जहां हुआ है, वे मंत्र अब देखिये-

जलों का जार ।

(प्रस्कण्वः काण्वः । अश्विनौ । गायत्री ।)

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा ।
पिता कुटस्य चर्षणि ॥ (ऋ० १।४६।४)

हे (नरा) शूर वीरो ! (पपुरिः) सब की तृप्ति करने-वाला (अपां जारः) जलों का जार (कुटस्य पिता) कृत कर्मों का पालन करनेवाला और (चर्षणिः) सब का द्रष्टा सूर्य (हविषा) अन्न से-हविष्यान्न से-सब की तृप्ति करता है।

सब के कर्मों का द्रष्टा, सब का देखनेवाला, कर्मों को करानेवाला, अपने उदय से सब को कर्म करने की प्रेरणा करनेवाला यहां सूर्य ही 'जलों का जार' है। जल जिन में रहता है, ऐसे मेघों को जीर्ण करके उनसे जल की वृष्टि करानेवाला सूर्य ही जलों का जार है। यह 'जलों का जार' होने से इस जार शब्द में व्यभिचार का कोई संबंध ही नहीं हो सकता। जलवाले मेघों को जीर्ण करने-वाला इस अर्थ में यहां का 'जार' शब्द है। अब और देखिये-

अध्वर का जार ।

(त्रित आप्त्यः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।)

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम् । बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त ॥ (ऋ० १०।७।५)

(द्युभिः हितं) प्रकाशों से युक्त, (मित्रं इव प्रयोगं) मित्र के समान सत्कार करनेयोग्य, (प्रत्नं) पुरातन काल से रहनेवाला, (ऋत्विजं) ऋतुओं के अनुसार जिस में हवन किया जाता है, (अध्वरस्य जारं) हिंसारहित यज्ञकी पूर्णता करनेवाला यह (अग्निं) अग्नि है, इसको (आयवः बाहुभ्यां अजनन्त) मनुष्य अपने बाहुओं से उत्पन्न करते हैं और (विक्षु) सब प्रजाजनों में (होतारं) देवों को बुलाने के लिये (न्यसादयन्त) स्थापन करते हैं।

अग्नि यज्ञस्थान में संपूर्ण देवताओं को लाता है। इस अग्नि को दो लकडियों के घर्षण से मनुष्य उत्पन्न करते हैं। यह अग्नि 'अ-ध्वर का जार' अर्थात् हिंसा-रहित और कुटिलतारहित सत्कर्मों को उत्तम रीति से सिद्ध करनेवाला है। यहां 'जार' शब्द का अर्थ 'व्यभिचारी' नहीं है, प्रत्युत 'यज्ञ की सिद्धि करनेवाला' है। 'जार' शब्द का यह अर्थ पाठक विशेष ध्यान से देखें।

यहां 'जार' शब्द अग्नि का विशेषण है। और देखिये—

शत्रु के कीले जीतनेवाला जार।

(अष्टादंष्ट्रो वैरूपः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्)

सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्। अस्तमा ते पार्थिवा वसून्यस्मे जग्मुः सूनृता इन्द्र पूर्वीः॥ (ऋ० १०।१११।१०)

(उशती-इव) जैसी पति की इच्छा करनेवाली स्त्रियें पति के पास जाती हैं, उस प्रकार (सध्रीचीः) बहनेवाली नदियाँ (सिंधुं आयन्) समुद्र के पास पहुँचती हैं। आसां आरितः) इन नदियोंका प्रेरक (पूर्भित् जारः) और शत्रुओं के कीलों को जीतनेवाला तथा शत्रुओं को जीर्ण अर्थात् क्षीण करनेवाला (सनात्) चिर काल से है। हे इन्द्र! (ते पार्थिवा वसूनि) तेरे पार्थिव धन और (पूर्वीः सूनृताः) प्राचीन सत्य स्तोत्र (अस्मे अस्तं आ जग्मुः) हमारे घर के प्रति आते हैं।

यहां (पूर्भित् जारः) शत्रुओं के कीलों को तोडनेवाला, शत्रुओं के नगरों को जीतनेवाला और शत्रुओं की शक्ति जीर्ण तथा क्षीण करनेवाला इन्द्र ही जार कहा है। यहांका 'जार' शब्द शूर वीर का वाचक है, यह जार शब्द शौर्य, वीर्य, धैर्य से संवृद्ध 'अर्थ' बताता है। 'जार' शब्द का 'वृद्ध मनुष्य' अर्थ पूर्व स्थान में बताया है, वही अर्थ यहां है, यहां 'इसका शौर्य में बडा' अर्थ है।

जीर्ण, बुड्ढा (जार)।

(भूतांशः काश्यपः। अश्विनौ। त्रिष्टुप्)।

पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा। ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम्॥ (ऋ० १०।१०६।७)

हे (उग्रा) शूर अश्विदेवो! (पज्रा इव) वीरों के समान तुम दोनों (जारं) जीर्ण होनेवाले, वृद्ध होनेवाले, क्षीण होनेवाले और (मरायु) मरनेवाले (चर्चरं) हलचल करनेवाले उस जगत् को (अर्थेषु) संपूर्ण विषयों में सब आपत्तियों में (क्षद्म इव) जलके समान (तर्तरीथः) तारते हैं। (ऋभून) ऋभू-कारीगरों के समान (खरमज्रा) वेग से जानेवाले तुम दोनों को (खरजुः) वेगवाला रथ (आपत्) प्राप्त होवे, (वायुः न) वायु के समान वह रथ (पर्फरत्) दौड कर जावे और (रयीणां क्षयत्) धन ले आवे।

यहां 'जारं मरायु चर्चरं' ये तीनों शब्द क्रमशः 'क्षीण मर्त्य जगत्' के वाचक हैं। यहां 'जार' शब्द का अर्थ 'जीर्ण अर्थात् क्षीण होनेवाला' है। यहां व्यभिचार का थोडासा भी भाव नहीं है। और देखिये—

जार (सूर्य)।

(हविर्धान आंगिः। अग्निः। जगती)

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति। विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥

(ऋ० १०।११।६) (अ० १८।१।२३)

हे अग्ने! (पितरौ उदीरय) अपने मातापिता अर्थात् द्यावापृथिवी को वैसा प्रकाशित करो, जैसा कि सब की (जारः) आयु बढानेवाला सूर्य (भगं आ) प्रकाश देता है, जिससे (हर्यतः इयक्षति) यजमान यज्ञ करने की इच्छा करता है, (हृत्तः इष्यति) अन्तःकरण से यज्ञ करना चाहता है, (वह्निः) अग्नि (स्वपस्यते) अपना कर्तव्य करता है और (विवक्ति) स्तोत्रपाठ करता है, (असुरः) बुद्धिमान् (अपने कर्म में प्रमाद न हो, इसलिये) (मती वेपते) अपनी बुद्धिमें सदा कांपता रहता है।

यहां का 'जार' शब्द 'सूर्य' का वाचक है, सूर्य आने से दिन, मास और वर्ष बनते हैं, इससे आयु बढती है, सब वृद्ध होते हैं। इस तरह सब को वृद्ध अर्थात् जीर्ण बनानेवाला सूर्य ही सबका 'जार' है।

जार (स्तुति के योग्य) इन्द्र।

(कृष्ण आंगिरसः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्)

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्)। कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम्॥

(ऋ० १०।४२।२) (अ० २०।८९।२)

(हे जरितः) स्तुति करनेवाले साधक! जैसा (दोहेन गां) दूध दुहने के समय गौको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार (सखायं उपशिक्ष) अपने मित्र को- प्रभु इंद्र को प्राप्त कर, तथा (जारं इंद्रं प्रबोधय) स्तुति के योग्य इंद्र को

जगाओ। (पूर्णं कोशं न) भरपूर भरे हुए खजाने के समान (वसुना न्यृष्टं) धन से परिपूर्ण (शूरं) शूर इंद्र को (मघदेयाय च्यावय) धन का दान करने के लिये प्रेरित कर।

यहां का 'जार' शब्द 'स्तुति करने योग्य' इस अर्थ में है। यहां के 'जरितः' और 'जारं' ये दोनों शब्द एक ही 'जॄ स्तुतौ' धातु से बने हैं। अतः स्तुति करनेवाला 'जरिता' और जिसकी स्तुति की जाती है, वह 'जार' कहलाता है।

जरिता (स्तोता) और जार (स्तुत्य) ये दोनों शब्द इस एक ही मंत्र में पडे हैं, इसलिये एक दूसरे का अर्थ बताने में ये सहायक हो रहे हैं। यहां 'जार' शब्द 'इंद्र' का ही विशेषण है, अतः यह हमारी अहल्या की कथा की गुप्त बात को प्रकट करने में सहायक हो सकता है। 'अहल्यायै जार' का अर्थ 'अहल्याद्वारा प्रशंसित होनेयोग्य' अथवा 'अहल्याके लिये स्तुति करने योग्य' ऐसा होना संभवनीय है। तथापि और अन्य मंत्र देखिये-

उषाओंका जार।

(पराशरः शाक्त्यः। अग्निः। द्विपदा विराट्)

शत्रुओं को जीर्ण करनेवाला इस अर्थका 'जार' शब्द इस से पूर्व आ चुका है। उषाओं का नाश करनेवाला इस अर्थ का जार शब्द भी वेद में ५ बार आ गया है। ये मन्त्र जैसे अग्निदेवता के हैं, वैसे हि सूर्यदेवता के भी हैं, ये मन्त्र अब देखिये—

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः। परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्॥ (ऋ० १।६९।१)

(शुक्रः) बलवान् (उषः जारः न) उषा के जार के समान अर्थात् सूर्य के समान (शुशुक्वान्) तेजस्वी, (समीची पप्रा) एक दूसरे के साथ सदा जुडे रहनेवाले द्यावापृथिवीको अपने प्रकाश से भरपूर करनेवाला (दिवः न ज्योतिः) दिन के ज्योतिरूप सूर्य के समान यह अग्नि (प्रजातः) उत्पन्न होते ही (क्रत्वा) अपने सामर्थ्य से (परि बभूथ) चारों ओर व्यापता है। यह अग्नि (देवानां पुत्रः सन्) सूर्यादि देवों का पुत्र होनेपर भी उनका (पिता भुवः) पालक पिता के समान हुआ है।

सूर्य और विद्युत् से पृथ्वी पर का अग्नि उत्पन्न होता है, इसलिये यह उनका पुत्र है। पर अग्नि में आहुतियां डाली जातीं हैं और वह अग्निद्वारा सब देवों को पहुंचती हैं, इसलिये यह अग्नि उनका पालक भी है। यह अग्नि उषा का जार है, क्योंकि उषःकाल में अग्नि प्रदीप्त किया जाता है, और दिन शुरू होता है। इसलिये अग्निका जलना और उषाका नाश होना साथ साथ होता है। इस तरह अग्नि उषाका जार, अर्थात् नाशक है। और देखिये—

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै। त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन्नवन्त विश्वे स्वर्दृशीके॥ (ऋ० १।६९।५)

(उषो न जारः) उषा के जार अर्थात् उषा के नाशक सूर्य के समान (वि-भावा) विशेष तेजस्वी, (उस्रः) सब को बसानेवाला, (संज्ञातरूपः) जिसका रूप प्रत्यक्ष दीखता है, ऐसा यह अग्नि (अस्मै चिकेतत्) इस उपासक को पहचानता है। (त्मना वहन्तः) स्वयं हविष्यान्न को उठानेवाले इस के किरण (दुरः व्यृण्वन्) यज्ञस्थान के द्वारा खोलते हैं और पश्चात् वे ही उस के (विश्वे) सब किरण (दृशीके स्वः) दर्शनीय आकाश में (नवन्त) व्यापते हैं।

यहां 'उषा का जार' सूर्य है, यह अग्नि के लिये उपमा के रूप में यहां आया है। सूर्य आने से उषा का नाश होता है, इसलिये सूर्य को 'उषा का जार' कहा है। 'जॄ- वयोहानौ' इस धातु से 'जार' शब्द बनता है। 'आयुकी हानि करनेवाला' यह इस का अर्थ है। पूर्वोक्त मंत्र में अग्नि और इस मन्त्र में सूर्य ये दोनों उषा के जार हैं, क्योंकि ये जब आते हैं, तब 'उषाकी आयु का नाश' होता है। और देखिये—

(वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। अग्निः। त्रिष्टुप्)
अबोधि जार उषसामुपस्थाद्धोता मन्द्रः कवितमः पावकः। दधाति केतुमुभयस्य जन्तोर्हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु॥ (ऋ० ७।९।१)

(होता) देवताओं को बुलानेवाला, (मंद्रः) प्रिय, (कवितमः) अत्यंत कवि-ज्ञानी, (पावकः) शुद्धता करनेवाला, (उषसां जारः) उषाओं का जार अर्थात् नाशकर्ता अग्नि (उपस्थात् अबोधि) समीप स्थान से जाग

उठा है। यह (उभयस्य जन्तोः) दोनों प्रकार के अर्थात् द्विपाद और चतुष्पाद प्राणियों को (केतुं दधाति) ज्ञान देता है, (देवेषु हव्या) देवताओं को हविर्भाग पहुंचाता है, तथा (सुकृत्सु द्रविणं) सत्कर्म करनेवालों को धन देता है।

यहां उषाओं का जार अग्नि है। यज्ञशाला में एक ही अग्नि रहता है और वह प्रतिदिन उषःकाल में प्रज्वलित होता है, तथा उसके जलने के बाद दिन का उदय होने से उषा का नाश होता है। इस तरह एक ही अग्नि अनेक (उषसां जारः) उषाओं का नाश करता है। और देखिये–

उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद्दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः। वृषा हरिः शुचिरा भाति भासा धियो हिन्वान उशतीरजीगः॥ (ऋ० ७।१०।१)

(उषः जारः न) उषा के जार अर्थात् नाशकर्ता सूर्य के समान यह अग्नि (पृथु पाजः अश्रेत्) बहुत प्रकाश धारण करता है। यह (दविद्युतत्) चमकनेवाला (दीद्यत्) तेजस्वी और (शोशुचानः) प्रकाशमान है और (शुचिः) पवित्र अग्नि (वृषा) कामनाओंकी पूर्णता करता है, (हरिः) दुःखों का हरण करता है, और (धियः हिन्वानः) हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है, यह (भासा आभाति) अपने तेजसे प्रकाशता है और (उशतीः) अपनी उन्नतिकी इच्छा करनेवाली प्रजाओं को (अजीगः) जगाता है।

यहां 'उषा का जार' सूर्य है। इस विषय में पूर्व स्थान में कहा ही है। ये चार मंत्र 'उषा के जार' के विषय में हैं। इनमें जार कर्म की कल्पना भी करना असंभव है, इतने ये मंत्र स्पष्ट हैं। उषःकाल में अग्नि प्रदीप्त किया जाता है, और सूर्य का उदय होता है, साथ ही साथ उषःकाल का नाश होता है। इतनी ही बात यहां है।

आगे के मंत्र में रूपक तो यही है, परन्तु जारकर्म की कल्पना वहां अंशतः उत्पन्न हुई दीखती है--

जार पति की परिचर्या।

(वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। उषसः। त्रिष्टुप्)

तानीदहानि बहुलान्यासन्या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य। यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥ (ऋ० ७।७६।३)

(या सूर्यस्य प्राचीनं उदिता) जो सूर्य के उदय होने के पूर्व उदय होनेवाले हैं, (तानि अहानि इत्) वे दिन निःसन्देह (बहुलानि आसन्) बहुत हैं, (यतः) जिन में (उषः) हे उषा! (जारः इव) जार के समान [बर्ताव करनेवाले तेरे पति सूर्य की तू] (परि आचरन्ती ददृशे) परिचर्या कर रही है, ऐसा दीखता है, (पुनः) परन्तु (यती इव न) पति को छोडकर दूर जानेवाली स्त्रीके समान, [तेरा आचरण] नहीं है।

इस मन्त्र में सूर्य और उषा के ही रूपक से स्त्रीधर्म का उपदेश दिया गया है। सूर्य उदय होने के पूर्व कई दिन एक मास तक- तीस दिनतक–केवल उषःकाल हि उत्तर-ध्रुव के पास रहता है। मान लीजिये कि उषा सूर्य की धर्मपत्नी है, परन्तु सूर्य उषा के घर पर न आता हुआ, अन्यत्र रमता है, और उषा अपने पतिदेव की बडी आतुरता से प्रतीक्षा करती है। पति परस्त्री के पीछे जाता है। उषा पतिव्रताधर्म से पति की प्रतीक्षा में हि प्रतिदिन रहती है, कभी पति को छोड देने की कल्पना तक नहीं करती।

इस मन्त्र में पतिव्रता का धर्म पतिसेवा बताया है। पति परस्त्री के साथ जार कर्म करने की इच्छा से घर न आता हो, तो भी उस की स्त्री उस की सेवा पतिव्रताभाव से करे, अपने धर्माचरण से पतिदेव का सुधार करे, परन्तु कभी उसे छोडकर दूर न भाग जावे।

उषःकाल के अनेक दिन जिस भूभाग में होते हैं, वहां का यह वर्णन है। मान लें की एक देश में ३० दिन उषःकाल के होते हैं। वहां सूर्य तीस दिनतक दीखता नहीं, केवल उषा का ही दर्शन होता है। उषा अपने घर रहती और अपने पतिदेव के आगमन की प्रतीक्षा करती है। इस तरह उषा प्रतिदिन पति की प्रतीक्षा करती है, परन्तु पति को छोडने का विचार कभी नहीं करती। प्रतिदिन अपने जार बने पति की परिचर्या ही करती रहती है।

इस मन्त्र में दूसरी एक स्त्री का वर्णन है, उसका नाम 'यती' है। 'यती' का अर्थ है, जो पति को छोडकर (याति) दूर जाती है। पति घर नहीं आता, इसलिये उसका नाम छोडकर दूसरे के साथ जाती है, वह 'यती' है। ऐसी स्त्री की निंदा यहां की गयी है।

आदर्श पतिव्रता स्त्री का नमूना वेदने इस मन्त्र के

उषासूर्य के रूपक द्वारा बताया है। इस मन्त्र में व्यभिचारी अर्थ का जार शब्द आया है। यह रूपक उषा और सूर्य पर हि है। आगे बहिन के साथ जार कर्म करनेवाले भाई का (उषा और सूर्य का ही) वर्णन है, वह अब देखिये—

बहिन का जार।

(भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । पूषा । गायत्री)
पूषणं न्व१जाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम् ।
स्वसुर्यो जार उच्यते॥ (ऋ० ६।५५।४)

(अजाश्वं) जिसके पास बहुत बकरियां और बहुत घोडे हैं, (वाजिनं) जो बलवान् है, उस (पूषणं उप स्तोषाम) पूषा देवता की हम स्तुति करते हैं, (यः) जो पूषा (स्वसुः जारः उच्यते) अपनी बहिन का जार कहा जाता है।

पूषा का अर्थ है सूर्य। उन की बहिन है उषा। क्योंकि रात्रीरूप माता की पुत्री है उषा और पुत्र है सूर्य। अतः ये बहिनभाई हैं। जब सूर्यरूपी पुत्र का जन्म होता है, तब उस की उषानामक बहिन का अन्त हो जाता है। यहां 'जार' का अर्थ अन्त करनेवाला है। क्षीण करना, नाश करना ये जार शब्द के अर्थ पूर्व स्थान में दिये ही हैं। इसी विषय में और अगला मन्त्र देखिये—

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः ।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥ (ऋ० ६।५५।५)

(मातुः दिधिषुं) माताके पतिकी [मातारूपी रात्री का पति चन्द्रमा है, इस की] हम (अब्रवं) स्तुति करते हैं। (नः) हमारी यह स्तुति (स्वसुः जारः शृणोतु) बहिनका जार सुने। [उषारूपी बहिनका जार अर्थात् नाशकर्ता सूर्य श्रवण करे।] यह (इन्द्रस्य भ्राता) इन्द्र का भाई है और वही (मम सखा) मेरा मित्र है।

दिधिषु का अर्थ दूसरा पति है, परन्तु यहां इस शब्दका अर्थ 'पति' इतना ही है। माता रात्री है, उस का पति चन्द्रमा है। स्वसा उषा है और उसका जार है सूर्य, क्योंकि वह आते ही उषा की आयु का नाश होता है। यह सूर्य इन्द्र-बिजली का भाई और हम सब का मित्र है। सूर्य का नाम मित्र है ही। ऐसे स्थानों में तथा कई मन्त्रों में अन्यत्र भी 'जार' शब्द का अर्थ 'प्रियपति' ऐसा भी करते हैं। जॄ धातु स्तुति अर्थवाला भी है। (स्वसुः जारः) बहिन जिस की स्तुति करती हैं, वह बहिन का प्रिय अर्थात् पति। उषाका पति सूर्य है हि। अस्तु। कोई भी अर्थ लिया तो भी यहां 'व्यभिचारी' यह इस 'जार' शब्दका अर्थ नहीं है। इस सम्बन्ध का एक मंत्र और देखिये—

(त्रित आप्त्यः । अग्निः । त्रिष्टुप्)
भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। (साम० १५।४८)
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्। (ऋ० १०।३।३)

(भद्रः) कल्याण करनेवाला अग्नि (भद्रया सचमानः) कल्याण करनेवाली उषाके समेत यहां (आगात्) आया है। यह (जारः) जार अपनी (स्वसारं) बहिन के (पश्चात्) पीछे पीछे (अभ्येति) जाता है। (सुप्रतीकैः द्युभिः) उत्तम तेजस्वी प्रकाशों से युक्त होकर (वितिष्ठन्) ठहरनेवाला यह (अग्निः) अग्नि अपने (रुशद्भिः वर्णैः) तेजस्वी किरणोंसे (रामं अभि अस्थात्) आराम देनेवाली रात्रीके अन्धकार को दूर करता है।

यहां (जारः स्वसारं पश्चात् अभ्येति) जार अपनी बहिन के पीछे पीछे जाता है, ऐसा कहा है। बहिन उषा है और भाई अग्नि है। अग्नि का ही वर्णन यहां स्पष्ट है और उसका वाचक अग्निपद यहां है। सबेरे उषःकाल में यज्ञ का अग्नि जलाया जाता है, अर्थात् उषा और अग्नि इन दोनों की साथ साथ उत्पत्ति है, इसलिये ये भाई बहिन है। उषा पहिले होती है, पश्चात् अग्नि प्रदीप्त करते हैं, इसलिये यह अग्नि उषा के पीछे पीछे जाता है, ऐसा वर्णन किया गया है।

यहां भी अग्नि और उषा का वर्णन होनेसे यहां व्यभिचारका सम्बन्ध नहीं है। उषाकी वयोहानि करनेवाला अग्नि है, इतना ही यहां कहा गया है।

'बहिन के जार' के इतने तीन ही मंत्र वेदकी संहिताओं में हैं। प्रथम देखते ही (**स्वसुः जारः**) बहिन का जार शब्द सुनते ही जो भयानक व्यभिचार की कल्पना मन में आती है वह कल्पना मंत्रों के अर्थ देखने से सर्वथा दूर होती है। यहां का जार शब्द '**वयोहानि करनेवाला**' इस अर्थ का वाचक स्पष्ट है। रात्री के अग्नि और सूर्य ये दो लडके हैं और उषा इनकी बहिन है। इन दो

भाईयों की उत्पत्ति होने से बहिन की आयु क्षीण हो जाती है और वह बहिन नाश को ही प्राप्त हो जाती है। इतना ही अर्थ यहां जार शब्द का है। और एक मंत्र देखिये-

(गोतमो राहूगणः । उषाः । त्रिष्टुप् ।)

व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोध्यप स्वसारं सनुतर्युयोति । प्रमिनती मनुष्या युगानि योषा जारस्य चक्षसा वि भाति ॥ (ऋ० १।९२।११)

(दिवः अन्तान् व्यूर्ण्वती) द्युलोक के अन्तभागों को अपने रंग से आच्छादित करनेवाली उषा (अबोधि) जाग उठी है। यह उषा अपनी (स्वसारं) बहिन को- रात्री को (सनुतः युयोति) एक ओर करती है और (मनुष्या युगा प्र मिनती) मानवी युगों की गणना करनेवाली यह (योषा) स्त्रीरूपी उषा (जारस्य) अपने जार अर्थात् अपनी आयु का नाश करनेवाली सूर्य के (चक्षसा वि भाति) प्रकाश से चमकती है।

जब उषा आती है तब आकाश का वह भाग लाल होता है, यही उषा का आकाश के अन्त को आच्छादन करना है। जब उषा आती है तब वह रात्री को दूर करती है, यह तो स्पष्ट ही है। यहां रात्री की बहिन उषा कही है। रात्री बडी बहिन और उषा छोटी बहिन है। काल-नामक पिता की ये दो पुत्रियां आपस में बहिनें हैं। मानवी आयुष्य की गणना इसी उषा से होती है, क्योंकि उषा आने से दूसरा दिन शुरू होता है। उषा का जार अर्थात् उषा की आयु का नाश करनेवाला सूर्य ही है और उस के ही प्रकाश से उषा चमकती है। यह सब मन्त्र उषा और सूर्य के रूपक का वर्णन करनेवाला होने से यहां शाब्दिक कल्पना से अधिक व्यभिचार की कुछ भी कल्पना नहीं है।

जब उषा और सूर्य का अथवा उषा और अग्नि का वर्णन स्पष्ट है और कवि स्वयं यह वर्ण्य विषय जानता है, तब ' बहिन का जार ' कहा, अथवा पुत्री का जार कहा, अथवा माता का जार कहा, तोभी कोई हानि नहीं। काव्य में शब्दों के गूढ अर्थ और व्यक्त अर्थ को ध्यान में लेकर हि अद्भुत रस की रचना की होती है। ' बहिन का जार ' कहते ही आर्य मन में बडा धक्का लगता है, परन्तु ' बहिन की आयु का नाश ' करनेवाला अथवा ' बहिन को जान से मारनेवाला ' इतना ही उस का अर्थ जानने से वह मन को लगा धक्का दूर होता है। यह एक अलंकार ही है। (स्वसुः जारः) बहिन के द्वारा स्तुति के योग्य यह भी जार का अर्थ यहां ले सकते हैं।

सूर्य अथवा अग्नि उषा अथवा रात्री का नाश करनेवाले तो हैं। फिर उन के वर्णनमें रसनिष्पत्ति करने में किसी शब्द के यौगिक अर्थ के श्लेषपर बल दिया गया, तो किसी तरह की हानि नहीं है।

अब और एक कल्पना का यहां विचार करना है, उस के दोही मन्त्र हैं, वे अब देखिये—

कन्या का जार।

(पराशरः शाक्त्यः । अग्निः । द्विपदा विराट्)

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका। यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥ (ऋ० १।६६।४)

(सृष्टा सेना इव) शत्रु पर हमला करनेवाली सेना के समान यह अग्नि (अमं दधाति) भय दीखता है, (अस्तुः) शत्रु पर अस्त्र फेकनेवाले धनुर्धर के (दिद्युत्) तेजस्वी (त्वेषप्रतीका) प्रदीप्त जलनेवाले बाण के समान भी यह अग्नि भय उत्पन्न करता है। (यमः ह जातः) यह नियमन करनेवाला अग्नि ही बने हुए सब पदार्थ हैं और (यमः जनित्वं) यही यम बननेवाले सब पदार्थ भी है। यही अग्नि (कनीनां जारः) कन्याओं का जार है, तथा (जनीनां पतिः) स्त्रियों का पति भी है।

यहां अग्नि को ' कन्याओं का जार ' कहा है। जिस समय विवाह होता है, उस समय अग्नि प्रदीप्त करके उसमें हवन होता है और इस अग्नि की साक्षीत्व में कन्या का विवाह होता है। कन्या का विवाह होने का अर्थ ही यह है कि कन्या के कन्यात्व का नाश होना और उसको स्त्रीत्वकी प्राप्ति होनी। इन दोनों बातोंका साक्षी अग्नि है। इसलिये इस अग्नि को (कनीनां) कन्याओं के कन्या-संज्ञक (जारः) आयु का नाश करनेवाला और उनको स्त्रीत्वकी प्राप्ति (जनीनां पतिः) करनेवाला कहा है।

संस्कार अग्निद्वारा ही होते हैं, इसलिये अग्नि ही इनका करनेवाला है, ऐसा यहां कहा वह ठीक ही है। इस विषय का और एक मंत्र यहां देखिये--

(दीर्घतमा औचथ्यः। मित्रावरुणौ। त्रिष्टुप्)
प्रयन्तमित्परि जारं कनीनां पश्यामसि नोपनिपद्यमानम् । अनवपृग्णा वितता वसानं प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम ॥ (ऋ० १।१५२।४)

(कनीनां जारं) कन्याओं का अर्थात् उषाओं का जो जार अर्थात् नाश करनेवाला सूर्य है, उसको हम (प्रयन्तं इत् परि पश्यामसि) चलते हुए ही देखते हैं, कभी (उपनिपद्यमानं न) बैठी अवस्था में हम नहीं देखते। (अनवपृग्णा वितता वसानं) अखण्ड और विस्तीर्ण प्रकाशरूपी वस्त्रों को पहरनेवाला तथा (मित्रस्य वरुणस्य प्रियं धाम) मित्र और वरुण का प्रिय स्थान ऐसा यह सूर्य ही है।

सूर्य को कभी एक स्थान में स्थिर रहनेवाला कोई देख ही नहीं सकता। सतत संचार करनेवाला और सतत प्रकाशमान ही उसका स्वरूप है। प्रकाश के वस्त्र ही यह पहनता है। इस सूर्य की कन्या उषा है, क्योंकि सूर्यप्रकाश से उषा का जन्म है। अपनी कन्या की आयु का यह नाश करता है, क्योंकि सूर्य के आने से उषा नाश को प्राप्त होती है।

यहां सूर्य का वर्णन है और वह उक्त प्रकार कन्या का-उषा का विनाशकर्ता है। यहां अनेक कन्याओं का वर्णन है, पूर्वस्थान में दिये मंत्र (ऋ० ७।७६।३) से अनेक उषाओं की सिद्धता हो जाती है। इस तरह 'कन्या के जार' के विषय में जानना योग्य है। इन सब मंत्रों में केवल काव्य के अतिरिक्त जार शब्द का कोई भी व्यभिचारवाचक अर्थ नहीं है।

यहां तक १७ मन्त्र दिये हैं, जिन में जार के विषय में उल्लेख आया है, यहां—

१ संधि करनेवाला (जार) वृद्ध मनुष्य,
२ जलों का जार (मेघों को क्षीण करनेवाला)
३ यज्ञ का जार (यज्ञ की पूर्णता करनेवाला)
४ शत्रु के कीले जीतनेवाला (शत्रु को जीर्ण करनेवाला)
५ बूढा मनुष्य (जार) जो थोडे समय में मरनेवाला है,
६ आयुकी क्षीणता या जीर्णता करनेवाला, (जॄ वयोहानौ)
७ स्तुति के योग्य (जॄ-स्तुतौ)
८ उषाओं का नाशकर्ता,
९ बहिन का जार (उषा का नाशकर्ता)
१० कन्या का जार (विवाह कराके कन्या को पत्नी बनानेवाला।

इतने अर्थों को व्यक्त करनेवाला 'जार' शब्द आया है। 'जॄ-स्तुतौ' स्तुति करना, इस अर्थका जॄ धातु है, इससे 'स्तुति करनेयोग्य, स्तुति के योग्य' इस अर्थ का 'जार' शब्द बनता है। दूसरा 'जॄ-वयोहानौ' यह धातु है, आयुकी हानि करनेवाला यह इसका अर्थ है, इस से बननेवाले 'जार' शब्द का अर्थ (१) वृद्ध जिस की आयु नाश हो चुकी है, (२) जीर्ण जो क्षीण, निर्बल हो चुका है, (३) क्षीणत्व उत्पन्न करनेवाला, जीर्ण करनेवाला, ऐसा होता है। प्रायः येही अर्थ ऊपर के मन्त्रों में पाठकोंने देखे होंगे।

उक्त स्थानों में 'जार' का 'स्तुति के योग्य' यह अर्थ भी लग सकता है।

व्यभिचार करने के अर्थ में भी उक्त कारण ही 'जार' शब्द प्रयुक्त होता है। किसी कन्या के साथ या किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करने का अर्थ यही है, कि उस कन्या की या स्त्री की आयु की खराबी करना, अथवा जीवन का सत्यानाश करना। पर यह अर्थ गौण है। जार शब्द का मुख्य अर्थ तो ऊपर दिया है, वही है। व्यभिचार का अर्थ लाक्षणिक और गौण है। यद्यपि आजकल यही अर्थ मुख्य समझा जाता है, तथापि वेद में 'जार' का अर्थ 'वयोहानि और स्तुति' मुख्य अर्थ है और 'व्यभिचार' लाक्षणिक या गौण है।

वेद में व्यभिचारदर्शक जार शब्द के भी ११ मन्त्रोंमें प्रयोग हैं, वे मन्त्र अब देखिये—

व्यभिचारी अर्थमें जार शब्द।

वेद में व्यभिचारी अर्थ में भी जार शब्द के प्रयोग दीखते हैं, उनके उदाहरण अब देते हैं—

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥
(वा० य० २३।३०)

(यत्) जब (हरिणः यवं अत्ति) हिरण खेत में जाकर जौ खाता है, तब खेत का मालिक (अपना खेत खाकर) यह पशु पुष्ट होता है, ऐसा नहीं मानता, (प्रत्युत

इसने अपने खेतकी खराबी की, ऐसा मानता है। इसी तरह) जब (शूद्रा) शूद्रकी स्त्री (अर्यजारा) वैश्य के साथ जार कर्म करती है तब वह शूद्र (न पोषाय धनायति) अपना पोषण होगा अथवा अपने को धन मिलेगा, ऐसा नहीं मानता (प्रत्युत अपनी स्त्रीने यह बहुतही बुरा कर्म किया है, ऐसा मानता है और दुखी होता है।]

इसी तरह और भी—

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते । शूद्रा यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते ॥

(वा० य० २३।३१)

(यत्) जब एक हरिन जौ के खेत में जाकर खेत खाने लगता है, तब उस खेतका स्वामी यह पशु पुष्ट होता है, यह अच्छा हो रहा है, ऐसा (न मन्यते) नहीं मानता। इसी तरह शूद्र जब (अर्यायै जारः) वैश्य स्त्री से जार कर्म करता है, तब वह वैश्य (न पोषं अनुमन्यते) उस को अनुमोदन नहीं देता, प्रत्युत वह बहुत बुरा हुआ ऐसा ही मानता है।

तात्पर्य, अनुलोम अथवा प्रतिलोम कैसा भी जारकर्म हुआ, तो भी वह सर्वथा बुरा ही समझा जाता है और ऐसे कुकर्म को कोई संमति न देवे, क्योंकि यह सर्वथा त्याज्य ही है। और देखिये—

तरुण जार।

(कक्षीवान्दैर्घतमस औशिजः। अश्विनौ। त्रिष्टुप्)

शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति। जारः कनीनइव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान् ॥ (ऋ० १।११७।१८)

(अन्धाय) अन्धे ऋज्राश्व के लिये (शुनं भरं) सुखकारक पोषण प्राप्त हो, इसलिये (सा वृकीः) उस वृकीने (अह्वयत्) ऐसी प्रार्थना की कि, हे (वृषणा नरा अश्विना) सामर्थ्यवान् नेता अश्विदेवो ! जिस तरह (कनीनः जारः इव) तरुण जार [अपनी प्रिय स्त्रीको सर्वस्व देता है, उस तरह] ऋज्राश्वने मुझे (शतं एकं च मेषान्) एक सौ एक मेंढे (चक्षदानः) प्रदान किये [अतः तुम इनको दृष्टि देओ]।

यहां इस मन्त्र में उपमा से ' तरुण जार ' का वर्णन है। और देखो—

(परुच्छेपो दैवोदासिः। वायुः। अत्यष्टिः)

वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे। प्रबोधया पुरंधिं जार आ ससतीमिव। प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वासयोषसः ॥

(ऋ० १।१३४।३)

जैसा (वायुः रोहिता युंक्ते) वायु अपने रथ को लाल घोडे जोतता है, (वायुः अरुणा) वायु अरुण रंग के घोडे जोडता है, (वायुः रथे अजिरा) वायु अपने रथ को चपल घोडे (धुरि वोळ्हवे) धुरा को खींचने के लिये जोतता है, (वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे) धुरा को खींचने के लिये उत्तम घोडे जोतता है। (जारः आ ससतीं इव) जैसा जार सोनेवाली स्त्री को जगाता है, इसी तरह हे वायो ! तू (पुरंधिं) पूर्ण बुद्धिमान को (प्रबोधय) जगाओ, (रोदसी प्रचक्षय) द्यावापृथिवी को प्रकाशित कर, (उषसः वासय) उषाओं को प्रकाशित कर और (श्रवसे उषसः वासय) अन्नप्रदान के लिये उषाओं को प्रकाशित कर।

यहां भी उपमाद्वारा ही जार का स्त्री को जगाने का वर्णन है। जार जैसा स्त्री को चुपचाप जगाता है, वैसा वायु मनुष्योंको सहजही से जगावे। और देखो—

(रहूगण आंगिरसः। पवमानः सोमः। गायत्री)

एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति। गच्छञ्जारो न योषितम् ॥ (ऋ० ९।३८।४ साम० १२७६)

(श्येनः न) श्येनपक्षी जैसा वेग से जाता है, (जारः योषितं गच्छन् न) जैसा जार स्त्री के पास पहुंचता है, वैसा (मानुषीषु विक्षु) मानवी समाज में (एषः स्यः आसीदति) यह सोम बैठता है।

जार जैसा प्रिय स्त्री के पास वेगसे जाता है, वैसा सोमदेव मनुष्यों में आवे और रहे। यहां यह उपमा वेग दर्शाने के लिये दी है। तथा—

(प्रतर्दनो दैवोदासिः। पवमानः सोमः। त्रिष्टुप्)

अपघ्नन्नेषि पवमान शत्रून्प्रियां न जारो अभिगीत इन्दुः। सीदन्वनेषु शकुनो न पत्वा सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता ॥ (ऋ० ९।९६।२३)

(अभिगीतः पवमान इन्दुः) स्तुति किया हुआ पवित्र

करनेवाला यह सोम (शत्रून् अपघ्नन् एति) शत्रुओं पर हमला करता हुआ आगे बढता है, (प्रियां जारः न) जैसा प्रिय स्त्री के पास जार जाता है। (पत्वा शकुनः वनेषु सीदन् न) उडनेवाला पक्षी जैसा वनों में वृक्षपर बैठता है, वैसा (पुनानः सोमः) पवित्र करनेवाला सोम (कलशेषु सत्ता) कलशों में बैठता है।

यहां भी स्त्रीके पास जार जैसा वेग से जाता है, वैसा ही सोम कलशों में वेग से भरा जाता है, ऐसी उपमा वेग दर्शाने के लिये आयी है।

(अवत्सारः काश्यपः। पवमानः सोमः। गायत्री)

अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत।
मृज्यसे सोम सातये॥ (ऋ० ९।५६।३)

हे सोम! (जारं कन्या न) जार के पास जैसी कन्या जाती है, वैसा ही (त्वा दश योषणः) तुझे दस अंगुलियाँ (अभि अनूषत) प्राप्त होती हैं और तू (सातये मृज्यसे) इंद्र के लिये निचोडा जाता है।

सोम को दसों अंगुलियां पकडतीं हैं और दबाकर उससे रस निचोडा जाता है। इसको उपमा जार और कन्या की दी है। यहां अंगुलियाँ कन्या के साथ में और सोम जार के स्थान में समझना उचित है।

(वैश्वामित्रो वाच्यो वा प्रजापतिः।
पवमानः सोमः। अनुष्टुप्)

आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम्॥
(ऋ० ९।१०१।१४; साम० १३८७)

(जामिः) भाई सोम (अत्के आ अव्यत) छाननी के ऊपर वैसा जा बैठता है, जैसा (ओण्योः भुजे पुत्रः न) मातापिता के बाहुओं में पुत्र जा बैठता है किंवा (जारः योषणां न सरत्) जार प्रिय स्त्रीके पास जाता है, किंवा (वरः योनिं न आ सरत्) पति स्त्रीके प्रति जाता है।

यहां जार के स्त्रीके पास जाने की उपमा वेग दर्शानेके लिये है। यहां (वरः योनिं न) पति का पत्नी के पास जाने का वर्णन होने से जार का वर्णन उससे भिन्न अर्थ-वाला मानना आवश्यक है।

(वेनो भार्गवः। वेनः। त्रिष्टुप्)

अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्। चरत्प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्पक्षे हिरण्यये स वेनः॥ (ऋ० १०।१२३।५)

(अप्-सरा) जलों में संचार करनेवाली विद्युत् (योषा) एक स्त्री है, वह (परमे व्योमन्) बडे अन्तरिक्षमें (उप-सिष्मियाना) समीप जाते जाते (जारं बिभर्ति) जीर्ण होने-वाले मेघ को प्राप्त होती है। वह (प्रियस्य योनिषु चरत्) अपने प्रिय के स्थान में संचार करती है, (सः प्रियः सन्) वह प्रिय होता हुआ (वेनः) तेजस्वी मेघ (हिरण्यये पक्षे सीदत्) सुवर्णके समान चमकनेवाले आकाशके विभाग में प्रविष्ट होकर विराजता है।

यह वर्णन मेघ और विद्युत् का है। यहां कोई जारकर्म का सम्बन्ध नहीं, तथापि इस मन्त्रका शब्दार्थ अभिसारि-का और प्रियकर के सम्बन्ध का वाचक दीखता है। इस मन्त्र का उक्त अर्थ दर्शानेवाला अर्थ यह है—

(अप्-सराः) अप्सरा स्त्री (जारं) अपने जारके-प्रिय के-(उपसिष्मियाना) पास जाती हुई, उसे (परमे व्योमन्) बडे एकान्त में (बिभर्ति) प्राप्त करती है। पश्चात् वह स्त्री (प्रियस्य योनिषु) अपने प्रिय के स्थानों में (चरत्) विहार करती है। (प्रियः) वह उस का प्रिय (हिरण्ये पक्षे) सुवर्ण से सजे कमरे में (सीदत्) उस के साथ रहता है।

ऊपर दीखनेवाले इस व्यक्त अर्थ में अभिसारिका और जार का सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु यह रूपक ' मेघ और विद्युत् ' पर ही है, इसलिये निर्दोष है।

(श्यावाश्व आत्रेयः। पवमानः सोमः। गायत्री)

अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्।
अगन्नाजिं यथा हितम्॥ (ऋ० ९।३२।५)

हे सोम! (योषा प्रियं जारं न) जैसी एक स्त्री अपने प्रिय जार के पास वैसी हि (गावः अभि अनूषत) गौवें सोम के पास मिलती हैं। (यथा हितं आजिं अगन्) जैसे हितकारक युद्ध में वीर जाता है।

सोम के साथ गाय-दूध मिलता है, सोम में गोदुग्ध मिलाया जाता है। इस को उपमा ' स्त्री जार के पास

जाती है ' यह यहां दी है। दूसरी उपमा ' वीर युद्ध में जाता है ' यह है। दोनों में वेग दर्शाया है।

प्रजामारक को वधदण्ड।

(ब्राह्मो रक्षोहा। रक्षोहा। अनुष्टुप्)

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥

(ऋ० १०।१६२।५; अ० २०।९६।१५)

हे स्त्रि! (यः त्वा) जो तेरे पास (भ्राता) भाई होकर, (पतिः भूत्वा) पति होकर (जारो भूत्वा) जार होकर (नि पद्यते) आता है और (यः ते प्रजां जिघांसति) तेरी संतानका नाश करने की इच्छा करता है, (तं) उसको (इतः नाशयामसि) यहां से हम नाश करते हैं।

यहां संतान के नाश करनेवाले भाई, पति अथवा जार को वध का दण्ड सुनाया है।

इन मंत्रों में ' जार ' शब्द व्यभिचारी अर्थ में दीखता है। इनमें निम्नलिखित वर्णन है—

१. शूद्र-स्त्री वैश्य से जारकर्म करे, तो शूद्र को दुःख होता है। (वा० य० २३।३०)
२. वैश्य स्त्री शूद्र से जार कर्म करे, तो वैश्य को दुःख होता है। (वा. य. २३।३१)
३. जैसा तरुण जार (अपनी प्रिय स्त्रीको धन देता है) (ऋ० १।११७।१८)
४. जैसा जार सोती स्त्री को (चुपके जगाता है) (ऋ० १।१३४।३)
५. जैसा स्त्रीके प्रति जार जाता है। (ऋ० ९।३८।४)
६. जैसा जार प्रिय स्त्री के पास पहुंचता है। (ऋ० ९।९६।२३; ९।१०१।१४)
७. जैसी कन्या जारके पास जाती है। (ऋ० ९।५६।३)
८. जैसी स्त्री जार को एकान्त में प्राप्त करती है। (ऋ० १०।१२३।५)
९. जैसी स्त्री प्रिय जार को मिलती है। (ऋ० ९।३२।५)

इन सब मंत्रों में पहिले दो मंत्रों में ही प्रत्यक्ष जारकर्म होने का उल्लेख स्पष्ट है, इसी तरह अन्तिम (ऋ० १०।१६२।५) मंत्र में भी जारकर्म का उल्लेख है, जहां वधदण्ड सुनाया गया है। शेष आठ मंत्रों में जार की उपमा दी है। यह उपमा वेग, एकान्त, आतुरता आदि की सूचक है। वेद में दस हजार उपमाएं हैं, उनके आठ उपमाएं ' जार ' कर्म करनेवाले व्यभिचारी की हैं। दस हजार उपमाओं में आठ उपमायें कोई अधिक नहीं है।

उपमा में जितना भाव है, उतनाही लेना होता है, और उपमा एक अंशमें हि लेनी होती है। अस्तु, इस तरह इन मंत्रों का जार शब्द व्यभिचारी के अर्थ में होता हुआ भी ' **अहल्या की कथा** ' का गूढ प्रकट करने में सहायक नहीं हो रहा है।

वेद में ' जार ' शब्दवाले मंत्र इतने ही हैं। अतः वेद में अहल्या का गूढ व्यक्त करने का स्पष्ट साधन नहीं मिलता, यही अन्तिम परिणाम है।

अहल्या का अर्थ।

ऐसे कठिन प्रसंग में ' अहल्या ' शब्द का यौगिक अर्थ देखने से कुछ मार्ग मिलना संभव हो सकता है, ऐसा विचार कर इसका यौगिक अर्थ देखते हैं--

१. ' **अहः लीयते अस्यां** '= दिन जिसमें लीन होता है, रात्री अथवा सायंसंध्या।
२. ' **अहनि लीयमाना** '= दिनमें जो लीन होती है, रात्री अथवा प्रातःकालकी उषा।
३. ' **हल्यते इति हल्या, न हल्या अहल्या** '= जहां हल जोता जाता है, उस भूमि का नाम हल्या है, अतः जिस भूमिमें हल नहीं जोता जाता, वह भूमि ' अहल्या ' है।

पहिले दोनों अर्थों में अहल्या शब्द का अर्थ ' उषा **अथवा रात्री** ' है। इस उषा का या रात्री का जार अर्थात् ' वयोहानि करनेवाला, नाश करनेवाला सूर्य अथवा अग्नि ' है। इस का वर्णन करनेवाले कई मन्त्र इस लेख के पूर्व-भाग में हैं।

अहल्या का तीसरा अर्थ ' भूमि ' है। जिस में हल नहीं जोता जाता था, ऐसी भूमि अहल्या है, उसे का उद्धार श्रीरामचन्द्रने किया, अर्थात् भूमि को धान्य-बोने-योग्य उपजाऊ बनाया। यह अर्थ रमणीय तो दीखता है, परन्तु इस प्रकार के अर्थ दर्शानेवाले वेदमन्त्र हमारे पास नहीं हैं। इस कारण इस अर्थको हम वेदमें नहीं देखसकते।

शेष रहे ' उषा के जार ' के अथवा ' रात्री के जार ' के मन्त्र, जिनका अर्थ इस लेखके पूर्वार्ध में दिया है। इन मन्त्रों का अब विचार करेंगे।

१. ' **संधये जारं** '– संधि करने के लिये वृद्ध मनुष्य योग्य है। (वा० य० ३०।९; काण्व य० ३४।९)
२. ' **अपां जारः** '– जलों को जीर्ण करनेवाला (सूर्य) है। (ऋ० १।४६।४)
३. ' **अध्वरस्य जारं** अग्निं '– यज्ञ की पूर्णता करनेवाला अग्नि है। (ऋ० १०।७।५)
४. ' **पूर्भित् जारः** '– शत्रुओं के कीलों का भेदन कर के शत्रु को जीर्ण करनेवाला (इन्द्र) है। (ऋ० १०।१११।१०)
५. ' **जारं मरायु चर्चरं** '– जीर्ण होनेवाला और मरनेवाला जगत् है। (ऋ० १०।१०६।७)
६. ' **जारः भगं आ इयक्षति** '– सबको जीर्ण करनेवाला सूर्य अब प्रकाश को प्राप्त हो रहा है। (ऋ० १०।११।६)
७. ' **प्रबोधय जरितः जारं इन्द्रं**- ' हे स्तुति करनेवाले ! स्तुति करनेयोग्य इन्द्र को स्तुति से जगाओ। (ऋ० १०।४२।२)

इन मन्त्रों में जार शब्द का प्रयोग है, परन्तु इनका अर्थ व्यभिचारी नहीं है। इसलिये अपनी खोज के लिये इन मंत्रोंका उपयोग नहीं है। यहां ' इन्द्रका विशेषण जार है ' परन्तु ' **जरितः जारः** ' इन शब्दों के सान्निध्य से दोनों का अर्थ ' स्तुति करनेवाला और स्तुत्य ' है। '**जार इन्द्र** ' का विचार करने के समय यह प्रयोग और यह मन्त्र विशेष महत्त्व का है, अतः पाठक इस का स्मरण रखें। आगे और देखिये-

८. ' **स्वसुः जारः** '-बहिन उषा का नाश करनेवाला पूषा (सूर्य) है। (ऋ० ६।५५।४)
९. ' **स्वसुः जारः इंद्रस्य भ्राता**- ' बहिन उषाका नाश करनेवाला इन्द्र का भाई (. पूषा-सूर्य) है। (ऋ० ६।५५।५)
१०. ' **स्वसारं जारो अभ्येति** '– बहिन उषा के प्रति उस का नाश करनेवाला भाई (अग्नि) जाता है। (सबेरे उषा होती है, अग्नि, प्रदीप्त होता है। अतः ये भाई बहिन हैं। अग्नि प्रदीप्त होने से दिन होकर उषा नाश होती है, इसलिये अग्नि बहिन का नाशकर्ता है।) (ऋ० १०।३।३)
११. ' **योषा जारस्य चक्षसा विभाति** '– उषा स्त्री अपने नाशकर्ता (सूर्य) के प्रकाश से प्रकाशती है। (ऋ० १।९२।११) यहां स्त्री किसी जारके दिये आभूषणों से सजती है, ऐसा भाव दिखाने का हेतु यहाँ है। पर उषा देवता का यह मंत्र है और जार का अर्थ सूर्य ही यहां है।

ये भी सब मंत्र जार शब्द होने पर भी उषा सूर्य के वर्णन परकही हैं। पहिले ३ मंत्रों में (स्वसा) बहिन शब्द का प्रयोग होनेसे ये मंत्र अहल्या की खोज के लिये उपयोगी नहीं हैं। क्योंकि अहल्या इंद्र की बहिन नहीं है, वह गौतम की पत्नी है। चतुर्थ मंत्र में ' जार के प्रकाश से प्रकाशनेवाली स्त्री ' का वर्णन है। यह उषा-सूर्य का ही वर्णन है, तथापि संभव है कि यह मंत्र अपने कार्यके लिये उपयोगी होगा। तथा--

१२. ' **कनीनां जारः** '– कन्याओं की कन्याभावयुक्त आयुका नाश करनेवाला (अग्नि) है– (क्योंकि विवाह में अग्नि के संनिध कन्यात्वका नाश होकर पत्नीत्वकी प्राप्ती होती है) (१।६६।४; १।१५२।४)

ये मंत्र अग्नि के वर्णन के हैं। इसलिये हमारे अहल्या की खोज के काम के नहीं हैं। अब उषा के जार के पांच मंत्र शेष रहते हैं, उनको देखते हैं--

१३. ' **उषो न जारः** '– ' उषा को जीर्ण करनेवाले (सूर्य के) समान। (ऋ० १।६९।१; १।६९।५; ७।१०।१)
१४. ' **उषसां जारः** '– अनेक उषाओं का एक जीर्ण करनेवाला अग्नि है। (ऋ० ७।९।१)
१५. ' **उषः जार इव पर्याचरन्ती ददृशे** '– उषा अपने जार पतिकी सेवा करती है, ऐसी दीखती है। (ऋ० ७।७६।३)

' **उषो जारः** ' का अर्थ ' उषाको जीर्ण करनेवाला ' है। सूर्य आने से उषा नष्ट होती है, यह सत्य है, इसलिये य अर्थ ठीक है। ' **उषाका प्रस्तावक** ' यह भी इस का

अर्थ हो सकता है । उषा आने का प्रस्ताव सूर्य करता है । 'उषाद्वारा स्तुति के योग्य' यह भी इस का अर्थ होना सम्भवनीय है । 'जार' शब्द '**जॄ वयोहानौ, जॄ स्तुतौ**' इन दोनों धातुओं से बनता है। पहिले धातु से इस की सिद्धि सब करते हैं, पर दूसरे धातु से भी इस की सिद्धि होती है, वह क्यों न मानी जाय ?

उषःकाल से सूर्य की प्रार्थना होती है, इसलिये यह सूर्य '**उषा का जार**' माना जा सकता है । 'जार' का भाषा में एक ही अश्लीलभाव प्रसिद्ध है, पर वेद में इस के कई भाव हैं जो ऊपर दिये मन्त्रों में प्रकट हुए हैं।

उषा (**अहनि लीयमाना**) दिन में लीन होती है, इसलिये (अह-ली = अहल्या) अहल्या है । इस अहल्या की वयोहानि करनेवाला सूर्य है, क्योंकि सूर्य के आते ही उषा नष्ट हो जाती है । इसलिये सूर्य ही उषा का जार है। उषा का पति अग्नि है ।

उष्-जलना, (उष्-दाहे)

उष्- उषःकाल, सबेरा, प्रभात-समय,

उष- उषः काल, सबेरा, प्रभात समय,

उषस्- उषा, प्रातःकाल, सायंकाल का समय (उषस्-प्रभातीभावे)

उषा- उषःकाल,

उषप- अग्नि, सूर्य,

उषाकर-चन्द्र, रात्री का निर्माता, उषा का निर्माता ।

उषा का पति अग्नि अथवा चन्द्रमा कहा गया है । अतः चन्द्र अथवा अग्नि उषा का पति है, यही गोतम है, और उषा का जार सूर्य है । सूर्य आने से उषा दिन में लीन हो जाती है, फिर सूर्य के जाने के समय शाम को आती है । इस तरह यह मूल कथा रूपकालन्कारसे है । शतपथ में '**अहल्यायै जारः**' ऐसा कहा है और वह मंत्र का प्रतीक भी है, पर वह मंत्र इस समय वेदों में मिलता नहीं । अतः तत्सदृश भाव बतानेवाले मंत्रों में 'उषा का जार' का वर्णन करनेवाले ये ४।५ मंत्र हैं । यद्यपि इनमें '**अहल्याके जार**' का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है, तथापि '**उषाके जार**' का वर्णन है और उषा ही यौगिक अर्थसे अहल्या है, अतः इस कथा का जो मूल वेद में इस समय मिलना संभव है वह यही है ।

इतना यहां कहना आवश्यक है कि, जिस प्रतीक का उल्लेख शतपथब्राह्मण में है, वह 'उषा के जार' का नहीं है, तथापि उषा के जार का उस के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है । अहल्या की कथाका जो कुछ मूल संहिता और ब्राह्मणों में मिलता है वह इतना ही है । इस को यहीं समाप्त करते हैं और इस कथा का विस्तार पुराणों में किस प्रकार हुआ है इस का विचार अब करते हैं ।

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद	५)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३)	१॥)	४॥)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९॥) साढे नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ७॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है.] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

ऋग्वेद दूसरी वार छप रहा है। यह छपाई होनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६॥) रु० में मिलेंगी तत्पश्चात् ७॥) मूल्य होगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद)	३)	।॥)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१।॥=)	५।॥)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ६॥) मूल्यसेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें ऋग्वेद का पुनर्मुद्रण होने तक ही यह सहूलियत रहेगी।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

स्वाध्यायसंघ का उद्देश्य

और

वेदाध्ययन के कार्य की दिशा।

"वेदका स्वाध्याय करना और कराना वैदिक धर्मी आर्यों का परम कर्तव्य है।"

मनुमहाराज कहते हैं कि 'वेद का स्वाध्याय करना चाहिये।' सब शास्त्रकार भी यही आज्ञा देते हैं और अपनी धर्मपुस्तक का सांगोपाङ्ग अध्ययन करना चाहिये, इसमें भला किसी दूसरेके कहनेकी आवश्यकता ही क्या है ? यदि वह ग्रंथ हमारा धर्मग्रंथ है, तब तो हमें उसका अध्ययन करना ही चाहिये।

एक आपत्ति।

आजकल हम देखते हैं कि योग्य रीतिसे वेदाध्ययन न होनेके कारण हि अनेक कुकल्पनाएं हमारे अन्दर घुस गयी हैं और अपनी जड पक्की करती जा रहीं हैं। इतनाही नहीं ये कुकल्पनाएं वेदधर्मका अंग भी बन चुकी हैं, जिसकी वजहसे उनका दूर करना भी कठिन हो गया है। क्या यह आपत्ति कम हानिकारक है ?

आजकल जो संस्कृत बिलकुल नहीं जानते, जो स्वयं वेद पाठ नहीं कर सकते, वेदोच्चारण भी ठीक नहीं कर सकते, जो वेदका अर्थ स्वयं जान नहीं सकते, वे भी धूमधडाकेसे वेदके सिद्धांतों पर व्याख्यान देते हैं, और 'यह वैदिक है और यह अवैदिक है,' ऐसा कहनेमें जराभी नहीं हिचकिचाते !! यह कितने आश्चर्य की बात है ? इस तरह यदि अज्ञानी लोगहि किसी धर्मकी मिट्टी पलीत करने लग गये, तो उस धर्मकी भविष्य में क्या अवस्था होगी, यह तो परमात्मा ही जाने !

ज्ञान-विज्ञान।

वैदिक धर्म ऐसा धर्म नहीं है कि, जिसमें अज्ञानी भी किसी तरहका हस्ताक्षेप कर सकें। वैदिक धर्म एक बडा शास्त्रीय वैज्ञानिक धर्म है। ज्ञानविज्ञानके विना और ठीक अध्ययन के विना कोई भी मनुष्य उसमें ठीक प्रगति नहीं कर सकता। इसीलिये वेदका अध्ययन, मनन और निदिध्यासन होना अत्यंत आवश्यक है।

अध्ययनका साधन।

जो सज्जन वैदिक धर्म का ज्ञान वेद का स्वयं अध्ययन करके अपने अन्दर बढानेके इच्छुक हैं, उनके लिये आजकल वेदाध्ययन करने का कोई साधन नहीं है। कुमारपन में आचार्यकुल, गुरुकुल, महाविद्यालय, वेदविद्यालय ऐसे अनेक विद्यालय हैं, जहाँ जाकर वे वेदाध्ययन कर सकते हैं, परन्तु जिनकी आयु २०-२५ वर्ष से अधिक हो चुकी है, जो कि व्यवसायोंमें लग चुके हैं, जिनके पास आचार्यकुल में जाकर अध्ययन करने के लिये समय नहीं है, परन्तु जो सचमुच वेदज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, जिनकी वेदपर असीम श्रद्धा है, उनका क्या ? ऐसे लोग वेदज्ञान किस ढंग से प्राप्त करें ? इसका विचार करते हुए और सब भारत देशकी परिस्थितियों का विचार करके स्वाध्याय-संघद्वारा यह कार्य हो सकता है, ऐसा हमने निश्चय किया और तदनुसार इस स्वाध्यायसंघकी स्थापना की।

इस संघमें जो प्रविष्ट होंगे, वे ५।६ वर्षोंमें वेदवेत्ता हो सकेंगे। यदि कोई मनुष्य नियमपूर्वक प्रतिदिन वेदाध्ययन न कर सकता हो, तो वह १० वर्षों में वेदज्ञ हो सकेगा। परन्तु जो प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घण्टा हमारे दर्शाये मार्ग से वेदाध्ययन करता रहेगा, वह ५।६ वर्षों में ही वेदवेत्ता हो सकेगा। सिर्फ प्रतिदिन नियमपूर्वक आध घंटा इस कार्य के लिये देनेकी ही शर्त है।

स्वाध्याय-संघके उद्देश्य और नियम।

वेदका स्वाध्याय करना और कराना, तथा वेदके धर्म का आचरण करना और कराना स्वाध्याय-संघका उद्देश्य है।

वेदका स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन करनेवाले वेदधर्म के प्रेमी सज्जन इस 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य हो

सकते हैं। कम से कम ३ सदस्य होनेपर यह संघ स्थापित किया जा सकता है।

१. **स्वाध्याय-संघका सदस्य** होने के लिये कोई चंदा नहीं रखा गया। परंतु—

'प्रतिदिन कमसे कम एक मंत्र का मननपूर्वक पाठ करना।'

'आठ दिनोंमें कमसे कम एक नया मंत्र कण्ठ करना;'

'और स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कम से कम मासिक एकवार उपस्थित रहकर स्वयं मनन किये हुए वेदमंत्र का आशय समय मिलनेपर अन्य सदस्यों को बताना,'

यही 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य होनेके लिए चंदा है।

२. कम से कम तीन सदस्य होनेपर इस '**स्वाध्याय-संघ**' की स्थापना की जा सकती है। इनमें एक **अध्यक्ष**, दूसरा मंत्री और तीसरे **सदस्य** होंगे। इनका कार्य उक्त प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय करना, साप्ताहिक सत्संगमें अपने विचारों को रखना और स्वाध्याय-संघके सदस्यों की संख्या बढाना होगा।

३. **स्वाध्याय-संघ** के सदस्य स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण, वृद्ध अर्थात् सब हो सकते हैं। आयुकी, चन्देकी या किसी अन्य धर्ममत या पंथ के सिद्धांत मानने आदि का कोई भी प्रतिबंध इस स्वाध्याय-संघके सदस्य होनेके लिए नहीं है। वेद-धर्म का अभ्यास करने की इच्छा रहने पर कोई भी मनुष्य पूर्वोक्त शर्तों का स्वीकार करके सदस्य हो सकता है।

४. **स्वाध्याय-संघ** का सदस्य किसी भी अन्य संस्था का अथवा अनेक संस्थाओं का सदस्य रह सकता है।

५. यदि बाहरके सदस्य न मिले, तो अपने ही घरमें पति, पत्नी, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री ये सब सदस्य हो सकते हैं। पाठशाला के तीन विद्यार्थी भी अपना संघ स्थापित कर सकते हैं।

६. **स्वाध्याय-संघ** स्थापित करके सदस्यों के नाम लिखकर भेजने पर उनके स्वाध्याय की आयोजना '**स्वाध्याय-मण्डल**' द्वारा की जा सकेगी।

७. प्रतिमास **स्वाध्याय-संघ** के स्वाध्याय का प्रगति-पत्रक स्वाध्याय-मण्डलके पास आना चाहिए। जिनसे एक वर्षतक कोई वृत्त नहीं मिलेगा, उनका संघ बंद हो चुका है, ऐसा समझा जायगा।

सदस्योंकी स्वतन्त्रता।

स्वाध्यायसंघ के सभासद के लिए यह बंधन नहीं है कि, वह **स्वाध्याय-मण्डल** के द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंको ही खरीदकर उनका ही अध्ययन करे, और यह भी बंधन नहीं है कि, वह स्वाध्याय-मण्डलके पुस्तकोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही माने।

स्वाध्याय-संघ के सदस्य पूर्ण रीतिसे और सब प्रकार से स्वतन्त्र हैं। वे चाहे जिस रीतिसे वेदाध्ययन करें, चाहे जिस पुस्तकसे वेदका अध्ययन करें उसमें किसी भी प्रकार का कोई भी बंधन रखना हमारा उद्देश्य नहीं है।

वेद स्वतन्त्र हैं।

हमारा यह निश्चय है कि, **वेद स्वयं अपने अर्थ और अपने सिद्धांत प्रकट करते हैं**। जब यथायोग्य अध्ययन हो जायगा, उस समय अनेक ज्ञानियों के द्वारा एक ही सिद्धांत, एक ही धर्मतत्त्व और एक ही सत्य प्रकट होगा। इसीलिये हम **स्वाध्याय-संघ** के सदस्यों को पूर्ण स्वतंत्र रखना चाहते हैं।

स्वाध्याय-मंडल द्वारा स्वाध्याययोग्य अनेक पुस्तक प्रकाशित की जायेंगी और स्वाध्याय के अनेक साधन स्वाध्याय करनेवालों के समक्ष रखे जायेंगे। परन्तु उनसे लाभ उठाना या न उठाना **स्वाध्यायसंघ** के सदस्यों की इच्छापर निर्भर रहेगा।

पहिली तैयारी।

(१) संस्कृत सीखना।

वेदका अध्ययन करने के लिये सबसे प्रथम **संस्कृत भाषा** का ज्ञान प्राप्त करने की बडी आवश्यकता है। जो संस्कृत नहीं जानते, उन की सहायतार्थ '**संस्कृत-पाठ-माला**' के २४ भाग तैयार किये हैं। ये २४ भाग मिलकर एक वर्ष की पढाई है और इससे केवल भाषा जाननेवाला मनुष्य प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घण्टा अध्ययन करेगा, तो वह एक वर्ष के अन्दर मूल संस्कृत रामायण, महाभारत आदि स्वयं समझ सकेगा।

(२) वेदमें प्रवेश।

संस्कृत भाषा आ जानेपर और रामायण--महाभारत समझने की योग्यता हो जानेपर भी वेद में प्रवेश करने के लिये कुछ विशेष साधना करने की आवश्यकता है। वह साधना '**वेदका स्वयंशिक्षक**' (दो भाग) में है। ये दोनों भाग संस्कृत-पाठमाला के २४ भागों के अध्ययन के पश्चात् अभ्यास करने के लिये बनाये गये हैं। ये वेद-स्वयंशिक्षक के दोनों भाग करीब तीन या चार महिनोंमें पढे जा सकते हैं। इतना संस्कृत ज्ञान हो जाने-पर पाठक वेदका अध्ययन स्वयं ही कर सकता है।

स्वाध्यायसंघ के सदस्य यदि पहिले से संस्कृत भाषा को जानते हों, या किसी अन्य प्राचीन या अर्वाचीन पद्धति से संस्कृत भाषा उन्होंने सीखी हो, तो उनको न तो '**संस्कृत-पाठमाला**' के अध्ययन की जरूरत है और ना ही '**वेद-स्वयं-शिक्षक**' की। वे तत्काल ही स्वयं वेदाध्ययन करना प्रारम्भ कर सकते हैं।

अर्थात् स्वाध्यायसंघ के सदस्यों के लिए संस्कृतका थोडासा ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

(३) वेदपाठ।

वेदमंत्रों का **यथायोग्य पाठ करना, मन्त्रों का उत्तम उच्चारण करना, मन्त्रोंके स्वरोंका ठीक तरीके से उच्चार करना** आदि वेदपाठ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये '**वेदोच्चारणविधि**' नामक एक पुस्तक स्वाध्यायमण्डल द्वारा तैयार की जा रही है। जो करीब छः महिनों में तैयार हो कर छप जायगी। जब छप जायगी, तब उसका विज्ञापन वैदिक धर्म में दिया जायगा।

यह पुस्तक वैसे तो एक वर्षसे बनाई जा रही है, परन्तु कुछ कठिनता होने के कारण अबतक छपी नहीं। इसमें—

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मंत्रों के उच्चारण करने की विधि,
२. उक्त वेदमन्त्रोंके उदात्तादि स्वरोंके उच्चारणकी रीति,
३. सामगान करने की रीति और
४. अन्य वेदमंत्रोच्चारण की विशेषताएँ, विस्पष्टरूप से दर्शायी हैं।

स्वर-साधन।

जो लोग स्वयं '**सामगान**' सीखने के इच्छुक हैं, उनको तो हार्मोनियम के स्वरों के साथ गले से सप्तस्वर मिलानेका अच्छा अभ्यास करनाहि चाहिये। **हार्मोनियम के तीनों स्वर--सप्तकों के साथ अपना स्वर मिलाने-वाला ही सामगायन कर सकेगा।** उसको थोडासा गाने का अभ्यास हो, तो बहुत ठीक रहेगा। नहीं तो भी कमसे कम स्वरज्ञान तो होना ही चाहिये। हार्मोनियम के साथ स्वर में स्वर मिलाने का अभ्यास प्रातः ५ बजेसे ६ बजे तक करना योग्य है और उस समय निम्न--मध्य--तीव्र इन तीन सप्तकोंमें से केवल निम्न सप्तक के स्वरोंसे अपने स्वर मिलाने का अभ्यास करने से अधिक लाभ होता है।

वेदकी परीक्षाएँ।

स्वाध्याय-संघ के सदस्योंकी उक्त प्रकार प्राथमिक तैयारी होने के पश्चात् वे वेदाध्ययन का प्रारम्भ कर सकते हैं। **वेदाध्ययन ठीक ठीक रीतिसे करना होगा।** किस का अध्ययन कितना हुआ है, यह जानने के लिये पांच परीक्षायें और उनकी नियत पाठविधि (कोर्स) रखा है, जो अध्ययन करेंगे, वे इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होंगे और उनको परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके प्रमाणपत्र भी दिये जायेंगे।

प्रमाणपत्र।

इन प्रमाणपत्रों पर श्रीमान् औंधाधीश महाराजासाहेब की प्रामाणिकता और अधिकारिता रहेगी। जो प्रमाणपत्र लेने के लिये नियत समय पर यहां आवेंगे, उनको श्री महाराजासाहेब स्वयं प्रमाणपत्र अपने हाथ से देंगे, अन्यों को डाकद्वारा भेजे जायेंगे।

परीक्षा लेनेवाले और उत्तीर्णानुत्तीर्णका निर्णय करनेवाले स्थानस्थानके विद्वान् नियत किये जायेंगे और इनके हस्ताक्षर भी प्रमाणपत्र पर रहेंगे। इनके नाम आदि यथासमय प्रकाशित किये जायेंगे।

पाठविधि।

इस तरह **स्वाध्याय--संघके** सदस्यों की परीक्षायें और उनकी पाठविधि तथा अध्ययन की योग्यता आदि का

विवरण इस प्रकार है—

परीक्षा--नाम	पाठय मंत्रसंख्या		
१. वेदपरिचय	३०० वेदमंत्र	प्रथम वर्षकी	पाठविधि
२. वेदप्रवेश	५०० ,,	द्वितीय ,,	,,
३. वेदप्राज्ञ	१००० ,,	तृतीय ,,	,,
४. वेदविशारद	२००० ,,	चतुर्थ ,,	,,
५. वेदपारंगत	५००० ,,	पंचम ,,	,,

६. वेदाचार्य (वेद की स्वतन्त्र बुद्धि से विशेष अपूर्व खोज करनेवालेको ही यह उपाधि मिल सकती है। इसका नियत अभ्यासक्रम नहीं है।)

प्रथम **वेदपरिचय** परीक्षा के लिये सौ सौ मन्त्रों की तीन पुस्तकें तैयार हो रही हैं +। आगे की प्रत्येक परीक्षा के मन्त्रों की ५।५ पुस्तकें बनेंगी। अर्थात् **वेदप्रवेश**-परीक्षा के लिए ५ पुस्तकों में ५०० मंत्रों की पाठविधि होगी। **वेदप्राज्ञ** की परीक्षा के लिए ५ पुस्तकों में १००० मंत्रों की पाठविधि होगी। इसी तरह **वेदविशारद** और **वेदपारंगत** की प्रत्येक परीक्षा के लिए ५।५ पुस्तकें होंगी और उनमें क्रमशः २००० और ५००० मंत्रों की पढाई होगी।

इन पुस्तकोंमें वेदाध्ययनके अत्यावश्यक सब साधन मंत्रों के अर्थों के साथ, टीकाटिप्पणियों के साथ, निरुक्त-ब्राह्मण-वचनों और उपनिषद्वचनोंके साथ होंगे। इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक पुस्तक स्वयंपूर्ण होगी और परीक्षाके लिये दूसरे किसी ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं होगी।

इस तरह पांच वर्षों में प्रतिदिन आधा घण्टा अध्ययन नियमपूर्वक करनेसे करीब ८८०० मन्त्रोंका अध्ययन होगा।

इन पुस्तकों की पाठविधि इतनी सरल होगी कि क्रमपूर्वक अध्ययन करनेवाले को अध्ययन की कोई कठिनता रहेगीहि नहीं। प्रतिवर्ष सरलता से इतना अध्ययन अवश्य ही हो सकेगा।

पांच वर्षों में चारों वेदों के मंत्रसंख्याका आधा भाग पाठविधिमें आ जायगा और विशेष सुबोध तरीके से लिखने के कारण प्रत्येक पाठक इतने समय में इतना अध्ययन काफी आसानी से कर सकेंगे। इसके बाद मनन और अधिक विचार करना हरएक का स्वतन्त्र कार्य रहेगा।

वेदाचार्य की परीक्षा।

इस परीक्षा के लिए कोई पाठविधि नहीं है। चारों वेदों की तमाम संहिताओंकी खोज करके विशेष आविष्कार करने से अर्थात् इस विषय पर कमसे कम १०० पृष्ठों × का निबंध लिखनेसे और उस निबंध को विद्वानों द्वारा पसंद किये जाने पर '**वेदाचार्य**' की उपाधि मिल सकेगी। केवल परीक्षा से यह उपाधि प्राप्त नहीं होगी।

वेदाध्ययन की यह परिपाटी, सब अवस्थाको दृष्टि में रखते हुए निश्चित की गयी है।

परमात्मा **स्वाध्याय-संघ** के इस उद्देश्य को कृपा करके शीघ्र पूर्ण करनेमें सहायक हों।

निवेदक—

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय--मंडल, औंध, जि. सातारा.

+ **वेदपरिचय** (प्रथम भाग) मू० १॥) रु० डा० व्य० ।=) शीघ्र मंगवाइये।

× एक पृष्ठमें २००० अक्षर रहेंगे। अर्थात् इतना बडा निबंध लिखना चाहिये, और खोज मौलिक होनी चाहिये।

वेद-(ब्राह्म) धर्मही सर्वतोभद्र क्यों है ?

[लेखक- श्री० आचार्य पं० चन्द्रकान्तजी, वेदवाचस्पति, वेदमनीषी, रिसर्च स्कॉलर, सूरत]

धर्म मानव-आत्मा का स्वाभाविक रस है, असभ्य से असभ्य और नास्तिक से नास्तिक प्रजा में भी धर्म की ज्योति टिम टिमा रही होती है। सभ्यता एवं ज्ञान के विकास के साथ तो यह धर्म की ज्योति तीव्रतर और गंभीर होती जाती है, इसलिये धर्म जहां स्वाभाविक है, वहां आवश्यक भी है। धर्म के क्षेत्र में ऊंच-नींच, नवा-पुराना आदि भेद निस्सार है। व्यवहार की अध्यात्मभाषा धर्म है और धर्म की लौकिक व्याख्या व्यवहार है। इस दृश्य जगत् से परे कोई गूढ अज्ञात तत्त्व आंख मिचोनी खेल रहा है, यह सत्य शिव और सुन्दर है, इसकी झलक को पकडने में लगे हुये सतृष्ण नयनही धर्म के स्रोत है।

उपनिषदों के गुह्याद्गुह्यतम, वेदों के सूत्र के सूत्र उच्छिष्ट एवं स्कंभ की उलझनों को जो धर्म अधिक से अधिक सरलता से सुलझा सकता है, वही उत्कृष्ट समझा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो जो धर्म जीवन में ओत-प्रोत होकर सर्वदेशी (Universal, all-sided) होवे, वही सर्वतोभद्र होता है। इस कसौटी पर वेद-धर्म ही कसा जाता है। वेदधर्म को ही ब्राह्म धर्म या हिंदुधर्म कह सकते हैं। वेद-धर्म का मूल वेद हैं, श्रुति है। ये महान् प्रभु के "निःश्वसितमेतत्" निश्वास हैं। ब्रह्माण्डके अणु अणुमें प्रतिक्षण सुनाई देनेवाले इस निश्वास को गहरी ध्वनि को श्रुति और श्रुतिप्रतिपादित धर्म सुनाते हैं, अतः वेदधर्मही शाश्वत और सनातन है। व्यापक एवं सब मतोंका उद्गम-स्थान है।

(१) सबके लिये योग्य व्यवस्था—

धर्म का चरम साध्य आत्मा की परम शांति है। मानव आत्माओं की विविध रुचि और अनुकूलता के भेद से इसे पाने के लिये अनेक मार्ग हैं। बालक-वृद्ध, सभ्य-असभ्य हरएक को जो धर्म अधिकार के अनुसार मार्ग बताता है, वही धर्म सर्वप्रिय होता है- 'अधिकारिभेदात् धर्मभेदः।' हरेक व्यक्ति अपनी अपनी वृत्ति के अनुसार जीव, शिव तथा प्रकृति की त्रिवेणी में स्नान किया करता है। इन सब वृत्तियों को संतोष देने के लिये जिस धर्म में पूर्ण साधन बताये गये हों, वही धर्म मूल-भूत धर्म है, यूं तो हर धर्म में समय समय पर आवश्यकतानुसार साधनों में परिवर्तन की प्रथा रही है, परन्तु जिसमें ज्ञान, कर्म, भक्ति, त्याग, वैराग्य, परोपकार, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों को सर्वाङ्गसंपूर्णरूप में उपस्थित किया गया हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और ऐसा एक वेदधर्म ही है। इसमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी हरएक कोटि के मनुष्य के लिये स्पष्ट मार्ग तथा साधन हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हर वर्ण के धर्म बताये गये हैं।

(२) आत्मा तथा अनात्मा को योग्य महत्त्व-

(क) वेदमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का स्वरूप बताते हुये तीनों को ही उपादेय बताया गया है। ब्राह्म धर्म शब्द में ब्रह्म का अर्थ ईश्वर (ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति)जीव तथा प्रकृति (मम योनिः महद्ब्रह्म) तीनों ही हैं। इन तीनों तत्त्वों को क्रमशः अधिगत करके ही मानव आत्मा अपना कल्याण कर सकता है- यह ब्राह्म धर्मका रहस्य है। वेद में लिखा है—

" उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरं। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" उत (तमः= matter), उत्तर तथा उत्तम इन तीन ज्योतियों को जानकर ही साधक पूर्ण ध्येय को पा सकता है। वेदधर्म जगत् को शून्य, अलीक एवं माया बताकर "पर" की माया मरीचिका में भटकाकर साधक का इह तथा परलोक नष्ट नहीं करता है।

प्रत्युत इसमें दोनों ही लोकों की उन्नति के लिये व्यापक दृष्टि रखी गई है। चार्वाकने जहां प्रकृति एवं इसके भोगों पर बल दिया - ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्-वहां बौद्धधर्मने- 'सर्वं दुःखं सर्वं शून्यं-सर्वं क्षणिकम्' जगत् को दुःखमय और निस्सार बताकर प्रकृति की उपेक्षा की और फलतः एक वार भिक्षुधर्म (संन्यास) अवश्य फैल गया, परन्तु साथ ही

व्यवहारिक व्यवस्था भी विश्रृङ्खल हो गई, ईसामसीह की बाइबल के Sermon on the mount में वृक्ष एवं पक्षियों के दृष्टान्त से अपरिग्रह के लिये दिये गये उपदेश से तो रोमन केथोलिक लोगों में सन्यास का धर्म फैला था; परन्तु लगभग १५ वी शताब्दी में रोम और ग्रीस के संपर्क ने इस पर व्यावहारिकता का रंग चढाया था । अतः प्रोटेस्टन्ट लोगों में देखी जानेवाली व्यावहारिकता का श्रेय ईसाइयत को नहीं, अपितु ग्रीस और रोम को है। वेदधर्म में तो पद पद पर ऐहिक ऐश्वर्य के भोग और त्याग के उपदेश दिये गये हैं– 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा '।

गुरु की कुटीर में समिधा ले आये हुवे शिष्य को " सा विद्या या विमुक्तये" के साथ साथ 'कुशलान्न प्रमदितव्यम्' भूत्यै न प्रमदितव्यम्' (तै० उ०) भूतिका उपदेश भी दिया गया है । यही कारण है कि, पाश्चात्य प्रजाके समग्र साहित्य में एकाङ्गिता (one-sidedness) है। वहां आर्य–प्रजाने वेद–उपनिषद्–महाभारत जैसे सर्वाङ्गीण सर्वदेशी साहित्य को कालसरिता की तरङ्गों में बहाया है ।

(ख) जरा जीव के विषय में विचार करके देखें। सेमेटिक (Semitic) धर्मों ने आत्मा की उत्पत्ति बताकर जडवाद (Materialism) को अपनाया और जडवादी होते हुवे भी विज्ञानवाद के चोले में आत्मा की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान जगत् के द्रष्टा के रूप में ईश्वर की सत्ता मानी और यह भूल गये कि, आत्मा को माने बिना जगत् और जगत् के द्रष्टा दोनों ही निस्सार हैं । बौद्धमत की बात ही निराली है । इसमें तो आत्मा का सर्वथा बहिष्कार किया और आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान के रूपमें विज्ञानके प्रवाह (Stream of consciousness) को ऐसा बहाया कि सब कुछ ही बह गया और शून्य ही शून्य रह गया । परन्तु वेद–धर्म में आत्मा को अज कहा, ब्रह्म (महान्) कहा, अल्पज्ञ होते हुवे भी अनादि, अनन्त, अजन्मा बताया बाल से भी अधिक सूक्ष्म होते हुवे भी जीवन की ज्योति बताया– " बालादेकमणीयस्कम् । "

(ग) ईश्वर के स्वरूप के बारेमें वेदधर्म के विचार अनुपम, अद्वितीय हैं। ब्रह्मको अन्तर्यामी (Immenent) तथा पर (Transcendental), केन्द्र (Centre) और परिधि (Circumference) दोनों साथ ही साथ बताया गया है, (" एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः " " स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु । " " त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः "). यहूदीधर्म (Judoism) ने प्रभु को उग्रदण्ड राजा के भयंकर रूप में चित्रित किया है। ईसाइयत ने प्रारम्भ में तो प्रभु को मानवजाति के पिता (Fatherhood of God) के रूप में कल्पित करके ग्रीक–तत्त्वज्ञान के प्रभाव से धीमेधीमे प्रभु की कल्पनामें उन्नति की है। बौद्धधर्म ने तो पहिले ईश्वर जीवादि अवश्य तत्त्वों के विषयमें विचार ही नहीं किया था और जब किया, तब उसमें हिंदु धर्म का रंग चढ चुका था ।

(घ) ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसका वर्णन वृक्षसुपर्ण तथा अज–अजाके रूपक से जैसा वेदधर्म में किया गया है, ऐसा संसार के किसी भी धर्ममें नहीं है । जीव, प्रभु को राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में किस प्रकार अनुभव करता है, यह एक अलौकिक दृश्य केवल वेदधर्म में ही है ।

(ङ) तर्क, क्रिया तथा आनन्द का समन्वय-

धर्म केवल तर्क अर्थात् परोक्षज्ञान ही नहीं, केवल क्रिया (आचार) अर्थात् प्रत्यक्ष कर्मकाण्ड ही नहीं और केवल हृदय के भाव (भक्ति) से पैदा होनेवाली आनन्द की अवस्था ही नहीं, अपितु सबका समन्वय है । केवल विचार तत्त्वज्ञान (philosophy) का विषय होने से सम्यक् ज्ञान का साधक अवश्य है, परन्तु कर्मकाण्ड तथा नीति की सहायता के बिना उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार धर्म केवल कर्तव्यरूप होकर कर्मकांड की विधियों में ही सीमित नहीं है । कर्तव्य से आत्मा निर्मल अवश्य होता है, परन्तु ज्ञान के प्रकाश के बिना आत्मा में जडता रह जाती है और विवेक का उदय नहीं होता है, इसी प्रकार विचार (philosophy) तथा आचार (Morality and rituals) जब तक मनुष्य में भक्ति पैदा करके आनन्द का अनुभव नहीं कराते, तब तक मनुष्य को परम साध्य तक नहीं ले जा सकते हैं । अतः इन तीनों का समन्वय होना चाहिये । वेदधर्म में ऋक्, यजुः तथा साम क्रमशः विचार (वाक्) आचार (मन) तथा आनन्द (प्राय) को ही प्रतिपादित करते हैं । वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदे भी क्रमशः इसी त्रिक का स्वरूप बताते हैं।

जड दर्शनों ने जगत् के यथार्थ स्वरूप का विचार किया है, कार्याकार्य का उपदेश विधि-निषेध-शास्त्र अर्थात् धर्म-शास्त्र करते हैं और रस तथा आनन्द का प्रतिपादन साहित्य-संगीतादि कलाओं (fine arts) के ग्रन्थों से हुवा करता है। इन तीनों प्रकार के उद्देशों की सिद्धि प्रकट एवं अप्रकट रूपसे अन्य धर्मों में की गई है, परन्तु वेद-धर्म में जितना प्रस्फुट है, उतना अन्यत्र नहीं है।

(४) प्रेरक तत्व—

मनुष्य संसार में अपने चारों ओर विषमता और दुःख देखता है, इससे छुटकारा पानेको ज्ञानका दीपक जलाना पडता है, इस के प्रकाश में उसे दुख सुख लगते हैं, वैषम्य में साम्य दिखाई देने लगता है, यही बंधन से मुक्ति का उपाव है। 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' विवेक के दीपक को जलाने के बाद ही कर्तव्य की भावना उत्पन्न होती है। प्रतिभाशाली आत्माओं की बात दूर रही, परन्तु सर्वसामान्य की कर्तव्यभावना को प्रेरित करने के लिये धर्म के इतिहास में धर्म के मूर्त स्वरूप आदर्श व्यक्तियों के ज्वलन्त दृष्टान्तों की आवश्यकता है। वेदधर्म में वेदों से लेकर महाभारतरामायणादि ग्रन्थों में हरएक प्रकार के मनुष्य की कर्तव्यभावना को प्रेरित करनेवाले ज्ञानी, कर्म-योगी भक्तों, वीरों के उत्तम दृष्टान्त दिये गये हैं, इसलिये भी हिंदुधर्म सर्वदेशी है। ईसाइयत में केवल इसामसीह बौद्धधर्म में भगवान् बुद्ध, इस्लाम में केवल मुहम्मद का ही चरित्र वर्णित किया गया है, अतः ये धर्म मनुष्यमात्र की कर्तव्यभावना के प्रवर्तक नहीं हो सकते हैं, इन सब महापुरुषोंके जीवनमें जहां महत्ता है। अल्पता तथा न्यूनता होने से इनमें एकाङ्गिता है। (One-sidedness)

ज्ञान एवं कर्तव्यभावना के होते हुवे भी जब तक कोई प्रेरक तत्त्व (motive) न होवे, तब तक जीवन असार एवं शून्य है। बौद्धधर्म में प्रेरक तत्त्वपर निर्वाण की शून्य एवं नाश (Extinction) की अवस्था है, ईसाइ-यत में "great reward in heaven" है, इस्लाम में दूधशहद की नदियों और हूरों की ही आशा दी गई है, परन्तु वेदधर्म में हरएक मनुष्य को उसके कर्म और वृत्ति के अनुसार पुनर्जन्म, स्वर्ग, नर्क, मुक्ति के विविध स्वरूप बताकर प्रेरित किया है कि हे मनुष्य! "उद्यानं ते पुरुष नावयानम्" तू ऊपर उडने के लिये है– तू अमर, अजेय प्रकृति का स्वामी और राजा है। पुनर्जन्म एवं मुक्ति से पुनरावृत्ति के आदर्शों को साधक की आंखों के सामने रखकर वेदधर्म ने मनुष्यजाति की जीवनयात्रा को मंगल-मय बनाया है। इस प्रकार ज्ञान, कर्तव्यभावना तथा प्रेरक आत्मतत्त्व तीनों का ही सर्वाङ्गसुन्दर, सर्वाङ्गीण रूप यदि किसी धर्म में है, तो वेदधर्म में है। आवो! हम सब इसी एक धर्म की पवित्र गंगामें डुबकी लगाकर जीवन का मधुर संगीत सुनें, मधुर रस पीवें और (Summumbonum) परम ध्येय को प्राप्त करें। "शांतिरेव शांतिः।"

धर्म, शिक्षण और समाज

(उनका स्वरूप और समन्वय)

[लेखक- श्री० भारतेन्दु वेदालंकार]

साधारणतया हम कहते हैं कि मनुष्य ही अन्य समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है; इसमें दूसरे पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गों से कुछ विशेषता है, जो उसे अलग करती है। यह श्रेष्ठता या विशेषता क्या है? साधारण व्यक्ति कहेगा कि बुद्धि ही एक विशेषता है. जो मनुष्य में दूसरों की अपेक्षा अधिक है। इसी बुद्धि को 'विवेक-बुद्धि' (या अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे कहें, तो धर्म) इस शब्दसे भी कह सकते हैं।

महान् नीतिकार पं० विष्णुशर्माने इसी बात को '**धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः**' इस प्रकार कहा है। वास्तव में यदि मनुष्य के अन्दर यह 'धर्म' या 'विवेकबुद्धि न हो, तो वह पशु ही है। यही कारण है कि बोलचाल में अकलमन्-बेवकूफ आदमी को गधा या उल्लू आदि कहा जाता है। यह धर्म एक त्रिकाल-सत्य है, जो मानवता के लिए आवश्यक है। सत्य, दया, अहिंसा, प्रेम आदि गुण धर्म के अङ्ग हैं, जो मानवता को कायम रखते हैं। परन्तु धर्म के इस स्वरूप को न समझने से ही अनेक प्रकार के भीषण अनिष्टकारी परिणाम होते हैं।

संसार के सारे संप्रदाय और मतमतान्तर इसी कारण उत्पन्न हो गए हैं; जो कि मानवता के लिए एक बडा भारी अभिशापरूप सिद्ध हो रहा है। मध्ययुग का भारत और यूरोप इसी धर्मान्धता के कारण अत्याचारों का शिकार हुआ था, और आज भी अभागा यूरोप मनुष्यता से दूर होकर पशुता की ओर जा रहा है। राजनीतिज्ञ इस का हेतु राजनैतिक बताते हैं। इसी तरह एक अर्थशास्त्र का विद्वान् इस को आर्थिक पहेलू से सोचता है। और कोई शक्ति का पुजारी '**जीवो जीवस्य भोजनम्**' कह कर बैठ जाता है।

यह सब दृष्टिकोण ठीक हैं, यदि उनको एक ही पार्श्व से देखा जाय। परन्तु इन सब की तह में घुसकर देखा जाय, तो पता लगेगा कि धर्म का विकृत रूप या उसके स्वरूप को ठीक तरह से न समझने से ही सारे झगडे उठते हैं। इन को दूर करने का एक उपाय धर्म के स्वरूप को ठीक तरह समझकर तदनुसार समाज की पुनर्रचना करना है। इसका हम आगे चलकर विचार करेंगे।

मनुष्य की इस 'विवेकबुद्धि' को विकसित करने का एक बहुत उत्तम उपाय हमारे प्राचीन शिक्षणशास्त्री एवं मनोविज्ञान-वेत्ता ऋषियोंने ढूंढ निकाला था। एक छोटे बालक में यह बुद्धि या शक्ति सुषुप्त रूप में (या बीज-रूप में) होती है। जैसे एक बीज में विकसित होने की-वृक्ष बनने की शक्ति निहित होती है और वह पानी, जमीन, हवा, आदि प्राकृतिक साधनों से विकास को प्राप्त होती है; ठीक उसी तरह 'विवेकबुद्धि' भी शिक्षा के द्वारा बढती है। शिक्षा का अर्थ ही है अनुशासन-विकास। अंग्रेजी का (Education) शब्द भी ठीक इसी अर्थ को सूचित करता है (Educate= to draw out= बाहर निकालना)।

पर्वत, पेड और पानीवाली प्रकृति की पावन गोद में बैठकर इस बीज (शक्ति) को अंकुरित और प्रफुल्लित करने का उपयुक्त वायु-मण्डल या क्षेत्र था- तपोवन। यही पाठशाला भी; यही विश्वविद्यालय था। वे त्यागी, तपस्वी गुरु इसी तपोवन में बैठकर (शिष्य की त्रिविध शक्ति को भली भांति विकसित करते थे। बालक श्रद्धा और भक्ति की समिधा लेकर गुरु की ज्ञानाग्निसे अपने आप को प्रदीप्त करता था- आत्मसमर्पण कर देता था। इस आत्मसमर्पण से ही दोनों का संबन्ध स्थापित होता था। इस के पश्चात् गोपालन, समिधा कुश आदि लाना इत्यादि उपायों से विकास की दिशा को जानकर तदनुसार प्रयत्न किया

जाता था। आज का शिक्षण शास्त्री शायद इसे पागलपन कहेगा; वह इसे एक असम्भव वस्तु बताएगा। यह समय का परिवर्तन है।

विदेशी सरकारने हमारी उस प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और शिक्षापद्धति को सर्वथा नष्ट कर दिया है। पराधीनता की बेडी में झकडने का यह एक अमोघ अस्त्र है कि उस की पुरातन संस्कृति, सभ्यता आदि को उडा दिया जाय। प्राचीन ग्रीक और रोमन संस्कृति के लिए भी यही रामबाण प्रयुक्त किया गया था। इस का परिणाम आज सम्पूर्ण दुनिया देख रही है। शिक्षित युवक समाज जिस भयङ्कर बेकारी का शिकार बना हुआ है, वह इसी विकृत शिक्षा-पद्धति के कारण है। आज बालक की उस निहित शक्ति को जरा भी विकसित नहीं किया जाता है, बल्कि उसे दबाया जाता है।

उसकी इस शक्ति (बीज) को किताबों के राक्षसी रोलर से रौंदा जाता है। क्या कभी रोलर से दबी हुई पथरीली कंकरीली सडक पर कोई बीज पनप सकता है? कभी नहीं। उसकी दशा श्रुति के इस कथनानुसार रोती है, 'यथा खरश्चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्द-नस्य' (जैसे चन्दन के बोझ को उठानेवाला गधा भार को तो जानता है, परन्तु चन्दन को नहीं जानता है)। ठीक इसी प्रकार आज की शिक्षाप्रणाली मनुष्य को मनुष्य नहीं, परन्तु पशु बनानेवाली है। अर्थात् जहाँ शिक्षा का उद्देश्य पशुता को हटा कर मनुष्यता लाने का है, वहाँ यह शिक्षा मनुष्यता को हटाकर पशुता ला रही है। यह है शिक्षा की दुरवस्था। सौभाग्य से हमारे पूज्य गांधीजी की कृपा से 'वर्धा-शिक्षण-पद्धति' का जन्म हुआ है, जिससे इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है।

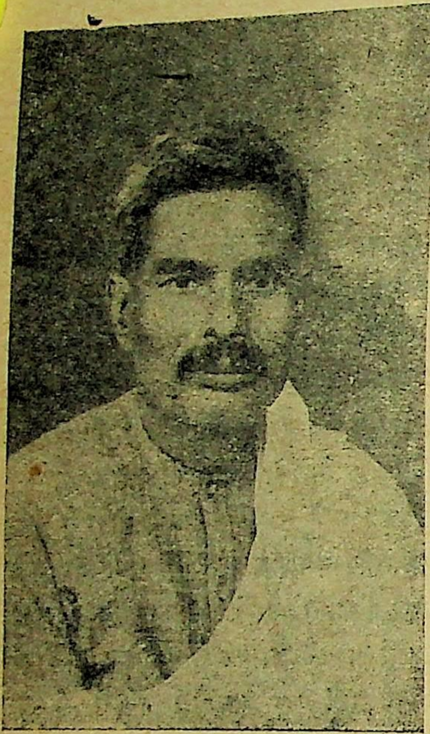
शिक्षा के द्वारा 'मनुष्य' बनने को ही हम दूसरे शब्दों में 'द्विज' बनना कह सकते हैं। आचार्यकुल में जाकर बालक अपनी निहित शक्ति को पहिचानकर उसको विकसित करने के लिए योग्य मार्ग-साधन को चुन लेता है। वह साधन है वर्ण-ग्रहण (वर्णः वृणोतेः, अर्थात् जो चुना जाय)। इस कार्य में गुरु उसको पूर्णतया सहायता और सम्मति देता था। अपने निकटतम सान्निध्य के कारण गुरु उस की हरेक प्रवृत्तियों एवं रुचियों को देखता था, और फिर उचित सलाह परामर्श से उन्हें विकसित कराता था। इस प्रकार बालक अपनी ब्राह्मण-शक्ति, क्षत्र-शक्ति या वैश्य-शक्ति को पूर्णतया विकसित कर, विद्याध्ययन समाप्त करके जब संसार में आता था, तो उसे किसी तरह की बेकारी या परेशानी नहीं अनुभव करता था।

अपने उद्देश्य के अनुसार वह समाज की सेवा करता था। इस तरह समाज में पूर्ण व्यवस्था, सुख और शांति रहती थी। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, शिक्षा-पद्धति के बिगड जाने से आज का बालक अपनी सुषुप्त शक्ति को उन्नत करने में सर्वथा अशक्त होता है और अत-एव विद्यासमाप्ति के पश्चात् समाज में घुसते ही उसे चारों ओर भयङ्कर परेशानी और बेकारी का भूत दिखाई देता है। वह कुर्सी पर बैठकर क्लर्की या बाबूपन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता। नौकरी ही उस का अन्तिम ध्येय होता है, अतएव इसके अभावमें वह निराश होकर अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है।

इस तरह हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर तदनुसार शिक्षणपद्धति को बदलकर समाज की पुनर्व्यवस्था (अर्थात् वर्णव्यवस्था) के द्वारा ही समाज में या राष्ट्र में सच्ची शांति और सुख स्थापित हो सकता है। और इस प्रकार से वर्तमान् आर्थिक या सामाजिक विषमता, द्वेष और लडाई भी अपने आप खतम हो जायंगी।

आर्य विद्वानों से।

(लेखक- श्री० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, आचार्य, महाविद्यालय, ज्वालापुर)



बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥
(भर्तृहरीः)

जो समझदार हैं, विद्वान् हैं, जिन्हें चार अक्षर आते हैं, वे तो परस्पर ईर्ष्या, द्वेष में फँस रहे हैं-उनको एक-दूसरे की उन्नति नहीं सुहाती-परस्पर के नाम को वे सहन नहीं कर सकते- जरा एककी प्रसिद्धि होने लगी कि झट उसके पीछे पड जाते हैं। जो धनी हैं, अन्य प्रकार से समर्थ हैं, वे अहङ्कार में लीन हैं, उनकी स्मय=अभिमानदूषित दृष्टि उन को यथार्थ ज्ञान नहीं होने देती। जो अज्ञानी हैं, वे तो अज्ञान के कारण वैसे ही मरे हुए हैं।

अब बतलाइये

क्या कहें, किससे कहें, कौन सुनेगा, क्यों सुनने लगा। हृदय की बात हृदय में ही रही जाती है—

यदि विद्वान् लोग

यथार्थ बुद्धिमत्तासे काम लेवें,-- परमतसहिष्णुतासे काम लेवें, मिलकर बैठें, मिलकर विचार करें, परस्पर ज्ञान का लाभ एक दूसरे को पहुँचावें- तो संसार को अनुपम लाभ हो- पर विबुधजनमण्डली ऐसा नहीं कर रही है। विद्वज्जनसमुदाय ऐसा नहीं कर रहा है। विदग्ध (पण्डित) मण्डली परस्पर रागद्वेष से स्वयं दग्ध हो रही है, वह अन्यों को कैसे तार सकती है।

अनाम्नातेषु धर्मेषु, कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
ये शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः, स धर्मः स्यादशङ्कितः॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु, वेदः स परिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः, श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥
दशावरा परिषद्,यं धर्मं परि कल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तिस्थाः, तं धर्मं न विचालयेत्॥
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की, नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे, परिषत् स्याद्दशावरा॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च, सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया, धर्मसंशयनिर्णये॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं, यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मः नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अव्रतानाममन्त्राणां, जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥
यं वदन्ति तमोभूताः, मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा, तद्वक्तॄनधिगच्छति॥

क्या आप मनुस्मृति में प्रतिपादित उपर्युक्त तत्त्व को भूल गये। क्या आप इस बात को नहीं जानते कि धर्मसंशय का निर्णय करना हो, तो त्र्यवरा और दशावरा परिषद् द्वारा निर्णय करना चाहिए- क्या आप को यह तत्त्व विदित नहीं कि मूर्खों के बहुमत द्वारा किये गये निर्णय समाज के लिए अहितकर और दुःखकर होते हैं- नहीं नहीं- ऐसे निर्णय पापकर होते हैं- क्या आप नहीं जानते कि एक भी वेदवित् जो कहे, वह धर्म और सहस्रों मूर्ख मिलकर भी

जो निर्णय करें, वह अधर्म, फिर आप अज्ञों के बहुमत से निर्णय करने की चिन्ता में क्यों रहते हैं।

एक विद्वान् अपनी बात पूर्ण रूप से कहने भी नहीं पाता कि आप जनता में ' अब्रह्मण्यं ' ' अब्रह्मण्यं ' की दुहाई क्यों देने लगते हैं। क्यों प्रेमपूर्वक किसी जगह बैठकर विचार नहीं करते- क्यों प्रेमपूर्वक परस्पर नहीं समझाते- आपने जो ढंग पकडा है, उससे आर्यजगत् में अज्ञों का बल बढ गया और अब वे किसी विद्वान् की बात मानने के लिए तैयार नहीं, जिसपर उन की भी संमति नहीं ली जायगी। इस प्रकार आपने अपने बल को स्वयं घटा लिया और अब आप को अपना प्रभाव स्थिर रखने के लिए अज्ञ समुदाय को पदे पदे = स्थान स्थान पर समय समय पर प्रसन्न रखना पड रहा है, क्या आप अपनी इस शोचनीय दशा को अनुभव नहीं कर रहे- क्या आप को यह अनुभव नहीं हो रहा है, दूसरे की निन्दा करते रहने से अपनी वह भी प्रतिष्ठा नहीं रही, जो पहले थी। क्या वेदवर्णित आप उस तत्व को भूल गए, जो कि-

" सहस्रस्य प्रमाऽसि सहस्रस्य प्रतिमाऽसि सहस्राय त्वा। (यजुर्वेद)

हे विद्वन्, तू सहस्रों लक्षों का प्रतिनिधि है, तुझ में सहस्रों लक्षों का ज्ञान है- इसलिए तुझे अपने ज्ञान, अपनी शक्ति, अपने अधिकार की रक्षा करनी चाहिए, उस ज्ञान, उस शक्ति, उस अधिकारका यथार्थ उपयोग करना चाहिए, जिससे तेरे पीछे चलनेवाले जन-समुदाय का कल्याण हो, उनका अज्ञान दूर हो, उसमें ज्ञान की वृद्धि हो, उसमें सुख का संचार हो, उस में यथार्थ ज्ञान का प्रचार तथा प्रसार हो, उस में धर्मभाव बढे, उस में से अधर्म दूर हो-

अब वह समय आ गया है

जब सब विद्वान् एकत्रित होकर किसी पुण्यक्षेत्र अथवा स्थान में एकत्रित होकर संमिलितरूप में, एक स्वर से-
" देवकृतस्यैनसो-वयजनमसि स्वाहा " (यजुर्वेद)
इस मंत्रकी आहुति दे कर कुछ प्रायश्चित् करें- उस पाप के प्रायश्चित्त की आहुति है, जो एक विद्वानने दूसरे विद्वान् का प्रभाव घटाने में किया है- परस्पर के व्यर्थ के रागद्वेष में किया है। स्वस्वार्थवश किया है। केवल अपने नाम को बढाने तथा दूसरे के नाम को घटानेके लिए किया है।

आर्यसमाज के अन्य।

नेताओंको भी इसी मन्त्रसे आहुति देकर प्रायश्चित्त करना पडेगा, क्योंकि उन्होंने भी एक विद्वान् को हाथ में लेकर, एक की पीठ ठोककर दूसरे को नीचा दिखलाने की कुत्सित प्रवृत्तिमें बहुत साथ दिया है, जब इस प्रकार आर्यजगत् के विद्वान् तथा नेता प्रायश्चित्त कर लेंगे, तब आर्यजगत्में पुनः

सुवर्णयुग

का प्रारम्भ होगा। तब त्र्यवरा तथा दशावरा परिषदें अपना चमत्कार दिखला सकेंगी। तब धर्मसंशय-निर्णय यथार्थ हुआ करेंगे-

इसलिए देवो, जागो

" विद्वांसो हि देवाः "

और अपने कर्तव्य को समझो, वेदों का उद्धार केवल बातों से न होगा, वेदों का उद्धार वर्तमान अशुद्ध वायु-मण्डल में न होगा, वेदोंका उद्धार मिश्रित अज्ञ तथा विज्ञ जनसमुदायद्वारा न होगा। वेदों का उद्धार रागद्वेषसमन्वित विज्ञ जनसमुदायद्वारा भी न होगा।

यो जागार तमृचः कामयन्ते,
यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह,
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

ऋग्वेद उस विद्वान् को ढूंढते रहते हैं, जो जागता, रहता है। यजुः भी उसीकी खोजमें रहते हैं, साम तथा अथर्व उसी विद्वान् के लिए लालायित रहते हैं, जो जागता रहता है।

मैं आपसे पूछता हूँ।

क्या आप जाग रहे हैं। यदि आप स्वार्थ में संलग्न हैं, तो नहीं जाग रहे हैं, यदि आप मूर्खों को प्रसन्न करने में लग रहे हैं, तो नहीं जाग रहे हैं। यदि आप रागद्वेष में फँस रहे हैं, तो नहीं जाग रहे हैं— इन सब बातों का सम्बन्ध तमोगुणमिश्रित रजोगुण से है, इसलिए आप या तो सो रहे हैं, या अर्धजागृत हैं- आप शुद्ध प्रकाश में आइये, आप सात्विक वायुमण्डलमें आइये, तब आप अपने आपको जगे समझिए। तब वेद आप के पास प्रसन्नता-पूर्वक आयेंगे- तब आप वेदों के दर्शन करेंगे। अब तो

वेद आप से भयभीत हो रहे हैं, वेद आप को यथार्थ दर्शन नहीं दे रहे हैं-

जब सब विद्वान् रागद्वेषशून्य होकर धर्मभाव से विचार के लिए बैठेंगे, तब वेदों की गूढ पहेलियाँ सुलभता से सुलझेंगी- आओ एक बार हम सब मिलकर एक स्वर से यजुर्वेद के उस चमकाध्याय (च मे च मे) - (यजुः १८) को एक स्वर से बोलें और श्रद्धापूर्वक आहुति देवें, जिससे आर्यों की कीर्ति चमक उठे—

वाजश्च मे, प्रसवश्च मे
प्रयतिश्च मे, प्रसितिश्च मे
धीतिश्च मे, क्रतुश्च मे
स्वरश्च मे, श्लोकश्च मे
श्रवश्च मे, श्रुतिश्च मे
ज्योतिश्च मे, स्वश्च मे
यज्ञेन कल्पन्ताम्

ईश्वर हमारे समुदाय में पुनः ज्योति का संचार करें।

मानस पाप।

[लेखक- श्री० **गंगाप्रसाद**, रिटायर्ड चीफ जस्टिस, टिहरी, गढवाल-राज्य]

कुछ लोगों का कहना है कि, कलियुग में मानस पाप पाप नहीं होता। यह बडी भयङ्कर भूल है, क्योंकि मानस पाप ही सब पापों का मूल है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है।

"यत् मनसा मनुते तद् वाचा वदति यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति" अर्थात् मनुष्य जैसा मनसे विचार करता है, वैसा वाणी से कहता है और जैसा वाणी से कहता है, वैसा कर्म से करता है।

कुछ मनुष्य युक्ति दिया करते हैं कि, यदि हम वास्तव में शरीर से बुरा कर्म न करें, तो केवल मनमें बुरा विचार लाने से क्या हानि हो सकती है और यदि कुछ होगी, तो हमको ही होगी, किसी दूसरे को उससे क्या हानि पहुँच सकती है। फिर केवल बुरे विचारों का मन में आना पाप क्यों माना जाय?

दुर्विचारोंका फल १ विचार करनेवाले व्यक्तिको।

इस विषय पर कृष्ण महाराजने गीता में कहा है-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता अ० ३।६)

अर्थ- जो मनुष्य कर्मेन्द्रियोंको रोक कर बैठा हुआ, मन से इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करता है, वह विमूढात्मा मिथ्याचारी है।

और भी योगिराज श्री कृष्ण गीता में कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(अ० २।६२।६३)

अर्थ- विषयों का ध्यान करनेसे मनुष्य को उनके साथ संग वा राग पैदा होता है, उससे काम अर्थात् तीव्र इच्छा पैदा होती है। काम की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढता होती है। मूढता से स्मृति में दोष आता है। स्मृति के बिगडने से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि के नाश होने से उस मनुष्य का नाश हो जाता है।

इन श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराजने मनुष्य के धार्मिक वा नैतिक पतन का कैसा अच्छा चित्र खीचा है। केवल मन में विषयों का ध्यान करने से वह सीढी दर सीढी गिरता जाता है और अन्त में उसकी बुद्धि का नाश होकर सर्वनाश हो जाता है। क्योंकि मनुष्यमें बुद्धि ही तो ऐसी वस्तु है, जिससे मनुष्य और पशु में भेद होता है, जब

बुद्धि नष्ट हो गई, तो मनुष्य में शेष रहा ही क्या ?

इससे स्पष्ट है कि, मानस पाप से मनुष्य को स्वयं साधारण हानि नहीं होती, किन्तु बडी भारी हानि होती है, जिससे उसका सर्वनाश तक हो सकता है।

बुरे विचारों से दूसरे लोगों को भी भारी हानि पहुँचती है। क्योंकि एक मनुष्य के बुरे विचारों से मानस वातावरण दूषित होकर अन्य मनुष्यों के मनों को हानि पहुँचती है। इस की विशेष व्याख्या की आवश्यकता है–

यदि हम पानी के ताल में पत्थर फेकें, तो उससे पत्थर के चारों ओर लहरें फैलती हैं। इसी प्रकार यदि एक घण्टी बजायी जाय, तो घण्टी से वायु में लहरें पैदा होकर चारों ओर फैलती हैं, जो आंखों से नहीं दीखतीं। क्योंकि जल की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है। इसी तरह यदि एक दीपक जलाया जावे, तो उससे आकाश में लहरें पैदा होकर चारों तरफ फैलती हैं। इन्हीं लहरों के द्वारा दीपक का प्रकाश फैलता है। आकाश वायु से भी सूक्ष्म है। मानस तत्त्व जिस के द्वारा विचार एक मनुष्य के मन से दूसरे मनुष्यों के मन तक पहुँचते हैं, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म हैं, और वह भी उसी तरह सर्वत्र फैला हुआ है, जैसा कि आकाश और वायु। उस में भी लहरें होती हैं।

जब कोई मनुष्य बुरा विचार अपने मन में करता है, तो उससे मानस तत्त्वमें लहरें पैदा होकर चारों ओर फैलती हैं। जैसे एक दुर्गन्धित पदार्थ से वायु में लहरे पैदा होकर दुर्गन्धी चारों ओर फैलती हैं और आसपास की सारी वायु में दुर्गन्धी फैला देती हैं। उसी प्रकार एक मनुष्य के बुरे विचार मानस तत्त्व में लहरें उत्पन्न करके सारे मनुष्यों के मानस वातावरण को दूषित कर देते हैं। जैसे दुर्गन्धित वायु से उन मनुष्यों के स्वास्थ्य को जो उसमें श्वास लेते हैं, हानि पहुँचती है, उसी प्रकार एक मनुष्य के बुरे विचारों से मानस वातावरण मलिन होकर उन मनुष्यों को हानि पहुँचती है, जो वहाँ रहते वा कार्य करते हैं।

उस मनुष्य को जो दुर्विचारों का लक्ष्य हो।

मनुष्य के बुरे विचारों से उस मनुष्य को विशेष हानि पहुँचनी सम्भव है, जिस के विरुद्ध वे विचार किये गये हों, जैसे ईर्षा, द्वेष, घृणा आदि के विचार, क्योंकि ऐसे विचारों की लहरें उस मनुष्य पर विशेष प्रभाव डालती हैं, जो उनका लक्ष्य हो। इससे सिद्ध है कि, मन में बुरे विचारों को स्थान देने से विचार करनेवालों की हानि होती है, जो उसका लक्ष्य हो, उस की भी हानि होती है और समाज को भी हानि होती है। इसलिये बुरे विचारों को मन में आने ही नहीं देना चाहिए। और जो आवे उनको तुरन्त ही निकाल देना चाहिए।

मानस पाप के सम्बन्ध में वेदमंत्र।

"परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर।
गृहेषु गोषु मे मनः॥" (अथर्व० ६।४५।१)

अर्थ– हे मनके पाप दूर हट जा, क्या बुरी बातें बताता है। हट जा, तुझको मैं नहीं चाहता। बनों के वृक्षों में फिरता रह, मेरा मन घर में और गौ आदि पशुओं की पालना में है।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः।
(ऋ० १०।१६४।१४)

अर्थ– हे मन को पतित करनेवाले कुविचार हटो, दूर भागो, परे चलो। दूर के विनाश को देखो। जीवित मनुष्य का मन बहुत सामर्थ्य से युक्त है।

उनका आशय।

हम अपने घर के स्वामी हैं। हमें अधिकार है कि, यदि कोई चोर, डाकू या अन्य दुष्ट पुरुष आवे, तो उसको घर में आने से रोक देवे और यदि आ जावे, तो निकाल देवे। इसी प्रकार अपने मनरूपी मन्दिर के हम स्वामी हैं, यदि कोई दुर्विचार उसमें आवें, तो उसे रोक देवें और आ जावें, तो निकाल डालें।

ऊपर लिखे मन्त्रों में कैसे प्रबल शब्दों में दुर्विचारों को मन से हटा देने का उपदेश है, और दुबारा तिबारा ऐसे विचारों के लिये कहा गया है कि, दूर हट जा और परे जा इत्यादि। कोई मनुष्य प्रश्न कर सकता है कि, ऐसे शब्दों से क्या लाभ ? इन शब्दों में मानस बल Thought-

power और इस के द्वारा वशीकरण और आत्मचिकित्सा (Hypnotism) का गूढ रहस्य छिपा हुआ है। जो लोग Hypnotism से शारीरिक रोगों की चिकित्सा करते हैं वे रोगी कहलवाते हैं कि, "मेरा रोग दूर हो रहा है, मैं स्वस्थ हो रहा हूँ" इत्यादि। इन शब्दों का रोगी पर बहुत प्रभाव पडता है। इस क्रिया को (Suggestion) आदेश देना कहते हैं। और इस क्रिया से उसका रोग दूर होने लगता है।

दूसरे मनुष्य अर्थात् प्रयोजक (Operator) से कहलाने की आवश्यकता इस लिए होती है कि, रोगी वा प्रयोज्य (Subjec) की संकल्प शक्ति (will-power) कम रहती है। यदि किसी मनुष्य की संकल्पशक्ति अच्छी बलवती हो, तो वह स्वयं कहेगा कि, "मेरे रोग हट जा, भाग जा, दूर हो जा। मैं अब तेरे वश में नहीं हूँ।" इस क्रिया को आत्मीय आदेश (Auto-suggestion) कहते और यदि दृढ इच्छा और संकल्प के साथ ऐसे शब्द कहें जावें, तो उनका रोग दूर करने में बडा प्रभाव होता है। दुर्विचारों के दूर करने में भी (जो आत्मिक रोग हैं) ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रभावशाली होता है। ऊपर लिखे मन्त्रों में उक्त शब्दों के प्रयोग का यही रहस्य और महत्त्व है।

माताजीसे वार्तालाप।

वैयक्तिक संकल्प और विश्वसंकल्प--विरोधी शक्तियां और मनोमय जगत्–हृत्पुरुष और अध्यात्म– विरोधी शक्तियोंका प्रयोजन-- सच्चा कर्म।

(अनुवादक– श्री० मदनगोपाल गाडोदिया)

="यदि हमारा संकल्प विश्वसंकल्प की अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनिमात्र ही है, तो फिर वैयक्तिक आरंभ के लिए स्थान ही कहां है? क्या व्यक्ति विश्वगतियों को अंकित करनेके लिए केवल एक यंत्रमात्र है? क्या उसमें सृजन अथवा मौलिक रचना करनेकी कोई शक्ति है ही नहीं?"

कौन कहांसे, चेतनाकी किस भूमिकापरसे वस्तुओंको देखता और उनके संबन्ध में बोलता है अथवा सत्ताके किस भागसे वह उनपर क्रिया करता है, इसपर सब कुछ निर्भर करता है।

चेतना की एक भूमिकापरसे देखनेपर व्यक्ति तुम को ऐसा दिखायी देगा कि, वह निरा यंत्र या केवल अंकित करनेवाला ही नहीं है, बल्कि वह स्रष्टा भी है। परन्तु इसी बातको तुम चेतनाकी दूसरी तथा और भी ऊंची भूमिकासे एवं विशालतर दृष्टिकोणसे देखो, तो तुम देखोगे कि यह केवल आभासमात्र है। विश्वके गतिक्रममें जो कुछ भी घटना घटती है, वह जो कुछ पहले घट चुका है, उसका परिणामरूप होती है। अभिव्यक्ति की समग्र लीलामें से किसी एक सत्ताको अथवा क्रियाओं की समग्रतामें से किसी एक क्रियाको पृथक् कर लेनेका तुम्हारे पास क्या उपाय है? किसी वस्तुके मूल अथवा आरंभको तुम कहांसे पकड़ना चाहते हो? समग्र लीला एक मजबूत जुडी हुई सांकलकी तरह है, इसकी एक लडी दूसरी लडीमें अगोचररूपसे गुंथी हुई है। इस सांकलमें से किसी चीजको भी अलग नहीं किया जा सकता और उसका इस तरह वर्णन नहीं किया जा सकता कि, वह स्वयं ही अपना मूल और आरंभ है।

और जब तुम यह कहते हो कि, व्यक्ति किसी गतिकी उत्पत्ति या सृष्टि करता है तो इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय होता है? क्या उसको वह केवल अपनेमें से ही, या यह कहें तो चल सकता है कि, शून्यमें से उत्पन्न करता है? यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने–आपमें से इस प्रकार किसी विचार अथवा अनुभव अथवा क्रिया या और किसी चीज की सृष्टि कर सके, तो वह तो जगत् का स्रष्टा ही होगा। जब कोई व्यक्ति अपनी चेतना को उस एक महत्तर चेतना में वापस ले जाता है, जहांसे वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, तभी वह स्रष्टा बन सकता है। समस्त गतियोंके आदिकारण–स्वरूप जो एकमात्र सचेतन शक्ति है, उसके साथ तदाकार होनेपर ही वह किसी क्रियाविशेष का आरंभ करनेवाला या प्रवर्तक हो सकता है।

चेतनाकी कई भूमिकाएं हैं, और एक भूमिकाका विधि-विधान दूसरी भूमिकाके विधिविधान जैसा ही नहीं होता। इसलिए, तुम जब व्यक्तिको स्रष्टा कहते हो, तब तुम उसके किस भागका विचार कर रहे होते हो? कारण व्यक्ति अनेक तत्त्वोंद्वारा बनी हुई सत्ता है। क्या तुम उसके हृत्पुरुषके विषयमें कहते हो या उसकी मनोमय, प्राणमय या अन्न–मय सत्ताके विषयमें? किसी गतिका जो अदृश्य मूल है, उसके तथा उसका जो प्रकटीकरण होता है, व्यक्तिके द्वारा उसकी जो बाह्य अभिव्यक्ति होती है, उसके बीचमें ये सब तथा दूसरी–दूसरी अनेक भूमिकाएं हैं, क्रम हैं और प्रत्येक क्रमपर उस गतिमें बहुतेरे हेर–फेर बहुतसे विकार, बहुतसी विरूपताएं हो जाती हैं। इन परिवर्तनोंके कारण ही यह भ्रम हो जाता है कि, इस गतिका मूल अमुक स्थानपर है, यह एक नयी सृष्टि अथवा एक नया आरंभ है। यह ऐसा ही है, जैसे कि जब कोई एक छडी को पानी के अन्दर डाल देता है, तब वह छडी उसको उसकी असली सीधी रेखामें दिखायी न देकर एक कोणाकार रेखामें मुडी हुई दिखायी देती है। परन्तु यह एक भ्रम है, दृष्टिका एक विकार है।

उस समय जो कुछ दिखाई देता है, वह तो कोई वास्तविक कोण भी नहीं होता।

प्रत्येक वैयक्तिक चेतना विश्वगतिमें कोई ऐसी चीज ले आती है, जिसको एक दृष्टिबिंदुसे विश्वगतिमें उसका अपना विकार और दूसरे दृष्टिबिंदुसे विश्वगतिमें उसका अपना विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। ये वैयक्तिक गतियां भागवत गति की लीलाका एक अंग ही हैं, ये अपने-आपमें कोई आरंभ नहीं है, ये तो उन चीजोंके परिवर्तित स्वरूप हैं, जिनके प्रारंभ को तुम्हें विश्वके समष्टिरूपमें खोजना चाहिये।

पृथक्त्वका भाव सर्वत्र फैला हुआ है, किंतु यह एक भ्रम ही है। सत्य चेतनामें प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाले साधकको जिन मिथ्या भावोंसे अपने आपको शुद्ध कर लेना हैं, उनमें एक भाव यह भी है। मन जगत् को छोटे-छोटे टुकडों में बांट लेता है। वह कहता है कि 'यहांपर इस चीजका अन्त होता है, वहांसे यह चीज आरंभ होती है,' और इस तरह टुकडे करके देखने की क्रियाद्वारा वह विश्वगतिको विकृत करनेमें सफल होता है। वास्तव में एक विश्वव्यापी, सर्वग्राही चेतना है, जिसका एक महान् प्रवाह इस नित्य निरन्तर विकसित होते जाते हुए विश्वमें अभिव्यक्त होता रहता है। यह सत्य है जो यहां की प्रत्येक वस्तुके पीछे स्थित है, पर इसके साथ-साथ यहां यह भ्रम भी है, जिसके कारण यह सत्य हमसे छिपा रहता है, इस पर परदा पडा रहता है- यह भ्रम कि ये गतियां अनेक हैं, एक दूसरे से पृथक् हैं, ये अपने-आपमें स्थित हैं, अपने आप में हैं और अपने आप के लिये हैं, तथा इनमें से प्रत्येक कोई ऐसी चीज है, जो बाकी के विश्वब्रह्मांग से अलग है।

ये गतियां ऐसा समझती हैं कि, उनकी जो एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है, वह एक बाहरी चीज है, मानो वे विभिन्न पृथक्-पृथक् जगतों की तरह हैं, जो एक दूसरे के सन्मुख खडे हैं, पर उनमें किसी दूर के बाहरी सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई परस्पर संपर्क स्थापित करनेवाला तत्त्व नहीं। हरेक गति अपने को इस प्रकार देखती है, मानो उसका एक ऐसा पृथक् व्यक्तित्व है, जो उसे अपने अधिकार से प्राप्त है। पृथक्त्व के इस भानको, इस भ्रम को विश्वलीला के अंगभूत इसलिये होने दिया गया है कि, यह आवश्यक था कि, वह एक चेतना अपने-आपको बाहर प्रकट कर सके और अपने रूपों को स्थिर कर सके। परन्तु चूंकि भूतकाल में यह होने दिया गया है, इसका यह अर्थ नहीं कि, पार्थक्य का यह भ्रम सदा बना ही रहना चाहिये।

विश्वलीला में भाग लेनेवाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे यंत्र हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का, वे इस लीला के एक यंत्र हैं इसका, कुछ भी ज्ञान नहीं होता, वे ऐसे अभिनेता होते हैं, जो बिना समझे-बूझे कठपुतलियों की तरह नाचते रहते हैं। दूसरे ऐसे हैं, जो सचेतन हैं और वे इस बात का ज्ञान रखते हुए अपना अभिनय करते हैं कि, यह एक लीला है। और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें विश्वगति का पूर्ण ज्ञान होता है और जो इस विश्वगति के साथ तथा अखंड भागवत चेतनाके साथ एक होते हैं, पर फिर भी वे इस प्रकार का अभिनय करना स्वीकार करते हैं, मानो वे कोई अलग वस्तु हों, समग्रता का एक खंड हों। उस अज्ञान और इस पूर्ण ज्ञान के बीच में कई मध्यवर्ती अवस्थाएं हैं, इस लीला में सम्मिलित होने के कई रूप हैं। एक अज्ञान की अवस्था है, जिस में तुम किसी कामको इस विश्वास के साथ करते हो कि, तुम्हींने उसको करने का निश्चय किया था।

दूसरी इससे कम अज्ञानपूर्ण अवस्था है और इस अवस्थामें तुम किसी कामको यह जानते हुए करते हो कि तुमको वह काम करना पडा है, किंतु तुम्हें इस बात का पता नहीं होता कि, तुमको वह क्यों और कैसा करना पडा। और फिर चेतना की एक ऐसी अवस्था भी होती है, जिसमें तुम्हें पूर्ण ज्ञान रहता है— कारण इस अवस्था में तुमको इस बात का पता है कि, वह कौनसी शक्ति है, जो तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम यह जानते होते हो कि तुम तो एक यंत्र हो, तुमको इस का ज्ञान होता है कि, तुम्हारे कर्म कैसे और क्यों होते हैं, उनकी प्रक्रिया और प्रयोजन क्या है। अज्ञानकी वह अवस्था, जिस में तुम यह मानते हो कि तुम्हीं अपने कर्मों के कर्ता हो, उस समयतक बनी रहती है, जबतक कि तुम्हारे विकास के लिये उस की आवश्यकता होती है, किंतु ज्योंही तुम किसी उच्चतर

अवस्थामें चले जानेके योग्य हो जाते हो, त्योंही तुमको यह दिखायी देने लगता है कि, तुम उस एक चेतना के यंत्र-मात्र हो, अब तुम ऊपर की ओर कदम बढाते हो और एक ऐसी भूमिका में ऊपर उठ जाते हो, जो उससे भी अधिक सचेतन है।

="" विरोधी शक्तियां जिस प्रकार प्राणमय जगत् में हमपर आक्रमण करती हैं, उसी प्रकार मनोमय भूमिका पर भी उनका आक्रमण होता है क्या? "

इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देने के लिये बहुत से ऐसे विषयों का आशय बताना पडेगा, जिनमें अभी तुरंत प्रवेश करने का समय नहीं आया है।

मन एक गति है। परन्तु मनरूपी इस गति के भी कई प्रकार हैं, कई स्तर हैं, जो एक दूसरे का स्पर्श करते और आपस में ओत-प्रोततक होते रहते हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिस गतिको हम मन के नाम से पुकारते हैं, वह दूसरी भूमिकाओं में भी प्रविष्ट होती रहती है। स्वयं मनोमय जगत् के भी कई स्तर हैं। ये सभी मनोमय भूमिकाएं और मनोमय शक्तियां यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी उनकी गतियों के गुण में भेद होता है और उन के वर्णन को सहज करने के लिये हमें उनको एक दूसरे से पृथक् करके बोलना पडता है। इस प्रकार हम उच्चतर मन, मध्यवर्ती मन, भौतिक मन, और अत्यंत स्थूल मन भी-इन सबका अलग-अलग भेद करके बोलते हैं। इन के अतिरिक्त मन के और भी बहुतेरे भेद किये जा सकते हैं।

अब, कुछ मनोमय भूमिकाएं ऐसी हैं, जो प्राणमय जगत् से बहुत ऊपर ऊर्ध्व में स्थित हैं और वहांतक प्राणमय जगत् का प्रभाव नहीं पहुंच पाता, वहां विरोधी शक्तियां या सत्ताएं हैं ही नहीं। परन्तु दूसरी-दूसरी मनोमय भूमिकाएं हैं- और ये अनेक हैं- जहां प्राणमय शक्तियां पहुंच सकतीं और उन में ओत-प्रोत हो सकती हैं। जो मनोमय भूमिका भौतिक जगत् से संबन्ध रखती है, जिसे हम साधारणतया भौतिक मन कहते हैं, उसकी बनावट और गति असली मन की अपेक्षा अधिक स्थूल और जड होती है और यह भौतिक मन बहुत कुछ प्राणमय जगत् और विरोधी शक्तियोंके प्रभावमें रहता है। भौतिक मन साधारणतया निम्नप्राण की चेतना और उसकी गतियों के साथ एक प्रकार की मित्रता का सम्बन्ध जोडे रहता है। निम्नतर प्राण जब किन्हीं इच्छाओं और आवेगों को प्रकट करता है तब यह मन, यह अधिक स्थूल मन, उनकी सहायता के लिये पहुंच जाता है, उन के लिये लंबीचौडी दलीलें, तर्क और बहाने निकाल-निकालकर उनके औचित्यको सिद्ध करने की चेष्टा करता, तथा उनका समर्थन करता रहता है।

मनका यही स्तर प्राणमय जगत् के सुझावोंके लिये बहुत अधिक खुला हुआ रहता है और बहुधा इसी स्तरपर प्राणमय जगत् की शक्तियां आक्रमण किया करती हैं। परन्तु हममें एक उच्चतर मन भी है, जो निःस्वार्थ भावनाओं और प्रकाशमय चिंतनोंके क्षेत्रमें विचरण करता रहता है, यही मन आकारोंका जन्मदाता है और फिर हम में शुद्ध भावनाओंका एक मन है, ऐसी भावनाओंका जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है- ये महत्तर मन-लोक प्राणमय गतियों और विरोधी शक्तियों से सर्वथा मुक्त हैं, कारण ये उनकी पहुंचके बहुत ऊपर स्थित हैं।

वहां परस्पर-प्रतिकूल गतियां हो सकती हैं, ऐसी गतियां और रचनाएं हो सकती हैं, जिनका सत्यके साथ मेल न खाता हो अथवा जो एक दूसरेसे टकराती हों, किंतु वहां प्राणमय क्षोभ नहीं है, वहां ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसको विरोधी या शत्रु कहा जा सके। सच्चा दार्शनिक मन, चिंतन करनेवाला, आविष्कारक तथा आकार निर्माण करनेवाला मन, इस हीनतर आक्रमण और प्रभावकी पहुंच के परे है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि, जिन विरोधी सत्ताओं के विषय में मैंने अभीतक कहा है, उनसे अधिक शक्तिशाली तथा जिनका मूल कुछ और ऊंची भूमिका में है, वहां की बिगडी हुई अथवा विरोधी सत्ताओंद्वारा इन मनों की गतियोंकी नकल भी नहीं की जा सकती हो अथवा उनकी सृष्टिका दुरुपयोग नहीं किया जा सकता हो।

="" हृत्पुरुष के जगत् की अवस्थाएं क्या हैं? इस जगत् तक विरोधी शक्तियोंकी कैसी पहुंच है?"

हृत्पुरुषका जगत् अथवा उसकी चेतनाकी भूमिका जगत् का वह भाग है, हृत्पुरुष हमारी सत्ता का वह भाग है, जो सदा भागवत चेतना के प्रभाव में रहता है, विरोधी शक्तियां इसपर किसी प्रकारकी साधारणसी क्रिया भी नहीं कर

सकतीं। यह सामंजस्यका जगत् है, और इसमें प्रत्येक वस्तु एक प्रकाशसे दूसरे प्रकाशको तथा एक प्रगतिसे दूसरी प्रगतिको प्राप्त होती रहती है। यह भागवत चेतनाका, व्यक्ति में रहनेवाले दिव्य आत्माका निवासस्थान है। यह प्रकाशका, सत्य का, ज्ञान का, सौंदर्यका और सामंजस्यका केंद्र है, जिनकी सृष्टि यह दिव्य आत्मा अपनी उपस्थितिके द्वारा हममें से हरेकके अन्दर थोडा-थोडा करके करता रहता है। यह भागवत चेतना- जिसका कि वह अभिन्न अंग है- के द्वारा ही प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही वह गभीर आंतर सत्ता है, जो तुममें-से हरेकके अन्दर है और जिसे तुम्हें ढूंढ लेना होगा, जिससे कि तुम अपने अन्दर में रहनेवाले भगवान् के सम्पर्क में आ जाओ। यह हृत्पुरुष ही है, जो भागवत चेतना और तुम्हारी बाह्य चेतना के बीच संबन्ध स्थापित कराता है। हृत्पुरुष ही आंतर जीवनको बनाता है, यही है जो बाह्य प्रकृति में भागवत संकल्प के अनुसार व्यवस्था और नियम की अभिव्यक्ति करता है।

यदि तुम अपने अन्दर रहनेवाले अपने हृत्पुरुषसे अपनी बाह्य चेतनामें अवगत हो जाओ और उसके साथ एकहो जाओ, तो तुम शुद्ध, शाश्वत चेतनाको पा सकोगे और उस में रह सकोगे और साधारण मनुष्यकी तरह सदा अज्ञान द्वारा कर्म में प्रवृत्त होनेके बदले तुम अपने अन्दर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञानकी उपस्थितिका अनुभव करते हुए विकास को प्राप्त होते रहोगे, इसीको तुम आत्म-समर्पण करोगे और इसीपर पूर्णरूप से अपने-आपको उत्सर्ग करके तुम इसीके द्वारा प्रत्येक कर्ममें प्रेरित होते रहोगे।

कारण हृत्पुरुष तुम्हारा वह भाग है, जो पहले ही अपने-आपको भगवान् को सौंपे हुए है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतना के अत्यंत बाह्य और स्थूल सीमाओंपर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी संपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर करेगा। यहां किसी प्रकारके अन्धकार को स्थान नहीं हैं, यही ज्योतिर्मय भाग है। अधिकांश मनुष्य, उनके अन्दर आत्माका जो यह भाग है, उससे अनभिज्ञ हैं। भोगसाधना इसलिये की जाती है कि, तुम अपने इस भाग से सचेतन हो जाओ, जिससे कि तुम्हारे रूपांतर की प्रक्रिया, शताब्दियों में पूर्ण होनेवाले एक मंद और लंबे प्रयास के बदले, एक ही जीवन अथवा चंद वर्षों में ही पूरी की जा सके।

मृत्यु के बाद भी इस हृत्पुरुष का अस्तित्व बाकी रहता है, कारण यह तुम्हारा शाश्वत आत्मा है, और यही चेतना को जन्मजन्मांतर में आगे बढाता रहता है।

तुम्हारे अन्दर जो सत्य भागवत व्यक्तित्व है, वह हृत्पुरुष ही है। कारण व्यक्तित्वका अर्थ है अभिव्यक्तिका एक विशेष प्रकार, जो व्यक्ति-व्यक्तिका अपना एक अनूठा होता है, और तुम्हारा हृत्पुरुष उस एक भागवत चेतना- जिसने तुम्हारे अन्दर रूप ग्रहण किया है- के असंख्य पहलुओं में से एक पहलू है। परन्तु व्यष्टिचेतना और विश्वचेतना के बीच जो भेदभाव तुम्हारी प्रकृति के अन्य भागों में है, वह हृत्पुरुष की चेतना में नहीं है। वहां तुमको इस बातका ज्ञान रहता है कि, अभिव्यक्त करने का तुम्हारा जो एक विशिष्ट प्रकार है, वही तुम्हारा व्यक्तित्व है, पर इसके साथ-साथ वहां तुमको इस बातका भी ज्ञान रहता है कि, तुम्हारे द्वारा जो यह अभिव्यक्ति होती है, वह उस एक अखण्ड विश्वचेतनाकी ही बहिर्गत अभिव्यक्ति है।

यह ऐसा है मानो तुमने अपने एक अंगको अपने-आप-में-से बाहर निकाल लिया हो और उसको अपने सामने रखा हो और अब वह अंग और तुम दोनों आपस में एक दूसरे को देख रहे हों और दोनोंके बीच क्रियाओं की एक लीला खेली जा रही हो। इस द्वैतभावकी आवश्यकता इसलिये हुई, जिससे कि अपने बहिर्गत रूपके साथ संबन्ध बताया और स्थापित किया जा सके, तथा उसको भोगा जा सके, किंतु हृत्पुरुषकी चेतनामें यह भेदभाव, जो द्वैतभावका पोषक है, केवल भ्रमरूप, एक दिखावमात्र अनुभव होता है, वहां इस भावका इससे अधिक और कोई मूल्य नहीं है।

= " अध्यात्मभूमि का और हृत्पुरुषकी भूमिका में कोई भेद है क्या? क्या ये भूमिकाएं अलग-अलग हैं?"

हां, हृत्पुरुषकी भूमिका व्यक्तिगत अभिव्यक्तीकरणसे संबंध रखती है, तुममें जो भगवान् हैं, जो लीला में गतिशील होनेके लिए आविर्भूत हुए हैं, उनका वह गतिशील स्वरूप ही तुम्हारा हृत्पुरुष है। परन्तु जब हम अध्यात्मके विषयमें बोलते हैं, तब हमारे ध्यानमें कोई ऐसी चीज होती है, जो बाह्य अभिव्यक्तीकरण में होनेकी अपेक्षा भगवान् में केंद्रित

है। आध्यात्मिक भूमिका कुछ ऐसी चीज है, जो बहिर्वर्ती लीलाके पीछे और ऊपर स्थितिशील होकर विद्यमान् है। यह प्रकृतिके उपकरणोंको धारण करती है, उन्हें सहारा देती है, किंतु यहांके बाध्य अभिव्यक्तीकरणमें वह अपने-आपको सम्मिलित या लीन नहीं करती।

परन्तु इन विषयोंकी चर्चा करते हुए जिन शब्दों का हम उपयोग करते हैं, उन शब्दोंसे ही कहीं हम बंध न जांय इस बात से हमें सावधान रहना चाहिये। मैं जब हृत्पुरुष अथवा अध्यात्मके विषय में कुछ कहती हूं, तब उस समय मेरा अभिप्राय उन वस्तुओंसे होता है, जो अत्यंत गभीर और वास्तविक हैं, जो शब्दोंके नीरस ऊपरी तलके परेकी चीजे हैं और जिनमें पृथक्त्वकी अवस्थामें भी अन्तरंग संबन्ध रहता है। बौद्धिक व्याख्याएं और विवेचन इतने अधिक बाह्य और कठोर होते हैं कि, वे वस्तुओंके वास्तविक सत्यको नहीं पकड सकते। फिर भी यदि बातचीत करनेवाले ऐसे लोग न हों, जिन्हें एक दूसरेके साथ वार्तालाप करनेका बहुत अधिक अवसर प्राप्त होता हो, तो शब्दोंके भावको अच्छी तरह समझानेकी जरूरत पडती ही है, इसके बिना तुम एक दूसरेके अभिप्रायको अच्छी तरह नहीं समझ सकते।

किसी वार्तालापके लिये आदर्श अवस्था वह होती है, जब कि उस वार्तालापमें भाग लेनेवाले मन परस्पर एक स्वर में इतनी अच्छी तरह मिले हुए हों, कि उनके शब्द अनायास होनेवाले पारस्परिक बोधके लिए केवल सहारामात्र ही हों और जो कुछ चर्चा होती हो, उसकी पद-पदपर व्याख्या करनेकी आवश्यकता न पडे। जिन लोगोंसे तुम्हें रात-दिन बातें करनेका अवसर मिलता है, उनके साथ बात-चीत करनेमें उपर्युक्त लाभ रहता है, ऐसे लोगों के मनों में एक समस्वर सामंजस्यकी स्थापना हो जाती है और कही हुई बातका मर्म उनके अन्दर तुरंत बैठ जाता है।

जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है, ऐसी भावनाओं, विचारों का एक जगत् है और शब्दों के पीछे जो सत्य है, उसको ग्रहण करनेके लिये तुम्हें इस जगत् में प्रवेश करना चाहिए। जबतक तुम्हारी समझ शब्दोंके बाह्य--रूपोंसे ही बनती है, तबतक बहुत संभव है कि उनके सत्य भावको समझनेके लिए तुम्हें एक बडी उलझनमें पडा रहना पडे। परन्तु यदि तुम अपने मनकी नीरवता में प्रवेश करके उस जगत् में ऊपर उठ सको जहांसे भावनाएं रूपग्रहण करने के लिये अवतरित होती हैं, तो तुम्हें तुरन्त सत्य का बोध होगा। यदि तुम्हें इस बातसे असंदिग्ध हो जाना है कि, तुम एक दूसरेके भावको ठीकठीक ही समझ लेते हो, तो तुममें यह योग्यता हो जानी चाहिए कि, तुम अपने हृदयों की नीरवता में एक दूसरेकी बातको समझ सको।

एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें तुम्हारे मन परस्पर इतने अधिक समस्वर सामंजस्यमय हो जाते हैं कि, तब शब्दोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती और एक व्यक्ति दूसरेके विचारको अनुभव कर लेता है। परन्तु यदि यह समस्वरता नहीं है, तो तुम्हारे अभिप्रायमें कुछ-न-कुछ विकार आ ही जायगा, कारण तब तुम जो कुछ कहोगे, उसमें दूसरेका मन अपना ही कुछ अभिप्राय जोड देगा। मैं एक शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट अर्थ में या उस अर्थ की किसी विशिष्ट छाया में करती हूं, तुम दूसरे ही अर्थ या छाया को उस शब्द के आशय में ले आने के अभ्यासी हो। अब यही तो होगा कि उस शब्द से जो मेरा अभिप्राय है, उसको तुम ज्यों-का-त्यों नहीं समझ सकोगे, बल्कि उस शब्द का जो अर्थ तुम्हारे लिये बन चुका है, उसे ही समझोगे। केवल वाणीके व्यवहारमें ही नहीं, किंतु पढने के संबन्ध में भी यही सत्य लागू होता है। यदि तुम किसी ऐसी पुस्तकको समझना चाहते हो, जिसमें किसी गभीर विषयकी शिक्षा दी गयी है, तो तुम्हें उस पुस्तकको अपने मनकी नीरवतामें पढ सकने के योग्य हो जाना चाहिये।

तुम्हें जलदी नहीं करनी चाहिये, उस पुस्तक के कथनको अपने अन्दर की गहराई में उतर जाने देना चाहिये, उस क्षेत्रतक पहुंच जाने देना चाहिये, जहां शब्द नहीं रहते और फिर वहांसे उसे शनैः शनैः अपनी बाह्य चेतना और उसके ऊपरी तलतक वापस लौट आने देना चाहिए और तबतक इंतजार करना चाहिये। परन्तु यदि तुम शब्दों को अपने बाह्य मनतक एक ही छलांग में कूदकर पहुंच जाने दोगे और फिर इन दोनोंको परस्पर जोड देने और इनका मेल मिला लेनेकी चेष्टा करोगे तो तुम उन शब्दों के वास्तविक अभिप्राय और शक्तिको गंवा दोगे। जबतक तुम अपने अव्यक्त मनके साथ, जो अभिव्यक्ति के केंद्रके पीछे-पीछे विद्यमान रहता है, एकता प्राप्त न कर लो तबतक तुम्हारी

समझको निर्मूल नहीं कहा जा सकता ।

पहले एक जगह हम लोग वैयक्तिक मनकी चर्चा कर चुके हैं और उस समय यह कहा गया था कि, प्रत्येक वैयक्तिक मन एक अलग-अलग जगत् है, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है, हरेक अपने-आप में ही बंद है और एक का दूसरे जगतों के साथ किसी प्रकार का कोई सीधा संबंध नहीं-सा ही है। परन्तु यह अवस्था मन के हीनतर क्षेत्रमें ही है, वहां तुम्हारी अपनी रची हुई रचनाएं ही तुम्हें अपने अन्दर बंद कर लेती हैं और इन रचनाओं में--से या अपने मन की चौहद्दी में से बाहर निकल आना, तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है। इस क्षेत्र में तुम अपने-- आपको ही अथवा वस्तुओं में जो तुम्हारा अपना प्रतिबिंब है, उसीको ही समझ सकते हो। परन्तु यहां अर्थात् अनभिव्यक्त मन के उच्चतर क्षेत्रों और उसकी पवित्रतर ऊंचाइयों में तुम स्वतन्त्र हो।

जब तुम इस में घुसते हो, तो तुम अपने--आप से बाहर निकल आते हो और एक ऐसे विश्वव्यापी मनोमय लोक में प्रवेश पा जाते हो, जिस में प्रत्येक व्यष्टिगत मनोमय जगत् इस प्रकार निमग्न हो जाता है, मानो वह किसी बडे भारी समुद्र में समा गया हो। वहां, उस भूमिका में, दूसरे के अन्दर जो कुछ हो रहा हो, उसको तुम पूरे-पूरा समझ सकते हो, तथा उस के मनको इस प्रकार जान सकते हो। मानो वह तुम्हारा अपना ही मन हो, कारण वहां कोई पृथकत्व का भाव है ही नहीं जो एक मनको दूसरे मन से अलग करे। इस क्षेत्र में पहुंच कर जब तुम दूसरों के साथ एक हो जाते हो, केवल तभी तुम उनको समझ सकते हो, अन्यथा तुम उन के साथ एकस्वर नहीं हो पाते, तुम उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते, तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन ही नहीं होता, जिस के द्वारा तुम अपने मन के अतिरिक्त दूसरों के मन में जो कुछ हो रहा हो, उसको ठीक-ठीक जान सको।

जब तुम किसी मनुष्य के सामने होते हो, उस समय वह मनुष्य क्या विचार या क्या अनुभव कर रहा है, इस बात का प्रायः तुम्हें कोई ज्ञान नहीं होता, किंतु यदि तुम अभिव्यक्ति की इस बाह्य भूमिका के परे जा सको, इसके ऊपर उठ सको, यदि तुम उस भूमिका में प्रवेश कर सको, जहां तीव्र संभाषण सम्भव है, तो तुम दूसरे के मनको उसी प्रकार जान सकोगे, जिस प्रकार तुम अपने मनको जान लेते हो। तब विचारों को व्यक्त करने के लिये शब्दों की उपयोगिता का महत्त्व बहुत कम हो जाता है, कारण पूर्ण समझ तो शब्दों के परे किसी दूसरी ही वस्तु में रहती है और कुछ थोडेसे शब्द तुम्हारे प्रयोजन के लिये पर्याप्त होते हैं। वहां लंबी--लंबी व्याख्याओं की आवश्यकता नहीं रहती, इस बात की आवश्यकता नहीं होती कि किसी बात को पूरे विस्तार से व्यक्त किया जाय, कारण वहां वक्ता के अभिप्राय का तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है।

= " क्या कभी ऐसा समय भी आवेगा जब विरोधी शक्तियां रहेंगी ही नहीं ? "

जब इस जगत् में उनकी उपस्थिति का कोई उपयोग न रह जायगा, तब वे स्वयमेव लुप्त हो जायंगी। उनकी जो क्रिया होती है, वह हमारी परख की प्रक्रिया के तौरपर उपयोग में लायी जाती है, जिस से कि हमारी कोई भी त्रुटि छूट न जाय, इस रूपान्तर के कार्य में कुछ भी चीज बाकी न बच जाय। उनके सामने कोई भी भूल न चलेगी। अपनी सत्ताको रूपान्तरित करने में यदि तुमने कुछ भी, किसी मामूली से ब्यौरे की भी, अवहेलना की, तो वे झट आ पहुंचेंगी और उस उपेक्षित स्थान पर अपना हाथ रखेंगी और तुम्हारे लिये उसको इतना दुःखदायी बना देंगी कि तुम उसका परिवर्तन करने के लिये बाध्य हो जाओगे। इस प्रक्रिया के लिये जब उनकी आवश्यता न रह जायगी, तब उनका रहना निरर्थक हो जायगा और वे लोप हो जायंगे। भगवान् के इस महान् कार्यमें उनकी आवश्यकता होनेके कारण ही उनको यहां रहने दिया गया है, और जब यह आवश्यकता जाती रहेगी, तब या तो वे रूपांतरित हो जायंगी या चली जायंगी।

= " क्या ऐसा होने में बहुत समय लगेगा ? "

यह सब तुम्हारे दृष्टिकोणपर निर्भर करता है। कारण काल सापेक्षिक है, कालकी चर्चा कई दृष्टिकोणसे की जा सकती है, साधारण बाह्य मानव-दृष्टिकोणसे की जा सकती है, आंतर चेतनाके गभीरतर दृष्टिकोणसे भी और भगवानकी दृष्टिसे भी।

यदि तुम भागवत चेतना के साथ एक हो गये हो, तो

फिर किसी कार्य के किये जाने में चाहे, मनुष्यकी काल-गणना के हिसाब से, एक हजार वर्ष लग जांय या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता, कारण उस अवस्था में तुम मानवप्रकृति की अवस्थाओं का अतिक्रमण कर भागवत प्रकृतिकी अनंतता और शाश्वतता में प्रवेश कर जाते हो। किसी काम को शीघ्र समाप्त कर डालने की तीव्र व्याकुलतारूपी जिस व्याधि से मनुष्य ग्रस्त रहते हैं-कारण वे उद्योग के परिणामको अपनी आंखों के सामने होता हुआ देखना चाहते हैं— उससे तुम मुक्त रहोगे।

उद्वेग, उतावल और बेचैनीसे कुछ बनता नहीं। ये तो ऐसे हैं जैसे समुद्रपर फेन, ये ऐसे महान् आडंबर हैं, जो आप-से-आप समाप्त हो जाते हैं। निरन्तर दौड-धूम और कूद-फांद किये बिना, कर्मण्यता के आवेश में उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड--तोड लगाये बिना मनुष्योंको ऐसा ज्ञान पडता है, मानो वे कुछ कर ही न रह हों। परन्तु इन तथाकथित हलचलों से वस्तुओं का परिवर्तन हो जायगा, यह समझना एक भ्रम है। यह एक ऐसी बात है, जैसे कोई एक कटोरे को हाथ में उठा ले और उसमें के जलको थपेडता रहे। आवश्य ही इस क्रियासे जल इधर-उधर हिलेगा, किंतु तुम्हारे इतने थपेडे खाकर भी वह रहेगा जल का जल ही। कर्म करने का यह भ्रम मानवप्रकृति के सब से बडे भ्रमों में से है। इससे प्रगति होने के बजाय प्रगति में बाधा पहुंचती है, कारण इस भ्रम में पडकर तुम सदा किसी उत्तेजित गति की ओर दौड पडने की आवश्यकता का बोध करने लगते हो।

कितना अच्छा हो, यदि तुम इस भ्रमको जान जाओ, इसकी निरर्थकता समझ जाओ और तुमको यह दिखायी देने लगे कि तुम्हारी इस दौड--धूम से संसार में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। कहीं भी तुम्हें इसके द्वारा कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग इस प्रकार की दौड-धूम करते हैं, वे ऐसी शक्तियों के केवल खिलौने होते हैं, जो अपने आमोद के लिये उन्हें नचाया करती हैं। और ये शक्तियां भी कोई उत्तम कोटिकी नहीं होतीं।

जगत् में जो कुछ भी किया गया है, वह उन थोडे से महापुरुषोंद्वारा ही किया गया है, जो क्रियाओंके परे आत्मा की नीरवता में स्थित रह सकते हैं, कारण ऐसे लोग ही भागवत शक्ति के उपकरण होते हैं। ये ही हैं गतिशील प्रतिनिधि, सचेतन उपकरण, ये ही उन शक्तियों को उतार कर लाते हैं, जो जगत् का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चंचल कर्मण्यताद्वारा। शांति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही जगत् का निर्माण हुआ था और प्रत्येक बार जब भी किसी सच्ची चीजकी रचना करनी होगी, तो उसे शांति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत् में कुछ कर सकने के लिये तुम्हें इन तरह तरह की निरर्थक बातों के लिये परिश्रम करना और सुबह से शामतक दौड-धूम करना आवश्यक है।

चक्रवत घूमते रहनेवाली इन शक्तियों से किनारा खींचकर एक बार यदि तुम शांत क्षेत्रों में पहुंच जाओ, तो तुम देखोगे कि यह भ्रम कितना बडा है। तब तुम्हें मानवजाति ऐसी दिखायी देगी, मानो यह कोई अंधे प्राणियों की समूह हो, जो इस बातको जाने बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड-धूम करते फिरते हैं और जो केवल एक दूसरों के साथ टकराते और ठोकर खाते रहते हैं। और इसी को ये लोग " कर्म " और " जीवन " कहते हैं। यह तो थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

मैंने एक बार कहा था कि, दस मिनटतक सार्थक रूप से बोलने के लिये दस दिनतक मौन रहना चाहिये। इसमें मैं इतना और जोड दे सकती हूं कि, एक दिन सार्थकरूप से कार्य करने के लिये एक वर्षतक शांत रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवन के लिये आवश्यक नित्य की दिनचर्यासम्बन्धी सामान्य कार्यों के विषय में नहीं कह रही हूं, बल्कि उन के लिये कह रही हूं, जिन्हें संसार में कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि, वे संसार में कुछ करने के लिये आये हैं। और नीरवता से मेरा अभिप्राय आंतरिक शांति से है और यह उन्हीं को प्राप्त हो सकती है, जो अपने कार्यों से अपने-आपको तदाकार किये बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तिओं के कोलाहल और रूप से अंधे और बहरे हुए बिना ही कार्य कर सकते हों। अपने कार्यों से अपने--आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तिओंके परे जो एक दृष्टि है, उस में ऊपर उठो, शाश्वत की चेतना में प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे, कि सच्चा कर्म क्या है।

वैदिक देवता ।

(लेखक- श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति)

(१)

देवताओं की चतुर्विध कल्पना ।

१. परमात्माके गुणों को देवतारूपेण विग्रहवान् मानकर कल्पनामय देवता, जैसे-

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, रुद्र, भैरव, काल, पार्वती, काली आदि ।

२. प्राकृतिक घटनाओं को देखकर उन में विद्यमान किसी प्राकृतिक शक्ति या शक्तिमय पदार्थ को देवता मानकर उसके आधारपर कल्पना करनी । जैसे-

इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ध्रुव, वायु, अग्नि आदि ।

३. मानुषीय शक्तिके ही विभाग करके उनपर आन्तरिक दृष्टिसे विचारपूर्वक योजना करके देवताकी कल्पना करनी जैसे-

प्राणदेवता, मनोदेवता, बुद्धिदेवता, ज्ञानदेवता, इन्द्रिय-देवता, आत्मादेवता, आदि ।

४. वीर पुरुषों तथा बडे आदर्श पुरुषों को श्रद्धा तथा आदर की अधिकतावश उनको भी देवता मानकर पूजा करना । जैसे-

राम, कृष्ण, बुद्ध, हनुमान्, शङ्कर आदि ।

देवतावर्ग केवल पुल्लिङ्ग ही नहीं, परन्तु देवियों की भी कल्पना उपर्युक्त विभाग-नियमानुसार कल्पित है ।

(२)

देवताओंका विकास ।

पहिले एक ही देवता थी, उसीके विकास से भिन्न भिन्न देवता हुई हैं । वेदमें शतशः ऐसे मन्त्र आते हैं, जिन में देवताओं के भिन्न भिन्न नाम लेकर उनको एक ही कहा है और कहीं एक ही देवताको भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारा है । ब्राह्मणग्रन्थ भी एक अक्षर-ब्रह्ममें सब देवताओं की प्रतिष्ठा बतलाते हैं और उसीसे सब का उद्भव बतलाते हैं । उपनिषदों और स्मृतियों में भी उसी प्रकार परब्रह्म से सब देवताओं का विकास कथन किया है ।

बृहद्देवता में भी देवताविकास उसी प्रकार कथन किया गया है । यास्कमुनिने निरुक्त में देवताओं को आत्मा का अङ्ग बतलाया है, तथा सब प्रकार से उन्हें आत्मस्वरूप कहा है । निरुक्तके व्याख्याकार दुर्गाचार्य भी अपनी ऋज्वर्थ व्याख्या में उसी पक्ष को पुष्ट करते हैं । श्रीसायणाचार्यजीने भी ऋक्-संहिताभाष्य कें उपोद्घात में बलपूर्वक उसी पक्ष को पुष्ट किया है । इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि, जितने देवता हैं, उन सब का मूल आधार एक आत्मा है । आत्मा के ही विकास से सब देवताओं का प्रादुर्भाव है, देवोंका स्वरूप वही है, जो आत्मा का है । जितने रूपों में आत्मा विकसित होता है, उतने ही रूपोंके नाम भिन्न भिन्न देवताओं के नाम कहलाते हैं ।

(३)

देवता-शब्दार्थ ।

देवता उन पदार्थों का साधारण नाम है, जिनके गुणोंका वर्णन किसी मंत्र में किया जाता है । अतएव किसी मन्त्र में जिस पदार्थ का वर्णन होता है, उस पदार्थ का वाचक नाम उस मन्त्र का देवता कहलाता है । अतः किसी मन्त्र का जो विषय है, वह उस मन्त्र का देवता है । यह ही यास्कमुनिने भी निरुक्त में इस प्रकार लिखा है-

' अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्य-स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते, सैषा दैवतोपपरीक्षा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवता-यामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ' ॥ (निरुक्त० ७, ११)

इसी प्रकार यास्कमुनि निरुक्त के प्रथमाध्याय के प्रथम पादके द्वितीय खण्ड में बतलाते हैं-

' कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ', अर्थात् कर्म की प्रक्रिया को दिखानेवाला मन्त्र भी वेद में देवता शब्द से कहा जाता है ।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि, मन्त्र से द्योत्य (मन्त्र के विषय) को देवता कहते हैं, अर्थात् मन्त्र के अर्थ का मूल आधार देवता है । इस प्रकार देवता शब्द का अर्थ समझने पर स्पष्ट है कि मन्त्र के अन्दर उन पदार्थों

के गुणों की व्याख्या है, जिनका देवता नामों से सङ्केत किया जाता है। निरुक्त में अध्याय सात के १५ वें खण्ड में यास्क मुनिने देव शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की है—

'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा देवः; यो देवः सा देवता।'

यहांपर किसी भी देवता के तीन गुण बतलाये हैं। १ दान, २ दीपन, ३ द्योतन। देव शब्द से अभिप्राय उस शक्ति से है, जिसको प्राप्त करके वस्तुएं हमारे सामने प्रकाशित हो जाती हैं, स्पष्ट हो जाती हैं और हमारा मार्ग अक्लिष्ट (उन्नति की ओर) हो जाता है वा विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं कि, देव उस शक्तिका नाम है, जो बुद्धि में प्रकाश करती है, मन में उत्साह देती है और साथ ही त्याग की भावना को प्रेरित करती है। देवका मुख्य कार्य बुद्धि को विशद करना या विवेचन-शक्ति को बढाना है। जिन जिन कारणों से बुद्धि का ह्रास होता है, वे सब देवों के शत्रु हैं और जिन जिन कारणों से बुद्धि विशद होती है, वे सब कारण देवों के मित्र (देवबन्धु) वा देव कहलाते हैं। शुभ कार्योंमें बाधा डालनेवाले राक्षस देवविरोधी हैं। सम्पूर्ण शक्तियों का आधार जीवनीय शक्ति या प्राणशक्ति है। जो इस प्राणशक्ति के विरोधी हैं वे सब के विरोधी हैं, इसीलिये देवासुर-संग्राम चला आता है, क्योंकि ये दोनों विरोधी शक्तियां हैं, देवों का काम यज्ञ (उन्नतिपथ= स्वार्थ का परार्थ में होम) को पूरा करना है और असुरों का काम यज्ञ (उन्नतिपथ) को विध्वंस करना है। जबजब असुरों ने उन्नतिपथ में बाधा खडी की तब तब देवोंने प्रजापति, (प्राणोंके स्वामी वा प्राणदाता) प्रजा के स्वामी राजा की उपासना की। इस प्रकार वे शक्तिसम्पन्न होकर यज्ञ में सफल हुए।

महाभारत में स्पष्ट बतलाया है कि, अक्लिष्ट मार्ग में प्रवृत्त करानेवाली शक्ति किस प्रकार मनुष्यको प्रवृत्त करती है, वा किस प्रकार उसकी रक्षा करती है। जब ध्यानी (सावधान) मनुष्य यज्ञिय मार्ग (उन्नतिपथ वा निवृत्तिमार्ग अर्थात् स्वार्थ का परार्थ में होम) में चलते हुए किञ्चित् विचलित हो जाते हैं, तब देव उनकी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं, जिससे वे अक्लिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके उद्देश्य को प्राप्त होते हैं।

आत्मा ही सब देवताओं का विकासस्थान है। उसी से सब देवता विकसित होती हैं। सब देवताओं का स्वरूप आत्मा ही है, इसलिये जब मनुष्य को किसी त्यागसंबंधी कार्यमें कठिनाई उपस्थित हो तब वह समझ ले कि वह क्लिष्टपन्था (अवनतिपथ) में है। इसके लिये उसे अपनी आत्मिक शक्ति को जगाना चाहिए। जब उसके आत्मा के दोष दूर होंगे तब विवेचनाशक्ति जागृत होगी और तब अक्लिष्ट मार्ग में बुद्धि के प्रवृत्त होने से उन्नति होगी, साथ ही प्रतीत होने लगेगा कि, सर्व प्रकार की बाधा कहीं बाहर से नहीं आती, किन्तु उसका बीज अपने अन्दर ही होता है। इस प्रकार समझने से कोई पुरुष किसी को शत्रु समझे और उसे विघ्नोत्पादक समझकर उस से विद्वेषादि करे, यह नहीं होगा, तथैव किसी को बन्धु समझ उस से याचना भी न होगी। "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" यह सिद्धान्त सत्य प्रतीत होगा।

देवता के अर्थों के विषय में निरुक्तकार यास्कने जो कुछ भी लिखा है, उस से स्पष्ट है कि, निरुक्तकार देवताओं को देहधारी आकृतिविशेषवाला पदार्थ नहीं मानते थे, प्रत्युत मन का जो विषय है, वही देवता शब्द से उन्हें अभिप्रेत था। पौराणिक काल में प्रत्येक पदार्थ की अधिष्ठात्री देवता मानकर देवताओं की संख्या ही न रही। निरुक्तकार के समय देवता शब्द का लौकिक व्यवहार विद्वान् मनुष्य, मातापिता और अतिथि वा उपदेशक संन्यासी के लिये भी होता था। परन्तु यदि यास्क को कोई ऐसी मूर्तिपूजा या हीनोथीइज्म या देवतापूजा जिस के साथ मिथ्या विश्वासी हिन्दुओं का इतना प्रेम है और जिसे वेदों में ढूंढने के लिये प्रोफेसर मैक्समूलर इतने व्यग्र हैं, ज्ञात होती, तो चाहे वह स्वयं उस पूजामें भाग न लेता, परन्तु यह असम्भव है कि, वह सर्वथा उसका वर्णन ही न करता, विशेषतः जब कि वह सामान्यरूपसे मनुष्यों में साधारण व्यवहार का कथन करता है। अतः यह निश्चित है कि मूर्तिपूजा और इसका जन्मदाता मिथ्याकथाज्ञान, कम से कम जहां तक आर्यावर्तका सम्बन्ध है, नवीन समयों के ही उपज हैं। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि, यास्कमुनि उन पदार्थों के नामों को देवता शब्द से कहता है, जिन पदार्थों के गुण मन्त्रों में वर्णित हैं। यह

बात और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम मन्त्रों पर लिखे देवताओंको देखते हैं, जिस जिस मन्त्र पर जिस जिस देवता का नाम दिया है, उन देवताओं में से कितनों ही के नाम निघण्टु में– जहां देवताओं का संग्रह है– नहीं आते।

ऋग्, यजुः, साम तीनों वेदों के पुरुषसूक्त के मन्त्रों के देवताओंपर दृष्टि डाली जाय तो पता लगता है कि, ऋग्वेद में पुरुषसूक्त का देवता पुरुष ही लिखा है। यजुर्वेद और सामवेद में 'ततो विराडजायत०' मन्त्र का देवता स्रष्टा लिखा है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त के पहले चार मन्त्रों का देवता सामवेद में पुरुष बतलाया है, परन्तु यजुर्वेद में 'पुरुष एवेदमित्यादि' मन्त्र का देवता ईशान बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, वेद में एक ही मन्त्रों के देवता कथन करने में कहीं तो सामान्य रूपसे कथन किया है, जैसे ऋग्वेद में पुरुष कह दिया, और कहीं उस देवता के गुण और कर्मों को दिखाने के लिए उस देवता के गुण और कर्मों के बोधक शब्द मन्त्रों के देवता लिखे। इस प्रकार आलोचना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वेदमन्त्रोंके विषयका नाम ही देवता है, तथा देवताओं के गुणकर्मस्वभाव के बोधक शब्द मन्त्रों के देवतारूप कथन किए हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ५८ का 'अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा देवताः' लिखा है। इस सूक्तमें प्रारम्भ से घृत का वर्णन चलता है, इस सूक्त के सारे मन्त्र घृत के वर्णन में ही लगे हैं। यहां घृत शब्द से भोग्य पदार्थ घी का वर्णन नहीं है, किंतु घृत शब्द से उस अव्यक्त कारण का ग्रहण है, जिस से सारी सृष्टि का क्षरण होता है– विकसन होता है– जिससे सारी सृष्टि अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था में आकर प्रकाशमान होती है। वह घृत ही अपने में से सृष्टि को निकालता है वा देता है। इस प्रकार घृत में दान, दीपन और द्योतन गुण होने से ही उसको घृत कहते हैं। इस प्रकार निदर्शनमात्र के दिखाने से स्पष्ट हो गया होगा कि, मन्त्रगत विषय को कहनेवाला शब्द ही देवता शब्द होता है। अन्य कोई मूर्तिमान् पौराणिक देवता वेदमें अभिप्रेत नहीं है। देवताओं के विकास में पहिले दिखलाया है कि आत्मवादियों के पक्षसे निरुक्तकार यास्कमुनि आत्मा से ही सब देवों का विकास कथन करते हैं।

निरुक्तकार यास्कने दो दृष्टियों से देवताओं का विभाग किया है। एक उनके विकास की दृष्टि से और दूसरा उनके नामों की दृष्टि से। चूंकि देवता एकही आत्मा से विकसित हुए हैं और उनका अपना स्वरूप वह ही है, जो आत्माका है, अतः उनके नाम उनके कर्मों के भेद के कारण हैं, जैसे एक ही मनुष्य होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता भिन्न भिन्न नाम, भिन्न भिन्न कर्मों के भेदके कारण पाता है और अवस्थाभेद से बाल, युवा, वृद्ध भिन्न भिन्न संज्ञायें प्राप्त करता है। यह विधि अर्थ से शब्द की ओर जाने की दृष्टि से है।

दूसरी विधि देवताओं के विभाग करनेकी, शब्दसे अर्थ की ओर जाने की दृष्टि से है। इसके लिए निरुक्तकार यास्क लिखते हैं कि, चूंकि उनकी स्तुति (नाम) पृथक् पृथक् हैं, अतः उनकी सत्ता भी पृथक् पृथक् है।

(४)
देवताओं का स्वरूप।

देवताओं का स्वरूप वही है, जो मन की वृत्तियों का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकृतिजन्य मन के अन्दर परिवर्तन आते रहते हैं, उसी प्रकार उस के संकल्पविकल्पात्मक कार्य में परिवर्तन होते हैं। उन परिवर्तनों के होनेसे ही भिन्न भिन्न देवताओं का आगमन कहा जाता है, क्योंकि देवता संकल्पमयी है। छान्दोग्योपनिषद् में विद्यमान देवासुर-संग्राम के प्रकरण की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्यजी ने भी यही माना है। जो देवासुरसंग्राम स्वामी शंकराचार्यजीने माना है, यही वस्तुतः देवासुरसंग्राम है और इसीका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान स्थानपर यज्ञ-प्रकरणों में आया है।

देव और असुर दोनों ही प्रजापति (गति को आगे आगे जारी रखनेवाले) के पुत्र हैं। चित्तकी सत् और असत् दोनों प्रकार की गतियों को पैदा करनेवाला अर्थात् उनमें शक्ति देनेवाला जो भी कोई प्राणविशेष है, उसी को प्रजापति कहा है। चित्त की इन विपरीत वृत्तियों के अन्दर सदा युद्ध होता रहता है। देव यज्ञ की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते रहते हैं और असुर विघ्न उपस्थित कर करके उनको यज्ञपूर्ति करने से रोकते रहते हैं। वह यज्ञ जिसकी पूर्तिमें देव लगे हुए हैं, उन द्रव्यों और उन कर्मों का नाम है,

जिन से संसार जीवनीय शक्ति प्राप्त करता है। संसार में जीवनशक्ति वा प्राणशक्ति का जो आश्रय है, जो सर्व कर्मों का आश्रय होनेसे सब का आत्मा है, जिसने प्रारम्भ में संसार को विकास की ओर गति दी है, वह यज्ञ है, वह ही प्रजापति है और वह ही पुरुष है। इसीलिये परमात्मा का नाम भी यज्ञ है। इससे पता लगा कि देव जिस यज्ञ की पूर्ति में लगे हुए हैं, वह यज्ञ उस प्रजापति परमात्मा (सर्व कर्मों का कारण) की प्राप्ति का नाम है, जिससे जीवनशक्ति प्राप्त होती है वा जो जीवनशक्ति का आश्रय है। अफलातून (प्लेटो) ने भी जड और चेतन सर्व कर्मों का मुख्य कारण आत्मा को हीं बताया है।

पहिले निरुक्तकारके प्रमाणसे बताया गया है कि आत्मा से ही सब देवों की उत्पत्ति हुई है। देव और असुर दोनों ही प्राजापत्य (प्रजापति के पुत्र) कहे हैं। कोष को देखा जाय, तो हर्ष और विषाद (To rejoice and to suffer) दोनों ही देव शब्द के अर्थ हैं। चूंकि आत्मा से देवों की उत्पत्ति है, अतः यह मानना पडेगा कि, सुखदुःखात्मक द्वन्द्वावस्था कहीं बाहिर से उत्पन्न नहीं होती, उसका कारण भी आत्मा ही है।

इस कथन की पुष्टि प्लेटो के कथन से और भी अधिक हो जाती है जब कि वह कहता है कि ' हम इस बात को मानते हैं कि, आत्मा ही अच्छे-बुरे, सत्-असत्, न्याय-अन्याय का कारण है, जब हम यह मानते हैं कि आत्मा ही सब वस्तुओं का कारण है।" इस प्रकार देव शब्द का द्वन्द्वात्मक भावरूप अर्थ होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से देव शब्द का प्रयोग अच्छे भावों के लिये ही रह गया है और उसके विरुद्ध भाव को बतलाने के लिये असुर शब्द का प्रयोग हो गया है।

चित्त की दो प्रकार की वृत्ति हैं, जिन के नाम देव और असुर हैं। इन में असुरों के अभिभव के लिये और उनकी विरुद्ध देववृत्ति को जागृत करने के लिये वा देवता को आह्वान करनेके लिये विशेष विशेष मन्त्रोंका, विशेष विशेष समयोंपर, विशेष विशेष ऋतुओंमें विधिपूर्वक विशेष विशेष मनुष्यों के लिये या विशेष विशेष मनुष्य स्वयम् जप करें, तो उस जप से विशेष प्रकार की गति (Vibrations) चित्तके अन्दर उत्पन्न होती हैं, जिस जिस वृत्तिका प्रादुर्भाव करना होता है वा देवताका आह्वान करना होता है, उसको इस प्रकार आह्वान किया जाता है।

इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादन करने के लिए वा भिन्न भिन्न प्रकार की कामना की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ (कार्य की प्रक्रिया विशेष) को सम्पादन करने के लिए अपने अन्दर शक्ति धारण की जाती है वा देवताओं का आह्वान किया जाता है।

भिन्न भिन्न प्रकार के मन्त्रों के जप करने से भिन्न भिन्न प्रकार की शक्ति का आविर्भाव इसलिए होता है, क्योंकि प्रत्येक अक्षर यदि अपने आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों के द्वारा ठीक ठीक उच्चारण किया जाय, तो भिन्न भिन्न विन्यासपूर्वक उनका उच्चारण करनेसे, जैसा कि मन्त्रोंमें है, वे भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न करते हैं वा भिन्न भिन्न प्रकार से चित्तवृत्तियों में परिवर्तन करके आत्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति में साधन होते हैं, तथा विकृत रूप में उच्चारण करने से अवनति के भी साधन होते हैं, क्योंकि तब आसुरी वृत्तियों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार मानसिक वृत्तियों के परिवर्तन करने में ही मन्त्रों के उच्चारण की वा जप की उपयोगिता है। इस प्रकार मानने से ही मन्त्र का मन्त्रत्व प्रकट होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि मन्त्र शब्द का अर्थ गुप्त भाषण (Hidden expression) है, इसही लिए स्वामी शङ्कराचार्यजीने मन्त्र का स्वरूप वृत्त्यात्मक बतलाया है।

स्वामी शङ्कराचार्य के इस मंतव्य से बिलकुल स्पष्ट और पुष्ट हो जाता है कि, देवता वृत्त्यात्मक ही हैं और कुछ नहीं। मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान इसी प्रकार से उचित बैठता है कि, जब मन्त्र भी वृत्त्यात्मक हैं और देवता भी। जिस देवता को बुलाना, भेजना और स्थिर करना होता है वा निरुक्त के शब्दों में प्रत्यक्ष, परोक्ष वा आध्यात्मिक करना होता है, उसी प्रकार के मन्त्र का जप किया जाता है। इस से केवल एक वृत्ति के स्थान में दूसरी वृत्ति का हीं परिवर्तन होता है, अधिक कुछ नहीं।

इस विचार से यह भी स्पष्ट है कि, जिस मन्त्र के जप से जो वृत्ति पैदा होती है, वह वृत्ति ही उस मन्त्र की देवता है और वह ही उस मन्त्र का विषय है। निरुक्तकार यास्कने जो यह कहा है कि, 'द्रष्टा जिस वृत्ति की कामना-

वैदिक धर्म।

वाला उस पर वशीकरण चाहता हुआ जिस देवता के आह्वानमें लगता है, इसी देवतावाला वह मन्त्र (आह्वान) होता है,' यह कथन पूर्वोक्त विचार से बहुत ही रोचक प्रतीत होता है। जिन मीमांसक-सम्प्रदायों ने मन्त्रमयी देवता मानी है, उनका कथन भी पूर्वोक्त विचार को लेकर बहुत ही उपयुक्त और उचित मालूम होता है। इस प्रकार देवताओं के स्वरूप-विचार से स्पष्ट प्रकट है कि, देवताओं का स्वरूप वृत्त्यात्मक है।

निरुक्तकार यास्कने दैवत काण्ड के द्वितीय पादके दूसरे खण्ड में देवताओं के आकारचिन्तन का प्रश्न उठाया है, कि देवताओं का आकार पुरुषविध है वा अपुरुषविध? अन्त में उभयविध है, ऐसा स्वीकार करके दोनों पक्षों को ही ग्रहण किया है। पुरुषविध आकार से यह अभिप्राय है कि देवताओं का आकार (उनका स्वरूप, प्रतिकृति और चिह्न) पुरुषविध (स्पष्ट, वैयक्तिक, विशेष, परिमित, प्रकटरूप) है। अपुरुषविध आकार से यह अभिप्राय है कि, उनका आकार अपुरुषविध (वैयक्तिक रूप धारण न किये हुए, अव्यक्त, अलक्षण, अस्पष्ट, अनिर्धार्य) है। चूंकि देवता व्यष्टि और समष्टि दोनों रूप से कार्य करते हैं, इसलिये उनका स्वरूप उभयविध माना है।

परन्तु पारस्परिक प्रकृतिविकृति-भाव के कारण कोई भी देवता स्पष्ट वा व्यक्त नहीं कही जा सकती। इस प्रकार उभयविध यज्ञ को छोडकर अन्त को यह ही कहा कि, देवताओं या स्वरूप तो अपुरुषविध (अव्यक्त) है, परन्तु कर्म के अनुसार उन के स्वरूप का भेद किया जाता है। चित्त में जो वृत्त्यात्मक कर्म हैं, जिन के स्वरूप से ही देवताओं का स्वरूप निर्धारण किया जाता है, उन वृत्त्यात्मक कर्मों के परिवर्तन में कारणरूप से वर्तमान जो त्रिगुणात्मक वा पाञ्चभौतिक संयोगभेद हैं, वे ही देवता शब्द से अभिप्रेत हैं, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है, अतः उसके अन्दर गुणों का पारस्परिक संयोगवियोग, रचना-क्रम-विन्यास का भेद ही चित्त-वृत्ति के परिवर्तन में कारण है।

इसलिये गुणोंका अपने अन्दर यथोचित रीतिसे आह्वान करने से चित्तवृत्तिओं के परिवर्तन के द्वारा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार त्रिगुणों को और उनके विकार पञ्चभूतों को भी देवता समझा जा सकता है। यही पूर्वोक्त भेद सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों के भेद का कारण है। सञ्चित कर्म वृत्तियों की सुप्तावस्था है, प्रारब्धकर्म वा क्रियावस्था वृत्तियों की जाग्रतावस्था है। क्रियमाण कर्म जो वृत्तिरूप में आनेको हैं, परन्तु अभी आये नहीं, वे वृत्तियों की स्वप्नावस्था है।

(५)

चित्तवृत्तियां और देवताविचार।

वृत्ति शब्द के अर्थ व्यवहार, मार्ग, कर्म, गति, कार्य, व्यापार आदि हैं। मनुष्य की चेतना अन्तःकरण के अन्दर जिस स्वरूप को धारण करती है, वह स्वरूप उस मनुष्यके चित्त की वृत्ति है। इंग्लिश भाषा में वृत्ति को Emotion कहते हैं। यह वृत्ति सुखात्मक वा दुःखात्मक, प्रिय वा अप्रिय, अनुकूल वा प्रतिकूल जिस प्रकार की भी होती है, उसीके अनुसार मनुष्य कार्य करने में अर्थात् ग्रहण और त्याग में प्रवृत्त होता है।

उस प्रवृत्ति से अपनी वृत्ति के अनुकूल फिर संस्कार (बीजात्मक वृत्ति= जिसने उद्बुद्ध होकर अन्तःकरण को ऐसी अवस्था में ढालना है, जिसके अनुसार मनुष्य की कर्मेन्द्रियां कार्य में प्रवृत्त होंगी) पैदा होते हैं और उन संस्कारों से वृत्ति पैदा होती है। इस प्रकार वृत्तिसंस्कार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसके अनुसार संस्कार को संचित कर्म, वृत्ति को क्रियमाण और प्रवृत्ति को प्रारब्ध-कर्म कह सकते हैं।

मनुष्य के अपने संचित कर्मों के अनुसार ही प्रारब्ध कर्म होते हैं और जैसे उस के प्रारब्ध कर्म होते हैं, वैसे ही वह अपने कर्मों का संचय करता है। इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि, मनुष्य इस कर्मचक्र से छूट ही नहीं सकता है और जो जिस प्रकार के कर्मचक्र में पडा हुआ है वह अपने कर्मचक्रको बदल भी नहीं सकता है। ऐसा होते हुए भी मनुष्य यदि दुःख से छूटना चाहता है, तो उसका यह कर्तव्य है कि जिस समय में क्लिष्ट वृत्ति का वेग हो, उस समय को बडे धैर्य और शांति से गुजार दे, उस दुःख के कारण अपने आपको खिजाय नहीं, यह समझ ले कि प्रत्येक वृत्ति पैदा होने के बाद अपनी पूर्ण

वृद्धि को प्राप्त होती है और फिर क्षीण होती हुई विशेष समय के पश्चात् नष्ट हो जाया करती है। अतः जब वृत्ति-चक्र में क्लिष्ट वृत्ति की क्षीणता आरम्भ हो, तो जैसे शत्रु की शक्ति के क्षीण होने पर किसी राजा के अन्दर बल आ जाता है और वह पुनः आक्रमण करके उस शत्रु को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उस क्लिष्ट वृत्ति के प्रतिपक्षी सद्भाव वा अक्लिष्ट वृत्ति को अपने अन्दर जगा कर उस क्लिष्ट वृत्ति के भाव को सर्वथा कुचल डाले, जिससे कि वह फिर उद्बुद्ध न हो सके।

इस प्रकार मनुष्य धीरे धीरे बडी सावधानी से क्लिष्ट वृत्तियों का समूल नाश करता हुआ अन्तमें अक्लिष्ट वृत्तियों को भी भोगकर चित्त को कारण में लीन करके परमानन्द में मग्न हो सकता है और कोई उपाय नहीं है। ऐसा करनेके लिये मनुष्य को बडा सावधान होना चाहिये कि शत्रु आक्रमण करके सुरक्षित बच के निकल न जाय। जो मनुष्य ध्यानशील (अत्यन्त सावधान= Cautious) रहेगा, वह ही क्लिष्ट वृत्तियों को जीतकर आनन्द को प्राप्त हो सकेगा। जो अपनी अवस्था के निरीक्षण में प्रतिक्षण सावधान नहीं रहता, वह आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् पूर्ण नहीं हो सकता। वृत्तिसंस्कार के चक्र से न छूटकर उसी में पडे रहना ऐसे ही मनुष्य का कार्य है। ध्यानशील पुरुष तो अपनी धारणा के बल से समाधि को प्राप्त हो ही सकता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की चित्त की वृत्तियोंको पतञ्जलि मुनि ने पांच प्रकार का बतलाया है। वे पांच-भौतिक क्रम के अनुसार आगे कथन की हैं, उस क्रमसे ही यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त किया जाता है, तथा उनमें देवता और आसुर भाव किस प्रकार है। पतञ्जलि ने कहा है कि—

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः पंचवृत्तयः।

वृत्तियों की पांच प्रकार की अवस्था होती है। पहली अवस्था (स्थूलता में अन्तिम अवस्था) प्रमाण की है। पूर्ण परिणाम की अवस्था का नाम प्रमाणावस्था है, जिस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता, जो स्पष्ट है। सिद्ध, परिपक्व, उन्नत अवस्था का नाम प्रमाण है। कोई वस्तु प्रमाणरूप से तब कही जाती है, जब वह अपनी पूर्णता की अवस्था को पहुंच जाती है।

जिस प्रकार पृथिवीतत्त्व आकाश से विकसित होकर स्थूल भाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार वृत्तियां चित्त में स्थित संस्कारों के जागृत होने के पश्चात् जब ऐसे स्थूल भाव को प्राप्त होती हैं कि कार्य में परिणत होने की अवस्था को पहुंच जाती हैं, तब वृत्तियों की प्रमाण अवस्था कहलाती है। वृत्तियों की यह प्रमाण अवस्था या तो साक्षात् निरीक्षण से आती है, या परम्परया निरीक्षण से या दोनों के मेल से। इन्हीं तीनों प्रकार के निरीक्षणों को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम शब्द से कहते हैं। यह प्रमाण अवस्था विस्पष्ट होती है, अनुस्पष्ट होती है, या किंचित् स्पष्ट होती है। विस्पष्ट को प्रत्यक्ष, अनुस्पष्ट को अनुमान और किंचित् स्पष्टको हम आगम कहते हैं।

इस प्रमाण-वृत्ति की पूर्व अवस्था विपर्यय की अवस्था है। विपर्यय की अवस्था द्वन्द्वावस्था है। इस में द्वन्द्व अर्थात् विरुद्ध अंश उन्नति में आते हैं। सब वस्तुएं द्वन्द्वात्मक हैं। इसीलिये प्रत्येक वस्तु में विरुद्ध गुण पाये जाते हैं। उभय पक्षों के मिलने से कोई वस्तु अपने पूर्ण रूप में होती है। विरुद्ध पक्षों के मिलने में ही आकर्षण का नियम चरितार्थ होता है, क्योंकि अन्यथा आकर्षण होता ही नहीं। रसायनशास्त्र (chemistry) में, भौतिक शास्त्र (physics) में, मनोविज्ञान में और प्रत्येक प्राकृतिक विज्ञान (Natural science) में द्वन्द्वों का ही मिलना हम पाते हैं और इसी प्रकार रचना देखते हैं। इसी निरीक्षण से स्पष्ट है कि, प्रमाण से पहिले विपर्यय की अवस्था अवश्य होनी चाहिए। किसी वस्तु का अपना विशेष रूप, जिस में द्वन्द्व शामिल हैं, प्रमाण वृत्ति में ही होता है; परन्तु जबतक ज्ञान, इदम् (effect) तत् (cause) न ' ' तत् (cause) इदम् (effect) न ' अर्थात् कार्य कारण नहीं और कारण कार्य नहीं इस प्रकार, ' अतत् ' रूप में अर्थात् कारण की अनुगति के भिन्न रूपमें प्रतिष्ठित रहता है, तबतक वह मिथ्या ज्ञान (विपरीत ज्ञान) कहलाता है। इसी को पतञ्जलि मुनिने ' विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ' इस सूत्रसे प्रकट किया है।

ज्ञान के द्वन्द्वात्मक विपरीत ज्ञान के रूप में आने से पहिले उसकी वह अवस्था होती है, जिस में पिछली वृत्ति

शब्दात्मक प्रेरक शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण होने लगता है, अर्थात् उसके अनुसार वृत्ति ढलने लगती है, परन्तु वृत्ति ढली नहीं होती, अर्थात् वृत्ति की उस अवस्था में कोई विशेष चिह्न नहीं मालूम होते, जिस से कि किसी विषय-विशेषवाली वृत्ति कही जाय, क्योंकि वे तब मालूम होंगे जब कि द्वन्द्वात्मक अवस्था के बाद द्वन्द्वों के योग से वस्तु (विषय) विशेषके रूपमें वृत्ति आ जावेगी । इस ही लिये पतञ्जलि ने कहा है कि, ' शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ' अर्थात् विकल्प अवस्था वृत्तिकी वह अवस्था है, जब कि वह शब्दज्ञानानुपाती हो, अर्थात् उस में चिह्नविशेषों के प्रकट होने की प्रवृत्ति हो परन्तु वस्तुशून्य हो, अर्थात् पूर्णता को वह वृत्ति न पहुंची हो, केवल उन्नत्युन्मुख हो ।

इस विकल्प की भी पूर्वावस्था निद्रावृत्ति है । वृत्ति की निद्रावस्था किसी कोश में से कलिका के रूप में निकलने का नाम है । इस अवस्था में, वृत्ति में किसी प्रकार की द्वन्द्वात्मक अवस्था का भाव प्रतीत नहीं होता, इसीलिए अभाव-प्रत्यय के आलम्बन-आश्रयभूत-वृत्ति को बतानेके लिये पतञ्जलिने ' अभाव-प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ' यह लक्षण करते हुए निद्रा नाम दिया है ।

इस निद्राकी भी पूर्वावस्था स्मृति है । स्मृति वह अवस्था है, जिसमें अनुभव किया हुआ विषय अपनी किसी प्रकार की हानि के विना पूर्ण रूपसे विद्यमान है । इसी को लेकर ' अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ' ऐसा स्मृतिवृत्ति का लक्षण पतञ्जलि ने किया है । इस अवस्था में अव्यक्त रूप में तो पूर्ण शक्ति रहती है, परन्तु सर्वथा अप्रकट अवस्थामें होती है ।

वृत्ति की इन पांच अवस्थाओं को तारतम्यभेद से उसी प्रकार पांच अवस्थाओं में समझा जा सकता है, जिस प्रकार मूल कारण (Matter) आकाश से लेकर पृथिवी तक विकास की भौतिक पांच अवस्थाओं में हुआ है । स्मृति आकाशात्मक है, निद्रा वाय्वात्मक है, विकल्प तेजसात्मक है, विपर्यय वार्यात्मक है और प्रमाण भूम्यात्मक है । वृत्तियां जैसे जैसे आकाशात्मक अवस्था से भूम्यात्मक अवस्थाकी ओर बढती जाती हैं, वैसे वैसे वे क्लिष्ट होती जाती हैं । उनका निरोध, वशीकरण, संगठन वा नियमन कठिन होता जाता है । क्योंकि वे अपने अङ्गप्रत्यङ्ग के विकास से विकास की पूर्णताकी ओर जा रही हैं ।

अतः जब वे अविकसित अवस्था में अर्थात् सूक्ष्म रूपमें होती हैं, तब अक्लिष्ट होती हैं, तभी उनका नियमन करना चाहिए, क्योंकि जैसे मकानके कोणमें पडा हुआ वटका बीज उगकर जब बडा वृक्ष बन जाता है, तब उसका उखाडना कठिन हो जाता है, वह उस मकान को ही गिरा डालता है । परन्तु जब वह अंकुरित ही होता है, तभी वह उस मकान के पास से उखाडकर उचित स्थान में बडी सुगमता से लगाया जा सकता है । अतः जब वृत्तियां सूक्ष्म रूपमें आकाशीय अवस्थामें हों, तभी उनको निरोध अर्थात् नियमित करना चाहिए । क्योंकि जब वे विकसित होकर स्थूल भाव को प्राप्त होती चली जावेंगीं, तब उनका निरोध करना कठिन हो जावेगा ।

अतः आसक्ति से अलग रहकर सूक्ष्म वा स्थूल किसी प्रकार के विषय में न पडकर दीर्घकालतक निरन्तर दृढता-पूर्वक यत्न के द्वारा वे वृत्तियां निरुद्ध वा वशीभूत होती हैं । यह निरोध करने की प्रक्रिया, बडे वृक्ष को काटने में तनु करने की प्रक्रिया के समान, वृत्तियों को भूम्यात्मक अवस्थासे आकाशात्मक अवस्था में ले जाना है ।

पहिले बताया जा चुका है कि, देवताओं का स्वरूप वृत्यात्मक है । वे वृत्तियां पञ्चभूतों के मानसिक परिवर्तन-विशेष से बदलती रहती हैं । जिन पञ्चभूतों के परिवर्तन विशेष के कारण वृत्तियों में भेद आता है, शरीर में उन पञ्चभूतों के केन्द्रविशेष हैं । प्रत्येक भूत अपने केन्द्र में अपनी विशेष अवस्था को लिए हुए विद्यमान है और शरीर के अन्दर उस केन्द्र के द्वारा वह अपना प्रभाव-विशेष रखता है । नाभिस्थान के नीचे जल और पृथिवी के केन्द्र हैं । सब से नीचे पृथिवी का, उस के ऊपर जल का, नाभिस्थान पर तेज का, हृदयस्थान पर वायु का और कण्ठस्थान पर आकाशतत्त्व का केन्द्र है । इस प्रकार ये कण्ठकूपसे नीचे आकाशसे पृथिवी तक उतरते क्रममें और गुदा से ऊपर को कण्ठकूप तक चढते क्रम में विद्यमान हैं। ये इसी प्रकार से विद्यमान चाक्रिक क्रम से प्रति घण्टा अपना अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं । इन की गति को यथार्थ रूप से समझना और तदनुसार अपना सम्पूर्ण व्यवहार रखना अति कठिन है । (क्रमशः)

पिंगल में यह भेद नहीं है।

८. कृतिराद्यौ जागतावष्टकोन्ते।
मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नः॥

यदि आदि के दो पाद जागत १२ अक्षरोंके हों और अन्तका आठ अक्षरों का पाद हो, तो वह 'कृति-अनुष्टुप्' कहाती है, जैसे—

मा कस्मैं धातमभ्यमित्रिणें नो
मा कुत्रा नो गृहेभ्यों धेनवों गुः।
स्तनाभुजो अशिश्वीः॥ (ऋ० १।१२०।८)

कृति-अनुष्टुप् – (१२+१२+८=३२) व्यूहसे १,२ में १२ अक्षर तृतीय चरण में व्यूह से ही ८ अक्षर हैं। अस्सी अक्षरोंवाले 'कृति' छन्द से यह 'कृति' भिन्न है, यह अनुष्टुप् का भेद है। इस का उल्लेखभी 'कृतिरनुष्टुप्' करना चाहिये। केवल 'कृतिः' लिखनेसे भ्रम होता है।

कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षरः परः॥
(ऋ० प्रा० १६।३५)

"मा कस्मै ०" (ऋ० १।१२०।८)

जागतावष्टकश्च कृतिः कात्यायनः॥ अक्षरगणनासे 'मा कस्मै०' ऋचा (११+११+६=२८) उष्णिक् है, एक संधिव्यूह से भूरिक्, दोंसे स्वराड् उष्णिक् है। पिंगल में इस भेद का उल्लेख नहीं है।

स्यादष्टको मध्यमश्चेत्तदा स्यात्।
पर्यूषु प्रेति पिपीलिकमध्या॥

यदि ८ अक्षर का चरण मध्यमें हो, तो वह 'पिपीलिक-मध्या अनुष्टुप्' कहाती है, जैसे–

पर्यूषु प्र धन्व वाजंसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तरध्यां ऋणया नं ईयसे॥ [ऋ० ९।११०।१]

पिपीलिकमध्या अनुष्टुप् (१२+८+१२=३२) 'पर्यूषु०' में व्यूह से प्रथम, तृतीय पाद १२ अक्षरोंके हैं। एक व्यूहसे निचृदनुष्टुप्॥ दया०॥

यस्यास्त्वष्टाक्षरो मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा। 'पर्यूषु०' (ऋ० प्रा० १६।२६) मध्ये चेदष्टकः पिपीलिक-मध्या॥ कात्या०॥

त्रिपात् कश्चिज्जागताभ्यां च मध्येऽन्त्ये च॥
(पिंगल अ० ३।२४-२५)

पिंगल के मत से त्रिपाद् अनुष्टुप् का प्रकार है, १ गायत्र (अष्टाक्षर) पाद मध्यमें हो, जैसे–'पर्यूषु' दूसरा, अन्तमें हो, जैसे 'मा कस्मै०'

९. मध्ये भवेज्जागत पाद एकः
पूर्वोत्तरौ नवकौ चापि पादौ।
सा काविराण्णाम भवेदनुष्टुप्
सैषा ता विद्वांसा हवामहे॥

यदि जागत (१२ अक्षरोंका) पाद बीचमें हो और आदि और अन्तके दोनों पाद नौ–नौ अक्षरों के हों, वह 'का विराट्' नाम अनुष्टुप् का भेद है। जैसे-

ता विद्वांसा हवामहे वां
ता नों विद्वांसा मन्मं वोचेतमद्य।
प्रार्चद् दयमानो युवाकुः (ऋ० १।१२०।३)

[काविराट् अनुष्टुप् (९+१२+९=३०)
नवकौ द्वादशी द्व्यूना ता विद्वांसेति काविराट्॥
(ऋक् प्रा० १६।३७)

नवकयोर्मध्ये जागतः काविराट्। कात्या०॥
ता विद्वांसा० स्वराट्ककुगुष्णिग्॥ दया०]

९. नववैराजत्रयोदशैर्युतां
तां नष्टरूपां कवयो वदन्ति।
वि पृच्छामि पाक्या न देवान्॥

यदि तीनों चरणक्रम से ९,१०,१३ अक्षरों के हों, तो उसको 'नष्टरूपा अनुष्टुप्' कहते हैं। जैसे-

वि पृच्छामि पाक्याई न देवान्,
वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः॥
(ऋ० १।१२०।४)

[नष्टरूपा अनुष्टुप् (९+१०+१३=३२) अक्षरगणनासे अवश्य अनुष्टुप् है। तो भी एकभी चरण ८ अक्षरोंका नहीं है। इसीसे इसे 'नष्टरूपा' कहा है।

तेषां (काविराट् पादानां) एकाधिकान्त्यौ नष्टरूपा विपृच्छामि०। (ऋक् प्रा० १६।३८) नववैराज त्रयो-

दर्शनेष्टरूपा। (कात्या०) यजुर्वेद वाचस्पतये। पवस्व (अ० ७।१)]

पादैर्विराट् स्याद्दशकैस्त्रिभिश्च
११. इयं पिबा सोममितीरितायैं--
र्यद्वा स्युरेकादशका स्त्रयोऽपि।
अग्निं नरो दीधितिरिरण्यो--
दुहीयन्मित्रधितये युवाकु॥

यदि दश अक्षरोंके तीन पाद हों या ११ अक्षरोंके तीन पाद हों, तो यह विराट्-अनुष्टुप् कहाती है। अर्थात् विराट् (१०+१०+१०=३० और ११+११+११=३३) जैसे-

(१) पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा
यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ (ऋ० ७।२२।१)

(२) अग्निं नरो दीधितिभिररण्यो--
र्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्॥ (ऋ० ७।१।१)

(३) दुहीयन् मित्रधितये युवाकु
राये च नो मिमीतं वाजवत्यै।
इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै॥ (ऋ०१।१२०।९)

[दशाक्षरास्त्रयो विराट् त्रयो वैकादशाक्षराः॥ (ऋ० प्रा० १६।३९) दशकास्त्रयो विराट्। एकादशका वा॥ (कात्यायनः)]

॥ इत्यनुष्टुप्प्रकरणम्॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः।

प्र कृतान्यृजीषिणो व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयन् बृहत्यादेर्लक्षणानि पृथक् पृथक्॥

'प्र कृतान्यृजीषिणो०" (ऋ० अष्टक ६। अ० ३॥ ऋ० मं० ८।३२।१)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व बृहती आदि छन्दों के लक्षण माधवभट्ट पृथक् पृथक् दिखाते हैं।

(बृहतीप्रकरणम्)

१. पदैः समेता बृहती चतुर्भि-
स्त्रयोऽष्टका द्वादशकस्तृतीयः।
सा स्यादभि त्वेति रथन्तराद्या
सोक्ता निदानेऽपि च स्कन्धोग्रीवी।

जिसके चार पादों में तीन पाद आठ आठ अक्षरों के हों और तृतीय चरण १२ अक्षरोंका हो, वह "रथन्तरा-बृहती" कहाती है। 'निदानसूत्र' में इसको "स्कन्धोग्रीवी-बृहती" कहा गया है। जैसे-

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ (ऋ० ८।३।७)

बृहती (३६ अक्षर= ९+९+९+९=३६)

चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट् त्रिंशदक्षरा।
अष्टाक्षरास्त्रयः पादास्तृतीयो द्वादशाक्षरः॥ (ऋ० प्रा० १६।४२)

चतुर्थं बृहती। तृतीयो द्वादशकः॥ कात्यायनः॥
बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः। पथ्या पूर्वश्चेत् तृतीयः॥

माधवभट्ट जिस को 'रथन्तरा-बृहती' कहते हैं, उसको पिङ्गलने 'पथ्या बृहती' कहा है। 'रथन्तरा' का उल्लेख किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है। 'स्कन्धोग्रीवी' में मतभेद है, जो आगे दर्शाया जावेगा।]

२. यस्या भवेद् द्वादशकः पुरस्तात्
सोक्ता पुरस्ताद् बृहतीति विप्रैः।
महो यस्पतिः शवसो असाम्या
तस्मिन् द्वितीये बहुधा प्रवादः॥

३. पिंगलस्य मते सा स्यान् महर्षेर्न्यङ्कुसारिणी।
स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेस्तु यास्कस्योरोबृहत्यपि॥

४. सा मत्स्यपायि ते महः।

जिसका प्रथम पाद १२ अक्षरोंका हो, विद्वान् लोग उसको 'पुरस्ताद् बृहती' कहते हैं। जैसे-

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः । भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥
(ऋ० १०।२२।३॥)

यदि जागत (१२ अक्षरों का) द्वितीय चरण हो, तो उस में बहुत मतभेद हैं । पिंगल मुनि के मत में वह 'न्यङ्कुसारिणी' है । क्रौष्टुकिके मत में वह 'स्कन्धोग्रीवी' है और महर्षि यास्क के मत में वह 'उरोबृहती' है । जैसे-

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः । वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥
(ऋ० १।१७५।१)

[पुरस्ताद् बृहती= (१२+८+८+८=३६)
(न्यङ्कुसारिणी-बृहती = (८+१२+८+८ =३६)
न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः । स्कंधोग्रीवी क्रौष्टुकेः । उरोबृहती यास्कस्य ॥ पिंग०अ० ३, सू० २८-३०॥ पुरस्ताद् बृहती पुरः॥ पिंग०३।३२॥ आद्यश्चेत् पुरस्ताद् बृहती॥ द्वितीयश्चेत् न्यङ्कुसारिणी । पुरो बृहती स्कन्धोग्रीवी वा॥ कात्यायनः ॥

पुरस्ताद् बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे ।
... ... द्वितीये न्यङ्कुसारिणी ॥
स्कंधोग्रीव्युरोबृहती त्रैधैनां प्रतिजानते ॥
(ऋ० प्रा० १६।४३)

महो यः० (ऋ० १०।२२।३), मत्सि० (ऋ० १।१७५।१)

अन्त्यो द्वादशको यदि ।
उपरिष्टाद् बृहत्येषा न तमंहश्च तादृशी ॥४॥

यदि १२ अक्षरों का पाद अन्तमें हो, तो उसका नाम 'उपरिष्टाद्-बृहती' है । जैसे-

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् । सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ॥
(ऋ० १०।१२६।१)

[उपरिष्टाद् बृहती (८+८+८+१२=३६) उपरिष्टाद् बृहत्यन्ते (पिंग० ३।३३) (ऋ० प्रा० १६।४३) अन्त्यश्चेदुपरिष्टाद् बृहती । कात्या० ॥]

५. यद्यष्टाक्षरयोर्मध्ये पादौ स्यातां दशाक्षरौ ।
सा स्याद् विष्टारबृहती युवं ह्यास्तं महो इति ॥

यदि आठ अक्षरोंके पादों के बीचमें दो पाद दश दश अक्षरोंके हों, तो वह 'विष्टार बृहती' कहाती है, जैसे-

युवं ह्यास्तं महो रन्युवं वा यन्निरततंसतम् ।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं पातं नो वृकादघायोः ॥
(ऋ० १।१२०।७)

[विष्टार-बृहती = (८+१०+१०+८=३६)
अष्टिनोर्दशकौ मध्ये विष्टार-बृहती युवं० ॥
(ऋक् प्रा० १६।४६)
वैराजौ गायत्रौ च । (पिंगल ३।३४)
अष्टिनोर्मध्ये दशकौ विष्टारबृहती ॥ कात्या०
पिंगलने नामनिर्देश नहीं किया प्रत्युत बृहती का रूपभेद मात्र दर्शाया है ।]

६. त्रयो द्वादशका यस्यास्तामूर्ध्वबृहतीं विदुः ।
अजीजनो अमृत सा प्रत्नं पीयूषमित्यपि ॥

जिसमें तीन चरण १२ अक्षर के हों, उसको 'ऊर्ध्व-बृहती' कहते हैं । जैसे--

(१) अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः । सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥
(ऋ० ९।११०।४)

३२ ३१२ ३२उ ३क २र ३२ ३२३१
(२) प्रत्नं पीयुषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव
२र १२ ३१ २र ३१२
आ निरधुक्षत । इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥
(साम उत्तरार्चिक प्र० ७।१।३)

[व्यूहसे अजीजनो० और 'प्रत्नं०' ऋचाओं के तीनों चरणों के १२ अक्षर जानने चाहियें । अक्षरगणनासे ३४ होनेसे प्रथम ऋचा विराड् और दूसरी निचृद्-बृहती है । ठीक उदाहरण विना व्यूह के—

अध यदिमे पवमान रोदसी
इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना ।
यूथे न निःष्ठा वृषभो वि तिष्ठसे ॥
(ऋ० ९।११०।९)

त्रिजागतोर्ध्वबृहती = (१२+१२+१२ =३६) कात्या० ।
त्रयो द्वादशका यस्याः सा ह्योर्ध्वबृहती विराट् ।
(ऋ० प्रा० १६।४४)

उदाहरणं- अजीजनः (ऋ० ९।११०।४)

त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती। सतोबृहती ताण्डिनः॥

(पिंगल अ० ३।३५-३६)

पिंगल के मत में इसका नाम "महाबृहती" है और तण्डी आचार्य के मत में इसे "सतो बृहती" कहते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में इसका नाम "विराड् ऊर्ध्व बृहती" लिखा है। कदाचित् अक्षरगणना से "अजजिनो०" ऋचा में दो अक्षरन्यून होने से इसको 'विराट्' कहा है। ठीक उदाहरण ऊपर लिख दिया है।

७. यदि चाष्टाक्षरो मध्ये त्रयोदशकयोर्भवेत्।
सा पिपीलिकमध्या स्याद् अभि वो वीरमंधसः॥

यदि १३।१३ अक्षरोंके दों पादोंके बीचमें एक पाद आठ अक्षरोंका हो;तो उसे 'पिपीलिकमध्या-बृहती'कहते हैं। जैसे

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्। इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा॥ (ऋ० ८।४६।१४)

[पिपीलिकमध्या बृहती (१३+८+१३=३४)

त्रयोदशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चाष्टाक्षरो भवेत्।
अभि वीरमित्येषा सा पिपीलिकमध्यमा॥
(ऋ० प्रा० १६।४९)

त्रयोदशिनोर्मध्येऽष्टकः पिपीलिकमध्या। (कात्या०)

अक्षरगणना से 'विराट् बृहती' है। पिपीलिका अर्थात् कीडो के समान इसका अष्टाक्षरपाद पतला होने से यह नाम रक्खा है। इसी कारणसे अन्य छन्दोंमें भी यह भेद होना सम्भव है। त्रिपादणिष्ठमध्या। विपरीता यवमध्या। ॥पिंगल० ३।५७-५८॥]

८. सनितः सुसनितरुग्र नवाष्टैकादशाष्टकाः।
बृहत्येषा तु विषमपदेति कवयो विदुः॥

यदि चार चरणक्रमसे नौ, आठ, ग्यारह और आठ अक्षरोंके हों, तो विद्वान् उसे 'विषमपदा-बृहती' कहते हैं। जैसे—

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत। प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्॥ (ऋ० ८।४६।२०)

[विषमपदा-बृहती (९+८+११+८=३६)

नवकाष्टकैकादशाष्टिनो विषमपदा। [कात्या०]

नवकाष्टादश सहैकः परमोष्ट च यदि पादाः।
बृहती विषमपदा सा सनितः सुसनितसग्र॥
(ऋ० प्रा० १६।५०)

पिंगल में यह भेद नहीं है।]

९. तन्त्वा वयं पितो सैषा चतुर्भिर्नवकैर्वृता।
बृहत्येवेति कथिता बृहत्यो नव बह्वृचैः॥

यदि चारों चरण नव नव अक्षरों के हों, तो भी उसे 'बृहती' ही कहा है जैसे—

तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम। देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम्॥ (ऋ० १।१८७।११)

[बृहती =(९+९+९+९=३६)

उक्त उदाहरण में पिछले दो पदों में व्यूहसे अक्षर पूर्ण होते हैं। अन्यथा स्वराट्, अनुष्टुप् जानना चाहिये।

चतुर्नवका बृहत्येव। (कात्या०) केवल बृहती शब्द वाच्या सैवेत्यर्थः। तथा चोक्तम्। चतुर्भिर्नवकैः पादैर्युक्ताऽपि बृहती मता। अनन्तदेवः। पिङ्गलश्च क्वचिन्नवकाश्चत्वारः॥ (३।३३)]

॥इति बृहतीप्रकरणम्॥

(अथ पंक्तिप्रकरणम्)

१०. भवन्ति पाङ्क्तानि पदानि पञ्च
तामाहुरिन्द्रो मदाय वावृधे।
पादैश्चतुर्भिर्दशकैर्विराट् स्याद्
ऋतस्य पथि वेधा अपायि॥

पंक्तिछन्द के पांच पाद [आठ आठ अक्षरोंके] होते हैं। उसको 'विराट्' या 'पंक्ति' छन्द कहते हैं। जैसे—

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः। तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ (ऋ० १।८१।१)

अथवा- दस दस अक्षरों के चार पादों से भी विराट् (पंक्ति) छन्द ही होता है। जैसे--

ऋतस्यं पथि वेधा अंपायि
श्रिये मनांसि देवासों अक्रन् ।
दधानो नाम महो वचोभि-
र्वपुर्दृशये वेन्यो व्यावः ॥ (ऋ० ६।४४।८)

['इन्द्रो मदाय०' ऋचा में तृतीय, चतुर्थ में व्यूह से अक्षर होते हैं । 'ऋतस्य पथि०' ऋचामें चतुर्थ में व्यूहसे १० अक्षर हैं ।

आठआठ अक्षरों के पांच पादों की बृहती को पिंगल ने 'पथ्या-पंक्ति' नाम दिया है ।

पथ्या पंचभिर्गायत्रैः । (पिंगल० ३।४८)
पंक्तिरष्टाक्षराः पंच । चत्वारो दशका विराट् ॥
(ऋ० प्रा० १६।५१--५२)

पञ्चमं पंक्तिः पञ्चपदा अथ चतुष्पदा विराड् दशकाः । (कात्यायनः)]

पथ्यापंक्तिः (पंक्तिः) (८+८+८+८+८=४०)
विराट्पंक्तिः (१०+१०+१०+१०=४०)]

११. आद्यं पदं द्वादशकं तृतीय--
मथाष्टकौ द्वौ भवतश्च पादौ ।
सतो बृहत्याख्यमिदं वदन्ति
न त्वावानन्यो दिव्यो न पार्थिवः ॥

प्रथम और तृतीय पाद १२ अक्षरों के और शेष दो पाद आठ आठ अक्षरों के हों, तो उसको 'सतो-बृहती' पंक्ति कहते हैं । जैसे—

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो
न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो
गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ [ऋ० ७।३२।२३]

[सतो-बृहती पंक्तिः = (१२+८+१२+८=४०) 'न त्वावाँ.' में प्रथम पादमें व्यूह से १२ अक्षर होते हैं ।

पंक्तिर्जागतौ गायत्रौ । पूर्वौ चेदयुजौ सतः पंक्तिः ॥
विपरीतौ च ॥ [पिंगल० ३।३७--३९]

दो पाद जागत [१२ अक्षरोंके] और दो पाद गायत्र [आठ अक्षर] तो 'पंक्ति' छन्द होता है । [१२+१२+८+८=४०]

यदि प्रथम, तृतीय पाद वा द्वितीय चतुर्थ पाद जागत [१२ अक्षर] और शेष दो गायत्र [८ अक्षर] हों, तो भी 'सतः पंक्ति' नाम छन्द होता है । माधवभट्टने इसे 'सतो-बृहती' लिखा है, और ताण्डिन आचार्यमतसे सतोबृहती में तीन पाद जागत [१२ अक्षर] के होते हैं । पिंगल उसे 'महाबृहती' कहते हैं । यह पूर्वलिख आये हैं ।

'अयुजौ जागतौ सतोबृहती । [कात्यायनः]
युग्मावष्टाक्षरौ पादावयुजौ द्वादशाक्षरौ ।
सा सतोबृहती नाम [ऋ० प्रा० १६।५३]

१२. विपर्यये सा विपरीतनाम्नी
तत्राष्टकावाद्य तृतीय पादौ ।
तामाहुर्य ऋष्वः श्रावयत्सखा ॥

यदि पूर्वोक्त 'सतोबृहती' पंक्ति के पाद विपरीत हो, अर्थात् प्रथम और तृतीय पाद आठ आठके हों और द्वितीय, चतुर्थ पाद १२ अक्षरोंके हो, तो उसका नाम 'विपरीता पंक्ति' या 'विपरीता सतो-बृहती' कहा जाता है । जैसे-

य ऋष्वः श्रावयत्सखा
विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः ।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं
हवन्ते तविषं यतस्रुचः ॥ (ऋ० ८।४६।१२)

[चतुर्थ पादमें व्यूहसे १२ अक्षर हैं ।
विपरीता सतो बृहती [८+१२+८+१२ = ४०]
पिंगलने इसे भी 'सतः पंक्ति' लिखा है ।
अनन्तदेव इसे 'विपरीता बृहती' लिखता है,
विपरीता विपर्यये ॥ [ऋ० प्रा० १६।५४]
उपर इसे 'विपरीता पंक्ति' लिखता है । उदाहरण-
'य ऋष्वः' [८।४६।१२] ।

प्रस्तारपङ्क्तेरथ पादकॢप्तिः ।

१३. आद्यौ पादौ जागतावष्टकौ च ।
उरुळूंवचस्व पृथिवि मा निबाधथाः ॥

यदि आदिके दो पाद जागत [१२ अक्षर] हों और शेष दोनों गायत्र [आठ-अक्षर] हों, तो यह 'प्रस्तार-पंक्ति' के पादों का क्रम है । जैसे-

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः।
सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचा-
भ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ (ऋ० १०।१८।११)

[प्रस्तार पंक्ति (१२+१२+८+८=४०)
प्रस्तार पङ्क्तिः पुरतः [जागतौ पादौ] पिंगल ३।४१
प्रस्तारपंक्तिरन्ततः [अष्टाक्षरौ पादौ]।
[ऋ० प्रा० १६।५६]

आद्यौ चेत्प्रस्तारपंक्तिः [कात्या०]
"उच्छंचस्व०" ऋचामें चतुर्थ चरण में व्यूह से ८ अक्षर हैं।]

आस्तारपङ्क्तिर्विपरीतपादा।
अग्निं न सूक्तं कथयन्ति सर्वम्॥

'प्रस्तार पंक्ति' से यदि विपरीत पादों का क्रम हो, तो वह 'आस्तार पंक्ति' होती है जैसे- 'अग्निं न०×' [ऋ० १०।२१] इत्यादि समस्त सूक्त को 'आस्तार पंक्ति' छन्द का विद्वान् बतलाते हैं।

आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावक-
शोचिषं विवक्षसे॥ [ऋ० १०।२१।१]

[आस्तार पंक्तिः [८+८+१२+१२=४०]
आस्तारपंक्तिरादितः [अष्टाक्षरौ पादौ]। [ऋ. प्रा. १६।५५]
आस्तारपंक्तिः परतः [जागतौ]। [पिंगल० ३।४०]
अन्त्यौ चेदास्तारपंक्तिः। [कात्या०]

१४, आद्यान्तौ चेज्जागतौ सम्प्रदिष्टा
संस्तारपङ्क्तिः कविभिः पुराणैः।
निदर्शनं पितुभृतो न तंतु-
मित्तु प्रदिष्टमिह शौनकेन॥

यदि आदिके दो पाद जागत [१२ अक्षर] हों, तो पुराने विद्वान् इसे 'संस्तारपंक्ति' कहते हैं। शौनकने इसका उदाहरण बतलाया है-

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि। उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता॥ [ऋ० १०।१७२।२]

१५. आम्नायते च द्विपदासु सेय-
मधीयते च द्विपदैव विप्रैः।
संस्तारपंक्तिश्च भवेत् समस्ता॥

'पितुभृतो०' [ऋ० १०।१७२।२] ऋचा द्विपदा ऋचाओं में पढी गई है। विद्वान् भी द्विपदाही पढते हैं। परन्तु दो ऋचाओंको समस्त लें, तो वह 'संस्तार-पंक्ति' हो जाती है।

विष्टारपंक्तेरथ पादक्लृप्तिः॥
१६. अनुष्टुभोर्द्वादशकौ च मध्ये
सा चेयमग्ने तव श्रवो वयम्।
विष्टारपंक्तिश्च निदानकारो
विष्टब्धावेतौ पङ्क्तिपादाविति॥ इति॥

अब 'विष्टारपंक्ति' की पादरचना बतलाते हैं- अनुष्टुप [८ अक्षर] के दो पादोंके बीचमें दो पाद १२ अक्षरों के हों, तो वह 'विष्टारपंक्ति' होती है। निदानकारने भी इसे 'विष्टार-पंक्ति' कहा है। इस में पंक्ति के दो [अष्टाक्षर] पाद विस्तब्ध अर्थात् पृथक् पृथक् होते हैं। जैसे-

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो
विभावसो। बृहद्भानो शवसा वाज-
मुक्थ्यं१ दधासि दाशुषे कवे॥
[ऋ० १०।१४०।१]

[विष्टार-पंक्ति (८+१२+१२+८=४०)
विस्तारपंक्तिरन्तः॥ [पिंग० ३।४२]
मध्यमौ [जागतौ] चेद् विष्टारपङ्क्तिः। कात्यायनः
विष्टारपङ्क्तिर्बाह्यतः [आनुष्टुभौ]।
[ऋ० प्रा० १६।५८]

[निदानसूत्र १।३]।

[इति पंक्तिप्रकरणम्]

[पिंगल में- अक्षरपंक्ति, अल्पशःपंक्ति, पदपंक्ति, और 'जगतीपंक्ति' ऐसे ४ भेद पंक्तिछन्द के और बतलाए हैं। जैसे-

× 'अग्निं न' ऐसा माधवभट्टकी कारिकापाठ जानकर पं०राजा कुहनन्जीको इस सूक्तका स्थल विदित नहीं हुआ।

अक्षरपंक्तिः पञ्चकाश्चत्वारः । द्वावल्पशः । पदपंक्तिः पञ्च चतुष्कषट्कौ त्रयश्च । जगती षड्भिः । पिंगल अ० ३।४४-४९ ॥

पांच अक्षरोंके चार चरण (५+५+५+५=२०) हों, तो 'अक्षर-पंक्ति' कहाती है, इसे द्विपदा पंक्ति जानना चाहिये। पांच पांच अक्षरों के दो पाद हों, तो वह "अल्पशः पंक्ति" [५+५= १०] कहता है, वह 'एकपादा पंक्ति' समझना चाहिये। पांच पांच अक्षरों के पांच पाद [५+५+५+५+५ = २५] हों, तो उसका नाम 'पदपंक्ति' है। इसी प्रकार यदि क्रम से एक पाद चार अक्षरों का, द्वितिय ६ अक्षरों का, अनन्तर तीन पाद ५ अक्षरोंके हों। [४+६+५+५+५ = २५] तो उसे भी 'पदपंक्ति' कहते हैं।

यदि गायत्र [८ अक्षर] ६ पाद हों, तो उसका नाम 'जगती-पंक्ति' है। [८+८+८+८+८+८=४८] पिंगलप्रोक्त 'जगती-पंक्ति' अक्षरगणना से 'जगती' छन्दका ही भेद है।

उदाहरणक्रमसे- अक्षरपंक्ति- प्र शुक्रैतु० । [ऋ० ७।३४।१] इत्यादि

अल्पशः पंक्तिः--

पदपंक्ति [१] घृतं न पूतं० (ऋ० ४।१०।६)

[२] अधाह्यग्ने० (ऋ० ५।१६।४)

जगती-पंक्ति-

येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषतं सुराम् ।
येनाक्षानभ्यषिञ्चतं येनेमां पृथिवीं महीम्।
तद्वां तदश्विनायशस्तेन मामभिषिञ्चतम् ॥
(मंत्रब्राह्मणे)]

॥ इति पांक्तिप्रकरणम् ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

त्वावतः पुरूवसो व्याचिख्यासति माधवः ।
प्रदर्शयँस्त्रिष्टुभादेर्लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥

"त्वावतः पुरूवसो०" इत्यादि (ऋ० अष्टक ४।६; मण्डल ८।४६।१) अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व 'त्रिष्टुप्' आदि छन्दोंके लक्षण माधवभट्ट पृथक् पृथक् दिखाते हैं।

(त्रिष्टुप्-प्रकरणम्)

१. स्यात्त्रिष्टुबेकादशकैश्चतुर्भिः
कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् ।

ग्यारह ग्यारह अक्षरोंके चार चरणों से 'त्रिष्टुप्' छन्द होता है। जैसे—

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑। को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥ (ऋ० १।२४।१)

पदे यदि द्वे भवतस्तु जागते ।
वदन्ति सूक्तेन तदा व्यवस्थाम् ॥
२. यस्मै त्वमायजसे स साधति ।
ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वम् ॥

पूर्वानयोर्जागतसूक्तनिष्ठा ।
ततश्च सा जगती त्रिष्टुबन्या ॥

यदि दो पद जागत (१२ अक्षरोंके) हों, तब उसमें छन्द की व्यवस्था सूक्त के अनुसार करते हैं जैसे--

(१) यस्मै॒ त्वमा॒यज॑से॒ स सा॑धत्यन॒र्वा क्षे॑ति॒ दध॑ते सु॒वीर्य॑म् । स तू॑ताव॒ नैन॑मश्नोत्यंह॒तिर॑ग्ने स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥ (ऋ० १।९४।२)

(२) ये वा॒जिनं॑ परि॒पश्य॑न्ति प॒क्वं य ई॑मा॒हुः सु॑र॒भिर्नि॒र्हरेति॑ । ये चार्व॑तो मांसभि॒क्षामु॒पास॑त उ॒तो तेषा॑म॒भिगू॑र्तिर्न इन्वतु ॥
(ऋ० १।१६२।१२)

इनमें- 'यस्मै त्वम्०' ऋचा में अन्तके दोनों चरण १२ अक्षरोंके हैं। यह ऋचा जागत-सूक्तमें पठित होनेसे जगती है। द्वितीय ऋचा "ये वाजिनं०" के भी पिछले दो पाद १२ अक्षरों के हैं, परन्तु वह त्रिष्टुप् ऋचाओं के सूक्त में पठित होनेसे 'त्रिष्टुप्' है।

[चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुबक्षराणि चतुष्पदा । एकादशाक्षरैः पादैः ॥

द्वौ चेत्तु द्वादशाक्षरौ प्रायस्योपजगत्येषा परस्थास्य तु सा त्रिष्टुप्। (ऋ० प्रा० १६।६०-६१)

षष्ठं त्रिष्टुप् त्रिष्टुभपदा । द्वौ तु जागतौ यस्याः सा जागते जगती त्रैष्टुभे त्रिष्टुप् ॥

ऋक्प्रातिशाख्य में १२ अक्षरों के दो पादवाली त्रिष्टुप् को 'उपजगती त्रिष्टुप्' नाम दिया है।]

वैराजौ जागतौ चोभौ तां विद्यादभिसारिणीम् । यो वाचा विवाच इति तत्रोदाहरणं विदुः ॥

जिसमें दो पाद वैराज (१० अक्षर) और दो पाद जागत (१२) अक्षर हों, वह 'अभिसारिणी त्रिष्टुप्' (१०+१०+१२+१२=४४) कहाती है। जैसे--

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान। तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥

(ऋ० १०।२३।५)

[तृतीय चरणमें व्यूह से १२ अक्षर हैं।

वैराजजागतैः पादैर्यो वाचेत्यभिसारिणी ॥

(ऋ० प्रा० १६।६२)

वैराजौ जागतौ चाभिसरिणी। काल्या०]

४. नवकौ दशकश्चैकश्चतुर्थस्त्रैष्टुभस्तथा । सा स्यात्त्रिष्टुब् विराट्स्थाना स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥

यदि दो पाद नौ नौ अक्षरों के, एक पाद दस अक्षरोंका और चतुर्थ पाद त्रैष्टुभ (११ अक्षर) हों, तो उसे 'विराट्स्थानात्रिष्टुप्' कहते हैं। जैसे—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (ऋ० १।८९।६)

[विराट् स्थाना त्रिष्टुप्=(९+९+१०+११=३९) यह भेद पिंगलने स्वीकार नहीं किया।

५. अपि वा दशकौ स्यातां नवकस्त्रैष्टुभस्तथा । विराट् स्थानैव सा श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः॥

यदि दो पाद दस दस अक्षरों के हों, एक पाद नौ अक्षरों का, और एक पाद त्रैष्टुभ (११ अक्षर) हो, तो वह भी 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप' होती है, जैसे–

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम् । इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥

(ऋ० २।११।१)

[(२) विराट् स्थाना (१०+१०+९+११=४०)

नवकौ वैराजस्त्रैष्टुभश्च द्वौ वा वैराजौ नवस्त्रैष्टुभश्च विराट्स्थाना ॥काल्या० ॥

नवको दशको वा स्यादेको नेकोपि त्रिष्टुभः। एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थाना ह नाम सा। पूर्वौ दशाक्षरौ पादावुत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः। विराट् पूर्वा ह नामैषा त्रिष्टुप् पंक्त्युत्तरैव वा॥

(ऋ० प्रा० १६।६३-६४)]

६. पादा यदेकादशिनस्त्रयः स्यु-स्तुभ्यं श्च्योतन्त्यध्रिगो शचीवः। पादश्चतुर्थश्च तथाष्टकः स्याद् विराड्रूपां कथयन्ति सान्तः ॥

यदि तीन पाद ११ अक्षरवाले हों और चतुर्थ पाद आठ अक्षरों का हो, तो उसे "विराड्-रूपा त्रिष्टुप्" कहते हैं। जैसे--

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य। कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर॥

(ऋ० ३।२१।४)

(विराड्रूपा त्रिष्टुब् = (११+११+११+८ = ४१)

तपश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः । विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुप्स्वाक्षरसम्पदा ॥

(ऋ० प्रा० १६।६५)

एकादशिनस्त्रयोऽष्टकश्च विराड्रूपा। का० ॥]

७. त्रयो यदि द्वादशिनोऽष्टकोऽन्त्यो ज्योतिष्यतीं तां कवयो वदन्ति। तज्ज्योतिषश्चापि यतोऽष्टकः स्यात् पुरस्ताज्ज्योतिर्मध्ये ज्योतिरिति ॥

[प्रतीहारः] The beginning and [निधनं] the conclusion of Sama-songs, both [विश्वजित्] the all-conquering and [अभिजित् च यः] conquering on every side, [सान्ह-अतिरात्रौ] the same-day and over-night sacrifices, [उच्छिष्टे] are in the Remnant, [द्वादशाहः] the twelve-day sacrifice, and also [मयि तत्] what is in me.

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः । उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥

पदानि– सूनृता । सम्ऽनतिः । क्षेमः । स्वधा । ऊर्जा । अमृतम् । सहः । उत्ऽशिष्टे । सर्वे । प्रत्यञ्चः । कामाः । कामेन । तातृपुः ॥१३॥

अर्थ–(सूनृता) सत्य भाषण, (संनतिः) फलकी उत्तम प्राप्ति, (क्षेमः) उत्तम सुरक्षा, (स्वधा) जिस से धारणा होती है, वह अन्न, (ऊर्जा) बलवर्धक अन्न, (अमृतं) अमृत अन्न, (सहः) शत्रुनाश करनेका सामर्थ्य, (सर्वे कामाः) सब काम जो (कामेन तातृपुः) भोगसे तृप्ति देते हैं, वे सब के सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व अवशिष्ट परब्रह्ममें (प्रत्यञ्चः) प्रत्येक रूप में आश्रित हुए हैं ॥१३॥

(सूनृता) True speech, (संनतिः) compliance, (क्षेमः) comfort, (स्वधा) self-supporting [food], (ऊर्जा) refreshment, (अमृतं) immortal (food that is not dead), (सहः) power [of resisting one's enemy], (सर्वे प्रत्यञ्चः) all are fixed (उच्छिष्टे) in the Remnant, and also the (कामाः) desires that are (तातृपुः) satisfied (कामेन) with desire.

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः । आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥१४॥

पदानि– नव । भूमीः । समुद्राः । उत्ऽशिष्टे । अधि । श्रिताः । दिवः । आ । सूर्यः । भाति । उत्ऽशिष्टे । अहोरात्रे इति । अपि । तत् । मयि ॥१४॥

अर्थ– [नव भूमीः] नव खण्डात्मक पृथिवी, [समुद्राः] सब महासागर, [दिवः] द्युलोक ये सब [उच्छिष्टे] ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट ब्रह्ममें [अधि श्रिताः] स्थिर रहे हैं। यह [सूर्यः] सूर्य भी [उच्छिष्टे] ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट ब्रह्ममें आश्रय पाकर [आ भाति] प्रकाशता है, इसीसे [अहोरात्रे] दिन और रात होते हैं, [अपि तत् मयि] वह सब मुझमें रहे ॥१४॥

[नव भूमीः] Nine earths, [समुद्राः] oceans, [दिवः] skies, [अधि श्रिताः] are set [उच्छिष्टे] in the Remnant; [सूर्यः] the sun [आ भाति] shines [उच्छिष्टे] in the Remnant so also, [अहोरात्रे] day and night; [अपि] and [तत् मयि] what is in me, is also in It.

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः । बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥१५॥

पदानि– उपऽहव्यम् । विषुऽवन्तम् । ये । च । यज्ञाः । गुहा हिताः । बिभर्ति । भर्ता । विश्वस्य । उत्ऽशिष्टः । जनितुः । पिता ॥१५॥

अर्थ– (उपहव्यं) एक यज्ञ, (विषुवन्तं) गौओं का आना-एक यज्ञ, और (ये च यज्ञाः) जो यज्ञ (गुहा हिताः) बुद्धिके आश्रय से किये जाते हैं, उन सब यज्ञों को (उच्छिष्टः बिभर्ति) ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट रहा हुआ परमात्मा धारण करता है, जो (विश्वस्य जनितुः) विश्वके उत्पादकका (पिता भर्ता) उत्पादक और पोषक है ॥१५॥

भावार्थ– विश्व का उत्पन्नकर्ता विराट् पुरुष है, इसका पोषण करनेवाला परमात्मा है, क्योंकि परमात्मा के एक

छोटेसे अंशसे यह विश्व निर्माण हुआ है। यह पिता का पिता सब का आधार है ॥१५॥

(उपहव्यं) The added oblation, (विषूवन्तं) the sacrifice (that collects the cows) and (ये च यज्ञाः) the other sacrifices (गुहा हिताः) are kept in secret, in the Remnant; (उच्छिष्टः) the Remnant (विश्वस्य भर्ता) the bearer of all & (जनितुः पिता) father of the generator of the world (बिभर्ति) bears all this.

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः। स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥१६॥

पदानि– पिता। जनितुः। उत्ऽशिष्टः। असोः। पौत्रः। पितामहः। सः। क्षियति। विश्वस्य। ईशानः। वृषा। भूम्याम्। अतिऽघ्न्यः ॥१६॥

अर्थ– (उच्छिष्टः) ऊपर अवशिष्ट रहा परमात्मा (जनितुः) विश्व की उत्पत्ति करनेवाले विराट् पुरुष का (पिता) पिता है। और (पौत्रः) उस के पुत्र का पुत्र जो जीव है, उस (असोः) जीव का अर्थात् प्राण का वही परमात्मा (पितामहः) पिताका पिता है। (सः) वह (विश्वस्य ईशानः) सब विश्वका ईश्वर होकर (क्षियति) रहता है, जैसा (अतिघ्न्यः वृषा) अति प्रबल बैल (भूम्यां) पृथ्वीपर रहा है ॥१६॥

भावार्थ– परब्रह्म ही पुरुषोत्तम या पुराणपुरुष अथवा पितामह है, सब का ईश्वर यही है। इसका पुत्र विराट् पुरुष ब्रह्माण्डदेही है, इसको जगत् का पिता कहिये। इसका पुत्र जीव है, यह प्राण धारण करता है। [पितामह, पिता और पुत्र ये तीन यहां दर्शाये हैं। पितामह बडा सामर्थ्यवान् है, उसी का वर्णन इस सूक्त में उच्छिष्ट शब्दसे किया है।]

(उच्छिष्टः) The Remnant is (जनितुः पिता) the father of the generator (of this Universe), His (पौत्रः) grandson is the breath. So He becomes the (पितामहः) grandfather of (असोः) this breath. (सः) He, (विश्वस्य ईशानः) the One Ruler of all, (क्षियति) dwells here just as (अतिघ्न्यः) an overpowering (वृषा) bull (भूम्यां) upon this earth.

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥१७॥

पदानि– ऋतम्। सत्यम्। तपः। राष्ट्रम्। श्रमः। धर्मः। च। कर्म। च। भूतम्। भविष्यत्। उत्ऽशिष्टे। वीर्यम्। लक्ष्मीः। बलम्। बले ॥१७॥

अर्थ– (ऋतं) सरलता, (सत्यं) सत्य (तपः) शीतोष्णादि द्वन्द्व सहनेकी शक्ति, (राष्ट्रं) राज्य-शासन, (श्रमः) प्रयत्न, (धर्मः च) धर्म-शुभ गुण, (कर्म च) कर्मशक्ति, (भूतं) जो हुआ था, (भविष्यत्) जो होनेवाला है, तथा जो है, (वीर्यं) शौर्य, वीर्य, पराक्रम, (लक्ष्मीः) संपत्ति (बले बलं) बलवानों का जो बल है, वह सब बल (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहे परमात्माके आधार से रहता है।

(ऋतं) Righteousness, (सत्यं) truth, (तपः) penance, (राष्ट्रं) National power, kingship (श्रमः) toil, (धर्मः) virtue, (कर्म च) action, (भूतं) what had been, (भविष्यत्) what will be, and what is now, (वीर्यं) heroism, (लक्ष्मीः) fortune and (बले बलं) the strength that is found in the strong, all these are (उच्छिष्टे) in the Remnant.

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः। संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥१८॥

पदानि—समृऽऋद्धिः। ओजः। आऽकूतिः। क्षत्रम्। राष्ट्रम्। षट्। उर्व्यः। सम्ऽवत्सरः। अधि। उत्ऽशिष्टे। इडा। प्रऽएषाः। ग्रहाः। हविः॥१८॥

अर्थ—(समृद्धिः) धनसंपत्ति, (ओजः) शारीरिक शक्ति, (आकूतिः) संकल्प, (क्षत्रं) प्रजारक्षण का बल, (राष्ट्रं) राज्यशासनसामर्थ्य, (षट् ऊर्व्यः) छः बडी दिशाएं, (संवत्सरः) वर्षका समय, (इडा) वाणी, अन्न, (प्रैषाः) आज्ञाएं, (ग्रहाः) स्वीकार, ग्रहण करनेकी शक्ति, (हविः) हवन यह सब, (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व अवशिष्ट परमात्मा के आश्रयसे रहता है ॥१८॥

(समृद्धिः)Success, (ओजः) force, (आकूतिः) design,(क्षत्रं) dominion, or the power that protects the subjects. (राष्ट्रं) National power, Kingship, (षट् ऊर्व्यः) the six wide [quarters], (संवत्सरः) the year, (इडा) speech, food, (प्रैषाः) orders, (ग्रहाः) holdings and (हविः) the oblation are (उच्छिष्टे अधि) in the Remnant.

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः। उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥१९॥

पदानि— चतुःऽहोतारः। आप्रियः। चातुःमास्यानि। निऽविदः। उत्ऽशिष्टे। यज्ञाः। होत्राः। पशुऽबन्धाः। तत्। इष्टयः ॥१९॥

अर्थ—(चतुर्होतारः) चार होतागणों के मन्त्र और कर्म, (आप्रियः) प्रिय, अग्नि और यज्ञके सब साधन (चतुर्मास्यानि) चातुर्मास्य याग, (नीविदः) स्तुतिके अथवा निवेदन के मन्त्र, (यज्ञाः) सब यज्ञ, (होत्राः) होता आदि ऋषिगण, (पशुबन्धाः) जिनमें पशु बांधे जाते हैं, ऐसे याग, (तत् इष्टयः) सब प्रकार की इष्टियां (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व अवशिष्ट परमात्मामें रहते हैं ॥१९॥

(चतुर्होतारः) The four-priest sacrifice, (आप्रियः) the fire and sacrificial things, (चातुर्मास्यानि) the seasonal oblations, (निविदः) sacrificial instructions, (यज्ञाः) sacrifices, (होत्राः) invocations, (पशुबन्धाः) tyings of beasts, (तत इष्टयः) then the offerings are (उच्छिष्टे) in the Remnant.

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह। उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥२०॥

पदानि— अर्धऽमासाः। च। मासाः। च। आर्तवाः। ऋतुऽभिः। सह। उत्ऽशिष्टे। घोषिणीः। आपः। स्तनयित्नुः। श्रुतिः। मही॥२०॥

अर्थ—(अर्धमासाः च) आधा महिना, पक्ष, (मासाः च) महिने, (ऋतुभिः सह आर्तवाः) ऋतुओं के साथ वर्ष के विभाग, (घोषिणीः आपः) बडा शब्द करनेवाले जलप्रवाह, (स्तनयित्नुः) गर्जनेवाला मेघ, (श्रुतिः) शब्द, (मही) पृथ्वी यह सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्वभागमें अवशिष्ट परमात्माके आश्रय से रहे हैं ॥२०॥

(अर्धमासाः च मासाः च) Both the half-months and months, (आर्तवाः) the year-divisions (ऋतुभिः सह) with seasons, (घोषणीः आपः) the noisy waters, (स्तनयित्नुः) the thunder, (श्रुतिः) the sound, (मही) and the earth are (उच्छिष्टे) in the Remnant.

शर्क॑राः सिक॑ता अश्मा॑न ओष॑धयो वी॒रुध॒स्तृणा॑ । अ॒भ्राणि॑ वि॒द्युतो॑ व॒र्षमु॑च्छि॒ष्टे सं॑श्रिता श्रि॒ता॥२१॥

पदानि– शर्क॑राः । सिक॑ताः । अश्मा॑नः । ओष॑धयः । वी॒रुधः॑ । तृणा॑ । अ॒भ्राणि॑ । वि॒ऽद्युतः॑ । व॒र्षम् । उत्ऽशि॑ष्टे । सम्ऽश्रि॑ता । श्रि॒ता ॥२१॥

अर्थ– (शर्कराः) पथरीली बालू, (सिकता) बालू, (अश्मानः) पत्थर, (ओषधः) ओषधियां, (वीरुधः) लताएं, (तृणा) घास, (अभ्राणि) मेघ, (विद्युतः) बिजलियां, (वर्ष) वृष्टि ये सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व अवशिष्ट परमात्मा में (संश्रिताः श्रिताः) सम्यक् रीतिसे आश्रित हुए हैं ॥२१॥

(शर्कराः) Pebbles, (सिकताः) sand (अश्मानः) stones, (ओषधयः) herbs, (वीरुधः) plants, (तृणा) grasses, (अभ्राणि) clouds, (विद्युतः) lightenings, (वर्ष) rain (संश्रिताः श्रिताः) are set together (उच्छिष्टे) in the Remnant.

राद्धिः प्राप्ति॑ः समा॑प्ति॒र्व्या॑प्ति॒र्मह॑ एध॒तुः । अत्या॑प्ति॒रुच्छि॑ष्टे भूति॒श्चाहि॑ता निहि॑ता हि॒ता ॥२२॥

पदानि– राद्धिः । प्रऽआ॑प्तिः । सम्ऽआ॑प्तिः । विऽआ॑प्तिः । महः॑ । ए॒ध॒तुः । अति॑ऽआप्तिः । उत्ऽशि॑ष्टे । भूतिः॑ । च । आऽहि॑ता । निऽहि॑ता । हि॒ता ॥२२॥

अर्थ– (राद्धिः) उत्तम सिद्धि, (प्राप्तिः) फलकी प्राप्ति, (समाप्तिः) कर्मकी संपूर्णता, (व्याप्तिः) विविध प्रकारका प्रचार, (महः) महत्त्व, (एधतुः) वृद्धि, (अत्याप्तिः) अधिक फलकी प्राप्ति, (भूतिः) वैभव की प्राप्ति, ये सब (उच्छिष्टे) ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट परमात्मा में (आहिता, निहिता हिता) सुस्थिर हुए हैं ॥२२॥

(राद्धिः) The success, (प्राप्तिः) attainment, (समाप्तिः) obtainment, (व्याप्तिः) permeation, (महः) greatness, (एधतुः) prosperity, (भूतिः) growth, (निहिता हिता आहिता) are placed in (उच्छिष्टे) the Remnant.

यच्च॑ प्रा॒णति॑ प्रा॒णेन॒ यच्च॒ पश्य॑ति॒ चक्षु॑षा । उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥२३॥

पदानि– यत् । च । प्रा॒णति॑ । प्रा॒णेन॑ । यत् । च । पश्य॑ति । चक्षु॑षा । उत्ऽशि॑ष्टात् । ज॒ज्ञि॒रे । सर्वे॑ । दि॒वि । दे॒वाः । दि॒वि॒ऽश्रितः॑ ॥२३॥

अर्थ– (यत् प्राणेन प्राणति) जो प्राणसे जीवित रहता है, (यत् च चक्षुषा पश्यति) और जो आंख से देखता है वे सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट रहे परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं। (सर्वे दिविश्रितः देवाः) सब द्युलोक के आश्रय से रहे देव भी (दिवि) द्युलोकमें रहते हैं। अर्थात् द्युलोक में परमात्मा के आश्रयसे रहते हैं ॥२३॥

Both (यत् च प्राणेन प्राणति) what breathes with breath, and (यत् च चक्षुषा पश्यति) what sees with sight. (सर्वे दिवि देवाः) all the deities are in heaven, (दिविश्रितः) the heaven resorters, (जज्ञिरे) were born (उच्छिष्टात्) from the Remnant.

ऋच॒ः सामा॑नि॒ छन्दां॑सि पु॒राणं॒ यजु॑षा स॒ह । उच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥२४॥

पदानि— ऋचः । सामानि । छन्दांसि । पुराणम् । यजुषा । सह । उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे। सर्वे। दिवि। देवाः। दिविऽश्रितः ॥२४॥

अर्थ— (ऋचः) ऋचाएँ, (सामानि) सामगान, (छन्दांसि) छन्द अथवा अथर्ववेद, (यजुषा सह पुराणं) यजुर्वेद के साथ पुराण, ये सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं। (सर्वे दिविश्रितः देवाः) सब द्युलोक के आश्रयसे रहनेवाले देव भी (दिवि) द्युलोक में उसी परमात्मा के आश्रय से रहते हैं ॥२४॥

(ऋचः) The Verses, (सामानि) the Chants, (छंदांसि) the meters, (पुराणं) the ancient stories, (यजुषा सह) together with the formula (जज्ञिरे) were born (उच्छिष्टात्) from the Remnant, so also (सर्वे देवाः) all the deities (दिविश्रितः) that resort in the heaven (दिवि) are set in the same heaven. i.e., in the same Remnant.

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२५॥

पदानि— प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या । उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः ॥२५॥

अर्थ— (प्राणापानौ) प्राण और अपान (चक्षुः श्रोत्रं) आंख और कान (अक्षितिः च या क्षितिः च) अविनाशी और विनाशी सब तत्त्व तथा (सर्वे देवाः) सब देवता जो कि (दिविश्रितः) द्युलोकके आश्रय से रहते हैं, वे सब के सब (दिवि) द्युलोक में रहने-वाले (उच्छिष्टात्) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहे पर-मात्मा से हि (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं ॥२५॥

(प्राणापानौ) Breath and expiration, (चक्षुः श्रोत्रं) sight and hearing, (अक्षितिः) indestructable and (क्षितिः च या) what is destructable so also (सर्वे देवाः) all the deities, (दिविश्रितः) that resort in the heaven, (जज्ञिरे) are born (उच्छिष्टात्) from the Remnant (दिवि) in the heaven..

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाजज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२६॥

पदानि— आऽनन्दाः । मोदाः । प्रऽमुदः । अभिमोदऽमुदः । च । ये । उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविश्रितः ॥२६॥

अर्थ— (आनन्दाः) आनन्द, (मोदाः) सन्तोष, (प्रमुदः) हर्ष, (ये अभीमोदमुदः) आनन्द देनेवालों से होनेवाली तृप्तियां, ये सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) ऊर्ध्व भाग में अवशिष्ट रहे परमात्मासे उत्पन्न हुए तथा (सर्वे देवाः) सब देवता (दिविश्रितः) जो द्यु-लोकके आश्रयसे रहते हैं, वे सब (दिवि) द्युलोक में उसी परमात्माके आश्रयसे रहते हैं ॥२६॥

(आनन्दाः) Delights, (मोदः) joys, (प्रमुदः) enjoyments, (ये अभीमोदमुदः) and they that enjoy enjoyments, (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) were born from the Remnant; so also (सर्वे देवाः) all the deities, (दिविश्रितः) that resort in the heaven are set (दिवि) in the same Heaven, i. e., in the same Remnant.

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाजज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२७॥

पदानि— देवाः। पितरः । मनुष्याः । गन्धर्वऽअप्सरसः । च । ये । उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः ॥२७॥

अर्थ- (देवाः) देव, ज्ञानी (पितरः) रक्षक, पितर, (मनुष्याः) मानव, (गंधर्वाप्सरसः च ये) और जो गंधर्व और अप्सराएं हैं, येह सब तथा (सर्वे देवाः) सब देव जो (दिविश्रितः) द्युलोकके आश्रयसे रहते हैं, वे सब (दिवि) द्युलोक में (उच्छिष्टात्) ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं ॥२७॥

(देवाः) The deities, (पितरः) the fathers, protectors, (मनुष्याः) human beings, (गंधर्वाप्सरसः च ये)and they that are Gandharvas & Apsaras, (सर्वे देवाः) all the deities, (दिवि-श्रितः) that resort in the heaven, (जज्ञिरे) are born (उच्छिष्टात्) from the Remnant (दिवि) in the heaven.

उच्छिष्टका आधार।

इस सूक्त में एक ही बात कही है, वह यह है कि, संपूर्ण विश्वको उच्छिष्टका आधार है, उच्छिष्ट से यह सब विश्व हुआ है, उच्छिष्ट के आधार से रहता है, और उच्छिष्ट में लीन होता है।

उच्छिष्ट क्या है ?

जो विश्व निर्माण होने के बाद अपने अमृत निज स्वरूप में रहता है, वह (उत्+शिष्ट) उच्छिष्ट है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।
पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ (ऋ० १०।९०।३)

'त्रिपात् पुरुष ऊर्ध्व भागमें सबसे ऊपर रहा है। और एक अंश इस विश्वमें बार बार उत्पन्न होता है।' जो ऊपर रहा है, वही (उत्+शिष्ट) उच्छिष्ट है।

एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा ॥ (अ० १०।७।९)

'अपने एक अंगको जिसने सहस्रधा विभक्त किया है।' अपने एक अंश को जिसने सहस्रों रूपों में ढाल दिया है। यही अर्थ (**पादः इह पुनः अभवत्**) एक अंश यहां बार बार बना है। इस मंत्र में दर्शाया है।

उच्छिष्ट का अर्थ है ऊपर अवशिष्ट रहा। इसके आधारसे सब कुछ रहता है। यही इस सूक्त में कहा है। इस का प्रकरणशः विवरण यह है।

मानवसृष्टिमें अनुभव होनेवाले गुण।

निम्नलिखित गुण मानवों में दिखाई देते हैं। परन्तु ये सब गुण परमात्मा के आधार से ही मानवोंमें दीखते हैं—

(मं० ९) **श्रद्धा, तप, व्रत,**

(मं० २५) **प्राण, अपान, श्रोत्र,**

(मं० २३) (**यत् प्राणेन प्राणिति**) जो प्राण से जीवित रहता है, चलनवलन करता है, (**यत् चक्षुषा पश्यति**) जो आंख से देखता है।

(मं० २६) **आनंदाः, मोदाः, प्रमुदः, अभिमोदमुदः**= ये सब आनन्द के भेद हैं।

(मं० १७) (**ऋतं**) सरलता, **सत्यं, तपः**, (**श्रमः**) परिश्रम, कर्मण्यता, प्रयत्नशीलता, (**धर्मः**) उष्णता, गर्मी, **कर्म, वीर्य**, (**लक्ष्मीः**) शोभा, धन, (**बले बलं**) बलवान् के अन्दर रहनेवाला बल, शक्ति, सामर्थ्य।

(मं० ३) (**श्रीः**) संपत्ति, शोभा, धन।

(मं० १७-१८) (**राष्ट्रं**) राज्य, राष्ट्रीयता, शौर्य, राज्य चलाने का सामर्थ्य।

(मं० १८) (**समृद्धि**) सब सुखसाधनोंकी पूर्णता, (**ओजः**) शारीरिक सामर्थ्य, (**आकूतिः**) संकल्प, (**क्षत्रं**) क्षात्रतेज, प्रजापालन का सामर्थ्य।

(मं० २२) (**राद्धिः**) उत्तम सिद्धि, (**प्राप्तिः**) यशादिकों की प्राप्ति, (**समाप्तिः**) कर्मादि की उत्तम संपूर्णता, (**व्याप्तिः**) प्रभाव की व्याप्ति, जितने क्षेत्रपर परिश्रम होता है, (**महः**) महत्त्व, (**एधतुः**) हलचल, (**अति आप्ति**) अल्प प्रयत्नसे बहुत फल प्राप्त होना, (**भूतिः**) ऐश्वर्य, ये सब गुण उसी उच्छिष्ट में (**आहिता निहिता हिता**) स्थिर हुए हैं।

(मं० १३) (**सूनृता**) सत्य वाणी, (**संनतिः**) नम्र भाव, (**क्षेमः**) कल्याण, (**ऊर्जा**) बल, अन्न से प्राप्त होनेवाली शक्ति, (**अमृतं**) अमरत्व, (**सहः**) शत्रु का हमला सहन करनेका सामर्थ्य तथा (**सर्वे प्रत्यंचः कामाः कामेन तातृपुः**) जो कामनाएं प्रत्येक व्यक्तिमें तथा प्रत्येक समाजमें रहती हैं और जिनकी तृप्ति कामभोगसाधन प्राप्त होनेसे होती हैं, वे सब कामनाएं, यह सब यद्यपि व्यक्ति में दीखनेवाले गुण है, तथापि ये (उच्छिष्टे) ऊपर अवशिष्ट जो परब्रह्म है, उसीके आश्रय से ये सब गुण व्यक्ति में प्रकाश रहे हैं।

ये सब वैयक्तिक गुण भी परमात्माके ही हैं, ऐसा मानकर हरएक व्यक्ति को अपना अहंकार छोडना चाहिये। और परमात्मा के सन्मुख विनम्र होकर रहना चाहिये।

इनमें कई गुण राष्ट्रीय भी हैं। अतः उनका मनन पाठक राष्ट्रभाव के साथ करें। कई गुण सामाजिक हैं। उनका मनन सामाजिक दृष्टिसे करना योग्य है। उक्त स्थान में **'तपः और राष्ट्र'** ये शब्द दो दो वार आये हैं, इनका प्रयोजन ढूंढना चाहिये।

विश्वरूप।

इन मन्त्रों में कई वस्तुएं ऐसी दर्शायीं हैं कि जो परमेश्वर के एक अंशसे जो विश्व बना है, [**पादः अस्य इह पुनः अभवत्**। ऋ० १०।९०।३] उसके अन्दर दिखाई देती हैं। परमेश्वर का जो अंश अपने आपको [**एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्**। अथर्व० १०।७।९] सहस्रधा विभक्त करके अनंत पदार्थोंका निर्माण करता है, इस सहस्रधा विभक्त होनेसे निम्न लिखित वस्तुएं बनी हैं।

[मन्त्रः १] [**लोकः**] लोकलोकान्तर, [**विश्वं**] विश्व' सब जो कुछ है, स्थिरचरसमष्टि, [मं० २] [**विश्वं भूतं**] जो कुछ बना है, जो निर्माण हुआ है, वह सब।

(मं० १४) [**नव भूमीः**] नौ भूमियां, भूमिके नौ विभाग अथवा नौ ग्रह, (**दिवः**) द्युलोक, आकाशमें दीखनेवाले सब नक्षत्र आदि।

(१८) (**षट् ऊर्व्यः**) पृथिवीके छः विभाग, अथवा छः पृथिवियाँ।

'नव भूमीः' और **'षट् ऊर्व्यः'** का अधिक स्पष्टीकरण खोज करके प्राप्त करना चाहिये।

(२) (द्यावापृथिवी) द्युलोक, पृथ्वीलोक।

(२१) (**शर्कराः**) रेत, (**सिकताः**) बालू, (**अश्मानः**) पत्थर, आदि सब प्रकारके पत्थर, (**तृणानि**) अनेक प्रकार के घास, (**वीरुधः**) लतायें, (**औषधयः**) ओषधि-वनस्पतियां।

(२) (**आपः समुद्रः**) जल, समुद्र, (मं० १४) **समुद्राः** सागर, महासागर,

(२१) (**अभ्राणि**) मेघ, (**विद्युतः**) बिजुलियाँ,

(२०) (**स्तनयित्नुः**) गर्जना करनेवाला मेघ, (**महीश्रुतिः**) बडी गर्जना, (२१) (**वर्षं**) वृष्टि, पर्जन्य, वर्षा।

(२०) (**घोषणीः आपः**) गर्जना करनेवाली बडी नदियों के महापूर के जल।

(२) (**वातः**) वायु।

ये सब विश्वान्तर्गत पदार्थ अर्थात् यहां न कहे अन्य सब पदार्थ भी, उच्छिष्ट अर्थात् ऊपर अवशिष्ट रहे परमात्मामेंहि, उसीके आश्रयसे यहां रहे हैं।

देवतागण।

ऊपर कहा जो विश्वरूप है, वह सब देवतामयहि है। अतः उसी विश्व का वर्णन देवतासंकेत से अब करते हैं-

(मन्त्राः २३-२७) (**सर्वे दिविश्रिताः देवाः**) द्युलोक के आश्रय से जो सूर्यादि देव रहते हैं, वे सबके सब देवतागण, (मं० ४) (**दश विश्वसृजो देवाः**) दस विश्वका निर्माण करनेवालें देव,

(१) (**लोकः**) सब लोकलोकांतर तथा (**लौक्याः**) इन लोकलोकान्तर में रहनेवाले विविध देवतागण, (**प्रजापतिः**) प्रजाओंका पालन करनेवाला राजा,

(२५) (**क्षितिः**) पृथिवी, टुकडा, (अक्षितिः) पृथ्वीसे भिन्न अन्तरिक्ष, द्यु आदि लोक, जो टूटा नहीं, सब मिलकर अखण्ड सत्तत्व,

(१) **अग्नि**, (**आप्रियः**) आप्रीसूक्तमें आनेवाली सब, अग्निरूप देवताएं, **इन्द्र**, (२) **चन्द्रमा**, (१४) (**सूर्यः आभाति**) प्रकाशनेवाला सूर्य,

काल (१७) भूत, [वर्तमान], भविष्यत, (१४) **अहोरात्र**, (२०) (**अर्धमासाः**) पक्ष, (मासाः) महिने, **ऋतु**, (**आर्तवाः**) ऋतुओंसे बननेवाले कालविभाग, (१८) **संवत्सरः**

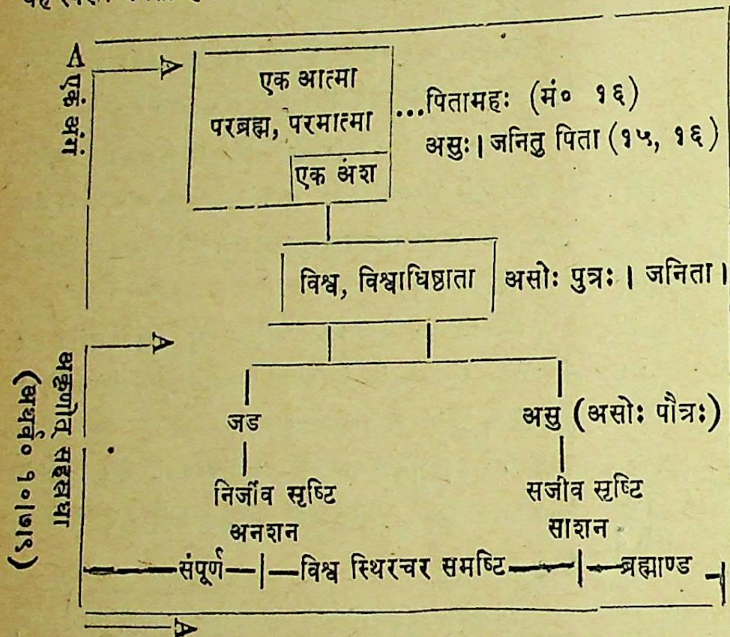
(२७) देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सराएं,

यह सब उच्छिष्ट अर्थात् विश्व बनकर अवशिष्ट रहे परमात्मा के आश्रय से रहता है। इस सबको परमात्मा का आश्रय है।

विश्वका निर्माता।

परमात्मा अखण्ड एकरस है। इसका एक अंश इस विश्व के रूपमें अपने आपको ढाल देता है, विश्वरूप बनता है। इस विश्व का अभिमानी देव भी उसी अंश से होता है, जो ईश्वर कहलाता है। अर्थात् यही विश्व का अधिष्ठाता है, इसी को (**विश्वस्य ईशानः**। मं० १६) विश्व का ईश्वर कहते हैं।

यही (**विश्वस्य भर्ता**। मं० १५) विश्वका पोषण करनेवाला है। इस विश्व में (**असुः**) प्राणसंज्ञक शक्ति भी काय कर रही है, जिससे प्राणी और अप्राणी, सजीव निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस जीव को प्राणशक्ति का प्रदान करने के कारण, और सर्व जीवनशक्ति उसी के आधार से रहने के कारण विश्वके अधिष्ठाताको भी '**असु**' हि कहते हैं। इसका यह स्वरूप बनता है।



(मन्त्र) **नाम, रूप**, (३) **सत्, असत्, मृत्युः** (वाजः) अन्न, (**व्रः**) स्वीकारने योग्य वस्तु, (**द्र**) नाश करने योग्य वस्तु, (**न्यः**) अन्यत्व, (ब्रह्म) ज्ञान अथवा सच्चिदानन्द का अनुभव, (४) (दृढः) दृढता, (दृंहस्थिरः) दृढता और स्थिरता यह सब परमात्मा के आधार से रहता है।

वेद।

(मं० ५) **ऋक्, साम, यजुः**, (मं० २४) **ऋचः, सामानि, छंदांसि, यजुषा सह पुराणं,**

(मं० ५) **प्रस्तुतं** (विशेष स्तुति), **सुतं** (स्तुति),

सामगान- (मं० ५) **उद्गीथः, हिंकारः, स्वरः, साम्नः, मेडिः**, (मं० ६) **ऐंद्राग्नं, पावमानं, महानाम्नी** (मं० १२) **प्रतिहारः, निधनं,**

यहां मन्त्र ५ में **ऋक्-साम-यजु** ये एकवचनी शब्द हैं और ये ही शब्द २४ वें मन्त्र में बहुवचनी हैं। यजुर्वेद के साथ पुराण शब्द यहां आया है। सामगान के अंग मं० ५ तथा १२ में कहे गये हैं। यह सब वेद- शब्दब्रह्म- उच्छिष्ट ब्रह्म के आश्रय से रहा है।

यज्ञ।

(मं० ६) **महाव्रत, (यज्ञस्य अंगानि)** यज्ञ के सब अंग, (मं० ९) **दक्षिणा, इष्टं, पूर्तं**, (मं० ८) **अग्न्याधेयं** (अग्न्याधान), **दीक्षा, कामप्रः छन्दसा सह**, (मं० ९) **अग्निहोत्रं वषट्कारः**, (मं० १८) **इडा, प्रैषाः, ग्रहाः, हविः,**

(मं० ७) **राजसूयः, वाजपेयः अग्निष्टोमः, अध्वरः, अर्क- अश्वमेधौ, मदिन्तमो जीवबर्हिः**, (मं० ८) **उत्सन्नयज्ञाः, सत्राणि** (दीर्घकाल चलनेवाले यज्ञ)।

(१०) **एकरात्र, द्विरात्र**, (११) **चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, (उभयः)** अष्टरात्र, दशरात्र, **षोडशी, (अमृतेन हिता यज्ञाः)** अमृत की सिद्धि देनेवाले यज्ञ, (१२) **द्वादशाहः, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न-अतिरात्रौ**, (१०) **सद्यःक्रिः, प्रक्रीः, उक्थ्यः ओतं निहितं; विधया यज्ञस्य अणूनि** (यज्ञ के विभाग)।

(१९) **चातुर्मास्यानि, निविदः, यज्ञाः, होत्राः, पशुबंधाः, इष्टयः, चातुर्होतारः** (यज्ञाः)

(१५) **उपहव्यं, विषुवान्, गुहाहिता यज्ञाः।**

ये सब प्रकारके यज्ञ, यज्ञके अंग, और यज्ञके साधन सबके सब उच्छिष्ट संज्ञक जो परमात्मा, सृष्टि एक अंशसे बननेके बाद, अवशिष्ट रहा है, उसके आश्रय से रहे हैं, उससे उत्पन्न हुए हैं और उसीमें संपूर्ण होते हैं।

यहां जितने पदार्थ कहे हैं, उतने ही परमात्मासे उत्पन्न होकर परमात्माके आधार से रहे हैं, ऐसा नहीं है, परन्तु यह एक संकेतमात्र कहा है, इस विश्वके अन्दर जो कुछ है, वह सब का सब उस परमात्मासे उत्पन्न होता है, उसीके आधारसे रहता है, और उसीमें लीन होता है। केवल वस्तुमात्र या पदार्थमात्रही नहीं, पर जो जो भाव इस विश्वमें दीखते हैं, वे सब भाव भी इसी परमात्मासे उत्पन्न होकर उसीके आश्रय से रहे हैं।

फिर किसी कार्य के किये जाने में चाहे, मनुष्यकी काल-गणना के हिसाब से, एक हजार वर्ष लग जांय या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता, कारण उस अवस्था में तुम मानवप्रकृति की अवस्थाओं का अतिक्रमण कर भागवत प्रकृतिकी अनंतता और शाश्वतता में प्रवेश कर जाते हो। किसी काम को शीघ्र समाप्त कर डालने की तीव्र व्याकुलतारूपी जिस व्याधि से मनुष्य ग्रस्त रहते हैं-कारण वे उद्योग के परिणामको अपनी आंखों के सामने होता हुआ देखना चाहते हैं— उससे तुम मुक्त रहोगे।

उद्वेग, उतावल और बेचैनीसे कुछ बनता नहीं। ये तो ऐसे हैं जैसे समुद्रपर फेन, ये ऐसे महान् आडंबर हैं, जो आप-से-आप समाप्त हो जाते हैं। निरन्तर दौड-धूम और कूद-फांद किये बिना, कर्मण्यता के आवेश में उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड-तोड लगाये बिना मनुष्योंको ऐसा जान पडता है, मानो वे कुछ कर ही न रह हों। परन्तु इन तथाकथित हलचलों से वस्तुओं का परिवर्तन हो जायगा, यह समझना एक भ्रम है। यह एक ऐसी बात है, जैसे कोई एक कटोरे को हाथ में उठा ले और उसमें के जलको थपेडता रहे। आवश्य ही इस क्रियासे जल इधर-उधर हिलेगा, किंतु तुम्हारे इतने थपेडे खाकर भी वह रहेगा जल का जल ही। कर्म करने का यह भ्रम मानवप्रकृति के सब से बडे भ्रमों में से है। इससे प्रगति होने के बजाय प्रगति में बाधा पहुंचती है, कारण इस भ्रम में पडकर तुम सदा किसी उत्तेजित गति की ओर दौड पडने की आवश्यकता का बोध करने लगते हो।

कितना अच्छा हो, यदि तुम इस भ्रमको जान जाओ, इसकी निरर्थकता समझ जाओ और तुमको यह दिखायी देने लगे कि तुम्हारी इस दौड-धूम से संसार में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। कहीं भी तुम्हें इसके द्वारा कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग इस प्रकार की दौड-धूम करते हैं, वे ऐसी शक्तियों के केवल खिलौने होते हैं, जो अपने आमोद के लिये उन्हें नचाया करती हैं। और ये शक्तियां भी कोई उत्तम कोटिकी नहीं होतीं।

जगत् में जो कुछ भी किया गया है, वह उन थोडे से महापुरुषोंद्वारा ही किया गया है, जो क्रियाओंके परे आत्मा की नीरवता में स्थित रह सकते हैं, कारण ऐसे लोग ही भागवत शक्ति के उपकरण होते हैं। ये ही हैं गतिशील प्रतिनिधि, सचेतन उपकरण, ये ही उन शक्तियों को उतार कर लाते हैं, जो जगत् का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चंचल कर्मण्यताद्वारा। शांति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही जगत् का निर्माण हुआ था और प्रत्येक बार जब भी किसी सच्ची चीजकी रचना करनी होगी, तो उसे शांति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत् में कुछ कर सकने के लिये तुम्हें इन तरह तरह की निरर्थक बातों के लिये परिश्रम करना और सुबह से शामतक दौड-धूम करना आवश्यक है।

चक्रवत घूमते रहनेवाली इन शक्तियों से किनारा खींचकर एक बार यदि तुम शांत क्षेत्रों में पहुंच जाओ, तो तुम देखोगे कि यह भ्रम कितना बडा है। तब तुम्हें मानवजाति ऐसी दिखायी देगी, मानो यह कोई अंधे प्राणियों की समूह हो, जो इस बातको जाने बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड-धूम करते फिरते हैं और जो केवल एक दूसरों के साथ टकराते और ठोकर खाते रहते हैं। और इसी को ये लोग "कर्म" और "जीवन" कहते हैं। यह तो थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

मैंने एक बार कहा था कि, दस मिनटतक सार्थक रूप से बोलने के लिये दस दिनतक मौन रहना चाहिये। इसमें मैं इतना और जोड दे सकती हूं कि, एक दिन सार्थकरूप से कार्य करने के लिये एक वर्षतक शांत रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवन के लिये आवश्यक नित्य की दिनचर्यासम्बन्धी सामान्य कार्यों के विषय में नहीं कह रही हूं, बल्कि उन के लिये कह रही हूं, जिन्हें संसार में कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि, वे संसार में कुछ करने के लिये आये हैं। और नीरवता से मेरा अभिप्राय आंतरिक शांति से है और यह उन्हीं को प्राप्त हो सकती है, जो अपने कार्यों से अपने-आपको तदाकार किये बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तिओं के कोलाहल और रूप से अंधे और बहरे हुए बिना ही कार्य कर सकते हों। अपने कार्यों से अपने-आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तिओंके परे जो एक दृष्टि है, उस में ऊपर उठो, शाश्वत की चेतना में प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे, कि सच्चा कर्म क्या है।

वैदिक देवता।

(लेखक- श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति)

(१)

देवताओं की चतुर्विध कल्पना।

१. परमात्माके गुणों को देवतारूपेण विग्रहवान् मानकर कल्पनामय देवता, जैसे-

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, रुद्र, भैरव, काल, पार्वती, काली आदि।

२. प्राकृतिक घटनाओं को देखकर उन में विद्यमान किसी प्राकृतिक शक्ति या शक्तिमय पदार्थ को देवता मानकर उसके आधारपर कल्पना करनी। जैसे-

इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ध्रुव, वायु, अग्नि आदि।

३. मानुषीय शक्तिके ही विभाग करके उनपर आन्तरिक दृष्टिसे विचारपूर्वक योजना करके देवताकी कल्पना करनी जैसे-

प्राणदेवता, मनोदेवता, बुद्धिदेवता, ज्ञानदेवता, इन्द्रिय-देवता, आत्मादेवता, आदि।

४. वीर पुरुषों तथा बडे आदर्श पुरुषों को श्रद्धा तथा आदर की अधिकतावश उनको भी देवता मानकर पूजा करना। जैसे-

राम, कृष्ण, बुद्ध, हनुमान्, शङ्कर आदि।

देवतावर्ग केवल पुल्लिङ्ग ही नहीं, परन्तु देवियों की भी कल्पना उपर्युक्त विभाग-नियमानुसार कल्पित है।

(२)

देवताओंका विकास।

पहिले एक ही देवता थी, उसीके विकास से भिन्न भिन्न देवता हुई हैं। वेदमें शतशः ऐसे मन्त्र आते हैं, जिन में देवताओं के भिन्न भिन्न नाम लेकर उनको एक ही कहा है और कहीं एक ही देवताको भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारा है। ब्राह्मणग्रन्थ भी एक अक्षर-ब्रह्ममें सब देवताओं की प्रतिष्ठा बतलाते हैं और उसीसे सब का उद्भव बतलाते हैं। उपनिषदों और स्मृतियों में भी उसी प्रकार परब्रह्म से सब देवताओं का विकास कथन किया है।

बृहद्देवता में भी देवताविकास उसी प्रकार कथन किया गया है। यास्कमुनिने निरुक्त में देवताओं को आत्मा का अङ्ग बतलाया है, तथा सब प्रकार से उन्हें आत्मस्वरूप कहा है। निरुक्तके व्याख्याकार दुर्गाचार्य भी अपनी ऋज्वर्थ व्याख्या में उसी पक्ष को पुष्ट करते हैं। श्रीसायणाचार्यजीने भी ऋक्-संहिताभाष्य के उपोद्घात में बलपूर्वक उसी पक्ष को पुष्ट किया है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि, जितने देवता हैं, उन सब का मूल आधार एक आत्मा है। आत्मा के ही विकास से सब देवताओं का प्रादुर्भाव है, देवोंका स्वरूप वही है, जो आत्मा का है। जितने रूपों में आत्मा विकसित होता है, उतने ही रूपोंके नाम भिन्न भिन्न देवताओं के नाम कहलाते हैं।

(३)

देवता-शब्दार्थ।

देवता उन पदार्थों का साधारण नाम है, जिनके गुणोंका वर्णन किसी मंत्र में किया जाता है। अतएव किसी मन्त्र में जिस पदार्थ का वर्णन होता है, उस पदार्थ का वाचक नाम उस मन्त्र का देवता कहलाता है। अतः किसी मन्त्र का जो विषय है, वह उस मन्त्र का देवता है। यह ही यास्कमुनिने भी निरुक्त में इस प्रकार लिखा है-

'अथाता दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्य-स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते, सैषा दैवतोपपरीक्षा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवता-यामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति'॥ (निरुक्त० ७, ११)

इसी प्रकार यास्कमुनि निरुक्त के प्रथमाध्याय के प्रथम पादके द्वितीय खण्ड में बतलाते हैं-

'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे', अर्थात् कर्म की प्रक्रिया को दिखानेवाला मन्त्र भी वेद में देवता शब्द से कहा जाता है।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि, मन्त्र से द्योत्य (मन्त्र के विषय) को देवता कहते हैं, अर्थात् मन्त्र के अर्थ का मूल आधार देवता है। इस प्रकार देवता शब्द का अर्थ समझने पर स्पष्ट है कि मन्त्र के अन्दर उन पदार्थों

के गुणों की व्याख्या है, जिनका देवता नामों से सङ्केत किया जाता है । निरुक्त में अध्याय सात के १५ वें खण्ड में यास्क मुनिने देव शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की है–

'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा देवः; यो देवः सा देवता ।'

यहांपर किसी भी देवता के तीन गुण बतलाये हैं । १ दान, २ दीपन, ३ द्योतन । देव शब्द से अभिप्राय उस शक्ति से है, जिसको प्राप्त करके वस्तुएं हमारे सामने प्रकाशित हो जाती हैं, स्पष्ट हो जाती हैं और हमारा मार्ग अक्लिष्ट (उन्नति की ओर) हो जाता है वा विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है । दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं कि, देव उस शक्तिका नाम है, जो बुद्धि में प्रकाश करती है, मन में उत्साह देती है और साथ ही त्याग की भावना को प्रेरित करती है । देवका मुख्य कार्य बुद्धि को विशद करना या विवेचन–शक्ति को बढाना है । जिन जिन कारणों से बुद्धि का ह्रास होता है, वे सब देवों के शत्रु हैं और जिन जिन कारणों से बुद्धि विशद होती है, वे सब कारण देवों के मित्र (देवबन्धु) वा देव कहलाते हैं । शुभ कार्योंमें बाधा डालनेवाले राक्षस देवविरोधी हैं । सम्पूर्ण शक्तियों का आधार जीवनीय शक्ति या प्राणशक्ति है । जो इस प्राणशक्ति के विरोधी हैं वे सब के विरोधी हैं, इसीलिये देवासुर–संग्राम चला आता है, क्योंकि ये दोनों विरोधी शक्तियां हैं, देवों का काम यज्ञ (उन्नतिपथ= स्वार्थ का परार्थ में होम) को पूरा करना है और असुरों का काम यज्ञ (उन्नतिपथ) का विध्वंस करना है । जबजब असुरों ने उन्नतिपथ में बाधा खडी की तब तब देवोंने प्रजापति, (प्राणोंके स्वामी वा प्राणदाता) प्रजा के स्वामी राजा की उपासना की । इस प्रकार वे शक्तिसम्पन्न होकर यज्ञ में सफल हुए ।

महाभारत में स्पष्ट बतलाया है कि, अक्लिष्ट मार्ग में प्रवृत्त करानेवाली शक्ति किस प्रकार मनुष्यको प्रवृत्त करती है, वा किस प्रकार उसकी रक्षा करती है । जब ध्यानी (सावधान) मनुष्य यज्ञिय मार्ग (उन्नतिपथ वा निवृत्तिमार्ग अर्थात् स्वार्थ का परार्थ में होम) में चलते हुए किञ्चित् विचलित हो जाते हैं, तब देव उनकी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं, जिससे वे अक्लिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके उद्देश्य को प्राप्त होते हैं ।

आत्मा ही सब देवताओं का विकासस्थान है । उसी से सब देवता विकसित होती हैं । सब देवताओं का स्वरूप आत्मा ही है, इसलिये जब मनुष्य को किसी त्यागसंबंधी कार्यमें कठिनाई उपस्थित हो तब वह समझ ले कि वह क्लिष्टपन्था (अवनतिपथ) में है । इसके लिये उसे अपनी आत्मिक शक्ति को जगाना चाहिए । जब उसके आत्मा के दोष दूर होंगे तब विवेचनाशक्ति जागृत होगी और तब अक्लिष्ट मार्ग में बुद्धि के प्रवृत्त होने से उन्नति होगी, साथ ही प्रतीत होने लगेगा कि, सर्वप्रकार की बाधा कहीं बाहर से नहीं आती, किन्तु उसका बीज अपने अन्दर ही होता है । इस प्रकार समझने से कोई पुरुष किसी को शत्रु समझे और उसे विघ्नोत्पादक समझकर उस से विद्वेषादि करे, यह नहीं होगा, तथैव किसी को बन्धु समझ उस से याचना भी न होगी । "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" यह सिद्धान्त सत्य प्रतीत होगा ।

देवता के अर्थों के विषय में निरुक्तकार यास्कने जो कुछ भी लिखा है, उस से स्पष्ट है कि, निरुक्तकार देवताओं को देहधारी आकृतिविशेषवाला पदार्थ नहीं मानते थे, प्रत्युत मन का जो विषय है, वही देवता शब्द से उन्हें अभिप्रेत था । पौराणिक काल में प्रत्येक पदार्थ की अधिष्ठात्री देवता मानकर देवताओं की संख्या ही न रही । निरुक्तकार के समय देवता शब्द का लौकिक व्यवहार विद्वान् मनुष्य, मातापिता और अतिथि वा उपदेशक संन्यासी के लिये भी होता था । परन्तु यदि यास्क को कोई ऐसी मूर्तिपूजा या हीनोथीइज्म या देवतापूजा जिस के साथ मिथ्या विश्वासी हिन्दुओं का इतना प्रेम है और जिसे वेदों में ढूंढने के लिये प्रोफेसर मैक्समूलर इतने व्यग्र हैं, ज्ञात होती, तो चाहे वह स्वयं उस पूजामें भाग न लेता, परन्तु यह असम्भव है कि, वह सर्वथा उसका वर्णन ही न करता, विशेषतः जब कि वह सामान्यरूपसे मनुष्यों में साधारण व्यवहार का कथन करता है । अतः यह निश्चित है कि मूर्तिपूजा और इसका जन्मदाता मिथ्याकथाज्ञान, कम से कम जहां तक आर्यावर्तका सम्बन्ध है, नवीन समयों के ही उपज हैं । इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि, यास्कमुनि उन पदार्थों के नामों को देवता शब्द से कहता है, जिन पदार्थों के गुण मन्त्रों में वर्णित हैं । यह

बात और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम मन्त्रों पर लिखे देवताओंको देखते हैं, जिस जिस मन्त्र पर जिस जिस देवता का नाम दिया है, उन देवताओं में से कितनों ही के नाम निघण्टु में– जहां देवताओं का संग्रह है– नहीं आते।

ऋग्, यजुः, साम तीनों वेदों के पुरुषसूक्त के मन्त्रों के देवताओंपर दृष्टि डाली जाय तो पता लगता है कि, ऋग्वेद में पुरूषसूक्त का देवता पुरुष ही लिखा है। यजुर्वेद और सामवेद में 'ततो विराडजायत०' मन्त्र का देवता स्रष्टा लिखा है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त के पहले चार मन्त्रों का देवता सामवेद में पुरुष बतलाया है, परन्तु यजुर्वेद में 'पुरुष एवेदमित्यादि' मन्त्र का देवता ईशान बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, वेद में एक ही मन्त्रों के देवता कथन करने में कहीं तो सामान्य रूपसे कथन किया है, जैसे ऋग्वेद में पुरुष कह दिया, और कहीं उस देवता के गुण और कर्मों को दिखाने के लिए उस देवता के गुण और कर्मों के बोधक शब्द मन्त्रों के देवता लिखे। इस प्रकार आलोचना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वेदमन्त्रोंके विषयका नाम ही देवता है, तथा देवताओं के गुणकर्मस्वभाव के बोधक शब्द मन्त्रों के देवतारूप कथन किए हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ५८ का 'अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा देवताः' लिखा है। इस सूक्तमें प्रारम्भ से घृत का वर्णन चलता है, इस सूक्त के सारे मन्त्र घृत के वर्णन में ही लगे हैं। यहां घृत शब्द से भोग्य पदार्थ घी का वर्णन नहीं है, किंतु घृत शब्द से उस अव्यक्त कारण का ग्रहण है, जिस से सारी सृष्टि का क्षरण होता है– विकसन होता है– जिससे सारी सृष्टि अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था में आकर प्रकाशमान होती है। वह घृत ही अपने में से सृष्टि को निकालता है वा देता है। इस प्रकार घृत में दान, दीपन और द्योतन गुण होने से ही उसको घृत कहते हैं। इस प्रकार निदर्शनमात्र के दिखाने से स्पष्ट हो गया होगा कि, मन्त्रगत विषय को कहनेवाला शब्द ही देवता शब्द होता है। अन्य कोई मूर्तिमान् पौराणिक देवता वेदमें अभिप्रेत नहीं है। देवताओं के विकास में पहिले दिखलाया है कि आत्मवादियों के पक्षसे निरुक्तकार यास्कमुनि आत्मा से ही सब देवों का विकास कथन करते हैं।

निरुक्तकार यास्कने दो दृष्टियों से देवताओं का विभाग किया है। एक उनके विकास की दृष्टि से और दूसरा उनके नामों की दृष्टि से। चूंकि देवता एकही आत्मा से विकसित हुए हैं और उनका अपना स्वरूप वह ही है, जो आत्माका है, अतः उनके नाम उनके कर्मों के भेद के कारण हैं, जैसे एक ही मनुष्य होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता भिन्न भिन्न नाम, भिन्न भिन्न कर्मों के भेदके कारण पाता है और अवस्थाभेद से बाल, युवा, वृद्ध भिन्न भिन्न संज्ञायें प्राप्त करता है। यह विधि अर्थ से शब्द की ओर जाने की दृष्टि से है।

दूसरी विधि देवताओं के विभाग करनेकी, शब्दसे अर्थ की ओर जाने की दृष्टि से है। इसके लिए निरुक्तकार यास्क लिखते हैं कि, चूंकि उनकी स्तुति (नाम) पृथक् पृथक् हैं, अतः उनकी सत्ता भी पृथक् पृथक् है।

(४)
देवताओं का स्वरूप।

देवताओं का स्वरूप वही है, जो मन की वृत्तियों का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकृतिजन्य मन के अन्दर परिवर्तन आते रहते हैं, उसी प्रकार उस के संकल्पविकल्पात्मक कार्य में परिवर्तन होते हैं। उन परिवर्तनों के होनेसे ही भिन्न भिन्न देवताओं का आगमन कहा जाता है, क्योंकि देवता संकल्पमयी है। छान्दोग्योपनिषद् में विद्यमान देवासुर–संग्राम के प्रकरण की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्यजी ने भी यही माना है। जो देवासुरसंग्राम स्वामी शंकराचार्यजीने माना है, यही वस्तुतः देवासुरसंग्राम है और इसीका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान स्थानपर यज्ञप्रकरणों में आया है।

देव और असुर दोनों ही प्रजापति (गति को आगे आगे जारी रखनेवाले) के पुत्र हैं। चित्तकी सत् और असत् दोनों प्रकार की गतियों को पैदा करनेवाला अर्थात् उनमें शक्ति देनेवाला जो भी कोई प्राणविशेष है, उसी को प्रजापति कहा है। चित्त की इन विपरीत वृत्तियों के अन्दर सदा युद्ध होता रहता है। देव यज्ञ की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते रहते हैं और असुर विघ्न उपस्थित कर करके उनको यज्ञपूर्ति करने से रोकते रहते हैं। वह यज्ञ जिसकी पूर्तिमें देव लगे हुए हैं, उन द्रव्यों और उन कर्मों का नाम है,

जिन से संसार जीवनीय शक्ति प्राप्त करता है। संसार में जीवनशक्ति वा प्राणशक्ति का जो आश्रय है, जो सर्व कर्मों का आश्रय होनेसे सब का आत्मा है, जिसने प्रारम्भ में संसार को विकास की ओर गति दी है, वह यज्ञ है, वह ही प्रजापति है और वह ही पुरुष है। इसीलिये परमात्मा का नाम भी यज्ञ है। इससे पता लगा कि देव जिस यज्ञ की पूर्ति में लगे हुए हैं, वह यज्ञ उस प्रजापति परमात्मा (सर्व कर्मों का कारण) की प्राप्ति का नाम है, जिससे जीवनशक्ति प्राप्त होती है वा जो जीवनशक्ति का आश्रय है। अफलातून (प्लेटो) ने भी जड और चेतन सर्व कर्मों का मुख्य कारण आत्मा को ही बताया है।

पहिले निरुक्तकारके प्रमाणसे बताया गया है कि आत्मा से ही सब देवों की उत्पत्ति हुई है। देव और असुर दोनों ही प्राजापत्य (प्रजापति के पुत्र) कहे हैं। कोष को देखा जाय, तो हर्ष और विषाद (To rejoice and to suffer) दोनों ही देव शब्द के अर्थ हैं। चूंकि आत्मा से देवों की उत्पत्ति है, अतः यह मानना पडेगा कि, सुखदुःखात्मक द्वन्द्वावस्था कहीं बाहिर से उत्पन्न नहीं होती, उसका कारण भी आत्मा ही है।

इस कथन की पुष्टि प्लेटो के कथन से और भी अधिक हो जाती है जब कि वह कहता है कि ' हम इस बात को मानते हैं कि, आत्मा ही अच्छे-बुरे, सत्-असत्, न्याय-अन्याय का कारण है, जब हम यह मानते हैं कि आत्मा ही सब वस्तुओं का कारण है।" इस प्रकार देव शब्द का द्वन्द्वात्मक भावरूप अर्थ होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से देव शब्द का प्रयोग अच्छे भावों के लिये ही रह गया है और उसके विरुद्ध भाव को बतलाने के लिये असुर शब्द का प्रयोग हो गया है।

चित्त की दो प्रकार की वृत्ति हैं, जिन के नाम देव और असुर हैं। इन में असुरों के अभिभव के लिये और उनकी विरुद्ध देववृत्ति को जागृत करने के लिये वा देवता को आह्वान करनेके लिये विशेष विशेष मन्त्रोंका, विशेष विशेष समयोंपर, विशेष विशेष ऋतुओंमें विधिपूर्वक विशेष विशेष मनुष्यों के लिये या विशेष विशेष मनुष्य स्वयम् जप करें, तो उस जप से विशेष प्रकार की गति (Vibrations) चित्तके अन्दर उत्पन्न होती हैं, जिस जिस वृत्तिका प्रादुर्भाव करना होता है वा देवताका आह्वान करना होता है, उसको इस प्रकार आह्वान किया जाता है।

इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादन करने के लिए वा भिन्न भिन्न प्रकार की कामना की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ (कार्य की प्रक्रिया विशेष) को सम्पादन करने के लिए अपने अन्दर शक्ति धारण की जाती है वा देवताओं का आह्वान किया जाता है।

भिन्न भिन्न प्रकार के मन्त्रों के जप करने से भिन्न भिन्न प्रकार की शक्ति का आविर्भाव इसलिए होता है, क्योंकि प्रत्येक अक्षर यदि अपने आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों के द्वारा ठीक ठीक उच्चारण किया जाय, तो भिन्न भिन्न विन्यासपूर्वक उनका उच्चारण करनेसे, जैसा कि मन्त्रोंमें है, वे भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न करते हैं वा भिन्न भिन्न प्रकार से चित्तवृत्तियों में परिवर्तन करके आत्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति में साधन होते हैं, तथा विकृत रूप में उच्चारण करने से अवनति के भी साधन होते हैं, क्योंकि तब आसुरी वृत्तियों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार मानसिक वृत्तियों के परिवर्तन करने में ही मन्त्रों के उच्चारण की वा जप की उपयोगिता है। इस प्रकार मानने से ही मन्त्र का मन्त्रत्व प्रकट होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि मन्त्र शब्द का अर्थ गुप्त भाषण (Hidden expression) है, इसही लिए स्वामी शङ्कराचार्यजीने मन्त्र का स्वरूप वृत्त्यात्मक बतलाया है।

स्वामी शङ्कराचार्य के इस मंतव्य से बिलकुल स्पष्ट और पुष्ट हो जाता है कि, देवता वृत्त्यात्मक ही हैं और कुछ नहीं। मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान इसी प्रकार से उचित बैठता है कि, जब मन्त्र भी वृत्त्यात्मक हैं और देवता भी। जिस देवता को बुलाना, भेजना और स्थिर करना होता है वा निरुक्त के शब्दों में प्रत्यक्ष, परोक्ष वा आध्यात्मिक करना होता है, उसी प्रकार के मन्त्र का जप किया जाता है। इस से केवल एक वृत्ति के स्थान में दूसरी वृत्ति का ही परिवर्तन होता है, अधिक कुछ नहीं।

इस विचार से यह भी स्पष्ट है कि, जिस मन्त्र के जप से जो वृत्ति पैदा होती है, वह वृत्ति ही उस मन्त्र की देवता है और वह ही उस मन्त्र का विषय है। निरुक्तकार यास्कने जो यह कहा है कि, 'द्रष्टा जिस वृत्ति की कामना-

वाला उस पर वशीकरण चाहता हुआ जिस देवता के आह्वानमें लगता है, इसी देवतावाला वह मन्त्र (आह्वान) होता है,' यह कथन पूर्वोक्त विचार से बहुत ही रोचक प्रतीत होता है। जिन मीमांसक-सम्प्रदायों ने मन्त्रमयी देवता मानी है, उनका कथन भी पूर्वोक्त विचार को लेकर बहुत ही उपयुक्त और उचित मालूम होता है। इस प्रकार देवताओं के स्वरूप-विचार से स्पष्ट प्रकट है कि, देवताओं का स्वरूप वृत्त्यात्मक है।

निरुक्तकार यास्कने दैवत काण्ड के द्वितीय पादके दूसरे खण्ड में देवताओं के आकारचिन्तन का प्रश्न उठाया है, कि देवताओं का आकार पुरुषविध है वा अपुरुषविध? अन्त में उभयविध है, ऐसा स्वीकार करके दोनों पक्षों को ही ग्रहण किया है। पुरुषविध आकार से यह अभिप्राय है कि देवताओं का आकार (उनका स्वरूप, प्रतिकृति और चिह्न) पुरुषविध (स्पष्ट, वैयक्तिक, विशेष, परिमित, प्रकटरूप) है। अपुरुषविध आकार से यह अभिप्राय है कि, उनका आकार अपुरुषविध (वैयक्तिक रूप धारण न किये हुए, अव्यक्त, अलक्षण, अस्पष्ट, अनिर्धार्य) है। चूंकि देवता व्यष्टि और समष्टि दोनों रूप से कार्य करते हैं, इसलिये उनका स्वरूप उभयविध माना है।

परन्तु पारस्परिक प्रकृतिविकृति-भाव के कारण कोई भी देवता स्पष्ट वा व्यक्त नहीं कही जा सकती। इस प्रकार उभयविध यज्ञ को छोडकर अन्त को यह ही कहा कि, देवताओं या स्वरूप तो अपुरुषविध (अव्यक्त) है, परन्तु कर्म के अनुसार उन के स्वरूप का भेद किया जाता है। चित्त में जो वृत्त्यात्मक कर्म हैं, जिन के स्वरूप से ही देवताओं का स्वरूप निर्धारण किया जाता है, उन वृत्त्यात्मक कर्मों के परिवर्तन में कारणरूप से वर्तमान जो त्रिगुणात्मक वा पाञ्चभौतिक संयोगभेद हैं, वे ही देवता शब्द से अभिप्रेत हैं, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है, अतः उसके अन्दर गुणों का पारस्परिक संयोगवियोग, रचना-क्रम-विन्यास का भेद ही चित्त-वृत्ति के परिवर्तन में कारण है।

इसलिये गुणोंका अपने अन्दर यथोचित रीतिसे आह्वान करने से चित्तवृत्तिओं के परिवर्तन के द्वारा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार त्रिगुणों को और उनके विकार पञ्चभूतों को भी देवता समझा जा सकता है। यही पूर्वोक्त भेद सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों के भेद का कारण है। सञ्चित कर्म वृत्तियों की सुप्तावस्था है, प्रारब्धकर्म वा क्रियावस्था वृत्तियों की जाग्रतावस्था है। क्रियमाण कर्म जो वृत्तिरूप में आनेको हैं, परन्तु अभी आये नहीं, वे वृत्तियोंकी स्वप्नावस्था है।

(५)

चित्तवृत्तियां और देवताविचार।

वृत्ति शब्द के अर्थ व्यवहार, मार्ग, कर्म, गति, कार्य, व्यापार आदि हैं। मनुष्य की चेतना अन्तःकरण के अन्दर जिस स्वरूप को धारण करती है, वह स्वरूप उस मनुष्यके चित्त की वृत्ति है। इंग्लिश भाषा में वृत्ति को Emotion कहते हैं। यह वृत्ति सुखात्मक वा दुःखात्मक, प्रिय वा अप्रिय, अनुकूल वा प्रतिकूल जिस प्रकार की भी होती है, उसीके अनुसार मनुष्य कार्य करने में अर्थात् ग्रहण और त्याग में प्रवृत्त होता है।

उस प्रवृत्ति से अपनी वृत्ति के अनुकूल फिर संस्कार (बीजात्मक वृत्ति= जिसने उद्बुद्ध होकर अन्तःकरण को ऐसी अवस्था में ढालना है, जिसके अनुसार मनुष्य की कर्मेन्द्रियां कार्य में प्रवृत्त होंगी) पैदा होते हैं और उन संस्कारों से वृत्ति पैदा होती है। इस प्रकार वृत्तिसंस्कार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसके अनुसार संस्कार को संचित कर्म, वृत्ति को क्रियमाण और प्रवृत्ति को प्रारब्ध-कर्म कह सकते हैं।

मनुष्य के अपने संचित कर्मों के अनुसार ही प्रारब्ध कर्म होते हैं और जैसे उस के प्रारब्ध कर्म होते हैं, वैसे ही वह अपने कर्मों का संचय करता है। इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि, मनुष्य इस कर्मचक्र से छूट ही नहीं सकता है और जो जिस प्रकार के कर्मचक्र में पडा हुआ है वह अपने कर्मचक्रको बदल भी नहीं सकता है। ऐसा होते हुए भी मनुष्य यदि दुःख से छूटना चाहता है, तो उसका यह कर्तव्य है कि जिस समय में क्लिष्ट वृत्ति का वेग हो, उस समय को बडे धैर्य और शांति से गुजार दे, उस दुःख के कारण अपने आपको खिजाय नहीं, यह समझ ले कि प्रत्येक वृत्ति पैदा होने के बाद अपनी पूर्ण

वृद्धि को प्राप्त होती है और फिर क्षीण होती हुई विशेष समय के पश्चात् नष्ट हो जाया करती है। अतः जब वृत्ति-चक्र में क्लिष्ट वृत्ति की क्षीणता आरम्भ हो, तो जैसे शत्रु की शक्ति के क्षीण होने पर किसी राजा के अन्दर बल आ जाता है और वह पुनः आक्रमण करके उस शत्रु को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उस क्लिष्ट वृत्ति के प्रतिपक्षी सद्भाव वा अक्लिष्ट वृत्ति को अपने अन्दर जगा कर उस क्लिष्ट वृत्ति के भाव को सर्वथा कुचल डाले, जिससे कि वह फिर उद्‌बुद्ध न हो सके।

इस प्रकार मनुष्य धीरे धीरे बडी सावधानी से क्लिष्ट वृत्तियों का समूल नाश करता हुआ अन्तमें अक्लिष्ट वृत्तियों को भी भोगकर चित्त को कारण में लीन करके परमानन्द में मग्न हो सकता है और कोई उपाय नहीं है। ऐसा करनेके लिये मनुष्य को बडा सावधान होना चाहिये कि शत्रु आक्रमण करके सुरक्षित बच के निकल न जाय। जो मनुष्य ध्यानशील (अत्यन्त सावधान= Cautious) रहेगा, वह ही क्लिष्ट वृत्तियों को जीतकर आनन्द को प्राप्त हो सकेगा। जो अपनी अवस्था के निरीक्षण में प्रतिक्षण सावधान नहीं रहता, वह आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् पूर्ण नहीं हो सकता। वृत्तिसंस्कार के चक्र से न छूटकर उसी में पडे रहना ऐसे ही मनुष्य का कार्य है। ध्यानशील पुरुष तो अपनी धारणा के बल से समाधि को प्राप्त हो ही सकता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की चित्त की वृत्तियोंको पतञ्जलि मुनि ने पांच प्रकार का बतलाया है। वे पांच-भौतिक क्रम के अनुसार आगे कथन की हैं, उस क्रमसे ही यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त किया जाता है, तथा उनमें देवता और आसुर भाव किस प्रकार है। पतञ्जलि ने कहा है कि—

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः पंचवृत्तयः।

वृत्तियों की पांच प्रकार की अवस्था होती है। पहली अवस्था (स्थूलता में अन्तिम अवस्था) प्रमाण की है। पूर्ण परिणाम की अवस्था का नाम प्रमाणावस्था है, जिस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता, जो स्पष्ट है। सिद्ध, परिपक्व, उन्नत अवस्था का नाम प्रमाण है। कोई वस्तु प्रमाणरूप से तब कही जाती है, जब वह अपनी पूर्णता की अवस्था को पहुंच जाती है।

जिस प्रकार पृथिवीतत्त्व आकाश से विकसित होकर स्थूल भाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार वृत्तियां चित्त में स्थित संस्कारों के जागृत होने के पश्चात् जब ऐसे स्थूल भाव को प्राप्त होती हैं..कि कार्य में परिणत होने की अवस्था को पहुंच जाती हैं, तब वृत्तियों की प्रमाण अवस्था कहलाती है। वृत्तियों की यह प्रमाण अवस्था या तो साक्षात् निरीक्षण से आती है, या परम्परया निरीक्षण से या दोनों के मेल से। इन्हीं तीनों प्रकार के निरीक्षणों को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम शब्द से कहते हैं। यह प्रमाण अवस्था विस्पष्ट होती है, अनुस्पष्ट होती है, या किंचित् स्पष्ट होती है। विस्पष्ट को प्रत्यक्ष, अनुस्पष्ट को अनुमान और किंचित् स्पष्टको हम आगम कहते हैं।

इस प्रमाण-वृत्ति की पूर्व अवस्था विपर्यय की अवस्था है। विपर्यय की अवस्था द्वन्द्वावस्था है। इस में द्वन्द्व अर्थात् विरुद्ध अंश उन्नति में आते हैं। सब वस्तुएं द्वन्द्वात्मक हैं। इसीलिये प्रत्येक वस्तु में विरुद्ध गुण पाये जाते हैं। उभय पक्षों के मिलने से कोई वस्तु अपने पूर्ण रूप में होती है। विरुद्ध पक्षों के मिलने में ही आकर्षण का नियम चरितार्थ होता है, क्योंकि अन्यथा आकर्षण होता ही नहीं। रसायनशास्त्र (chemistry) में, भौतिक शास्त्र (physics) में, मनोविज्ञान में और प्रत्येक प्राकृतिक विज्ञान (Natural science) में द्वन्द्वों का ही मिलना हम पाते हैं और इसी प्रकार रचना देखते हैं। इसी निरीक्षण से स्पष्ट है कि, प्रमाण से पहिले विपर्यय की अवस्था अवश्य होनी चाहिए। किसी वस्तु का अपना विशेष रूप, जिस में द्वन्द्व शामिल हैं, प्रमाण वृत्ति में ही होता है; परन्तु जबतक ज्ञान, इदम् (effect) तत् (cause) न ' ' तत् (cause) इदम् (effect) न ' अर्थात् कार्य कारण नहीं और कारण कार्य नहीं इस प्रकार, ' अतत् ' रूप में अर्थात् कारण की अनुगति के भिन्न प्रकार, ' अतत् ' रूप में अर्थात् कारण की अनुगति के भिन्न रूपमें प्रतिष्ठित रहता है, तबतक वह मिथ्या ज्ञान (विपरीत ज्ञान) कहाता है। इसी को पतञ्जलि मुनिने ' विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ' इस सूत्रसे प्रकट किया है।

ज्ञान के द्वन्द्वात्मक विपरीत ज्ञान के रूप में आने से पहिले उसकी वह अवस्था होती है, जिस में पिछली वृत्ति

शब्दात्मक प्रेरक शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण होने लगता है, अर्थात् उसके अनुसार वृत्ति ढलने लगती है, परन्तु वृत्ति ढली नहीं होती, अर्थात् वृत्ति की उस अवस्था में कोई विशेष चिह्न नहीं मालूम होते, जिस से कि किसी विषय-विशेषवाली वृत्ति कही जाय, क्योंकि वे तब मालूम होंगे जब कि द्वन्द्वात्मक अवस्था के बाद द्वन्द्वों के योग से वस्तु (विषय) विशेषके रूपमें वृत्ति आ जावेगी । इस ही लिये पतञ्जलि ने कहा है कि, ' शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ' अर्थात् विकल्प अवस्था वृत्तिकी वह अवस्था है, जब कि वह शब्दज्ञानानुपाती हो, अर्थात् उस में चिह्नविशेषों के प्रकट होने की प्रवृत्ति हो परन्तु वस्तुशून्य हो, अर्थात् पूर्णता को वह वृत्ति न पहुंची हो, केवल उन्नत्युन्मुख हो ।

इस विकल्प की भी पूर्वावस्था निद्रावृत्ति है । वृत्ति की निद्रावस्था किसी कोश में से कलिका के रूप में निकलने का नाम है । इस अवस्था में, वृत्ति में किसी प्रकार की द्वन्द्वात्मक अवस्था का भाव प्रतीत नहीं होता, इसीलिए अभाव-प्रत्यय के आलम्बन-आश्रयभूत-वृत्ति को बतानेके लिये पतञ्जलिने ' अभाव-प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ' यह लक्षण करते हुए निद्रा नाम दिया है ।

इस निद्राकी भी पूर्वावस्था स्मृति है । स्मृति वह अवस्था है, जिसमें अनुभव किया हुआ विषय अपनी किसी प्रकार की हानि के विना पूर्ण रूपसे विद्यमान है । इसी को लेकर ' अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ' ऐसा स्मृतिवृत्ति का लक्षण पतञ्जलि ने किया है । इस अवस्था में अव्यक्त रूप में तो पूर्ण शक्ति रहती है, परन्तु सर्वथा अप्रकट अवस्थामें होती है ।

वृत्ति की इन पांच अवस्थाओं को तारतम्यभेद से उसी प्रकार पांच अवस्थाओं में समझा जा सकता है, जिस प्रकार मूल कारण (Matter) आकाश से लेकर पृथिवी तक विकास की भौतिक पांच अवस्थाओं में हुआ है । स्मृति आकाशात्मक है, निद्रा वाय्वात्मक है, विकल्प तेजसात्मक है, विपर्यय वार्यात्मक है और प्रमाण भूम्यात्मक है । वृत्तियां जैसे जैसे आकाशात्मक अवस्था से भूम्यात्मक अवस्थाकी ओर बढती जाती हैं, वैसे वैसे वे क्लिष्ट होती जाती हैं । उनका निरोध, वशीकरण, संगठन वा नियमन कठिन होता जाता है । क्योंकि वे अपने अङ्गप्रत्यङ्ग के विकास से विकास की पूर्णताकी ओर जा रही हैं ।

अतः जब वे अविकसित अवस्था में अर्थात् सूक्ष्म रूपमें होती हैं, तब अक्लिष्ट होती हैं, तभी उनका नियमन करना चाहिए, क्योंकि जैसे मकानके कोणमें पडा हुआ वटका बीज उगकर जब बडा वृक्ष बन जाता है, तब उसका उखाडना कठिन हो जाता है, वह उस मकान को ही गिरा डालता है । परन्तु जब वह अंकुरित ही होता है, तभी वह उस मकान के पास से उखाडकर उचित स्थान में बडी सुगमता से लगाया जा सकता है । अतः जब वृत्तियां सूक्ष्म रूपमें आकाशीय अवस्थामें हों, तभी उनको निरोध अर्थात् नियमित करना चाहिए । क्योंकि जब वे विकसित होकर स्थूल भाव को प्राप्त होती चली जावेंगी, तब उनका निरोध करना कठिन हो जावेगा ।

अतः आसक्ति से अलग रहकर सूक्ष्म वा स्थूल किसी प्रकार के विषय में न पडकर दीर्घकालतक निरन्तर दृढता-पूर्वक यत्न के द्वारा वे वृत्तियां निरुद्ध वा वशीभूत होती हैं । यह निरोध करने की प्रक्रिया, बडे वृक्ष को काटने में तनु करने की प्रक्रिया के समान, वृत्तियों को भूम्यात्मक अवस्थासे आकाशात्मक अवस्था में ले जाना है ।

पहिले बताया जा चुका है कि, देवताओं का स्वरूप वृत्त्यात्मक है । वे वृत्तियां पञ्चभूतों के मानसिक परिवर्तन-विशेष से बदलती रहती हैं । जिन पञ्चभूतों के परिवर्तन विशेष के कारण वृत्तियों में भेद आता है, शरीर में उन पञ्चभूतों के केन्द्रविशेष हैं । प्रत्येक भूत अपने केन्द्र में अपनी विशेष अवस्था को लिए हुए विद्यमान है और शरीर के अन्दर उस केन्द्र के द्वारा वह अपना प्रभाव-विशेष रखता है । नाभिस्थान के नीचे जल और पृथिवी के केन्द्र हैं । सब से नीचे पृथिवी का, उस के ऊपर जल का, नाभिस्थान पर तेज का, हृदयस्थान पर वायु का और कण्ठस्थान पर आकाशतत्त्व का केन्द्र है । इस प्रकार ये कण्ठकूपसे नीचे आकाशसे पृथिवी तक उतरते क्रममें और गुदा से ऊपर को कण्ठकूप तक चढते क्रम में विद्यमान हैं । ये इसी प्रकार से विद्यमान चाक्रिक क्रम से प्रति घण्टा अपना अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं । इन की गति को यथार्थ रूप से समझना और तदनुसार अपना सम्पूर्ण व्यवहार रखना अति कठिन है । (क्रमशः)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दें सकतें हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससें आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। **महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।**

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके-ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थ-बोधिनी'** टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकतें हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡)रु० भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

मार्च १९४१

फाल्गुन १८६२



वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ३

विषयानुक्रमणिका

१ आधारस्तंभ ।		८३
२ संपूर्ण वेदोंकी पढाई की आयोजना ।		८४
३ कल्याणकी बात ।	संपादकीय	८५
४ अहल्याका जार ।	श्री० पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति	९७
५ वैदिक देवता । (२)	" " "	९९
६ भगवान्‌की सृष्टिमें यह असंतोष क्यों ?	श्री० पं० रामचंद्रजी, बी. ए.	१०७
७ भृगुवंश और भारत ।	श्री० वी०एस्० सुकथनकर, एम्. ए. पी एच्. डी.	११७
८ वेदोपदेश ।		४१-४८
९ ऋग्वेदानुक्रमणी ।	पं० जयदेव शर्मा	११३-१२८

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५५

वर्ष २२ : : : : अङ्क ३

फाल्गुन संवत् १९९७

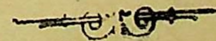
मार्च १९४१

आधारस्तंभ ।

स्कम्भेन इमे विष्टभिते
 द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वं आत्मन्वत्
 यत् प्राणत् निमिषच्च यत् ॥

(अथर्व० १०।८।२)

" (स्कंभेन) सब को आधार देनेवाले ईश्वरने (वि-स्तभिते) सुस्थिर किये ये द्युलोक और भूलोक ठहरे हैं । जो भी कुछ (प्राणत्) प्राणवाला है, (निमिषत्) आंख खोलने बंद करनेवाला है और जो (आत्मन्वत्) आत्मावाला है, (इदं सर्वं) यह सब (स्कम्भः) सर्वाधार ईश्वर ही है । "



संपूर्ण वेदों की पढाई की आयोजना।

संपूर्ण वेदों की पढाई की ५ वर्षों की पाठविधि निश्चित की गई है। ५ वर्षों में चारों वेदों की संपूर्ण पढाई होनी है। इसमें जो संमिलित होना चाहते हैं, उनके लिये निम्नलिखित शर्तें हैं—

१. जो स्वयं अपने व्ययसे यहां आकर पांच वर्ष रहना चाहते हैं, उन के लिये केवल रहने के स्थान का प्रबन्ध यहां किया जायगा। खानपानादि सब व्यय के लिये उनको प्रतिमास २०) रु० व्यय पर्याप्त हो सकेगा। रु० १५) होटेल व्यय, २) दूध, ३) अन्य व्यय)।

२. जो स्वाध्याय-मण्डल के व्यय से यहां रहेंगे, उनको भी स्वाध्याय-मण्डल से प्रतिमास २०) शिष्यवृत्ति दी जायगी, जिस में वे यहां सुख से रह सकेंगे। इस तरह के छात्र हम इस समय पांच ले सकते हैं।

इस के नियम ये हैं।

१. जिनको संस्कृतका ज्ञान अच्छा है, भाषा (हिंदी)का ज्ञान भी है और जो आंग्रेजीका ज्ञान मैट्रिक जितना अथवा अधिक रखते हैं, वे ही यहां वेदाभ्यासके लिये लिये जांयगे। इतना ज्ञान जिनको नहीं है, वे प्रार्थनापत्र न भेजें।

२. जो अच्छे नीरोग हैं, जिन की आयु ३० से अधिक नहीं है, जो प्रतिदिन आठ घण्टे कार्य कर सकते हैं, वे ही यहां आ सकते हैं।

३. वेद का अनुवाद स्वयं करना, वह स्वयं लिखना, स्वयं मंत्रों की संगति लगाना, स्वयं सब भाष्यों की तुलना करना, स्वयं पदों के आशय की खोज करने का ही कार्य यहां लगातार करना होगा। इसलिये जिन का देवनागरी और आंग्रेजी हस्ताक्षर अच्छा सुपाठ्य होगा, वेही लिये जांयगे।

४. पांच वर्षों में चारों वेदों का अध्ययन संपूर्ण करना ही है, इसलिये जो प्रतिदिन ८ घण्टे अध्ययन, पठन, पाठण और लेखन न कर सकते हों, वे इस ओर बिलकुल न आवें।

५. यहां जो कार्य कहा जाय, वह वेद की खोज के संबन्ध का कार्य, यहां जिस ढंग से कहा जाय, उस ढंग से ही करना होगा। परन्तु संपूर्ण खोज के वचनों का संग्रह इकट्ठा होनेपर अर्थ निश्चित करने में प्रत्येक अभ्यासक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी।

६. जो ठीक कार्य नहीं करेंगे, उनको यहां रखा नहीं जायगा।

७. जो स्वाध्यायमण्डल की छात्रवृत्ति लेकर यहां कार्य करते रहेंगे, उनमें से जो अच्छे कार्य करनेवाले होंगे, उन की छात्रवृत्ति में उन्नति भी होगी और उन की आयु का बीमा भी स्वा० मं० की ओर से किया जायगा। तथा इस तरह जो ५ वर्षों में वेदाध्ययन कर के तैयार होंगे, वे स्वाध्याय-मण्डल के आजीवन कार्यकर्ता भी हो सकते हैं। पांचवे वर्ष के पश्चात् उन की मासिक वृत्ति ५०) से कम नहीं होगी।

८. छात्रवृत्ति स्वा० मं० से लेकर यहां रहनेवालों को १०००) की एक जमानत देनी होगी, यह इसलिये कि यहां यदि वे सदाचार से न रहे और बीच में ही चले गये, तो उनके ऊपर हुआ स्वा० मं०का व्यय जमानतवालेसे स्वा० म० को प्राप्त होवे। यहां स्वा० मं० से छात्रवृत्ति लेकर आनेवाला छात्र यहां ५ वर्ष रहना ही चाहिये और सब कार्य उत्साह से उन्होंने करना ही चाहिये।

९. जो अपने व्ययसे यहां रहेंगे, वे भी यदि आलस्यादि दोषोंसे युक्त होंगे, तो उनको भी यहांसे हटाया जायगा।

जो इस आयोजना से लाभ उठाना चाहते हैं, वे हमारे पास प्रार्थनापत्र भेजें। इस प्रार्थनापत्र में अपनी संस्कृत भाषा, तथा अंग्रेजी की शिक्षा, आयु, कार्य करने का उत्साह, आदि अवश्य लिखें। संस्कृत, भाषा और अंग्रेजी के ज्ञान का परिचय होनेके लिये इन भाषाओं में स्वयं कुछ लेख लिखकर साथ भेज दें।

आनेजाने का व्यय जिस का उसी को करना चाहिये। स्वाध्याय-मण्डलपर इस व्यय की जिम्मेवारी नहीं है।

मन्त्री, स्वाध्यायमंडल, औंध, (जि० सातारा)

कल्याण की बात।

गोरखपुर के कल्याण–मासिक के जनवरी (सन १९४१) के अंक में पृष्ठ ११३० पर 'कल्याण' शीर्षक के नीचे एक लेख छपा है। यह लेख केवल एक ही पृष्ठ का है, तथापि इस में कई बातें विशेष मनन करनेयोग्य होने से हम इस लेख की ओर पाठकों का चित्त आकर्षित करना चाहते हैं।

इस लेख के लेखक 'शिव' उपपदधारी हैं और बडी उच्च आध्यात्मिक भूमिकापर आरूढ हुए प्रतीत होते हैं। अतः इस लेख का विचार करने से सब विचारकों का लाभ होनेवाला है, इसलिये वह विचार यहां करना चाहते हैं।

गोरखपुर के गीताप्रेसने तथा कल्याण–मासिकने धार्मिक क्षेत्र में जो प्रशंसनीय कार्य किया है, वह हमारे सन्मुख सदा आदर्शवत् रहता है। इसलिये इस संस्था के लेखों, ग्रंथों और कार्यों की ओर हम सदा ही आदर के भाव से देखते आये हैं। इसी तरह इस लेख का भी हम आदर ही करते हैं।

तथापि अध्यात्मविषय ऐसा है, जिसमें आदर और श्रद्धाभक्ति मनमें रहने पर भी मन को गुलाम नहीं बनाना चाहिये। गुरु के विषय में परम आदर रखते हुए भी अपने मन के भावों को गुरु के समान स्पष्टता के रूप में प्रकट करना चाहिये, फिर वे भाव गुरु के अनुकूल हों या प्रतिकूल। किसी भी तरह आत्महनन होना नहीं चाहिये। यदि भाव प्रतिकूल रहे, तो गुरु उसको ठीक करेंगे और उससे सब का कल्याण ही होगा।

इसी तरह किसी धार्मिक मासिक में कुछ लेख विचार करनेयोग्य हुआ, तो उसको विचारों की कसौटीपर परखनाही चाहिये। अन्यथा विचारों की शुद्धता नहीं रह सकती। आध्यात्मिक भूमिका में विचारों की शुद्धता सदा अवश्य ही है।

यहां कोई शंका करेंगे कि, क्या गुरु के भी विरुद्ध बोलना चाहिये? हमारा यह कहना नहीं है कि, गुरु का तिरस्कार करके उसके विरुद्ध बोलना ही चाहिये। परन्तु यदि गुरु के वाक्य ठीक तरह समझ में न आये, अथवा अपने पढे शास्त्र के प्रतिकूल प्रतीत हुए, तो वैसी अवस्था में अपने मन के भाव आदर के साथ प्रकट करना ही चाहिये। ऐसा करने से सद्गुरु कभी क्रोधित नहीं होंगे, प्रत्युत जो ठीक होगा, वही जगदुद्धार के लिये वे प्रकट करेंगे। इससे सब का भलाही होगा।

'कल्याण' शीर्षक के नीचे जो लेख कल्याण–मासिक में छपा है, इसमें हम कुछ विचारों की अशुद्धि देखते हैं। इसलिये कल्याण के संपादक तथा इस लेख के लेखक के विषय में अन्तःकरण में परम आदर का स्थान रखते हुए, हम अपने भाव यहां प्रकट करना चाहते हैं। हमें आशा है, इस लेख का विचार अन्य पाठक भी इसी प्रकार के खुले और शुद्ध दिल से करेंगे, और एक महत्त्वपूर्ण विषय को अधिक स्पष्ट करने की तथा अधिक उपयोगी बनाने की कृपा करेंगे।

'कल्याण' संज्ञक लेख का पहिला वाक्य यह है—

"द्वैत-अद्वैत, व्यवहार-परमार्थ, दृश्य-द्रष्टा, भाव-अभाव, प्रकृति-पुरुष, जो कुछ भी कहो, सब एक भगवान् ही है।"

यहां 'सब कुछ परमात्मा' या भगवान् ही हैं, ऐसा जो कहा है वह ठीक है, यद्यपि यहां 'अभाव' शब्द सर्वसाधारण के लिये अवश्य खटकेगा। तथापि परमात्मा या भगवान् का ही यह विश्वरूप है, इस में सन्देह नहीं है। आगे लेखक का दूसरा वाक्य यह है—

"जहाँ जगत् का अत्यन्ताभाव है, वहां वहां भगवान् ही अभावरूप हैं, और जहाँ जगत् है, वहां भगवान् ही उस के अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणरूप हैं।"

जगत् का भाव और जगत् का अभाव दोनों भगवान् ही हैं, यह इस कथन का तात्पर्य है, जो वैदिक धर्म के सब विद्वानों को ग्राह्य हो सकता है। यहां 'जगत्' के स्थानपर 'विश्व' शब्द रखा जाय, जो अधिक अच्छा हो सकता है। तथापि तात्पर्यकी दृष्टिसे हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। भगवद्गीता में ईश्वर का 'विश्वरूप' कहा है, वहाँ 'जगद्रूप' नहीं कहा। इस में हेतु भी है। तथापि

उस सूक्ष्मता में न जाते हुए हम लेखक के आशय को ध्यान में धारण करके, लेखक के साथ सहमत होते हैं। आगे लेखक का तीसरा वाक्य यह है-

" वास्तव में भगवान् ही आनन्दसत्तास्वरूप निःस्पन्द शुद्ध चेतन हैं और भगवान् ही अनन्त विश्वसत्ता रूप चिद्विलास हैं। "

महत्त्व के तीन शब्द।

इस वाक्य के शब्द बहुत ही बोझवाले हैं, तथापि उस बोझ को एक ओर करने पर इस वाक्य में तीन शब्द ही मुख्य दीखते हैं, जो ये हैं- 'भगवान् विश्व है।' शेष शब्दों का डरावा छोड दिया जाय, तो इतना सार त्रिकाल में सत्य है। विष्णुसहस्रनाम में 'विश्वं विष्णुः' कहा है, गीता में 'विश्वेश्वर विश्वरूप' कहा है, इस सबका आशय 'भगवान् विश्व है।' इन तीन शब्दों में स्पष्टतया प्रकट हो रहा है। शेष शब्द लेखक की महती विद्या का प्रकाश कर रहे हैं।

इन तीन वाक्यों के लिये हम लेखक के बहुत ही कृतज्ञ हैं। ये तीन वाक्य ही अथवा 'भगवान् विश्व हैं' ये तीन शब्द ही यथार्थतया जानने से तथा साधक के चालचलन में यह सिद्धांत जम जाने से, साधक कृतार्थ हो सकता है। उक्त तीन वाक्यों में लेखकका दार्शनिक भाषाप्रौढत्व है, विद्या का ओज है, सब कुछ है। पर 'भगवान् ही विश्व है,' इतना कहने से जितनी स्पष्टता के साथ आवश्यक आशय साधारण पाठक के भी मनमें प्रकट हो सकता है, वैसा आशय उतनी स्पष्टता के साथ उन तीन बोझदार वाक्यों से प्रकट नहीं होता। पाठकों के मन इन शब्दों के भार के नीचे दब जाते हैं, ऐसा हमें प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक जो कहना चाहते हैं, उसके ऊपर वे शब्दों का भारी कीमती पर्दा रखकर कह रहे हैं। बिलकुल नंगा सत्य सरल शब्दों में कहने से कुछ डर उत्पन्न होगा, ऐसा भय यहां लेखक के मनमें तो नहीं है?

इस प्रकारका भय लेखकके मनमें है, ऐसा अगले चतुर्थ वाक्य से हमें प्रतीत हो रहा है, अतः अगला चौथा वाक्य देखो-

सत्य ज्ञान का डर।

" इतना होनेपर भी साधक को अभ्यास का आरम्भ दोनों को अलग अलग मान कर ही करना चाहिये। दृश्य प्रपञ्च जड है, अनात्म है, केवल व्यवहार में ही उस की सत्ता है और उसका द्रष्टा आत्मा चेतन है। दृश्य विनाशी है, चेतन नित्य है। इस प्रकार द्रष्टारूपमें स्थित होकर दृश्य-प्रपंच को अनात्मरूप से देखो। "

इस वाक्यने पहिले तीनों वाक्योंपर अच्छी तरह पानी फेर दिया है! लेखक का भाव यह है कि, 'संपूर्ण विश्व परमात्मा ही तत्त्वतः है पर साधक को वैसा मानना उचित नहीं है।' यदि साधक वैसा मानेगा, तो उसका क्या होगा?

हम नम्रता से पूछना चाहते हैं, 'क्यों?' जो सत्य ज्ञान है, वह क्यों नहीं मानना चाहिये? क्या कभी सत्य ज्ञान से हानि होने की संभावना हो सकती है?

यह 'सत्य ज्ञान का डर' इन्ही लेखकके मन का डर नहीं है, प्रत्युत कई प्राचीन विद्वान् लेखकोंने भी ऐसा ही डर प्रकट किया है। यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता के ४० वें अध्याय की भूमिका में श्री उवटाचार्य और महीधराचार्य लिखते हैं— " यह शुक्लयजुर्वेद का ४० वां अध्याय वह पढे कि जिसने कर्म किये हैं और पुत्र उत्पन्न किये हैं। " अर्थात्-

'अधीतवेदं उत्पादितपुत्रं यथाशक्ति अनुष्ठित यज्ञ अतिथिपूजापनीतकिल्बिषं शिक्षयन्नाह। ईशावास्यमिति॥

जिसने वेद का अध्ययन किया है, जिसने पुत्र उत्पन्न किये हैं, जिसने यज्ञ किये हैं, अतिथिसत्कारद्वारा जिसने अपना पाप दूर किया है, उस को 'ईशावास्य' पढना चाहिये, पहिले नहीं।

'ईशावास्यं इदं सर्वं' परमेश्वर इस सब विश्व में भरपूर भरा है, यह ज्ञान तब पढना चाहिये, जब पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं! पहिले नहीं!!! कैसा डर है, देखिये!! 'ईश्वर सब विश्व में भरपूर भर रहा है।' इतना ज्ञान यदि पुत्र उत्पन्न होने से पूर्व मातापिताओं को मालूम हो जाय, तो उनके सिरपर आसमान गिर जायगा!!! यह देखकर

अब अथर्ववेद की एक श्रुति देखिये और इस श्रुति के साथ उक्त भाष्यवचन की तुलना करिये ।

ब्रह्मज्ञान का फल ।

यो वै तां ब्रह्मणो वेद, अमृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति, न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद, यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्व ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
(अथर्ववेद १०।२।२९-३०)

(यः वै) जो निःसंदेह (अमृतेन आवृतां तां पुरं) अमृत से आच्छादित उस ब्रह्मपुरी को (वेद) जानता है, (तस्मै उस ब्रह्मज्ञानी को (ब्रह्म च) स्वयं ब्रह्म और (ब्राह्माः च) ब्रह्म से उत्पन्न सब देवताएँ (चक्षुः) आंख आदि इंद्रियाँ (प्राणं) प्राण अर्थात् दीर्घ आयु और (प्रजां) शुभ संतान (ददुः) देते हैं ।

(जरसः पुरा) बुढापे के पूर्व (तं चक्षुः न जहाति वै) उस को आंख छोडकर नहीं जाती, अर्थात् अति जीर्ण अवस्था तक चक्षु आदि सब इंद्रियां उत्तम अवस्था में उसे प्राप्त होती हैं, (न प्राणः) प्राण भी उसे छोडकर नहीं जाता, अर्थात् उसे अति दीर्घ आयु प्राप्त होती है। (इसी तरह तीसरा फल उत्तम संतति भी उसे प्राप्त होती है,) (यः ब्रह्मणः पुरं वेद) जो ब्रह्मनगरी को जानता है, उस को उक्त तीन फल मिलते हैं । (यस्याः) इस नगरी का निवासी होने के कारण ही इस आत्मा को (पुरुषः उच्यते) पुरुष नाम दिया जाता है ।

(अष्टाचक्रा) मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार आदि चक्र जिस में लगे हैं, (नवद्वारा) दो आंख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक शिश्न और एक गुदा ये नौ द्वार जिसमें हैं, ऐसी यह अयोध्या (देवानां पूः) देवों की नगरी है। (तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गः) इसी ब्रह्मपुरी में सुवर्ण के समान तेजस्वी स्वर्गधाम है, यह (ज्योतिषा आवृतः) प्रकाश से वेष्टित है। (तस्मिन्) इस (त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) तीन आरों से युक्त और तीन आधारों से युक्त (हिरण्यये कोशे) सुवर्णमय कोश में (यत् आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मा नामक पूजनीय देव है, (तत् वै) उसको निःसन्देह (ब्रह्मविदः विदुः) ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।

इन श्रुतियों में साफ साफ और सरल शब्दों में जो दोचार बातें कहीं हैं, उन का स्मरण साधकों को सदा रखना चाहिये-

१ **ब्रह्मपुरी को जाननेवालों को नीरोग इंद्रियाँ, दीर्घ आयुष्य और सुसंतति प्राप्त होती है,**
२ **ब्रह्मपुरी को जाननेवाले के इंद्रिय बुढापे के पूर्व क्षीण नहीं होते. शरीर में प्राण अतिदीर्घ आयु तक रहता है (और उत्तम संतान होती है।)**
३ **इसी ब्रह्मपुरी में तेजस्वी स्वर्ग है, इस में जो पूज्य देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।**

उक्त वेदमन्त्रों का यह तात्पर्य है। **ब्रह्मज्ञान से नीरोग शरीर, नीरोग इंद्रियाँ, दीर्घ आयुष्य और सुप्रजा प्राप्त होती है।** यह तो यहां स्पष्ट ही है। अब यहां प्रश्न पूछते हैं कि, **जिस से सुप्रजा प्राप्त होनी है, वह ब्रह्मज्ञान किस आयु में प्राप्त होना चाहिये ?**

पाठकों में से कोई विचारक इस का उत्तर देवें। (१) उवट महीधर ये दोनों आचार्य कहते हैं, कि संतान उत्पन्न होने के पश्चात् 'ईशावास्य' यह यजुर्वेद का ब्रह्माध्याय पढना चाहिये, अर्थात् इनके मत से संतति उत्पन्न होने के पश्चात् ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होनी है। (२) अथर्ववेदकी श्रुति कहती है कि, ब्रह्मज्ञान होने से सुप्रजा होती है, अर्थात् अथर्वश्रुतिके मतसे ब्रह्मज्ञानके पश्चात् संतानोत्पत्ति होनी है।

इन दोनों में से हम किसका कथन प्रमाण मानें ? हमारा मन तो श्रुति प्रमाण मानने की ओर अधिक आकर्षित होता है ।

ब्रह्मज्ञान वही है जिसके प्राप्त होने से '**यह सब विश्व भगवान् का ही स्वरूप है,**' ऐसा प्रतीत होता है, ब्रह्मज्ञान होने तक भगवान् भिन्न है और यह जगत् भिन्न है, ऐसा प्रतीत होता रहता है। अथर्वश्रुति के अनुसार (१) यह ब्रह्मज्ञान पूर्व आयु में ही होना चाहिये, (२) उसके पश्चात् विवाह और (३) उसके पश्चात् सुप्रजा का निर्माण होना है। ब्रह्म की कृपा से ब्रह्मज्ञान से जो संतान होगी,

वैदिक धर्म ।

वह निःसंदेह ही औरस प्रजा होगी। इसके प्रजा के लिये ब्रह्मज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? वह तो मूल्य से खरीदी भी जाती है।

इस तरह श्रुति का आशय तो यही है कि, ब्रह्मज्ञान उस आयु में होना चाहिये कि जिसके बाद उत्तम संतान होने की संभावना हो। उवट-महीधर ये दोनों आचार्य तो कहते हैं कि, संतान उत्पत्ति हो चुकने पर- बुढापे में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का यत्न करो। कितना परस्परविरुद्ध मत-प्रचार होने लगा है, यह देखकर शोकपूर्ण परम आश्चर्य होता है!

जो डर उवट-महीधर जैसे आचार्यों के मन में था, वही डर पूजनीय 'शिव' जीके मन में हैं, इसलिये वे 'सर्व जगत् ब्रह्मही है,' ऐसा माननेके लिये साधक को प्रतिबंध करते हैं। न जाने साधक सब विश्व को ब्रह्म मानने लग जायगा, तो किस अनर्थ की संभावना हो जावगी!

न केवल उवट-महीधर परन्तु बहुत लेखक 'शिव' जी के समान ही मानते हैं। ये सब समझते हैं कि, परमार्थ की बात प्रपंच में नहीं लानी चाहिये। प्रपंच करके जब प्रपंच होना सर्वथा असंभव हो जाय, तब परमार्थ की ओर जाना चाहिये !!

वैदिक धर्म की प्राचीन ऋषिव्यवस्था को इस तरह इन लोगोंने बिगाडा है। वैदिक धर्म की व्यवस्था के अनुसार पूर्व आयु में ही, अर्थात् विद्या समाप्त होने के समय में ही, अर्थात् २०।२५ वर्ष की आयु में ही, अथवा विवाह करनेयोग्य आयु के पूर्व हि ब्रह्मज्ञान होना सम्भव था। इसी स्पष्ट उद्देश्य को पूर्वोक्त अथर्वश्रुति प्रकट कर रही है। वह सब वैदिक भाव अब लुप्त हुआ है और कल्याण के लेखक 'शिव' जी के मतानुसार साधकको 'विश्वरूप ब्रह्म' मानना ही नहीं चाहिये, प्रत्युत उस सत्य ज्ञान के सर्वथा विरुद्ध '**जगत् जड प्रपंच अनात्मा है और उस से भिन्न सर्वथा केवल आत्मा ही चेतन है,**' ऐसा अज्ञान ही हृदयमें धारण करना चाहिये। शुद्ध, सत्य, तत्वज्ञान से हानि और अशुद्ध भ्रान्त अज्ञान से लाभ होने की सम्भावना किस कारण मानी जाती है, यह हमारे समझ में नहीं आता!

ऊपर अथर्वश्रुति में ब्रह्मज्ञान के तीन फल कहे हैं। **(१) नीरोग और सुदृढ इंद्रियों से युक्त शरीर, (२) दीर्घ आयु और (३) सुप्रजा,** ये तीनों फल यदि प्राप्त होनेवाले होंगे, तो निःसन्देह वह ब्रह्मज्ञान पूर्व आयुमें हि प्राप्त होना चाहिये। एक बार शरीर क्षीण हुआ, रोगों से जर्जर हुआ, अनेक रोगोंने शरीर में घर कर लिया, शरीर में वीर्य क्षीण हुआ, तो वैसी अवस्था में परमार्थ का साधन भी क्या होगा? और ऐसी अवस्थामें कुछ ज्ञान हुआ भी, तो भी, उक्त तीनों लाभों में से एक भी लाभ प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है। अतः हम बलपूर्वक कहते हैं कि, परमार्थ का साधन पूर्व आयु में होना चाहिये और उस के लिये सत्य ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिये। जानबूझ कर अज्ञान या मिथ्या ज्ञान स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैदिक परंपरा कैसी थी ?

गायत्री का जाप।

वैदिक परंपरा में बालक ६ या ८ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में दाखल होता था। उसी समय उस बालक का उपनयन हो कर गायत्री मन्त्र का जप करनेका उपदेश उस को होता था। इस गायत्रीमन्त्र का भाष्य श्रीमच्छंकराचार्यकृत देखनेयोग्य है—

> **ओम् भूर्भुवः स्वः।**
> **तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।**
> **धियो यो नः प्रचोदयात्॥**

'जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है, उस सवितादेव के तेजका ध्यान [**वही मैं हूं, ऐसी बुद्धि से**] हम करते हैं।'

प्रत्येक ब्रह्मचारी '**यो असौ आदित्ये पुरुषः सो असौ अहं** (वा० य० ४०।१७)' 'जो आदित्य में पुरुष है, वही मैं हूं,' यह वेद का कथन है, तदनुसार गायत्री मन्त्र का जप करने को श्रीमच्छंकराचार्यजीने कहा है। यही वेद की परंपरा है। '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।**' (ऋ० १।११५।१) सूर्य स्थावर-जंगमका आत्मा है। न केवल मेरा प्रत्युत सब स्थावर जंगम का एक ही आत्मा सूर्य है। सूर्य के ही नाना रूप हैं, सूर्य ही इन नाना रूपों में प्रकट हुआ है। मैं भी सूर्यका ही अंश हूं। इसी तरह सब सूर्य के अंश हैं। इस प्रकार सूर्य का

विश्वरूप गायत्री मन्त्र के जप से ही आठ वर्ष के लडके को दिन में दो अथवा तीनचार बार संध्या के समय जप करने का कार्यक्रम होता था।

सूर्य का विद्युत् में और विद्युत् का अग्नि में रूपान्तर हो रहा है, यह प्रात्यक्षिक अग्निहोत्र के समय दर्शाया जाता था। दीखने में **सूर्य-विद्युत्-अग्नि** ये तीन देव भिन्न दीख रहे हैं, परन्तु ये त्रिदेव भिन्न नहीं, ये 'अ-त्रि' (तीन नहीं, प्रत्युत यह एक ही देव है, एक के ही ये तीन रूप हैं) यह प्रथम पाठ उस बालक को पढाया जाता था। सूर्य चेतन और जड का एकही मूल तत्त्व है, यहां जड और चेतन का भेद मिट जाता है और मूल परमात्मा का प्रथमाविर्भाव सूर्य-हिरण्यगर्भ-है, इतना कहना शेष रहता था। इस तरह गायत्रीमंत्र के जप से '**मैं वह**' और '**वह मैं**' इसकी शिक्षा दी जाती थी।

पुरुषसूक्त।

उपनयन होते ही पुरुष-सूक्त का पाठ किया जाता था। यह प्रथा ब्राह्मणों में आज भी विद्यमान है। जब वैदिक जमाना था, तब संस्कृत भाषा बोलने की भाषा थी। इसलिये जैसे आज कल के बालक हिंदी मातृभाषा के काव्य को समझ जाते हैं, वैसे ही वेद मंत्रों को ऋषिकुमार या उस समय के नव उपनीत बालक समझ सकते थे। ये छोटे छोटे बालक पुरुषसूक्त में क्या पढते हैं, पाठको! दीखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ० १०।९०।१-२, १२)

"परमात्मा (जिसको पुरुष, नारायण, परब्रह्म कहते हैं, उस) के हजारों मस्तक हैं, हजारों आंख हैं, हजारों पांव हैं, यह नारायण भूमि के चारों ओर है और दश इंद्रियों से अनुभव होनेवाले जगत् का शासन भी वही करता है।"

"यही (परमात्मा नारायण) पुरुष यह सब विश्व है, जो भूतकाल में हुआ था और जो भविष्यकाल में होनेवाला है, वह सब वह परमात्माही स्वयं है।"

"इस परमात्मा का सिर ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, जंघा वैश्य और पांव शूद्र हैं।"

जिस समय वेदमन्त्र मातृभाषामें पढे जाते थे, आज के जैसा वेद का हौवा बना नहीं था, बच्चे बच्चे जिस भाषा में बोलते थे, उसी भाषा में वेदमंत्र भी समझे जाते थे, उस समय का चित्र अपनी दृष्टि के सामने पाठक इस समय खींच लें। वे लडके उक्त वेदमंत्र कण्ठ करते हैं और मंत्रों की भाषा अत्यंत सरल होनेसे वे लडके समझते भी हैं, तो आठ वर्ष की आयु में पढनेयोग्य यह पुरुषसूक्त पढते ही वे क्या समझेंगे?

ईश्वर चातुर्वर्ण्यदेही है।

अपना उपास्य देव परमात्मा नारायण भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंके रूपोंसे हमारे सन्मुख खडा है, हम नारायण भगवान् के रूपोंमेंहि विचर रहे हैं। जो जिस वर्ण का बालक होगा, वह अपने आपको भगवान् के उस अंग में समझेगा। ब्राह्मण का बालक अपने आपको भगवान् के मुख के स्थान में, क्षत्रियवर्ण का बालक अपने आपको भगवान् के बाहुओं के स्थान में, वैश्य वर्ण का बालक अपने आपको भगवान् के जंघाओं के स्थान में और शूद्र वर्ण के बालक अपने आपको भगवान् के पांवों के स्थान में समझेगा। भगवान् के पावोंपरहि सबने अपना मस्तक रखना है, इसलिये भगवान् के पांव के स्थानीय शूद्रों की भी सेवा करना सब लोग अवश्य ही मानते होंगे। यहाँ सेवा का अर्थ (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**। गीता) अपने स्वभावकर्म से शूद्र की सहायता करने से है। ब्राह्मण ज्ञान देकर, क्षत्रिय रक्षा कर, वैश्य धनधान्य से और शूद्र कष्ट से सब की सेवा करना ही परमेश्वर उपासना है।

यह कोई व्याख्यानद्वारा समझने की बात नहीं है। उपनीत बालक गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही पहिले ४-८ दिनों की पढाई में ही यह सब पढता है। क्योंकि पहिला कण्ठ करनेयोग्य सूक्त ही पुरुषसूक्त है। जिस के शब्द ऐसे सरल हैं कि, पढते ही समझ में आ सकते हैं।

'**पुरुष एव इदं सर्वं**' भगवान् ही यह सब विश्व है, यह पाठ तो दूसरे ही मन्त्र में उसे मिला है। यह विश्व अनात्मा है, ऐसा पाठ यहां नहीं है, प्रत्युत '**यह विश्व ही जीता जागता भगवान् है**,' यह पाठ वेद स्वयं दे रहा है और लडके ८ वें वर्ष यह पाठ पढ रहे हैं, गायत्री-

जप में अपने आपको सूर्य से मिला रहे हैं और सूर्य को भगवान् का प्रकट रूप मान रहे हैं। इसी पुरुषसूक्त में आगे बारहवें मन्त्र के उपदेश से चारों वर्णों को- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को-नारायण का मानवी रूप मान रहे हैं, उपास्य परमात्मा को इस तरह पृथ्वीपर देख रहे हैं।

वैदिक परिपाठी तथा वैदिक परंपरा यह है और आज क्या हो रहा है ? केवल धर्मश्रद्धा बढाने के लिये पूर्ण त्याग-भाव से चलाये मासिक के द्वारा घरघर में इस का डंका बजाया जाता है कि, **'यद्यपि सब विश्व ब्रह्म है, तथापि सब विश्व को अनात्मा ही मानो और उस के साथ अनात्मा जैसा ही व्यवहार करो !!! '**

कहां हम थे और कहां आये ! हमारी शिक्षा कैसी थी और कैसी हो गयी है ? आधुनिक नवशिक्षित प्रकृतिवाद को अपने जीवन में ढाल कर जो हमारी अधोगति कर रहे हैं, वह अधोगति तो चल ही रही है और बडी जोर से चल रही है। परन्तु धर्मभाव बढाने के लिये कटिबद्ध हुए विद्वान् विद्वान् लेखक भी घोषणा कर के कह रहे हैं कि, **हां, सावध रहो, सब विश्व परमार्थतः ब्रह्म है, पर साधना करने के समय तुम उस को जड और अनात्म ही मानो !!! '** धन्य है !!!

कब इस अज्ञान से छुटकारा होगा और कब हमारे अन्दर सच्चा वैदिक मार्ग प्रकट होगा ? नास्तिकों के हीन विचार तो हीन ही रहेंगे, परन्तु आस्तिकों के विरोधी उपदेशों से जनता की रक्षा करने का मार्ग दीखाता नहीं है ! क्या किया जाय।

'शिव' जी ही नहीं, परन्तु जो 'शिव' जीने इस इस लेख में कहा है, वही भाव कहनेवाले सैकडों ग्रंथ, उपदेशक और लेखक हैं। यह अंधेर नगरी एक की बनायी नहीं है, इस की आबादी बहुत है। यही सच्चा मार्ग है, ऐसा इन सब का सिद्धान्त है और ये विद्वान् सचमुच मानते हैं कि, **'सर्वं ब्रह्म'** साधक को नहीं मानना चाहिये !! इसलिये हम गीताका साधनमार्ग यहां देखते हैं।

गीता कहती है कि
अनन्यभाव से साधना करो।

हम अब गीता का साधनमार्ग संक्षेपसे देखते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यः त्वनन्यया।
(गी० ८।२२)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।।
(गी० ११।५४)

'वह श्रेष्ठ पुरुष अर्थात् भगवान् अनन्यभक्ति से प्राप्त होगा। अनन्यभक्ति से ही मैं (भगवान्) ऐसा (विश्व-रूप में दीख सकता) हूं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
(गी० ९।२२)

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
(गी० १२।६)

'जो मनुष्य अनन्य होकर मेरा चिंतन और मुझ (भग-वान् की) उपासना करते हैं। जो साधक अनन्य-योग के द्वारा मुझ 'भगवान् का ध्यान और उपासना करते हैं।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
(गी० ८।१४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मां अनन्यभाक्।
(गी० ९।३०)

भजन्ति अनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिं अव्ययम्।
(गी० ९।१३)

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
(गी० १३।१०)

'अनन्यचित्त होकर नित्य जो मुझ भगवान् का स्मरण करता है। दुराचारी भी अनन्यसेवा भगवान् की करेगा (तो वह पार होगा।) अनन्यमन होकर भूतादि अव्यय भगवान् की भक्ति करता है। अनन्ययोग से भगवान् की अव्यभिचारिणी भक्ति करता है।'

भगवद्गीता का उपासनामार्ग, प्रारम्भिक उपासनामार्ग यह है। दुराचारी पुरुष भी जिसमें शरीक हो सकता है, वह मार्ग यही है। इन वचनों में ये शब्द महत्त्व के हैं—

अनन्यभक्तिः (गी० ८।२२; ११।५४)
अनन्ययोगः (गी० १२।६; १३।१०)
अनन्यचेताः (गी० ८।१४)
अनन्यचिन्तनं (गी० ९।२२)
अनन्यमनाः (गी० ९।२३)
अनन्यभाक् (गी० ९।३०)

(अनन्य=अन्+अन्य) जहां दूसरा कोई नहीं है, उसका नाम अनन्य है। (no other, not having a second, not more than one, having no other) यह अनन्य का भाव है।

अनन्ययोग का अर्थ क्या है ? जहां भगवान् के विना दूसरा कोई है ही नहीं, ऐसी चित्त की वृत्ति करनेका नाम अनन्ययोग है। अनन्यचित्त, अनन्यमन, अनन्य-चिंतन, अनन्यभाक् के भाव भी यही हैं। एकही भगवान् हैं, भगवान् से भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, इसीका चिन्तन, मनन, विचारणा और भजन करना, इन शब्दों का आशय है। अनन्यभक्ति का भी यही अर्थ है। यहां भगवान् के सिवाय दूसरा कोई नहीं है, केवल भगवान् ही यहां है, ऐसा मानकर जो सेवा करना है, भक्ति करना है, वह अनन्यभक्ति है।

भगवद्गीताने जो साधना का मार्ग बताया है वह यह है। यहां मुख्य बात ' अनन्य ' (दूसरा कोई नहीं है), ऐसा मन का भाव बनने की है। दुराचारी से दुराचारी का भी यह भाव होना संभव है, फिर अन्यों का होगा इसमें क्या संदेह है ?

भगवद्गीता की यह शिक्षा है, तथापि ' शिव ' जी इस लेख में लिखते हैं कि, ' सब विश्व तत्त्वतः एक भगवान् ही है, परन्तु साधक को एक अनात्मा और दूसरा आत्मा, ऐसे दो तत्त्व मानना ही आवश्यक है, अर्थात् सत्य ज्ञानको छोडकर भ्रान्तज्ञान हृदय में स्थिर करना आवश्यक ही है !!! ' तब उन्नति होगी !!

गीता को रख दीजिये, उपनिषदों का सिद्धान्त साधना के विषय में क्या है ? देखिये—

अथ यो अन्यां देवतां उपास्ते, अन्योऽसौ, अन्यो अहं अस्मीति, न स वेद, यथा पशुः, एवं स देवानां। (बृ० १।४।१०)

" अब जो देवता मुझ से भिन्न दूसरी है और मैं उपासक उस देवता से भिन्न अन्य हूं, ऐसा मानकर उपासना करता है, (न स वेद) उसको कुछ भी ज्ञान नहीं है, उपासना की रीति उसको कुछ भी मालूम नहीं, वह तो एक पशु के समान ही है। "

उपास्य-उपासक का भेद मानना, यह तो उपासना की विधि न समझने का चिन्ह है। उपास्य-उपासकके अनन्य-भाव को अर्थात् ऐक्यभाव को समझने से ही उपासना होती है। यह तो उपनिषदों की उपासनाविधि का तत्त्व है। यहां जगत् अनात्मा और इस से भिन्न आत्मा, ऐसा मानकर साधन करना चाहिये, ऐसा किसने कहा है ? यह तो वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रंथों में कहा साधनमार्ग नहीं है। पूर्व लेखमें वेद, उपनिषद् और गीताकी साधना बतायी है। इन ग्रंथों में ' सदैक्यत्व ' को ही मानने का साफ साफ उपदेश किया है। अनात्मा एक बोतलमें और आत्मा दूसरी शीशीमें एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् हैं, यह तो इन ग्रंथों में कहीं भी नहीं कहा है।

यह अवैदिक भ्रान्ति आयी कहांसे ?

एक बोतल में अनात्मा और दूसरी बोतल में आत्मा, एक दूसरे से सर्वथा पृथक्, आत्मा आताजाता है, अनात्मा जड है, इत्यादि भाव सर्वथा अवैदिक हैं। वेद-उपनिषद्-गीता का उपदेश ' **एक ही भगवान् है, जो विश्वरूप में** जडसा और चेतनसा दीखता है, जडचेतन-भाव उस एक में मिलेजुले लीन हैं, उन की पृथक् सत्ता नहीं है। ' जिस तरह मिश्री में रवा (crystal) और मीठास एकरूप होकर रहती है, कभी मिश्रीसे इनकी पृथक् सत्ता नहीं है। वैसे जडचेतन पृथक् नहीं हैं, वे भगवान् के ही दो रूप हैं और भगवान् के अंग हैं, वे भगवान् ही हैं। यह गीता तक की विचारपरंपरा है।

पर जब जैनबौद्धादि जडवादियों का मत फैला, तब वे कहने लगे कि तत्त्व तो केवल जड ही एकमात्र है, चेतन तो उस का परिणाम है। यह मत जगत् में फैल गया। सब को यह मत रोचक भी प्रतीत हुआ। जब इन नास्तिकों का जोर बढ गया, तब उन के ही प्रमाणों को स्वीकार कर, उन के मत का खण्डन करना आस्तिक वेद-धर्मीयों को आवश्यक हुआ। अतः नैय्यायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग इन दार्शनिकोंने एक नयी व्यवस्था खडी कर दी। जो व्यवस्था प्रतिपक्षी की युक्तियों से उन के खण्डन के लिये रची थी।

जैनबौद्धादि ' **केवल जडवादी** ' थे। उनका खण्डन कर के ' **जड का आश्रय चेतन आत्मा** ' है, इस पक्ष की स्थापना आस्तिक नैय्यायिकोंने की। इनका कार्य तो जडवाद का खण्डन करना और उस जड का आधार चेतन

आत्मा बताना था। वह कार्य इन्होंने अच्छी तरह किया।

इस खण्डनमण्डन में जो जड-चेतन भेद वैदिकों के सिर में मढा गया, वह अबतक उन के सिर में रहा है। नैय्यायिक, वैशेषिक, सांख्य, योगियोंके बाद **'सदैक्यवाद'** का प्रतिपादन करनेवाले **' ब्रह्ममीमांसा '** वाले आ गये, परन्तु सदैक्यवाद गिनेचुने मनुष्यों के लिये रखा गया और सर्वसाधारण जनता तो प्रकृति-पुरुषभेद में ही फंस गयी, वह बेचारी अबतक वहां से उठी ही नहीं! जो पाश शत्रु को फंसाने के लिये रचे, उनमें स्वयं ही अटक गये !!

ब्रह्ममीमांसा के सिद्धान्तियोंने ' एक ही ब्रह्म है, ' ऐसा प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया, पर वह सब ज्ञान परमार्थ के लिये ही बंद रखा गया और व्यवहार के लिये जड-चेतन का द्वन्द्व खूब बढाया गया !! इसलिये श्रीमच्छंकराचार्यजी के सांख्ययोग के प्रबल खण्डन करने पर भी वह जडचेतन के भेद का भूत जो एक वार वैदिकधर्मियों की बुद्धियोंपर सवार हुआ, वह अबतक भी उतरा नहीं है। इसीलिये श्रीविद्वान् ' **शिव** ' जी ' **सब विश्व को ब्रह्म तो स्पष्टताके साथ मानते ही हैं, पर साधनाके समय उसी विश्व को अनात्मा कहने का धैर्य दिखाते हैं।** '

हमने ' धैर्य दिखाते हैं ' ऐसा जानबूझकर कहा है, क्योंकि यदि सचमुच, परमार्थतः और तत्त्वतः सब विश्व भगवान् ही स्वयं है, और भगवान् के सिवाय इस विश्व में दूसरा कुछ भी नहीं है। तब तो उस भगवान् को ही अनात्मा कहना साधारण धैर्यवाले से नहीं होगा, यह निःसन्देह है।

साधारण से साधारण छोटीसी रियासतके तुछ राजा को भी ' **आप राजाधिराज हैं** ' ऐसा कहा जाता है, तेरी योग्यता चपरासी जैसी भी नहीं, ऐसा कहना असम्भव है। यह तो तुछ राजा की बात है। पर जो विश्व का महाराज है, जो सम्राटों का सम्राट है, वही सब कुछ विश्वप्रपंच है, यह सत्य सिद्धान्त जिस मुख से बोला जाता है, अथवा जिस लेखनी से लिखा जाता है, उस की स्याही सूखने के पूर्व हि उसी भगवान् को ' **अनात्मा** ' कहना कितना साहस है, क्या यह विना विशेष धैर्य के होना संभव है ?

नास्तिकों के कीले तोडने के लिये आस्तिकोंनें जो कीले खडे किये, वे अपनी ही प्रगति को इस तरह प्रतिबन्ध करनेवाले बन गये हैं !! यह है धर्म का दुर्दैव ! किया क्या जाय ? शत्रु के लिये बनाये जाल में स्वयं अटक गये !!

वेद कहता है कि, ' **एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्।** (अ० १०।७।९) एक ही सहस्रधा विभिन्न हुआ है। उपनिषदोंने कहा कि, ' **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।** (बृ० उ० २।३।१) गीताने कहा कि ' **वासुदेवः सर्वं।** (गी० ७।१९) ' इस तरह सब एक ही तत्त्व को दर्शाते आये।

पर दर्शनकारों ने जडवाद के नाश के लिये जो कीला खडा किया और जो शस्त्र तैयार किये, उसी में हम सब कैद हो गये हैं। इस तरह ' **रक्षकों** ' केही ' **राक्षस** ' बने हैं !!

आज महात्मा गांधीजी अंग्रेजों से कहते ही हैं कि, ' तुम जो नाझीयों का नाश करने के लिये स्वयं उग्रतम नाझीझम की उपासना कर रहे हो, तो उससे एक नाझी चला गया, तो उसके स्थानपर दूसरा उग्र नाझी आवेगा। तत्त्वतः वह नाझीझम् की ही जीत होगी। हो तो ऐसा ही रहा है। नाझीयों का नाश करने के लिये उनसे बढकर शस्त्रसंभार खडा किया जाय, तो वही नाझीझम का भूत सिरपर खडा होता है। इसी तरह यहां भी हुआ। जडवाद को दूर करने के लिये जडचेतनवाद को खडा किया, इनको आशा थी कि वैदिक सदैक्यवाद अर्थात् सर्वचेतनवाद इससे सिद्ध होगा, पर हुआ यह कि सदैक्यवाद तो गिनेचुनों के शब्दों में रहा और संपूर्ण व्यवहार में जडचेतन का द्वन्द्व घुस गया, और अब उसको हटाना असंभव हुआ है। इसी दबाव में आकर विद्वान् भी ऐसा परस्परविरुद्ध बोल रहे हैं। ' **परमेश्वर तो सब कुछ है ही, पर वैसा तू न मान।** ' इसका तात्पर्य कितना घोर है, यह विचार करनेवालों को ही मालूम हो सकता है। नहीं तो शताब्दियों से सहस्रों लोग ऐसा ही बोलते आये हैं !!

पाठको ! इस आपत्ति का विचार करो !

इसीलिये जो बात वैदिक समय में लडकों को ८ वे वर्ष समझ में आती थी, वही बडे बडे विद्वानों को मालूम होनेपर भी डरावनी प्रतीत होती है। बोलने का धैर्य नहीं होता, वह सत्य तत्त्व व्यवहार में घातक होगा, ऐसा प्रतीत

होने लगा है!!

वास्तविक बात यह है कि, सत्य तत्त्व का एकत्व समझाना ही सरल और आसान है। भिन्नता सिद्ध करना ही कठिन है। परन्तु बालपन से जो द्वन्द्वों का अभ्यास हुआ है, उस से द्वैत अच्छा लगता है और अद्वैत का डर मालूम होता है। यह अवैदिक कुशिक्षा का परिणाम है। पर यह इस समय सार्वत्रिक बीमारी हुई है।

योग सिरपर चढा है।

जड-चेतन-भेद का स्वीकार करके योगशास्त्र बता रहा है कि, जड के अन्दर चेतन सत्ता को देखो, अपने अन्दर आत्मा को देखो। आंखें बंद करो, प्रकाश दीखेगा, फिर दूसरा, तीसरा प्रकाश आवेगा। वह आत्मा है, यह बाहर का अनात्मा, यह विश्व तुच्छ, अन्दर का तत्त्व श्रेष्ठ है। विश्व को तुछ और अन्दर जो है, उसको श्रेष्ठ बताने में हम '**विश्वं विष्णुः**' (विश्व ही विष्णु है) इस विष्णु का अपमान कर रहे हैं। यह किसी के ध्यान में भी नहीं आता।

अन्दर देखो करके योगियों ने जैनों और बौद्धों से कहा था, वैदिकधर्मीयों के लिये नहीं, क्योंकि हम वैदिकधर्मी तो अन्दरबाहर एक तत्त्व माननेवाले हैं, हमारे लिये विश्व तुच्छ नही है और उससे अन्दरका तत्त्वही केवल श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है। हमारे लिये तो अन्दरबारह एक रस है, हमारे लिये '**सर्वं मधु**' है।

पर बौद्धों के नास्तिकवाद का कीला तोडने के लिये जो हमने शस्त्र धारण किये, वे अपनी प्रिय पत्नी के साथ मेलमिलाप करने के समय भी बर्ते जाने लगे हैं! इसीको कहते हैं, 'योग का भूत सिरपर चढकर बैठा है।' श्रीशंकराचार्यजी ने खण्डन किया, तो भी वह वैसा ही सिरपर चढा है।

कहां तक भ्रम फैला?

यह भ्रम कहां तक फैला है? यह आज का दोष नहीं है। उपनिषदों का पाठ घरमें भी नहीं करते हैं! इतना डर भरा है। 'ईश्वर सर्वत्र है,' ऐसा ईशावास्यने कहा। यह ज्ञान घरमें पढने से क्या घर का नाश होगा? पर इतना डर वैदिकों में भी जम गया है। सत्य ज्ञान का उच्चारण भी घर में करना नहीं है। इसलिये अब भी पुराने लोग उपनिषद् पढना हो, तो जंगल में जाकर पढते हैं, अथवा किसी मंदिर में जाकर पढते, पर घर में नहीं पढते।

यह बात सत्य होने पर भी सैंकडों पाठकों को असत्य प्रतीत होगी! पर यह है सत्य। इतना डर मन में इस सत्य विद्या के विषय में भरा है! इसी लिये श्री '**शिव**' जीने लिखा कि, 'भगवान् ही सब कुछ है, पर साधक वैसा न माने। और माने क्या? तो उसके सर्वथा विपरीत कि सब कुछ, भगवान् नहीं है, और जड है, अनात्म है!!'

हजार वर्षों का भ्रान्त ज्ञान इस तरह सिरपर चढकर बैठा है! इससे छुटकारा कैसे होगा?

क्या सत्य ज्ञान व्यवहार में आने से सर्व नाश होगा?

जो डर ऊपर बताया है, उससे प्रतीत तो ऐसा होता है कि, इन लोगोंके मत से '**भगवान्ही सब कुछ है**,' यह व्यवहार में आने से व्यवहार ठीक नहीं होगा। इनको यह भय है, इसीलिये ये वारंवार कहते हैं कि, 'भगवान् सब कुछ है, पर व्यवहार में वैसा न मानो।' व्यवहार में क्या मानो? ऐसा पूछने पर उत्तर यही आवेगा कि 'यह विश्व सैतान है, उससे भिन्न तीसरे आसमान में प्रभु है। इस सैतान से दूर रहो और प्रभु को शरण जावो!' प्रभु तो तुमको कभी दीखेगाही नहीं, टकरें मारते रहो। सदा तुम्हारा वास्ता सैतान से है। सैतान तुम्हें दीखता है, प्रभु गुप्त है। सहस्रों जन्मों के बाद कभी किसी को प्रभु दीखेगा, तो दीखेगा! जो कभी नहीं दीखेगा, उसकी भक्ति करो।

यह है उत्तर!!!

वेद-उपनिषद्-गीता का उत्तर है, **भगवान् विश्वरूप ही है। वह सदा दीखता है। साधक उसी में विचर रहा है।**' पर आज के लेखक कहते हैं कि, जो दीखता है, वह अनात्मा है! जड है!! त्याज्य है!!! वेद-उपनिषद्-गीता की भूलका सुधार कर के आज के लेखकोंने यह मत बनाया होगा!

गीता में 'भूमि-आप्-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीव' यह नवधा प्रकृति ईश्वर की है, ऐसा स्पष्ट कहा है।' (गी० ७।४-५)

यह इसलिये कहा है कि, पाठक कभी न भूले। यहां प्रकृति के माने 'शरीर' है। पाठक इस तत्त्व की बात को न भूलें। प्रत्येक मनुष्य के तथा प्रत्येक प्राणि के शरीर में अर्थात् प्रत्येक प्राणि की प्रकृति में भी ये ही नवविध तत्त्व हैं। गीता के अ० ७, श्लोक ४-५ में कही नवविधा प्रकृति की बात केवल परमेश्वर के लिये ही सार्थ है और मानव के लिये नहीं, ऐसा नहीं है। तथापि परमेश्वर को पहचानने का वह सुगम और सरल साधन है।

परमेश्वर कहां है? परमेश्वर नवविध प्रकृति के शरीर में है। इसका अर्थ यही है कि, जहां पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है, इनका संघात है, मन-बुद्धि-अहंकार है, जहां जीव है, वहां भगवान् ही है। क्योंकि यही भगवान्‌की प्रकृति-अर्थात् भगवान्‌का शरीर है। आप किसी को पहचानते हैं, तो उस का शरीर देखकर ही पहचानते हैं। किसी प्राणि का आत्मा किसी को भी दीखता नहीं, फिर भगवान् का आत्मा न दीखा, तो कोई विलक्षणता नहीं है। आत्मा तो कभी किसी को दीखेगा ही नहीं और उस के देखने की आवश्यकता भी नहीं है। परमेश्वर का साक्षात्कार उस के पूर्वोक्त नवविध शरीर से ही होना है, यही उपास्य भगवान् है। कभी किसी को केवल आत्मा दीखेगा, ऐसे धोखे में कोई न आवे। जो भगवान् साक्षात् करने की बात है, वह विश्वरूपी भगवान् ही है। जो इस विश्वको जड, अनात्म, तुछ, हेय आदि कहते हैं, वे भगवान् को ही ये विशेषण लगाते हैं। वे सम्भाल कर ये विशेषण विश्वरूपी भगवान् को लगाने का कार्य करें। क्योंकि विश्वरूपी महान् आत्मा प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं। वह दूसरा कोई नहीं है। यहां कोई केवल जड, केवल अनात्मा, ऐसी वस्तु नहीं है।

'जड' यह एक कल्पना सब से प्रथम नास्तिक जैन-बौद्धोंने अथवा उन के पूर्व के नास्तिकोंने घडी थी। उस का खण्डन ब्रह्ममीमांसाने किया, उपनिषदोंने उन से भी पूर्व किया था। वेदने तो कभी जडवाद का वर्णन किया भी नहीं था!

यूरोप के जडवादी वैज्ञानिक अब जडवाद को छोडते हैं और '**सर्वं चैतन्य है,**' ऐसा मानने लगे हैं। यूरोप के वैज्ञानिकों का मत १५० वर्षों में उलट गया है। वेदने तो '**एकं सत**' कर के अनादिकाल से घोषणा कर के कहा है। ऐसा होते हुए फिर भी विश्व को 'जड, अनात्मा' कहना सर्वथा भ्रांतिमूलक, अवैदिक और भयानक अज्ञान का द्योतक है।

सब विश्व भगवान् ही स्वयं होते हुए, हम उसको 'अनात्मा' क्यों मानें? क्या संपूर्ण विश्व को भगवान् मानने से साधना हो ही नहीं सकती? देखेंगे इसका विचार करके, कि साधना होती है वा नहीं। इसका विचार करनेके लिये पाठक घण्टाभर मान लें की संपूर्ण विश्व भगवान् ही है, "**विश्वं विष्णुः**" (विष्णुसहस्रनाम) "**एकं सत्**" (ऋग्वेद) "**पुरुष एव इदं सर्वं**" (चार वेद) "**वासुदेवः सर्वं**" (गीता)

क्या सब विश्व को भगवान् मानने से साधना बिगडेगी?

आप अपने घरसेहि प्रारंभ करिये। पहिले अपने घरमें आपके मातापिता होंगे। इनको भगवान् मान लीजिये, सेवा कीजिये, श्रद्धासे सेवा करिये। देखिये कितना आनन्द आता है। पश्चात् आप की धर्मपत्नी है, यह भी भगवान् काही रूप है, देखिये ऐसा माननेसे आप का उनसे होने-वाला बर्ताव कितना पवित्र होता है। क्या कोई ऐसा मनुष्य हो सकता है, जो अपनी धर्मपत्नी को भगवती मानता हुआ, उससे कुव्यवहार करे अथवा अन्यत्र व्यभिचार करने में प्रवृत्त हो। अन्यत्र व्यभिचार करने के लिये भी वह कहां जायगा, जहां वह जायगा, वह भी भगवान् काही रूप होगा। फिर वह किससे छल, कपट और धोखा करेगा? क्या कभी कोई सब रूपों को भगवान् मानता हुआ उनसे धोखा कर सकेगा? हमारे विचार से छल, कपट, धोखा तब तक जगद्व्यवहार में रहेंगे, जब तक विश्व को अनात्मा, जड और भगवान् से भिन्न माना जाता है। 'सब विश्व को अनात्मा मानो,' ऐसा जो उपदेश है, वही कुमार्गमें जनता को प्रवृत्त करानेवाला है।

आगे समाज में जाइये। स्पृश्य-अस्पृश्यभेद कब तक रहेंगे? जब तक सब रूप भगवान् के ही हैं, इसका पता नहीं होता, तब तक ही अस्पृश्यता रहनेवाली है। वेदका कहना है कि, शूद्र भगवान् के पांव हैं, क्या कभी भगवान्

के पांव अस्पृश्य हो सकते हैं ? अन्य कुव्यवहार भी कब तक रहेंगे, जब तक ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र ये भगवान् के मुख–बाहु–ऊरू–पांव हैं, इसका ज्ञान नहीं है तब तकही यह कुव्यवहार रहेगा। कुरीतियां, कुव्यवहार सब के सब मिटाने का एकमात्र उपाय यह है कि, "**विश्व को विष्णु, विश्व को भगवान्**" मानना।

धनी लोग मज्दूरों को तंग कर रहे हैं। यह ऐसा कब तक करेंगे ? जब तक उनको पता नहीं लगा है कि, जिनको हम तंग कर रहे हैं, वे भगवान् के ही प्रत्यक्ष रूप हैं। भगवान् ही अपनी परीक्षा लेने के लिये इन रूपों से हमारे सामने उपस्थित है, यह ज्ञान होने के पश्चात् पूंजीपति और मज्दूरों की समस्या तत्काल ही हल होगी।

साम्राज्यमद जगत् में सब को कष्ट दे रहा है। यह कब तक कष्ट देगा, कि जब तक सम्राटों और उनके ओहदे-दारों को पता नहीं लगा कि सब प्रजाजन भगवान् के ही स्वरूप हैं। जिस समय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये भगवान् के मुख-बाहु-ऊरू-पांव ही हैं, इस वैदिक ज्ञान का बोध हो जायगा, उसी समय राजा और राजपुरुष, सम्राट और ब्यूरोक्रसी के सब लोग दुष्टता का व्यवहार छोड देंगे।

'**सब कुछ भगवान् ही है,**' इसका ज्ञान होने पर सम्राट् और उसके ओहदेदार समझेंगे कि इस जनतारूपी जनार्दन की सेवा करने का हमें भाग्य प्राप्त हुआ है, इसी सत्कर्म से हमारा उद्धार होना है, अतः जो शक्ति अपने पास है, उसका व्यय करके हम जनता की यथाशक्ति सेवा करेंगे। इस ज्ञान के बाद प्रजा का सताया जाना संभवही नहीं है। इस ज्ञान के बाद राजा की उपास्य देवता प्रजा हो जाती है, राजा सच्चा प्रजा का उपासक और प्रजा का सेवक बनता है। ओहदेदारों का सब अहंकार नष्ट हो जायगा और वे प्रजा के सच्चे हितैषी बन जायगे।

जगत् में, विश्वभर में, युद्ध क्यों हो रहे हैं ? इसका एकमात्र कारण '**विश्व ही भगवान् हैं,**' इसका पता नहीं है। यदि पता हो जायगा, और यह बात समझ में आवेगी, तब युद्ध का मूल कारणहि दूर हो जायगा, और सब परस्पर का हित करने लग जायगे। परस्पर की सेवा करने लग जायगे। आज जो लोग दूसरे का वध करके मैं बडा होऊंगा, ऐसा मान रहे हैं, वेही परस्पर की सहायता करके सार्वत्रिक शान्ति स्थापन करने का कार्य करेंगे।

'**सब विश्व भगवान् ही है,**' यह न जानने के कारण आज युद्धमान राष्ट्रों का प्रतिदिन का व्यय गोलाबारूद जलाने और संहार करने के लिये करीब ३० करोड रुपया हो रहा है। यदि यह रकम मानवी उन्नति के लिये व्यय की जायगी, तो सब मानवजाति पूर्ण सुखी हो जायगी।

अस्तु। किसी भी कार्यक्षेत्र में विश्वभर देखो, पाठकों को यही नजर आ जायगा कि केवल '**विश्व भगवान् नहीं है,**' ऐसा मानने से सर्वत्र अनेक प्रकार के कष्ट बढ रहे हैं, और '**संपूर्ण विश्व ही भगवान् है,**' ऐसा मानने से सब दुःखों का नाश होनेवाली है। सुखप्राप्ति का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

इतना सत्य सिद्धांत और त्रिकालाबाधित सिद्धान्त होने पर भी '**शिव**' जी जैसे धुरंधर विद्वान् लेखक साधक को कहते हैं कि, '**हां ! साधना करने के समय सब विश्व को भगवान् न मानो, प्रत्युत सब विश्वको अनात्मा मानो** !!!

कितना अनर्थकारी उपदेश है, इसका विचार सब पाठक करें ! जो एकमात्र सब की उन्नति का साधन है, उसको मानते हुए भी नहीं मानना, यह सचमुच लेखनशैली का और बुद्धि का आश्चर्य है !!

हमारे समझ में नहीं आता कि जो '**शिव**' जी जैसे महात्मा प्रारम्भ में '**सब विश्वको भगवान् मानते हैं,**' वे ही चतुर्थ वाक्य में उस को भूल कैसे जाते हैं और समझ में आनेपर इसको भूलना भी कैसे हो सकता है ?

जनता के समझ में नहीं आवेगा।

कई लोग ऐसा कहते हैं कि, 'जनता अज्ञान है, उसमें ग्राहकता नहीं है,' 'सब विश्व भगवान् है,' यह गहन सिद्धांत है, यह सिद्धांत जनता के समझ में नहीं आवेगा, इसलिये प्रारम्भ में यह विश्व जड और अनात्मा है, ऐसा मानने के बाद उसका मार्ग खुल जाता है। इ०'

बहुत लोग ऐसा कहते हैं और लिखते भी हैं। जनता अज्ञान है और ये स्वयं ज्ञानी हैं, ऐसा इनका सिद्धांत होगा, तो पता नहीं है। परन्तु क्षणमात्र के लिये हम मानते हैं कि, जनता अज्ञान है। अब इसका विचार करते हैं—

'संपूर्ण विश्व भगवान्ही है' यह ज्ञान संपूर्ण जनता को नहीं है, और नाही उनके समझ में यह बात आ सकती है, यह इनका पक्ष है। हम यहां यह पूछना चाहते हैं कि, जो जनता को अज्ञ कहते और लिखते हैं इतना ही नहीं, ऐसी अज्ञ जनताके सुधारके लिये '**संपूर्ण विश्व अनात्मा है,**' ऐसा भ्रान्त ज्ञान का तेढा मार्ग भी बताते हैं, वे तो स्वयं सब विश्व को भगवान् मानते ही होंगे ? या वे वैसा मानते नहीं, अथवा वे इस सत्य सिद्धांत को समझते भी नहीं ? इस विषय की सत्य बात वे प्रकाशित करेंगे, तो अच्छा होगा।

अच्छा, जनता 'विश्व भगवान् ही है' यह नहीं जानती। क्या जनता इतना ही नहीं जानती ? देखिये, इस भूमीपर दोसौं करोड आबादी है। क्या यह सब जनता ईश्वर के अस्तित्व को मानती है ? ईश्वर को समझकर माननेवाले इनमें कितने हैं। 'ईश्वर है' इतना मानना यदि पर्याप्त है, ऐसा मांना जाय और ईश्वर के अस्तित्व को समझ ने की जरूरत न होगी, तब तो ठीक ठीक न समझते हुए '**भगवान् का ही सब रूप है,**' इतना मानना और बोलना उन लोगों से हो सकता है, जो लोग केवल ईश्वर के अस्तित्व को न समझते हुए मान रहे हैं।

समझकर ईश्वर की सत्ता मानना, यह उतना ही कठिन है, जितना इस विश्व के अन्त के विषय में बोलना कठिन है। और यदि न समझकर ईश्वर की सत्ता मानना पर्याप्त है, तब तो वैसे ही न समझते हुए 'भगवान् ही सब विश्व हैं,' यह भी माना जा सकता है। ईश्वर की सत्ता मानना और उसको तीसरे या सातवे आसमान में मानना तथा ईश्वर का दर्शन जन्मजन्मान्तरमें भी न होगा, ऐसा मानना, यह बहुत ही कठिण है। उससे सरल यह है कि, '**ईश्वर को विश्वरूप मानना**'।

और भी एक बात ऐसी है कि, मनुष्यमात्र तो 'विश्वरूप ईश्वर को' तो क्या, पर भोजन करना भी नहीं जानते। यद्यपि प्रत्येक मानव आज अरबों वर्षों से भोजन करते आया है, अनेक भोजन के शास्त्र बने हैं, तो भी मनुष्य यथार्थतया भोजन करना भी नहीं जानता। पशुपक्षी तो अपने अपने भोजन को ईश्वरी प्रेरणा से जानते हैं, अतः उनमें रोगों का इतना प्रचार नहीं है। पर मानवप्राणि भोजन के विषय में इतने प्रमाद कर रहा है कि, उस कारण डाक्तरों, वैद्यों, हकीमों और दवाखानों की संख्या प्रति दिन बढती जाती है।

औषधों की संख्या की वृद्धिसे पता लगता है कि मनुष्य न भोजन की विधिको जानता है और न रहनेसहने को जानता है। फिर वह सब भूत ईश्वरके रूप हैं, इस सिद्धान्त को न जानता होगा, तो उसमें आश्चर्य क्या है ? अब मनुष्यों को ज्ञाता वैद्य यदि उपदेश करने लगें, तो क्या उपदेश करें ? अन्न न खाते हुए पत्थर खाने लगो, ऐसा उपदेश करें कि, सात्विक अन्न खाओ, ऐसा ही सत्य सिद्धांत कहें। इस का विचार पाठक करें। सत्य सिद्धांत का ही उपदेश होना चाहिये। अपसिद्धान्त का नहीं।

मानवप्राणि का अज्ञान सब क्षेत्रों में है। अज्ञान है इसलिये अपसिद्धान्त का उपदेश करना नहीं चाहिये। प्रत्युत सत्य सिद्धान्त ही कहना चाहिये। उसी प्रकार सब विश्व जड और आत्माहीन नहीं है। अतः "**सब विश्व आत्मावाला है, सब विश्व भगवान् है, भगवान् ही विश्वरूप है, प्रत्येक रूप भगवान् का ही रूप है,**' ऐसा ही उपदेश करना चाहिये। और सब को यह भी कहना चाहिये कि तुम सब को भगवान् मानकर जैसा योग्य होगा, वैसा ही आचरण करो, साधन भी यही करो' न समझा तो समझनेवालों से पूछो, संदेह हुआ तो ज्ञानियों से पूछो, पर आप्तवाक्य प्रमाण मानकर विश्व को भगवान् मानकर ही व्यवहार करो।

यदि ऐसा उपदेश किया जाय, तब तो पापी से पापी का भी आचार सुधरता जायगा। पर यदि उक्त सदुपदेश के स्थान पर ऐसा उपदेश किया जाय कि, '**यह विश्व तो अनात्मा, जड है, यह ईश्वर का रूप नहीं है,**' तब तो सदाचार की कसौटी क्या रहेगी ? मंदिर में ही देवता रहती है, ऐसा माननेवाले मंदिरके बाहर अनाचार करेंगेहि, तीसरे अथवा सातवें आसमान में ही ईश्वर को माननेवाले इस भूमिपर अत्याचार करते ही रहेंगे।

अतः सब जनता को एकदम यही कहना चाहिये कि, '**सब विश्व भगवान् ही है।**' यदि यह समझ में नहीं आता, तो आप्तवाक्य, ऋषिवाक्य, महात्मा का वाक्य, वेदवचन है, इसलिये ऐसा मानो। जैसा कानून (Law)

माना जाता है, वह समझते हुए भी मानना चाहिये और न समझते हुए भी मानना ही चाहिये। इसी तरह 'विश्व रूप भगवान् को' चाहे समझकर मानो, चाहे न समझते हुए वेदवचन पर विश्वास रखकर मानो, चाहे जैसा मानो, पर इस सत्य सिद्धान्त को ही मानो, मानकर अपना व्यवहार करो। जो मानव ऐसा मानकर व्यवहार करेंगे, उन का ही व्यवहार निर्दोष होता जायगा और वे कभी न कभी मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

परन्तु ऐसा न मानते हुए जो लोग इस विश्व को जड मानेंगे, वे भ्रान्त ज्ञान के कारण प्रमाद करते रहेंगे, उनका पाप बढता जायगा, और उनकी उन्नति की कोई आशा नहीं रहेगी।

सब विश्व को परमात्मा मानने के स्थान पर जड मानने से जो आत्मघात होता है, उसका स्वरूप बडा ही भयानक है। इस का थोडासा वर्णन हमने इस लेख में किया है।

इस लेख में श्री 'शिव' जी के चारहि वाक्यों का विचार हमने किया है। शेष लेख में एक पृष्ठ में जितने आ सकते हैं उतने वाक्य और हैं। पर चौथे वाक्य से ही भ्रान्त सिद्धांत का प्रारम्भ हुआ है, जो सर्वथा वैदिक सिद्धांत से विपरीत है, अतः सब पाठकों को इस का योग्य विचार करना चाहिये। इसीलिये अन्य लेखका विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

लेखक के विषय में हमारे मन में बडा आदर है, इसलिये उनके चार वाक्यों का यहां हमने यथामति विचार किया है। हमारा पूर्ण विश्वास है कि, श्री 'शिव' जी भी हमारा हृदय देखकर हमें क्षमा करेंगे।

अहल्या का जार।

[लेखक श्री० देवराज विद्यावाचस्पति]

अहल्या गोतम की स्त्री थी। गोतम का अर्थ चन्द्र है। सूर्य के ग्रह, उपग्रहों में सब से अधिक गतिशील होने से चन्द्रमा का नाम गोतम है। चन्द्रमा का नाम निशापति प्रसिद्ध है, इसलिये निशा चन्द्रमा की स्त्री है। निशा अहल्या है और चन्द्रमा गोतम है। दोनों में पति-पत्नीभाव है। इसलिये अहल्या गोतम की स्त्री है ही और गोतम अहल्या का पति भी है ही।

चन्द्रमा की किरणों से तारों वा नक्षत्रों का प्रकाश शुक्लपक्ष में क्षीण होता ही रहता है। मानो चन्द्रमा रातभर तारों से युद्ध करता करता उन्हें क्षीण करता रहता है। चन्द्रमा गोतम है और तारा नक्षत्र सब असुर है।

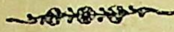
"**असून् विविधान् प्राणान् राति इति असुराः ताराः।**"

विविध प्रकार के प्राणों का प्रदान तारा करते हैं, इसलिये तारा असुर हैं। इन असुरों का गोतम के साथ रातभर युद्ध रहता है। युद्ध करते करते गोतम (चंद्रमा) निशावसानमें क्षीण होने लगता है, अर्थात् गोतम (चंद्रमा) का तेज मन्द पडने लगता है और गोतम (चंद्रमा) बहुत थककर मानो विश्राम के लिये चला जाता है। जैसा चंद्रमा रात्रि के समय तेजस्वी था, वैसी ही तेजस्विता को धारण करके सूर्य दिन के प्रारम्भ में प्रकट होता है और तारों को एकदम अस्त कर देता है, तथा सूर्य के उदय होते ही रात्रि भी जीर्ण हो जाती है— उसकी आयु समाप्त हो जाती है। सूर्य इंद्र है। तारा असुर हैं। रात्रि अहल्या है, क्योंकि (**अहनि लीयते**) दिन में लय (नष्ट) हो जाती है। चंद्रमा गोतम है। इस प्रकार गोतम असुरोंके साथ युद्ध करते करते जब क्षीण हुआ, तब इंद्रने असुरों को परास्त किया और अहल्याके साथ मिलकर उसको भी क्षीण कर डाला।

रमण करने के काल का नाम राम है, '**रमंते जनाः यस्मिन् स कालः रामः**' सायंकाल दोनोंके- ध्यानियों और कामियों के रमण का काल है। इस राम का अर्थात् सायंकाल का पदार्पण होते ही उस क्षीण अहल्या में फिर चेतनता आ गई, वह जागृत होकर फिर अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हो गई। सायंकाल का पदार्पण ही इंद्र (सूर्य) के प्रभाव को क्षीण करता है, वही राम है, राम का अर्थ काला है।

आदिकवि श्रीवाल्मीकि-महामुनि--प्रणीत

रामायण का भाषानुवादसमेत मुद्रण।



आदर्श पुरुषों में मर्यादापुरुषोत्तम श्री दाशरथी रामचंद्रजी का सुरम्य, मनोहारी चरित्र अत्यंत बोधप्रद है। श्रीरामचन्द्रजी के अनेक चरित्र हैं, परन्तु आदिकवि श्रीवाल्मीकिद्वारा जो रामायण निर्माण हुआ, वही सबसे प्राचीन और सबों में प्रामाणिक माना जाता है।

वाल्मीकिमुनिने आदिकाव्य जैसा बनाया, वैसाही शुद्ध रूप में भाषानुवादसहित जनताको देनेका संकल्प हमने किया है।

मुद्रण कैसा होगा?

श्रीवाल्मीकिरचित श्रीरामायण के सब श्लोक पृष्ठके ऊपर दिए जायँगे और नीचे इन श्लोकोंका सरल भाषानुवाद दिया जायगा। अनेक स्थानोंपर टिप्पणियां देकर मूल ग्रंथ का आशय स्पष्ट किया जायगा। अयोध्या, किष्किंधा, लंका आदि नगरों के नकशे (Maps) देकर इनकी सभ्यता किस प्रकार की थी, रामायण के समय युद्धनीति कैसी थी, सेनापति सेनाके व्यूह किस तरह करते थे, रामरावणके युद्ध का युद्धक्षेत्र कितना बडा था, अन्तमें रावण क्यों हार गया और श्रीरामचन्द्रजी विजयी कैसे हुए, यह सब युद्ध के नकशों के चित्र दर्शा कर बताया जायगा।

श्रीवाल्मीकीय रामायण के ७ काण्ड हैं। इन सातों कांडों के १० ग्रंथ होंगे- (१) बालकाण्ड का १ ग्रन्थ, (२) अयोध्या-काण्ड के २ ग्रन्थ, (३) अरण्यकाण्ड, (४) किष्किंधाकाण्ड और (५) सुन्दरकाण्ड का प्रत्येक एक एक ग्रंथ, (६) युद्धकाण्ड के ३ ग्रंथ और (७) उत्तरकाण्ड का एक ग्रंथ, इस तरह ये ७ काण्ड १० ग्रंथों में प्रकाशित होंगे।

प्रत्येक ग्रंथ में दो चित्र रंगीन होंगे और कई सादे एकरंगी चित्र होंगे। इन के अतिरिक्त कई नकशे और दूसरे चित्र दिये जायँगे।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रंथों में होगा। प्रत्येक ग्रंथ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महिनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षोंमें ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रंथ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। इनका वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) सौ रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Aundh, (Dist, Satara)

वैदिक देवता।

(लेखक- श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति)

(पिछले अंकसे)

मनुष्य अपने व्यवहार के अनुसार इनकी गतिके नियम को बदलना चाहता है, परन्तु चूंकि इनके अटल नियमों को बदल नहीं सकता, अतः दुःख उठाता है और मृत्युको प्राप्त होता है; परन्तु जो मनुष्य इनकी गति के अनुसार ही अपने व्यवहार को रखता है, वह सुख भोगता है, कार्यों में सफल होता है और मृत्यु पर विजय पाता है। जहां मनुष्य इनके अनुसार अपने कार्यों को नहीं रखता, वहां ही उसकी वृत्तियों में विक्षोभ उत्पन्न होता है। उन वृत्तियों को ठीक करने के लिये, निरोध करने के लिये वा उस पाञ्चभौतिक गतिके साथ युक्त होनेके लिये ही भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों का जप आवश्यक होता है। ज्यूं ज्यूं वृत्तियां उनकी गति के साथ युक्त हो जाती हैं, त्यूं त्यूं शान्ति वा आनन्द बढता है, पूर्ण युक्तता वा समता होने पर, अर्थात् आकाश से पृथिवीतक की गति दिग्देशकाल के अनुसार व्यवस्थित होने पर पूर्णता प्राप्त होती है, समृद्धि बढती है और तभी सर्व शक्तियों के संग्रहपूर्वक अपने कारणमें लीनता के अनुसार पृथिवी से आकाशतक लय की क्रिया आरम्भ होती है, यह ही पृथिवी से आकाश तक की गति ऊर्ध्वगति वा देवयान पन्था कहलाती है।

तभी विरक्त मनुष्य सूर्यद्वार से उस स्थान को प्राप्त होते हैं, जहां वह अमृत पुरुष अव्ययात्मा विराजता है, दूसरे मनुष्य जो प्रेय मार्ग का ही अवलम्बन करते हैं, वे आकाश से पृथिवीतक की सीढी को पूर्ण करके भी चन्द्र-द्वार से ऊपर जाकर फिर लौट आते हैं, तीसरे वे मनुष्य हैं, जो आकाश से पृथिवीतक उन्नति ही नहीं कर सकते, अतः वे नाना योनियों में कर्मफलों को भोगते हुए घूमते रहते हैं, चौथे वे भी हैं, जो उन्नति की चरम सीमा को पहुंच कर ब्रह्मद्वार से मोक्षपदवी को प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य उर्ध्वगति को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये आवश्यक है कि वे प्रथम उन्नति के मार्ग को समाप्त करें। जो मनुष्य आकाश से पृथिवीतक वर्तमान अपनी शक्तियों का सञ्चय किये बिना पहिले ही उर्ध्वमार्ग में प्रयत्न करने लग जाते हैं, वे नाना प्रकार से पीडित होते हैं। जिन शक्तियों का संचय करना होता है, वे देवतारूप से ही उस उस केन्द्र में वर्तमान हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि, पहिले सब दैवी शक्तियों को अपने अन्दर धारण कर ले, जिससे कि उसे ऊर्ध्वमार्ग में चढने को कोई कठिनता उपस्थित न हो, प्रत्युत उनकी सहायता से, सुगमता से चढ सके।

शरीर के अन्दर दो नाडी ऐसी हैं, जो बारी बारी से अपना प्रभाव विशेष शरीर पर डालती रहती हैं। मनुष्यमें ज्ञान, दीपन, द्योतन का कार्य चञ्चलता और स्फूर्ति का कार्य है। वह दक्षिण नाडीका प्रभाव है, और जो स्थिरता, गम्भीरता, विचार और पुष्टिसम्बन्धी कार्य है, वह वाम नाडी का कार्य है। दक्षिण नाडी में देवशक्ति और वाम नाडी में पितृशक्ति निवास करती है। देवशक्ति दीपन और द्योतनशक्ति है तथा पितृशक्ति पालनपोषण शक्ति है। दक्षिण नाडी से वाम नाडी की ओर गति उत्तरायण गति वा देवयान पन्था है, क्योंकि इस मार्ग से देवगमन करते हैं, तथा वाम नाडीसे दक्षिण नाडी की ओर गति दक्षिणा-यन गति वा पितृयाणपन्था कहाती है, क्योंकि इस मार्ग से पितर गमन करते हैं।

शरीर के अन्दर देवों की, पितरों की तथा पाञ्चभौतिक केन्द्रों की कल्पना आपेक्षिक दृष्टि से है। जैसे कोई वस्तु किसी की अपेक्षा पूर्व में स्थित कहाती है, तथा किसी अन्य की अपेक्षा पश्चिम में, जैसे कोई मनुष्य किसी की अपेक्षा छोटा और किसी की अपेक्षा लम्बा प्रतीत होता है, जैसे प्रदेशों में दूरता, निकटता आपेक्षिक होती है, इसी प्रकार इस पाञ्चभौतिक शरीर में प्रत्येक अंश जो पंच-भूतों के योग से बना है, उसके जिस अंश में जिस देश-काल में जिस भूत की प्रधानता होती है, उसी भूत के नाम से वह अंश कहाता है; इसलिये इन भूतों के जो केन्द्र बताये गये हैं, वहां उस उस भूत की प्रधानता से वह केन्द्र उस उस भूतवाला कहाता है, इसका

यह अर्थ नहीं कि, उस स्थान में अन्य भूतों का समावेश नहीं है। अन्य भूत भी उस उस केन्द्र में रहते हैं और समय समय पर वे भी अपना अपना प्रभाव प्रकट करते हैं, परन्तु मुख्यता उस उस भूत की ही होती है, जो जो जहां जहां प्रधान होता है और उस उस प्रधान भूत के प्रभाव के नीचे अन्य भूतों का प्रभाव भी सर्वत्र एकसा नहीं रहता, किन्तु वह भी बदलता रहता है।

इन पञ्चभूतों के आश्रय देवशक्तियां और पितृशक्तियां निवास करती हैं। जो पञ्चभूत उष्ण हैं, कठोर हैं, चर हैं, तीव्र हैं, जिन में दृढता है, जो वृद्धि करते हैं, वे देवगुणवाले होने से देवों के वास के हेतु हैं, वा यूं समझिये कि उन के विकासोन्मुख परिवर्तन के कारण प्रकट हुई वृत्तियां देववृत्तियां कहाती हैं वा देवताओंका आविर्भाव कहा जाता है। जो भूत शीत हैं, कोमल, हैं, मन्द हैं, स्थिर हैं, उन के अधीन जो वृत्तियां हैं, वे पितृवृत्तियां हैं वा पितरों का आविर्भाव कहा जाता है। ये देव और पितृवृत्तियां पञ्चभूतों की अनुलोमगति से वा विकासोन्मुख गति से उत्पन्न होती हैं। जब पूर्ण विकासतक बिना पहुंचे, उन की विपरीत गति होती है, तब हिंसा, क्रूरता, ढीठता कामक्रोधलोभ और अहंकार आदि रज और तम के तारतम्य से मंद और तीव्र वेग के अनुसार आसुरी, राक्षसी और पैशाची वृत्तियां पैदा होती हैं।

इन पञ्चभूतोंमें वायु और जल शीत, कोमल, स्थिर, मंद आदि गुणवाले हैं, वे पितृवृत्तियों के आविर्भावक हैं। तेज और पृथ्वी उष्ण, कठोर, चर, तीव्र, दृढता आदि गुणवाले हैं। वे देववृत्तियों के आविर्भावक हैं। पहिले समूह को यदि तामसिक कहें, तो दूसरा समूह राजस कहलायेगा और आकाश दोनों समूहों के बीच में सात्विक है। पञ्चभूतों के आधार पर इस प्रकार देवताओं की कल्पना नई नहीं है, किन्तु इस के लिये प्रमाण भी हैं।

देव, पितृ और पाञ्चभौतिक आधार रखनेवाली संज्ञायें सब आपेक्षिक हैं। पूर्वोक्त पाञ्चभौतिक विभाग ही ३३ देवताओं के विचार का आधार है। सारे देवता नीच से नीच पुरुष के भी इस भौतिक शरीर में ही रहते हैं और प्रत्येक स्थान में शिव अपनी शक्ति के साथ विद्यमान हैं, अर्थात् सम्पूर्ण देवता शिव के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। वस्तुतः एक ही देवता है, परन्तु स्थानभेद से और कार्यभेद से उसी के भिन्न भिन्न नाम हैं। चूंकि सारी देवता शरीर में ही तिरोभूत हैं, अतः भोग को वा मोक्ष को किसी को भी चाहनेवाला मनुष्य अपने वा पराये शरीर का ही अन्वेषण करे, जिस से कि देवताओं की पूजा कर सके। देवताओं के पूजन का अर्थ शरीर में विद्यमान आत्मा की भिन्न भिन्न शक्तियों से उचित कार्य लेना है।

शरीर में देवताओं का निवासस्थान मेरुदण्ड है। मेरुदण्ड को ही मेरुपर्वत कहते हैं। प्रकृतिपुरुष अथवा स्त्रीपुरुष (Active and passive principles) के मिलने के पश्चात् सब से पूर्व मेरु ही उत्पन्न होता है। इसी मेरु का नाम आकाश तथा धर्म है। यही जगत् का कारण है। इसीको माया और प्रकृतिनामों से कह दिया करते हैं। यह मेरु वेदमय है। मेरु के चार शिखर चार वेद हैं। शरीर में विद्यमान मेरु के २१ छोटे छोटे खण्ड हैं। मेरु में एक छिद्र मस्तिष्क तक गया हुआ है, उसी को सुषुम्ना वा ब्रह्मनाडी कहते हैं। इसके दायें, बायें, पिङ्गला और इडा नाडी विद्यमान हैं। यह मेरु देवभूमि है। यह सप्तद्वीपा वसुमति है। इसी में ३३ यज्ञिय देव विद्यमान हैं।

वसुमति के मुख्य स्थान मेरु पर स्थित ब्रह्मा (उत्पादक और प्रेरक शक्ति = सविता) सात लोकों और मेरु को उत्पन्न तथा प्रेरित किया करते हैं। इस का अभिप्राय वेद और धर्म की उत्पत्ति से है। ब्रह्मा नाम पवित्र बुद्धि वा ज्ञान का है जो वेदों के रूप में प्रकट हुई है और लोकों (परमात्मा के ऐश्वर्यों = The glories of God) को प्रकट कर रही है तथा जो मुक्ति प्राप्त होने से पहिले अर्थात् सम्पूर्ण बन्धनों वा पाशों पर अधिकार प्राप्त करने से पहिले अवश्य अनुभूत होनी चाहिए। इस के अनुभव के पश्चात् ही प्रकृतिपुरुष का विवेक होकर स्वरूपप्रतिष्ठा और कैवल्यलाभ होता है।

(६)

देवताओं की संख्या।

निरुक्तकार यास्क नैरुक्तों का प्रमाण देते हुए तीन देवताओं का कथन करते हैं- अग्नि, इन्द्र वा वायु और सूर्य। अग्नि का स्थान (पद = position) पृथिवी है, वायु और इन्द्र का स्थान (पद) अन्तरिक्ष है, सूर्य का स्थान

यु (आकाश) है। उतरते क्रम से (अनुलोम गति में) आकाश से पृथिवी की ओर को आते हुए सूर्य, वायु, इंद्र, अग्नि इस प्रकार क्रम रहेगा और चढते क्रम से (प्रतिलोम गति में) पृथिवी से आकाश की ओर जाते हुए अग्नि को प्रथम स्थान देंगे, फिर इंद्र, फिर वायु और फिर सूर्य को।

इस प्रकार निरुक्तकार यास्क देवताओंका विभाग वा क्रम पञ्चतत्वों के अनुसार करते हैं, तथा वह ही उनका स्थान (पद) मानते हैं, जो पञ्चतत्वों का है। जिन पञ्चतत्वों से यह सारी सृष्टि बनी है, जिन पञ्चतत्वों के गुण और कर्म इस सृष्टिके एक एक पदार्थमें जिस जिस प्रकारसे विद्यमान हैं, उसी उसी प्रकार से, उसी उसी मात्रा में, उसी उसी मिलाप में आत्माने अपने आप को विकसित करके भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न नाम प्राप्त करते हुए उन्हीं पञ्चतत्वों के कार्योंमें विद्यमान गुणों को प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं, जिन्हें हम देवता कहते हैं।

इस प्रकार पञ्चतत्वों के आपस के सम्बन्ध के अनुसार देवताओं का सम्बन्ध इस प्रकार जोडा जा सकता है। सूर्य आकाशस्थानीय है, वायु और इंद्र क्रमशः वायु और तेज स्थानीय हैं, तथा अग्नि, जल और पृथिवी स्थानीय है। इस क्रम में सूर्य एक ध्रुव (कोटि= सिरा= छोर) है और अग्नि उस में दूसरा ध्रुव है। सूर्य धनात्मक हैं और अग्नि ऋणात्मक है और वायु तथा इंद्र दोनों बीच में आपेक्षिक भाव से उभयात्मक हैं। आकाश से पृथिवी तक और पृथिवी से आकाशतक जाने में जितनी भी मध्यवर्ती अवस्थायें आती हैं, उतनी ही देवताकल्पना अधिक अधिक हो सकती है और कल्पनाशक्ति इतनी दौडती है कि, अनन्त देवताओं की कल्पना हमारी कल्पना को भी अतिक्रमण कर जाती है। यास्काचार्यने एक ही आत्मा को मुख्य देवता मानकर उसीके अग्नि, इंद्र, वायु और आदित्य चार भेद स्थान और कर्मभेद से कर दिये हैं। इन देवताओं को भी बहुरूप होने से एक एक के अनेक भेद स्वीकार किये हैं।

उपनिषद् और देवता।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अध्याय तीनके ९ वें ब्राह्मणमें विदग्ध शाकल्य और याज्ञवल्क्य का देवताविषय में सम्वाद है। शाकल्यने याज्ञवल्क्य से पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! देव कितने हैं ? पहिले याज्ञवल्क्यने ३३०६ कहे। फिर पूछने पर कहा कि ३३ हैं। फिर पूछा तो कहा कि ६ हैं। फिर पूछ तो कहा कि ३ हैं। फिर दो, फिर डेढ और फिर एक बताया। इस प्रकार से एक से ही सब देवताओं का विकास बतलाया। शाकल्यने जब पूछा कि ३३०६ देवताओं का क्या अर्थ है, तो याज्ञवल्क्यने कहा कि देवता तो ३३ हैं, परन्तु इन की महिमा ३३ कोटि है। तेंतीस देवताओं का विस्तार इस प्रकार किया है— आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इन्द्र तथा प्रजापति। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् को पढने से प्रतीत होता है कि, निरुक्तकार यास्क की तरह उपनिषत्कार भी एक ही ब्रह्म से सब देवताओं का विकास मानते हैं।

एक अव्यक्त ब्रह्म जो आकाशवत् सर्वव्यापक है, उसी में जब आगे विकसित होने की प्रवृत्ति होती है, तो वह द्वन्द्वमयी अवस्था को प्राप्त होता है, उस में संबन्ध होने शुरू हो जाते हैं। संबन्ध पैदा करना वायु का धर्म है, अतः कह सकते हैं कि, वायुकी अवस्थामें आकर वह द्वन्द्वमयी अवस्था को प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे आगे विकसित होते होते विकास की प्रक्रिया में जब अव्यक्त से व्यक्त रूप में और अधिक आता है, तो तेज की अवस्था में आकर त्रित्व धारण करता है। तब पुरुष, स्त्री नपुंसकभेद से वा रज, तम और सत्त्वरूपसे वा धन, ऋण और उभयात्मक रूपसे वा अति न्यून और मध्य रूपसे या positive, Negative and Middle भेद से तीन अवस्थायें हो जाती हैं। फिर अति और न्यून की मध्य के साथ और दो अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं और सब के मिश्रण की ६ ठी अवस्था को लेकर उसी के छः रूप हो जाते हैं। फिर वे छः रूप ३३ और इस से भी अधिक अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

वेद के ३३ देवताओं का ६ में अन्तर्भाव।

अथर्ववेद में ३३ देवताओं का वर्णन है। उन का स्थान शरीरमें गात्र हैं। उन्हीं ३३ देवोंको पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थीने काल (Time), देश (Locality), परमात्मा (Force), जीवात्मा (Human spirit), अन्तःक्रिया (Deliberate activities), और बाह्य क्रिया (Vital activities) इन छः रूपों में अन्तर्भूत किया है।

३३ देवता ।

३३ देवताओं का ग्रंथों के अन्दर अनेक प्रकार से विभाग है। वेद में भी तेंतीस देवताओं के लिये अनेक मंत्र आये हैं, वेद में अनेक मंत्र ऐसे भी हैं, जिनमें वसु, रुद्र और आदित्य का इकट्ठा नाम लेकर वर्णन किया है। वेद में एक स्थान में ३३३९ देवोंने अग्नि की पूजा की, ऐसा वर्णन आया है। देवों के व्यक्त रूपका उत्पत्तिस्थान आत्मा है, उसके शब्द ही सुनाई देते हैं, उसका रूप नहीं है और वह आत्मा वात है।

वेद में बतलाया है कि आदित्य द्युलोक में निवास करनेवाले, रुद्र अन्तरिक्षलोक में और वसु पृथिवीलोक में। जिस प्रकार भाषामें ' निवास करनेवाले ' शब्द सबके साथ लगाना नहीं पडता और अर्थ का बोध होता है, इसी प्रकार ' क्षामा ' शब्द केवल ' द्यावा ' के साथ मन्त्र में लगा दिया है। पृथिवी और अन्तरिक्षके साथ स्वयं अपने अर्थ को कह रहा है।

" आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् । "

पहिले बतलाया जा चुका है कि, निरुक्तकार यास्क ने 'अग्निः पृथिवीस्थानः, आदित्यो द्युस्थानः' ऐसा कथन किया है, अतः 'रुद्रोऽन्तरिक्षस्थानः' ऐसा ही मानना पडता है। इसी लिये मंत्रमें आदित्य, रुद्र, वसुके क्रमको बदल कर आदित्य, वसु, रुद्र ऐसा क्रम अर्थ करते समय कर लेना चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण में ३३ देवताओं का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण में ३३ देवताओं का उल्लेख दो प्रकारसे है। ३३ देवताओं के इन उपर्युक्त तीनों वर्णनों में वसु, रुद्र और आदित्य को छोडकर शेष दो दो देवता ये हैं—

१. प्रजापतिः	२. वषट्कारः
१. द्यावा	२. पृथिवी
१. इंद्रः	२. प्रजापतिः

इनमें प्रथम प्रथम का आदि को और दूसरा दूसरा अन्त को बताता है। प्रजापति शब्द अपने भिन्न भिन्न अर्थों को रखने से एक स्थान में आदि को और दूसरे स्थान में अन्त को बतलाता है।

शतपथ ब्राह्मण (११, ६, ३, ६) में आठ वसु निम्नलिखित प्रकार से कहे हैं- अग्निः, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा, नक्षत्र ये आठ वसु हैं। प्राणिमात्रमें दश प्राण और एक जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र होते हैं- प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, आत्मा ये ग्यारह रुद्र हैं। बारह मास बारह आदित्य हैं। इंद्र नाम अशनि का है और प्रजापति नाम पशुका है। व्यापक कारण शक्ति का नाम अशनि है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा का नाम इंद्र और इस स्थूल शरीर का नाम पशु है।

३३ देवताओं का विभाग जहां वसु, रुद्र और आदित्य के रूप में नहीं किया; परन्तु द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी में एकादश के विभागसे किया है, वहां विरोध नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत ऐसा समझना चाहिए कि देवताओं का विभाग भिन्न भिन्न कार्य के लिये भिन्न भिन्न दृष्टिसे किया जाता है। देवता दो प्रकार के माने गये हैं- एक सोमपा और दूसरे असोमपा। वसु, रुद्र आदि तेंतीस देवता सोमपा हैं तथा ग्यारह प्रयाज, ग्यारह अनुयाज और ग्यारह उपयाज असोमपा हैं। ये ही असोमपा देवता पृथिवी, द्यु और अन्तरिक्ष में ग्यारह के विभाग से बतलाये गये हैं। देवताओं के सोमपा और असोमपा होने का अभिप्राय आगे कहा जायेगा।

रामायण (३, २०) में भी ३३ देवताओं का कथन आया है। महाभारत आदिपर्व ६६ अध्यायमें आठ वसुओं के नाम दिये हैं। विष्णुपुराण में भी वे नाम आते हैं, वे नाम शतपथ ब्राह्मण में आनेवाले आठ वसुओं के नामों से अर्थ में भिन्न नहीं हैं, किन्तु एक ही अर्थों को बतलाते हुए ये नाम परस्पर पर्यायशब्द हैं, शतपथब्राह्मण में निर्दिष्ट आठों नाम पंचभूत, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र के वाचक हैं। आध्यात्मिक विचार से उन्हें पञ्चतत्त्व और सूर्य, चन्द्र तथा सुषुम्ना के रूप में कह सकते हैं। इन को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है।

१	२	३	४	५	६	७	८
पृथिवी	अप	तेज	वायु	आकाश	सूर्य	चन्द्र	सुषुम्ना
पृथिवी	अन्तरिक्ष	अग्नि	वायु	द्यौः	आदित्य	चन्द्रमा	नक्षत्र
धरः	प्रभासः	अनलः	अनिलः	अहः	प्रत्यूषः	सोमः	ध्रुवः

अन्तरिक्ष और अपका समानार्थ वेदसे सिद्ध है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में एक मंत्र है, जिसमें 'अप्सु' शब्द आया है। अथर्ववेद में उसी अर्थ का बोधक एक मंत्र है, जिसमें 'अप्सु' के स्थानपर अन्तरिक्षे शब्द आया है। इससे स्पष्ट है कि, अन्तरिक्ष का अर्थ जल है। प्रभास शब्द के अर्थ आप्टे के संस्कृत-इंग्लिश कोष में निम्नलिखित हैं—

प्रभास्-To Lustre, To Wash, To Cleanse।

इससे स्पष्ट है कि, प्रभास का सम्बन्ध भी जल से है। जल के द्वारा धोने से वस्तु स्वच्छ हो जाती है, चमकने लगती है। भिन्न प्रतीत होनेवाले शेष नामों की समानता निम्न प्रकार से है—

अहः- The sky } आकाश
द्यौः- The sky

प्रत्यूषः = The sun } सूर्य
आदित्य The sun

नक्षत्र = स्वस्थानात् न क्षरति न चलति यः सः = immovable = स्थिर

ध्रुव = immovable = स्थिर

सुषुम्ना = सुषुम्नम् = Where yogi finds exceedingly happiness.

आनन्द की अति वृद्धि स्थिरता में ही होती है, चञ्चलता में नहीं। अतः सुषुम्ना को ध्रुव कहना उचित है। इस प्रकार पांचों तत्त्व और सूर्य, चन्द्र तथा सुषुम्ना तीनों नाडियां ही आठ वसु कर के अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। पांचों तत्त्वों के केन्द्र, सूर्य (पिङ्गला), चंद्र (इडा) और सुषुम्ना नाडी मेरुदण्ड में विद्यमान हैं। इस प्रकार आठ वसु मेरुदण्ड में स्थित हैं। चूंकि मेरु ही ३३ देवताओंका स्थान है, जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, अतः वसुओं का विचार उपर्युक्त कथनानुसार ठीक प्रतीत होता है।

११ रुद्र तो सर्वत्र १० प्राण और ११ वां जीवात्मा लेनेसे देह के अन्दर ही मेरुमें अपने अपने केंद्रके साथ विद्यमान हैं। कहीं बाहर नहीं हैं। रुद्रः= रुदम् द्रावयति यः सः, जो कष्ट को, बुराई को कठिनता को, मल को, दुःख के साधन को हटाता है, वह रुद्र है।

त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में बतलाया है—

नाम	स्थान	नाम	कर्म
१ प्राण	आस्य, नासिका, हृदय,	६ नागः	उद्गारादि कर्म।
	नाभि, पादाङ्गुष्ठ।		
२ अपानः	गुदा, मेढ्र, ऊरु, जानु।	७ कूर्मः	अक्ष्यादिनिमीलनः
३ उदानः	सर्वसन्धिस्थः, पादयोः, हस्तयोः,	८ कृकरः	क्षुतयोः कर्ता।
४ समानः	सर्व गात्रेषु।	९ देवदत्तः	निद्रादि कृत्।
५ व्यानः	श्रोत्र, ऊरु, कटि, गुल्फ, स्कन्ध.	१० धनञ्जयः	मृतगात्रस्य
	गल।		शोभादिः।

११ आत्मा

इस प्रकार से वहां रुद्रों में से १० प्राणों के स्थान और कर्म बतलाये हैं। पुराणों में इन रुद्रों के भिन्न भिन्न नाम हैं। रुद्र को अग्निमूर्ति कहा है। रुद्रों को मानस अर्थात् मन से उत्पन्न हुआ बताया है। रुद्र को प्राणमय कथन किया है।

अग्नि का ही कार्य है कि, वह वस्तुओं को विश्लिष्ट कर के उन के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है। शुद्ध रूप के करने में ही उस का संहार करने का कार्य भी प्रकट होता है। रुद्र आनन्द को देता है, यह इसी से प्रकट है कि, वह शुद्ध स्वरूपको देता है, अतएव कल्याणकारी है। इस प्रकार जितने भी शिव के नाम हैं, वे सब अपनी सार्थकता को प्रकट करते हुए रुद्र के भाव को सूचित करते हैं।

रुद्र अपने त्रिशूल (सत्व, रज, तम) से सब की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करता है। जैसे जैसे इन तीनों

गुणोंकी समता होती जाती है, वैसे वैसे संहार होता जाता है; क्योंकि इनका वैषम्य ही सृष्टि है और साम्य ही संहार है । जैसे जैसे साम्य होता जाता है, वैसे वैसे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुंचता हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है । अतः रुद्र वा शिव ही जीवको आनन्द देता है। परमात्माकी संहारकारिणी शक्ति का नाम ही रुद्र वा शिव है । इसी को महादेव, शंकर आदि नामों से कहते हैं । रुद्र के सात नाम कहे जाते हैं । पांच तत्त्व, सूर्य, चंद्र और दीक्षित ब्राह्मण, ये आठ रुद्र की मूर्ति कही जाती हैं । सुप्रभेदागम में सृष्टिकर्ता का महत्त्व आध्यात्मिक विचार के लिये बडी उत्तमतासे वर्णन किया है। वहां पर सब लोकोंका क्रमपूर्वक वर्णन तथा सब देवताओं का निवासस्थान बताया है, उसे जानने के लिये वहीं से देखना चाहिए। मैत्रायणी उपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक में प्रजापतिसे सब देवताओं की उत्पत्ति बतलाई है। अथर्वशिर उपनिषद् में रुद्रचरित दिया है, वहां रुद्र के बहुत से नामों की व्याख्या की है ।

उस से स्पष्ट है कि, शरीर के अन्दर रुद्र ही सब प्राणों को चलाता है । रुद्र में सब प्राण रहते हैं । रुद्र ही सब के विकास और लय का कारण है । रुद्र ही ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को चलाता है । रुद्र सर्वदेवमय है । अथर्व-शिख उपनिषद् में ओंकार की व्याख्या करते हुए ओंकार के बहुत नाम दियें हैं और प्रायः वे ही हैं जो रुद्र के हैं, उन से भी रुद्र प्राणात्मक सिद्ध होता है, तथा प्राण, ओंकार और रुद्र इन में सरूपता प्रतीत होती है । ब्रह्मोपनिषद् में बताया है कि, हृदय में सारी देवता और प्राण प्रतिष्ठित हैं । रुद्र का मुख्य स्थान भी हृदय ही बताया है । इस से भी स्पष्ट होता है कि, रुद्र प्राणमय है ।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को सर्व द्वन्द्वों से और सर्व गुणों से अतीत बताकर देव और प्राणों का स्थान कथन किया है । पहिले जो प्राणादि भेद से ग्यारह रुद्रों के नाम, स्थान और कर्म दिये हैं, वे त्रिशिखि ब्रह्मणोपनिषदुक्त शिवयोग-शास्त्र के मत से हैं । गोरक्षपद्धति में उन के स्थानों में कुछ भेद है । सर्व प्राणोंको जो धारण करनेवाला हो, वह आत्मा वा जीव है । पुराण और ब्राह्मण के दिये हुए पिछले कथन से स्पष्ट है कि, रुद्र प्राणमय है, इसलिये कूर्मपुराण तथा काशीखण्ड महाभारत आदि में जो नाम आते हैं, वे प्राणादि ग्यारह रुद्रों के पर्यायशब्द ही समझने चाहिएं । किसका पर्याय कौनसा है, यह निश्चय करना कठिन है और इसका स्पष्टीकरण भी कहीं मिला नहीं, तो भी अर्थों के कुछ सादृश्य से इस प्रकार मिलाता हूं—

१	२	३	४	५	६
आत्मा,	प्राणः,	अपानः,	व्यानः	समानः,	उदानः,
अजः,	एकपाद्,	अहिर्बुध्नः,	पिनाकी,	त्र्यम्बकः,	शंभुः,

७	८	९	१०	११
नागः,	कूर्मः,	कृकलः,	देवदत्तः,	धनञ्जयः,
ईश्वरः,	वृषाकपिः,	हरणः,	अपराजितः,	महेश्वरः,

रुद्र के विषय में इतना लिखने के पश्चात् अब आदित्य के विषय में कुछ लिखता हूं ।

वराहपुराण में बताया है कि, आत्मा जो ज्ञानशक्ति है, वह एक ही था । उसने जब दूसरे की इच्छा की, तो तेज उत्पन्न हुआ, वह तेज ही सूर्य है तथा सारे जगत् का आदि होने से आदित्य कहाता है । अव्यक्त का नाम भी महाभारत में आदित्य बताया है । महाभारत शान्तिपर्वगत वसिष्ठ याज्ञवल्क्यसम्वाद को पढते हुए जहां यह मालूम होता है कि, अव्यक्त नाम सूर्यका है, वहां यह भी मालूम हो जाता है कि, सोमनाम जीव का है और सोम की षोडश कला जीव के सम्बन्ध से कही गई हैं । गीता में भगवान् कृष्ण ने बताया है कि, अव्यक्त से सब भूत उत्पन्न हुए हैं । व्यक्त रूपसे स्थित हैं और उसीमें लय हो जाते हैं। अव्यक्त को ही प्रधान, प्रकृति, शक्ति, उमा आदि नामों से कहते हैं । पीछे इसी अव्यक्त का ज्ञान और सूर्य नाम बताया है । अव्यक्त से जो परे है, उसे सांख्यशास्त्र में पुरुष कहा है, वह २५ वां तत्त्व है । अव्यक्त के २४ विभाग किये हैं, अव्यक्त सकल है और पुरुष निष्कल है, इसी प्रकार सूर्य को अव्यक्त कहा है और सूर्य से परे जो अतिसूर्य है, उसे निष्कल कहा है, इसीको विद्या वा ज्ञान वा पञ्चविंशक बताया है । अतएव सूर्य जो अव्यक्त है, उसे चौवीस तत्त्वों में विभक्त समझना चाहिए । इसी अव्यक्त को सब जगत् का आदि होने से आदित्य नाम दिया है । इस प्रकार सांख्यसिद्धांत के अनुसार द्वादश आदित्यों का विचार प्रकृति और पुरुष के संयोग से विद्यमान इस विकास में ही घटता है ।

जिस प्रकार पांच भूत, सूर्य, चन्द्र और ध्रुव (नक्षत्र) इस बाह्य और आन्तर जगत् में आठ वसु गिनाये थे और आत्मा तथा प्राण एवं परमात्मा तथा मरुद्गण अन्तःबाह्य जगत् में रुद्ररूप से विद्यमान हैं, इसी प्रकार द्वादश आदित्य भी ' द्वादश मासा वै आदित्याः ' इस रूपसे बाहर और भीतर विद्यमान हैं। बाहर तो द्वादश मास करके प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु भीतर द्वादश मास किस प्रकार हैं, इसके लिये पहिले कालविभाग का आन्तरीय रूप जानना चाहिए। सुप्रभेदागम में इस प्रकार निरूपण किया है कि, जो काल को उत्पन्न करता है, जो देव और प्राणियोंके उत्पत्ति संहार का वास्तविक कारण है, वह काल है। कालके इस प्रकारके होने पर ही उत्पत्ति और संहार हो रहे हैं। कुछ तो कालके अनुसार बढते हैं और कुछ काल के चक्र में ही पडे रहते हैं। काल दो प्रकार का है– १ स्थूल, २ सूक्ष्म, पहिला सांसारिक है और दूसरा योगियों के लिये हैं। स्थूल काल भी चन्द्रसूर्य की गतिभेद से मनुष्य और देवों के लिये क्रमशः है। पृथिवीतत्त्व से शिवतत्त्व तक सत्त्वकाल कहा है। इसमें ईश्वर, आत्मा, सदाशिव, नादान्त और शक्तिका शिवतत्त्व तक लय होना कहा है, कालपरिमाण—

३ श्वास– १ सूक्ष्म प्राण

६ सूक्ष्म प्राण– १ सूक्ष्म घडी

६० सूक्ष्म घडी– १ सूक्ष्म अहोरात्र

इत्यादि स्थूल कालमान की तरह सूर्य, चन्द्र, उत्तरायण, दक्षिणायन, अमावास्या, विषुव, मास, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण इन परिभाषाओं का वर्णन श्री जाबालदर्शनोपनिषद् में इस प्रकार किया है —

चन्द्र= इडा नाडी प्रवाहित श्वास (वाम नासापुटसे)

सूर्य= पिङ्गला नाडी प्रवाहित श्वास (दक्षिण नासापुटसे)

उत्तरायण- पिङ्गला से इडा में वायु का संक्रमण।

दक्षिणायन- इडा से पिङ्गला में वायु का संक्रमण।

अमावास्या- इडा पिङ्गलाकी संधि में आया हुआ प्राण।

विषुव- (New year's day)- मूलाधार में गया हुआ प्राण।

मास- निश्वासोच्छ्वास।

चन्द्रग्रहण- इडा से कुण्डलीस्थान में आया हुआ प्राण।

सूर्यग्रहण- पिङ्गला से कुण्डली स्थान में आया हुआ प्राण

शिवमहापुराण में बताया है कि, ब्रह्मप्राप्ति के साधन ध्यानयोग के दो मार्गों में से एक उत्तरायण मार्ग है, अर्थात् सूक्ष्म नाडी के द्वारा उत्तम अवस्था को पहुंचना है और दूसरा मार्ग दक्षिणायन का है, जिसमें मनुष्य ह्रास की ओर जाता है। सम्वत्सर शब्द का अर्थ है, ' समस्तानि हि भूतानि एतस्मिन् संवसन्तीति संवत्सरः ' अर्थात् इसमें समस्त भूत (तत्त्व) रहते हैं। इस कारण संवत्सर है। उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मिलकर १ सूक्ष्म वर्ष होता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में बतलाया है कि, प्राण और अपान के बल से श्वास दायें, बायें स्वर में बदलता है और यह दिन में २१६०० बार जपा जाता है। योगी लोगों का इस पर ध्यान लगाना अजपा मंत्र कहाता हैं, यह पापों के नाश के लिये पर्याप्त समर्थ है। १०८० सूक्ष्म श्वास एक सूक्ष्म दिन के बराबर हैं, सूक्ष्म दिन, मास और वर्ष का सम्बन्ध स्थूल दिन, मास और वर्षके साथ १: २० का है। उत्तरायण और दक्षिणायन मिलकर एक वर्ष होता है और यह एक श्वासके बराबर है, जो दोनोंसे बना है। यह सूक्ष्म वर्ष है, जो २० स्थूल वर्ष के प्रभाव का मान रखता है। इस प्रकार २१६०० श्वास ४३२००० स्थूल वर्षों के बराबर होते हैं, यह संख्या कलियुग के वर्षों की संख्या के बिलकुल समान है।

इस सब का अभिप्राय यह है कि मानुषीय एक दिन की यौगिक गणना इतनी है। इसी प्रकार द्वापरके ८६४००० वर्षों की संख्या जो कलियुगसे दुगनी है, उसके प्राप्त करने के लिये एक दिनकी परिगणना को स्थिर रखकर, सूक्ष्म का स्थूल के साथ अनुपात १९ श्वास की १ सूक्ष्म घडी के स्थान में, श्वासों की संख्या में कमी करके, ९ श्वास की एक घडी कर ली जायगी, तो अनुपात २१६००, ९×६०=४० होगा। प्रत्येक दिन के श्वासों की संख्या के अनुसार स्थूल वर्ष २१६००×४०- ८६४००० हो जावेंगे। इसी प्रकार यौगिक विधि से श्वासों की कमी त्रेता और कृतयुग की संख्याओं को प्रकट करेगी। द्वापर से दुगना त्रेता और त्रेता से दुगना कृतयुग होता है। इस प्रकार काल का विचार करते हुए ब्रह्मदिन, ब्रह्मरात्री तथा ब्रह्मवर्ष और इससे भी अधिक गणना हो सकती है। मास, अर्धमास, ऋतु तथा अयनोंकी गणना का भी क्रम स्वयं समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार मनु और मन्वन्तर का विभाग भी मनुष्य के प्राणों को

गति के ही आश्रय है, मैं इस कालविभाग के बहुत विस्तार में न जाता हुआ द्वादश मासों के देवता, तथा भिन्न भिन्न ग्रन्थों में आये हुए उनके नामों का निर्देश करता हूं।

हरिवंशपुराण में द्वादशादित्यों की कथा में आदित्यों की उत्पत्ति और संख्या बतलाई है। वहां बताया है कि, आदित्य का पिता कश्यप और माता अदिति है। कल्पान्तरपुराण में आदित्यों की उत्पत्तिविषय में कुछ भेद है। आदित्यहृदय में नामभेद से आदित्यभेद दिखाया है। विष्णु धर्मोत्तर भारत में भी १२ आदित्य गिनाये हैं। इन नामों से यद्यपि महाभारत आदिपर्वगत नामक्रम और नामोंमें कुछ भिन्न हैं, तथापि इनमें कुछ क्रम विद्यमान है। आदित्यहृदय, विष्णुधर्मोत्तरभारत, भारत आदिपर्व और हरिवंशपुराण इनमें आये हुए १२ आदित्यों के नामों का क्रम मासभेद से चित्रद्वारा स्पष्ट किया जाता है और उस उस मास में उस उस आदित्य का जो कार्य है, वह भी दिखाया जाता है। मासों के लौकिक वैदिक दोनों नाम प्रकट किये जाते हैं। एक ही आदित्य भिन्न भिन्न मास में अपने कार्यभेद से भिन्न भिन्न नामों को ग्रहण करता है, यह भी स्पष्ट हो जावेगा।

मास का नाम।		देवता का नाम।				आदित्यों का कार्य।
लौकिक	वैदिक	आदित्य हृदये।	विष्णुधर्मोत्तरे भारते।	भारते आदिपर्वणि।	हरिवंश पुराणे।	
माघ	तपः	अरुणः	धाता	धाता	धाता	यः सर्वाणि भूतानि दधाति। (अपने में सब भूतोंको रखनेवाला।)
फाल्गुन	तपस्यः	सूर्यः	मित्रः	मित्रः	मित्रः	प्रमीतेः त्रायते×- (मृत्यु से रक्षा करनेवाला।)
चैत्र	मधुः	वेदज्ञः	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	वेदं जानाति इति वेदज्ञः। (निश्चित, बढे हुए ज्ञानवाला।)
वैशाख	माधवः	तपनः	रुद्रः	इन्द्रः	शक्रः	यः तपति, दुःखं दुःखहेतुं वा दूरीकरोति सः। (शोधन करनेवाला।)
ज्येष्ठ	शुक्रः	इन्द्रः	वरुणः	वरुणः	वरुणः	यः वृणोति सर्वं स वरुणः। (सब को वश में रखनेवाला।)
आषाढ	शुचिः	रविः	सूर्यः	अंशुः	अंशुः	यः सर्वं सूते। (प्रेरणा करनेवाला।)
श्रावण	नभः	गभस्तिः	भगः	भगः	भगः	यः भजते सर्वं सः भगः। (ऐश्वर्य की प्राप्ति करानेवाला।)
भाद्रपद	नभस्यः	यमः	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	यः यामयति विस्तारयति वर्धते वा सः। (बढानेवाला।)
आश्विन	इषः	हिरण्यरेताः	पूषा	पूषा	पूषा	यः पोषते सः पूषा। (पुष्टि करनेवाला।)
कार्तिक	ऊर्जः	दिवाकरः	सविता	पर्जन्यः	सविता	दिवं प्रकाशं करोति यः सः। (प्रकटरूप, प्रकाश करनेवाला।)
मार्गशीर्ष	सहः	चित्रः	त्वष्टा	त्वष्टा	त्वष्टा	यः त्वक्षति रूपाणि पिनष्टि सः। (रूपों का बनानेवाला।)
पौष	सहस्यः	विष्णुः	विष्णुः	विष्णुः	विष्णुः	वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं यः सः। (फलप्राप्ति करानेवाला।)

आनन्दमय भगवान् की आनन्दमयी सृष्टि में

यह असन्तोष क्यों ?

(गताङ्क से आगे)

(लेखक- पं० रामचन्द्रजी, रि० हेडमास्टर, अम्बाला)

विरोधों की छानबीन ।

पिछले अंकों के लेखों में यह दर्शाया गया था कि किस किस अंश में विविध मतों (मजहबों) में एकता है । प्रथम तो यह एकता ही काफी है, यह समझने के लिये कि विविध सम्प्रदायों में परस्पर विरोध करना और आपस में छोटी छोटी बातों पर लडना सर्वथा निर्मूल और फजूल है । जब कि सम्प्रदायों के आवश्यक अंगों में इतनी समता और एकता है, और साथ ही सब ही सम्प्रदायों में ऐसे ऐसे संत महात्मा पैदा हुए हैं जिनको सब ही आदर और मान की दृष्टि से देखते हैं, फिर विरोधों या विरोधाभासों पर मथ्या-पच्ची करना कुछ युक्तियुक्त नहीं है ।

हम व्यवहारिक जीवन में देखते हैं कि, हम इन विरोधों की कभी कुछ परवाह नहीं करते । रेलगाडी में दो मुसाफिर विभिन्न धर्मानुयायी भी चाहे वह हों, परस्पर प्रेम से वार्तालाप करते हैं, जरूरत पडने पर परस्पर सहायता भी करते हैं । उनमें केवल इतनी ही समानता है कि, वह दोनों एक गाडी में और एकही खाने में सवार हैं । इस एक समता से ही वह आपस में कैसे सुन्दर सलूक से रहते हैं । एक ही गली में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई पडौसी होकर रहते हैं । यदि वह साधारण सबसे भी शरीफ (भले मानस) हैं, तो भी मेल जोल से रहते हैं; एक ही स्कूल या कालिज में भी विविध धर्मावलंबी विद्यार्थी बडे मित्रता के साथ रहते, सहते देखे जाते हैं । परन्तु न मालूम क्या हो गया है कि, आजकल जरा जरा-सी साम्प्रदायिक अडचनों से वह एक दूसरे के सिर फोडने के वास्ते तैयार हो जाते हैं । इसका कारण, हमारी समझ में, साम्प्रदायिक हठधर्मी (तअस्सुब) के सिवाय और कुछ नहीं । एकदो विरोधों को आगे रखकर या केवल बहाना बनाकर सारी समता, ऐक्यता, मनुष्यता को खाक में मिला देते हैं ।

हम अपने हिन्दू-मुसलमान भाईयों के सेवा में नम्रता-पूर्वक निवेदन करते हैं कि, वह जरा अपने इस व्यवहार पर ठंडे दिल से विचार करें । हम उनकी सेवा में यह भी दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि जिन विरोधों को वह बडा मान रहे हैं वह विरोधभी या तो विरोधाभास ही है, और या सर्वथा उपेक्षणीय (नजरअन्दाज करने के लायक) हैं । जो जो विरोध हमने पहिले गिनवा हैं, उन पर ध्यान देने से पता लग जाएगा कि उनमें से बहुत से विरोध तो केवल विरोधाभास ही हैं, अर्थात् उसी समय तक विरोध दीखते हैं, तबतक उन पर गहरी दृष्टि नहीं डाली गई । और बहुत से विरोध देश, काल और दूसरे हालात की वजह से हैं । वह होने ही चाहियें थे ।

भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न वातावरण में रहने के कारण लोगों के खान, दान, रहन, सहन, वेश, भाषा, भूषा आदि अनेक व्यवहारों में भेद होना स्वाभाविक और आवश्यक है । ऐसे भेदों को नजरअन्दाज ही करना पडता है । इन भेदों की वजह से आपस में कोई द्वेषभाव नहीं होता । बंगाली, पंजाबी, मद्रासी बाबू अपने अपने रिवाजों और अपने अपने खान, पान को रखते हुए परस्पर मेलजोल से रहते देखे गए हैं । यद्यपि इन विरोधों को वैमनस्य, द्वेष, द्रोह और झगडे का कारण बनाना मूर्खता और हठधर्मी के सिवाए और कुछ नहीं, तोभी दुर्जनतोषन्याय को अवलम्बन करते हुए हम इन विरोधों पर यहां विचार आरम्भ करते हैं ।

प्रथम विरोध ईश्वर के बारे में निराकारता और साकारता का भेद है । आओ, जरा पक्षपात को छोडकर इसपर विचार करें । सब ही धर्म यह मानते हैं कि. ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान, स्वयम्भू, अजर, अमर, अभय इत्यादि गुणों से युक्त है । भला जो ऐसा मानता है, वह कभी एक क्षण के लिये भी यह मान सकता

है कि, ईश्वर साकार ही है; क्योंकि साकार (स+आ+कार) पदार्थ अर्थात् वह जिसकी हद्दें, अनराक, अवयव (Dimensions) या सीमाएं हों, वह कदापि सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी आदि गुणोंवाला नहीं हो सकता। तो फिर क्या वह मूर्ख थे, जो उसको साकार भी मानते हैं ? नहीं, वह मूर्ख नहीं हो सकते। जो निराकारता को समझ सकता है, वह मूर्ख कैसे हो सकता है ? तो फिर जरूर उनके ईश्वर को निराकार तथा साकार मानने में कोई रहस्य होना चाहिये। हां, रहस्य यह है कि, जब वह ईश्वर को निराकार तथा साकार मानते हैं, तो वह उसके निराकारता और साकारता के दो भिन्न स्वरूपों (aspects) को लक्ष्य में रखकर ऐसा कहते हैं। अर्थात् उनके अन्दर दो भाव काम करते होते हैं। प्रथम यह कि ईश्वर ही जो निराकार है, सब पदार्थों में व्यापक (मौजूद) होकर उनको साकारता अर्थात् रंग, रूप (आकार) देता है।

अर्थात् जो साकारता हमें सृष्टि में दीखती है, उसका आधारभूत ईश्वर ही है। अर्थात् वह इस विस्तृत दृश्य के भीतर जो स्थिर रूप से रहनेवाली सत्ता है, उसी को देखते हैं और परिणामशील नामरूप की विचित्र चित्रता को वह नजरअन्दाज करके ईश्वर को निराकार ही मानते और कहते हैं। और जब वह ईश्वर को साकार भी कहते हैं, तो उन के भीतर दूसरा भाव काम करता है और वह यह कि यह रंग और रूप भी तो ईश्वरीय सत्ता के आधारभूत होने से स्वयं कुछ नहीं. यह उसी का अर्थात् भगवान् का एक निर्वचनीय आभास या नजारा है। इसके इलावा वह यह भी मानते हैं कि, भगवान् दयालु है। अतः जब वह अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर कृपादृष्टि करता है, तो वह देवता, ऋषि, अवतार, महात्मा, पीर या पैगम्बर की सूरत में उस की सहायता करता है, उस को मार्ग दिखाता है और शिक्षा देता है, क्योंकि वह यह विश्वास करता है कि, साधारणतया साकार मनुष्य कभी भी निराकार को पहुंच नहीं सकता, विना साकार पदार्थ की सहायताके।

बस, जब उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणोंको ध्यानमें रखकर हम इस पर विचार करते हैं, तो हमें ईश्वर के निराकार और साकार माननेमें कुछ भी विरोध नहीं दीखेगा। यदि यह भी हम को समझ में आ जावे कि, निराकार पदार्थ साकार भी बन सकता है और यह कि साकारता की सहायता के विना हम निराकारता को प्राप्त नहीं कर सकते।

आओ हम पहिले हम इन दोनों संभावनाओं पर विचार करते हैं। प्रथम हम पिछली संभावना (possibilty) को लेते हैं— अर्थात् मनुष्य साधारणतया साकारता की सहायता के विना निराकार पदार्थ को नहीं प्राप्त कर सकता।

मनुष्य साकार है, यह सब ही जानते हैं। अब एक मनुष्य किसी महात्मा का सत्कार करना चाहता है। वह महात्मापन शरीर में तो है नहीं। वह तो उस की आत्मा में है। आत्मा निराकार है, यह भी सब मानते हैं। अतः वह उस को प्रसन्न करने के लिये साकार पदार्थों का ही आश्रय लेता है। वह फूलमाला लेता है, जो कि साकार पदार्थ है। उस को महात्माजी के गले में डालना है। गला भी साकार पदार्थ है। अब यहां देखिये क्या हुआ। उस पुरुष के साकार भावों ने जो कि निराकार थे, पुष्पमाला में जो साकार है प्रवेश किया, उस पुरुष ने उस माला को अपने हाथोंमें जो साकार हैं लिया, और उसको महात्माजी के गले में जो साकार ही है डाला और इस सारी साकार प्रक्रिया से महात्माजी की निराकारात्मा को प्रसन्न किया।

अर्थात् हमें एक निराकार आत्मा को संतुष्ट करने के लिये हस्तपादादि साकार अंगों, पुष्प, चन्दन, धूपदीपादि साकार पदार्थों का अवलम्बन करना पडता है। यही नहीं यह भाव यहांतक हमारा पीछा करता है कि, अब कोई हमारा इष्ट, मित्र या बन्धु इस स्थूल शरीर को छोड देता है, तो भी हम उस की निराकार आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उस के मृत शरीर को पुष्पादि से अलंकृत कर के बडे धूमधाम से स्मशानभूमि में ले जाते हैं, वहां वेदमंत्रोंद्वारा उस की आत्मा की सुगति के लिये प्रार्थनाएं करते हैं। यही नहीं अपितु पीछे वर्षोंतक उस की फोटो आदि का सत्कार करते हैं। उस की वर्षी मनाते हैं। यह बातें अच्छी हैं या बुरी, इसका विचार किसी अन्य स्थानमें करेंगे। परन्तु यहां यही बताना है कि यह भाव मनुष्यमात्र का चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, आर्यसमाजी हो या देवसमाजी इतना जबरदस्त (प्रबल) है कि, सदा हमारे अन्दर बना रहता है। सारा व्यवहार हमारा इसी नियम पर निर्भर है।

परन्तु हम कभी ध्यानपूर्वक इस पर विचार नहीं करते। देखिये, जब हम आम चूसना चाहते हैं, तो बिना छोटे, मोटे, हरे, पीले, लाल, सफेद, लम्बे, गोला आदि आकार-वाले, देशी. कलमी, लंगडे आदि नामवाले फलविशेष के द्वारा ही चूसते हैं। इन सब विविध नामरूपां के भीतर जो शेष × अर्थात् आम्रत्व है, उस को हम इन नामरूपोंके बिना नहीं पा सकते। जीवनि शक्ति (vitality, energy) एक निराकार सत्ता है। उस को प्राप्त करने के लिये दुग्ध, घृत, अन्न, फल, मेवे आदि अनेक साकार पदार्थों का आश्रय करना पडता है।

विद्या जो एक निराकार सत्ता है, बिना पुस्तक, लेखनी, स्याही, शिक्षकादि साकार सहायताओं के, नहीं प्राप्त हो सकती।

रेडिओ, ब्रौडकास्ट, टोकीज, सिनेमे आदि के दृश्य या गान जो निराकार हैं, किस तरह यन्त्रोंद्वारा साकारता को उपलब्ध करके हम तक पहुंचते हैं। कृष्ण भगवान् ने एक बडी सचाई प्रकट की, जब उन्होंने यह कहा—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अर्थात् देहधारी मनुष्यात्मा की गति ईश्वर के अव्यक्त (निराकार) रूप में बडी ही कठिनता से होती है। इस वास्ते साधारणरूप में व्यक्त (साकार, प्रकट,) रूपद्वारा ही अव्यक्त (निराकार) को प्राप्त होने की चेष्टा करनी उचित है।

और यह सचाई उपनिषदों में भी इसी प्रकार कही गई है। यथा—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यांच्छब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः। स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय, शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः। स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय, वीणायै तु ग्रहणेन वीणा वादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥

(बृहदा० ३।५।६।८-१०)

अर्थ- यदि हम शब्द को जो दुन्दुभि, या शंख या वीणा के बजाने से उत्पन्न होता है, पकडना चाहें तो नहीं पकड सकते। क्योंकि वह सूक्ष्म है, परन्तु यदि हम बाजों (अवतारों) का पकड लें अर्थात् यदि हम स्थूल को पकड लें, तो सूक्ष्म शब्द भी पकडा जावेगा।

बस, युक्ति और प्रमाणसे सिद्ध है कि ईश्वर निराकार है, परन्तु साधारणतया उस को प्राप्त करने के लिये साकारता को आश्रय लेना स्वाभाविक है और इसीलिये सब ही धर्म कमेविश इस का अवलम्बन करते देखे जाते हैं। इस का अधिक विवेचन 'मूर्तिपूजन' के विरोध में किया जावेगा। ''

अब रहा यह विचार कि निराकार ईश्वर ही सब पदार्थों में व्यापक होकर साकारता को प्राप्त होता है।

सब ही जानते हैं कि, यह दृश्यमान जगत् पृथिवी (Solidity), अप (Liquidity), तेज (heat and motion), वायु (gaseous), आकाश (ether)

× इस सृष्टिमें सब दृश्य पदार्थों को विशेष कहते हैं। इनकी समीक्षा, परीक्षा करनेवाले शास्त्रको वैशेषिक कहते हैं। यह सब विशेष एक स्थिर सत्ता पर निर्भर है। इस स्थिर सत्ता को विशेष के मुकाबिले में 'शेष' कहते हैं। पुराणों में जो यह कहा गया है कि, यह पृथिवी शेष नाग पर ठहरी हुई है। इसका यही भाव है कि सब विशेष 'शेष' पर स्थित हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' वेद भी ऐसा भी ही कहते हैं।

इस 'शेष' को अलंकार से 'नाग' कहा गया है। नाग = न+अ+ग। ग = चलनात्मक, क्रियात्मक, अग = न चलनात्मक।

न + आग = न न चलनात्मक अर्थात् चलनात्मक। अथवा यूं भी कह सकते हैं ना + आ + ग = नानारूपेण + आ समन्तकर + क्रियात्मक। अर्थात् वह 'स्वाभावि की ज्ञानबलक्रिया च' विविध क्रियाशक्तिसम्पन्न सत्ताविशेष जो सबके भीतर विराजमान है। देखो गीता इस भावको किस तरह स्पष्ट करती है। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि-सूर्ययोः' इत्यादि श्लोकों को पाठक स्वयं विचारें।

इन पांच तत्वों से बना है + । इनको पंच तन्मात्रा कहते हैं। यह पंच तन्मात्राएं पंचीकृत होकर अर्थात् एक नियम-विशेष से परस्पर संयुक्त होकर सूक्ष्म अवस्था से स्थूल दशा में आती हैं। सभी सायंस पढनेवाले विद्यार्थी जानते हैं कि, जल-गैस (वायव्य) अवस्था से तरलत्व को और तरलत्व से बर्फ (solidity) को प्राप्त हो जाता है। जो हाल जलका है, वही सब पदार्थों का है। विशेष दर्जेकी गर्मी पहुंचाने से सब ही पदार्थ प्रथम तरल (Liquid) बन जाते हैं। और फिर तरल से गैस में परिणत हो जाते हैं। इस विषय को जरा आगे चलकर लेंगे, अभी साधारण रूप से यह दिखाते हैं कि, यह जो स्थूलत्व हमें दीखता है, वह वास्तव में है क्या चीज।

प्रत्येक वस्तु में पांच बातें हैं। एक सत्ता अर्थात् होना, दूसरी उसका हमारी आखों पर अपने अस्तित्व का प्रभाव डालना, अर्थात् हमें दीखना या भास होना, तीसरी उसकी उपयोगिता या प्रियता। इनके इलावा उसका कुछ न कुछ नाम है और रूप है। अर्थात् वस्तु का होना (अस्तित्व), उस का भास होना, उस का किसी न किसी रूप में प्रिय होना, उस का नाम और उस का रूप। इन में से पहिली तीन होना, भासना, प्रिय होना तो सदा स्थिर रहनेवाली हैं और पिछली दो नाम और रूप सदा परिवर्तनशील (तबदीली पजीर) हैं। उदाहरण के तौर पर एक गन्ने को लीजिये। गन्ना है (अस्तित्व), गन्ना भासना है (भासत्व), गन्ना मीठा है (प्रियत्व), गन्ने का नाम ' गन्ना ' और गन्ने का रूप लम्बाई, मोटाई गोलाइवाली कोई वस्तुविशेष।

अब गन्ने को पीडकर रस बना लिया। गन्ने के नाम और रूप दोनों चले गए। ' रस ' नाम और ' तालत्व ' रूप आ गए। परन्तु रस का होना, भासना, प्रिय होना तीनों ज्यों के त्यों कायम (मौजूद) हैं। अब रसको भी लेकर हमने गुड बना लिया। ' रस ' नाम, और रूप उड गए. ' गुड ' नाम, और पार्थिवाकार (Solidity) रूप आ गए। परन्तु गुडका 'होना,' भासना, 'प्रिय होना' ज्योंके त्यों रहे। बस, इसी तरह से आप एक वस्तु से दूसरी बनाते चले जावें। आपको यही पता लगेगा कि नाम और रूप तो बदलते रहेंगे, परन्तु उनका होना, भासना, प्रिय होना सदा स्थिर रहते हैं।

बस, हम इस नतीजे पर आते हैं कि, यह सकल संसार दो प्रकारकी सत्ताओंका बना हुआ है। एक नाम और रूप-वाली परिणामशील (तबदील होनेवाली), दूसरी सदा स्थिर रहनेवाली जिसके तीन गुण हैं, होना, भासना, प्रिय होना।

अब हम नाम को लेकर इसकी देखभाल शुरू करते हैं। नाम विषय है वाणी का, वाणी की विद्या है व्याकरण (Grammar)। यह हम को बताती है कि, सारे वाङ्मय जगत् में नाम ही प्रधान या मुख्य अंग है। बाकी के सात अंग (parts of speech) इस नाम के ही व्यवहारके लिये कल्पित किये गए हैं। नाम के भी दो भेद हैं- गुण-वाचक (abstract) और सत्तावाचक (concrete noun)। अब पहिले का लक्षण (तारीफ) है कि वह केवल गुण, क्रिया और हालत को द्योतन करता है। यह किसी वस्तुविशेष में आरोपित या आश्रित रहते हैं। व्याकरण हमें यह नहीं बताती कि वह वस्तुविशेष क्या है। वह यही कहती है कि, यह कोई सत्ताविशेष है, जिस में यह गुणादि आश्रित हैं। इस सत्ता को न हम छू सकते हैं, न देख सकते हैं, अर्थात् वह इन्द्रियातीत है। उसका 'होना' मात्र ही कल्पित है, जैसे एक खंभेमें से उसके गुण लम्बाई, चौडाई, मोटाई, गोलाई, रंग, चिकनापन, खुरदरापन, ठोसपन इत्यादि निकाल लें, तो फिर जो रहा वह वस्तु या सत्ता खम्बे का आधार है। जो सर्वथा इन्द्रियातीत है। बस नाम भी कोई चिरस्थायी सत्ता न रही।

अब जरा ' रूप की भी विवेचना कीजिये । ' रूप ' का आधार है दिग् (Space), ' स्पेस ' बनी है रेखाओं (Lines) से। और लाइन्स बनी हैं बिन्दु (point) से। और पोइंट वह है जिसकी कोई मात्रा (magnitude) आकार नहीं। बस (spece) दिग् जो सब का आधारभूत है, बनी है उस वस्तु से जो निराकार है। बस

+ यूनानियों को केवल चार तत्व ही ज्ञात थे। आकाशतत्व उन को ज्ञात नहीं था। अतः वह अरबा अनासर (चार तन्मात्रा) ही से जगत् का निर्माण मानते हैं। यह तत्व पाश्चात्य सायंस का भी अभी थोडे ही वर्षों से ज्ञात हुआ है। परन्तु हिन्दु शास्त्र में यह पांच तत्व (या पंच तन्मात्रा) प्रारम्भ ही से ज्ञात हैं।

इस से सिद्ध हुआ कि नामरूपात्मक सत्ता निराकार पदार्थ पर निर्धारित या आश्रित है। हम यह भी देख आए हैं कि, यह नामरूपात्मक सृष्टि परिणामशील है. सदा गतिमान् है, अस्थिर है, अतः ऋत है। अतः अलक्षणीय, अनिर्वचनीय है। क्योंकि लक्षण उसी का बन सकता है जो एकरस या स्थिर रहे। जो प्रतिक्षण परिवर्तित रहे, उसका क्या लक्षण ? और यह भी हमने देख लिया कि यह अस्थिर या ऋत सत्ता आश्रित है। एक सत्ता पर जो सदा स्थिर है, अतः अचल है, सत्य है। बस, ऋत और सत्य का ही यह सारा पसारा है। *

अब यह भी जरा सोचो कि यह अस्थिर, ऋत, गतिमान् परिणामशील सत्ता तो क्या है ? खोजने से तो ऐसा ही प्रतीत हुआ कि वास्तव में तो इसका कोई अस्तित्व नहीं। पर इसका कार्य जरूर हमें दीखता है। नामरूप बिना कोई भी व्यवहार न चले। इसी से वेदान्तशास्त्र इसको अनिर्वचनीय, माया (मा-नहीं, या-जो) अर्थात् जो है नहीं, पर कार्य करती प्रतीत होती है।) पर स्वयं कुछ नहीं, पर अपना असर दिखाती है। सांख्यशास्त्र इसकी प्रकृति (प्रकर्षेण विविधरूपेण, कृतिः परिणामः यस्याः)।

अब स्थिर रहनेवाली सत्ता को भी विचारिये। इसमें 'होना' (सत्), भासना (चित्) ×, प्रिय होना (आनन्द) गुण हैं। अब आप स्वयं विचारें कि यह सत्, चित्, आनन्द गुण किसके हैं ? यदि यह भगवान् में नहीं तो और किस में हैं ? बस सिद्ध हो गया, कि सकल सृष्टि की तह में दो निराकार सत्ताएं हैं। एक स्थिर रहनेवाली जिसको ब्रह्म, ईश्वर, भगवान्. आत्मा, परमात्मा, या शेषादि भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं। और दूसरी सत्ता (यद्यपि 'सत्ता' शब्द उस पर ठीक नहीं लगता) अनिर्वचनीय है, जो वास्तव में है नहीं, पर संसारको नाना नामरूप में दिखाती है। यह भी साफ जाहिर हो चुका कि यह अस्थिर, स्थिर रहनेवाली सत्ता के आश्रित हैं। बस, इन दोनों सत्ताओं को मिलाकर वेदान्तशास्त्र ब्रह्म और सांख्यशास्त्र पुरुष प्रकृति, के नाम से पुकारते हैं। इसमें कुछ भेद नहीं। (अधिक विचार इसका द्वैताद्वैत पत्ते में करेंगे) यहां हमने केवल यह विचारना है कि, इस सारे दृश्य जगत् की तह में निराकार सत्ता ही है। अर्थात् निराकार ही साकार बन गया है। उपनिषद्, वेद, गीता आदि सब ही यही कहते हैं—

> अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपंचकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥
> अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ×

अब हम इसी विषय पर विज्ञानशास्त्र (सायंस Science) की रु से विचार करते हैं। सायंस अभीतक ऐसी दशा में नहीं पहुंचा, जहां यह कह सकें कि इस की अब पराकाष्ठा हो गई, इस के विचार और सिद्धान्त अटल हो गए। इस का इतिहास बताता है कि, जो आज एक माना हुआ सिद्धान्त है, वही कुछ समय के पीछे वैज्ञानिकों के तजरूबे और अनुभव के आधार पर असत्य साबित हो जाते हैं। और उस के स्थान में दूसरे नए सिद्धान्त खडे कर लिये जाते हैं। अतः यह तो कहना मुशकिल है कि, अमुक सिद्धान्त अटल और अचल है, पर तौ भी जो कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार हमें ज्ञान हुआ है, उस को हम

---

* "ऋतं च सत्यं चभीद्धात् " (वेद)

× भासना जाहिर करना है कि, वह सत्ता अपने अस्तित्व को दूसरों पर प्रकट करना चाहती है। अतः चेतन है। इसमें selection (चुनाव), rejection (छोडना) की शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा ही विविध पदार्थों के बीज अपने अनुकूल अंशों को लेकर और प्रतिकूल अंशों को त्याग कर अपनी वृद्धि करते हैं। एक ही खेत में गन्ना और मिर्च बोए हुए भी, अपने अपने स्वभावानुकूल ही जल, वायु, पृथिवी में से परमाणु खैचते हैं। अतः वह सत्ता चेतन है।

× अस्ति, भाति (भासना), प्रियत्व, नाम, रूप पांच भाव दीखते हैं। इनमें से पहिले तीन ब्रह्म के भाव हैं। दूसरे दो 'नाम' और 'रूप' जगत् के भाव हैं।

जैसे अग्नि प्रत्येक पदार्थ में व्यापक होकर उसको रूप देता है, इसी तरह सर्वभूतान्तरात्मा सब में प्रविष्ट हुआ हुआ उनको विविध नाम रूप देता है और फिर वह उनसे पृथक् भी रहता है।

यथाशक्ति और यथाबुद्धि, अपने पाठकों के सम्मुख रखते हैं । विषय बड़ा जटिल तथा गंभीर है । विस्तारभय से लम्बा भी नहीं किया जा सकता । अतः सूक्ष्म सबसे उसका तात्पर्य यहां देते हैं । जो सज्जन इस की अधिक अन्वेषणा करना चाहें, वह Outline of Science पुस्तकको पढें ।

आधुनिक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि, इस भौतिक (Physical) सृष्टि की बनावट में तीन सत्ताएं मिश्रित मालूम होती हैं ।

१ माद्दा- Matter, मात्रा ।

२ ईथर- आकाश । +

३ Energy - शक्ति ।

अब हम इन तीनों सत्ताओं की छानबीन करते हैं । प्रथम यह जानना चाहिये कि माद्दा (मैट्टर), प्रकृति क्या है ? कोई २००० दो हजार वर्ष गुजरे एशियामाईनर के रहनेवाले यूनानियों ने माद्दे को विश्लेषण करते करते यह सिद्धान्त निकाला था कि, जिस को हम माद्दा कहते हैं, वह परमाणुओं से बना है । परमाणु वह छोटे से छोटा भाग है कि, फिर उस का और भाग या हिस्सा नहीं बन सकता । इसका नाम Atomic Theory या परमाणुवाद है । शब्द अटम् (Atom) के अर्थ ही हैं कि, जिस के फिर हिस्से न बन सकें । (a-not, tom- divisible)

चिरकाल तक यह मानते रहे कि, असंख्य परमाणु आकाशमें घूमते रहे, जब वह इत्तिफाकसे आपसमें किसी तरह मिल गए, तो यह सृष्टि उत्पन्न हो गई । परन्तु यह सिद्धान्त बहुत देर तक लोगों को सन्तुष्टि न दे सका । मानचेस्टर के प्रसिद्ध केमिष्ट जॉन डाल्टन (John Dalton) ने १८ वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को आगे चलाया ।

अटोम (Atom) एक इतना छोटा भाग है कि, जिस को बारीक से बारीक खुर्दबीन (Microscope) से भी हम नहीं देख सकते । वह एक बालकी मोटाई का लाखवां भाग भी नहीं । परन्तु यह यन्त्रों से तोला और नापा जाता है, चाहे वह आपको दीखता भी नहीं । ×

उन का यह भी कथन है कि, अटोम् ईंटों की तरह से एक दूसरे के ऊपर नहीं रक्खे हुए हैं । इन के बीच में कुछ न कुछ खला (अवकाश) होता है । दो या दो से अधिक अटोम् मिलकर एक और चीज बनती है, जिसको मौलेक्यूल (Molecule) कहते हैं । मौलेक्यूल विविध मात्रा में मिलकर विविध पदार्थ बनाते हैं । अर्थात् यही मौलेक्यूल्ज विविध प्रकार से मिलकर ठोस (पार्थिव), माया (द्रवीभूत), गैस (वायवीय) पदार्थ बनाते हैं । एक मौलिक्यूल एक इंच का तीसलाखवां हिस्सा भी नहीं है । इस को इस तरह देख सकते हैं कि, एक ग्रेन नील एक टन पानी को नीला कर सकता है । अर्थात् एक ग्रेन नील में इतने मौलिक्यूल हैं, जितने एक टन पानी में । इस तरह हिसाब लगाने से पता चला कि एक मौलिक्यूल एक इंचका साढे बारह करोडवां हिस्सा है । अब अटोम जो इस से भी छोटा है, वह सोचिये कि कितना होगा । बाजे कहते हैं कि एक इंच लम्बी लाइन में चार करोड अटोम आते हैं ।

(Atomic energy) अटोम की शक्ति बडी अद्भुत चीज है । यदि वह किसी के काबू हो जाए, तो वह बडी बडी सिद्धियें दिखा सकता है ।

कभी आप अपने कमरे में किवाड बन्द करके किसी झरोके में से सूर्यकी किरणद्वारा देखें, तो लाखों मौलिक्यूल बडी तेजी से घूमते दीखेंगे ।

यह भी सिद्धांत था कि विविध पदार्थों के विविध अटोम्स हैं । परन्तु अब यह साबित हो गया कि अटोमिक हालत में आकर सब पदार्थों के अटोम्स एक जैसे हो जाते हैं । अर्थात् सब अटोम्स एक ऐसी अवस्था में परिणत हो जाते हैं, जिसको सब तत्वों की जड (कारण) यानि Primordial substance कहते हैं ।

यह बात इस शताब्दी के आरम्भ में मिस्टर 'प्राट' साहिब ने जाहिर की थी ।

फिर एक विख्यात जेसुइट ज्योतिर्विद् फादर सेकुची (Father Secchi) ने यह साबित किया है कि, सब अेटाम्स ईथर का ही विकार मात्र हैं ।

परन्तु सन् १८९५ में जब कि रोंटिजन साहिब ने एक्स

+ इस कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि, वह लोग ईथर को माद्दे में नहीं गिनते थे ।

× यह कथन अनवस्थादोष से युक्त है । जो भाग बाल की मोटाई का लाखवां भाग है, वह दोलाखवां, तीनलाखवां या चारलाखवां भी हो सकता है । अतः परमाणुवाद में यह दोष है ।

रेजका आविष्कार किया और फिर रेडियम्‌का आविष्कार प्रोफे-सर क्यूरी (Curie) और उसकी धर्मपत्नी ने जो पोलैंड के रहनेवाली थी, किया, तब यह मालूम हुआ कि, प्रत्येक अटोम के भी विभाग हो सकते हैं। और उनका नाम Electrons (इलेक्ट्रान्स) है। और इलेक्ट्रोन एक प्रकारकी electricity (विद्युत्) की धार या current है।

और जब Electicity की भी छानबीन की गई, तो यह आखिर ईथर (आकाश) का ही विकारमात्र साबित हुई। बस, यहां तक सांयस की गति गई है।

हां, पाश्चात्य फिलासफरो का मत कुछ इस आगे गया है। वह कहते हैं कि इन Electrons की तह में कोई अन्य शक्ति होनी चाहिये, जो इनको घुमावे और मिलावे। और हर्बर्ट स्पिन्सर साहिब इस सूक्ष्म शक्ति के दो रूप करते हैं। एक जड और दूसरा इस जडान्तर्गत सूक्ष्म रूप। और यह सारे पंचभूत या तन्मात्राएं उसी सूक्ष्म शक्ति के रूपान्तर मात्र हैं। परन्तु फिर वह यह भी कहते हैं कि, यह सूक्ष्म शक्ति स्पन्दात्मि का है। वही स्पन्दित होती होती घनीभावको प्राप्त होती हुई स्थूल भावको प्राप्त होती है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि, एक ही सूक्ष्म शक्ति है, जो घनीभूत होकर स्थूलत्व को प्राप्त होती है।

मिस्टर केल्विनेदी का यह मत है कि, सब मूर्त पदार्थों का उपादान ईथर (ether) आकाश ही है। और यही सिद्धांत हर्बर्ट स्पिन्सर और स्टेलो साहिब का भी है।

यह शक्ति क्रियारहित दशा में प्रसुप्त अर्थात् Dormant रहती है। और कार्यदशा में स्पन्दित होकर प्रत्यक्ष हो जाती है।

मिस्टर हक्सलसाहिब भी यही कहते हैं कि, समष्टि जो व्यष्टि जगत् में जितनी कार्यकारिणी शक्तियां हैं वह सब ही एक मौलिक शक्ति के रूपान्तर हैं। यह रूपान्तर होकर नानाविध कार्य कर रही हैं। यथा—

१- Motion- क्रिया- पदार्थों में 'चलन' या हरकत पैदा करती है।

२- ग्रेविटेशन- माध्याकर्षण- प्रवृत्तिशक्ति- दो पदार्थों में परस्पर खैंच उत्पादन करती है।

३- Static- स्थितिस्थापक शक्ति।

४- Attraction, Repulsion- आकर्षण, विकर्षण,

५- Chemical affinity- रासायिनिक प्र० श०। पदार्थों में तबदीली करती है।

६- Electricity- विद्युत प्र० श०।

७- Cohesion- दो जर्रों को आपस में मिलाना।

८- Magnetism- चोम्बकाकर्षण श०।

९- Diffusing or scattering- बखेरनेवाली शक्ति।

इत्यादि उस मौलिक शक्ति के रूप हैं।

इस मौलिक शक्ति को वालेस Life Principles, जीवों का उपदानभूत कार्य भी मानते हैं। वह कहते हैं कि, यही शक्ति घनीभूत पदार्थों में प्रवेश कर के उन को प्रोटोप्लाजम (जीवितप्रकृतिपिंड) बनाती है।

परन्तु मिस्टर वालेस साहेब इस जगत्संचालिनी सूक्ष्म शक्ति के भी मूलतक पहुंचते हैं और वह मानते हैं कि, इस के मूल में भगवान् की इच्छाशक्ति ही विद्यमान् है। परन्तु यह कह कर कि, वह शक्ति अगम्य (Incomprehensible) है आगे नहीं गये।

यह सिद्धान्त हमारे शास्त्रों से बहुत कुछ मिलताजुलता है जैसा कि उपनिषद् वाक्य कहते हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। इत्यादि, यहां शब्द 'संभूतः' पर विचार करना चाहिये। संभूत = अच्छी तरह से हो गया- अर्थात् आत्मा से आकाश हो गया, जैसे दूध से दही हो गया, या पानी से बर्फ हो गया।

श्रुति भी यही कहती है, अग्निसोमाभ्यां जगत्। ऐसे ही स्वा० शं० बृहदारण्यक के भाष्य में कहते हैं।

सर्व एव द्विप्रकारः। अन्तः प्राण उपष्टम्भको गृहस्य स्तम्भादिलक्षणः। प्रकाशोऽमृतः बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशकः उपजनापाय-धर्मकस्तृणकुशमृत्तिकसमो गृहस्येवाऽसत्य शब्दावाच्यो मर्त्यः। तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्नः। स एव प्राणिबाह्याधारभेदेषु अनेकधा विस्तृतः। *

---

* यह सब दो प्रकार के हैं। अतः प्राण इस शरीर को सहारे रखता है, जैसे खम्बे मकान को सहारे रखते हैं। यह जीवनरूप है और आत्मा है। दूसरी, जो घर में वस्तुएं हैं, उन की तरह हैं। वह असत् अर्थात् परिणामशील है। अमृतशक्ति इस मरणधर्मशील शक्ति से आच्छादित है। यही सूक्ष्म प्राण फिर अनेक तरह को कार्यभेद से हो जाता है।

श्रुति भी ऐसा ही कहती है– अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । * फिर शंकराचार्यजी कहते हैं-।

कार्यात्मके नामरूपे शरीरावस्थे, क्रियात्मकस्तु प्राण ह्यो रूपष्टम्भकः ॥ (बृ० भाष्य) ।

परन्तु उपनिषद् यह भी कहते हैं कि, प्राणशक्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही निर्धारित है । या यूं कहो यह प्राण-शक्ति ही ईश्वरेच्छा है—

तानि ह वैतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि । समक्लृपतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च, समकल्पतामापश्च तेजश्च । (छान्दो० ३)

यह सब पदार्थ या शक्तियां जो सृष्टि में काम करती हैं, मानो किसी एक शक्ति की संकल्प (इच्छा) के आधीन होकर काम कर रही हैं । उनके अपने अपने संकल्प भी उस एक के संकल्प में ही डूब जाते हैं, जैसे एक बडी फौज में बहुत से अफसर एक दूसरे की नीचे होते हैं और उनके नीचे अन्य सैनक (सिपाही) होते हैं। यद्यपि वह अपनी पृथक् पृथक् अस्तित्व रखते हुए दीखते हैं, उनके अपने संकल्प भी भिन्न भिन्न होते हैं । परन्तु वह फौजकी कारवाई करते हुए अपने अपने अस्तित्व और अपने संकल्पों को फौज के सबसे बडे अफसर के अस्तित्व और संकल्प में ही निमग्न करे देते हैं । इसी तरह यह तमाम विविध शक्तियां (Energies) पौराणिक या याज्ञिक परिभाषा में देवताएं ईश्वर की इच्छाशक्ति में ही निमग्न होकर काम कर रही हैं ।

पुनः यह भी जगह जगह कहा गया है कि, यह प्राण भी आत्मा से ही उत्पन्न होता है– देखो प्रश्नोपनिषद् ।

भगवन् कुत एवः प्राणो जायते? भगवन्! यह प्राण कहांसे पैदा हुआ ? उत्तर– आत्मनः एव प्राणो जायते । आत्मासे ही यह प्राण पैदा हुआ है । पुनः आगे चलकर कहते है—

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत् । स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेति एता मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः॥

जब भगवान् को प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न करने की कामना हुई, उन्होंने तप किया अर्थात् विचार किया । विचार करके 'रयि,' और 'प्राण' दो सत्ताओं का युग्म (जोडा) उत्पन्न किया कि यह दोनों मेरे लिये विविध प्रकार की सृष्टि रचेंगे ।

प्यारे पाठकों ! इस सारे कथन का सारांश यही निकला कि इस सकल दृश्यादृश्य जगत् की तह में एक मौलिक शक्ति है, जिसके दो रूप हैं, या सृष्टिरचनाके समय पर हो जाते हैं ।

एक स्थूल या साधारणतया जड भी कह देते हैं और दूसरा इस स्थूलान्तर्गत सूक्ष्म । इस भाव को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है । बृ० उ० के इस वचन ने—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे । मूर्तं चामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च ॥ (२।३।१)

अर्थ– निश्चय करो कि ब्रह्म के दो रूप हैं, अर्थात् जब ब्रह्म अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आता है, तो इसके दो रूप हो जाते हैं– एक मूर्त (material) दूसरा अमूर्त (Immaterial) और फिर इन्हीं को शब्दान्तरमें कहा 'एक मर्त्य-नश्वर । दूसरा, अमृत–अनश्वर । एक ठहरा हुआ और दूसरा चलनेवाला अर्थात् जीवनी शक्ति प्रकट करनेवाला । 'सत्' अर्थात् Manifested और 'त्यत्' जिसकी तरफ केवल इशारा ही किया जा सकता है कि, वह 'है' और कुछ निर्देश नहीं किया जा सकता ।

संक्षेपतः भाव यह है कि, जो मूर्त रूप है, वह मरनेवाला स्वयं जीवनहीन, और प्रकट (Manifested) है। अमूर्त वह जो अमर, जीवनरूप, और जिसको हम 'वह' इस निर्देश से ही जान सकते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही स्पष्ट तया कही गई है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(गी० ७।४-७)

* जैसे रथचक्रकी नाभी में आरे लगे होते हैं, इसी तरह सब दृश्यमान जगत् प्राण में स्थित है ।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि, मेरी प्रकृति×के दो रूप हैं। एक 'अपरा' जो पुनः आठ प्रकारकी है। पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। दूसरी 'परा' वह 'जीवभूत' अर्थात् जीवनशक्ति है। यह दोनों रूप मेरी प्रकृति के 'परा' और 'अपरा' इस सारे संसारपसारे का आधारभूत हैं। और जहां से यह सारा पसारा प्रादुर्भाव को प्राप्त होता है और जिसमें फिर लीन हो जाता है, वह 'मैं' 'ब्रह्म' हूं। मेरे से परे कुछ नहीं। और मैं ही इन सब दृश्यादृश्य पदार्थों में ऐसा परोया हुआ हूं जैसे तागा मणकों में परोया हुआ होता है। जिस तरह मणके तागे के सहारे स्थित हैं इसी तरह मूलभूत मेरी सत्ता से ही सब प्रादुर्भाव को प्राप्त हुए हुए पदार्थ स्थित + हैं।

ऋग्वेद का "नासदासीत्" वाला मंत्र भी इस भाव को सिद्ध करता है कि, एक ही अद्भुत सत्ता सब सृष्टि का मूलभूत अग्रे मौजूद थी। विस्तारभय से हम उसे यहां नहीं लिखते।

बस, यह निस्संदेह सिद्ध है कि, निराकार ही साकारता को धारण करता है। अतः यह कि ईश्वर निराकार है या साकार कोई विवाद नहीं रहता। यह केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। एक मनुष्य समुद्र के तट पर खडा होकर केवल उसकी लहरों को देखता हुआ कह सकता है कि, समुद्र केवल लहरें ही हैं। दूसरा लहरों को ध्यान में न लाकर उसके जल में स्नानादिक क्रिया कर रहा है, अतः वह कह सकता है कि, समुद्र जल ही जल है। दोनों अपनी अपनी दृष्टिकोण से सच्च हैं। परन्तु असल सत्य वही है, जो दोनों दशाओं को समझता है।

यह बात कि किस तरह भगवान् सर्वत्र विराजमान है, गीता के सातवें अध्याय में स्पष्ट बताई गई है। हम कतिपय श्लोक यहां उद्धृत करते हैं-

रसोऽहमप्सु कौंतेय ! प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु, शब्दः खे पौरुषं नृषु॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च, तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
(गी० ७।८-१२)

इसी प्रकार का भाव ऋग्वेद में भी है-

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ अहं सोममाहनसं बिभर्मि अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ (ऋ० १०।१२५।१-२

यह ऋग्वेद का सारा सूक्त यही भाव प्रकट करता है कि, वाग्देवी अर्थात् सूक्ष्मशक्ति जिस को प्राण, वाक्, गायत्री, उद्गीथादि शब्दों में उपनिषदों में विख्यात किया गया है। सूक्ष्मरूप से सब भूतों में प्रविष्ट होकर सारे व्यवहार चला रही है। अर्थात् यह शक्ति ही विविध रूप

× प्रकृति शब्द यहां किस अर्थ में है, यह सोचना चाहिये। प्रकृति= प्रकर्षेण + कृतिः= कार्यात्मकता। अर्थात् वह सत्ता जिसमें से, यह जिसके द्वारा भगवान् अपने ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। अर्थात् यह सृष्टि यह तमाम ब्रह्मांड जो उसको प्रकट करता है। यही उसकी प्रकृति या शरीर है। यही उसका विराट् स्वरूप है।

+ यह 'परा' और 'अपरा' प्रकृति के भेद केवल समझाने के वास्ते ही कल्पना किया गया है। वरन् हम कदापि और कहीं भी इनके पृथक् पृथक् प्रादुर्भावको नहीं पाते। हमारे शरीरका प्रत्येक कीटाणु (Cell) इन दोनों प्रकृतियों ही से बना है। आप कोई एक जरा भी उठाकर नहीं दिखा सकते, जो केवल 'अपरा' या 'परा' प्रकृति का बना हुआ है। यह दोनों मिलकर 'ब्रह्मसत्ता' बनती है। फिर 'सत्ता' भी कोई पृथक् वस्तु नहीं; 'ब्रह्म' और 'ब्रह्म की सत्ता' एक ही बात है। गुड और गुड का मिठास केवल कल्पनाद्वारा ही पृथक् पृथक् कहे जा सकते हैं। वास्तव में पृथक् नहीं। ऐसे ही ब्रह्म, ब्रह्म की सत्ता, ब्रह्म की प्रकृति सब एकही भावको प्रकट करते हैं। यह केवल अनुभव का ही विषय है। मानुषी शब्द इसका यथार्थरूप में प्रकट करने में असमर्थ हैं।

में विस्तृत होकर नानारूपधरं जगत् को बताती है।

यह कतिपय कविताएँ उपरोक्त शब्दों के भाव को बड़ी सुन्दरता से प्रकट करती हैं-

तेरा जलवाः है आखोंमें निगोहोंसे 1 निहाँ है तू। मेरा दिल 2 अर्ष है तेरा जहां, देखूं वहाँ है तू ॥ 3 हरममें तेरी शोहरत है, 4 सनम् में तेरी सूरत है। कहे किस तरह से कोई यहां है तू वहां है तू॥ 5 शजर में गुञ्चओ 6 गुल में फुगाँ 7 में आहे बुलबुल में। जिगर में दिल में पिनहाँ है रगो पै में नि हाँ है तू ॥ कहीं कतरा कहीं दरया कहीं गुलशन कहीं सहरा। कहीं 8 कसरत कहीं 9 वहदत अजब राने निहां है तू ॥ यह दिल है ढूण्डना तुझको जिगर है पूछता तुझको। तू जाहिर है तू 10 वातिन है 11 मकी ना 12 लाम काँ है तू॥ जमाना तेरा 13 शैदा है 14 फिदाए रूप जेवा हैं। यह बंदा तेरा 15 गिर्वीदाः अजब जाने जहाँ है तू॥

एक सूफी कहते हैं:-

यार को हमने जा बजा देखा।
कहीं बन्दा कहीं खुदा देखा।
सूरते गुल में खिलखिलाके हंसा।
शक्ले बुलबुल में चिहचहा देखा॥

वेदों और उपनिषदों के वाक्य तो सैकडों ऐसे मिलेंगे, जिन में यह भाव बहुत ही स्पष्ट है। हम केवल कतिपय वाक्य ही यहां उद्धृत करते हैं-

इदं सर्वं यदयमात्मा॥ (बृ० उ० २।४।६, ५।४।७)
अहमेवेदं सर्वम्॥ (छा०)
सर्वं ओंकार एव॥ (मु० उ०)
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्॥
(ऋ० १०।९०।२०)
ओंकार एवेदं सर्वम्॥ (छा० २।२३।४)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म॥ (छा० ३।१४।१)

(अथर्व० १०।८।३७) का मन्त्र तो इस को बहुत ही स्पष्ट कहता है-

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥

जो उस सूत्र को जानता है, जिस में सारी सृष्टि परोई हुई है, और उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वह ब्रह्म को समझता है।

इत्यादि अनेक वचनों से सिद्ध होता है कि, निराकार आत्मा, ही साकारता को ग्रहण करके जगत् की रचना करता है।

बस, तनिक भी मनुष्य विचार से काम ले, तो उसे मालूम हो जावेगा कि, साकार और निराकार दोनों ही ईश्वर के स्वरूप हो सकते हैं।

और फिर यह भी शास्त्र कहते हैं कि, मनुष्य किसी भी रूपद्वारा भगवान् की सच्चे दिल से आराधना करें, उसी रूप में उसको पा सकता है यथा—

अजब तेरा कानून देखा खुदाया।
जहां दिल दिया वहीं तुझको पाया॥
न यां देखा जाता है मन्दिरो मस्जिद।
फकत् यह कि नालिब सिदक दिल से आया॥

देखो उपनिषद् भी ऐसा ही कहते हैं—

श्यामलाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्ये।

मैं श्याम (अज्ञात, निराकार) से शबल (चितकबरे Variegated) विविधस्वरूपापन्न, रंग बरंगे, व्यक्त रूप भगवान को पाता हूं। और शबल से श्याम को।

अब यह बात है तो फिर विवाद क्या? विवाद तभी तक है, जब तक मनुष्य दूसरों के दृष्टिकोण (View poring) तुकए निगाह को नहीं समझता या समझने का प्रयत्न नहीं करता।

हमें आशा है कि, जो भाई इस लेख को पक्षपात रहित होकर ढढेंगे वह इस भेद को कभी भी भेद नहीं मानेंगे और इसे भेदके बखेडेसे सदाके लिये निकल जावेंगे।

प्रभो! हम अब की दृष्टि पक्षपात् दोष से निर्दोष हो।

1 गुप्त, 2 सिंहासन, 3 रणवास, जनाना, 4 सौन्दर्य, 5 वृक्ष, 9 फूलकी कली, 7 सदन, 8 समाष्टि, 6 व्यष्टि, 10 गुप्त, 11 व्यक्त, 12 अव्यक्त, 13 कुर्बान, 14 न्योछावर, 15 न्योछावर।



भृगुवंश और भारत।

(लेखक- डा० वी० एस० सुकथनकर, एम्० ए०, पीएच्० डी०.)
(अनुवादक श्री० वासुदेव शरणजी अग्रवाल, लखनौ,)

[अंग्रेजीका मूल लेख डा० सुकथनकर, सम्पादक, 'महाभारत, संशोधित संस्करण,' भंडारकर इन्स्टीटयूट, पूना के द्वारा इंस्टीटयूट की मुखपत्रिका के अक्तूबर १९३६ के अंक में प्रकाशित हुआ है। इसके विशेष महत्व के कारण हमने लेखक की अनुमति प्राप्त करके इसका विशद भावार्थ यहां प्रकाशित किया है। महाभारत राष्ट्रीय गौरव का ग्रंथ है। यह लेख उसके सम्बन्ध में एकदम नया प्रकाश देता है। 'भृगु और भारत' शीर्षक इस बृहत् निबन्ध से संक्षेप में यह ज्ञात होता है कि, भृगुवंशी ब्राह्मणों की वंशपरम्परा में मूल भारतग्रंथ का जो सम्पादन किया गया और जिसमें सम्भवतः अनेक शताब्दियां लगीं, उसमें अनेक उपाख्यानों के सम्मिश्रण से भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ। कुलपति शौनक जिनको उग्रश्रवा सूत ने महाभारत की कथा सुनाई स्वयं भार्गव थे। भरतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववंश की कथा सुनने के लिए प्रकट होती है—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गवशौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रंथ पर पडे हुए भार्गवप्रभाव का द्योतकमात्र है। और्वोपाख्यान (आदिपर्व), कार्तवीर्योपाख्यान (वन०), अम्बोपाख्यान (उद्योग०) विपुलोपाख्यान (शान्ति०), उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध०) इनका सम्बन्ध भार्गवों से है। आदिपर्व के पहले ५३ अध्याय जिसमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चलती है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीतिपरक अंश हैं, वे भी भृगुओं के प्रभाव का फल हैं। ये स्थापनाएं प्रत्यन्त रोचक और अभूतपूर्व हैं। डा० कीथ जैसे विद्वान् ने भी इनका स्वागत किया है। यह सत्य है कि, मूल भारतसंहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें चौबीस हजार श्लोक थे, इस समय उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता, पर फिर भी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी मूल ग्रंथ का परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है।

इस वैज्ञानिक दृष्टि से पूना के भारतचिन्तक महामति डा० सुकथनकर का कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है। इस लेख के विशेष मनन से पाठकों को भारतअनुशीलन की एक नवीन पद्धति का परिचय प्राप्त होगा।- अनुवादक वासुदेव शरण अग्रवाल।]

भृगुवंश का इतिहास अत्यन्त रोचक और प्राचीन है×। संस्कृत शब्द भृगु और यूनानी फ्लैगु की समानता को देख कर डा० वेवर का अनुमान था कि इन दोनों नामों का निकास एक ही मूल शब्द से हुआ। शतपथ ब्राह्मण में दिये हुए (श० ११-६-१) भृगुवारुणी के उपाख्यान के विषय में उनका विचार था कि यह उस युग का है, जब भारतीय और यूरोपीय आर्य एक साथ रहते थे। डा० वेवर का यह भी विचार था कि, इस उपाख्यान से मिलतीजुलती कथा यूनानी गाथाशास्त्र में भी है। ध्वनिसाम्यपर आश्रित वेवरसाहब की यह सूझ अन्य विद्वानों को नहीं जंची। जो भी हो यह निश्चय है कि, भृगुओं का वंश प्रत्यन्त प्राचीन है और उनके कुछ उपाख्यान भी बहुत ही पुराने हैं। वैदिक संहिताओंसे लेकर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के साहित्य में और महाभारत एवं पुराणों में भृगुओं की चर्चा उत्तरोत्तर क्रम से बढती हुई पाई जाती है।

भृगुओं के आख्यान बडे रोचक हैं। भारतीय गाथाशास्त्र के कई विद्वानों को इन कथाओं में नए अर्थ की प्रतीति हुई। बर्गे के विचार में अग्नि का ही एक नाम भृगु था और भृगु उपाख्यान अग्नि के अवतरण की प्राचीनतम कथा का ही विकसित रूप है। डा० कुन्ह और वार्थ भृगु को विद्युत् का प्रतीक समझते हैं और कुन्हने अग्निअवतरण की यूनानी कथा का समन्वय वैदिक कथा के साथ

× भृगुओं के विशद वर्णन के लिए देखिए- Encyclopaedia of Religion and Ethics (हेस्टिंग्जद्वारा सम्पादित), ई० सीगकृत भृगुसंज्ञक लेख। वैदिक साहित्य में भृगुओं के वर्णन के लिए दे० मैक्डानल और कीथकृत वैदिक इन्डैक्स, 'च्यवन,' 'भृगु,' आदि लेख।

करने का प्रयत्न किया। वेबर का मत पहले लिखा जा चुका है, यह तो भार्गवों के प्राचीनतम उपाख्यानों की बातचीत हुई। इनकी उत्तरकालीन कथाएं भी कम भारी-भरकम नहीं हैं। परशुराम ही इसके एक उदाहरण हैं, जिन्होंने पितृभक्ति के आवेश में माता की हत्या को भी कुछ नहीं गिना। सर्व क्षत्रियों का अन्त करके विष्णु के अवतार का गौरव प्राप्त किया। परशुराम की कथा लोक में खूब ही प्रचलित हुई। उन के नाम के तीर्थ देश भर में फैले हुए हैं।

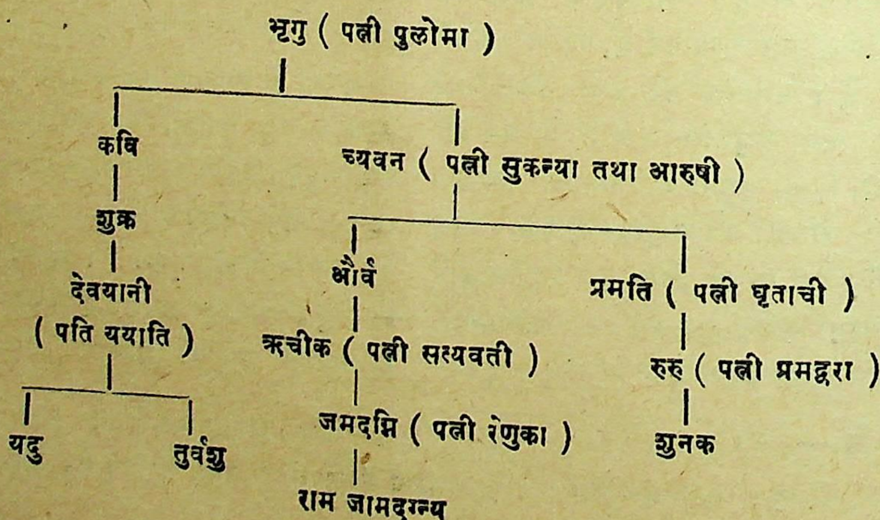
रोचक होते हुए भी भार्गव कथाओं के अर्थों का व्याख्यान करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इस निबन्ध का ध्येय यह है कि, महाभारतग्रन्थ में भार्गवों का जहाँ जहाँ वर्णन है, उन सब स्थलों का संग्रह करके यह तुलनात्मक विचार करें कि, भृगुओं के सम्बन्ध में महाभारत की साक्षी क्या है। महाभारत भृगुवंशसम्बन्धी कथाओं की खान है। यह कथाएं संख्या में सब से अधिक हैं और इतर पुराणों की अपेक्षा महाभारत में मिलनेवाला इनका स्वरूप भी अत्यन्त विचित्र है। इसलिये भारतीय उपाख्यानों के सनातन कल्पवृक्ष इस ग्रन्थराज की छाया में खडे होकर हम कुछ समय के लिये भार्गवकथाओं पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। यह कथाएं जिस रूप में कही गई हैं, इनकी जो पुनरावृत्ति हुई है और इनमें जो परस्पर विसंवाद है, उन सब पर हम विचार करना चाहते हैं। महाभारत में जितना कि, प्रायः समझा जाता है, उससे कहीं अधिक भार्गववंश की सामग्री है, और कितने ही नए भार्गवों का उल्लेख है।

अपनी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, हमारा यह प्रयास महाभारत के मूल पाठसंशोधन से ही सम्बन्ध रखता है। अनेक वर्षों से इस पर परिश्रम करने के कारण यह विषय हमारे लिए अत्यन्त रोचक बन गया है। परन्तु इस निबन्ध के अन्त में चल कर हमने यह दिखलाने की भी कोशिश की है कि, हमारी विवेचना के फलस्वरूप यह कहाँ तक सम्भव हो सकता है कि, हम मूल महाभारत के ऊपर पडे हुए पर्दे को कुछ कुछ उठा कर उस के अज्ञात प्राचीनतम इतिहास को देख सकें।

महाभारत में पर्व और अध्यायों के क्रम से एक तरफ से आरम्भ करके हम भृगुओं के उपाख्यानों का यहाँ विचार करेंगे। भार्गवसम्बन्धी कुल अवतरणों की संख्या तो बहुत अधिक है, उनमें से जो महत्त्वपूर्ण है, उनको ही यहाँ लिया जायगा।

नीचे भृगुओं का एक वंशवृक्ष दिया जाता है, जो महाभारत में से ही तैयार किया गया है। यह अत्यन्त संक्षिप्त जान पडता है, जिस में बीच बीच में बहुत सी कडियां छूट गई हैं, परन्तु फिर भी इस की सहायता से आगे वर्णनों को पाठक सरलता से समझ सकेंगे।

भृगु-वंश-वृक्ष



आदिपर्व।

आदिपर्व के दूसरे अध्याय का नाम है पर्वसंग्रहपर्व। इसे महाभारत की विषयसूची कहना चाहिये। इसमें राम जामदग्न्य का नाम आया है। इसका प्रसङ्ग यों है। यह सब जानते हैं कि, जिस स्थान पर महाभारत का युद्ध हुआ था, वह कुरुक्षेत्र कहलाता था, जैसा कि गीता के शुरू में ही कहा है--

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव ... ... ॥

परन्तु लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नाम के सूत जो नैमिषारण्य में शौनक के बारह वर्ष के सत्र में महाभारत की कथा सुना रहे हैं। इस स्थान को कुरुक्षेत्र न कहकर समन्तपञ्चक के नाम से पुकारते हैं। प्रारम्भ में ही उनका कहना है कि, उन्होंने समन्तपञ्चकनामक पुण्यतीर्थ के दर्शन किये हैं और वस्तुतः वे उस समय वहीं से आये हुए थे। (१।१।११ * प्रभृति)--

समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम्।
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत्पुरा॥
पाण्डवानां कुरूणां च सर्वेषां च महीक्षिताम्॥
दिदृक्षुरागतस्तस्मात्समीपं भवतामिह।

इससे श्रोताओंको कुछ जाननेका कुतूहल हुआ। तदनुसार दूसरे अध्याय में चलते हुए ऋषियों ने सूतजी से प्रश्न किया कि यह समन्तपञ्चक क्या है, इसकी बाबत हम जानना चाहते हैं। (१।२।१)

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनंदन।
एतत्सर्वं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥

और सूतने इस पर जो कथा सुनाई, उससे यह जाना गया कि समन्तपञ्चक भारवों का तीर्थ था, जो कुरुक्षेत्र के आसपास था। वस्तुतः सूतजी के वर्णन से यह बात मालूम हो जाती है कि, यह वही पवित्र स्थान था, जहां त्रेता और द्वापर युग की संन्धि में शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ (शस्त्रभृतां वरः १।२।३) भार्गवराम ने क्षत्रियवंश का उन्मूलन करने के बाद रक्त के पाँच सरोवर, जो सम्भवतः गोलाई में होने के कारण समन्त पञ्चक कहलाये, भर दिए थे, और जहाँ पर उन्होंने अपने पितरों का तर्पण करके उनसे यह वर प्राप्त किया था कि यह शोणित ह्रद पवित्र जलतीर्थ के रूप में परिणत हो जावेंगे। (१।२।३ प्रभृति)—

त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥
स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः।
समंतपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान्॥
स तेषु रुधिराम्भस्सु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः।
पितॄन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम्॥

तुरन्त बाद ही नवें श्लोकमें यह बताया है कि, कुरु-पाण्डवों का युद्ध इसी समन्तपञ्चक में लड़ा गया था। (१।२।९)—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समंतपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥

इससे यह मालूम हुआ कि कुरुक्षेत्र का ही दूसरा नाम समन्तपञ्चक था। प्रत्यक्ष है कि, यह उस स्थान का भार्गव नाम था। लोक में भार्गव नाम विस्मृत हो गया, कुरुक्षेत्र नाम ही प्रचलित रह गया। अब भी प्रति वर्ष सूर्यग्रहण के समय लाखों यात्री अपने महान् पूर्वजों के रक्त से पवित्र हुए कुरुक्षेत्र के तीर्थों में स्नान करने के लिए एकत्रित होते हैं।

आदिपर्व में इसके बाद भार्गवराम का वर्णन अध्याय ५८ में आया है, विषय प्रायः वही है। इस प्रकार सब देवताओं ने इस पृथ्वीपर अवतार लिया। इस विषय के आरम्भ में ही भार्गवराम के सर्वक्षत्रान्तक पराक्रम का वर्णन किया गया है। (१।५८।४)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे॥

इस श्लोक की पहली पंक्ति विशेष ध्यान देनेयोग्य है। महाभारत में यह बार बार दुहराई गई है। कृष्ण द्वैपायनने

---

* पहला अंक महाभारत के पर्व को, दूसरा अध्याय को और तीसरा श्लोक को इंगित करता है। मूल लेखमें आदिपर्व के उद्धरण पूना के संशोधित संस्करण से दिये गये थे। शेष पर्वों के लिए चित्रशालाप्रेस से प्रकाशित साधारण संस्करण काम में लाया गया था। अब विराट् पर्व सम्पूर्ण और उद्योगपर्व के १०१ अध्याय संशोधित संस्करण के और छप चुके हैं और उद्धरणों के अंक उन्हीं से दे दिये गये हैं।

महात्मा पाण्डवों के तथा अन्य तेजस्वी क्षत्रियों के यशः-प्रचार के लिए जिस महाग्रन्थ की रचना की, उसके कोने-कोने में इस श्लोकांश की विजयध्वनि गूंजती हुई सुनाई पडती है। (१।५६।२५)—

कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा।
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम्॥

क्षत्रियों को नामशेष करके जब भार्गवराम महेन्द्र-पर्वत पर तप करने चले गये, तब क्षत्रियकुल की स्त्रियां पीछे रह गईं और क्षत्रियों की परम्परा के अस्त होने की आशङ्का उत्पन्न हो गई (आदि अ० ५८)। क्षत्रियों के निर्बीज होने पर उनकी स्त्रियों ने ब्राह्मणों के पास सन्तान के लिये प्रार्थना की और इस प्रकार पुनः क्षत्रियवंश का सूत्रपात हुआ। यह दूसरा क्षत्रकुल जो ब्राह्मणों से समुत्पन्न था, धर्मवृद्धिको प्राप्त हुआ और एक बार फिर ब्राह्मण प्रमुख चातुर्वर्ण्यव्यवस्था स्थापित हुई। (१।५८।८,१०)-

एवं तद्ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः।
जातमृध्यत धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम्।
चत्वारोऽपि तदा वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः॥
ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः॥

इस स्वर्गयुग के अनन्तर देवासुरसंग्राम में हारकर स्वर्ग से भागे हुए असुरों ने युद्ध को जारी रखने के लिए इस पृथिवी पर राजकुलों में जन्म लिया, और इस तरह फिर से धरती पर अत्याचारी राजा हुए। इस दुःख से घबराकर पृथिवी ब्रह्मा के पास गई और ब्रह्माने उसका भार हलका करनेके लिए आज्ञा दी कि सब देवी, देवता, गन्धर्व और अप्सरा असुरों से युद्ध करने के लिए पृथिवी पर जन्म लें।

देवों के अंशावतार की इस कथा में चतुराई के साथ भार्गवराम का चरित्र शामिल करके यह प्रगट किया गया है कि, ब्राह्मण वस्तुतः क्षत्रियों के उत्पादक बने। शान्तिपर्व में (अ० ४८।४९) यही कथा श्रीकृष्ण के मुख से कहलाई गई है और यह मानते हुए भी कि भार्गव रामने बहुत से क्षत्रियों को मार डाला यह कहा गया है कि, कुछ क्षत्रिय छिपकर बच गये थे और जब भार्गवराम तप करने चले गए, तब उन क्षत्रियों ने फिर राज्य संभाल लिया। पर आदिपर्व की इस कथा में तो वैशम्पायन इस विषय में निस्सन्दिग्ध हैं कि, राम के क्षत्रमेध में सभी क्षत्रिय काम आ गए थे और क्षत्रियों की पुनरुत्पत्ति नये सिरे से ब्राह्मणों ने की।

आदिपर्व के अध्याय ६० में देवादिक विविध भूतों की सृष्टि का वर्णन करते हुए थोडे से विषयान्तर के साथ भार्गवों की वंशावली भी दे दी गई है- इस अध्याय में केवलमात्र यही ब्राह्मणवंशावली रखी गई है।

इस सृष्टिविषयक वर्णन में कहा गया है कि, ब्रह्मा के ६ मानसपुत्र हुए और स्थाणु (शिव) के ११, जो ग्यारह रुद्र कहलाए। मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु, ब्रह्मा के ये ६ मानसपुत्र हैं; इस सूची में भृगु का नाम नहीं है। ब्रह्मा के दाहिने अंगूठे से दक्ष और बाएं से दक्षपत्नी हुई। दक्ष के ५० कन्याएं हुईं, जिनमें से १३ का विवाह मरीचि के पुत्र कश्यप के साथ हुआ। कश्यप की सन्तान देव और असुर कहलाए। देवगण का कीर्तन करने के बाद इस प्रकरण में तुरन्त भृगु और उनके वंशजों का वर्णन आता है (१।६०।४०)-

ब्रह्मणो हृदयं भित्वा निःसृतो भगवान्भृगुः।

देवों के अनुप्रसङ्ग में ही भृगु का नाम सम्भवतः उनके उच्च पद को प्रगट करता है। यह वंशावली अत्यन्त संक्षिप्त है और इसमें राम जामदग्न्य से निःसृत भार्गव-शाखा के वंशजों के ही नाम हैं। ब्रह्मा के हृदय को भेद कर उत्पन्न हुए भृगु इस शाखा के पूर्वपुरुष कहे गये हैं। परन्तु अनुशासनपर्व अध्याय ८५ में भृगु की उत्पत्ति अग्नि में पडे हुए प्रजापति के रेत से कही गई है। इस का कुछ समर्थन वैदिक साहित्य में मिलता है, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण (३।३४) में कहा है कि, प्रजापति का रेत त्रेधा विभक्त हुआ और उससे आदित्य, भृगु और अङ्गिरा उत्पन्न हुए। इस के विपरीत पञ्चविंश ब्राह्मण (१८।९।१) के अनुसार भृगु और उन दोनों की उत्पत्ति वरुण से कही गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१।१।१); शत० ब्राह्मण (११।६।१।१), तैत्तिरीय आरण्यक ९।१ में भी भृगु को वरुण का पुत्र कहा गया है; वरुण से ही उन्हें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। अनुशासनपर्व में दी हुई भृगुजन्म की कथा

में उपरोक्त मतों का कुछ समन्वय पाया जाता है।

इसके अनुसार शिव वरुण के रूप में यजन कर रहे थे। ब्रह्मा उसमें अधिष्ठाता थे और दूसरे देवता और देवियां भी उपस्थित थीं। सुंदरी देवाङ्गनाओं को देखकर ब्रह्माजी का रेत स्खलित हुआ। उसे मन्त्रों के साथ उन्होंने अग्नि में आहुत कर दिया। उसके द्वारा यज्ञीय अग्नि से तीन पुरुष उत्पन्न हुए। जो जलती हुई ज्वालाओं से उत्पन्न हुआ, वह भृगु कहलाया, अङ्गारोंसे अङ्गिरा हुए और बुझे हुए कोयलों से कवि उत्पन्न हुए। यह अनुश्रुति आदिपर्व के एक प्रक्षिप्त श्लोक में (आदि० २१६ +) जो उत्तरी भारत को अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों मिलता है, पाई जाती हैं—

भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा।
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम्॥

इसमें स्पष्ट कहा है कि, स्वयम्भू ब्रह्माने वरुण को यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न किया है।

आदिपर्व अ० ६० में दी हुई वंशावली के अनुसार भृगु के दो पुत्र थे, कवि (जिन के लडके शुक्र हुए) और च्यवन, शुक्र और च्यवन के बारे में महाभारत में बडी तूलतबील कथाएं हैं। च्यवन के बाद वंशावली इस प्रकार दी हुई है। च्यवन-और्व-ऋचीक-जमदग्नि-राम + ऋचीक को छोडकर अन्य सब भार्गवों के पराक्रमों की विस्तृत कथाएं महाभारत में मौजूद हैं। आदिपर्व अ० ७१ से ८० में ययाति की प्रसिद्ध कथा (ययात्युपाख्यान) है, जिस में शुक्र और उनकी गर्वीली कन्या देवयानी प्रमुख भाग लेते हैं। पार्जिटर के अनुसार ययाति से पाण्डवोंतक १९ पुश्तों का फर्क है। इसलिए यद्यपि पांडवों की कथा से उस उपाख्यान का सम्बन्ध नहीं के बराबर है, फिर भी ययाति उपाख्यान को भार्गवरंग में रंगे होने के कारण महाभारत में किसी पुराणान्तर से अपना लिया गया।

अध्याय १० में वैशम्पायन चन्द्रवंश का थोडासा वर्णन किया है, जिस में ययाति और उनके पांच पुत्रों का हवाला है, पर जनमेजय को इससे सन्तोष न हुआ है और उन्होंने वैशम्पायन से प्रार्थना की कि, महाराज ययाति की कथा जो कि प्रजापतिसे दस पीढी बाद हुए (दशमो यः प्रजापतेः १।७१।१) विस्तार से सुनाइए। ययाति की कथा इस प्रकार है—

अङ्गिरा के लडके बृहस्पति देवों के गुरु थे। भार्गव शुक्र जिनका नाम काव्य उशना भी है, असुरों के गुरु थे। अन्य भार्गवों की भांति शुक्र भी मन्त्रविद्या में प्रवीण थे, उन्हें मृतक को फिर से जीवित करनेकी सञ्जीवनीनामक विद्या का ज्ञान था। बृहस्पति इस में कोरे थे। इसलिए असुरों के साथ सफलतापूर्वक देवों को अडचन पडती थी। इसलिए देवों के कहने बृहस्पतिपुत्र कच शुक्राचार्य जो उस समय असुरराज वृषपर्वा के पुरोहित थे और सञ्जीवनी सीखनेके लिए उनके शिष्य बन कर रहे। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी वे सोचे समझे कच से प्रेम करने लगती है। कच उसके विवाह के प्रस्ताव को नम्र भाव से पर दृढता के साथ अस्वीकार कर देता है।

एक दिन जब वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और शुक्रकन्या देवयानी नदीस्नान को गई थीं, तब नदी तट पर रखे हुए उनके वस्त्रों को इन्द्रने एक में मिला दिया, जिस के कारण शर्मिष्ठाने भूल से देवयानी के कपडे पहिन लिए। इस पर दोनों में कहा सुनी हुई और शर्मिष्ठाने देवयानी को घासफूस से भरे हुए एक अन्धे कुएं में ढकेल दिया। वह वहां पडी थी कि, राजा ययातिने आकर उसको कुएं से निकाला और शुक्र की अनुमति से उससे विवाह कर लिया। इससे पहले ही अपने कुछ उजड्ड व्यवहार के कारण शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बन चुकी थी, इसलिए विवाह के समय उसे देवयानी के साथ ययाति के घर जाना पडा। कुछ दिन तक तीनों मजेमें रहे। शुक्राचार्यने ययाति को सचेत कर दिया था कि, वह शर्मिष्ठाके शरीरका स्पर्श न करे।

परन्तु विलासी ययातिसे यह न हो सका और शर्मिष्ठाने इस युक्ति से कि उसके ऋतुधर्म की रक्षा करना परम धर्म है ययाति को फुसलाकर उससे ३ पुत्र उत्पन्न किए। देवयानी के कुल दोही पुत्र थे। एक दिन अकस्मात् देवयानी पर सारा भेद खुल गया। वह क्रोध से कांपती हुई अपने पिता के घर पहुंची और सारी कथा कही। शुक्राचार्यने क्रोध में भर कर ययाति को शाप दिया कि उस का यौवन नष्ट हो जाय और बुढापा घेर ले। ययाति बूढे हो गए। पीछे से तरस खाकर शुक्राचार्यने वरदान

+ परशु रखने के कारण भार्गवराम का एक नाम परशुराम भी प्रसिद्ध है, पर यह नाम महाभारत में नहीं मिलता।

दिया कि ययाति चाहे तो अपना बुढापा किसी के यौवन से बदल सकता है। ययातिने अपने पांचो पुत्रों से यौवन मांगा। परन्तु शर्मिष्ठा की कोख से उत्पन्न सब से छोटे पुत्र पुरू के सिवाय और कोई राजी न हुआ। उस की पितृ-भक्ति से प्रसन्न होकर ययातिने आगे चल कर उसी को राज्य दिया।

इस कथा में हम देखते हैं कि, भार्गववंशी देवयानी के हर तरह पौ बारह हैं। बेचारी शर्मिष्ठा पीछे डाल दी गई है। हां अन्त में अवश्य शर्मिष्ठा के लडके पुरूको राज्य मिलता है। ययाति उपाख्यान में शर्मिष्ठा की उपेक्षा होने पर भी हम देखते हैं कि, उसकी गणना आदर्श पतिव्रता नारियों में की गई है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में अपनी प्यारी पुत्री शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए काश्यपकण्व ऋषि को शर्मिष्ठा का उदाहरण ही सर्वोत्तम जंचा—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्त्तुर्बहुमता भव।

अर्थात् जैसे ययातिके यहाँ शर्मिष्ठा पूजी गई, वैसे तुम भी पति के यहाँ आदर पाओ।

भार्गवराम के द्वारा क्षत्रियों के नाश और ब्राह्मणों से उनकी उत्पत्ति का जिक्र आदिपर्व के अ० ९८ में तीसरी बार फिर आया है। भीष्म और सत्यवती का सम्वाद हो रहा है। शन्तनुपुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की अकाल मृत्यु से कुरुकुल का उच्छेद हो जाने के कारण सत्यवती भीष्म से प्रस्ताव करती है कि, वह विचित्रवीर्य की स्त्रियों के साथ सन्तान उत्पन्न करे। भीष्मने अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है, इसलिए वे इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। उन्होंने सलाह दी कि, किसी ब्राह्मण के नियोग से पुत्र उत्पन्न कराओ। इस आपद्धर्म के समर्थन के लिए जो कथा भीष्मने कही, वह वही भार्गवराम की पुरानी कथा है। अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए भार्गवरामने हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन को मार डाला और फिर धनुष उठा कर अपने दिव्य अस्त्रों से अनेक बार क्षत्रियों का विध्वंस कर डाला। इस प्रतापी भृगुवंशजने २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्र कर दिया (१।९८।३)—

त्रिःसप्तकृत्वः पथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।

इस आपत्काल में धर्मात्मा ब्राह्मणोंने क्षत्रिय स्त्रियों में बीज वपन करके फिर क्षत्रियों के उत्सन्न कुलों को जीवित किया। सत्यवती को भी इसी युक्ति से कुरुवंश की रक्षा करनी चाहिए।

अबतक भार्गवों के पुराने चरित्रों का वर्णन आता रहा है। अ० १२१ में पहिली बार महाभारत के एक जीवित पात्र का एक भार्गव से सम्पर्क देखा जाता है। इस पुराण-मिश्रित इतिहास में यह आवश्यक नहीं कि यह सब कथाएं समसामयिक घटनाओं के आधार पर ही हों, इसलिए जो भार्गवराम कुछ देर पहले त्रेता और द्वापर की सन्धि में वर्तमान थे, वे द्वापर और कलियुग के बीच में होनेवाले आचार्य द्रोण के गुरु बताए गए हैं। सम्भव है यह शिष्यपना केवल लाक्षणिक हो। क्योंकि द्रोण, कौरव, पाण्डव और दूसरे वीर क्षत्रियों के गुरू थे और भारतयुद्ध के अगुआ वीरों में से थे, इसलिए उनका भी कोई गुरु होना चाहिए। भार्गवराम से जो सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ से (सर्वशस्त्रभृतां वरः) अच्छा गुरू और कौन होता? एक बार इसे स्वीकार कर लेने पर कथा को अच्छी तरह मांज डाला गया।

यह बताया गया है कि, विद्या पढकर जब द्रोण गृहस्थ हुए, उन्हें गरीबीने सताया। उन्होंने सुना कि, भार्गवराम ब्राह्मणों को धन बांट रहे हैं। कथाकार के लिए इसमें झझककी बात न थी, क्योंकि राम चिरंजीवी हैं। जब द्रोण पहुंचे, राम बन जाने को तैयार थे। उन्होंने कहा- जो धन था, मैं ब्राह्मणों को दे चुका, यह पृथ्वी भी मैंने अपने पुरोहित कश्यप को दी डाली और अब एक पार्थिव शरीर और दूसरे दिव्य अस्त्रों को छोडकर और पास कुछ नहीं बचा, तुम जो चाहे ले लो। द्रोणने दिव्य अस्त्र मांग लिए। भार्गवरामने प्रसन्नतापूर्वक उन अस्त्रों को दे दिया और साथ ही उनकी विद्या भी द्रोण को सिखला दी। द्रोण की यह कथा संक्षेप के साथ अ० १५४ में फिर आई है। द्रोपदी के स्वयम्वर में जाते हुए पाण्डवों को एक ब्राह्मण उसे सुनाता है।

आदिपर्व पृ० १६९ से १७२ में फिर भार्गवइतिहास आता है कि, जिसका नाम और्वोपाख्यान है। वस्तुतः यह विषयान्तर के भीतर विषयान्तर है।

(क्रमशः)

(अभिधेहि) स्थापित कर। और इस तरह (नः पवस्व) हमारी रक्षा कर, हमें पुनीत कर। (भूमिः) यह भूमि हमारी (माता) माता है, और (अहम्) मैं उस (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवीका पुत्र हूँ. [नरक से या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे, वह पुत्र है। हम माता के दुःखको दूर करेंगे इससे पुत्र हैं।] (पर्जन्यः) जल के वृष्टि से पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् शस्यसंपत्ति से पालन करने-वाले हैं. (स उ नः) वह हमें निश्चयसे (पिपर्तु) पालन करे ॥१२॥

भावार्थ— हे मातृभूमि ! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं, उन सबोंकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करने के लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःखसे छुडानेवाले हैं। इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबोंका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे॥१२॥

O (पृथिवि) mother-earth ! (यत् ते मध्यं) what is thy middle part, (यत् च नभ्यं) what is thy navel and (याः) what (ऊर्जः तन्वः) forceful bodies (सं-बभुवुः) arose from you, (तासु) in them (नः अभिधेहि) do thou keep us, (नः पवस्व) be purifying towards us. (भूमिः माता) Earth is our mother, (अहं पृथिव्याः पुत्रः) I am the son of this earth, (पर्जन्यः पिता) the rain is our father, (स उ नः पिपर्तु) may he protect us.

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः। यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्। सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

पदानि— यस्याम्। वेदिम्। परिऽगृह्णन्ति। भूम्याम्। यस्याम्। यज्ञम्। तन्वते। विश्वऽकर्माणः। यस्याम्। मीयन्ते। स्वरवः। पृथिव्याम्। ऊर्ध्वाः। शुक्राः। आऽहुत्याः। पुरस्तात्। सा। नः। भूमिः। वर्धयत्। वर्धमाना ॥१३॥

अर्थ— (यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे लोग यज्ञकी वेदीका स्वीकार करते हैं, (यस्यां विश्वकर्माणः) जिसमें उन्नति के लिये कर्म करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) परोपकार का ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, [जिसमें सज्जनों का सत्कार हो तथा उनके साथ सत्संग भी हो.] (यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्) जिस पृथिवी में पहिले (ऊर्ध्वाः) उन्नति करनेवाले, (शुक्राः) वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुती के साथ (स्वरवः) यज्ञीय यूप (मीयन्ते) लगाये जाते हैं, (सा नो भूमिः वधमाना) वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हम लोगोंकी (वर्धयत्) उन्नति करे ॥१३॥

भावार्थ — जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमि में लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं। हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण हो ॥१३॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **विश्वकर्मन्** –विश्वहित के लिये कर्म करनेवाले, सब प्रकारके श्रेष्ठ कर्म करने हारे।

२. **मी**– हिंसा करना, गति करना, स्थिर रखना।

(सा नो) Let that our (वर्धयत् भूमिः) prosper-ing motherland, (यस्यां भूम्यां) on whom (परिगृह्णन्ति) people enclose (वेदिं) the sacrificial altar; (यस्यां) on whom (विश्वकर्माणः) men of varied works (तन्वते) extend (यज्ञं) their

sacrifice, (यस्यां पृथिव्यां) on whom (ऊर्ध्वाः शुक्राः स्वरवः) erect and powerful sacrificial posts (मीयन्ते) are erected, (आहुत्याः पुरस्तात्) before the oblation; (नः वर्धयत्) make us prosper.

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

पदानि— यः। नः। द्वेषत्। पृथिवि। यः। पृतन्यात्। यः। अभिऽदासात्। मनसा। यः। वधेन। तम्। नः। भूमे। रन्धय। पूर्वऽकृत्वरि ॥१४

अर्थ— हे (पृथिवि यः नः द्वेषत्) मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है, (यः पृतन्यात) जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है, (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध कतल कर हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसेहि शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥१४॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! जो हमसे शब्दोंद्वारा द्वेष करते हैं, जो हमारे वैरी सेना ले हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये टपे बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओं का पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥१४॥

मन्त्रस्थ पदोंके अर्थ।

१. **पृतन्यात्**- सेनासे हमला करे,
२. **अभिदासात्**- नाश करे, दास बनावे,
३. **द्वेषत्**- द्वेष करे,
४. **रन्ध्**- नाश करना, समाप्त करना, संपूर्ण करना।

O (पृथिवी) earth! O (पूर्वकृत्वरि भूमे) prior-acting mathrland! (यः) who (नः द्वेषत्) hates us, (यः) who (पृतन्यात्) fights against us, (यः) who (अभिदासात्) threatens us (मनसा) with mental thoughts and (यः वधेन) with deadly weapon, (रन्धय:) annihilate (तं) him.

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

पदानि— त्वत्। जाताः। त्वयि। चरन्ति। मर्त्याः। त्वम्। बिभर्षि। द्विऽपदः। त्वम्। चतुःऽपदः। तव। इमे। पृथिवि। पञ्च। मानवाः। येभ्यः। ज्योतिः। अमृतम्। मर्त्येभ्यः। उत्ऽयन्। सूर्यः। रश्मिऽभिः। आतनोति ॥१५॥

अर्थ— हे (पृथिवी) हमारी मातृभूमि! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारे हीमें पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुम्हारेहीमें चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववालों को और (चतुष्पदः) चौपायोंको (त्वं बिभर्षि) धारणपोषण करती हो, (येभ्यः मर्तेभ्य) जिन मनुष्योंके लिये (अमृतम्) जीवनका हेतुभूत (ज्योतिः) तेज (उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः) उदित हुआ सूर्य किरणोंसे (आतनोति) विस्तार करता है, (इमे) ये हम (पंच मानवा) पांच प्रकारके मनुष्य (तव) तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥१५॥

भावार्थ-- हे हमारी मातृभूमि! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्र को तू आधार देकर पालतीपोषती है; जिस हमारे जीवनके लिए यह देदीप्यमान सूर्य अपनी अमृतमय किरणों को चारों ओर फैलाता रहता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यौपारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तुम्हारी सेवा करने की इच्छा करते हैं ॥१५॥

(त्वज्जाताः) Born from thee (मर्त्याः त्वयि चरन्ति) mortals move about upon thee, (त्वं) thou (बिभर्षि) bearest (द्विपदः त्वं चतुष्पदः) bipeds and quadrupeds; (पृथिवि) O motherland! (तव) Thine are (इमे पञ्च मानवाः) these five races of men, (येभ्यः मर्त्येभ्यः) for whom, mortals, (उद्यन् सूर्यः) the rising sun (आतनोति) extends (रश्मिभिः) with his rays (अमृतं ज्योतिः) immortal light.

ता नः॑ प्र॒जाः सं दु॑ह्रतां सम॒ग्रा वा॒चो मधु॑ पृथिवि धे॒हि मह्य॑म् ॥१६॥

पदानि— ताः । नः॒ । प्र॒ऽजाः । सम् । दु॒ह्र॒ता॒म् । स॒म्ऽअ॒ग्राः । वा॒चः । मधु॑ । पृ॒थि॒वि॒ । धे॒हि॒ । मह्य॑म् ॥१६॥

अर्थ— हे (नः पृथिवि !) हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग तुम्हारी (ताः प्रजाः) प्रजा (समग्राः) सब (मधु) मधुर प्रेमपूर्ण (वाचः) वाणी (संदुह्रताम्) एकत्र होकर बोलें, (मह्यम्) हमको भी मधुर वचन बोलने की शक्ति दे ॥१६॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें, वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो; झूठ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलने की शक्ति दे ॥१६॥

O (पृथिवि) motherland! Let (ताः समग्राः प्रजाः) all these creatures without exception, (सं दुह्रतां) together yield from it to us, (मह्यं धेहि) and do thou assign to me (वाचो मधु) the honey of speech.

वि॒श्व॒स्वं॑ मा॒तर॒मोष॑धीनां ध्रु॒वां भूमिं॑ पृथि॒वीं धर्म॑णा धृ॒ताम् । शि॒वां स्यो॒ना॒मनु॑ चरेम वि॒श्वहा॑ ॥१७॥

पदानि— वि॒श्व॒ऽस्व॒म् । मा॒तर॑म् । ओष॑धी॒नाम् । ध्रु॒वाम् । भूमि॑म् । पृ॒थि॒वीम् । धर्म॑णा । धृ॒ताम् । शि॒वाम् । स्यो॒नाम् । अनु॑ । च॒रे॒म॒ । वि॒श्वहा॑ ॥१७॥

अर्थ— (विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की (मातरं ध्रुवां पृथिवीम्) यह विस्तीर्ण, लम्बी, चौडी, स्थिर माता पृथिवी (धर्मणा) सत्य ज्ञान, शूरता, वीरता आदि धर्मसे (धृताम्) पालित पोषित और (शिवाम्) कल्याणमयी (स्योनाम्) सुखकी देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी (विश्वहा) सदा (अनुचरेम) हम सेवा करें ॥१७॥

भावार्थ— जिसमें सब तरह की उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं, जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर है; विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह आदि सदाचार और सद्गुणयुक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकार के सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥१७॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ ।

१. **विश्वस्वं**- सर्वस्व, सबका उत्पादन करनेवाली ।
२. **धर्मणा**- धर्मसे, कर्तव्यसे, नियमपालनसे ।
३. **अनुचर्**- सेवा करना ।
४. **विश्वहा**- सर्वदा ।

May we (विश्वहा) always (अनुचरेम) serve our (भूमिं) motherland, who is (विश्वस्वं) all-producing, (ओषधीनां मातरं) mother of herbs, (ध्रुवां) fixed, (पृथिवीं) spacious (धर्मणा धृतां) maintained by doing our duties, (शिवां) the auspicious and (स्योनां) the pleasant.

म॒हत् स॒धस्थं॑ मह॒ती ब॑भूविथ म॒हान् वेग॑ ए॒जथु॑र्वे॒पथु॑ष्टे । म॒हांस्त्वेन्द्रो॑ रक्ष॒त्यप्र॑मादम् । सा नो॑ भूमे॒ प्र रो॑चय॒ हिर॑ण्यस्येव सं॒दृशि॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥१८

पदानि- महत् । सधऽस्थम् । महती । बभूविथ । महान् । वेगः । एजथुः । वेपथुः । ते । महान् । त्वा । इन्द्रः । रक्षति । अप्रऽमादम् । सा । नः । भूमे । प्र । रोचय । हिरण्यस्यऽइव । सम्ऽदृशि । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥१८॥

अर्थ— हे मातृभूमि! तुम हम सबोंको (महत् सधस्थम्) एक साथ मिलकर रहने का स्थान हो, इस तरह तुम (महती बभूविथ) बडी होती रही हो। (ते) तुम्हारा (एजथुः वेपथुः) हिलना डोलना (महान्) बडा (वेगः) वेग या गतियुक्त होता है। इस प्रकार की (त्वाम्) तुमको (महान् इन्द्रः) शूर इन्द्र (अप्रमादम्) प्रमादरहित होकर (रक्षति) रक्षा करते है। (भूमे हे मातृभूमि (सा) सो तुम (हिरण्यस्य इव संदृशि) सोनेकी तरह चमकनेवाली बन और (नः) हमें (कश्चन) कोइं भी (मा द्विक्षत) वैर भावसे न देखें ॥१८॥

भावार्थ-- हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबोंकों एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है; तू आकाशमें हिलते डोलते जिस वेगसे जाती है, वह वेग बहुही बडा है, ज्ञानी, शूर वीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली शत्रुको नाश करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाडी, भीरु और विगतधैर्य नहीं कर सकते, तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है; हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥१८॥

O (भूमे) mother-land ! (बभूविथ) thou hast become our (महत्) vast and (महती) great (सधस्थं) abode. (ते महान् वेगः) Great is thy motion, (एजथुः वेपथुः) action and movement. (महान् इन्द्रः) The great Lord (त्वा रक्षति) guards thee (अप्रमादं) with unceasing care. (सा नः प्ररोचय) So make us shine (हिरण्यस्य इव संदृशि) with the splendour of gold (मा नो द्विक्षत कश्चन) and let no one so ever hate us.

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु। अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥१९॥

पदानि- अग्निः । भूम्याम् । ओषधीषु । अग्निम् । आपः । बिभ्रति । अग्निः । अश्मऽसु । अग्निः । अन्तः । पुरुषेषु । गोषु । अश्वेषु । अग्नयः ॥१९॥

अर्थ— (भूम्याम्) पृथिवी के मध्यभागमें (अग्नि) अग्नि है; (ओषधीषु) औषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है; जिन औषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूख लगती है, (आपः) जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत् के रूपमें अग्नि को धारण करता है। (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादि में (अग्निः) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जाठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोडे आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥१९॥

भावार्थ-- सब पदार्थ अग्निमय हैं। उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक) पत्थर, मनुष्य, गाय, घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं, उसी प्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थों के भोक्ता हैं, अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥१९॥

(भूम्यां अग्निः) There is fire in the earth, and (ओषधीषु) in the plants, (अग्निं आपः बिभ्रति) the waters hold fire in them and (अश्मसु अग्निः) there is fire in the stones. (पुरुषेषु अन्तः अग्निः) The fire is within men and (गोषु अश्वेषु अग्नयः) the fires abide in cows and in horses.

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व॑१न्तरि॑क्षम् । अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते ह॒व्यवाहं॑ घृ॒तप्रि॑यम् ॥२०॥

पदानि— अ॒ग्निः । दि॒वः । आ । त॒प॒ति । अ॒ग्नेः । दे॒वस्य॑ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । अ॒ग्निम् । मर्ता॑सः । इ॒न्ध॒ते । ह॒व्य॒ऽवाह॑म् । घृ॒तऽप्रि॑यम् ॥२०।

अर्थ— (दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूप में अग्नि है । (आतपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है। (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बडा (अन्तरिक्षं) आकाश प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहम्) होम की हुई आहुतिका ले जानेवाला (घृत-प्रियं) घी को प्यार करनेवाला (अग्नि) अग्नि [ऋतुओं के बदलनेपर रोगों के नाशके लिये] भौतिक (मर्तासः) मनुष्य लोग इन्धते दीपित करते हैं ॥२०॥

भावार्थ— आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नाम की एक बडी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए द्रव्यको हवनद्वारा चारों ओर फैलानेके लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं। उस अग्निमें हम भी दिनरात हवन करते हैं ॥२०॥

(अग्निः दिवः आतपति) The fire sends heat from the sky and (देवस्य अग्नेः उरु अन्तरिक्षम्) the wide atmosphere belongs to god-fire also (मर्तासः) mortals (इन्धते) kindle (अग्निं) fire, who is (हव्यवाहं) oblation-bearer and (घृतप्रियं) ghee-lover.

अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य॑सित॒ज्ञूस्त्विषी॑मन्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥२१॥

पदानि— अ॒ग्निऽवा॑साः । पृ॒थि॒वी । अ॒सि॒त॒ऽज्ञूः । त्विषि॑ऽमन्तम् । सम्ऽशि॑तम् । मा॒ । कृ॒णो॒तु ॥२१॥

अर्थ-- (अग्निवासाः) अग्नि से व्याप्त (असितज्ञूः) काले कज्जल से जो जाना जाय, वह अग्नि (पृथिवी असि) पृथिवी के रूप में रहनेवाला (मां) मुझको (त्विषीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे २१

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमि में चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमि का वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान, कीर्ति और यश को बढानेवाली हो ॥२१॥

Let the (पृथिवी) earth, who is (अग्निवासाः) surrounded with fire and therefore it is (असितज्ञूः) dark-knead, (मा संशितं कृणोतु) make me ingenious and (त्विषीमन्तं) brilliant.

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. **अग्निवासाः**= अग्नि का वस्त्र, अथवा अग्निसे जो घेरी हुई है । २. **असितज्ञूः**= अग्नि जहां जलती है, वहां काला धब्बा होता है, वैसी कृष्ण वर्ण । ३. **संशित**=तीक्ष्ण, सूक्ष्म, सूक्ष्म बुद्धिसे युक्त ।

भूम्यां॑ दे॒वेभ्यो॑ ददाति य॒ज्ञं ह॒व्यमरं॑कृतम् । भूम्यां॑ मनु॒ष्या॑ जीवन्ति स्व॒धयान्ने॑न॒ मर्त्याः॑ । सा नो॒ भूमिः॑ प्रा॒णमायु॑र्दधातु ज॒रद॑ष्टिं मा पृथि॒वी कृ॑णोतु ॥२२॥

पदानि— भूम्या॑म् । दे॒वेभ्यः॑ । द॒दा॒ति । य॒ज्ञम् । ह॒व्यम् । अरं॑म्ऽकृतम् । भूम्या॑म् । म॒नु॒ष्याः॑ । जी॒व॒न्ति॒ । स्व॒धया॑ । अन्ने॑न । मर्त्याः॑ । सा । नः॒ । भूमिः॑ । प्रा॒णम् । आयुः॑ । द॒धा॒तु । ज॒रत्ऽअ॑ष्टिम् । मा॒ । पृ॒थि॒वी । कृ॒णो॒तु ॥२२॥

अर्थ-- मनुष्य (भूम्यां अरंकृतं) जिस भूमि में अलंकृत सुसंस्कृत (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं। इससे जिस भूमि में (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न खाने पीने की वस्तुसे (मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य

(मनुष्याः जीवन्ति:) जीते हैं। (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥२२॥

भावार्थ— जिस हमारी भूमि में मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थों का हवन कर के वायु और जल आदि को शुद्ध करते हैं, जिस भूमि में यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्द से निवास करते हैं, वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥२२॥

मन्त्रस्थ पदोंका अर्थ।

१. स्वधा= अन्न, जिससे शरीरकी धारणा होती है।

२. जरदष्टि= वृद्ध अवस्था तक दीर्घ आयु।

(भूम्यां) On this earth (यज्ञं ददति) men offer sacrifice and (अरंकृतं हव्यं) duly prepared oblation (देवेभ्यः) to the deities. (मर्त्याः मनुष्याः) mortal men (भूम्यां जीवन्ति) live upon this earth (स्वधया अन्नेन) by self-supporting food. May (सा भूमिः) this earth (प्राणं दधातु) grant us breath, (आयुः) long life and let (पृथिवी) this earth (मा जरदष्टिं कृणोतु) give me life of longest duration.

यस्ते॑ ग॒न्धः पृ॑थिवि संब॒भूव॒ यं बिभ्र॒त्योष॑धयो॒ यमापः॑। यं ग॑न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रस॑श्च भेजि॒रे तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥२३॥

पदानि– यः। ते॒। ग॒न्धः। पृ॒थि॒वि॒। सम्ऽब॒भूव॑। यम्। बिभ्र॑ति। ओष॑धयः। यम्। आपः॑। यम्। ग॒न्ध॒र्वाः। अ॒प्स॒रसः॑। च॒। भे॒जि॒रे। तेन॑। मा॒। सु॒र॒भिम्। कृ॒णु॒। मा। नः॒। द्वि॒क्ष॒त॒। कः। च॒न ॥२३॥

अर्थ— हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी, जो तेरे में से गन्ध पैदा होती है, (यं) जिस गन्ध को (ओषधयः बिभ्रति) ओषधियां धारण करती हैं, (यः) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वा) गंधर्व और (अप्सरसः च) अप्सराएँ धारण करती हैं, (यं गंधं) जिस गंधका (भेजिरे) सुख भोग (तेन) सुगंधिसे (मा) मुझको (सुरभिं) सुगंधि-युक्त (कृणु) करे। (नः) हम लोगोंमें (कश्चन) कोई भी (मा द्विक्षत) किसी से द्वेष न करे, सब लोग आपस में मित्रता से रहें ॥२३॥

भावार्थ— हे मातृभूमि ! जो तुम्हारे में उत्तम सुगन्धि है, वह औषधि और वनस्पतियों में प्रगट होती है, उसी सुगन्धि को सूर्य अपनी किरणों से उद्दीपन करते हैं। हमें उस उत्तम सुगन्धि से भूषित करो और हमारे बीच कोई आपसमें किसी से भी वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्री भाव से रहें ॥२३॥

(यः गन्धः) The scent that (सं बभूव) hath risen (ते) from Thee, O (पृथिवि) Earth! the fragrance, (यं) which (ओषधयः) plants and (यं आपः) waters (बिभ्रति) carry, (यं गन्धर्वाः अप्सरसः भेजिरे) which is shared by Gandharvas & Apsarases, (तेन) with that (कृणु) do Thou make (मा) me (सुरभिं) fragrant; (मा नो द्विक्षत कश्चन) let no one hate us.

यस्ते॑ ग॒न्धः पुष्क॑रमावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्याया॑ वि॒वाहे॑। अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥२४॥

पदानि– यः। ते॒। ग॒न्धः। पुष्क॑रम्। आऽवि॒वेश॑। यम्। सम्ऽज॒भ्रुः। सू॒र्यायाः॑। वि॒वाहे॑। अम॑र्त्याः। पृ॒थि॒वि॒। ग॒न्धम्। अग्रे॑। तेन॑। मा॒। सु॒र॒भिम्। कृ॒णु॒। मा। न॒ः। द्वि॒क्ष॒त॒। कः। च॒न ॥२४॥

अर्थ- हे (पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं) जो तुम्हारी गंध कमल में (आविवेश) प्रविष्ट हुई है, (अग्रे) पहिले (यं गन्धं अमर्त्याः) जिस गन्ध को वायु आदि देवता (सूर्यायाः) उषाके (विवाहे) विवाह के समय (संजभ्रुः) धारण करते हैं, (तेन मां सुरभिं कृणु) उस सुगन्धि से हमें सुगन्धित करो। (कश्चन) कोई भी (नः) हम लोगों से (मा द्विक्षत) द्वेष न करे ॥२४॥

भावार्थ— हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है, सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धि से हमें सुगन्धित करो। हम में कोई किसी से द्वेष न करे। हम में सब का एक दूसरे के साथ स्नेह बढे और सब समाज के लिये हितकारी हों ॥२४॥

(ते गन्धः) Thy scent (यः) which (आविवेश) entered (पुष्करं) into the lotus, the scent, (यं) which (संजभ्रुः) they brought together (सूर्यायाः विवाहे) at surya's wedding, the (गन्धं) scent which was collected by (अमर्त्याः) the immortals, O (पृथिवि) Earth ! (अग्रे) in the beginning, (तेन) by that (मा सुरभिं कृणु) do thou make me odorous; (मा नो द्विक्षत कश्चन) let no one hate me.

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः । यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु । कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥

पदानि- यः । ते । गन्धः । पुरुषेषु । स्त्रीषु । पुम्ऽसु । भगः । रुचिः । यः । अश्वेषु । वीरेषु । यः । मृगेषु । उत । हस्तिषु । कन्यायाम् । वर्चः । यत् । भूमे । तेन । अस्मान् । अपि । सम् । सृज । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥२५॥

अर्थ— हे (भूमे) भूमि, (यः ते गन्धः वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः) वीर पुरुषों में, स्त्रियों में, साधारण पुरुषों में जो सुगंध कान्ति है, (यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु) जो घोडों में, चौपायों में, हाथियों में, (यत् वर्चः) जो तेजरूप है, (कन्यायां) विना व्याही कन्याओं में जो तेज है, (तेन) उस दिव्य तेजसे (अस्मान् अपि) हममें भी वैसाही तेज (संसृज) पैदा कर दे । (कश्चन मा द्विक्षत्) हम में कोई किसी से द्रोह न करे ॥२५॥

भावार्थ— हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्रीपुरुषों में, हाथी, घोडे, चौपाये आदि में, ब्रह्मचारियों ब्रह्मचारिणी कन्याओं में जो तेज है, वह हममें भी बचपन से ही हो। हम में कोई भी किसी से द्रोह न करे ॥२५॥

(यः गन्धः) What scent (ते) of thine is (पुरुषेषु स्त्रीषु) in men and in women; what (भगः) luck and (रुचिः) light is (पुंसु) in men, (यः) what is (अश्वेषु वीरेषु) in horses and in heroes, (यः मृगेषु) what is in wild animals (उत हस्तिषु) and in elephants, (यत् वर्चः) what splendor, (भूमे) O earth ! (कन्यायां) is in a maiden, (तेन अस्मान् अपि संसृज) with that do thou unite us also, (मा नो द्विक्षत कश्चन) let no one hare us.

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता । तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

पदानि- शिला । भूमिः । अश्मा । पांसुः । सा । भूमिः । सम्ऽधृता । धृता । तस्यै । हिरण्यऽवक्षसे । पृथिव्यै । अकरम् । नमः ॥२६

अर्थ— जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलियुक्त (भूमिः) भूमि है, (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरता से (धृता) भली भांति रक्षित हुई, (संधृता) अच्छी तरह योग्यताके साथ सुरक्षित हुई कहला-

वेगी; (तस्यै हिरण्यवक्षसे) उस भूमि को जिसमें सोनेकी खान है, (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं॥२६

भावार्थ-- जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण, रत्नादिक अमूल्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृ-भूमि को हम नमस्कार करते हैं। जब तक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं, तभी तक हमारी मातृभूमिका संरक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे॥२६॥

(शिला) Rock, (अश्मा) stone, (पांसुः) dust and (भूमिः) earth is (सा भूमिः) this earth. When this land is (संधृता) held collectively (धृता) is realy held. (नमः अकरं) I have paid homage (तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्यै) to that gold-breasted land.

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥२७॥

पदानि- यस्याम्। वृक्षाः। वानस्पत्याः। ध्रुवाः। तिष्ठन्ति। विश्वहा। पृथिवीम्। विश्वऽधायसम्। धृताम्। अच्छऽआवदामसि।२७

अर्थ-- (यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड और लता आदि (विश्वहा) सदा (ध्रुवाः) स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, (धृताम्) धारण की गई अर्थात् भली भांति सुरक्षित रखी गई, (पृथिवीं अच्छ) उस पृथिवीकी हम मुख्यतया (आवदामसि) प्रशंसा गाते हैं॥२७॥

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायत से हैं और सब स्थिर रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए गुणोंसे भरी पूरी है, और सबका आधार है, हम से अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवी की हम प्रेमसहित स्तुति गाते हैं॥२७॥

(अच्छ आवदामसि) We praise this (विश्वधायसं) all-supporting (पृथिवीं) land which is (धृतां) held together collectively and (यस्यां) on whom (वृक्षाः) trees and (वानस्पत्याः) forests (विश्वहा) always (तिष्ठन्ति) stand (ध्रुवाः) firm.

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः। पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥२८॥

पदानि- उत्ऽईराणाः। उत। आसीनाः। तिष्ठन्तः। प्रऽक्रामन्तः। पत्ऽभ्याम्। दक्षिणऽसव्याभ्याम्। मा। व्यथिष्महि। भूम्याम्॥२८॥

अर्थ--(उदीराणाः) चलते फिरते (उत आसीनाः) बैठे हुए (तिष्ठन्तः) खडे हुए (प्रक्रामन्तः दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां) दाहिने या बांये पांवसे टहलते हुए (भूम्यां मा व्यथिष्महि) भूमिमें हम किसीको दुःख न दें॥२८॥

भावार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें॥२८॥

Let us (मा) not (भूम्यां व्यथिष्महि) hurt our land (दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां) with our right and left feet, while (उदीराणाः) rising, (उत आसीनाः) sitting, (तिष्ठन्तः) standing and (प्रक्रामन्तः) going about.

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्। ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥२९॥

पदानि- विमृग्वरीम्। पृथिवीम्। आ। वदामि। क्षमाम्। भूमिम्। ब्रह्मणा। ववृधानाम्। ऊर्जम्। पुष्टम्। बिभ्रतीम्। अन्नऽभागम्। घृतम्। त्वा। अभि। नि। सीदेम। भूमे॥२९॥

८. इमे त इन्द्र ते वयं ये त्वारभ्य चरामसि ।
इत्यध्ययनमेकेषां मुख्यः पादस्तदाष्टकः ।
९. अस्माकं तु जगत्येषा पुरुष्टुतपदान्विता ॥

यदि तीन पाद १२ अक्षरोंके हों और एक अन्तिम पाद आठ अक्षरोंका हो, तो विद्वान् उसको 'ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' कहते हैं। जहां भी आठ अक्षरों का पाद हो तदनुसार 'त्रिष्टुप्' का नाम होता है। जैसे 'पुरस्तात् ज्योतिस्त्रिष्टुप्' और 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप्' जैसे --

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो । नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ [ऋ० १।५७।४]

ऐसा एक शाखियों का पाठ है। तब आठ अक्षरों का पाद ही मुख्य माना जाता है। हमारे मत में यह 'जगती' छन्द है। इस में 'पुरुस्तुत' पद लगा है।

['इमे त इन्द्र०' इस ऋचामें ऋग्वेद या अन्य किसी वेद की शाखामें प्रथम चरणमें 'पुरुष्टुत्' पद नहीं पठित हैं, इससे प्रथम पाद आठ अक्षरों का हो जाता है, अतः यह 'पुरस्ताज्ज्योति त्रिष्टुप्' होता है, परन्तु वर्तमान शाकलशाखीय ऋग्वेदमें, वा शौनकीय अथर्व और साममें भी 'पुरुष्टुत' पद है, अतः वह सर्वत्र जगती छन्द है। इस ऋचा में प्रत्येक पादमें क्रमसे 'पुरुष्टुत,' 'प्रभूवसो,' 'गिर्वणः' और 'क्षोणीरिव' ये पद पृथक् करें, तो यह ऋचा अनुष्टुप् हो जावेगी।

द्वादशिनस्त्रयोऽष्टकं च ज्योतिष्मति ।
यतोऽष्टकस्ततो ज्योतिः ॥ (कात्या०)

त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित् ।
एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यतोऽष्टकः ॥
(ऋ० प्रा० १६।६६)

ऋक्-प्रातिशाख्यमें भी 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' का उदाहरण नहीं हैं।

एकेन त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती तथा जगती । पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन ॥ मध्येज्योतिः मध्यमेन उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन ॥ (पिं० अ० ३।५०-५४)

पिंगल के इन सूत्रों की हलायुधकृत व्याख्यानुसार-

(१) एकपाद त्रैष्टुभ (११ अक्षर) और चार पाद गायत्र (११+८+८+८+८=४३) (८ अक्षर) हों, तो 'ज्योतिष्मति त्रिष्टुप्' कहाती है।

(२) एक जागत (१२ अक्षर) पाद और ४ गायत्रपाद हों, तो ज्योतिष्मती जगती (८+८+८+८+१२) होती है।

(४) यदि त्रैष्टुभ (११ अक्षर) पाद प्रथम हो, तो (११+८+८+८+८=४३) पुरस्तात्-ज्योतिस्त्रिष्टुप्।

(५) यदि त्रैष्टुभ पाद (११ अक्षर) मध्य में हो, तो 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप्' (८+८+११+८+८)।

(६) यदि त्रैष्टुभ् (११ अक्षर) पाद अन्तमें हो, (८+८+८+८+११=४३) तो उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् जानना चाहिये। इसी प्रकार 'ज्योतिष्मती जगती' के उक्त तीनों भेदों को जानना चाहिये।

प्रातिशाख्यकार शौनक और कात्यायन, माधवभट्ट के मत से सहमत हैं। पिंगलके सूत्रों की व्याख्या दोनों प्रकार से हो सकती है। प्रातिशाख्य के अनुसार पिंगलसूत्रों की व्याख्या इस प्रकार है -

एकेन त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ।

"गायत्रैः" पद की अनुवृत्ति है। एकत्वविवक्षासे-एकेन गायत्रेण त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती। अर्थात् (८+११+११+११=४१) इत्यादि।]

१०. तृतीयेनापि पादेन मध्येज्योतिरियं भवेत् ।
तदश्विना भिषजेति सा ज्ञेयाध्वर्युवेदतः ॥

यदि गायत्रपद तृतीय भी हो, तो भी वह 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप्' ही होती है। जैसे यजुर्वेदमें-

तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशो अन्तरम् । अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण दधतो गवां त्वचि ॥
(यजु० १९।८२)

११. उपरिष्टाज्जोतिरियमग्निनेन्द्रेण कीर्तिता ।
पादोऽष्टकश्चतुर्थोऽस्याः सोमं पिबतमश्विना ॥

यदि चतुर्थ पाद ८ अक्षरोंका हो, तो वह 'उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' कहाती है। जैसे- 'अग्निनेन्द्रेण०' इत्यादि ऋचामें "सोमं पिबतमश्विना" पाद आठ अक्षरोंका है। जैसे—

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा । सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥(ऋ० ८।३५।१)

१२. पदानि चत्वारि यदाष्टकानि
महाबृहत्युक्तिमियं लभेत ।
आद्यं पदं द्वादशकश्च तस्या
नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नराः ॥

जब चार पद आठ अक्षरों के हों और आद्य पाद १२ अक्षरों का होता है तो उसे "महाबृहती त्रिष्टुप्" कहते हैं । जैसे-

नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य
पीतये। आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं
हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥ (ऋ० ८।३५।२३)

[महाबृहती (१२+८+८+८+८=४४)
पिंगलके मतसे 'महाबृहती' का लक्षण है ।
त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती ॥ (१२+१२+१२=३६)
यह बृहती का भेद है । इस प्रकरण में यह महाबृहती 'त्रिष्टुप्' का एक भेद है । पिंगल के मत से इसका नाम 'ज्योतिष्मती जगती' है ।

इसी प्रकार जगती का एक १२ अक्षरों का पाद आदि मध्य और अन्तमें आनेसे 'पुरस्तात् ज्योतिष्मती,' 'मध्ये ज्योतिष्मती' और 'उपरिष्टात् ज्योतिष्मती' ऐसे ३ भेद जगती के हो जाते हैं । परन्तु 'मध्ये ज्योतिष्मती जगती' को माधवभट्ट आदि 'यवमध्या त्रिष्टुप्' कहेंगे ।]

१३. मुख्यावष्टाक्षरौ यस्यास्तृतीयो द्वादशाक्षरः ।
पुनर्द्वावष्टकौ स्यातां यवमध्येति तां विदुः ॥
१४. सा सम्मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ॥

आदिके दो पाद आठ आठ अक्षरों के और तीसरा पाद १२ अक्षरोंका और फिर दो पाद आठ अक्षरोंके हों, तो उसे 'यवमध्या महाबृहती त्रिष्टुप्' कहते हैं । (८+८+१२+८+८=४४) यव जिस प्रकार बीचमें से स्थूल होता है, उसी प्रकार इस छन्द में बीचका चरण १२ अक्षर का बडा होता है, अतः इसे 'यवमध्या' कहते हैं । जैसे-

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः ।
स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥
(ऋ० १।१०५।८)

अथाद्यौ दशकौ पादावष्टकाश्च ततस्त्रयः ।
१५. पङ्क्त्युत्तरेति तामाहुर्विराट्पूर्वामथापरे ।
एवेन्द्राग्निभ्यामहावि त्रिष्टुभो दश कीर्तिताः ॥

यदि आदिके दो पाद दस अक्षरों के और अनन्तर तीन पाद आठ अक्षरों के हों, तो उसको विद्वान् 'पङ्क्त्युत्तरा त्रिष्टुप्' या 'विराट्पूर्वा त्रिष्टुप्' कहते हैं । जैसे-

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न
पूतमद्रिभिः । ता सूरिषु श्रवो बृहद्रयिं
गृणत्सु दिधृतमिषं गृणत्सु दिधृतम् ॥
(ऋ० ५।८६।६)

इस प्रकार यह दश भेद त्रिष्टुप् के कहे गये हैं ।
[पंक्त्युत्तरा त्रिष्टुप् अथवा विराट्पूर्वा त्रिष्टुप्= (१०+१०+८+८+८=४४)

पूर्वौ दशाक्षरौ पादावुत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः ।
विराट्पूर्वाह तामेषा त्रिष्टुप्-पंक्त्युत्तरैव वा॥
(ऋ० प्रा० १६।६४)

आद्यौ दशकावष्टकास्त्रयः पंक्त्युत्तरा विराट्पूर्वा वा]

(जगती-प्रकरणम् ।)

१६. चत्वारो द्वादशाः पादाः यदि स्युर्जगती भवेत् ।
जनस्य गोपा अजनिष्टेमं स्तोममिमे यथा ॥

१२ अक्षरों के ४ चरण हों तो वह जगती (१२+१२+१२+१२=४८) छन्द होता है । जैसे-

(१) जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि-
रग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा
द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः ॥१॥
(ऋ० ५।११।१)

(२) इमं स्तोममर्हते जातवेदसे
रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्य-
ग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥२॥
(ऋ० १।९४।१)

[जगती षड्भिः। तथा जगती ॥
(पिंग० अ० ३।४९-५१)

पञ्चाशज्जगती व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षराः ॥
तदस्या बहुलं वृत्तम् ॥ (ऋ० प्रा० १६।७०)]

१७. अष्टाक्षरास्त्रयः पादाः द्वौ च द्वादशकौ यदा।
महासतोबृहतीत्युक्ता यः पप्रौ भानुनेति सा ॥

तीन पाद आठ अक्षरोंके और दो पाद १२ अक्षरोंके हों, तो उसे 'महा सतोबृहती' (८+८+८+१२+१२=४८) कहा गया है। जैसे-

आ यः प॒प्रौ भा॒नुना॒ रोद॑सी उ॒भे धू॒मेन॑
धावते दि॒वि। ति॒रस्तमो॑ ददृश॒ ऊर्म्या॒-
स्वा श्या॒वास्व॑रु॒षो वृषा श्या॒वा अ॑रु॒षो वृषा॑ ॥६
(ऋ० ६।४८।६)

[अष्टिनस्त्रयः स्वौ च द्वौ महासतोबृहती। (कात्या०)
महासतो बृहत्यर्धे व्यूहयोरेतयोः सह ॥
(ऋ० प्रा० १६।७३)

१८. अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकस्तथा।
सूर्यं विषमासजामि महापंक्ति वदन्ति ताम् ॥

१९. षट्स्वष्टकेष्वपि तथा अव द्रके अव त्रिका।
उभे यदिन्द्र रोदसी जगत्यस्तिस्र ईरिताः ॥

दो पाद ८ अक्षरों के, एक ७ का, एक छः का, एक १० का, और एक ९ का हो, तो उसे 'महापंक्ति जगती' कहते हैं। जैसे-

सूर्यं॑ वि॒षमा स॑जा॒मि दृतिं॑ सुरा॑वतो गृ॒हे।
सो चि॒न्नु न म॑रा॒ति नो व॒यं म॑रा॒मा॒रे अ॑स्य॒ योज॑नं
ह॒रि॒ष्ठा मधुं॑ त्वा मधु॒ला च॑कार ॥१०॥
(ऋ० १।१९१।१०)

आठ अक्षरों के ६ पाद हों, तो उसे भी "महापंक्ति जगती" कहते हैं। जैसे-

(१) अव॑ द्र॒के अव॑ त्रि॒का दि॒वश्च॑रन्ति भेष॒जा।
क्ष॒मा च॑रि॒ष्ण्वे॑क॒कं भर॑ता॒मप॒ यद्र॒पो
द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा र॒पो मो षु ते॒ किं
च॒नाम॑मत् ॥ (ऋ० १०।५९।९)

(२) उ॒भे यदि॑न्द्र॒ रोद॑सी आप॒प्राथो॒षा इ॑व।
म॒हान्तं॑ त्वा म॒हीनां॑ स॒म्राजं॑ चर्ष॒णीनां॑
दे॒वी जनि॑त्र्यजीजनद् भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत्
(ऋ० १०।१३४।१)

[महापंक्तिः षडष्टकाः। अष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्च वा ॥ (ऋ० प्रा० १६।७२) (कात्या०)
जगती षड्भिः। (पिंग० ३।४९)

'महा सतो बृहती' और 'महापंक्ति'के भेद पिंगलने नहीं बतलाये। ये जगती के ही भेद हैं।

॥ इति जगती-प्रकरणम् ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

आ त्वा रथं यथोतये व्याचिख्यासति माधवः।
अतिच्छन्दःसु वक्तव्यं द्विपदासु च दर्शयन् ॥
"आ त्वा रथं यथोतये०"
(ऋ० अष्टक ६॥ अ० ५ ऋ० मं० ५।६५।१)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधवभट अतिच्छन्दों और द्विपादाओं के सम्बन्ध प्रवचन करते हैं।

अति-च्छन्दःप्रकरणम्।

१. त्रयः पादा जागताः स्युरष्टकौ च तथापरौ।
आहुस्तामतिजगतीं सा प्र वो महे मतयः ॥

तीन पाद जागत (१२ अक्षर) और दो पाद आठ आठ अक्षरों के हों, तो उसे 'अति जगती' कहते हैं। जैसे-

प्र वो॑ म॒हे म॒तयो॑ यन्तु॒ विष्ण॑वे
म॒रुत्व॑ते गिरि॒जा ए॑व॒याम॑रुत्।
प्र॒ शर्धा॑य॒ प्रय॑ज्यवे सु॒खाद॑ये
त॒वसे॑ भ॒न्दद्दि॑ष्टये॒ धुनि॑व्रताय॒ शव॑से ॥
(ऋ० ५।८७।१)

[अतिजगती (१२+१२+१२+८+८=५२)

धृत्यष्टि शक्वरी जगत्यः ॥ पृथक् पृथक् पूर्वत एता-न्यैवैषाम्।

॥ द्वितीय द्वितीयमतितः ॥ (पिंगल ४५-७)

क्रमसे धृति, अष्टि, शक्री, जगती, इनके पूर्व भी पृथक् पृथक् 'अति' लगकर येही छन्द हैं, जो क्रमसे चार चार अक्षर कम होते हैं। अर्थात्

अतिधृति =	७६	धृति =	७२
अत्यष्टि =	६८	अष्टि =	६४
अतिशक्री =	६०	शक्री =	५६
अतिजगती =	५२	जगती =	४८

द्वावतिच्छन्दसां वर्गावुत्तरौ चतुरुत्तरौ ॥
प्रथमातिजगत्यासां सा द्विपंचाशदक्षरा ॥
(ऋक्प्रा० १७।१०२)]

२. पदानि सप्त शक्वर्याः सा प्रोष्वस्मै पुरोरथम्।
पदानि तत्राष्टकानि।

शक्री में ८ अक्षरोंवाले सात चरण होते हैं, जैसे-

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत।
अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहा-स्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ऋ० १०।१३३।१॥

[शक्री = (८×७ = ५६)

उक्त उदाहरण में प्रथम, पंचम, षष्ठ, सप्तम में व्यूह कर लेना चाहिये।

षट्पञ्चाशत्तु शक्वरी। (ऋक्प्रा० १७।३)]
शृणुताप्यतिशक्वरीम् ॥

३. पदे षोडशके पूर्वे जागतं च तथाष्टके।
साकं जातः क्रतुनेति पदैः पञ्चभिरन्विता ॥

अब अति शक्री का सुनिये। 'अति शक्री' में पूर्वके दो पाद १६ अक्षरोंके और एक पाद जागत (१२अक्षर) तथा दो पाद आठ अक्षरों के होते हैं। इस प्रकार अति शक्री में पांच पाद होते हैं। जैसे-

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ।
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः।
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥
(ऋ० २।२२।३)

[अति शक्री-(१६+१६+१२+८+८=६०)षष्ठिरेवाति शक्री (ऋ० प्रा० १७:४)]

४. अष्टे स्त्रयः षोडशकाः अष्टकौ च तथोत्तरौ ॥
त्रिकद्रुकेषु महिष इत्यष्टिं कवयो विदुः ॥

अष्टि में तीन पाद १६ अक्षरों के और अन्तके दो पाद आठ अक्षरों के होते हैं। जैसे—

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्
सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥ (ऋ० २।२२।१)

[अष्टि- (१६+१६+१६+८+८=६४) उत्तराष्टिश्चतुः-षष्टिः॥ (ऋ० प्रा० १७।६)]

५. अग्निं होतारमत्यष्टिर्जागतावष्टकास्त्रयः।
जागतश्चाष्टकश्चाथ सप्त पादाः प्रकीर्त्तिताः॥

अत्यष्टि में जागत (१२ अक्षर) दो पाद और आठ आठ अक्षर के तीन पाद और एक पाद जागत (१२ अक्षर) और अन्तका एक पाद ८ अक्षरोंका होता है। इस प्रकार ७ पाद होते हैं। जैसे—

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो
जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य
सर्पिषः॥ (ऋ० १।१२७।१)

[अत्यष्टि-(१२+१२+८+८+८+१२+८=६८)
ततोऽष्टाषष्ठिरत्यष्टिः॥ऋ० प्रा० १७।६॥]

६. अवर्मह इन्द्र धृतिर्जागतावष्टकास्त्रयः।
षोडशोऽथाष्टकश्चान्त्यः सप्त पादाः प्रकीर्तिताः॥

दो पाद जागत (१२ अक्षर), तीन पाद आठ अक्षरों के, एक पाद १६ अक्षरों का और अन्त का पाद आठ अक्षरोंका हो, इस प्रकार धृति में सात पाद होते हैं। जैसे—

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो घृणान्न भीषाँ अद्रिवः । शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे । अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः ॥६॥ (ऋ० १।१३३।६)

[धृति (१२+१२+८+८+८+१६+८=७२)
धृतिः पूर्वा द्विसप्ततिः ॥ ऋ० प्रा० १७।७]

७. सप्तैवातिधृतेः पादाः स हि शर्धो न मारुतम् ।
द्वादशकषोडशकावष्टका जागतोऽष्टकः ॥

'अतिधृति' के भी सात ही पाद होते हैं। प्रथम १२ का, फिर १६ का, तीन ८ के, एक १२ का और अन्तिम ८ का होता है, जैसे—

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः । आदद्धव्यान्यादिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा । अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥ (ऋ० १।१२७।६)

[अतिधृति- (१२+१६+८+८+८+१२+८=७२)
षट्सप्ततिस्त्वतिधृतिः ॥ ऋ० प्रा० १७।८]

८. चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैः
श्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि ।
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति ।

इस प्रकार प्राचीन कवियोंने १४ छन्दों का दर्शन किया है, वे यहां बतला दिये हैं । इतने छन्द तो ऋग्वेदसंहिता में दिखाई देते हैं, और अन्य वेदोंमें अन्य छन्द भी दिखाई देते हैं ।

९. चतुरधिकछन्दांसि दर्शितानि चतुर्दश ।
यानि दशतयीष्वासन्नुत्तराणि सुभेषजे ॥

चार चार अक्षरों की वृद्धि से बने १४ छन्द हमने वे दिखला दिये हैं, जिनका प्रयोग दशतयी (ऋग्वेद) संहिताओंमें हुआ है, उनसे भिन्न छन्दोंका निर्देश निदान ग्रन्थ में है । जैसे—

१०. कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संस्कृतिस्तथा ।
षष्ठी चाभिकृतिर्नाम सप्तम्युत्कृतिरुच्यते ॥

११. अशीतिश्चतुरशीतिरष्टाशीतिर्द्विनवतिः ।
षण्णवतिः शतं पूर्णमुत्तमन्तु चतुःशतम् ॥

कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, आकृति, और सातवा छन्द उत्कृति है । इनमें क्रमसे अक्षरों की संख्या ८०, ८४, ८८, ९२, ९६, १०० और १०४ होती है ।
[प्राति० प० १७।११-१२]

१२. प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमेति च ।
नानाविधानि च्छंदांसि लक्षितानि च लक्षणैः ॥

ऋग्वेद प्रतिशाख्य और निदान में मा, प्रमा, और प्रतिमा आदि नाना प्रकारके छन्दों के लक्षण दिखलाये हैं ।

[मा-प्रमा-प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात् ।
चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्च छन्दांसि तानि ह ॥
हर्षिका सर्षिका सर्वमात्रा विराट् कामा ।
द्व्यक्षरादीनि मादीनां वैराजान्यन् चक्षते ॥
[ऋ० प्रा० १७।३३-३४]

छन्द	अक्षर
मा	४
प्रमा	८
प्रतिमा	१२
उपमा	१६
समा	२०
हर्षिका	२
सर्षिका	६
सर्वमात्रा	१०
विराट्	१४
कामा	१८

मा आदि छन्दोंमें ४ से लेकर उत्तरोत्तर ४ अक्षरोंकी वृद्धि हुई है । हर्षिका आदि उनके विराट्, दो अक्षर न्यून हैं ।]

१३. उक्तानां छन्दसां सन्ति द्विपदैकपदा अपि ।
त्रिष्टुब्जगत्यागायत्र्याः पङ्क्त्या याभूच्चतुष्पदा ॥

पूर्वोक्त छन्दोंमें से त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री, और पंक्ति आदि जो छन्द चार चरणोंवाले हैं, उनकी द्विपदा और एकपदा ऋचाएं भी हैं ।

१४. एकः पादः एकपदा द्वौ पादौ द्विपदोच्यते।
प्रोच्यते तेन तेनैव स्वरूपा यस्य पादतः॥

ऋचामें एकही पाद हो, तो यह एकपदा, दो पाद हों, तो द्विपदा ऋचा कहाती है। जिस छन्दके समान उसका चरण हो, उसका वही छन्द समझना चाहिये।

१५. न दाशतय्येकपदा काचिद् यास्कस्य विद्यते।
भद्रं नो अपि वातय सा स्यादेकपदा विराड्॥

आचार्य यास्कके मतमें एकपदा ऋग् ऋग्वेदमें एकभी नहीं है।

भद्रं नो अपि वातय मनः। (ऋ० १०।२०।१)

यह ऋचा एकपदा विराट् है।

[एकपदा विराड्। (१० अक्षर)]

१६. इन्द्रो विश्वस्य गोपतिरिन्द्रो विश्वस्य भूपतिः।
एताश्चतस्रो गायत्रीराहुरेकपदा इति॥

(१) 'इन्द्रो विश्वस्य गोपतिः।
(२) 'इन्द्रो विश्वस्य भूपतिः।'
(३) 'इन्द्रो विश्वस्य चेतति।'
(४) 'इन्द्रो विश्वस्य राजति।'

इन चारों ऋचाओं को 'एकपदा गायत्री' कहते हैं।

[इन चारों ऋचों का ऋग्वेद में पाठ नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र (अ० ८ ख० २)में इनका प्रयोग है।

प्रगाथान्तेषु चानुपसन्तान ऋगावानमेकपदाः शंसेत्। इन्द्रो विश्वस्य गोपतिरिन्द्रो विश्वस्य भूपतिरिन्द्रो विश्वस्य चेततीन्द्रो विश्वस्य राजतीति चतस्रः। एका महाव्रता-दाहरेत्॥ (आश्व० श्रौ० सूत्र अ० ८। ख० २)]

१७. पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः।
इति तिस्रः समाख्यात गायत्र्यो द्विपदा इति॥

(१) पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः।
(२) असृग्रन्देववीतये वाजयन्तो रथाइव॥
(३) ते सुतासो मदिन्तमाः शुक्रा वायुमसृक्षत॥

[ऋ० ९।६७।१६-१८]

ये तीन ऋचा द्विपदा गायत्रियां कही गई हैं।

[द्विपदा गायत्री (८+८=१६)]

१८. आ वां सुम्ने वरिमन् सा त्रिष्टुबेकपदोच्यते।
महि राधो विश्वजन्यं त्रैष्टुभान् द्विपदां विदुः॥

१९. अग्ने भव सुषमिद्धा सूक्तं सर्वं तादृशम्॥

(१) आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिः ष्याम्॥

(ऋ० ६।६३।११)

यह ऋचा 'एकपदा त्रिष्टुब्' है। और-

(२) महि राधो विश्वजन्यं दधानान्।
भरद्वाजान् त्सार्ञ्जयो अभ्ययष्ट॥

(ऋ० ६।४७।२५)

इसको 'द्विपदा त्रिष्टुप्' कहते हैं।

(३) अग्ने भव सुषमिधा समिद्ध
उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम्॥१॥

[ऋ० ७।१७।१-७]

इत्यादि सात ऋचोंका सम्पूर्ण सूक्त भी 'द्विपदा त्रिष्टुप्' है।

[एकपदा त्रिष्टुप्= ११
द्विपदा त्रिष्टुप्= ११+११=२२]

स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागतीं द्विपदां विदुः॥

(१) स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः
पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत्।

इस ऋचा को 'द्विपदा जगती' बतलाते हैं।

[द्विपदा जगती- १२+१२=२४]

२०. उरौ देवा अनिबाधे सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य।
द्वे विराजावेकपदे तथासिक्न्यां यजमानो न होता॥

(१) उरौ देवा अनिबाधे स्याम।

[ऋ० ५।४२।१७]

(२) सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥

[ऋ० ५।४१।२०]

(३) असिक्न्यां यजमानो न होता॥

[ऋ० ४।१७।१५]

ये तीनों ऋचाएं 'एकपदा विराट्' हैं।

[एकपदा विराट् =१०]

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः।

आ प्र द्रव परावतो व्यचिख्यासति माधवः।
प्रगाथेषु च वक्तव्यं सम्पत्तिं च प्रदर्शयन्॥

"आ प्र द्रव परावतः ०" इत्यादि (ऋ० अष्टक ६। अ० ६, मण्डल ८।८२) अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधवभट्ट 'प्रगाथों' के सम्बन्ध में प्रवचन करते हैं और छन्दः 'सम्पत्ति को भी बतलाते हैं।

(प्रगाथ-प्रकरणम्)

१. बार्हतो बृहती पूर्वः ककुप्पूर्वस्तु काकुभः।
एतौ सतोबृहत्यन्तौ प्रगाथौ भवतो द्व्यृचौ॥

२. त्वमङ्ग प्रप्रवो यद्वस्माचिद् बृहदु गायिषे।
बार्हतान् काकुमानाहुस्तं गूर्धय वयस्विति॥

बार्हत प्रगाथ में 'बृहती' छन्द पूर्व में होता है और काकुभ प्रगाथ में पूर्व में 'ककुप्' छन्द होता है। अन्त में 'सतोबृहती' छन्द होता है। ये दोनों दो दो ऋचाओं के बने होते हैं जैसे-

(१) त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥
मा ते राधांसि मा त ऊतयो
वसोऽस्मान् कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष
वसूनि चर्षणिभ्य आ॥
(ऋ० १।८४।१९--२०)

(२) प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते।
जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं
हविष्मन्तो विधेम ते।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता
भवा वाजेषु सन्त्य॥
[ऋ० १।३६।१--२]

(३) मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥
अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं
गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं
मंहिष्ठमुभयाविनम्। [ऋ० ८।१।१-२]

(४) बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी॥१॥
उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी
अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा
चोदद् राधो मघोनाम्॥२॥ [ऋ०७।९६।१-२]

(५) तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमोहिरे॥
विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषम्
अग्निमीळिष्व यन्तुरम्।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे
प्रेमध्वराय पूर्व्यम्॥ [ऋ० ८।१९।१-२]

(६) वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तो ऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥
उप त्वा कर्मन्नूतये स नो
युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे
सखाय इन्द्र सानसिम्॥ [ऋ० ८।२१।१-२]

प्रायः ये सभी सूक्त बार्हत और काकुभ प्रगाथ कहे जाते हैं।

[प्रथममें– प्रथम ऋचा 'बृहती' है, द्वितीय 'सतो-बृहती' है।

द्वितीयमें– प्रथम ऋचा 'विषमाबृहती' और द्वितीय 'समा सतोबृहती' है।

तृतीयमें– प्रथम ऋचा 'विषमाबृहती', द्वितीय 'समा सतोबृहती' है।

चतुर्थमें– प्रथम 'बृहती', द्वितीय 'सतो बृहती'।

पंचममें– प्रथम ऋचा 'विषमा ककुप्', द्वितीय 'समा सतोबृहती' है।

षष्ठमें– प्रथम 'विषमा–ककुप्' और द्वितीय 'समा सतो-बृहती' है। इस प्रकार प्रथम चार उदाहरण 'बार्हत प्रगाथ' के हैं और शेष दो उदाहरण 'काकुभ प्रगाथ' के हैं।

प्रथम, द्वितीय कारिकाएं [ऋ० प्रा० १८।१-२]

३. चतुर्थषष्ठावभ्यस्येत् प्रगाथे बार्हते सति।
बृहत्युभौ च ककुभौ सम्पद्यन्ते तथा सति॥

'बार्हत प्रगाथ' में चतुर्थ और षष्ठ चरण का अभ्यास अर्थात् पुनः दो बार पाठ करे, इस प्रकार दो बृहती और दो ककुप् ऋचाएं और बन जाती हैं। जैसे–

१ त्वमंग प्रशंसिषो
२ देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
३ न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डिते-
४ न्द्र ब्रवीमि ते वचः॥१॥
५ इंद्र ब्रवीमि ते वचः।
६ मा ते राधांसि मा त ऊतयो।
७ वसोऽस्मान् कदा च नो दभन्॥२॥
८ वसोऽस्मान् कदा च नोदभन्।
९ विश्वा चन उप मिमीहि मानुष।
१० वसूनि चर्षणिप्रश॥३॥

इस प्रकार ये दो ऋचाएं प्रगाथ रूपसे तीन ऋचाएं सम्पन्न हो जाती हैं।

४. द्वे तिस्रस्कारं शंसेत बृहतीकारमिच्छता।
तयोरेवद्विरभ्यासः कार्य इत्याश्वलायनः॥

उक्त दोनों ऋचों [बृहती और सतो बृहती]को इस प्रकार पढे कि वे दो ऋचाएं तीन ऋचाएं हो जांय, अर्थात् एक बृहतीछन्द की ऋचा और बन जावे। इसलिये उक्त दोनों ऋचाओंके चतुर्थ और षष्ठ चरणों दो दो बार अभ्यास [पुनः पाठ] करना चाहिये, ऐसा आश्वलायन का मत है।

[प्रगाथा एते भवन्ति। तां द्वे तिस्रस्कारं शंसेत्। चतुर्थ-षष्ठौ पादौ बार्हते प्रगाथे पुनरभ्यसित्वोत्तरयोरवस्येत्॥ बृहतीकारं चेत् तावेव द्विः। आश्व० श्रौतसूत्र॥ ५।१५।६]

५. तृतीयपञ्चमौ पादावभ्यस्येत् काकुभे बुधः।
ऋचौ द्वे ककुभस्तिस्रः सम्पद्यन्ते तथा सति॥

काकुभप्रगाथ में तृतीय और पञ्चम चरणोंका पुनः पुनः पाठ करना चाहिये। इस प्रकार दो ऋचाएं तीन ककुप् छन्द की ऋचाएं हो जाती हैं। जैसे–

१ वयमु त्वामपूर्व्य।
२ स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः॥
३ वाजे चित्रं हवामहे।
४ वाजे चित्रं हवामहे॥
५ उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवा।
६ उग्रश्चक्राम यो धृषत्।
७ उग्रश्चक्राम यो धृषत्॥
८ त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे।
९ सखाय इंद्र सानसिम्॥

६. महासतोबृहत्यन्तो यो महाबृहती मुखः।
स महाबार्हतो नाम बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः॥

जिसके अन्त में 'महा-सतो-बृहती' और आदिमें 'महा-बृहती' छन्द हों, वह 'महा बार्हत' नाम प्रगाथ होता है। जैसे-

(१) बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः
शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य
रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि॥

(२) विश्वासां गृहपतिर्विशामसि
त्वमग्ने मानुषीणाम्।
शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः
समेद्धारं शतं हिमाः
स्तोतृभ्यो ये च ददति [ऋ० मं० ६।४८।७-८]

७. महाबार्हतप्रगाथे चतुर्थं सप्तमं तथा ।
अभ्यस्येते बृहत्यःस्युस्तिस्रस्ता इति पण्डिताः ॥

महाबार्हत प्रगाथ में चतुर्थ और सप्तम चरण का पुनः पाठ किया जाता है । इस प्रकार वे तीन बृहती छन्द हो जाते हैं । ऐसा विद्वानों का मन्तव्य है । जैसे-

(१) महाबार्हत प्रगाथ में-

महाबृहती+महा सतो बृहती [८+८+१२+८+८]+[१२+८+८+१२+८]

(२) पुनः पाठ में-

[८+८×१२+८]+[८+८+१२+८]+[८+८+१२+८]
= ३६ + ३६ + ३६

अर्थात् (१) बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः ।
शुक्रेण देव शोचिषा ॥
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य ।
रेवन्नः शुक्र दीदिहि ॥१॥

(२) रेवन्नः शक्र दीदिहि ।
द्युमत्पावक दीदिहि ।
विश्वासां गृहपतिर्विशामसि
त्वमग्ने मानुषीणाम् ॥२॥

(३) त्वमग्ने मानुषीणाम्
शतं पूर्भिर्यविष्ठ ।
पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः
स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥३॥

(३) [बृहती+सतोबृहती (८+८+१२+८) + (१२+८+१२+८) पुनः पाठ होनेपर-
[८+८+१२+८]+[८+१२+८+]+[८+१२+८]

(४) [ककुप्+सतोबृहती [८+१२+८]+[१२+८+१२+८]
पुनः पाठ होनेपर [८+१२+८]+[८+१२+८]+ [८+१२+८]

८. सन्ति प्रगाथा बहवः प्रातिशाख्यप्रदर्शिताः ।
पतञ्जले निदाने तु द्वौ प्रगाथौ प्रदर्शितौ ॥

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में श्री शौनक ऋषिने बहुत प्रगाथ-छन्दों का उपदेश किया है । परन्तु पतञ्जलि ने निदान सूत्र में दोही प्रगाथ दर्शाए हैं । जैसे-

[(१) आनुष्टुभ प्रगाथ-
अनुष्टुप् द्वे च गायत्र्यावेष आनुष्टुभः स्मृतः ।
विराजावभिसंपन्नः पद्याक्षर्ये स उत्थितः ।

(२) गायत्र बार्हत-
गायत्र्यादिस्तु बार्हते प्रायो गायत्रबार्हतः ।

(३) गायत्र काकुभ-
गायत्रकाकुभो नाम प्रायो भवति काकुभे ।

(४) औष्णिह-
औष्णिह उष्णिहा पूर्वः ।

(५) पांक्त काकुभः-
पंक्तयन्तः पांक्त काकुभः ॥

(६) महाबार्हतः
महासतोबृहत्यन्तो यो महाबृहतीमुखः ।

(७) बार्हतः-
बार्हतो बृहतीमुखः । अथो अतिजगत्यन्तः ।
यवमध्योत्तरोऽपि च ।

(८) विपरीतान्तः
'नहि ते'० विपरीतान्तः ।
मो षु त्वा द्विपदाधिकः ।

इत्यादि अनेक प्रगाथ ऋक्-प्रातिशाख्यमें दर्शाये हैं ।]

९. प्रगाथो यवमध्यान्तो वामी वामस्य धूतयः ।
बृहत्यौ मुखतस्तस्य गायत्री त्वन्ततो भवेत् ।

दो बृहती छन्द आदिमें हों और गायत्री अन्तमें हो, तो उसे 'यवमध्यान्त' प्रगाथ कहते हैं । जैसे-

(१) वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता ।
देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य प्रयज्यवः ॥

(२) सद्यश्चिद्यस्य चर्कृतिः परि द्यां देवो नैति सूर्यः ।
त्वेषं शवो दधिरे नाम यज्ञियं मरुतो वृत्रहं शवो ज्येष्ठं वृत्रहं शवः ।

(३) सकृद् ह द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत ।
पृश्न्या दुग्धं सकृत् पयस्तदन्यो नानु जायते ॥
(ऋ० ६।४८।२०-२२)

[(८+८+१२+८)+(८+८+१२+८+८)+(८+८+८+८)
बृहती महाबृहती गायत्री

इस प्रगाथ को ऋक् प्रातिशाख्य में 'बार्हत प्रगाथ' का एक भेद कहा है ।

यवमध्योत्तरोऽपि च ।

इस प्रगाथ में आदि-अन्त के छन्द अल्पाक्षर हैं और मध्य का छन्द अधिकाक्षर है। इसी से 'यवमध्योत्तर बार्हत' कहाता है।]

१०. अनुष्टुब् द्वे च गायत्र्या वयमानुष्टुभः स्मृतः।
आ त्वा रथं यथोतये इति तत्र निदर्शनम् ॥

एक अनुष्टुप् और दो गायत्री हों, तो इसे 'आनुष्टुभ' प्रगाथ कहा जाता है। जैसे-

(१) आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ॥
(२) तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते।
आ पप्राथ महित्वना ॥
(३) यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥

[(८+८+८+८)+(८+८+८)+(८+८+८)
अनुष्टुप् गायत्री गायत्री

इस प्रकार आठ आठ अक्षरों के १० पाद अर्थात् दो विराट् छन्द उत्पन्न हुए। पदों और अक्षरों से यह प्रगाथ सब अधिक सम्पन्न होने से इसको 'उत्थित प्रगाथ' कहा है। अन्य प्रगाथों में दश से कमही पाद होते हैं। (ऋ० मं० ८, सू० ६८ में ऐसे प्रगाथ ४ हैं।]

अत्र निदानम्-
यस्य कस्य चिच्छंदसः सम्पदं कश्चिदिच्छति।
चतुर्थं तस्य संख्याय तावतीराहरेद् ऋचः।
यदुतच्छंद आहरेदन्यदन्यस्य सम्पदे
चतुर्थं तस्य संख्याय विद्यात्तास्तावतीर्ऋचः॥

जिस किसी भी छन्दको कोई सम्पन्न करना चाहे, उस का एकचतुर्थांश गणना करके उतनी ही ऋचाएं प्रयोग करें।

अन्य छन्द की सम्पत्ति (रचना) के निमित्त अन्य छन्द का प्रयोग करना हो तो उसका एकचतुर्थांश गिनकर उस को उतनी ऋचाएं जाने। अर्थात्-

तदिदं तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्र गायत्र्य
इत्यादि ब्राह्मणानां समर्थनम्।

ब्राह्मण ग्रन्थ में जो (तदिदं) कहा है कि, तीन अनुष्टुभौ के चार गायत्री छन्द होते हैं, यहां उसका ही समर्थन किया गया है। अर्थात्-

तत्र गायत्रीभिः शस्ताभिर्जगतीः सम्पादयितुमिच्छज्जगत्याश्चतुर्थं गणयेद् द्वादश भवन्ति। ततो द्वादश गायत्राः शंसेत्। यदिदं जगती सम्पादनार्थमाहृतं छंदो गायत्रं तस्य यत् चतुर्थं तत्पश्येत्। षड् भवन्ति। एवं च द्वादश गायत्र्यः षड् भवन्ति।

यदि गायत्री छन्दोंको कहकर ही जगती सम्पादन करना चाहते हैं, तो जगती के एकचतुर्थ गिन ले $= \frac{४८}{४} = १२$ होते हैं। अर्थात् १२ गायत्री मन्त्र पढे। जगती सम्पादन के लिये जो गायत्री छन्द लिया है, उस को भी एकचतुर्थांश लेवे, तो $\frac{२४}{४} = ६$ संख्या प्राप्त होती है। इस प्रकार १२ गायत्री मन्त्रों के छः जगती छन्द सम्पन्न होते हैं।

गायत्रीभिस्त्रिष्टुभः सम्पादयितुमिच्छन् एकादश गायत्रीराहरेत्। षट् त्रिष्टुभो भवन्ति।

गायत्री मन्त्रोंसे यदि त्रिष्टुप् छन्द बनाना चाहे, तो ११ गायत्री मन्त्र पढे। उन के ६ त्रिष्टुप् छन्द होते हैं।

[त्रिष्टुप् $= ४४ \div ४ = \frac{४४}{४} = ११$ गायत्री
गायत्री $= २४ \div ४ = \frac{२४}{४} = ६$ त्रिष्टुप्
$\therefore$ ११ गायत्री $=$ ६ त्रिष्टुप्]

गायत्रीभिः पंक्तीः सम्पादयितुमिच्छन् दश गायत्रीराहरेत्। षट् पंक्तयो भवंति।

गायत्री मन्त्रों से पंक्तिछन्द के मन्त्र बनाना चाहे, तो दश गायत्री ले, ६ पंक्ति एं होती है।

पंक्ति $(\frac{४०}{४}) =$ १० गायत्री $=$ गायत्री $(\frac{२४}{४} =$ ६ पंक्ति।

अथोष्णिग्भिर्जगतीः सम्पादयितुमिच्छन् द्वादश उष्णिहो आहरेद्। सप्त जगत्यो भवन्ति।

यदि उष्णिग् छन्दों से जगती छन्द बनाने हों तो १२ उष्णिग् प्रयोग करे, इस से ७ जगती हो जाती हैं।

[जगती $(\frac{४८}{४}) =$ १२ उष्णिग्
उष्णिग् $(\frac{२८}{४}) =$ ७ जगती
१२ उष्णिग् = ७ जगती।]

उष्णिग्भिस्त्रिष्टुभः सम्पादयितुमिच्छन्नेकादशोष्णिह आहरेत्। सप्तत्रिष्टुभो भवन्ति।

उष्णिक् छन्दोंसे त्रिष्टुप् छन्द बनना चाहे, तो ११ उष्णिग् छन्द के मन्त्र लेवे। उनसे सात त्रिष्टुप् छन्द की ऋचा हो जाती हैं।

[उष्णिग् $\frac{(२८)}{४}$ = ७

त्रिष्टुप् $\frac{(४४)}{४}$ = ११

७ त्रिष्टुप्= ११ उष्णिग्]

गायत्रीभिरुष्णिहः सम्पादयितुमिच्छन् ।
सप्त गायत्रीराहरेत् षड् उष्णिहो भवन्ति ॥

गायत्रियों से उष्णिक्छन्द की ऋचाएं बनानी हों, तो सात गायत्री मन्त्र ले। उनसे उष्णिक् छन्दके ६ मन्त्र बन जावेंगे।

[गायत्री $\frac{(२४)}{४}$ = ६

उष्णिग् $\frac{(२८)}{४}$ = ७

६ उष्णिक्= ७ गायत्री]

उष्णिग्भिर्गायत्रीः सम्पादयितुमिच्छन् षड् उष्णिह आहरेत् सप्त गायत्र्यो भवन्ति । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥

उष्णिक् छन्दके मन्त्रोंसे गायत्री ऋचाएं बनानेकी इच्छा हो तो उष्णिक् छन्दके ६ मन्त्र ले। उनसे गायत्री छन्द के ७ मन्त्र हो जाते हैं।

[उष्णिग् $\frac{(२८)}{४}$ = ७

गायत्री $\frac{(२४)}{४}$ = ६

७ गायत्री = ६ उष्णिग् ।]

इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

इन्द्राय साम गायत व्याचिख्यासति माधवः ।
पादेषु तेषु वक्तव्यं आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥

"इन्द्राय साम गायत०" (ऋ० अष्टक ६ अ० ७ मण्डल ८, सू० ६८) इत्यादि अध्यायकी व्याख्या करनेके पूर्व माधव भट्ट छन्दों के न्यून अक्षरों वाले पादों के संबंध में अपना प्रवचन करते हैं।

(न्यून पद-पूर्ति)

१. व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे ।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः ॥

न्यून पाद हों तो छन्दःपूर्ति के लिये संहिता में सन्धि द्वारा जो दो वा अनेक वर्ण एक अक्षर हो गये हों उनको व्यूह अर्थात् पृथक् करके छन्द की पूर्ति कर ले। और क्षैप्रवर्ण संयोगोंको भी उनके सदृश स्वरोंसे पृथक् पृथक् कर के सन्धिविच्छेद करे। जैसे—

२. व्यूहेदेकारमृच्छस्यां प्रेता जयता नरेति ।
मिता इव स्वरवोऽस्यामोकारं व्यूहते तथा ॥

(१) प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥
(ऋ० १०।१०३।१३)

इस ऋचामें 'प्रेता' पदमें एकार का व्यूह करे अर्थात् सन्धि से युक्त 'ए' को 'अ, इ' में पृथक् पृथक् करके पढे—

'प्र इता जयता नरः०'

इसी प्रकार—

(२) अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्
मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु ।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारो-
च्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥२॥
(ऋ० ४।५१।२)

इस ऋचा में 'स्वरवो' पदमें 'ओकार'में सन्धिको तोड-कर पृथक् पृथक् करके व्यूह कर दिया जाता है। अर्थात् 'स्वरवोऽअध्वरेषु' ऐसा पढ देते हैं।

['प्रेता०' ऋचा अनुष्टुप् छन्द है। प्रथम चरणमें ७ अक्षर हैं, इसीप्रकार चतुर्थमें ७ अक्षर हैं। इस प्रकार विराट् आर्षी अनुष्टुप् (७+८+८+७=३०) होता है अर्थात् अनुष्टुप् (३२) अक्षरों में दो अक्षर कम हैं। उसकी पूर्ति करने के लिये एकाक्षरी भाव सन्धि 'प्रेता'को प्रऽइता और बाहवोऽनाधृष्या को 'बाहवोऽअनाधृष्या' करके पाठ करने से अनुष्टुप् छन्द की पूर्ति हो जाती है।

इसी 'अस्थुरु०' इत्यादि मंत्र त्रिष्टुप् छन्द है। परन्तु अक्षर-गणनासे (११+१०+९+१०=४०) चालीस अक्षर होते हैं। इससे यह 'पंक्ति' है। परन्तु त्रिष्टुप् की पूर्ति करनेके लिये द्वितीय पादमें 'स्वरवो अध्वरेषु' पढेंगे। तृतीय चरण में 'व्यू' को 'वि-ऊ' चतुर्थ चरण में 'ओच्छन्ति' पद को 'आऽउच्छन्ति' और 'द्वार' शब्दको 'दुवार' ऐसा पढकर त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर पूर्ण करेंगे।]

३. इकः स्थाने प्रविष्टानां यणां संज्ञेयमिष्यते।
यामाहुः क्षैप्रवर्णेति तेषां च व्यूह इष्यते॥
४. अग्ने चिकिद्धि-अस्य-नो द्रु-अन्नःसर्पिरासुतिः।
सन्धीनेवंविधान् व्यूहेत्सस्पदर्थमिति स्थितिः॥

इक् (इ, उ, ऋ, लृ,) के स्थान में यणों (य् व् र् ल्) वर्णों के आजाने को 'क्षैप्रवर्ण' कहते हैं। अर्थात् अति शीघ्रता से कहने से यह वर्ण स्वभावतः उत्पन्न हो जाते हैं। इनका भी व्यूह करना आवश्यक होता है। जैसे—

[१] अग्ने चि॒कि॒द्ध्य१॒॑स्य न इ॒दं वचः सहस्य।
(ऋ० ५।२२।४)

[२] द्र्व॑न्नः स॒र्पिरा॑सुतिः प्र॒त्नो होता॒ वरे॑ण्यः।
(ऋ० २।७।६)

प्रथम ऋचामें 'चिकिद्धिऽअस्य न' ऐसा तोडकर पाठ करने से अनुष्टुप्‌का अष्टाक्षर-पाद पूर्ण हो जाता है। दूसरी ऋचा में 'द्रु-अन्नः' पाठ करनेसे गायत्री का अष्टाक्षर-पाद पूर्ण होता है। इस प्रकार पाद पूर्ण करने के लिये सन्धिओं को तोड लेना चाहिये।

५. यस्येति लोपलप्तश्च पुनरानीयते तथा।
मर्तो वृरीत सखियमिति तत्र निदर्शनम्॥

'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) सूत्र द्वारा जो इकारका लोप होता है, उसे पुनः ले आया जाता है। जैसे-

'०मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्' (ऋ० ५।५०।१)

इसमें 'सख्य' पदको 'सखियम्' ऐसा पाठ करके छन्दके पाद का न्यून अक्षर पूर्ण किया जावेगा।

६. समीचीना यदावृत्तिर्न व्यूहेऽपि भवेदिह।
न तदा व्यूहमिच्छन्ति तत्रैतल्लिंगदर्शनम्॥
७. विश्वो देवस्य नेतुरित्यस्यामृचि श्रूयते।
सप्ताक्षरं प्रथमपदमष्टाक्षराणि त्रीणि॥
८. नत् सन्धिनिमित्तोऽयं वकारो विश्वगोचरः।
अनुक्तस्तस्य च व्यूहो यस्याद् व्यूहेऽपि नाक्षरम्॥

यदि व्यूह करने पर भी छन्द का स्वरूप ठीक न बने तब वैदिक विद्वान् व्यूह नहीं करते। उसमें भी उक्त ऋचा ही उदाहरण है।

'विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुः०' (ऋ० ५।५०।१)

इस ऋचामें प्रथम पाद ७ अक्षरों का और शेष तीन पाद आठ अक्षरोंके पढे जाते हैं। इस ऋचामें 'विश्वः' शब्द का वकार सन्धि से बना हुआ नहीं है। इसलिये उसका व्यूह करने का उपदेश नहीं किया जिससे व्यूह करने पर भी अक्षर नहीं बढता।

९. अक्षरैः पादक्लृप्तिः स्यान्न च हल्केवलोऽक्षरम्।
संयोगानामतो व्यूहो न कार्य इति बह्वृचाः॥

अक्षरों से पाद पूर्ति होनी चाहिये केवल हल् (व्यंजन) अक्षर नहीं कहलाता हैं। इसलिये बह्वृच् (ऋग्वेदीय) विद्वानों का मत है कि, संयोग से मिले अक्षरों का व्यूह करना चाहिये। [क्योंकि उससे अक्षर पूर्ण नहीं होते।]

१०. भवतो द्वौ यणादेशौ यदेकस्मिन् पदे तदा।
तथा व्यूहेद् यणादेशं यथावृत्तिर्न दुष्यति॥

जब एक पदमें दो यणादेश हों तब यणादेश सन्धिको इस प्रकार तोडे कि छन्दोवृत्ति न बिगडे।

११. व्यूहे च वृत्यसिद्धिश्चेद् व्यूहं नेच्छन्ति केचन।
व्यूहेनाक्षरसङ्ख्या च कार्या नेत्याह माधवः॥

व्यूह करनेपर यदि छन्दःपूर्ति न हो तो कुछ विद्वान् व्यूह करना नहीं समझते। 'व्यूहद्वारा प्राप्त अक्षरोंकी भी संख्या (गणना) करनीही चाहिये' ऐसा माधव भट्ट का निज मत है।

तदिमौ श्लोकौ भवतः ।

(१) चत्वारि सन्धिजातानि यैश्छन्दो ह्रसते न च ।
प्रश्लिष्टमभिनिहितं क्षिप्रसन्धिरभिद्रुतम् ॥

(२) एतानि सन्धिजातानि मिमानश्छन्दसोऽक्षरैः ।
द्वैधं कुर्यादसम्पूर्णो न पूर्णो किञ्चनेङ्गयेत् ॥

इस सम्बन्धमें दो श्लोक पूर्वाचार्योंने पढे हैं, वे यह हैं–

(१) चार प्रकारकी सन्धियां हैं, जिनसे छन्दके स्वरूपमें ह्रास (न्यूनता) नहीं आता । (१) प्रश्लिष्ट संधि, (२) अभिनिहित संधि, (३) क्षिप्रसन्धि, और (४) अभिद्रुत सन्धि ।

(२) छन्दों के अक्षरोंसे मापनेवाला व्यक्ति इन संधियोंको उस समय पृथक् पृथक् कर दे, यदि छन्दकी पूर्ति न होती हो, यदि छन्द विना सन्धिभंग किये ही पूर्ण हो, तो सन्धि-च्छेद करने की चेष्टा न करे ।

१२. गुणो वृद्धिश्च दीर्घश्च प्रश्लिष्टाः सन्धयः स्मृताः ।
एङः पदान्तादति इति सन्तोऽभिनिहितं विदुः॥

गुण, वृद्धि, और दीर्घ ये प्रश्लिष्ट संधि कहलाती हैं । 'एङः पदान्तदाति,' (पा० अ० ६। पा० १।१०८) इस सूत्रसे हुई सन्धि 'अभिनिहत' सन्धि कहाती है ।

[(१) समानाक्षरे संस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् ।
(२) इकारोदय एकारमकारः सोदयः । तथा–
उकारोदय ओकारम् ॥
(३) परेष्वैकार योजयोः ।
औकारं युग्मयोः । एते प्रश्लिष्टा नाम सन्धयः॥

अर्थात् सवर्णदीर्घसन्धि, गुण एकादेश, और वृद्धि एकादेश ये प्रश्लिष्ट सन्धि हैं । (ऋ० प्रा० २।६-७)

पाणिनिः– (१) अकः सवर्णे दीर्घः ॥
(२) आद् गुणः ।
(३) वृद्धिरेचि ॥
(पा० म० ६।१ सू० १००।८७।८८)

अभिनिहत सन्धि—

अथाभिनिहितः सन्धिरेतैः प्राकृतवैकृतैः ।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र सन्धिजाः ॥
अन्तः पादमकाराच्चेत् संहितायां लघोर्लघुः ।
यकाराद्यक्षरपरं वकाराद्यपि वा भवेत् ॥

अन्याद्यपि तथायुक्तभावोऽन्तोपहितात् सतः ।
अये योऽव इत्यन्तरैकारः सर्वथाभवत् ॥
व इत्येते न चान प्र क्वचित्रः सवितैव कः ।
पदैरुपहितैनैतैः ॥ सर्वैरेवोदयाः परे ॥

पाणिनिः– एङः पदान्तादति ॥ (६।१।१०)
(ऋक् प्रा० २।१३-२५)

क्षिप्रसन्धि—

समानाक्षरमंतस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् ।
न समानाक्षरे स्वे-स्वे ते क्षैप्राः प्राकृतोदयाः ॥

पणिनि इकोयणचि ॥ (६-७)

अभिद्रुत सन्धि ।

एचोयवावायावः ॥ (पा० ६।१।७८)]

१३. प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पदज्ञानस्य हेतवः ।
बलीयः स्याद् विरोधे च पूर्वं पूर्वमिति स्थितिः॥

प्राय-प्रयोग, अर्थ, और वृत्त (छन्द) ये पद ज्ञान के मुख्य साधन हैं । यदि किसी स्थान पर परस्पर विरोध उत्पन्न हो तो उत्तरसे पूर्व बलवान् जानना चाहिये । छन्द से बलवान् अर्थ अर्थ से बलवान् प्राय-प्रयोग ॥

जैसे—

(१) अग्निमीळे पुरोहितमिति गायत्रीभि :सह प्राणत् गायत्रः । पादोऽवान्तरश्चार्थस्तस्मिन्नेव संस्थितस्तथावृत्तयुक्तश्च भवति । प्रायार्थयोर्विरोधे प्रायबलीयस्त्वम् ।

(२) त्वं चकर्थ मनवे स्योनानिति पादान्तः । यद्यर्थबलीयस्त्वं भवति स्योनान् पथ इति पादांतः स्यात्

(३) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्य इति च ।

(४) ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदंजिभिर्वाघद्भिः इति प्राय वृत्तविरोधे प्रायबलियस्त्वात् ॥

(५) प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणां एकादशाक्षर एव भवति न विकर्षेण द्वादशाक्षरोऽर्थबलीयस्त्वात्॥

(६) यदग्ने स्यामहं त्वं इति पादान्तः । न वृत्रादद्यमिति । एवं सर्वत्र बोध्यम् ॥

जैसे—

(१) 'अग्निमीळे पुरोहितम्०' (ऋ ०१।१।१)

इस मन्त्र का पाठ गायत्री के साथ है । अतः यह पाद गायत्र (आठ अक्षरोंका) है । तो भी इसका अवान्तर अर्थ

उसी पादमें भी स्थित है । इसमें वृत्त (छन्द) भी है । यदि प्राय (प्रकरण) और अर्थमें विरोध हो तो 'प्राय' बलवान् होगा ।

(२) त्वं चर्कर्थ मनवे स्योनान् ।
पथो देवत्राञ्जसेव यानान् ॥
(ऋ० १०।७३।७)

इस ऋचामें यदि अर्थ को बलवान् मानें तो 'स्योनान् पथः ।' तक पादकी समाप्ति होनी उचित है ।

(३) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो
नूतनैरुत ॥ (ऋ० १।१।२)

इस मन्त्रमें भी यदि अर्थ प्रधान माना जाय, तो पाद की समाप्ति 'ईड्यः' पदपर होनी चाहिये थी, तो छन्द के अनुरोधसे पाद 'ऋषिभिः' पर समाप्त होता ।

(४) ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिः।
(ऋ० १।३६।१)

इस स्थल में अर्थवशात् वाक्य 'वाघद्भिः' पर समाप्त है, परन्तु प्रायः वश 'अंजिभिः' पर पाद समाप्त होता है । क्योंकि यह बार्हत प्रगाथ सूक्त है । इसलिये इस मन्त्र का छन्द बृहती होना चाहिये । और उसका चरण १२ अक्षरों का होना चाहिये । यदि हम सनिता पद तक पाद मानें तो वह 'उपरिष्टाद् बृहती' छन्द होना चाहिये, वृत्तके आधार पर 'सनिता' पर पाद समाप्त होना चाहिये । अतः छन्द और अर्थ दोनों को बाध कर 'प्रायो' वश बृहती का एक चरण 'अंजिभिः' पर समाप्त होता है । इसी प्रकार--

(५) 'प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्०'
(ऋ० ५।३०।१२)

इस स्थल में छन्दके अनुरोधसे १२ अक्षरोंका पाद होना चाहिये । पर अर्थानुरोधसे ११ अक्षरों का पाद इष्ट है। अर्थ और वृत्त दोनोंमेंसे 'अर्थ' बलवान् होनेसे ११ अक्षरों काही पाद होना अभिष्ट है ।

(६) 'यदग्ने स्यामहं त्वम्' (ऋ० ८।४४।२३)

इस स्थल में भी छन्द के अनुरोधसे अहंपर समाप्त नहीं होता । प्रत्युत अर्थवशात् 'त्वं' पर पाद समाप्त होता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

सोमः पुनानो अर्षति व्याचिख्यासति माधवः ।
अवसानेषु वक्तव्यमादितः सम्प्रदर्शयन् ॥
सोमः पुनानो अर्षति०
(ऋ० अष्टक ६; अ० ८। मण्डल ९, सू० १२)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधवभट्ट अवसानों के सम्बन्धमें अपना प्रवचन दर्शाते हैं ।

(अवसान प्रकरण)

१. तत्रर्चामवसानानि प्रायेणार्थानुरूपतः ।
अवस्येदन्ततस्तत्र द्विपदैकपदा ऋचः ॥

प्रायः ऋचाओंका अवसान अर्थों के अनुसार होता है। इसी कारण द्विपदा और एकपदा ऋचाओंका अवसान करना चाहिये ।

२. अर्धर्चेऽवान्तरः कश्चिद् वाक्यार्थः पर्यवस्यति ।
बह्वीष्वृक्षु विशेषन्तञ्च विजानन्त्यपण्डिताः ॥

कोई अवान्तर वाक्यार्थ आधी ऋचामें ही समाप्त हो जाता है, बहुतसी ऋचाओंमें इस विशेषता को अपण्डित व्यक्ति जान नहीं पाते ।

३. पदयोर्मुख्ययोः पङ्क्त्यामेकोऽर्थः पर्यवस्थितः ।
त्रिषु चान्यस्ततस्तासु द्वावुक्त्वा त्रीन् अथो वदेत्॥

मुख्य (आदिके) दो पादोंमें या एक पंक्ति में एक अर्थ विद्यमान है, और तीन पादोंमें अन्य अर्थ विद्यमान है, तो उन ऋचाओंमें प्रथम दो पादोंका पाठ करके अनन्तर तीन पादों का पाठ करे ।

४. यत्रान्यथावसानं स्यात् तत्रार्थोऽपि च तादृशः ।
पुर उष्णिक्षु सर्वासु पादो मुख्यस्तथाविधः ॥

जहां अवसान भिन्न प्रकार से है, वहां अर्थ भी भिन्न प्रकारसे है। समस्त 'पुर उष्णिग्' ऋचाओंमें उष्णिक् का पाद मुख्य होता है। जैसे-

५. भरद्वाजायावधुक्षतद्विता ।
द्दतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम् ॥
तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरद् ।
वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः ॥

(१) भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता ।
धेनुं च विश्वदोहस--
मिषं च विश्वभोजसम् ॥(ऋ०६।४८।१३)

(२) द्दतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम् ।
अच्छिद्रस्य दधन्वतः
सुपूर्णस्य दधन्वतः ॥ (ऋ० ६।४८।१८)

(३) तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतम् ॥ (ऋ० ७।६६।१६)

(४) वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः ।
गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना ॥
(ऋ० ८।४।२१)

[ये चारों ऋचाएं पुर उष्णिक् (१२+८+८=२८) छन्द हैं। इनमें प्रथम पाद जागत (१२ अक्षर) है, अवसान भी उसी पर है, वह आदि पाद सर्वत्र मुख्य है।

६. मध्येऽवसानं तु चतुष्पदासु
त्रिभिः समस्तैरपरैः परैर्वा ।
एतं शंसं त्रिभिराद्यैः पदैः स्यात्
अधीन्वत्र त्रिभिरेवा परैश्च ॥

चतुष्पदा ऋचाओं में मध्यमें अवसान होता है। अथवा प्रथम तीन पादों के पश्चात् या पीछेके तीन पादों के पूर्व भी अवसान होता है। उदाहरण जैसे—

(१) एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्टं कूचित्सन्तं सह—
सावन्नभिष्टये सदा पाह्यभिष्टये ।
मेदतां वेदता वसो ॥ (ऋ० १०।९३।११)

(२) अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च ।
सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः
सद्यो दिदिष्ट मायवः ॥ (ऋ० १०।९३।१५)

इनमें से प्रथम मन्त्र में प्रथम तीन चरणों के बाद अवसान है और द्वितीय मन्त्र में अन्तिम तीन चरणोंके पूर्व में अवसान है।

७. इन्द्रो मदाय वावृधे नकिष्टं कर्मणा नशत् ।
अवस्येत् पादयोरत्र मुख्ययोः क्वचिदन्यथा ॥
८. नकिर्देवा मिनीमसि त्रिषु पादेष्ववस्यति ।
षट्पदायाश्च मध्ये स्याद्द्वयोर्वा पर्यवस्यति ॥

(१) इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु
प्र नोऽविषत् ॥ (ऋ० १।८१।१)

(२) नकिष्टं कर्मणा नशन्न प्र योषन्न योषति ।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभी—
दयज्वनो भुवत् ॥ (ऋ० ८।३१।१७)

इन ऋचोंमें आदि के दो पादों पर अवसान है। कहीं कहीं इससे विपरीत भी है, जैसे—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ॥
(ऋ० १०।१३४।७)

इस मन्त्र में आदि के तीन पादों पर अवसान है। षट्पदा ऋचा में बीच में बीच में अवसान होता है, अथवा दो पादों पर अवसान होता है, जैसे—

९. स क्षपः परिषस्वजे निष्कं वाचा कृणवते ।
निदर्शनिमृचौ तत्र दर्शयामास शौनकः ॥

(१) स क्षपः परिषस्वजे न्यु१स्रो मायया दधे
स विश्वं परि दर्शतः ।
तस्य वेनीरनु व्रतमुषस्तिस्रो अवर्धयन्नभ-
न्तामन्यके समे ॥ (ऋ० म० ८। सू० ४१। म० ३)

दो पादोंपर अवसान, जैसे—

(२) निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः।
त्रिते दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्य-
नेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः ॥
(ऋ० ८।४७।१५)

१०. सुषुमायातमद्रिभिर्नहि वां वव्रयामहे।
प्रोष्वस्मै पुरोरथमिति सप्तपदा इमाः ॥

(१) सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे
सोमासो मत्सरा इमे।
आ राजाना दिविस्पृशा स्मत्रा गन्तमुप नः।
इमे वां मित्रावरुणा जनाशिरः सोमाः
शुक्रा गवाशिरः ॥ (ऋ० १।१३७।१)

(२) न हि वां वव्रयामहेऽथेन्द्रमिद् यजामहे
शविष्ठं नृणां नरम्।
स नः कदाचिदर्वता गमदा वाजसातये
गमदा मेधसातये नभन्तामन्यके समे ॥
(ऋ० ८।४०।२)

(३) प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत।
अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्र-
हास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु।

ये तीन ऋचा सप्तपदा है। इनमें ७।७ पाद हैं।

११-सुषुमा त्रिष्ववस्यन्ति द्वाभ्यां द्वाभ्यां ततः परम्।
पादेषु त्रिष्ववस्थानं चतुर्ष्वपि च कुर्वते ॥

१२-ऋच्यस्यां छान्दसा विप्रा नहि वां विव्रयामहे।
द्वयोः पञ्चसु वावस्येत् सा प्रोष्वस्मै पुरोरथम् ॥

(१) 'सुषुमा०' इस ऋचा में प्रथम तीन पादोंप(अव-
सान है। फिर दो दो पादोंपर है।

(२) 'नहि वां०' ऋचामें प्रथम अवसान तीन पादोंपर
दूसरा अवसान चार पादोंपर है।

(३) 'प्रोष्वस्मै०' ऋचा में प्रथम अवसान दो पादोंपर
और दूसरा अवसान पांच पादोंपर है।

१३-स हि शर्धो न मारुतं त्रिषु पूर्वमवस्यति।
द्वावुक्त्वा त्रीनथो ब्रूयादष्टौ पादा भवन्ति ते ॥

(१) स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वती-
षूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः।
आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त
पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥
(ऋ० १।१२७।६)

१४. पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः।
विरोधेऽक्षरतः पाद इमं मे वरुण श्रुधि

१५. श्रुधीमं हवं वरुण पादे मुख्ये समन्वयः।
हवमित्यस्य पादान्तः श्रुधीत्यत्रेति शौनकः ॥

प्रति पाद में प्रायः गौण वाक्यार्थ समाप्त हो जाते हैं। यदि प्रति पाद अर्थ समाप्त न हो तो अक्षरसंख्या से ही पाद का परिणाम निश्चय करना चाहिये। जैसे—

(१) इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके ॥ (ऋ० १।२५।१९)

प्रथम पाद में ही अन्वय इस प्रकार है—

'वरुण इमं हवं श्रुधि' वाक्यार्थ के अनुरोध से 'हवम्' पद पर पाद-समाप्ति होनी उचित है, परन्तु शौनक ऋषिके मत से 'श्रुधि' पद पर पाद-समाप्ति होती है।

१६. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्येत्यर्थसंस्थितिः।
यदा तदोदाहरणं तत्रेदं च प्रदर्शयेत् ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
(ऋ० १।१।१)

इस ऋचा में यदि 'पुरोहितं यज्ञस्य' इस प्रकार यज्ञ का पुरोहित से अन्वय रखें तब यह ऋचा भी पूर्वोक्त प्रकार का ही उदाहरण इसे भी दर्शावे।

१७-यदि यज्ञस्य देवोऽग्निरिति तत्रार्थ इष्यते।
प्रतिपादमर्थभेदात् तदा नैषा निदर्शनम् ॥

"यज्ञस्य देवमृत्विजम्" इस पद में "यज्ञस्य देवः अग्निः।" ऐसा वाक्यार्थ अभीष्ट हो तो प्रति पाद अर्थभेद हो जाने से यह ऋचा पूर्वोक्त प्रकार का उदाहरण नहीं रहता।

१८-अथाप्यर्थः स्वभावेन न पादेषु व्यवस्यति।
ऋतेन मित्रावरुणौ विद्यात् तत्र निदर्शनम् ॥

स्वभावतः अर्थ पादों में समाप्त नहीं भी होता, उदाहरण जैसे—

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता। (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकतें हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससें आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। । महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके-ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡)रु० भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म ।

अप्रैल १९४१
चैत्र १८६३



क्रमांक

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ४

विषयानुक्रमणिका

१ शत्रूपर हमला करो।		१२३
२ दैवत संहिता ।		१२४
३ स्वर्ग और नर्क तथा मोक्ष ।	श्री. रघुनाथ प्रसाद वर्मा सहदेई बुजुर्ग	१२५
४ भृगुवंश और भारत ।	डा० वी० एस० सुकथनकर एम्. ए, पीएच्. डी.	१२८
५ चारों वेदोंकी पढाई पांच वर्षोंमें कैसी होगी ?		१४९
६ माताजीसे वार्तालाप ।	श्री. मदनगोपाल गाडोदिया	१५१
७ ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप ।	श्री. पं० रामावतारजी विद्याभास्कर	१५६
८ वैदिक देवता ।	श्री. पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति	१६१
९ ऋग्वेदानुक्रमणी ।	पं० जयदेव शर्मा वेदालंकार	१२९
१० वेदोपदेश ।		४९-६४

मुद्रक और प्रकाशक— व० स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५६

वर्ष २२ : : : : अङ्क ४

चैत्र संवत् १९९८

अप्रैल १९४१

शत्रुपर हमला करो।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम्
मित्रा देवजना यूयम्।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु
या नो मित्राण्यर्बुदे ॥

(अथर्व० ११।९।२)

हे मित्रो ! तुम देवजनो, अब उठो और तैयार होकर शत्रुपर हमला चढाओ। जो हमारे मित्र हैं, वे सबके सब सुरक्षित रहें (अर्थात् अपने आपको सुरक्षित रखते हुए शत्रुपर हमला करो)।

दैवत-संहिता।

ऋग्वेद की छपाईके कारण 'दैवत-संहिता' का मुद्रण स्थगित हुआ था। अब ऋग्वेद छपकर तैयार हुआ है, अतः दैवत-संहिता का ही मुद्रण शुरू किया गया है। प्रत्येक देवता के सब मंत्र ऋषियों के क्रम से यहां संग्रहित रहेंगे।

इस समय हमारे ऋग्वेद में केवल नवम मण्डल ही "दैवत-संहिता" का नमूना बता रहा है। ऋग्वेद के शेष सब काण्ड "आर्षेय-संहिता" है और केवल नवम मण्डल ही दैवत संहिता है। आर्षेय संहिता वह है जिसमें मंत्र ऋषिक्रमानुसार रहते हैं और दैवतसंहिता वह है कि, जिसमें मंत्र देवता के क्रम से रहते हैं। अपने ऋग्वेद में नवम मण्डल "दैवत संहिता" है और शेष मण्डल आर्षेय संहिता है।

वेद में जो कुछ ज्ञान है, वह देवतावर्णन के मिष से ही दिया है। इससे निश्चित है कि, वेद का अध्ययन देवतानुसार ही होना चाहिये। देवताक्रम से वेद का अध्ययन किया जाय, तो दस वर्षों की पाठविधि पांच वर्षों में हो सकती है। इसी सुविधा से हमने केवल ५ वर्षों में ही चारों वेदों का संपूर्ण अध्ययन कराने की आयोजना गताङ्क में प्रकाशित की है।

पांच वर्षों में संपूर्ण चारों वेदों की संपूर्ण पाठविधि कैसी होगी? ऐसा प्रश्न बीसियों पाठकोंने पूछा है। पर इसमें कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। दैवत संहिता के अनुसार यह पाठविधि होगी और एक एक देवता के मंत्र लेकर देवताध्ययन समाप्त किया जायगा।

चारों वेदोंमें इधर उधर हरएक देवता के मंत्र हैं, इसलिये पढनेवालों को अनुसंधान ही नहीं रहता कि, किस स्थानपर किस देवता का क्या वर्णन है। पर दैवत-संहिता में हजार, दो हजार मंत्रों में एक ही देवता-क्रमपूर्वक रहने के कारण अध्ययन की बडी सुविधा हो गयी है और इसी कारण हमने चारों वेदों का अध्ययन केवल पांच ही वर्षों में कराने का संकल्प किया है।

दैवत-संहिता अब वेग से छप रही है और जो छात्र यहां पढने के लिये आवेंगे, उनका अध्ययन दैवत-संहिता के अनुसार होगा। जो तो संस्कृत भाषा जानते हैं, वे दैवत-संहिता का पाठ नित्य प्रति करते रहेंगे, तो उनको स्वयं वेद का अर्थ स्पष्ट होता जायगा।

दैवत-संहिता बनने से वेदाध्ययन की कठिनता समूल दूर हो चुकी है। और एक बार दैवत-संहिता का अध्ययन होकर प्रकरणानुसार वेदमंत्रों की संगति लग जायगी, तो करीब बीस अथवा पुनरुक्त छोडकर सोलह सहस्र मंत्रोंकी पढाई ३ वर्षोंमें होना भी असंभवनीय बात नहीं है। ये जो छात्र लिये जायंगे, उनका अध्ययन होते होते यह संगतीकरण, तथा वर्गीकरण स्वयं ही बनता जायगा। यह सब वे छात्र ही करते जायंगे।

पहिला वर्ष उनके लिये कुछ कठिनसा प्रतीत होगा, पर जैसी पाठविधि बनायी गयी है, उसके अनुसार दूसरे वर्ष से ही वेदके अन्तर्गत प्रमाणों से ही वेदों के अर्थ स्वयं खुलते जायंगे। आजतक वेदकी अन्तःसाक्षी ली नहीं गयी, इसीलिये जो अनुवाद हुए, उसमें कर्ता की बुद्धि टपकने लगी है। पर अन्तःसाक्षी को देखकर जो वेदके अर्थ होंगे, वे अर्थ वेद ही स्वयं प्रकट करेंगे, इसलिये निर्दोष होंगे।

प्रत्येक वेदवाक्य के अर्थ निश्चित करने के पर्याप्त साधन वेदमें ही हैं। ये वाक्य हमने संग्रहित किये हैं। और इसी अन्तःसाक्षी से यहां सब वेदों की पढाई होगी। इसलिये इस पद्धति से वेदही अपना अर्थ स्वयं कहेगा। जब यह बात पूर्णतया प्रकट होगी, तब किसी को संदेह ही नहीं रहेगा।

हमारा प्रयत्न यही है कि, वैदिक धर्मी जनता वेदमंत्र पाठ तथा उनके **ऋषि, देवता तथा छन्द और अर्थ** के विषय में संदेहरहित बने।

स्वर्ग और नर्क तथा मोक्ष।

(लेखक- श्री० रघुनाथप्रसाद वर्मा, सहदेई बुजुर्ग)

वास्तव में स्वर्ग और नर्क तथा मोक्ष क्या है, इसके विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। कोई कहते हैं कि, वे लोक मंजलों जैसा एक दूसरे के ऊपर हैं, कोई कहते हैं कि, स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर जैसा स्थूल जगत् में सूक्ष्म लोक हैं, जिनका अनुभव सूक्ष्म शरीरद्वारा ही किया जा सकता है और किन्हीं विद्वानों का मत है कि नहीं, स्वर्ग और नर्क के माने है, सुखविशेष और दुःखविशेष के और विना स्थूल शरीर के जीव दण्ड, फलस्वरूप सुख-दुःख को भोग नहीं सकता, अतएव जहाँ और जिस स्थान पर जीव अपने कर्मानुसार सुख-दुःख पाता है, वही स्वर्ग और नर्क है, इससे परे किसी स्थानविशेष का नाम स्वर्ग और नर्क नहीं है।

यदि स्वर्ग और नर्क भोगने के लिये किसी अन्य जगत् में जाना अनिवार्य है, तो पुनर्जन्म व्यर्थ है, कारण कि आत्मायें सदा काम करती रहती हैं और वह कार्य शुभ या अशुभ होता है, जिस के परिणामस्वरूप दण्ड और फल ईश्वर देता है। ईश्वर न तो बेकार है और न निकम्मा, फिर प्रवाह के कर्म से इन्कार करना व्यर्थ है, तब भय और भुलावे अथवा दिल बहलाने के लिये उस स्वर्ग और नर्क का विचार किसी अंश में अच्छा है।

हाँ! मोक्ष के विषय में कुछ ऐसी बातें अवश्य माननीय हैं कि, मोक्ष में जीव शुद्ध मन और पांच ज्ञानेन्द्रिययुक्त ब्रह्म में, जो सर्वत्र पूर्ण है, अव्याहतगति से विज्ञान आनन्दपूर्वक एक निश्चित काल तक आवागमन से रहित स्वतन्त्र विचरता हुआ आनन्द भोग करता है, क्योंकि मोक्ष में यद्यपि स्थूल शरीर नहीं रहता, फिर भी सङ्कल्पमात्र शरीर होता है, जिसके द्वारा जीव उस परमगति में भी आनन्दभोग करता है, जैसे—

शृण्वन् श्रोतं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति।

(शतपथ कां० १४)

इस प्रकार जीव आनन्द भोग करता हुआ, पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्तिसुख को छोडकर संसार में आते हैं, जैसा कि मुण्डक उपनिषद् का वचन है—

ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। (मुण्डक ३। खं० २। मं० ६)

यहां इस विषय में भी कई अन्य विद्वानों का मत है कि नहीं, मुक्ति का अर्थ है मुक्त हो जाना और जीव जब मुक्त हो गया, तो पुनः जन्ममरण में नहीं आता। परन्तु जीव का सामर्थ्य और साधन परिमित है, इसलिये उसका फल भी अनन्त नहीं हो सकता और भी, जिसका साधन अनित्य है, तो फल भी अनित्य ही होगा, वह नित्य कभी नहीं हो सकता और यदि मुक्तिसे जीव पुनः नहीं लौटता, तो ऐसी दशा में संसार का उच्छेद अनिवार्य है। अगर कोई कहे कि उतने नये जीव ईश्वर उत्पन्न कर देता है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जीव अनित्य हो जाता है, इसके सिवाय एक बात और भी है, न्यायकर्ता ईश्वर अनित्य कर्म का फल नित्य क्यों देने लगा? अगर देवे तो उसका न्याय नष्ट हो, इस कारण एक परान्तकाल के बाद मुक्ति का आनन्द भोग करके पुनः जीव का संसार में जन्म लेनाही ठीक प्रतीत होता है और वेद भी इसी को समर्थन करता है। यथा--

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ २॥

(ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १-२)

अर्थात् हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त

परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भोगा कर पुनः पृथ्वी में मातापिता के सम्बन्ध में जन्म देकर मातापिता का दर्शन कराता है, वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है । अब विद्वज्जन ही सत्यका निर्णय कर बतावें कि, किन् किन् विद्वानों का मत माना जाये और किन् किन् का नहीं । आशा है कि, सम्पादक वैदिक धर्म भी इसमें अपना हाथ बटायें, तो बड़ी अच्छी बात हो ।

(संपादकीय कथन ।)

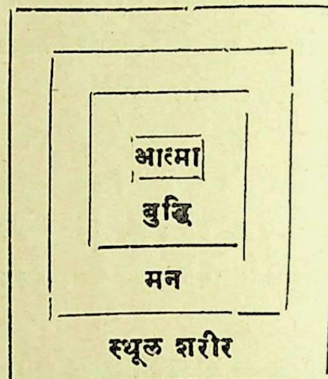
' नरक ' शब्द का अर्थ है (नर+क=) जो मनुष्य का बनाया है, मनुष्य ही अपना नरक स्वयं अपने ही कर्म से बनाता है । ' स्वर्ग शब्द का अर्थ है (स्व+र्+ग=) अपने प्रकाशमें गमन, स्वयंप्रकाश होकर विचरना । इसका दूसरा नाम ' **सु+वर्ग** ' अर्थात् ' उत्तम संघ ' भी है ।

ये शब्दार्थ स्वर्ग और नरक को स्पष्ट रूप में बता रहे हैं । स्वर्ग-नरक में सुखदुःख भोगना होता है, यह हर-एक का अपने कर्मसे ही होता है । ' यह ईश्वर करता है, ' ऐसा कहने के स्थानपर यदि ' **यह स्वकीय कर्मों के नियमोंसे होता है,** ' ऐसा कहा जाय, तो अधिक सत्य होगा ।

मृत्यु के पश्चात् ही स्वर्ग और नरक भोग होते हैं, ऐसा बहुत लोग मानते हैं । पर यह सत्य नहीं है । स्वर्ग और नरक मानसिक हैं, अर्थात् मन की स्थिति से जिसके उसके लिये नियत होते हैं । अर्थात् एक कमरे में रहनेवाले दो मनुष्य एक ही समय में स्वर्ग का सुख और नरक का दुःख भोग सकते हैं, अर्थात् जिस समय एक मनुष्य स्वर्गीय आनन्द भोग सकता है, उसी समय दूसरा मनुष्य नरकयातना भोग सकता है । जिस तरह सोनेवाले दो मनुष्य दो विभिन्न प्रकार के स्वप्न देख सकते हैं, उसी तरह स्वर्गनरकभोग भी भोग सकते हैं, अर्थात् स्थानान्तर जाने की या मरने की भी आवश्यकता नहीं है । एक छोटा बालक आनन्द से हंसता है और उसी घरके अन्य लोग किसी सम्बन्धी की मृत्यु के कारण रोते रहते हैं । इसी तरह स्वर्गनरक भी मानसिक-मनोलोक सम्बन्धी होने के कारण भोगे जाते हैं ।

शरीर रहने या न रहने का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । मरने के बाद भी मनरूप शरीर रहता है, इसलिये मरने के बाद भी स्वर्गनरक के भोग मिलते रहते हैं, पर जीवित दशा में भी मिलते हैं ।

स्थूल देह मरने पर भी मानसदेह रहता है, यह जानने से उक्त बात का ठीक ठीक पता लग जायगा ।



साथवाले चित्र का मनन करिये । इसमें मंजिलें नहीं हैं । ये अन्दर अन्दर है । जैसी लोहे में उष्णता रहती है । मंजल पर नहीं, पर अन्दर । इसी तरह स्थूल शरीर के अन्दर मन है । स्थूल शरीर ही मरता है । मन-बुद्धि-आत्मा जन्मजन्मान्तर में एक से रहते हैं । मन भी कुछ मुदत के बाद बदलता रहता है, पर उसका विचार यहां करने की आवश्यकता नहीं है । मन शुद्ध या दोषपूर्ण होने न होने से स्वर्ग और नरक हरएक मनुष्य के उसी के साथ बने रहते हैं । यह मानसिक अवस्था है । इसको प्राप्त करने के लिये स्थानान्तर जाने की आवश्यकता नहीं है ।

एक का क्रोधी मन है, वह जलता ही रहता है, जीवित अवस्था में जैसा जलता है, वैसा ही मरने पर कल्पना से ही जलता रहता है । कौन उसे शान्ति दे सकेगा ? क्योंकि उसके मन से निर्माण हुई उसकी जलन है ।

दूसरा शान्त सज्जन है । वह शान्ति से, सुविचार से आनन्द में रहता है । जैसा जीवन में वैसा ही मृत्यु के बाद उसका आनन्द अटल है । कौन उसे दुःख दे सकेगा?

जैसा जिसका मन, वैसे उसके स्वर्ग और नरक हैं । इसका जीवनमरण से कोई वास्ता नहीं है । अतः मंजलों की कल्पना तथा अन्य कल्पना केवल कल्पना ही है । जो मनुष्य अपना मन सुधारेगा, उसको स्वर्ग ही सदा

प्राप्त है। उसके लिये कोई भय नहीं है।

मोक्ष के लिये भी शरीर त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं। '**मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।**' मन ही बंधमोक्ष का कारण है। मन एक वार बंधमुक्त हुआ, परम शुद्ध हुआ, तो वह शरीरधारी हो वा मृत हो, वह मोक्षमें विराजता ही है। जीवित मनुष्य भी मुक्त रहते हैं, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

स्वर्ग और मोक्ष में भेद है। ये दोनों एक नहीं हैं। स्वर्ग का सुख जगत् के सुख के समान सापेक्ष है। परन्तु मोक्ष जो है, वह निरपेक्ष सुख है।

मुक्त जीव फिर संसार में आते हैं, ऐसा जो ऊपर के लेखक ने कहा, वह योग्य नहीं है। एक वार 'भूमा' अवस्था प्राप्त हुई, तो फिर वह नष्ट होगी, ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस विषय में पूर्वलेखों में अनेक वार लिखा है। वारंवार वही लिख देने से कोई नयी शंका नहीं होती। (वैदिक धर्म, क्रमांक २५३ और उसके पिछले अंक देखो)

यदि जीव मुक्ति से लौटकर दुःख में न आवे, तो संसार का उच्छेद होगा, यह एक शंका यहां उठाई है। संसार के उच्छेद का डर कोई न बतावे। चिनगारी से आग बनी, तो चिनगारी मुक्त हुई। फिर वही चिनगारी वापस आती नहीं है और नाही उसी की वापसी की आवश्यकता है। जो आग धधकती है, उससे फिर दूसरी चिनगारियां निकलती रहेंगी। वह अग्नि का स्वभाव ही है। इसी तरह जीवभाव चिनगारी जैसा है। वह पूर्वलेखों में बताया है। फिर फिर वही शंका दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अनित्य कर्म का नित्य फल कैसा मिलेगा? यह एक शंका यहां उठाई है। कर्म की शक्ति किसने मापी है? कोई साधन कर्म की शक्ति गिनने का किसी के पास नहीं है। हरएक स्थान में अनंत शक्ति है। एक गेहूं के दाने में, वीर्य के एक बूंद में, भाषा के एक शब्द में कितना सामर्थ्य है, इसका किसी को पता नहीं है। इसी तरह कर्म की शक्ति कहां कैसी कार्य करती है, वह सान्त है वा अनन्त है, यह किसी प्रकार निश्चित नहीं है। इस सब में अनन्त शक्ति है, यही सब विचारक कहते हैं। और वैदिक धर्म का यही सिद्धांत है। इसलिये सान्त कर्म और अनन्त मोक्ष आदि बातें भ्रान्त हैं। क्षणमात्र में दीप जलाया जाता है, जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह दीप जलता रहता है। क्षणमात्र के कर्मका कितना दीर्घजीवी परिणाम हम देखते हैं।

अपने आपको जानना ही मोक्ष है। एक वार जान लिया, तो उसके भूलने का कोई कारण ही नहीं है।

'**कस्य नूनं**' आदि मंत्र का अर्थ मुक्ति से वापस आनेवाले जीव के वर्णनपरक करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस तरह अर्थ घडे जायंगे, तो वेदकी दुर्दशा कितनी होगी, इसकी कल्पना बडी ही भयानक प्रतीत होती है। वैदिक धर्मी इस पाप से बचे रहें।

हमारी प्रार्थना इतनीहि है कि, वे वेदका अध्ययन करते रहें। संपूर्ण वेदाध्ययन होने के बाद वैदिक सिद्धान्त का स्वयं पता लग जायगा। तब तक शंका करना व्यर्थ है। वेद के मनमाने अर्थ करने पर अर्थ का अनर्थ होने में देरी नहीं लगेगी।

आजकल वेद के मनमाने खींचातानी के अर्थ बहुत छपे हैं। पाठक उनको पढते हैं और शंका लिखते जाते हैं। इससे स्वयं थोडे सूक्तों का उत्तम अध्ययन करेंगे, पदपदार्थ, शब्दवाक्यानुसन्धानपूर्वक अध्ययन करेंगे और आचरण में लावेंगे, तो उनका कल्याण अधिक होगा।

आजकल निरर्थक शंकाएं बहुत उठाने का शौक बढ गया है। (१) सृष्टि के प्रारम्भ में क्या था, (२) सृष्टि के अन्त में क्या रहेगा? (३) सृष्टि के प्रारम्भ को समय कितना बीता है? (४) आगे सृष्टि कितने वर्ष रहेगी? (५) मुक्ति में क्या होगा। इ० इ०

इस तरह सैकडो शंकाएं पूछी जाती हैं। इनमें से एक शंका की भी मनुष्य के आज के आचार, व्यवहार और धर्म के लिये आवश्यक नहीं है।

मनुष्यों को जो आज विचारना चाहिये, वह यह है कि, 'वह आज क्या करे?' मुक्ति के बाद जो होगा, उस का विचार मुक्ति के बाद करेंगे। और सब मुक्त होने पर संसार का उच्छेद होनेवाला होगा, तो उसके विपरीत साधन आज से शुरू करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भृगुवंश और भारत।

(लेखक- डा० वी० एस० सुकथनकर, एम्० ए०, पीएच्० डी०)
(अनुवादक- श्री० वासुदेव शरणजी अग्रवाल, लखनौ)

(२)

जब पाण्डव द्रुपद की राजधानी की ओर यात्रा कर रहे थे, मार्गमें गन्धर्वाधिपति चित्ररथ अङ्गारपर्ण उनको रोकता है और अर्जुन से हार कर उसका मित्र बन जाता है। इस प्रसङ्ग में कुशल कथाकार ने कुछ कहानियां जड दी हैं, जो विषयान्तरमात्र हैं और कथाप्रसङ्ग से जिनका संबंध नहीं के बराबर हैं। इसी में वशिष्ठ का उपाख्यान भी है। कहा जाता है कि, कान्यकुब्ज के अधिपति विश्वामित्र वशिष्ठ की कामधेनु गौ को छीनना चाहा। उसमें असफल होकर वे तप करने लगे और अन्त में वे ब्राह्मण पदवी को प्राप्त हुए। इसी में आगे यह कहा है कि, सुदासपुत्र कल्माषपाद को वशिष्ठपुत्र शक्ति ने शाप देकर नरमांसभक्षी बना दिया और उसने अपने इस राक्षसी कर्म का प्रारम्भ वशिष्ठ के पुत्रों से ही किया। अन्त में वशिष्ठ ने उसको इस शाप से मुक्त किया। उपाख्यान के अन्तिम भाग में यह बताया है कि, अपने प्रपौत्र, शक्ति के पुत्र पराशर को जो सारे संसार को भस्म करने पर उतारू हो गया था, भार्गव और्व की कथा सुनाकर समझाना चाहा। यहाँ यह स्पष्ट है कि, वशिष्ठ-उपाख्यानके भीतर भार्गव-उपाख्यान सम्मिलित कर दिया गया है। और्व की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी समय में हैहयवंश के कृतवीर्य नामक राजा थे। भृगुवंशी ब्राह्मण उनके पुरोहित थे। राजाने अपने पुरोहितों को बहुत धन दिया। उनके बाद उनके लडकों ने वह धन भृगुओं से वापिस मांगा। भृगुओं ने उसमें से कुछ लौटा दिया, सब नहीं। ऐसा हुआ कि एक बार भृगुओं की वस्ती में खुदाई करते हुए क्षत्रियों को बहुत सा कोष मिला। यह सोच कर भृगुओं ने जानबूझ कर धन छिपाया है, उन राजाओं ने वे सोचे समझे भृगुओंका वध करना आरम्भ कर दिया और गर्भवती स्त्रियों तक को न छोडा। कुछ भार्गव स्त्रियां भाग कर हिमालय में छिप गईं। एक स्त्री ने अपने गर्भ को उरु भाग में छिपा रखा उससे और्व का जन्म हुआ। जिनके तेजसे सारे हैहय अन्धे हो गए। दुःखी होकर वे उस स्त्री से क्षमा, याचना करने लगे। इस पर उसने कहा—

मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हूँ। हां, यह भृगुवंशी कुमार तुम्हारे ऊपर कुपित हैं और इसी महात्मा भार्गव के कारण तुम्हारी आंखे जाती रही हैं। भृगुवंश के नाश को देखकर मैंने इस कुमार को एक शत वर्ष तक अपनी जंघा में छिपा रखा। भृगुवंश के कल्याण के लिए साङ्ग वेद गर्भ में ही इनको प्रतिभासित हो गए। ये ही तुम्हारे नाश के कारण हैं। यदि तुम इन और्व को प्रसन्न कर सको, तो तुम्हारी नेत्रज्योति तुम्हें प्राप्त हो सकती है। इतना सुन कर क्षत्रियों ने और्व से क्षमा मांगी और और्व ने उन्हें क्षमादान दिया। परन्तु भार्गव वंश के साथ हुए उस अन्याय को वे भूले नहीं और पाप से भरे हुए इस जगत् का क्षय करने के लिए घोर तप करने लगे। उनके तप से सारे लोक व्याकुल हो गए, तब और्वके पितरोंने आकर उनसे कहा—

'हे पुत्र! तुम्हारे तप के प्रभाव को हमने देख लिया। अब शान्त होकर लोकोंको क्षमा करो।' उन पितरोंने यह भी कहा कि क्षत्रिय निर्दोष थे। भृगुओं ने स्वयं ही अपने नाश का यह उपाय रचा था। बेचारे क्षत्रियों की क्या शक्ति थी, जो तपस्वी भार्गवोंको छू सकते। वस्तुतः भार्गवलोग अपने जीवन से ऊब गए थे, पर उनके तप से मृत्यु उनके पास न फटकती थी। और आत्मघात करना भी उचित न था। बस इसीलिए उन तेजस्वी ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के साथ वैर मोल ले लिया। अथवा मोक्षाभिलाषी उन महात्माओं को धन की लिप्सा कैसे हो सकती थी। और्वने कहा कि, यह सत्य है, परन्तु संसार को दग्ध करने के लिए जो क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हुई है, उससे यदि जगत् का नाश हुआ, तो वह स्वयं मुझको ही जला देगी। पितरों ने कहा- ' हम इसका उपाय बताते हैं। तुम इस रोषाग्नि को जलों में डाल दो, जो इस जगत् के आदिकारण

और प्रतिष्ठान है। और्वने ऐसा ही किया।'

इस कथा में भार्गव-उपाख्यानों की कुछ बातें स्पष्ट झलकती हैं। प्रथम क्षत्रियों के साथ युद्ध, दूसरे आततायी राजाओं को दण्ड देने के लिये तेजस्वी भार्गवकुमार का जन्म और अन्त में उस जिघांसा से निवृत्ति कराने के लिए पितरों का आना। राम, और्व, च्यवन आदि के भार्गव-उपाख्यानों में यह प्रसङ्ग मिलतेजुलते हैं।

सभापर्व।

सभापर्व में ८१ अध्याय और लगभग २७०० श्लोक हैं। इसकी कथा सुग्रथित है। युधिष्ठिर की सभा के निर्माण से लेकर उनके दूसरी बार द्यूतक्रीडा में निरत होनेतक की कथा गम्भीर गति से आगे बढती है। इस में विषयान्तर बहुत कम है और उपाख्यान नहीं के बराबर हैं। सिर्फ दो बार कथाप्रसङ्ग कुछ बहक गया है। शुरू में अध्याय ५ से १३ तक नारद के द्वारा प्रश्नों की रीति से राजधर्म का वर्णन है और पुनः इंद्र, यम, वरुण, कुबेर और ब्रह्मा की सभाओं का वर्णन है। अ० १७ से १९ तक कृष्ण ने जरासन्ध के पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहा है। फलतः इस पर्व में भार्गव सामग्री बहुत ही स्वल्प है। कई बार संकेतरूप में उनका उल्लेख है। भृगु, मार्कण्डेय, राम, जामदग्न्य आदि प्रख्यात भार्गव ऋषि ऊपर लिखी हुई देवसभाओं में उपस्थित कहे गए हैं। युधिष्ठिर की सभा में भी वे उपस्थित कहे गए हैं। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय में भी उनका वर्णन है। १४ वें अध्याय में भार्गवराम के द्वारा क्षत्रियबध की घटना का संकेत आता है। यह कथा सूत जी को कभी विस्मृत नहीं होती। विषय से असम्बद्ध होने पर भी राजसूय के सामान की तैयारी समय कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि इस समय के क्षत्रिय जामदग्न्य राम के द्वारा नाश को प्राप्त हुए पहले क्षत्रियों की तुलना में हीन है (२।१४।२)—

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसङ्गितम्॥

जिस प्रकार आचार्य द्रोण के धनुर्वेद में गुरु राम जामदग्न्य कल्पित किये गए उसी भाव से प्रेरित होकर भीष्म का गुरु भी उन्हीं को कहा गया है। इस बात का विस्तार आगे चल कर उद्योगपर्व के अम्बोपाख्यान में किया गया है, जो कि प्रक्षिप्त अंश है। दुर्योधन के परम मित्र कर्ण के साथ भी राम का वही सम्बन्ध बतलाया गया है। शिशुपाल की दृष्टि में अर्घ पाने के लिए यह भी कर्ण का एक गुण था। (२।३७।१५)

अयञ्च सर्व राज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥

आरण्यक पर्व।

यह पर्व प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का महाकोष है। इसमें भार्गवसामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कथा सुनानेमें भी एक भार्गवने काफी भाग लिया है। भृगुसम्बन्धी पहला अवतरण तीर्थयात्रापर्व में है। अ० ८२ प्रभृति में सन्निविष्ट तीर्थवर्णन पहले पुलस्त्य ऋषिने भीष्म को सुनाया था, फिर उसी को नारदने युधिष्ठिर के आगे कहा है। यह तीर्थों की श्लोकबद्ध सूची है, जिसमें तीर्थ का नाम, धर्मकृत्य और पुण्यफलप्राप्ति का वर्णन है। इस नीरस तालिका में बहुत कम स्थानों पर तीर्थ के महात्म्यसम्बन्धी दो एक प्रश्न पूंछ कर कोई कोई कथा जोड दी गई है। इसी सूची में राम ह्रदों का भी उल्लेख है। (३।८३।२६) जिन के वर्णन में ३२ पंक्ति लिखी गई हैं। यहाँ भी वही भार्गवराम और क्षत्रियों के बध की कथा है। जो इस चौथी आवृत्ति में इस प्रकार है।

महातेजस्वी और पराक्रमी रामने युद्ध में काम आए हुए क्षत्रियों के शोणित से पांच ह्रद भर दिए। उससे उन्होंने पितरों का तर्पण किया। प्रसन्न होकर पितरोंने दर्शन दिए और कहा- 'हे महाभाग! हम तुम्हारी पितृभक्तिसे प्रसन्न है। हे भार्गव! इच्छानुसार वर मांगो।' यह सुनकर प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ रामने (रामः प्रहरतां वरः ३।८३।३१) हाथ जोडकर निवेदन किया- यदि आप प्रसन्न हैं, तो कृपया यह वर दीजिए कि, पुनः तपस्या करने में मुझे प्रीति उत्पन्न हो। आप के अनुग्रह से क्षत्रिय-बध-जनित मेरे पाप धुल जावें और ये शोणित के ह्रद संसार में प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ बन जावें। पितरलोग इन बचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भार्गवराम की तीनों इच्छाओं को पूरा करनेवाले वर दिए।

वर देकर पितर अदृश्य हो गए। इस प्रकार तेजस्वी भार्गव के वे ह्रद अत्यन्त पवित्र तीर्थ बन गए। ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके जो इन ह्रदों में स्नान करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

पाठक देखेंगे कि यह कथा लगभग वही है, जो पहले समन्तपञ्चक के बारेमें कही जा चुकी है। वस्तुतः समन्त-पञ्चक का ही दूसरा नाम रामह्रद जान पडता है। आदि-पर्व के दूसरे अध्याय में सूतजीने केवल चार श्लोकों में ऋषियों से यह कथा कही थी। यहाँ उपयुक्त विस्तार से उस का वर्णन हुआ है।

कुछ ही अध्याय बाद भृगुतीर्थ के वर्णन प्रसङ्ग में (३।९९।३४ प्रभृति) एक विचित्र कथा आती है, जिसमें विष्णु के ही दो अवतार जामदग्न्य राम और दाशरथि राम में द्वन्द्व दिखलाया गया है। कथा इस प्रकार है। एक बार जामदग्न्य राम दाशरथि राम से मिलने और उन की परीक्षा लेने के लिए अयोध्या गए। दाशरथि राम उनकी अग-वानी के लिए अपने राज्य की सीमापर आए; परन्तु जाम-दग्न्य रामने उन का बहुत अनादर किया तथापि दाशरथि रामने अपने प्रतिद्वन्द्वी के दिए हुए धनुष को झुकाकर एक बाण चलाया, जिसने सारे संसारमें खलबली मच गई और जामदग्न्य राम भी घबडा गए। इस के बाद दाशरथि रामने अपना विश्वरूप दिखलाकर उनको और भी नीचा दिखलाया। उन का तेज क्षीण हो गया और लज्जित हो कर वे महेन्द्रपर्वत पर चले गए। पीछे भृगुतीर्थ में उन्होंने अपना तेज प्राप्त किया। युधिष्ठिर से कहा गया है कि, वह दुर्योधनके साथ संघर्षमें खोए हुए अपने तेजको पानेके लिए उस तीर्थ में स्नान करें। यह हास्यास्पद कथा महा-भारत में बहुत हाल में मिलाया हुआ प्रक्षेप है, वैसे भी मूल पाठकी दृष्टिसे यह असम्बद्ध है और अगस्त्य उपाख्यान के अधबिच में बडे भद्दे ढंग से जोड दी गई है।

इसकी रचनाशैली भी निकृष्ट है। जिन भार्गवराम के लिए समस्त महाभारत में ऊंचे सम्मान का भाव पाया जाता है, उन्हीं की अवज्ञा प्रदर्शित करनेवाली यह कथा बिलकुल बेसुरी है। हस्तलिखित प्रतियों के आधार से भी यह प्रक्षिप्त सिद्ध होती है। दक्षिण की प्रतियों में इसका कहीं नाम नहीं है। काश्मीरी प्रतियों में भी यह नहीं पाई जाती और कुछ देवनागरी अक्षरों में लिखी प्राचीन प्रतियों में भी यह नहीं है। महाभारत के रामोपाख्यान के साथ इस बेतुकी कथा की कोई सङ्गति नहीं लगती और न कहीं इसका वर्णन है। रामायण में अवश्य इसी ढंग की एक कथा है, परन्तु आरण्यकपर्व में इसकी मिलावट किसी मूढ लेखक ने अभी हाल में ही कर दी जान पडती है।

इसके बादके ही अध्याय १०० में फिर भार्गव-दधीचि की कथा है। लोमश ऋषि कह रहे हैं कि, कालकेय नामक असुरों ने वृत्र की अध्यक्षता में देवताओं को तङ्ग करना शुरू किया। वे रक्षा के लिए ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने उन्हें भार्गव-दधीचि के पास उनकी हड्डियाँ मांगनेके लिए भेजा। दधीचि ऋषि ने त्रिलोकी के कल्याण की कामना से तुरन्त अपना शरीर दे दिया। दधीचि की हड्डियों से विश्वकर्मा ने वज्र का निर्माण किया, जिससे इंद्र ने असुरों को हराया। दधीचि की कथा बलदेवजी के तीर्थयात्रा-प्रसङ्ग में (शल्यपर्व अ० ५१) फिर कही गई है।

कुछ ही अध्याय आगे चल कर जब युधिष्ठिर अपने साथियों के साथ महेन्द्र पर्वतपर पहुँचे, जिसे राम ने, जो अब सब कुछ त्याग कर संन्यासी बन गए थे, अपना निवासस्थान बना लिया था; तो कथावाचक सूत को भार्गवराम के चरित्र की पूरा रूपरेखा खींचने का एक अच्छा चित्र मिल गया। (आरण्यक अ० ११५ से ११७ तक)।

गङ्गासागर में स्नान करने के बाद पाण्डव कलिङ्ग देश में वैतरणी के पास पहुंचे, जहाँ कश्यप का अग्निकुण्ड था। वे महेन्द्रपर्वत पर ठहरे और वहाँ भार्गवराम के ही अकृत-व्रण नामक एक शिष्य से राम का उपाख्यान सुना। यह कथा इस प्रकार है।

कान्यकुब्ज के राजा गाधि बन में तप करने के लिए गए। वहाँ उनके एक सुन्दरी कन्याका जन्म हुआ, उसका नाम सत्यवती था। भार्गव ऋचीक ने उससे ब्याह करना चाहा। गाधि को यह बात कुछ अच्छी न लगी और उससे बचने के लिए उन्होंने विशेष रंग के एक हजार घोडे मांगे। ऋचीक ने घोडे लाकर दे दिए और उसका पाणिग्रहण किया। उसी समय किसी भृगु ने (सम्भवतः यह और्व थे) नवदम्पती के सामने प्रकट होकर वधूको यह वर

दिया कि वह और उसकी माता एक एक तेजस्वी पुत्र को जन्म देंगी। शर्त यह थी कि, सत्यवती उदुम्बर वृक्ष का और उसकी माता अश्वत्थ का आलिङ्गन करे और दोनों अलग अलग पात्र में विशेष प्रकार का मन्त्रपूत चरु भक्षण करें। संयोग से इस विधि में उलट फेर हो गया, जिसके फलस्वरूप सत्यवती के गर्भ से क्षत्रियगुणों से युक्त ब्राह्मण और उसकी माता की गर्भ से ब्राह्मण-गुणोत्पन्न क्षत्रिय के जन्म की सम्भावना उपस्थित हुई। भृगु को मन्त्रबल से यह विदित हो गया और उन्होंने सत्यवती से सब हाल कहा। उसकी प्रार्थना पर उन्होंने एक वर-दान और देकर उस सम्भाव्य फल को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि, सत्यवती की कोखसे जमदग्नि उत्पन्न हुए, जो ब्राह्मण थे। उनके पुत्र राम हुए, जिनमें क्षत्रियत्व का दोष प्रगट हुआ और मार-काट तथा युद्ध की प्रवृत्ति प्रबल हुई। शान्त स्वभाव जमदग्नि को भी सब दिव्य अस्त्रों का ज्ञान स्वयं प्राप्त हो गया। राजा प्रसेनजित की कन्या रेणुका से उनका विवाह हुआ। उससे पांच पुत्र हुए– रुमण्वत, सुषेण, वसु, विश्वा-वसु और राम।

एक दिन मार्तिकावतक के राजा चित्ररथ को अपनी रानियोंके साथ जलक्रीडा करते देख कर रेणुकाको कामभाव उत्पन्न हुआ। आश्रम में लौटने पर जमदग्नि ने उसका भेद जान लिया और अपने पुत्रोंसे उसका बध करने को कहा। चार पुत्रोंने पिताकी आज्ञा न मानी, परन्तु राम जामदग्न्य ने अपने सैनिकस्वभाव के कारण पिता की आज्ञाका झटपट अपने फरसे से माँ का सिर अलग कर दिया। जमदग्नि ने खुश होकर रामको कई वर दिए, जिनमें रेणुका का जीवन-दान भी एक था। कुछ दिन शान्ति से बीतने के बाद कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन जमदग्नि के आश्रममें आए।

भार्गवोंने उनका उचित आदरसत्कार किया, परन्तु कृतघ्न राजा ने अपने घमण्ड में चूर होकर आश्रम की कामधेनु के बछेको पकड कर साथ ले लिया (वशिष्ठ-विश्वामित्र-उपा-ख्यान की कामधेनु के समान यह अभिप्राय है)। बस यहीं से महावैर का सूत्रपात हुआ। राम ने पहले उद्धत कार्तवीर्य को मार डाला। बदले में उसके पुत्रों ने आश्रममें घुस कर प्रतिरोध न करनेवाले जमदग्नि को मार दिया। लौटने पर राम अपने पिता की दशा देख कर आगबबूला हो गए और प्रचण्ड पराक्रम से न केवल कार्तवीर्य के पुत्रों का बल्कि उनके अनुगत समस्त क्षत्रियों का भी २१ बार बध कर डाला और समन्तपंचक में पांच शोणित ह्रदों की स्थापना की (३।११७।९)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥

इन्हीं ह्रदोंमें खडे होकर राम ने पितरों का तर्पण किया, जिस पर ऋचीक प्रगट हुए और और उनका निवारण किया। इसके बाद प्रतापी राम ने एक बडे यज्ञ से इंद्र को प्रसन्न करके पृथिवी कश्यप को दान में दे दी और स्वयं महेन्द्र-पर्वत पर चले गए।

बाद के कथा वाचकों ने अन्य भार्गवकथाओं की भांति इस कथामें भी एक साढे ग्यारह श्लोक (३।११५।९-१९) का क्षेपक मिला दिया। इसमें राम को विष्णु का अवतार कल्पित करने के अतिरिक्त हैहय अर्जुन के पूर्वदुष्कर्मों का भी वर्णन है। यह अंश दाक्षिणी काश्मीरी और कुछ देव-नागरी प्रतियों में भी लुप्त है।

भार्गवराम का यह कथा जिसको मिथ्या ही कार्तवी-र्योपाख्यान भी कहा जाता है, महाभारत के प्रचलित संस्करण के ११७ वें अध्याय में समाप्त हो जाती है। अ० १२२ में फिर एक भार्गव कथा है, जिसमें भृगुपुत्र च्यवन का चरित्र है।

पाण्डव लोग तीर्थों में घूमते हुए पयोष्णी और नर्मदा के तट पर पहुँचे। वहाँ शर्यातियज्ञ का स्थान लोमश ने दिखलाकर च्यवन की निम्नलिखित कथा सुनाई।

भृगुपुत्र च्यवन ने इसी सरोवर के किनारे इतना अधिक तप किया कि उनको लताओं ने और बावी ने ढंक लिया। एक दिन वहाँ राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्या के साथ आए। बन में विचरती हुई सुन्दरी सुकन्या को देखकर च्यवन का मन कुछ पिघल गया और उन्होंने बांवी के भीतर से ही धीमे स्वर में कहा जो सुकन्या को सुनाई न पडा। उस चञ्चल राजपुत्री ने बांवी में से चमकती हुई दो आंखों को देखकर कुतूहलवश कांटे से उन्हें बींध दिया। उसने अनजाने ही ऐसा किया पर इसका परिणाम भयङ्कर हुआ और ऋषि के क्रोध से सेना का मलमूत्र रुद्ध

हो गया। घबराये हुए राजा की समझ में कुछ कारण न आया, तब राजपुत्रीने उनसे अपना अपराध स्वीकार किया। तुरन्त शर्याति तपोवद्ध च्यवन के पास आये और हाथ जोडकर क्षमा, याचना की। च्यवन ने यह शर्त रखी कि तुम अपनी कन्या को सेवा के लिए मुझे दो। राजा ने इसे मान लिया और सुकन्या को देकर नगर से लौट आए।

कुछ दिन बाद अश्विनीकुमार वहाँसे निकले और सरोवर में नहाती हुई सुन्दरी सुकन्या को देख कर उस पर मोहित हो गए। उन्होंने विवाह का प्रस्ताव किया। सुकन्या ने न माना। उन्होंने फिर कहा– हम तुम्हारे पति को यौवन देकर रूपसम्पन्न कर दें, तब उसमें और हम दोनोंमें से तुम किसी एक को चुन लो। च्यवनकी अनुमतिसे सुकन्या ने इसे स्वीकार कर लिया। तब रूपार्थी च्यवन को अश्विनों ने उस सरोवर में स्नान करने को कहा। तीनोंने एक साथ डुबकी लगाई और सब एकसा दिव्य रूप लेकर बाहर आए और सुकन्या से कहा– हममें से जिसे चाहो एक को पति चुन लो। सुकन्या के समक्ष नलदमयन्ती जैसी दुविधा उत्पन्न हुई, परन्तु अपनी भक्ति के कारण उसने च्यवन को ही चुन लिया। कृतज्ञ च्यवन ने नासत्यों से कहा– मैं आपसे प्रसन्न हूं। आप दोनोंको यज्ञके सोमपान में भाग दिलाऊंगा।

तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याऽहं सोमपीथिनौ।

शर्याति ने जब यह सुना, वे अपनी पुत्री और जामाता से मिलने आए। सत्कार के बाद च्यवन ने कहा- हे राजन्! हम तुम्हें यज्ञ कराएंगे। इस यज्ञमें पहली बार शर्याति ने अश्विनों को सोम की पहली आहुति दी। इससे पहले वैद्य होनेके कारण उनको सोम की आहुति नहीं मिलती थी। इन्द्र ने इसे रोकना चाहा। च्यवन ने न माना और इन्द्रने उन पर अपना वज्र चलाया; परन्तु च्यवन ने प्रहार करती हुई इन्द्र की भुजा को जहाँ तहाँ मन्त्रबल से रोक दिया और मदनाम की एक कृत्या उत्पन्न की, जिसने इन्द्र का पीछा किया। इन्द्रने हार कर च्यवन का पक्ष मान लिया और ऋषि ने दोनों अश्विनों को सोमपान कराया। तबसे जैसे सब देवोंको वैसे अश्विनीकुमारों को भी यज्ञ में सोम का भाग मिलने लगा। इंद्र ने क्षमा मांग कर कहा– मैंने तो शर्याति की कीर्ति को फैलाने के लिए ही ऐसा कहा था। च्यवन के पिता भृगु ने अग्नि को सर्वभक्ष होने का शाप दिया था (१।६।१३)। स्वयं च्यवन ने देवराज इंद्र को भी नीचा दिखा दिया।

अ० १२६ में एक भार्गव के आश्रम में सौद्युम्नि युवनाश्व पुत्र के लिए तप कर रहे हैं। एक पात्र में रानी के गर्भाधान के लिए भार्गव के द्वारा मंत्रपूत जल रक्खा गया था। रात को प्यासे राजा ने भूल से उसे पी लिया। मंत्र के बल से राजा के गर्भ रह गया और उनकी बाई कोखसे मान्धाता का जन्म हुआ। द्रोणपर्व अ० ६२ में भी थोडे भेद से यह कथा है। राजा युवनाश्व मृगया के लिए वन में गए थे। थके प्यासे होकर दूरसे उन्होंने आश्रम का धुआं देखा। वहां जाकर वेदि के पास रखा हुआ आज्य उन्होंने खा लिया जिससे गर्भ रह गया। अश्विनीकुमारों की सहायता से मान्धाता का जन्म हुआ। इस कथा में न पुत्रार्थी राजा के तप का वर्णन है और न रात में उठकर अनजान में कलश का जल पीने का। सम्भवतः कथा का वह सीधा साधा रूप अधिक पुराना है।

आरण्यकपर्व में इसके बाद आनेवाले भार्गव मार्कण्डेय हैं। ५१ अध्यायों के लम्बे संवाद में (अ० १८२-२३२) जिसमें २२०० श्लोक (मार्कण्डेय-समास्या पर्व) हैं। विभिन्न विषय काम्यकवन में पाडवों को सुनाये गए हैं। वनवास के आरम्भ में द्वैत-वन में भी मार्कण्डेय पाण्डवों से मिल चुके थे। अन्तके करीबमें फिर युधिष्ठिरका शोक दूर करने के लिए वे उपस्थित होते हैं और राम-सीता और सावित्री-सत्यवान् की कथा सुनाते हैं। रामोपाख्यान और सावित्र्युपाख्यानमें करीब १०६० श्लोक हैं। (रामोपाख्यानपर्व अ० २७३-२९२; पतिव्रतामाहात्म्यपर्व अ० २९३-२९९)।

इस प्रकार मार्कण्डेयसमास्यापर्व और इन दोनों उपाख्यानों को मिलकर ३२६० श्लोक भार्गव मार्कण्डेयजी के मुख में रक्खे गये हैं, यह आरण्यकपर्व का एक-चतुर्थांश होता है।

मार्कण्डेय चिरजीवी हैं। भृगु-च्यवन-राम और भृगु-च्यवन-शुनक इन दो भृगुशाखाओं से वे किस प्रकार सम्बन्धित थे, यह न मालूम होने पर भी इनका भार्गव होना निर्विवाद है। ३।१८३।६०; १८९।९७; १९०।२ में उन्हें भार्गव, ३।२०१।७; २१७।५ में भार्गवसत्तम, ३।२०५।४

में भृगुनन्दन और ३।२०५।१५ में भृगुकुलश्रेष्ठ कहा गया है। मत्स्यपुराण (१९५।२०) में मार्कण्डेय को भृगुवंश का एक गोत्रकर्ता ऋषि माना गया है ।

मार्कण्डेय-समास्यापर्व के कुछ विषय ये हैं- ब्राह्मण-महिमा; ब्राह्मणों को दान देने का पुण्य; स्त्री का पति के प्रति धर्म; और अग्नि के विविध रूप । उन्होंने मनु, ययाति वृषदर्भ, शिबि, इंद्रद्युम्न (जनक के पिता), कुवलाश्व और कार्तिकेय स्कन्द की कथाएं सुनाई हैं । मिथिला के धर्मव्याध की कथा के प्रवक्ता भी वही हैं । मार्कण्डेय की कथाओं में सब से रोचक भाग वह है, जहाँ उन्होंने सृष्टि और प्रलय का आंखों देखा वर्णन किया है । इस रूप में मार्कण्डेय एक प्रकार से क्षत्रिय मनु के प्रतिरूप हैं। वस्तुतः अ० १८७ में मार्कण्डेय ने ही मनु के उपाख्यान का भी वर्णन किया है (मत्स्योपाख्यान) ।

इसमें कहा गया है कि संध्या करते हुए मनुको एक मछली दिखाई दी, जिसे मनुने कमण्डलु में रख लिया। वह अपना रूप बढाने लगी और अन्त में मनुको आगामी जलप्रलय की सूचना दी । मनुने सब सामान के साथ अपनी नौका को हिमालय के नौ-बन्धन शिखर से बांध दिया। नाव में सब तरह के बीज थे। प्रलयके बाद उनसे मनुने सृष्टि उत्पन्न की । अन्त में मत्स्यने अपना परिचय देकर मनु से विदा ली । यह कथा सामी (Semitic) साहित्य में आई हुई नूह की जलप्रलय की कथा से बहुत मिलती है। पुराणों की सृष्टिविद्या के अनुसार प्रलय के बाद विष्णु की नाभिकमल से उत्पन्न होकर ब्रह्माजी सृष्टि उत्पन्न करते हैं । उसके साथ मनु की सृष्टि का सामञ्जस्य नहीं होता । मनु की कथा के अन्त में दी हुई फलश्रुति भी उसके विजातीयपनको सूचित करती है। प्रायः महाभारत के सभी प्रक्षिप्त अंशों के साथ फलश्रुति अवश्य मिलती है।

योगी मार्कण्डेय के जलपलय की कथा इससे विचित्र है। जलमग्न पृथिवीपर मार्कण्डेय अकेले ही समुद्र की सतहपर तैरते हुए दिखाई पडते हैं। चारों ओर जल का वारापार नहीं है । अकस्मात् उन्हें न्यग्रोध वृक्ष की शाखा पर एक बालक दिखाई दिया । मार्कण्डेय चकित हो कर उसे देखने लगे और उसके मुख में चले गये। वहाँ उन्होंने सारे ब्रह्माण्ड को अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा। अनेक वर्षों तक घूमनेपर भी उसका कहीं अन्त न मिला, तब वे उसकी सांस के साथ फिर बाहर आए । तब मार्कण्डेयने उस बालक का स्वरूप पहिचाना, और उन्होंने ब्रह्म को जान लिया । इस कथा में प्रलय के बाद सृष्टि के लिए बीज आदि की उपाधि नहीं है । प्रलय में भी सृष्टि नारायण के गर्भ में रहती है । योगी मार्कण्डेयने उस नारायण का साक्षात्कार करके उनकी माया का स्वरूप समझ लिया। इस कथा के अनुसार भार्गव मार्कण्डेय को ही इस प्रकार प्रलय में नारायण के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कथा से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि, भार्गव मार्कण्डेय की योगशक्ति कितनी बढी चढी थी ।

मार्कण्डेय-समास्यापर्व के ४० अध्याय बाद ही फिर मार्कण्डेय ने ७५० श्लोकों में रामोपाख्यान (अ० २७३-२९८) सुनाया है । जयद्रथ द्रौपदी को लेकर भागना चाहता है। पाण्डव उसे पकडकर क्षमा कर छोड देते हैं। युधिष्ठिर खिन्न होकर पूछते हैं कि, उनके जैसा अभागा भी और कोई हुआ है। इस पर मार्कण्डेय ने दाशरथि राम की कथा सुनाई। जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी-मर्षण की, यह कथा एकदम भोंडी हैं । रामायण का सारांश महाभारत में मिलाने के लिए ही यह भद्दा उपोद्घात सोचा गया है ।

रामचरित सुनने के बाद युधिष्ठिर ने पूछा कि, क्या द्रौपदी के समान कोई सती स्त्री पहले हुई है । इस पर मार्कण्डेय ने सावित्री की कथा सुनाई, जिसने अपनी पति-भक्ति के बल से यमराज से भी अपने पति के प्राण बचाये थे । भार्गव मार्कण्डेय की कही हुई यही अन्तिम कथा थी । वस्तुतः आरण्यक पर्व का यही अन्तिम उपाख्यान है, जिसके साथ भार्गव सम्बन्धित है ।

विराट्-पर्व ।

सभापर्व की भांति यह पर्व भी छोटा है, जिसमें उपाख्यानों की बाधा के बिना कथाप्रवाह वेग से आगे बढता है । इसमें न उपाख्यान है और न भार्गवसम्बन्धी विषयान्तर हैं । भार्गवों का उल्लेख भी कहीं कहीं है । उदाहरण के लिए भीष्मने दुर्योधन से कहा है- जमदग्नि के पुत्र राम के अतिरिक्त और कौन द्रोण से बढकर है ? (४।५१।१०)

उद्योग-पर्व।

उद्योग-पर्व में भी भार्गवों के अवतरण पर्याप्त हैं। यहाँ जामदग्न्य राम पुरानी कथाओं के विषय न बन कर महाभारत के पात्रों के साथ साक्षात् सम्पर्क में आते हैं। एक पात्रके साथ तो उनका युद्ध ही होता है। अ० ७२ में पाण्डव मन्त्रणा सभा करके कृष्ण को दूत बना कर धृतराष्ट्र के पास भेजते हैं। हास्तिनपुर को जाते हुए कृष्ण को कुछ ऋषि मिले, जिनमें भार्गव राम प्रमुख थे। वे भी हास्तिनपुर जा रहे थे। राम जामदग्न्य के साथ वहाँ पहुँचने पर भीष्म के द्वारा उनका स्वागत किया गया। सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। कृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष रखते हुए न्याय व्यवहार के लिए अनुरोध किया (अ० ९५)। उनके भाषण के बाद जो सन्नाटा छाया उसमें भार्गव राम ने उठ कर शान्ति की सम्मति देते हुए बिना पूछे हुए दम्भोद्भव की कथा सुना डाली (अ० ९६)। बद्रीवन में तप करते हुए नर-नारायण को अभिमानी राजा दम्भोद्भव ने जा छेडा। नर ने मंत्रपूत कुशों को उसके ऊपर फेंक दिया जो अस्त्र बन कर उसकी सेना पर झपटे और राजा को हार माननी पडी। राम ने शान्ति का उपदेश देते हुए कहा कि नर-नारायण ही अर्जुन और कृष्ण हैं। इस कथा का भी यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं जान पडता।

उद्योग-पर्व के अन्त में अम्बा का उपाख्यान (अ० १७३-१९६) है, जिसमें भार्गव राम सक्रिय भाग लेते हैं। भीष्म ने बताया कि, शिखण्डी जन्मके समय कन्या थी। इसलिए वे उसके साथ युद्ध न करेंगे। अपने पूर्वजन्म में वह काशिराज की पुत्री अम्बा थी। अम्बा अपने का विवाहसम्बन्ध में भीष्म के कारण निराश रह गई और उसने भीष्म से बदला लेने का व्रत लिया। वह दुःखित होकर बन में फिर रही थी। वहाँ उसके पितामह राजर्षि होत्रवाहन ने प्रगट होकर उसको अपने मित्र राम जामदग्न्य की सहायता लेने की सलाह दी। उसी समय वहाँ राम के शिष्य अकृतव्रण आ निकले और उन्होंने भी अम्बा के पक्ष का समर्थन किया। सौभाग्य से अगले दिन प्रातः-काल धनुष, खड्ग और परशु लिए हुए राम भी वहाँ आ निकले। अम्बा ने अपनी दुःखित कथा उनसे कही और सहायता की याचना की। कुछ सोच विचार के बाद राम ने अम्बा की बात मान ली और सब को लेकर सरस्वती के तट पर गए और भीष्म को बुला भेजा। भीष्म आए।

राम ने कहा– या तो अम्बा को ग्रहण करो या हमसे युद्ध करो। भीष्म युद्ध का निश्चय करके अपने नगर को वापिस आए और अस्त्रशस्त्र लेकर फिर जा पहुँचे। कई दिन तक घोर युद्ध हुआ और राम भीष्म के बाण से मूर्च्छित होकर गिर पडे। भीष्म ने युद्ध वहीं रोक दिया। अगले दिन दोनों पक्षों में फिर घोर संग्राम आरम्भ हुआ। अगणित बाण और शस्त्रास्त्र चलाए गए। एक दिन अष्टवसुओं ने स्वप्न में भीष्म से सम्मोहनास्त्र छोडने को कहा। अगले दिन राम और भीष्म ने एक दूसरे के ऊपर एक साथ ब्रह्मास्त्र छोडे, जो बीचमें कट कर गिर पडे। इसी अवसर पर भीष्म ने सम्मोहनास्त्र लिया। यह देख कर देवताओं ने दोनों को शान्त करना चाहा। पर किसी ने न माना। अन्त में भार्गव राम के पितरों ने प्रगट होकर उनसे शस्त्र रख देने को कहा। रामने अनिच्छा से वैसा किया। बस, भीष्म का काम बन गया। वे धनुष बाण रख कर गुरु के चरणों में गिर पडे। दोनों में फिर प्रेम हो गया और २३ दिन का यह घोर युद्ध निष्फल चला गया।

यहाँ पहिली बार हम भार्गव राम के हृदयपरिवर्तन की बात पाते हैं। महाभारत में बार बार वे क्षत्रियों के शत्रु कहे गए हैं। यहाँ राजर्षि होत्रवाहन उनके मित्र हैं और वे एक दुःखित कन्या का पक्ष समर्थन कर रहे हैं। यह भी कुछ आश्चर्यजनक है कि राम ने क्षत्रिय भीष्म को अपना शिष्य स्वीकार करके शस्त्रविद्या में अपने से भी अधिक प्रवीणता सिखा दी। आगे चल कर राम ने कर्ण को इसीलिए शाप दिया है कि, उसने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण के वेश में अस्त्रविद्याएं सीख ली। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रह्मास्त्र ब्राह्मण के सिवाय और किसी को नहीं आ सकता (१२।३।३१), यद्यपि भीष्म ने उसका प्रयोग सफलता के साथ हम पर किया था।

भीष्म--पर्व।

भीष्म-पर्व के साथ महाभारत के युद्धपर्व आरम्भ हो जाते हैं, जो मूल ग्रंथ के किसी समय बीज रहे होंगे और बाद में जिनको केन्द्र बना कर अन्य सामग्री की तहें चढती गई। आदि-पर्व के एक श्लोक में महाभारत के मूल

संग्रथन का खाका मिलता है (१।५५।४३)—

एवमेतत्पुरा वृत्तं तेषामक्लिष्टकारिणाम् ।
भेदो राज्यविनाशश्च जयश्च जयतां वरः ॥

भरतवंशों में आपसी फूट, राज्यनाश और विजय, इस त्रिकका नाम प्रचलित संस्करण के अनुसार भीष्म--पर्व में चार उपपर्व हैं। जम्बू खण्ड निर्माण-पर्व और भूमि-पर्व भौगोलिक प्रकरण हैं, तीसरा भगवद् गीता है, जो विश्व-साहित्य की चीज बन गई है। अन्तिम भाग के ८० अध्यायों या ४३०० श्लोकोंमें पहले दस दिनों का युद्धवर्णन है। इनमें विषयान्तर या उपाख्यान नहीं हैं। हां, कहीं कहीं राम जामदग्न्य का नाम आ गया है।

परन्तु भगवद्गीता के दस वें अध्याय में भी कृष्ण ने अपनी अनन्त विभूतियों का वर्णन करते हुए कुछ भृगुओं का उल्लेख किया है, जो हमारे लिए रोचक है। इन विभूतियों में कुल ९ मानव हैं। वासुदेव, अर्जुन और व्यास महाभारत के पात्र हैं। देवर्षि नारद, सिद्धों में कपिल मुनि और पुरोहितों में बृहस्पति का ग्रहण है। शेष तीन भार्गव है। कवियों में कृष्ण ने अपने आप को शुक्राचार्य कहा है, जो असुरोंके गुरु थे। शस्त्रधारियों में कृष्णने राम को अपना रूप कहा है। यह राम हमारे मत में दाशरथि राम न होकर जामदग्न्य राम हैं। अन्त में महर्षियों में कृष्ण ने भृगु को अपना स्वरूप बतलाया है (गीता १०।२५)। और विभूतियां तो ठीक ही हैं, पर भृगु क्यों सब महर्षियों में श्रेष्ठ कहे गए, यह पहेली है। सप्तर्षियों में उनकी गिनती नहीं। हाँ, ब्रह्मा के दस बारह पुत्रों में उनकी भी गिनती है। स्वयं महाभारत में भृगु के महत्त्व के बारे में कोई विशेष कथा नहीं मिलती।

द्रोण--पर्व।

हमारे प्रयोजन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण भार्गव अवतरण द्रोणपर्व में पाया जाता है। युद्ध के १३ वें दिन अर्जुन की अनुपस्थिति में उसके पुत्र अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश किया और वहीं वह मारा गया। इससे पाण्डवों को बडा शोक हुआ। युधिष्ठिर के शोक को दूर करने के लिए व्यास ने एक कथा सुनाई, जिसमें नारद ने राजा सृञ्जय के शोक को षोडश राजाओं के चरित्र का बखान करके दूर किया था। ये चक्रवर्ती राजा थे, फिर भी समय आने पर मृत्यु से न बच सके। इस षोडश राजकीय प्रकरण (अ० ५५-७१) के १६ नाम ये हैं- (१) मरुत्त आविक्षित, (२) सुहोत्र अतिथिन, (३) पौरव बृहद्रथ अङ्गाधिपति, (४) शिबि औशीनर, (५) राम दाशरथ, (६) दिलीप-पुत्र भगीरथ, (७) दिलीप ऐलविल, (८) युवनाश्व-पुत्र मान्धाता, (९) नहुष-पुत्र ययाति, (१०) नाभाग-पुत्र अम्बरीष, (११) चित्ररथ-पुत्र शशबिंदु, (१२) अमूर्तरय-पुत्र गय, (१३) संकृति-पुत्र रन्तिदेव, (१४) दौष्यन्ति भरत, (१५) पृथुवैन्य और अन्त में सबसे महत्त्वपूर्ण (१६) जमदग्नि-पुत्र भार्गव राम !

अ० ७० में भार्गवराम की आश्चर्यकारक कथा बहुत बढा चढाकर कही गई है। पृथिवी को क्षत्रियशून्य बनाने की प्रतिज्ञा करके रामने कार्तवीर्य का वध किया। फिर ६४००० क्षत्रिय मारे और नाक कान काटकर दांत तोड दिए, ७००० हैहयों का धुएं दम घोंट दिया और १०००० को अपने कुठार से मार डाला। उसके बाद जमदग्नि के पराक्रमी पुत्रने कश्मीर, दरद, कुन्ति, क्षुद्रक, मालव, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, विदेह, ताम्रलिप्तक, रक्षोवाह, वीतिहोत्र, त्रिगर्त, मार्तिकावत, शिबि और अन्य देशों के क्षत्रियों को सहस्रों की संख्या में घूम घूम कर मारा और अष्टादशद्वीपा वसुमती को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद यज्ञ में स्वर्ग की वेदी और यह पृथ्वी कश्यप को दक्षिणा में दी। इस पृथ्वी को आततायियों से मुक्त करके राम ने अपने अश्वमेध-यज्ञ में कश्यप के हवाले कर दिया। इसके बाद वही भार्गवों की फिर विजयप्रशस्ति सुनाई पडती हैं (७।७०।२०)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।

२१ बार पृथिवी को निछत्री बनाकर, सौ यज्ञ करके रामने धरती ब्राह्मणों को दी। सप्तद्वीपा पृथिवी पाकर कश्यपने राम से कहा-हमारी आज्ञा से तुम इस पृथ्वीके बाहर निकल जाओ। यह सुनकर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ रामने समुद्र को पीछे हटाकर नई भूमि प्राप्त की और महेन्द्र पर्वतपर बस गए।

इस कथा को शांतिपर्व के षोडशराजीय प्रकरण (अ० २९) से मिलानेपर एक नई बात मालूम होती है। शोकमना युधिष्ठिर गंगातट पर बैठे हैं। राज्य त्याग कर

बन जाना चाहते हैं। अर्जुन की प्रार्थनापर कृष्णने युधिष्ठिर को १६ राजाओं का चरित्र सुनाया और यह भी कहा कि नारदने पहले इसे सृञ्जय को सुनाया था। १५ कथाएं लगभग बिलकुल एकसी हैं, परन्तु द्रोणपर्व की सूचीके १६ वें 'राजा' भार्गवराम का नाम शांतिपर्व में नहीं है। उसकी जगह इक्ष्वाकुके पुत्र सगर का चरित्र है, जो वस्तुतः राजा थे। भार्गवराम कभी राजा नहीं रहे और उनको इस सूची में स्थान न मिलना चाहिए। उन्होंने सारी पृथ्वी जीती पर उनका अभिषेक कभी नहीं हुआ। इस सूची में उनका परिगणन अवश्य ही किसी ऐसे कथावाचक की करतूत है जो भार्गवों का विशेष पक्षपाती था। बिना विचारे ही उसने इसे व्यास के सिर मढ दिया।

कर्ण-पर्व।

भीष्म और द्रोण की तरह कर्ण भी भार्गवराम का शिष्य था। कर्ण के गुरु की हैसियत से इस पर्व में कई बार राम जामदग्न्य का चलता हुआ उल्लेख है। कर्ण को भार्गवराम से विजय नामक धनुष्य प्राप्त हुआ जो राम को इन्द्र से मिला था। इन्द्रने दैत्य-युद्ध में और रामने क्षत्रिय-युद्ध में उससे काम लिया और उसकी सहायतासे २१ बार पृथ्वी को जीता (८।३१।४६)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी धनुषा येन निर्जिता।

१७ वें दिन दुर्योधनने शल्य से कर्ण का सारथि होने को कहा और यह बताया कि कर्णने दिव्य अस्त्रों को भार्गव राम से पाया था। इसके बाद दुर्योधनने कर्ण के गुरु की महिमा को प्रगट करने के लिए एक और कथा सुनाई। दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए राम महादेव के पास जाकर तप करने लगे (पाण्डव अर्जुन की तरह); उस समय असुर बडे प्रबल थे। महादेवने राम को उनके साथ लडने के लिए कहा (जैसे अर्जुनने पीछे निवातकवचों से युद्ध किया)। रामने असुरों को युद्ध में ललकारा और परास्त किया। महादेवने प्रसन्न होकर उन्हें दिव्य अस्त्र दिए। कथा में प्रतीति दृढ करने लिए दुर्योधन यह कहना नहीं भूला कि उसने इस बात को अपने पिता के सामने एक सत्यवादी ब्राह्मण के मुखसे सुना था।

अ० ४२ में कर्णने स्वयं बताया कि, किस प्रकार उसने भार्गवराम के पास ब्राह्मणवेष में अस्त्रविद्या सीखी और किस प्रकार रामके उसकी जंघापर सिर रखकर सोते समय एक कीडे के जांघ में छेद कर देने से सारा भेद फूट गया। रामने कर्ण को शाप दिया कि मौके पर तुम्हारी विद्या काम न आएगी। अब्राह्मण में ब्रह्म नहीं रह सकता (८।४२।९)

अब्राह्मणे ब्रह्म नहि ध्रुवं स्यात्॥

शल्य-पर्व।

शल्यपर्व में भार्गवों का उल्लेख कहीं कहीं है। बलराम की तीर्थयात्रा के वर्णन में जो स्वयं एक विषयान्तर है रामतीर्थ और समन्तपञ्चक जैसे तीर्थों का वर्णन है। रामतीर्थ में फिर वह कथा दुहराई गई है, जिसमें कश्यप राम भार्गव के यज्ञ में पुरोहित बने थे (देखिए श्लोक ९।४९।७-८)।

सौप्तिक-पर्व।

१८ अध्यायों के इस छोटे पर्व में सौप्तिक और ऐशीक नाम के २ उपपर्व हैं, जिनमें कहीं पर भार्गवों का उल्लेख नहीं है।

स्त्री-पर्व।

२७ अध्याय और ८०० श्लोकों के इस छोटे पर्व में मृतकों की श्राद्धक्रिया और स्त्रियों का विलाप है। हम इस बात के कृतज्ञ हैं कि महाभारत के संस्कारकर्ताओंने ऐसे करुणाप्रसङ्ग में किसी भार्गव अवतरण को मिलने से बचा लिया।

शांतिपर्व।

शान्ति-पर्व में राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का वक्ता-श्रोता के सम्वादरूप में बहुत ही विचित्र और मूल्यवान् रोचक संग्रह है। इसमें भार्गव सामग्री काफी है।

अ० २ में भार्गव राम का नाम आता है। गङ्गातट पर नारद युधिष्ठिरसे कर्ण की राम से विद्याप्राप्ति का हाल कुछ विस्तार से सुनाते हैं। कर्ण ने अपने को ब्राह्मण और भृगु कह कर राम से ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया। कर्ण की जांघ को छेदने वाले कीडे को कर्णपर्व में इंद्र का रूप कहा गया है पर यहाँ उसे दंश राक्षस कहा है जो भृगु की पत्नी को हर ले जाना चाहता था। इस (देवगुह्य) कथा का प्रभाव यह हुआ कि, युधिष्ठिर शोक दूर करके राजधानीमें

लौट आए और मृतकों की श्राद्धक्रिया करके सिंहासन पर अभिषिक्त हुए।

इसके बाद कृष्ण ने ध्यान के द्वारा कुरुक्षेत्र में मृत्यु-शय्या पर पडे हुए भीष्म का प्रत्यक्ष किया और पाण्डवों को लेकर उनसे मिलने के लिए युद्धभूमि को चले। भार्गवतीर्थ समन्तपञ्चक का प्रसङ्ग आ जाने से फिर राम के वीर पराक्रम की कथा दुहराई गई है। कृष्ण राम-हृदों को दिखलाते हुए कहते हैं (१२।४८।९)—

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह॥

युधिष्ठिर को क्षत्रियवधकी इस कथा के सुनने में बडा रस आता हुआ जान पडता है यद्यपि पहले भी वे कई वक्ताओं से इसे सुन चुके हैं, और वे अपना कुछ संशय भी कृष्ण से दूर करा लेना चाहते हैं (१२।४८।१०)—

त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रियापुरा।
रामेणेति तथात्थ त्वमत्र मे संशयो महान्॥

युधिष्ठिर के संशय को हटाने के लिए कृष्ण भी भार्गव राम की पूरी कुण्डली खोल कर बडे विस्तारसे उनके जन्म, क्षत्रियों के नाश और उनके पुनः संवर्धन की कथा सुनाते हैं। आरण्यक पर्व में अकृतव्रण के द्वारा कही हुई कथा का यह कृष्णप्रोक्त संस्करण है। पाहिली कथा में सत्यवती के ससुरे ने पुत्रजन्म के लिए चरु बनाया था। यहाँ स्वयं ऋचीक ने उसे तैयार किया। दूसरा विसम्वाद यह है कि, आरण्यक पर्व में कार्तवीर्य अर्जुन ने जमदग्नि की होमधेनु के बछडे का हरण किया था। यहाँ कार्तवीर्य को धर्मात्मा और ब्राह्मणों का भक्त कहा गया है। उसके पुत्र यम्भी और नृशंस थे और उन्होंने जमदग्नि की कामधेनु का वत्साप-हरण किया। यह कहना कठिन है कि, दोनों में से कौनसा वर्णन सत्य के निकट था। इसके बाद स्वयं कृष्ण भार्गवों जैसे गौरवशाली स्वर में राम की पराक्रमप्रशस्ति को दोहराते हैं (१२।४९।६४)—

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः॥

इस प्रकार मानों इस कथा पर स्वयं श्रीकृष्णकी स्वीकृति की छाप लग जाती है।

कौरव, पाण्डव अथवा श्रीकृष्ण जैसे दिग्गज क्षत्रियों के लिए कदाचित् यह एक रहस्य रहा होगा कि, २१ बार नाश को प्राप्त हो जाने पर भी फिर क्षत्रियों का प्रादु-र्भाव कैसे हो गया। पहले अध्यायों में कई बार यह कहा गया है कि, ब्राह्मणोंने क्षत्रिय--स्त्रियोंके साथ प्रजोत्पत्ति की और वह सन्तान ' पाणिग्राहस्य तनयः ' (१।९८।५, पुत्र का पिता वह होता है जिसने विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया हो) इस वैदिक नियम के अनुसार क्षत्रिय कह-लाई। श्रीकृष्ण इससे सहमत नहीं हैं। वे इस घटना से भी अनभिज्ञ दिखलाए गए हैं। उन का कहना है कि, इस पृथ्वीने क्षत्रियों को जहाँ तहाँ छिपा कर उनकी रक्षा की। कुछ हैहय क्षत्रिय स्त्रियों में छिप गए। कुछ पौरवोंने ऋक्षवान् पर्वत में ऋक्षों के यहाँ शरण ली। कुछ बनों में गोसङ्घ के बीच में, कुछ गोष्ठों में बछडों के बीच में, कुछ समुद्र में और कुछ गृध्रकूट पर्वत पर रहनेवाले भेडियों के बीच में छिप कर आत्मरक्षा कर सके। जब कश्यपने राम को इस पृथ्वी पर से निकाल दिया तब उन्होंने फिर क्षत्रियकुलों की प्रतिष्ठा की। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, वर्तमान क्षत्रिय--वंशज उन्हीं प्राचीन क्षत्रियों के पुत्रपौत्र थे (१२।४९।८८ प्रभृति)।

मोक्षधर्म-पर्व के आरम्भ में भृगु--भारद्वाज-संवाद के नाम से एक बडा प्रकरण (अ० १८२-१९२) है। जिस में निम्न लिखित विषयोंपर तत्कालीन ज्ञान का सारांश संगृहीत है। (१) तत्त्व, (२) जीवन वा मृत्यु, (३) वर्णव्यवस्था, (४) पाप और पुण्य, (५) आश्रमधर्म और (६) परलोक। इससे प्रगट है कि, यहाँ भार्गवों के आदि पुरुष भृगु को हिंदू अध्यात्म, समाजशास्त्र, परलोक-विद्या और धर्मनीति का ज्ञाता और प्रवक्ता माना गया है। शान्तिपर्व अ० ३३९ श्लोक ८५ और १०३ में भार्गव राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। इनमें से पिछला श्लोक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रक्षिप्त जान पडता है। इससे यह भी विदित होता है कि, महाभारत में अवतारवाद की कल्पना का स्वरूप अभी तक अस्फुट था और भार्गव रामके अवतार होनेकी कल्पना महाभारत को मान्य नहीं थी।

अनुशासन-पर्व।

किसी अज्ञात कारणसे भार्गव-सामग्री अनुशासन-पर्व

में सबसे अधिक है । अ० ४ में हमें तीसरी बार जमदग्नि-जन्म की कथा मिलती है । गाधि--कन्या सत्यवती से ऋचीक का विवाह, सत्यवती और उसकी माता को चरु-भक्षण के द्वारा पुत्रप्राप्ति का वरदान, चरुपरिवर्तन और उसके फलस्वरूप गाधि की पत्नी के ब्राह्मणगर्भ और सत्यवती के क्षत्रियगर्भ की सम्भावना और अन्त में सत्यवती की प्रार्थना से उसके पौत्र की क्षत्रियत्वप्राप्ति– ये बातें आरण्यक, शान्ति और अनुशासन तीनों पर्वों में समान हैं । शान्ति और अनुशासन पर्वों की कथा में केवल इतना भेद है कि, इनमें चरु के निर्माता और वरदान के देनेवाले स्वयं ऋचीक हैं ।

१३।१४।२७३ में भार्गवराम का नाममात्र आने से ही कथाकार के मुख से चट पुराना श्लोक निकल पडता है —

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता ।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥

अ० ३० में भृगु के बचनमात्र से क्षत्रिय बीतहव्य के ब्राह्मण बन जाने की कथा है । शर्याति के वंशज वत्स के हैहय और तालजङ्घनामक दो पुत्र थे । हैहय के १०० पुत्रों ने काशिराज हर्यश्व को आक्रमण करके मार दिया । हर्यश्व के बाद उनके पुत्र सुदेव राजा हुए और वे भी हैहयों से मारे गए । उनके उत्तराधिकारी दिवोदास ने गङ्गा के उत्तर तट पर और गोमती के दक्षिण तट पर वाराणसी नगरी बसाई । हैहयोंसे हार कर वे अपने पुरोहित भरद्वाज के यहाँ पहुँचे, जिन्होंने यज्ञद्वारा राजा के लिए प्रतर्दन नामक पुत्र प्राप्त किया । प्रतर्दनने हैहयोंको पराजित किया । वीतहव्य प्रतर्दन के डर से भाग कर भृगु के आश्रममें छिप गए । प्रतर्दन ने छिपे हुए वीतहव्य को वापिस मांगा । भृगु ने वीतहव्य के प्राण बचाने के लिए उत्तर दिया कि, इस आश्रममें केवल ब्राह्मण हैं । सत्यवादी भृगु के वचन से वीतहव्य ब्राह्मण बन गए । वीतहव्य के १५ वंशजों के नाम दिए गए हैं । उनके पुत्र गृत्समद थे, जिनकी ११ वीं पीढी में प्रमति हुए । प्रमति के पुत्र रुरु थे और रुरुके पुत्र शौनक हुए जिनसे शौनकों की प्रसिद्धि हुए ।

अ० ४० में भीष्म ने स्त्रियों के रूपाकर्षण और दुर्बलता का वर्णन करते हुए अपने समर्थन में भार्गव विपुल की कथा (विपुलोपाख्यान अ० ४०–४३) सुनाई है, जिसमें सम्मोहनयोग की शक्ति का भी उल्लेख है ।

कथा यह है कि, ऋषि देवशर्मा की पत्नी रुचि अत्यन्त रूपवती थी । उन्होंने अपने रूप से इंद्र का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया । कभी देवशर्मा को यज्ञ के लिए अपने आश्रम से बाहर जाना पडा । रुचि की ओर से आशङ्कित होकर उन्होंने अपने प्रिय शिष्य भार्गव विपुलसे कहा, कि हे पुत्र ! तुम इसकी रक्षा करना । विशेषकर छद्म वेषधारी इंद्र की कामुकता से इसे बचाना । विपुल ने अपनी यौगिक शक्ति से रुचि के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके सतीत्व की रक्षा करने का निश्चय किया । इंद्र समय पर आकर रुचि के प्रति हावभाव प्रकट करने लगे । भार्गव विपुल के प्रभाव से इच्छा रहते हुए भी रुचि इंद्र का स्वागत न कर सकी । इंद्र रुचिके इस व्यवहार से पहले तो चकित हुआ, पर पीछे विचार करने पर उसने सब मर्म जान लिया । इसी समय विपुल ने रुचि के शरीरमें से बाहर निकल कर इंद्र को लज्जित किया और वह खिसक गया । भार्गव मार्कंडेय ने यह कथा भीष्म को और भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाई । आजतक एक भार्गव ही स्त्री को बचा सका है और वह था भार्गव विपुल (१३।४७।२७)—

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः ।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृपयोषितम् ।

अ० ५० से ५६ तक फिर एक भार्गवकथा है । इस च्यवनोपाख्यान के दो भाग हैं । अ० ५०–५१ में गौओं की महिमा का वर्णन है । शेष ५ अध्याय में वही भार्गव-राम की जन्मकथा है, जिसमें वही ब्राह्मण क्षत्रियमिश्रित उत्पत्ति का विषय है । इसी पर्व के अ० ४ में विश्वामित्र और जामदग्न्य राम के जो गुणकर्मस्वभाव में एक दूसरे से विपरीत थे जन्म लेने की कथा है, वही इस प्रकरण में फिर है । युधिष्ठर का रामसम्बन्धी अमिट कुतूहल उन्हें भीष्म से पूछने के लिए प्रेरित करता है । भगवन् ! जामदग्न्य राम के सम्बन्ध में कुतूहल को शान्त कीजिए । वे तो ब्राह्मणकुल में जन्मे थे, उन्होंने क्षत्रियोचित कर्म कैसे किए । विस्तार से उनका हाल कहिए और यह भी बताइए कि कुशिकों के क्षत्रियकुल में जन्म लेकर किस प्रकार विश्वामित्र ब्राह्मण हो गए ?

इसके उत्तर में भीष्म भार्गव च्यवन की कथा सुनाते

है। च्यवनने अपनी दिव्य दृष्टि से आगे आनेवाली घटनाओं को जान लिया कि, किस प्रकार कुशिकवंश की असावधानी से भृगुकुल में भी जन्म लेकर राम क्षत्रियों जैसा नृशंस कार्य करेंगे। व कुशिक के पास इस इच्छा से पहुँचे कि, उसकी परीक्षा लें और यदि वह उन्हें क्रोध का अवसर दे, तो उसे और उसकी सन्तान को शाप दे दें। राजा कुशिक और उसकी रानीने च्यवनकी बडी आवभगत की। भोजन करके २१ दिन तक ऋषि सोते रहे और राजा रानी बिना खाए पिए उनकी सेवा करते रहे। एकाएक ऋषि उठे और चल दिए। राजा रानीने डर कर उनका पीछा किया, पर वे चम्पत हो गए। बहुत ढूंढने के बाद उन्होंने लौटकर देखा, तो ऋषि को पलङ्ग पर सोए हुए पाया। ऐसी कितनी ही चाल चलने के बाद एक दिन राजा और रानी को च्यवनने एक भारी रथ में जोत दिया और उसपर बैठकर लोहे के कोडे से उनको मारते हुए और राजकोष लुटाते हुए नगर में निकले, पर राजा और रानी के मुख पर विकारका चिह्न तक न आया +। अन्तमें ऋषि अपनी प्रसन्नता प्रकट करके बन में चले गए और दूसरे दिन राजारानी बन में बुलाया। ४२ दिन तक खेद उठाकर दम्पति ने रात्रि को विश्राम किया और अगले दिन बन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने इंद्र-भवन के समान एक प्रासाद देखा, जो अदृश्य हो गया और वहाँ अकेले च्यवन ऋषि बैठे दिखलाई दिए। इस समय राजा को ब्राह्म तेज की महिमा ज्ञात हुई। च्यवन ने सचाई के साथ राजा को बता दिया कि, उनका उद्देश्य परीक्षा लेना था और वरदान दिया कि, कुशिक के वंश में आगे चल कर एक पुत्र ब्राह्म तेज से युक्त होगा। च्यवन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि, **भृगुओं के ही तेज से** कुशिक के पोते विश्वामित्र अग्निसमान तेजवाले तपस्वी ब्राह्मण होंगे (१३।५५।३२)—

… … … … … भृगूणामेव तेजसा।
पौत्रस्ते भविता विप्रस्तपस्वी पावकद्युतिः॥

इस उपाख्यान के अन्तिम अध्यायमें च्यवन ने भविष्य-वाणी के रूप में भृगुओं का उत्पीडन, और्व, ऋचीक, जमदग्नि, कुशिक की पोती और गाधि की पुत्री के साथ उनका विवाह, सत्यवती और उसकी माता को भृगु के द्वारा दिए जानेवाले वरदान, चरु और वृक्षों का परिवर्तन एवं विश्वामित्र आदि के सम्बन्ध की सारी बातें दुहराई हैं। महाभारत में रामजन्मसम्बन्धी इस कथाकी यह चौथी आवृत्ति है। इसी पर्व के अ० ४, शान्तिपर्व अ० ४८ और आरण्यक पर्व अ० ११५-११७ में यह पहले आ चुकी है।

कुछ अध्याय आगे भीष्म के युधिष्ठिर को स्वर्णदान की महिमा बताने के प्रसङ्ग में फिर भार्गवराम आ जाते हैं। भीष्म के पितरों ने उनसे कहा था कि स्वर्ण के दान से देनेवाला पवित्र होता है। भार्गवराम को वशिष्ठ आदिक ऋषियों ने यही उपदेश दिया था। भार्गवप्रशस्ति को दुहराने के लिए यह भी एक अवसर काम में ले लिया गया है (१३।८४।३१)।

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।
ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः॥

इससे अगले अ० ८५ में भृगु, अङ्गिरा और कवि के जन्म की कथाएं हैं। इनको अनेक वंश और जातियों के उत्पादक प्रजापति कहा गया है।

पाठकों को यह बात कुछ विचित्र मालूम होगी कि, हमारे छत्र और पादुका भी भृगुओं की कृपा से हमें मिले हैं। एक बार जमदग्नि दूर के निशाने पर बाण चलाने का अभ्यास कर रहे थे। रेणुका तीर उठाकर दे रही थी। तेज धूप के कारण रुक रुक कर आने से उन्हें देर लग रही थी। जमदग्नि ने सूर्य को बाण मारकर नीचे गिराना चाहा। सूर्य ने ब्राह्मण के वेशमें आकर उनसे क्षमा-याचना की और धूप से बचाने के लिए छाता और जूते दिए। महा-भारत के बाहर यह कथा और कहीं नहीं मिलती। अ० ९८ में भीष्म ने भार्गव शुक्र और बलि का एक संवाद सुनाया है, जिसमें देवताओं को धूप, दीप और पुष्प आदि देने का माहात्म्य कहा गया है।

द्रोणपर्व के षोडशराजीय प्रकरण का उल्लेख करते हुए हम बता चुके हैं कि किस प्रकार सगर की जगह जामदग्न्य राम का चरित्र सन्निविष्ट करके उस प्रकरण पर भार्गव रंग चढाया गया है। यहाँ नहुष के स्वर्ग से गिरने की कथा में भी पाठक देखेंगे कि किस प्रकार कथा में रफूगिरी करके उसके ताने बाने में भार्गवपना मिला दिया गया है।

+ इससे बिलकुल मिलती जुलती कथा कृष्ण और दुर्वासा की है। देखिए अनुशासनपर्व अ० १५९।

उद्योगपर्व अ० ११-१७ तक एवं शान्तिपर्व अ० ३४२ में नहुष की सीधीसाधी कथा है। इसके अनुसार नहुष ने घमण्ड में चूर होकर ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई। अगस्त्य के सिर में लात मारने के कारण उनके शाप से नहुष को सांप बनना पडा। मालूम होता है कि, इस सीधी कथा में स्वयं भारतचिन्तकों को ही असङ्गति दिखाई दी। नहुष को ब्रह्मा से वरदान मिला था कि वह जिसको देख देगा, वह निस्तेज हो जायगा। ऐसी दशामें अगस्त्य का शाप नहुष को कैसे लगा, यह बात समझ में आने से रह जाती है।

अनुशासनपर्व अ० ९९-१०० में इस कथा का सुधारा हुआ रूप मिलता है। अगस्त्य अत्याचारी नहुष का पतन चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। उन्होंने भृगु के साथ मिल कर तिकडम की। भृगु ने दिव्य दृष्टि से जान लिया कि अमुक दिन नहुष अगस्त्य को लात से ठुकराएगा। उन्होंने अगस्त्य से कहा कि हम अपने प्रभाव से तुम्हारी जटाओं में छिप कर बैठ रहेंगे। निदान ऐसा ही हुआ। अगस्त्य को नहुष ने अपने रथ में जोडा। भृगु ने बडी सावधानी से अपने आपको नहुष के साथ आंख मिलाने से बचाए रखा, क्योंकि वे ब्रह्मा के वरदान को जानते थे। नहुष ने अगस्त्य के सिर पर लात से प्रहार किया। उस समय भृगु ने जो अब तक नहीं देखे गए थे, उसे शाप दिया और अत्याचारी नहुष सांप बन कर पृथ्वी पर गिर पडा।

इसके बाद अ० १५६ में ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए च्यवन की कथा दुहराई गई है। कथा लगभग वही है, जो आरण्यक पर्व अ० १२३ में युधिष्ठिर लोमश से सुन चुके हैं। अश्विनीकुमारोंद्वारा च्यवन की नेत्र-चिकित्सा और पुनर्यौवनप्राप्ति, च्यवन का उनको सोम-पान में भाग दिलाने की प्रतिज्ञा करना, च्यवन के यज्ञ में अश्विनीकुमारों का निमन्त्रण और इंद्र का सोमपान अस्वीकार करना, इंद्र का वज्रप्रहार और च्यवन का उसको स्तम्भित करना, मद नामक राक्षस की उत्पत्ति और अन्त में इंद्र की क्षमा याचना और अश्विनीकुमारों का च्यवन की कृपा से सोमपीथी बनना, ये समस्त अभिप्राय दोनों कथाओं में समान हैं।

अश्वमेध--पर्व।

च्यवन के उपाख्यान की प्रतिध्वनि अश्वमेधपर्व के आरम्भ में ही फिर मिलती है। अ० ९ में अग्नि, च्यवन के द्वारा इंद्र की हेठी का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं—

> यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन् सहाश्विभ्यां सोममगृह्णादेकः। तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यषेधीः पुरस्ताच्छर्यातियज्ञं स्मरतं महेन्द्र ॥
>
> (१४।९।३१)

अग्नि को भृगु के द्वारा अपने अपमान की कथा भी भूली न होगी, जब उसने पुलोमन् असुर से भृगुपत्नी पुलोमा का कुछ भेद खोल दिया था।

अनुगीतापर्व में (अ० २९, ३०) भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के नाश का फिर उल्लेख है। परन्तु अब की बार इसका उपयोग मानवीय जीवन की अनित्यता सिखाने के लिए किया गया। राम के पितरों ने उनसे कहा कि, राजाओं की विजय से बढ कर आत्मविजय है। यही तपस्वियों का आदर्श है। यह सुनकर भार्गव राम घोर तप करने में प्रवृत्त हो गए।

महाभारत की अन्तिम भार्गवकथा इस पर्व का उत्तङ्को-पाख्यान (अ० ५३-५९) है।

भीष्म की मृत्यु के बाद कृष्ण द्वारका को लौट रहे हैं। मार्ग में उन्हें उत्तङ्क ऋषि मिले। यह जानकर कि कृष्ण कौरवपाण्डवों में मेल न करा सके, उत्तङ्क उन्हें शाप देने पर उतारू हो गए। श्रीकृष्ण ने उत्तङ्क को अपने दिव्य जन्म और कर्म का ज्ञान करा कर शान्त किया और बताया कि मदोन्मत्त कौरवों ने ही उनके सान्धि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। उत्तङ्क की प्रार्थनापर कृष्ण ने उनको अपना ऐश्वर रूप दिखलाया।

यह सुनकर चतुर जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा कि, उत्तङ्क ने ऐसा कौनसा तप किया था, जो उन्होंने विष्णुको भी धर्षित करने का साहस किया? वैशम्पायन ने कहा कि अपनी अगाध गुरुभक्ति के कारण उत्तङ्क को यह शक्ति प्राप्त हुई। उन्होंने बताया कि नरमांसभक्षी राजा सौदाससे बच कर उत्तङ्क ने सौदास की रानी मदयन्ती के कर्णकुण्डल अपने गुरु गौतम को दक्षिणा में देने के लिए प्राप्त किए। मार्ग में एक नाग उनको हर लिया और उत्तङ्क नागलोक से उन्हें फेर लाए।

यह उत्तङ्कोपाख्यान आदिपर्व अ० ३ में दिए हुए पौष्य-

पर्व नामक गद्यकथा का ही श्लोकबद्ध संस्करण है। दोनों में थोडासा अन्तर भी है। दोनों के पात्र समान हैं। आदिपर्व में उत्तंक के गुरु वेद हैं, यहाँ पर उन्हें अहल्याका पति गौतम कहा गया है। आदि में राजा का नाम पौष्य है, यहाँ उसे सौदास कल्माषपाद कहा गया है, जो ऋषिके शाप से नरमांसभोगी बन गया था। आदि में सर्प का नाम तक्षक है, यहाँ कोई नाम नहीं दिया गया। अश्वमेध-पर्व की कथामें उत्तंक को कई बार भार्गव कहा गया है, आदिपर्व में ऐसा नहीं है। भार्गव होनेके नाते ही उत्तङ्क-कथा इस निबंध में रखी गई है।

आदिपर्व में दी हुई उत्तङ्क-कथा को एक पुछल्ले के रूप में न छोडकर प्रवीण भारतचिन्तकों ने उसे महाभारत के ताने बाने के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। गद्यात्मक पौष्यपर्व के अन्तिम श्लोकात्मक भागमें यह कहा है कि, नागलोक से लौटकर उत्तङ्क सीधे पाण्डव जनमेजय के पास हस्तिनपुर पहुंचे और परीक्षित को डंसनेवाले तक्षक सर्प को दण्ड देने के लिए राजा से प्रेरणा की। इसीसे जनमेजयने सर्पसत्र करने की ठानी और इसी यज्ञ में वैशम्पायन ने प्रथम बार महाभारत का पारायण किया। महाभारत का जो रूप इस समय प्राप्त है, उसके विषय में प्रसिद्ध है कि सूत उग्रश्रवा ने उसे शौनक को ठीक उसी रूप में सुनाया था, जिस रूप में सूत ने स्वयं उसे व्यास-शिष्य वैशम्पायन के मुख से जनमेजय के नागयज्ञ में सुना था। भार्गव उत्तङ्क ही इस यज्ञ के प्रेरक थे। इस कारण इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उनका ऋण भी हमें मान्य है। महाभारत का यही अन्तिम भार्गव उपाख्यान है।

महाभारत में कुछ और भी भार्गवकथाएं हैं, जिनके सम्बन्ध में विचार अभी जानबूझकर हमने स्थगित कर रखा था। आदिपर्व के चौथे उपपर्व को, जिसका नाम पौलोम पर्व है, वस्तुतः भार्गव-उपाख्यानों का एक गुच्छा ही कहा जा सकता है।

महाभारत का प्रारम्भ दो स्थलों से माना जाता है। पहला स्थल आदिपर्व का पहला अध्याय है, जिस में उग्रश्रवा सूत (किन्हीं प्रतियों में उनका नाम सौति भी है) नैमिषारण्य में कुलपति शौनक के आश्रम में आकर उनके द्वादशवर्षीय सत्र में सम्मिलित होते हैं और वहां ऋषि उनसे महाभारत सुनाने की प्रार्थना करते हैं। (१।१।१८ प्रभृति)—

> जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशंपायन उक्तवान्।
> यथावत्स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया॥
> वेदैश्चतुर्भिः समितां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
> संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम्॥

इस प्रार्थना के अनुसार सूतजी पहले कुछ मङ्गल श्लोकों का पाठ करते हैं (१।१।२०)-

> आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
> ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्॥

इसके बाद कुछ उपोद्घात प्रारम्भ होता है, परन्तु थोडी देर के बाद ही उसका सूत्र उच्छिन्न हो जाता है।

अ० ४ में फिर ग्रंथ का आरम्भ मिलता है, जिसमें पहले आरम्भ को बिलकुल दृष्टि से ओझल रखा गया है। सूत फिर उसी तरह आते हैं। प्रसङ्ग भी वैसा ही है, पर अब की वार घटनाक्रम में अन्तर है। उपस्थित ऋषिलोग कथा सुनाने के लिए सूत से प्रार्थना न करके कुलपति शौनक के आने तक वहीं ठहराते हैं। अगले अध्याय (५) में नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर कुलपति भी आ जाते हैं। पर वे सूतजी से महाभारत सुनानेके लिए नहीं कहते, जैसा ऋषियों ने कहा था। विचित्र बात है कि, शौनक सबसे पहले भार्गवोंका इतिहास सुनाने की प्रार्थना करते हैं।

> तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।
> कथयस्व कथामेतां कल्पाः स्म श्रवणे तव॥
> (१।५।३)

सूत तुरन्त इंद्र, अग्नि, मरुत देवों से अभिपूजित उत्तम भृगुकुल का इतिहास सुनाने लगते हैं (१।५।५)। यहाँ भार्गवप्रभाव स्पष्ट और असंदिग्ध है। आठ अध्यायोंवाले (५-१२) पौलोम-पर्व का महाभारत की मुख्य कथा से कुछ सम्बन्ध नहीं। यह स्पष्ट विषयान्तर है, जिसमें भार्गवों का गौरव गाने के लिए उनकी एक विशेष शाखा का जिससे भृगु, च्यवन, प्रमति, रुरु और शौनक सम्बन्धित हैं, संक्षिप्त इतिहास है। इस शाखा का महत्त्व और महाभारत से इसका सम्बन्ध अभी स्पष्ट होगा।

इस पौलोम-पर्व के एक प्रक्षिप्त श्लोक में भार्गवों के आदिपुरुष भृगु को ब्रह्मा के द्वारा वरुण के यज्ञ में अग्नि

से उत्पन्न कहा गया है। आगे १।६०।४० में इन्हीं भृगु को ब्रह्मा के हृदय से निकला हुआ कहा गया है। अ० ५-६ में भृगुपत्नी पुलोमाके अपहरण की कथा है, जिसके अन्त में बेचारे अग्नि को स्वल्प दोष के लिए भी सर्वभक्षी बन जाने का शाप मिला।

इसके बाद अ० ८ में प्रमति के पुत्र भार्गव रुरु और प्रमद्वरा की कथा है। यह मेनका अप्सरा की कन्या थी। रुरु उस पर आसक्त हुए। विवाह से पहले ही सांप के डंस लेने से प्रमद्वरा प्राणशून्य हो गई। भार्गव रुरु ने अपने तपोबल से अपनी आयु का आधा भाग देकर उसे जीवित कर लिया। दोनों का विवाह हो गया। रुरु ने सब सांपों को नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा की। इसका सादृश्य जनमेजय से है, जिनके पिता परीक्षित सांप के डंस जाने से मारे गए थे। एक दिन रुरु को डुण्डुम जाति का एक पुराना निरापद सांप मिला (अ० ९) जिसकी प्रार्थना से रुरु ने उसे न मारा। यह सर्प-वेश में कोई शापग्रस्त ऋषि थे (अ० १०)। ऋषि ने कहा- अहिंसा ब्राह्मण का परम धर्म है। जनमेजय ने भी पहले सर्पयज्ञ करके सांपों को निर्वंश करना चाहा था, पर वे ब्राह्मण आस्तीक की कृपा से बच गए (अ० ११)। इसके बाद रुरु ने अपने पिता प्रमति से जनमेजय के नागयज्ञ की कथा सुनी (अ० १२)। यही सर्पसत्र की कथा महाभारत का आस्तीकपर्व (आदिपर्व अ० १३-५३) है, जिसे प्रमति ने अपने पुत्र रुरु को और कालान्तर में वैसे का वैसा ही सूत ने शौनक को सुनाया।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि, आदिपर्व अ० ४ से १२ तक का सम्बन्ध भार्गवशाखा विशेष से है। महाभारत का उसमें नामतक भी नहीं है। और न इसके बाद के ४१ अध्यायोंवाले आस्तीकपर्व में महाभारत का कहीं जिक्र है। भार्गवकथाएं और सर्पसत्र की कथा सुन लेने के बाद शौनक ने अन्ततो गत्वा कृष्ण द्वैपायन-विरचित महाभारत को सुनने की इच्छा प्रगट की, जिस महाभारत को वैशम्पायन ने जनमेजय को उसके सर्पयज्ञ के बीचमें विधिवत् सुनाया था (१।५३।३२ प्रभृति)—

> महाभारतमाख्यानां पाण्डवानां यशस्करम्।
> जनमेजयेन यत्पृष्टः कृष्णद्वैपायनस्तदा॥
> श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरेषु सः।
> तामहं विधिवत्पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम्॥

महाभारत में विद्यमान भार्गव सामग्री का पर्यवेक्षण समाप्त होता है ×।

इस लम्बे विवेचनके बाद भी भार्गवों से सम्बन्ध रखनेवाले अगणित छिटपुट उल्लेख छूट गए हैं। अन्य ऋषियों के साथ सभाओं में, उत्सवों में, राजकार्यों में अथवा युद्धों के वर्णन में भार्गवों का नाम बराबर लिया गया है। महाभारत के पात्रों के शौर्य, वीर्य, तेज और बुद्धिमत्ता की उपमा देने के लिए योग्य उपमान भार्गवों में से लिए गए हैं। शुक्र के समान बुद्धिमान्, भार्गव राम के समान वीर, च्यवन और और्व के समान तेजस्वी एवं सुकन्या के समान पतिव्रता, इन उपमाओं की पुनरावृत्ति महाभारत का ईप्सित विषय है। मानो भार्गवों के उदात्त, नाम और गुणरूपी उज्ज्वल प्रभामय रत्नों का स्वच्छन्द प्रयोग महाभारतरूपी विशाल भवन के चित्रों को आलोकित और शोभायमान बनाने के लिए किया गया है।

उपसंहार।

महाभारत में सुरक्षित कथाओं के आधार पर यह वेदितव्य है कि, भार्गव लोग ब्राह्मणकुल से सम्बद्ध थे, जिनका सम्बन्ध क्षत्रियों से बहुत घनिष्ठ था। अन्य कोई ब्राह्मण-कुल इस हद्दतक क्षत्रियों के सम्पर्क में नहीं आया। यह सम्बन्ध विवाह की सीमा तक पहुँचा हुआ था। जैसे राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या से च्यवन ने विवाह किया। कान्यकुब्ज के राजा गाधि की पुत्री और प्रख्यात विश्वामित्र की बहन सत्यवती का ऋचीक ने पाणिग्रहण किया। जमदग्नि की पत्नी रेणुका भी अयोध्या के

× निम्नलिखित ऋषियों की गिनती भी शायद भृगुओं में ही होनी चाहिए- (१) आरण्यक-पर्व में आए आर्ष्टिषेण, (२) अनुशासन में उल्लिखित गृत्समद, जिन्हें स्पष्ट भार्गव कहा गया है, (३) उत्तङ्कके गुरु और जनमेजय के पुरोहित वेद, (४) व्यास के शिष्य पैल, और (५) अणीमांडव्य कथावाले मांडव्य। ययाति के पुत्र भार्गवी देवयानी के गर्भ से संभूत यदु के वंशज होने के कारण कृष्ण का भी भार्गवों से दूर का सम्बन्ध होता है।

राजा प्रसेनजित् की कन्या कही जाती है । भार्गवी देवयानी ने राजा ययाति से विवाह किया । ब्राह्मणसाहित्य में प्रतिलोमविवाह का यह एकमात्र उदाहरण मिला है । राजा वीतिहव्य एक भृगु के द्वारा ब्राह्मण बना लिए गए और उनकी सन्तति भार्गव कहलाई । इसके विपरीत यह भी सत्य है कि, कुछ प्राचीन भार्गवों का क्षत्रियों के साथ घोर संघर्ष हुआ । राम जामदग्न्य और क्षत्रियों के वैर की कथा कितनी ही बार ऊपर आ चुकी है । और्व और जमदग्नि का भी क्षत्रियों से विरोध हुआ, जो ऊपर लिखा जा चुका है ।

इन द्वन्द्वों में भार्गवों को क्रोधी, अभिमानी, अक्खड और प्रतिरोधी चित्रित किया गया है । साथ ही सूतों की दृष्टि में वे अपने तप और मन्त्रबल के कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी हैं । यौगिक सिद्धियों के कारण भार्गवलोग पृथ्वी पर साक्षात् देवता या उनसे भी अधिक थे । भृगु ने अग्नि को शाप दिया और देवराज की पदवी पाए हुए नहुष को भी शाप दिया । च्यवन ने इंद्र की भुजा को स्तम्भित कर दिया, जो वैदिक आर्योंके श्रेष्ठतम देव थे। जमदग्नि बाण मारकर सूर्य को ही पृथ्वीतल पर गिरा देते । भार्गव उत्तङ्क भागवतों के सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीकृष्ण को ही शाप देने लगे थे । पृथ्वी के राजा तो भार्गवों के सामने भुजगे के समान थे । सशक्त हैहय बालक और्व के सामने कांपने लगते हैं और उसके तेज से अन्धे होकर दया के लिए गिडगिडाने लगते हैं । राजा कुशिक च्यवन के चरणों में गिरकर चुपचाप सब प्रकार की दुर्गति सहते हैं ।

भार्गवों के आदि पुरुष भृगु की गिनती प्रजापतियों में है । दक्ष आदि अन्य प्रजापति ब्रह्मा के पृथक् पृथक् अङ्गों से उत्पन्न हुए पर भृगु साक्षात् उनके हृदय को भेद कर प्रकट हुए । अन्यत्र भृगु को महर्षियों में श्रेष्ठतम कहा गया है, यद्यपि उनका नाम सप्तर्षियों में भी नहीं आता ।

परन्तु हमारे ग्रंथकार के सब से प्रिय भार्गव तो जामदग्न्य राम है । थोडासा भी मौका मिलने पर उनके पराक्रमशाली चरित्र का वर्णन किए बिना सूतजी से नहीं रहा जाता । उनके दिग्गजस्वरूप की छाया सम्पूर्ण महाभारत पर पडी है । अभी तक उनको पूर्ण अवतार का स्वरूप नहीं प्राप्त हुआ । हाँ, कहीं कहीं उस दिशामें कुछ प्रयत्न अवश्य पाया जाता है । अकेले उन्होंने सारी पृथ्वी को जीत लिया । उनके घोर तप की महिमा बडी विचित्र है । उन्होंने २१ बार पृथ्वी क्षत्रियों के भार से मुक्त होकर कश्यप को दान में दे दी । शस्त्रधारियों में अग्रणी भार्गवराम कौरवसेना के तीन महारथी भीष्म, द्रोण और कर्ण के अस्त्रविद्या में गुरु कहे गए हैं, यद्यपि महाभारत के अनुसार ही गुरु त्रेता के अन्त में हुए और उनके शिष्य द्वापर के अन्त में ।

महाभारत में कितने ही भार्गव उपाख्यान सन्निविष्ट पाए जाते हैं । जैसे आदिपर्व में और्वोपाख्यान, आरण्यक पर्व में कार्तवीर्योपाख्यान, उद्योगपर्व में अम्बोपाख्यान, शान्तिपर्व में विपुलोपाख्यान और अश्वमेधपर्व में उत्तङ्कोपाख्यान आदि । सारा पौलोमपर्व और पौष्यपर्व का अधिकांश भाग, महाभारत के दो स्वतन्त्र उपपर्व– भार्गवउपाख्यानों से भरे हुए हैं । इसके अतिरिक्त भार्गवों के कई लम्बे संवाद हैं । जैसे भृगु--भारद्वाज--संवाद, च्यवनकुशिकसंवाद और मार्कण्डेय--समास्या ।

इन भार्गव उपाख्यानों की एक विशेषता महाभारत में उनकी कई बार आवृत्ति है । उत्तङ्क की कथा, च्यवन–इन्द्र–संघर्ष–कथा, भार्गवराम से द्रोण की अस्त्रप्राप्तिकथा और कर्ण के शिष्यत्व की कथा दो दो बार है । जमदग्नि और राम की जन्म–कथा चार बार है । भार्गवराम के द्वारा क्षत्रियों के २१ बार नाश का उल्लेख १० बार हुआ है और हर दफे ' **त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा** ' यही उसका रूप है, जिसे सूतों ने उनके विरुद गान का अन्तरा ही बना लिया था । भार्गव राम के द्वारा क्षत्रियों के गर्व तोडने का उल्लेख तो लगभग २० बार हुआ है ।

यह बात ध्यान देने की है कि, भार्गवों को यह गौरव एकदम महाभारत में ही मिलता है । उनके पथ और वीर्य का कोई आभास वैदिक साहित्य में ढूंढे नहीं मिलता । +

उस साहित्य में भार्गवों को प्रायः अग्निपूजन की प्रथा का भक्त कहा गया है और अग्निपूजक पुरोहितों के रूप में वर्णित हैं । उन्होंने मनुष्यों के लिए अग्नि को प्राप्त किया ।

+ देखिए मैकडोनल और कीथ का वैदिक इन्डेक्स, भाग २ पृ० १०९ ।

प्रख्यात दश राजाओं के युद्ध में द्रुह्यु लोगों के साथ भार्गवों का वर्णन है। कई मन्त्रों में उनको अङ्गिरसों का सहयोगी बताया गया है। अथर्ववेद भृगु--अङ्गिरा--वेद कहलाता है और यह सत्य मालूम होता है कि भृगु और अङ्गिरा दोनों ही मन्त्रतन्त्र की आथर्वणी प्रक्रिया में दक्ष थे। क्षत्रियों से उनकी टक्कर होने का कुछ आभास इस साहित्य में है।

यह प्रत्यक्ष है कि, वैदिक प्रमाणों के सहारे प्राचीन भार्गवों का वह गौरव सिद्ध नहीं, जो महाभारत में उनको मिला है। तथापि वैदिक प्रमाणों में कहीं कहीं बाद के भार्गव--उपाख्यानों की हलकी झलक दिखाई पडती है। च्यवन और अश्विनीकुमारों की कथा का मूल ऋग्वेद के एक मन्त्र में है, जिस में आश्विनीकुमारोंने च्यवन को पुनर्यौवन प्रदान करके अपनी पत्नी के लिए प्रिय भावुक और कन्याओं का पति होने योग्य बना दिया। ब्राह्मणों ने इस मूल कथा को विस्तृत किया। भृगुओं और आङ्गिरसों का घनिष्ठ सान्निध्य महाभारत की कथाओं और वंशावलियों में प्रतिबिम्बित होता है।

महाभारत के समस्त भार्गव--उल्लेखों का एकत्र विचार करने से यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि, भरतवंश के युद्ध की कहानी में भार्गवों के वर्णन को बहुत अधिक स्थान दिया गया है। भारत युद्ध के चित्रपट का पृष्ठदेश प्रायः भार्गव--उपाख्यानों से ही भरा हुआ है। अधिक बारीकी से जांच करने पर सम्भवतः और भी भार्गव-सामग्री अभी मिल सकती है। यह भी सत्य है कि, भार्गवों के व्यक्तित्व को बहुत बढा चढा कर दिखलाया गया है। उनके रूप मोटी कूंची से गहरे रंगों में खींचे गए हैं। उनके उपाख्यान समग्र ग्रंथ में बंटे हुए हैं (केवल १० वां पर्व और १५ से १८ पर्व को छोडकर) जो केवल २५०० श्लोकों के बराबर हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ की तुलना में नगण्य हैं। यह बात क्यों हुई? यह एक समस्या है।

यह समझना बडा भोलापन होगा कि इस विविध भार्गवसामग्री का सन्निवेश अनजान में ही बिना किसी उद्देश्य के हो गया है और वह भारत की स्वाभाविक शैली का अङ्ग है। पहले तो इस बात का निश्चित प्रमाण है कि, महाभारत का आकार जान बूझकर बढाया गया है। कम से कम पौलोमपर्व के उदाहरण में यह निर्विवाद है कि, वह कुरु-पाण्डवकथा के बाद की मिलावट है। उसमें केवल भार्गव उपाख्यान हैं और भारत की कथा से उसका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि, महाभारत में इस बात का भी प्रमाण है कि, उसी ग्रंथ की पुरानी कथाओं को " भार्गव " रंग से पोत कर सजाया गया है। इसके दो प्रकार हैं। जिन कथाओंमें भार्गव अंश बिलकुल न था, उनमें थोडे से भार्गव अंश की मिलावट कर देना, जैसे षोडश राजकीय प्रकरण में सगर की कथा निकाल का राम जामदग्न्य की कथा मिला दी। दूसरा रूप यह कि जो कथा पहले से ही कुछ कुछ भार्गवों से संबन्धित थी, उन पर और गहरा रंग चढा दिया, जैसे नहुष अगस्त्य की कथा में। हमने यह बात भी देखी कि महाभारत की कथा का प्रारम्भ दो स्थलों में है, जिनमें से एक भार्गव प्रभाव से मुक्त है। सौभाग्य से एक ऐसी साहित्यिक घटनासे जो महाभारतकी ही विशेषता है, यह दोनों स्थल परस्परविरोधी होते हुए भी पास पास रखकर सुरक्षित कर लिए गए। महाभारत के प्रचार से भी एक भार्गव का सम्बन्ध उत्तङ्क की कथाद्वारा सुझाया गया है, जिसने जनमेजय को नागयज्ञ करने के लिए प्रेरित किया, जहाँ महाभारत का सार्वजनिक पारायण हुआ। प्रमति से रुरुने जो कथा कही, वही हमारा आस्तीक--पर्व है। अन्त में सौ बातोंकी एक बात यह है कि, कुलपति शौनक जिनको उग्रश्रवा सूत ने महाभारत की कथा सुनाई स्वयं भार्गव थे। इसलिए शौनक की इस प्रार्थना में कि वे सबसे पहले भार्गव वंश की कथा सुनना चाहते हैं (१।५।३)-

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

जो भार्गवपक्षपातनिहित है, उसका कारण भी हमारी समझ में आ जाता है। परन्तु पूर्वपक्ष से यह कहा जा सकता है कि हम अपनी ओर से भार्गव सामग्री पर इतना गौरव दे रहे हैं। महाभारत सम्पूर्ण ब्राह्मण-परम्परा का एक विश्वकोष था, या हो गया है और इस लिए भार्गवों की कथाएं भी इस में हैं- सम्भव है कुछ अतिरञ्जना के साथ हो। स्वयं महाभारत में कहा है (१।५६।३३)-

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

कुछ हदतक यह कथन ठीक है। जिन संग्रहकर्ताओं ने भरतवंश की सीधीसाधी युद्धकथा को ब्राह्मणधर्म के विश्वकोष के रूप में ढालने का भगीरथ आयोजन किया हो सकता है कि अपने चुनाव में न्याय से काम लेनेपर भी और धर्म तथा अध्यात्म सम्बन्धी विषयों में उदार मति रखने पर भी उनकी अभिरुचि और पक्षपात किसी विशेष दिशा में रहा हो, जिसके कारण उन्होंने अगस्त्य, आत्रेय, कण्व, कश्यप, गौतम, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणकुलों के वर्णन के लिए उतना स्थान नहीं दिया और न उतनी उदारता से काम लिया। इन वंशों की कथाओं का नितान्त प्रभाव न होने पर भी वे संख्या में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और उनकी पुनरावृत्ति कभी नहीं हुई। महाभारत के कथाप्रवाह में वे छिप सी गई हैं, परन्तु भार्गवों के उपाख्यान ऊंचा सिर उठाए हुए बार बार हमारे सामने खडे होकर दर्शन देते हैं और भार्गव महापुरुषों के जो देवतुल्य आकार कल्पित किए गए हैं, वे भीष्म, कर्ण, कृष्ण और अर्जुन जैसी अतिमानवी स्वरूपोंके साथ टक्कर लेते हैं और उनको भी पीछे छोड जाते हैं।

तुलना के लिए यदि हम रामायण को देखें, तो उस में भार्गवसामग्री कितनी कम है। भृगु के बारे में सिर्फ इतना उल्लेख है कि, उनकी पत्नी का विष्णु के द्वारा शिरच्छेद हुआ। वाल्मीकि के ग्रन्थ में कुछ कहानियों के वक्तारूप में च्यवन का नाम आया है। राम जामदग्न्य का उल्लेख फिर से एक बार दाशरथि राम के साथ होनेवाले संघर्ष में है, जिस में उन को नीचा देखना पडा। रामायण के जमदग्नि इसके अतिरिक्त कि, वे कार्तवीर्य अर्जुन के हाथोंसे मारे गए बिलकुल अज्ञात व्यक्ति हैं। तेजस्वी और्व का कहीं नाम भी नहीं है। इस दशापर टीका टिप्पणी व्यर्थ है।

यह निर्विवाद है कि, वर्तमान महाभारत की भार्गवसामग्री का भरतवंश की पुरातन कथा के संग्रथन से कुछ सम्बन्ध नहीं है। भार्गवसामग्री महाभारत के उस अंशमें है, जिसका निर्माण उपाख्यानों से हुआ है, इसलिए हमारी सम्मति में बिना हिचकिचाहट के यह परिणाम निकाला जा सकता हो कि **महाभारत के वर्तमान संस्करण में भारतकथाओं का भार्गव उपाख्यानों के साथ सम्बन्ध जानबूझकर तानेबाने की तरह या गंठबन्धन की तरह मिलाया गया है।**

यह प्रश्न बडा आकर्षक है कि, यह भार्गव सामग्री जो अधिकांश में महाभारत के उपाख्यानात्मक अंश में सन्निविष्ट है, किस प्रकार भरतवंश की कथाचक्र का अङ्ग बना ली गई। इसका उत्तर दुर्भाग्य से अब कल्पना पर निर्भर है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार भी महाभारत के प्रसिद्ध रचयिता भगवान् वेदव्यास का यह कार्य नहीं है, क्योंकि ग्रंथ का संस्कर्ताओं ने सौभाग्य से साफ इस बात को स्वीकार किया है कि, व्यास का मूल ग्रंथ भारत २४००० श्लोकों का था और उसमें उपाख्यान नहीं थे।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
(१।१।६१)

अर्थात् व्यास ने २४००० श्लोकोंवाली भारत-संहिता बनाई। बिना उपाख्यानों के ग्रंथ को अभिज्ञ लोग भारत कहते हैं। व्यास के शिष्य वैशम्पायन का भी यह कार्य नहीं मालूम होता है, जिन्होंने कि व्यासकृत भारत को स्वयं व्यास की उपस्थिति में अपने गुरु से जैसा पढा था, वैसा ही जनमेजय के नागयज्ञ में सुनाया था।

इसके बाद महाभारत के जिस संस्करण का प्रमाण मिलता है, अर्थात् भार्गव शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ में सूत उग्रश्रवा ने जिस ग्रंथ का पारायण किया था, उसके विषय में परिस्थिति पहले से भिन्न थी। कथाप्रारम्भ होने से पहले ही शौनकजी सूतजी से जो महाभारत की कथा सुनाने आए थे, भार्गव वंशकी कथा सुनानेका आग्रह करते हैं और सूतजी भी वैसा ही करते हैं। अब घटनास्थल कौरवराजसभा के स्थान में भार्गवों के प्रशान्त आश्रम में स्थापित होता है।

हमारे विचार में कम विद्वान् अब ऐसे हैं, जो इस बात को न मानते हों कि, अन्य देशों के प्राचीन वीर-गाथा काव्यों के समान भारत का भी परिस्थिति और जनरुचि के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। इसका स्वरूप तरल रहा है। इस बात के स्वीकार कर लेने से ग्रंथ की अवहेलना या उस पर कोई आक्षेप इष्ट नहीं है, बल्कि इस प्रकार के सवर्धन और संस्करण की प्रक्रिया स्वाभाविक,

अनिवार्य और व्यापक दृष्टि से सर्वांश में न्याय्य है। लोक के प्रगतिशील जीवन में वास्तविक प्रभाव डालने के लिए महाभारतसदृश ग्रंथों को परिवर्तनशील होना ही चाहिए। यह परिवर्धन, परिष्कार की प्रक्रिया इस बात का प्रमाण है कि, लोक का जीवन इस ग्रंथ से अनुप्राणित और प्रभावित होता रहा, अर्थात् यह ऐसा ग्रंथ न था, जिसे लोग विस्मृत करके धूलिधूसरित होने के लिए छोड देते। महाभारत के लिए इस परिस्थिति से कोई क्षति नहीं पहुंची। उसका वास्तविक महत्त्व और मूल्य यही है कि, उसमें अनेक युगों की भारतीय संस्कृति के दर्शन चलते चित्रपट के समान प्राप्त होना शक्य हैं।

उसमें इतिहास की जडीभूत घटनाएं चाहे न सहीं, परन्तु सांची के बौद्ध स्तूप के द्वार-तोरण और स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिल्प के समान अथवा अजन्ता के प्रख्यात भित्तिचित्रों के समान जीवन के अनेक दृश्य अवश्य स्थायित्व को प्राप्त हो गए हैं। जैसा कहा जा चुका है कि, यह सम्भव जान पडता है कि, आरम्भिक कालमें प्रभूत भार्गव प्रभाव महाभारत के स्वरूपनिर्माण में कार्य कर रहा था। मूल ग्रंथकर्ता व्यास और सम्भवतः वैशम्पायन के भी बाद इस सामग्री ने मौलिक ग्रंथ पर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ किया। महाभारत के तीसरे पारायण का श्रेय सूतजी को है, तो क्या भारतको महाभारत में बदल डालनेका उत्तरदायित्व सूतजी पर ही है? इस बात को किसी तरह से नहीं माना जा सकता कि धर्म और नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रगाढ संवाद और बृहत् उपाख्यानों को जिनके द्वारा २४००० श्लोकों का ग्रंथ वर्तमान विश्वकोषात्मक स्वरूप को प्राप्त हो गया, केवल कथावाचक सूतों ने ही रच डाला हो!

महाभारत उस प्रकार का इतिहास ग्रंथ कदापि नहीं है, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिक्रम और आंकडों को इकट्ठा करके ठेठ इतिहास लिखा गया हो। इस प्रकार का नीरस ग्रंथ किसी प्रकार भी २५०० वर्ष तक जीवित नहीं रह सकता था। कौन नहीं जानता कि इतिहास के पण्डितोंद्वारा बडे परिश्रम से रचे गए सैकडों पोथे लोकजीवनमें अपना प्रभाव खोकर पुस्तकालयों में विश्राम पा रहे हैं! कौन व्यक्ति उन्हें दुबारा पढने का कष्ट करता हो! महाभारत उस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति से रचा हुआ इतिहास न कभी था और न उसे ऐसा समझना ही चाहिए। वह एक भावात्मक काव्य है। पहले लोगों ने भी उसे वस्तुतः काव्य कहा है—

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।

रामायण के समान यह भी बहुत उच्च कोटि का काव्य है। यह एक कलाकार की सृष्टि है, जिसमें आदर्शों की उपासना की गई है, तथा जिसमें नीति और धर्म के गम्भीर भाव ओतप्रोत हैं। इस काव्य में धर्म और सत्य के तत्त्वों को स्वच्छन्दता के साथ उपाख्यानों की सहायता से समझाया गया है। उसमें प्रत्येक शब्द के अक्षरार्थ पर आग्रह करना अयुक्त है।

महाभारतको सूतने वैशम्पायनके पारायणमें सुनकर कण्ठ कर लिया था और शौनक की प्रार्थना पर शब्दशः उसकी आवृत्ति की थी, यह कथन ग्रन्थके जन्मको एक साहित्यिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है। भारतीय साहित्य में और ग्रंथों के लिए भी किसी प्रकार की उत्थानिका मिलती है। हमारे विचार में महाभारत की उत्थानिका में अनजाने ही यह बात अङ्गीकार कर ली गई है कि, किसी गाढे समय में भारतग्रन्थ सूतों के द्वारा भृगुओं के प्रभावक्षेत्र में आ गया। कुलपति शौनक इस भार्गव प्रभाव के द्योतक हैं। वीर-गाथाओं के युगमें जो सूत इस काव्य का गान करते थे, कुलपति शौनक के साथ भी उनका सम्बन्ध परम्परा के अनुसार सुरक्षित रखा गया है।

महाभारत के कथाभाग में तो भार्गवों का प्रभाव निर्विवाद सिद्ध है। एक दूसरे क्षेत्र में भी इनके प्रभाव की सम्भावना विदित होती है, जिसका सिद्ध करना अपेक्षाकृत कठिन है। हमारा तात्पर्य धर्म और नीति से सम्बन्ध रखनेवाली उस विशाल सामग्री से है, जिसका संग्रह विशेषतः शान्ति और अनुशासनपर्वों में पाया जाता है। यह सर्वसम्मत है कि, धर्म और नीति का सर्वाङ्गपूर्ण और गम्भीर विवेचन महाभारत में प्राप्त है, जिसके कारण हिंदू संस्कृति में इसे स्मृति का पद दिया गया और भारतवासियों की दृष्टि में इसको शाश्वत सम्मान और मूल्य प्राप्त हुआ।

संयोग से धर्म और नीति इन्हीं दो विषयों में भृगुओंने

विशेष अधिकार प्राप्त किया था। विशेष रूप से भृगुओं के नाम इनके साथ सम्बद्ध हैं। भार्गव शुक्र का नीति-विषयके साथ सम्बन्ध जो महाभारतमें भी रूढ है, विश्व-विदित है। धर्मशास्त्र के साथ भृगुओं का सम्बन्ध भी निश्चयरूप से था, परन्तु वह इतना सुविदित नहीं है। मनुस्मृति के आन्तरिक प्रमाण से ही यह सिद्ध है कि मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र के सुनाने का कार्य (श्रावण) भृगु ने ही किया, जिसके कारण मनुस्मृति को आज भी भृगु-संहिता कहा जाता है और जिस पर सन्देह करने का रत्तीभर भी कारण नहीं है। विद्वानों को यह भी विदित है कि महाभारत और मनुस्मृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुस्मृति का आरम्भिक भाग महाभारत के प्रथम अध्याय के ढंग का है। कुछ श्लोकों के तो शब्द भी एकसे हैं। कितनी जगह महाभारत में प्रमाणरूपसे मनु की सम्मति उद्धृत की गई है (इत्येवं मनुरब्रवीत्)।

डॉ॰ बूलर की गणना के अनुसार मनुस्मृति के २६० श्लोक (समग्र ग्रन्थ का लगभग दशमांश) ज्यों के त्यों (या बहुत कम पाठान्तर के साथ) महाभारत के पर्व ३, १२ और १६ में पाये जाते हैं। पूरे महाभारत की छानबीन करनेपर सम्भव है कि और श्लोक भी एक से मिलें। महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म की नींव पर स्थापित रचा गया है। महाभारत धर्मग्रन्थ है। उस के नायक धर्म के पुत्र धर्मराज हैं। भारतयुद्ध धर्मयुद्ध था—यतो धर्मस्ततो जयः। युद्धभूमि को धर्मक्षेत्र कहा गया। स्वयं नारायण ने धर्म की ग्लानि को हटाकर धर्म की स्थापनाके लिए, श्रीकृष्णरूप में अवतार लिया। महाभारत का सारांश जिसका नाम भारतसाविन्त्री है, सम्पूर्ण कथानक के आदर्श को व्यक्त करनेके लिए ग्रन्थान्त में इस प्रकार दिया गया है (१८।५।६२ प्रभृति)—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

भार्गवकथा और उपाख्यानों के रूप में विपुल भार्गव-सामग्री का सन्निवेश, उसके वर्णन की शैली, और धर्म और नीतिसम्बन्धी भागों का सम्मिश्रण (जिसने विशेषतः भारत चिन्तकों को उलझन में डाल रखा था— इन तीनों बातों की सरल और सीधी उपपत्ति यह मान लेने से समझ में आ जाती है, कि **महाभारत का महत्त्वपूर्ण एक संस्करण भार्गवों के प्रबल और साक्षात् प्रभाव के अन्तर्गत तैयार किया गया।** + इस का यह अभिप्राय नहीं कि, इस पाठस्थापना के बाद ग्रन्थ के रूप में कुछ फेरफार नहीं हुआ। इस देश के अन्य परम्परागत ग्रन्थों की तरह विगत २५०० वर्षों के लम्बे समय में महाभारत के कलेवर में भी शनैः शनैः परिवर्धन, परिवर्तन चलता ही रहा।

यह परिवर्धन ही ग्रंथ का प्रथम पाठ निश्चित हो जाने के बाद की शताब्दियों में सम्भवतः भार्गवों के द्वारा ही किए गए। वैदिक शाखाएं और ब्राह्मण जिस प्रकार विशेष विशेष वैदिक चरणों में और ऋषिकुलों में सुरक्षित रहे, उसी प्रकार पञ्चम वेद भारत भी अवश्य ही कुछ काल-पर्यन्त भार्गवों की साहित्यिक सम्पत्ति बना रहा। विविध सामग्री रखते हुए भी महाभारत में जो एकसूत्रता पाई जाती है, उसका कारण हमारी सम्मति में यही था। इस सामग्री के निर्माण में सम्भव है कि, कितने ही कारीगरों ने भाग लिया हो, पर उसे एक ही सांचेमें से होकर निकलना पडा।

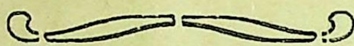
यदि उपरोक्त विचारों की युक्ति अखण्ड है, तो उनकी सहायता से हम महाभारत को आच्छन्न करनेवाले परदे को उठाकर उसके पूर्व इतिहास की कुछ झांकी ले सकते हैं। इस प्रकार की झांकी से यह मालूम होता है कि, भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन युग में २४००० श्लोकों का एक वीरगाथापरक काव्य था, जिसके कर्ता व्यासजी माने जाते थे, एवं जिसमें विस्तार से भारतयुद्ध और पाण्डवों के माहात्म्य का वर्णन था। इस वीरकाव्यको अर्थात् राज-सभाओं में सूतोंद्वारा गाए जानेवाले भारत को जो अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था, किसी संकट परिस्थिति में

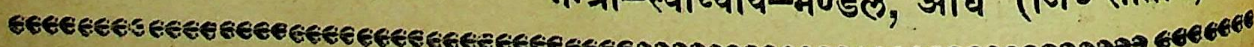
+ The assumption of an important unitary diaskenasis of the epic under very strong and direct Bhargava influence.

भृगुओं ने (जिनको धर्म और नीतिशास्त्र विशेष अधिकृत थे और सम्भवतः वैष्णव सिद्धांतों में भी अभिरुचि थी) अपना लिया और लोक की शिक्षा और अभिरुचि के उद्देश्य से उस काव्य का बृहत् संस्कार कर डाला।

पुरातन ज्ञान गरिमा के अधिकारी और उपाख्यानशैली में प्रवीण इन मुनियों ने सूतों से भारत को लेकर पीछे महाभारत के रूप में उसे संसार को वापिस किया। भृगुओं के द्वारा होनेवाले इस संस्कार में स्वभावतः ही उस ग्रन्थपर (भृगुसंस्कृति) अर्थात् उनके उदीर्ण इतिहास, प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की गहरी छाप पडी। इसका फल यह हुआ कि महाभारत काव्य ने एक साथ ही युद्धग्रन्थ और धर्मग्रन्थ दोनों का रूप धारण कर लिया। यह कल्पना की जा सकती है कि, भारत का यह परिष्कृत रूप दीर्घ कालतक भार्गवों की सुरक्षा में बना रहा और उन्होंने अपने ढंग से उसको प्रचारित किया।

इस नए भार्गवसंस्करण को इतनी विराट् सफलता प्राप्त हुई, जो उचित ही थी, कि मूल ग्रन्थ जिसका नाम भारत था, मूल में पड गया और आगे चल कर बिलकुल लुप्त हो गया। आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय तक मूल भारतकाव्य महाभारत से अलग ही विद्यमान था, क्योंकि उसमें दोनों का साथ साथ उल्लेख मिलता है। भृगुओं के हाथ से निकल कर जिस काल में भी महाभारत ग्रन्थ समस्त देश की साहित्यिक सम्पत्ति बन गया, उस कालके बाद भी इस में थोडेबहुत परिवर्तन, परिवर्धन का द्वार खुला ही रहा, परन्तु लोक में यह महर्षि व्यास के द्वारा विरचित प्राचीन ग्रन्थ की भांति ही पूजित होता रहा। भारतों के इस वीरकाव्य पर पडे हुए भार्गवप्रभाव की जितनी ही गहरी छानबीन आगेकी जायगी, हमारी सम्मति में भारतवर्ष के इस विराट् काव्य महाभारत का इतिहास उतना ही सुस्पष्ट होता जायगा।





चारों वेदोंकी पढाई पांच वर्षों में कैसी होगी ?

गत अंक में **वैदिक धर्म** मासिक में हमने पांच वर्षों में चारों वेदों की पढाई होगी, ऐसा घोषित करने से कई पाठकों के पत्र हमारे पास आ गये हैं. जिन में वे लिखते हैं कि, **"यह असंभव बात है और हम जान बूझकर जनता को धोखा दे रहे हैं ! "**

ये पत्र पढकर हमें आश्चर्य हुआ !!! वास्तव में जिस पद्धति से हम अध्यापन कराना चाहते हैं, उस पद्धति से यह सब पाठविधि पांच वर्षों में पूर्ण हो सकती है । अतः हमारी घोषणामें कोई अत्युक्ति नहीं है, देखिये-

चारों वेदों की पढाई ।

पांच वर्षों में निम्नलिखित पढाई होगी-

१. ऋग्वेद—

शाकल संहिता, (बाष्कल और शाख्यायन संहिताओं के पाठभेदोंसमेत) ।

२. यजुर्वेद—

(**शुक्ल यजुर्वेद**) वाजसनेयी और काण्व-संहिता, (**कृष्ण यजुर्वेद**) तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, काठक, कपिष्ठल ये छः संहिताएं ।

३. सामवेद—

कौथुमी, राणायणी और जैमिनीय ये तीन संहिताएं ।

४. अथर्ववेद—

पिप्पलाद और शौनक ये दो संहिताएं ।

चारों वेदों की पढाई का मतलब चारों वेदों की चौदह संहिताओंकी पढाई है । जो पाठक 'चार वेदों की संहिताओं की पढाई पांच वर्षों में नहीं होगी और यह पढाई पांच वर्षों में होगी, ऐसी घोषणा करना धोखा देना है, ' ऐसा कहते हैं, वे तो निःसंदेह कहेंगे कि इन १४ संहिताओंकी पाठविधि तो कभी ५ वर्षों में होगी हि नहीं ।

परन्तु हम यहां जोर से फिर घोषणा करके कहना चाहते हैं कि, यह सब चारों वेदों की १४ संहिताओं की पाठविधि केवल ५ वर्षों में ही संपूर्ण रीतिसे होगी ।

इस की पद्धति यह है-

१. ऋग्वेद- ऋग्वेद की संहिताके मन्त्र १०५५२ है, बाष्कल और शाख्यायन इन दो संहिताओं के प्रत्येक के इतने ही मन्त्र हैं, अर्थात् इन तीनों संहिताओं के मिलकर मन्त्र ३३००० हैं । पर पुनः पुनः आये मन्त्र छोडने से इन के मन्त्र केवल ११००० रहते हैं ।

२. सामवेद—

सामवेद की कौथुमी, राणायणी तथा जैमिनी इन तीनों संहिताओं के मन्त्र ६००० हैं । पर ये सब मन्त्र ऋग्वेद में आ गये हैं । अतः इनकी पढाई ऋग्वेद के साथ ही होगी । केवल १०५ मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में नहीं हैं । इतने ही पढने होंगे ।

३. अथर्ववेद—

अथर्ववेद की दोनों संहिताओं की कुल मन्त्रसंख्या १२००० है, पर पुनः पुनः आये मन्त्र हटाने से केवल ६००० रहते हैं । इन में भी २००० मन्त्र ऋग्वेद में आ चुके हैं, अर्थात् केवल ४००० ही शेष रह जाते हैं ।

४ यजुर्वेद—

यजुर्वेद की छः संहिताओं की मन्त्रसंख्या २०००० है, परन्तु पुनः पुनः आये मन्त्रभाग हटाने से शेष मन्त्र केवल ४००० रहते हैं, इनमें भी करीब १००० मन्त्र ऋग्वेदके हैं । उनको छोडनेसे शेष केवल ३००० ही मन्त्र रहते हैं ।

इससे अध्ययन की तालिका ऐसी बनती है-

वेद	संहिता	कुल मन्त्रसंख्या	पुनरुक्त छोडकर अध्ययन के मंत्र
१ ऋग्वेद	३	३३०००	११०००
२ यजुर्वेद	६	२००००	३०००
३ सामवेद	३	६०००	१०५
४ अथर्ववेद	२	१२०००	४०००
४ वेद	१४	७१०००	१८१०५

इस तरह '**दैवत-संहिता**' में कुल १८००० मन्त्र हुए हैं । येही अध्ययन के मन्त्र हैं । **दैवत संहिता** का लाभ इसी विधिसे समझ में आ सकता है । १४ संहिताओं के ७१००० मंत्रों के अध्ययन का सब श्रेय १८००० मन्त्रों के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है ।

प्रतिदिन १० मंत्रों की पढाई।

पांच वर्षों में १८००० मंत्रों का अध्ययन करना हो, तो एक वर्ष को लिये ३४०० मंत्र हुए और प्रतिदिन के केवल १० ही मंत्र हुए हैं। जो विद्यार्थी यहां लिए जांयगे, वे संस्कृत जाननेवाले लिये जांयगे। संस्कृत जाननेवालों से प्रति दिन ५० मंत्रोंका अध्ययन होना संभव है। पर उक्त पाठविधि में केवल १० मंत्र अध्ययन करने होंगे, ऐसा ही माना गया है।

यहां केवल १० मन्त्र ही प्रतिदिन पढाये जांयगे, ऐसा समझना उचित नहीं है। प्रतिदिन १०० मन्त्रों का पाठ तैयार करना होगा। इसकी विधि यह है।

हम गायत्रीमन्त्र के हि मन्त्र प्रथम लेंगे, जो प्रतिदिन १०० मन्त्र बडी आसानीसे हो सकते हैं। सम्भवतः अधिक भी होंगे। इसके पश्चात् अनुष्टुप्, पश्चात् त्रिष्टुप् इस तरह छोटे छोटे छंद प्रथम और बडे छंद पीछे से लिये जांयगे।

एक तो देवतावार मंत्रों का अध्ययन होने से पुनरुक्त मंत्रसंख्या हटने से अध्ययन थोडा होगा। और उसमें भी छोटे छंद प्रथम और बडे छंद उनके बाद रखने से भी पाठविधि की सुबोधता बढ जायगी।

इस तरह करने से चारों वेदों के अध्ययन के लिये पांच वर्ष पर्याप्त होंगे। पर प्रथम सब पाठविधि लिखनी है और उसका मुद्रण भी करना है, इसलिये प्रथम आनेवालों पर कार्य का भार अधिक होगा। पांच वर्षों में सब अन्तर्गत प्रमाण इकट्ठे हो जांयगे और पश्चात् पढाई इससे भी अल्प समय में हो सकेगी। अतः हमने जो घोषणा की है, वह अपनी जिम्मेवारी समझकर की है।

दैवत--संहिता।

दैवत--संहिता बनाकर हमने वेदके अध्ययन का भार सौमें अस्सी कम कर दिया है। दैवत-संहिता से जो लाभ होनेवाले हैं, वे तो इससे कई गुणा अधिक हैं, जो अध्ययन होते होते मालूम हो जांयगे। तथा वेदमन्त्रों का वर्गीकरण करके जब विषयवार मंत्रों का संगतीकरण होगा, तब तो वेदाध्ययन बडा ही आसान होगा।

इस समय विभिन्न संहिताओं के रहने से सब वेदों का अध्ययन होने के लिये २५ वर्ष भी पर्याप्त नहीं होगे। पर हमारे निश्चित किये पाठविधि से यही अध्ययन प्रथम ५ वर्षों में होगा और १० वर्ष के पश्चात् ३ या ४ वर्षों में भी हो सकेगा।

वेदों की पढाई अनुवाक्, अध्याय आदि विभाग से थोडे ही दिनों की थी, यह अनुवाकव्यवस्था से स्पष्ट हो जाता है। अनुवाक् अथवा अध्याय एक एक दिन के पाठके दर्शक हैं। यह तो वैदिक भाषा जीवित रहने के समय की पाठविधि है। इस तरह चारों वेदोंके कुल अनुवाक् अथवा अध्याय ३०० से अधिक नहीं हैं। वैदिक समय की चारों वेदों की- मंत्रों की- पढाई केवल ३०० दिनों की अर्थात् एक वर्ष की ही थी।

आज वह भाषा न रहने से वह ५ वर्ष की होगी। पर हमने जो विधि तैयार करने का विचार किया है, वैसा ईशकृपा से हुआ, तो सब चारों वेदों की पाठविधि ३।४ वर्षों में संपूर्ण होना असंभव नहीं है।

अनजान लोगोंने बीच में विघ्न खडे किये हैं, उनके कारण वेदों की पढाई दुस्तर हुई है। ये विघ्न दूर किये और वेद की अन्तःसाक्षी से वेद का अर्थ करने के कष्ट प्रथम उठाये गये, तो उक्त विघ्न दूर होगें और पढाई भी बडी आसानी से हो सकेगी।

ये बीच के विघ्न कौनसे हैं, इस बातका उल्लेख हम आगे किसी समय करेंगे। यहां इतना ही बताना है कि, जो भय पाठकों के मनमें हमारी घोषणा के कारण उत्पन्न हुआ, वह निराधार है। इतनाही यहां इस लेखद्वारा बताया है।

स्मृतियों में वेदों की पाठविधि १२ वर्षों की लिखी हैं, इसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक-उपनिषद्, कल्प, वेदांग आदि सब पाठविधि है। इसको वैदिक परंपरा में '**वेद शाखा की संपूर्ण पाठविधि**' कहते हैं। इस सब के लिये आज भी १०।१२ वर्ष लगेंगे। पर हमने इसमें से केवल संहितामंत्रों की ही पाठविधि सब से प्रथम सिद्ध करनी है। जिस के लिये ५ वर्ष पर्याप्त हैं।

विद्यार्थियों के यहां प्रविष्ट होने के नियम गत अङ्कमें छपे हैं। जो यहां आना चाहते हैं, वे उन नियमोंको देखें।

श्री० दा० सातवळेकर

अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

माताजीसे वार्तालाप।

(अनुवादक- श्री० मदनगोपाल गाडोदिया)

मानव प्रेम और भागवत प्रेम।

="मानव-प्रेम का भागवत प्रेम के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या मानव-प्रेम भागवत प्रेम में बाधक है? बल्कि क्या यह ठीक नहीं है कि, मानवप्रेम को धारण करने की योग्यता भागवत प्रेम को धारण करने के सामर्थ्य का सूचक है? क्या महान् आध्यात्मिक व्यक्ति जैसे कि ईसामसीह, रामकृष्ण और विवेकानन्द स्वभावतः अत्यंत प्रेमी और स्नेही नहीं हुए हैं?"

प्रेम महान् विश्वव्यापी शक्तियों में से एक है। यह स्वतः स्थित है और जिन पदार्थों में यह शक्ति आविर्भूत होती है अथवा जिन पदार्थोंद्वारा अपने आपको आविर्भूत करती है, उनसे यह सर्वथा स्वतन्त्र और स्वाश्रित होकर रहती है। जहां कहीं भी यह आविर्भूत होने की संभावना पाती है, जहां कहीं भी इसके लिये ग्रहणशीलता होती है, जहां कहीं भी इसके लिये द्वार खुला होता है, वहीं यह आविर्भूत हो जाती है। जिसे तुम प्रेम कहते हो और जिसे तुम निजी या व्यक्तिगत वस्तु के रूप में समझते हो, वह केवल इस विश्वव्यापी शक्ति को ग्रहण करने और आविर्भूत करने का तुम्हारा सामर्थ्यमात्र है। परन्तु चूंकि यह विश्वव्यापी है, इसलिये यह कोई अचेतन शक्ति नहीं है, यह तो एक परम सचेतन दिव्य शक्ति है। सचेतन होकर ही इस भूतल पर यह अपनी अभिव्यक्ति और सिद्धि के लिये प्रयत्न करती है, सचेतन होकर ही यह अपने उपकरणों को चुनती है, जो लोग इसके आवाहन का उत्तर दे सकते हैं, उन्हें यह अपनी तरंगों के प्रति जागृत करती है और इसका अपना जो शाश्वत लक्ष्य है, उसे उनके अंदर सिद्ध करने का प्रयास करती है और जब किसी उपकरण को यह अनुपयुक्त पाती है, तो उसको छोड देती तथा दूसरों को ढूंढने में लग जाती है।

मनुष्य सोचते हैं कि वे एकाएक प्रेम-पाश में बंध गए हैं, वे देखते हैं कि प्रेम उन में उत्पन्न होता है, बढता है और फिर मुरझा जाता है- अथवा यह भी होता है कि, कुछ लोगों में, जो उस की अधिक देर तक स्थायी रहनेवाली चेष्टाके लिए विशेषरूपसे उपयुक्त हैं, यह कुछ अधिक देरतक टिकता है। परन्तु इस प्रकार प्रेम करनेमें जिन्होंने यह समझा हो कि, यह उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव था, वह तो एक भ्रम ही था। वह तो विश्वव्यापी प्रेम के सनातन समुद्र की एक लहरमात्र थी।

प्रेम विश्वव्यापी है और सनातन है, यह सदा अपने-आप को अभिव्यक्त कर रहा है और साररूपसे सदा एक-रूप है और यह एक भागवत शक्ति है और इस की बाह्य क्रियाओं में जो कुछ विकार हमें दिखाई देते हैं, वे इसके उपकरणों के होते हैं, इसके अपने नहीं। प्रेम केवल मानवप्राणियों में ही अभिव्यक्त नहीं होता, यह सर्वत्र है। इसकी चेष्टा वनस्पतियों में भी है, शायद पत्थरों तक में है। पशु-पक्षियों में इसकी उपस्थितिका पता पाना सहज है। इस महान् और दिव्य शक्ति में जो कुछ भी विकार पैदा होते हैं, उनका कारण इसके परिमित उपकरणों की मलिनता, अज्ञान और स्वार्थ है। प्रेममें इस शाश्वत शक्ति में न कोई पकड है, न कोई इच्छा, स्वत्व के लिए न कोई भूख है, न आत्म-सम्मान के लिए किसी प्रकारकी आसक्ति। इसकी जो विशुद्ध क्रिया होती है उस में इस का स्वरूप है। आत्मासे परमात्माका मिलाप हो, इस बात की खोज, यह एक ऐसी खोज होती है. जो अन्य समस्त वस्तुओं से निरपेक्ष और निर्लिप्त रहती है। भागवत प्रेम तो अपने-आपको दे देना भर जानता है, वह कुछ भी मांग नहीं करता।

मनुष्योंने इसको क्या बना डाला है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने इसको एक भद्दी और बीभत्स वस्तु के रूपमें परिणत कर दिया है। फिर भी, मनुष्योंमें

भी, प्रेम का जो प्रथम संस्पर्श होता है, उसमें यह अपने पवित्रतर सारका कुछ अंश ले ही आता है। क्षणभर के लिये वे अपने-आपको भुला देनेमें समर्थ हो जाते हैं, इसका दिव्य स्पर्श उस सबको जो कुछ उनमें सुन्दर और मनोहर है, उसे कुछ देरके लिये जागृत और वर्धित कर देता है। परन्तु बाद में मानवप्रकृति अपनी अपवित्र मांगों से भरी हुई, बदलेमें किसी चीज की याचना करती हुई, जो कुछ वह देती है, उसके बदलेमें कुछ पाने की आशा करती हुई, अपनी निकृष्ट तृप्तियों के लिये शोर मचाती हुई और जो कुछ दिव्य था, उसे विकृत और कलुषित करती हुई, ऊपरी तलपर उठ आती है।

भागवत प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिये यह आवश्यक है कि, तुममें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो। कारण इस प्रेम को वे लोग ही अभिव्यक्त कर सकते हैं जिनके द्वार इस की नैसर्गिक प्रवृत्ति के लिये स्वभावतः खुले होते हैं। यह उद्घाटन जितना ही विशाल और अबाध होता है, उतना ही वे भागवत प्रेम को उस की मौलिक पवित्रता के साथ अभिव्यक्त कर सकते हैं और जितना ही यह निम्नतर मानव-भावों से मिश्रित होता है, उतना ही अधिक विकार इस की अभिव्यक्ति में आ जाता है। जो व्यक्ति प्रेम को उस के असली और सत्य रूप में ग्रहण करने के लिये खुला हुआ नहीं है, वह भगवान् के समीप नहीं पहुंच सकता। ज्ञानमार्ग के अनुयायी भी एक समय एक ऐसे स्थलपर जा पहुंचते हैं, जहां से यदि वे आगे बढना चाहें, तो उन्हें ज्ञान के साथ-साथ प्रेमजगत् में प्रवेश करना पडता है और वहां उनको प्रेम और ज्ञान दोनों एक ही हैं, ऐसा अनुभव होता है। ज्ञान भगवान् के साथ एक हो जाने के प्रकाश के रूप में अनुभव होता है और प्रेम ज्ञान के प्राणके रूप में। आत्मा की ऊर्ध्व प्रगति में एक ऐसा स्थान आता है, जहां ये दोनों मिल जाते हैं और तुम एकको दूसरे से अलग नहीं कर सकते। आरंभ में इन दोनों के बीच तुम जो विभाग या भेद करते हो, वह मनकी रचना है, किंतु जहां तुम उच्चतर भूमिका में ऊपर उठे कि, ऐसे भेद गायब हो जाते हैं।

जो लोग यहां, इस जगत् में भगवान् को प्रत्यक्ष करने और इस पार्थिव जीवन को रूपांतरित करने के लिये आये, उनमें कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने दिव्य प्रेम को अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। कुछ में इस अभिव्यक्तिकी पवित्रता इतनी अधिक हुई है कि, समग्र मानवजाति उनको नहीं समझ सकी है। यहां तक हुआ है कि, उनपर कठोर और प्रेमशून्य होने का दोष लगाया गया है, यद्यपि भागवत प्रेम इनमें विद्यमान है। परन्तु इनमें इस (प्रेम) का रूप भी इसके सत्त्व की तरह ही दिव्य होता है, मानव नहीं। मनुष्य जब प्रेम का नाम लेता है, तो वह इसे भावावेश और भावावेगजनित दुर्बलता के साथ जोड देता है। परन्तु आत्म-विस्मृति की दिव्य प्रगाढता, किसी संकोच के बिना और अपने लिये कुछ भी बचाकर रखे बिना, बदले में कुछ भी मांगे बिना एक भेंट के तौरपर अपने-आपको पूर्ण रूप से न्यौछावर कर देने की शक्ति, यह मानवजीवों को अज्ञात-सी है और जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावावेगजनित भावावेशों से रहित, अपने सत्य स्वरूप में उपस्थित होता है, तब इसको लोग निष्ठुर और नीरस पाते हैं. इस प्रेम की जो अति उच्चतम और तीव्रतम शक्ति है, इसको वे पहचान नहीं पाते।

भगवान् के प्रेम की जगत् में अभिव्यक्ति यह उनकी महान् आहुति थी, उनका परम आत्म-दान था। परिपूर्ण चेतना ने जड-प्रकृति की अचेतना में निमग्न और विलीन होना इसलिये स्वीकार किया, जिससे कि अंधकार की गहराइयों में भी चेतना जागृत की जा सके और दिव्य शक्ति उनमें शनैः शनैः उदित हो सके, तथा इस नाम रूपात्मक समग्र विश्वब्रह्मांड को दिव्य चेतना और भागवत प्रेम की एक सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा बनायी जा सके। यही परम प्रेम था, अर्थात् अपनी परम दिव्यतामयी परिपूर्ण अवस्था की, उसकी निरपेक्ष चेतना की, उसके अनंत ज्ञान की हानि को स्वीकार करना, अचेतना के साथ एक हो जाना तथा अज्ञान और अंधकारसे भरे हुए इस जगत् में वास करना। और फिर भी शायद लोग इसको प्रेम नहीं कहेंगे, कारण यह अपने-आपको ऊपरी भावनाओं से आच्छादित नहीं करता, इसने जो कुछ किया है, उसके बदले में यह कोई मांग नहीं रखता, अपने बलिदान का यह कोई प्रदर्शन नहीं करता।

जगत् में जो प्रेम-शक्ति है, वह उन चेतनाओं की खोज

में लगी हुई है, जिनमें यह सामर्थ्य हो कि वे इस भागवत गति को इसके विशुद्ध रूपमें ग्रहण कर सकें और इसको अभिव्यक्त कर सकें। समस्त जीवों की प्रेम के लिये जो यह दौड़ है, जीवों के हृदयों में तथा जगत् के हृदय में प्रेम के लिये जो यह अदृश्य आवेग है और इसकी जो खोज है, वह इस भागवत प्रेम की प्रेरणा के कारण ही है, जो मनुष्य की समस्त कामना और खोज के पीछे वर्तमान है। प्रेम-शक्ति करोड़ों उपकरणोंका स्पर्श करती है, सदा उन्हें तैयार करने का प्रयत्न करती है, सदा असफल होती है, किंतु इसका यह अनवरत स्पर्श इन उपकरणों को तैयार कर रहा है और एक दिन आवेगा, जब कि सहसा उनमें आत्म-दान करने और प्रेम करने की शक्ति जागृत हो जायगी।

प्रेमकी गति मनुष्योंतक ही परिमित नहीं है और मानवजाति की अपेक्षा अन्य सृष्टियों में संभवतः यह कम विकृत अवस्था में है। पुष्पों और वृक्षों को देखो। जब सूर्य अस्त हो जाता है और सब कुछ नीरव हो जाता है, तब क्षणभर के लिए शांत होकर बैठो और अपने-आपको प्रकृतिके साथ एक कर दो, तुम यह अनुभव करोगे कि पृथ्वीसे, वृक्षों की जडके नीचेसे प्रगाढ प्रेम और कामनासे पूर्ण एक अभीप्सा ऊपर उठ रही है और यह अभीप्सा ऊपर की ओर बढती हुई तथा वृक्षोंके तन्तुओंमें से संचार करती हुई, उनकी उच्चतम शाखाओंतक में हो रही है—कामना उस किसी वस्तुके लिए, जो प्रकाशको लाती है और सुख पहुंचाती है, उस प्रकाश के लिए जो चला गया है और जिसको वे चाहते हैं कि वह फिर लौट आवे। वहां यह चाह इतनी पवित्र और तीव्र होती है कि, यदि तुम वृक्षोंमें जो यह गति होती है, उसे अनुभव कर सको, तो तुम्हारी अपनी सत्ता भी उस शांति और प्रकाश और प्रेम के लिए जो यहां अभीतक अभिव्यक्त नहीं है, हार्दिक प्रार्थना करने लग जायगी।

एक बार भी यदि तुम इस विशाल, विशुद्ध और सत्य भागवत प्रेमके संस्पर्श में आ जाओ, यदि तुम इस को थोडी-सी देरके लिए भी और इसके लघुतम रूपका ही अनुभव कर पाओ, तो तुम यह अनुभव कर लोगे कि, मनुष्यकी वासना ने इसके स्वरूपको कितना नीच बना डाला है। मानवप्रकृति में यह क्षुद्र, पाशविक, स्वार्थमय हिंसात्मक और कुरूप हो गया है, या फिर यह दुर्बल और भावुक, अत्यंत तुच्छ भावोंसे भरा हुआ, क्षणभङ्गुर, बाहरी और चूसनेवाला बन गया है और इस नीचता और पशुता को अथवा इस आत्म-स्वार्थसे भरी हुई दुर्बलताको लोग प्रेम कहते हैं!

="क्या हमारी प्राणमय सत्ताको भागवत प्रेमके आविर्भाव में भाग लेना है? यदि हां, तो इसके शरीर होनेका उचित और ठीक रूप क्या है?"

भागवत प्रेम की अभिव्यक्ति अमुक स्थानपर आकर रुक जाय, क्या ऐसा कुछ अभिप्रेत हो सकता है? क्या इस की अभिव्यक्ति किन्हीं अमूर्त या अपार्थिव क्षेत्रोंतक ही सीमित रहनेवाली है? भागवत प्रेम की अभिव्यक्ति का जो प्रवाह पृथ्वीपर होता है, वह अत्यंत जडप्राकृतिक पदार्थतक में पहुंचता है। अवश्य ही यह ठीक है कि, मानव चेतना के स्वार्थमय विकारों में हम इसको नहीं पा सकते, किंतु स्वयं प्राणतत्त्वका एक प्रमुख स्थान जैसा कि, समग्र अभिव्यक्त जगत् में है, वैसा ही भागवत प्रेममें भी है। प्राण के माध्यम के बिना गति और प्रगति नहीं हो सकती। किंतु चूंकि प्रकृति की यह शक्ति इतनी बुरी तरह से विकृत की जा चुकी है, इसलिये कुछ लोग इस विश्वास को तरजीह देते हैं कि, इस तत्त्व को जड से ही उखाडकर फेंक देना चाहिये। परन्तु आत्मा में रूपांतर करने की जो शक्ति है, वह प्राण के द्वारा ही जडप्रकृति का स्पर्श करती है। यदि प्राण अपनी गतिशीलता और जिवंत शक्ति को जडप्रकृति में संचारित करने के लिये वहां न हो, तो जडप्रकृति मुर्दा ही बनी रहेगी, कारण सत्ता के उच्चतर भाग पृथ्वी के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकेंगे। वे सजीव और सशरीर मूर्तियां नहीं बन सकेंगे और वे असंतुष्ट लौट जायंगे तथा अंतर्हित हो जायंगे।

जिस भागवत प्रेम के सम्बन्ध में मैं कह रही हूं, वह एक ऐसा प्रेम है जो यहां, इस भौतिक पृथ्वीपर, इस जडप्रकृति में अभिव्यक्त हो रहा है, किंतु इसको मानव-विकारों से बचाकर सर्वथा विशुद्ध बनाये रखना होगा, जिस से कि यह यहां मूर्तरूप धारण कर सके। अन्य सभी अभिव्यक्तियों की तरह इस अभिव्यक्ति के लिये भी

प्राण एक अनिवार्य साधन है। परन्तु जैसा कि हरेक बात में हुआ है, वैसा ही यहां भी, इस अमूल्य वस्तुपर विरोधी शक्तियोंने अपना अधिकार जमा लिया है। यह प्राण की शक्ति ही है, जो इस मंद और संवेदनशून्य जडप्रकृति के अन्दर प्रविष्ट होती है और उसे संवेदनक्षम और सजीव बना देती है। परन्तु विरोधी शक्तियोंने इसको विकृत कर दिया है, उन्होंने इसको हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकार के भद्देपन का एक क्षेत्र बना दिया है, इसको भागवत कर्ममें भाग लेनेसे रोक दिया है। अब जो कुछ करना है, वह केवल यही है कि, हम इसको रूपांतरित करें, यह नहीं कि हम इसकी गतिका निग्रह करें अथवा इसको नष्ट कर दें। कारण प्राण के बिना कहीं भी कोई तीव्रता नहीं आ सकती। हमारे अन्दर जो वस्तु ऐसी है, जिस का स्वभाव ही अपने-आपको दे देना है, वह प्राण ही है।

चूंकि प्राण ही वह तत्त्व है, जिसमें किसी चीजको लेने की प्रेरणा तथा शक्ति सदा रहती है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको संपूर्णरूपसे उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है। चूंकि प्राण यह जानता है कि स्वत्व कैसे रखा जाय, इसलिए वह यह भी जानता है कि, बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दे दिया जाय। प्राणकी जो सत्य गति है, वह सभी गतियों में अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त उत्कृष्ट है। परन्तु तोड-मरोडकर इसे अत्यन्त भद्दी, अत्यन्त विरूप और अत्यन्त घृणास्पद बना दिया गया है। मानवप्रेमसंबंधी कथाओं में जहां कहीं शुद्ध प्रेमका एक अणुमात्र भी प्रवेश कर पाया है और इसे बहुत अधिक विकार के बिना अभिव्यक्त होने दिया गया है, वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दीख पडती है। और यदि यह गति अधिक देरतक नहीं ठहरती, तो इस का कारण यह है कि, यह अपने उद्देश्य और खोजसे सचेतन नहीं है, इसको इस बात का ज्ञान नहीं है कि, इसकी खोजका विषय एक जीवकी दूसरे जीवके साथ एकता नहीं है, बल्कि इसकी खोजका विषय है, समस्त जीवोंकी भगवान् के साथ एकता।

प्रेम एक परम शक्ति है। जिसे शाश्वत चेतनाने अपने-आप में-से बाहर निकालकर अज्ञान और अन्धःकारको प्राप्त इस जगत् में इसलिए भेजा कि वह इस जगत् को और इसके जीवोंको भगवान् के पास लौटा लावे। अज्ञान और अन्धकार में डूबा हुआ यह जडप्राकृतिक जगत् भगवान् को भूल चुका था। प्रेम इस अन्धकार में अवतरित हुआ और जो कुछ यहां प्रसुप्त पडा था, उसे इसने जगाया, जो काम मुहर लगे हुए बंद पडे थे, उन को इसने खोला और उन में यह संदेश फूंका कि, 'ऐसी कोई वस्तु है, जिसके प्रति जागृत होना चाहिए, जिसके लिए जीना चाहिये और वह वस्तु प्रेम है।' और प्रेमके प्रति इस जागृति के साथ-साथ भगवान् के पास लौट चलने की सम्भावना भी इस जगत् में प्रविष्ट हुई। प्रेमके द्वारा सृष्टि भगवान् की ओर ऊर्ध्वगामी होती है और इसके प्रत्युत्तर में भागवत प्रेम और भागवत प्रसाद सृष्टि से मिलनेके लिए नीचेकी ओर नत होते हैं। जबतक यह आदान-प्रदान न हो, परमात्मा और पृथ्वीका यह पारस्परिक मिलन न हो, भगवान् की ओरसे सृष्टि के प्रति और सृष्टि की ओरसे भगवान् के प्रति प्रेमकी यह गति न हो, तबतक प्रेम अपने शुद्ध सौंदर्य में नहीं रह सकता, प्रेम अपनी नैसर्गिक शक्ति का और अपनी पूर्णताके प्रगाढ आनंदका संचार नहीं कर सकता।

जब तक दिव्य प्रेम इसमें अवतरित नहीं हुआ था और उसने इसको जागृत करके इसमें जीवन नहीं दिया था, तब तक यह संसार एक निर्जीव जडप्रकृति का संसार था। परन्तु जब से इसको जीवन प्राप्त हुआ है, तभी से यह जगत् जीवन के इस दिव्य आदि स्रोतकी खोज में लग गया है, किंतु अपनी इस खोज में इसने नाना प्रकारकी भूलें की हैं और बारबार यह उलटे रस्ते पड गया है, अंधेरे में इधर से उधर भटकता फिरता रहा है। इस सृष्टि की जनता किसी अज्ञात को खोजनेवाले एक अंधे की तरह अपने मार्ग पर चली है, इसमें एक खोज तो है पर वह यह नहीं जानती कि वह क्या खोज रही है। अधिक से अधिक जो कुछ इसने प्राप्त किया है, जो मानवप्राणियों को प्रेम का उच्चतम स्वरूप दिखायी देता है, जो उनकी समझ में शुद्धतम और निःस्वार्थतम प्रकार का प्रेम है, वह प्रेम का वह स्वरूप है, जो माता का अपने बच्चे के प्रति होता है। प्रेम की जो यह मानवगति है, वह अब तक उसने जो कुछ पाया है, उससे इतर किसी वस्तु को गुप्त रूप से ढूंढ रही है, किंतु उसको यह नहीं मालूम कि वह

वस्तु उसको कहां मिलेगी, वह यह भी नहीं जानती कि वह वस्तु क्या है।

ज्योंही मनुष्य की चेतना भागवत प्रेम के प्रति जागृत होती है, उस प्रेम के प्रति जो शुद्ध है, जो मानवरूपों में हुई सर्वविध अभिव्यक्ति से स्वतन्त्र है, त्योंही वह उस वस्तु को जान जाती है, जिसके लिये वास्तव में उसका हृदय इतने समय से तरस रहा था। यही है आत्मा की अभीप्सा का आरम्भ, जिसके फलस्वरूप चेतना में जागृति होती है और भगवान् के साथ एकता प्राप्त करने के लिये लालसा उत्पन्न होती है। जहां वह अभीप्सा हुई कि, अज्ञान से उत्पन्न जो रूप हैं, उसके लादे हुए जो विकार हैं, वे मुरझा जायंगे और लुप्त हो जायंगे और इन सबके स्थानपर सृष्टि की एक ही प्रकार की गति होने लगेगी, जो भागवत प्रेम की पुकार का उत्तर भगवान् के प्रति अपने प्रेम के द्वारा देती रहेगी। ज्यों ही सृष्टि भगवान् को प्रेम करने के लिये उन्मुख, सचेतन और जागृत हो जाती है, त्योंही भागवत प्रेम सृष्टि में फिर से अपनी असीम वर्षा करने लगता है। गतिचक्र अंतर्मुखी हो जाता है और इसके दोनों छोर आपस में मिल जाते हैं, चरम सीमाएं अर्थात् परम आत्मा और विकासोन्मुख जड प्रकृति, एक हो जाती हैं और इनका दिव्य मिलन पूर्ण और स्थायी हो जाता है।

भागवत प्रेम की परम पवित्रता और शक्ति के कुछ अंश को यहां उतार लाने के लिये महान् आत्माओंने इस संसार में जन्म लिया है। या यों कहें कि, इस संसार में अपनी सिद्धि को एक साथ सहजतर और पूर्णतर करने के लिये भागवत प्रेमने इन लोगोंद्वारा अपने-आपको व्यक्तिगत रूप में आविर्भूत किया है। भागवत प्रेम जब किसी शरीरधारी व्यक्ति में आविर्भूत होता है, तब इसको अनुभव करना अधिक सुगम होता है, किंतु जब इसकी गति अप्रकट या नैर्व्यक्तिक होती है, तब इसे अनुभव करना अधिक कठिन होता है। जो मनुष्य इस व्यक्तिगत स्पर्श के कारण, इस व्यक्तिगत प्रगाढता के साथ भागवत प्रेम की चेतना की ओर जागृत होगा, वह यह अनुभव करेगा कि, उस का कार्य और उस का रूपांतर अधिक सुगम बन गया है, एवं जिस एकताको वह खोज रहा है, वह उस के लिये अधिक स्वाभाविक और अधिक निकट हो जायगी। और यह एकता, यह आत्म-साक्षात्कार उस के लिये पूर्णतर और सिद्धतर हो जायगा; कारण एक विराट् तथा नैर्व्यक्तिक प्रेम के विशाल एकरूपता उस में प्रकाशमान हो जायगी और वह भगवान् से जितने प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं, उन सबके रूप और सौंदर्य से सजीव हो जायगी।

ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

[श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ]

[३१] 'निकम्मापन या अव्यवहृत मानवदेह ईश्वर-भक्ति या शांति का स्वरूप नहीं है'।

सत्य अवस्था में आरूढ रहना और असत्य अवस्था को त्यागते रहना, ये दोनों एक मनोदशा हैं। सत्यारूढ दशा का सम्बन्ध देह के सदुपयोग के साथ और असत्यारूढ दशा का सम्बन्ध देह के दुरुपयोग के साथ है। मनुष्य अपने देह का 'सदुपयोग' करने पर ही सत्यारूढ रह सकता है और अपने देह का 'असदुपयोग' करने पर असत्यारूढ रहने से नहीं बच सकता। देह का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति कर्तव्यभ्रष्टता, या अकर्तव्यपरायणता के रूप में प्रकट होती है।

कर्तव्यपालन करना ही असत्य को पराभूत करने का 'साधन' है। असत्य को पददलित करनेवाला इससे दूसरा कोई 'साधन' नहीं है। असत्यारूढ अवस्था का स्वरूप अपने कर्तव्य की अवहेलना करना है। असत्यारूढ अवस्था का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई रूप नहीं है। देह का सदुपयोग करना मानसिक सत्य अवस्था का आधार है और देह को दुरुपयोग में लाना मानसिक असत्यावस्था का आधार है। मानसिक सत्य तथा असत्य अवस्थाओं का देह के सदुपयोग तथा दुरुपयोग से भिन्न दूसरा कोई आधार होना सम्भव नहीं है। इंद्रिय तथा उनसे गृहित होनेवाले पदार्थ ही देहका सदुपयोग या दुरुपयोग करनेके साधन हैं। जब इंद्रियग्राह्य रूपरसादि पदार्थों को इंद्रियों की सम्भोगाभिलाषा (उत्सुकता) की पूर्ति के साधन बना लिया जाता है, तब इसी को देह का दुरुपयोग करना कहते हैं। जब इंद्रिय 'ग्राह्य' रूपरसादि पदार्थों को इंद्रियों के भोग (उत्सुकतापूर्ति) से बचा रखने के साधन के रूपमें उपयोग किया जाता है, तब यही देहका सदुपयोग करना कहा जाता है। संभोगाभिलाषाको तृप्त करने की प्रवृत्ति में ही मनुष्य को बांध डालनेवाला सुख-दुःख का बंधनजाल है. यही 'आत्मविस्मृति' कहाती है। भोग-निवृत्ति में (अर्थात् भोग करने से बचकर रहने में) ही बन्धनमुक्ति अर्थात् आत्मदर्शन की पवित्र अवस्था है।

जिस देह को 'आत्मदर्शन' के साधन के रूप में उपयोग में लाया जाने लगता है, वह देह 'भोगेच्छा' नाम की 'अहं' बुद्धि से परिचालित न होकर 'भोगेच्छा' निवृत्तिरूपी निरहंकारबुद्धि के द्वारा परिचालित होनेवाला हो जाता है। उस देह का 'देही' यह समझ जाता है कि, मैं सुखेच्छा करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो केवल अपनी निर्विकार स्थिति की रक्षा करनेवाला शुद्ध 'चैतन्य' हूँ। ऐसी समझ आनेपर देह को आत्मदर्शन के लिए (अर्थात् निर्विकार मानसिक स्थिति की रक्षा करने के लिए) जिन उपयोगों में लाना पडता है, वे सुखेच्छा की प्रेरणा से नहीं होते। किन्तु शुद्ध कर्तव्यबुद्धि की प्रेरणा से होते हैं। ज्ञानी मनुष्य इस प्रकार के दिव्य आचरण करते समय अपनी सब प्रकार की सुखेच्छाओं को आत्मदर्शन (अर्थात् निर्विकार मानसिक स्थिति की रक्षा करने) की दृढ तथा दिव्य इच्छा में विलीन कर देता है। इसी को अहंबुद्धि का नाश कहा जाता है; इसीको परमात्मा में आत्मसमर्पण करना कहते हैं।

आत्मसमर्पण की अवस्था के आने पर न तो यह बुद्धि रहती है कि, मैं कर्मरत रहनेवाला कर्ता हूँ और न यह बुद्धि रहती है कि, मैं कर्मविरत रहनेवाला निष्क्रिय अथवा कर्मत्यागी कर्ता हूं। तब ऐसे अहंकारों का रह सकना असम्भव बन जाता है कि, हम सदा अपने हाथोंपैरों को चलाकर कुछ न कुछ कर्म करते ही रहेंगे, या चाहे कुछ भी हो जाय, तो भी हम कर्म करने के लिए हाथपैर नहीं हिलायेंगे। इस प्रकार की दोनों बुद्धियों से बची हुई अवस्था कोई निर्विकार मानसिक स्थिति कहा जाता है। कर्मरत रहने या कर्म से बचनेवाला दोनों प्रकार का अहंकार (या हठ) सुखेच्छा से प्रभावित विकाराधीन देहात्म-बुद्धि का परिणाम है। जब मनुष्य के मन में से कर्तृ

बुद्धि हट जाती है, उस समय देह को काम में लगाकर भी देह का सदुपयोग किया जा सकता है, और उसे कर्म से बचाकर भी उसका 'सदुपयोग' हो सकता है। 'कर्ताहं' बुद्धि के हट जाने पर होनेवाले देह के 'सदुपयोग' को 'मन की स्वाभाविक, निर्विकार, अप्रभावित स्थिति की रक्षा करना कहते हैं।

जब मन की निर्विकार स्थिति की रक्षा के लिये देह को आठों पहर कर्म में लगाये रखने की आवश्यकता होती है, या जब इस देह को अग्नि में घृत-आहुति के समान कर्तव्य-पालन के लिये विसर्जित कर डालने की आवश्यकता (ईश्वरीय आज्ञा) आ खड़ी होती है, उस समय ज्ञानी पुरुष अपने आपे को वीरता के साथ 'कर्ताहं' बुद्धि से अतीत रखकर, निर्विकारभाव से केवल कर्तव्यपालन पर दृष्टि रखता है। इसी प्रकार जब ज्ञानी के सामने मन की निर्विकार स्थिति की रक्षा के लिये देह को निष्क्रिय रखने या इस देह को आक्रमण, दाह, दुर्घटना, या आत्महत्या आदि से सुरक्षित रखने का अवसर आता है, तब भी वह सुखेच्छारूपी 'अहंबुद्धि' के बन्धन से बचा रहकर शुद्ध कर्तव्यपालन की भावना से ही ऐसा करता है। जब इन परस्परविरोधी दीखनेवाले दोनों उपयोगों की नियामिका निर्विकार या मानसिक स्थिति ही हो जाती है, तब ही देह का 'सदुपयोग' होता है। देह का दुरुपयोग उस समय होता है, जब 'सुखेच्छा' की पूर्ति के लिये कर्म किया जाता है, और उसी के लिये कर्म से बचा जाता है।

हमें फल मिलेगा, इस दृष्टि से कर्म करने में, और हमें कर्म बिना किये फल मिल सके, तथा हम अवाञ्छित फल से बच सकें, इस प्रकारके उपायों का अवलम्बन करके कर्म-विमुख रहने में इंद्रियों की 'संभोगेच्छा' (उत्सुकता) को तृप्त करने का 'मोह' रहता है। इस प्रकार के मोह के वश में आकर मनुष्य जो कुछ करता है, कहता है, या सोचता है, सब देह का दुरुपयोग होता है।

इस मोह में आये हुये मनुष्यों को कभी तो आठों पहर देह को काम में लगाये हुये देखा जाता है, और कभी दिन भर निष्क्रिय रखते हुये पाया जाता है। ऐसे मनुष्य इस देह को विविध प्रकार के क्लेश पहुँचाते, और इसे मारते तक पाये जाते हैं।

यदि ऐसे मोह में आये हुये मनुष्य व्यक्तिगत धन कमाने, अपने परिवार का पोषण करने, तथा अपने गृह, धन, जन आदि की सुव्यवस्था रखने के लिये दिनरात अधिक परिश्रम करनेवाले व्यग्र जीवन में से कुछ समय निकाल कर, उस समय में 'ईश्वरचिन्तन' नाम का कोई काम कर भी लें, तो भी उनके उस काम का 'ईश्वरचिन्तन' का पावन नाम नहीं दिया जा सकता। कुछ समय किये जानेवाला 'ईश्वरचिन्तन' 'ईश्वरचिन्तन' नहीं है। वह सुखेच्छा नाम के अपने 'मोहबन्धन' से पृथक् अवस्था नहीं है। वह किसी चाटुकारिता में रुचि रखनेवाले 'कल्पित ईश्वर' से अपने मोहबन्धन में मिठास उत्पन्न कराना चाहने की चाटुकार मनोदशा है।

यदि इस प्रकार के मोह में फंसा हुआ कोई मनुष्य यह कहता हो कि, मैं कुछ भी काम न करूंगा, मैं तो केवल राम का जप करूँगा, तो वह निश्चय ही भारी भ्रम में है। ऐसे मनुष्य का 'राम नाम लेना' ईश्वरस्मरण नहीं है। वह सुखेच्छा नाम का 'बंधन' है। इस प्रकार के मोह के वश में फँसे हुये मनुष्यों के व्रत, उपवास, प्रायश्चित, मौन, प्रायोपवेषण भृगुपतन या आत्महत्या आदि चेष्टायें भक्ति नहीं हैं। उनके ये सब व्यापार सुखेच्छारूपी मोहबन्धन के भिन्न भिन्न रूप हैं। इनसे बचे रहने के लिये इन सब मनोवृत्तियों का ठीक ठीक विश्लेषण होना चाहिये।

जब कोई कहता हो कि, मैं केवल रामनाम का जाप करूँगा, मैं रामनाम लेने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं करूँगा, तब वह अपने (१) रामनाम लेने के संकल्प तथा (२) रामनाम लेने से भिन्न कुछ न करने के 'संकल्प का' कर्ता (संचालक) स्वयं ही बन बैठा है। ऐसे कर्तापन की ओर में छिपी हुई मानसिक स्थिति को भले प्रकार समझ लेना चाहिये। उससे प्रश्न किया जाना चाहिये कि, तुम केवल 'राम' की जाप करोगे, परन्तु काम कुछ न करोगे, यह कहकर तुम यह स्पष्ट स्वीकार कर रहे हो कि, 'रामनाम लेना' और बात है, तथा काम करना दूसरी बात है। तुम्हारे मन में यह बात बैठी हुई है कि, कर्म करना रामनाम लेने का विरोधी है। यदि तुमने इस प्रकार 'कर्मद्वेषी' बन कर रामनाम लेने को 'बन्धनातीत' निर्विकार अप्रभावित और शान्त मान–

सिक स्थिति की रक्षा करने की दृढनिष्ठा समझा हो, तो कहना पडेगा कि, कर्ममें ही विकार, प्रभाव, अशान्ति आदि 'बन्धनमय' घुसे बैठे हैं।

कर्म में 'बन्धन' है, इस बात की असत्यता को समझने के लिये बन्धन के स्वरूप को समझना चाहिये कि, बन्धन किसे कहते हैं ? किसी बाह्य परिस्थिति या किन्हीं बाह्य पदार्थों से सुखी या दुःखी हो जानेवाली भ्रमपूर्ण समझ ही मनुष्य का 'बन्धन' है। कर्म करते हुये कर्म के भौतिक फल की आशा करना भी 'बन्धन' है और अकर्मा रहकर श्रमविमुखता से सुखेच्छा की तृप्तिनाम के फल की आशा करना भी 'बंधन' है। इस दृष्टि से कर्म को न करके केवल 'रामनाम' लेते रहने का यही अर्थ लगाया जा सकता है कि, रामनाम के सच्चे अर्थ अपने मन की निर्विकार स्थितिरूपी परमात्मा की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है और रामनामरूपी दो अक्षरों को आलस्य (कर्तव्यहीनता) में दिन काटने का साधन बना लिया गया है और उन्हीं दो अक्षरोंका ध्यान-भजन-कीर्तन आदि किया जा रहा है।

वास्तविकता यह है कि, अपने मन की शुद्ध, निर्विकार स्थिति से भिन्न रामनाम की कोई वस्तु इस संसार में नहीं है। मनुष्यने अपने स्मरण तथा विचार की सुविधा के लिये इस पवित्र मानसिक स्थिति का ही 'राम' यह संक्षिप्त नाम रख लिया है। जब मनुष्य इस रामनामवाली निर्विकार मानसिक स्थिति के हाथों में संपूर्णरूप से अपने देह को समर्पित कर देता है, तब उसके साथ मनुष्य का जो संबंध रह जाता है उसे 'सुखेच्छा' या 'कर्तापन का संबंध नहीं कह सकते, प्रत्युत उसे अकर्तापन या सुखेच्छाराहित्य का संबंध कहा जा सकता है। अपने आपको अपने मन की निर्विकार स्थिति नामवाले सत्यनारायण के हाथोंमें सौंप देने पर निष्क्रिय या सक्रिय दोनों अवस्थाओं में अपने कर्तव्यपालन का संतोष रहता है।

कर्तव्यपालन के संतोष की उपस्थिति को ही निर्विकार मानसिक स्थिति का रहना या 'राम का दर्शन होते रहना' कहा जाता है। अपने अकर्तापन के भाव के जाग्रत होने पर वह संतोष कभी तो सक्रिय रहनेसे मिलता है और कभी निष्क्रिय से मिलता है। यह निर्विकार मानसिक स्थिति काम करने या काम से बचने की दोनों अवस्थाओं में 'रामनामस्मरण' के रूप से अक्षुण्ण और अखण्ड बनी रह सकती है। यह न तो काम करने से खण्डित होती है और न इसे काम करने का कोई मोह है।

अपने देह को निर्विकार मानसिक स्थितिरूपी सत्यनारायण की सेवा में समर्पित करनेवाला मनुष्य तब ही निष्क्रिय हो सकता है, जब की सत्य की आज्ञा से कर्म ही उसे त्याग कर चला जाय। वह अपने आप कर्म का त्याग कभी नहीं करता। जो पुरुष अपने देह को निर्विकार मानसिक स्थितिरूपी सत्यनारायण की सेवा में समर्पित कर देता है, वह तबतक कर्तव्यपालन में लगा रहता है, जब तक कि 'सत्य' की आज्ञा से कर्म अपने आप उसके पास आता रहता है। वह कभी कर्म के पीछे पागल होकर उसे नहीं पकडता। वह कर्म का दास नहीं होता। वह कर्म पर निर्भर नहीं होता।

सत्यनारायण या अपनी निर्विकार मानसिक स्थिति ही सर्वावस्था में उस का अवलम्बन होती है। वह इस की आज्ञा के विना एक तिन का भी नहीं तोडता। कर्म साथ की आज्ञा से उसके पास रहे या उसे छोडकर चला जाय, दोनों स्थितियों में उस का 'सत्य' से सम्बन्ध बना रहता है। मैं कर्म करनेवाला हूँ या मैं कर्म से बचनेवाला हूँ, इस प्रकार की कर्ताहं-बुद्धि उस के पास किसी भी अवस्था में नहीं आती। जिस सेवकने अपने जीवन को सत्यनारायणरूपी निर्विकार मानसिक स्थिति के हाथों में समर्पित कर दिया है, वह सक्रिय अवस्था में भी उसी 'सत्य' का एकनिष्ठ सेवक रहता है और निष्क्रिय अवस्था में भी उसी सत्य का एकनिष्ठ सेवक रहता है। वह किसी भी अवस्था में सत्य की एकनिष्ठ सेवकाई छोडकर आलस्य का सेवक या कर्म किये बिना कर्मफलाभिलाषी नहीं बनता।

इस विचार के अनुसार जैसे 'राम' नाम लेने के लिये कर्म छोडनेवाला सुखेच्छा के प्रभाव में आकर देह का दुरुपयोग करता है, इसी प्रकार रामनाम लेने के लिये किसी स्थान या समाज को छोडनेवाला भी सुखेच्छा का दास बन कर देहका दुरुपयोग करता है। जब कोई मनुष्य 'राम' नाम लेनेका बहाना बनाकर किसी स्थान या समाज को छोडता

है, तब उसके स्थानपर दूसरे स्थानको या दूसरे मनुष्यों के संग को 'रामनाम के अनुकूल' समझने की भूल करता है। यों वह रामनाम जैसी स्वतन्त्र वस्तुको भी भौतिक अनुकूलताओंकी पराधीनता से बाँध डालता है।

संसार में ऐसे बहानोंवाली जितनी घटना होती हैं, उनमें 'राम' नाम लेने की ओरमें अपनी सुखेच्छातृप्ति की अनुकूलता को ढूंढ रहती है। जो राम मूर्तिमयी शान्ति है, जो सर्वत्र है, जो सब समाजों में है, जो सब कर्तव्यों में है, यही 'राम' यदि अपने सर्वदेशव्यापित्व को त्यागकर किसी विशेष रुचिकर स्थान में, व्यक्ति में, या कर्तव्य को त्याग देने से मिलता हो, तो निःशंक होकर अपने मनको कह दो कि वह राम सर्वव्यापी सत्य नहीं है। ऐसा राम एक क्षुद्र सुखेच्छारूपी स्वार्थ की सीमा में उलझा हुआ शैतान या अशान्ति है। इस दृष्टि से रामनाम लेने के लिये, शान्ति पाने के लिये, या शान्ति के अभाव को हटाने के लिये, कर्मत्याग करना कोरी मूर्खता है। वह अशान्ति-रूपधारी चंचल 'शैतान' की उपासना है।

हाँ मन की निर्विकार प्रभावशून्य शान्त अवस्था में अटल रहते हुये कर्तव्यनारायण की प्रेरणा से दूसरे स्थान पर जाना, कर्म बदलना, या दूसरे समाज में जाना, सत्य की ही सेवा है। किंतु अशान्त बनकर इस विशाल सृष्टि के किसी निर्जन निराले कोने में से या किसी अस्वाभाविक मनमानी परिस्थिति में से शान्ति को टटोलते रहना, शांति से दूर रहना है और अशान्ति का अपने जीवन की चिर-संगिनी बनाना है।

[३२] 'नाम--जप का स्वरूप।'

ईश्वरभक्ति की विमल धारा (१) कर्तव्यपालन (२) शुभचिन्तन (३) और नामस्मरण, इन तीन रूपों में बहती है। जब सृष्टि प्रबन्ध कर्तव्य करने की आज्ञा दे, तब कर्तव्यपालन ही ईश्वरभक्ति है। जब वह प्रबन्ध बाह्य कर्तव्य का अवसर न देकर केवल विचारने का अवसर दे, तब अपनी पूर्णता, अशान्ति तथा आनन्दरूपताको सुरक्षित रखनेवाले विचारप्रवाह को बहाते रहना और विरोधी विचारों को हटाते रहना ईश्वर-भक्ति है। जब कर्तव्य भी न हो और मन में विचारणीय बात भी न फुरती हो, तब शुभ चिंतनों के संक्षिप्त संस्करण ईश्वर के नाम का स्मरण ही ईश्वर 'भक्ति' है।

बाह्य प्रबन्ध के परिवर्तनों के अनुसार 'ईश्वरभक्ति' इन तीनरूपों में से किसी एक रूप में सदा होती रहती है। बाह्य व्यापार न होनें की अवस्था में ईश्वरस्मृति केवल नामस्मरण का रूप धारण कर लेती है। आजकल इस नामस्मरण का स्थान अर्थहीन, कर्तव्यहीन, तथा बलहीन दो अक्षरों में ले रक्खा है। आजकल का नामस्मरण विरही का रोना मात्र रह गया है। इस प्रकारका अर्थहीन नाम-स्मरण केवल 'आत्मवंचना' है। ऐसे नामस्मरण को त्यागकर मनुष्य को सब से पहले ईश्वरदर्शन कर लेना चाहिये और फिर जब ईश्वरीय रचना नामस्मरण का अव-सर दे, तब नामस्मरण करके 'धन्य' होना चाहिये। ईश्वरदर्शन के बिना नामस्मरण वृषभदोहन के समान निष्फल है। इस के लिये सब से पहले नाम के स्वरूप को भले प्रकार समझ लेना चाहिये।

अपरिचित को परिचित बनाये रखने का जो साधन है, वही 'नाम' है। नाम से अपरिचित को परिचित बनाने का काम लिया जाता है। इस दृश्यमान् जगत्प्रपञ्चने स्रष्टा की चिन्मय मूर्ति को छिपाया है। उस चिन्मय मूर्ति को पहिचान कर फिर अपने सामने के आनेवाला भावना-रूपी ज्ञाननेत्र मानवहृदय में स्वभाव से खुला रहता है, वही ज्ञाननेत्र स्रष्टा और द्रष्टा की द्वैत भ्रांति को तोडता है और आत्मपरिचय का रूप धारण करके अखण्ड स्मृति या नामस्मरण बनकर बाहर आता है। वह भक्त को प्रति-क्षण आत्मदर्शन, आत्मस्पर्श, आत्ममिलन और आत्मसम्भोग कराता है। आत्मदर्शन, स्पर्श, मिलन, तथा सम्भोग कराना ही 'नामस्मरण का काम' है। यही नामस्मरण की यथार्थताकी कसौटी है। यह नहीं हो रहा हो, तो समझना चाहिये 'नाम'-स्मरण नहीं हो रहा है। तब जानना चाहिये कि नामस्मरण के नाम पर कोई भूल की जा रही है। नाम का भाववर्णमाला के झुण्ड से कुछ अक्षरों को निकालकर रटते रहने से पूरा नहीं होता। क्योंकि भक्त और भगवान् की अर्थात् स्रष्टा और द्रष्टा की द्वैत-भ्रांति के तोड देना ही नामस्मरण का काम है।

[३३] भक्ति के नाम पर देहों के दुरुपयोग।

भक्ति के नाम से देहों के नाना प्रकार के दुरुपयोग देखने

में आते हैं ।

(१) कोई कर्मविमुख होकर, भजन की अनुकूलता ढूंढने का बहाना बनाकर, आलस्य तथा कर्तव्यभ्रष्टता के बन्धन में रहते हैं ।

(२) कोई अलौकिक चमत्कार दिखाने में समर्थ देह के स्वामी बन जाने को भक्ति मानकर देह को ठीक रखने के लिये अनुकूल समझे जानेवाले भोजन, विश्राम, प्राणायाम, शारीरिक व्यायाम के झगडों में फंसे रहते हैं । और इसी में भक्ति को कैद कर लेना चाहते हैं ।

(३) कुछ इस मनुष्यदेह को अपने कल्पित पूर्वजन्मों के पापों के परिणाम के रूप में पाया हुआ भजनविरोधी अभिशाप मानकर, न तो इसे सोने देते हैं, न इसे खाने देते हैं । वे इसे सर्दियों में सर्दी से सताते हैं और गर्मियों से जानबूझकर गर्मी में रखते हैं । इसे इस प्रकार के और भी स्वेच्छाकल्पित उपायों से कृश करके और यातनाओं में डालकर या तो इसे अनुकूल बनाने के या इसे व्यर्थ बना डालने के प्रयत्न में लगे रहकर इस ईश्वरीय देन का यथाशक्ति विद्रोह करते हैं । ऐसे लोग भक्ति के नाम पर आत्महत्या तक कर लेते हैं ।

(४) कुछ मनुष्य कुछ समय के लिये अपने देह को किसी कठोर विधान में बाँधकर ईश्वर के पास तक पहुँचनेवाली पगडंडी के समान सीधा मार्ग निकालना चाह कर, मन को सहज उपाय से सदा के लिये वश में कर लेना चाहते हैं ।

(५) कुछ मनुष्य किसी अपने किये हुये पाप के भविष्य में मिलनेवाले किसी काल्पनिक दंडभय से भयभीत होकर, अपने आप ही अपने दंडदाता बनकर, अपने कल्पित ईश्वर के दंड का अवसर टाल देते हैं । ये इस अपने ईश्वर के दंड से बचने के लिये व्रत, उपवास, प्रायश्चित, आदि करके उस अवश्य प्राप्तव्य दंड से बच जाने के मिथ्या संतोष को पाने का प्रयत्न करते हुये पाये जाते हैं ।

(६) कुछ मनुष्य अपने कल्पित स्रष्टा के कृत्रिम क्रोध का अभिनय करके, अपने ऊपर मर जाने तक के उपवास जैसी शारीरिक आपत्ति को बुलाकर, अपने स्रष्टा को धमकाने की भावना से इस ढंग की प्रार्थना करते हैं कि, या तो हमारी इच्छा पूरी करो, नहीं तो हम तुम्हारे दिये हुये इस देह का कोई उपयोग न करके तुम्हारे ही पास लौटा देंगे ।

(७) कुछ मनुष्य किसी विशेष प्रकारके भोजनको वैद्यकी दी हुई गोली के समान अपने पेट के बर्तनमें भेजकर उससे शरीर के अस्थिकंकाल को तथा रक्तमांसादि को परिशोधित करना (अर्थात् सात्विक बनाना) चाहकर उससे मन को अशुद्धता से बचा लेनेका वृथा प्रयत्न करनेवाले ' सात्विक भोजी ' ईश्वरभक्त पाये जाते हैं ।

(८) कुछ अपने मन को ईश्वरपरायण रखने का उत्तरदायित्व गुरु समझे जानेवाले किन्हीं दूसरे मनुष्यों के कन्धों पर लादकर या स्वयं गुरु बनकर दूसरों के उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेने का झूठा वादा करके, उनसे अपने शरीर की अनुचित तथा अधिकारहीन सेवा लेकर, अपने अन्तर्विहित ईश्वरीय शक्ति का दुरुपयोग करके, अपने देहधारण को संसार की व्यर्थ घटना बना डालते हैं ।

ये सब मनोवृत्तियें इस अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं कि, मैं ही इस देह का अधिकारी हूं और मैं ही अपने समझे हुये देह से होनेवाले कर्मोंका कर्ता हूँ । मैं ही इस अपने देहको अपनी इच्छा के अनुकूल उपयोग में लाने का या इसे अपने पास रखने का अथवा इसे अपने पास से बिदा करने का कर्ता या अधिकारी हूँ । ईश्वरभक्ति करनेवालों को यह जानना चाहिये कि जब उनमें इस प्रकार की कर्ताहं-बुद्धि हट जायगी, उस अवस्था को ही ' ईश्वरभक्ति ' कहा जा सकेगा । देह का दुरुपयोग करना ' ईश्वरभक्ति ' से विपरीत कर्ताहं-बुद्धि कहाती है । कर्ताहं-बुद्धि रखना परमात्मा का विद्रोह करना है । यह भजनविरोधी नास्तिक मनोवृत्ति है । परमात्मा के इस विद्रोह को अभक्ति नाम से पहिचान कर त्याग देना चाहिये । आइये भक्ति का बाना पहिननेवाले, इन सब विचारों की विशद आलोचना करें ।

वैदिक देवता ।

(लेखक- श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति)

(पिछले अंकसे समाप्त)

बारह महिनों के साथ बारह आदित्यों का सम्बन्ध दिखाया जा चुका। अब छः ऋतुओं का बारह मास के साथ सम्बन्ध दिखाते हुए देवताविषय पर भी प्रकाश डाला जाता है। 'जायते' आदि निरुक्तगत छः भाव-विकार भी ऋतुओं के क्रम को दिखाते हैं—

मास	ऋतु	भाव	ऋतु का भाव से सम्बन्ध ।
तपः तपस्यः	शिशिरः	विनश्यति	यहां गर्मी नहीं रहती, उत्तेजना बिलकुल नहीं। शक्ति सम अवस्था में अर्थात् लय-अवस्था में जा रही होती है।
मधुः माधवः	वसन्तः	जायते	शक्ति का उद्गमस्थान, क्रिया का कारणस्वरूप। प्रारम्भ। सञ्चित हुई हुई शक्ति वसन्त में विकासोन्मुख होती है।
शुक्रः शुचिः	ग्रीष्मः	अस्ति	इसमें सब प्रकार के रस बाहिर फेंके जाते हैं।
नभः नभस्यः	वर्षा	विपरिणमते	रसों का घन होकर गिरना। इस भिन्नभिन्न रूपों में परिणत होते हैं।
इषः ऊर्जः	शरद्	वर्धते	इसमें फसल के फल प्राप्त होते है। मानुष जीवन पूर्ण उन्नत होकर ढलने के उन्मुख होता है।
सहः सहस्यः	हेमन्तः	अपक्षीयते	कर्मशून्यता का काल। वस्तुओं की प्रसन्नताशून्य उदासीनता की अवस्था। जीवन वा प्राण का वर्ष यहीं समाप्त होता है।

(८)

ऋतुओं में षड्-भावविकारों की उत्पत्ति ।

वसन्तऋतु में शक्ति पूर्णरूप से विकासोन्मुख होती है। रस उद्भिजों के अन्दर बस जाते हैं। परन्तु प्रकट रूप में नहीं होते। फिर ग्रीष्म में शक्ति अधिक वृद्धि में होती है और रस प्रगट रूप में आते हैं। इसके बाद प्रतिक्रिया होने से अर्थात् शक्ति के आगेपीछे गति करते हुए चलने से, वर्षा ऋतु में उस प्रकट हुए रस से ही उसकी गति के रुकने से रस अनेक रूप में बडी मात्रा में प्रकट होते हैं। विकाससिद्धान्त के अनुसार शक्ति का ह्रास तथा द्रव्यमात्रा का संगठन होता जाता है। शरदृऋतु में वह रस अपनी पक्वावस्था को पहुंचता है।

पश्चात् हेमन्त ऋतु में प्रसुप्त सत्ता फिर अन्दर से जागृत होने लगती है, तथा द्रव्य का संगठन टूटने लगता है। शिशिर ऋतु में शक्ति बढती बढती सारे द्रव्य को अन्तर्हित करती है और उसके अन्तर्हित होते होते स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसका फल यह होता है कि, वसन्त ऋतु में पूर्ण होकर विकासोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार यह संवत्सरचक्र सदा विद्यमान रहता है। इस चक्र में वसन्त पृथिवीरूप है, ग्रीष्म तेजरूप है, वर्षा जलरूप, शरद् वायुरूप, हेमन्त आकाशरूप (विकास की अन्तिम अवस्था) और शिशिर भी आकाशरूप (विकास की आदिम अवस्था) है।

शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म इनमें शक्ति की अनुलोम गति

होती है, अतः यह उत्तरायणकाल है, तथा वर्षा, शरद्, हेमन्त इनमें शक्ति की प्रतिलोम गति होती है, अतः यह दक्षिणायनकाल है। पहिली तीन ऋतुओं में द्रव्य का विकास है और दूसरी तीन में अन्तर्लय है। प्रत्येक ऋतु में भी शक्ति अनुलोम और प्रतिलोम गति में होती है, अतः प्रत्येक ऋतु दो मास में विभक्त हैं।

पहिले को उत्तरायण कहें, तो दूसरे को दक्षिणायन। इसी प्रकार से आदित्य के बारह भेद मासरूप में होते हैं। एक मास भी दो पक्षों में बंटा हुआ है। कृष्णपक्ष में सूर्य प्रधान है तथा शुक्लपक्ष में चन्द्र प्रधान है। पहिला उत्तरायण और दूसरा दक्षिणायन है। पक्षों में भी ऋतुओं में विद्यमान पञ्चभूतों के क्रम के अनुसार तीन तीन दिन के विभाग को लेकर प्रतिपदा से अमावस्या और पूर्णमासी तक आकाश से पृथिवीतक पांचों तत्वों का क्रम उन उन दिनों में एक एक की प्रधानता से गुजर जाता है।

एक दिन रात को संवत्सरके रूपमें विभक्त करनेसे वही उपर्युक्त सम्पूर्ण विचार हो सकता है। इसी प्रकार काल के छोटे से भाग में भी ये दोनों गतियां रहती हैं। अन्त को कह सकते हैं कि, हमारे एक प्राण में उच्छ्वास उत्तरायण है, तथा निःश्वास दक्षिणायन है। दोनों मिलकर एक प्राण, एक संवत्सर है, उसी में विकास और अन्तर्लय का सारा चक्र घूम जाता है। छहों ऋतुएं, १२ मास और उनके आदित्यरूपी देव अपना चक्र पूरा कर लेते हैं।

बडे से बडा काल भी किस प्रकार सूक्ष्म रूप में अन्तर्लीन है, यह दिखाया जा चुका है। इस प्रकार यह यज्ञ विष्णु, प्रजापति वा संवत्सर प्रतिक्षण अपने चक्र में विद्यमान है। जो मनुष्य इस यज्ञ को संभाले रखता है, इस की मात्रा का लोप नहीं होने देता, वह मृत्यु को जीत लेता है। अमृतत्व को प्राप्त होता है और अनन्तजीवी होता है। जिस समय प्राण की गति विकासोन्मुख हो, उस समय प्राणों का त्याग अच्छा समझा जाता है, जिस से कि परलोक (पुनर्जन्म) उत्तम मिले। जिस वस्तु का आरंभ जितना अधिक अनुलोम-गति में होगा, वह वस्तु उसी अनुपात से अपनी पूर्ण अवस्था को भोग कर लीन होगी, परन्तु जिस का आरम्भ ही विकास की अन्तिम अवस्था में है वा प्रतिलोमगति में है, उस की मृत्यु निकट ही है। किसी की मृत्यु का कब काल है, यह जानने के लिये पूर्वोक्त आधारपर ज्योतिःशास्त्र और आयुर्वेद का अनुशीलन करना चाहिए।

वसु, रुद्र और आदित्य के विषय में इतना पर्याप्त कथन करने के पश्चात् अब केवल इन्द्र और प्रजापति के संबन्ध में कुछ कथन करना अवशिष्ट है, जिससे कि ३३ देवताओं का विषय समाप्त हो जाय। शिवमहापुराण में मनुष्य के देह को संवत्सर बताया है। '**समस्तानि हि भूतानि एतस्मिन् संवसन्तीति संवत्सरः**,' क्योंकि समस्त भूत देह में निवास करते हैं अतः देह का नाम संवत्सर है और '**संवत्सरो वै प्रजापतिः**' इस ब्राह्मण के कथनसे मनुष्य का देह प्रजापति है, यह स्पष्ट होता है। सम्पूर्ण प्रजा (विकास) को जो अपने में रखे, वह प्रजापति है। इस प्रकार देह को प्रजापति कहते हैं।

अब यह सोचना है कि इन्द्र किस का नाम है। इन्द्र जो कुछ भी कार्य करता है, बिना सोमपान किये नहीं करता। इन्द्र में शक्ति सोमपान करने से आती है। अतः पहिले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सोम किसे कहते हैं। सौर पुराण में बताया है कि, उमासहित देव का नाम सोम है, अर्थात् जीवात्मा को सोम कहते हैं और तत्संबन्धी ज्ञान सोमवंश कहाता है। वायुपुराण में आकाशसमुद्र को, जो कि तत्वों का और देवों का आधार है, सोम कहा है। वराहपुराण में बताया है कि, इस देह में परम पुरुष ही क्षेत्रज्ञरूप में सोम समझना चाहिए, जिसे जीव शब्द से कहा जाता है। वराहपुराण में उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार लिखा है—

जब नित्यज्ञानशक्ति एक आत्माने दूसरे के लिये इच्छा की, तो तेज प्रकट हुआ। इसी तेज का नाम सूर्य और आदित्य। आदित्य इसलिए कि वह सारे जगत् का आदि है, यह ही त्रिलोकी का प्रकाशक है। इसी को प्रकृति, प्रधान वा उपादान कारण कहते हैं। इस उपादान कारण में प्रतिबिम्बित (Affected) परम शक्ति ही ईश्वर है, जो रचना के लिए प्रवृत्त है। निमित्तकारण और उपादान-कारण के अनेक नाम हैं–

निमित्तकारण = पुरुष = विष्णु = शिव = ज्ञानस्वरूप इत्यादि।

उपादानकारण = अव्यक्त = उमा = श्री = पार्वती = बुद्धि = शक्ति = दुर्गा इत्यादि।

इन दोनों के सम्बन्ध से महान् = अहंकार = प्राकृत = विषयी = क्षेत्रज्ञ = सोम = देही = जीव होता है।

अब 'उमया सह यो देवः स: सोमः' यह कथन स्पष्ट हो गया। 'मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया' बनाने की इच्छासे आत्मा से प्रेरणा किया गया मन सृष्टि को करता है। अन्तःजगत् की सृष्टि मनके ही अधीन है। अतः वह ही ब्रह्मा बताया गया है। सृष्टि में जिन देवों का प्रादुर्भाव होता है, वे देव (सुर) इंद्रियां हैं। 'इन्द्रः इदं करणात् भवति'। इस जगत् को बनानेवाला इंद्र है। चूंकि सृष्टि बनाने का कार्य मनका है, अतः मनको इन्द्र समझना चाहिए।

यह इन्द्र वा मन वही है, जो देवोंका वा इंद्रियों का राजा है और उनका अधिपति वा प्रेरक है। यह मन बिना आत्मा से शक्ति प्राप्त किए कुछ नहीं कर सकता, इसको सोमपान से ही शक्ति मिलती है, अतएव इन्द्र के साथ सोमपानका विशेष सम्बन्ध सुनाई देता है और उसी मनसे प्रेरित हुई इन्द्रियां वा देव सोमपी होते हैं, अतएव इन्द्र की तृप्तिसे देवोंकी तृप्ति समझना चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण में बताया है कि सोम ही इंद्रियों में क्रियाशक्ति तथा शरीर में बल को देनेवाला है। वह ही अन्न का दाता है, अर्थात् उसी से ग्रहणशक्ति प्राप्त होती है। वह ही यश है। वही सर्व पापोंको अर्थात् बुराइयोंको दूर करता है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण से भी सोमनाम क्षेत्रज्ञ, आत्माका ही विदित होता है, जिससे सर्व देह में सर्व शक्तिका प्रसार हुआ है। मन इंद्र है, जो उस सोमरसका पान वा आत्मशक्ति का सम्पादन करके इंद्रियादि देवोंका प्रेरक होता है। इस प्रकार विचार करनेसे सोमपा, ३३ देवों का निम्नलिखित प्रकारों से विभाग होता है-

(१) ८ वसु = पञ्चमहाभूतों के पृष्ठवंश में पांच केन्द्र + सूर्य+चन्द्र+सुषुम्ना।

११ रुद्र = दश प्राण और आत्मा (अव्यक्त प्राणसमष्टि)।

१२ आदित्य = दक्ष और वाम स्वरों की गति से, षड्-भाव-विकारों के अनुसार द्वन्द्वात्मक रूप से, देह में तेजरूप से विद्यमान

वैश्वानर की उत्पन्न हुई अवस्थायें।

१ इंद्र = मन।

१ प्रजापति = देह।

(२) जहां ३४ देवताओं का कथन आया है, उसके लिये निम्नलिखित प्रकार से विभाग समझा जा सकता है।

१ पुरुष = अप्रतिबिम्बितः।

३३:
- १ बुद्धिः = तस्य सहधर्मिणी।
- १ क्षेत्रज्ञः = अहङ्कारः = पुरुषका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब।
- १ मन।
- ३० इन्द्रियां भूतोंसहित- { अनुलोमगति में १५। (५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ भूत।) प्रतिलोमगति में १५। }

(९)

सोमपा तथा असोमपा देवता।

तेतीस देवताओं का वर्णन दो प्रकार से आता है। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इंद्र, १ प्रजापति, इस प्रकार एक प्रकार से; पृथिवी में ग्यारह, अन्तरिक्ष में ग्यारह, द्यु में ग्यारह, इस प्रकार दूसरे प्रकार से। ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्चिकाके द्वितीय अध्याय के १८ वें खण्ड में कहा है कि, ३३ देव सोमपा होते हैं और ३३ ही असोमपा, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, प्रजापति और वषट्कार ये देव सोमपा हैं; तथा ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज, ये असोमपा हैं, पशुभाजन हैं।

पहिले कहा जा चुका है कि, सोम नाम जीव का है। इसलिये जो सोमपा हैं, वे जीव अर्थात् आत्मा के आश्रय हैं, ऐसा समझना चाहिए। शरीर में विद्यमान आत्मा की ही विभूति हैं, आत्मा से ही उन्हें शक्तिप्राप्ति होती है। इसी प्रकार जो पशुभाजन हैं, वे पशुके आश्रय हैं। पशु से उन्हें शक्ति प्राप्त होती है। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया है कि, पशु पांच होते हैं- पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज। प्राकृत (आधिदैविक) सृष्टि में इनकी उत्पत्ति निम्न लिखित प्रकार से है—

सूर्य का सावित्र- अग्नि पृथ्वी के गायत्र- अग्नि से अन्तरिक्ष में मिल जाता है, तो पुरुष पशु उत्पन्न होता है, जिसे वैश्वानर कहते हैं। वैश्वानर अग्नि का नाम पुरुष है।

सावित्र और गायत्र दोनों अग्नि विश्वानर हैं और उनके मेल से उत्पन्न हुआ अग्नि वैश्वानर कहाता है। श्रुति में कहा है 'अप्सु योनिरश्वः' अश्व का उत्पत्तिस्थान अप् है। सूर्य का तेज पानी में घुसकर फिर जो वापिस लौटकर आता है, वह अश्व कहलाता है। अग्नि और सोम के मिलने से गो बनता है। सौर मण्डल के बाहर विद्यमान तथा सौर मण्डल को घेरे हुए सोम पदार्थ व्यापक है। इसी सोमपदार्थ की आहुति प्रति क्षण सूर्य में पडती रहती है।

सूर्य में सोम के दहन से ज्योति उत्पन्न होती रहती है। इसी सोम के साथ व्यापक वैश्वानर अग्निबद्ध होता है, तो गो उत्पन्न होता है। पृथिवी की भूतात्मक अग्नि का वैश्वानर अग्नि के साथ मेल होने से अज पैदा होता है। पृथिवी की भूतात्मक अग्नि का अप् के साथ मेल होने से अवि उत्पन्न होता है। ये पांचों पशु द्यावापृथिव्य हैं। अवि के विषय में वेद में मन्त्र आता है—

" अविर्नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।
यस्याः रूपेण इमे हरिताः हरितस्रजः ॥

आजकल अवि को chlorophyll (क्लोरोफिल) कहते हैं।

इस प्रकार पशुओं का सामान्य स्वरूप बद्ध हुआ हुआ अग्नि है। इन्हीं पशुओं का सेवन करके ३३ असोमपा देवता तृप्त हुआ करते हैं।

ग्यारह के विभाग से तेतीस देवों का वर्णन निम्न-लिखित मन्त्र में आता है--

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ (ऋ० १।१३९।११) (यजुः ७।१९)

स्वामी दयानन्दने यजुर्वेद के भाष्य में इसी मन्त्र का अर्थ करते हुए दिवि का अर्थ विद्युति (विद्युत् के स्वरूप में), पृथिव्याम् का भूमौ (भूमिपर) और 'अप्सुक्षितः' का अर्थ 'प्राणेषु क्षियन्ति निवसन्ति ते' (प्राणों में रहने-वाले) किया है। तीनों स्थानों में क्रम से निम्नलिखित ग्यारह संख्या दी हैं-

प्राणापानोदानसमानव्यान नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय-जीवाः। पृथिव्यप्-तेजो वाय्वाकाशादित्य-चन्द्र-नक्षत्राहंकार महत्तत्व प्रकृतयः। श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना घ्राणवाक्-पाणि पाद-पायूपस्थ मनांसि।

परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन देवों का असोम-पात्व किस प्रकार है, यह नहीं दिखलाया।

(१०)

मूलदेवता।

पहिले इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना के अनुसार ऊर्ध्वगति और अधोगति का कथन किया था। ज्योतिश्चक्र दृष्टि में लाने से पता लगेगा, कि अधिदैव मण्डल में भी अध्यात्म-मण्डल के समान इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियां होती हैं। शरीर में सौषुम्न काण्ड के नीचे मूलाधारमें कुण्डलिनी शक्ति रहती है। यह मूलदेवता है। स्त्रीबीज और पुरुष-बीज का यज्ञसम्बन्ध होने के पश्चात् सब से पहिले इस मूलदेवता की उस यज्ञ में स्थापन होती है। पृथिवी के गर्भ में विद्यमान यज्ञसम्पत्ति (Laboratory) से कुण्डलिनीशक्ति प्राप्त होती है।

यह पार्थिवशक्ति सौर शक्ति से नितान्त भिन्न है। मनुष्य, सूर्य और पृथिवी दोनोंसे ईश्वरीय शक्तिको ग्रहण करता है। सूर्य और पृथिवी दोनोंकी शक्तियां प्राणिमें संबद्ध होती हैं और उसकी वृद्धि तथा उन्नतिको करती हैं। इन दोनों में से किसी एक को दूसरे से पृथक् शुद्धरूपमें नहीं प्राप्त कर सकते। एक की अधिकता हमें बडे भारी खतरे में डाल देती है- शरीरगत सत्वादि दोषों की साम्यावस्था (Equilibrium) को पटल देती है।

कुण्डलिनी शक्ति विश्वशक्ति का वह रूप है, जो ज्योति-श्चक्रगत इडा, पिंगला और सुषुम्ना के मूल में विद्यमान है और ज्योतिश्चक्र को चला रहा है। उसीका अंश हमें इस शरीरपिण्डको चलाने के लिए पृथिवी से प्राप्त होता है। हम पृथ्वीमण्डल के भाग हैं, अतः हमें विश्वका जो भी अंश प्राप्त होता है, वह पृथ्वीके द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु पृथ्वी सौर मण्डल का भाग है, अतः पृथ्वीको जो कुछ प्राप्त होता है, वह सूर्य के द्वारा प्राप्त होता है।

सूर्य भी विश्वमण्डल (ब्रह्माण्ड) का भाग है, अतः ब्रह्माण्ड को चलानेवाली ब्रह्माण्डके मूलाधार में विद्यमान

शक्ति परम्परया हमारे शरीर में प्राप्त होती है, जो हमारे शरीर की संचालिका है। महाशय लैडबीटर (Lead-beater) कहते हैं कि, कुण्डलिनीशक्ति के दो स्वरूप (Aspects) हैं- एक रचनात्मक (Constructive) ब्रह्मशक्ति = ब्रह्मशक्ति) है, दूसरा संहारात्मक De-structive= क्षयशक्ति= शिवशक्ति) है। योग के द्वारा संहारात्मक स्वरूप रचनात्मक स्वरूप में तथा इससे विपरीत भाव में बदला जा सकता है।

सर जौन वुडरफ (Sir John Woodroffe) भी कुण्डलिनी शक्ति के दो स्वरूप स्वीकार करते हैं- एक Dynamic force (रजःशक्ति), जो शरीर में कार्य करती हुई शरीर को संभालती है, दूसरा Static (तमःशक्ति), जो योग से जागृत करनेपर Evolution (विकास = रचना) को उत्पन्न करती है, अर्थात् matter (Substance = द्रव्य) को Spirit (आत्मा = चेतनाशक्ति) में बदलती है।

महाशय आशुतोषराय भी इसी प्रकार कहते हैं कि, कुण्डलिनी शक्ति वातिक बल है, जो व्यवस्थापक है, जिसका निवास सुषुम्ना में है, जो व्यानवायु के सदृश है। इस शक्ति के दो Form (स्वरूप) हैं- एक Dynamic और दूसरा Static। योग से इस शक्ति को जागृत किया जाता है। मूलाधारचक्र में इसका निवास है। यह Creative है, यह Matter को Spirit में बदलता है। इसको Fire (अग्नि) कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्तिके द्वैविध्यका नियम।

सर जौन वुडरफ कहते हैं कि, Energy या शक्ति के दो Pole (ध्रुव) होते हैं- एक Static (potential) और दूसरा Dyamic (Active)। कुण्डलिनी भी इस व्यापी नियम से बाहिर नहीं है। लैडबीटर ने भी इसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के दो Aspects बतलाये हैं- एक Benign and Dynamic और दूसरा malignant and Static. योग के द्वारा malignant aspect Benign aspect में बदल सकता है। इस प्रकार इस शक्ति के दो Aspects (form) हैं- एक Metaphysical form और दूसरा Physiological form। यह दूसरा Regulative (upholding the body and its components) है। पहिला अग्नि है और दूसरा वायु है।

(११)

ऋषि का स्वरूप तथा देवता का ऋषि के साथ सम्बन्ध।

शतपथब्राह्मण में आया है कि, प्रारम्भ में यह असत् था। वह असत् ऋषिरूप था। ऋषि शब्द का अर्थ है प्राण (Force)।

" असद्वा इदमग्र आसीत्। किं तदसदासीत्। ऋषयो वाव अग्रे असदासीत्। के ते ऋषयः। प्राणा वाव ऋषयः। "

इस प्रकार पता लगता है कि, प्राण को असत् कहते हैं। कारण यह कि लोक में प्राणसंयुक्त को सत् कहते हैं। प्राणमें प्राण नहीं रहता, वह तो स्वयंप्राण है। इस प्रकार प्राण प्राणसंयुक्त न होने से असत् कहलाता है। प्राण अनेक जात के होते हैं। प्राण घन का नाम पुरुष है। वह पुरुष दो प्रकार का है। विभिन्न जातीय प्राणों का समूह तथा विजातीय प्राण से असंस्पृष्ट एकजातीय प्राणों का घनरूप। विभिन्न जातीय प्राणों के समूह का नाम देव है, तथा एक-जातीय प्राणों के समूह का नाम ऋषि है। देव भी प्राण ही हैं और ऋषि भी प्राण ही हैं, किंतु देव ऋषि नहीं हैं और ऋषि देव नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त आकाश में चमकनेवाली ताराओं के लिये भी ऋषि का व्यवहार प्राचीन महर्षियों ने किया है। नक्षत्रविद्या को देखने से पता लगता है कि, ध्रुवतारा को, उसके समीपवर्ती सात ताराओं को तथा अन्य तारा मत्स्य, अगस्त्य, वसिष्ठ, आपः, अपांवत्स, भृगु, अङ्गिरस्, मार्कण्डेय प्रभृति में भी ऋषि शब्द का व्यवहार किया जाता है। सार में कहें तो सूर्यरश्मि में प्रतिष्ठित सब प्राण देव कहलाते हैं। चंद्ररश्मि में प्रतिष्ठित सब प्राण पितर कहलाते हैं और ऋक्ष ताराओं में प्रतिष्ठित सब प्राण ऋषि कहलाते हैं।

इन दो प्रवृत्तियों से पृथक् ऋषि शब्द की प्रवृत्ति द्रष्टा के अर्थ में है। द्रष्टा का दृश्य तीन प्रकार का होता है- १ भौतिक, २ दैविक, ३ अतीन्द्रिय। इनमें भौतिक अर्थोंके जो द्रष्टा हैं, आप्त हैं अथवा अनूचान हैं, उनको ऋषि

नहीं कहा जाता, किन्तु दैविक और अतीन्द्रिय अर्थों के देखनेवालों को ही ऋषि-कहा जाता है। जैसे विषमय द्रव्य की पहिचान में कुत्ते-बिल्ली आदि का सामर्थ्य है। विषहर औषधिविज्ञान में नकुल (नेवला) आदि का सामर्थ्य है, पुरुष के अदृष्ट के वश किसी भावी उपस्थित होनेवाले पदार्थ के ज्ञान में शिवा (गीदडी) कौआ पिङ्गलक आदि पक्षियों का सामर्थ्य है, अपने रोग को हरण करनेवाली औषधि के ज्ञान में सब जंगली पशुओं का सामर्थ्य है, भविष्यद् वृष्टि के ज्ञान में मण्डूकों का सामर्थ्य है। इस प्रकार अतीन्द्रिय अर्थों के विज्ञान को उत्पन्न करने के सामर्थ्य प्राणिसमुदाय में देखे जाते हैं। इसी प्रकार अतीन्द्रिय अर्थों के जानने का अपूर्व सामर्थ्य तपःप्रभाव से जिस मनुष्य में देखा जाता है, वह मनुष्य ऋषि कहलाता है।

इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार की ऋषि शब्द की प्रवृत्ति मन्त्र के सम्बन्ध से है। परिभाषा है कि, जिस का वाक्य है, वह ऋषि और वाक्यद्वारा कहा जाय वह देवता है-

यस्य वाक्यं स ऋषिः या वाक्येनोच्यते सा देवता।

मन्त्र चाहे वह वाक्य हो, वाक्य का अवयव हो अथवा वाक्यसमुदाय हो। कुछ भी हो, जिसने अर्थ को देखकर जिस मन्त्र का उपदेश किया, वह ही उस मन्त्र का ऋषि कहलाता है। ऋषियोंने ही इन मन्त्रों का उपदेश दिया है, अतः ऋषि ही इन मन्त्रों के ऋषि हैं, ऐसा सम्भव है। कहीं कहीं अनृषि भी मन्त्रों के ऋषिरूप से निर्देश किये जाते हैं। केवल वक्ता होने से उन में ऋषित्व गौण समझना चाहिए, क्योंकि वह ऋषित्वव्यवहार काल्पनिक है। यह इस प्रकार से कि मन्त्रों का वर्गीकरण तीन प्रकार से है-

१. जिसमें देव का स्तवन न हो, २ जिनमें संवाद हो, ३ जिसमें अपना स्तवन है। जिन सूक्तों वा मन्त्रों का भाववृत्त देवता है, अर्थात् जिस सूक्त में सृष्टिविज्ञान है, उन का अन्तर्भाव देवस्तवों में ही कर लेना चाहिए। प्रथम विभाग में मन्त्रप्रणेता ही ऋषि होता है, वह अन्य-देवता का स्तवन करता है। मध्यम विभाग में मन्त्र-प्रणेता का ऋषित्व छिप जाता है, क्योंकि संवाद में दोनों का क्रमशः ऋषित्व और देवत्व अपेक्षित होता है। उत्तम विभाग में या तो मन्त्रप्रणेता ही अपना स्तवन करता है अथवा प्रतिपाद्य देवता को उसी देवता के मुख से स्तवन कराता है।

बृहद्देवता में इस का सुविशद निरूपण है। प्रथम विभाग के उदाहरण में जैसे एक मन्त्र का वामदेव ऋषि है और सीता देवता है। कभी कभी इस प्रथम विभाग में ही ऋषि और देवता का नाम एक हो जाता है- जैसे प्रजापति अङ्गिरस् की पुत्री तथा दिव्य आङ्गिरस् की भगिनी जिस का नाम दक्षिणा है, वह ऋत्विजों को दी जा रही दक्षिणा का स्तवन करती है। इस स्थान में दक्षिणा ही ऋषिका है और दक्षिणा अन्य देवता है। मध्यम विभाग के उदाहरण में जैसे एक सूक्त का द्रष्टा अगस्त्य है और इस सूक्त में अगस्त्य का इन्द्र के साथ संवाद है, तो प्रथम ऋचा में अगस्त्य ऋषि है और इन्द्र देवता है तथा दूसरी ऋचा में इन्द्र ऋषि है और अगस्त्य देवता है।

तीसरे विभाग के उदाहरण में जैसे अम्भृण की पुत्री वाक् नाम की ऋषिका त्रैलोक्यव्यापिनी वाग्देवी को उसी के मुख से स्तवन कराती है, वहां आम्भृणी का ऋषित्व होते हुए भी नहीं रहता। वहां पर वाग्देवता का ही आठ ऋचा के सूक्त से आत्मस्तवन करने में ऋषित्व कहा जायगा और वाग्रूपेण अभेदोपचार से आम्भृणी का ऋषित्व गौणरूप से व्यावहारिक रहेगा।

ऋषि का विचार चार प्रकार से किया जाता है, यह दिखलाया जा चुका। इसके अतिरिक्त अन्य भी एक प्रकार है। 'प्रवर्तकत्वम् ऋषित्वम्' अर्थात् जो प्रवर्तक है, वह ऋषि है। प्रवर्तक ऋषि तीन प्रकार के हैं- १ सृष्टि-प्रवर्तक, २ गोत्रप्रवर्तक, ३ वेदप्रवर्तक। असद्रूप और रोचनारूप ऋषियों का अन्तर्भाव सृष्टिप्रवर्तकों में समझना चाहिए तथा द्रष्टा और प्रवक्ता ऋषियों का अन्तर्भाव वेद-प्रवर्तकों में समझना चाहिए। सृष्टिप्रवर्तक हिरण्यगर्भ के प्राणों से प्राणात्मक बारह ऋषि उत्पन्न होते हैं।

मरीचिः, अङ्गिराः, अत्रिः, भृगुः, वसिष्ठः, अगस्त्यः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः प्रचेताः, कौशिकः, नारदः। इन प्राणात्मक ऋषियों के अध्यात्म में कार्य इस प्रकार हैं। मरीचि सम्भूति का कारण है। अपत्यादि संसारधर्म में प्रवृत्ति का कारण मारीचि प्राण है। मरीचि का संयोग न

रहे तो सम्भूति का विच्छेद हो जाता है। अङ्गिरस् प्राण-स्मृति का हेतु है। अङ्गिरा प्राण जिस जिस भाव को लेकर संसक्त होता है, उसी उसी भाव का स्मरण होता है। उस भाव के आङ्गिरस् प्राण के नाश से उस भाव की स्मृति का नाश होता है। अत्रि अनसूया का कारण है।

गुणों में दोषदर्शन का नाम असूया है। गुणों में दोष-दर्शनके अभाव का नाम अनसूया है। असूयावृत्तिकी प्रवृत्ति की प्रतिबन्धक वृत्तिका नाम अनसूया है। अत्रि प्राण के कारण असूया की विरोधी अनसूया-वृत्ति प्रकट होती है। भृगु से ख्याति श्रीविशेष उत्पन्न होती है। वसिष्ठ के कारण ऊर्जा बलविशेष उत्पन्न होता है। क्रतु (यज्ञ) के कारण सन्नति (प्रवणता = लागणी) उत्पन्न होती है। किसी व्यक्ति की ओर अथवा किसी विषय की ओर मन के झुकाव का नाम सन्नति है।

पुलस्त्य प्राणप्रीति को उत्पन्न करता है। कहीं अनुराग-विशेष का नाम प्रीति है। पुलह के द्वारा मनुष्य में क्षमा का भाव उत्पन्न होता है। प्रचेता का अर्थ है दक्ष। दक्ष के कारण दक्षता उत्पन्न होती है। दक्षता उत्साहविशेष है; इसके कारण वाग् बुद्धि. शरीर में प्रवृत्ति होती है। नारद वह प्राण है, जिस के कारण मनुष्य की श्रद्धा पूर्वविषय से हटकर उसके विरोधी विषय में होती है। इसके कारण मनुष्य में कलह को उत्पन्न करनेवाली विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार इन प्राणों के अधिदैवत और अधि-भूत में भाव प्रकट होते हैं, जो भिन्न भिन्न शास्त्रों में वर्णित हैं।

इस प्रकार से मालूम पडता है कि, ऋषि और देवता सब प्राणमय हैं। जैसे प्राण ऋषि और प्राणदेवता हैं, वैसे मनुष्यऋषि और मनुष्य देवता भी हैं। दोनों के गुण-धर्मों में सादृश्य देखने से कल्पना होती है कि जिस जिस मनुष्य ऋषि ने जिस जिस प्राणऋषि का दर्शन किया, अर्थात् उसका आविष्कार किया, उस उस प्राण ऋषि के नाम से ही उस उस आविष्कर्ता मनुष्य ऋषि का नाम पड गया। और जिस प्राणदेवता का जिस मनुष्यव्यक्ति में विशेष प्रकाश हुआ, उस मनुष्यव्यक्ति का नाम उस प्राणदेवता के नाम से पड गया। इस प्रकार से प्राण-ऋषिदेवता और ऐतिहासिक ऋषिदेवता में घनिष्ठ संबन्ध हो गया है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि, ऐतिहासिक ऋषिदेवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध से प्राण-ऋषिदेवताओं के विज्ञान पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। इस कल्पना के अनुसार विचार करते हुए, जिस समय वेदमन्त्र पर लिखा हुआ ऋषि और देवता सामने आता है, उस समय एकदम ऐतिहासिक मनुष्य-ऋषिदेवता को ग्रहण करने के लिये मन प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु प्राण-ऋषिदेवताको ग्रहण करने के लिये मन प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति और भी अधिक दृढ हो जाती है, जब कि हम वेदमन्त्रों व सूक्तों पर लिखे हुए ऋषि और देवता ऐसे नाम पाते हैं, जो किसी व्यक्ति के नाम नहीं तथा निघण्टु आदि ग्रंथों में जो परिगणना की गई है, उससे पृथक् हैं।

इसके अतिरिक्त यह कल्पना केवल कल्पना नहीं रहती, किन्तु सिद्धान्त जैसा बन जाता है, जब हम यह नियम पाते हैं कि, वेद मन्त्रों का अर्थज्ञान करने के लिये ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि इनके ज्ञान होने का इतना ही तात्पर्य हो कि मन्त्रपर लिखे हुए ऋषि, देवता, छन्द और स्वरके नामों को पढकर जान लिया जाय कि अमुक मन्त्रका अमुक ऋषि है, अमुक देवता है, अमुक छन्द है और अमुक स्वर है, तो इतना जान लेनेमात्र से वेदमन्त्र का अर्थ नहीं हो जायगा, जब तक यह न मालूम हो कि वेदमन्त्र के अर्थ के साथ इनका क्या सम्बन्ध है।

देवता का अर्थ पूर्वनिर्दिष्ट के अनुसार मन्त्र का प्रति-पाद्य विषय समझना चाहिए, अर्थात् मन्त्र का अर्थ प्रति-पाद्य विषय को छोडकर नहीं होना चाहिए। मन्त्र का अर्थ जैसे प्रतिपाद्य विषय को प्रतिपादन करता है वैसे प्रति-पाद्य विषय मन्त्र की अर्थ-प्रतिपादन शैली को मर्यादित करता है। सूक्तगत मन्त्रों की आनुपूर्वी में रहते हुए किसी मन्त्र का अर्थ अन्य मन्त्रों के अर्थों से असंबद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रतिपाद्य विषय (देवता) को लेकर संबद्ध ही अर्थ किया जा सकता है। सूक्त से बाहर मन्त्र के स्वतन्त्र अर्थ तो अनेक हो सकते हैं, क्योंकि तब अर्थ की नियतता के लिये प्रतिपाद्य विषय की नियतता नहीं रहती। मन्त्रों का संबद्ध अर्थ करनेवाले की दृष्टि में

प्राणलक्षणदेवता का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए ।

यदि प्राणलक्षण- देवताका का स्वरूप अर्थकर्ता को स्पष्ट नहीं है, तो अर्थकर्ता वेद के मर्म तक नहीं पहुंच सकता, वह मन्त्रों में परस्पर असंबद्ध किञ्चित् ऐतिहासिक भाव को खेंचने की ओर ही प्रवृत्त हो सकेगा । मन्त्रार्थ के साथ छन्द और स्वर के सम्बन्ध के विषय में इस स्थान पर कुछ विशेष कथनीय न होने के कारण इन दोनों को छोड दिया जाता है । ऋषि के साथ मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य है । मूल में सब ऋषि प्राणात्मक हैं । प्राणात्मक ऋषियों के रूपान्तरों में पुत्रपौत्रादि क्रमानुसार प्राणों के अनेक नाम होते चले जाते हैं ।

उनके आविष्कारक मनुष्यों के नाम भी उन्हीं प्राणलक्षण ऋषियों के नाम पर पडे हों, इसमें आश्चर्य नहीं । जिस मनुष्यने जिस दृष्टि से किसी प्राणदेवता को देखा, उस प्राणदेवतावाले मन्त्र वा सूक्त का वह ऋषि कहलाया । मनुष्य-ऋषिने जिस दृष्टि से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को देखा है, वह दृष्टि उस की प्राणलक्षणा-दृष्टि है । वह दृष्टि ऋषि के नाम से अभिव्यक्त होती है । उसी दृष्टि से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय (देवता) को देखते हुए हमें मन्त्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

ऋषि की दृष्टि वह भावना है, जिस से ओतप्रोत हुआ मनुष्य का हृदय परमेश्वर के वेदकाव्य के द्वारा विज्ञान से भरी हुई कविता के विषय का रसास्वादन लिया करता है । इस प्रकार मन्त्रार्थ करने में ऋषि, देवता, छन्द और स्वर सब की उपयोगिता है । इसी प्रकार ऋषि का स्वरूप और देवता का ऋषि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट होता है ।

(११)

देवता की नियतार्थता और अनियतार्थता ।

देवता के पूर्वोक्त प्राणमयत्व कथन करने के पश्चात् यह निश्चित है कि, एक एक देवता शब्द प्राण के एक एक स्वरूप का बोध करता है । प्राणमय स्वरूप में थोडा भी परिवर्तन हो जाने से देवता का स्वरूप बदल जाता है, उस परिवर्तित स्वरूप का नाम भी अन्य हो जाता है । अल्प परिवर्तन में देवताओं के गुणधर्म परस्पर मिला करते हैं । अत्यधिक परिवर्तन हो जाने के कारण देवताओं का स्वरूप नितान्त भिन्न प्रतीत हुआ करता है । नियतरूप से देवता के अपने अपने स्वरूप का बोध कराने से देवतावाची नाम नियतार्थबोधक हैं । नियतार्थबोधक होते हुए भी व्यवहार में सम्बन्ध भेद के कारण अनेकार्थवाची समझे जाते हैं ।

व्यवहार में जिन विभिन्न अर्थोंको देवता कहता है, उन को कथन करनेमें उन उन अर्थों में देवता की मुख्यार्थता की विद्यमानता ही प्रेरक होती है । जैसे अग्नि के विषय में कहा है, ' अग्निर्वै देवानामवमः ' अर्थात् अग्नि सब देवों में प्रथम है- शुरूमें है । इसी के अनुसार अग्नि की व्युत्पत्ति की है कि, ' अग्निः अग्रणी भवति, ' अग्नि अग्रणी होता है । इस सामान्य परिभाषा के अनुसार जहां जहां लोक में अग्रणीत्व देखते जाते हैं, वहां वहां अग्नि शब्दका व्यवहार करते हैं । सेनामें सेनापति अग्रणी है, अतः अग्नि है । प्रजा का राजा अग्रणी है, अतः अग्नि है ।

चारों वर्णोंमें ब्राह्मण अग्रणी है, अतः अग्नि है । आचार्य शिष्यका अग्रणी है, अतः अग्नि है । ईश्वर जीवों का अग्रणी है, अतः अग्नि है । राजा, सेनापति, ब्राह्मण, आचार्य, ईश्वर ये सब अग्नि के अर्थ हैं, तो भी अग्नि नियतार्थबोधक है । ऐश्वर्यवान् होनेसे कोई ईश्वर होता है । सृष्टि का जो मालिक है, वह ईश्वर है । प्रजा का जो मालिक है, वह ईश्वर है । धनका जो मालिक है वह धनपति ईश्वर है । जिसके हाथ में किसी की monopoly है, वह उस का ईश्वर है । इस प्रकार ईश्वरशब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी ईश्वर शब्द नियतार्थबोधक है । इसी प्रकार अन्य देवतावाचक शब्दों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए ।

वेद की अर्थप्रतिपादनशैली में विशेषता है । अश्विनौ शब्द को नित्य द्विवचनान्त प्रयोग किया जाता है । नित्य द्विवचनता इस बात का सूचक है कि, अश्विन् शब्द किन्हीं ऐसे दो पदार्थों का बोधक है, नित्य सम्बद्ध रहते हैं । इसलिये नित्य सम्बद्ध दो पदार्थों को कथन करने से अश्विन् शब्द को नित्य द्विवचनान्त प्रयोग किया जाता है । धनविद्युत् (Positive Electricity) तथा ऋणविद्युत् (Negative Electricity) दोनों अश्विनौ कहलाते हैं । दोनों ध्रुवों (poles) पर दक्षिण में और उत्तर में ये दोनों पृथक् पृथक् रहते हैं ।

ज्योति के द्वारा और रस (जल) के द्वारा ये लोकों में और पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाते हैं । सुरक्षितपात्र में

विद्युत् को संग्रह कर लूँ, तो उस पात्र के पास हाथ ले जाने से वैश्वानर अग्नि के द्वारा वह विद्युत् उस पदार्थ से निकलकर व्याप्त हो जाती है। वायु में विद्यमान जलबाष्प भी विद्युत् को संग्रह होने में बाधक होता है, जलबाष्प उसे फैला देता है। आधिदैविक जगत् में विद्युत् के सूर्य-चन्द्र दो ध्रुव हैं। आध्यात्मिक जगत् में भी विद्युत् के सूर्य-चन्द्र दो ध्रुव हैं, जिन के अनुसार प्राण अपानरूप श्वासप्रश्वास शरीर में चल रहे हैं।

विद्युत् की इन्हीं दो अवस्थाओं का परिणाम अहोरात्र है। द्यावापृथिवी भी अश्विनौ के दो ध्रुव हैं। मुख्य वृत्ति से अश्विनौ शब्द दो प्रकार की विद्युतों को कहता है। इन दो विद्युतोंने सब पदार्थमात्रको व्याप्त कर रक्खा है, (अश्नुवाते सर्वम्,) तथा ये दोनों अश्व के समान गतिशील बलवान् और वहन करते हैं, इसलिये अश्विनौ हैं। अश्विनौ शब्द के सूर्य- चन्द्र, प्राण- अपान, द्यावापृथिवी आदि अनेक अर्थ होते हुए भी इस शब्द की नियतार्थता है। बृहद्देवता ७, १२६-१२७ में कहा है-

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रे च तावेव स्यातां तावेव रोदसी॥
अश्नुवाते हि तौ लोकाञ्ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च॥

इस प्रकार देवताओं की नियतार्थता ही है, परन्तु व्यवहार में सम्बन्धभेद के कारण उनके अनेक अर्थ कहे जाते हैं।

(१३)
देवता जड हैं वा चेतन।

बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २, ब्रा० १, २० में बतलाया है कि, जैसे अग्नि से छोटे छोटे स्फुलिङ्ग निकलते हैं, वैसे ही आत्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं. जैसे-

यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-मेवास्मादात्मनः। सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति॥

श्वेताश्वर उपनिषद् अ० ३, ५ में विश्वके स्वामी रुद्र महर्षि को देवों का प्रभव और उद्भव बतलाया है। इसीने पहिले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया है।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २, ब्रा० ५ में बताया है कि, आत्मा सब भूतों का अधिपति है, सब भूतों का राजा है, जैसे रथनाभि में और रथचक्रमें सब अरे लगे होते हैं, वैसे ही इस आत्मा में सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण और सब आत्मा लगे हुए हैं।

"स वा एष आत्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पिताः।

अथर्ववेद काण्ड १३,४, १२-१३ मन्त्रों में आत्मा को एक बताया है। इस आत्मा में ये देव एकरूप होकर रहते हैं।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥१२॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥१३॥

ऐतरेयारण्यक अ० ३, ख० ८ में कहा है, जिसमें सत्यका सत्य युक्त है, उसी में सब देव एक होते हैं।

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि-यत्संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते देवास्तत्र सर्व एकीभवन्ति॥

बृहद्देवता अ० १, श्लो० ६१ में भूत, भविष्य, वर्तमान, जङ्गम, स्थावर इस सब का सूर्यको ही प्रभव प्रलय बतलाया है। ६३ श्लोक में कहा है कि, सब देवता इस की रश्मियों में रहते हैं, वह सब भूतों में और लोकों में तीन प्रकार से अग्निरूप में विद्यमान है। ६९ श्लोक में कहा है कि, पृथ्वीलोक में उसी का अग्निरूप है। इन्द्र और वायुरूप से अन्तरिक्षलोक में है, द्युलोक में वह सूर्यरूपसे है। ७० में कहा है इन देवताओं के, माहात्म्यके कारण, भिन्न भिन्न नाम हैं। ७१ में कहा है कि उन्हीं तीनों की विभूति को इन्हीं देवताओंके अनेक नामोंसे कहा जाता है। कवि लोग मन्त्रों में उन्हीं की परस्पर उत्पत्ति को बतलाते हैं।

भवद्भूतं भविष्यच्च जङ्गमं स्थावरं च यत्।
अस्यैकं सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥ ६१॥

कृत्स्नैव हि त्रिधाऽऽत्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥६३॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यमो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः॥६९॥
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥७०॥
तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्य योनिताम्॥७१॥

निरुक्त में अ० ७ ख० ४,८ में लिखा है कि, आत्मा बडी भारी ऐश्वर्यशाली देवता है, उसी की बहुत प्रकार से स्तुति की जाती है। एक आत्मा के अन्य देव प्रत्यङ्ग होते हैं। देव का सब कुछ आत्मा ही है।

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
(निरुक्त अ० ७, ख० ४,८)

आत्मैवैषां रथो भवति, आत्मा अश्वः आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य।
(निरुक्त अ० ७,४, १५)

निरुक्त के टीकाकार पं० दुर्गाचार्यजी कहते हैं कि, अग्नि, इन्द्र, सूर्य तीनों में एक दूसरे की अपेक्षा से भिन्नता है। बडी आत्मदेवता के साथ सब की अनन्यता है, जैसे घट आदि पदार्थों की मट्टी के साथ अनन्यता है। अङ्ग अङ्गि से अतिरिक्त नहीं होते, क्योंकि भेदरूपसे ग्रहण नहीं होता। अग्नि, इन्द्र, सूर्यरूप आत्मदेव के जातवेदा वायुभगप्रभृति अङ्ग हैं। वह आत्मा एक भी अग्नि, इन्द्र, सूर्यादि अङ्ग-प्रत्यङ्गभाव से बहुतरूप में स्तुति किया जाता है।

"अग्नीन्द्रसूर्याणां परस्परापेक्षमन्यत्वम्, अनन्यत्वन्तु एकेन देवतात्मना महता सह, यथा घटादीनां मृदा। नह्यङ्गिनमङ्गान्यतिरिच्यन्ते भेदेनाग्रहणात्, तस्मादग्नीन्द्र-सूर्यात्मकस्य देवतात्मनोऽङ्गानि जातवेदो वायुभगप्रभृतीनि। स एव महात्मा अग्नीन्द्रसूर्याद्यङ्गप्रत्यङ्गभावेन व्यूहमनुभवन्, एकोऽपि तद्बहुधा स्तूयते॥
(निरुक्तव्याख्या ७,४,९।)

सायणाचार्य ऋग्भाष्य के उपोद्घात में लिखते हैं कि, यद्यपि भिन्न भिन्न स्थानों में इन्द्रादि को ही बुलाया जाता है, तथापि चूंकि परमेश्वर ही इन्द्रादि रूप में है, इस कारण 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत' इत्यादि मन्त्र में 'यज्ञ' और 'सर्वहुतं' शब्द से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत इत्यादि। यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात् परमेश्वरात्। सर्वहुतः सर्वैः हूयमानात्। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। तथा च मन्त्रवर्णः—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—

तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा इति। तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि, आत्मा या परमेश्वर को ही सब देवों के रूपों में स्वीकार किया गया है। यदि आत्मा या परमेश्वर चेतन है, तो सब देवता भी चेतन हैं और यदि आत्मा या परमेश्वर अचेतन है, तो सब देवता भी अचेतन हैं। पूर्वप्रदर्शित के अनुसार सिद्ध है कि, सम्पूर्ण जड चेतन सृष्टि प्राणसंघातात्मक है। इसलिये संघातात्मक-प्राणविज्ञान ही देवविज्ञान है, तथा जड चेतनमय संघातात्मक देवों में एकत्वज्ञान ही आत्मविज्ञान या परमात्मविज्ञान है। इस प्रकार स्वीकार करने से देवों के जडचेतनवाद के व्यवहार में कोई विरोध नहीं पडता है।

सब देवों के स्वरूपोत्पत्ति के विकासमें अहङ्कार तो जड-चेतन उभयात्मक जगत् में प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। इस प्रकार व्यवहार में विभिन्न पदार्थों के रूप से अहङ्कार ही सर्व देवताओं के रूप में भासित हो रहा है। अहङ्कार का कलेवर टूट जाय, तो सर्व देवता आत्ममयी हैं। इसलिये वेदादि शास्त्रों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड में अथवा ज्ञानकर्मभक्ति में जितना भी जडचेतन को लेकर व्यवहार है- जड को चेतनवत् और चेतन को जडवत् वह सब उपपन्न होता है, इसमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है।

(१४)

वेद में अग्न्यादि नामों से जडचेतन पदार्थों के ग्रहण करने में विवेक करनेका नियम।

वेद में मन्त्रों में स्थान स्थान पर अनेक नाम आते हैं। कहीं उन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, कहीं जीव का और कहीं संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। स्वामी दयानन्दजी ने इसकी बडी अच्छी कसौटी लिखी है। 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम समुल्लास में स्वामिजी लिखते हैं—

"ओम् यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि, जहां जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, और जहां जहां ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥
तेन देवा अयजन्त, पश्चाद् भूमिमथोपुरः॥
(यजुः अ० ३१)

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः. अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।'

यह तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली प्रथमानुवाक् का वचन है, ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां जहां उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड, दृश्य आदि विशेषण लिखे हों, वहां वहां परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपर्युक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं।

इसी से यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहां जहां सर्वज्ञ आदि विशेषण हों, वहां वहां परमात्मा और जहां जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञ आदि विशेषण हों, वहां वहां जीव का ग्रहण होता है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्ममरण कभी नहीं होता। इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।" इस कसौटी से अग्न्यादि नामों से कहां परमेश्वर का ग्रहण है और कहां भौतिक पदार्थ का ऐसा निर्णय करके देवताविषयक व्यावहारिक अच्छा बोध हो सकता है।

(१५)

उपसंहार।

अब अन्त में केवल इतना ही कहना है कि, जितने देवता हैं, वे सब आत्मा की शक्ति के भिन्न भिन्न स्थानमें कार्य करने से भिन्न भिन्न नाम हैं। सब का स्वरूप आत्मा ही है। आत्मा से ही सब का विकास और आत्मा में ही सब का लय है। आत्मा एक ही देवता है और अन्य सब उसी की विभूति हैं। देवताओं का आत्मरूप से एकत्व और विभूतिरूप से नानात्व दिखाने के लिये ही यह सब प्रयत्न किया है। यदि देवता-नानात्व में उनके व्यक्तिगत स्वरूप को जानना हो, तो प्रकृति के सम्बन्ध में आत्मा का विकास कैसे है, यह ठीक प्रकारसे समझना चाहिए, इसके बिना जाने देवताओं का स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता।

वेदवेदाङ्गादि शास्त्रों में सर्वत्र नाना प्रकार से आत्मामें ही विकास और लय को बतलाया है, जिससे कि देवताओं का ज्ञान उनके कर्म और स्वभावके अनुकूल प्राप्त करके यज्ञ (इष्ट कार्य) सम्पादन करते हुए आत्मतत्त्व का निरीक्षण कर सकें और सर्वबन्धनों के परित्याग से मुक्ति वा स्वातंत्र्य को प्राप्त हों। वेद में एक ही देवता का नाम भिन्न भिन्न स्थानमें भिन्न भिन्न देवताके स्वरूपको बतलाता है, और अनेक देवताओं के नाम भिन्न भिन्न स्थानों में एकार्थवाची हैं।

आत्मा की विकसित अवस्थाओं के वैदिक नाम जो देवतावाचक नाम हैं, वे सम्भवतः कभी फिर दिखाये जावेंगे, अर्थात् देवताओं का व्यक्तिगत स्वरूपनिरूपण फिर कभी होगा। यहां केवल इतना ही दिखाना था कि, देवताओं का स्वरूप वही है, जो आत्मा का है। यह निरूपण भी प्रायः आध्यात्मिक दृष्टिसे हुआ है, जिस से आधिदैविक और आधिभौतिक निरूपण पर भी प्रकाश पडता

है। वह आत्मा ही वैदिक देवता है। आत्मा का स्वरूप आत्मा शब्दसे ही प्रकट है। आत्मा शब्द "अत सातत्यगमने अप्लृव्याप्तौ, आङ्पूर्वक दादाने, अद्भक्षणे" इन धातुओंसे बनता है। इस प्रकार आत्मा शब्द के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—

आत्मा हर समय गतिरूप है। आत्मा प्रत्येक रूप को प्राप्त होता है। आत्मा सब को अपने अन्दर लय कर लेता है। इस प्रकार स्थिति, उत्पत्ति और संहार त्रिविधरूप आत्मा है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। इसी को वेद में सत्य ज्ञान और अनन्त वा उपनिषद् में ज्ञान, बल और क्रिया आदि रूपसे कहा है। इस प्रकार आत्मा ही देवताओं का स्वरूप है। वह ही देवता शब्द वाच्य वृत्तिरूप में अन्तःकरण में विकसित होता है। इस प्रकार आत्मा तथा देवतारूप में उस का विकास मनुष्य को अपने अन्दर खोजना चाहिए, बाहिर नहीं। बाहर स्थूल जगत् में खोज बिना अन्दर की खोज की सहायता के उतनी गहराईतक नहीं पहुंच सकती, जितनी अन्तर्जगत् की खोज गहराईतक पहुंच सकती है।

दोनों में एक दूसरे की सहायता तो अवश्य रहती है। वस्तुतः मनुष्य के अन्दर ही सब देवता हैं, यह वेदादि सत्य शास्त्रों का कथन है। इसी प्रकार अन्वेषण करने से वैदिक देवता के सच्चे स्वरूप का प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। आत्मा के जानने से ही सब कुछ जाना जाता है, इसलिये अपने को जान। आत्मा के ज्ञान के लिये किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप, प्रकाश-स्वरूप है। वह अपने आप को आप जानता है, किसी से जाना नहीं जाता। जब जब वह अपने आप को प्रकट करता है, तभी तभी वैदिक देवताका स्वरूप भासता है। वह वैदिक आत्मज्योतिः सदा हमारे में प्रकाशमान रहे और हम सदा वैदिक देवता का स्वरूप अवलोकन करते रहें।

हमारे वेदोंके विषय में कुछ संमतियाँ।

(१) काण्वसंहिता (शुक्ल यजुर्वेद)।

"'**काण्वसंहिता**' की सुंदर पुस्तक प्राप्त हुई। इतने उत्तम रूप में इस संहिता को प्रस्तुत करके स्वाध्याय-मण्डल ने एक श्लाघनीय आदर्श कार्य किया है। रमणीय आकार और छापे में वैदिक मन्त्रों का अध्ययन नेत्रों को अत्यन्त प्रिय लगता है। अन्त की तुलनात्मक मंत्रसूची जिस से माध्यंदिन और काण्व दोनों का संबंध ज्ञात होता है, पहिले नहीं देखने में आई।

यदि **कृष्ण-यजुर्वेद** की संहिता, जो इस समय सैंकडों रुपयों से भी अप्राप्य है, इसी रूप में जनता को सुलभ हो सके, तो भारतवर्ष में वैदिक साहित्य के प्रचार का एक अनुपम कार्य होगा। आप अपनी इस तत्परता और उद्योग के लिये कृपया मेरी बधाई स्वीकार कीजिये।"

लखनऊ — वासुदेव शरण अग्रवाल
२०।२।४१ — (क्यूरेटर, म्युजीयम)

(२) सामवेद।

"आपके **सामवेद** का मुद्रण वास्तव में अद्वितीय हुआ है। यूरोपीय संस्करणों को भी मात कर गया है। आशा है ऋग्वेद को भी अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करेंगे। ऋग्वेद तैयार होते ही कृपया सूचित करें।"

काशी — कुन्दनलालशर्मा (बी. ए.)
२४।३।४१ — नवापुरा, काशी

(३) ऋग्वेद।

"आपका भेजा ऋग्वेद मिला। बहुत उपकार, अनेक धन्यवाद। संस्करण हिंद के प्रकाशन को गौरव प्रदान करता है। आपने बहुत परिश्रम किया, वह सफल है।"

पांदीचेरी — अम्बालाल पुराणी
२५।३।४१ — श्री अरविंदाश्रम

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ (ऋ० १।२।८॥)

इस ऋचा में एक पाद में वाक्यार्थ पूर्ण नहीं है।

१९. सम्बोधनाद्युदात्तत्वमिह प्राप्तं न दृश्यते।
ऋतावृधपदे तस्माद्विरामः प्रतीयते ॥

'ऋतावृधौ' पदमें सम्बोधन आद्युदात्तत्व प्राप्त है, तो भी यहां आद्युदात्त पद नहीं दिखा देता। इससे प्रतीत होता है कि मित्रावरुणौ पदपर विराम नहीं है।

[सम्बोधन सर्वानुदात्त (निघात) केवल अपादादिमें होता है। (पा० अ० ८।२...)

२०. इदमत्रावगन्तव्यमवसानविवर्जितः।
यावन्ति शक्नुयाद् वक्तुमप्राणन्नेव मानवः॥
तावद्भिरक्षरैरर्थः प्रायेण प्रतिपाद्यते।
गायत्र्यादि जगत्यन्तमप्राणन्नेव भाषते ॥

यहां यह बात और जाननी चाहिये कि विना अवसानके मनुष्य विना पुनः प्राण लिये, जितने अक्षर (एक श्वासमें) बोल सके, उतने अक्षरोंसेही प्रायः वाक्यार्थ कहा जाता है। गायत्रीसे जगतीतक सब छन्द प्रायः विना प्राण लियेही बोलते हैं।

२१. अथातिजगत्यादिमुच्चारयति मानवः।
अवसानपरोऽप्राणन् सप्तकं चतुरुत्तरम् ॥

ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्य विना प्राण लिये एक श्वासमेंही ४ अक्षरोंकी वृद्धिसे बननेवाले अति जगती आदि सात छन्दों को भी अवसानका विचार रखते हुए बोल सके। परन्तु।

२२. महता प्रणिधानेन यत्नेन महतापि च।
उत्तमं सप्तकं प्राहुरुत्कृत्यन्तमिति स्थितिः ॥

परन्तु यह निश्चित बात है कि बहुत एकाग्रता, और प्राणनिरोध, और बडे यत्नसे उत्तम सप्तक (कृति आदि) छन्दों का भी उच्चारण विना श्वास लिये कर सके।

२३. लौकिकार्थस्वभावेन सप्तकानां यथाक्रमम्।
वेदे भूयान् प्रयोगोऽभूद् अल्पोऽथाल्पतरोऽपि च॥

तीनों सप्तकोंका यथाक्रम लौकिक अर्थवशही वेदमें क्रमसे अधिक, अल्प और अल्पतर प्रयोग हुआ है। अर्थात् गायत्रीसे जगती तक ७ छन्दोंका प्रयोग अधिक है। अति जगतीसे अतिधृति तकका प्रयोग अल्प है, और कृतिसे उत्कृति तक ७ छन्दों का प्रयोग उससे भी अल्पतर है।

२४. इति च्छन्दःसु वक्तव्यमध्यायादिषु दर्शितम्।
अस्माभिरष्टके षष्ठे जानन्नेतद् विमुच्यते ॥

इस प्रकार छन्दोंके विषयमें जो प्रवचन करना आवश्यक था, वह हमने षष्ठ अष्टक के अध्यायोंके आदिमें कर दिया है। इसको जानकर ज्ञानी संशयसे मुक्त हो जाता है।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इति छन्दोऽनुक्रमणी समाप्ता ॥

ऋग्वेदानुक्रमणी ।

अथ देवतानुक्रमणी।

प्रथमोऽध्यायः ।

वेदके देवता ।

सप्तमोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते ।
यत्किञ्चिदिह वक्तव्यं देवतास्वस्ति बह्वृचैः ॥

अब सप्तमाष्टक प्रारम्भ है। उसमें अध्यायों के आदिमें ऋग्वेदीय विद्वानों को जो देवताओंके सम्बन्ध में कथन करना आवश्यक है, उसका प्रवचन करेंगे ।

१. तपोविशेषयुक्तानां युगेष्वन्येषु देवताः ।
आसन्नृषीणां प्रत्यक्षाः प्रभावैर्विविधैर्युताः ॥

अन्य युगोंमें नाना प्रकारके प्रभावों–सामर्थ्योंसे युक्त देवताएं विशेष तपवाले ऋषियोंको प्रत्यक्ष थीं ।

२. आगोपालं विप्रथितां प्रसिद्धिमिह लौकिकीम् ।
देवतास्तित्वविषयां तन्मूलां कवयो विदुः ॥

देवताओं की सत्ताके सम्बन्धमें लौकिक प्रसिद्धि गवालें, मूर्ख देहाती जनोंतक फैली है, विद्वानोंका कहना है कि उसका मूल भी पूर्वोक्त बातही है ।

३. मन्त्रार्थवादैर्ननु च देवताः सम्प्रदर्शिताः ।
सेयं प्रसिद्धिस्तन्मूला ते च न स्वार्थतत्पराः ॥

(पूर्वपक्ष)– मन्त्रों और अर्थवादोंमें देवताओंको बतला-याही गया है, इसलिये वह लौकिक प्रसिद्धि भी मन्त्र और अर्थवादों के आधारपरही है । और मन्त्र और अर्थवादोंका अपना अभिप्राय और कुछ नहीं है ?

४. अत्र ब्रूमोऽविगीतेयमतर्कज्ञेषु दृश्यते ।
ततः प्रत्यक्षमूलेयं यद्वा मन्त्राश्च तत्पराः ॥

(समाधान)– इस सम्बन्धमें हमारा कहना है कि– जो विशेष तर्क नहीं जानते उनमें भी यह प्रसिद्धि बडे आदरसे मानी जाती है, इसलिये यह प्रसिद्धि यह प्रत्यक्ष-मूलक है । अथवा वेदों के मन्त्रही देवताका प्रतिपादन करते हैं ।

५. यथाशब्दमिह प्रीताश्चेतनाः केचिदीश्वराः ।
ददत्यभिमतानर्थान् इति वक्तुं च युज्यते ॥

और ऐसा भी कहना ठीक प्रतीत होता है कि शब्द के उच्चारण के साथ प्रसन्न हुए चेतन देवगण प्रसन्न होकर मनुष्य के अभिमत अर्थ और पदार्थ प्रदान करते हैं ।

६. किंच वैदिकवाक्यानि सदृशानीह लौकिकैः ।
तेषु स्तुतिश्च सत्यं च स्वरूपादवगम्यते ॥

और वैदिक वाक्य भी लौकिक वाक्योंके समान ही हैं। उन में स्तुति और सत्य, यथार्थ तत्व भी स्वरूपतः प्रतीत होता है ।

७. कान्यकुब्जे देवदत्तमुदारं दृष्टवान् अहम् ।
धनं याचस्व तं पुत्र वचः सत्यमिदं मतम् ॥

८. प्रयच्छति स सर्वेभ्यः प्रतीक्ष्यास्ते च भिक्षुकान् ।
न च क्रुध्यति कस्मैचिद् इति श्रद्धापनं भवेत् ॥

९. एव मन्त्रार्थवादेषु सन्ति सत्यानि कानिचित् ।
भाक्तानि कानिचित्सन्ति तानि जानन्ति पण्डिताः॥

कान्यकुब्ज देशमें मैंने देवदत्त नाम उदार पुरुषके दर्शन किये हैं, हे पुत्र ! तू उससे धनकी याचना कर,' यह वचन सत्य माना गया है । 'वह सभीको धन प्रदान करता है, वह याचकों की प्रतीक्षा ही करता रहता है, वह किसीपर कोप भी नहीं करता,' इस प्रकार के वाक्य श्रद्धा जमाने-वाला होता है। इस प्रकार मन्त्रों और अर्थवादों में कुछ वाक्य सत्य (मुख्य) होते हैं और कुछ वाक्य गौण होते हैं । उनको विद्वान् लोग भलीभांति जानते हैं ।

१०. किञ्चात्यन्तमसत्यैश्च यदि श्रद्धापयेदिह ।
अपौरुषेयतादीनि मृगयन्ते न पण्डिताः ॥

और यदि कोई सर्वथा असत्य वाक्यों से ही श्रद्धा या दृढ विश्वास जमाना चाहे तो ऐसे वाक्यों के लिये कोई विद्वान् उनके प्रमाण के लिये अपौरुषेय वाक्य होने आदि कारणों की खोज नहीं करता । जैसे--

अर्थ-- (विमृग्वरीं) विशेष खोजने के योग्य (ब्रह्मणा) परमात्मासे (वावृधानां) बढाई गई (ऊर्जं) बल बढानेवाली (पुष्टं) पुष्टि करनेवाली (घृतं अन्नभागं च) घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि (बिभ्रतीं) धारण करनेवाली (पृथ्वीं) लम्बी चौडी (क्षमां) प्राणिमात्र के निवासयोग्य (भूमिं) मातृभूमिसे (आवदामि) प्रार्थना करते हैं। हे (भूमे) हमारी मातृभूमि। (त्वां) तुम्हारा (अभिनिषीदेम) हम आसरा लें ॥२९॥

भावार्थ— जिसकी ऊपर की सतह को तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है, बल बढानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है; जो लंबी चौडी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि, हे मातृभूमि! तुम हमें सहारा दो॥२९॥

(आ वदामि पृथिवीं) I praise my land who is (विमृग्वरीं) purifier, (क्षमां) patient, (ब्रह्मणा वावृधानां भूमिं) and grows strong by knowledge. (भूमे) O earth! (त्वा अभिनिषीदेम) we sit down upon thee, who (बिभ्रतीं) bears (ऊर्जं) refreshing (पुष्टं) and nurishing (अन्नभागं) share of food and (घृतं) ghee.

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः। पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥३०॥

पदानि— शुद्धाः। नः। आपः। तन्वे। क्षरन्तु। यः। नः। सेदुः। अप्रिये। तम्। नि। दध्मः। पवित्रेण। पृथिवि। मा। उत्। पुनामि ॥३०॥

अर्थ— हे (पृथिवि! नः तन्वे) हमारे शरीरको शुद्धिके लिये (शुद्धाः आपः) निर्मल जल, (क्षरन्तु) बहा करे; (यः नः) जो हमको (अप्रिये) अनिष्ट है या प्रिय नहीं है, (सेदुः) उसे अलग करते हैं, (पवित्रेण) जो पवित्र है, (मा उत्पुनामि) उससे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं ॥३०॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो। जो कोई हमारा अप्रिय करने की इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी वैसाही वर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें॥३०॥

Let (शुद्धाः आपः) pure waters (क्षरन्तु) flow (नः तन्वे) for our body; (तं अप्रिये निदध्मः) we keep him in dislike (यः नः सेदुः) who would attack us. O (पृथिवि) earth! (मा उत्पुनामि) I do purify myself (पवित्रेण) with whatever purifies me.

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्। स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥३१॥

पदानि— याः। ते। प्राचीः। प्रऽदिशः। याः। उदीचीः। याः। ते। भूमे। अधरात्। याः। च। पश्चात्। स्योनाः। ताः। मह्यम्। चरते। भवन्तु। मा। नि। पप्तम्। भुवने। शिश्रियाणः ॥३१॥

अर्थ— हे (भूमे!) मातृभूमि! (याः ते प्राचीः) जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, (याः उदीची) जो उत्तर की दिशा है, (याः ते प्रदिशः) जो तुम्हारी उपदिशा आग्नेयी, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएं हैं, (याः ते अधरात्) जो तुम्हारे नीचे हैं, (याः ते पश्चात्) जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे हैं, (ताः) उन सब दिशाओंमें (चरते) लोग चलते फिरते हैं; (मह्यं स्योनाः भवन्तु) मुझे सुख की देनेवाली हों, (भुवने) जिस देशमें हम (शिश्रियाणः) रहें (मा निपप्तं) कहीं हमारा अधःपात न हो ॥३१॥

भावार्थ—हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपदिशाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें। इसी प्रकार तेरे हितके लिये यत्न करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें। हम जहां कहीं रहें, अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो॥३१॥

O (भूमे) mother-land ! Let (या ते प्राचीः प्रदिशः) your eastern and (या उदीचीः) your northern directions, (याः ते अधरात्) your downwards or southern and (याः च पश्चात्) your westwards directions, be (ताः स्योनाः) propitious (मह्यं) to me while (चरते) I move upon thee. (मा नि पप्तं) Let me not fall down (भुवने शिश्रियाणः) while treading upon your ground.

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तराद्धरादुत। स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

पदानि-- मा। नः। पश्चात्। मा। पुरस्तात्। नुदिष्ठाः। मा। उत्तरात्। अधरात्। उत। स्वस्ति। भूमे। नः। भव। मा। विदन्। परिऽपन्थिनः। वरीयः। यावय। वधम् ॥३२॥

अर्थ—हे (भूमे! पश्चात् नः मा नुदिष्ठाः) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं, वे हमारा नाश न करें, (मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः) जो तुम्हारे पूर्व है, उत्तर है या नीचे है, वह भी हमारा नाश न करें, (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो। (परिपन्थिनः) शत्रुलोग हमें (मा विदन्) न जानें (किञ्च) तथा उन शत्रुओंके (वधं) शस्त्र (वरीयः यावय) हम से दूर चले जावें ॥३२॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो। हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे शत्रुओंके शस्त्र हमसे दूर रहें ॥३२॥

(नः मा नुदिष्ठाः) Drive us not (पश्चात् मा पुरस्तात्) from the west nor from the east, (मा उत्तरात् उत अधरात्) not from the north, nor from the south. (भूमे) O motherland ! (नः स्वस्ति भव) Be gracious unto us. (परिपन्थिनः मा विदन्) Let not the robbers find us; and (वधं वरीयः यावय) keep the deadly weapon away from us.

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना। तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

पदानि- यावत्। ते। अभि। विऽपश्यामि। भूमे। सूर्येण। मेदिना। तावत्। मे। चक्षुः। मा। मेष्ट। उत्तरामऽउत्तराम्। समाम् ॥३३॥

अर्थ--(भूमे मेदिना) हे हमारी मातृभूमि! अपने प्रकाशसे आनन्द देनेवाले (सूर्येण) सूर्यसे (यावत् ते अभि विपश्यामि) जहांतक सब ओर हम तुम्हारे विस्तार को देखते हैं, (यावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट) तहांतक ज्यों ज्यों मेरी उमर बढती जाय, मेरी इन्द्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमर तक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥३३॥

भावार्थ-- हे मातृभूमि ! जब तक हम प्रकाश और ज्ञान की सहायतासे तेरी बाहिरी, भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तब तक हमारी बाहिरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥३३॥

O (भूमे) motherland ! (यावत्) as much as (अभि विपश्यामि) I look upon (ते) thee (मेदिना सूर्येण) with the sun as a friend, (तावत्) so far (मे चक्षुः मेष्ट) let not my sight fail (उत्तरां उत्तरां समां) through each succeeding year.

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्। उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे। मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

पदानि- यत्। शयानः। परिऽआवर्ते। दक्षिणम्। सव्यम्। अभि। भूमे। पार्श्वम्। उत्तानाः। त्वा। प्रतीचीम्। यत्। पृष्टीभिः। अधिऽशेमहे। मा। हिंसीः। तत्र। नः। भूमे। सर्वस्य। प्रतिऽशीवरि ॥३४॥

अर्थ-हे (भूमे) हमारी मातृभूमि! (यत्) जब (शयानः) सोते हुए (दक्षिणं सव्यं पार्श्वे) दाहिने और बांये (अभिपर्यावर्ते) करवट लें (यत् त्वा) जब तुमपर (प्रतीचीं) पश्चिमकी ओर पांव कर (उत्तानाः पृष्टीभिः) पीठ नीचे कर (अधिशेमहे) शयन करें, उस स्थानमें (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सब लोगोंको सहारा देनेवाली (भूमे नः मा हिंसीः) हे हमारी मातृभूमि, हमारा नाश न कर ॥३४॥

भावार्थ-- हे हमारी मातृभूमि! जिस समय हम तेरे भक्त विश्राम करने के लिये दाएं, बाएं अथवा सीधे तेरे ऊपर सोवें, उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥३४॥

O (भूमे) mother-land! (यत्) when (शयानः) I lie, I (अभिपर्यावर्ते) turn (दक्षिणं पार्श्वं) upon my right side and (सव्यं) my left, and (यत्) when (उत्तानाः) we stretch at all our length (पृष्टिभिः अधिशेमहे) we lay our ribs (त्वा) on thee (प्रतीचीं) westwards. (भूमे) O Mother-earth! (तत्र मा हिंसीः) do not injure us there, (सर्वस्य प्रतिशीवरि) thou who furnishest a bed for all.

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

पदानि- यत्। ते। भूमे। विऽखनामि। क्षिप्रम्। तत्। अपि। रोहतु। मा। ते। मर्म। विऽमृग्वरि। मा। ते। हृदयम्। अर्पिपम् ॥३५॥

अर्थ— हे (भूमे) हमारी मातृभूमि! (ते) तुम्हारे में (यत् विखनामि) जो हल से जोत हम बोवें (तत् क्षिप्रं रोहतु) वह जल्द उगे और बढे। (विमृग्वरि) विशेष खोजनेके योग्य हमारी मातृभूमि! (ते) तुम्हारे (मर्म) नाजुक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चोट न पहुंचे और (ते अर्पिपं) तुम्हारे अर्पित (हृदयं) मन या चित्त (मा) दुःखित न हो ३५

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम भूभाग पर जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढे। तुम्हारे ऊंचानीचा रहनेसे हमारे अधःपात और गिर जानेकी संभावना है, सो तुम्हारे लिये यत्न करते हुए मर्मस्थान में चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें, सो दुःखित न हो, हम सदा प्रसन्नचित्त रहें ॥३५॥

O (विमृग्वरि भूमे) purifier! O mother-land! (यत् ते विखनामि) what I dig from thee, (तद् अपि क्षिप्रं रोहतु) let that grow quickly again. (मा ते मर्म अर्पिपं) Let me not pierce through thy vitals, (मा ते हृदयं) nor thy heart.

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः। ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

पदानि—ग्रीष्मः। ते। भूमे। वर्षाणि। शरत्। हेमन्तः। शिशिरः। वसन्तः। ऋतवः। ते। विऽहिताः। हायनीः। अहोरात्रे इति। पृथिवि। नः। दुहाताम्॥३६॥

अर्थ—हे (पृथिवी भूमे) विस्तृत मातृभूमि! (ते ग्रीष्मः वर्षाणि शरत् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः) तुम्हारे में जो गरमी, बरसात, शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (ऋतवः ते हायनीः) ये छः ऋतु वर्षभरमें (विहिताः) स्थापित की गई हैं और (अहोरात्रे) दिन तथा रात ये सब (नः दुहाताम्) हमको सुख देनेवाले पदार्थ दें॥३६॥

भावार्थ—हे मातृभूमि! छः ऋतु होनेका उत्तम गुण तुम्हारे ही में है। वर्षके ये छः ऋतु अपने अपने समयमें उपजे फलफूल आदिसे हमें सुख देते रहें, उन उन ऋतुके रात और दिन सब भांति हमें सुहावने हों॥३६॥

(भूमे) O mother-land! O (पृथिवि) spacious land! Let (ते ग्रीष्मः) thy summer, (वर्षाणि) rainy season, (शरत्) autumn, (हेमन्तः) winter, (शिशिरः) dewy frosts, (वसन्तः) spring, (ते विहिताः ऋतवः) thy arranged seasons, (हायनीः) years, and (अहोरात्रे) day and night (नः दुहातां) pour out for us in abundance.

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः। परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥३७॥

पदानि—या। अप। सर्पम्। विजमाना। विऽमृग्वरी। यस्याम्। आसन्। अग्नयः। ये। अप्ऽसु। अन्तः। परा। दस्यून्। ददती। देवऽपीयून्। इन्द्रम्। वृणाना। पृथिवी। न। वृत्रम्। शक्राय। दध्रे। वृषभाय वृष्णे॥३७॥

अर्थ—(या विमृग्वरी) जो विशेष खोजनेके योग्य है, (विजमाना अप सर्पं) जो हिलती हुई चलती है, (ये अप्सु) जो मेघोंमें (अन्तः अग्नयः) बिजलीके आकारमें अग्नि हैं, वे (यस्यां आसन्) जिसमें है, वह हमारी मातृभूमि (देव-पीयून्) देवोंके द्वेषकर्ता (दस्यून्) ज्ञानमार्गके उच्छेदक अनार्योंका नाशकर्ता (शक्राय) समर्थ (वृष्णे) वीर्य-युक्त (वृषभाय) बलवान् करनेवालेको (दध्रे) धारण करती है और शत्रुको (परा ददात) दूर करती हुई (वृत्रं न) शत्रुका (इन्द्रं) नाश करनेवाले शूर वीरको (वृणाना) वरण करनेवाली अर्थात् अपनेमें मिलानेवाली हमारी मातृभूमि है॥३७॥

भावार्थ—जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही खोजते रहो, इसमें लाभदायक सार वस्तु मिलती रहें। हिलते, डोलते, चलते मेघोंमें बिजलीके आकार में अग्नि जिसमें है, वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको दुःख देनेवाले दुष्टोंका नाश करती है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुनाशक वीरोंको ही अपने में धारण करती है॥३७॥

(या) Who (विमृग्वरी) being a purifier and (विजमाना अप सर्पं) moving like a serpant, held (अग्नयः) fires (ये अप्सु अन्तः आसन्) that lie within the waters, (परा ददती) abandoning away (देवपीयून् दस्यून्) the god-insulting impious men, (वृणाना इन्द्रं) choosing Indra, as her Lord, (न वृत्रं) and not Vritra, (पृथिवी) the earth (दध्रे) hath clung to (वृषभाय वृष्णे शक्राय) the strong mighty and virile Lord.

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते। ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः। युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥३८॥

पदानि—यस्याम्। सदोहविर्धाने इति सदःऽहविर्धाने। यूपः। यस्याम्। निऽमीयते। ब्रह्माणः।

यस्याम्। अर्चन्ति। ऋक्ऽभिः। साम्ना। यजुःऽविदः। युज्यन्ते। यस्याम्। ऋत्विजः। सोमम्। इन्द्राय। पातवे ॥३८॥

अर्थ—(यस्यां सदो) जिस भूमिमें घर है, (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात् हवन के पदार्थ सुरक्षित रह सकते हैं, (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तम्भ रखे जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेदके जाननेवाले ब्राह्मण यज्ञ करने या करानेवाले (यस्यां ब्राह्मणः ऋत्विग्भिः साम्ना च अर्चन्ति) जिसमें ऋग्वेद और सामवेदके जाननेवाले ब्राह्मण ब्रह्मा बन परमात्मा का पूजन करते हैं और (सोमं पातवे) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥३८॥

भावार्थ— जहां वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने बार बार यज्ञ किया है, इससे सिद्ध हुआ कि यह हमारी मातृभूमि पवित्र यज्ञभूमि है ॥३८॥

(यस्यां सदो हविर्धाने) On whom are the seat for meating and oblation-holder, (यस्यां यूपः निमीयते) on whom the sacrificial post is fixed, (यस्यां) on whom (ब्राह्मणः अर्चन्ति) the learned (यजुर्विदः) knowing the sacrificial formulae, recite (ऋग्भिः) hymns and chant (साम्ना) their psalms and (यस्यां) on whom (ऋत्विजः) the priests (युज्यन्ते) are busy (सोमं पातवे इन्द्राय) that the Indra may drink soma.

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः। सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥

पदानि— यस्याम्। पूर्वे। भूतऽकृतः। ऋषयः। गाः। उत्। आनृचुः। सप्त। सत्रेण। वेधसः। यज्ञेन। तपसा। सह ॥३९॥

अर्थ-- (यस्यां पूर्वे भूत-कृतः) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञसे या सत्कार दानमान आदि उत्तम कामोंसे (तपसा) धर्मके करनेसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहें ॥३९॥

भावार्थ-- हमारी मातृभूमि ऐसी है, जिसमें अतीन्द्रियार्थदर्शी सज्जनोंकी रक्षाके लिये बडे बडे काम करनेवाले धर्मानुष्ठान और ज्ञानमानसे सुशोभित सत्पुरुष हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥३९॥

(यस्यां) On whom (पूर्वे ऋषयः) the ancient Rishis, (भूतकृतः) who made the world, (गाः उत् आनृचुः) sang the praise of the cows and on whom (सप्त वेधसः) seven pious sages, (सत्रेण) with their sacrificial session together (यज्ञेन) with sacrifice (तपसा सह) and with penance do their sacrifice.

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे। भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

पदानि— सा। नः। भूमिः। आ। दिशतु। यत्। धनम्। कामयामहे। भगः। अनुऽप्रयुङ्क्ताम्। इन्द्रः। एतु। पुरःऽगवः ॥४०॥

अर्थ— (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (यत् धनं) जो धन हम (कामयामहे) इच्छा करते हैं कि हमें मिले वह हमें (आदिशतु) दे, (भगः) ऐश्वर्यसंपन्न अपने ऐश्वर्यसे शूर वीर पुरुषों के (अनुप्रयुङ्क्ताम्) सहायक हो, (इन्द्रः) शत्रुके नाश करनेवाले वीरोंको (पुरोगवः) अगुआ होकर (एतु) शत्रुपर चढाई करे ॥४०॥

भावार्थ— जितने सुखकी हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे। ऐश्वर्य और धनसम्पन्न लोग अपने ऐश्वर्य और

धनसे वीरोंकी सहायता करें और वीर पुरुष धुरीण होकर धैर्यके साथ शत्रुओंके नाश करनेके लिये आगे बढें ॥४०॥

(सा नो भूमिः) Let that our land (आदिशतु) assign to us (यत् धनं कामयामहे) what riches we desire. (भगः अनु प्रयुङ्क्ताम्) Let the Bhaga [God of wealth] share his burden, (इन्द्रः पुरोगवः एतु) and let Indra [the Lord] come to lead the way.

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः। युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः। सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

पदानि— यस्याम्। गायन्ति। नृत्यन्ति। भूम्याम्। मर्त्याः। विऽऐलबाः। युध्यन्ते। यस्याम्। आऽक्रन्दः। यस्याम्। वदति। दुन्दुभिः। सा। नः। भूमिः। प्र। नुदताम्। सऽपत्नान्। असपत्नम्। मा। पृथिवी। कृणोतु ॥४१॥

अर्थ— (यस्याम् भूम्यां मर्त्याः) जिस भूमिमें मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं, (नृत्यन्ति) नाचते हैं, (व्यैलबाः) विशेष प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, (यस्यां आक्रन्दः) जिसमें घोडोंके हिनहिनानेका शब्द होता है, (दुन्दुभिः च वदति) नगाडा बजता है, (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुदताम्) दूर भगा दे, वह (पृथिवी) भूमि (मा) हमें (असपत्नं) शत्रुरहित (कृणोतु) करे ॥४१॥

भावार्थ— जिस भूमिमें आनन्द बधाइयां बज रही हैं, जहां लोग प्रसन्न रह नाचते हैं, गाते हैं और वीर लोग वीरताके उत्साहमें भरे अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्ध करते- घोडे जहां हिनहिना रहे हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंका नाश कर हमें शत्रुरहित करे ॥४१॥

(सा नो भूमिः) Let that our motherland, (यस्यां भूम्यां) on whom (मर्त्याः गायन्ति नृत्यन्ति) men sing and dance (व्यैलबाः) with loud noise, (यस्यां युद्धयन्ते) on whom they fight, and shout their (आक्रन्दः) war-cry, (यस्यां दुन्दुभिः वदति) and the drum resound; (प्रणुदतां) drive off (सपत्नान्) ous rivals, and (पृथिवी मा असपत्नं कृणोतु) let our land make me free from my rivals.

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

पदानि— यस्याम्। अन्नम्। व्रीहिऽयवौ। यस्याः। इमाः। पञ्च। कृष्टयः। भूम्यै। पर्जन्यऽपत्न्यै। नमः। अस्तु। वर्षऽमेदसे ॥४२॥

अर्थ— (यस्यां व्रीहियवौ) जिसमें चावल, जौ, गेहूं आदि अन्न बहुत उपजते हैं, (अन्नं) खानेके पदार्थ जहां अधिकतासे हैं. (यस्यां इमा पञ्च कृष्टयः) जहां पांच प्रकारके लोग विद्वान्, शूरवीर, व्यौपारी, कारीगर और नौकर रहते हैं, उस (वर्षमेदसे) बरसात होनेसे जहां अन्न आदि अच्छे उपजते हैं, (पर्जन्यपत्न्यै) पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है, उस (भूम्यै नमः अस्तु) मातृभूमिको नमस्कार है ॥४२॥

भावार्थ— जहां चावल, गेहूं, जौ आदि तथा और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहां विद्वान्, शूर, व्यौपारी, कारीगर तथा सेवक लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जिस भूमिमें नियमित समयमें वृष्टि हो सम्पूर्ण धान्यादिक उत्पन्न हो लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥४२॥

(नमः अस्तु) Our homage be (भूम्यै) to this land (यस्यां अन्नं) on whom the food is (व्रीहियवौ) rice and barley, (यस्याः इमा पञ्च कृष्टयः) to whom these five races of men belong and who is (पर्जन्यपत्न्यै) wife of rain-cloud and (वर्षमेदसे) who fattens by the rain.

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा-माशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

पदानि– यस्याः। पुरः। देवऽकृताः। क्षेत्रे। यस्याः। विऽकुर्वते। प्रजाऽपतिः। पृथिवीम्। विश्वगर्भाम्। आशाम्ऽआशाम्। रण्याम्। नः। कृणोतु ॥४३॥

अर्थ– (यस्याः देवकृतः पुरः) जिस मातृभूमि के नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं, (यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते) जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहपर कर सकते हैं, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक उस भूमिको जो (विश्वगर्भा) सब पदार्थों की पैदा करनेवाली है, (पृथिवीं) उस हमारी मातृभूमिको (आशां आशां) प्रत्येक दिशाओंमें (रण्यां) रमणीय करे ॥४३॥

भावार्थ– जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बसाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगोंमें सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो घनी बसी है, कोई भाग जिसका सूना और उजाड नहीं है, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिको प्रजाका पालक पूर्ण करे, अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौंदर्य से सुसंपन्न रहे ॥४३॥

(यस्याः) whose (पुरः) cities or castles are (देवकृताः) built by deities and (यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते) in whose fields men work in various directions; let (प्रजापतिः) the protector of men (कृणोतु) make (पृथिवीं) this earth, (विश्वगर्भां) womb of every thing, (रण्यां) pleasant (नः) to us (आशां आशां) in every direction.

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

पदानि– निऽधिम्। बिभ्रती। बहुऽधा। गुहा। वसु। मणिम्। हिरण्यम्। पृथिवी। ददातु। मे। वसूनि। नः। वसुऽदाः। रासमाना। देवी। दधातु। सुऽमनस्यमाना ॥४४॥

अर्थ-- (बहुधा गुहा) बहुत तरह की खानोंमें (वसु) धन, (मणिं) रत्न, हीरा, पन्ना आदि (हिरण्यं) सोना, चांदी आदि (निधिं) संचय (बिभ्रती) धारण करनेवाली हमारी पृथिवी, (मे) हमको वह सब (ददातु) दे। (वसुदा) धन की देनेवाली (रासमाना) दान करनेवाली (देवी) देवस्वरूप हमारा सब काम साधनेवाली (सुमनस्यमाना) जो हमसे शुभचित्त होकर (नः) हमको (वसूनि ददातु) धन दे।४४॥

भावार्थ-- जिसमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खानें हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती है, वह मातृभूमि सदा हमें धनकी देनेवाली हो ॥४४॥

(देवी पृथिवी) May our goddess earth, who (बिभ्रती) holding (निधिं) treasures (गुहा बहुधा) hidden variously (मे ददातु) give me (वसु हिरण्यं मणिं) riches, gold and gems. Let (वसुदा) this giver of riches (वसूनि नः रासमाना) bestowing great possessions to us (दधातु) grant them (सुमनस्यमाना) with favouring mind.

जनं॒ बिभ्र॑ती बहु॒धा विवा॑चसं॒ नाना॑धर्माणं पृथि॒वी य॑थौक॒सम्। स॒हस्रं॒ धारा॒ द्रवि॑णस्य मे दुहां ध्रु॒वेव॑ धे॒नुरन॑पस्फुरन्ती ॥४५॥

पदानि—जन॑म्। बिभ्र॑ती। ब॒हु॒ऽधा। विऽवा॑चसम्। नाना॑ऽधर्माणम्। पृ॒थि॒वी। य॒था॒ऽओ॒क॒सम्। स॒हस्र॑म्। धारा॑:। द्रवि॑णस्य। मे॒। दु॒हा॒म्। ध्रु॒वाऽइ॑व। धे॒नुः। अन॑पऽस्फुरन्ती॥४५॥

अर्थ— (बहुधा नानाधर्माणं) बहुत तरहके धर्मों के माननेवाले,(विवाचसम्) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनसमुदायको (यथा ओकसं) जैसा एक घरमें कोई रहे उस तरह (बिभ्रती) धारण करनेवाली (अनपस्फुरन्ती) जिसका नाश न हो, इससे (ध्रुवा पृथ्वी) स्थिर भूमि (द्रविणस्य धाराः) हजारों तरह पर (मे) मुझको (धेनुः इव दुहां) धेनु जैसा दूध देती है, उसी तरह हमें धन दे ॥४५॥

भावार्थ-- अनेक प्रकारकी उन्नतिके धर्मोंको पालनेवाले, विविध भाषा बोलनेवाले लोगोंको आश्रय देनेवाली हमारी अविनाशी मातृभूमि जैसा गऊ दूध देती है, उस तरह हजारों पदार्थों की देनेवाली हो तथा धनकी देनेवाली हो ॥४५॥

Let (पृथिवी) the earth, (बिभ्रती) bearing (बहुधा) variously (जनं) the people (विवाचसं) of different languages and (नानाधर्माणं) of diverse customs, (यथा ओकसं) as belonging to one home, (दुहां) yield, (मे) me, (द्रविणस्य सहस्रं धाराः) a thousand streams of treasure (ध्रुवा धेनुः अनपस्फुरन्ती इव) like a steady unresisting milch-cow.

यस्ते॑ स॒र्पो वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टदं॑श्मा हे॒मन्त॑जब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑। क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒न्मोप॑ सृप॒द् यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥४६॥

पदानि— यः। ते॒। स॒र्पः। वृश्चि॑कः। तृ॒ष्टऽदं॑श्मा। हे॒मन्त॑ऽजब्धः। भृ॒म॒लः। गुहा॑। शये॑। क्रिमि॑ः। जिन्व॑त्। पृ॒थि॒वि॒। यत्ऽय॑त्। एज॑ति। प्रा॒वृषि॑। तत्। नः॒। सर्प॑त्। मा। उप॑। सृ॒प॒त्। यत्। शि॒वम्। तेन॑। नः॒। मृ॒ड॒ ॥४६॥

अर्थ--हे (पृथिवि ते) हमारी मातृभूमि! तुम्हारे (यः सर्पः वृश्चिकः) जो सांप या बीछू (तृष्टदंश्मा) ऐसे जीव कीडे आदि जिनके काटनेसे प्यास अधिक लगती हो, (हेमन्त-जब्धः) हिमविनाशक अर्थात् ज्वर के पैदा करनेवाले (भृमलः) या जिनके डसनेसे घुमरी पैदा हो (क्रिमिः) ऐसे कीडे (गुहा शये) जो बिलोंमें पडे सोया करते हैं, (प्रावृषि) बरसातके मौसिममें (यत् जिन्वत् यत् एजति) जा कांपते हुए चलते हैं या रेंगते हैं (तत् सर्पत्) जो रेंगा रहते हैं, वे सब (नः मा उपसृपत्) हमारे पास न आवें, (यत् शिवम्) जो हमारे लिए कल्याणकारी हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ॥४६॥

भावार्थ-- हे मातृभूमि ! तेरे बिलोंमें सांप, बीछू या ऐसे जीव जिनके काटनेसे दाह पैदा होती है, या जो शोष उत्पन्न करते हैं, वे भयंकर विषैले जीव कभी हमें स्पर्श भी न करें, जो पदार्थ हमारे लिये हितकारी और कल्याण करनेवाले हों, वे सदा हमारे पास आ हमें सुख देवें ॥४६॥

(ते सर्पः) Thy snake, (तृष्टदंश्मा वृश्चिकः) thy harsh-biting scorpion, (गुहा शये) lies in secret, (हेमन्तजब्धः) chilled with cold of winter, (भृमलः) bewildered, (क्रिमिः) the worm, O (पृथिवी) earth! (जिन्वत्) that becomes lively and (प्रावृषि यत् यत् एजति) stirs in early rainy season; let (तत् सर्पत्) that creaping worm (नः मा उपसृपत्) not creap upon us, (यत् शिवं तेन नो मृड) be thou gracious to us with that which is propitious.

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे । यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७

पदानि– ये । ते । पन्थानः । बहवः । जनऽअयनाः । रथस्य । वर्त्म । अनसः । च । यातवे । यैः । सम्ऽचरन्ति । उभये । भद्रऽपापाः । तम् । पन्थानम् । जयेम । अनमित्रम् । अतस्करम् । यत् । शिवम् । तेन । नः । मृड ॥४७॥

अर्थ--हे भूमि ! (ये ते बहवः पन्थानः जनायनाः) मनुष्यों के चलने, फिरने योग्य जो तुम्हारे बहुतसे मार्ग हैं, (रथस्य वर्त्म) रथके चलनेयोग्य, (अनसः यातवे) छकडोंके आने जाने लायक अथवा अन्न को ढो के ले जाने लायक जो मार्ग हैं, (यैः संचरन्ति भद्रपापाः) जिनसे परोपकारी भले लोग या जिन परसे दुष्ट स्वार्थरत लोग भी चलते हैं, (तं) उसे (अनमित्रं) शत्रुरहित (अतस्करं) ठग और चोरों के भयसे रहित कर। (जयेम) हम जय प्राप्त करें, (यच्छिवं) जो कल्याणकारी है (तेन नो मृड) उससे हमें सुख दो ॥४७॥

भावार्थ--हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारा मार्ग जिसपर मनुष्य चलते फिरते हैं, रथ और छकडों के चलनेयोग्य है, जिसपर भले और बुरे दोनों तरहके लोग चलते हैं, अन्न आदि पदार्थ जिसपर ढोये जाते हैं, वह मार्ग विना शत्रु और चोररहित अर्थात निर्भय और सुरक्षित कर। हम विजयी हों उस मार्गपर चलें। जो हमारे लिये भलाई हो, उससे हमें सुखी कर ॥४७॥

(ये ते बहवः पन्थानः) Thy many roads (जनायनाः) on which people travel, (रथस्य वर्त्म) a track for the chariot (च अनसः यातवे) and for the going of the cart, (यैः) by which (उभये) men of both kinds, (भद्र-पापाः) good and evil, (सं चरन्ति) move about, (तं पंथानं) that road, (अनमित्रं) free from enemies, and (अतस्करं) free from robbers, (जयेम) May we conquer; (यत् शिवं तेन नो मृड) be thou gracious to us with what is propitious.

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः । वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

पदानि– मल्वम् । बिभ्रती । गुरुऽभृत् । भद्रऽपापस्य । निऽधनम् । तितिक्षुः । वराहेण । पृथिवी । सम्ऽविदाना । सूकराय । वि । जिहीते । मृगाय ॥४८॥

अर्थ– (गुरु-भृत्) श्रेष्ठ पदार्थको अपनी ओर खींचनेवाली और (मल्वं) तथा मलयुक्तको भी (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यका (निधनं) मरण (तितिक्षुः) सहती हुई वह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम जल देनेवालेके साथ (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छी बरसातवाली होकर (सूकराय) अच्छी किरणवाले (मृगाय) अपनी किरणोंसे अपवित्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) विशेष जाती है ॥४८॥

भावार्थ– गुरु पदार्थको अपनी ओर खीचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, भले और बुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनोंके मरणको जो सह लेती है। अच्छा जल बरसानेवाले मेघसे युक्त सूर्य जिसकी अपवित्रताको अपनी किरणोंसे हटा देता है, ऐसी हमारी मातृभूमि विशेष प्रकार से सूर्यके साथ साथ जाती है ॥४८॥

(बिभ्रती) Supporting both (मल्वं) fool and (गुरुभृत्) weighty, (तितिक्षुः) she bears (निधनं) the death of (भद्र-पापस्य) both-the good

and evil. The (पृथिवी) earth (वराहेण संविदाना) in friendly concord with the Varaha-boar (विजिहीते) opens herself (सूकराय मृगाय) to the wild Sukara-hog.

ये त आ॒र॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ताः सिं॒हा व्या॒घ्राः पु॑रुषा॒दश्चर॑न्ति । उ॒लं वृकं॑ पृथिवि दु॒च्छुनाम् इ॒त ऋ॒क्षीकां॒ रक्षो॒ अप॑ बाधया॒स्मत् ॥४९॥

पदानि— ये । ते । आरण्याः । पशवः । मृगाः । वने । हिताः । सिंहाः । व्याघ्राः । पुरुषऽअदः । चरन्ति । उलम् । वृकम् । पृथिवि । दुच्छुनाम् । इतः । ऋक्षीकाम् । रक्षः । अप । बाधय । अस्मत् ॥४९॥

अर्थ— (पृथिव ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि! जो तुम्हारे वनमें रखे गये हैं, (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियों की हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादिक (चरन्ति) चरते फिरते हैं, उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) बीघ, पागल कुत्ते, (ऋक्षीकां भालू आदि (इतः अस्मात् अपबाधय) यहां हमसे दूर रखो ॥४९॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! जो तुम्हारे हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, चौपाये, भेडिये, पागल कुत्ते, भालू इत्यादि हैं, उन सबोंको हमसे दूर रखो ॥४९॥

(ये ते आरण्याः पशवः) What forest animals of thine, (मृगाः वने हिताः) wild beasts set in the woods, (पुरुषादः) man-eating (सिंहाः) lions, and (व्याघ्राः) tigers, (उलं वृकं) the jackal, the wolf (चरन्ति) move about. (पृथिवि) O earth! (अप बाधय) do thou force away (ऋक्षीकां) misfortune and (रक्षः) evil spirit (अस्मत्) from us (इतः) here.

ये ग॑न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रसो॒ ये चा॒राया॑: कि॒मी॒दिन॑: । पि॒शा॒चान्त्सर्वा॒ रक्षां॑सि॒ तान॒स्मद्भू॑मे यावय ॥५०॥

पदानि— ये । गन्धर्वाः । अप्सरसः । ये । च । अरायाः । किमीदिनः । पिशाचान् । सर्वा । रक्षांसि । तान् । अस्मत् । भूमे । यावय ॥५०॥

अर्थ— हे (भूमे ये गन्धर्वाः) मातृभूमि! जो हिंसक, आततायी हमारे वध करनेको उद्यत हैं, (अप् सरसः) कर्मपराङ्मुख आलसी हैं, (ये अरायाः) जो निर्धन हैं (किमीदिन) परधनके हरनेवाले हैं, (पिशाचान्) मांस खानेवाले हैं, (रक्षांसि) राक्षसी स्वभाववाले हैं. (सर्वान् अस्मत् यावय सबों को हमसे दूर हटाओ ॥५०॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, अनात्मवादी, नास्तिक और आततायी हैं, उनको दूर करो ॥५०॥

(भूमे) O mother-land! (तान् अस्मत् यावय) do thou keep away from us those, who are (गंधर्वाः) Gandharvas, (अप्सरसः) Apsarasas, (ये च अरायाः) those who are stingy and (किमीदिनः) always hungry, (पिशाचान्) those who drink blood, (सर्वा रक्षांसि) and all other evil spirits.

यां द्वि॒पाद॑: प॒क्षिण॑: सं॒पत॑न्ति हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि । यस्यां॒ वातो॑ मात॒रिश्वेय॑ते॒ रजां॑सि कृ॒ण्वंश्च्या॒वयं॑श्च वृ॒क्षान् । वात॑स्य प्र॒वामु॑प॒वामनु॑ वात्य॒र्चिः ॥५१॥

पदानि— याम् । द्विऽपादः । पक्षिणः । सम्ऽपतन्ति । हंसाः । सुऽपर्णाः । शकुनाः । वयांसि ।

यस्याम्। वातः। मातरिश्वा। ईयते। रजांसि। कृण्वन्। च्यावयन्। च। वृक्षान्। वातस्य। प्रऽवाम्। उपऽवाम्। अनु। वाति। अर्चिः ॥५१

अर्थ— हमारी वह मातृभूमि है (यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति) जहां दो पांववाले जीव, हंस, गरुड आदि पक्षी उडते हैं (यस्यां मातरिश्वा वातः) आकाशमें बढनेवाली या संचार करनेवाली हवा (रजांसि कृण्वन्) धूल उडाती हुई (वृक्षान् च्यावयन्) पेडों को जड से उखाडती हुई (ईयते) बहती है। (तस्य वातस्य प्रवां उपवां) उस वायु की गति को (अर्चिः) तेज या प्रकाश (अनुवाति) अनुसरण करता हुआ चलता है ॥५१॥

भावार्थ-- जिस भूमिमें सर्वदा आकाश में हंस आदि पखेरू आनन्द से उडते हैं, जहां धूलिको उडाते पेडों को उखाडते वायु बेरोकठोक सपाटेसे बहती है और जंगलकी अग्नि जहां जोरों में झझकती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥५१॥

(यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति) To whom two-footed birds such as (हंसाः) swans, (सुपर्णाः) eagles, (शकुनाः) hawks, (वयांसि) and other birds fly together, (यस्यां) on whom (वातः मातरिश्वा ईयते) the wind that dwells in the mid-region rushes about, (रजांसि कृण्वन्) raising the dust and (च्यावयन् च वृक्षान्) causing trees to tremble and on whom (अर्चिः flame (अनुवाति) blows after (वातस्य प्रवां उपवां) the blast hither and thither.

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि। वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥५२॥

पदानि-- यस्याम्। कृष्णम्। अरुणम्। च। संहिते इति सम्ऽहिते। अहोरात्रे इति। विहिते इति विऽहिते। भूम्याम्। अधि। वर्षेण। भूमिः। पृथिवी। वृता। आऽवृता। सा। नः। दधातु। भद्रया। प्रिये। धामनिऽधामनि ॥५२॥

अर्थ--(यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च जिस भूमि में तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन (संहिते) इकट्ठे हो (अहोरात्रे) दिन और रात (अधि विहिते) होते हैं, (सा पृथिवी भूमिः वह विस्तृत भूमि (वर्षेण वृता वृता) वृष्टि से ढकी हुई (भद्रया) कल्याण के साथ (प्रिये धामनि धामनि) हितकारी स्थानोंमें (नः) हमको (दधातु) धरे ॥५२॥

भावार्थ— जिस भूमिमें ठीक प्रमाण से रात और दिन होते हैं और उनकी सदा एकसी व्यवस्था रहती है, वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥५२॥

(यस्यां भूम्यां अधि) The land on whom (कृष्णं अरुणं च) the black and ruddy (अहोरात्रे) day and night (च संहिते विहिते) are settled and fixed; (सा पृथिवी भूमिः) may the broad earth which is (वृता आवृता) wrapped and covered with rain, (दधातु नः) keep us (भद्रया) happily (प्रिये धामनि धामनि) in each lovely abode.

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः। अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

पदानि-- द्यौः। च। मे। इदम्। पृथिवी। च। अन्तरिक्षम्। च। मे। व्यचः। अग्निः। सूर्यः। आपः। मेधाम्। विश्वे। देवाः। च। सम्। ददुः ॥५३॥

अर्थ-- (द्यौः) प्रकाशमय आकाश (पृथिवी) भूमि (अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्षलोक (अग्निः सूर्यः) अग्नि और सूर्य (विश्वे देवाः च) सब

प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजयी, या व्यवहारचतुर (इदं) यह सब (मे) मुझ को (मेधां) धारणाशक्तिवाली बुद्धि (मे व्यचः) हमारी सब में व्याप्ति या आकलनशक्ति (संददुः) अच्छी तरह दें ॥५३॥

भावार्थ-- स्थावर वा जंगम, चेतन वा अचेतन सब पदार्थोंकी सहायतासे हमारी बुद्धि बढे और कीर्तिरूपसे चारों ओर व्यापक हो ॥५३॥

(द्यौः च पृथिवी च) Heaven, earth (अन्तरिक्षं च) and atmosphere have given (मे मे इदं व्यचः) me this ample place (अग्निः) fire, (सूर्यः) the Sun, (आपः) waters, (विश्वे देवाः) all the other deities (मेधां सं ददुः) have jointly given me mental power.

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

पदानि- अहम्। अस्मि। सहमानः। उत्तरः। नाम। भूम्याम्। अभीषाट्। अस्मि। विश्वाषाट्। आशाम्ऽआशाम्। विऽससहिः ॥५४॥

अर्थ-- (अहं सहमानः) गरमी, सरदी, सुख, दुःख सह लेनेवाले (नाम) यश और प्रतिष्ठासे (उत्तरः) उत्कृष्टतर (भूम्यां अस्मि) भूमि में (आशां आशाम्) हर एक दिशाओंमें (विषासहिः) विशेष विजयी (अभीषाड्) सब ओर पराक्रम करनेवाला (विश्वाषाड्) सब शत्रुओं का नाश करनेवाला (अस्मि) हूं ॥५४॥

भावार्थ— मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख निवारण करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करने को तैयार हूं। और प्रयत्न से सब शत्रुओं को परास्त करूंगा। एक भी शत्रु को रहने नहीं दूंगा ॥५४॥

(अहं अस्मि) I am (सहमानः) victorious, I am (नाम) by name (उत्तरः) Superior (भूम्यां) on this earth. (अभीषाड् अस्मि) I am triumphant, (विश्वाषाट्) all-overpowering, (विषासहिः) conqueror (आशां आशां) on every side.

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्। आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

पदानि- अदः। यत्। देवि। प्रथमाना। पुरस्तात्। देवैः। उक्ता। विऽअसर्पः। महिऽत्वम्। आ। त्वा। सुऽभूतम्। अविशत्। तदानीम्। अकल्पयथाः। प्रऽदिशः। चतस्रः ॥५५॥

अर्थ- हे (देवि) दिव्य मातृभूमि! तुम (यत्) जब (पुरस्तात्) पहिले (देवैः) देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंद्वारा (प्रथमाना) प्रख्यात होकर (उक्ता) प्रशंसित हो गई, तब(व्यसर्पः) विशेष उत्कर्षको पहुंची (तदानीम्) तब इसको (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें(सुभूतम् महित्वम्) बडी प्रतिष्ठा (अकल्पयथाः) प्राप्त हो गई, हे भूमि! वह तुम्हारी प्रतिष्ठा (त्वा) तुममें (आविशत्) प्रविष्ट हो ॥५५॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! पहलेके लोग जब तुम्हारी स्तुति करते थे, उस समय तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा महत्त्व अब भी वैसाही फैले ॥५५॥

(देवि) O divine one! (देवैः उक्ता) it was told by the deities that (अदः यत्) when (प्रथमाना पुरस्तात्) spreading thyself forward, (व्यसर्पः महित्वं) thou didst expand to greatness. (तदानिं त्वा सुभूतं आ विशत्) Then well-being entered into thee and (चतस्रः प्रदिशः कल्पयथाः) then you made the four directions fit to live in.

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

पदानि- ये । ग्रामाः । यत् । अरण्यम् । याः । सभाः । अधि । भूम्याम् । ये । सम्ऽग्रामाः । सम्ऽइतयः । तेषु । चारु । वदेम । ते ॥५६॥

अर्थ— (ये ग्रामाः) जो गांव या नगर (यत् अरण्यं) जो वन (याः सभाः) जो राजसभा, न्यायसभा धर्मसभा आदि (ये संग्रामाः) जो युद्ध (याः च समितयः) जो बडी बडी परिषदें (अधि भूम्याम्) हमारी भूमिमें (सन्ति) हैं, (तेषु) उन सबों को (ते) तुम्हारे बारेमें (चारु वदेम) अच्छा कहेंगे ॥५६॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि! तुम्हारे में जहां जहां नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम किंवा मनुष्य एकत्र हों, वहाँ वहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहित की बात न कहें ॥५६॥

(ये ग्रामाः) What villages, (यत् अरण्यं) what forest, (याः सभाः) what assemblies, (ये संग्रामाः) what battles, (समितयः) what gatherings are (अधि भूम्यां) upon this earth, (तेषु चारु वदेम ते) in them may we speak glorious words about thee.

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत। मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

पदानि- अश्वःऽइव । रजः । दुधुवे । वि । तान् । जनान् । ये । आऽअक्षियन् । पृथिवीम् । यात् । अजायत । मन्द्रा । अग्रऽइत्वरी । भुवनस्य । गोपाः । वनस्पतीनाम् । गृभिः । ओषधीनाम् ॥५७॥

अर्थ— (यात्) जब (पृथिवीम्) भूमिमें कोई युद्ध आदिसे (आक्षियन्) आकर बसे या बसाया जाय, तब (तान् जनान्) उन रहनेवाले मनुष्यों को (यः रजः) जो सेनाके आनेसे उठी धूलि (अश्वः इव वि दुधुवे) घोडोंके चलनेके समान उडी वह (मन्द्रा) प्रसन्न करनेवाली (अग्रेत्वरी) अग्रभाग में जल्द जानेवाली (भुवनस्य गोपा) संसारकी रक्षा करनेवाली (वनस्पतीनां ओषधीनां च गृभिः) वनस्पति और औषधियों का ग्रहण करनेवाली होवे ॥५७॥

भावार्थ-युद्धमें विजयी हो, जहांपर सेनाके घोडोंके चलने से धूलि उडकर मनुष्योंके चित्तों को प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संघ कर एकत्रित होते हैं, तब उस संघ से जो फलस्वरूप में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सब को आनन्द देनेवाली, सब देश का संरक्षण करनेवाली और औषध आदि भक्ष्य पदार्थ देनेवाली होती है। इसलिये उसे मातृभूमि के संपूर्ण भक्त सदैव आदरसे ध्यान में रक्खें ॥५७॥

(अश्व इव) As the horse (रजः वि दुधुवे) scattereth the dust, she scattered (जनान्) the people (ये पृथिवीं आक्षियन्) who dwelt upon the land; (यात् अजायत) when they were born, the land is (भुवनस्य अग्रेत्वरी) leader and head of the world, (मन्द्रा) delightful, (वनस्पतीनां गोपा) protector of the trees, (ओषधीनां गृभिः) up-holder of the plants.

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा। त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥५८॥

पदानि- यत् । वदामि । मधुऽमत् । तत् । वदामि । यत् । ईक्षे । तत् । वनन्ति । मा । त्विषिऽमान् । अस्मि । जूतिऽमान् । अव । अन्यान् । हन्मि । दोधतः ॥५८॥

अर्थ-- (यत्) हम अपने राष्ट्र या देशके संबंधमें जो (वदामि) कहते हैं, (तत् मधुमत् वदामि) वह हितकर और मधुर शब्दोंमें कहते हैं, (यत् ईक्षे) जो देखते हैं (तत्) वह सब (मा) हमको सहायक हो। (अहं त्विषीमान्) हम प्रकाशमान्, तेजस्वी, दीप्तिमान् और (जूतिमान्) ज्ञानवान् हों. इससे (अन्यान्) दूसरे जो हमारी भूमिको दुह लेते हैं (अवहन्मि) उनका नाश करते हैं ॥५८॥

भावार्थ-- हम जो कुछ भी भाषण करेंगे, वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा; जो कुछ हम आंखों से देखेंगे, वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा; इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान् हों, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करेंगे, उन का हम नाश करेंगे ॥५८॥

(यत् वदामि) What I speak (तत् मधुमत् वदामि) I speak sweet as honey. (यत् ईक्षे) What I view (तत् मा वनन्ति) thereby they are attracted to me. (त्विषीमान् अस्मि) I am brilliant, (जूतिमान्) I am swift, (दोधत अन्यान् अवहन्मि) I slay others who are violent.

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती। भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

पदानि- शन्तिऽवा। सुरभिः। स्योना। कीलालऽऊध्नी। पयस्वती। भूमिः। अधि ब्रवीतु। मे। पृथिवी। पयसा। सह ॥५९॥

अर्थ—(शन्तिवा) शान्तिकारक (सुरभिः) सुगन्धियुक्त (स्योना) सुख देनेवाली (कीलालोध्नी) अन्न की देनेवाली (पयस्वती) जहां बहुत जल हो, ऐसी (मे पृथिवी भूमिः पयसा सह) हमारी भूमि भोग्य पदार्थ जो दूधके साथ हों, उससे हमें (अधि ब्रवीतु) कहे ॥५९॥

भावार्थ— शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोग के पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो, और इस तरह हमारी रक्षा करती रहे ॥५९॥

(शन्तिवा) Peaceful, (सुरभिः) fragrant, (स्योना) pleasant, (कीलालोध्नी) with nector in her udder, (पयस्वती) rich in milk, (भूमिः मे अधिब्रवीतु) let the land bless me, (पृथिवी पयसा सह) the land who is always in abundance of milk.

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्। भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०॥

पदानि- याम्। अनुऽऐच्छत्। हविषा। विश्वऽकर्मा। अन्तः। अर्णवे। रजसि। प्रऽविष्टाम्। भुजिष्यम्। पात्रम्। निऽहितम्। गुहा। यत्। आविः। भोगे। अभवत्। मातृमत्ऽभ्यः ॥६०॥

अर्थ— (यत्) जब (विश्वकर्मा) सब काम करनेवाले (रजसि अर्णवे अन्तरिक्षमें (अन्तः प्रविष्टां याम्) भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको (हविषा) अन्नादि पदार्थोंसे (अन्वैच्छत्) सेवा करनेकी इच्छा करता है, तब गुहा निहितं गुप्त स्थानमें रक्खा हुआ (भुजिष्य पात्रम्) भोजनके योग्य अन्न आदि (मातृमद्भ्यः) मातृभक्तोंके (भोगे) उपभोग के लिये (आविः अभवत्) प्रकट होता है ॥६०॥

भावार्थ— जहां सब तरह के उद्योग करनेवाले कुशल पुरुष मातृभूमि की सेवा करने के लिये कटिबद्ध होते हैं, वहां मातृभूमिका गुप्त स्थान में रक्खा हुआ तथा परसा हुआ थाल (जो केवल भक्तोंही के लिये है) आकर उनके सामने प्रकट होता है। अर्थात् उनके उपभोग के सारे पदार्थ उन्हें सहज ही मिल सकते हैं ॥६०॥

(विश्वकर्मा) The mak r of the universe (हविषा अन्वैच्छत्) desired with oblation, (अर्णवे अन्तः रजसि प्रविष्टां) when she was set in the

mid-airs billowy ocean. (भुजिष्यं पात्रं) An enjoyable vessel (गुहा निहितं) placed in secret place (भोगे आविः अभवत्) become manifest in the enjoyment (मातृमद्भ्यः) for those who are with good mothers.

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना । यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

पदानि— त्वम् । असि । आऽवपनी । जनानाम् । अदितिः । कामऽदुघा । पप्रथाना । यत् । ते । ऊनम् । तत् । ते । आ । पूरयाति । प्रजाऽपतिः । प्रथमऽजाः । ऋतस्य ॥६१॥

अर्थ— हे मातृभूमि! (त्वं जनानां अदितिः) तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली (कामदुघा) इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली (पप्रथाना) स्तुतिके योग्य (आवपनी) जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है, (असि) ऐसी तुम हो। (यत् ते ऊनम्) जो तुम्हारेमें कमी है, (तत् ते ऋतस्य) सो तुम्हारे सत्य यज्ञका कर्ता (प्रथमजाः) सृष्टिके आदिमें प्रकट हुआ (प्रजापतिः) परमेश्वर (आपूरयाति) पूर्ण कर देते हैं ॥६१॥

भावार्थ-- हे हमारी मातृभूमि तू हम सबों को सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थों की देनेवाली है, इसलिये जो तेरे में कमी हो, उसे परमेश्वर पूरा करे ॥६१॥

(त्वं जनानां आवपनी असि) Thou art holder of people, (अदितिः) unbroken, (कामदुघा) wish-fulfilling. (प प्रथाना) far-spreading, (यत् ते) whatever of thee is (ऊनं) deficient. (प्रजापतिः) May the protector of people, (प्रथमजा ऋतस्य) first born of Righteousness, (तत् ते आपूरयाति) fill that up for thee.

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

पदानि— उपऽस्थाः । ते । अनमीवाः । अयक्ष्माः । अस्मभ्यम् । सन्तु । पृथिवि । प्रऽसूताः । दीर्घम् । नः । आयुः । प्रतिऽबुध्यमानाः । वयम् । तुभ्यम् । बलिऽहृतः । स्याम ॥६२॥

अर्थ— हे (पृथिवि ते प्रसूताः) भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग (अनमीवाः) रोगरहित (अयक्ष्माः) क्षयरोगरहित (अस्मभ्यं उपस्थाः) हमारे पास रहनेवाले (सन्तु) हों। (नः आयुः दीर्घं भवतु) हमारी उमर बडी हो, हम बहुत दिन जीवें, (वयं प्रतिबुध्यमानाः) हम ज्ञानविज्ञानयुक्त हों। (तुभ्यं बलिहृतः स्याम) तुम्हें बलि, कर भार देनेवाले हों ॥६२॥

भावार्थ-- हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोक तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं, वे नीरोग, दृढाङ्ग, दीर्घायु, बुद्धिमान्, जागृति-संपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देने में उद्यत रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥६२॥

(पृथिवि) O mother-land ! (ते उपस्थाः) let thy products (अनमीवाः) be free from disease and (अयक्ष्माः) free from consumption; (प्रसूताः सन्तु) be produced (अस्मभ्यं) for our advantage (दीर्घं नः आयुः) through our long life (प्रतिबुध्य-[illegible]) wakeful and watching, (वयं) may we (स्याम) be (बलिहृतः) beareārs of tribute (तुभ्यं) to you.

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥

पदानि– भूमे। मातः। नि। धेहि। मा। भद्रया। सुऽप्रतिस्थितम्। समूऽविदाना। दिवा। कवे। श्रियाम्। मा। धेहि। भूत्याम् ॥६३॥

अर्थ-- हे (मातर् भूमे) मातृभूमि! (भद्रया) कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें (सुप्रतिष्ठितम्) सुस्थिर या युक्त (मा) मुझको (निधेहि) रक्खो (दिवा) प्रतिदिन (संविदाना) सब बातकी जानने-वाली करो। (कवे मां) हे क्रान्तदर्शनी! हमें (भूत्यां श्रियं धेहि) पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥६३॥

भावार्थ-- हे मातृभूमि! मुझे बुद्धिवान् कर और तेरे विषयमें प्रति दिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्मविचारी और दूरदर्शी मनुष्यों को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥६३॥

O (भूमे मातः) mother-land! (धेहि मा) keep me (भद्रया) happily (सुप्रतिष्ठितं) well-established. (कवे) O sage! (दिवा संविदाना) in concord with heaven (मा धेहि भूत्यां) keep me in glory and prosperity.

॥ मातृभूमिका सूक्त समाप्त ॥१॥

मातृभूमिका वैदिक गीत।

जिस देश में जो लोग रहते हैं, वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भरतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंड भूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदि से बच्चे का देह बनता है, उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियमही है कि माता के दूधपर बच्चेकाही अधिकार रहना चाहिये। क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही [illegible] चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्ती से पियेगा और दूसरे बच्चे को भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वर के नियमों के विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमों के अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमि के बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देश में उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देश के निवासियों को न देकर अपनेही सुखके लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बडा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है, वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रिके समय कोई चोर आता है और उस घरमें से कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोरको पकडकर सजा देती है, क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसीके भी घरकी उसके पूर्वजोंसे चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुंबका रहता है, उसी तरह देश यह एक बडा घर है; और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि उस राष्ट्रस्वरूप घरपर दूसरे देशोंके बलवान् लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बतावें, तो वास्तवमें वह अपराध एक घर पर हमला करनेवाले डाकूके समान है। उसीके समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वरूपका यह अपराध है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बडे बडे तत्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राज्यकारभार तत्त्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान् लोक इस तरहके राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बडे अपराधीको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

ःवाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)
४ अथर्ववेद	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
„ सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्र त काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ तीय काण्ड „	२)	॥)
तीय काण्ड „	२)	॥)
तुर्थ काण्ड „	२)	॥)
पंचम काण्ड „	२)	॥)
षष्ठ काण्ड „	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड „	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड „	२)	॥)
९ नवम काण्ड „	२)	॥)
१० दशम काण्ड „	२)	॥)
११ एकादश काण्ड „	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड „	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड „	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड „	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंमें वही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आने है। म० आ० से २।≡) रु० भेज दें।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध

जून १९४१
ज्येष्ठ १९९८

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५८

वर्ष २२ : : : : अङ्क ६



स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ६

विषयानुक्रमणिका

१ प्रभुका महिमा ।		२०९
२ स्वाध्यायका संघ ।		२१०
३ सदैक्यवादपर शंकाएं ।	संपादकीय	२११
४ मुक्तिसे लौटना !!!	,,	२२१
५ ब्राह्मण ।	श्री. भारतचंद्र चौधरी	२२५
६ नादानुसंधान ।	श्री. ब्रह्म० गोपाल चैतन्य देव	२३५
७ ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप ।	पं. रामावतारजी विद्याभास्कर	२४३
८ वेदका अध्ययन ।		२५१
९ ऋग्वेदानुक्रमणी ।	पं. जयदेव शर्मा वेदालंकार	१५५-१७६

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५८

वर्ष २२ : : : : अङ्क ६

ज्येष्ठ संवत् १९९८

जून १९४१

प्रभु का महिमा ।

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन्
प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः ।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया
व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः ॥

(ऋ० ६।२४।३)

"हे शूर और (पुरुहूत) बहुप्रशंसित इन्द्र ! (ते बृहन् मह्ना) तेरा बडा महिमा (चक्र्योः अक्षो न) दो चक्रों के बाहर अक्ष के आनेके समान (रोदस्योः प्र रिरिचे) आकाश और पृथ्वी में व्याप्त हो कर बाहर भी प्रकट हुआ है। (ते पूर्वीः ऊतयः) तेरी अपूर्व रक्षाएँ (वृक्षस्य वया नु) वृक्ष की शाखाओं के समान (वि रुरुहुः) चारों ओर विशेष प्रकार से फैली हैं।"

यहां 'वृक्ष' शब्द इन्द्र 'प्रभु' के लिये उपमादर्शक प्रयुक्त हुआ है। जैसी वृक्ष की शाखाएँ वैसी ही इन्द्रकी (प्रभुकी) रक्षाएँ चारों ओर फैली हैं।

स्वाध्याय का संघ।

मनुमहाराज कहते हैं कि ' वेद का स्वाध्याय करना चाहिये। ' आजकल हम देखते हैं कि, योग्य रीतिसे वेदाध्ययन न होनेके कारण हि अनेक कुकल्पनाएं हमारे अन्दर घुस गयीं हैं। इतना ही नहीं ये कुकल्पनाएं वेदधर्म का अंग भी बन चुकी हैं। क्या यह आपत्ति कम हानिकारक है ?

वैदिक धर्म ऐसा धर्म नहीं है कि, जिसमें अज्ञानी भी किसी तरह का हस्ताक्षेप कर सकें। वैदिक धर्म एक बडा शास्त्रीय वैज्ञानिक धर्म है। ज्ञानविज्ञानके विना और ठीक अध्ययन के विना कोई भी मनुष्य उसमें ठीक प्रगति नहीं कर सकता। इसीलिये वेदका अध्ययन, मनन और निदिध्यासन होना अत्यंत आवश्यक है।

अध्ययनका साधन।

जो सज्जन वैदिक धर्म का ज्ञान वेद का स्वयं अध्ययन करके अपने अन्दर बढानेके इच्छुक हैं, उनके लिये आजकल वेदाध्ययन करने का कोई साधन नहीं है। कुमारपन में आचार्यकुल, गुरुकुल, महाविद्यालय, वेदविद्यालय ऐसे अनेक विद्यालय हैं, जहाँ जाकर वे वेदाध्ययन कर सकते हैं, परन्तु जिनकी आयु २०-२५ वर्ष से अधिक हो चुकी है, जो कि व्यवसायोंमें लग चुके हैं, जिनके पास आचार्यकुल में जाकर अध्ययन करने के लिये समय नहीं है; परन्तु जो सचमुच वेदज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, जिनकी वेदपर असीम श्रद्धा है, उनका क्या ? ऐसे लोग वेदज्ञान किस ढंग से प्राप्त करें ? इसका विचार करते हुए और सब भारत देश की परिस्थितियों का विचार करके स्वाध्याय-संघद्वारा यह कार्य हो सकता है, ऐसा हमने निश्चय किया और तदनुसार इस स्वाध्यायसंघकी स्थापना की।

इस संघमें जो प्रविष्ट होंगे, वे ५।६ वर्षोंमें वेदवेत्ता हो सकेंगे। यदि कोई मनुष्य नियमपूर्वक प्रतिदिन वेदाध्ययन कर सकता हो, तो वह १० वर्षों में वेदज्ञ हो सकेगा। परन्तु जो प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घण्टा हमारे दर्शाये मार्ग से वेदाध्ययन करता रहेगा, वह ५-६ वर्षों में ही वेदवेत्ता हो सकेगा।

स्वाध्याय-संघके उद्देश्य और नियम।

वेद का स्वाध्याय करना और कराना, तथा वेदके धर्म का आचरण करना और कराना स्वाध्याय-संघका उद्देश्य है।

वेदका स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन करनेवाले वेद-धर्म के प्रेमी सज्जन इस ' स्वाध्याय-संघ ' के सदस्य हो सकते हैं।

१. स्वाध्याय-संघ का सदस्य होने के लिये कोई चंदा नहीं रखा गया। परन्तु--

' प्रतिदिन कमसे कम एक मंत्र का मननपूर्वक पाठ करना। ' ' आठ दिनोंमें कमसे कम एक नया मंत्र कण्ठ करना। ' ' और स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कम से कम मासिक एकवार उपस्थित रहकर स्वयं मनन किये हुए वेदमंत्र का आशय समय मिलनेपर अन्य सदस्योंको बताना। ' यही ' स्वाध्याय-संघ ' के सदस्य होनेके लिए चंदा है।

२. कम से कम तीन सदस्य होनेपर इस ' स्वाध्याय-संघ ' की स्थापना की जा सकती है। इनमें एक अध्यक्ष, दूसरा मंत्री और तीसरे सदस्य होंगे। इनका कार्य उक्त प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय करना, साप्ताहिक सत्संगमें अपने विचारों को रखना और स्वाध्याय-संघके सदस्यों की संख्या बढाना होगा।

३. स्वाध्याय-संघ के सदस्य स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण वृद्ध अर्थात् सब हो सकते हैं। आयुकी, चन्दे की या किसी अन्य धर्ममत या पंथ के सिद्धांत मानने आदि का कोई भी प्रतिबंध इस स्वाध्याय-संघ के सदस्य होनेके लिए नहीं है। वेद-धर्म का अभ्यास करने की इच्छा रहने पर कोई भी मनुष्य सदस्य हो सकता है।

४. स्वाध्याय-संघ का सदस्य किसी भी अन्य संस्था का अथवा अनेक संस्थाओं का सदस्य रह सकता है।

५. यदि बाहर के सदस्य न मिलें, तो अपने ही घरमें पति, पत्नी, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री ये सब सदस्य हो सकते हैं। पाठशाला के तीन विद्यार्थी भी अपना संघ स्थापित कर सकते हैं।

६. स्वाध्याय-संघ स्थापित करके सदस्यों के नाम लिखकर भेजने पर उनके स्वाध्याय की आयोजना ' स्वाध्याय-मण्डल ' द्वारा की जा सकेगी।

सदैक्यवाद पर शंकाएँ।

(१)

(लेखक- पं० देवदत्तजी, चोहारपुर-देहरादून)

मायावाद व सदैक्यवादविषयक आपके विचार पढे। मेरे निम्नलिखित प्रश्न हैं। समाधान करने की कृपा कीजियेगा।

१. मायावाद में माया सत् असत् से विलक्षण मानी जाती है। परन्तु सदैक्यवाद में माया सत् ही माननी पडेगी। परन्तु जगत् में जो भी कुछ नामरूप हैं। वे तो सत् नहीं, क्योंकि तीनों कालों में एकरस नहीं रहते। आपने पहले लिखा था- कि जगत् प्रवाहरूपसे सत् है। सो यह तो ठीक है। परन्तु हरएक वस्तु में दो भाग तो स्पष्ट दिखाई पडते हैं। एक सोने के १० तोले के कडे में सोना सत् है- परन्तु उसका नामरूप तो सत् नहीं है। क्योंकि जब उसी १० तोले सोनेका हार बनाया जाता है। तो पूर्व का (कडे का) नामरूप तो बदल जाता है। लेकिन यह नामरूप असत् भी नहीं है, क्योंकि वर्तमान में इसकी प्रतीति स्पष्ट है।

कृपया लिखिए कि यह जगत् नामरूपात्मक है, यानी माया और माया का प्रपञ्च है। यह जो मायावादियों का सिद्धान्त है। जिसकी सिद्धि विचार करने से अतीव स्पष्ट है। क्यों अयुक्तियुक्त है? ईश्वर की शक्ति माया तो ईश्वर की न्याईं सत् ही होगी। तब ये सब नामरूप सत् ही होंगे। सत् के अर्थ में यह समझता हूं कि जो भूत वर्तमान भविष्यत् में एकरस रहे। यह जगत् सत् (ब्रह्म) के आधार पर मायाद्वारा कल्पित है। यह जो मायावाद का सिद्धान्त है- इससे ही यह संसार की पहेली कुछ सुलझती-सी लगती है।

२. मनुष्य की अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति क्यों होती है? मायावाद के अनुसार चिदाभास को जीव मानने से। अन्तःकरण के तमोगुण व रजोगुण युक्त होने के कारण अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति सुसंगत हो जाती है। परन्तु यदि जीव चिदाभास नहीं, प्रत्युत ईश्वरांश है, तो उसकी प्रवृत्ति अशुभ कर्मों में असम्भव है।

३. जीव में अज्ञान क्यों और कैसे होता है?

४. अज्ञान किसका धर्म या गुण है? इस का स्वरूप क्या है? यह किसके आश्रित रहता है? आदि सभी विषयोंपर-प्रकाश डालने की कृपा कीजिए इति।

(२)

द्वा सुपर्णा विषयक शंका।

[प्रेषक- श्री० चौ० रामपालसिंह तेवतिया, जाट कालेज, लखावटी]

श्रीमान् सम्पादकजी, जनवरी १९४१ के वैदिक धर्म में जो 'कुछ शंकाओं' का आपका समाधान छपा है, वह प्रशंसनीय है। मगर मुझे उसमें 'द्वा सुपर्णा' विषयक एक शंका पैदा हो गई है। कृपया उस का समाधान कीजियेगा। आप लिखते हैं—

"उसी मिश्री की एक हि सत्य सत्ता के (१) मीठास और (२) रवा (crystal) ये दो पहलू हैं, ये सदा (३) मिश्री की सत्ता में लीन हि रहते हैं, ये कदापि मिश्री से पृथक् नहीं रह सकते। क्योंकि ये मिश्री के ही दो पहलू हैं। अतः (१) मीठास (अक्षर=चेतन), (२) रवा (crystal, क्षर=जड), ये दो पुरुष, (३) मिश्रीरूपी (पुरुषोत्तम) के आश्रय से रहनेवाले हैं, अतः एक सत्के आश्रय से ये दोनों रहते हैं। एक वृक्ष के ऊपर रहनेवाले येही दो पक्षी हैं। (द्वा सुपर्णा सयुजा०।) ऋ० देखो)"।

आप की उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट यह ज्ञात होता है

कि, द्वा सुपर्णा अर्थात् दो पक्षी, (१) मीठास (अक्षर= चेतन), (२) रवा (crystal, क्षर=जड) स्थानीय दो पुरुष हैं। अर्थात् जीव (गीताकी परा प्रकृति अथवा पुरुष और प्रकृति (गीता की अपरा प्रकृति अथवा महद्ब्रह्म वा पुरुष ही वेद के द्वा सुपर्णा हैं। और मिश्रीरूपी (पुरुषोत्तम) वेद का समानं वृक्षम् (एकं सत्) है। किन्तु आजपर्यंत वेद के सारे भाष्यकार, वेदान्तदर्शनकार वेदव्यास, स्वामी दयानन्द, आप भी और मैं भी द्वा सुपर्णा (दो पक्षी) का तात्पर्य जीवेश लेते रहे हैं और समानं वृक्षम् का तात्पर्य प्रकृति (वा शरीर) लेते रहे हैं। फिर तीनों का तात्पर्य चाहे मिश्रीरूपी एकं सत् ही हो, वा मिश्रित् सत्‌रूपी विशिष्टाद्वैत।

किन्तु मेरे विचार से वेद के द्वा सुपर्णा (द्वौ पक्षिणौ वा सूर्याचन्द्रमसौ अथवा द्वौ आत्मानौ) का तात्पर्य जीव ईश्वर से है और समानं वृक्षम् का तात्पर्य शरीररूपी प्रकृति से है। पर आप की उपर्युक्त पंक्तियों से मैं भिन्नार्थ समझा हूं, जैसा कि, मैंने ऊपर आप की पंक्तियों से ध्वनित तात्पर्य लिखा है। कृपया उपर्युक्त शंका का समाधान प्रकाशित करके अनुग्रहीत कीजियेगा कि, द्वा सुपर्णा से आपका तात्पर्य कौन से दो पुरुषों से है, जीवेश से वा प्रकृति-जीव से और क्या समानं वृक्षम् से आपका तात्पर्य पुरुषोत्तम से है? और हां, आप के मोक्षसे अपुनरावृत्ति के सिद्धान्त से यह भी अनुमान मुझे होता है कि, किसी प्राणी (जीवधारी) का उसकी अपनी मृत्यु के पश्चात् कोई पुनर्जन्म भी सम्भव प्रतीत नहीं होता, बल्कि किसी जीवधारी की जो सन्तति अर्थात् सन्तान है, वही उसका पुनर्जन्म है जो कि, वस्तुतः आंशिक पुनर्जन्म कहाया जा सकता है। आप कृपया वैदिक पुनर्जन्म वाद पर भी कुछ प्रकाश अवश्य डालियेगा और ऋग्वेद- १।२४।१,२ में

'मह्या आदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च'

आदि मन्त्र का विनियोग पुनरावृत्ति में है वा पुनर्जन्म में अथवा इस का क्या तात्पर्य है? कृपया संक्षेपतः यह भी बताइये कि, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद और आपके सदैक्यवाद में क्या क्या भेद हैं, जब कि, दोनों ही कदाचित् परिणामवाद और सत्कार्यवाद हैं। शांकर अद्वैतवाद अथवा मायावाद में जो कि, विवर्तवाद (भ्रमवाद) है और आपके बौद्धिक सदैक्यवाद में जो अन्तर है, वह तो आपने जनवरी १९४१ के वैदिक धर्म में स्पष्ट कर ही दिया है। और वैदिक सदैक्यवाद और जर्मनी के हैकल के एकत्ववाद (Monism) में क्या अन्तर है, जो यह कहता है।

" Matter (प्रकृति) cannot exist and be operative without spirit (जीव) nor spirit without matter. Matter, or infinitely extended substance, and Spirit (or Energy), or sensitive and thinking substance, are the two fundamnental attributes or Principal Properties, of the all-embracing divine essence of the world, the Universal substance (एक सत्-द्रव्य) "

॥ इत्योमलम् ॥

नोट- कृपया उपर्युक्त शंकाओंको आगामी वैदिक धर्म में स्थान देकर समाधान प्रकाशित कर दीजियेगा। पाठकों को कुछ अच्छा ही ज्ञानलाभ होगा। इति।

(३)

अजत्रय की मीमांसा।

(ले०- श्री चौ० रामपालसिंह तेवतिया 'रामाचार्य,' बी० ए०, एल्० टी०, विशारद, जाटकालेज, लखावटी, बुलन्दशहर, यू० पी०)

गत मास दिसम्बर १९४० के 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित मेरे सुपुत्र श्री धर्मपालसिंह तेवतिया की पहेली रूप 'तीन अज' की शंका का सम्पादकीय समाधान मुझे भी पढने को मिला। यही शंका प्रायः शंका का लेखक मुझसे भी किया करता है और मेरे समाधान से पूर्ण सन्तुष्ट न होकर यह शंका उसने वैदिक धर्म में प्रकाशित

कराई। सम्पादकीय समाधानमें मुझे उसने 'तीन अज' की त्रुटि बतलाई, जो मुझे भी प्रतीत हुई कि यदि ईश्वर-जीव-प्रकृति तीनों एक ही सद्वस्तु हैं, अर्थात् तीनों स्वरूप से परस्पर विभिन्न तीन प्रकार की सत्ताएं नहीं हैं तो फिर 'तीनों' को वेदादि शास्त्रों में 'अज' अर्थात् अजन्मा अथवा अनादि वा नित्य क्यों लिखा है? शंका के लेखक का अधिकतम बल 'अज' शब्दपर है।

इस विषय में समाधान के रूप में मेरे निज के विचार निम्न प्रकार हैं, जो सब के अवलोकनार्थ वैदिक धर्म में प्रकाशित कराता हूं। अव्वल तो 'अज' शब्द अज्-गतौ धातुसे गति (ज्ञान-गमन-प्राप्ति) शील अर्थमें सामान्यतया ईश्वर-जीव-प्रकृति तीनों के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। यदि कहीं विशेष अर्थ अजन्मा ही माना जाय, तो इसके लिए दो बातें हैं। या तो एक सद्वस्तुमें तीनों की प्रावाहिक अनादिता की कल्पना मानी जा सकती है।

या यह कि द्रव्य (गुणी) और गुणमें कोई विशेष भेद नहीं होता है, जो सामान्य भेद माना जाता है, वह केवल बुद्धयपेक्ष होता है, इसलिए ईश्वर-जीव-प्रकृति जो सामान्यतया तीन द्रव्य माने जाते हैं, वे प्रेरणा-चिति-विस्तार के रूपमें एक ही द्रव्यरूप सत्ता के तीन मुख्य नित्य गुण माने जा सकते हैं।

माया वा प्रकृति परमात्मा का स्वाभाविक अनन्त सामर्थ्य गुणरूपसे संसार का प्रधान कारण है और जीवात्मा ('विशिष्टस्य-अहंकारविशिष्टपुरुषस्य-जीवत्वमन्वय-व्यतिरेकात् सूत्रानुसार) परमात्मचेतनांश का विशेष प्रकाश है। परमात्मप्रेरणा ही ईशता है। इस प्रकार नित्य त्रिगुणात्मका सत्ता द्रव्यरूप से एक ही है। चाहे उस द्रव्यरूपसे एक सत् को ब्रह्म कहो चाहे, परमात्मा वा परमेश्वर अथवा प्रकृति (Nature), स्वधा (खुदा), प्रधान (Matter माद्दा), गूढात्मा (God) इत्यादि किसी भी नामसे पुकारो, बात एकही है। इसलिए नित्य सनातन शाश्वत (Eternal) परम सत्ता (Ultimate primal reality) द्रव्यरूपसे एक ही है, जैसा कि वेद में कहा है।

'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

इस परम सत् को ही निर्गुण वा श्याम (शुद्ध) ब्रह्म कहते हैं। वस्तुतः इसी परम सत्तत्त्व को सच्चिदानन्दरूपेण तथा भोग्य-भोक्ता-प्रेरितारूपेण त्रिगुणात्मक होनेसे 'त्रिविध ब्रह्म' वा सगुण ब्रह्म, शबल (माया-विशिष्ट) ब्रह्म वा अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। इसी अनादि अद्वैत सत् ब्रह्म को ईश्वर-जीव-प्रकृतिरूपेण 'अजत्रय' कहा गया है। बात एक ही है, केवल कल्पनागत कथनमात्र का भेद है। अतः वेदान्त का अन्तिम सिद्धान्त 'ओ३म् खं ब्रह्म' एक ही है।

वस्तुतः पारमार्थिक अन्तिम 'अज' एक ही है। व्यावहारिक सापेक्ष 'अज' तीन माने जाते हैं। यही 'द्वैताद्वैतत्रैतवाद' की समुचित समीक्षा है। यह अन्तिम अज (= अजन्मा) भी वस्तुतः सतत गतिशील 'अज' (अज्-गतौ-ज्ञानगमनप्राप्तिषु) है। इसी लिए इस 'अज' को परमात्मा (अत्-सातत्य गमने) अर्थात् सतत गतिशील (Ever-eternally-changing) कहते हैं। यही इसका स्वभाव (प्रकृति) है। इसीमें इसका जीवत्व है। इसी अनादि 'अज' को वेद में—

'यद्जः प्रथमं संबभूव' (अथर्व० १०।१।३१)
'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं' (साम० ६।१।८)
'अजायमानो बहुधा विजायते' (अथर्व० १०।८।१३)

इत्यादि प्रकार से नित्य, सतत गतिशील 'अज' कहा है। यही 'तीन अज' का 'एक अज' में अन्तिम अवसान तथा समावेश वा समन्वय है। इसीलिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्' तथा 'सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' कहा है।

'द्वा सुपर्णा०' तथा 'अजामेकाम्०'

इत्यादि मन्त्रों में क्रमशः जो एक वृक्षपर दो पक्षी के तथा एक बकरी के साथ दो बकरों के रूपकद्वारा प्रकृति-जीव-ईश्वर का त्रैत दर्शाया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से समझाया है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल अद्वैत 'एकं सत्' ही है। इत्योमलम्॥

(ऊपर की शंकाओं का संपादकीय उत्तर)

सत् एक ही है।

(दीर्घतमा औचथ्यः । सूर्यः । त्रिष्टुप्)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः।
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋ० १।१६४।४६)

(१) 'एकं सत्' = एक ही निःसंदेह सत् है।

(२) 'विप्राः बहुधा वदन्ति' = विशेष ज्ञानी जन उसीका वर्णन अनेक प्रकारों से करते हैं।

(३) वे उसी 'एक सत्' को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

(४) वे उसी 'एक सत्' को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण भी कहते हैं।

एक का अनेक नामों से वर्णन जो करते हैं, वे अपने अनुभव से करते हैं। इसी 'एक सत्' में उष्णता का अनुभव होने से वे ज्ञानी उसी 'एक सत्' का वर्णन अग्नि पद से करते हैं। उसी तरह (सुपर्णः) आदित्य, (मित्रः) सूर्य, (इन्द्रः) विद्युत् आदि आग्नेय पदार्थों के नाम वे ज्ञानी उसी 'एक सत्' को देते हैं, क्योंकि 'एक सत्' के ही ये भाव हैं, ऐसा उनका अपना निज अनुभव है। अर्थात् अग्नि, सूर्य, आदित्य, इन्द्र ये 'एक सत्' के ही भाव हैं। (दिव्यः) आकाश में रहनेवाला और (गरुत्मान्) बडा विशाल ये नाम भी उसी 'एक सत्' के ही हैं। क्योंकि वही 'एक सत्' आकाश में व्याप्त है और वही विशाल है।

वही एक सत् जलरूप में सब के सामने आकर सब की प्यास बुझाता है, इसलिये उसी को 'वरुण' कहते हैं और वायु भी वही 'एक सत्' है, इस लिये उसी को 'मातरिश्वा' कहते हैं। (मातरि) अन्तरिक्ष में जो (श्वा) रहता है, श्वसन करता है, वह वायु ही है। सब का नियमन करनेके कारण उसी 'एक सत्' को 'यम' कहते हैं।

इस तरह 'एक सत्' जो है, वही इतने रूपोंमें ज्ञानियों के अनुभव में आता है। इस रीति से पञ्चमहाभूत भी 'एक सत्' के ही रूप हैं। यह इसी मन्त्र से प्रकट होता है, देखिये-

पृथ्वी - (अग्न्यधिष्ठान)
आप - वरुणः (जलाधिप)
तेजः - अग्नि, मित्र (सूर्य), दिव्यः सुपर्ण गरुत्मान्, आदित्य, यम (सूर्य, अग्नि)
वायु - मातरिश्वा (वायु), यम (वायु)
आकाश - (एकं सत्)

'यम' शब्द के अर्थ अनेक हैं।

'अग्निर्वै यमः' (श० ब्रा० ७।१।१।३)
'एष वै यमो य एष तपति (श० ब्रा० १४।१।३।४)
'अयं वै यमो योऽयं पवते' (श० ब्रा० १४।२।२।११)

इस तरह 'यम' के अर्थ 'अग्नि, सूर्य और वायु' हैं। अतः यम शब्द तीनों स्थानों में रखा है।

अग्नि का अधिष्ठान पृथ्वी है। इसलिये अग्नि लेने से पृथ्वी का ग्रहण होता है। आकाश ही उस 'एक सत्' का मूल रूप है। आकाश का अर्थ है, (आ) समन्तात् (काश) प्रकाशमान्, जो पूर्णतया प्रकाशमान है, इसी के प्रकाश से सब विश्व प्रकाशित होता है, वही आकाश है, वही 'एक सत्' है।

पृथिव्यादिकों को कोई पाठक 'जड' करके तिरस्कृत न समझें, क्योंकि 'एक सत्' के ही ये 'अनुभव' हैं। यहां अनुभव शब्द हमने विशेष भावसे जान बूझकर प्रयुक्त किया है।

लोग समझते हैं कि इस विश्व में पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, ये परस्परविभिन्न पांच पदार्थ हैं और ये पांच पदार्थ जो 'एक सत्' है, उससे सर्वथा पृथक् हैं। जो ऐसा मानते हैं, वे भ्रम में हैं। सच देखा जाय, तो पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश ये पांच विभिन्न पदार्थ ही

नहीं हैं। ये हमारे इन्द्रियों के कारण हमें प्राप्त होने-वाले हमारे अनुभव हैं। हमारे ज्ञानेंद्रिय पांच हैं, इसलिए हमें पांचही अनुभव आ रहे हैं, यदि ये इंद्रिय सात होते, तो सात अनुभव आते और यदि ये इंद्रिय चार होते, तो केवल चारही अनुभव आते। पांच अनुभव हमें मिलते हैं, इसलिए पांच पदार्थ परस्पर पृथक् हैं, ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। वस्तु एक है, उसके साथ इंद्रिय-सम्बन्ध होनेसे हमें पांच अनुभव आते हैं।

वस्तु 'एकही सत्' है, वह एकमात्र एक है। दो वस्तुएं यहां नहीं हैं। हमारा आंख उसी 'एक सत्' को देखता है, आंख केवल रूपका ग्रहण करने में ही समर्थ है, इसलिए आंखसे उसका रूप दीखता है। जो रूप आंखसे दीख रहा है, वह उसी 'एक सत्' का ही रूप गुण है, किसी दूसरे का नहीं, क्योंकि दूसरी वस्तुहि यहां नहीं है। आंख एकसाथ दोतीन गुणों का ग्रहण करनेमें समर्थ होता, तो उससे दोतीन गुणोंका ग्रहण होता, पर आंख वैसा करने में असमर्थ है। यह आंख की कमजोरी है। पर आंखने जिस रूप का ग्रहण किया, वह उसी सत् का गुण था, क्योंकि एक ही सत् यहां है।

इसी तरह कान उस 'एक सत्' के साथ संबन्ध करके शब्द का ग्रहण करते हैं। शब्दगुण उसी सत् का है। कान उसी का ग्रहण कर सकते हैं। त्वचा स्पर्शका ग्रहण करती है, जिह्वा रस का ग्रहण करती है, और नासिका गंधका ग्रहण करती है। ये गुण उसी 'एक सत्' के हैं। किसी विभिन्न वस्तुके नहीं हैं, क्योंकि कोई उस 'एक सत्' से भिन्न वस्तु ही यहां नहीं है।

अर्थात् 'एकही सत्' है, उस सत् में अनन्त गुण हैं। उस 'एक सत्' में कितने गुण हैं, इसका पता किसी को नहीं है, क्योंकि उसके सब गुण जाननेके साधन किसी के भी पास नहीं हैं। हमारे पास केवल पांच साधन-केवल पांच इंद्रिय--हैं, जिनके द्वारा हमें उस 'एकही सत्' के केवल पांचही गुणोंका पता लगता है। उतना ही पता हमें लगना है। ये पांचों गुण- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द- ये गुण उसी 'एक सत्' के हैं। पांचोंका मिलकर अनुभव लेनेका साधन हमारे पास नहीं है। वैसा होता, तो एक ही वस्तु है, 'एकही सत्' है, ऐसा ही स्पष्ट पता लग जाता।

इस समय हमारे इंद्रियरूपी साधन एक एक गुण का ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए भ्रम हो रहा है कि प्रत्येक इंद्रिय से अलग अलग वस्तु का अनुभव हो रहा है। परन्तु सच तो यही है कि एकही वस्तु के ये पांचों गुण हैं, जो हमारे पांचों इंद्रियोंने लिए हैं। जैसे पांच अन्धे एकही हाथीके पांच अवयवों का ग्रहण करते हैं।

भ्रम का निरास करनेके लिए इस बात के जानने की आवश्यकता है कि एकएक इंद्रियसे किसी भी वस्तुका ग्रहण नहीं हो रहा हैं, परन्तु किसी न किसी गुण का ही ग्रहण हो रहा है। यही प्रथम जानना आवश्यक है। शब्द--स्पर्श-रूप--रस--गन्ध ये पांच गुण हैं, जिनका ग्रहण इंद्रियों से हो रहा है। वस्तु का ग्रहण कोई इंद्रिय नहीं कर सकता।

ये पांच गुणों के पांच अधिष्ठान विभिन्न हैं, ऐसा सिद्ध हुआ, तो पांच विभिन्न वस्तुएँ हैं, ऐसा सिद्ध होगा, पर यदि इन पांच गुणों का अधिष्ठान एक ही है, ऐसा सिद्ध हुआ, तो उस एक वस्तु के ही ये पांच गुण हैं ऐसा सिद्ध होगा। पांच गुणों के पांच विभिन्न अधिष्ठान हैं, ऐसा मानने के लिये हमारे पास इस समयतक कोई प्रमाण नहीं है। उक्त मंत्र में 'एकं सत्' कहा है और उसी का वर्णन ज्ञानी लोग 'वरुण, अग्नि, मातरिश्वा' अर्थात् 'जल, तेज, वायु' ऐसा करते हैं, ऐसा भी कहा है। इस से 'सत् एक ही है और उसी का अनुभव 'जल-अग्नि-वायु' है, यह बात सिद्ध होती है।

हमारे पांच अनुभवों के विभिन्न पांच अधिष्ठान हैं, अथवा पांचों अनुभवों का मिलकर एक ही अभिन्न अधिष्ठान है, इस शंका का उत्तर देने में मनुष्य की मति कुण्ठित हुई, उस समय वेदने आकर कहा कि- 'भ्रांत न होओ, एकही सत् है, वही एकमात्र सब अनुभवों का अधिष्ठान है, उसी एक सत् के जल-अग्नि-वायु ये विभिन्न अनुभव हैं। अग्न्यादि अनुभव लेकर उस एक ही सत् का जो वर्णन ज्ञानी कर रहे हैं, वह विभिन्न वस्तुओं का वर्णन नहीं है, प्रत्युत सब विभिन्न वर्णन एक ही अभिन्न सत् वस्तु का है।

अर्थात् गन्ध-रस-रूप-स्पर्श- शब्द ये हमारे इन्द्रियों के अनुभव हैं। इन अनुभवों के लिये हमारे इंद्रिय ही

जिम्मेवार हैं। हमारे पांच इंद्रिय हैं, इसलिये ये पांच अनुभव आते हैं। पांच वस्तुएं हैं इसलिये पांच अनुभव आते हैं, ऐसी बात नहीं है। एक ही सत् से हमारे पांच इंद्रिय ये पांच अनुभव प्राप्त कर रहे हैं। यदि इन्द्रियां अधिक होतीं, तो अनुभव अधिक प्राप्त होते और इंद्रियां कम होने पर कम। इस समय हमें पांच इंद्रियां हैं, इसलिये ये पांच अनुभव आते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि, पांच अनुभवों का कारण पांच इंद्रियां हैं, न कि पांच वस्तुएं। वस्तु एक ही है, यह वेद का कथन सुस्पष्ट है, 'एकं सत्' उसी के अनेक अनुभव ज्ञानी अनेक प्रकार से कर रहे हैं।

यहां का '**विप्राः**' शब्द यदि इंद्रियवाचक क्षणभर के लिये माना जाय, तो इस मन्त्र का अर्थ देखो, कैसा स्पष्ट होता है—

'एकं सत्', विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

'एक ही सत्' है, इंद्रियां [उस एक सत् का] अनेक प्रकार से [अनुभव लेती हैं और वैसा] कह देती हैं, वर्णन करती हैं, [उस अनुभव के कारण उसी एक सत् को] अग्नि यम मातरिश्वा (वायु) कहा जाता है।

मन्त्र कहता है कि, '**एकं सत्**' अर्थात् सत् एक ही है, **सत् न दो हैं और नाही तीन हैं।** '**एकं सत्**' से आशय यह प्रकट होता है कि—

सत् असत्
'एकं सत्' = 'अनेकं असत्'

एक ही सत् है, इसी से सिद्ध है कि, 'दो या तीन सत् हैं' यह कथन असत् है। '**एक सत्**' के भाव 'दो, तीन अथवा अधिक होंगे, परन्तु वे भाव उसी एक सत् में होंगे, उस से बाहर नहीं, जैसे 'मिश्री के आश्रय से 'मिठास' और 'रवा' ये दो भाव रहते हैं। पर मिश्री, मीठास, रवा' ये तीन कल्पनाएं हैं, सत्य वस्तु एक ही 'मिश्री' है, वही 'एकं सत्' है। शेष भाव उससे पृथक् नहीं हैं। अतः दो या तीन सत् हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है।

'**एकं सत्**' का अर्थ 'एक ही सत्' है, अनेक सत् नहीं हैं। यह अर्थ स्पष्ट है। इसलिए एक सत् है, यह मानकर ही विचार करना चाहिये। '**एकं सत्**' इस मन्त्रको मानते हुए, फिर भी दो या तीन सत् मानना, 'एकं सत्' का अपमान करना है, इस वेदमन्त्र को न मानना है। जब वेदमन्त्र 'एकं सत्' स्पष्ट कहता है, तो वैदिकधर्मी लोग उसको न मानकर 'अनेक सत् हैं,' ऐसा किस आधार से कह सकते हैं?

अब इस के साथ दूसरा भी एक मन्त्र देखिए—

तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तत् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(वा० यजु० ३२।१)

(१) तत् एव अग्निः	=	वह ब्रह्म ही अग्नि है,
(२) तत् आदित्यः	=	,, ,, ,, सूर्य ,,
(३) तत् वायुः	=	,, ,, ,, वायु ,,
(४) तत् उ चन्द्रमाः	=	,, ,, ,, चन्द्रमा ,,
(५) तत् एव शुक्रं	=	,, ,, ,, शुक्र (वीर्य) ,,
(६) तत् ब्रह्म	=	,, ,, ,, ज्ञान ,,
(७) ता (तत्) आपः	=	,, ,, ,, जल ,,
(८) सः (तत्) प्रजापतिः	=	,, ,, ,, प्रजापालक ,,

यह मन्त्र दूसरी रीतिसे भी लगाया जा सकता है—

(१) अग्निः तत् एव	=	यह अग्नि वही ब्रह्म है।
(२) आदित्यः तत् ,,	=	,, सूर्य ,, ,, ,,
(३) वायुः तत् ,,	=	,, वायु ,, ,, ,,
(४) चन्द्रमाः तत् ,,	=	,, चन्द्रमा ,, ,, ,,
(५) शुक्रं तत् एव ,,	=	,, वीर्य ,, ,, ,,
(६) ब्रह्म तत् ,,	=	,, ज्ञान ,, ,, ,,
(७) आपः तत् (ताः)	=	,, जल ,, ,, ,,
(८) प्रजापतिः तत् (सः) ,,	=	,, प्रजापालक ,, ,, ,,

दोनों रीतियों से एक ही अर्थ का प्रकाश होता है। ब्रह्म एक ही है, एक सत् है और उसी एक सत् के आप, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, वीर्य, ज्ञान और प्रजापालक राजा ये भाव हैं, ये रूप हैं, उससे ये भाव बने हैं।

पूर्वमन्त्र में '**एक सत्**' के 'अग्नि, वरुण, मातरिश्वा, इन्द्र, दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्, यम ये भाव हैं,' ऐसा कहा था।

अब इस मन्त्र में '**एक तत्**' के 'अग्नि, आप, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, वीर्य, ज्ञान, राजा' ये भाव हैं' ऐसा कहा है।

पाठक इन दोनों मंत्रों में एक ही भाव कैसा अद्भुत रीतिसे कहा है, यह देखें, और ' एक सत् ' है और उसी के अधिष्ठान पर ये सब विश्व के अनन्त रूप दीखते हैं, यह जानें। इस जानने में किसी भी प्रकार का संदेह न रहने दें, क्योंकि वेद का मुख्य सिद्धान्त ही यह है।

इतनी भूमिका के बाद शंकाकारों की ऊपर लिखित शंकाओं का विचार करते हैं।

शंका- उक्त शंकाओं में पहिली शंका ऐसी है कि, " सदैक्यवाद में माया सत् ही माननी पडेगी। "

उत्तर- सदैक्यवादमें परमात्मासे पृथक् कोई दूसरी सत्ता नहीं है। सदैक्यवाद का महावाक्य ' एकं सत् ' है। जो सत् है, वह एक ही है। उस सत् को आप ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, महेश्वर जो चाहे कहो। वह एक ही सत् है। ये सब नाम साधक को सद्वस्तुका बोध करने के लिये हैं।

सदैक्यवाद में एक ही सद्वस्तु होने से दूसरी वस्तु की कल्पना करना भी वेदमन्त्र के आधारपर असम्भव है। जो एक वस्तु ' एकं सत् ' है, उसी के आश्रय से ' जड-चेतन-परमेश्वर ' ये तीन कल्पनाएं रहती हैं। ये विभिन्न सत्तावाली वस्तुएं नहीं हैं। उस ' एक सत् ' को ही हमने अपनी कल्पना से तीन दृष्टियों से देखा, इतना ही इस का अर्थ है। एक मनुष्य के किसी फोटोग्राफरने तीन ओर से तीन फोटू उतारे। इसमें फोटू तो परस्पर भिन्न तीन होंगे, पर ये तीन रूप उस एक के ही आधारपर आश्रित हैं। फोटू तीन होने पर जिस के वे फोटू हैं, वह वस्तु एक ही है।

अब प्रश्न यह है कि, सदैक्यवाद में माया को सत् मानना पडेगा या असत् ? यह प्रश्न ही निरर्थक है, क्योंकि माया का अर्थ है कुशलता, कौशल्य (Skill), यह परमेश्वर का स्वभाव है, इसलिये परमेश्वर और उस की कुशलता में कोई भी वस्तुगत भेद नहीं है। कोई मनुष्य और उस की सुन्दरता में क्या कोई भेद है ? चित्रकार और उस की निपुणता में क्या भेद है ? इसी तरह ईश्वर और उस की माया (Skill) में कोई भेद ही नहीं है। ईश्वर और उस की कुशलता, उस का रचनाचातुर्य, ये क्या परस्पर विभिन्न पदार्थ हैं ? कभी नहीं। फिर यह शंका क्यों पैदा हुई ? सदैक्यवाद में यह शंका उक्त कारण निरर्थक है।

मायावाद माननेवाले उस को सदसत् मानें। वह जैसा चाहे वैसा कहें। उनका उत्तर वे देंगे। परमेश्वर का गुण परमेश्वर के साथ ही सदा रहता है। गुण और गुणी पृथक् नहीं हैं। परमेश्वर में किसी बाह्य निमित्त से यह कुशलता आयी है, ऐसी बात नहीं। ये गुण उसमें स्वतःसिद्ध हैं।

इस प्रकार विचार करने से माया के सत् या असत् मानने से जो शंकाओं की परंपरा उत्पन्न हुई है, वह सदैक्यवाद में नहीं उत्पन्न होती। यदि परमेश्वर सत् है, तो उस के सभी गुण सत् हैं, जिनमें माया नाम रचनाकौशल्य भी एक गुण है। इस तरह की माया सत् मानने से कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह एक कल्पना की भिन्नता है, वस्तु तो एक ही है।

भेद के दो भेद।

शंका करनेवाले भेद का स्वरूप प्रथम समझ लें। भेद भी दो प्रकार के हैं। एक ' **वस्तुगत भेद** ' और दूसरा ' **कल्पनागत भेद** '। वस्तुगत भेद 'अग्नि, जल, वृक्ष' में हैं और कल्पनागत भेद ' मिश्री, मीठास, रवा ' में हैं।

ईश्वर और माया में वस्तुगत भेद नहीं है, वह कल्पनागत भेद है। तार्किक लोग इस भेदको बढा बढा कर कल्पना के बडे भ्रम उत्पन्न करते हैं, इस समयतक ये भ्रम बहुत ही बढाये गये हैं। इनके कारण ही वेद का सदैक्यवाद मानने में पाठक हिचक रहे हैं और कल्पनागत भेद को वास्तविक भेद मानकर वेदके उपदेशसे दूर चले जा रहे हैं।

शंका-

पाठकोंको यदि वैदिक सत्य जानने की इच्छा है, तो उनको उचित है कि वे तार्किकों के भ्रमजाल और शब्दाडंबर में न फंसे।

दूसरा प्रश्न है कि ' नामरूप सत्य है वा नहीं ?

उत्तर- इस का भी उत्तर वैदिक दृष्टिसे आसान है और तार्किकों की पेंचीदी कल्पना के कारण क्लिष्ट बनाया गया है।

रूप दो हैं।

रूप में भी दो रूप हैं, एक '**विश्वरूप**' और दूसरा

' जगद्रूप ' । विश्वरूप स्वयं ईश्वर का रूप होनेसे वह शाश्वत है, जगद्रूप मानवनिर्मित होनेसे अशाश्वत है । विश्वरूप और जगद्रूप को प्रथम जानना चाहिए।

लोहा विश्वरूप है, कपास विश्वरूप है, मिट्टी विश्वरूप है । लोहेसे बने शस्त्र, कपास के बने कपडे और मिट्टी के बने बर्तन जगद्रूप हैं । विश्वरूप सत्य है, जगद्रूप मिथ्या है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह श्री स्वा० शंकराचार्यजी ने कहा है । ब्रह्म विश्वरूप है, अतः वह विश्वरूप सत्य है। शस्त्र, कपडे और बर्तन जगद्रूप होनेसे मिथ्या हैं । मिथ्या का अर्थ ' वे नहीं हैं ' ऐसा नहीं है । वे विश्वरूप के समान सत् नहीं हैं । मिथ्याका अर्थ अभाव नहीं है । कोई मनुष्य मिथ्या कहता है, इसका अर्थ वह कुछ भी नहीं कहता, ऐसा नहीं है । वह यथार्थ नहीं कहता, इतनाही उसका आशय है । इसी तरह विश्वरूप सत् है और जगद्रूप मिथ्या है, इसका अर्थ जगत् नहीं है, ऐसा नहीं, अपि तु वह यथार्थतया कुछ और है, इतनाही है । वह यथार्थतया विश्वरूप के आधारपर प्रतीत हो रहा है ।

सोनेके कितने भी जेवर बनाए, तो भी उसमें सुवर्ण की सत्ता एकसमान सदा सत्य है, क्योंकि सुवर्ण विश्वरूप है और विश्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म का ही रूप है, वही ' एकं सत् ' है । शाश्वत है । अतः सब आभूषणों में सुवर्ण का रूप शाश्वत सत्य है । कडा, हार, अंगूठी आदि जो भाव हैं, वे जगद्रूप के हैं, वे मिथ्या हैं । अर्थात् कडे के रूप में जो सोनेका रूप है, वह शाश्वत सत्य, विश्वरूपी सत्य है । पर आकारविशेष जो मानवी रचना है, वह मूल विश्वरूपपर आरोपित होनेसे विश्वरूप से सत्य है और जगद्रूप से मिथ्या भी है । यह हमारे देखने से होनेवाली प्रतीति है ।

इससे नामरूप के सत्यासत्य होने न होनेका निर्णय हो सकता है । शंका करनेवाले प्रथम वैदिक सदैक्यवाद का स्वरूप जाननेका यत्न करें । उसमें मायावाद तथा अन्यान्य वाद बीचमें ला लाकर खिचडी न बनावें । सब वादों की आजकल खिचडी बनायी गयी है । इसी कारण वेदका अर्थ ध्यान में आना भी मुश्कील हुआ है । क्योंकि हरएक मनुष्य अपने पूर्वग्रह के अनुसार वेद को मरोडने लगता है ।

तीसरी शंका– 'मनुष्य की अशुभ प्रवृत्ति क्यों है ?'

उत्तर- मनुष्यकी अशुभ प्रवृत्ति ही है, ऐसी बात नहीं है । शुभ प्रवृत्ति भी मनुष्य में है । महात्मा गांधीजी की प्रवृत्ति शुभ है, किसी दूसरे की अशुभ होगी । इसलिए मनष्य की प्रवृत्ति अशुभ क्यों है, यह प्रश्न ठीक नहीं है । किसी भी मनुष्य में केवल अशुभ ही प्रवृत्ति होगी, ऐसा मनुष्य ही विश्वभर में नहीं है । मनुष्य में सत्व-रज-तम गुण होनेसे गुणोंके चक्रके भ्रमणानुसार शुभ-मिश्र-अशुभ प्रवृत्ति होती रहती है ।

वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य का आत्मा ब्रह्मांश है, इंद्रियां ३३ देवतांश हैं । ब्रह्म और देवताओं के मिलकर ३४ अंशों का मानव है । वह केवल अशुभ प्रवृत्तिवाला कैसे हो सकता है ? अतः यह प्रश्न ठीक नहीं है ।

गुणत्रय का चक्र विश्वमें, मानवसमाज में तथा एक मानव में भ्रमण कर रहा है । एक गुण एक समय ऊपर आता है और दूसरा दूसरे समय ऊपर आता है । जो ऊपर आता है, वह प्रभावी होता है, इतर दबे रहते हैं ।

विश्व में कारणपरम्परा सतत चल रही है । एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र का संघर्ष, एक मानव का दूसरे से संघर्ष चल रहा है । इस विश्वव्यापक हलचल में किसी एक व्यक्ति के शुभाशुभ प्रवृत्ति का, अथवा किसी राष्ट्र की शुभाशुभ प्रवृत्ति का विचार पृथक् करना अनुचित है ।

वेदने सब विश्व को बडे हण्डे की उपमा देकर उसमें चावल पक रहे हैं, ऐसा कहा है । अथर्ववेद का ओदन-सूक्त देखो (अथर्व० ११।३।१) । सब विश्व मिलकर चावलों की हंडी पक रही है । इस में कई चावल ऊपर जाते हैं, दूसरे नीचे आते हैं । किसी एक चावल का स्वतंत्र विचार करना योग्य नहीं है । सभी चावल पकाये जा रहे हैं, उस की पकाने की विधि में कमज्यादा होना स्वाभाविक है ।

कार्यकारणपरम्परा का सातत्य है । शीत-उष्ण-वर्षा का चक्र है, बाल्य-तारुण्य-वृद्धत्व का चक्र है, सत्व-रज-तम का चक्र है । ये चक्र परिवर्तित हो रहे हैं । सब का मिलकर विचार करने से शंकाकर्ताके प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होंगे । वेद कहता है, सबका मिलकर सांजा विचार करो।

हण्डीभर के चावल पक रहे हैं, रेलभर के मुसाफीर एक स्टेशन की ओर जा रहे हैं, इस में किसी एक का विचार कुछ भी मूल्य नहीं रखता। यहां कोई यह न कहे कि सत्वगुण ही उत्तम है और रजोगुण बुरा है। नहीं। सत्वगुण जाग्रति और रजोगुण निद्रा है। कहिये, आपको जाग्रति हि चाहिए और निद्रा नहीं चाहिए ? वेदका आशय न समझनेसे और वैयक्तिक भाव अत्यधिक बढनेसे ये प्रश्न उत्पन्न हो रहे हैं। वास्तविक सभी गुण आवश्यक हैं।

आजकल लोग कहते हैं, कि 'सत्वगुण अपने में बढाओ और तमोगुण हटाओ।' सत्यधर्म न समझनेसे ऐसा बोला जाता है। न सत्वगुण बढाया जायगा और नाही तमोगुण घटाया जायगा। इस विश्व में त्रिगुण वैसे के वैसे ही रहेंगे। आप इतना ही कर सकते हैं कि उनको यथास्थान में प्रवृत्त करना। इससे उनका दोष दूर होगा।

मनुष्यों में सात्विक, राजस, तामस प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक रहती हैं। वह बदलना असंभव है। आप उनको बदलने का यत्न करेंगे, तो वे श्रम व्यर्थ जायंगे। थोडासा परिवर्तन होगा, बहुत नहीं होगा। अतः आपको करना यही चाहिए कि, उनका यथास्थान में उपयोग करना। इससे अशुभ प्रवृत्ति की अशुभता दूर होगी और अभीष्ट सिद्ध होगा।

शंका– 'जीव में' अज्ञान क्यों और कैसे होता है ? अज्ञान किसका धर्म है ?

उत्तर– ऊपर सत्व, रज, तमका विचार किया है, उसमें इस का उत्तर आया है।

अज्ञान किसका गुण या धर्म यह प्रश्न आश्चर्यजनक है। मनुष्य को ज्ञान थोडा और अज्ञान ही बहुत है, पर वह अज्ञान बाधक नहीं है। सब अज्ञान बाधक नहीं है, न वह कभी हटेगा।

किसी मानव को विश्वभरके पदार्थों के बोझके विषयमें हमेशा अज्ञान रहता ही है। बडे वैज्ञानिक भी विश्वभर के प्रत्येक पदार्थ के बोझ का ज्ञान नहीं रख सकते।

क्या यह अज्ञान किसी कारणविशेष से हुआ है और क्या कभी किसी का यह अज्ञान समूल दूर भी हो सकेगा? इस प्रकार के अज्ञान के विषय में पृच्छा करना व्यर्थ है। अतः इन प्रश्नों के श्रम भी व्यर्थ हैं।

मनुष्य को अपने '**नरत्वसे नारायणत्वकी प्राप्ति**' के विषय में ही विचार करना चाहिए। शेष ज्ञान और अज्ञान के प्रश्न व्यर्थ हैं। वेदका दृष्टिकोण ही अलग है और इसीलिए वेद में ऐसे प्रश्नोंका उहापोह नहीं है। और न किसीको इससे लाभ होगा।

आजकल जिनका अपने साथ कोई संबन्ध नहीं, ऐसे प्रश्न पूछनेका एक व्यसन ही बढ रहा है। सृष्टि के आरंभ में क्या था और अन्त में क्या होगा? मुक्तिके बाद क्या होगा ? अज्ञान कबसे प्रारंभ हुआ? वृक्ष और बीजमें प्रथम क्या है? इ० इ०। मनुष्य की तर्कनाशक्तिके ये प्रभाव हैं, जो मनुष्यको ऐसे व्यर्थ प्रश्नोंमें भटकने के लिए प्रवृत्त करते हैं। इसलिए '**वैदिक ईश्वरस्वरूप को जानना, अपना स्थान उसमें पहचानना और अपना कर्तव्य करना, यही साधक का कर्तव्य है।**' इतना ही इसमें यहां कहना है।

लेखक विद्वान् पण्डित हैं। उनके प्रश्न तर्कशास्त्र के अनुकूल हैं। वे हमारेपर क्रोध न करें, क्योंकि हमने उन के प्रश्नों में से कई प्रश्नों को व्यर्थ कहा है। सब से प्रथम '**एकं सत्**' का तात्पर्य समझने का यत्न करना चाहिए, उसके प्रकाश में वेदको समझने का यत्न होना चाहिए। इसके प्रयत्न में जितने प्रश्न हैं, उतने ही प्रश्न इस समय योग्य होंगे।

विविध तार्किकोंने अनेक वाद रचे हैं। आज हमारे पास सब वाद आकर हमारे मस्तिष्क में घुसे बैठे हैं। उन के कारण वेदका सत्य ज्ञान जानना और अपनाना असंभव हुआ है। इसलिए सबसे प्रथम अन्य वादोंसे वेदका सदैक्यवाद अलग करके समझ लेना उचित है। पश्चात् शंकाएं रहेगी नहीं। अन्य वादोंकी शंकाएं वेदवादपर लगाना योग्य नहीं है।

द्वा सुपर्णा।

श्री चौ० रामपालसिंहजीने '**द्वा सुपर्णा**' वाली शंका उठाई है। यह शंका ठीक है। दो सुपर्ण हैं, जो एक वृक्ष पर बैठे हैं। इस मन्त्र में 'वृक्ष' कौन है ? प्रकृति अथवा ईश्वर ? यह इस शंका का आशय है। यह प्रश्न विचारणीय है, इसमें संदेह नहीं है।

बहुत लोगोंने 'वृक्ष' को प्रकृति माना है, यह भी

सत्य है। इस लेख के लेखकने भी वैसा मान लिया था, यह शंकाकार का कथन सर्वथा सत्य है। तथापि इस समय हमारा मत बदल गया है। वेदका इतना विचार करनेपर हमें अपना मत बदलना पडा है और जब निश्चय हुआ, तब हमने अपना मत प्रकाशित किया। हमें वेदका मनन करते करते यदि अपनी भूल मालूम होगी, तो उसी समय भूल को भूल कहना चाहिए। इसीसे किसी न किसी समय हम वेदके सत्य को प्राप्त कर सकेंगे।

इस मन्त्रमें जो ' वृक्ष ' कहा है, ' **वह दोनों पक्षियोंका आधार है।** ' दोनों पक्षी उस की अपेक्षासे छोटे हैं। एक पक्षी उसके फल खाता है और दूसरा केवल चमकता है।

जीव-ईश-प्रकृति ये तीन पदार्थ यहां इस मन्त्र में माने हैं। इनमें सब का आधार, सब का पोषक और सबसे बडा निःसंदेह ' **ईश** ' ही है। इसीलिए वृक्ष को हमने ' ईश ' माना है। पाठक समझते हैं कि, जीव प्रकृति का भोग करते हैं, पर ' **रसोऽहं अप्सु** (गी० ७।८) जलोंमें रस ईश्वर है। इस का तात्पर्य क्या है? भोग रसका ही होता है, वह रस ईश्वर की विभूति है। फिर भोग ईश्वर का ही हो रहा है अथवा प्रकृति का? इस तरह विचार करनेसे पता लग सकता है कि इस मन्त्र में ' वृक्ष ' शब्द ईश्वर का वाचक है।

ईश्वर ' मिश्री ' रूप है, '**रवा**' प्रकृति है और '**मीठास**' जीव है। ये तीनों कल्पनाएं हैं, सब का ' एकं सत् ' मिश्री है। मिश्री के आधार से ' रवा ' और ' मीठास ' हैं, ऐसे ही वृक्ष के आधारपर प्रकृति और जीव दोनों तेजस्वी पक्षी रहते हैं। प्रकृति भी चमकनेवाली है और जीव भी तेजस्वी है। इन दोनों को वृक्ष का आधार है।

हम भी इसका अधिक विचार कर रहे हैं। यदि इसमें कभी दोष प्रतीत हुआ, तो हम सब के सामने वैसा रखेंगे।

वैदिक पुनर्जन्म के विषय में हमारा लेख विस्तार से प्रकाशित होगा, उसी में पाठक देख सकते हैं। अतः यहां पुनर्जन्म के विषय में कुछ भी लिखने की इच्छा नहीं है। वैदिक पुनर्जन्मवाद बडा ही गम्भीर और सारगर्भित है। आजकल की जनता उससे कई कोस दूर पहुंची है। यदि वैदिक पुनर्जन्मवाद जनता में प्रचलित होगा, तो सब का कल्याण होगा।

' **अजन्नयमीमांसा** ' में जो लेखकने लिखा है, वह सत्य है। ' **एकं सत्** ' ही पारमार्थिक सत्य है। इसका ग्रहण करने के बिना वेद का ज्ञान प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। जबतक जनता द्वैत और त्रैत में फंसी रहेगी, तबतक वेद का ज्ञान उन को होना कठिन है।

ऋग्वेद के प्रथम अग्निसूक्त का भी ज्ञान तबतक नहीं होगा, जबतक ' **तत् एव अग्निः** ' (यजु० ३२।१) और ' **एकं सत् विप्रा बहुधा वदंति अग्निं** ' (ऋ० १। १६४।४६) यह समझ में ठीक ठीक न आ जाय। क्योंकि वेद के प्रत्येक सूक्त में इस ' **एकं सत्** ' का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

स्वा० वेदानन्दजी का

मुक्तिसे लौटना !!!

१. केवल तर्क और वेदानुकूल तर्क ।

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजीने इस शीर्षक का एक लेख 'आर्य' मासिक के गत अङ्कमें प्रकाशित किया है। इस लेखमें जो केवल वैयक्तिक उपहासात्मक वाक्य आपने लिखे हैं, उस ओर हम ध्यान देना नहीं चाहते; क्योंकि उनका लेख के प्रतिपाद्य विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

लेख के प्रारम्भ में धर्मनिर्णय में 'तर्क' उपादेय है, ऐसा कहा है। केवल इतना ही कथन वैदिक धर्म की दृष्टि से सत्य नहीं है, क्योंकि तर्क का आश्रय तो नास्तिक और आस्तिक दोनों कर रहे हैं। भारतीय दर्शनकारों में जैन, बौद्ध, चार्वाक आदिकोंने भी 'तर्क' की उपासना की है और आजकल के युरोप अमरीका के नास्तिक तार्किक भी तर्क चलाते हैं।

प्रायः सब लोग तर्क का आश्रय करते हैं, ऐसी अवस्था में केवल 'तर्क' उपादेय है, इतना ही कहना किसी को भी योग्य नहीं है।. परन्तु उक्त स्वामिजीने षड्दर्शनों और निरुक्त का नाम लेकर 'तर्क उपादेय है,' ऐसा कहा है, यह एक आश्चर्यजनक घटना है !!

वस्तुतः देखा जाय, तो केवल तर्क के आश्रय करने का निषेध ही सब धर्मज्ञोंने किया है। तर्क अप्रतिष्ठित हैं, अर्थात् दो तार्किक किसी एक मत पर नहीं आते। वे अपना मतभेद ही दर्शाते रहते हैं। इसलिये केवल तर्क के आश्रय से धर्मनिर्णय नहीं हो सकता, यह शास्त्रकारों का अटल सिद्धांत है। क्या स्वामी वेदानन्दतीर्थजी के ध्यान में केवल 'तर्क की अप्रतिष्ठा' नहीं आयी ? यदि यह सत्य है, तब तो बडा आश्चर्य है !!

इस विषयमें मनुस्मृति का वचन देखिये। धर्माधर्म-निर्णय करनेके समय जो तर्क उपादेय है, वह तर्क वेदशास्त्र से अविरोधी तर्क चाहिये। मनु इस विषय में कहते हैं—

> आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
> यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
> (मनु० १२।१०६)

'जो आर्ष धर्मोपदेश का वेद और शास्त्र के अनुकूल तर्क से अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं जानता।'

(१) वेद के विरुद्ध तर्क, वेद का जिस को आधार नहीं, ऐसा तर्क और (२) वेदशास्त्र के वचनोंके अनुकूल तर्क ऐसे तर्क के दो भेद हैं। वैदिक धर्म का विचार करने के लिये जो तर्क आवश्यक है, वह वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क है। केवल तर्क बडा भयङ्कर राक्षस है। उस का परिणाम केवल नास्तिकता ही है। इसीलिये उक्त मनु-स्मृति के वचन में धर्मनिर्णय के लिये '**वेदानुकूल तर्क**' करने को कहा है।

पर स्वामी वेदानन्दतीर्थजी केवल 'तर्क' को आगे कर रहे हैं। जनता के सामने ऐसे अधूरे विचार रखना किसी भी स्वामी के लिये उचित नहीं है। किसी एक भी शास्त्र-कारने केवल 'तर्क' को उपादेय माना नहीं है, परन्तु **सब शास्त्रकारोंने वेदशास्त्रानुसारी तर्क को ही उपादेय माना है**। पाठक इस बात को ध्यान में धारण करें और स्वा० वेदानन्दजी के केवल तर्क से क्या बनेगा यह भी देखें।

इस समय जगत् में साम्यवादी, कम्यूनिष्ट, समाज-वादी, वैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार के लोग हैं। क्या ये तर्क नहीं कर रहे हैं ? ये सब तर्क कर रहे हैं, पर उनका तर्क वेद के आश्रय से नहीं हो रहा, इसलिये उनका सिद्धांत विश्वमें अनर्थकारी कोलाहल मचा रहा है।

२. वेदानुकूल तर्कका अर्थ ।

वैदिक धर्मनिर्णयमें जो तर्क आवश्यक है, वह केवल तर्क नहीं, पर '**वह वेदानुकूल तर्क**' है। स्वा० वेदानन्दजी

इस का स्मरण रखें और कभी इस विषय में भूल न करें।

वेदानुकूल तर्क क्या है? किसी एक या अनेक वेद के मंत्रों की बुनियाद पर, उन मंत्रों के आधार पर जो तर्क करना है, वह वेदानुसारी तर्क है और वेदमंत्रों का आधार न लेकर जो अपना तर्क चलाना है, वह केवल तर्क है।

केवल तर्क मनुष्य के मन में नास्तिकता उत्पन्न करता है और धर्मनिर्णय में साधक नहीं होता, इसलिये केवल तर्कवाद का स्वीकार वैदिक धर्मनिर्णय में किसीने भी स्वीकृत नहीं किया है। जैन, बौद्ध, चार्वाक ये केवल तर्कवादी थे। इनके विचारों का क्या परिणाम हुआ है, यह पाठक देख सकते हैं। यूरोप के वैज्ञानिक केवल तर्कवादी हैं। उनका परिणाम आज हम देख रहे हैं!

क्या कभी कोई ऐसा कह सकता है कि, जैन, बौद्ध, चार्वाक और वैज्ञानिक 'तर्क' करते ही नहीं थे? ऐसा कहने का साहस कोई नहीं करेगा। इनका तर्क इनको नास्तिक बनने में ही समर्थ हुआ। इसको देखने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि, केवल तर्कवाद का उपदेश करना किसी भी वैदिक धर्मी को उचित नहीं है।

आजकल बहुत लोग यों ही प्रश्न पूछते रहते हैं, जिनका आज के धर्म के साथ किसी प्रकार भी संबंध नहीं है। इन केवल तार्किकों को वैदिक मार्गपर लाने के उद्देश्य से हमने लिखा था कि, जिनको वेदमन्त्रों का आधार नहीं वैसा तर्क करना उचित नहीं है। परन्तु स्वामी वेदानन्दजी चाहते हैं कि, लोग केवल तर्क ही करते जांय। इस विषय में हम इतना ही कहेंगे कि, इस तरह मनमाना तर्क भयानक नास्तिकता उत्पन्न करेगा और वेदानुसारी शास्त्रकारोंने भी ऐसे केवल तर्क को बडा घातक माना है।

वेद के वचन हैं- '**एकं सत्।**' '**एकं सन्तं बहुधा कल्पयंति।**' '**इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**' '**एकमंगं सहस्रधा अकरोत्।**' इन वेदमन्त्रों के आधार पर जितना चाहे उतना तर्क मनुष्य कर सकता है। पर उसके तर्क के लिये इन वचनों के सत्य अर्थ की बुनियाद अवश्य चाहिये।

अतः स्वामी वेदानन्दतीर्थजी का कहना कि, केवल तर्क उपादेय हैं, यह शास्त्रवचनों के अनुसार असत्य है। आजकल केवल तर्क बहुत ही बढ गया है और उसके दुष्परिणाम सर्वत्र दीख रहे हैं। ऐसी अवस्था में उसी तर्क को उपादेय कहना जनता में भ्रम बढाने का हेतु होगा। इसलिये पाठक इस प्रकार की तर्कना से अपने आपको बचावें और वेदानुकूल तर्क करना सीखें, जिससे उनकी इहपरलोक की उन्नति होगी और उन को वैदिक धर्म का ज्ञान प्राप्त होने में सहायता होगी।

३. आग और चिनगारी।

हमने अपने लेखमें आग और चिनगारीका दृष्टांत दिया था। चिनगारी बढकर जब धधकनेवाली आग बनती है, तब उस चिनगारी की मुक्ति होती है। ऐसा हमने उस लेखमें लिखा था। यहां अल्पभाव को भूमाभाव की प्राप्ति होना मुक्ति है, ऐसा दर्शाया गया है। यह उदाहरण हमारा नहीं। माननीय उपनिषद् में यही उदाहरण दिया है-

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। (मुण्डक उ० २।१)

जैसे प्रदीप्त अग्नि से अनेक चिनगारियां निकलती हैं और वह सब चिनगारियां अग्नित्व की दृष्टि से एक जैसी समान होती हैं, उस प्रकार परमात्मा से चिनगारीरूप जीवभाव सहस्रशः निकलते हैं। यह उपनिषद्वचन वेदमन्त्र के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करने के लिये कहा है-

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
(वा० यजु० ३२।२)

'वैद्युत पुरुष से सब निमेषोन्मेष करनेवाले जीवभाव (जज्ञिरे) बने हैं' तथा- **पादोऽस्येहाभवत् पुनः।** (वा० य० ३१।२, ऋ० १०।९०।२)

'इस परमात्मा का एक अंश इस विश्व में पुनः पुनः उत्पन्न होता है।'

इस तरह के वेदवचन अनेक हैं, इन वेदवचनों का तत्व समझाने के उद्देश्य से '**प्रदीप्त अग्नि से चिनगारियां**' निकलती हैं, यह स्पष्टीकरण उपनिषद् ने किया है और यह मुण्डक उपनिषद् का वचन है। यह दृष्टांत हमारा नहीं है।

इस अग्नि और चिनगारियों के दृष्टांत का उपहास स्वामी वेदानन्दतीर्थजीने किया है। देखिये इस विषयमें इन के ये वाक्य हैं-

"पण्डितजी (पं० सातवळेकरजी) ने कभी नहीं

सोचा कि, धधकती आग, जिससे चिनगारियां निकलती हैं, वह समाप्त हो जाती है। क्या पण्डितजी भी ऐसा मानते हैं कि, ब्रह्म भी जिस से जीवरूप चिनगारियां निकलती रहती हैं, एक दिन समाप्त हो जायगा ?" (स्वा० वेदानन्दतीर्थ)

यदि यह स्वा० वेदानन्दजी का आक्षेप है, तो यह वेद और उपनिषद्वचन के ऊपर ही आक्षेप है। यदि इससे आग-चिनगारी का दृष्टांत असत्य सिद्ध होनेवाला होगा, तो वेदोपनिषदों का सिद्धान्त ही असत्य सिद्ध होगा। श्री स्वा० वेदानन्दतीर्थ आवेश में आकर इस तरह वेदोपनिषदों के विरुद्ध ही लिख रहे हैं!!! अतः वे धन्यवाद के लिये ही योग्य हैं।

वेदने कहा कि, '**पुरुष का एक अंश इस विश्वमें बारबार उत्पन्न होता है।**' उपनिषद्ने कहा, आग से जैसी चिनगारियां निकलती हैं। वेद का सिद्धान्त उपनिषद्ने अधिक स्पष्ट कर दिया। यही दृष्टांत ऐसा ही हमने अपने लेख में लिखा। उसमें एक भी वाक्य हमारा अपना नहीं है। अब स्वामी वेदानन्दजी पूछ रहे हैं कि, क्या कभी अग्नि के समाप्त होने के समान ब्रह्म भी समाप्त होगा ?

यह स्वामी वेदानन्दजी का आक्षेप वेद और उपनिषद् पर है। इस का उत्तर वेद ही देगा। परन्तु वेद का उत्तर प्रकाशित करने के पूर्व हम यह पूछना चाहते हैं कि, उपमा का उपमेय के साथ सम्बन्ध कितना और वहांतक मानना उचित है ? 'चन्द्रानना' ऐसा किसी स्त्री के वर्णन करने के प्रसङ्ग में कवि कहते हैं। चन्द्र के समान स्त्री का मुख है, ऐसा कहनेमात्र से ये स्वामी वेदानन्दजी यदि ऐसा प्रश्न पूछने लग जांय कि, स्त्री की नासिका से जुकाम निकलता है, वैसा चन्द्रमा से भी निकलता है वा नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर जैसा केवल धन्यवाद ही है, वैसा ही उपर के प्रश्न का उत्तर है। उपमा आग से चिनगारियों के निकलने की ही केवल है। बडे आग से समानरूप छोटी चिनगारियां निकलती हैं, इस प्रकार ब्रह्म से जीवभाव निकलते हैं। इतना ही उपमा का तात्पर्य है।

जिस तरह चिनगारी का दावानल होता है, उसी तरह जीवभाव को ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। उपमा और उपमेय का इतना ही साम्य है। इससे अधिक प्रश्न पूछना उपमा को न समझने का द्योतक है। अतः वह केवल स्वा० वेदानन्दजी को ही शोभा देनेवाला है।

आगे आप लिखते हैं कि, "आप (पं० सातवळेकर) तो ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं मानते।" इतना अशुद्ध विधान करने का स्वा० वेदानन्दजी को क्या कारण है, हमारे समझ में नहीं आता।

४. मेरा नहीं, वेदका यह मत है।

'**एकं सत्**' एक ही सत् है, यह वेद का महासिद्धान्त है। यह मेरा सिद्धान्त नहीं। यह वेदका सिद्धान्त है। यह वेद का सिद्धान्त जैसा है, वैसा मैं प्रतिपादन कर रहा हूं, और स्वा० वेदानन्दजी वेद को तोडमरोड कर वेदविरुद्ध मत जनता के सामने रख रहे हैं !!

जैसा वेदने '**एकं सत्**' (ऋ० १।१६४।४६, अथर्व०) में कहा है, वैसा 'दो सत् हैं या तीन सत् हैं,' ऐसा वेदने कहीं भी नहीं कहा है। '**एक ही सत्**' है, यह वेद का सिद्धान्त है और यदि स्वा० वेदानन्दजी सचमुच वेद के सिद्धान्त में आनन्द माननेवाले हैं, तब तो उन को इस सिद्धांत को मानकर ही इस का मनन करना चाहिये।

यदि हम '**एकं सत्**' के मनन में कुछ दोष कर रहे हैं, तो उस दोष को वे बता सकते हैं, पर '**एकं सत्**' को मानकर ही वे बता सकते हैं। वेद तो कहे '**एकं सत्**' और स्वामी वेदानन्द कहें की 'तीन सत्' हैं, तब तो वह वेदवचन का आनन्द नहीं होगा, वह किसी अन्यवचन का आनन्द होगा। 'वेदानन्दजी' सच्चे '**वेदके आनंद**' बनें।

जैसा वेदने स्पष्ट कहा है कि, '**एकं सत्**' सत् तो एक ही है, वैसा सत् शब्द के साथ दो या तीन वस्तुएं सत् हैं, ऐसा यदि किसी वेदमन्त्र में कहा होगा, तो उस मन्त्र को स्वा० वेदानन्दजी पेश कर दें और पश्चात् जो कुछ बोलना हो तो बोलें।

वेदने 'सत्' शब्द 'एक' को ही लगाया है और जोर से बलपूर्वक '**एकं सत्**' एक ही सत् है, ऐसा कहा है। वेद में कई प्रसंगों में दो अथवा तीन पदार्थों का वर्णन है, पर वहां 'सत्' शब्द का प्रयोग नहीं है,

इसलिये स्पष्ट है कि, वे दो या तीन भाव हैं, वे कल्पनागत भेद हैं, वे सत्य कहने योग्य नहीं, वे 'सत्' नहीं।

इससे सिद्ध यह हुआ कि 'एकं सत्' यह वेद का महासिद्धान्त है, न कि यह पं० सातवलेकरका निज मत है।

आगे स्वा० वेदानन्दजीने चार प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर देना यहां आवश्यक है—

५. स्वा० वेदानन्दजी के प्रश्न ।

(प्रश्न १)- ब्रह्म में कौनसा दोष है, जिसके कारण जीवरूप चिनगारियां चटका करती हैं?

(उत्तर)- ब्रह्म में कोई दोष नहीं है, ब्रह्म में दोष की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। **ब्रह्म का यह स्वभाव ही है।** चिनगारी निकलने का वचन मुण्डकोपनिषद् का है। अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं, यह अग्नि का स्वभाव है। आमके वृक्ष से चिनगारीरूप बीज निकलते हैं, यह उसका स्वभाव है। मनुष्य से वीर्यबिंदु निकलते हैं। ये सब स्वभाव है। यहां किसी दोष से ऐसा हो रहा है, ऐसा नहीं है। वेदवचन ऊपर दिये हैं। वेद में भी यही कहा है।

(प्रश्न २)- कौनसा बाह्य प्रभाव ब्रह्म पर पडा, जिससे जीवरूप चिनगारियां चटकी ?

(उत्तर)- दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये बाह्य प्रभाव का प्रश्न निरर्थक है। 'एकं सत्' वेदने ही कहा है। दूसरी वस्तु ही नहीं है। ब्रह्म के स्वभाव से ही जीवभाव प्रकट होते हैं। **'अमृतस्य पुत्राः'** यह वेदवचन इस विषय में स्वामिजी देखें। अमृत परमात्मा के अंश से औरस पुत्र ही जीव हैं। किसी दूसरे के नहीं और नाही वे स्वयं सिद्ध हैं।

(प्रश्न ३)- बाह्य प्रभाव किसी वस्तु पर तब पड सकता है, जब वह परिमित हो, तो क्या आप के मत से ब्रह्म परिमित हैं, परिच्छिन्न है, सीमावाला है ?

(उत्तर)- मेरा अपना कोई मत नहीं है। जो वेद में कहा है, वही मेरा मत है। वेद में ब्रह्म, आत्मा, नारायण, पुरुष आदि से बताये जानेवाले 'सत्' को विभु, व्यापक माना है। परिच्छिन्न, सीमावाला नहीं। बाह्य-प्रभाव की कल्पना ही जहां नहीं है, वहां यह प्रश्न ही व्यर्थ है।

(प्रश्न ४)- आपने कहा कि, अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं, यह अग्नि का स्वभाव है। क्या आपने कभी सोचा है कि, अग्नि समाप्त हो जाती है। क्या आपका ब्रह्म भी समाप्त होगा? आग में इन्धन डालते हैं, वैसा ब्रह्म में भी इन्धन डालना होगा। इ० इ०

(उत्तर)- क्या इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये? यह प्रश्न उपनिषद्वचन पर और वेद के सिद्धांतपर ही है, और वेद तो स्वतःप्रमाण है। स्वा० वेदानन्दजी के ज्ञान के सामने वेद भी चकित हो जायगा। धन्य है। **'पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते'** यही इस का उत्तर है।

स्वामी वेदानन्दजी से हम नम्रतापूर्वक कहना चाहते हैं कि, वे 'मुण्डक उपनिषद्' पुनः एक बार पढें और वहां का चिनगारी का दृष्टांत समझकर पश्चात् प्रश्नों की मालिका शुरू करें।

६. समझने का यत्न करिये ।

आगे स्वामी वेदानन्दजी लिखते हैं कि, 'यदि ब्रह्म का और हमारा सम्बन्ध आग और चिनगारी का है और यह स्वाभाविक है, तो हमारी मुक्ति स्वाभाविक हो जायगी, उसके लिये धर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहेगी।'

ब्रह्म का और जीव का सम्बन्ध आग और चिनगारी का ही है, यह मुण्डक-उपनिषद् ने बताया है, वेदने भी बताया है।

(शेष आगे)

ब्राह्मण।

(क्या थे, क्या हुए हैं, क्या होंगे ?)

(लेखक- श्री० रायसाहब श्रीभारतचन्द्र चौधरी, बी० ए०, विद्यावारिधि, सिलहट)

[अनुवादक- श्री० विद्यालङ्कार श्री शिवनारायण शर्मा, माईथान- आगरा]

" ग्रन्थकार की प्रार्थना "

सद्गुरु प्राप्त होनेपर यह समझ में आया कि वेद विश्व-ग्रंथ है, एवं प्रत्येक वैदिक मंत्र में एक सनातन सत्य लिखा हुआ है।

पाण्डित्य की सहायता से वेद वा तन्त्र का मर्म समझ में नहीं आ सकता। ये अनुष्ठानशास्त्र हैं, अनुष्ठान के सङ्केत सद्गुरुद्वारा जान लेने पर उन्मत्त-प्रलाप गभीर ज्ञान में परिणत हो जाता है। अतएव "प्राप्य वरान् निबोधत" सद्गुरु प्राप्त करके प्रबुद्ध हो।

आधुनिक कालमें जिन्होंने वेदालोचना की है, उनमें से प्रायः अभिज्ञ आचार्यद्वारा सङ्केतज्ञ नहीं हुए हैं। विशेषतः अधिकांश आलोचना यूरोपीय प्रणाली से अन्नतत्त्व की ओर की हुई है, अतएव इस लेख के आलोचित विषय पाठकों को शायद नूतन और अद्भुत रूप जान पडें। तथापि इसमें जो कुछ कहा है, वह प्रत्यक्ष किया हुआ सत्य है, अप्रत्यक्ष विषय का उल्लेख नहीं किया है।

हिंदुओंका वर्णाश्रम मौजूद है, यह नहीं कहा जा सकता, क्यों उसमें अब प्राण नहीं रहा ? मृत देहमात्र पडा है और उस मृत देह के भी अङ्गप्रत्यङ्ग सडकर गिर गये हैं। शास्त्रीय प्रचलित व्यवस्था एक प्रकार की है और समाज-गत अवस्था अन्य प्रकार की हो गई है, अवस्था के साथ व्यवस्था का सामञ्जस्य यदि न किया जा सकेगा, तो हिंदू (आर्य) नामलोप हो जायगा।

अन्धविश्वास का युग चला गया। प्राश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से शिक्षित समाज में धर्म का गुहानिहित तत्त्व जानने की जो आकांक्षा जाग उठी है, उसने क्रमशः अ-शिक्षित समाजमें भी संक्रामित होकर अन्धविश्वासका मूल शिथिल कर दिया है। राजनैतिक क्षेत्र में जो गम्भीर परि-वर्तन आरम्भ हुआ है, वह प्रवर्तित होने से समाज के सब स्तोरोंमें जो स्वाधीन चिन्ताका स्रोत प्रवाहित होगा, उसके वेग से अबोध्य और अज्ञातलक्ष्य व्यवस्थापर कुछ भी श्रद्धा न रहेगी। यूरोप में धर्म के बदले राजनीति मानव के कर्ममय जीवन पर राजत्व करती है। हमारे देश में हिन्दुओं का धर्म जीवननकली (भांडपन) हो गया है।

यह भाँडपन छोडकर यदि ज्ञान के ऊपर धर्म की प्रतिष्ठान की जा सकेगी, तो हिन्दूसमाज में भी राजनीति ही धर्म का स्थान अधिकार में कर लेगी, देवालय राजनैतिक प्रतिनिधिनिर्वाचन के अधिवेशनक्षेत्र में परिणत होंगे। ऐसा होने पर हिंदू "त्रिभुवन" की बात भूलकर केवल पार्थिव सम्पदा से पाश्चात्यों की भांति बद्ध दृष्टि होंगे। तब हम आत्मा भूलकर शरीरसर्वस्व होंगे, अनन्त जीवन भूलकर केवल इस जीवन के कुछ वर्ष जिस तरह शारीरिक सुख से कट सकें, उसीकी चिन्ता में व्यस्त होंगे।

इस प्रकार की दुर्घटनानिवारण का एकमात्र उपाय भुवर्लोक और स्वर्लोक में ज्ञान का सम्प्रसारण है। जिससे स्थूल देह में रहकर भुवर्लोक और स्वर्लोक की अनुभूति व्यक्तिगत जीवन में प्राप्त की जा सके। उसके सहजसाध्य उपाय की आलोचना इस लेखद्वारा अनुदित की जाती है, (कारण कि अनुवादक को ऐसे सद्गुरु की तलाश है, जो महानुभाव इस आलोचनानुसार इस अधम का उद्धार कराने की कृपा कर सकें। वे कृपया अपना परिचय देकर कृतार्थ करें ताकि मैं पत्रव्यवहारद्वारा निश्चय कर सेवा में उपस्थित होने की चेष्टा कर सकूँ)। इसी विचार से यह अनुवाद प्रकट करने की घृष्ठता की है।

ब्राह्मणत्व क्या है ?

" ब्राह्मणत्व " इस एक ही बात में समग्र हिन्दूसभ्यता

का इतिहास निबद्ध हो रहा है, इस एकही शब्द के भीतर कितनी ज्ञानचर्चा, कितनी साधना, कितना भावस्पन्दन, हजारों वर्ष का उत्थानपतन, कितना सत्यानुसन्धान, कितना आविष्कारनिहित है, उसे कोई गिन नहीं सकता। ब्राह्मण शब्द का अर्थ क्या है? कोई दिन ऐसे थे कि, जब ब्राह्मणशब्द के उच्चारणमात्र से सुननेवाले के मन में पूर्ण शान्ति की एक स्पष्ट छवि जाग उठती थी, उस छवि (चित्र) में शिशु की पवित्रता और सरलता के साथ मृत्युजयी ज्ञान की उज्ज्वल प्रभा, मातृहृदय की स्निग्ध करुणा के साथ परहितव्रत समाजशासक की प्रतिभा ज्योतिः मिलकर एक अनन्यत्रदृष्ट अपूर्व भाव उत्पन्न करती थी।

किन्तु हाय! वे दिन अब कहां! आज ब्राह्मण कहनेसे परमुखापेक्षी, अवज्ञामिश्र करुणा-पुष्ट, चाटुकार वृत्त्युपजीवी, सर्व प्रकार प्रयोजनीय, ज्ञानविहीन और अप्रयोजनीय ज्ञानजनित दम्भसम्पन्न समाज के गल ग्रहस्वरूप एक प्रकार की अद्भुत श्रेणि के मानव को अन्ततः पाश्चात्य शिक्षाभिमानी व्यक्तिगण समझ रहे हैं। महाकाल का अनन्त विस्तृत वक्षः आश्रय करके जगज्जननी आद्यशक्ति जो नृत्य करती है, (अर्थात् जड के ऊपर शक्तिकी जो क्रिया चलती है) एवं नृत्य के साथ जो वह करालवदना लपलपाती जिह्वा बढाकर जिस भाव से एक तरफ से जगत् का ग्रास और दूसरी तरफ से प्रसव करती है, उसी फल से यह विश्वपरिणाम, विवर्तन वा परिवर्तन के स्रोत में वहां चला जाता है। कल जो था, आज वह महामाया के पेट में चला गया है, फिर आगामि कल वही नूतन आकार से पुनर्जन्मग्रहण करेगा। यही सब क्षेत्रों में जगत् की रीति है; ब्राह्मणों को उस घोराने ग्रास कर लिया है, जो कुछ हैं वह उसकी छाया वा प्राणहीन शवमात्र हैं।

किंतु जगजननी फिर ब्राह्मण प्रसव करेंगी, वह ऐसा ही करती रहती हैं। ब्राह्मण मातृगर्भ में नवीन बल प्राप्त करके जब पुनर्जन्म प्राप्त करेंगे, तब कदाचित् अपना पूर्व परित्यक्त शव देहसंस्कार करके उस मिट्टी में ही प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेंगे। इस अवस्था में वर्तमान आलोचना का अवतरण करता हूं।

ब्राह्मण मानुष नहीं हैं, वे भूदेव हैं। किन्तु ब्राह्मणसृष्टि विधाता की नहीं है, मानुष की है। देवता गन्धर्व, मानुष, पशु, पक्षी आदि विभिन्न श्रेणी के जीवों की विधाता ने जिस भाव से पृथक् पृथक् करके सृष्टि की है, ब्राह्मणों की उस भाव से मानुष से पृथक् करके सृष्टि नहीं की है। ब्राह्मणत्व प्रकृति के हाथ की गडी हुई वस्तु नहीं है, यह मानवत्व की ही साधना से उत्पन्न परिणति है।

इस साधना का इतिहास ही ब्राह्मण का असल इतिहास है। हिन्दुओं के दर्शन, विज्ञान और साहित्य में ब्राह्मण नहीं देख पाते, समाजशासन और राष्ट्रपरिचालन में ब्राह्मणों का प्रभाव वे रोक टोक था, प्राचीन भारत के तपोबल और मन्त्रणागारों में ब्राह्मण समान भाव से विराजमान थे। किन्तु इस बाह्यिक इतिहास से ब्राह्मणत्व की गुह्य प्रकृति नहीं जानी जाती थी, ब्राह्मण का यथार्थ परिचय उनके आभ्यन्तरिक इतिहास में, उनकी साधना और सिद्धि की प्रणाली में अनुसन्धेय है। इस निबन्ध में यह अनुसन्धान यथामति और यथाशक्ति करनेका प्रयास किया है।

जिस साधना के फल से मानवत्व ब्राह्मणत्व में परिणत हुआ था। वह तीन जुदी जुदी श्रेणियों में विभक्त हो सकता है- (१) जन्म (२) शिक्षा और (३) आत्मविकास की चेष्टा। यह पूर्व कहा गया है कि, विधाता ने मानुष बनाये थे, फिर मानुष अपने साधनबल से देवत्व प्राप्त करके ब्राह्मण हुए थे। किन्तु ब्राह्मण जिस सृष्टि के समय में प्रथम ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, यह बात एक बिन्दुभी मिथ्या नहीं है। ये आपात विरुद्ध दोनों ही बातें सत्य हैं। सबसे पहले यही सिद्ध किया जाता है।

हिन्दुओं का सृष्टितत्त्व, शास्त्र में प्रवेश करने को द्वारस्वरूप है। सृष्टितत्त्व समझ में आये बिना हम किसी उपाय से शास्त्र को नहीं समझ सकते। किन्तु सृष्टितत्त्व की व्याख्या इस छोटे से प्रबन्ध में नहीं की जा सकती। केवल ब्राह्मण समझाने के उद्देश्य से हम पहले ब्रह्मा को समझाने की चेष्टा करते हैं।

शास्त्र में कहा है कि ब्रह्मा के मुख, बाहु, उरु और पाद से यथाक्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए। इस ब्रह्मा का स्वरूप क्या है? वह क्या हमारी तरह हाथपाँववाला स्थूल देहधारी जीव है? श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध त्रयोदश अध्याय २५ सवें श्लोक में ब्रह्मा की

नासिका से उत्पन्न वराहमूर्ति का जन तपः सत्य लोक-निवासी त्रिवेदीय मन्त्रों से स्तुति की, ऐसा उल्लेख है–

" निशम्य ते घर्घरितं स्वखेदक्षयिष्णु मायामय-सूकरस्य। जनस्तपः सत्य निवासिनस्ते त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन्स्म ॥ "

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, ब्रह्मा के स्वरूप की अवस्थिति जनलोक से नीचे नहीं हो सकती। सुतरां ब्रह्मा के अङ्गप्रत्यङ्ग अपने अङ्गप्रत्यङ्ग की भांति मान लेनेसे भ्रम में पड जाना होगा। जिस समय में हमारे शास्त्र लिखे गये थे, उस समय के मनुष्यों की चिन्ताप्रणालि जो थी, वह अब नहीं रही। तब जनसमाज में जो साधारण ज्ञान था, वह अब अन्य प्रकार का हो गया है। पाषाण में प्राण है, यह बात कहते ही हम अध्यापक जगदीश वसुके आविष्कार के साथ मिलाकर बात समझने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उस समय के मनुष्य " सर्वं ब्रह्ममयं जगत् " इस वाक्यार्थ के साथ मिलान कर उसे समझने का प्रयास करते थे। अतएव शास्त्रप्रणयनकाल में जिस वाक्य का जो अर्थ सहज था, आजकल वह वैसा नहीं रहा। इसी से वेद " किसानों के गीत " और पुराण " नशेबाजों की कहानियां " कही जाने लगी हैं।

प्रणयों का विचार करने से देखा जाता है कि, ब्रह्माने कोई वस्तु कभी हाथ से नहीं बनाई, मिस्त्रीका कोई यन्त्र (औजार) उन के हाथ में नहीं थे, जब कभी कुछ सृष्टि करने का प्रयोजन हुआ, तब ही वे ध्यानावस्थित हुए और उद्दिष्ट वस्तु अपने आप तयार हो गई। इससे जान पडता है कि, ब्रह्मा मनःरूपी हैं। हमारी देहरूप क्षुद्र ब्रह्माण्ड में मन जो काम करता है, विश्वब्रह्माण्ड में ब्रह्मा भी वही कार्य करते हैं, जब किसी समस्या का समाधान आवश्यक होता है, तब ही हमारा मन ध्यानस्थ होता है और समस्या का उत्तर कहीं से आ जाता है। जगत् की समस्यासम्बन्ध में ब्रह्मा भी ठीक, ऐसा ही करते हैं। पार्थक्य केवल इतना है कि, ध्यानबलसे उद्देश्यसाधन का उपाय निर्णीत होनेपर उसे कार्य में परिणत करने के लिये ब्रह्मा की इच्छाशक्ति ही यथेष्ट है। और मनुष्यको समय पर बाह्य उपकरणकी सहायता आवश्यक होती है। अनन्तशय्याशायी निखिल प्राणरूपी भगवान् के प्रथम जागरणमें उन की नाभिकमलसे ब्रह्मा की उत्पत्ति है। सत्ता और शक्ति से ही जगत् है। भगवान् को हम सत्तारूप समझते हैं, वह शक्ति नहीं है। यद्यपि वह शक्तिमान् हो सकते हैं, ब्रह्मा भी उसी तरह सत्ता है। मानवात्मा और मानवमन उसी तरह सत्ता है; ये शक्तिमान् हैं। किन्तु शक्ति नहीं हैं।

सुप्त-सत्ता भगवान् और जाग्रत्-सत्ता ब्रह्मा है। उसी तरह सचल आत्मा ही मन है। The spirit in motion is mind. वायु जब स्थिर रहता है, तब उसका नाम वायु और जब वह प्रवाहित होता है, तब उसे आंधी कहते हैं। सत्ता का सत्वाश्रित स्थिर भाव ही आत्मा वा भगवान् एवं उस सत्ता का रजः परिचालित सचल भाव ही मन वा ब्रह्मा है। योगवित् जन कहते हैं कि, चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है और योग में मन का लय होने से हम समाधि में आत्मस्थ वा सत्स्वरूपावस्थित होते हैं, जबतक ब्रह्मा का परमायु है, तबतक जगत् है, ब्रह्ममान से सौ वर्ष गत होनेपर ब्रह्मा का लय होता है, तब भगवान् स्वरूपावस्था में अनन्त शय्यापर विश्राम पाते हैं। उपनिषद् में आत्मा और ईश्वर एकार्थवाचक हैं। इस आत्मा वा ईश्वर की सचल क्रियाशील अवस्था ही ब्रह्मा वा मन है। ब्रह्मा वा विश्वगत मन का लय होने से प्रलयावस्था घटती है, तब आत्मा वा ईश्वर निश्चल स्वरूपावस्था में अवस्थित होता है। ईश्वर का विश्राम वा सुषुप्ति ही प्रलयावस्था है। योगी उसी तरह मन का लय करके आत्मा की स्वरूपावस्था प्राप्त करते हैं।

परन्तु इससे शायद सब का सन्देह दूर न होगा। शास्त्र का प्रमाण मिले बिना पाठक कदाचित् यह समझ लें कि, " मन ही ब्रह्मा " है, यह कह कर तो ब्रह्मा का अस्तित्व ही लोप कर दिया और हिन्दू धर्म पर विषम आघात हुआ, एवं ऐसी कल्पित " आध्यात्मिक व्याख्या " के फल से ही तो आजकल हिन्दुओं का हिन्दुत्व लोप हो रहा है। किन्तु इसमें शास्त्रीय प्रमाण का असद्भाव नहीं है। योगवासिष्ठ के अनेक स्थलों पर अनेक भाव से " मन ही ब्रह्मा है " यह बात स्पष्टाक्षरों में समझाई है।

जिन्हें सम्पूर्ण योगवासिष्ठ पढने का अवकाश न हो, वे केवल उत्पत्तिप्रकरण का दूसरा तीसरा सर्ग मात्र अवश्य

पढें तो फिर सन्देह न रहेगा। " मन ही ब्रह्मा " है, वसिष्ठ के मुख से यह व्याख्या सुनकर रामने तृतीय सर्ग के प्रथम श्लोक में कहा है-

एवमेव मनः शुद्धं पृथ्व्यादिरहितं त्वया ।
मनो ब्रह्मेति कथितं सत्यं पृथ्व्यादिवर्जितं ॥

" मनो ब्रह्मेति कथितं " इसी एक बात से जाना जाता है, कि " मन ही ब्रह्मा है, " यह वाक्य हमारा कल्पित नहीं है, ब्रह्मा के पुत्र योगिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने स्वयं यह वाक्य कहा है।

अब ब्रह्मा क्या है, इसे हम अच्छी तरह समझ लें, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या हैं, इन की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अङ्गों से जिस तरह हुई है, उस का विवरण अच्छी तरह समझ सकेंगे। मनुसंहिता के प्रथम अध्याय में लिखा है-

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिधर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९८॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये ॥९९॥

ये श्लोक पढकर अभिमान से हृदय खिल जाता है। " सर्वभूतानां ईश्वरः " समझकर आल्हाद से फूले नहीं समाते। किन्तु लेखक का उद्दिष्ट अर्थ समझने की चेष्टा नहीं करते। एक पण्डितने इस का अनुवाद इस तरह प्रकाशित किया है। " ब्राह्मण की जो शरीरोत्पत्ति है, वह धर्म की शाश्वत मूर्त्तिमान अवस्था है। धर्मार्थ उपनीत होकर ब्राह्मण ब्रह्मत्व प्राप्त कर रहे हैं, " और दूसरे श्लोक का अनुवाद इस तरह लिखा है, " जब ब्राह्मण जन्म लेता है, तब वह पृथिवीतलपर सर्वोपरि श्रेष्ठत्व पर प्रतिष्ठित होता है, एवं धर्मसमूह की रक्षा के लिये सब जीवों के ईश्वरत्व में व्रती होता है। " यह अनुवादकुल्लूकभट्टकृत टीका के अनुसार है, अतएव इस में दोष देखने पर मनु की भाषा में पंडित कह सकते हैं, " स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः "। किन्तु कुल्लूकभट्ट की टीका वेद नहीं है और भट्टमहाशय ऋषि भी नहीं हैं, विशेषतः मनु से बहुत पीछे उनका जन्म हुआ था, परन्तु इस बात को (हेतुशास्त्राश्रयात्) सप्रमाण करने का मैं दुःसाहस करूंगा।

प्रत्येक मनुष्य एक एक क्षुद्र ब्रह्मा है, अर्थात् मनुष्यमात्रही सृष्टिशक्तिसम्पन्न हैं। गृह, छत्र, रेल, जहाज आदि मनुष्य की सृष्टि है। इन की आकृति मानसिक उपादान से प्रथम कल्पना में रची जाती है, फिर वही आकृति बाह्य उपादान की सहायता से स्थूल मूर्ति धारण करती है। मनुष्य की सृष्टि में कल्पना में जो नहीं है, वह बाहर नहीं रह सकता। विश्व में सर्वत्र एक ही नियम है, अतएव विश्व का जो ब्रह्मा है, उस की कल्पना में जो नहीं है, वह विश्व में नहीं रह सकता। उनके ध्यान में जो आया, वही विश्व में प्रकाशित हुआ।

आगरे के ताजमहल की मूर्ति और गठनप्रणाली जिस इंजिनियर के दिमाग में उदित हुई थी, उसने न पत्थर ईंट को काटाछांटा और न राजमिस्त्री का कार्य किया, तो भी ताजमहल का असल सृष्टिकर्ता वही है। ब्रह्मा भी केवल ध्यानयोग से कल्पना करते हैं, प्रजापतिगण और उनके अधीन विश्वकर्मा लोग उस कल्पना को आकृतिविशिष्ट कर बनाते हैं। इंजिनियर अपनी कल्पना को रुई की सहायता से कागज पर प्रकाश करते हैं, जिस को इंग्रेजी में plan प्लैन कहते हैं। ब्रह्मा की कल्पना अपने आप आकाश में लिपिका रूप से प्रकाश पाती है और उसे लक्ष्य और प्रत्यक्ष करने की शक्ति प्रजापतियों में है।

विश्वसृष्टि में ब्रह्मा इंजिनियर है, प्रजापतिगण ओवरसियर और विभिन्न श्रेणि के मनु राजमिस्त्री हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग जिस वस्तु को Prototype कहा जाता है, वही ब्रह्मा की सृष्टि के अनुरूप है। बाहर के स्थावरजङ्गम, पर्वत-वृक्ष आदि में जिस तरह वस्तुत्व है, कल्पना में भी उसी तरह वस्तुत्व है। वृक्षादि स्थूल वस्तुएं भूलोक के स्थूल परमाणुओं द्वारा बनती हैं और कल्पना स्वर्लोक वा मानसलोक के सूक्ष्म परमाणुओं से बनती है, यही पार्थक्य है। ब्रह्माकी कल्पित मानसमूर्ति में भावमय भुवर्लोक के परमाणु योजित होकर प्रत्येक वस्तु का कामायतन बनाते हैं और उसमें भूलोक के परमाणु संयोग से हमारी दृश्य स्थूल आकृतियां निर्मित होती हैं। याद रखिये कि, प्रत्येक चिन्ता और प्रत्येक संकल्प की मूर्ति है।

देवराज इन्द्र की सभा में नारदने रागरागिनी, पुण्य कीर्ति, क्षमा आदि की मूर्ति प्रत्यक्ष की थी। ये स्वर्लोक

की वस्तुएं हैं, उन की भुवर्लोक में स्थूल आकृति नहीं है। काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि की मूर्तियां देवर्षि नारदने धर्म-राज यम के स्थान पर देखी थीं, ये भुवर्लोक की भाव वस्तुएं हैं, इनकी भी स्थूल आकृति नहीं है। किन्तु भूलोक की प्रत्येक स्थूल वस्तु का मूल स्वर्लोक में है, उसी लोक में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा विद्यमान रहकर सब तरह की सृष्टि की कल्पना मानस-पदार्थों में प्रकटित करते हैं।

विष्णुपुराण के प्रथम अंश के पञ्चम अध्याय में है-

स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः।
ब्राह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तु ताः॥

इस "मानसास्तु ताः" कहने से ही ब्रह्माकी सृष्टिकी प्रकृति स्पष्ट हुई है। देवतासे स्थावरपर्यन्त सब ही ब्रह्माकी मानससृष्टि है, फिर यह सृष्टि स्थूलता को प्राप्त हुई है।

अब मनुसंहिता से उद्धृत दो श्लोकों का अर्थ विचारते हैं। धर्म की शाश्वती मूर्ति और विप्र की उत्पत्ति में प्रभेद नहीं है।

विप्र धर्मार्थ उत्पन्न होकर ब्रह्म होनेकी ओर ही कल्पित हैं, अर्थात् क्रमविकास की ओर स्वभावतः अग्रसर होते रहते हैं। तथा ब्राह्मण जब उत्पन्न हुए अर्थात् ब्रह्माकी कल्पित स्वर्लोक की मूर्ति जब भुवर्लोक से होती हुई भूलोक की स्थूल मूर्मि की ओर क्रमशः विकाश पाने लगी तब, वह (स्वाभाविक) अधिकार प्राप्त करते करते पृथिवी पर उत्पन्न हुई। इस प्रकार अधिकार पाने के कारण उसे सब भूतों के ऊपर ईश्वरत्व वा (स्वाभाविक) प्रभुत्व प्राप्त हुआ। क्यों? प्रभुत्व पाने का एकमात्र कारण यह कि, उन्होंने धर्मकोषरक्षा की व्यवस्था की। (जिस की शक्ति से वस्तु का वस्तुत्व धृत वा रक्षित हो वहीं धर्म है, मानव का मानवत्व जिस से रक्षित है, वही मानवधर्म है। धर्म सत्तागत एक है, किन्तु कर्मगत अनेक हैं। इस बहुधर्म को अन्यान्य पदार्थोंसे पृथक् भावसे एकत्र चिन्ता करने को धर्मकोष कहा गया है। इस तरह पृथक् भाव से जीवकोष प्रवृत्तिकोष आदि की चिन्ता की जा सकती है।

धर्म की शाश्वती मूर्ति क्या? सत्ययुग में जो धर्म था, कलियुग में वह अधर्म हो सकता है। वृद्ध और प्रबल समानधर्मी नहीं हैं। प्रजोत्पादन गृहस्थ का धर्म है, परन्तु संन्यासी को अधर्म है। धर्म की बाह्य मूर्ति शाश्वती नहीं है, क्योंकि वह काल पारिपार्श्विक अवस्था आदि पर निर्भर है। धर्म की जो मूर्ति स्वतन्त्र है, वह किसी के अधीन नहीं, वही शाश्वती है। यह मूर्ति पृथिवी पर नहीं है, मानसलोक में ब्रह्माकी कल्पनारूप से वर्तमान है। पूर्व ही कहा है कि, सब प्राकृत वस्तुओं की उत्पत्ति ब्रह्मा के मन से होती है। वह मानसिक कल्पना क्रमशः विकास पाकर भूलोक में प्रकटित होती है। मनु के समय में यह सत्य साधारण मानव से भी छिपा नहीं था, इस कारण ९८ श्लोक में मनुने कहा है कि, "ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वतीमूर्मि है।" अर्थात् ब्रह्माने ऐसे मानुष कल्पना किये कि, जिन में धर्म का आदर्श पूर्णता को प्राप्त हुआ है, एवं यह पूर्णता ही धर्म की शाश्वतीमूर्ति है।

पूर्णाङ्गधर्म, कालभेद और अवस्थाभेद के अतीत है, इस कारण वह शाश्वत है। मनु कहना चाहते थे कि, पूर्णाङ्गधर्म की मूर्ति ब्रह्माने पृथक् भाव से कल्पना नहीं की, बल्कि वह ब्राह्मण की उत्पत्ति कल्पना के अन्तर्भूत है। अतएव ब्राह्मण मूलतः व्यक्तिविशेष वा समाजविशेष नहीं है, बल्कि ब्रह्माकी कल्पनामात्र है। इंग्रेजी शिक्षितों से एक बात में कहा जा सकता है कि, ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा का idea है और हमारा ideal अर्थात् ब्राह्मण मानसराज्य में अवस्थित आदर्श हैं। पृथिवीस्थ मानव अपने जीवन में वह आदर्शपूर्ण आयत कर सकने से पूर्ण ब्राह्मण वा पूर्ण मानव हो सकते हैं।

९२ श्लोक की द्वितीय पंक्ति में "सः" शब्दद्वारा ब्राह्मणप्रकृति लेकर उत्पन्न मानव को समझाया है। ऐसे मानवधर्म के लिये ही उत्पन्न होकर क्रमविकास के मार्ग पर ब्रह्म होने की ओर आगे बढते हैं। कर्मगत धर्म वह है, जो इस ब्रह्मपरिणति की ओर अग्रसर कर देवे।

९९ श्लोक में "जायमान" शब्द उत्पन्न होने की अवस्था समझाता है। ब्रह्मा की ब्राह्मणरूपी कल्पना जब क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की ओर "जात" वा विकाश को प्राप्त होती रहती है, तब गन्तव्य की सीमामें आकर पृथिवी पर "अधिजात" अर्थात् स्वाभाविक अधिकार के साथ जन्म लेती है। उसका धर्मायत्त स्वाभाविक प्रभाव सबके ऊपर बर्तता है। धर्मकोष के रक्षक होने के कारण सबके

ऊपर उनका प्रभुत्व स्वाभाविक भाव से बढता रहता है। ये स्वाभाविक प्रभुत्व का दावा बलपूर्वक नहीं जारी करते और कोई बलपूर्वक इस स्वाभाविक प्रभुत्व को अस्वीकार भी नहीं कर सकता।

क्योंकि वह प्रकृतिविरुद्ध है। धार्मिक के निकट अधार्मिक, श्रेष्ठ धार्मिक के निकट निकृष्ट धार्मिक स्वभाव से ही झुकता है; किन्तु यह धार्मिकता केवल साम्प्रदायिक आचारगत न होकर स्वाभाविक नित्य सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। सामाजिक विधि लङ्घन करके आज भी हिन्दू को मुसलमान साधु के निकट और मुसलमान को हिन्दू साधु के निकट स्वाभाविक नियम के वश शिर झुकाते देखा जाता है।

ब्रह्मा केवल ब्राह्मणकल्पना करके ही क्षान्त नहीं हुए थे, बल्कि उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की भी कल्पना की थी। संसारबन्धन के गुण वा रज्जु तीन हैं- सत्व, रज और तमः। मानुष इन तीन गुणों से अतीत नहीं है। अतएव गुणभेद से मानुष का प्रकृतिभेद अवश्यम्भावी है। अविमिश्र गुणों की क्रिया जगत में नहीं है। यद्यपि शुद्ध सत्व का उल्लेख शास्त्र में है, तथापि वहां केवल सत्व का अति प्राधान्यमात्र समझाया है। मिश्र गुणों के आपेक्षिक प्राधान्य का तारतम्य अनेक प्रकार से हो सकता है, इसी कारण मनुष्यों में अनगणित प्रकृति-भेद है। इसी कारण मनुष्यों को असंख्य श्रेणियों में विभाग किया गया है, तथापि उनमें चार मौलिक श्रेणियां पृथक् की गई हैं। यथा-

(१) ब्राह्मण में सत्वप्रधान, उससे कम रजः, उससे भी कम तमः।

(२) क्षत्रिय में- रजःप्रधान, सत्व उससे कम, तमः उससे भी कम।

(३) वैश्य- रजःप्रधान, तम उससे अल्प, और सत्व उससे भी अल्प।

(४) शूद्र में तमःप्रधान, रजः उससे कम और सत्व उससे भी कम।

ब्रह्मा ने जो मानवश्रेणि के ये चार मौलिक विभाग कल्पना किये थे, वेही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी उत्पत्तिनाम से कहे गहे हैं। वस्तुतः हमारी तरह ब्रह्मा के हाथ, पांव, मुख आदि नहीं हैं। मनकी सत्वप्रधान, रजोमध्यम क्रिया का नाम ब्रह्माका मुख है (मुख है), मनकी रजःप्रधान सत्वमध्यम क्रिया का नाम ब्रह्मा के बाहु हैं, इत्यादि। ब्रह्मा जो विश्वगत मन है, यह बात भूल जानेसे किसी बात का भी मर्म समझमें नहीं आ सकेगा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रविषयक ब्रह्मा की कल्पना अर्थात् मानस जगदधिष्ठित मानुषका श्रेणिविभाग चतुष्टय गुणविभाग के ऊपर प्रतिष्ठित है। इस गुणविभागानुसार प्रकृति लेकर ये चार श्रेणि के मानव पृथिवीपर जन्म लेते हैं। किन्तु केवल प्रकृति होकर आनेसे क्या होगा? साधनाद्वारा प्रत्येकको ही अपनी श्रेणि के आदर्शपर पहुंचना होगा। साधनाका अर्थ अपनी प्रकृतिके अनुरूप कर्मका अनुष्ठान है। इसीलिये गीतामें भगवान् ने कहा है-

" चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

(४।१३)

गुण की अनुगामी प्रकृति है और प्रकृति का अनुगामी कर्म है। कर्मद्वारा जीवमात्र ही विवर्तन के मार्गपर क्रमोन्नति पाते हैं। स्वभाव के वश प्राकृतिक गुण के अनुसार कर्म करने को सब ही बाध्य हैं। फिर कोई अपनी प्रवृत्ति को अतिक्रम करके कर्म कर नहीं सकता, यदि करे तो अनधिकार चर्चा के फल से उसका श्रम व्यर्थ जाता है और क्रमोन्नति में सामयिक बाधा पडती है।

जो अपनी प्रकृति समझकर उसके अनुसार ज्ञानपूर्वक कर्म, इच्छापूर्वक सुशृङ्खलभाव से करता है, वही साधक है, उसका पद्धतिबद्ध इच्छासे किया हुआ अनुष्ठान ही साधना है। अर्थोपार्जन, परिवारप्रतिपालन, सन्तानोत्पादन, आहार, निद्रा, ईश्वरोपासना, आदि समस्त कर्म ही इस पद्धतिबद्ध साधना के अन्तर्गत हैं। कर्म करने के लिये मनुष्य की केवल पांच इंद्रियां हैं, उन पांचों को साधनपद्धति के अन्तर्गत करनेका भगवान् ने गीता में उपदेश दिया है-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं असक्तः स विशिष्यते॥ (३।७)

यहां कर्मेन्द्रियैः का अर्थ "सब इंद्रियोंद्वारा" एवं "नियम्य" का अर्थ- नियमान्तर्गत करके वा पद्धतिबद्ध करके" (organizing under a system)

इंग्रेजीमें जिसको Nature और भाषामें 'प्रकृति' कहते

है, वास्तव में वह क्या है ? विश्वगत मन वा ब्रह्मा की जो मानससृष्टि है, उसकी भूलौकिक अभिव्यक्ति को समष्टिभावसे हम आजकल प्रकृति कहते हैं, (यह शास्त्रमें कहा हुआ प्रकृति वा प्रधान नहीं है) ब्रह्मा की मानससृष्टि भूलोक के पक्ष में अनित्य नहीं है। अतएव ब्राह्मणादि श्रेणि-विभाग वर्तमान कल्प के लिये नित्य और गुणकर्मविभागानुसार वह सब देशों में वर्तमान है, यह प्रत्यक्ष सत्य है।

किन्तु ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का क्षत्रिय हो, इत्यादि विधान भारतवर्ष के सिवाय अन्य देशों में और हिन्दुओं के सिवाय अन्य जातियों में नहीं है। कहावत है कि, ब्रह्मा के ऊपर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र ऋषिने एक नूतन सृष्टिरचना आरम्भ करके वृक्षों पर मनुष्य फलरूप से लगने के लिये नारियल की सृष्टि की। हमारी समझमें ये गायत्री मन्त्र के द्रष्टा विश्व के मित्र विश्वामित्र ऋषिही बीजसृष्टि के कर्ता हैं; यह बीजसृष्टि शाश्वत कुलधर्म और प्रवरसंस्कार के ऊपर प्रतिष्ठित है और गायत्रीमन्त्र के द्रष्टाही उसके उद्भावक होनेकी सम्भावना है। बीज, कुल और प्रवर की कथा आगे कहते हैं।

आजकल देखा जाता है कि, गुणकर्म के विभागानुसार मनुष्यों का श्रेणिविभाग सब ही देशों में है और गुण-कर्म सहकृत बीजगत श्रेणिविभाग केवल भारतवर्षीय हिन्दुओं में ही था, अब भी है, परन्तु विकृत गत हो गया है। बीजगत ब्राह्मणोंपर लक्ष्य करके ही पूर्व कहा है कि, ब्राह्मण-सृष्टि विधाता की नहीं है, मनुष्यों की है। मनुष्य की साधनाबल से किस तरह भारतीय आर्यसमाज में लौकिक श्रेणिविभाग प्राकृतिक नियम की मिति पर प्रतिष्ठापित हुआ था, वही इस समय अनुसन्धेय है। यह अनुसन्धान तीन सूत्रों के सहारे से करना होगा। (१) जन्मगत ब्राह्मण, (२) ब्राह्मणों की शिक्षा, (३) ब्राह्मणों की साधना।

चार वर्णों का परस्परसम्बन्ध।

यहां एक बात कह देना आवश्यक है। हम ब्राह्मणों की बात लिखने बैठे हैं और केवल ब्राह्मण की ही बात कहेंगे, किन्तु अपर तीन श्रेणियों को छोडने से ब्राह्मण की प्रतिष्ठा नहीं है, यह बातें याद रखना आवश्यक हैं। ब्राह्मण मुख अवश्य हैं, किन्तु बाहु, ऊरु और पद न रहें, तो मुख आत्मप्रतिष्ठ होकर रह नहीं सकता। यदि पद, ऊरु और बाहु मुख की रक्षा न करें, तो उस मुख को भूमि-चुम्बन करना पडे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये एक ही समाज के चार अंग हैं, चारों अंगों के परस्पर सम्मिलन से ही जीवन है और उनके परस्परविच्छेद से मृत्यु निश्चय ही होगी।

और भी एक बात याद रखिये कि, इन चार श्रेणियों में कोई भी एक दूसरे की अवज्ञा करनेयोग्य नहीं है। चारों श्रेणि के सब लोग मनुष्यत्व में समान हैं, अर्थात् सब के दश इंद्रियां, छः रिपु, आत्मा, बुद्धि, मन इत्यादि समान हैं। उनका पार्थक्य केवल गुण और कर्म में है। अर्थात् प्रत्येक दो व्यक्तियों में जैसा वैसा ही दो श्रेणियों में अन्तर है। विभिन्न कर्म में शक्तिप्रयोग की सामर्थ्य समान नहीं है, एवं एक की जिस में प्रवृत्ति है, दूसरे का उसमें अनुराग नहीं है। यह केवल मानवात्मा की वयस के पार्थक्यवश होता है। विभिन्न योनिभ्रमण करके जिस तारीख में जिसने मानवरूप में प्रथम जन्म लिया था, उस तारीख से उस की वयस का हिसाब किया जाता है। इस प्रकार वयोज्येष्ठ आत्मा में ब्राह्मण गुण और वयः कनिष्ठ आत्मा में शूद्र के गुण वर्तते हैं। आज जो वृद्ध है, वह जैसे किसी समय बालक था, उसी तरह आज जो ब्राह्मण हैं, वह भी एक दिन शूद्र थे।

बालक हुए बिना कोई कभी वृद्ध हो नहीं सकता। वृद्धत्व वा बालकत्व जैसे मानुष नहीं है, मानुष की अवस्थामात्र है, उसी तरह ब्राह्मणत्व वा शूद्रत्व भी आत्मा की अवस्था है। ब्रह्माने जो ब्राह्मणसृष्टि की, वह आत्मा नहीं, आत्मा की अवस्थामात्र है; क्योंकि आत्मा नित्य है, किसी का सृष्ट हो नहीं सकता। मानुष बाल्य, कैशोर, युवकत्व, प्रौढत्व और वृद्धत्वद्वारा अनेक प्रकार की अभिज्ञता प्राप्त करता है। प्रत्येक आत्मा भी उसी तरह शूद्रत्व, वैश्यत्व, क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्वद्वारा क्रमविकाश के मार्ग पर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है।

बालक विना प्रयोजन के ही दौडकर उछल कर और अनेक भावसे चञ्चलता प्रकाश कर, अपनी फुर्ती और प्राण-शक्ति की प्राचुर्यता का परिचय देता है, इस के लिये वृद्ध कभी उस की अवज्ञा नहीं करते। बल्कि प्रशंसा करते

हुए, बालक की स्फूर्ति देखकर आनंद पाते हैं। उसी तरह सच्चे ब्राह्मण भी शूद्र के कर्म को अवज्ञा की दृष्टि से न देखकर प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। जो वृद्ध संसार के कर्ममें परिपक्व ज्ञान और बहुमुखी अभिज्ञता के परिचय से अवसरकाल में फुर्ती और उछल कूद में बालक को पराजित कर सकते हैं, उन्हीं की वृद्धत्वप्राप्ति सार्थक हैं।

जो ब्राह्मण ज्ञानानुशीलन के साथ सेवाकर्म में भी दक्षता दिखा सकते हों, उन्हें क्या हम आदर्श जानने में कुण्ठित होंगे? अन्ततः हमारे आधुनिक " गिरि " श्रेणि का संन्यासीसम्प्रदाय इसी आदर्श से गठित हुआ था, अतएव श्रेणिविभाग में अवज्ञा वा विद्वेष का कुछ अवकाश नहीं था और वर्तमान विव्हल अवस्था की भांति तब श्रेष्ठत्व स्थापन का कोई स्वार्थपूर्ण अभिप्राय भी इस विभागके मूलमें वर्तमान नहीं था। वृद्ध जिस तरह जानते हैं कि आज जो बालक है, कुछ वर्षोंके बाद वह भी उन्हीं की तरह वृद्ध होगा, उसी तरह ब्राह्मण भी जानते हैं कि, प्रत्येक शूद्र भी कुछ जन्मों के बाद ब्राह्मणत्व प्राप्त करेगा।

इस सम्बन्ध में इतनी बात कहने का एक कारण है, वर्तमान युग के ऐतिहासिक लोगोंने स्थिर किया है कि, हिन्दुओं के अधःपतन का कारण जातिभेद है, एवं जातीय एकता संस्थापन करने लिये जातिभेद की जड काटनी पडेगी। इससे फल विपरीत हुआ है। वह यह कि, इस मत के अनुवर्ती होकर इस देश में जातिविद्वेष की सृष्टि हो गई है। जातिगत और वंशगत श्रेष्ठताप्रतिपादन की एक उन्मत्त चेष्टा हमें प्रायः चारों ओर दीख पडती है। अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने के उद्देश्य से दूसरों को निकृष्ट प्रतिपन्न करने की आवश्यकता पडती है, एवं उसी के फल से विद्वेष की उत्पत्ति होती है।

अतएव जिस जातिभेदद्वारा समाज में पूर्णाङ्गएकता संस्थापित हुई थी, वही आजकल भेदबुद्धि और विद्वेष का हेतु जान पडने लगा है। हिन्दुओं को जातिभेद में विद्वेष वा अवज्ञा का भाव बिन्दुमात्र भी नहीं था, हिन्दू " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " जान कर पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, पत्थर आदि तक की पूजा करते हैं (थे)। हिन्दुओं के आदर्श पर गठित चरित्र व्यक्ति, अवज्ञा क्या पदार्थ है, उसे जान भी नहीं सकता! सर्वत्र श्रद्धा का भाव केवल वाक्यमात्र नहीं, बल्कि वह चरित्रगत प्रत्यक्ष सत्य था; उस का एक दृष्टान्त देते हैं। यूरोप में दासप्रथा बंद हो जाने के बाद भी बहुत समय तक इस देश में दासीविक्रय प्रचलित था और आज भी कदाचित् किसी परिवार में इस श्रेणि की दासी मौजूद होंगी, ये क्रीतदासी होने पर भी प्रभु परिवार के साथ धर्म का सम्बन्ध स्थापन कर परम आत्मीया की भांति रहती हैं।

परिवार के लोगों को अकृत्रिम भाव से प्यार पाते और प्यार करते हैं। पारिवारिक सम्बन्ध के अनुसार अधिकार पाकर ये स्वामि पारिवार के व्यक्तियों पर शासनतक करते और कर सकते हैं। (गांवों में प्रायः उच्च जाति के लोग ग्राम के नाते से भाई, काका आदि महतर तक से कहते हैं।) आजकल भी पाश्चात्य सभ्यता प्राप्त परिवारों को छोड, अन्य परिवार के बालक बालिकायें नौकरों को नाम लेकर नहीं पुकारतीं, बल्कि काका, दादा इत्यादि सम्बन्धानुसार पुकारनेकी मातापितासे अनुमति पाती हैं। ... इस प्रकार उन्मत्त चेष्टा त्याग किये बिना समाज का कल्याण नहीं।

वर्णाश्रम छोडने से (हिन्दुधर्म की बात नहीं कहते) हिन्दु जाति ठरह नहीं सकती, वर्णाश्रम की रक्षा करने से नास्तिक भी हिन्दू कहा जाता है और वर्णाश्रम छोडने से तेतीस कोटि देवता का उपासक भी हिंदु नामव्यवहार का अधिकार खो देता है। अतएव जो हिन्दू रहकर फिर अभ्युदय चाहते हैं, उन्हें वर्णाश्रम की रक्षा करनी ही होगी। ब्राह्मणादि सब वर्ण ही आजकल आदर्श से भ्रष्ट हुए हैं, वर्णाश्रम का मूल सूत्र अवलम्बन करके समाजशृंखलाविधान से यदि नेता लोग दृढ परिकर हों, तो हमारे अभ्युदय किसी प्रकार नहीं सकेगा।

समग्र हिंदूसमाज एक परिवारविशेष है। इस परिवार में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भाई एकान्तवर्ती होकर रहते हैं। स्वाभाविक गुणानुसार उन्होंने कर्मविभाग कर लिया था और परिवार अच्छी तरह चलता था। आपस में प्रेम रहने से परिवार में शांति और आनंद सदा रहा करता था। आजकल विद्वेषने प्रेम के स्थानपर अधिकार कर लिया है, एवं स्वार्थपरता के बढ जाने के कारण नेतृत्व के लिये आपस में विवाद होने लगा है।

अब यदि भ्रातृप्रेम तथा साथ ही स्वार्थत्याग फिर न लौट आवेगा, तो इस परिवार का नाश अवश्य ही होना है। सूत्रधारण, अशौच की दिनसंख्यापरिवर्तन, नूतन वंशोपाधिग्रहण इत्यादि बातुलोचित चेष्टा द्वारा हम कार्य से काजी न बनकर दाढी रखाकर काजी बनने की चेष्टा करते हैं।

इस चेष्टा के फल से समाज क्रमशः दुर्बल होता हुआ नाश की ओर चल रहा है, यह नहीं विचारते। पूर्वकृत कर्म के फल से मनुष्यत्व प्राप्त किया है, यही हमारा परम गौरव है। यदि हम और भी गौरव चाहते हैं, तो हमें वह कर्मद्वारा उपार्जन करना होगा। शरीर पर सिंह का चर्म ओढ लेने से गीदड कभी सिंह नहीं हो सकता।

वर्णित हिंदू समाजरूप परिवार की बुद्धिसंग्रह का भार ब्राह्मणों के ऊपर था, ब्राह्मण बुद्धि खोकर अज्ञानग्रस्त हुए है, इस कारण अन्य तीन भाई भी उन्मत्त से हो गये हैं। अतएव ब्राह्मणों का आत्मस्थ होना सब से पहले आवश्यक है। इसी उद्देश्य से ब्राह्मणों का आभ्यन्तरिक इतिहास वर्णन करने में (लेखक महोदय) प्रवृत्त हुए हैं। और अनुवादक ने भी बंगला से हिन्दी अनुवाद करने की धृष्टता की है। पाठक तात्पर्य ग्रहण करें और त्रुटियां मार्जन करते हुए क्षमा करें। ×

× चूंकि इस लेख का ब्राह्मणमात्र वा हिन्दूमात्र को समझना उपयुक्त होगा। अतएव प्रत्येक धार्मिक (मासिक) पत्र इसे अपने अपने पत्र में स्थान देकर प्रचार करें और जिस पत्रमें प्रकाशित करें, उसकी एक एक प्रति अनुवादक के पास भेजकर अनुगृहीत करें। इति सप्रेम प्रार्थना। (अनुवादक)

आदिकवि श्रीवाल्मीकि-महामुनि-प्रणीत

रामायण का भाषानुवादसमेत मुद्रण।

आदर्श पुरुषों में मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी श्रीरामचंद्रजी का सुरम्य, मनोहारी चरित्र अत्यंत बोधप्रद है। श्रीरामचन्द्रजी के अनेक चरित्र हैं, परन्तु आदिकवि श्रीवाल्मीकिद्वारा जो रामायण निर्माण हुआ, वही सबसे प्राचीन और सबों में प्रामाणिक माना जाता है।

वाल्मीकिमुनिने आदिकाव्य जैसा बनाया, वैसाही शुद्धरूप में भाषानुवादसहित जनताको देनेका संकल्प हमने किया है।

मुद्रण कैसा होगा ?

श्रीवाल्मीकिरचित श्रीरामायण के सब श्लोक पृष्ठके ऊपर दिए जायँगे और नीचे इन श्लोकोंका सरल भाषानुवाद दिया जायगा। अनेक स्थानोंपर टिप्पणियां देकर मूल ग्रन्थ का आशय स्पष्ट किया जायगा। अयोध्या, किंष्किधा, लंका आदि नगरों के नकशे (Maps) देकर इनकी सभ्यता किस प्रकार की थी, रामायणके समय युद्धनीति कैसी थी, सेनापति सेनाके व्यूह किस तरह करते थे, राम-रावणके युद्ध का युद्धक्षेत्र कितना बडा था, अन्तसें रावण क्यों हार गया और श्रीरामचन्द्रजी विजयी कैसे हुए,' यह सब युद्ध के नकशों के चित्र दर्शा कर बताया जायगा।

श्रीवाल्मीकीय रामायण के ७ काण्ड हैं। इन सातों कांडों के १० ग्रंथ होंगे- (१) बालकाण्ड का १ ग्रंथ, (२) अयोध्या-काण्ड के २ ग्रंथ, (३) अरण्यकाण्ड, (४) किष्किंधाकाण्ड और (५) सुन्दरकाण्ड का प्रत्येक एक एक ग्रंथ, (६) युद्धकाण्ड के ३ ग्रंथ और (७) उत्तरकाण्ड का एक ग्रंथ, इस तरह ये ७ काण्ड १० ग्रंथों में प्रकाशित होंगे।

प्रत्येक ग्रंथ में दो चित्र रंगीन होंगे और कई सादे एकरंगी चित्र होंगे। इन के अतिरिक्त कई नकशे और दूसरे चित्र दिए जायँगे।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रंथों में होगा। प्रत्येक ग्रंथ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षोंमें ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रंथ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। इनका वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री— **स्वाध्याय-मण्डल**, औंध (जि० सातारा)

Aundh, (Dist. Satara)

नादानुसंधान।

(पूर्वार्ध)

साधनावस्था का पूर्व रूप।

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, बंबई)

नराकारपरब्रह्मरूपायाऽज्ञानहारिणे।
आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अज्ञान का नाश करते हुए आत्म-ज्ञान के प्रदान-कर्ता नराकार श्री श्रीसद्गुरु महाराज के तरुण-अरुण-सदृश सुकोमल श्री श्रीचरण कमलों में बारबार सभक्ति साष्टांग-प्रणामपूर्वक आज बडे आनन्द के साथ उन्हीं परम करुणामय श्री श्रीसद्गुरु महाराज की असीम कृपा से सञ्जीवित होकर, आत्म-स्वरूप अपने परम-सुधी-साधक को परम कल्याण के मार्ग पर चलने की विधियाँ संक्षेप में बतलाने के लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि, यह विषय विशेष गूढ शास्त्रतत्त्व, साधनतत्त्व, तथा भावतत्त्व से पूर्ण होना चाहिये, तथापि न जाने अन्तरात्माने किसकी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर मुझसदृश मूढ, अज्ञ तथा अल्पज्ञ से लेखनी उठवायी है।

मैं विद्या-बुद्धि-विवर्जित अविद्वान् तथा भिन्न भाषा-भाषी होनेके कारण यदि इस क्षुद्र लेख में कोई भूल-चूक हो, तथा भाषासम्बन्धी दोष रह जाय, तो प्यारे सुधी पाठक! उसे उपेक्षा करते हुए उस ओर ध्यान न देकर, केवल क्रियाओं को विधिवत् करने की ही चेष्टा करें। मेरा विश्वास है कि, वे स्वयं ही मेरी बातों की सत्यता का अनुभव करते हुए चिर शांति तथा अपूर्व आनन्दमय परमावस्था को प्राप्त करेंगे। हाँ, तो मूल-विषय पर आने के पहले कुछ अपने जीवन का हाल लिखने के लिए मैं विवश हो गया हूँ; क्योंकि पहले पहले मुझे इस मार्ग पर प्रवेश करने समय विशेष कष्ट का सामना करना पडा था, जिन्हें सामने रखनेसे आगे की बातों का यथार्थ मूल्य प्रकट होने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी, तथा नवीन साधकों को कष्ट का सामना न करना पडेगा।

कदाचित् जन्म-जन्मांतरों के संस्कारवश या पितृ-पुरुषों के शुभाशीर्वाद अथवा परम-कृपालु सच्चिदानन्द-स्वरूप श्री श्रीसद्गुरु महाराज के अहेतुकी स्नेहाकर्षण से बचपन में ही योग-साधन की धुन मेरे सिर पर सवार हो गई थी। उस समय योग किसे कहते हैं, योग कितने प्रकार के होते हैं, उसकी साधना कैसी करनी चाहिये, इत्यादि किसी भी बात को मैं नहीं जानता था। परन्तु मेरी अन्तरात्मा प्रेरणा कर रही थी कि "योग" अर्थात् साधन-भजन करो।

तब से मैं जिस किसी साधु-महात्माको देखता, भले-बुरे का विचारशून्य होकर उसी के चरणों में सिर झुका देता और साधन-तत्त्व प्राप्त करने के लिए अपनी विशेष उत्कण्ठा प्रकट करता। साथ हीं तन-मन-धन से उनकी सेवा-पूजा में सदा तत्पर रहता, जिससे वे शीघ्रातिशीघ्र मुझ पर कृपा करें। क्योंकि, हृदय के अन्तरतम प्रदेश से प्रेरणा होती थी कि, "गुरुकृपा ही इस मार्ग का एक मात्र पाथेय है। उनकी अहेतुकी कृपा ही साधक की उन्नति का प्रथम और प्रधान सीढी है।" श्रीमद् भागवत् में भी लिखा है कि-

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

जिस प्रकार पानी में डूबते हुए प्राणियों के लिये सुदृढ नौका ही एकमात्र सहारा होती है, उसी प्रकार भयंकर संसारसमुद्र में डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन दुःखी

मनुष्यों के लिए अत्यन्त शांत ब्रह्मवेत्ता साधु ही सर्वप्रधान सहारा है ×।

अतः मैं जैसे अल्प-वयस्क अज्ञ विवेक-बुद्धि-विचार-हीन, जीव को सद्गुरु की कृपा के अतिरिक्त इस भवार्णव में पार कैसा लग सकता है ? उस समय मेरी हालत ऐसी हो गई थी कि किसी विषय पर सुविचार करने की भी शक्ति मुझ में नहीं थी, तथा एक मुहूर्त भी व्यर्थ बिताना कष्ट मालूम पडता था। फलस्वरूप अनेक साधुसंत मिले। अनेक प्रकार की साधना भी उनसे प्राप्त की, तथा उन्हीं उत्कट साधनादि के फल से दमा, श्वास-कास, रक्तपित्त, क्षय तथा ब्लड्प्रेशर, (Blood-pressure) आदि व्याधियों से आक्रांत होकर यमराजका अतिथि बनने के लिये तैयार होने लगा।

यह आज से २७।२८ वर्ष पहले की बात है। उस समय मैं जैसी उट-पटांग (अवश्य किसी साधु-संत की बताई हुई) साधना करता था, उसी प्रकार मैंने दूसरी एक भूल भी की। वह यह कि अमिताहार, अनिद्रा, उपवास, अत्यधिक गंगास्नान एवं अनियमित साधन। साधक को मिताहारी आचार, विचार, विहार, साधनादि सभी विषय पर संयमी तथा सावधान रहकर नित्य-नियमित रूप से साधना करनी चाहिये। गीता में भी योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णजीने यह कहा है कि-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
(गी० ६।१६)

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवाले का तथा न अति शयन करने के स्वभाववाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गी० ६।१७)

दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवाले तथा यथायोग्य चेष्टा करनेवाले एवं यथायोग्य शयन करने व जागनेवालेको ही सिद्ध होता है।

परन्तु उस समय मुझ में इतना ज्ञान ही कहाँ था कि योगियों को अत्याहार, अनाहार, अतिनिद्रा, अनिद्रा, उत्कट-साधनादि विषयों में सदा तत्पर रहना चाहिये। उस समय तो केवलमात्र यही धुन सिर पर सवार हो गई थी कि किसी भी प्रकार की साधना से आत्मज्ञान यानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लूं; क्योंकि उसी सिद्धि के द्वारा संसार में नाम, यश, प्रभाव, प्रतिपत्ति, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्तिके साथ ही साथ धर्म भी लाभ होगा, मुक्ति भी मिलेगी। इस प्रकार एक ही साथ दो काम बन जायँगे। अतः मैं मिताहारी नहीं हुआ और अधिकतर उपवास करना आरम्भ कर दिया।

प्राणायामादि आभ्यंतरिक क्रियाएँ ऐसी हैं कि, उनमें उपवास नहीं करना चाहिये, तथा स्नेह पदार्थ घी, दूध, मक्खन फल-मूल आदि यथायोग्य ग्रहण करना चाहिये। उस समय ये बातें मेरी समझ में नहीं आई थीं और किसी ने समझाया भी नहीं था। मैंने यथेष्ट उपवास करना शुरू कर दिया। उस समय एक बात की और भी खराबी की। अर्थात् नित्य ३।४ बार गंगास्नान करना भी आरम्भ कर दिया। अतः थोडे ही दिन के बाद मैं बीमार पड गया, फिर भी संस्कार तथा अंध-श्रद्धा के वश स्नानादि बंद नहीं किया। परन्तु शास्त्र में लिखता है कि-

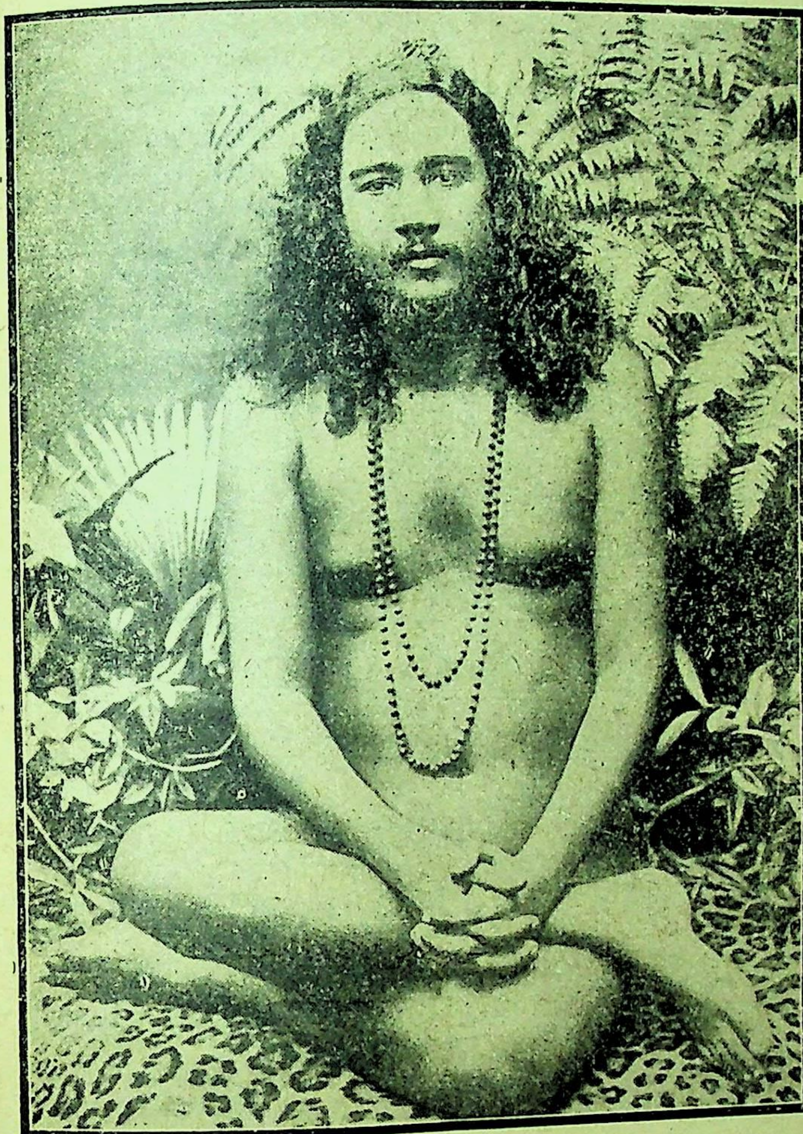
अन्तःस्नानविहीनस्य बहिःस्नानेन किं फलम्।

अन्तः स्नान-विहीन व्यक्ति को बाह्य स्नान से क्या लाभ होता है ? योग-शास्त्र के अनुसार इडा गंगारूपा, पिङ्गला यमुनारूपा तथा सुषुम्णा सरस्वतीरूपा है। यह तीनों नाडियाँ आज्ञा-चक्र के ऊपर जिस स्थान पर जा मिली हैं, उस स्थान का नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। अतः गुरु-कृपा से जो साधक इस आत्म-तीर्थ को जानकर तीर्थराज त्रिवेणी में मानस-स्नान या यौगिक-स्नान करता है, वह अवश्य ही मुक्ति-पद लाभ करता है।

प्रातःस्मरणीया साधकाग्रगण्या मीराबाई का एक दोहा है कि—

नित् नहाये जो हरि मिले तो जलजन्तु होई।
फलमूल खाये जो हरि मिले तो बंदर-बदराई।
तृणभक्षण से हरि मिले तो बहुत है अजा।

× अत्यन्त शांत ब्रह्मवेत्ता संत सद्गुरु के ही नामांतर हैं, यानी ये दोनों एक ही हैं।



श्री श्रीसद्गुरु
परमहंस परिव्राजकाचार्य, श्री श्री १००८ श्रीमत् स्वामी
निगमानन्द सरस्वती देव



योगीराज परिव्राजक श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी
गोपाल चैतन्य देव, पीयूषपाणि

तिरिया छोडे जो हरि मिले तो बहुत है खोजा।
दूध पीये जो हरि मिले तो बहुत वत्सवाला।
मीरा कहे बिना प्रेम से नहीं मीले नन्दलाला।

इतनी बातों का ज्ञान उस समय कहाँ था ? अतः उग्र प्रकार से योग-साधना के साथ ही साथ अनाहार, स्वल्पाहार, अति आहार, अनिद्रा, अतिनिद्रा आदि नाना अत्याचारों से मैं उपर्युक्त रोगों का शिकार बन गया, जिसके कारण मुझे ५।१० वर्षों तक भीषण कष्ट का सामना करना पडा।

किंतु जिसके हृदय की भावना पवित्र तथा सच्ची होती है, उसे यदि किसी भी कारणवश कष्ट का सामना करना पडे, तो भी परम कृपालु परमात्मा उसे किसी न किसी प्रकार से कष्टमुक्त करके अपनी गोद में उठा ही लेते हैं, उसका आगे का मार्ग सुगम, सरल, कण्टकशून्य कर देते ही हैं। ठीक उसी प्रकार सच्चे हृदयसे नाना प्रकारके कष्टों का सामना करने के बाद सच्चा रास्ता मिला।

परम-मंगलमय अहैतुकी कृपावन्त श्री श्रीसद्गुरु महाराज की परम अनुकम्पा से "योगी गुरु" नामक एक सर्वांगसुन्दर पुस्तक अचानक मेरे हाथ में आयी। उसे ध्यान-पूर्वक पढने पर मालूम हुआ कि अनियमित रूप से योग-साधन और प्राणायामादि करने से अनेक प्रकार के कठिन रोग हो सकते हैं सही, परन्तु "पवनविजय-स्वरोदय" शास्त्र की विधि के अनुसार अभ्यास करने पर साधक उस कठिन व्याधियों से मुक्त भी हो सकता है। फलतः मैं पवन-विजय-स्वरोदय-शास्त्रकी विधि को अपने जीवन का एकमात्र सम्बल बनाकर धीरे धीरे उसके अनुसार अभ्यास करने लगा; साथ ही पञ्चम वेद--आयुर्वेदका ग्रन्थ पढते हुए आयुर्वेद औषधि के सेवन की व्यवस्था भी कर ली।

"योगी गुरु" पुस्तकमें योगशास्त्रकी अनेक अद्भुत तथा सरल सुन्दर विधियाँ विद्यमान हैं, जो मातृदुग्धवत् सुपेय, सारवन्त तथा प्रत्यक्ष अनुभूत साधनप्रणाली से युक्त हैं। आखिर ५।१० वर्षों के भीतर ही मैंने सर्व रोगों से मुक्त होकर दिव्य देह को प्राप्त किया और सद्गुरु की कृपा से साधन--तत्वका भी बहुत कुछ अनुभव कर लिया। योगी लोग पहाड--पर्वतों की कन्दराओं में विराज कर कैसे रोग से मुक्त रहते हैं, तथा क्वचित् रोग--ग्रस्त होने पर भी कैसे रोग--मुक्त होते, एवं काल--ज्ञान के साथ अच्छा-बुरा कैसे समझते हैं, ये सब विधियाँ उस पुस्तक में सुन्दर और सरलतापूर्वक वर्णित है, जो विधि सनातन तथा सर्व-साधारण के विशेष उपकारी वस्तु है। अस्तु।

यह कहना मैं भूल गया कि "योगी--गुरु" पुस्तक मिलने के बाद ही मैंने उन जीवन्मुक्त महापुरुष के श्री श्री चरण-सरोजों में आत्म-समर्पण कर नित्य-नियमित रूप से सुदीर्घ--समय तक साधन करके अपने जीवन में नाना प्रकार का अगणित और अपार आनन्द प्राप्त किया। आज उसी साधन का थोडा--सा अंश प्रेमी पाठकों तथा साधकों के मंगलार्थ यहाँ पर लिखने की चेष्टा करता हूँ।

आत्म-ज्ञान लाभ के लिये साधना में प्रवृत्त होने के पहले "आत्मा क्या है ?" इस विषय को जान लेना आवश्यक है। अतः इस विषय पर संक्षेप में आलोचना की जाती है।

आत्मा क्या है ?

ज्योति ही ब्रह्म है। सृष्टिके पहले केवल एकमात्र ज्योति ही विद्यमान थी। पीछे सृष्टि होते ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव से लेकर यह विश्व-ब्रह्माण्ड तक उसी ज्योतिः से समुत्पन्न (पैदा) हुए हैं। यथा-

स ब्रह्मा स शिवो विष्णुः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
सर्वं क्रीडंति तत्रैते तत् सर्वेन्द्रियसंभवम्॥

वही स्वप्रकाशरूपी अक्षर परम ज्योतिः ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव वाच्य है। निखिल विश्वब्रह्माण्ड उसी ज्योतिः के बीच में क्रीडा कर रहा है, एवं कुछ इन्द्रिय के ग्राह्य (ग्रहण करनेयोग्य) विषय हैं, वे सभी उस ब्रह्मज्योति से उत्पन्न हुए हैं। यह ज्योति ही आत्मा के रूप में मानवी देह के भीतर सब जगह व्याप्त होकर अवस्थान कर रही है। आत्मा ब्रह्म का रूप होनेपर भी माया के प्रभाव से विषयासक्त हो जाने पर अपने को आप जान नहीं सकता है। परमब्रह्मस्वरूप परमात्मा सभी देह में विराजमान है। यथा-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। (श्रुतिः)

एक देव परमात्मा ही सर्व भूतोंमें गूढ रूप से अधिष्ठित है। सर्वव्यापी, सर्व भूतों का अन्तरात्मा, कर्म का अध्यक्ष, सकल भूताधिवास, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है।

जैसे दूध में मक्खन, फूलमें सुगंध और लकडी में आग रहती है, वैसी ही देह में आत्मा अधिष्ठित है। यथा-

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गंधः पयोघृतं।
देहमध्ये तथा देवः पाप-पुण्यविवर्जितः॥

जिस प्रकार काष्ठ के भीतर अग्नि, पुष्प में गंध, दूध में घृत होता ही है, उसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा का निवास है। दूध का मन्थन करने से जिस प्रकार नवनीत (मक्खन) उत्पन्न होता है, उसी प्रकार नाना प्रकार की साधनाद्वारा आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। काष्ठ यानी लकडी को चिरने से भी जिस प्रकार उसमें स्थित अग्नि की दृष्टि गोचर नहीं होती, उसी प्रकार शरीर का छेदन करने से भी उस में आत्मा का दर्शनलाभ नहीं हो सकता। अरणीमन्थनक्रियाद्वारा काष्ठ को घिसने से जिस प्रकार उसमें विद्यमान अग्नि प्रकाश पाकर दिखाई देता है, उसी प्रकार साधनबल की सहायता से आत्मा को प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

जिस प्रकार बीज में प्रकाण्ड-वृक्ष सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ रहता है, किन्तु स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने के कारण उस के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सूक्ष्म-दर्शन-यंत्र (Microscope) की सहायता से वह देखा जा सकता है। शर्बत में मिठास न दिखाई देने पर भी जिस प्रकार उसे पीने से मीठापन का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने पर भी उस का अस्तित्व स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता। वह साधना की सूक्ष्म-दृष्टि से साधक को दिखाई देता है।

भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा है कि-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः॥
(गी० १०।२०)

हे गुडाकेश ! मैं ही सब प्राणियों के हृदेश में स्थित आत्मा हूँ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्॥ (कठोपनिषत् २।२०)

सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत् से भी महत् आत्मा प्राणियों के हृदय में अवस्थित है। अतः आत्मा का होना तो निश्चय ही है; परन्तु अविशुद्ध चित्तवाले व्यक्ति उसे जान नहीं सकते। भगवान् ने कहा है-

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम्।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥
(गी० १५।११)

ध्यानद्वारा प्रयत्नशील विशुद्ध चित्त योगीगण ही आत्मा को देह में निर्लिप्त भाव से अवस्थान किये हुए देख सकते हैं, परन्तु जो चित्तशुद्धि न होने के कारण मन्दमति हैं, वे शास्त्राभ्यासद्वारा सहस्र प्रयत्न करने पर भी आत्मा का दर्शन नहीं कर सकते। क्योंकि-

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥
(ज्ञानसंकलिनी तंत्र ५१)

वेदचतुष्टय और सब शास्त्र को मथ कर उस का मक्खनस्वरूप सारभाग तो योगिगण चाट गये हैं और उस का असार भाग तक्र (छाछ) पण्डित लोग पी रहे हैं। शास्त्र पढने से जो ज्ञान होता है, वह मिथ्या और कैरी ढींगमात्र है, वह प्रकृत ज्ञान नहीं, उससे सिर्फ सुख-दुःखादि का अनुभव होता है, आत्मज्ञान लाभ नहीं होता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठोपनिषत् द्वितीय वल्ली २३)

इस आत्मा को वेदाध्ययन वा मेधा (धारणा-शक्ति) या शास्त्रज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठोपनिषत् २।२४)

दुश्चरित से अविरत, अशांत, असमाहित या अशांतमानस व्यक्ति ज्ञानद्वारा (सांसारिक-ज्ञान) भी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥

(बृहदारण्यक २।४।५)

हे मैत्रेयि ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और निदिध्यासन करनेयोग्य है। जिसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करने से सब कुछ जाना जाता है।

अयमात्मा ब्रह्म। (श्रुति) यह आत्मा ब्रह्म है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

अर्थात् जिस में से ये सब भूत-प्राणि उत्पन्न होते, जिसके द्वारा उत्पन्न होते, एवं जीवित रहकर अन्त को जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसके जानने का प्रयत्न करो। वही कारण ब्रह्म है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मको तटस्थ लक्षणसे बतलाया हैं, किंतु उनका स्वरूप इस प्रकार के हैं-

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, एवं अनंत है और

सत्तामात्रैकप्रकाशकं प्रकाशम् हृत्पुण्डरीकम् ... न तेजो न तमः ॥

एकमात्र सत्तात्मक है, सबको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है, हृद्पद्म है, न शुक्ल है- न कृष्ण है। परन्तु-

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जहाँ से मनसहित वाणी खाली हाथ ही लौट आती है।

वास्तव में सच्चा ज्ञान यानी ब्रह्मज्ञान गुरु-कृपा से तथा साधन-बल के द्वारा ही लाभ होता है- प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उस प्रत्यक्ष अनुभव के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन की जरूरत है। अथवा-

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति।

तप से ही ब्रह्म को अनुभव कर सकते हो, अतः तपही ब्रह्म है।

मनसश्चेंद्रियाणां च ह्यैकोऽयं तपः ॥

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही तप है। तैत्तिरीय उपनिषद् के साथ पातञ्जली की बात मिलती है। क्योंकि पातञ्जली का भी यही मत है कि-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

योगद्वारा चित्त-वृत्ति यानी मन और इन्द्रियोंका निरोध होता है। पातञ्जली के मत से 'तप' यह है-

नाह्यान्तःकरणसमाधानम्

इन्द्रियों और अन्तःकरण का समाधान है। इतनी बातों से पता लगता है कि तप, योग और निदिध्यासन तीनों का ही सामञ्जस्य है और तीनों एक ही हुए हैं।

यदि यह सत्य है कि, 'अहं ब्रह्मास्मि' यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' और यदि इस संसार में जो कुछ है, सभी आत्मा है और आत्मा ही सत्य है एवं वही आत्मा ही तुम हो (एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।) यदि आत्मा नित्य, शुद्ध, बद्ध और मुक्त है, नित्य सत्य है, और 'एक' है, तो यह क्या बात है, कि तुम दुःखी होते हो और परमानन्द, अमृतत्व, आद्यकैवल्य से वियुक्त हो जाते हो? इसका उत्तर सिर्फ एक ही शब्द से यह है, कि तुम 'तुम' को भूल गए हो, तुम माया के फन्दे में फंस कर आत्मज्ञान भूल गए हो; नहीं तो आत्मा और ब्रह्म दो नहीं हो सकते हैं, दोनों एक ही है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषद् ७)

जिस में सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, वहा उस एकत्व के देखनेवाले ज्ञानी के लिए मोह और शोक क्या है?

आत्मा विभु होने के कारण सर्वत्र ही व्याप्त है, एवं सब कुछ वही है। परन्तु हमें जो पृथक्-पृथक् नाना भाव देख पडते हैं, वह विपरीत ज्ञान के कारण यानी आत्मा की ओर दृष्टि, अन्तर्दृष्टि न रहने से विपरीत देख पडते हैं। यथार्थ ज्ञान होने से एक अव्यय-भाव देख पडेगा।

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभु-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठ० २।१।१)

स्वयंभू (परमात्मा) ने बहिर्मुख इन्द्रियों का निर्माण किया है, इससे अपने अन्तरात्मा को कोई नहीं देख पाता। पर कोई धीर पुरुष अमृतत्व का इच्छुक होकर अन्तर्दृष्टि की साधनाद्वारा परमात्मा को देख लेता है, अर्थात् साधन-बल से अंतर्मुख होने से ही आन्तर में अन्तर्यामी का दर्शन तथा ज्ञान होता है।

योगी-याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि,

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, प्रभृति धर्मों से योग के द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (श्वेता० उप०)

आत्मा को परमात्मा से अभिन्न जानना ही मोक्ष का साक्षात् साधन है। परमात्माप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ के लिए इस के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है।

तरति शोकमात्मवित् । (छा० उ०)

आत्मवेत्ता ही शोकरूप संसार को पार कर सकता है।

आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । (तै० उ०)

ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द अथवा आनंदरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला पुरुष किसी से भी नहीं डरता, अर्थात् वह निर्भय, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति । (मुं० उ०) ब्रह्म को जाननेवाला पुरुष नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥

जिन अधिकारियों का आत्मविषयक अज्ञान ज्ञान से नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञानसूर्य के समान उस वेदान्त-प्रसिद्ध परम तत्त्व को प्रकाशित कर देता है।

आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाने पर ज्ञानी पुरुष तत्कालही आत्माकी स्वरूप-भूत निरतिशय शांतिको प्राप्त कर लेता है।

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वं विज्ञानाद्भवति ।

ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञानजन्य संसार का विनाश सौ करोड कल्पों में भी किसी तरह नहीं हो सकता।

ईशेशितव्यसम्बंधः प्रत्यगज्ञानहेतुजः ।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥
(सुरेश्वराचार्य)

अपने आत्मा के परमतत्त्व को न जानने से ही नियम्य-नियामक भावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक् ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।
यथादर्शनके प्रेख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि । म.भा.

पापों का क्षय हो जानेपर ही सम्यक्रूप से पुरुषों को तत्त्वज्ञान (नामांतर में आत्मज्ञान) होता है। कीचड धुल जाने से अत्यन्त निर्मल-दर्पण में जिस प्रकार अपना प्रतिबिंब स्पष्ट पडता है, उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धि में पुरुष अपने आत्मा को अपरोक्ष-रूप से उपलब्ध करता है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः । (मुण्डक)

चित्तशुद्धि के बाद एकाग्र मन से अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्मा का निरंतर चिंतन करनेवाला पुरुष अपरोक्ष-भाव से आत्मा का अनुभव करता है।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति । (क० उ०)

आत्मा में चित्त की समाधि होना ही अध्यात्मयोग कहलाता है। उसकी प्राप्ति हो जाने से बुद्धिमान् पुरुष स्वयं-प्रकाश आत्मा का साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदि से रहित हो जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है, कि सर्व शास्त्रों का ही सिद्धान्त है कि आत्मा अवश्य विद्यमान है, एवं आत्मज्ञान लाभ करना, प्रत्येक मानव के लिए परमावश्यक कर्तव्य है। परन्तु देह, चक्षु, कर्णादि इन्द्रिय अथवा मन, प्राण और सांसारिक ज्ञान आदि कोई भी आत्मा नहीं है। देह के अतिरिक्त जो चैतन्य है, वही आत्मा है। जो आत्मज्ञान से विमूढ हैं, वे किसीभी दशामें आत्माको प्राप्त नहीं कर सकते। केवल गुरु-कृपा से ही अध्यात्मयोग द्वारा उस आत्मा को-

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
(मुण्डक श्रुति ।)

जो हिरण्मय कोष में विराजमान हैं, जिसने दिव्य-ज्योतिः से स्वगृहरूप हृदय को हिरण्मय बना लिया है, वे ही दिव्य-ज्योतिसम्पन्न निर्मल आत्मा का दर्शन कर सकते हैं। अध्यात्मयोग द्वारा ही ज्ञान-चक्षु का लाभ होता है, उस ज्ञान-चक्षुद्वारा ही आत्मदर्शन होता है। जिन को वह ज्ञान-चक्षु प्राप्त नहीं हुए हैं, वे प्रायः प्रत्येक विषय में ही जडवादी या देहात्मवादी बन जाते हैं। फिर उन ज्ञान-चक्षुसम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्तियों के उपदेशवाक्य पर जो दृढ विश्वास रख सकते हैं, उन में से थोडे व्यक्ति ही आत्मज्ञान लाभ कर सकते हैं। अथवा जो एकनिष्ठ साधक

तन-मन-धन यानी सर्वस्व को श्री श्रीसद्गुरु के श्री श्री-चरणसरोजों में समर्पण कर सर्वतो भावेन गुरुके आज्ञानुसार चलना है। गुरु की सत्ता के अतिरिक्त जो अपने सत्ता पर जरा भी भरोसा नहीं रखता है, ऐसे साधक गुरुकी अहैतुकी कृपा से भी आत्म-ज्ञानलाभ कर कृतकृतार्थ हो जाता है। ऐसे साधक को ही आत्मा के ऊपर दृढ विश्वास होता है। अन्यथा तीक्ष्ण व्यावहारिक बुद्धि से केवलमात्र भटकना ही पडेगा। क्योंकि सुनिपुण-सांसारिक कुटिल-बुद्धिवाले सांसारिक उन्नति कर सकते हैं सही, परन्तु उस मार्गवाले के लिए तो सरलता, अकपटता, भगवान् यानी सद्गुरु पर दृढ विश्वास, अपने कृत कर्मफल नाश के लिए आकुल-प्रार्थना, सदाचार पालन करना, देव-द्विज-तीर्थ-मन्दिर गुरुजन पर श्रद्धा-भक्ति विश्वास ही एकमात्र पाथेय हैं। अस्तु। हां, अध्यात्मयोग द्वारा विवेकलाभ होता है, तथा विवेकलाभ होते ही आत्म-साक्षात्कार होता है।

पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णने भी गीता में आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये बारबार अर्जुन को उपदेश दिया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(गीता ३)

देह में इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म हैं। उन इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है, तथा मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, एवं बुद्धि से भी जो अत्यंत श्रेष्ठ है, वह आत्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३।४३)

इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ और सर्व प्रकार से बलवान् तथा श्रेष्ठ अपने आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश करके हे महाबाहो! दुर्जय कामरूप शत्रु को मारो। अब वह 'काम' क्या है, उस के सम्बन्ध में भी भगवान् ने कहा है कि— (गीता ३।३७-४१)

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इंद्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

रजोगुण से काम उत्पन्न होता है, एवं काम ही बाद में क्रोधरूप में परिणत होता है। यह काम महा अशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से न तृप्त होनेवाला और बडा ही पापी है; अतः तुम इसे वैरी जानना ॥३७॥ जैसे धूएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढकाँ रहता है, एवं जेर (झिल्ली) से गर्भ ढँका हुआ रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञानका ढकाँ हुआ है ॥३८॥ और हे अर्जुन! ज्ञानी के इस चिर-शत्रु कामरूप अपूरणीय अग्निद्वारा ज्ञान (आत्मज्ञान) ढकाँ रहता है ॥३९॥ सारी इंद्रियां मन और बुद्धि इसके वासस्थान काम कहे जाते हैं, एवं यह काम इन (मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादन करके जीवात्मा को मोहग्रस्त करता है ॥ ४० ॥ अतः हे अर्जुन! पहले तुम इंद्रियों को वश करके ज्ञान और विज्ञान के नाश करनेवाला इस पाप को (काम को) निश्चयपूर्वक मारो ॥ ४१ ॥

यज्ञेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने इसी प्रकारसे आत्माके संबंध में श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक अमूल्य, अनोखी और अपूर्व उपदेश प्रदान किया है, अतः इस विषय में यहां पर और सुदीर्घ विचार प्रकट न करके सर्व धर्मावलम्बी सज्जनों को सर्व शास्त्र के सार गीता का अनुशीलन करने के लिए सानुनय अनुरोध करता हूँ। नित्यगीताभ्यासी सज्जन स्वयं ही आत्मा के सम्बन्ध में नित्य नव-नव ज्ञान प्राप्त करते हुए अपार आनन्द में लीन होते रहेंगे, एवं वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुकता बढेगी, विवश होकर उन्हीं का साधनशील भी होना पडेगा।

आत्मज्ञान प्राप्त करने की अनन्त विधियाँ, अनन्त-पथ इस संसार में विद्यमान हैं, परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष श्री श्री सद्गुरु महाराज की कृपा से उनमें से जो सरल विधियाँ मुझे मिली हैं, वह विधियाँ का स्वल्पांश ही मेरे लेख का प्रतिपाद्य विषय है। उनमें से नादानुसंधान-विधि द्वारा चित्त लय करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करना सब से सरल मार्ग है। यह लययोग का अन्तर्गत है।

(क्रमशः)

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। इसमें ।) एक बारका पैकिंग और ।) एक बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य सेही मिलेंगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

(लेखक– श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ)

[३६] ईश्वरभक्ति के लिए एकान्त जाने की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर का बनाया हुआ प्रत्येक स्थान उसकी 'भक्ति' का उपयुक्त स्थान है। तुम्हें ईश्वर के प्रबन्धने जहां रक्खा है, वहीं रहो। अपनी इच्छा से कहीं जाने का संकल्प मत करो। यदि कहीं जाने का संकल्प उठता हो, तो उसे रोक कर यहीं रहकर, यहां के कर्तव्यों को पालो; और इसीको 'ईश्वरभजन' समझो। स्थानान्तर में जाने के वृथा संकल्पों को त्याग कर, वर्तमान स्थान तथा परिस्थिति में ही अपना जीवनसंग्राम लडो। जीवनसंग्राम लडने की सर्वोत्तम विधि ही 'ईश्वरभजन' है। तुम परिस्थितिओं से प्रभावित मत होओ। उन्हें परास्त कर के विजयी जीवन का आनन्द लो। तुम इस सच्ची व्यावहारिक ईश्वरभक्ति का लाभ करो। ईश्वर के दिए कार्यक्रम को त्याग कर, और उसी के दिए हुए स्थान को छोडकर उसी की भक्ति करने की कल्पना, उपहासास्पद कल्पना है। उसी के प्रबन्ध का अपमान और उसी की भक्ति, ये दोनों मनोवृत्ति एक साथ नहीं रहतीं। या तो उसके प्रबन्ध को भी मानना पडेगा, या उसकी भक्ति का अभिनय करना भी त्याग देना पडेगा।

एकान्त जाकर भक्ति तथा ज्ञान का लाभ करने की बात पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाना चाहिए। एकान्त जाने का अभिप्राय अपने समाज से पृथक् हो जाना है। समाज से पृथक् होकर ज्ञानलाभ नहीं हो सकता। मौखिक ज्ञान-वार्ता सुन लेने मात्र से किसी को ज्ञानलाभ नहीं होता। समाज में रहकर अपने दैनिक जीवन के कर्तव्य पालन करते हुए दूसरों के व्यवहारों से या दूसरों के साथ किए गए अपने व्यवहारों से जो 'अनुभव' होता है, उसी से ज्ञान का लाभ होता है। मनुष्य का मन समाज के साथ जिस ढंग का व्यवहार करता है और मनुष्य के मनपर समाज के व्यवहार का जो प्रभाव पडता है, उसे 'अनुभव' कहा जाता है। वही 'अनुभव' ज्ञान का रूप धारण करके मन को 'सत्य की ज्योति' का दर्शन कराता रहता है। 'ज्ञान को धारण करने का स्थान' मन है और 'ज्ञान को व्यवहार में लाने का क्षेत्र' समाज है।

विकार तथा प्रभाव डालनेवाला समाज ही उनको अस्वीकार करने का क्षेत्र है। डुबानेवाले जल में ही डूबने से बचने की कला व्यावहारिक रूप प्राप्त करती है। जल से बाहर रहकर न डूबने की कला का दृष्टिगोचर होना असम्भव है। इसी प्रकार प्रभावित करनेवाले समाज को त्याग देनेपर हाथसे प्रभावहीन रहने की कलाको व्यावहारिक रूप देने का अवसर खो जाता है। जो जान बूझकर समाज से विच्छिन्न होकर बैठा है वह अपने ज्ञानक्षेत्र से द्वेष कर रहा है। जिस समाज के संपर्क में रहनेपर मनमें जिस भाव-वैचित्र्य का दर्शन होता है, उसी समाज में उन भावों से अप्रभावित रहने की कला का उपयोग करने से सत्य की प्राप्ति होती है। समाज में रहकर ज्ञानपूर्वक व्यवहार करने-वाले का जीवन 'तपश्चर्या' हो जाता है।

एकान्त में जाकर भजन या ज्ञानार्जन करने की इच्छा सच्ची भजनेच्छा नहीं है। वह संसार के झंझटों से बचना चाहनेवाली निर्बल प्रवृत्ति है। यह भीरु मनोवृत्ति भगवत्प्रेम कहानेका अधिकार नहीं रखती। जिस मनुष्य की आत्म-शक्ति से संसार के प्रभावों से नहीं बचा जाता, जो मनुष्य व्याकुल करनेवाले कारणों की उपस्थिति में व्याकुलता को नहीं रोक सकता, वह वहां से भाग जाने की प्रवृत्ति के वश में हो जाता है। ऐसी दुर्बल मनोदशा रखनेवाला झंझट भीरु मनुष्य कहां कहां से भागेगा? और कबतक भागेगा? इसका कोई ठिकाना नहीं है। वस्तुतः एकान्त जाना मानसिक निर्बलता है। निर्बल रहकर भगवद्भजन नहीं हो सकता। भगवद्भजन बलवानों काम है।

भगवद्भजन करनेवाला संसार के संग्राम से रण छोडकर भागना स्वीकार नहीं करता। वह मन में उठनेवाले प्रत्येक असत्य को परास्त करके अपने जीवन में सत्य को सुप्रतिष्ठित करने के लिए, इस जीवनसंग्राम जीवनभर लडता है। स्थान

छोडा जा सकता है, परन्तु इस जीवनसंग्रामको छोडकर कोई कहां भाग सकता है ? जिस संग्राम को विजय किये बिना शान्ति पाना असम्भव है, उसे टालते रहनेमें महत्त्व कहां है ?

भक्त के मन में एकान्त जाने का विचार कदापि न आना चाहिये। उसे बडी तन्मयता के साथ इस जीवन-संग्राम को विजय करने में लगे रहना चाहिये और अपने जीवन में सत्यको विजयी देखना चाहिये। इसी में 'भक्त' जीवन की सार्थकता है।

[३७] देहत्यागेच्छा या देहकष्टोंको भक्तिमें स्थान नहीं मिलता।

यह देह भजनविरोधी नहीं है। देह को ही अपना स्वरूप मान लेनेवाली देहात्मबुद्धि ही भजन की विरोधी है। देह को भजनविरोधी समझनेवाले की देहात्मबुद्धि उसे विपरीत मार्ग पर लेजा रही है। इस बुद्धिवाला मनुष्य जैसे कभी कभी भोजन त्याग करता है, उसी प्रकार कभी कभी शरीर को त्यागने की इच्छा भी करता है। विचारहीन मनुष्य अपने अज्ञान से इस प्रकार के भोजनत्याग तथा शरीरत्याग को भी 'भक्ति' मानता है। ऐसी बुद्धि के फंदे में फंसा हुआ मनुष्य देह को त्यागते हुए भी देहात्म-बुद्धि को पालता रहता है और भजन के साधन इस देह को त्याग देने की भूल करके, अपने को विदेह अवस्था को पाने के अधिकार से वंचित कर लेता है।

विदेहावस्था का पाना देह के रहते ही रहते संभव है। देह को त्याग देनेसे विदेह होने की सम्भावना नहीं नष्ट हो जाती है। यह देह किसी भी अवस्था में भजन का विरोधी नहीं है। यह देह विषयवासना पूरी कर सकने का विरोधी है। इस देह से विषयवासना कदापि पूरी नहीं की जाती। यह इसे पूरा करने में सदा असमर्थ रहता है। देह के अ-कर्मण्य हो जाने की अवस्था में विषयतृप्ति में ही रुकावट आती है। तब भी भगवद्भजन में कोई रुकावट नहीं आती। लुला, लंगडा, अंधा, बहरा और सर्वथा निकम्मा देह भी भगवद्भजन में कुछ प्रतिबन्ध नहीं करता।

जब देह को भाररूप माना जाता हो, या अपने वांछित मार्ग की रुकावट समझा जाता हो, तब समझ लेना कि, तुमने स्वार्थ का मार्ग पकड रक्खा है। निश्चय जानो कि, वह तुम्हारा मार्ग 'परमार्थसेवा' या 'भजन' का मार्ग नहीं है। तब समझ लो कि, तुम्हारा मन विषयासक्त हो गया है। तब समझ लो कि, तुम्हारा मन विषयतृप्ति में देखकर दुःखी हो रहा है। इससे यही परिणाम हाथ लगता है कि, देहत्यागेच्छा या देह को किसी ढंग की यातना भुगाने की इच्छा आदि सब विषयवासना की उत्पन्न की हुई हैं और ये सब त्याज्य हैं।

ईश्वरभक्ति के नाम पर इस देह को जितने प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं, वे सब निर्बल मनोवृत्ति की सूचना देते हैं। देह को मार डालना या इसे किसी प्रकार का कष्ट देना, 'ईश्वरप्रेम' नाम पाने के अयोग्य है। जब देह रहने के कारण किसी इच्छा की पूर्ति में विघ्न आता है और जब उस विघ्न को सहने का बल नहीं होता, तब जो अधीरता दिखाई जाती है, देहत्याग उसी अधीरता का रूप है। अधीरता ही आत्महत्या का रूप धारण कर लेती है। निश्चय ही यह देह का दुरुपयोग है। यह देह विदेहावस्था (या देहातीत अवस्था) की प्राप्ति का साधन है। इस विदेहावस्था में देह के जीवितकाल में ही आरूढ हुआ जा सकता है।

देह का जीवनकाल ही विदेहावस्था को भोगने का एकमात्र अवसर है। विदेहावस्था को भोगने का साधन यह देहसिद्धि का विरोधी कदापि नहीं हो सकता। यह देह अन्धा, बहरा आदि बनकर इंद्रियों की तृप्ति करने में ही असमर्थ हो सकता है। इसमें भगवच्चिन्तन के लिये असामर्थ्य कदापि नहीं आता। देह को भगवच्चिन्तन का विरोधी मानना सर्वथा भ्रांति है। देहात्मबोध ही भगव-च्चिन्तन का विरोधी है। उसी को त्यागा जाना चाहिये। उसे न त्याग कर देह को त्यागने या इस निरपराध को उपवास आदि कठोर व्रतों से निर्बल बना लेने में कोई महत्त्व नहीं है।

सब से प्रथम जीवन धारण करने के उद्देश्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिये कि, विदेहावस्था को प्राप्त कर लेना ही जीवन धारण करने का उद्देश्य है। रूप रस आदि विषयसुखों को भोगते रहना कदापि देहधारण का उद्देश्य नहीं है। यह देह रूप रस आदि विषयसुखों को भोगने में कभी न कभी असमर्थ हो ही जाता है और तब यह इस

भोगमार्ग का विघ्न बन ही जाता है । जब जब इसका विषयों के साथ भोगने का सम्बन्ध जोडने का प्रयत्न किया जाता है, तब तक वह अपनी असमर्थता और असफलताकी घोषणा करता ही रहता है । जब यह शरीर इस प्रकार असफल और असमर्थ हो जाय, तब इस पर क्रोध करना और इसे सुखा डालना या मार डालना विषयवासना का ही दूसरा रूप है । इस में भक्तिनाम पाने की योग्यता नहीं है ।

[३८] ईश्वरभक्ति भ्रांत जीवनचर्याको नहीं अपनाने देती ।

तुम दिनभर समाज से पृथक् रहते हो । केवल भोजन के समय समाज में जाकर किसी के सामने हाथ फैलाते हो । यदि सब समाज तुम्हारे आदर्श को अपना ले, तो वह नष्टभ्रष्ट हो जाय । गांव जंगल बन जांय । कर्तव्य से ही जंगल में मंगल आता है । जंगल को मंगल दूसरे बनायें और तुम उनसे केवल लाभ उठाने के लिये उनके पास जाओ, तथा दिनभर ' भजन नाम के भ्रम ' में लगे रहो, इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं है । तुम्हारा कल्याण इसमें है कि, तुम भी किसी जंगल मंगलकारी कर्तव्य में तल्लीन होकर, ' कर्तव्य नाम के सच्चे भजन ' को अपनाओ । तुम अपने को किसी के सामने हाथ न फैलाने की स्थिति में पहुंचाओ ।

अपने कर्तव्य को ही ईश्वरभाव से पूजो और उसी से साधना करो । पहले भले प्रकार समझ लो कि, भजन किसे कहते हैं ? फिर निर्विघ्न रूप से सदा चलनेवाले भजन में लगो । खण्डित हो सकनेवाले भजन के चक्कर में मत पड़ो । भजन के लिये पेडों के जंगल में मत जाओ । मनुष्यों के जंगल में रहकर ही आत्मसाधन करो । यह लोकारण्य ही आत्मसाधन का सर्वोत्तम क्षेत्र है । अपने को एकान्तवासी बनाना चाह कर, ईश्वरप्रेम का अपमान मत करो । ईश्वरप्रेम मानवमन की विवशता की दुःखदायी उदास अवस्था नहीं है । यह वह उल्लासमयी अखण्ड शांतिदायिनी अवस्था है, जिसे खण्डित कर सकने का सामर्थ्य संसार में किसी में भी नहीं है । ईश्वरभक्ति लोकसहवास से खण्डित नहीं होती ।

ईश्वरभक्ति के नाम पर मानवगंध से घबरानेवाले जनसंमर्दभीरु मत बनो । नारायणी भावना के आश्रय से जनसंमर्दमयी माया को पराजित करते रहो । इस एकान्तके भ्रम को मन में रखकर, अपनेको सब अवस्था, सब संगति, सब स्थान, तथा सब पदार्थों से आत्मदर्शन का महालाभ उठाने से वंचित मत करो । किसी स्थान आदि को बुरा बताकर उसके भागवत रूप की निन्दा मत करो । यह संपूर्ण संसार तथा इसके सब पदार्थ ब्रह्माभ्यास के क्षेत्र हैं । इसके लिये तुम परमात्मवासना से भोगवासना को पददलित करते रहो । भोगार्थ कर्म करना ' भोगवासना ' है । कर्म को बोझ समझकर उसे त्यागना ' आलस्यरूपी भोगवासना को अपनाना ' है । प्रत्येक समय हो सकनेवाले परमात्म-दर्शन को, जगत् के अस्थिर पदार्थों की ममता से मत छिपाओ ।

अपनी भोगवासना से परमात्मप्रेम को पददलित मत होने दो । इसी को ' ब्रह्माभ्यास ' समझो । इसी को ' भजन ' समझो और समझ कर आठों पहर चलाओ, तुम इसके लिये मनुष्यसमाज से बचने की प्रवृत्ति को मत अपनाओ । मनुष्यसमाज में रहने से तुम्हारे मन में जो निकृष्ट भाव उत्पन्न होते हों, उनपर विजय पाकर विजयी जीवन के स्वामी बनो । वृक्षारण्य में ब्रह्माभ्यास की अनुकूलता ढूंढने के भ्रम को त्याग दो ।

समाज में रहने से मन में जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उस संघर्षको हटाना ही 'ब्रह्मदर्शन करना ' है । अपने मन के संघर्ष को हटाने के लिये विपथगामी समाज का विद्रोह करना भी उसकी सत्यानुमोदित सेवा तथा ' अपना ब्रह्म-दर्शन ' है । परन्तु सदा स्मरण रखो कि, अपने आदर्श को छोटा करके समाज में रहना कदापि समर्थनीय नहीं है । अपने आदर्श को सुरक्षित रखकर उस समाज का विद्रोह करते रहने से भी उस की उचित सेवा होती है । यदि समाज सत्यनिष्ठ हो, तो उस के साथ सहयोग का सम्बन्ध होता है और यदि समाज असत्यनिष्ठ हो, तो उसके साथ विद्रोह का सम्बन्ध रखना पडता है ।

इस प्रकार समाज में ही रहकर सहयोग या विरोध दोनों अवस्थाओं में ' सत्य की सेवा ' करके ' ब्रह्मदर्शन ' होता है । असत्य का विद्रोह करके मन के संघर्ष को हटाया

जाता है। परन्तु यह सब समाज में ही किया जाना सम्भव है । इतनी कल्याणमयी ईश्वरीय रचना को छोड भागने की अकर्तव्य करानेवाली समाजत्याग की इच्छा को त्याग दो । समझ लो कि, जो समय या स्थान विकारों के आक्रमण का अवसर है, वही ईश्वरभक्ति, ईश्वरदर्शन या शांति की प्राप्ति का सर्वोत्तम अवसर है ।

जब शरीर में कोई रोग न हो, तब स्वास्थ्य के साधारण नियम पालने से काम चल जाता है । रोग के आक्रमण का समय ' वैद्य के दर्शन करानेवाला समय ' होता है । इसी प्रकार विकारों के आक्रमणों का समय और स्थान ही ईश्वरनाम के भवरोगचिकित्सक के दर्शन का समय है । विकार के आक्रमण से घबराना अकल्याणकारी है । इस अवसर को वीरता दिखाने के अवसर के रूप में देखना चाहिये । उस समय पौरुष न छोडने का हठ करके, विकारों की अधीनता को अस्वीकार करना चाहिये ।

विकार के आक्रमण का समय, विकारों की अधीनता स्वीकार करने की विवशता नहीं है । विकारों को पद-दलित करने से मनुष्य को ईश्वर का उच्च आसन प्राप्त हो जाता है । विकारों के अधीन हो जाने से मनुष्य को अनीश्वरभाव या पातित्य की प्राप्ति होती है । विषयवासना को नष्ट कर डालनेवाला शुभ विचार ही ' मनुष्य का ईश्वर' है। अशुभ विचार मनुष्य को निर्बल, अनीश्वर बनानेवाला अथवा जीवभाव में पटक देनेवाले हैं । सारांश यही है कि, इन सब विचारों के अनुसार एकान्तवास तथा ' उत्तरदायित्वहीन भिक्षाजीवन ' को महत्त्व देकर ' ईश्वर-भक्ति ' के नाम का अपमान नहीं होना चाहिये ।

[३९] ' भक्तिमें प्रचलित उपवास को स्थान नहीं है । '

यह देह कर्तव्यपालन के लिये धारण किया गया है । यह कर्तव्यपालन का साधन है । कर्तव्यपालन करनेपर ही देहधारण का उद्देश्य पूरा होता है । देहधारण के उद्देश्य को पूरा करने के लिये (अर्थात् कर्तव्य पालन करके अपने मन की निर्विकार अवस्था को सुरक्षित रखने के लिए) इस देह की रक्षा करना भी मनुष्य का कर्तव्य है । इस दृष्टि से भोजन करना भी कर्तव्य है ।

ईश्वरदर्शन करानेवाले इस शरीर को भोजन कराना भी ईश्वरभक्ति कराना है । हां, कभी कभी रोग आदि के समय स्वास्थ्यरक्षा आदि कारणों से भोजन छोडना भी कर्तव्य हो सकता है । परन्तु यदि कोई भक्तिनामकी बाह्य प्रभावहीन मानसिक स्थिति के लिये भोजन त्यागता हो, तो उसकी मनोवृत्ति पर विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिए। भोजनत्याग नाम की मानसिक अवस्था से ईश्वरभक्ति की रक्षा नहीं हो सकती । जो मनुष्य भोजन को किसी मानसिक स्थितिका विघ्नकारी समझता है, वह भोजन भेजनेवाले प्रबंध को अस्वीकार करके, उसका विद्रोह और अपमान करता है।

वे ही परमात्मा भोजन देनेवाले हैं, वे ही भोजनरूप में मनुष्य के सामने आते हैं, और वे ही उदरकी अग्निरूप में इस भोजन को खाते हैं । यों किसी भी मनुष्य को परमात्मा के इस ' भोजनयज्ञ ' में विघ्न डालकर भूखा मरने का अधिकार नहीं है । उन्होंने भोजन को देहरक्षा का साधन बना कर भेजा है । इस देह को ईश्वरभजन का साधन बनाया है । जब कि उसने भोजन भी दे रक्खा है, और भूख भी लगा रक्खी है, ऐसी परिस्थिति में भूखे रहकर किसी प्रकार के हठ से भोजन ग्रहण न करना ईश्वरभजन को अस्वीकार करना है ।

ईश्वर की लगाई हुई भूख भी है, और उसका दिया हुआ भोजन भी है, तब तुम भूखे रहनेवाले कौन हो ? भूख भी है और भोजन में भूख को मिटाने की शक्ति भी मानी जा रही है, इतने पर भी जब तुम भोजन से विद्रोह करते हो, तब तुम वृथा ही भूखका कष्ट पा रहे हो, और भोजन की इच्छाको अतृप्त रख रहे हो, अर्थात् पेट की अग्निको अन्नरूपी ईंधन नहीं दे रहे हो । बस, इससे अधिक तुम कुछ नहीं कर रहे हो । भूखे मरना ईश्वरभक्ति नहीं है। सन्मार्ग से आये हुए भोजन को पेट में डालना भी ईश्वरभक्ति है। पेट में बैठी हुई अग्नि अन्नरूपी ईंधनकी आहुति माँगती है।

उस में सृष्टिव्यवस्था की दी हुई भोजनरूपी आहुति न डालना, किसी ढंग की हठ में आकर उस अग्नि का अपमान करना है । यह विकारग्रस्त या किसी बाह्य प्रभाव में आये हुए मनकी अवस्था है । ऐसी मनोदशा किन्हीं प्रभावों से उत्पन्न होती है । यदि मनपर कोई प्रभाव न पड़ा हो, तो ऐसा आग्रह दिखाने का कोई कारण नहीं होता।

मनुष्य का कर्तव्य है कि, वह आत्महत्या नाम की विकार-ग्रस्त या प्रभावित मानसिक स्थिति से आत्मरक्षा करने (या बचने) के लिये भोजन करे।

निर्विकार मानसिक स्थिति की रक्षा करने में न तो भोजन विघ्न है और न वह साधन है। भोजन का काम केवल देहरक्षा करना है। भोजन का निर्विकार मानसिक स्थिति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। भोजनरूप में मनुष्य के सामने जो कुछ आता है, वह देह की रक्षा करने के लिये आता है। वह देहरक्षा के अनुकूल बनकर परम्परा से उस मानसिक स्थिति की रक्षा करने का साधन भी बन सकता है। परन्तु भोजन न करने से तो वह मानसिक स्थिति अवश्य ही विकृत हो जाती है। इस दृष्टि से भोजन को त्यागना मानसिक स्थिति को साक्षात् बिगाड डालनेवाला दूषित संकल्प है।

भोजन त्यागने के समय मन में भोजन की मांग और उसका अपमान ये दोनों काम निरन्तर होते रहते हैं। ये दोनों काम मन में अप्रभावित निर्विकार स्थिति को नहीं रहने देते। जब रोग आदि के समय भोजन को त्याज्य समझ लिया जाता है, या जब दुर्भिक्ष आदि के समय भोजन मिलना असम्भव हो जाता है, तब मन की अवस्था को निर्विकार रखने के लिये मनुष्य को यह संतोष करना ही पडता है कि, हमें प्रतीत होनेवाली भूख भूख नहीं है।

जबतक मनुष्य के पास ईश्वरीय प्रबन्ध से रोटी नहीं आती, तबतक मनुष्य को उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर की आवश्यकता ही आवश्यकता है। मनुष्य की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सत्य सिद्धांत ऐसे ही समय सृष्टि की अव्यक्त वर्णमाला में मनुष्य के मन पर अंकित किया जाता है। जबतक सच्ची आवश्यकता न हो, तबतक मनुष्य को उसकी आशा बांधकर दुःखी न होना चाहिये। यदि भूख सच्ची भूख है, तो भोजन अवश्य आता है। यदि भोजन नहीं आता, तो समझो कि भूख नहीं है।

तब उसे सृष्टिव्यवस्था समझने में ही मनुष्य का कल्याण है। भोजन न मिलने के समय लगी हुई भूख को भूख समझकर तडफते रहने में मनुष्य का क्या कल्याण हो सकता है? क्योंकि भूख और भोजन पृथक् पृथक् नहीं रहते। जो प्रबन्ध भूख लगाता है, वही अन्न भी देना जानता है। प्राप्त भोजनका सदुपयोग करनेकी मनोवृत्ति ही भूख है। अप्राप्त भोजन के लिये तडफना भूख नहीं है। वह अज्ञान है।

उस समय निःस्पृह रहना ही ज्ञानी लोगोंका अखण्ड भोजन है। ज्ञानी कभी भूखे नहीं रहते। उनका पेट सब समय पूर्ण रहता है। वे भूखसे मरते हुए भी तृप्तिमें रहकर मरते हैं। भूख हो और भोजन न मिलता हो, ऐसे अवसर पर मनुष्य को भूख को भूख न समझना चाहिये। तबसे ईश्वर का कुछ दूसरा सन्देश समझकर स्वागत करना चाहिए।

ऐसे अवसरों से अपनी मनोदशा को सुदृढ रखने का काम लेना चाहिए। ऐसी अवस्थाओं को व्याकुल अवस्था न बनने देकर यह समझना चाहिए कि मेरे विधाताने मेरे पास भोजनाभाव में भी अप्रभावित स्थिति का आनन्द लेने के लिए यह एक सुअवसर भेजा है। रोग, दुर्भिक्ष तथा लुण्ठन से भोजनाभाव के समय भी मनुष्य को ऐसी ही मनोवृत्ति रखनी चाहिए। मनुष्यको ऐसे समयों में दृढता के साथ अप्रभावित स्थिति की रक्षा करनी चाहिए।

भूख लगी है और भोजन नहीं है, इसमें जितना कष्ट होता है, उतना ही कष्ट स्वस्थ शरीर में कील ठोक देनेपर होता है। कील ठोकने का कष्ट भी क्षुधा की तडप से कम नहीं होता। यदि शरीर में कील ठोकने के समय मनको अप्रभावित रखकर (अर्थात् उसे आत्मविस्मृति में न पडने देकर) उसे विधाता का भेजा हुआ सुअवसर मानकर स्वागत किया जा सकता है, तो भूख के समय भोजन न रहने को भी वैसा ही सुअवसर क्यों नहीं बनाया जा सकता? भोजनविहीन भूख को चंचलता उत्पन्न करने-वाले 'भूख' नाम से स्मरण ही न करना चाहिए।

भोजन न होनेसे दुर्बल बनानेवाली 'मनोदशा' क्षुधा-तुर या बुभुक्षाव्याकुल मनोदशा कहाती है। भोजनभाव में अव्याकुल रहनेवाली स्थिति निर्मल 'ईश्वरभक्ति' हो जाती है। यदि भोजन न हो, मिल भी न सकता हो, और मरनेकी ईश्वरीय आज्ञा स्पष्ट दीख रही हो, तब हाय भूख! हाय भुख! करके मरने में कौनसा लाभ है? अब मरना निश्चित है, अब हाय! हाय! करके भी मरा जा सकता है

और अपने समझे हुए शरीरके सम्बन्धमें सृष्टिव्यवस्था की नियत की हुई घटनामें प्रसन्नतापूर्वक समा जानेके लिए उद्यत होकर शान्त रहकर भी मर जा सकता है। इस मृत्यु से अमर बनने का लाभ भी उठाया जा सकता है और इससे अपना पतन भी किया जा सकता है। फिर इस अटल मृत्यु से अप्रभावित रहना सीखने का लाभ क्यों न उठाया जाय?

भोजनाभाव में अप्रभावित रहना मनुष्य मन की उन्नत अवस्था है। इसी को स्वरूप में स्थित होना या 'ब्राह्मी' स्थिति में आरूढ होना कहते हैं। यद्यपि यह अवस्था भक्तों में सदा रहती है, परन्तु उनके शरीरोंपर ईश्वर इच्छा से किसी प्रकार की विपत्ति आनेपर ही यह अवस्था बाहर आती है, और दूसरोंको भी दीख पडती है। ऐसी विपत्तियों की उपेक्षा करने की शक्ति भी भक्तों के पास विपत्ति भेजनेवाले प्रबन्ध की ओरसे आ जाती है। परन्तु जब भोजन और भूख दोनों एक स्थानपर मिल जाते हैं, तब इस अवस्था को प्रकट रूप धारण करने का अवसर नहीं मिलता।

प्रह्लादपर विपद्वर्षा के समय उसके पास जैसी अप्रभावित मानसिक स्थिति थी, ठीक वही अवस्था उस मनुष्य की होती है, जो ईश्वरइच्छा से भूख, प्यास या प्रबल रोग से आक्रान्त रहकर भी उन सब की उपेक्षा करने की दृढता दिखाते हैं। कष्ट के समय प्रभावित लोग रोते हैं और अप्रभावित लोग उस समय 'राम नाम' लेकर बलवान् रहते हैं।

जब रोग आदि के समय ईश्वर की ओर से भोजनत्याग कराया जाता है, तब भूख भी नहीं लगने दी जाती। परन्तु भूख होनेपर भोजन न करना भोजनेच्छा को तीव्र बनाना है। ऐसी स्थिति में भोजन छोडना नहीं है, किन्तु जीवनरक्षा के साधनों को त्यागने का घोर अपराध है। अर्थात् मरने के लिए उद्यत होना या आत्महत्या करना है। जिसने शरीर दिया है, जो भोजन भी दे रहा है, उसी के प्रबन्ध के विद्रोही बनकर शरीर को त्यागकर या उसे भूखा रखकर उसी की भक्ति करने का कोई अर्थ नहीं है।

उसी के प्रबन्ध का विद्रोह करना और उसी की मौखिक भक्ति करना यह मस्तिष्क का पागलपन है। भूख लगे रहनेपर भोजन त्यागने से भगवद्भक्ति हो जायेगी, यह सिद्धान्त मान लिया जाय, तो स्वीकार करना पडेगा कि भोजन में भजनविरोधी गुण वर्तमान हैं। यदि भोजन में ऐसा कोई दोष न हो, तो भोजनत्याग करने का कोई लाभ नहीं है। हां, कभी 'ध्यानमग्न' या 'भजनरत' रहने की अवस्था में कोई कोई भक्त निराहार रहते पाये जाते हैं, परन्तु उनका अनाहार स्वेच्छाकृत भोजनत्याग नहीं होता। उनकी निराहारता को भोजनत्याग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके मन में भगवत्प्रेममें निमग्न होने के कारण भोजनेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती।

इसी प्रकार भक्तिरस को उद्दीप्त करनेवाले विशेष दिनों में भक्त लोगों के मनमें भोजनेच्छा उदित नहीं होती, परन्तु अपनी इच्छा से स्वीकार किए हुए भोजन त्यागरूपी क्लेश के बदले में किसी पवित्र मानसिक स्थिति को पाने की इच्छा करना भगवद्भक्ति नहीं है। यह एक प्रकार का जुआ खेलना है।

जिस मानसिक स्थिति में भोजन करने की इच्छा ही नहीं होती, वह 'मानसिक स्थिति' ही भोजन ग्रहण न करने का उचित कारण होती है। परन्तु वह 'मानसिक स्थिति' भोजनत्याग से किसी के पास नहीं आती। केवल विषयवासना का अभोजन ही उस मानसिक स्थिति को ला सकता है। अन्न के अभोजन से उसे ला सकना असम्भव है।

क्योंकि वैसी स्थिति हो गई है, इसलिये तल्लीन हो जाने के कारण भोजन की आवश्यकता न रह जाने पर जो भोजन 'त्याग' स्वभाव से होता है, उसी को उपवास (अर्थात् परमात्मा के समीप रहने) का पवित्र नाम दिया जा सकता है। जो भोजनत्याग भूख और भोजन दोनों की उपस्थिति में किया जाता है, उसे उपवास कहना भारी भूल है। जब स्वास्थ्य के लिये भोजन त्यागा जाता हो, तब समझना चाहिये कि शरीर में से भोजन को पचाकर शरीररक्षा के उपयोग में लाने की शक्ति क्षीण हो गई है, इसलिये उस समय की भूख भूख नहीं है। ऐसे अवसर पर भूख प्रतीत रहते हुए भी इस उपर्युक्त कारण से मन की निर्विकार स्थिति सुरक्षित बनी रहती है।

जब किसी मानसिक स्थिति को पाने के लिये सात

दिन, पन्द्रह दिन, इक्कीस दिन या किसी लम्बे समय तक भोजन त्यागा जाता है, अथवा भोजनपर किसी ढंग का बन्धन लगा दिया जाता है, तब क्या यह नहीं मान लेना चाहिये कि इन निर्दिष्ट दिनों में भोजन करते रहेंगे, तो वह भोजन पाकस्थली में जाकर उस मानसिक स्थिति में विकार उत्पन्न कर डालेगा।

यदि यह बात सत्य हो, तो जब वही भोजन तुम्हारे नियत किये हुए काल के पश्चात् किया जायगा, तब क्या इससे ऐसी ही विकारयुक्त 'मानसिक स्थिति' उत्पन्न नहीं हो जायेगी? नहीं होगी ऐसा विश्वास करने का आधार क्या है? यदि अन्नाभाव से दुर्बल होकर किसी मानसिक उच्च स्थिति को पाया जा सकता हो तो रोगी बनकर या विरेचन लेकर महात्मा बन जाना सुकर हो सकता है!

तुमने जिस भगवद्भक्ति को (अथवा जिस सत्यसेवाको) अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है, तुम ऐसा कोई काम न करो, जिसका परिणाम अपने आराध्य सत्यस्वरूप भगवान् पर अविश्वास करना हो। जब तुम 'ईश्वरभक्त' या सत्यसेवक होने के नाते किसी विरोधी शक्ति को वश में करने के लिये (अथवा उसका मन बदलने के लिये) भोजन कराना छोड देते हो, तब तुम भोजन नहीं छोडते, किन्तु सत्य की अनन्त शक्ति का विश्वास छोड देते हो।

किसी काम को न बदलने के लिये भोजन छोडनेवाले तुमको सत्य पर विश्वास नहीं है। तुम सत्य के अविश्वास के कारण विरोधी के मन में किसी रीति से किसी प्रकार की निर्बलता उत्पन्न करके उस निर्बलता से अपना काम कराना चाहते हो। तुम अपना काम सत्य से न कराकर, उस विरोधी को सहमत करके उससे कराना चाहते हो। इस प्रकार के भोजनत्याग में इसी प्रकार की निर्बल मनोदशा होती है। सत्य की शक्ति में लेशमात्र विश्वास न होना ही इस मनोवृत्ति का स्पष्ट अभिप्राय है।

सत्य की शक्ति में अविश्वास रखना ही सत्यहीनता है। सत्य से हीन हो जाना ही 'शैतान' के वश में आ जाना है। भोजन छोडकर अपना काम बनाना 'शैतान' का आविष्कार है। देख लो कि भक्त प्रह्लाद अपनी मानसिक स्थिति में अटल था, उसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं थी। हिरण्यकश्यपु के रामविरोधी होने का रण प्रह्लाद के स्वीकृत मार्ग में ऐसी कोई रुकावट नहीं थी, जिसे हटाने के लिये वह अपनी ओर से कोई प्रयत्न करना आवश्यक मानता।

वह निश्चिन्त और निर्विकार भावसे राम नाम लेता जा रहा था। मानो उसके पास कुछ नहीं हो रहा था। हो भी रहा था, तो कुछ ध्यान देनेयोग्य सत्य घटना नहीं घट रही थी। वह अपने राम नाम लेने को निष्कन्टक करने के लिये अपने शरीर पर उपवास, या ऐसी कोई आपत्ति बुलाकर संसारी सम्बन्ध के पिता हिरण्यकश्यपु का मन बदलने, या उसे अपना अनुयायी बना लेने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक नहीं समझता था। असत्य मार्ग पर रहनेवाले ही (अर्थात् जिसकी मानसिक स्थिति निर्विकार अप्रभावित नहीं होती, वे ही) दूसरों को या बाह्य घटनाओं को अपने मार्ग की रुकावट समझकर व्यर्थ ही उन को हटाने में शक्ति लगाते हैं।

यह चंचल चित्त का लक्षण है। ऐसे मनुष्य के मन में सत्य के परिणामों को देखने के लिये समय देने का थोडासा भी धीरज नहीं होता। परन्तु वे अपने कर्तव्य-पालन का भौतिक फल देख लेने की लोलुपता में फंसे होते हैं। ऐसे मनों में कर्तव्यपालन से मिलनेवाले संतोष से नाता तोडे रहने की भावना रहती है। हिरण्यकश्यपु ही प्रह्लाद के राम नाम लेते रहने को अपने लिये एक विपत्ति मान बैठा था। वही उसे अनेक प्रकार से कष्ट देना चाहता था।

प्रह्लाद अपने लिये हिरण्यकश्यपु को विघ्न नहीं मानता था। वह उसे समझाने तक की अनधिकार चेष्टा करना नहीं चाहता था। वह अपना एक क्षण भी उसे समझाने में व्यय करना नहीं चाहता था।

सत्य पर आरूढ हुआ मन असत्य को अपने मार्ग में विघ्न होने का संमान तक देना स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि, मैं असत्य को अपने मार्ग का विघ्न होने का गौरव भी क्यों दूं? वह समझता है कि, असत्य अपनी मौत मरा ही पडा है। मैं अपना ध्यान सत्य की सेवा से क्यों हटाऊँ? इसी को मन की निर्विकार स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में न रहनेवाले मनुष्य ही बाहर से किसी

प्रकार का सहारा लेकर अपने मार्ग में अनुकूलता उत्पन्न कर लेना चाहते हैं।

कुछ मातापिता आदि अभिभावक गण अपनी अबोध सन्तान को उलटे सीधे उपायों से अपने वश में रखने को ही 'सन्मार्ग में रखना' समझ कर, इस काम के लिये भोजनत्याग का उपाय काम में लाते हैं। इस उपाय से सन्तान को वश में करना सरल हो जाता है। किन्तु इस रीति से सन्तान को वश में करने की प्रवृत्ति ऊंचे मन का चिह्न नहीं है। यह उनके ऊपर मोह के द्वारा शासन करना और उन्हें सन्मार्ग में रखने का प्रयत्न न करके मोहबन्धनरूप निर्बलता में रखना है। इस उपाय को प्रयोग में लानेवाले मातापिता अपने में पुत्र को सन्मार्ग पर चलाने की सत्य की शक्ति का अभाव स्वीकार करते हैं और किसी उपस्थित उद्देश्य को पूरा करने को ही सन्तान को सन्मार्ग पर रखना समझकर अपनी निर्बल रीति से सन्तान की निर्बलता से काम लेते हैं।

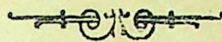
यह उपाय देखने में चाहे अच्छा लगता हो, परन्तु यह पूरी निर्बलता है। माता, पिता तथा सन्तान में मोह का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध दोनों को एक दूसरे के बन्धन में बांधे रखता है। क्योंकि मोही सन्तान माता-पिता के स्नेह पर निर्भर होता है। इस कारण वह माता-पिता के देह पर किसी प्रकार की विपत्ति आना अपने लिये कष्टकारक समझता है। अपने को धार्मिक समझनेवाले मातापिता बच्चों की मायामोह में फंसी हुई ऐसी असहाय मनोवृत्ति से लाभ उठा लेने की भावना से ही भोजनत्याग से काम निकालते हैं।

इस प्रकार के उपायों से मातापिता सन्तान को अपना अनुयायी तो बना सकते हैं, किन्तु धार्मिक भी बना सकते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। जैसे मातापिता मोह का दबाव डाल कर सन्तान को वश में करना चाहते हैं, वैसे ही सन्तान भी अपने मोह का प्रभाव डालकर मातापितासे भी अपनी इच्छा पूरी करा सकते हैं। मोह ही इस पद्धति का जन्मदाता है। किसी के ऊपर मोहरूपी निर्बलता का प्रभाव डालकर उससे सत्य का पालन करवाने की पद्धति सत्यानुमोदित मार्ग नहीं है।

सत्य ही सत्य की सेवा का स्वीकरणीय मार्ग है। मोहरूपी असत्य को सत्य की सेवा का साधन नहीं बनाना चाहिये। मातापिता धार्मिक हों, तो वे सन्तान को धर्म का मार्ग दिखाते हैं, वे उसे सत्य के सहारे से ही सत्य की पहचान कराते हैं। अधार्मिक या अपने को धार्मिक समझनेवाले निर्बल मोहग्रस्त मातापिता असत्य मार्ग पर निर्भर होने की असहाय मनोवृत्ति से लाभ उठाकर सन्तान को विपथगामी बना देते हैं।

प्रकृत बात यही है कि, 'भोजनत्याग' या उपवास नाम के उपाय को मनोवृत्ति को निर्विकार रखनेवाले उपायों में से सर्वथा बहिष्कृत रखना चाहिये। ऐसे उपवासों और व्रतोंको ईश्वरप्राप्ति का साधन समझने की भूल की भूल हो रही हो, तो उसे सुधारना चाहिये।

वेदका अध्ययन।



वेदका अध्ययन करनेसे होगा, न करनेसे कुछ भी नहीं बनेगा। ये ग्रन्थ इतने सुबोध, सुपाठ्य और आसान बनाये हैं कि इनसे और अधिक सुबोध पाठविधि हो नहीं सकती। सर्वसाधारण स्त्रीपुरुष भी अपना नियत थोडासा समय इस कार्य के लिये देंगे, तो ४।५ वर्षोंमें वे वेदज्ञ हो सकते हैं।

इतनी पाठविधि सुगम होनेसेही स्वाध्याय-संघ के सदस्य होकर सैंकडों मनुष्य अध्ययन कर रहे हैं और स्वतंत्र रीतिसे भी सैंकडों लोग अध्ययन करते हैं।

परन्तु इससे कार्य समाप्त हुआ है, ऐसा समझना नहीं चाहिये। क्योंकि सहस्रों वेदाध्यायियोंमें कोई क्वचित् वेदतत्वज्ञ हो सकता है। हमें यत्न तो प्रथम इस बातका करना चाहिये कि सहस्रों वेदाध्यायी हों। घरघरमें तथा मोहल्ले मोहल्लेमें तथा ग्रामग्राममें वेदके मन्त्रों का विचार करनेवाले हों। इन वेदविचारकों के होनेके पश्चात् दूसरी अवस्था वेदतत्वज्ञों की है। वेदाध्यायी तो हम बना सकते हैं, पर वेदतत्वज्ञ बनाना हरएकसे नहीं हो सकता। वह तो बडी बुद्धि का तथा बडे अनुसंधान का कार्य है। वैसे लोग विरला ही होंगे।

इस समय हमारे हाथमें इतनाही है कि वेदाध्यायी पैदा करें। इसके पश्चात् का कार्य बुद्धिमान् पुरुषों के हाथ में होगा।

इसी कार्यके लिये हमने वेदपरीक्षाओंकी आयोजनाका निश्चित कार्यक्रम रखा है--

वर्ष	परीक्षानाम	पाठ्य मंत्रसंख्या	पुस्तक संख्या	उपाधि
प्रथम	वेदपरिचय	३००	३	वेदपरिचित
द्वितीय	वेदप्रवेश	५००	५	वेदप्रविष्ट
तृतीय	वेदप्राज्ञ	१०००	५	वेदप्राज्ञ
चतुर्थ	वेदविशारद	२०००	५	वेदविशारद
पंचम	वेदपारंगत	५०००	५	वेदपारंगत
षष्ठ	वेदाचार्य	स्वतंत्र खोजपूर्ण निबंध		वेदाचार्य

इन सब परीक्षाओं की पाठविधि निश्चित की है। इनके ग्रंथ क्रमानुसार प्रकाशित होंगे। ५ वर्षोंमें करीब ९ हजार मन्त्रों की पाठविधि होती है। जो शनैः शनैः अभ्यास करेंगे, उनके लिये थोडी अधिक अवधि लगेगी, पर जो प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन रखेंगे, उनके इस पाठविधिके लिये ५ वर्षोंसे अधिक समय नहीं लगेगा।

वेदाचार्य की परीक्षाके लिये कोई नियत पाठविधि नहीं है। संपूर्ण चारों वेदों की सब संहिताओंमें से किसी एक विषय का खोजपूर्ण निबंध लिखकर स्वाध्याय-मण्डलमें पेश करना होगा।

प्रति पृष्ठपर २००० अक्षर रहेंगे, ऐसे १०० पृष्ठ निबंध के होने चाहिये। वह निबंध स्वतंत्र खोज करके होना चाहिये। किसी अन्यका लिया लेख नहीं चल सकेगा।

वेदसम्बन्धी यही परीक्षा अंतिम होगी और जिसका निबंध उत्तम रहेगा, वही 'वेदाचार्य' उपाधि को प्राप्त करेगा।

तबतककी पाठविधि नियत रहेगी। तथा इनकी मंत्र-संख्या भी नियत रहेगी। जो ऊपर दी है।

हरएक परीक्षाके लिये जितनी मन्त्रसंख्या नियत है, उतनी तैयार होनेपर परीक्षार्थी परीक्षाके लिये तैयार होनेकी सूचना स्वाध्याय-मंडलको देवे। सूचना आनेपर प्रश्नपत्र यहांसे भेजे जांयगे और नियमानुसार परीक्षार्थीके स्थानपर ही परीक्षार्थीने किसी निरीक्षकके सामने उत्तरपत्र लिखकर भेजने होंगे। परीक्षाके नियम तथा परीक्षाके निरीक्षक समय समयपर निश्चित किये जांयगे।

हरएक परीक्षार्थीके लिये अध्ययन करनेका अवसर जितना चाहे उतना मिलेगा। घरमें रहता हुआ वह अध्ययन कर सकेगा। अध्ययन की सब सुविधा इन पाठविधिके ग्रंथोंमें रहेगी। अब किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहा है। केवल वेदके अध्ययन की इच्छा ही चाहिये। जिसके पास इच्छा है, वह ५ वर्षोंमें वेदज्ञ हो सकता है।

स्थानस्थानमें जहां आवश्यकता होगी, वहां वेदमंत्रोंके साथ ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त आदि ग्रंथों के पर्याप्त प्रमाण दिये जांयगे। इस तरह इस पाठविधिसे वैदिक धर्मका आवश्यक ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि इस पाठविधिसे वैदिक धर्मी वेदका ज्ञान प्राप्त करेंगे।

'वेदपरिचय' परीक्षा की पाठविधि।

स्वाध्याय-मण्डल द्वारा वेद की जो परीक्षाएँ होती हैं, उनकी पाठविधि नियत हो चुकी है। उन परीक्षाओं में प्रथम परीक्षा 'वेद-परिचय' नामक है। इस परीक्षा के लिए तीन सौ वेदमन्त्रों की पाठविधि नियत हुई है। इस पाठविधिकी प्रथम पुस्तक जिसमें १०० वेदमन्त्र हैं, पाठकों के सामने पहलेही रखी है, और अब उसका दूसरा भाग पाठकोंके सामने रख रहे हैं। तीसरा भाग भी यथासमय प्रकाशित होगा।

इन पुस्तकों में जो वेदमन्त्र दिए हैं, वे फुटकर नहीं हैं, संपूर्ण सूक्तके सूक्त दिए हैं। इससे मन्त्रका अर्थ करने के समय सूक्तके आगे पीछेके मन्त्रोंका अनुसंधान करनेकी रीति पाठकोंके ध्यानमें स्वयं आजाएगी।

इन में मन्त्र, मन्त्र के पद, पदोंका अन्वय, अन्वयका अर्थ तथा भावार्थ दिया है। पश्चात् मन्त्रके पदोंका विशेष अर्थ भी स्वतन्त्र परिशिष्ट में दिया है। इसके पश्चात् संक्षिप्त अर्थ इंग्लिश भाषामें दिया है। अन्तमें सूक्तके सुभाषित, जो नित्य स्मरन करने योग्य होते हैं और जिनसे मानव-धर्मका प्रकाश होता है, दिए हैं। इन सबके अध्ययनसे पाठकों को वेदमन्त्रोंका ठीक ठीक आशय ध्यान में आजायगा।

ये अध्ययन के ग्रन्थ हैं।

पाठविधि के सब के सब ग्रन्थ अध्ययन के लिए बनाए जा रहे हैं। ये केवल एकबार पढकर छोड देनेके नहीं हैं। इनका जहांतक अध्ययन किया जाय, वहांतकके मन्त्र कण्ठ होने चाहिएँ। इनके अध्ययनकी विधि यह है-

१. सबसे प्रथम मन्त्र कण्ठ करिए। मन्त्र कण्ठ होनेके पश्चात्,

२. मन्त्रके पद कण्ठ करिए और साथ साथ अन्वय कैसा होता है यह भी देखिए। और मन्त्रके यदि पद कण्ठ हुए होंगे, तो अन्वय स्वयं स्मरणमें रहेगा।

३. मन्त्र और उसके पद कण्ठ करनेके समय मन्त्रोंके स्वर भिन्न हैं और पद होनेपर स्वर भिन्न हुए हैं, यह बात आप के ध्यान में आजायगी।

४. मन्त्र और पद कण्ठ करनेके समय नीचे रेखावाले अक्षर निम्न स्वरमें, चिह्नरहित अक्षर उससे उच्च स्वरमें और ऊपर रेखावाले अक्षर उससे ऊंचे स्वरमें पढिये। मोटे तौरपर उक्त अक्षरोंके क्रमशः 'सा, रे, ग' ये स्वर होंगे। इस उच्चारण की एक पुस्तक तैय्यार की जा चुकी है। पाठकोंको इस परीक्षा के पश्चात् उसका अध्ययन करना चाहिए। उसमें स्वरोंके उच्चारकी रीति ठीक ठीक दी है।

५. मन्त्र, पद और अन्वय कण्ठ होनेके पश्चात् अर्थको भी कण्ठ करनेके समान ही स्मरणमें रखना चाहिए। मन्त्र बोलते ही, पद, अन्वय और अर्थ तथा भावार्थ पुस्तक देखे बिना बोल सकें, ऐसा आपका अध्ययन होना चाहिए। आपके किसी मित्रके हाथ में पुस्तक रहे और आप मन्त्र, पद, अन्वय अर्थ और भावार्थ जबानी बोलते जाएँ, जब इस प्रकार मन्त्र शुद्ध जबानी याद होंगे, तभी समझे कि इस पुस्तक का अध्ययन संपूर्ण हुआ।

६. पाठक यहाँ दिया हुआ अर्थ देखें और कण्ठ करें, परन्तु साथ ही अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे भी अधिक अर्थ की खोज करें। स्वतन्त्र रीतिसे विचारशक्ति का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

पाठक यदि एक एक मन्त्र प्रतिदिन याद करते जायँगे, तो तीन सौ मन्त्रोंकी पुस्तक एक वर्षमें निःसंदेह याद हो सकेगी। जैसे जैसे अभ्यास बढता जाएगा, वैसे वैसे पाठशक्ति भी बढेगी और एक वर्षमें इससे दो तीन गुणे मन्त्र स्मरणमें रह सकेंगे।

आशा है पाठक इस पाठविधिसे अधिक से अधिक लाभ उठाएँगे।

औंध (सातारा)
१-६-४१

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संचालक, स्वाध्याय-मण्डल

८. न्यायशब्दौ ब्राह्मणेषु भवेतांविशयौ यदि ।
वदन्ति बहुधा तत्र कल्पसूत्रकृतोऽपि च ॥

लौकिक न्याय वा कोई शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में विविध अर्थवाला होकर संशय उत्पन्न करे, तो ऐसी अवस्थामें बहुधा कल्पसूत्रकार भी स्पष्ट उपदेश कर देते हैं ।

९. इन्द्राण्येन्द्रस्य संवादो वि हि सोतोरसृक्षत ।
न तस्मिन् गहने सूक्ते विवेकं शौनकोऽब्रवीत् ॥

" वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒० "

(ऋ० १०।८६।१)

इत्यादि गहन दुर्बोध सूक्त में भी शौनकने कुछ भी विवेचना नहीं की ।

'वि हि० ' (ऋ० १०।८६) सूक्त पर बृहद्देवता—

वि हि वार्षाकपं सूक्तम् असौ हि कपिलो वृषा ।
इन्द्रः प्रजापतिश्चैव विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

" वि हि० " सूक्त वृषाकपिदेवताक है । वह कपिल वर्ण का सूर्य है, वही ' वृषा ' वर्णन करनेवाला है । वही इन्द्र और प्रजापति है, वह इन्द्र समस्त संसार उत्कृष्ट सर्वोपरि है ।

यह एक ही कारिका शौनकने इस २३ मन्त्रों के सुक्त पर लिखी है ।

१०. न दोषो बहुधा वादे ब्राह्मणे दर्शनात् तथा ।
ब्राह्मणार्थो हि बहुधा कल्पसूत्रैरुदीर्यते ॥

एक ही मन्त्र के अनेक अभिप्राय अर्थ बतलाना भी वेद पर कोई आक्षेप नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ में भी वैसा दीखता है और ब्राह्मणों का अभिप्राय ही कल्पसूत्रोंने बतलाया है ।

११. नानाशाखा बहुविधाः कल्पसूत्रकृतोऽपि च ।
एकैकामाश्रिताः शाखामन्याश्चान्वाशयात् पुनः॥

बहुत प्रकार की, भिन्न भिन्न अनेक शाखाएं हैं और एक एक शाखा के कल्पसूत्रकार भी अनेक हैं । उनके आशयों को लेकर और भी अनेक शाखाएं हो गई हैं ।

१२. न युक्तः परिहारोऽयं जैमिनिः सर्ववेदवित् ।
अर्थं निराकृतं तेन कार्यं बौधायनोऽब्रवीत् ॥

आपका यह परिहार या समाधान शौनक आदि के मन्त्रार्थ न कहनेके सम्बन्ध में ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त वेदों का जाननेवाला जैमिनि ऋषि है, परन्तु वेदमंत्रों के अर्थ की उसने भी उपेक्षा की है । कर्मकाण्ड का उपदेश बौधायन मुनिने किया है ।

१३. एवं बहून्युपादाय ब्राह्मणानीह भाषते ।
वैकल्पिकान् बहून् अर्थान् एवं कात्यायनादयः॥

इसी प्रकार बौधायनने बहुत से ब्राह्मणों को आधार लेकर बहुत से वैकल्पिक अर्थ (पदार्थ) बतलाये हैं । इसी प्रकार कात्यायन आदि ऋषियोंने भी अपने अपने श्रौतसूत्रों में किया है ।

१४. मां प्राक्षीरितष्ठ न वयं जानीमोऽत्र विनिर्णयम् ।
ब्रूते यास्कस्तु मन्त्रार्थं शाकल्यश्चानुधावति ॥

ऐसे प्रश्न मत कीजिये । इस सम्बन्ध में विशेष निर्णय हम नहीं जानते । परन्तु यास्क ऋषिने मन्त्रों के अर्थों का भी उपदेश किया है और शाकल्यने भी उसका अनुकरण किया है ।

[इसी सम्बंधमें माधवभट्ट अपना विशेष प्रवचन अगले अध्याय में कहेंगे ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

देवानां नु वयं जाना व्याचिख्यासति माधवः ।
अपरैरपि वेदार्थो वक्तव्य इति दर्शयन् ॥

' दे॒वानां॒ नु व॒यं जाना॒० '

(ऋ० मं० १०। सू० ७२; अष्टक ८। अ० ३)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व ' अन्यों को भी वेदमन्त्रों का अर्थ करना चाहिये, ' इस सम्बन्ध में माधवभट्ट प्रवचन करेंगे ।

वेदभाष्य करनेका अधिकार ।

१. तत्र केचन मन्यन्ते समस्तश्रुत्यदर्शनात् ।
गूढत्वान्मतिमान्द्याच्च नार्थो वाच्योऽपरैरिति ॥

इस सम्बन्ध में कुछ लोग मानते हैं कि समस्त श्रुति (वेदशाखाएं और उनके ब्राह्मण) दिखाई नहीं देते हैं, और वेद के मन्त्र बहुत गूढ हैं और लोगोंकी मति भी मन्द है, इसलिये औरों को वेदमन्त्रों का अर्थ (भाष्य–

व्याख्या आदि) नहीं करनी चाहिये।

२. विस्तृतः शाट्यायनके ताण्डकार्थस्य निर्णयः।
तथा शतपथेनान्या यजुःशाखाः प्रपञ्चिताः॥

ताण्डक शाखाका निर्णय शाट्यायन ब्राह्मण में विस्तार से किया है और शतपथब्राह्मण ने समस्त यजुर्वेद की शाखाओं का तत्त्व विस्तार से वर्णित किया है।

३. अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं मंत्रान्तरैरपि।
शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः॥

इसी प्रकार अन्य मन्त्रों से भी मंत्रों के अर्थोंका निश्चय करते हैं। वेही मंत्र अन्य शाखाओं में इस प्रकार पढे गये हैं कि, उनका अर्थ स्पष्ट विदित होता है। बुद्धिमान् विद्वान् इनसे भी मंत्रों का स्पष्टार्थ निश्चय कर लेत हैं।

४. आश्विनार्भवसूक्तानामाश्विनैरार्भवैस्तथा।
स्थितैर्देशान्तरे कुर्म इतिहासविनिर्णयम्॥

आश्विन अर्थात् 'अश्वि' देवताक और आर्भव अर्थात् ऋभु देवताक सूक्तों के इतिहासों का निश्चय हम अन्य स्थानों पर आये 'अश्वि' और ऋभुदेवताक सूक्तों से करते हैं।

५. गूढाः पदार्थवाक्यार्थाः सृण्येवेत्यादिके तथा।
तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः।

वेद के पदों और वाक्योंके अर्थ गूढ हैं। जैसे-'सृण्येव०' इत्यादि मंत्र में विद्यमान हैं। इसलिये अल्पश्रुत अर्थात् जिन्होंने वेद-वेदांगों का गुरुमुख से अल्प अध्ययन किया है, ऐसे मन्दमति व्यक्तियों को वेद के अर्थोंका निर्णय नहीं करना चाहिये।

आश्विनसूक्त (मं० १०, सू० १०६, मंत्र ६) में—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥

इस मंत्र में 'सृण्या, जर्भरी, तुर्फरी, पर्फरीका, उदन्यजा, जेमना, मदेरू, जरायु, मरायु' आदि पद लोकप्रसिद्ध न होनेसे गूढ हैं।।

६. तथा च याज्ञिका विप्राः कल्पैरेवार्थनिर्णयम्।
कुर्वन्ति न त्वपेक्षन्ते मंत्रं वा ब्राह्मणानि वा॥

इसी प्रकार याज्ञिक विद्वान् गण कल्पसूत्रों से ही अर्थों का निर्णय करते हैं, वे मन्त्र वा ब्राह्मणवाक्यों की भी अपेक्षा नहीं करते हैं।

७. अत्र ब्रूमः कल्पकाराः सर्वा जानन्ति न श्रुतीः।
तदापस्तम्बवचनाद् अस्माभिरवसीयते॥

इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि, कल्पसूत्रकार भी सब श्रुतियों (वेदशाखा और ब्राह्मणों) को नहीं जानते होते हैं। यह बात आपस्तम्ब के निम्नलिखित वाक्य से ज्ञात होती है।

अत्रापस्तम्बः।
ब्राह्मणोक्ता विधयः। तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते। इति॥

८. उत्सन्नेष्वपि पाठेषु स्मार्ता धर्माः प्रयोगतः।
इदानीमनुमीयन्ते ननु श्रौतास्तथाविधाः॥

इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का वचन है—
"ब्राह्मणग्रन्थों में कहे गये विधान हैं। उनके लुप्त पाठों का हम प्रयोग से अनुमान करते हैं।"

(शंका)- पाठों के लुप्त हो जाने पर भी प्रयोगमात्रसे जिस प्रकार स्मार्त धर्मों (धर्मशास्त्रों के विधानों) का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार क्या प्रयोग मात्रसे श्रौत-विधानों का भी अनुमान किया जाता है?

९. अदृष्टसर्वशाखाश्च कुर्वन्त्यर्थविनिर्णयम्।
कल्पसूत्रकृतः सर्वे स्वदृष्टाभिरिति स्थितिः॥

वे सब कल्पसूत्रकार जिन्होंने सब वेद की शाखाएं नहीं देखी हैं, वे अपनी देखी शाखाओं के आधार पर ही वेदमन्त्रों के अर्थों का निर्णय कर लेते हैं। जैसे-

१०. कश्यपार्षाणि सूक्तानि सहस्रं शौनकोऽब्रवीत्।
त्रैष्टुभान्येकभूयांसि जातवेदस इत्यतः॥

११. आत्मना चाप्यदृष्टानि कथन्तत्राश्वलायनः।
निश्चित्योवाच वेदार्थं कथं वा शौनकादयः॥

शौनक कहते हैं कि, कश्यपऋषि के देखे १००० सूक्त त्रिष्टुप् छंद के "जातवेदसे०" (मं० १। सू० ९९) इत्यादि सूक्त के अनन्तर विद्यमान थे।

उनको आश्वलायन ने स्वयं भी नहीं देखा, तो भी उसने वेदार्थ का निश्चय करके श्रौतसूत्रों का उपदेश किया है। इसी प्रकार शौनक आदि ऋषियों ने भी इन सूक्तों को विना साक्षात् किये ही बृहद्देवता आदि ग्रंथों का प्रवचन किया ही है। उन्होंने वह किस प्रकार किया?

[ऋग्वेद के मं० १, सू० ९९ के अनन्तर और सूक्त १०० "स यो वृषा" सूक्त से पूर्व मरीचि के पुत्र कश्यप ऋषि के साक्षात् किये हुए १००१ सूक्तों के सम्बन्ध में पूर्व के अनेक विद्वानों ने जो लिखा है, वह अति विचारणीय है । जैसे—

शौनकने 'बृहद्देवता' में लिखा है—

जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेकम्
ऐन्द्रात् पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति ।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम्
एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः ॥

(बृहद्देवता ३।१३०) (मैकडोनल्ड संपादित)

'जातवेदस्' देवताक एक सहस्र (१०००) सूक्त इंद्रदेवताक सूक्त से पूर्व कुछ एक विद्वान् बतलाते हैं । "जातवेद से सुनवाम सोमम्०" (ऋ० १।९९) सूक्त उन सूक्तों में सर्वप्रथम सूक्त है । परन्तु शाकपूणि आचार्य का मत है कि, वे सूक्त एक एक ऋचा बढते हैं ।

मैकडोनल्ड सम्पादित बृहद्देवता में उपरोक्त श्लोक (B) चिह्न से अंकित है, अर्थात् सब बृहद्देवता के हस्तलेखों में वह नहीं मिलता । प्रत्युत बृहद्देवताके दो प्रकार के हस्तलेख हैं, एक में अधिक श्लोक हैं, एक में १३३ श्लोक कम हैं । पहले मैकडोनल्ड महोदय अल्प श्लोकवाले ग्रंथ को वास्तविक मानते थे और अधिक श्लोकों को अनुपयुक्त व पुनरुक्तवत् समझते थे, परंतु बाद में उन की सम्मति बदल गई । वे अधिक श्लोकवाले हस्त लेख को वास्तविक समझने लगे ।

परन्तु कश्यपदृष्ट सूक्तों के विषय में भी राजेन्द्र लाल मित्र सम्पादित बृहद्देवता में यह श्लोक नहीं है । वहां निम्न लिखित लेख है—

द्वृचाद्या सहस्रर्चान्तं सूक्तं नानाविधं भवेत् ।
नवनवतिः पञ्च लक्षाः ऋचः स्युः सचतुःशतम् ॥
नानादैवतमेकार्षं छंदोभिश्चिन्नमुत्पथम् ॥

अर्थ- द्वृच सूक्त से लेकर सहस्र ऋचा के सूक्ततक नाना प्रकार के सूक्त हैं, जिनमें पांच लाख चारसौ निन्यानवे (५००४९९) ऋचाएं हैं । इनका द्रष्टा ऋषि तो एक है, परंतु देवता भिन्न भिन्न हैं और अनेक प्रकार के छंदों से प्रयुत हैं, परंतु वह 'उत्पथ' अर्थात् लुप्त हो गया है ।

'A' के इस पाठसे प्रतीत होता है कि, कश्यप दृष्ट वे सूक्त क्रम से एक एक ऋचा बढते गये थे । अन्तिम सूक्त १००० ऋचा का था । उन सब का देवता 'जातवेदा' नहीं था, अन्य देवता के सूक्त भी थे । अन्तिम सूक्त में १००० ऋचाएं थीं । समस्त सूक्तों की ऋचाएं मिलकर ५००४९९ ऋचाएं थीं । परंतु पूर्वोक्त B के श्लोक से यह बात विदित नहीं होती । उसके अनुसार सब 'जातवेदस्' देवता के ही थे, अन्य देवताक न थे । फलतः दोनों ग्रन्थों के पाठ ऐसे व्यक्तिने बनाये लिखे हैं, जिसने केवल सुनभर रखा है । वास्तविकता दोनों लेखकों को विदित नहीं है । B के लेख से यह भी विदित नहीं होता है कि, वे सूक्त क्रम से एक एक ऋचा बढकर १००० ऋचावाले सूक्त तक बढ गये थे । यह ज्ञान शाकपूणि को था । (३) इस सम्बन्ध में तीसरा लेख सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन का है—

" जातवेदस एका । जातवेदस्यम् । एतदादीन्येकभूयांसि सूक्तसहस्रम् । एतत्तु कश्यपार्षम् ।

अर्थ- "जातवेदसे०" यह एक ही ऋचा का सूक्त है । इसका देवता जातवेदा है । इसको आदि लेकर एक अधिक सहस्र सूक्त है । यह कश्यप ऋषि का दर्शन है ॥

कात्यायन के वचन अति संक्षिप्त हैं । इनसे भी यह स्पष्ट नहीं है कि, वे सूक्त १-१ ऋचा बढते जाते थे, वा वे १००१ सूक्त थे । अन्त का वाक्य है—

एतत्तु कश्यपार्षम् । यह कश्यप ऋषि दृष्ट है ।

यह 'एतद्' पद किसके लिये आया है ? पूर्वोक्त 'जातवेदसे०' सूक्त के लिये आया है, या 'एकभूयांसि सूक्त सहस्रम्' के लिये आया है, यह नहीं कहा जा सकता है । बृहद्देवता के B पाठ में 'सूक्तसहस्र' को कश्यपार्ष यह एकदेशी मत बतलाया है । शाकपूणि के मत में "एकभूयस्त्व" की सूचना दी है । दूसरा अभिप्राय 'एकभूयस्त्व' का यह लिया गया है कि वे सूक्त एक एक ऋचाक्रम से बढते जाते थे । इसी आधारपर A के पाठ में ५००४९९ ऋचाएं गिना दी गई हैं ।

(४) इसी सम्बन्ध में चतुर्थ लेख वेदभाष्यकार स्कन्दस्वामी का है—

" अतः परं काश्यपार्षम् उत्सृष्टाध्ययनम् एकाधिकं सूक्तसहस्रम् तस्यैतदेकर्चम् आद्यं सूक्तम् एवं हि भगवान् शौनक आह ।

पूर्वा पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम्।
जातवेदस इत्याद्यम् कश्यपार्षस्य शुश्रुमः ॥इति॥
यस्यैकाधिकानां सूक्तानां सहस्रस्य सूक्तस्य कश्यपार्षस्य सर्वसूक्तेषु पूर्वा पूर्वा एषा ऋक् 'जातवेदसे' इत्याद्यम् एकर्चमिति एतद् वयमपि श्रुतवन्त एव नाधीतवन्त इत्यर्थः।"

इस (सू० ९८) के अनन्तर कश्यप ऋषि का दृष्ट वेद है। उसका अध्ययन करना लोगोंने छोड दिया है। यह 'एक अधिक' हजार सूक्त हैं। जिन में से यह "जातवेदसे०" इत्यादि एक ऋचावाला आदि का सूक्त है। इसी प्रकार भगवान् शौनकने उपदेश किया है-("पूर्वा पूर्वा०" इत्यादि) कश्यप ऋषि दृष्ट जिस हजार सूक्त के एक एक अधिक होनेवाले समस्त सूक्तों में पहली पहली यह ऋचा "जातवेदसे०" यह आदि का एक ऋचावाला सूक्त है। ऐसा हम भी सुनते ही हैं, हमने अध्ययन नहीं किया। यह इसका तात्पर्य है।

(५) स्कन्दस्वामीने 'पूर्वा पूर्वा' यह कारिका-श्लोक 'भगवान् शौनक आह' ऐसा लिखकर उद्धृत किया है। परन्तु शौनकप्रोक्त बृहद्देवता के A, B, दोनों प्रकार के हस्तलेखों में यह कारिका नहीं है। छंदोनुक्रमणी में इस कारिका का उल्लेख है। और वह सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार श्रीषड्गुरु शिष्यने आर्षानुक्रमणी का निम्नलिखित पाठ उद्धृत किया है-

खिलसूक्तानि चैतानि त्वाद्यैकर्चमधीमहे।
शौनकेन स्वयं चोक्तम् ऋष्यनुक्रमणे त्विदम्।
पूर्वात् पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम्।
जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुम। इति।
स यो वृषीवान्ता वेदमध्यास्त्वखिलसूक्तगाः।
ऋचस्तु पञ्च लक्षाः स्युः सैकोनशतपञ्चकम्॥

ये 'खिल' सूक्त हैं। इनकी आदि की एक ऋचा, ही एक ऋचावाला सूक्त है। उसका हम शौनक (शाखावाले) अध्ययन करते हैं। शौनक ने स्वयं ऋष्यनुक्रमणी में कहा है-'पूर्वात् पूर्वा०' इत्यादि अर्थात् एक एक बढनेवाले सहस्र सूक्तों में से पूर्व सूक्त से पूर्व (आदि) सूक्त की ऋचा 'जातवेदसे०' इत्यादि काश्यप ऋषि दृष्ट है, ऐसा सुनते हैं। 'अखिल' सूक्तों के बीचमें 'स यो वृषा०' (सू० १००) तक एक कम पांच लाख पांचसौ (५००४९९) ऋचाएं हैं।

षड्गुरुशिष्य के इस लेख से बहुतसी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (१) सूक्त केवल १००० हैं। (२) वे एक एक ऋचा उत्तरोत्तर बढते हैं। (३) आदि का सूक्त 'जातवेदसे०' एक ऋचा का ही है। (४) वह तो 'अखिल' वेद में पठित है। शेष सब 'खिल' हैं। वे ऋचाएं हैं, परन्तु 'बह्वृच वेद' का अंश नहीं है।

यहां एक बात और ध्यान देनेयोग्य यह है कि, षड्गुरुशिष्य की उद्धृत कारिका में पाठ है "पूर्वात् पूर्वा" स्कन्दस्वामी के उद्धरण में पाठ है 'पूर्वा पूर्वा'।

इन दो भिन्न भिन्न पाठों से कारिका के अभिप्राय में भी भेद आता है। 'पूर्वात् पूर्वा' का अभिप्राय ऊपर लिख दिया। 'पूर्वा पूर्वा' पाठ मानें, तो ऐसा अभिप्राय निकलता है कि, कदाचित् उन सहस्रों सूक्तों में सब सूक्तों की पहली पहली ऋचा 'जातवेदसे०' ही थी। शेष सूक्त कदाचित् उसी की व्याख्यारूप होना सम्भव है। जब वे सब सूक्त शौनक ऋषि तक को देखने को नहीं मिले, तब उस 'कश्यप' दृष्ट वेद वा वेदप्रवचन के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है?]

१२. यत्र गूढार्थता तत्र तेषामप्यविनिर्णयः।
ब्रह्मविद्यां वदन्तीति श्रुतिस्तत्र निदर्शनम्॥

१३. वदन्ति बहुधा तत्र स्याच्छब्दो विषयो यदि।
न्यायांश्च परिगृह्णन्ति विरुद्धान् इतरेतरान्॥

जहां गूढ अर्थ होता है, वहां उनका भी कोई विशेष निर्णय नहीं होता, 'ब्रह्मविद्या का प्रवचन करते हैं।' यह श्रुति वहां दृष्टान्त है।

यदि कोई शब्द संशयवाला होता है, तब वहां उसको बहुत प्रकार से बतलाते हैं, एक दूसरे से विपरीत विरुद्ध न्यायों को प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

१४ अवदानं स्विष्टकृतो नाज्याज्जैमिनिरिच्छति।
बौधायनस्त्वाज्यादपि सकृद् ग्रहणमिच्छति॥

जैसे स्विष्टकृत का अवदान घृत से जैमिनि को अभिमत नहीं है। परन्तु बौधायन को आज्य (घृत) से भी एक बार अवदान (ग्रहण) अभिमत है।

१५. अङ्गोपाङ्गविदा तस्माद् यथाशक्त्यर्थनिर्णयः
कार्यो वेदस्य रक्षार्थम् इति वृद्धेभ्य आगमः ॥

वेद के अंग-उपांग जाननेवाले विद्वान् को यथाशक्ति अर्थ का निश्चय करना ही चाहिये, इससे वेद की रक्षा होती है, ऐसा वृद्धों का उपदेश है ।

१६. प्रयोगवृत्तिभिः शक्यः कार्यार्थस्य विनिर्णयः ।
नैतावता विनिर्णेयः कल्पार्थो भवतोऽपि च ।

कार्यार्थ का निर्णय प्रयोगोंद्वारा हो सकता है; इतने से कल्पसूत्र में कहे तत्वों का निर्णय आप के करनेयोग्य नहीं है ।

१७. परिषद् यस्य वचने न दोषमधिगच्छति ।
तमबुद्धिं कथं ब्रूमः प्रब्रवीतु स एव नः ॥

जिसके वचन में परिषद् दोष न जाने, उसको हम बुद्धिरहित क्यों कर कहें ? हमें भी वही अच्छी प्रकार तत्व बतला सकता है ।

१८. निर्णयः कल्पसूत्राणां श्रुतिस्मृत्योस्तथैव च ।
इतिहासपुराणानां परिषद्येव तिष्ठति ॥

कल्पसूत्रों का, श्रुतियों, स्मृतियों और इतिहासपुराणों का निर्णय सब परिषद् (सम्प्रदाय) पर ही आश्रित है ।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

वि हि सोतोरसृक्षत व्याचिख्यासति माधवः ।
ऋग्भाष्यकृद्भिर्वक्तव्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥

ऋग्वेदभाष्यकारके दो शब्द ।

"वि हि सोतोरसृक्षत० "

(अष्टक ८, अ० ४, सं० १)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व माधवभट्ट अब ऋग्वेद के भाष्यकारों को आदि में जो विशेष भूमिका रूप से कहनायोग्य उसका प्रवचन करते हैं ।

१. अधीतसाङ्गवेदोऽपि पदार्थमिह मानवः ।
बाहुश्रुत्याद् विजानाति व्यसनाद् अभियोगतः॥

छहों अंगोंसहित वेद पढ़कर भी यथार्थ पद का अभिप्राय मनुष्य बहुत श्रुत होकर, व्यसन (विशेष लगन) और मनोयोग से ही जान पाता है ।

२. जघनार्द्धे कुरुक्षेत्रे शर्यणावद् ह वै सरः ।
अस्तीति शाट्यायनकं तद् विदच्छर्यणावति ॥

"तद् विदच्छर्यणावति० " (ऋ० १।८४।१४)

इस वेदमन्त्र में "शर्यणावत्" के सम्बन्ध में शाट्यायन ब्राह्मण का वचन है कि कुरुक्षेत्रस्थान में दक्षिण अर्ध भाग में 'शर्यणावद्' नामक तालाब था ।

३. महः क्षोणस्याश्विनेति क्षोणो वीणेति दर्शितम् ।
चत्वारि शृङ्गा व्याख्याता ब्राह्मणेऽथर्वणामिति ।

'महः क्षोणस्याश्विना०' (ऋ० १।११७।८) इस वेद-मंत्र में 'क्षोण' का अर्थ वीणा बतलाया है ।

"चत्वारि शृङ्गा०" (ऋ० ४।५८।३) इस ऋचा की अथर्ववेदियों के ब्राह्मण गोपथ (१।२।१६) में व्याख्या की गई है ॥

['क्षोण' शब्द के सम्बन्ध में यास्क का निर्वचन है ।

क्षोणस्य क्षयणस्य । 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय०' (ऋ० १।११७।८) ।
इत्यपि निगमो भवति ॥ (निरुक्त० ६।६)

'क्षोण' का अर्थ है 'क्षयण'। 'महः क्षोणस्य०' इस ऋचामें 'क्षोणस्य' पद आता है । ऋचा इस प्रकार है ।

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं
महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां
यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम् ॥

(ऋ० १।११७।८)

यास्क के दर्शित अर्थ के अनुसार दुर्गाचार्य इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं--

(युवं) आप दोनों ने (श्यावाय) श्यावराजा को (रुशतीं) दीप्तिमान् श्री, शोभा का (अदत्तम्) दान किया और तुम दोनों ही (कण्वाय) कण्व को (महः

क्षोणस्य क्षयणस्य निवासस्य दातारौ) बड़े भारी क्षोण अर्थात् क्षयण अर्थात् निवासस्थान के देनेवाले हो। हे (वृषणा) वर्षा करनेवालो ! (प्रवाच्यं वां कृतम्) आप दोनों का कार्य बहुत प्रशंसनीय है कि, (नार्षदाय) नार्षद नामक बहरे ऋषि को भी (श्रवः अधिधत्तम्) बहुत अधिक कान दिया। इस प्रकार अर्थ करके दुर्गाचार्य 'क्षोण' शब्द पर टिप्पणी देते हैं--

एवमत्र दानसम्बन्धाधिकारात् शब्दसारूप्याच्च "क्षोणस्य गृहस्य" इति प्रतीयते।

इस मन्त्र में दानसम्बन्ध का प्रकरण होने से और 'क्षोण' शब्द 'क्षयण' के समान रूप होने से इसका अर्थ 'गृह' प्रतीत होता है।

परन्तु माधवभट्ट ने 'क्षोण' शब्द का अर्थ 'वीणा' बतलाया है। इस सम्बन्ध में सायणाचार्य से पूर्व स्कन्दस्वामी का भाष्य प्रस्तुत करते हैं। स्कन्दस्वामी के इस मन्त्र पर दो अर्थ उपलब्ध होते हैं। एक ऋग्वेदभाष्य में, दूसरा निरुक्तभाष्य में—

(१) (युवं श्यावाय रुशतीम् अदत्तम्) तुम दोनों ने अग्नि के पुत्र वोरके ज्येष्ठ पुत्र जो कुष्ठी होनेसे रंगमें काला-काला (श्याव) हो गया था, उसको दीप्त उज्ज्वलत्वचावाली अर्थात् तुम दोनों ने उसके जंघाओं और शिर में काटकर नई त्वचा जिला दी थी। और- (महः) और बहुत अधिक दिया। क्या ? दूसरे मंत्र के प्रकरण से 'चक्षु' प्रतीत होती है। किसको ? (क्षोणस्य कण्वाय टुक्षु शब्दने इत्यस्येदं रूपम् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी शब्दयित्र आह्वात्र स्तोत्रे वा इत्यर्थः कस्मै। उच्यते हे अश्विनौ कण्वाय ऋषये।) 'क्षोण' अर्थात् बुलाते या स्तुति करते हुए कण्व ऋषि को बहुत (धन) दिया। शेष अर्थ दुर्गाचार्य के समान है। द्वितीय भाष्य में 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय' का अर्थ ही नहीं दिया है। केवल इतना लिखा है—

क्षोणस्येत्यनवगतम् क्षयणस्येत्यवगमः। क्षीयतेर्निवासार्थस्य कर्तरि ल्युट्॥

'क्षोण' शब्द का अर्थ विदित नहीं होता है। 'क्षयण' शब्द स्पष्ट है। 'क्षि' धातु निवासार्थक का कर्ता में ल्युट प्रत्यय होकर रूप है। अब सायणाचार्य के अर्थ को देखिये— तुम दोनोंने (श्यावाय) कुष्ठ रोग से श्यामवर्ण ऋषि को (रुशतीं) दीप्त त्वचावाली स्त्री दी।

(क्षोणस्य क्षोणाय यः दृष्टिराहित्येन गन्तुमशक्तः सन् एकस्मिन्नेव स्थाने निवसति तस्मै कण्वाय ऋषये महः तेजः तैजसं चक्षुरिन्द्रियमदत्तं)

क्षोण अर्थात् दृष्टि से रहित चलने में असमर्थ होने से एक ही स्थानपर रहे ऐसे कण्वऋषि को 'महः' तेज अर्थात् तैजस् चक्षु दिया। शेष अर्थ दुर्ग के समान है। सायणाचार्यने दूसरा अर्थ भी दिया है। वह इस प्रकार है।

अपर आह। ब्राह्मण्यस्य परीक्षार्थमसुराः कण्वमृषिं गूढे तमसि निदधुः। अत्रैव स्थितः सन् व्युष्टाम् उषसं निजानीहि यदि त्वं ब्राह्मणोऽसीति। तमश्विनौ आगत्योचतुः व्युष्टायां हर्म्यस्य उपरि वीणां वादयन्तौ आवाम् गमिष्यावः। तं शब्दं श्रुत्वा व्युष्टामुषसं ब्रूहि। तदेतत् प्रतिपाद्यते हे वृषणा कामानां वर्षितारावश्विनौ वां युवयोः तत्कृतं कर्म प्रवाच्यं प्रशंसनीयं यन्नार्षदाय नृषदः पुत्राय कण्वाय क्षोणस्य। क्षोणः शब्दकारी वीणाविशेषः। महत् महतः क्षोणस्य श्रवः शब्दम् अध्यधत्तम् उषसो विज्ञानार्थम् अधिकम् अकुरुतम्।

दूसरे विद्वान् कहते हैं— ब्राह्मणपन की परीक्षा के लिये असुरोंने कण्वको गहरे अन्धकार में रखा। बोले तुम यहां रहकर जानो कि प्रभात कब होता है, यदि जान लों तो जाने कि ब्राह्मण हो। अश्वी उससे आकर बोले- प्रभात होनेपर हम महल के ऊपर वीणा बजाते हुए जावेंगे, उस शब्द को सुनकर तुम प्रभात हुआ बतलाना। इसी को इस मंत्र में कहा है- हे कामनाओं के देनेवाले अश्वियों ! आप नृषद के पुत्र कण्व को 'क्षोण' अर्थात् शब्दकारी वीणाविशेष अर्थात् बडी वीणा का शब्द उषा के ज्ञान कराने के लिये किया।

सायणाचार्य-निर्दिष्ट ऊपर मत कदाचित् माधवभट्ट का ही है। परन्तु यास्क आदि विद्वानोंने 'क्षोण' के वीणा अर्थ की उपेक्षा की है।

सायणने 'रुशतीम्' का अर्थ 'दीप्तत्वचं स्त्रियम्' किया, यह चिन्तनीय है। च, द, ध, फ, इन हस्तलेखों में 'श्रियम्' पाठ है। परन्तु तिलक महाराज विद्यापीठ के वैदिक संशोधक मण्डल के छापे ऋग्वेदभाष्य में 'स्त्रियम्'

पाठ को ही स्वीकार किया है । हमारी सम्मति में 'श्रियम्' पाठ उचित है ।

ऋषि दयानन्दने 'क्षोणस्य' का अर्थ 'अध्यापकस्य' किया है ।

(२) 'चत्वारि शृङ्गा०' (ऋ० ४।५८।३) मंत्र का व्याख्यान गोपथ (१।२।१६) में इस प्रकार किया है ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

प्रजापतिरथर्वा देवः। स तपस्तप्त्वा एतं चतुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमत चतुर्लोकं चतुर्देवं चतुर्वेदं चतुर्होत्रमिति चत्वारो वा इमे लोकाः पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप इति । चत्वारो वा इमे देवा अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः, चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति । चतस्रो वा इमे होत्रा हौत्रमाध्वर्यवमौद्गात्रं ब्रह्मत्वमिति । तदप्येतदृचोक्तम् ॥

" चत्वारि शृङ्गा० "

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः त्रयोऽस्य पादा इति सवनान्येव, द्वे शीर्षे इति ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यावेव, सप्त हस्तासो अस्येति छंदांस्येव त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम् । वृषभो रोरवीति एष हि वै वृषभ एष तद् रोरवीति यद् यज्ञेषु शस्त्राणि शंसति ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्ब्रह्मभिरिति । महो देवो मर्त्यान् आविवेशेत्येष ह वै महान् देवो यद् यज्ञ एषु मर्त्यान् आविवेश ॥

प्रजापति अथर्वा देवने तप करके चतुष्प्राश्य ब्रह्मौदन को बनाया । उस में चार लोक हैं, चार देव, चार वेद, चार होता हैं- चार लोक हैं । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, और आपः, चार देव अग्नि, वायु, आदित्य और चंद्रमा, चार वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद, चार होता हैं, हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र और ब्रह्मत्व । यही ऋचा में कहा है- '' चत्वारि शृङ्गा० '' इत्यादि । चार शृंग हैं, चार वेद. तीन पाद तीन सवन हैं, दो शिर हैं, ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य, सात हाथ, सात छंद हैं । वह तीन प्रकार से बद्ध हैं । मंत्र, कल्प और ब्राह्मण, वह वृषभ शब्द करता है, जब यज्ञ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद से स्तुति पढते हैं । महान् देव मर्त्यों में प्रविष्ट है. कि यज्ञ ही मर्त्यों में स्थित है । (गोपथ० १।१६)

४. अव्युत्पन्नाः प्राक्पदार्थाः कल्पन्ते यत्नतोऽपि च।
इह प्राज्ञैर्व्यसनिभिः पदवाक्यानुसारिभिः ॥

वेदानुशीलन के व्यसनी व्याकरण और मीमांसा का अनुसरण करके अव्युत्पन्न, अविस्पष्ट पदों के अर्थ बडा यत्न करके भी कल्पना करते हैं ।

५. आश्विनार्भवसूक्तानामाश्विनार्भवदर्शनात् ।
निर्णयोऽर्थस्य भवति सोऽभियोगः प्रकीर्तितः॥

अश्वी और ऋतुओं के सूक्तों के अर्थों का निर्णय उन देवताओं के अन्य सूक्तों के देखने से ही जाता है । इसीको ' अभियोग ' कहा जाता है ।

६. ज्ञातेष्वपि पदार्थेषु वाक्यार्थपरिकल्पनम् ।
अशक्यमृक्षु बह्वीषु नरैरकृतबुद्धिभिः ॥

पदों के पृथक् पृथक् अर्थों का ज्ञान होते हुए भी वाक्यार्थ की संगति लगाना साधारण लोगोंके लिये बहुतसी ऋचाओं में असम्भव है ।

७. तस्मात् पदार्थ--वाक्यार्थान् प्रयत्नेन प्रदर्शयेत्।
नान्यत् किञ्चिदपि ब्रूयात् निरुक्तमपि तादृशम्॥

इस कारण पदों के अर्थों और वाक्यों के अर्थों को भी प्रयत्न से दिखलावे और कुछ भी न कहे, न वैसा निर्वचन ही कहे ।

८. भाष्याणि वैदिकान्याहुरार्यावर्तवासिनः ।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः ॥

आर्यावर्त के रहनेवाले वेदके अनेक भाष्य बतलाते हैं । और अब भी बहुत से किये जा रहे हैं । इसी प्रकार अनेक वैदिक निरुक्त भी हैं ।

९. स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यम् पदवाक्यार्थगोचरम्॥

स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ इन तीन विद्वानोंने क्रम से एक ऋग्वेद का भाष्य बनाया, जिसमें पदार्थ और वाक्यार्थ स्पष्ट किया गया है ।

१०. भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवाः।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे॥

अब बहुत से दूसरे मायावी मनुष्य उस ही अर्थको कहते हैं और घर घर में अनेक व्याख्यान लिखते हैं।

११. वर्गाणामथ सूक्तानाम् ऋक्संख्यां तत्र कश्चन।
प्रदर्शयति मायार्थं विनियोगमथापरः॥

१२. पृच्छन्ति ताविमौ प्राज्ञाः शौनकेन प्रदर्शिता।
अक्षराणां पदानां च संख्या सा किं न लिख्यते॥

कोई कोई तो वर्गों, सूक्तों और ऋचाओं की संख्या बतलाता है और कोई अपनी माया (ढोंग) बतलाने के लिये विनियोग दर्शाते हैं।

[सायणने प्रति सूक्त और प्रति मन्त्रविनियोगके बतलाये हैं, कदाचित् उसी प्रकार के सम्प्रदाय पर माधवभट्ट का आक्षेप है।]

इन दोनों प्रकार के भाष्यकारों से लोग पूछते हैं कि, शौनकने छंदोनुक्रमणी में अक्षरों और पदों की संख्यातक बतलाई है, वह भी क्यों नहीं लिखते ?

१३. एतावदक्षरं सूक्तमेतावत्पदकं तथा।
इत्येवमुच्यमाने हि तच्च जानन्ति लौकिकाः॥

१४. ग्रन्थेऽस्ति पदसंख्येति यत्नो न भवतोस्ततः।
पदसंख्या च भवतोर्वाच्या ग्रन्थं निरीक्ष्य तम्॥

सूक्त में इतने अक्षर और इतने पद होते हैं। इस प्रकार कहने से लौकिक लोग भी अक्षरों और पदों की संख्या जान लेते हैं। ग्रन्थ में पदों की संख्या है ही उसमें आप लोगों का क्या परिश्रम है ? ग्रंथ को देख कर ही आप लोग पदसंख्या कह सकते हैं।

१५. लोकतः कार्यतोऽङ्गैश्च पदार्थान् अन्वयानपि।
न विज्ञातान् वदेत् प्राज्ञो मन्त्राणामिति निश्चयः॥

१६. न त्वात्मीयं परिज्ञानमंगोपाङ्गादिगोचरम्।
अनपेक्षितमप्यर्थं दर्शयेद् यत्नमास्थितः॥

लोकद्वारा, कर्मकाण्ड से और वेदाङ्गों से जाने गये मन्त्रों के पदों के अर्थ और अन्वय विद्वान् पुरुष न कहें।

१७. बह्वनामपि सूक्तानां बह्वीनामप्यृचां तथा॥
प्रदर्शिता मयाऽन्येऽर्था न तु मायेह विद्यते।

१८. येऽर्था भाष्येषु कथिता येऽस्माभिश्च प्रदर्शिताः।
गवाश्ववद्भिन्नास्ते नत्वाम्रसहकारवत्॥

मैंने बहुत से सूक्तों और बहुतसी ऋचाओं के भी अन्य अर्थ बतलाये हैं, इसमें कोई माया या ढोंग की बात नहीं है। जो अर्थ भाष्योंमें बतलाये हैं और जो हमने बतलाये हैं, वे परस्पर गाय और घोडे के समान सर्वथा भिन्न हैं, उन का भेद आम और सहकार के समान नाममात्र नहीं है।

१९. उपर्यर्धो विभिन्नोऽत्र शिष्टः प्रायेण तत्समः।
युक्तायुक्तविनिर्णयं कृतबुद्धिषु तिष्ठति॥

वेदमंत्रों में कहीं कहीं ऊपर का आधा भाग भिन्न होता है, और शेष भाग उसके समान होता है। ऐसे स्थल में युक्त और अयुक्त का निर्णय करना निष्ठ विद्वानों पर ही निर्भर है।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

हये जाये मनसेति व्याचिख्यासति माधवः।
अनर्थकृतसन्देहं मन्त्रेष्वादावपानुदन्॥
"हये जाये मनसा०"

(अष्टक ८, अ० ५। मं० १०, सू० ९५)

इत्यादि अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व मन्त्रों के अनर्थक होने के सन्देह का निवारण करते हैं।

सार्थक-अनर्थक वाद।

१. बह्वनामिह मन्त्राणामर्थं नोपलभामहे।
ततो नार्थेऽस्ति तात्पर्यमिति कौत्सस्त्वभाषत॥

वेद में बहुत से मंत्रों का हमें अर्थ ज्ञात नहीं होता, इससे विदित होता है कि, मंत्रों का अर्थ में तात्पर्य नहीं है, अर्थात् मंत्र अनर्थक हैं, ऐसा कौत्स का मत है।

२, यथर्षभस्य मेघस्य दुन्दुभेश्च रथस्य च।
साम्नां चानर्थकाः शब्दास्तद्वद् ऋग्यजुषोरपि॥

जिस प्रकार बैल, मेघ, ढोल और रथ की आवाजें, या ध्वनियां अनर्थक होती हैं और जिस प्रकार सामगायन में प्रयुक्त शब्द 'हाउ' 'होई' आदि शब्द निरर्थक हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र भी अनर्थक हैं।

३. यच्च कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वा वदेदिह ।
तदेव ब्राह्मणान्याहुस्तस्मान् मन्त्रा निरर्थकाः ।

जिस करनेयोग्य कर्म को ऋग्वेद वा यजुर्वेद उपदेश करे, उसी का उपदेश ब्राह्मणग्रंथ करते हैं । इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं । जैसे—

४. यानि घर्मे कपालानि कपालानां विमोचनम् ।
प्रथनं चोरु प्रथस्व प्र त्वा चोक्तं विमोचनम् ॥

५. आप उन्दन्तु जीवसे केशानामपि चोन्दनम् ।
मन्त्रैरेव प्रतीतानि ब्राह्मणैर्विहितान्यपि ॥

'घर्म' में जितने कपाल होते हैं और कपालों का विमोचन और प्रथन और केशों का गीला करना आदि कर्म ब्राह्मणवचनों में 'उरु प्रथस्व' आदि कहे गये हैं, वे कर्म मंत्रों से भी प्रतीत हो जाते हैं ।

(तै० सं० १।१।७) कपालविमोचन (तै० सं० १।१।८।१) (ऋ० १०।२५।२४) जैसे—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्० ।

'पुरोडाश प्रथन' जैसे— (तै० सं० १।२।१।१)

६. अथ विप्रतिषिद्धार्था ऋज्राश्वः शतमेकं च ।
शतं मेषान् वृक्ये इति भिन्नाः संख्यानयोर्ऋचोः ॥

वेदमन्त्र एक दूसरे से विपरीत अर्थवाले हैं, एक की बात एक से कट जाती है, जैसे—

(१) शतं मेषान् वृक्ये मामहानं तमः प्रणीत-मशिवेन पित्रा । (ऋ० १।११७।१७)

(२) जारः कनीन इव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान् ॥ (ऋ० १।११७।१८)

उक्त दोनों ऋचाओं में मेषों की संख्या भिन्न भिन्न हैं । अर्थात् पूर्व मंत्र में लिखा है कि ऋज्राश्वने वृकी को (शतं) १०० मेष दिये और दूसरे मंत्र में लिखा है (शतम् एकं च) सौ और एक (१०१) मेष दिये ।

[इस सम्बन्ध में सायण ने इतिहास लिखा है कि–वृषागिर का पुत्र ऋज्राश्व नाम राजर्षि था, उसके समीप अश्वियों का वाहन गर्दभ वृकी (भेडियन) होकर बैठ गया था । उसने उस भेडियन को खाने के लिये (१००) सौ मेष (भेडे) दिये । स्कन्दस्वामीने लिखा है कि– अश्वियों

की चाबुक वृकी होकर बैठी थी । इस बात से अप्रसन्न होकर उसके पिताने ऋज्राश्वको अन्धा कर दिया । अश्वियोंने ऋज्राश्व को पुनः आंखें दीं ।]

७. एवमेक एव रुद्रोऽसंख्याता सहस्राणि ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे शतं सेनास्तथाजयत् ॥

इसी प्रकार—

१. एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो
रणे निघ्नन् पृतनासु शत्रून् ॥
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता
प्रत्यङ् जनान् संचुकोचान्तकाले ॥
(तै० सं० १।८।६।१)

(२) असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम् । तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ (यजु० १६।५४)

इन दोनों मन्त्रों में से प्रथम में एक रुद्र का वर्णन है । दूसरे मंत्र में असंख्य-हजारों रुद्रों का वर्णन है ।

(१) अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे ॥ (ऋ० १०।१३३।२)

(२) संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ।
(ऋ० १०।१०३।१)

इन दोनों मंत्रों में से प्रथम में इंद्र को 'अशत्रु' शत्रु-रहित कहा है । दूसरे मंत्र में 'सौ सेनाओंको जीतनेवाला' कहा है ।

८. मायेत् सा ते यानीति विस्पष्टमृषिरुक्तवान् ।
सर्वेषामेव युद्धानां मुक्तकण्ठमसत्यताम् ॥

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु । मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥

इस मन्त्र में इंद्र के समस्त बल-कार्य, युद्धों को 'माया' अर्थात् सर्वथा असत्यही कह दिया है, तब वेद के अनेक मंत्रों में कही इंद्रसम्बन्धी युद्ध की बातें असत्य हो जाती हैं—

९. देवलोके वहत्यग्निर्हवींषीति प्रतीयते।
यत्र वेत्थ वनस्पते भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति ॥
१०. अश्वो न देववाहनो देवत्रा हव्यमोहिषे।
महे यत् पित्र ईं रसं बहवः सन्ति तादृशाः ॥

यज्ञ की अग्नि हवियों को देवलोक में ढो ले जाता है, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे-

(१) यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि। तत्र हव्यानि गामय ॥ (ऋ० ५।५।१०)

(२) समानमेतद् उदकम् उच्चैत्यव चाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः। (ऋ० १।१६४।५१)

(३) वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते ॥ (ऋ० ३।२७।१४)

(४) विश्वस्मा इद् इषुध्यते देवत्रा हव्यम् ओहिषे। विश्वस्मा इत् सुकृते वारम् ऋण्वत्यग्निर्द्वारा व्यृण्वति ॥ (ऋ० १।१२८।६)

(५) गृहे यत्पित्र ईं रसं दिवे करवत्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान् ॥ (ऋ० १।७१।५)

इन समस्त मन्त्रों में यही अभिप्राय स्पष्ट है कि अग्नि इस भूमि के पदार्थों को देवलोकमें पहुंचाता है।

११. आहूयन्ते च यज्ञेषु वक्ष्यमाणास्तथादितः।
अग्निमग्न आ वह सन्त्यृचश्च तथाविधाः ॥
१२. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र य इन्द्राग्नी चित्रतमः।
अपाः सोममस्तमिन्द्र परा याहि मघवन्ना ॥

यज्ञोंमें जिन देवों को हवि देनी होती है, उनको आदि में बुलाया जाता है, जैसे-

(१) अग्निमग्निम् आ वह० (तै. सं. २।५।९।४)

इस प्रकार की ऋचाएं भी अनेक हैं, जैसे-

(२) आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः। आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥ (ऋ० २।१८।४)

(३) य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे। तेना यातं सरथं तस्थिवांसाथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ (ऋ० १।१०८।१)

(४) अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥ (ऋ० ३।५३।६)

(५) परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्। यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य ॥ (ऋ० ३।५३।५)

इन ऋचाओंमें यज्ञ के उद्देश्य की देवताओं को बुलाया गया है- (१) में अग्निको बुलाया है। (२) में इन्द्रको दो, चार, छः, आठ, दश घोडोंसे आकर सोमपान करनेके लिये बुलाया है। (३)में इन्द्र अग्निको रथद्वारा सोमपानके लिये बुलाया है। (४) और (५) में इन्द्र को उत्तम घरमें आने वा जाने के लिये कहा है। इस प्रकार अनेक ऋचाएं हैं।

१३. छिन्दन्नेवापि च ब्रूते ओषधिं स्वधितिं ततः।
ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः ॥

ओषधि को काटता हुआ ओषधि के प्रति कहता है कि-

ओषधे त्रायस्वैनम् ॥

हे ओषधे ! तू इसको बचा। इसकी रक्षा कर। इसी प्रकार छुरे का प्रयोग करते समय छुरेके प्रति कहता है कि-

स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ (तै० सं० २५।९।४)

हे स्वधिते वज्र ! छुरे ! तू इसे मत मार।

जड पदार्थों को इस प्रकार कहना निरर्थक है, इसलिये वेदमन्त्र निरर्थक है।

१४. विवक्षितेऽसमाप्तेऽर्थे छन्दश्चेत् संस्थितं भवेत्।
ब्रूतेऽवशिष्टं न पुनरश्वं न त्वा वारवन्तम् ॥

जिस बात को कहने लगे, यदि वह समाप्त भी न हो और छन्द पूर्ण हो जाय, तो वह (वेद) अवशिष्ट को नहीं कहता है, जैसे-

अश्वं न त्वा वार॑वन्तं वन्दध्यां अग्निं नमोभिः ।
सम्राज॑न्तमध्वराणाम् ॥ (ऋ० १।२७।१)

इस मन्त्रमें 'वन्दध्यै' स्तुति करने को यह क्रिया अपूर्ण है। सायण ने लिखा है—

"वन्दध्यै स्तोतुं प्रवृत्ता इति शेषः।"
"वन्दितुमिच्छामः प्रारभामहे वा।" (स्कन्दस्वामी)

स्तुति करने लगे हैं, या चाहते हैं, यह पूरक पद नहीं है। इस प्रकार वेदके अधूरे वाक्य पूरा अर्थ न कहने से अनर्थक हैं।

१५. अत्यष्टिष्वपि चोक्तानि पदान्यर्थेऽनपेक्षिते ।
पुनः पुनः प्रयुज्यन्ते तस्मान्मन्त्रा निरर्थकाः ॥

अत्यष्टि छन्दों में बेमतलब के अर्थ में अनेक पद कहे गये हैं, उनका पुनःपुनः प्रयोग किया गया है। इससे भी मन्त्र अनर्थक हैं। जैसे—

(१) अग्निं होता॑रं मन्ये दास्व॑न्तं वसुं सूनुं
सह॑सो जातवे॑दसं विप्रं न जातवे॑दसम् ।
य ऊर्ध्वया॑ स्वध्वरो देवो देवाच्या॑ कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु॑वष्टि शोचिषा जुह्वा-
नस्य सर्पिषः ॥ (ऋ० १।१२७।१)

(२) तम॑स्य पृक्षमुप॑रासु धीमहि नक्तं यः
सुदर्श॑तरो दिवा॑तराद् अप्रा॑युषे दिवा॑तरात् ।
आदस्यायुर्ग्रभ॑णवद् वीळु शर्म न सूनवे॑ ।
भक्तमभ॑क्तमवो व्यन्तो॑ अजरा॑ अग्नयो
व्यन्तो॑ अजराः ॥ (ऋ० १।१२७।५)

इसी प्रकार ऋषि परुच्छेप दैवोदासि के दृष्ट सूक्तों (ऋ० १।१२७-१३९) में सर्वत्र इसी प्रकार अनुप्रास का प्रयोग है। उनमें पुनः पदोंका प्रयोग बिना मतलब है, अतः वेदमन्त्र अनर्थक हैं।

आक्षेप–समाधान ।

१६. अत्र ब्रूमो अर्थवन्तः स्युः पदसङ्घा भवन्ति ते।
तदुक्तमृषिणेत्याह लिङ्गाच्च विनियुज्यते ॥

कुत्स के कहे आक्षेपों के समाधान में कहते हैं—

वेदमन्त्र सब अर्थवाले हैं, वे भी पदों के समूह हैं, अर्थात् वाक्य में अपना अभिप्राय बतलाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्थान स्थान पर कहा है—

"तदुक्तमृषिणा" अर्थात् वेदने यह कहा है। 'लिङ्ग' अर्थात् अभिप्रायसूचक विशेष पद को देखकर ही वेदमन्त्रों का कर्मकाण्ड में विनियोग किया जाता है।

[तदेतद् ऋचाभ्युदितम् । मानस्तेनेभ्यो० ॥
(ऋ० २।२३।१६) (शांखायनारण्यक अ० ७।१४)
तदप्येतद् ऋषिराह- 'दीर्घतमा मामतेयो०'
(ऋ० १।१५७।६) इत्यादि]

१७. उपादाय तथा मन्त्रान् व्याचष्टे ब्राह्मणं क्वचित्।
ऋग् यजुर्वाभि वदति समृद्धं तदुवाच च ॥

ब्राह्मणग्रन्थ भी मन्त्रों को रखकर उनकी व्याख्या करता है। जिस कर्मका उपदेश ऋग्वेद वा यजुर्वेद करता है, उस कर्म को ब्राह्मण समृद्ध, सम्पन्न, बहुत फलदायक बतलाता है।

[जैसे—
तदप्येतद् ऋचोक्तम् 'चत्वारि शृङ्गा०'।
चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः ॥
इत्यादि (गोपथ० १।२।१६) पूर्व लिख आये हैं ॥]

१८. नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।
वृद्धसेवाभियोगाभ्यामर्थो ज्ञेयः प्रयत्नतः ॥

लकड़ी के ठूंठका यह अपराध नहीं कि अन्धा व्यक्ति उसको नहीं देखता और उसे ठोकर खा जाता है। अर्थात् यह अपराध वेदमन्त्रोंका नहीं है कि उनका अर्थ विदित नहीं होता। वृद्धों (ज्ञानवृद्धों) की सेवा शुश्रूषा और 'अभियोग' अर्थात् वेदमन्त्रों की परस्पर तुलनापूर्व आलोचन-पर्यालोचनसे प्रयत्नपूर्वक वेदमन्त्रों के अर्थ जानने चाहिये।

१९. दुर्ज्ञानानि ब्राह्मणानि सन्ति कानिचिदित्यतः ।
नानर्थकानि सर्वाणि तद्वन्मन्त्राश्च सार्थकाः ॥

ब्राह्मण वचन भी अनेक दुर्बोध हैं, वे सब अनर्थक नहीं हैं, उसी प्रकार वेदमन्त्र भी सार्थक हैं।

२०. प्रशंसार्थमुपादानं वैशद्यार्थं तथैव च ।
उरु प्रथस्वेत्यादीनां मन्त्राणां ब्राह्मणैः कृतम् ॥

ब्राह्मणोंने कर्मकाण्डके प्रयोग की प्रशंसा और विशदता बतलाने के लिये "उरु प्रथस्व" इत्यादि मन्त्रोंका ग्रहण किया है ।

२१. लोकेऽप्युपेक्षा भवति महत्यल्पस्य तद् यथा ।
चतुर्दश सहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः ॥
२२. इति ब्रुवाणो वदति सहस्राणि चतुर्दश ।
ऋच्येतस्यामुपेक्षैवं मेषस्यैकस्य युज्यते ॥

लोकमें भी अधिक के साथ तुच्छ वस्तुकी उपेक्षा होती है । जैसे प्रथम कोई १४०१४ राक्षस कहकर फिर केवल १४ हजार ही कह देता है । इसी प्रकार उस ऋचामें भी १०१ मेषों को बतलाकर फिर अन्यत्र १०० मेष ही कह दिये हैं ।

[**शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानम्०**
(ऋ० १।११६।१६)

इस मन्त्रके भाष्यमें स्कन्दस्वामी लिखते हैं-

एकं चेति वाक्यशेषः । कुत एतत् "ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्" (ऋ० १।११७।१८) इति मंत्रान्तरे दर्शनात् ॥

अर्थात्- "शतं मेषान्०" इत्यादि मन्त्रोंमें 'एक' को छोड दिया है, क्योंकि दूसरे मन्त्रमें 'शतमेकं' च १०१ कहा है ।]

२३. रुद्रस्यैकस्य विप्रुषः सहस्राणि सहस्रशः ।
रुद्राः शतपथेनोक्ता विरोधो नास्ति तत्र च ॥

शतपथब्राह्मणने कहा है कि, एकही रुद्रके बिन्दु से हजारहा रुद्र उत्पन्न होते हैं । इस प्रकारसे वहां (वेदमन्त्र में) भी विरोध नहीं है ।

२४. अशत्रुत्वं तथेन्द्रस्य सर्वशत्रुनिबर्हणात् ।
स्तुतिर्मायेत्सा त इति न त्वसत्यस्य कीर्तनम् ॥

इसी प्रकार इन्द्रको अशत्रु-शत्रुरहित कहा गया है कि वह समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ है । उसके शत्रु रहकर भी नहीं के समान हैं । "मायेत्सा ते०" इत्यादि इन्द्रकी स्तुति मात्र है, उसके कार्यों को असत्य कहना वेदमन्त्रका अभिप्राय नहीं है ।

२५. अग्निर्हवींषि वहति यजमानेषु केषुचित् ।
तपःश्रद्धाविहीनेषु येषु नायान्ति देवताः ।
२६. श्रद्धातपःसमृद्धेषु यजमानेषु देवताः ।
आहूयानीय यजति गुणवद् याजकेषु च ॥

तप और श्रद्धासे रहित किन्हीं यजमानों के यज्ञ करने पर अग्नि हविका वहन तो करता है, परन्तु देवतागण नहीं आते हैं । और जब यज्ञ करनेवाले श्रद्धा और तपसे समान होते हैं, तब देवताओंको बुलाकर यज्ञ करता है और यज्ञ करानेवाले भी गुणवान्, श्रेष्ठ होते हैं, तब अग्नि हविको देवताओंतक पहुंचाता है और देवता भी आते हैं ।

२७. सर्वत्रावाहनं कार्यमपरैः श्रेयसामिह ।
आगच्छन्तु न वा देवास्तथा लोके च दृश्यते ॥

श्रेष्ठ देवताओंका आवाहन समस्त यज्ञों में करनाही चाहिये, चाहे देवगण आवें या न आवें । लोकमें ऐसाही धार्मिक कर्मकाण्ड में देखा जाता है ।

२८. अहिंसाम्नायवचनाद् यूपच्छेदे प्रतीयते ।
अहिंसावचनं चैतदध्वर्योर्निह्नवात्मकम् ॥

'आम्नाय' अर्थात् वेदके वचन से यूपकाष्ठके छेदनके कार्यमें अहिंसा प्रतीत होती है । अध्वर्यु इस प्रकार "मैनँ हिँसीः" वचन का बोलना भी अहिंसा वचन है, अर्थात् वह हिंसा न करनेकी ही प्रेरणा करता है ।

२९. छन्दसोऽनुविधानाय लौकिकाश्च प्रयुञ्जते ।
नापेक्षितं क्वचिच्छन्दस्यधिकं च प्रयुञ्जते ॥

छन्दके ठीक ठीक बनानेके लिये लौकिक कवि भी कहीं कहीं अपेक्षित (आवश्यक) पद का भी प्रयोग नहीं करते । और कहीं अधिक पदका भी प्रयोग कर देते हैं ।

३०. तस्मान्मन्त्राः सामवर्जमर्थवन्त इति स्थितिः ।
गीतिर्नार्थवती लोके तथा साम निरर्थकम् ॥

इसलिये सामगान को छोडकर मन्त्र सब अर्थवाले हैं । लोकमें भी गीति (गायन के योग्य पद) तो अर्थवाली होती है और साम (स्वर-सप्तक का आलाप आदि गायन) अर्थशून्य होता है ।

सार्थक-अनर्थक वादपर निरुक्त-यास्क ।

[इस अध्याय में माधवभट्टने वेदमन्त्रोंके सार्थक-निरर्थक होनेका निर्णय किया है । ऐसा प्रवाद पूर्वकालसे ही चला आया है । यास्काचार्यने भी निघण्टु-भाष्य निरुक्त में इस (१।१५-१६) वादको उठाया है, जैसे—

कौत्सके आक्षेप ।

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय अनर्थकं भवतीति कौत्सः ।
अनर्थका हि मन्त्राः तदेतेन उपेक्षितव्यम् ॥

यदि निघण्टु निरुक्तशास्त्र मन्त्रोंके अर्थज्ञान के लिये है, तो कौत्सका मत है कि यह शास्त्रोपदेशका प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं, इससे निरुक्तशास्त्रकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ।

मन्त्र अनर्थक हैं, क्योंकि—

१. नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवंति ।

मन्त्रोंका स्वरूप एक नियत प्रकारसे ही है और उनमें पदोंका क्रम भी नियत ही है, जैसे—

अग्न आयाहि वीतये ॥ (सामवेद १।१।१।१)

इसको अन्य पर्यायशब्दों में नहीं कह सकते, जैसे—

विभावसो आगच्छ पानाय ।

इसका क्रम भी नहीं बदल सकते जैसे– "आयाहि अग्ने वीतये" लौकिक वाक्योंको पर्यायसे कह सकते हैं, अर्थात् उन वाचोयुक्ति-वचनोंका प्रयोग अनियत है, जैसे–

पात्रम् आहर देवदत्त-अमत्रम् आनय देवदत्त ।

क्रम भी अनियत है जैसे– "देवदत्त आहर पात्रम्"

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते ।
उरु प्रथस्वेति प्रथयति प्रोहाणीति प्रोहति ॥

मन्त्र स्वयं रूपसम्पन्न होकर भी उनका ब्राह्मण-ग्रन्थ-द्वारा विशेष कर्ममें प्रयोग बतलाया जाता है । यदि मन्त्र सार्थक होते, तो वे स्वरूपतः ही अपना प्रयोग कहते, जैसे–

उरु प्रथा उरुप्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् ।
(यजुर्वेद १।२२)

इस यजुर्मन्त्र का प्रयोग पुरोडाशके फैलाने में किया गया है । इसी प्रकार अन्यत्र शाखामें–

"इदमहमात्मानमेव प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय । इति प्रोहति ॥"

"इदम्०" इत्यादि वाक्य बोलकर द्रोण कलशको आगे सरकाता है ।

(३) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति । ओषधे त्रायस्वैनम् । स्वधिते मैनं हिंसीः इत्याह हिंसन् ॥

इस कारण से भी मन्त्र अनर्थक हैं, क्योंकि मन्त्रोंका अर्थ उपपन्न कर्मयोग के अनुसार नहीं उतरता । मारते हुए भी मन्त्र कहता है । (ओषधे०) हे ओषधि तू इसे बचा । (स्वधिते०) हे कुठार वा तलवार, तू इसे मत मार ।

लोकमें भी ऐसे विरुद्ध बात कहनेवाले को पागल कहते हैं ।

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति । एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ॥ अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे ॥ शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ इति ॥

वेदमन्त्र विपरीत अर्थवाले होते हैं, जैसे 'एक एव रुद्रो०' में एक रुद्र कहा, 'असंख्याता०'में असंख्य कहे हैं । 'अशत्रु०' में इन्द्र को शत्रुरहित कहा है, और 'शत०' में इन्द्रके सैकड़ों शत्रु प्रतीत होते हैं ।

(५) अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यत्यग्नये समिध्यमानायाऽनुब्रूहि इति ।

और इस कारण भी वेदमन्त्र अनर्थक हैं, क्योंकि जानते बूझते को वेदमन्त्रसे प्रेरित करते हैं–

अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि इति ।
(शत० १।३।२।३)

होता तो स्वयं विद्वान् होनेसे सब विधि जानता ही है, फिर उसे जानते बूझतेको भी कहा जाता है, दीप्त हुई अग्नि को लक्ष्य करके मन्त्र पाठ करो । यह अनर्थक, व्यर्थ है ।

(६) अथाप्याह–'अदितिः सर्वम्' इति अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् । इति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥

वेदमें एक स्थानपर 'अदितिः सर्वम्' अदिति सब कुछ है । दूसरे स्थानपर 'अदितिर्द्यौः०' द्यौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है । इत्यादि बेमेल वचन होनेसे मन्त्र अनर्थक हैं ।

(७) अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति-अम्यग्-याद्दश्मिन्-जारयायि काणुकेति ॥

वेदमन्त्रोंमें ऐसे अनेक पद हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं हैं। जैसे- अम्यक्। याद्दश्मिन्। जारयायि। काणुका।

[१] अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे० (ऋ० १।१६९।३)

[२] याद्दश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्० (ऋ० ५।४४।८)

[३] उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः ॥ (ऋ० ६।१२।४)

[४] इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ (ऋ० ८।७७।४)

ये ७ प्रकारके कुत्स के आक्षेप हैं। अब इनका समाधान करते हैं। अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

वेदमन्त्र अर्थवान् है, क्योंकि उनके शब्द भी अर्थवाले वाक्योंके समान हैं। आक्षेपोंके समाधान भी इस प्रकार हैं-

आक्षेप-समाधान।

१. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाभि वदतीति च ब्राह्मणम् ॥ क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति ॥ (ऋ० १०।८५।४६)

यही यज्ञकी सम्पदा है, वह रूपसम्पन्न है, अर्थात् जो कर्म किया जा रहा हो, उसे ऋग्वेद वा यजुर्वेद भी उपदेश करे। ऐसा ब्राह्मणवचन है। जैसे विवाहकाल में वेदमंत्र कहा जाता है-

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥
(ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात् इसी गृहमें रहो, वियुक्त मत होवो, पूर्ण आयु का भोग करो, अपने गृहमें पुत्रों, नातियों सहित खेलते और प्रसन्न होते हुए रहो ॥

इस प्रकार ब्राह्मण मन्त्रों को सार्थक जानकर ही कहता है कि 'ऋग्वेद वा यजुर्वेद उपदेश करता है।' यदि वे अनर्थक होते, तो वह कर्मका उपदेश कैसे करते?

२. यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद् यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति ॥

यह आक्षेप कि वेदकी वाक्ययोजना नियत होती है, और पदोंका क्रम भी नियत होता है, यह कोई युक्ति वेदमन्त्रोंके अनर्थक होनेमें ठीक नहीं। क्योंकि लौकिक वाक्यों में भी ऐसा होता है जैसे- इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ।

३. यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति। उदितानुवाद स भवति।

यह युक्ति कि ब्राह्मण वेदमन्त्रों को रूपसम्पन्न करते हैं, इसलिये वेदमंत्र अनर्थक हैं, स्वयं वेदमन्त्रों का अपना कोई नियत आशय नहीं, ब्राह्मणोक्त योजनासेही उनका अभिप्राय बनता है, यह ठीक नहीं। क्योंकि यह तो उदित अर्थात् मन्त्रोक्त बात का ही अनुवाद है, अर्थात् मन्त्रके आशय को ही ब्राह्मणवचन रूपान्तरसे बतलाता है।

४. यथो एतदनुपपन्नार्था भवंतीति आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ॥

'ओषधे त्रायस्व' इत्यादि में अभिप्राय उपपन्न नहीं होता है, इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं, यह युक्ति भी ठीक नहीं, क्योंकि आम्नाय अर्थात् वेदके वचनसे यूपस्तम्भ के छेदनमें अहिंसा प्रतीत होती है।

५. यथो एतत् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतद् यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति ॥

'एक रुद्र, सहस्र रुद्र' इत्यादि जो विरुद्ध अर्थवाले होने से वेदमन्त्रों को अनर्थक कहा, सोभी ठीक नहीं, क्योंकि लौकिक वाक्योंमें भी ऐसेही कहते हैं जैसे- 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः०' यह ब्राह्मण अजातशत्रु है, यह राजा शत्रुरहित है। इसका अभिप्राय यही होता है कि वह सर्वलोकप्रिय है वा अति बलवान् होनेसे उसके मुकाबलेपर कोई नहीं है। वह अद्वितीय है। और उसके विरोधी बहुत अल्प नहीं के तुल्य हैं। अथवा—

वेदोंमें जो इन्द्र के साथ युद्ध आदि का वर्णन है, वह रूपक है, आलंकारिक रूप से वर्णन किया गया है। जैसा यास्कने अन्यत्र लिखा है-

अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ॥
(नि० २।५)

जलों के घटक सूक्ष्म परमाणु (आपः) ओं और 'ज्योति' विद्युत् का परस्पर संयोग होनेसे वृष्टि होती है, वहां उपमारूप से युद्ध के वर्णन होते हैं। उनको न समझकर के वेदपर दोष देने लगते हैं।

६. यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभि- वादयते जानते मधुपर्कं प्राहेति ॥

जानते बूझते को प्रेरित करनेकी युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोकमें भी जानते हुए को अभिवादन, नमस्कार करते हैं, जानते हुएको ही आदर से मधुपर्क आदि देकर उसे लेनेकी प्रार्थना करते हैं। जब लोक में वे वाक्य अनर्थक नहीं, तो वे वेदवाक्य क्यों अनर्थक हैं?

७. यथो एतददितिः सर्वम् इति लौकिकेष्वप्येतद्। यथा सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयम् इति।

'अदितिः सर्वम्०' अदिति सब कुछ है। इत्यादि युक्ति भी ठीक नहीं है, लोकमें भी कहते हैं, "सब रस जलमें आ गये हैं," इस प्रकार गौण प्रयोग हुआ करते हैं। इस से वाक्य अनर्थक नहीं हो जाते। लोकमें भी माता, पिता, आदि भिन्न होनेपर गौण वृत्तिसे उपकारक प्रभु को कहते हैं-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ...
त्वमेव सर्वं मम देवदेव। इत्यादि।

८. यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणो- रपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

वेदके पदोंके अर्थ स्पष्ट नहीं होते, इसलिये मन्त्र अनर्थक हैं, यह युक्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह खूंटे या ठूंठ का अपराध नहीं है कि अन्धा उसे नहीं देखता और आकर उससे टकराता और चोंट खाता है, यह उस पुरुष का दोष है। इसी प्रकार पदोंका अर्थ स्पष्ट न होना, यह वेदके पदों या मन्त्रोंका दोष नहीं है, प्रत्युत अज्ञानी व्यक्ति का दोष है कि वह उन पदोंका अभिप्राय नहीं समझता।

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति॥ (निरुक्त० १।१६)

जिस प्रकार अनेक लौकिक कार्यों में भी विद्याके कारण ही पुरुष विशेष आदर प्राप्त करता है, इसी प्रकार मन्त्रार्थ ज्ञान-प्रवचन में भी विद्यासे ही कौशल प्राप्त होता है। इसी प्रकार गुरुपरम्परा वेदविद्या को प्राप्त करनेवालों में भी अनेक विद्याओं का अध्ययन श्रवण करनेवाला बहुश्रुत विद्वान् ही प्रशंसा को प्राप्त करता है।

॥ इति पंचमोऽध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः।

उभा उ नूनं तदिति व्याचिख्यासति माधवः।
ब्राह्मणोक्तेषु चार्थेषु वक्तव्यं सम्प्रदर्शयन् ॥

'उभा उ नूनं तद्०' (अष्टक० ८, अ० ६; मण्डल १०, सू० १०६) इत्यादि अध्यायकी व्याख्या करनेके पूर्व ब्राह्मण में कहे अर्थोंके सम्बन्धमें माधव अपना प्रवचन करते हैं।

१. मन्त्राणां विनियुक्तानां ब्राह्मणानीह कानिचित्।
तात्पर्येण वदन्त्यर्थास्ते तदर्थास्तथैव नः॥

यज्ञकर्म में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों को भी तात्पर्य- रूपसे कुछ एक ब्राह्मण बतलाते हैं, उन मन्त्रों के वे ही अर्थ हम (माधवभट्ट) ने किये हैं।

२. अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो
दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः।
अयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतो
विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने॥

३. अग्न आयूंषि पवसे शतं वो अम्ब धामानि।
उप प्रयन्तो अध्वरं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः॥

४. ऋचामासां ब्राह्मणेषु विस्पष्टोऽर्थः प्रकीर्तितः।
ऋग्भाष्येष्वेव सर्वत्र लिखितं ब्राह्मणं मया॥

[२] अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो० ।

(ऋ० ३।८।१)

[२] दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः० ।

(ऋ० १०।४५।१)

[३] त्र्यः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतः०।
(ऋ० ७।३३।७)

[४] विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने०। (ऋ० २।९।३)

[५] अग्न आयूंषि पवसे०। (ऋ० ९।६६।१९)

[६] शतं वो अम्ब धामानि०। (ऋ० १०।९७।२)

[७] उपप्रयन्तो अध्वरं०। (ऋ० १।७४।१)

[८] तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो०। (ऋ० ६।१६।११)

इन ऋचाओं का स्पष्ट अर्थ ब्राह्मणों में किया है। मैंने (माधवभट्टने) इन ऋचाओं के भाष्यों में सर्वत्र ब्राह्मणका उल्लेख किया है।

५. क्रियाकारकसम्बन्धमनाश्रित्याथ कानिचित्।
स्तुवन्ति प्रकृतान् मंत्राञ्छ्रुतिसामान्यमात्रतः॥

६. ब्राह्मणान्यनुधावन्ति तानि कर्मपरा नराः।
ऋगर्थमनुधावंति क्रियाकारकतत्पराः॥

कुछ ब्राह्मण क्रियाकारकसम्बन्ध को विचार न करके ही प्रकरण में आये मन्त्रों का श्रुतिसमानता होने से वर्णन करते हैं। यज्ञकर्म करनेवाले विद्वान् उन ब्राह्मणोंका आशय लेते हैं। परन्तु क्रियाकारक विचार करनेवाले विद्वान् ऋचा के अर्थ का विचार करते हैं।

अत्र ब्राह्मणं।
विश्वो देवस्य नेतुरित्याह सावित्रं तेन मर्त्तो वुरीत सख्यम् इत्याह पितृदेवत्यं तेन विश्वो राय इषुध्यतीत्याह वैश्वदेव्यं तेन द्युम्नं वृणीत पुष्यस इत्याह पौष्णं तेन वा एषर्क् सर्वदेवत्या यदेतयर्चा दीक्षयति सर्वाभिरेवैनान् देवताभिदीक्षयति। इति॥
तथाश्वमेधे श्रूयते।
युञ्जंति ब्रध्नमित्याह असौ वा आदित्यो ब्रध्नः इत्यादिकमध्वर्युभ्यः श्रोतव्यम्। इति॥

इस सम्बन्धमें ब्राह्मणवचन है। 'विश्वो देवस्य नेतु०' यह मन्त्रांश कह करके सवितादेवताक कर्म में दीक्षित करता है। 'मर्तो वुरीत सख्यम्०' इस मन्त्रांश को कहकर पितृदेवताक कर्म में, 'विश्वो राय इषुध्यति०' इस मन्त्रांशको कहकर विश्वेदेव देवताक कर्ममें और 'द्युम्नं वृणीत पुष्यसे' इससे वह पूषादेवताक कर्म दीक्षित करता है। इससे यह ऋचा सर्वदेवताक है, जो इस ऋचा से दीक्षा देता है वह उनको सर्व देवताओं से दीक्षा दिलाता है।

उसी प्रकार अश्वमेधप्रकरण में ब्राह्मणवाक्य है- (युञ्जंति) युञ्जंति ब्रध्नम्' ऐसा वेदमन्त्र कहता है। वह आदित्य ब्रह्म है। इत्यादि अध्वर्युओं (यजुर्वेदीय विद्वानों) से इस ब्राह्मण का श्रवन करना चाहिए।

७. ऋचः सर्वाः पावमान्यः श्रुतिसामान्यमात्रतः।
संस्कृतः शाट्यायनके बह्वयश्चाध्वर्युभिः स्तुताः॥

समस्त पावमानी ऋचाएं श्रुति सामान्यमात्रसे शाट्यायन ब्राह्मण में दर्शाई हैं। और यजुर्वेदीय अध्वर्युओं ने भी कही हैं।

८. तथाऽन्यार्था ऋचः काश्चित्प्रस्तुते नमयंति च।
इंद्रो दधीचो अस्थभिरिति तत्र निदर्शनम्॥

इसी प्रकार भिन्न अर्थवाली ऋचाओं को भी प्रकरण में झुका लेते हैं, जैसे--

इन्द्रो दधीचो अस्थभिः०। (ऋ० १।८४।१३)

अत्र ब्राह्मणम्।
प्रजापतिर्वा अथर्वा अग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणः। तस्येष्टका अस्थानि एतं ह वाव तद् ऋषिरभ्यनुवाच। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः। इति। इष्टकाभिरग्निं चिनोति। सात्मानमेवाग्निं चिनुते। अथास्यामुष्मिंल्लोके भवति य एवं चिनोति इति॥

इस सम्बन्ध में ब्राह्मणवचन है--

(प्रजापति०) प्रजापति ही अथर्वा है, अग्नि ही दध्यङ् आथर्वण है। उसकी इष्टकाएं अस्थि हैं, इसीको वेद कहता है, 'इन्द्रो दधीचो०' इत्यादि। इष्टकाओं से अग्निका कथन होता है, वह आत्मा का ही अग्निरूपसे चयन करता है। जो इस प्रकार चयन करता है, परलोक में उसका उसी प्रकार होता है।

९. प्रजापतिरथर्वासीदग्निर्दध्यङ्ङजायत।
इष्टकाश्च निदानेन तस्यास्थान्यभवन्निति॥

उक्त ऋचामें प्रजापति अथर्वा था, अग्नि दध्यङ् हुआ। निदानसे इष्टकाएं उसकी अस्थियां हैं।

१०. अन्यार्थोऽप्यविरुद्धश्चेदिष्टेऽर्थे विनियुज्यते ।
सर्वे नन्दन्ति यशसा स्याद् ऋक् तत्र निदर्शनम् ॥

यदि भिन्न अर्थ भी विरुद्ध न हो, तो अभिलषित अर्थमें उसका विनियोग किया जाता है जैसे--

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन । (ऋ० १०।७१।१०)

११. बृहस्पतिस्तु सामान्यादस्तौद् विद्वांसमेतया ।
ब्राह्मणे विनियुक्तैषा सोमे विदुषि राजनि ॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेनेत्याह यशो वै सोमो राजा इत्यादि ब्राह्मणम् ॥
(ऐ० ब्रा० १।१३।७)

बृहस्पति आंगिरस ने इस ऋचासे सामान्य रूप में विद्वान् की स्तुति (प्रशंसा, वर्णन) की है । ब्राह्मण में इस ऋचा का सोम विद्वान् राजा के लिये विनियोग किया है । जैसा ब्राह्मण का वचन है, (सर्वे नन्दन्ति०) यहां 'यशः'का अभिप्राय सोम राजा है ।

१२. त्रैशोकेन तृचेनास्तौद् ऐन्द्रेण प्रतिसत्त्रिणः ।
ऋषिरन्य इध्मवाह आ घा ये अग्निमिन्धते ॥

शाट्यायनकम् ।

ऋषयो वै स्पर्धयन्त इध्मवाहं समिद्धारं परेतमरण्य एकमजहुः सोऽकामयत अनुपतेयं स्वर्गं लोकम् प्रतिसत्त्रिणो संगच्छेयम् । इति । स ऐक्षत हन्त प्रतिसत्त्रिणः एवं स्तवानि इत्यादि ॥

त्रिशोक काण्व दृष्ट इन्द्र देवतावाले तीन ऋचाओं में दूसरे एक ऋषि इध्मवाहने भी प्रतिसत्रियों की स्तुति की है । जैसे शाट्यायन ब्राह्मण का वचन है ।

(ऋषयो वै०) ऋषियोंने स्पर्धा करके अग्निको प्रज्वलित करनेवाले दूर गए इध्मवाह को अकेले जंगल में ही छोड दिया । उसने चाहा कि मैं स्वर्गलोक जाऊं, प्रतिद्वन्द्वि सत्रियोंको प्राप्त करूं । उसने देखा कि चलो और प्रतिसत्रियोंको इस प्रकार स्तुति करूं । इत्यादि ।

१३. अनुरूपं प्रकर्षेण सत्योऽर्थ इति निर्णयः ।
दर्शनादेव जानीमो रत्नवद् ब्राह्मणान्यपि ॥

उत्तमतासे अनुरूप को ही हम सत्य अर्थ करके जान सकते हैं । हम ब्राह्मण के वचनों को भी रत्नके समान ही परीक्षा करके परख सकते हैं ।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

तदिदास भुवनेषु व्याचिख्यासति माधवः ।
ऋगर्थमवगन्तव्यम् आदितः सम्प्रदर्शयन् ॥

मन्त्रोंके अर्थज्ञान की आवश्यकता ।

तदिदास भुवनेषु० (ऋ० अष्टक ८, अ०७; मं० १० सू० १२०) व्याख्या करने के पूर्व माधवभट्ट बतलाते हैं कि सबसे प्रथम ऋचा का अर्थ समझना चाहिये ।

१. सूत्रकारैरनुक्तत्वात् केचिन्मन्त्रार्थवादयोः ।
न ज्ञातव्योऽर्थ इत्याहुर्ज्ञातव्यश्चेद् वदन्ति ते ॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि मन्त्रों और अर्थवादों का अर्थ चाहे जाननेयोग्य भी हो, तो भी उसे जानना न चाहिए, क्योंकि सूत्रकारोंने उसका अर्थ स्वयं नहीं कहा ।

२. अत्र ब्रूमो लोकसिद्धः पदार्थोऽन्वय एव च ।
प्रमितस्य तथार्थस्य क्रमः सूत्रैः प्रदर्श्यते ॥

इस सम्बन्ध में हम कहते हैं कि मन्त्र आदि का पदार्थ और अन्वय भी लोक में प्रसिद्ध है । और अर्थ के भली प्रकार विदित होनेपर ही सूत्रकारोंने क्रम बतलाया है ।

३. अर्थवादेष्वपि ननु विरोधोऽस्ति परस्परम् ।
समाधेयो बुद्धिमद्भिः सूत्रकृद्भिरुपेक्षितः ॥

४. वदन्ति तत्र कवयः कर्तव्यांशपरा इमे ।
कल्पसूत्रकृतः सर्वे न तु ज्ञातव्यतत्पराः ॥

(शंका)— अर्थवादों में भी तो परस्परविरोध है । इसकी सूत्रकारोंने उपेक्षा की है । इसका समाधान विद्वानों को करना चाहिये । इस सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि सब कल्पसूत्रकार कर्तव्य-अंशमात्र को बतलाते हैं; वे ज्ञातव्य अर्थ को नहीं बतलाते ।

५. ऋषिछन्दोदैवतानि ज्ञातव्यान्येव वैदिकैः ।
कल्पसूत्रैरनुक्तानि तथा मन्त्रार्थवादयोः ॥

(समाधान) कल्पसूत्रोंने मन्त्र और अर्थवादोंके ऋषि, छन्द और देवता नहीं कहे हैं, तो भी वैदिकोंको उनका ज्ञान करना आवश्यक ही है। इसी प्रकार सूत्रकारोंने अर्थ नहीं किया, तो भी मन्त्र अर्थवादोंका अर्थज्ञान आवश्यक ही है।

६. वेदार्थमवगन्तव्यम् ऋषिराह बृहस्पतिः ।
अविशेषेण सूक्तेन सूक्तं तच्च बृहस्पते ॥

बृहस्पति ऋषि सामान्य सूक्त से उपदेश करते हैं कि वेदोंका अर्थ अवश्य जानना चाहिये, वह सूक्त इस प्रकार है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ॥ इत्यादि (ऋ० म०१०, सू० ७१)

[इस सूक्त में विद्वान् की प्रशंसा और मूर्ख की निन्दा की है जैसे—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं
उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० १०।७१।४)

वाणी को एक देखता हुआ भी नहीं देखता और एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता। एकके आगे यह वाणी अपना देह ऐसे खोल देती है, जैसे कामनावाली, सुन्दर वस्त्रोंसे बनीठनी स्त्री अपने पति के आगे अपने को प्रकट कर देती है। पूर्व अर्ध मन्त्रमें मूर्ख की निन्दा है, दूसरे अर्ध भागमें विद्वान् की प्रशंसा है। इत्यादि।]

७. अथापि मंत्रो भवति स्थाणुरयं भारहारः ।
यदधीतमविज्ञातं विशेषो नात्र कीर्तितः ॥

और इस प्रसंग में मन्त्र भी है--

[१] स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

[२] यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

(१) वह केवल भार उठानेवाला ठूठ (वृक्ष) है, जो वेद पढकर भी उसका अर्थ नहीं जानता। जो अर्थ जाननेहारा होता है, वहही समस्त कल्याणको प्राप्त होता है, वह ज्ञान से अपना समस्त पाप दूर करके सुख को प्राप्त होता है।

(२) जिसको विना जाने केवल कण्ठमात्र कर लिया जाता है, वह केवल मूलमात्र पाठ किया जा सकता है। जैसे सूखा काठ बिना अग्निके प्रज्वलित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थ जाने मूलमात्र मन्त्रपाठज्ञानका प्रकाश नहीं करता।

[ये दोनों मन्त्र किस वेदशाखा के हैं, ज्ञात नहीं है। ये दोनों मन्त्र यास्काचार्य ने निरुक्त (अ० १ खं० १८-२०) में उद्धृत किये हैं। और सर्वत्र ही स्वरचिह्नोंसे अंकित हैं। सम्भव है कि किसी वेदशाखा के ये मंत्र हों।]

८. मन्त्रार्थवादैरपि च स्मार्ता धर्माः प्रकल्पिताः।
तस्मान्मन्त्रार्थवादार्थो ज्ञातव्योऽत्र प्रयत्नतः ॥

मन्त्र और अर्थवादों से स्मार्तधर्म अच्छी प्रकार सुशोभित हैं--

इसलिये मन्त्रों और अर्थवादों के अर्थों का ज्ञान यत्नपूर्वक करना चाहिये।

अत्र ब्राह्मणम् ।

मनुष्या ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् । को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एव तर्कमृषिं प्रायच्छन् । ते मन्त्रार्थचिंताभ्यूहमभ्यौहन् । तस्माद् यदेव किञ्चानुचानोऽभ्यूहत्यार्षं तत्तद् भवति इति ॥

इस सम्बन्ध में ब्राह्मणवाक्य है कि—

ऋषियों के उत्क्रमण कर (स्वर्ग चले) जाने पर मनुष्यों ने देवों से कहा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? उनको तर्क ऋषि प्रदान किया। उन्होंने मन्त्रार्थचिन्ताको विविध तर्कपूर्वक विचार किया। इसलिये जब भी अनूचान (प्रवचनसमर्थ) विद्वान् विशेष तर्कपूर्वक विचार करता है, वह 'आर्ष' होता है।

[यास्क ऋषिने यह ब्राह्मणवचन (अ० १३, खं० १२) उद्धृत किया है। इस में कुछ पाठभेद है। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् । मंत्रार्थचिंताभ्यूहमभ्यूढम् । तस्माद् यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥

इसके भाष्य में स्कन्दस्वामी लिखते हैं—

तर्कमूहमात्रम् उद्देशभूतग्रंथात्मकं विद्यास्थानम् ।

अर्थात् 'तर्क' ऋषि प्रदान किया, इसका अभिप्राय है कि देवोंने ऊहमात्र उद्देशभूतग्रन्थरूप विद्यास्थान अर्थात् तर्कशास्त्र प्रदान किया ।]

९. अपि च ब्राह्मणानीह मंत्रान् ऋग्भाष्यकारवत् ।
उपादाय वदन्त्यर्थान् ज्ञानमेव प्रयोजनम् ॥

१०. तथा चेह निरुक्तानि मंत्रान् व्याचक्षते स्फुटम् ।
स्वायम्भुवो मनुश्चाह निघण्टूनामवेक्षणम् ॥

११. बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

और ब्राह्मणग्रन्थ भी ऋग्वेद के भाष्यकारों के समान मन्त्रों को ले लेकर अर्थोंका उपदेश करते हैं, उनका भी प्रयोजन अर्थज्ञान ही है । उसी प्रकार निरुक्त भी मन्त्रों की स्पष्ट व्याख्या करते हैं । स्वायंभुव मनुने भी निघण्टुओं का अनुशीलन करने का उपदेश किया है । (बुद्धिवृद्धिकराणि० । मनु० ५।१९) अर्थात् बुद्धिके बढानेवाले, धन उत्पन्न करानेवाले और हितकारी शास्त्रों तथा वैदिक निगमों (निगम नामक ग्रन्थों) को देखा करें ।

["निगमान्-निगमाख्यांश्च ग्रंथान्" कुल्लूकभट्ट । माधवभट्ट की संमति में 'निगमग्रन्थ' निघण्टुग्रन्थ हैं । जैसे यास्क का वचन है—

निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवंति छंदोभ्य समाहृत्य आहृत्य समाम्नाताः निगंतव एव संतो निगमनान्निघण्टव उच्यंते इत्यौपमन्यवः ॥

यास्क के वचन से प्रतीत होता है कि निघण्टु 'निगम' ग्रन्थ उससे भी पूर्व विद्वानों को अभिमत था । वही मनु को भी अभिमत है ।]

१२. ऋषिछंदोदैवतज्ञो मंत्रब्राह्मणवित्तथा ।
संकल्पाधीतैकवेदः कर्म कर्तुमिहार्हति ॥

१३. वेदावन्यौ च विज्ञेयौ याज्ञिकेभ्यः समासतः ।
आजिहीर्षति यत्कर्म तस्य यौ प्रतिपादकौ ॥

ऋषि, छन्द, देवताओं का वेत्ता, मंत्र और ब्राह्मणों का विद्वान् जिसने कल्पसहित एक वेदका अध्ययन किया है, वह वैदिक सम्प्रदायमें कर्म करनेमें समर्थ होता है । याज्ञिकों से संक्षेप में अन्य दो वेदों का भी ज्ञान करना चाहिये । वे दोनों वेद भी उस तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, जिसको कर्म (यज्ञ) अपेक्षा करता है ।

१४. मंत्रार्थवादसौक्ष्म्यज्ञः सर्ववेदज्ञ एव च ।
तत्तज्ज्ञानानुगुण्येन फलाधिक्येन युज्यते ॥

मन्त्रों और अर्थवादों की सूक्ष्मताओं को जाननेवाला और समस्त वेदों का जाननेवाला उन उन के ज्ञान के अनुसार अधिकाधिक फल का भागी होता है ।

१५. स्वयं च पुरुषार्थोऽयं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
अङ्गोपाङ्गैः प्रयत्नेन यद्यर्थमवगच्छति ॥

अङ्गों और उपाङ्गोंसे यदि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अर्थज्ञान कर लेता है, तो यह स्वयं भी एक पुरुषार्थ (मनुष्य का, परम उत्तम ध्येय) है और विशेष रूपसे ब्राह्मणका तो यह परम धर्म है ।

[ब्राह्मणस्य निष्कारणोऽयं धर्मो यत् षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्चेति (पातं० महाभाष्य १।१।१)

मनु—

१६. ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञाननिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥
(अ० ३।१३४)

कुछ द्विज ज्ञाननिष्ठ होते हैं, दूसरे तपोनिष्ठ होते हैं, वे तपस्याही में लगे रहते हैं । कुछ स्वाध्याय अर्थात् वेदपाठ और उनके अर्थज्ञान में तत्पर रहते हैं और दूसरे कुछ यज्ञकर्म में संलग्न रहते हैं ।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
(मनु० अ० १२।१००)

वेदों और शास्त्रों का जाननेवाला पुरुष सेनापतिपद और राष्ट्र का पालक पद, दण्डका नायक अर्थात् न्याया-

ध्यक्षका पद और समस्त लोक (जनता) का अधिपति होने-योग्य होता है ।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥
(मनु० अ० १२।१०१)

जिस प्रकार प्रबल आग गीले वृक्षोंको भी जला डालता है, उसी प्रकार वेदोंका विद्वान् आत्माके कर्मज दोषों-पापों को भी भस्म कर डालता है ।

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(मनु० अ० १२।१०२)

वेदों और वेदाङ्गों के तत्त्व का जाननेवाला विद्वान् चाहे जिस किसी आश्रम में भी रहे, वह इस लोकमें ही रहता हुआ ब्रह्मरूपता (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।

[प्रथम पाद में 'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो' पाठ है।]

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रंथिभ्यो धारिणस्तथा।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः ज्ञानिभ्योऽध्यवसायिनः॥
(मनु० १२।१०३)

ज्ञानरहितों से ग्रन्थ रखनेवाले उत्तम होते हैं। ग्रन्थ रखनेवालों से उत्तम ग्रन्थ को कण्ठ में धारण करनेवाले होते हैं । केवल ग्रन्थ याद कर लेनेवालों से श्रेष्ठ ग्रन्थ का तत्त्वज्ञान जाननेवाले होते हैं, और केवल ज्ञान करनेवालों से भी श्रेष्ठ अध्यवसायी अर्थात् तत्त्वज्ञान का निश्चय करनेवाले होते हैं ।

[वर्तमान में 'धारिणो वराः' चतुर्थपादमें 'व्यवसायिनः' पाठ है]

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते ॥
(मनु० अ० १२।१०४)

तप और विद्या विद्वान् ब्राह्मण का परम कल्याण करते हैं । तपसे पाप का नाश करता है और विद्या से वह अमृत (मोक्षफल) प्राप्त करता है ।

['तपसा किल्बिषं हन्ति' वर्तमान में पाठ है।]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

त्वं चिदत्रिमथोऽध्यायं व्याचिख्यासति माधवः ।
वेदार्थस्य पदार्थेभ्यो वैशेष्यं सम्प्रदर्शयन् ॥

'त्वं चिदत्रिम्०' (अ० ८, अ० ८; मं०१०, सू० १४३) इत्यादि अध्याय की व्याख्या करनेके पूर्व माधवभट्ट वेदोक्त पदार्थ की अन्य शास्त्रों से कहे पदार्थों की अपेक्षा विशेषता दर्शाते हैं ।

१. बहुयोजनविस्तीर्णा बहुयोजनमायताः ।
समुद्रमध्ये तिष्ठन्ति द्वीपा ब्राह्मैरधिष्ठिताः ॥
२. धर्मबुद्ध्यानुतिष्ठन्ति ते स्वधर्मान् प्रयत्नतः ।
तदागमानां प्रामाण्यम् आचारात् किन्न लभ्यते॥
३. आप्तप्रणीततामेते यदि वा पौरुषेयताम् ।
वैदिकाः कल्पयन्त्येवं किन्न बाह्येषु कल्प्यते ॥

बहुत योजनों चौडे और बहुत योजनों लम्बे द्वीप समुद्र के बीचमें हैं, जहां वेदधर्म को न माननेवाले रहते हैं । वे भी धर्म के विचार से बडे यत्नपूर्वक अपने अपने धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, तब उनके आगमों (धर्मशास्त्रों) को 'आचार' पूर्वक प्रमाण क्यों न माना जावे ? वैदिक विद्वान् वेद आदि शास्त्रों को आप्तोंद्वारा बनाये वा अपौरुष मानते हैं, तो इसी प्रकार वेदसे बाह्य ग्रन्थोंको भी आप्तोक्त और अपौरुषेय क्यों न माना जाय ?

[श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

मनु के इस प्रमाण से 'सदाचार' भी धर्म का द्योतक होता है । इससे उनके सदाचार को देखकर उनके ग्रन्थों को भी 'प्रमाण' मानना चाहिये । वे भी अपने धर्मग्रन्थोंको अपने पूर्वज नबी या ऋषियोंका बनाया व परमेश्वरसे उतारा मानते हैं। जैसे कुरान, बाइबल आदि]

उच्यते वर्णविभ्रष्टा प्रविशन्त्यधुनापि च ॥
बौद्धेषु ते न चास्मासु तेनार्वाक्कालिका इमे ।

तदुक्तम्—
या वेदबाह्या स्मृतयो याः काश्चन कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च यावन्तोऽन्यानि कानिचिद् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

पूर्वोक्त शंका का समाधान कहते हैं, सुनो—

अपने वर्णोंसे पतित होकर ही अब भी बौद्धों के बीचमें घुस जाते हैं, वे हमारे सम्प्रदायों में नहीं हैं, इससे वे अर्वाक् कालिक (बादके नवी नहीं बने) हैं। जैसा कि कहा भी है। (मनु० १२)

(१) (या वेदबाह्या०)- जो स्मृतियें वेदोंके बाहर की हैं, और जो कोई 'कुदर्शन' हैं, वे सब निष्फल हैं, वे मरण होने के पश्चात् कोई फल उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि उनको तमोनिष्ठ अंधकारमय बतलाया गया है ।

(२) वे (उत्पद्यन्ते०) वेदसे भिन्न जो और कोई भी शास्त्र हैं, वे उत्पन्न होते और नाशको प्राप्त होते रहते हैं, वे अर्वाचीन होने के कारण झूठे और निष्फल होते हैं ।

किञ्च—

आगोपालं विप्रथितः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
विप्रलोपाय धर्मस्य वक्तायं भगवान् हरिः ॥

और भी यह बात सुननेयोग्य है कि- गवालें, पशु पालनेवाले अज्ञानी लोगोंतक यह बात प्रसिद्ध है कि महान् आत्मा प्रगट हुए थे । धर्म का लोप हो जाने के कारण भगवान् हरि (कृष्ण महात्मा) धर्म के वक्ता हुए।

६. इतिहासपुराणानां कर्तारो लोकसंम्मताः ।
अहेतुकास्तत्त्वपरा सर्वे वेदं समाश्रिताः ॥

इतिहास और पुराणोंके बनानेवाले लोगोंसे आदर प्राप्त, बिना तर्क के तत्त्व बात का प्रतिपादन करनेवाले सभी वेदों का आश्रय ले रहे हैं।

७. मन्वाद्यश्चाप्ततमा बहवो वेदमाश्रिताः ।
पाञ्चरात्रे पाशुपते वेदा अङ्गीकृतास्तथा ॥

मनु आदि सर्वश्रेष्ठ आप्त जन भी बहुतसे वेदका आश्रय लिये हुए हैं । पाञ्चरात्र (वैष्णव आगमों) और पाशुपत (शैव आगमों) में भी वेदों को स्वीकार किया है ।

८. सर्वेषु जनपदेषु शब्दा येऽत्र समाहिताः ।
कुर्वतो लक्षणं तेषां वेदाङ्गत्वेन चक्रिरे॥

सब जनपदों (देशों) में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों को एक साथ एकत्र करके उनका लक्षण करते हैं, वे उसको वेदका एक अंग मानते हैं ।

[बहुतसे विद्वान् समस्त देश की भाषाओं के विशेष विशेष शब्दों को एकत्र कर उनके धातु आदि दर्शाते और उनका अर्थ बतलाते हैं। वेदके विद्वान् इस प्रकार शब्दोंका विवेचन करनेवाले शास्त्र (व्याकरण-निरुक्त आदि) को भी वेदका एक अंग मानते हैं। वे भी वेदके अंगको माननेवाले सिद्ध होते हैं । वे ग्रमेरियन् (Grammarians, Filologists) कहलाते हैं।

९. आतिष्ठंति ज्योतिषोक्तं बाह्याः सर्वे प्रयत्नतः ।
वेदशेषतया तच्च संप्रणीतं महर्षिभिः ॥

वेदसे बाहिर के संप्रदायवाले प्रायः सभी बडे यत्न से ज्योतिष से कही बात के अनुसार अपने व्यवहार करते हैं। महर्षियोंने उस ज्योतिषको भी वेदका एक अंग बनाया है।

१०. राजानः संप्रणेतारो मार्गं वैदिकमास्थिताः।
चातुर्वर्ण्यपराः सर्वे न त्वन्यं मार्गमास्थिताः ॥

चारों वर्णों के माननेवाले प्रधान प्रधान राजालोग सभी वैदिक मार्गपर श्रद्धा करते थे। वे और किसी भी मार्गपर श्रद्धा नहीं करते थे।

११. किंचार्याः संगता बौद्धैर्न राजन्ते गतप्रभाः ।
तस्मान्न वेदसदृशमन्यत् किंचन विद्यते॥

और यह भी विचारनेयोग्य है कि- आर्यलोग बौद्धोंसे मिलकर अपना तेज खोकर वे अब शोभा नहीं पाते । इस लिए वेद के समान कोई भी और शास्त्र नहीं है।

१२. आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।
उपवेदान् वदन्त्येतान् ऋषयः सुश्रुतादयः ॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद, सुश्रुत आदि ऋषि इन सब वेदों को उपवेद बतलाते हैं।

[इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्य ।
अनुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम् ॥ (सुश्रुते सू० अ० १)

१३. यत्तु द्वीपे बौद्धानां बहुत्वं सम्प्रदर्शितम्।
तत्र ब्रूमोऽधर्मपरा बहवो द्वीपवासिनः॥

१४. भूयांसः स्त्रीपरास्तत्र स्तेयहिंसापरास्तथा।
बहुत्वाद्देवनपराः सुरापानादितत्परः॥

१५. तस्मात्तत्रत्य आचारः केनचित्सम्प्रवर्तितः।
इदानीमपि तत्रत्यैः स आचारोऽनुवर्त्यते॥

जो आपने बतलाया कि द्वीप में बौद्ध बहुतसे हैं, उस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि अन्य द्वीपों को रहनेवाले बहुतसे अधर्म आचरणोंमें फंसे हैं। बहुत से स्त्रियोंमें आसक्त हैं, और बहुतसे चौरी और मारकाटमें लगे हैं, और बहुत से जुआखोरीमें लगे हैं, बहुत से शराबके व्यसनोंमें मग्न हैं, इसलिये वहां का आचार किसी ने भी चलाया। अब भी वहांके लोग उसी आचारका पालन करते आते हैं।

१६. किञ्चाग्निवायुसूर्येषु प्रत्यक्षेष्वेव वैदिकाः।
निर्वाहं कर्षजगतः स्तुतिं कर्म च कुर्वते॥

१७. अपि चांगैरुपांगैश्च वेदा युक्ताः स्वरैरपि।
पश्यन्तस्तानिमान् प्राज्ञा नान्यं मार्गमुपासते॥

और भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि- वैदिक संप्रदाय के लोग अग्नि, वायु, और सूर्य इन प्रत्यक्ष देवों के आधारपर ही कृषक जगत् का निर्वाह करते और उस की प्रशंसा करते हैं।

वेद अंगों और उपांगों तथा स्वरों से युक्त हैं, उनको देखनेवाले विद्वान् गण वेदसे अतिरिक्त अन्य मार्ग का अवलम्बन नहीं करते।

[माधवभट्ट के समय में बौद्धों की अधिक प्रबलता प्रतीत होती है और उस समय वैष्णवों का पञ्चरात्र आगम और शैवों का पाशुपत आगम विशेष प्रचलित रहा होगा। विशेषमें से भारत में उस समय मुसलमान या ईसाइयों का प्रवेश नहीं हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

॥ इति मन्त्रार्थानुक्रमणी ॥

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इत्यष्टमोऽष्टकः समाप्तः।

माघशुक्लचतुर्दश्यां हयाङ्काङ्केन्दुहायने।
माधवोक्तस्वराद्यष्टानुक्रमाणां परिष्कृतिः॥
लोकभाषामनुकस्य पूर्तिमापदियं शुभा।
संप्रसीदंतु गुणिनो विद्वांसो गुणतत्पराः॥

(१९९७ वि०)

॥ इति ऋग्वेदानुक्रमणी समाप्ता ॥

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१।
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१)
सभापर्व	२॥)	॥)
"	६॥)	।॥=)
संस्कृतपाठमाला।		
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)

योगसाधनमाला।

१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।

१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	
३ देवताविचार	≡)	
४ अग्निविद्या	१॥)	

बालकधर्मशिक्षा।

१ प्रथम भाग।	-)	
२ द्वितीय भाग	=)	
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-

आगमनिबंधमाला।

१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)

उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

१३. यत्तु द्वीपे बे...
तत्र ब्रमोऽधर्म...
१४. भूयांसः स्त्री...
बहुत्वादेव...
१५. तस्मात्तत्र...
इदानीमपि त...

संपूर्ण महाभारत ।

संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। ...से आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र जो आपने बत...को रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे । आर्डर भेजते समय सम्बन्ध में ह... रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

वाले बहुतसे...
आप...

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं–

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≋) सात आना है। म० आ० से २।≋) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. -)

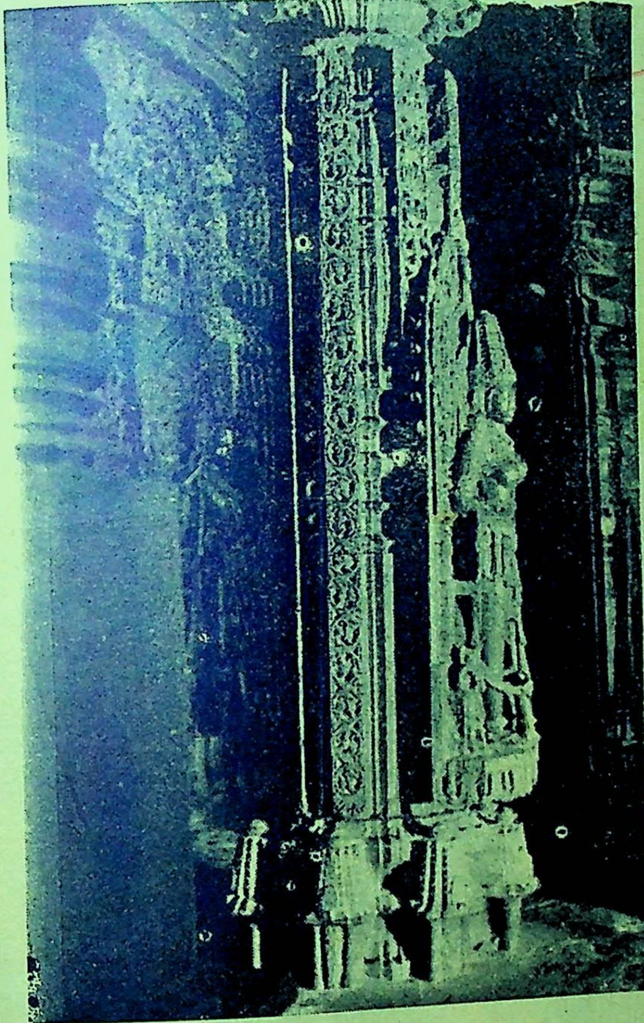
मंत्री–स्वाध्याय–मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिक धर्म

क्रमाङ्क २५१

वर्ष २२ :



१३. यत्तु द्वीपे ब...
तत्र ब्रमोऽधर्म०
१४. भूयांसः स्त्री...
बहुत्वाद्देव...
१५. तस्मात्तत्र...
इदानीमपि त...
जो आपने बत...

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ७

विषयानुक्रमणिका

१ पुत्र ।		२५३
२ वाल्मिकि रामायणका मुद्रण ।		२५४
३ वैदिक सिद्धांत और मतमतांतर ।	संपादकीय	२५५
४ माताजीसे वार्तालाप । (११)	श्री. मदन गोपाल गाडोदिया	२७१
५ ऋग्वेदका नया संस्करण- संमतियाँ ।		२७६
६ नवीन विश्वविद्यालय	पं० रामावतारजी विद्याभास्कर	२७७
७ ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप ।	,, ,,	२८३
८ योग क्या है ?	श्री. गोपाल चैतन्य देव	२८५
९ ऋगर्थ-दीपिका । (समाप्त)	पं. जयदेव शर्मा	१-१४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २५१

वर्ष २२ : : : : अङ्क ७

आषाढ संवत् १९९८

जोलाई १९४१

पुत्र ।

पुमांसं पुत्रं जनय
तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता
जातानां जनयाश्च यान् ॥
(अथर्व० ३।२३।३)

' हे स्त्रि ! पुरुष पुत्र उत्पन्न कर, उसे फिर पुत्र उत्पन्न होवे, इस तरह तू अनेक पुत्रों की माता बन, बने और बननेवाले सब पुत्र ही हों । '

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण।

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण शुरू हुआ है। एक दो महिनों में 'बालकाण्ड' छपकर तैयार होगा। इस ग्रंथ में बालकाण्ड के कथाभाग का विवरण चित्रों और नकशों के साथ रहेगा।

पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानों में विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शा कर सत्य पाठ दर्शाया है।

इस बालकाण्ड में दो रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं। जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है।

काण्ड की समाप्ति के पश्चात् विस्तृत टीका तथा टिप्पणी और विवरण दिया है। वानर कौन थे, राक्षस कौन थे, ये मानववंशीय थे या और कुछ थे, आर्यराजाओं की सभ्यता कैसी थी और वानरों और राक्षसों की सभ्यता किस प्रकार की थी, यह सब सप्रमाण यहां बताया है। इसलिये यह ग्रन्थ केवल वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही नहीं है, यह ग्रन्थ एक रामायणकालीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है।

इस तरहकी इतिहासिक विवेचना इस समयतक किसीने नहीं की है, अतः यह अपूर्व ग्रन्थ है।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें, जो बाद में प्रकाशित होंगी, वे भी मिलेंगी।

मन्त्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

Aundh, (Dist. Satara)

वैदिक सिद्धान्त और मतमतान्तर।

(गतांक से आगे)

वेद के उदाहरण।

वेद के और उपनिषदों के उदाहरण मुक्ति की बात समझाने के लिये ही दिये हैं। अग्नि की चिनगारी-अग्नि भूमावस्था है और चिनगारी अभूमावस्था है। चिनगारी का दावानल अग्नि बन गया, तो वह चिनगारी मुक्त हुई। संकुचित अवस्था से भूमावस्था होना ही मुक्ति है। यहां अग्नि से फिर वही चिनगारी बाहर आवेगी, ऐसा कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। ऊपर के मुण्डकोपनिषद् के उदाहरण का भाव यह है और यह स्पष्ट भी है।

'अमृत के पुत्र' (अमृतस्य पुत्राः) = अमृत के पुत्र जीव हैं, ईश्वर के पुत्र हैं। पुत्र पिता के अंश से ही उत्पन्न होते हैं, इस दृष्टि से यह वेद का कथन और ऊपर का मुण्डकोपनिषद् का कथन एक ही है। 'आत्मा वै पुत्र नामासि' आत्मा- अपन ही स्वयं पुत्र बनता है। परमेश्वर ही पुत्र अर्थात् जीव होता है। पिता ही 'मैं बहुत होऊं' ऐसा संकल्प करके पुत्ररूप होता है। 'एकोऽहं बहु स्यां' यह उपनिषदों का इसी वचन का स्पष्टीकरण है। अमृत ईश्वर के पुत्र जीव हैं। इतने कथनमात्र से ही आग की चिनगारी का दृष्टांत खुल जाता है और भी एक बात यहां है और वह ध्यान से देखने योग्य है।

पुत्र पूर्ण बढकर पिता होता है, पितावत् हो जाता है। यदि 'अमृतस्य पुत्राः' यह वेदवचन सत्य है, तो पुत्र बढकर पिता बनेगा और जीव पूर्ण होकर शिव बनेगा, यह दोनों सत्य ही है। पुत्र हमेशा पुत्र ही रहेगा, और कभी बढेगा नहीं, यह कथन सत्य नहीं है। पुत्र कहने से ही वह पिता बनेगा, यह सिद्धांत स्वयं सिद्ध होता है, प्रमाणान्तर की इसके लिये कोई आवश्यकता नहीं है।

पुत्रमें पिताके गुणधर्म अंशरूपसे रहते ही हैं, वे ही विकसित होने हैं। वे विकसित हो रहे ही हैं, होनेवाले हैं। पुत्र की मुक्ति पिता के समान बनने से है। पुत्र एकवार पिताके समान बना, तो फिर वही फिरसे पुत्र बनेगा, ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। उस पिताके वीर्यसे अनेक पुत्र होंगे, यह बात और है, पर जो व्यक्ति विकसित होकर पूर्ण हुई, वही फिर अविकसित होती है, ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण विश्व।

पूर्णमदः पूर्णं इदं, पूर्णात् पूर्णं उदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय, पूर्णं एव अवशिष्यते॥

यह मन्त्र उपनिषद् में है और इस तरह का मन्त्र अथर्ववेद में भी है। (अदः) वह ब्रह्म पूर्ण है, (इदं) यह विश्व भी पूर्ण है, उस पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण विश्व उदय होता है, उस पूर्ण ब्रह्म से इस पूर्ण विश्व का उदय होनेपर वह ब्रह्म पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। वेद और उपनिषदों का यह अनादि सिद्धांत है।

इस को जो जानेंगे वे ब्रह्म से जीवरूप चिनगारियां निकलनेपर, अमृत-पिता से अमृत-पुत्र उत्पन्न होनेपर वह ब्रह्म अथवा वह पिता नष्ट होगा, ऐसी कल्पना जो कि स्वा० वेदानन्दजी लिखते हैं, वैसी कल्पना न उपनिषद् को सूझी, नाही वेद में प्रकट हुई। यह स्वा० वेदानन्दजी की अगाध बुद्धि में चमक उठी है !!

उदाहरण सापेक्ष हैं।

उदाहरण अथवा उपमा सापेक्ष होती हैं, आंशिक भाव ही उनमें देखना चाहिये। यह सब शास्त्रकारों और सब विचारकों को पता है। पर अबतक यह बात स्वा० वेदानन्दजी की बुद्धितक पहुंची नहीं है, इसलिये वे वेद और उपनिषदों के विरोध में, उनके उदाहरणों के खण्डन में अपना मस्तिष्क घसीट रहें हैं। नहीं तो ऊपर के वेद के उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट ही हैं।

स्वा० वेदानन्दजी का कथन है कि, यदि 'आग की चिनगारी जीव माना जाय,' तो मुक्ति स्वाभाविक माननी

पडेगी। फिर अनुष्ठान की क्या आवश्यकता है? ऐसा प्रश्न करना स्वा० वेदानन्दजी को उचित नहीं था, पर उन्होंने ऐसा ही लिखा है। जीव का स्वभाव ही मुक्त होना है, सब जीव मुक्त होने के मार्ग में ही हैं, देखिये-

(१) प्रत्येक जीव चाहता है कि, ' मैं मृत्युसे बचूं, ' यह इस की ' सत् ' होने की प्रवृत्ति का सूचक है; (२) प्रत्येक मानव चाहता है कि, 'मैं ज्ञान प्राप्त करूं' यह उस की ' चित् ' वृत्ति है; (३) प्रत्येक जीव चाहता है कि, ' मैं सुखी रहूं, ' यह उस की आनन्दवृत्ति है। इस तरह ' सत्-चिद्-आनन्द ' होने के लिये ही सब जीवों का प्रयत्न है। सब इसी के लिये तडफ रहे हैं। सच्चिदानन्द होने का अर्थ ही ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति अथवा मुक्ति है। सब जीव इसी मार्ग में आतुरता के साथ चल रहे हैं, उन की स्वभावप्रवृत्ति यही है। वैदिक सिद्धांतों को मान कर चलनेवाले शीघ्र मार्ग काटेंगे, अन्यों को देरी लगेगी, परन्तु मुक्ति स्वाभाविक ही है, यह सत्य है।

स्वाभाविक होनेपर भी अनुष्ठान की जरूरत नहीं, ऐसा कहना अयोग्य है। बालक का बढना स्वभाव है, पर योग्य खानपानादि पथ्यपालन होगा, तो बढना उत्कृष्ट होगा। इसी तरह चिनगारी का दावानल होना स्वभाव तो है, पर चिनगारी के दावानल होने में शुष्क घास का मिलना, योग्य वायु की सहायता होना, इत्यादि अनुष्ठान और उपासना आवश्यक ही है। जिस का स्वभाव मुक्त होने का नहीं, वह मुक्त कैसे बनेगा। और अनुष्ठान भी जो शास्त्रोंने कहे हैं, वे जीव का स्वभाव मुक्त होने का है, इसीलिये कहे हैं। इसलिये श्री स्वा० वेदानन्दजी का कहना कि जीव का मुक्त होने का स्वभाव है, इसलिये अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं, आश्चर्यजनक है !!! ये ऐसा जानबूझकर लिखते हैं, वा न जानते हुए लिख रहे हैं, यह हमारे समझ में नहीं आता।

जिस का मुक्त होने का स्वभाव नहीं, वह कितना ही क्यों अनुष्ठान करेगा, मुक्त कभी नहीं होगा। सब अनुष्ठान उनके ही लिये हैं, कि जिनका स्वभाव मुक्त होना है और सब जीवों का स्वभाव मुक्त होना है। देरी से होना और शीघ्र होना, यह हरएक के स्वीकृत मार्गपर अवलंबित है।

कर्म सान्त है और परिणाम अनन्त है।

आगे स्वा० वेदानन्द की कहना है कि कर्म सान्त है, इसलिये सान्त कर्म का परिणाम अनन्त नहीं हो सकता। यहां थोडी समझनेकी बात है। सान्त और अनन्तका अर्थ ठीक तरह समझना चाहिये। हम उनके दिये उदाहरण ही लेते हैं और देखते हैं, कि सान्त और अनन्त कैसा है।

स्वा० वेदानन्दजीने गेहूं के दाने का दृष्टांत देकर गेहूं की शक्ति परिमित-सान्त-है, ऐसा लिखा है। इसलिये इसी उदाहरण को हम लेते हैं।

सान्त गेहूं में अनन्त शक्ति।

एक गेहूं का दाना कितना छोटा होता है, पर उसमें अनन्त ब्रह्म की शक्ति है। स्वा० वेदानन्दजी इस को परिमित कहते हैं, पर हमें उसमें अनन्त शक्ति दीख रही है। देखिये—

१. एक गेहूं का दाना बोनेसे १०० दाने उत्पन्न होते हैं,
२. ये १०० दाने दूसरी बार बोनेसे १०००० दस हजार होंगे,
३. ये १०००० बोनेसे तीसरी बार में १०००००० दस लाख होंगे।

एक गेहूं के दाने का वीर्य इस तरह प्रथम एक होता हुआ भी पश्चात् बहुत हुआ है। कहां तक इसका बढना हो सकता है, इसका पता किसी को नहीं है, इसीका नाम ' अनन्त ' है। एकही गेहूंके वीर्य का यह महत्व है। एक गेहूं का वीर्य अनन्त गेहूं में जन्म लेता है। एक गेहूं का दाना हाथमें लेनेसे छोटासा, परिमितसा प्रतीत होता है, यह दृष्टि अज्ञानकी है, अन्दरकी शक्तिका जिसको पता नहीं वह इसको परिमित कहे, पर जो अन्दरकी शक्तिको देखेगा, वह निःसन्देह कहेगा कि वह अनन्त है। वह एक ही दाना बढता बढता पृथ्वीपर रहनेके लिये स्थान नहीं मिलेगा, इतना बढ सकता है, और फिर भी बढने की शक्ति उसमें रहेगी, वह कदापि कम नहीं होगी। इसीको, अनन्त कहते हैं।

स्वा० वेदानन्दजी इस गेहूंको सान्त और परिमित कहते हैं, यह उनकी स्थूल दृष्टि है। यदि वे उस दाने की उपजाऊ शक्ति का विचार करेंगे, तो उसके अनन्त होने में

उनको कोई सन्देह नहीं रहेगा। स्वा० वेदानन्दजी लिखते हैं– 'एक गेहूं के दानेमें परिमित शक्ति है, उससे केवल एक पौधा पैदा होता है, उसमें एक बाल होती है, उसमें गिने चुने दाने होते हैं।'

यह सत्य है, पर एकसे सौ, सौ से दस सहस्र, दस सहस्र से दस लाख पैदा होने की शक्ति प्रत्येक दाने में गुप्त है। इसका इनकार कौन कैसा कर सकता है? एक दानेकी शक्ति एक फसल में अनन्त नहीं होती तो कोई हर्ज नहीं है। जो तीसरे चौथे फसल में एकही दाने से उत्पन्न हुए गेहूं संख्या में बढते हैं, वह सब शक्ति उस पहिले दाने की ही शक्ति है। निःसन्देह वह अनंत है।

सान्त इंजीन की अनन्त शक्ति।

कर्म की शक्ति सान्त होना सिद्ध करनेके लिए श्री स्वा० वेदानन्दजीने इंजिन का उदाहरण लिया है। वे लिखते हैं कि इंजिन की शक्ति परिमित है। एक रेलका इंजिन १० बोगी गाडियां खीचता है, वहां १५ गाडियां बोगियां लगायीं, तो इंजिन नहीं चलेगा। अतः इन्जीन की शक्ति परिमित है, यह स्वा० वेदानन्दजी का कहना है।

यहां कर्मशक्तिका विचार करना चाहिए। कर्मशक्ति सहस्रों भावोंके साथ जगत् में कार्य करती है, इसका विचार यहां श्री स्वामिजी को करना चाहिए। देखिए– एक इंजिन १० या १५ बोगियां खीचता है, यह उसकी शक्ति है, यह ठीक है। इस शक्तिका इतना ही कार्य नहीं है। इतना ही कार्य है, ऐसा समझना यह देखनेवाले की बुद्धि का दोष है। इस इंजिन की शक्ति का परिणाम जो जनता-पर हो रहा है, वह भी इंजिन का ही कार्य है। देखिए–

१. रेलका एक इंजिन चलनेसे १००० बैलगाडियां बेकार हुईं, कई लोग भूखे मरने लगे, यह भी इंजिन के ही कर्म का परिणाम है।

२. रेल के पूर्व बैलगाडियां थीं, बैल और गाडीवान पाले जाते थे। रेल आनेसे वे बेकार हुए, बैल कम होनेसे गोबर कम हुआ, गोबर न होसेसे भूमिको खाद न मिलने के कारण भूमिकी उपजाऊ शक्ति कम हुई, यह भी इंजिन का परिणाम है।

३. इंजिन से अथवा यन्त्र से बेकारी बढती है, बेकारी बढनेके कारण, निर्धनता के कारण चोरी आदि करनेकी ओर जनता की प्रवृत्ति बढती है, यह भी यन्त्र का एक परिणाम है।

४. यन्त्रयुग का परिणाम आज का युरोपीय महायुद्ध है। करोडों मानवोंका संहार इंजिन के कारण ही हो रहा है। मानवों की मानवता नष्ट हो रही है। यह सब इंजिन का ही परिणाम है।

५. इंजिन तो यूरोप में बनते हैं, पर उसका परिणाम सब देशों को भोगना पडता है। आफ्रिकाके नीग्रो और अमरिका के रक्तवर्णीय लोग नष्ट होनेका कारण यूरोपके यन्त्र हैं।

इस तरह आज की सार्वभौमिक आपत्ति इंजिन का ही परिणाम है।

स्वा० वेदानन्दजी लिखते हैं कि इन्जिन की शक्ति १० अश्वशक्ति है, अथवा विद्युत् की शक्ति १०० वॅट है। यह हो, पर इसका जो परिणाम विश्वपर होता है, वह अनन्त है।

युरोप में महायुद्ध हुआ था, उसका परिणामरूप युद्धज्वर विश्वभर में फैला और सब देशोंके अनेक मनुष्य मरे। सहस्रों रीतियोंसे देखने और विचारनेका यह प्रश्न है। स्वा० वेदानन्दजी इस कर्म के परिणाम को केवल एक ही क्षेत्र में देखते हैं। यह उनका दोष है। कर्मशक्ति अगाध है, अनंत है। मनुष्य थोडासा कर्म करता है, थोडेसे शब्द बोलता है, पर उसका परिणाम विश्वमें कहां-तक होता है, इसका मापन कोई नहीं कर सकता।

आज जो स्वा० वेदानन्दजी वेदविरुद्ध लिख रहे हैं, वह लेख लोग पढते हैं, कुछ संस्कार उनपर होते हैं, उन संस्कारों के अनुकूल व्यवहार होते हैं। इन सब का परि-णाम मापना अशक्य है। आज अखबारों में असत्य का कितना प्रचार हो रहा है, यह धोनेके लिए कितना यत्न करना होगा। इसका मापन कौन कर सकता है।

ऋषिमुनियों की शुद्ध वाणीका परिणाम इस दिनतक हो रहा है, क्या यह परिणाम सीमित है? ऋषिमुनि बोले और उनके शब्द आकाश में लुप्त हुए। इतना ही उनका परिणाम नहीं है। वे शब्द आज भी कार्य कर रहे हैं, और वे शब्द और भी कार्य करते रहेंगे। इसका कार्यक्षेत्र कौन नाप सकता है?

श्री स्वा० वेदानन्दजी इस रीतिसे कर्म का कार्यक्षेत्र देखनेका यत्न करेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि कर्म की शक्ति अनंत है। संस्कार की शक्ति अनंत है, शब्द की शक्ति अनंत है। जैसा एक गेहूं के दाने में अनंत शक्ति है, उसी तरह कर्मशक्ति भी अनंत है। प्रत्येक स्थान में अनंतत्व का अनुभव आ सकता है।

भूमिके एक रजःकणमें- एक जर्रे में- एक एटम (Atom) में कितनी शक्ति है, इसका किसीको पता नहीं है। सब वैज्ञानिक एक रजःकण की शक्ति मापनेमें असमर्थ हैं। किसीको भी इसका पता लगना नहीं है, क्योंकि विश्वका प्रत्येक कण परमात्माका ही रूप है, अतः परमात्मा के प्रत्येक अंशकी शक्ति मापने की शक्ति किसीमें नहीं है। गीता में कहा है-

गहना कर्मणो गतिः। (गी० ४।१७)

' कर्मकी गति गहन है। ' जिसका अन्त नहीं है, वही गहन है। गीता के लेखक को इस कर्मकी अगाध शक्तिका पता लगा था, पर अभीतक वह ज्ञान श्री स्वा० वेदानन्दजीके पास नहीं पहुंचा।

शेष कर्मोंका तो छोड दीजिए। केवल एक ' अ ' अक्षर के उच्चारण का सामर्थ्य कितना है, इसका भी आजतक किसी के द्वारा मापन नहीं हुआ। न कोई 'अ'कार की शक्ति जान सकता है। क्योंकि ' अक्षर ' में अनन्त शक्ति है। यह बात बीजाक्षरों का विचार करनेवाले जान सकते हैं। इसलिए कर्मशक्ति को सान्त कहकर उसका उपहास करना किसीको भी योग्य नहीं है। कमसे कम स्वा० वेदानन्दजी को निःसन्देह योग्य नहीं है।

कर्मसे पुण्यसंचय।

जैसा बाजार में एक पैसा देकर गुड खरीदा जाता है, वैसा परमेश्वरीय राज्य में कर्म के बदले कुछ पुण्य खरीदा जाता है। कर्म होते जाते हैं और पुण्य की बोरियां गोदाम में भरी जाती हैं। मुक्ति में इन बोरियों का भोग होता है। बोरियां खतम होते ही मुक्ति से वापस भेजा जाता है। ऐसा कुछ मतलब श्री स्वा० वेदानन्दजी के कथन का दिखाई देता है।

यह सब अशुद्ध विचार है। वेदोक्त मुक्तिका ज्ञान न होनेसे श्री स्वा० वेदानन्दजीने ऐसा लिख दिया है। वेद में जो मुक्ति है, वह कर्मसे प्राप्त होनेवाली नहीं है, क्योंकि वेदकी मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी मुक्त पुरुष कर्म करते ही रहते हैं। सच्चा श्रेष्ठ कर्म तो मुक्त पुरुष ही कर सकते हैं। कर्मसे मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा कहनेसे कर्म मुक्ति के पूर्व ही होंगे, ऐसा सिद्ध होगा। पर वैसा नहीं है। वैदिक मुक्ति को प्राप्त करनेवाला पुरुष मुक्तिके बाद उत्तम कर्म करता है। मुक्त पुरुष इस लोक में जीवित रहते हैं और निर्दोष कर्म भी करते हैं।

मुक्ति के पूर्व होनेवाले कर्म सदोष होते हैं, और मुक्ति के पश्चात् होनेवाले कर्म निर्दोष होते हैं। इसलिए कर्मका और वैदिक मुक्तिका कोई संबन्ध ही नहीं है। स्वरूप स्थितिको न जानना बद्धता है और स्वरूपस्थितिको यथावत् जानना मुक्ति है। इस कारण मुक्त पुरुष ही सुयोग्य और निर्दोष कर्म कर सकता है, वैसा बद्ध नहीं कर सकता।

कर्म का फल मुक्ति नहीं है। कर्म का फल मुक्ति है, ऐसा श्री स्वा० वेदानन्दजी मान रहे हैं, अतः वे निम्न लिखित मन्त्र का बार बार विचार करें-

नायमात्मा प्रवचेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥ ३॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिंगात्॥ ४॥ (मुण्डक ३।२)

' प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत होना, आदि से आत्मप्राप्ति नहीं होती। जिस को आत्मा वरता है, उसे यह प्राप्त होता है। यह आत्मा अपनेही शरीर को वर लेता है।' यहां परमात्माने जीवात्मा का वरण करना है, यहां केवल परमात्मा की कृपा ही कारण बताया है। प्रवचन, अध्ययन आदि कर्मों का परिणाम मुक्ति नहीं है। किसी कर्म में मुक्ति देनेका सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिए मुक्तिका विचार करनेके समय कर्म सान्त है अथवा कर्मका फल सान्त है वा अनन्त है, इसका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। यह तो उक्त वचन के अनुसार परमात्मा की कृपा से प्राप्त होनेवाली है।

अब रहा प्रश्न यह कि परमात्मा की कृपा सान्त है वा अनन्त है। कृपया श्री स्वा० वेदानन्दही इस का उत्तर दें। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा की कृपा अनन्त

सामर्थ्य रखती है। परमात्मा अनन्त है और वैसी ही उस की कृपा भी अनन्त है। अतः परमात्मा की कृपा से जो मुक्ति प्राप्त होनेवाली है, वह मुक्ति भी अल्पकालीन नहीं हो सकती।

मुक्ति का विचार।

यहां प्रसंगतः मुक्ति का वेदोक्त विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। श्री स्वा० वेदानन्दजी जैसे वेद-मंत्रोंका बिलकुल विचार न करते हुए, मुक्तिके विषय में मनमाने विचार फैला रहे हैं, इसलिए वैदिक मुक्तिका ठीक ठीक और वेदमंत्रोंके आधार से विचार करना आवश्यक हुआ है।

मुक्ति के लिए सबसे प्रथम परमेश्वर के स्वरूप का निश्चय होना चाहिए। परमेश्वर की कल्पना में भिन्नता हुई, तो मुक्ति की कल्पना में भी भिन्नता होना स्वाभाविक है। अतः परमेश्वरस्वरूपका विचार यहां करते हैं।

ईश्वरविषयक चार कल्पनाएं।

ईश्वरविषयक कल्पनाएं तो बहुत ही हैं, पर उन में मुख्य चार कल्पनाएं हैं–

(१) ईश्वर नहीं है;

(२) ईश्वर है, पर वह तीसरे या सातवें आस्मान में है;

(३) ईश्वर सब विश्व में व्यापक है;

(४) ईश्वर का रूप ही विश्व है, अर्थात् ईश्वर और विश्व मिलकर ' एक सत् ' है।

ये चार कल्पनाएं ईश्वरवाद में प्रमुख हैं। जनता में ये चार कल्पनाएं इस समय में भी प्रचलित हैं। अतः इनका संक्षेपसे विचार करेंगे–

ईश्वर नहीं है।

(१) **ईश्वर नहीं है**– केवल प्रकृति है, ईश्वर नहीं है, केवल विश्व है उसका नियामक नहीं है, यह कल्पना कईयों में है। चार्वाक, नास्तिक, जैन, बौद्ध आदि इसके प्रवर्तक हैं। वेदमें इस मत का विचार ' **अदेव, अदेवयु, अनिंद्र** ' आदि शब्दों से किया है और ये नास्तिक अन्धतम में जानेवाले हैं, ऐसा कहकर इस मतका निषेध ही किया है, अर्थात् वेदभर में नास्तिकवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

ईश्वर मानना योग्य है।

(२) ईश्वर है, पर वह तीसरे या सातवें आस्मान में है। यहां ईश्वरवाद का प्रारंभ होता है। ' ईश्वर है ' ऐसा यहां माना जाता है। ' **ईशा वास्यं इदं सर्वं** ' = (इदं सर्वं) यह सब विश्व (ईशा) ईशके द्वारा (वास्यं) वसने-योग्य है। यहां (ईशः अस्ति) ईश्वर है ऐसा वचन नहीं है, पर (ईशा वास्यं) ईश्वर के द्वारा वसनेयोग्य है, ऐसा वचन है।

ईश्वर है।

ईश्वरद्वारा वसनेयोग्य यह जगत् है।

इन दो वचनों के आशय में बडा भेद है, वह पाठक जान सकते हैं। ईश्वर नहीं है (अनिन्द्र) वाला भाव दूर हुआ और ईश्वर इस सब पर नियामकरूपसे रहना आवश्यक है, इसके विना यहां का प्रबंध नहीं हो सकता, यह निश्चय इस वचन में स्पष्ट है।

ईश्वर है तो कहां है, कैसा है, इस का विचार आगे होगा। ईश्वर होगा तो पृथ्वीपर क्यों होगा, वह तो आस्मान में होगा। जैसा वैकुंठ, कैलाश, गोलोक आदि स्थान बताते हैं, कई मतवाले एक बडी शिलापर वह है ऐसा भी मानते हैं। उसके रहने के स्थान में मतभेद हो पर ' ईश्वर है ' इस में इन में मतभेद नहीं है।

' **तृतीये धामन्नध्यैरयन्त** ' तृतीय धाम अथवा तीसरे, चौथे, सातवे आस्मान की कल्पना यहां की जाती है और ईश्वर के स्थान को वैकुंठ आदि स्थानविशेष माननेवाले मुक्ति को वहां जाकर निवास करना मानते हैं, इसी तरह तीसरे और चौथे आस्मान को ईश्वरस्थान माननेवाले उसमें पहुंचनेसे मुक्ति होती है, ऐसा मानते हैं।

ईश्वर सब में व्यापक है।

(३) तीसरी अवस्था ईश्वरवादियों की यह है, जिसमें ऐसा मानते हैं कि–

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु आत्मानं ततो न विचिकित्सति
(वा० य० ४०।६)

" सब भूत परमात्मा में हैं और परमात्मा सब भूतों में है "। इस अवस्थामें इस मतवाले परमात्मा को सर्व–

व्यापक मानते हैं, पर ये परमात्मा और विश्व में भेददृष्टि रखते हैं। इनको ऐसा प्रतीत होता है कि, सब भूत ये परमात्मा से पृथक् हैं और परमात्मा इनसे पृथक् है।

इसी स्थितिके बोधक '**द्वा सुपर्णा**' '**त्रयः केशिनः**' आदि मन्त्र हैं। इस अवस्था में मनुष्य समझता है कि, विश्वसे पृथक् परमात्मा को मानना ही मुक्ति है। जगत् के झंझट में न फंसना, जगत् से अलग होकर गुहा में जाकर ध्यान लगाना, जगत् को बंधन समझना आदि विचार इस अवस्था में रहनेवालों के होते हैं। सब द्वैती लोग यहां-तक पहुंचे हैं। सब द्वैती यहीं आकर ठहरते हैं। वेदमें जो इससे ऊंची अवस्था कही है, कहां इनकी पहुंच ही नहीं है।

विश्वरूप ईश्वर ।

(४) विश्व ही ईश्वरका रूप है। ईश्वर ही विश्वके रूप में हमारे संमुख है और उस को हम संमुख देख रहे हैं। हम सब उस के अंश हैं, क्योंकि हम विश्व के अंश हैं और विश्व और ईश्वर यह अभिन्न एक सत्ता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वं अनुपश्यतः॥ (वा० यजु० ४०।७)

' जिस अवस्थामें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उस विज्ञान की एकत्वानुभव की स्थिति में शोक, मोह कहां रहेंगे ? '

यह है वेदकी मुक्ति, जिसमें सब भूत आत्मा ही होते हैं, दीखते हैं, अनुभव में आते हैं। सब भूत परमात्मा के रूप बनते हैं, अथवा परमात्मा सब भूतरूप दीखता है, अर्थात् सब भूत-सब विश्व और परमात्मा, आत्मा अथवा ईश्वर में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

वेद में कहा आत्मस्वरूप यह है। यहां विश्व का और आत्मा का '**एकं सत्**' हुआ है। यही-

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं०। इत्यादि

एक ही सत् है, जिसको विज्ञानी अग्नि, यम, वायु, आदि कहते हैं। अग्नि, वायु आदि विभिन्न हैं, यह भेदकी कल्पना समूल यहां छूट गयी है और दोनोंका अभेद यहां हुआ है। दोनों की मिलकर एक सत्ता '**एकं सत्**' यहां हो चुका है।

जो पाठक इस को यथावत् समझेंगे, उन को इस विषयमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, कि इन चारों अवस्थाओं में रहनेवालों के मोक्ष अलग अलग होंगे।

(१) नास्तिकों का मोक्ष ' शून्य ' है, क्योंकि वहां कुछ भी नहीं है। (२) द्वितीय ईश्वरवादियोंने मुक्ति में दूसरे तीसरे मंजिलपर जानेके समान सीढियों की कल्पना की है, पुण्यसे ऊपर चढना और पुण्यका पाथेय समाप्त हुआ तो नीचे गिरना, इत्यादि कल्पनाएं इस अवस्था की है। (३) तृतीय ईश्वरवादियों की मुक्ति जगत् के झंझट से छूटनेवालोंकी है, इनको जीवन बंधन प्रतीत होता है, जन्म से ये डरते रहते हैं। इस तरह के विचार इस अवस्था-वालोंने खडे किये हैं। (४) चौथे ईश्वरवादी '**एकं सत्**' माननेवाले शुद्ध वेदसिद्धान्त को माननेवाले हैं, इनके लिये विश्व ही ईश्वर का रूप दीखता है, ईश्वरसे भिन्न कोई भिन्न सत्ता ही इनके मतमें नहीं है। जन्म, मृत्यु, जगत् विश्व सब एक अद्वितीय सत्ता के विविध भाव है। न इनको जन्म से डर है, न इनको विश्व बंधन है, न इनको कोई द्वेष्य है, न कोई भय दिखानेवाला है। परमात्मा के विश्वरूप के ये अंश हैं, ये स्वयं अपने आपको परमात्मा के स्वरूपमें संमिलित देखते हैं। ये परमात्मा से अपने आपको अनन्य अनुभव करते हैं और अंग की कृतकृत्यता अंगी की सेवा के लिये है, इस न्याय से ये अपनी कृत-कृत्यता विश्वरूपी परमात्मा की सेवा में है, यह ये जानते हैं। अर्थात् इनको ही वैयक्तिक पृथग्भाव के बंधनों से इस समय सचमुच मुक्ति मिलती है। यह सत्य मुक्ति किसी पूर्व के तीनों मतवालों को कभी भी प्राप्त होनेवाली नहीं है। क्योंकि उनकी ईश्वर से भिन्न सत्ता अन्ततक उनके लिये रहती है। कभी इनको अनन्यता प्राप्त ही नहीं होती और भिन्न सत्ता रहनेतक '**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' इस उपनिषदिक सिद्धान्त के अनुसार उनका भय निरंतर उनके पीछे चिपटा रहता है।

यहां पाठकों को पता लगा होगा कि, वैदिक मुक्ति और अन्य मतमतांतरों की मुक्ति में फरक क्या है। सब आज-कल के धर्मोपदेशक वैदिक मुक्तितक पहुंचे ही नहीं हैं। उनके लेख, उनके व्याख्यान, प्रवचन आदि हम देख रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं कि, ये लोक दूसरी और तीसरी

अवस्था में ही घूम रहे हैं।

वेदमें (१) **अनिन्द्र** (नास्तिक), **अदेव** (ईश्वरहीन) (२) **ईशावास्य** (ईश्वर मानने योग्य है), (३) **भूतेषु आत्मा** (सर्वव्यापक ईश्वर) और (४) **सर्वाणि भूतानि आत्मा** (सब भूत आत्मा), **एकं सत्** (एक ही सत् है) ये चार प्रकार इसलिये बताये हैं कि, एक एक श्रेणी से अनुभवपूर्वक साधक आगे बढे और अन्तमें ईश्वर का विश्वरूप जान कर, अपना और ईश्वर का अंग-अंगी सम्बन्ध जानकर पूर्वोक्त अभूमावस्था के बंधन से मुक्त हो जावे। जब अद्योपान्त वेद का उत्तम आध्ययन होगा, तब वेद का अन्तिम सिद्धान्त क्या है और बालकों को उच्च बनानेवाले प्रारंभिक पाठ कौनसे हैं, इस का ज्ञान होगा। परन्तु आजकल मतमतांतरों की सर्वत्र खिचडी बनी है, चिकित्सक दृष्टि से वेद का मत क्या है और प्रारंभिक अवस्था में ही रहनेवालों के भ्रांत मत कौनसे हैं, इसका ज्ञान होना दुर्घट इस समय हुआ है।

उक्त चार ही प्रकार हैं, ऐसा नहीं। आजकल जो धर्म-विचारों की खिचडी हुई है, उसमें कम से कम ३०।४० मतों की खिचडी धर्मोपदेशकों के उपदेशों में मानी जाती है। इस से जनता को दूर करना और सत्य वैदिक सिद्धान्त पर जनता को लाना बडा कठिन कार्य है। इस कार्य के लिये कई विद्वानों को अपने जीवन अर्पण करने होंगे। क्योंकि मतमतांतरों के लोग इनकी आयु का भी समय पर नाश कर देंगे। पर इस से डरना नहीं चाहिये।

श्री स्वा० वेदानन्दजी ऊपर कही चार सीढियों में से तीसरी सीढीपर खडे हैं, उनको '**एकं सत्**' वाली सब से ऊंची वैदिक सीढीका पता तक नहीं है। इसलिए वे हमारा निषेध करने को उद्यत हुए हैं। उनके पक्षके अनुयायी बहुत हैं, तथा सब तृतीय सीढीपर रहनेवाले भी उनकी साथ करेंगे। इस लेखका लेखक भी उनकी अवस्था में एक वार था। अब उसको निरंतर वेदाध्ययन करनेसे ऊपरवाली सीढीका पता लगा है।

इसलिए वेदके सत्य सिद्धान्त के प्रकाश करनेके लिए ही ये लेख लिखे जा रहे हैं।

वेदने प्रथम के तीनों श्रेणियों को उन्नत करनेके लिए और सब से अन्तिम श्रेणीका मार्ग बताने के लिए पर्याप्त उपदेश किया है। पर जिस मतवाले के हाथ में जिस सीढीपर का मन्त्र आया, उसने उसको पकडकर रखा और साथ साथ दूसरों को नीचे गिराना भी चाहा। इसका कारण इतना ही है, आद्योपान्त वेदका अध्ययन सहस्रों वर्ष बन्द रहा। वह अबतक शुरू भी नहीं हुआ है। जब शुरू होगा, तो पांच छः वर्षों में आद्योपान्त वेदोंका अध्ययन हो सकता है। सब मन्त्र सामने आनेसे शंका का कारण ही नहीं रहेगा।

श्री स्वा० वेदानन्दजी '**द्वा सुपर्णा**' को पकडे बैठे हैं, वे जरासे आगे बढेंगे, तो उनको '**एकं सत्**' मन्त्र मिलेगा। यदि वे इसका विचार करेंगे, यदि वे इसे समझेंगे, तो उनको कोई संदेह नहीं रहेगा। क्योंकि वेद जिस 'एकं सत्' का संदेश दे रहा है, वही अन्तिम सिद्धांत है।

मुक्तिसे पुनरावृत्ति अथवा मुक्तिसे अपुनरावृत्ति का विचार करनेके लिए उक्त चार मत और चार मतों की चार मुक्तियां विचारमें लेनेसे जो अन्तिम वैदिक मुक्ति है, वह स्वयं सिद्ध ही अवस्था है। यहां जैसा है, वैसा उसको जानना है। प्रत्येक जीव जाने या न जाने, पर वह परमात्माके विश्वरूप का ही अंश है। यह जैसा है, वैसा उसको जानना है। यह अवस्था कर्म से प्राप्त होनेवाली नहीं है। कर्म करके कुछ अप्राप्त की प्राप्ति यहां करनी नहीं है। जो जैसा है वैसा उसको जानना है। यह समझने का यत्न करनेसे समझ में आनेवाली बात है। एक वार समझ में आ गयी, तो उसमें भूल क्या होनी है, क्योंकि वह अपनी हि निज अवस्था है।

वस्त्र में कपास का धागा, धागे में कपास का तन्तु, जेवर में सुवर्ण, माला में मणि हैं ही, उनको वैसा जानना है। जेवर को अपने सुवर्णत्व के अनुभव के लिए किन कर्मों की आवश्यकता है? वस्त्र में सूत्र को आपने वस्त्रांग होनेका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कौनसे कर्म करने चाहिये? जानने पर भी उसमें कौनसी नयी बात आ जायगी? अस्तु। इस तरह वैदिक मुक्ति कर्मसाध्य नहीं है। वैदिक मुक्ति के पूर्व जो कर्म होंगे, वे बंधनावस्था में होनेवाले कर्म हैं। मुक्त होने पर उसका कार्यक्षेत्र और ही विशद हो जाता है और वह विशुद्ध कर्म करने का अधिकारी होता है। इसी के कर्मों को '**कर्म**' संज्ञा है। इस समय

इस वैदिक मुक्तको कर्म बाधक नहीं है, जन्म का डर इसे नहीं है, विश्वरूप ही उसका परायण है, विश्व में वह अपना रूप सम्मिलित देखकर विचरता है।

धर्म उसका निश्वास होता है। वह बोलता है, वही धर्म है। यदि स्वा० वेदानन्दजी को वैदिक विश्वरूप की कल्पना नहीं आयी है और परमात्मा विश्वरूप है, यह उन के समक्ष में न आया है, तो वे पुरुषसूक्त और रुद्रसूक्त (अर्थात् यजु० ३१ और १६) का वारंवार मनन करें। अध्याय १६ में रुद्र का विश्वरूप बताया है और अध्याय ३१ में ' पुरुषका विश्वरूप ' दर्शाया है। यदि वे मन्त्रोंको तोडमरोड नहीं करेंगे, तो उनपर इन अध्यायों का प्रकाश अवश्य पडेगा।

इतने विवरण से पाठकोंको पता लगेगा कि, द्वैती लोग मुक्तिको नैमित्तिक मान कर नैमित्तिक होनेसे वह स्थायी नहीं है, ऐसा जो मानते हैं, वह वेद के उच्चतम सिद्धान्त के विरुद्ध है। वेद की मुक्ति अन्य मतवालों की मुक्तियोंसे सर्वथा विलक्षण है और हरएक को थोडे से परिश्रम से, थोडासा वेदाध्ययन करने से प्रत्यक्ष होनेवाली है। यह प्रत्यक्ष होने के कारण हि सत्य है। हरएक इस वैदिक मुक्ति को प्रत्यक्ष कर सकता है। अन्य मतवालों की काल्पनिक मुक्तियां ख्याली होने से किसी को भी कभी प्रत्यक्ष नहीं होती। ये लोग ख्याली कीले हवामें खडे करते हैं और अन्ततक उसी ख्याली वायुमंडलमें ही ये रहते हैं।

वैदिक मुक्ति प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, उपनिषदों और गीतामें इसकी प्रत्यक्षताका विवेचन है। आज भी इससे मनुष्य संदेहरहित हो सकता है। सब बंधन छूट जाने का अनुभव इससे ही आता है और स्वतन्त्र होकर कैसा कर्म होता है, उसका अनुभव भी इसीसे हो सकता है।

दिव्य दृष्टि।

वैदिक मुक्ति एक दिव्य दृष्टि है। यह एक शुद्ध दृष्टि है। सब मनुष्य विश्व की ओर भिन्न भाव से देख रहे हैं, सब मनुष्य विश्वभर में भेद का अनुभव कर रहे हैं। बालक से लेकर वृद्धतक सब को भेद का अनुभव हो रहा है। इस भेदमय सृष्टिमें वेद ही अभेद की दिव्य दृष्टि देता है और भेदोंमें अभेद दर्शाता है। भेदोंमें एकत्वका दर्शन होना कठिन नहीं है। वेद का ही यह भाग्य है, जो अपने अनुयायियों को इस भाग्य से भाग्यवान् करता है।

दिव्य दृष्टि इसी का नाम है। इसके प्राप्त होने से सब ग्रंथ सरलतया लग जाते हैं, किसी वचन की खींचातानी करने की आवश्यकता नहीं रहती। कौनसा वचन किस अवस्था का है, इसका ज्ञान सहजही से हो जाता है। एकवार यह दृष्टि प्राप्त हुई, तो वह भूली नहीं जाती। तैरनेवाला तैरना जैसा भूलता नहीं, वैसा ही यह है।

दिव्य दृष्टि प्राप्त करने के लिये किसी से वह दृष्टिकोन समझने की रीति जानना ही आवश्यक है। एकवार वह दृष्टि मिली, तो प्रति क्षण उसकी जाग्रति रहती है, इसलिये भूलना असंभव है। आगे अनुष्ठान आवश्यक है, पर वह सहज स्वभावसे होनेवाला आचरणका है। विशुद्ध अनुष्ठान उसीसे होता है, जिस को यह दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्यदृष्टी से परमात्मा प्रत्यक्ष होता है, उसकी सेवा वह प्रत्यक्षतया कर सकता है, वेदमन्त्र उसे प्रत्यक्ष होते हैं। अप्रत्यक्ष ऐसा कोई सत्य उसको नहीं रहता। इतना इस का महत्त्व है। मतमतांतर में फंसे इससे वंचित रहेंगे ही।

' वेदका पठनपाठन आर्यों का परम धर्म है। ' और **' सत्यका पालन करना और असत्यको त्यागना भी धर्म है। '** ये ही दो मुख्य नियम हैं, जिनसे वेदके सत्य तत्त्वका प्रकाश होना संभव है। लोग वेदको तो धर्म मानते हैं, पर सत्य का स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं, इसीलिए किसी मत में रहते हैं। अतः उनको अर्ध सत्य में रहना पडता है। अर्ध सत्य से किसी को सद्गति प्राप्त होनेकी आशा नहीं है।

मुक्ति के विषय में यहां इतना लेख पर्याप्त है। इससे पाठकों के लिए यह बात स्पष्ट होगी, कि वैदिक मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं है।

चार मुक्तियाँ।

सलोकता, समीपता, सरूपता और सायुज्यता ये चार मुक्तियां हैं, ऐसा आजकल बहुत लोग कहते हैं। प्रायः मुक्तिके विचार करनेके समय इनका विचार किया जाता है। पर जो लोग ईश्वर से जीव भिन्न मानते हैं और प्रयत्न से जीव में ईश्वर-भाव शनैः शनैः आनेवाला है, ऐसा जिनका मत है, वेही इन चार मुक्तियों को मान सकते हैं।

जैसा किसी राजाके दरबार में किसी मनुष्य का प्रवेश

होना, फिर उसको दरबार में बैठने का अधिकार मिलना, पश्चात् उसको किसी ओहदे का चिह्न धारण करनेका अवसर मिलना, पश्चात् वही राजप्रतिनिधि होना, ये मानवी समाज की घटनाएं हैं, वैसी ही इन द्वैतियोंने मुक्ति में कल्पना की है।

इनके मतमें जीव क्षुद्र है, वह शुद्ध होता जाता है, समर्थ होता जाता है, बढता है, ईश्वर के लोकमें पहुंचता है, फिर उसके समीप बैठता है, फिर ईश्वर के रूप जैसा उसका रूप होता है, अन्तमें ईश्वररूपमें मिल जाता है। यह सब ख्याली कल्पना का विलास है !! दिव्य दृष्टि से शुद्ध वैदिक दृष्टिकोन होने से स्वयं अपने आपको परमेश्वर में किस प्रकार देखना और स्वयं अपनी सत्ता सदा वहीं है, इसका अनुभव कैसा करना, यह जिस के समझ में आया, उसको तो यह एक अवैदिक मत की कल्पना बालक्रीडासी प्रतीत होती है। यदि द्वैतवाद सच होता, तो उनकी चतुर्विध मुक्ति की कल्पना भी सत्य होती। पर वेद के सिद्धान्तमें 'एकं सत्' ही एकमात्र सत्य है, सत्य एक ही है। इसलिये चतुर्विध मुक्ति की कल्पना एक बालक जैसी मति का खेल प्रतीत होता है।

विश्वरूपी ईश्वर का स्वरूप ठीक ठीक समझमें आने से, अपनी सत्ता उसीमें संमिलित है, यह सहज ही समझमें आ सकता है। सबसे प्रथम 'ईश्वर का विश्वरूप है या नहीं, और है, तो कैसा है ?' इसीका ज्ञान वेद, उपनिषद् और गीता के परिशीलन से प्राप्त करना चाहिये। सब वेद के धर्म की यही बुनियाद है। इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम फिर ईश्वरस्वरूप के मानने में अशुद्धि हुई, तो सब साधनमार्ग में कैसी अशुद्धि होती है, इस को दुहराते हैं। यह विषय संक्षेप से इसी लेखमें पूर्वस्थान में बताया ही है, द्विरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी इस बात को हम यहां दुहराते हैं, क्योंकि हमारे उपदेशक आज जो मानते हैं, उसमें कितना भाग वैदिक है और कितना अवैदिक है, इसका निर्णय करनेके लिये इस ज्ञानकी बडी भारी आवश्यकता है। इस कारण ईश्वर स्वरूप और तदनुसार आचरण की विचिकित्सा थोडी अधिक हम यहां करते हैं-

नास्तिकों का अनुष्ठानमार्ग ।

नास्तिकमतवादी ईश्वर को- विश्वनियामक को मानते ही नहीं, इसलिए देहपात के पश्चात् 'शून्य' ही उनके सामने आता है। शून्य किसका क्या करेगा ? इसलिए ये लोग 'ऋण करके घी पीओ' भोग करो, ऐसा कहते हैं। चार्वाकों का भोग करना ही अनुष्ठान है। जैन बौद्धोंने शमदमादि अनुष्ठान माना है, पर वह इसलिए कि उनके मत में मनुष्य इससे पूर्ण हो जाता है, इसलिए शमादि अनुष्ठान का वे स्वीकार करते हैं। इनके मत में जगत् दुःख है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है। इस कारण सर्वस्व त्यागना ही इनका अनुष्ठान है। जगत् को हीन दुःखमय देखना भी उनका अनुष्ठान है। ये पुनर्जन्म मानते हैं और पुनर्जन्म न होने के लिए ही नाना अनुष्ठान ये करते हैं। इन जैनबौद्धों के इस अनुष्ठान का बडा भारी परिणाम इस समय के वैदिक धर्मियोंपर भी हुआ है।

तीसरे आसमानपर ईश्वर को माननेवालों का अनुष्ठान ।

पृथ्वीपर मानव हैं, उसके ऊपर अन्तरिक्ष है, उसपर स्वर्ग है। इस तीसरे लोक में ईश्वर रहता है। कई इसपर भी और चार लोक मानते हैं और वे सातवें आसमान में ब्रह्म अथवा ईश्वरको मानते हैं। तीसरे आसमानमें ईश्वर, दूसरे आसमानमें पितर और देवदूत तथा पृथ्वीपर मानव हैं, ऐसा इनका मत है। तीसरे आसमान से सातवेंतक अनेक मंजिलें इन्होंने मान रखी हैं। इनका विचार है कि पृथ्वीपर ईश्वर नहीं है, वह दूर तीसरे मंजिलपर है। देवदूत के द्वारा, उसकी सहायतासे, उसके वसीले से मानव वहां पहुंचता है। इस कारण ये समझते हैं कि पृथ्वीपर हम जैसा चाहे वैसा घातपात करें, कोई हर्ज नहीं, पर देवदूत पर विश्वास रखा तो वह सब प्रकार से हमारा उद्धार करेगा।

सप्ताहमें एक वार या कई वार ईश्वरपर तथा देवदूतपर विश्वास प्रकट किया, बुरे कर्मों का कभी कभी पश्चात्ताप किया और किसी तरह ऐसे ही कुछ कर्म किये, तो इनका गमन देवलोकमें होगा, ऐसा इनका कथन है।

ये ईश्वर को माननेवाले होनेपर भी करीब करीब न मानने के समान ही पृथ्वीपर बर्तते हैं। क्योंकि ईश्वर के सच्चे वैदिक ज्ञान से ये कोसों दूर हैं। तथा ये तीसरे

आसमान के परे ही ईश्वर को मानते हैं।

हमारे भारतवर्षमें भी कई संप्रदाय ऐसे हैं। शिवजी का निवास कैलासमें, विष्णुदेवका वैकुण्ठमें, गणेशका गाणपत्यलोकमें, ब्रह्मा का ब्रह्मलोक, गौका गोलोकमें इसी तरह अन्यान्य देवताओं का निवास अन्यान्य लोकमें है, वहां रहती हुई ये देवताएं विश्व का नियमन करती हैं, इत्यादि इनका कथन है।

यद्यपि पुराणोंमें तथा इनके ग्रंथोंमें एक व्यापक परमेश्वर के ही भाव हैं, ऐसा बारबार कहा है और विभिन्न देवतावाद का पर्याप्त निर्मूलन किया है, तथापि आचारमें वह सदैक्यवाद आया नहीं है। यहांतक माना जाता है कि, शिव के उपासक कैलासमें ही मरने के बाद जाते हैं और विष्णु के उपासक वैकुण्ठमें ही जाते हैं। मरणोत्तर ' कैलासवासी, वैकुण्ठवासी ' आदि ये कहते हैं और इनके आपस के जातीय वैर सुप्रसिद्ध है। शैववैष्णवों के झगडे दक्षिणमें इस समयमें भी हैं।

वास्तवमें एक ही परमात्मा के ये विभिन्न भाव हैं, पुराणलेखकोंने यह सत्य प्रकट किया, सर्व भूतमें परमात्मा को माना भी है, पर ये न मानने के समान ही व्यवहार कर रहे हैं। ये सब ग्रंथ एक देवता का माहात्म्य-वर्णन करने के लिये ही लिखे गये थे, पर जैसा वेद का एक एक मंत्र अलग अलग मानकर विभिन्न वाद चल पडे, इसी तरह मूल एक देवता को छोडकर ये भिन्न संप्रदाय चले और स्थायी रूपसे आपसी द्वेषके लिये कारण हुए हैं।

इतना ही नहीं पर ग्रामग्राममें अवैदिक और अपौराणिक देवताओं की उपासना भी इस समय जारी है। अनेक उपासनाएं बुरी नहीं हैं, यदि सब उपासक सब उपास्यों को एक परमात्मा ही आविर्भाव मानें। पर उपासक वैसा मानने से कई कोस दूर पहुंचे हैं। इसीलिये देवता, स्थान और मार्ग भिन्न हुए और मूल वैदिक धर्म का तत्त्व आचार से बहुत ही दूर हो गया।

यह तो विभिन्न देवतावाद की बात हुई। अब अन्तर्यामी देवतावाद का विचार करेंगे।

सर्वव्यापक ईश्वर।

ऊपर के विभिन्न देवतावाद से नाना प्रकार के कष्टों का सम्भव उत्पन्न होने के कारण उसके निवारण के लिये अन्तर्यामी देवतावाद आगे आया। यह तो वेद का एक तत्त्व है, पर वेद का सिद्धान्त इससे भी विशेष महत्त्व रखता है। सब वस्तुओं में ईश्वर व्यापक है। इस मत के प्रचार से सब देवताओं का भेद दूर हुआ। पर यह केवल तत्त्व की दृष्टिसे ही हुआ। आजकल सब लोग एक आत्मा को सर्वव्यापक मानते हुए भी विभिन्न देवतावाद वैसाही सुदृढ रहा है। इससे उपास्य-भेद के अनर्थ स्थिर रहे हैं और सर्वव्यापक एक ईश्वर की उपासना के गुण विकसित नहीं हुए। अस्तु।

सर्वांतर्यामी ईश्वर का सिद्धान्त प्रचलित होने से सब के अन्दर, सब के भीतर, सब के हृदय में ईश्वर की खोज होने लगी। देखिये इसका परिणाम क्या हुआ।

दीखनेवाला जो विश्वरूप है, वह तो ईश्वर नहीं है, पर उसके अन्दर, प्रत्येक रूप के भीतर, प्रत्येक के अन्तर्याममें प्रत्येक के केन्द्रमध्यमें ईश्वर है, यह कल्पना होते ही उपासक लोग आंखें बंद करके, अपनी मानसिक दृष्टि को अन्दर ले जाने का यत्न करने लगे। आंखें बंद करके बाह्य विषय को छोडकर, बाह्य उपाधि को त्याग कर, गुहामें जाकर, या कमरे के दरवाजे बंद करके, जहां आवाज नहीं, ऐसे एकान्तमें बैठकर, श्वास भी बंद करके चुपचाप बैठकर ईश्वर की खोजमें उपासक लग गये।

एक आसनपर स्थिर बैठना, देह को उपावासादि से कृश करना, श्वास को बंद करके कुंभकशक्ति बढाना, आंख, कान, नाक बंद करना, यहांतक की हृदयको भी बंद करना आदि अनेक अनुष्ठान उक्त मत के कारण शुरू हुए।

ये अनुष्ठान आज भी शुरू हैं और बडी प्रतिष्ठाका स्थान पाये हैं। इनके विरुद्ध आवाज उठानेवाला नास्तिकोंमें संमिलित होनेमें आजकल किसी को भी संदेह नहीं है।

ये उपासक आगे बढकर, किसी चित्र या मूर्ति का ध्यान सतत करते हैं और वैसा चित्र मन के अन्दर दीखने लगा, तो देवता का साक्षात्कार हुआ, ऐसा भी मानते हैं। मनके ध्यास से मनके अन्दर किसी मूर्ति का रूप दिखाना कोई असम्भव नहीं है, पर इससे अपनी उपासना की सिद्धि हुई, ऐसा मानकर अपने आपको सिद्ध माननेवाले भी इस समय पर्याप्त हैं और ये सब बडी प्रतिष्ठा के भाजन बने हैं।

परन्तु ये सब वैदिक ईश्वरवाद से बहुत ही दूर गए हैं। इसका कारण केवल इतनाही है कि सबके अन्दर हि ईश्वर है, इतना आधा सत्य इनको मिला। सब योगसाधन का इस समय का विधि इसी तरह उक्त मतपर प्रतिष्ठित है। योगसाधन के प्रत्येक अंगका एक विशेष हेतु है, परन्तु उस ओर कोई ध्यान नहीं देता। सब लोग अन्तर्यामी ईश्वरके साक्षात्कार के लिए लगे हैं। इनका दृढ विश्वास यह है कि ईश्वर अन्तर्यामी है, बाहर नहीं है। अन्दरबाहर एक जैसा है, ऐसा ये मानते तो इस का परिणाम व्यवहारपर भी पडता। पर केवल अन्तर्यामी की खोज करनेके कारण उक्त प्रकार व्यर्थ परिश्रम के तथा आयास बढानेवाले उपासना के प्रकार बढ गए।

पाठक इस स्थानपर सैकडों उपासना के प्रकारों का विचार कर सकते हैं। धूम्रपान, खीलोंपर बैठना, पंचाग्नि-साधन, आदि आदि सब प्रकार उक्त भ्रामक समझके ही परिणाम हैं। सब प्रचलित उपासनाओंका साकल्येन विचार करनेका यह स्थान नहीं है और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। पर एक बात विलक्षण नमूनेके तौरपर यहां बताते हैं-

ब्रह्माण्ड।

यह ब्रह्माण्ड है, अर्थात् यह अण्डेके शकल का विश्व है। यह जो आकाश दीख रहा है वह उस ब्रह्माण्ड का बाह्य कवच है। इस ब्रह्माण्ड में रहना बंधन है, इसलिए इस अण्डेके बाहर जाना मुक्ति है। इनके मत में इस अण्डे को एक सुराख है, उस मुखपर यह सूर्य का ढक्कन लगाया है। ब्रह्मचर्य से सूर्यकिरण के सहारे सूर्य में पहुंच कर उसी सूर्य के बारीक रंध्र से एकदम इस ब्रह्माण्ड के बाहर जाना संभव है।

इस तरह की कई विलक्षण कल्पनाएं इस समय भी मानी जाती हैं। परन्तु वेदके महासिद्धान्त के सामने यह सब बालिश कल्पनाएं हैं।

हम पूर्ण रूपसे जानते हैं कि उपर कहे अनेक मतवाले वेदको तो मानते हैं, पर माननेपर भी वेदके सदैक्यवाद को अथवा विश्वरूपी ईश्वरवादको न ये माननेको तैयार हैं और नही आचरण में लानेको तैयार हैं! वेदके विषय में केवल नाममात्र श्रद्धा रखकर अपना चला हुआ कार्यक्रम करने में ही सब लोग दत्तचित्त रहे हैं। इतना ही नहीं, परन्तु वेदके सदैक्यवाद अर्थात् विश्वरूपी ईश्वरवाद के विषय में कोई अधिक बलपूर्वक प्रतिपादन करने लगा, तो उसका पूर्ण विरोध भी ये करेंगे। आज की अवस्था यह है।

विश्वरूपी ईश्वर।

अन्य उपासनाओं का संक्षेप से वर्णन करने के बाद अब वेद के सदैक्यवाद का अथवा विश्वरूपी ईश्वरका थोडासा वर्णन करते हैं और इस सिद्धान्त को मानने से किस तरह उपासना करनी होती है, इस का भी विचार करते हैं-

विश्व हमें दीख रहा है, इसमें स्थूल वस्तु भी है और अति सूक्ष्म वस्तुएं भी हैं। सब मिलकर यह विश्व है। परमेश्वर का ही यह रूप है। अर्थात् मिट्टी-पत्थर, वृक्ष-वनस्पति, जल, आग, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, वायु, मानव, पशु-पक्षी, कृमिकीट आदि सब जो विविध वस्तुएं दीख रही हैं, वह सब एक ही ईश्वरका रूप है।

श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्यायमें यही वर्णन है। गीताभर में यही सत्य कहा है। गीता के ७ वें अध्यायमें 'वासुदेव ही सब कुछ है,' ऐसा जो कहा है, वह विश्वरूप-वर्णन ही है। सब कुछ का अर्थ यह विश्व ही है। वेदमें **'पुरुष एव इदं सर्वं** (ऋ० १०।९०।२; वा० यजु० ३१।२, साम० ६१९, आरण्य० ४।५, अथर्व० १९।६।४) पुरुष नारायण ही यह सब विश्व है। ऐसा चारों वेदोंमें कहा है। इसी पुरुषसूक्तमें **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस पुरुष के मुख बाहु, पेट और पांव हैं** ' ऐसा कहा है। सब मानवजाति इस तरह परमात्मा का रूप हुई, सब मानव-जातिकी सेवा करना ही साक्षात् ईश्वरकी सेवा है, क्योंकि ईश्वर का ही रूप मानवजाति है।, जनता ही जनार्दन है।

इसी पुरुषसूक्त में द्युलोक ईश्वर का सिर, सूर्य आंख, अग्नि मुख, अन्तरिक्ष उदर और पृथ्वी पाय कहे हैं। अर्थात् भूमि से लेकर द्युलोकपर्यंत जो दीखता है, वह सब ईश्वर का ही रूप है। जो आंख से दीखता है, अथवा अन्य इंद्रियों से जाना जाता है, वह सब परमेश्वर ही है। अर्थात् इस सूक्तमें सब स्थिरचर, सब प्राणी, सब मानव ये सब ईश्वर के रूप उक्त प्रकार कहे हैं।

वा० यजु० के रुद्राध्यायमें (वा. य. अ. १६ में) रुद्र-देवता के रूपों का वर्णन है, उसमें ये नाम मानवों के

हैं- सेनानी, क्षेत्रपति, सूत, वनपति, मन्त्री, वाणिज, कक्षापति, पत्ती (सैनिक), तस्कर, स्तायु (चोर), निषङ्गी, उष्णीषी (पगडी धारण करनेवाला), इषुमान्, धनुष्यधारी, सेना, सेनापति, सभा, सभापति, इ० ।

निम्नलिखित नाम अन्य पदार्थों के हैं- पशु, अश्व, रजस्य आदि इस अध्यायमें रुद्रके सैकडों रूप वर्णित हैं। इनमें सूक्ष्म कृमि हैं और पशुपक्षी और मानव भी हैं। पुरुषसूक्त और रुद्रसूक्तका मिलकर विचार करनेसे विश्वरूप ईश्वर का ज्ञान हर एक को हो सकता है।

यह ईश्वर का विश्वरूपवर्णन वेदका मुख्य और प्रमुख सिद्धान्त है और प्रायः वेद में सर्वत्र विविध प्रकार के वर्णनों द्वारा यह एक ही विषय विशद किया है। जिन लोगोंने संपूर्ण वेदोंका समन्वय नहीं किया, और कुछ फुट-कर मन्त्रों का ही विचार किया है, वे द्वैत, त्रैत सिद्धान्त वेदोक्त हैं, ऐसा मानते हैं, दूसरे देवी, रुद्र, शिव, विष्णु आदिकी उपासना भी वेद से ही सिद्ध करते हैं। पर ये सब मत अधूरे हैं और '**ईश्वर के विश्वरूप**' का पक्ष अथवा '**सदैक्यवाद**' **का पक्ष** ही वेदका साकल्येन मन्तव्य है। यदि इतने वर्णन से किसीके ध्यान में यह बात न आयी हो, तो इसी विषय का वर्णन किसी अन्य लेखमाला में करेंगे। अतः यह विषय यहां ही समाप्त करके हम समझते हैं कि वेदका यह सिद्धान्त यहां स्पष्ट हुआ। अब इससे वैदिक ईश्वर की उपासना कैसी सिद्ध होती है, यह देखते हैं-

मानवसमाज, पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति, स्थावर-जंगम, स्थूल-सूक्ष्म जो कुछ इस विश्वमें है, वह सब ईश्वर का रूप है। यहां ईश्वरपद से आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, विष्णु, नारायण, पुरुष, महादेव, आदि सब समझना चाहिये। क्योंकि वेद की दृष्टि से '**एकं सत्**' है, सब रूप इसी '**एकं सत्**' के हैं। इस कारण वेद का ज्ञाता अन्यान्य देवताओं की उपासना न जानते हुए, परमात्मा के अंश की उपासना ही है, ऐसा मानता है, यदि इसमें अन्योंका द्वेष न होगा। जहां अन्योंका द्वेष होगा, वहां वह ईश्वरो-पासना नहीं है। यद्यपि यह खण्डित उपासना है, तथापि यह एक अंश से सत्य है। ऐसा वेदज्ञ जानता है। पर वह स्वयं वैसी उपासना नहीं करता, क्योंकि यह विधि ठीक नहीं है।

वेदज्ञ जनता है कि, '**सब विश्व परमेश्वर का जीता जागता रूप है**' **और वही उपास्य, सेव्य तथा परिचर्य है**। मानवोंमें, पशुपक्षियों में जो दुःखी, कष्टी, तकलीफमें होंगे, उनका कष्टनिवारण करने के लिये, वह आत्मसमर्पण करता है। किसी की हिंसा करना उससे हो ही नहीं सकता, क्योंकि सब ही ईश्वर का रूप है। इस ईश्वर के रूपमें वह अपने आपको संमिलित देखता है। यहां अनन्यभाव (अन्-अन्य-भाव) अर्थात् मैं ईश्वर से पृथक् नहीं हूं, यह भाव उसमें सुस्थिर होता है।

अनन्यभाव से उपासना का आशय यही है। अनन्य-भाव का सच्चा वैदिक आशय यहां समझमें आता है। किसी अन्य मतवादमें अनन्यभाव की इस तरह की प्रत्य-क्षता नहीं है। यही वैदिक सदैक्यवाद का वैभव है।

सब प्राणी यहां परमात्मा के रूप हैं। सब प्राणियों की ओर इस वैदिकधर्मीने ईश्वरभाव से हि देखना है। यह वैदिक धर्मी गौकी सेवा करेगा, ईश्वर मानकर सेवा करेगा। पर गोलोक आदि की कल्पना से यह भिन्न प्रकार की उपासना होगी।

जो कर्म मनुष्य उत्तम रीति से कर सकता है, उस कर्म से ही यह उपासना होती है। ब्राह्मण ज्ञान के उपदेश-द्वारा, क्षत्रिय प्रजारक्षाद्वारा, वैश्य कृषिनिर्माण, गोपालन आदिद्वारा और शूद्र विभिन्न कारीगरीद्वारा विराट् पुरुष की सेवा कर सकते हैं। यज्ञमें सब की सेवा लगती है और उस से सब की उन्नति होती है। राष्ट्रमें ऐसे व्यवहार शुरू करने कि जिनसे सब को सुख मिले और कोई भी सुख से वञ्चित न रहे। वैदिक रीति से विश्वरूप की उपासना करनेवाले इस प्रकार के विविध प्रबंधोंद्वारा विश्वरूप की सेवा करते हैं। वैदिक उपासना का यही मार्ग है।

यह सेवा घरसे प्रारंभ होकर सब जनता तक पहुंचती है। जिसकी जितनी शक्ति है, वह उतना कर्म करे। पाठकों के ध्यान में यह बात आयी होगी कि यहां उपास्य देव प्रत्यक्ष जीवित और जाग्रत है। उसको क्या चाहिये इसका पता उपासक को लग सकता है। यहां कोई व्यक्ती कर्म

नहीं है कि जिसका परिणाम क्या रहा हो है, इसका पता तक किसी को न लग सके।

ईसाई, मुसलमीन और हिंदुओं में से विविध प्रकार की पूजा करनेवाले, ध्यानधारणा करनेवाले अपने अपने उपास्य देवोंको फलाणी बात चाहिए, ऐसा मानते हैं, पर उनको प्रत्यक्ष से उसका पता नहीं है। जैसा कि मुसलमान बक-रीदके दिन गोवध का हठ करते हैं, पर उनको प्रत्यक्षसे पता नहीं है कि सचमुच, उनके ईश्वर को गौकी कुर्बानी चाहिए। वे कुराण के वाक्यपर विश्वास रखकर चलते हैं। इसी तरह हिंदू देवतोपासक अपने उपास्य देवोंको फलानी उपासना चाहिए, ऐसा मानते और करते हैं, यह ग्रंथपर विश्वास से ही करते हैं। पर किसी भी उपासक को किसी समय प्रत्यक्ष ईश्वरने नहीं कहा कि मुझे यह चाहिए और यह नहीं चाहिए। केवल विश्वाससे ये लोग चल रहे हैं और विश्वास से ही कर्म करते जाते हैं।

पर वैदिकधर्मी विश्वरूपी ईश्वर के उपासक की बात वैसी नहीं है। वह अपने चारों ओर ईश्वरको क्या चाहिए, यह देखता है, देखनेसे उसे पता लगता है। उदाहरणार्थ देखिये अपने ही देशमें- सब जनता पेटभर अन्न को प्राप्त नहीं करती, हरिजन निकृष्ट अवस्थामें हैं, पशु सुरक्षित नहीं हैं। ये ही ईश्वर के रूप हैं। इन की सेवा करनाही वैदिकधर्मीकी उपासना है। अतः हम कहते हैं कि, वैदिक-धर्मी को पता रहता है कि, उनके उपास्य देव को क्या चाहिए।

किस परिस्थितिमें कहां क्या करना चाहिये, यह इस तरह वैदिकधर्मी अपनी आंखें खोलकर देख सकता है। वैदिकधर्मी वैद्य हो, तो अनेक रोगियों की सेवा कर सकता है। यही उसके ईश्वर की सेवा और उपासना है। इस तरह सेवा ठीक हुई या ठीक न हुई, यह वैदिकधर्मी ही जान सकता है। सब अन्य उपासक ख्याली मार्ग से चल रहे हैं। केवल वैदिकधर्मी ही अपना मार्ग अपने आंख से देखता है और अपनी उपासना और सेवा से ईश्वर संतुष्ट हुआ या नहीं हुआ, यह प्रत्यक्ष जान सकता है।

केवल वैदिकधर्म की विश्वरूपी ईश्वर की उपासना ही प्रत्यक्ष का विषय है। सब अन्य मतमतांतर आंखें बंद करके केवल विश्वास से चल रहे हैं। वे सब निःसन्देह अपमार्गपर ही चल रहे हैं। देखिये, वैदिकधर्मी अपनी सेवा से जीवित मानवों की परिचर्या ईश्वर के वे रूप हैं, ऐसा मानकर करेगा, पर आजकल के हिन्दू इस समय उसके सामने जो ईश्वर के मानवी रूप हैं, उसको बिलकुल छोड देगा, इतना ही नहीं, परन्तु उस ओर पूर्ण उदासीन रहेगा और दसपांच सहस्र वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए वीरों की मूर्तियों की पूजाअर्चा तनमनधन लगाकर करेगा !! इस एक उदाहरण से पाठकों को सब बात का पता लग सकता है।

वैदिकधर्मी की उपासना घर से शुरू होती है और सब विश्व के रूपके साथ समान भाव से चलती रहती है, अपनी सेवासे ईश्वरकी प्रसन्नता होनेका अनुभव भी उसे मिलता है। वैसा अनुभव किसी अन्य मतवाले को प्राप्त हो ही नहीं सकता।

वैदिक धर्म का यह श्रेष्ठ दृष्टिकोन है, वैदिकधर्मी का यही उपास्य ईश्वर है और वैदिकधर्मी की यही उपासना है। अन्य मतोंमें और वैदिक धर्म में जो बडा भेद है, वह यहां स्पष्ट हुआ है। इस से अधिक विविध पहलुओंमें यही बात देखी जा सकती है, पर वह यहां देखने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

स्वा० वेदानंदजी से प्रार्थना।

श्री० स्वा० वेदानन्दतीर्थजी सबसे प्रथम इसका विचार करें। वैदिक ईश्वर का स्वरूप विश्वरूप है, विश्वरूप एक अखण्ड और सनातन शाश्वत सत्ता है, अर्थात् उसमें छोटे छोटे विभिन्न खण्ड नहीं हैं और इस विश्वरूप की स्वकर्म से उपासना करना, इस के प्रीत्यर्थ आत्मसमर्पण करना वैदिकधर्मी का कार्य है। कृपया स्वा० वेदानन्दजी इस का मनन करें और निश्चित करें कि, यह वेद का सिद्धान्त है वा नहीं है।

वैदिक धर्म के उपासनासिद्धान्त की यही विशेषता है। किसी अन्य मतमें यह बात नहीं है। सब अन्य मत भ्रांत मार्ग से चल रहे हैं, अर्थात् उनको अनन्यता कभी प्राप्त होने की संभावना नहीं है।

श्री स्वा० वेदानन्दजी वैदिक धर्म के इस मुख्य सिद्धान्त को समझें, इसपर विचार करें, इसी से विश्वकल्याण होनेवाला है, इस बात को जानें, इस सिद्धान्त के प्रचार होने तक संपूर्ण विश्वभर में संघर्ष बढता ही जायगा, इसका मनन करें और इसके पश्चात् हम पूछते हैं कि क्या वैदिक धर्मीका यह कार्य नहीं है कि इसी ज्ञान का प्रचार करनेके लिए सहायक हों? इस वैदिक ज्ञान को जानकर इस वैदिक सत्य का विरोध करना स्वा० वेदानन्दजी छोड दें।

बंधन और मुक्ति।

अन्य मतों में और वैदिक सिद्धान्त में बंधन और मुक्ति की कल्पना का भी जमीन आसमान का अन्तर है। वैदिक धर्म को छोडकर सब अन्य मतवाले जन्म से अपनी मुक्तता करनेके यत्न में लगे दीखते हैं, जन्म ही दुःख का हेतु है, ऐसा सब मतवाले मानते हैं। पर **वैदिक धर्म जन्म का स्वागत करता है।** ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् शुभ संस्कारसंपन्न सुप्रजा उत्पन्न करना वैदिकधर्मीका एक कर्तव्य है। (देखो बृ० आ० उ० का अथवा शतपथ का अन्तिम अध्याय।)

स्वा० वेदानन्दजी बौद्धोंका दुःखजन्मवाद अपनाकर उसी को वैदिक धर्म का सिद्धान्त मानकर, उस जन्म से मुक्ति पाने की बात कर रहे हैं। उन को पता नहीं कि वैदिकधर्मी की दृष्टिसे संपूर्ण विश्व ईश्वरका ही स्वरूप होनेसे विश्व आनन्दमय है और यही वैदिक उपास्य देव है।

इसमें जन्म प्राप्त होना वैदिकधर्मी के लिए भयकारक नहीं, प्रत्युत आनन्दकारक है। वैदिकधर्मी अपने उपास्य देवसे क्यों दूर भागेगा? जैनबौद्धों के मत से यह विश्व दुःखमय है, वे यहां से भाग जांय, पर वह अवैदिक मत अपनाने की हमें क्या आवश्यकता है? कृपया इस बात का विचार श्री स्वा० वेदानन्दजी करें।

गर्भाशयनिवास।

बौद्धों की छाया पडनेके कारण बुद्धपश्चात् के ग्रंथकारों ने गर्भाशयवास के ऐसे दुःख वर्णन किए हैं, कि उनको पढनेसे गर्भवास में आनेके संबन्ध में बडी घृणा उत्पन्न हो जाती है। आज के हमारे प्रचारक भी इसी प्रवाह में फंसे हैं। पर यह विचारपरंपरा अवैदिक है।

वस्तुतः शारीरशास्त्र की दृष्टिसे भी गर्भ बडा सुरक्षित रहता है। माता के पेट के क्रिमी, विष्ठा, मूत्र आदिसे उस का कोई संबंध नहीं है। आधुनिक, अवैदिक विचारकोंने शारीर शास्त्रको न जानने के कारण गर्भवास के दुःखोंका बडा भयानक वर्णन कर रखा है और यही आजकल की जनतापर सवार हुआ है।

वैदिक धर्म तो कहता है कि '**ब्रह्म का एक अंश अपने साथी ३३ देवताओं के साथ गर्भ में आता है।**' क्या जहां राजाधिराज ब्रह्मानन्द महाराज तैतीस देवों के साथ जन्म लेनेवाले हैं, वहां पूय, विष्ठा, मूत्र और कृमि उनको कष्ट दे सकेंगे? वेद का धर्म यही परमोच्च कल्पना दे रहा है और हम प्रचारक गर्भवाससे ही छुटकारा पाने की बात बोल रहे हैं !!

गर्भवास से, शरीर-धारण से छुटकारा पाना मुक्ति नहीं है। शरीर तो वेदकी दृष्टिसे ३४ देवताओं का निवासस्थान है, वह तो सप्त ऋषियों का आश्रम है। यहीं ब्रह्म का अनुभव होना है। नास्तिक बौद्ध डरते रहें, पर हम वेद के धर्मी ईश्वरस्वरूपी विश्व में जन्म लेनेको कभी डरेंगे नहीं। यह हमारे लिये जेलखाना नहीं है।

वेद के आदेशानुसार बंधन और मुक्ति और ही है। सब के अन्दर जो अपने छोटेपन का, अपने अल्प होनेका ध्यास कुशिक्षा के कारण पैदा हुआ है, उससे छुटकारा पाना, और अपने आपको विश्वरूपी परमेश्वर के विश्वव्यापक शरीर में अनन्य अर्थात् उसीका एक अंग होनेका अनुभव करना ही मुक्ति वेद में कही है। यही वेद का स्वाराज्य है। यह अनुभव आना और यह अनुभव सहजवृत्ति में रहना ही मुक्ति है। छोटेपनसे, संकोचसे, अल्पभाव से यह मुक्ति है। यही भूमा भावकी प्राप्ति है, यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, प्रत्युत जो है उसी का यह अनुभव है। यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध बात है। हर एक मनुष्य इसका अधिकारी है। हर एक इसका अनुभव ले सकता है।

त्याग और भोग।

त्याग और भोगकी वैदिक तथा अवैदिक कल्पनाओं में महत् अन्तर है। आजकल संपत्ति से दूर रखने में महत्व माना जाता है। पर हमें वेद के अनुसार संपत्ति पास रखना

द्वेषमय है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आप वसिष्ठ भरद्वाज आदिकों के आश्रम देखिए, वे विशाल संपत्ति से भरे थे, वहां सहस्रों छात्र विना शुल्क पढाए जाते थे और सेना-समेत राजाओं का शाही आदरातिथ्य भी किया जाता था। धनाभाव से यह बात कदापि बनेगी ही नहीं। वसिष्ठजी और भरद्वाजजी पूर्ण त्यागसे रहते थे, अर्थात् वे स्वयं संपत्ति का भोग नहीं लेते थे, पर उनके आश्रममें दस हजार छात्र पाले जाने के लिये जितना धन चाहिये, उतना धन था और उनको उस कार्य लिये भिक्षा मांगने के लिये बाहर जाने की आवश्यकता नहीं थी।

दूसरा उदाहरण उपनिषदमें रैक्व का है (छां० उ०)। रैक्व बडा ब्रह्मज्ञानी था। उसके पास जानश्रुती नामक राजा आता है, वह उसको हजारों गौवें, हजारों मोहरें, रथ, घोडे, एक गांव तथा अपनी राजपुत्री विवाहरूप में देता है, उसका स्वीकार रैक्व करता है और पश्चात् वह तत्त्वज्ञान का उपदेश उसे करता है। यहां किसी के भी मनमें यह बात नहीं आयी कि, ब्रह्मज्ञानी तो सर्वस्वत्यागी है, उस को विवाह करने के लिये तरुणी क्यों दी जाती है? एक गांव ईनाम क्यों दिया जाता है और वह लेता भी कैसे है? घोडे, गाडीयां, धन, गांव और स्त्री का स्वीकार करने के बाद कोई भी रैक्व की निंदा नहीं करता, क्योंकि उस समय की जनता को यह व्यवहार हमेशा का ही था। आजकल के लोग इसकी निंदा करेंगे। क्योंकि आजकल संत वे समझे जाते हैं, जो पागल से रहें, बेढंगी बातें करें, गालियां दें, पत्थर मारें, एक प्रश्न पूछा, तो दूसराही उत्तर दें, कभी किसी से सीधी बात भी न करें, ऐसे पागल जैसे रहनेवालों को इस समय संत महंत ब्रह्मज्ञानी पदवी मिलती है !!

इस कारण इस समय क्वचित् कोई किसी जगह ऐसा संत होगा तो होगा कि, जिस के ज्ञान से किसी का वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय लाभ होने की सम्भावना हो। कोई इनके पास गया तो इनसे सीधा जवाब भी मिलना नहीं है। फिर लाभ की आशा तो दूर रही! आजकल संतभाव ऐसा है। पर वैदिक धर्म में ऐसा नहीं था। वैदिक समय के संत और ब्रह्मज्ञानी जनता का हित करते थे, सदुपदेश से तारण करते थे, विश्वकल्याण का मार्ग दर्शाते थे। उस समय केवल ख्याली तत्त्वज्ञान नहीं था, परन्तु सब तत्त्वज्ञान साक्षात्कारपूर्वक अनुभवमें आनेवाला था।

संत महंत, ऋषिमुनि, आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी धन से समृद्ध थे, पर उस धनका उपयोग विश्वकल्याणमें होता था। पाठक यहां जान सकते हैं कि, अपने पास धन न रखते हुए, निर्विकार रहना आसान है, पर वसिष्ठ जैसा भरपूर धन आश्रममें रखते हुए उस के भोग से अलिप्त रहना कठिन कार्य है। यह था वैदिक धर्म का आदर्श।

जो विश्वरूपी ईश्वर को पहचानते हैं, उनमें पूंजीपति-वाद नहीं रह सकता। सब जनता विश्वकल्याण के कार्य में लगने के कारण कोई किसी पर आक्रमण नहीं करेगा और सब सुखी रहेंगे।

वैदिक धर्म की मुक्ति की यह कल्पना जो मनुष्य को प्रत्यक्ष होनेवाली है, प्राप्त होने पर इससे पुनः बंधनमें पडने का क्या तात्पर्य है, हमारी समझमें नहीं आता। श्री स्वा० वेदानन्दतीर्थजी मुक्ति से लौटने के इच्छुक हैं। न जाने इतनी इस बातकी आतुरता इनको क्यों है? वैदिक मुक्ति की ठीक ठीक कल्पना होने के बाद उनको कोई संदेह नहीं रहेगा। वैदिक मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं है और न जीवन बंधन है। वैदिक धर्म का दृष्टिकोन स्वतन्त्र ही है, जो प्राप्त करना हरएक वैदिकधर्मी का कर्तव्य है।

यदि श्री स्वा० वेदानन्दजी इस विषयपर अधिक विचार करना चाहते हैं, तो वैसा करने को हम तैयार हैं। इस कार्य के लिए (१) वैदिक ईश्वर स्वरूप, (२) वह प्रत्यक्ष करने का अनुष्ठान, (३) बंध और मुक्ति के स्वरूप और साधन, (४) मुक्ति का अवधि, (५) कल्पांत के थोडासा पूर्व मुक्त होनेवाले भी कल्पान्त में वापस आते हैं अथवा दूसरे कल्पतक वहां रहते हैं, (६) मुक्ति में जीव की अवस्था, आदि विषयों का वर्णन वे अपने वैदिक प्रमाणों से करें। मतमतांतरों के प्रमाणों से कार्य नहीं चलेगा। वेदके ही प्रमाण चाहिए।

इस तरह लेखबद्ध शास्त्रार्थ होता रहेगा तो सबके सामने वेदका मत स्पष्ट रूपसे आजायगा। आशा है कि स्वा० वेदानन्दजी इस तरह अपना मत बतावेंगे।

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। इसमें ।) एक बारका पैकिंग और ।) एक बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य सेही मिलेंगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें ।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

माताजी से वार्तालाप।

(११)

रोग क्यों और कैसे होते हैं।

(अनुवादक- श्री० मदन गोपाल गाडोदिया)

क्या समस्त शारीरिक व्याधियों का मूल कारण मन की ही किसी अव्यवस्थामें खोजा जा सकता है? यदि हां, तो घमोरी और गला बैठना जैसे रोग मन की किस प्रकारकी अव्यवस्थाके कारण पैदा होती है?

जितनी संख्या बीमार पडनेवालों की होती है, उतने ही नानाविध कारण किसी एक रोग के भी हो सकते हैं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति के रोग के कारण का हिसाब भिन्न-भिन्न होगा। यदि तुम मुझसे यह पूछो कि, "मुझे अमुक रोग क्यों हुआ?" तो मैं तुम्हारे अन्दर देखकर उस का कारण बता सकती हूँ, किंतु इस विषयमें कोई सर्वसाधारण नियम नहीं है।

शारीरिक व्याधियां सदा मन की अव्यवस्था, असामंजस्य या कुप्रवृत्तियों के कारण ही नहीं होतीं। हो सकता है कि, किसी रोग का मूल कारण मनमें हो, हो सकता है कि, वह प्राणमें हो, अथवा यह भी हो सकता है कि, वह कम या अधिक मात्रामें निरा भौतिक ही हो, जैसे कि, छूत संसर्ग के द्वारा पैदा होनेवाले रोग। योग की क्रिया के कारण भी रोग हो सकता है और इस प्रकार जो रोग होता है, उसके भी अनेक कारण होने सम्भव हैं।

हम जरा योग के कारण होनेवाले रोगों के विषयमें विचार करें, कारण हमारा सीधा और गाढा सम्बन्ध इन्हीं से है। इस क्षेत्र में यद्यपि किसी विशेष रोग के सम्बन्ध में कोई एक ही कारण तो नहीं बताया जा सकता, फिर भी जैसे-जैसे कारणों से व्याधियां उमडती हैं, उनके अनुसार हम इनके बहुत से वर्गीकरण कर सकते हैं।

योग-साधन करनेवाले व्यक्ति के अन्दर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपांतर के कार्य में उस की सहायता करती है, वह अनेक प्रकार से कार्य करती है, और इस शक्ति की क्रिया के परिणाम इसको ग्रहण करनेवाले व्यक्ति के स्वभाव पर तथा उसके अन्दर जो कार्य किया जानेवाला है, उसपर निर्भर करते हैं। सबसे पहला काम जो यह शक्ति करती है, वह यह है कि, साधकमें जो कुछ रूपांतरित होने के लिये तैयार है, उस सबके रूपांतरमें वह एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो, तो इस योगशक्ति के स्पर्श को पाकर वह शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है।

इसी प्रकार यदि उस की प्राणमय चेतना तैयार हो, तो उसका भी, यहांतक कि, उस के शरीर का भी परिवर्तन उसी के वेग के साथ होने लगता है। परन्तु शरीर के अन्दर यह रूपांतरित करनेवाली योगशक्ति एक विशिष्ट परिमाण में ही कार्य करती है, कारण शरीर की ग्रहण-शीलता सीमित होती है। विश्व की अत्यन्त जड प्राकृतिक भूमिका की अभीतक यह अवस्था है कि, उसमें ग्रहण-शीलता के साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रा में मिला हुआ है।

परन्तु सत्ताके एक भाग में जो तीव्र प्रगति होती है, उसका यदि दूसरे भागों की तदनुरूप प्रगति द्वारा अनुसरण न हो, तो प्रकृति में एक असामंजस्य पैदा हो जाता है, कहीं पर शृंखलाभंग हो जाता है। और जहां कहीं या जब कभी यह शृंखलाभंग होता है, तो वह किसी न किसी व्याधिका रूप धारण कर सकता है। इस शृंखलाभंग के स्वभावपर ही रोगका स्वभाव निर्भर करता है। एक प्रकार के असामंजस्य का मनपर असर पडता है और इससे जो विक्षोभ होता है, उसके कारण उन्माद तक हो सकता है। दूसरा असामंजस्य ऐसा होता है, जिसका असर शरीरपर पडता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमोरी तथा दूसरे

दूसरे छोटे या बडे रोग हो सकते हैं।

एक ओर तो यह होता है कि योगशक्तियों के कार्य द्वारा सत्ताके उन भागों में, जो उस शक्तिको जो उसपर कार्य कर रही है, ग्रहण करने और प्रत्युत्तर देनेके लिए तैयार हैं, रूपान्तर की गति बढ जाती है। और इस प्रकार योग समय की बचत करता है। सारा जगत् प्रगतिशील रूपान्तर की प्रक्रिया में है; और यदि तुम योगसाधना करनेका का निश्चय करते हो, तो तुम अपने अन्दर हो रही इस प्रक्रिया में एक शीघ्रता ले आते हो, जिस कामको साधारण रीतिसे करने में वर्षों लगेंगे वही काम योगद्वारा चन्द दिनों में यहां तक कि चन्द घंटों में ही किया जा सकता है।

परन्तु तुम्हारी आन्तर चेतना ही इस शीघ्रगामी आवेग के आधीन होती है; कारण तुम्हारे आधारके उच्चतर भाग ही योगकी द्रुत और एकाग्रीभूत गतिका तत्परता के साथ अनुसरण करते हैं और इस गतिके कारण उन्हें जो सतत रूपसे उसके साथ एकरस होने और अनुकूलता स्थापित करनेकी आवश्यकता रहती है, उसको वे अधिक सुगमताके साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर है, जो साधारणतया स्थूल है, तमोगुणी और शिथिल है, तो यदि तुम्हारे इस भाग में कोई चीज ऐसी होती है जो उपर्युक्त गति का प्रत्युत्तर नहीं देती। यदि वहां कोई प्रतिरोध होता है, तो इस का कारण यह है कि आधारके अन्य भाग जिस तेजी के साथ चल सकते हैं, उसी तेजी के साथ शरीर नहीं चल सकता।

इसको समय लगता है, जिस चालसे यह साधारण जीवन में चलता है, उसी चालसे योगिक जीवन में भी चलना चाहता है। और अब घटना उसी प्रकार घटती है, जैसा कि उस समय होता है जब कोई जवान आदमी लडकों के साथ चलता है, अर्थात् वह बह लडकों को अपने जैसी तेजीके साथ चलने में असमर्थ पाता है, तो उसे समय-समय पर रुक जाना पडता है, जिसमें कि लडके, जो पिछड गए हैं, वे उस में आ मिलें। आन्तरिक सत्ताकी प्रगति में और स्थूल शरीरकी जडता में जो यह विरोध है, उसके कारण बहुधा शरीर में 'श्रृंखलाभंग' हो जाता है, और फिर यह श्रृंखलाभंग रोग के रूप में प्रगट होता है।

यही कारण है कि, योग-साधना करनेवाले आरम्भमें अकसर किसी-न-किसी प्रकार की बेचैनी या गडबड अनुभव करते हैं। ऐसा होना जरूरी नहीं है, यदि ये लोग अपनी चौकशी रखें और सावधान रहें। अथवा यदि शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूपसे ग्रहणशील हो, तो भी इन लोगों की रक्षा हो जाती है। परन्तु इतनी निर्मल ग्रहणशीलता का होना कि, वह भौतिक अंगोंको भी आंतरिक रूपांतर के वेग के लगातार साथ-साथ ही चला ले जा सके, कठिन ही है। हां, यदि शरीर को भूतकाल में योगिक प्रक्रिया के लिये तैयार किया जा चुका हो, तो दूसरी ही बात है।

मनुष्य के साधारण जीवनमें, तो इस श्रृंखलाभंग का उत्तरोत्तर बढते जाना ही नियम है। मनुष्य की मनोमय सत्ता और प्राणमय सत्ता तो विश्वव्यापक शक्तियों की गतियों का भरसक अनुसरण करती है, और जगत् के आंतरिक रूपान्तर तथा विकासकी धारा उन्हें कुछ दूरतक आगे बढा देती है, किंतु शरीर, जो जड प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चाल से चलता है। कुछ वर्षों के बाद सत्तर या अस्सी, सो या दो सौ वर्षों के बाद —और यही शायद अधिक से अधिक अवधि है— यह श्रृंखलाभंग इतना अधिक बढ जाता है कि, बाह्य सत्ता टुकडे टुकडे हो जाती है। मांग और उत्तर में अन्तर होने के कारण तथा शरीर की उत्तरोत्तर बढती जाती हुई असमर्थता और अप्रत्युत्तरकारिता के कारण मृत्युकी घटना आ उपस्थित होती है। योगसाधना करने से यह होता है कि, सृष्टि के आंतरिक रूपान्तर की जो धीमी पर अनवरत प्रक्रिया चल रही है, वह अधिक तीव्र और द्रुतगामी हो जाती है। किन्तु बाह्य रूपान्तर की चाल लगभग साधारण जीवन जितनी ही रहती है।

फलतः यदि सावधानी न रखी जाय और ऐसा संरक्षण न प्राप्त कर लिया जाय, जिस के द्वारा शरीर को आन्तरिक प्रगति के यथासाध्य साथ-साथ चलने में सहायता मिले, तो योगसाधन करनेवाले की आंतरिक और बाह्य सत्ता के बीच का यह असामंजस्य और भी बढ जाना चाहता है। और यह सब कर लेने के बाद भी शरीरका स्वभाव ही ऐसा है कि, वह तुम्हें पीछे की ओर खींचता है। यही कारण है कि, बहुतों को हमें यह कहने के लिये मजबूर होना पडता

है कि, " मत खींचो, जल्दबाजी मत करो, शरीर को अनुसरण करने के लिये तुम्हें समय देना ही पडेगा। " कुछ साधकों को, तो वहीं रोक रखना और अधिक साधना करने अथवा अधिक आगे बढने से मना करना आवश्यक हो जाता है।

कभी-कभी इस असमतोलता का बचाना असम्भव हो जाता है। और तब तुममें गडबडी पैदा होती ही है, जिसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, यह तुम्हारे प्रतिरोध के स्वभावपर और तुमने जितनी सावधानी रखी है, या जितनी अवहेलना की है, उसके परिणामपर निर्भर करता है। यह भी एक कारण है, जिस से यह होता है कि, जब-जब प्रगति की ओर तीव्र गति होती है, तब-तब उसके बाद प्रायः निरपवाद रूप से एक स्थावरता का काल आता है, और इस काल में, उन लोगों को जो सावधान नहीं कर दिये गये हैं, ऐसा मालूम होता है, मानों वह केवल जडता, अवरोध और निरुत्साहिताका अभिशापित काल हो, जिसमें समस्त प्रगति रुक गयी हो। और वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं, " अरे ! यह क्या हो रहा है ? मेरा समय नष्ट तो नहीं हो रहा ? कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है। "

परन्तु इस विषयका सत्य यह है कि जो प्रगति हो चुकी है, उसको पचाने के लिए जिस काल की आवश्यकता होती है, यह वह काल होता है। यह विश्राम इसलिए दिया जाता है कि इस कालमें शरीर अपने-आपको अधिक खोल दे और वह अधिक ग्रहणशील बन जाय तथा आन्तर चेतना जिस भूमिकाके ऊपर उठ चुकी है, उसके अधिक समीप पहुंच जाय। मां बाप बहुत अधिक आगे बढे जा रहे थे, उन्हें रुकना पडेगा, जिसमें कि पिछडा हुआ लडका दौडकर उनका हाथ पकड ले सके; ऐसा होने के बादही वे फिर से एक साथ होकर अपनी यात्रा आरम्भ कर सकेंगे।

शरीर का प्रत्येक स्थान किसी-न-किसी आन्तरिक गति का प्रतीकरूप होता है। इस प्रकार यहां सूक्ष्म-आदान-प्रदानोंका एक जगत् ही है। परन्तु यह एक लंबा और जटिल विषय है और हम लोग इस विषय की ब्योरेवार चर्चा में अभी तुरन्त नहीं उतर सकते। शरीर के जिस विशिष्ट स्थल को रोगने आक्रान्त किया होता है, वह इस बात का सूचक होता है कि, अंदर में जो असामंजस्य हुआ है, वह किस प्रकार का है।

वह व्याधि के उद्गमस्थान को दिखा देता है, रोग किस कारण से हुआ है, उसका यह एक चिह्न होता है। इसके अतिरिक्त यह इस बात को भी प्रकट कर देता है कि, जो प्रतिरोध हो रहा है, जिसके कारण समग्र आधार एकसमान तेज चाल से चलने में असमर्थ हो गया है, वह किस स्वभाव का है। यह हमको दरसा देता है कि, इसकी औषधि और इलाज क्या है। यदि भूल कहां पर, इस बात को कोई ठीक-ठीक समझ जाय, वह इस बात का पता लगा ले कि, कौनसा अंग ग्रहणशील नहीं रहा है, उस अंग को खोल दे और उसमें शक्ति और प्रकाश का प्रवेश करावे, तो जो कुछ बेसुरा हो गया है, उसे क्षण भर में ही फिरसे सुर में ले आना संभव हो जायगा और रोग तुरन्त भाग जायगा।

किसी रोग का उद्गमस्थान मन में हो सकता है, प्राण में हो सकता है, आधार के किसी भी भाग में हो सकता है। एक ही रोग अनेक कारणों से हो सकता है और विभिन्न व्यक्तियों में वह असामंजस्य के विभिन्न स्रोतों में से उमड सकता है। और यह भी हो सकता है कि, रोग के लक्षण दिखायी देते हों, किन्तु असल में कोई रोग हो ही नहीं। और इस अवस्था में, यदि तुम पर्याप्त रूपसे सचेतन होओ तो, तुम यह देख पाओगे कि कहीं पर कोई रगड लग गयी है और इस कारण प्रगतिका प्रवाह कहीं पर कुछ रुक-सा गया है और यदि तुम इस अवरोध को हटा दो, तो तुरन्त चंगे हो जाओगे। ऐसे रोग का- जब वह शरीर को असर करता हुआ-सा दिखायी देता हो तब भी- कहीं कोई सत्य कारण नहीं होता। यह बहुत कुछ कल्पित होता है और जड प्रकृति पर इसका कब्जा वैसा नहीं होता जैसा कि किसी सच्चे रोग का होता है।

संक्षेप में यों समझो कि रोग के कारण भांति-भांति के और पेचीदे होते हैं; प्रत्येक रोग के लाखों कारण हो सकते हैं, किन्तु इससे सदा ही यह पता चल जाता है कि, आधार का दुर्बल भाग कौनसा है।

रोग किसी भी कारण से क्यों न हुआ हो, और वह चाहे स्थूल भौतिक हो या मानसिक, बाह्य हो या आन्तरिक, उसे भौतिक शरीरपर असर करने से पहले सत्ता के

उस स्तर में से प्रवेश करना पडता है, जो शरीर के चारों ओर लिपटा हुआ है, तथा उसकी रक्षा करता रहता है। इस सूक्ष्मतर स्तर के भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न नाम हैं,- कोई उसे आकाश-शरीर कहता है तो कोई नाडी-कवच। यह एक सूक्ष्म शरीर है, तो भी यह बहुत कुछ दृष्टिगम्य है। किसी अत्यन्त उष्ण और उबलते हुए द्रव्य के चारों ओर जो घने कंपन दिखायी देते हैं, वैसाही यह घना होता है, यह भौतिक शरीर में से ही पैदा होता है और फिर उससे सटा हुआ रहकर उसको चारों ओर से ढांके रहता है। बाह्य जगत् के साथ समस्त व्यवहार इसी के माध्यम द्वारा होता है और इस कवच-शरीर पर पहले आक्रमण करके इसका भेदन करने पर ही स्थूल शरीर तक कोई असर पहुँच सकता है।

यदि यह कवच पूर्ण रूप से बलवान् और अखंड हो तो तुम बुरे-से-बुरे रोगों से आक्रान्त स्थानों में भी, यहाँ तक कि जहां प्लेग और हैजा हो, ऐसे स्थानों में भी जाकर सर्वथा रोगमुक्त रह सकते हो। जब तक यह समग्र और पूर्ण रहता है, इसकी बनावट जब तक अखंड रहती है, इसके तत्त्व जब तक पूर्ण संतुलन में रहते हैं, तब तक यह रोग के समस्त संभावित आक्रमणों से हमारी संपूर्ण रक्षा करता है। एक ओर तो यह कवच-शरीर जड प्रकृति के-यों कहना चाहिये कि जड प्राकृतिक अवस्थाओं के न कि स्थूल भौतिक द्रव्य के-आधार पर बना हुआ है, दूसरी ओर से इसके निर्माण-तत्त्व हैं हमारी मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं के कंपन।

यह दूसरा पार्श्व शान्ति, समचित्तता और विश्वास, स्वस्थता में श्रद्धा, क्षोभरहित विश्रान्ति की अवस्था और प्रफुल्लता तथा तेजोमय आनन्द, इन तत्त्वों द्वारा बना हुआ होता है और यही तत्त्व इस कवच-शरीर को शक्ति और जीवन प्रदान करते हैं। यह कवच-शरीर अत्यन्त संवेदनशील माध्यम है और इसमें प्रतिक्रियाएं सहज में और तुरन्त होने लगती हैं; समस्त सुझावों को यह तुरन्त अंगीकार कर लेता है और इन सुझावों के कारण इसकी अवस्था में द्रुत परिवर्तन हो सकते हैं, बल्कि इसका ढांचा तक बदल सकता है। किसी प्रकार का बुरा सुझाव इस पर बुरी तरह असर करता है, उसी प्रकार यदि कोई अच्छा सुझाव हो तो वह उसी बल के साथ इस पर अच्छाई की दिशामें काम करता है। उदासी और निरुत्साह का इस पर बहुत बुरा असर होता है, वे इसमें जगह-जगह छेद कर देते हैं, इसको दुर्बल और प्रतिरोधशक्तिविहीन बना देते हैं, फलतः विरोधी आक्रमणों के लिये एक सहज मार्ग खुल जाता है।

कवच शरीर में होनेवाली इस क्रिया की समझ लेने पर अंशतः यह बात भी हमारी समझ में आ जाती है कि, बहुधा हम क्यों एक दूसरे के प्रति अनायास और अकारण ही आकर्षण और हटाव अनुभव करते हैं। आकर्षण और हटावरूपी ये प्रतिक्रियाएँ सब से पहले इस संरक्षणकारी कवच में ही होती हैं। जो लोग हमारे इस नाडी-कवच की शक्ति को बढानेवाले, इसमें बल पहुंचानेवाले होते हैं, उनके प्रति हम सहज में ही आकर्षित हो जाते हैं, और जो इसको क्षुब्ध करते या इसे चोट पहुँचाते हैं, उनसे हम दूर हटते हैं।

जो कुछ इसको बढावा देता है, इसको आराम और चैन पहुँचाता है, जो कुछ इसके अन्दर प्रसन्नता और हर्ष के भाव की प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, उसके प्रति हमारे अन्दर तुरन्त एक आकर्षण हो जाता है, और जब किसी का असर विपरीत दिशा में होता है, तब यह हमारी रक्षा के लिये उस व्यक्ति से दूर ही रहने की प्रतिक्रिया पैदा करता है। जब दो आदमी परस्पर मिलते हैं, तब यह क्रिया बहुधा उन दोनों में ही एक दूसरे के प्रति होती है। अवश्य ही परस्पर सम्बन्ध या आकर्षण अनुभव करने का यह एकमात्र कारण नहीं है, किंतु यह भी एक कारण, बहुत बार होनेवाला कारण है।

यदि हमारी समग्र सत्ता ही विश्व की आन्तरिक प्रगति के साथ-साथ कदम मिलाती हुई, अपने प्रगतिशील रूपांतर के कार्य में एक संग आगे बढ सके, तो रोग होगा ही नहीं, मृत्यु होगी ही नहीं। परन्तु यह बात सोलहों आने पूरी और समग्र सत्ता में होनी चाहिये, उच्चतम भूमिकाओं के अंगों से,-जो अधिक नमनशील होते और जो रूपांतरकारिणी शक्तियों के प्रति आवश्यक अनुपात में अधीन हो जाते हैं,- लेकर अत्यन्त जड प्राकृतिक भूमिका, जो स्वभाव से ही कठोर है, निश्चल है, किसी भी द्रुत रूपांतरकारी

परिवर्तन का विरोध करती है,- के अंगों तक में, समग्र सत्तामें एक सरीखी प्रगति होनी चाहिये, तभी ऐसा होगा।

शरीर के कुछ भाग यौगिक शक्तियों की क्रिया का अन्य भागों की अपेक्षा अधिक तीव्र प्रतिरोध करते हैं, और इन भागों में जो रोग होता है, उसे आराम करना अधिक कठिन होता है। ये आधार की अत्यन्त जड प्राकृतिक भूमिकावाले अंग होते हैं और इनमें होनेवाली व्याधियाँ भी वैसी होती हैं, जैसे कि चर्मरोग या दन्तरोग। श्री अरविन्द ने एक वार एक योगी की चर्चा की थी। ये महात्मा नर्मदा के तीरपर लगभग एक शताब्दि से रहते थे और इतने वृद्ध होने पर भी अत्यन्त हट्टे-कट्टे और बहुत ही तन्दुरुस्त थे। एक बार उनके किसी शिष्य ने दांत के दर्द के लिये उन्हें कोई ओषधि दी, योगीने ओषधि लेनेसे इनकार करते हुए कहा कि उन्हें वह दांत तो प्रायः दो सौ वर्षों से कष्ट देता आया है। इन महात्माने अपनी स्थूल प्रकृति पर इतना वशित्व प्राप्त कर लिया कि वे २०० वर्षों तक जी सके, किंतु इतने दीर्घ काल में भी वे इस दांत के दर्द पर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे।

कुछ रोग जो अत्यन्त खतरनाक गिने जाते हैं, उन्हें आराम करना बहुत सहज होता है और जो कुछ अति नगण्य गिने जाते हैं, बहुत ही हठपूर्वक प्रतिरोध कर सकते हैं।

रोग के खतरे का नव-दशांश भाग भय से पैदा होता है। भय के कारण किसी रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं, बल्कि इसकी वजह से स्वयं रोग भी हो जा सकता है। हाल ही की बात है, एक सज्जन जो इस आश्रम में बराबर आया जाया करते हैं, उनकी धर्मपत्नी ने, जो स्वयं योग नहीं करतीं, सुना कि उनका दूधवाला जिस घरमें रहता है, उस घर में किसी को हैजा हुआ है। वे भयग्रस्त हो गईं और दूसरे ही क्षण उनके अन्दर हैजे के लक्षण दिखायी देने लगे। उनको तुरन्त ही आराम किया जा सका था, कारण उनके अन्दर रोग के-से जो लक्षण दिखायी दिये, उन्हें वास्तविक रोग में परिणत नहीं होने दिया गया।

योग का दबाव पडने के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं जिनसे कभी-कभी बिलकुल निराधार भय खडे हो जाते हैं और इनसे हानि हो सकती है, यदि इस भय का संकल्पपूर्वक त्याग नहीं कर दिया जाय। उदाहरणार्थ, सिर में एक दबाव होता है और इसी विषय को लेकर यह चर्चा शुरू हुई है, और जो बहुतों को अनुभूत होता है- विशेषतः साधना की प्रारंभिक अवस्थाओं में- जब कि कोई चीज जो अभी बंद है खुल जाने को होती है। यह एक ऐसी तकलीफ है, जो कुछ नहीं कर सकती और सहज में दूर की जा सकती है, यदि तुम्हें यह मालूम हो कि जिन शक्तियों के प्रति तुम उद्घाटित होते जा रहे हो, वे जब अपने कार्य के सफल करने के लिये और रूपान्तर की क्रिया में वेग ले आने के लिये शरीर पर जोरसे कार्य करती हैं, तब उनके दबाव से इस तरह की अवस्था होती है।

यदि इसको शांत भावसे लिया जाय, तो यह एक ऐसे संवेदन में परिवर्तत हो जा सकता है, जो असुखकर न हो। परन्तु यदि तुम डर जाओ, तो अवश्य ही भयानक सिरदर्द तुम्हें आ घेरेगा, ज्वर तक हो जा सकता है। इस तकलीफ का कारण है शरीर में किसी प्रकार का प्रतिरोध; और यदि तुम इस प्रतिरोध को दूर करना जान जाओ, तो तुम्हारी यह तकलीफ तुरन्त दूर हो जायगी। परन्तु जहां तुम डरे कि यह तकलीफ बहुत अधिक बढ जा सकती है। तकलीफ के इन अनुभवों का स्वभाव चाहे जैसा भी क्यों न हो, भय को तुम्हें कभी स्थान नहीं देना चाहिये। तुम में यह अचल विश्वास होना चाहिये, जो कुछ हो रहा है, वह वही है जो होने को था। एक बार यदि तुमने इस मार्ग को चुन लिया है तो फिर तुम्हें अपने इस चुनावके समस्त परिणामों को भी बहादुरी के साथ स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि तुम पहले तो कुछ चुन लो और फिर पीछे हटो, और फिर चुनो और फिर दुबारा पीछे हटो, सदा डगमगाते रहो, सदा संदेह करते रहो, सदा डरते रहो, तो तुम अपने आधार में असामंजस्य की सृष्टि कर लेते हो, और यह असामंजस्य केवल तुम्हारी प्रगति को ही नहीं रोकता, बल्कि यह तुम्हारे मन और प्राण में नाना-प्रकार के क्षोभ पैदा कर सकता है और तुम्हारे शरीर में तकलीफ और रोग।

ऋग्वेदका नया संस्करण-संमतियां।

(१) श्री० विश्वनाथशास्त्री द्रविडः (सातारा-२७।५।४१)

"मया दृष्टाः श्रीमद्भिः प्रकाशिताश्चत्वारो वेदाः पुण्यपत्तने। अन्वभवं चानन्दभूमानममन्दं ततः। सन्मार्गप्रतिपादकानां वेदानां प्रचारणमेव तत्संरक्षणे सहायीभवेदिति मत्वा तत्प्रकाशनेन लोकस्योपकुर्वतो युक्तकारिणो भवतः सद्व्यवसायमवगम्य नितरामभिनन्दामश्च।

(२) पं० हलियारामजी काश्यप, M. Sc. (रिसर्च स्कॉलर) लाहौर पंजाब (७।५।४१ के पत्रमें) लिखते हैं।

"आपका ऋग्वेद का नवीन संस्करण प्राप्त हुआ। बडा सुंदर छपा है। सूचियोंने इसकी उपयोगिता बहुत ही बढा दी है। खिल सूक्त अन्त में रख दिये यह अच्छा किया है। इस ऋग्वेद के लिये बार बार धन्यवाद है।'

(३) पं० जयदेवशर्मा वेदालंकार, अजमेर से (ता० १४।५।४१ के पत्रमें) लिखते हैं--

"आप का ऋग्वेद का द्वितीय संस्करण मैंने बहुत सूक्ष्मता से देखा है। इसको वैदिक अनुशीलकों के लिये उपयोगी बनाने के अनेकानेक साधनों से आपने प्रस्तुत करने का बहुत ही सराहनीय उद्योग किया है। छापे की सुंदरता तो बहुत ही अच्छी है। जितना परिश्रम इस संस्करण के मुद्रण में आपने किया है, वह अभूतपूर्व है, इसमें संदेह नहीं है। आपकी संहिता से तो मैं बडा लाभ उठा रहा हूं। ईश्वर आपको सफलता देवे।

(४) श्री० भूषणजी गुप्त मथुरा से (अपने २५।५।४१ के पत्रमें) लिखते हैं--

"ऋग्वेद का द्वितीय संस्करण देखा। आपने उसे बहुतही सुन्दर, उपादेय और उपयोगी रूप में प्रकाशित किया है। पुस्तकका बाह्य स्वरूप, जिल्दबन्दी, अक्षर आदि बडे मनोहर हैं और प्रथम संस्करण से इस संस्करण की सामग्री भी कहीं अधिक उपयोगी बनी है। आपके इस कार्य के लिये समस्त आर्यजनता आभारी रहेगी। भगवान् आपके पुण्यसंकल्पको पूरा करें, आपका ब्रह्मयज्ञ सफल हो।"

(५) श्री स्वामी अभयदेवजी आचार्य गुरुकुल कांगडी (अपने ता. १०।६।४१ के पत्रमें) लिखते हैं-

"आपका छपा हुआ ऋग्वेद मिला, देखा, बहुतही अच्छा छपा है। इसके लिये आपको बधाई।"

(६) पं० मदनमोहन विद्याधरजी तेनालीसे (अपने ता. ११।६।४१ के पत्रमें) लिखते हैं-

"आपका ऋग्वेद आशासे अधिक अच्छा पाया। अबतकके मेरे देखे ऋग्वेद संस्करणों में यह सर्वोत्तम है। सूचियाँ, परिशिष्टादि वेदस्वाध्यायी पुरुषों के बडे काम की चीजें इसमें हैं। शतशः धन्यवाद।"

हिंदीके लेखक ध्यान दें।

विभाग-उर्दू इन्साइक्लोपीडिया

इदारा-अदबियात-उर्दू रफअत मंजिल खैरताबाद, हैदराबाद दक्षिण।

सेवामें- श्रीयुत सम्पादकजी, वैदिक धर्म, औंध (जि० सातारा)

प्रिय महाशय,

आपको यह जानकर बडी प्रसन्नता होगी कि, "इदारा- अदबियात उर्दू" के संचालकोंने यह निश्चय किया है कि, "उर्दू इन्साइक्लोपीडिआ" प्रकाशित किया जाय। इस 'इन्साइक्लोपीडिआ' में भारतवर्ष के प्राचीन और अर्वाचीन धार्मिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आदि समस्त महत्त्व के विषयों को स्थान दिया जाएगा। हम चाहते हैं कि, हिंदी के योग्य लेखक इस विशाल कार्य में हमारा सहयोग दें। हिंदी के जो भी योग्य लेखक इस कार्य में सहयोग देना चाहते हैं, वे अपनी शर्तें हमारे साथ पत्रव्यवहार करके निश्चित कर सकते हैं। इस कार्य को केवल ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से किया जा रहा है। आशा है कि, आप कृपया इसकी विज्ञप्ति के रूप में अपने योग्य पत्र में प्रकाशित कर देंगे। जो लेखक भी इस विषय में पत्रव्यवहार करना चाहते हैं, वे या तो पं० वंशीधरजी विद्यालंकार (लेक्चरार-उस्मानिया-यूनिवर्सिटी-हैदराबाद दक्षिण) से या फिर सीधे हमारे दफ्तर से कर सकते हैं, जिसका कि पता ऊपर लिख दिया गया है।

कृपाभिलाषी मोहीउद्दीन कादरी जोर संचालक, इदारा अदबियात उर्दू।

समाजमें ब्रह्मविद्या को सामूहिक तथा व्यावहारिक स्थान देनेवाला-

नवीन विश्वविद्यालय ।

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ)

संसार के बडे बडे विचारक सदा से ही अद्वैत आत्म-तत्त्व को सृष्टि का मूल रूप बताते चले आ रहे हैं । उनके कथनानुसार यह सब का सब दृश्यमान नाना संसार नाना नहीं है, किंतु मूलमें एक ही सत्ता है । जगत् के मूल रूप को पहचाननेवाले उन लोगों का अनुभव है कि, यह सारा विश्व मिलकर एक ही व्यक्ति है । जिस प्रकार हम लोग अपने अपने देहों को एक एक व्यक्ति समझते हैं, इसी प्रकार इस सारे विश्व को एक विराट् व्यक्ति या एक विराट् अभिव्यक्ति के रूप में देखने लगना ही जगत् का यथार्थ ज्ञान है । इस जगत् को इससे भिन्न और किसी रूप में देखना या समझना मनुष्य का अज्ञान या उसकी बुद्धिहीनता है ।

विश्व के इस महान् रहस्य को खोजने का स्थान विश्व नहीं है। इसलिए नहीं है कि, विश्व के इस रहस्य का कोई भी अन्वेषक विश्वभर में पर्यटन नहीं कर सकता । इस विवशता के होते हुए भी मनुष्य के पास विश्वके रहस्य को जानने का एक अनुपम साधन है । यह साधन अन्वेषक महाशय का अपना ही हृदय है ।

मनुष्य का हृदय सारे विश्व की प्रतीक है । यहां जो कुछ हो रहा है, वही सारे विश्व में हो रहा है । यहां जो सिद्धान्त काम कर रहा है, वही सारे विश्वमें काम कर रहा है। मनुष्य ऊपर से देखने में चाहे छोटासा क्षुद्र अस्तित्व ही लगता हो, परन्तु यह इतना छोटा अस्तित्व नहीं है । यह तो विश्वव्यापी महान् अस्तित्व की एक प्रतीक है । मनुष्य के इस दृश्यमान क्षुद्र अस्तित्व की ओट में विश्व का विराट् अस्तित्व छिपा हुआ है । या कहना चाहिए कि विश्व का विराट् अस्तित्व मनुष्यसत्ता की पूछ में अकाट्य रूप में जुडा हुआ है । विश्व के इस पारावारहीन विराट् अस्तित्व ने स्वरूपानन्द कर उत्सव मनानेके लिए मनुष्य-सत्ता के रूप में बाहर को छोटे छोटे अनन्त मुंह निकाले हैं । पर मुंह ही तो संपूर्ण शरीर नहीं होता । मुंह मात्र को ही तो स्वतन्त्र क्षुद्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता । मुंह के पीछे जुडे हुए संपूर्ण गात्र के अस्तित्व को ही मुंह का अस्तित्व मानना पडता है ।

जिस प्रकार मुंह, हाथ, पैर आदि के रूप में दीखनेवाले नाना अस्तित्व एक विराट् दैहिक अस्तित्व के भीतर विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्यदेहों के तथा जगत् के संपूर्ण नाना पदार्थों के क्षुद्र क्षुद्र अस्तित्व एक विराट् पुरुष के अद्वैत-अस्तित्व में समर्पित या विलीन हुए हुए हैं । जिस प्रकार गंगा की लहर के छोटे से अस्तित्व की पूछ में जल का वह महान् भण्डार जुडा हुआ है, जो निरन्तर उसे गंगा की लहर बनाए रख रहा है । उस जल-भंडार का महान् अस्तित्व ही गंगा की इस क्षुद्र लहरी का अस्तित्व है । यही गति मनुष्य के अस्तित्व की भी है। मनुष्य का यह दृश्यमान् अस्तित्व कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । इस विश्वभर का जो अद्वैत अस्तित्व है, वही इस मानवीय सत्ता का भी अस्तित्व है । मनुष्य के अस्तित्व के पीछे विश्व का जो विराट् अस्तित्व छिपा हुआ है, वही इस मानवीय सत्ता के द्वारा अपनी ही झांकी ले दे रहा है ।

मनुष्य इस विश्व से पृथक् सत्ता नहीं है । विश्व का महान् आत्मा ही विश्व के और उसी के भाग मनुष्य के रूप में परिणत हुआ है । विश्वात्मा ने विश्वात्मभाव का आनन्द लेने के लिए ही मनुष्य-शरीरों को उत्पन्न और धारण किया है । जो बात एक मनुष्य-हृदय में प्रतिध्वनित हो रही है, वही संपूर्ण मनुष्यों के हृदयों में और वही फिर सारे विश्व में प्रतिध्वनित हो रही है । जिसे विश्व का हृदय ढूंढना हो, उसे सारे विश्व में भटकने की आवश्यकता नहीं है । वह चाहे तो अपने साडेतीन हाथ के देह के भीतर

ही सारे विश्व का और विश्व-सिद्धान्त का दर्शन कर सकता है।

जिस दिन मनुष्य अपने पिण्ड की पृथक् सत्ता होने के भ्रम को मिटा कर विश्व के रहस्य को ढूंढने के लिए अपने हृदय में घुसेगा, उस दिन उसे सारा ब्रह्माण्ड हाथ पर धरी हुई वस्तु के समान दीखने लगेगा। उस दिन उसे संसार भर क्षुद्र अस्तित्वों को अपने पेट में छिपा रखने वाला विश्वपुरुष का विराट् अस्तित्व स्पष्ट दीखने लगेगा। उस दिन मनुष्य को पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड का दर्शन प्राप्त हो जायगा। उस दिन उसे सारा ब्रह्माण्ड अपना ही व्यक्त रूप दीखेगा और सारे ब्रह्माण्ड का अनुभव अपना ही अनुभव प्रतीत होने लगेगा। उस दिन मनुष्य जानेगा कि मैं दूसरों से जो बर्ताव कर रहा हूं, वह उनसे नहीं किन्तु अपने से ही कर रहा हूं। जिस दिन मनुष्य को संसार के इस परम रहस्य का पता चलेगा उस दिन उसे अपना व्यवहार सुधारने के लिए विवश हो जाना पडेगा। मनुष्य की उस समयकी विवशता को यदि कोई नाम दिया जाय, तो उसे उसकी "अभ्रान्ति" या उसका "आंख खुल जाना" कहा जायगा।

अपने स्वरूप के विषय में भ्रान्ति न रहना ही विश्व के रहस्य को समझना है, सत्य को पहचानना है या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है। इस विश्वात्मा को इस विश्वज्ञान के विना शान्ति नहीं मिलती। विश्वसिद्धान्त का परिचय मिल जाने पर ही विश्वात्मा की समाधि लगती है और उसे शान्ति मिलती है। विश्वात्मा को शान्ति की ही एक अमिट प्यास है। आत्मा शान्तिस्वरूप है। आत्मा अपने ही स्वरूप का प्यासा है। उसकी यह प्यास कभी मिट नहीं सकती। आत्मा को अपने ही शान्तिरूप की अखण्ड प्यास लगी हुई है। आत्मपिपासा ही संसारभर में गूंज रही है। विश्वात्मा अपनी ही ढूंढ में डूबा हुआ है। यह और किसी को नहीं ढूंढ रहा है। यह अपने आप को ही ढूंढ रहा है।

विश्वात्माने अपने आत्मान्वेषण के लिए अनन्त मानव-हृदय धारण किए हैं। वह अपने कोटि कोटि हृदयों से जिस प्यारे की ढूंढ मचा रहा है, उस प्यारे को अपनानेमें ही विश्व का अखण्ड ध्यान लगा हुआ है। प्यारे को अपनाने का अर्थ अपने आपको उसी में पाना और पाकर उसी के साथ अभिन्न हो जाना है।

इस विश्व में जहां देखिए वहीं आत्मपिपासा के रूपमें ज्ञानशक्ति काम कर रही है। वही सर्वत्र कोटि कोटि मार्गों से अपने आपकी ढूंढ मचा रही है।

मनुष्य के मन में स्वभाव से ज्ञान की प्यास है। मनुष्य की यह ज्ञान की प्यास ही तो "विश्व का आत्मान्वेषण" है। जहां मनुष्य की ज्ञानपिपासा पाओ वहीं यह जानो कि विश्व आत्मान्वेषण कर रहा है। विश्व की आत्मपिपासाने आत्मान्वेषण के सुनिपुण यन्त्र के रूप में मनुष्य की सृष्टि की है। विश्व का आत्मान्वेषण ही मनुष्य के मन में आत्मपिपासा के रूप में व्यक्त हुआ है।

जिस दिन मनुष्य को समझ आयगी, उस दिन वह अपनी हार्दिक पिपासा को विषयाभिलाषा न जानकर विश्ववाणी पहचान जायगा, उस दिन उसका जीवन पलट जायगा। उस दिन उसका अस्तित्व क्षुद्र अस्तित्व न रहकर विश्वव्यापी अस्तित्व हो जायगा। उस दिन मनुष्य विश्वव्यापी अस्तित्व का प्रतीक या उसका स्मारकमात्र रह जायगा। उस दिन मनुष्य अपने क्षुद्र अस्तित्वको भूल चुका होगा और विश्वव्यापी अस्तित्व को अपना चुका होगा। यदि मनुष्य किसी प्रकार अपने दैहिक अस्तित्व को विश्वात्मा ढूंढने का यन्त्र समझ जाय, तो वह अपने क्षुद्र अस्तित्वके धोकेमेंसे निकल जाय और उसका यह स्वाभाविक परिणाम हो कि फिर वह कभी कोई क्षुद्र कार्य न किया करे। जिस दिन मनुष्य अपने विश्वव्यापी अस्तित्व को पहचानेगा, उस दिन से उसका जीवन विश्वात्मा बने रहनेवाले उदार विचारों में बीतने लगेगा और यही उसके जीवन की सार्थकता होगी। उस दिन मनुष्य भला रहने के लिए अपने भीतर से ही विवश हो जायगा।

अज्ञानियों के अज्ञानीपन का इससे दूसरा और कोई रूप नहीं है कि, वे लोग अपने अपने दैहिक अनुभवों में उलझ कर अपने को विषयभोगातुर क्षुद्र सत्ता मान बैठे हैं और अपने विश्वव्यापी स्वरूप को भूल गए हैं। अब वे इंद्रियों की दासता करने लगे हैं। उन्होंने इंद्रियों की भोगों की मांग की रौल में अपने हृदयकी सूक्ष्म वाणी या शान्ति की मांग के स्वरूप को नहीं पहचाना। यह

बात उनकी समझ में नहीं आ सकी कि, तुम्हें स्वरूपज्ञान की अखण्ड प्यास लग रही है। उन्होंने अपने स्वरूप-ज्ञान की प्यास को 'भोगों की प्यास' समझ लिया और अब वे अपने मूल रूप को ढूंढना छोडकर भोगान्वेषण में लग गए। उनके भोगान्वेषण में लगने से उनका जीवन संसार की व्यर्थ घटना बनता जा रहा है।

सचमुच मनुष्यहृदय स्वरूपज्ञान की प्यास के मारे तडप रहा है। उसे शान्तिवारि की तुरन्त आवश्यकता है। परन्तु शान्ति को उसने जहां समझा है, वहां नहीं है। शान्ति तो केवल स्वरूप को पहचान जाने में है। मनुष्य में जो अशान्ति आदि है वह स्वरूप को भूल जानेसे ही आई है।

विश्वके विधाताने अपने विश्व को दो सामर्थ्य प्रदान किए हैं। एक तो उसने विश्व को स्वरूपविस्मृति का साधन बनाया है, दूसरे उसने उसे स्वरूपसम्मेलन का साधन भी बनाया है। पहले उसने विघ्न रचे हैं और फिर वह इन्हें हटाने में जुट पडा है। अब वह स्वरूपविस्मृति के कारणों या स्वरूप ज्ञान के विघ्नों को हटा हटाकर फिर अनंत मार्गोंसे स्वरूप की ढूंढ मचा रहा है। उसके इसी प्रयत्न के परिणाम के रूप में कोटि कोटि देह उत्पन्न हो गए हैं। अब यदि कोई मनुष्य विवेक का अन्धा बनकर इन देहों में से किसी एक देह को 'अपना देह' मान बैठे, तो यह उसका महान् भ्रम, यह उसका अज्ञान या उसका जीवभाव कहा जायगा। यदि किसी प्रकार मनुष्य की हार्दिक चक्षु खुल जाय और वह किसी एक मानवदेह को ही अपना देह मान कर इसका बन्दी न बन बैठे, किन्तु इस धारित देह को विश्वात्मा के अपने विश्वव्यापी अस्तित्व पर दृष्टि फैलाने के अनंत साधनों में से एक साधन के रूप में देखे, तो उसे स्वरूप भी मिल जाय, शांति भी मिल जाय और उसके हृदय की तडप भी मिट जाय। अज्ञानी मानवहृदय अपनी स्वरूपज्ञान की पिपासा को न पहचान कर आत्मविस्मृति के मारे ही तडप रहा है। वह अविद्या के प्रभाव में आ गया है और अज्ञान से दबकर स्वरूप-ज्ञानकी उपेक्षा करके आत्मविस्मृतिमें डूब कर उलटे उपाय करके अपने हाथों से अपना संताप बढाता चला जा रहा है।

इस सब का कारण केवल यह है कि संसार ने अपने बालकों को सच्चे ज्ञान का स्वतंत्र वायुमण्डल मिलने का कोई प्रबन्ध नहीं कर रखा। आजकल मनुष्य का बालक संसार में जिस वायुमण्डल में उत्पन्न होता है, उस वायु-मण्डल में मनुष्य को जन्मान्ध रखने का ही पूरा पूरा प्रबंध है। संसार के वर्तमान समाजमें मनुष्य के बालक की ज्ञान-चक्षु खोलने का कोई प्रबंध नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ज्ञान की स्वाभाविक स्थिति संसार से लुप्त हो गई है और उसके स्थान पर अज्ञान की अस्वाभाविक परिस्थिति आ बैठी है और वह 'अज्ञान' को ही 'ज्ञान' कहने का दुःसाहस कर रही है।

यदि मनुष्य-बालक के हृदय को, अज्ञानके पंजमें फंसने से पहले ही पहलेवाली बाल्यावस्था में सच्चे ज्ञान का स्वतंत्र वायुमण्डल बनाकर उसमें रक्खा जाय, तो उसे मुक्ति या स्वतंत्रता का ठंडा सांस लेनेका सुअवसर हाथ आ जाय। सच्चे ज्ञानके स्वतंत्र वायुमण्डलमें मुक्ति का शीतल श्वास लेनेके लिए मनुष्यहृदय को जिस कला या कौशल की आवश्यकता है, उसे संसार आजतक शान्तिमयी "ब्रह्म-विद्या" कहता चला आ रहा है। जब तक मनुष्य को बाल्यावस्थामें ही ब्रह्मविद्या नहीं सिखाई जायगी, तब तक मनुष्य को मुक्ति या मुक्तावस्था कभी नहीं मिल सकेगी। स्वरूपज्ञान में पहुंच कर आत्मविस्मृति करानेवाले कारणों को धक्का देकर आत्मानन्द में मग्न रहने की विद्या 'ब्रह्म-विद्या' है।

ब्रह्मविद्या ही मनुष्य की स्वाभाविक विद्या है। ब्रह्म-विद्या प्राप्त न होने तक मनुष्य नहीं जान सकता कि मेरा स्वरूप तथा स्वभाव क्या है? और मुझे औरोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये? उसे ब्रह्मविद्या से ही अपने गुप्त स्वरूप तथा स्वभाव और कर्तव्यशास्त्र का पता मिलता है। ब्रह्मविद्या ही मनुष्य को उसके दैहिक अस्तित्व के पीछे उसका मूल बन कर छिपे हुए विश्वव्यापी अस्तित्व का पता देकर मनुष्य की क्षुद्रता, अनुदारता, पामरता आदि दुर्गुणों को छीन कर उसे सच्चा मनुष्य बनाती है। और दूसरोंके साथ उचित बर्ताव करना सिखाती है। मनुष्य के अस्तित्व की ओर में जो एक विराट् सच्चिदानन्द भण्डार लगा हुआ है, मनुष्य उस विशाल भण्डारको न पहचानकर ही अपने को विषयों का भिखारी क्षुद्र अस्तित्व मान रहा है और

आत्मद्वेषी विश्वद्रोही क्षुद्र क्षुद्र काम करनेपर उतारू हो रहा है। यदि मनुष्य को अपनी यह आत्मद्रोहरूपी विवशता छुडानी हो, तो और उसे उदार विश्वप्रेमी बनना हो, तो उसे अपने विश्वव्यापी विराट् अस्तित्व का पता निकालना ही पडेगा। जब मनुष्यको अपने विराट् अस्तित्व का पता मिलेगा, तब उससे यह आशा की जा सकेगी कि वह दूसरे मनुष्य भ्राताओं के साथ उदार व्यवहार किया करे। यदि मनुष्य को उसका विश्वव्यापी अखंड अद्वैत-रूप नहीं समझाया जायगा, तो लाख वर्ष के प्रयत्न से भी किसी मनुष्य का भला बनना असंभव रहेगा और समाज-सुधार मूर्खों का सुपना बना रहेगा। संसार के भले लोग इसीलिए भले हैं कि, वे अपने दैहिक अस्तित्व पर वृथा प्रेमरूपी स्वार्थ भावना या विश्वद्रोह नहीं करते। वे इसी लिए भले हैं कि वे सब के मनों में अपनी अनुभूति को देखना जानते हैं। विश्वव्यापी अद्वैत अस्तित्व की अन्तःश्रद्धा ही मनुष्य के उदार गुण बन बनकर बाहर प्रकट हुआ करती है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मविद्याही मनुष्य में भला रहने की प्रेरणा देनेवाली एकमात्र कला है।

आजकल इस ब्रह्मविद्यानामक मनुष्य की स्वाभाविक विद्या को मोलतोलवाली अस्वाभाविक अविद्याने आकर अस्वाभाविक सा बना डाला है और सारे संसार का ध्यान इस पवित्र विद्या की ओर से हटा दिया है। आज मनुष्य-समाज के दुर्भाग्य से मनुष्यसमाज की सच्ची विद्या के स्थान पर बनावटी वस्तु 'विद्या' के नाम से विकनेवाली वस्तुओं के ढेर में रख दी गई है। जब से इस बनावटी विद्या का क्रय-विक्रय प्रारंभ हुआ है, तभी से समाज अधःपतित होता चला जा रहा है। आज मानवीय विद्या मनुष्यसमाज से कान पकडकर निर्वासित कर दी गई है। आज मानवीय विद्या कुमार्गी कुविद्या की मनुष्यताग्रासी दंष्ट्राओं में पीसी जा रही है। आज धनलोभी और धनमत्त लोगोंका चरणचुंबन और परिचर्या करनेवाली 'अविद्या' ही अपने को 'विद्या' कहकर मनुष्यों को ललचा ललचा कर विद्याविमुख समाज में मूर्खता की विजय के बाजे बजवा रही है।

यदि मनुष्यसमाज मानवीय विद्याको अविद्या राक्षसी के चर्वण से न चला चाहता हो, तो उसका केवल एक उपाय है कि, वह अपने सारे घरों को स्वाभाविक सार्वजनिक विश्वविद्यालय बना डाले। यदि किसी दिन मनुष्य-समाज को शांति लेनी होगी, तो उसका केवल एक यह मार्ग होगा कि वह अपने प्रत्येक परिवार को, अपने बालकों को ब्रह्मविद्या सिखानेवाला पारिवारिक विश्वविद्यालय बना डाले और उसमें अपने बालसन्तान को या तो शिक्षित मातापिताओं से या बालकों के शिक्षित स्वाभाविक संरक्षकों से शिक्षा दिलावे।

मानवसन्तान को शिक्षित करने की योग्यता चाहे जिस मनुष्य में नहीं होती और यह पवित्र उत्तरदायित्व चाहे जिस मनुष्यको नहीं दिया जा सकता। यह योग्यता केवल उन लोगों में होती है और यह काम केवल उन लोगों को सौंपा जा सकता है, जो बालक के ईश्वरीय प्रबंध के बनाए हुए स्वाभाविक शिक्षक हों। मातापिता या दूसरे स्वाभाविक संरक्षकों पर ही यह योग्यता होती है और उन्हीं पर यह उत्तरदायित्व डालना चाहिए। स्वाभाविक संरक्षकों पर यह उत्तरदायित्व डालना ऐसा है, जैसा कि वृक्ष के मूलमें जल सींचना। जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जल सींचने से संपूर्ण वृक्ष हरा भरा हो जाता है, इसी प्रकार यदि समाजरूपी वृक्ष को सुसन्तानोत्पादक और शांतिरूपी फलदायी बनाना हो, तो यह उत्तरदायित्व केवल स्वाभाविक संरक्षकों के ऊपर डालना होगा।

यदि स्वाभाविक संरक्षकों को शिक्षा का उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जायगा और विद्यार्थी बालकको परिवार से बाहरली संस्थाओं में शिक्षा पाने के लिए भेजा जायगा, तो यह अस्वाभाविक शिक्षापद्धति होगी। यह पद्धति परिवारों को दायित्वहीन बना डालेगी। यह शिक्षापद्धति व्यापारी अयोग्य तथा अनधिकारी लोगों को शिक्षा का भार सौंपेगी। यह पद्धति समाजवृक्ष के मूल में जल सींचना बन्द करके उसके स्थान में उसे अविद्यारूपी मदिरा से सींचेगी। उस अविद्या मदिरा को पीनेवाला समाज मद्य पीनेवालों के समान अशान्ति की अज्ञानमूलक रौल मचाने लगेगा। यही कारण है कि आज मनुष्यसमाज के कल्याण में बाधा खडी हो गई है और होती रहेगी।

वर्तमान शिक्षापद्धति समाज को केवल 'धनलोभ' सिखा रही है। वह समाज को धनलोभ सिखा कर विषय-

गामी बना रही है। वह समाज के सामने मनुष्यता का आदर्श नहीं रख रही है। सचमुच यह शिक्षा किसी ऐसे मनुष्य को धनोपार्जन की योग्यता भी नहीं दे सकती, जो सत्यनिष्ठा या मनुष्यता का व्रती हो। यदि इस शिक्षा के साथ, (१) दूसरोंकी चाटुकारिता, (२) दूसरोंसे ईर्ष्या द्वेष, (३) विश्वासघात, (४) समाजद्रोह, (५) स्वदेश-द्रोह आदि मनुष्यताविरोधी दोष न मिला लिए जायं तो यह शिक्षा वन्ध्या और विद्यार्थी के बल, बुद्धिवैभव, आशा, उत्साह आदि मानवोचित गुणों का शोषण करनेवाली राक्षसीही सिद्ध होगी। वर्तमान शिक्षा केवल उन लोगों के लिए लाभदायक है, जो मनुष्यताको तिलांजलि दे चुके हैं और पापार्जन करते हुए भी समाज में चतुराई से सम्मानित बने रहना चाहते हैं।

क्योंकि अब समाज का हित चाहनेवाले समाज के विचारशील सदस्यों के मनमें यह बात दृढता से बैठ गई है कि, मनुष्यताके महत्त्वाकांक्षी मानवसंतान के लिए उपयोगी शिक्षा की कोई व्यवस्था करना परम आवश्यक है। इसी लिए समाज में ब्रह्मविद्याको उसका उचित स्थान दिलानेवाले नवीन विश्वविद्यालय की निम्नलिखित योजना को प्रसंगानुकूल तथा समयोपयोगी जानकर विचारशील पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है:-

स्वतंत्र भारतीय विश्वविद्यालय की योजना।

यह विश्वविद्यालय राष्ट्र में स्वतंत्र मन पैदा करनेवाला एक स्वतंत्र प्रयत्न है। स्वतन्त्र मन ही स्वतंत्र राष्ट्र है। स्वतंत्र मन से दूसरा स्वतंत्र राष्ट्र होना संभव नहीं है। स्वतंत्र मन स्वयंरक्षित राष्ट्र है। स्वतंत्र मन सन्तान-शिक्षा की योग्य रीतिके ही ऊपर निर्भर है। सन्तानशिक्षा मनुष्यसमाज की सबसे मुख्य समस्या है।

संसार के अविचारशील लोग पहले तो अपनी मुट्ठीके निश्चित धनको और उसी के साथ अपने बल, बुद्धि तथा उत्साह को पानी के समान बहाकर धनसंग्रह करने की ऐसी योग्यता को मोल लेने के पीछे पडकर पागल बन जाते हैं; जिस योग्यता के विषय में यह निश्चय नहीं है कि, उससे धनोपार्जन हो ही सकेगा। वह योग्यता विश्व-विद्यालयों के प्रमाणपत्र नामवाले निकम्मे कागजी टुकडों के रूपमें मिलती है। इसे मोल लेनेवाले लोग इसके निर्धन, निर्बोध, निर्बल तथा उत्साहहीन प्रतीक्षक बनते हैं और जीवनभर धनमत्त लोगों की परिक्रमा और उसकी चाटु-कारिता करते हुए धनकी उपासना करते करते भारी अपमान का जीवन काटते हैं। ये लोग इस अपमानित जीवन को अर्थनीति कहकर उसका समर्थन करना चाहते हैं कि, पैसे के लिए अपमान सहनाही पडता है और इस सहनेमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु यह बुद्धिमानों की अर्थनीति नहीं है। बुद्धिमान लोग तो इसे जुआरियों की सी अर्थनीति मानते हैं।

(१) संसार की वर्तमान मिथ्या शिक्षा, बिना आव-श्यक श्रम किए दूसरों के उपार्जन में से उपार्जन करना चाहनेवाले निराश, दास, चोर और लुटेरे मनुष्य उत्पन्न कर रही है।

(२) मूढ लोगोंने अपने जीवन को निराशा में बिताने, बिना आवश्यक श्रम किए उपार्जन करने, और दूसरों की दासता करने का साधन बना लिया है। परन्तु मनुष्य-जीवन इन कामों के लिए नहीं था। संसार की वर्तमान शिक्षासंस्थायें व्यापारी शिक्षा देनेवाली बनी हुई हैं। देश को इन संस्थाओं से सावधान हो जाना चाहिए और उन्हें शंकित दृष्टि से देखना चाहिए। ये राष्ट्र को लूट रही हैं और राष्ट्र की मनुष्यता का ध्वंस करने में लगी हुई हैं।

(३) मनुष्योचित शिक्षा में अत्यन्त थोडा समय लगना चाहिए, वह सरल होनी चाहिए, और मनुष्य में जीवन फूंकनेवाली होनी चाहिए।

(४) अमनुष्योचित शिक्षा निरर्थक, बहुत लम्बी, जटिल तथा जीवन को निगल डालनेवाली होती है।

अमनुष्योचित शिक्षा के मोह में फंसे हुए लोगों से एक प्रश्न।

प्रश्न- यदि आप अपनी सन्तान के जीवन के सबसे उत्तम कालको शिक्षा नामवाला 'महंगा निकम्मापन' मोल लेने में बिता डालोगे, तो बताओ उसके पास क्या शेष रहेगा ?

शुभसम्मति- सब लोग इस विषयपर स्वतंत्र तथा गंभीर होकर सोचें। अन्धी छलांग न मारें। सावधान होकर पग बढाएं। देखें कि सामने उलझन उत्पन्न करने-

वाला अंधेरा खडा हुआ है और वह अंधेरा अपने आपको 'प्रकाश' बताकर आपको ठगने को खडा है। सब लोग यह विचार करें कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य तो निश्चित सफलता है। मनुष्य को तो निश्चित सफलतावाले मार्ग पर ही चलना चाहिए। अन्धी छलांगें मारना मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं है।

सूचना- जो लोग अपने बालकों को अपने ही घरों पर शिक्षित मातापिताओं या शिक्षित संरक्षकों से शिक्षा दिलाने की व्यवस्था करना चाहें, उन्हें यह स्वतंत्र भारतीय विश्वविद्यालय योग्य परामर्श देना अपना कर्तव्य मानेगा।

इस विश्वविद्यालय में उपस्थित आवश्यक शिक्षाके लिए निम्न विषय स्वीकार किए गए हैं-

(१) मनुष्यजीवन का लक्ष्य
(२) लिखना-पढना
(३) कर्तव्य-अकर्तव्य की पहचान
(४) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का पालन
(५) रोगिचर्या तथा चिकित्सा
(६) पारिवारिक अर्थनीति
(७) गृह-उद्योग
(८) गृहशिक्षा
(९) समाजसंगठन
(१०) मनुष्यता के नियम
(११) वर्तमान शासन-व्यवस्थाका ज्ञान
(१२) राजनियमों का आवश्यक ज्ञान

यह विश्वविद्यालय अभी तक एक सम्मतिदाता विश्व-विद्यालय के रूप में अपनी सीमित शक्ति के अनुसार शिक्षा से कर रहा है। परन्तु इसके संचालकों का विचार है कि, देश में इस प्रकार भी शिक्षा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण बना कर खडा करनेके लिये शीघ्र ही एक 'बाल-मन्दिर' की स्थापना होनी चाहिये। जो सामर्थ्यवान् सज्जन इस बालमन्दिर की स्थापना के लिये आवश्यक सहायता देना अपना कर्तव्य समझें, वे मुझसे पत्रव्यवहार करें। उचित सहायता मिलते ही इसके संचालक लोग इस नवीन विश्वविद्यालय का बालमन्दिर स्थापित करके अपनी नवीन कार्यप्रणाली को लेकर सेवा के क्षेत्र में कूद पडना अपना सौभाग्य मानेंगे।



ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप।

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ़)

[४०] 'भक्ति निर्बल का काम नहीं है।'

भक्ति करना उसे निबाहना, अपने सर्वार्पण के वादे को पूरा उतार देना निर्बल का काम नहीं है। निर्बल मनुष्य विषयों के लुभाव के आते ही अपने भक्ति के वादे को तोड़ देता है। जो अपने को निर्बल समझकर भी रामनाम का जप करता है, उसका राम निर्बलता है। वह निर्बलता को राम कहकर उस निर्बलतारूपी राम को जपता हुआ अपनी निर्बलता को बढा रहा है, और निर्बलता के बहाने को अपराध करने का परवाना मानकर अपराध करता रहता है। वह समझता है कि हम तो प्रसिद्ध निर्बल हैं। हमने अपने राम को अपनी निर्बलता के विषय में स्पष्टरूप से सूचित कर दिया है, और उससे निर्बल रहनेकी आज्ञा भी ले ली है। ऐसों के निर्बल राम भी उन पर दयालु होकर अपनी निर्बलता को उनके पास दिनरात पहुँचाते रहते हैं। अपने को निर्बल समझनेवाले ने राम को निर्बलता के रूप में पहचाना है। वह उस निर्बल राम की रट लगाये रहता है।

निर्बलता मनुष्य के भीतर रहनेवाला, उससे अकर्तव्य कराने और कर्तव्यविमुख करनेवाला शैतान है। जो लोग रामनाम का भजन करते हुये भी अपने को निर्बल समझते हैं, वे दूसरे शब्दों में कहते हैं कि देखो हम रामनाम भी ले रहे हैं, और फिर भी हम निर्बल हैं। ऐसे लोग रामनाम का घोर अपमान करने की चेष्टा करते हैं। वे राम के महत्व को नहीं समझते। रामनाम का स्पष्ट अभिप्राय यही है कि हम पूर्ण शक्तिमान हैं। पूर्ण शक्तिमान का प्रतिनिधि होना ही रामभजन करना है। सर्वव्यापक शक्ति का आवाहन ही 'रामभजन' है। शक्तिसंग्रह ही 'रामभजन' है। हमने जिस सत्य पर रहना ठान लिया है, यदि संसारभर की भौतिक शक्ति मिलकर हमारा विरोध करे, तब भी हम सत्य से नहीं टलेंगे। किसी पर भी हम से अधिक शक्ति नहीं है। कोई हमको हमारे सत्य निश्चय से तिलमात्र भी नहीं डिगा सकता। हम कामक्रोधादि निर्बलताओं को कुचल डालने में अनन्त शक्तिमान हैं। इन सब भावनाओं का नाम ही 'रामभजन' है। मनुष्य में सत्य की सुदृढ शक्ति जितने प्रकार से प्रकट होती है, 'राम' उन सब का संक्षिप्त नाम है। रामनाम लेकर उन सब शक्तियों का बार बार स्मरण इसलिये किया जाता है कि, हमें उनकी स्मृति बनी रहे, और हम उन से शक्तिमान बने रहें।

मनुष्य को जितने प्रकार की शुद्ध भावनायें रखनी चाहियें, उन सब शुद्ध और बलिष्ठ भावनाओं को 'राम' कहा जाता है। बलवत्ता ही राम है। रामनाम लेते रहना और निर्बल बने रहना कामी, क्रोधी, लोभी, पराधीन, पददलित और लुण्ठित होते रहना, ये सब असम्बद्ध बातें हैं। ये अवस्था केवल पागल के पास रह सकती हैं। निर्बलता को सुरक्षित रख छोडा हो, उसे प्यार किया जा रहा हो, और साथ ही रामनाम भी लिया जा रहा हो, तो समझ लो कि किसी का अनुकरण करके या किसी से प्रभावित होकर तोते के समान केवल जिह्वा से रामनाम रटा जा रहा है। जब रामनाम की अर्थभावना के साथ रामनाम लिया जायगा, तब सम्पूर्ण प्रकार की निर्बलता प्रकाश के आते ही प्रकाशभीरु चिमगादडों के समान भाग खडी होंगी। रामनाम निर्बलता का जन्मवैरी है। यह निर्बलता को खा जाता है। जो अपनी निर्बलता को रामनाम का ग्रास नहीं बनने देता, वहाँ से रामनाम भूखा रहकर भाग जाता है। रामनाम निर्बल मनरूपी ऊषर भूमि में फूलफल नहीं देता। अपने मन की शान्त और निर्भय अवस्था की रक्षा करते रहना ही 'रामनाम का जप करना' है। रामनाम चाम की जिह्वा का व्यर्थ रटन नहीं है। वह मन में रहनेवाला एक उग्र तेजःपुंज है।

वह एक अदम्य दृढ निश्चय है। शान्ति और सबलता ही राम है। राम के भक्त के मन में राम के लिये (शान्ति

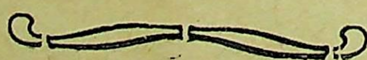
और सबलता के लिये) ही स्थान हो सकता है। वह अपने में किसी प्रकार की निर्बलता को नहीं घुसने देता। ज्ञानी लोग अपने मन से जो पक्की प्रतिज्ञा करते हैं, रामनाम को उसी प्रतिज्ञा का संक्षिप्त रूप मान लेते हैं। जो पुरुष इतने महत्त्वपूर्ण बलशाली रामनाम को लेता हुआ भी कामक्रोधादि निर्बलताओं का शिकार बन रहा है, वह कामक्रोधादि की शक्ति को रामनाम की शक्ति से अधिक समझ रहा है। परन्तु यह उसकी समझ की भूल है। यदि इसने रामनाम की महत्ता समझी होती, तो वह किसी भी वेग से परास्त न होता। रामनाम लेनेवाला राम की अनन्त शक्ति को अपनी ही शक्ति मानता है। वह अपने को राम से पृथक् शक्ति रखनेवाला नहीं मानता। वह अपने को केवल राम की तुलना में शक्तिहीन या निरहंकार मानता है। वह कामक्रोधादि रूप 'शैतान' की तुलना में कभी दीनहीन या तुच्छ नहीं बनता।

वह कामक्रोधादि का सामना करने में अनन्त शक्तिमान बनकर उसको पददलित करता है। वह कामक्रोधादि से लडने में और उन्हें परास्त करने में अपने को कभी भी असमर्थ नहीं पाता। इस प्रकार की निर्बलता केवल कामियों और क्रोधियों में ही पायी जाती है। भक्तों में नहीं। वेगों को परास्त करके निर्वेग बनने की 'रामबाण' महोषधि ही 'रामनाम' है। इसलिये कहा जाता है कि बलवान होकर या प्रतिज्ञा को निभानेवाला बनकर रामनाम लिया जाना चाहिये। रामनाम की प्रतिज्ञा को न निभाकर 'रामनाम' लेनेवाला कोई मनुष्य कभी भविष्य में रामनाम के पवित्र वादे को पूरा करने में शक्तिमान हो जायगा, यह केवल दुराशा है।

अपने को अपनी शुद्ध मानसिक स्थिति की रक्षा करने में अनन्त शक्तिमान् पानेवाला भक्त अपनी कर्मशक्ति को बेकार नहीं रखता। वह कर्मशक्ति के सदुपयोग की मधुरता से परिचित होता है। यही कारण है कि उसे कर्तव्यपालन में अविचलित उत्साह होता है। वह उत्साह ही उसकी अव्यभिचारिणी भक्ति कहाता है। वह कर्तव्यपालन को ही अपनी शक्ति का आधार समझ जाता है। वह कर्तव्यपालन को कभी भी बोझ नहीं मानता। वह कर्तव्य को कभी नहीं टालता। उसके मन में अपने-कर्तव्यरूपी परमात्मा के साथ प्रभु और भृत्य का स्वाभाविक सम्बन्ध जुड जाता है। वह केवल अपने आप को ही अपने कर्तव्य करने का सौभाग्यवान् अधिकारी मानता है। यही कारण है कि, भक्त लोग दूसरों से अपना काम कभी नहीं कराते। वे दूसरों से अपना कर्तव्य करा कर अपने कर्तव्यरूपी नारायण को अपमानित करने की भूल कभी नहीं करते।

दूसरों से अपना काम कराना अपने को कर्तव्य के मिठास से वंचित करना है। मनुष्य जिस काम को स्वयं न करके या स्वयं करने से बचकर दूसरों से कराता है, उसे करने में वह कष्ट समझता है। मनुष्य जिस काम में कष्ट समझता है, उसे उससे बचने की इच्छा होती है। उस समय मनुष्य उस कर्तव्य को दूसरों से कराता है और दूसरों को भी उस समय के उनके कर्तव्य की उपेक्षा करनेवाला बनाता है। जो कर्तव्य तुम्हें सूझा है, जिस कर्तव्य की प्रेरणा तुम्हारे मनमें आयी है, उसे तुम्हें ही करना चाहिये। तुम्हें सूझे हुये कर्तव्य को दूसरों से कराना मन की अक्षम्य निर्बलता है। जब कि यह तुम्हें सूझा है, तब इसे तुम स्वयं ही पूरा करो। जब तुम इसे स्वयं नहीं करते हो, तब तुम अपने कर्तव्य का अपमान करनेवाले बनते हो, तथा जिसे यह नहीं सूझा, उससे करा कर इस कर्तव्य को जो तुम्हारा प्रेम मिलना चाहिये था, उससे वंचित कर रहे हो। ऐसी परिस्थिति में कर्तव्य पूर्णांगरूप से नहीं होता और करने करानेवाले दोनों कर्तव्यभ्रष्ट हो जाते हैं। इन दोनों के जीवन का उतना समय जीवन में प्रत्येक क्षण पानेयोग्य मधुरिमा से वंचित रह जाता है।

जो मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को माधुर्यपूर्ण बनाये रखना चाहता है, उसे अपना कर्तव्य कभी कदापि दूसरों से नहीं कराना चाहिये। क्योंकि ऐसा करना मानसिक पतन करनेवाला है।



योग क्या है ?

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, बम्बई)

संयोग-योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥

(योगी याज्ञवल्क्य)

जीवात्मा के साथ परमात्मा का संयोग यानी मिलन ही योग है। अन्यत्र—

सर्वचिंता-परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

(योगशास्त्र)

जिस समय मानव सर्व चिंता परित्याग कर देता है, उस समयकी उसके मनकी उस अवस्थाको 'योग' कहते हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥

(पातञ्जल, समाधि पाद २)

चित्त की सभी वृत्तियों को रोकने यानी विषयों से हटाने को योग कहते हैं। वासना और कामना से संलिप्त चित्त को 'वृत्ति' कहते हैं। इस वृत्तिका प्रवाह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्था में हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदासर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्था (स्वरूपत्व) को पुनः प्राप्त करने के लिए सतत चेष्टा करता रहता है; परन्तु इंद्रियाँ उसे सदा बाहर आकर्षित करती रहती हैं। उसको रोकना एवं उसके बाहर निकलने की प्रवृत्ति को निवृत्त कर, उसे फिर पीछे घुमाकर चिद्घन पुरुष के पास पहुंचाने के पथ में ले जाने का नाम ही योग है।

(योगी गुरु)

यह योग नाना प्रकार के होते हैं। उनमें से राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, प्रकृति-पुरुष-योग, कर्मयोग, सांख्ययोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्षयोग, राजाधिराजयोग आदि नाना प्रकारके योग स्वर्णभूमि भारत में विद्यमान हैं। उपर्युक्त योग केवल सनातन-धर्म में विद्यमान हैं। इसके सिवाय बौद्ध, जैन, मुसलमान आदि धर्मों में भी नाना-प्रकार के योग विद्यमान हैं।

स्वर्णभूमि भारत में सनातन हिन्दू जाति की सब से प्राचीन तथा सब से सभी चित्साधनायोग ही है। योग ऐसी एक विशाल सार्वभौम तथा प्रत्यक्ष विद्या है, जिसमें वादविवाद को स्थान मिलना असंभव जैसा ही है। यह एक ऐसी कला है, जिसकी साधना से अनेक साधकोंने अजर, अमर होकर स्थूल-शरीर विद्यमान रहते हुए ही भगवान् को प्राप्त कर 'जीवन्मुक्त' अवस्था प्राप्त कर ली है। यह सर्वसिद्धान्त, अविसंवादि सिद्धान्त है कि, योग ही सर्वोत्तम, सबसे आदि मोक्ष का उपाय है। पाप-ताप-क्लिष्ट मानव का सर्व संताप हरण कर, उसे भगवत् चरणों का दर्शन कराते हुए सच्चा प्रेम-भक्ति का अधिकारी बनाने में भी प्रधान सहायक योग ही हो सकता है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं है, उसके लिए शास्त्रों का यथार्थ भाव अनुभव करना एक महान् संकट जैसा है। फिर यह अन्तर्दृष्टि बिना योग के किसी को भी प्राप्त नहीं होती। हमारे पुराकाल के योगी-ऋषि-महात्मा अवतारादि, यहाँ तक कि पुरा काल के सर्व शास्त्रप्रणेता भी योगकी साधना में पारंगत बनकर ही उनकी भावी-संतानों के मंगल के लिए ये सब ग्रन्थ, प्रणयन कर गए हैं। अतः निःसंदेह कहा जा सकता है, कि तत्वज्ञान, आत्मज्ञान, स्वरूपज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए योग-रूप कुञ्जी की परमावश्यक है। यहाँ इस विषय की विशेष चर्चा करके पुस्तक का कलेवर बढाने की इच्छा नहीं है। सीधी बात तो यह जानना चाहिए कि, **व्यापक-कर्ममात्र** को ही योग कहा जा सकता है; परन्तु वे सब एक ही प्रधान योग के अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा के मिलनके ही अंग-प्रत्यंग मात्र है। योगी याज्ञवल्क्यजी-ने एक ही शब्द में यह बात प्रकट की हैं कि- 'जीवात्मा-परमात्माका मिलन ही योग है।' वास्तव में नाना प्रकार के योग के नाम सुनने पर भी योग एक ही प्रकार का है यानी सभी का उद्देश्य एक ही है। उस एक ही प्रकारका योग-साधन के सोपान-स्वरूप जितनी प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं, वे सभी ध्यान विशेष में, उपदेश विशेष में या क्रिया विशेष में एक-एक स्वतन्त्र योग के नाम से पुकारी जानी है, तथापि जीवात्मा-परमात्मा का संयोग-साधनही योग का प्रकृत उद्देश्य है।

योग का श्रेष्ठत्व ।

सब साधनाओं की जड और सर्वोत्कृष्ट साधना योग है। शास्त्र में लिखा है कि वेदव्यास के पुत्र शुकदेव पूर्वजन्म में किसी वृक्ष की शाखा में छिपे रहकर भगवान् शिवजी के मुंहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण करके पक्षियोनी से उद्धार पा परजन्म में परमयोगी बन गए थे। योगके उपदेश-श्रवण का ही जब यह फल प्रत्यक्ष है, तब प्रत्यक्ष योग-साधन करने से ब्रह्मानन्दलाभ और सर्वसिद्धि मिलने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता।

योग के विषय में शास्त्र यही कहता है कि, अविद्या में फँसकर आत्मा जीव-संज्ञा प्राप्त करके आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीनों तापों के अधीन हो जाता है। इसी ताप-त्रय से मुक्तिलाभ का उपाय 'योग' है। योगाभ्यास के सिवा प्रकृति का मायाजाल जाना नहीं जा सकता। जो व्यक्ति सच्चा योगी है, उसके सामने प्रकृति अपना मायाजाल नहीं फैला सकती; वरन् लाज के मारे भाग खडी होती है। सीधी-सी बात तो यही है कि, उस योगी पुरुष में प्रकृति लय हो जाती है। प्रकृति को लयको प्राप्त होनेसे वही पुरुष (साधक) फिर पुरुष-पद-वाच्य नहीं रहता; तब वह केवल 'आत्मा' के नामसे सत्-स्वरूप में अवस्थित रहता है। इस सत्-स्वरूप में अवस्थान किया जानेके कारण ही योग श्रेष्ठ साधन कहा जाता है। (योगीगुरु)

कठोपनिषद् में यमराजने ऋषिकुमार नचिकेता को उपदेश दिया है, कि–

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। (कठ० १।२।१२)

उस परदेवको अध्यात्मयोग के ज्ञानसे भली प्रकार जान कर साधक हर्ष-शोक को त्याग देता है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठ० २।६।११)

इंद्रियों की स्थिर धारणा (संयमन) करने को ही योग कहते हैं। इसके साधन से मुमुक्षु अप्रमत्त (प्रमादरहित) होता है और उसका योग इष्टोत्पादक तथा अनिष्टनिवारक होता है।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।

(मुण्डक उ० ३।२।५-६)

हे धीर युक्तात्मा (योगी) सर्वत्र सर्व-व्यापी ब्रह्म को पाकर उस सर्व में ही प्रवेश करते हैं। वेदान्त-विज्ञान का अर्थ (परमात्मा) जिसके चित्त में सुनिश्चित हो चुका है, जो संन्यास-संयोग से यत्नवान् और शुद्ध सत्त्व हो गये हैं, वे सब ब्रह्मलोक में परान्तकाल में परमामृत होकर मुक्त होते हैं।

वरुण के पुत्र भृगुने अपने पिताके समीप जाकर प्रश्न किया, "अधीहि भगवो ब्रह्मेति।" हे भगवान्, कृपा करके ब्रह्मोपदेश कीजिये।

वरुणदेवने उपदेश किया, "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।" "हे पुत्र! तुम तप करो और उससे ब्रह्म को जानो। तप ही ब्रह्म है।" तप योगका एक विशेष अंग है।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। (सामवेद की छान्दोग्य-श्रुति)

'जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य-साधन द्वारा प्राप्त करते हैं, उनकी सब जगह अव्याहतरूप से इच्छानुसार गति होती है।' अब यह ब्रह्मचर्य भी योग का सर्वप्रधान अंग है।

तस्मादेवंविच्छांतो दान्त उपरतस्तितिक्षुः।
समाहितो भूतात्मन्येवात्मानं पश्यति॥

(बृ० ४।४।२३)

इस प्रकार जाननेवाला इंद्रियों और मन का संयम करके उपरामवृत्ति (वैराग्यभाव) धारण कर तितिक्षु समाधि-परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीव-
शिरः शरीरः ॥ (कैवल्य-उपनिषद्)

'एकांत देश में शुचि होकर सुखासन से बैठ गर्दन, सिर और शरीर समभाव से रक्खे।' इस प्रकार से उपवेशन न करने से योग की साधना हो ही नहीं सकती।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।
(गर्भ-उपनिषद्)

यदि योनिसे मैं मुक्त होऊं, तो सांख्ययोगका अभ्यास करूं।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्या-
त्मनि यत् सुखं लभेत् ॥ (मैत्रायणी श्रुतिः।)

'समाधि से मल जिसका धुल गया है, उस चित्त के आत्मा में निवेशित होने पर जो सुख मिलता है,' उसकी बात कही है।

योगयुक्त्या तद्भस्म प्लाव्यमानं समन्ततः।
शाक्तेनामृतवर्षेण ह्यधिकारान्निवर्तते ॥
(बृहज्जाबाल)

जो योगानुष्ठान के द्वारा शाक्ति की अमृत-वर्षा से उस भस्म को चारों ओर से प्लावित कर देता है, वह प्रकृतिके अधिकार से मुक्त हो जाता है।

'योग-शिखोपनिषद्' में योगमार्ग का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आरंभ में हिरण्यगर्भ का श्रीमहेश्वर से यही प्रश्न है कि 'हे शंकर! इस दुःखमय संसार में सब जीव पडे हैं और अपने कर्मों का सुख-दुःखात्म फल भोग रहे हैं। इनकी मुक्ति किस सुगम उपाय से हो, यह कृपया बताईये। श्री शंकरजीने इसका यही उत्तर दिया कि, कर्म-बंधन से मुक्त होनेका उपाय कोई ज्ञान, कोई योग कहते हैं; परन्तु मेरा मत तो यह है, कि-

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥

योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षपद नहीं होता। अतः ज्ञान और योग इन दोनों का ही मुमुक्षु को दृढता के साथ अभ्यास करना चाहिए।

उसी उपनिषद् में यह भी है, कि-

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः।
न तस्य किंचिदज्ञानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

उस योगशिखा को जो महामति साधक जानता है, उसको तीनों लोक में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।

नाना शास्त्र से अनेक शास्त्रोक्तियाँ उद्धृत कर पुस्तक का कलेवर न बढाते हुए सर्व शास्त्रों के सार श्रीमद्-भगवत् गीता से यहाँ ३।१ वचन उद्धृत किए जाते हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
(गीता ६।१८)

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भली प्रकार स्थित हो जाता है, उस काल में संपुर्ण कामनाओं से स्पृहाशून्य पुरुश को योगयुक्त कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है, उसी प्रकार उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।
(गी० ६।२०)

जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में (परमेश्वर के ध्यान से) शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा वह परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट होता है, (उसे ही योग जानना चाहिये)।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। (गी, ६।२१)

इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसी को जिस अवस्था में अनुभव किया जाता है, और जिस अवस्था में स्थित हुआ वह योगी भगवत् स्वरूप से नहीं चलायमान होता है, (उसे ही योगी कहते हैं)।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।
(गी० ६।२२)

(परमात्मा की प्राप्तिरूप) जिस लाभ को प्राप्त होकर साधक उससे अधिक दूसरा (कुछ भी) लाभ नहीं मानता है और (भगवत्-प्राप्तिरूप) जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है, (उसे ही योगी जानना चाहिये)।

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
(गी० ६।२३)

जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग उकताये हुए चित्तसे नहीं अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषता से अर्थात् कामना और आसक्तिसहित त्याग कर एवं मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदायको सभी ओर से अच्छी प्रकार वश में करके; क्रम-क्रम से अभ्यास करते हुए परमात्मा को प्राप्त करना चाहिये, तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके (परमात्मा के सिवाय और) कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिये। (२४-२५)

यह स्थिर न रहनेवाला चञ्चल मन जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उन उनसे बारंवार रोककर परमात्मा में ही निरोध करो ॥२६॥ क्योंकि, जिस का मन अच्छी प्रकार शांत है और जो पापसे रहित है, एवं जिसका रजोगुण शांत हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार से योग के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अनेक अमूल्य उपदेश प्रदान किए हैं। प्रत्येक साधक को चाहिये कि नित्य नियमितरूप से श्रीमद्भगवत् गीता का पाठ करें। उससे पाठक को स्वयं ही आत्मा तथा साधना के विषय में सच्चा ज्ञानलाभ होगा।

सुतरां अखिल संसार में योग ही धर्मजगत् का एकमात्र श्रेष्ठ पथ है। तंत्र का तंत्र, मुसलमानों का अल्लाह, ईसाईयों का ईसा नामरूप से पृथक्-पृथक् होने पर भी जब वे अपने अपने सम्प्रदाय के अभ्यास द्वारा आत्मलीन हो जाते हैं, तब वे अज्ञान भाव से भी योग के सिवा और क्या क्रिया करते ? परन्तु किसी भी देश का कोई भी धर्मशास्त्र आर्य-योग-धर्म की भाँति परिणति या परिपुष्टि को प्राप्त नहीं हुआ है। फलतः अन्यान्य जातियों के सम्बन्ध में चाहे जो हो; किन्तु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजापद्धति सभी कुछ योगमूलक ही है। (योगीगुरु)।

योगाभ्यास के द्वारा चित्तकी एकाग्रता हो जाने पर ज्ञान समुत्पन्न होता है, एवं उसी ज्ञान से जीवात्मा की मुक्ति होती है। यह मुक्तिदाता परम ज्ञान योग-साधनके सिवा केवल मात्र शास्त्र पढने से प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् शंकरजीने कहा है कि-

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः।
पतिता शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥
(योगबीज। ८)

सैकडों तर्कशास्त्र और व्याकरणादि पढ मानवगण शास्त्रजाल में फँसकर केवल विमोहित होते हैं। वास्तव में प्रकृत-ज्ञान योगाभ्यास के बिना उत्पन्न नहीं होता।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥
(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र। ५१)

वेदचतुष्टय और सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खनस्वरूप सारभाग तो योगिगण चाट गए हैं और उसका असार भाग तक्र (छाछ) को पंडित लोग पी रहे हैं। शास्त्र पढनेसे जो ज्ञान होता है- वह प्रकृत ज्ञान नहीं, वह मिथ्या कोरी डींग मात्र है। बाहर की तरफ मुँह फेरे हुए मन, बुद्धि और इंद्रियों को सब बाहरी विषयों से निवृत्त करके अन्तर्मुखीन करते हुए सर्वव्यापी परमात्मा में मिलाने का नाम ही प्रकृत ज्ञान है।

वह प्रकृत-ज्ञान योगाभ्यास के सिवा प्राप्त नहीं होता है। साधारण लोगों का जो ज्ञान है, वह भ्रांत ज्ञान है। क्योंकि, सभी जीव माया के फंदे में जकडे हुए हैं, माया का फन्दा तोड न सकने से प्रकृत ज्ञान उपजना नहीं है। माया का फंदा तोडकर सच्चा ज्ञानालोक प्राप्त करने का उपाय योग ही है। योगसाधन के अतिरिक्त किसी प्रकार से मोक्षलाभ का हेतुभूत जो दिव्य-ज्ञान है, वह

प्राप्त नहीं होता। योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तव में अज्ञानमात्र ही है; उससे केवल सुख-दुःखादि का अनुभव होता है, मुक्ति के पथ में चलने की सहायता नहीं मिलती। परम योगी महादेवजीने अपने मुँह से कहा है कि-

"योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।"
(योगबीज। ८)

हे परमेश्वरि! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्ष-दायक हो सकता है? सदाशिवजीने योग की श्रेष्ठता बताकर पार्वती को सुनाया कि-

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये॥
(योगबीज। ३१)

हे प्रिये! ज्ञानवान् संसार-विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, किंवा कोई देवता भी योग के सिवाय मुक्ति नहीं पा सकता। विना योग के केवल साधारण नाम-मात्र ज्ञान से ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पंजर जला देती है, एवं योग के द्वारा दिव्य-ज्ञान मिलता है, एवं उस दिव्य-ज्ञान से ही लोग दुर्लभ निर्वाणपद पाते हैं।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥
(ध्यानबिन्दु-उपनिषद्।)

पर्वत के समान भी बहुयोजनविस्तीर्ण पापराशि हो, तो वह सब ध्यानयोग से नष्ट हो जाती है और दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अब सुधी सज्जन समझ गये होंगे कि, योग-साधन के अतिरिक्त चिरशांति, पूर्ण आनन्द, दिव्य-ज्ञान, पराभक्ति या परामुक्ति की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। वह चाहे राजयोग, हठयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि कुछ भी हो। इनमें से सर्वशक्तिमान् पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के बताया हुआ गीतोक्त राजयोग ही सब के लिए उत्तम है।

और वह सद्गुरु की कृपा लब्ध-साधना से सर्वश्रेष्ठ, विपद्शून्य, सहज-साध्य है। सद्गुरु-कृपा-लब्ध नाना-प्रकार की साधना का सब से सरल मार्ग जो मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, उसमें से एक मार्ग का प्रकाश करना ही इस पुस्तक का मेरा लक्ष्य है।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ, कि योग अनेक प्रकार के होते हैं; परन्तु सर्वसाधारण अनेक प्रकार के योगों का नाम नहीं जानते। वे केवल योगेश्वर प्रचारित-

चार प्रकार के योग।

की बात ही जानते हैं। यथा-

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः॥
(शिवसंहिता ५।१७)

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चार प्रकार के योगकी व्याख्या योगशास्त्र में लिखी हुई है। इनमें से-

मंत्रयोग

को सर्व प्रकार की साधना में अधम बताया है। यथा-

मन्त्रयोगश्च यः प्रोक्तो योगानामधमः स्मृतः।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः॥
(दत्तात्रेय-संहिता।)

"योग में 'मंत्रयोग' सबसे अधम है। अधम अधिकारी तथा अल्पबुद्धिवाला व्यक्ति ही मंत्रयोग की साधना करता है।" शास्त्रोक्ति ऐसी होने पर भी, परन्तु वर्तमान समय में तो जहाँ देखो, वहाँ मंत्रजप की ही साधना चलती है। यह भी एक प्रकार से उत्तम बात ही है। क्योंकि कुछ भी साधन--भजन न करके--नास्तिक बननेके बदले भगवान् का नाम किसी भी प्रकार से लेना उत्तम ही है।

इस कारण से मंत्र-जप करनेवाले सज्जनों को भी मैं श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ, तथा दूसरे व्यक्ति न समझने पर भी मैं तो मंत्रजप करनेवाले को हृदयमन्दिर में अपना ही प्यारा "आत्मा" मान खुश हो जाता हूँ। प्रसंगवशतः यहाँ पर अपना जीवन की एक बात लिखना उचित समझता हूँ, उससे निष्ठावान् साधक का विशेष उपकार होगा, तथा सद्गुरु की महिमा का एक प्रकाश भी साधक को मिलेगा। बात यह है-

अनन्त करुणामय श्री श्री सद्गुरु महाराज के श्री श्री चरणसरोजों में आत्म-समर्पण करने के बाद " यम-नियम" की ओर प्रबल ख्याल रखकर नित्य-नियमितरूप से साधना में प्रवृत्त होने का ३।४ महीने के बाद सद्गुरु की अहैतुकी कृपा से मुझ में ऐसी एक दिव्य-शक्ति की ज्योति ने प्रकाश पाया कि प्रत्येक मानव के हृद्देश में मैं अपने उपास्य देव का दर्शन करने लगा। उस समय किसी भी जाति के मानव क्यों न हो, सभी के हृदय में उपास्यदेव का दर्शन कर सब को मैं अपना ही समझने लगा। उस समय स्वयं मुझे अनुभव होने लगा कि इस संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं है, सभी मेरा मित्र ही है- सबके हृदय में मैं ही हूँ। ऐसा अनुभव होगा, यह मेरा लक्ष्य नहीं था। यह तो आपही आप सद्गुरु की कृपा से लाभ हुआ था। उस समय से जागतिक भावको छोडकर मैं किसीको भी पत्र लिखता हूँ, तो पहले " ॐ सच्चिदानन्द निकेतनेषु " लिखता हूँ।

मेरे इस शब्द से जैसे अनेक सज्जनों का उपकार हुआ, वैसे ही अनेक सज्जन मुझे धिक्कार भी देने लगे थे। परन्तु उस समय हृदय-मन्दिर में एक अपूर्व ज्योतिः सदा सर्वावस्थामें विद्यमान दिखाई देती थी, सुतरां निन्दा--स्तुतिसे मेरा न कुछ बना न बिगडा। कितने ही बडे बडे विद्वान् इस शब्द के लिए मेरा अपमान करने को भी उद्यत हो गये, परन्तु सद्गुरु की कृपा से अति साधारण बात में ही वे शान्त होकर मित्र बन जाते थे। मैंने उन्हें समझाया कि " जगत् में ऐसा मानव कौन है, जिसके हृदय में आत्मा नहीं है ? फिर वही आत्मा अखंड परमात्मा का ही एक अंश है या वह आत्मा ही परमात्मारूप सच्चिदानन्दविग्रह है; अतः सब के हृदय में ही सच्चिदानन्द निवास कर रहे हैं। उसी नियमानुसार तथा मेरे निजी अनुभव से ही मैं लिखता हूँ कि " ॐ सच्चिदानन्द निकेतनेषु " यानी सच्चिदानन्दका वास मन्दिर।" सारांश, साधक--सम्प्रदाय या विद्वान् सम्प्रदाय के कोई भी सज्जन मेरे इस अनुभव को मिथ्या प्रतिपन्न नहीं कर सके हैं। अस्तु।

इसी कारणसे किसी भी धर्मावलम्बीके कोई भी साधक हो, उसे देखते ही मुझे अपार आनन्द होता है। कार्य-कारण--वश गतवर्ष भाद्रपद में मुझे " कल्याण " परिवार भक्त होने का सौभाग्य हुआ था। वहाँ नित्य सत्संग तथा अहर्निशि नाम-कीर्तन होता रहता है। वहाँ के सभी सज्जनों को चाहे वह प्रेसमैन ही क्यों न हो, देखकर मुझे विशेष आनन्द होता था। वहाँ का जल-वायु-वृक्ष-लता, यहाँ तक कि अणु-परमाणु भी वहाँ के अहर्निशि नाम-कीर्तन एवं जपादि के प्रभाव से वैकुण्ठ जैसे बन गये हैं। सर्वसाधारण भले ही उन्हें क्रूर-दृष्टि से देखे या उसके सात्विक भाव को न समझ कर भले ही जपादि के कारण उन्हें अधमाधम साधक समझें, किन्तु मेरी अन्तरात्मा तो समझ गई है, कि परम करुणामय भगवान् की कौनसी शक्ति वहाँ लीला कर रही है। खैर—

बंगाल के एक कहावत है कि, " नाई मामार चेये काना मामा भाल " यानी मामा न रहने के बदले, एक काना मामा भी रहे, तो उत्तम है। उसी प्रकार वर्तमान समय के अस्थिर चित्तवाले तथा रोग-शोक-जर्जरित, मानव जो कुछ भी साधना करे, वही उत्तम है। दूसरी ओर से मंत्रजप का प्रधान उद्देश्य है भगवत्--प्राप्ति। अगर जपते--जपते जापक का चित्त बाह्य ज्ञान--शून्य होकर आत्मा में लीन हो जाय, तो उसे योग--साधक से अधम नहीं माना जायगा। शास्त्र में लिखा है कि—

मंत्रजपात् मनोलयो मंत्रयोगः।

यानी मंत्रजप करते--करते जो मानवलीन (लय) हो जाता है, उसे मंत्रयोग कहते हैं। अब दूसरे—

हठयोग।

की साधना करनेवाला सज्जन वर्तमान समय में अति विरल ही है; क्योंकि हठयोग की साधना की उपयुक्त अवस्था और अटूट कष्टसहिष्णु शरीर वर्तमान समय में विशेष ही कम है। हठयोग के लक्षण यह हैं—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याश्चन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

" ह " शब्द से सूर्य और " ठ " शब्द से चन्द्र समझा जाता है। हठ शब्द का मतलब चन्द्र--सूर्य का एक स्थान पर मिलाना है अर्थात् चन्द्ररूप अपान वायु के साथ सूर्यरूप प्राण--वायु का मिलाने का नाम हठयोग है। स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली षट्कर्मादि (नेती--धौती आदि) योगाक्रियाओं के अभ्यासद्वारा स्थूल शरीर पर

प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति के निरोध की जितनी कियाएँ हैं उन्हें हठयोग कहते हैं ।

धौतिर्बस्तिस्तथा नेति-लौलिकिस्त्राटकस्तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
(गोरक्ष-संहिता । ४३)

धौति, बस्ति, नेति लौलिकी, त्राटक और कपाल-भाति इन छः प्रकार की बाह्य क्रियाओं से शरीर शोधन करने की विधि ही हठयोग की पहिली सीढी है । ये सब क्रियाएँ इतनी कठिन तथा खतरनाक हैं कि इनके साधारण व्यतिक्रम से साधक नाना प्रकार के दुःसाध्य रोगों का शिकार बन जाता है । विशेषतः वर्तमान समय में इन सब क्रियाओं के सिखानेवाला योग्य गुरु का जैसा अभाव है, वैसा ही उपयोग्य साधक का भी अभाव है ।

वर्तमान समय की परिस्थिति इतनी खराब है कि, केवल उदरपोषण के लिये ही प्रायः सभी व्यक्तियों को सदा कर्ममय संसार में आहार-निद्रा परित्याग कर प्राणांत परिश्रम करना पडता है । ऐसे संकटावस्था में नित्य-नियमित साधना के लिये समय एवं उसके लिये पर्याप्त फल-मूल स्नेह पदार्थों का संयोग करना भी कठिन है । किसी व्यक्ति विशेष के लिये यह व्यवस्था सुगमता से होनेपर भी सर्व-साधारण के लिए यह असंभव जैसी ही है । इसी कारण हठयोग की तरफ न दौडना ही उत्तम है ।

परमपूज्यपाद स्वनामधन्य महामानव श्री श्री उडिया स्वामीजी महाराज के विचार इस सम्बन्ध में क्या है, वह "कल्याण" के "योगांक" से यहाँ पर उद्धृत कर देने से ही आप समझ जायँगे कि हठयोग करना उचित है या नहीं । उन्होंने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं–

"पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तों में हठयोगिओं की बहुत खोज की थी । मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगी का पता लगता था, उसी के पास जाता और उस की सेवा कर उसके अनुभव का पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं, जिन्हें तीनतीन चारचार घण्टे की समाधि होती थी । परन्तु उन की वास्तविक स्थिति का पता लगाने पर यही विदित हुआ कि उनमें से किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध× नहीं हुई । हाँ, सविकल्प--समाधि में उनकी स्थिति अवश्य थी । इसके सिवा, मैंने प्रायः सभी हठयोगियों को रोगी ही पाया । हठयोग का मुख्य लक्ष्य वीर्य की पुष्टि है; परन्तु मैंने अधिकांश हठयोगियों को वीर्यसम्बन्धी रोगों से भी ग्रस्त पाया है ।

किसी को मूत्रकृच्छ्, किसी को स्वप्नदोष और किसी को किसी अन्य रोग के चंगुल में फँसे देखा है । इससे मेरी यह दृढ धारणा हो गई है कि, वर्तमान काल हठयोग के अनुकूल नहीं है, इस समय हठयोगद्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः सर्वथा असंभव है ।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि, हठयोग का मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उसमें किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती है । इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है, इसके मुख्य कारण ये हैं–

(१) हठयोगी का वीर्य शुद्ध होना चाहिये और उसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है ।

(२) हठयोग का अभ्यास सहन करनेयोग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता ।

(३) सिद्ध हठयोगी गुरु का मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है ।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्य की कमी होने के कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोलुप और चंचल-प्रकृति के देखे जाते हैं। उनके जाल में फँस कर मैंने बहुत से साधकों के जीवन नष्ट होने देखे हैं । इसीलिये मेरा विचार है कि, अपने कल्याण की इच्छावाले को इस ओर प्रवृत्ति नहीं होना चाहिये ।

इस प्रकार बहुत से हठयोगियों से निराश होने पर एक ऐसे महात्मा मिले, जिन्हें ध्यानयोग + द्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके संसर्ग में मुझे यह अनुभव

× निर्विकल्प और सविकल्प समाधि का स्वरूपवर्णन "कल्याण" का सेप्टेम्बर १९४० का अंक में "प्रकृति--पुरुष-योग" नामक प्रबन्ध में देखें तथा "प्रकृति-पुरुष-योग" नामक पुस्तक में जल्दी प्रकाशित होगा ।

+ ध्यानयोग अष्टांगयोग का एक प्रधान अंग है ।

हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्रा ✱ के द्वारा स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन नामसंकीर्तन और जप के द्वारा भी भाव-समाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारण के लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकों में भी विचार की कमी होने के कारण प्रायः आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये हैं। इसलिए इस मार्ग का अनुसरण करनेवालों को भी विचार की बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्ति से पूरा लाभ उठा सकेंगे।"

अतः यहाँ हठयोग के विषय में और कुछ लिखना अनुचित है। अब तीसरे—

राजयोग।

के सम्बन्धमें सुनिये। राजयोग की साधना भी अनेकांश में कठिन ही है; क्योंकि राजयोगकी क्रियादि प्रत्यक्षरूप में ठीक ठीक समझ बिना केवल पुस्तक पढकर उन्हें हृदयंगम कर लेना एवं साधना में सिद्धि लाभ करना एक प्रकार से असंभव बात है।

महायोगेश्वर महादेवने वामदेव नामक उत्तर अम्नाय (उत्तर दिक्स्थ मुखद्वारा) राजयोग की व्याख्या विस्तार से वर्णित है। अधिमात्र नामक साधक राजयोग का अधिकारी होता है। राजयोग सर्व प्रकार के योगों का राजा है, एवं द्वैतभाव-वर्जित है। यथा—

चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः।
(शिवसंहिता ५।९)

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग ये तीन ही राजयोग के एक एक अंग हैं। हठयोगोक्त षट्कर्म तथा प्राणायामादि राजयोग की साधना में विशेष सहायता करते हैं। इस कारण हठयोग भी राजयोग का एक उपाय है, ऐसा अनेक महात्माओं का मत है। परन्तु मेरी राय से हठयोग की समस्त क्रियादि न करके शरीरशोधन के लिये शंकरोक्त नाडि-शोधन (जो आगे बताया जायगा) के साथ पूरे-पूरे अष्टांग-योग का अभ्यास करने से राजयोग की साधना में कोई विघ्न उत्पन्न नहीं होता। वास्तव में राजयोग और अष्टांगयोग में कोई अन्तर नहीं है। जैसे अष्टांगयोग में आठ अंग हैं, वैसे राजयोग में भी आठ अंग हैं। अष्टांगयोगके यमनियमादि के साथ राजयोग के यम-नियमादि साधन भिन्न प्रतीति होने पर भी वास्तव में दोनों एक ही हैं। अष्टांगयोग के यम-नियमादि आगे लिखे जायेंगे। यहाँ पर त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित यम-नियमादि सुनिये-

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः।
सर्ववस्तुन्युदासीन-भावमासनमुत्तमम्।
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।
चित्तस्य निश्चलो भावो धारणा धारणं विदुः।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते।
(शिखि-ब्राह्मणोपनिषद् २८।३२)

अर्थात् देहादि में वैराग्य "यम" है। निरंतर परतत्त्व में अनुरक्ति का नाम 'नियम' है। सर्व वस्तुओं में उदासीनता 'आसन' है। जगत् में मिथ्यात्व-निश्चय 'प्राणायाम' है। चित्त की अन्तर्मुखता 'प्रत्याहार' है। चित्तका तत्त्व में निश्चलभाव 'धारणा' है। "चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूँ," इस चिन्तन का नाम 'ध्यान' है।

✱ सिद्धासन की बात आगे लिखी जायगी। शांभवी मुद्रा का लक्षण इस प्रकार का है—

"अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

जिस में चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहर की ओर रहती है, अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किंतु कोई बाह्य-पदार्थ दिखाई नहीं देता, वह संपूर्ण शास्त्र में छिपी हुई शाम्भवी-मुद्रा कहलाती है।

इसका अभ्यास करने के लिये श्री महाराजने इस श्लोक के द्वारा उपदेश दिया—

तिर्यग्दृष्टिमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः। स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत्।

मतिमान् साधक को इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोडकर निश्चल भाव से स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योग का अभ्यास करना चाहिये।



ऋग्वेदानुक्रमणी

"ऋगर्थदीपिका"

श्रीमाधवभट्टेन वैंकटार्यसूनुना विरचिता प्रतिष्ठित-विद्यालंकार-मीमांसातीर्थेन
श्री पं० जयदेवशर्मणा लोकभाषयानूदिता ।

प्रथमो भागः ।

औंध राजधान्यां
भारत-मुद्रणालये स्वाध्याय-मण्डलद्वारा
प्राकाश्यं नीता ।

" विक्रमाब्दाः १९९८ "

मूल्यं ३) रु०

प्राप्तिस्थानम्—

१ श्री० मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

२ श्री पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार, मीमांसा-तीर्थ, आर्यसाहित्य-मण्डल लि०, अजमेर

मुद्रकः प्रकाशकश्च
वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, B. A.
भारतमुद्रणालयं, औंधनगरम्

ऋग्वेदानुक्रमणी ।

विषयानुक्रमणिका ।

१ आदिके दो शब्द । ४
१ उपोद्घातः । ७
३ माधव भट्टकी ऋग्वेदानुक्रमणी । १
४ ऋग्वेदानुक्रमणी ३
१ स्वरानुक्रमणी । ३
१ प्रथमोऽध्यायः
स्वरानुक्रम । ३
२ द्वितीयोऽध्यायः
आमंत्रितशब्दवृत्ति । ७
३ तृतीयोऽध्यायः
स्वर-समास-वृत्ति । ८
४ चतुर्थोऽध्यायः
स्वर-व्यत्यास-हेतु । ११
५ पंचमोऽध्यायः
अवग्रहरहित पद । १२
६ षष्ठोऽध्यायः
सर्वानुदात्त शब्द । १३
७ सप्तमोऽध्यायः
अन्वादेश-विषय । १४
८ अष्टमोऽध्यायः
रूप-स्वर-भेद शब्दवृत्ति । १५
२ आख्यातानुक्रमणी । १७
१ प्रथमोऽध्यायः
आख्यातविषय । १७
२ द्वितीयोऽध्यायः
'लिट्' वृत्ति । २०
३ तृतीयोऽध्यायः
लङ् और लुङ् वृत्ति । २१
४ चतुर्थोऽध्यायः
लिङ् वृत्ति । २६
५ पंचमोऽध्यायः
लोट् और लेट् वृत्ति । २८
६ षष्ठोऽध्यायः
लट् और लुट् वृत्ति । २९
७ सप्तमोऽध्यायः
क्रियारहित-वाक्यनिर्णय । ३०
८ अष्टमोऽध्यायः
आत्मनेपदप्रयुक्त-भेद । ३२
३ निपातानुक्रमणी । ३४
१ प्रथमोऽध्यायः
निपातोंका विषय । ३४
२ द्वितीयोऽध्यायः
संगत निपात । ३७
३ तृतीयोऽध्यायः
निपातोंका वृत्तिभेद । ३८
४ चतुर्थोऽध्यायः
निपातोंका अर्थ । ४१
५ पंचमोऽध्यायः
तिङन्त-पदविचार । ४३
६ षष्ठोऽध्यायः
निपातोंका विशेष । ४४
७ सप्तमोऽध्यायः
उपसर्ग । ४६
८ अष्टमोऽध्यायः
उपसर्गोंका विशेष । ४९
४ शब्दावृत्त्यनुक्रमणी । ५१
१ प्रथमोऽध्यायः
आवर्तमानशब्दनिर्णय । ५१
२ द्वितीयोऽध्यायः
समास । ५४
३ तृतीयोऽध्यायः
पुनः कथित पद । ५६
४ चतुर्थोऽध्यायः
पूरणार्थक और अपूरणार्थक पद । ६०
५ पंचमोऽध्यायः
पूरणार्थ पादोंके विषयमें । ६३
६ षष्ठोऽध्यायः
समान पादपूरक पद । ६५

७ सप्तमोऽध्यायः
मत्वर्थीय पादपूरक। ६७
८ अष्टमोऽध्यायः
आवृत्त पद। ७०

५ आर्षानुक्रमणी। ७३
१ प्रथमोऽध्यायः
ऋषिके नाम और गोत्र। ७३
२ द्वितीयोऽध्यायः
ऋषियोंके संबंधमें। ७७
३ तृतीयोऽध्यायः
अमित और मित ऋषि। ७९
४ चतुर्थोऽध्यायः
अनेक ऋषि दृष्ट सूक्त। ८२
५ पंचमोऽध्यायः
अष्टक आदि के विषयमें। ८५
६ षष्ठोऽध्यायः
सूक्तविच्छेद-कारण। ८९
७ सप्तमोऽध्यायः
ऋषि आर्षेयके विषयमें। ९२
८ अष्टमोऽध्यायः
पितापुत्रऋषिदृष्ट सूक्त। ९५

६ छंदोनुक्रमणी। ९८
१ प्रथमोऽध्यायः
छंदोंके विषयमें। ९८
२ द्वितीयोऽध्यायः
उष्णिग् आदि छंद अनुष्टुप् प्रकरण १०२
३ तृतीयोऽध्यायः
बृहती आदि " पंक्ति प्रकरण। १०६
४ चतुर्थोऽध्यायः
त्रिष्टुप् " " १११
५ पंचमोऽध्यायः
अतिच्छंद और द्विपदा। ११५
६ षष्ठोऽध्यायः
प्रगाथ। ११९
७ सप्तमोऽध्यायः
छन्दोंके न्यून अक्षरवाले पाद। १२३
८ अष्टमोऽध्यायः
अवसानों के संबंधमें। १२६

७ देवतानुक्रमणी। १३०
१ प्रथमोऽध्यायः
देवता। १३०
२ द्वितीयोऽध्यायः
प्रत्यक्ष देव। १३२
३ तृतीयोऽध्यायः
अश्रूयमाण देव। १३३
४ चतुर्थोऽध्यायः
अश्वसे औषधिपर्यंत देवता। १३६
५ पंचमोऽध्यायः
प्रयाज और देवयाज। १४१
६ षष्ठोऽध्यायः
यज्ञसे देवताओंका संबंध। १४४
७ सप्तमोऽध्यायः
वसु आदि देवता। १४६
८ अष्टमोऽध्यायः
आत्माके संबंधमें। १४८

८ मन्त्रार्थानुक्रमणी। १५१
१ प्रथमोऽध्यायः
मंत्रार्थ के विषयमें। १५१
२ द्वितीयोऽध्यायः
मंत्र और ब्राह्मण। १५४
३ तृतीयोऽध्यायः
वेदमंत्रोंका अर्थ। १५५
४ चतुर्थोऽध्यायः
ऋगर्थके विषयमें वक्तव्य। १५९
५ पंचमोऽध्यायः
अनर्थक संदेह निवारण। १६२
६ षष्ठोऽध्यायः
मंत्रोंके ब्राह्मणोक्त अर्थ। १६९
७ सप्तमोऽध्यायः
प्रथम ऋचाका अर्थ। १७१
८ अष्टमोऽध्यायः
वेदोक्त पदार्थोंका वैशेष्य। १७४

आदिके दो शब्द।

ग्रन्थ-परिचय।

यह ग्रन्थ मद्रास यूनिवर्सिटी की संस्कृत ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। इसके हस्तलेख अदयार लाइब्रेरी मद्रास, डी० ए० वी० कालेज लाहोर, पंजाब यूनिवर्सिटी लाहोर, ओरियंटल लाइब्रेरी मद्रास, कोचीन, दक्षिण मालाबार के विद्वान्, तथा त्रिविन्द्रम् प्राच्य प्रकाशनसंस्था से प्राप्त हुए है। इनमें से तीन देवनागरी लिपिमें और तीन मलयालम् लिपिमें थे। चि० श्रीकुञ्जनराजने इस ग्रन्थको बडी योग्यता से सम्पादित करके प्रकाशित किया है।

उक्त सभी हस्तलेख प्रायः समान हैं। इसकी कारिकायें प्रायः माधवभट्ट के ऋग्वेदभाष्यमें स्थान स्थान पर बिखरी हुई हैं, जो प्रायः प्रत्येक अध्याय के पूर्व प्रारम्भ में ग्रथित हैं। यद्यपि अध्याय के पूर्व पठित कारिकाओंमें उपदिष्ट विषयका वेद के उस अध्याय से विशेष सम्बन्ध नहीं है, तो भी शिष्य की शक्ति और व्युत्पत्ति को बढाने के लिये प्रत्येक अष्टक में भिन्न भिन्न विषय पर प्रवचन किया है।

उन सब प्रवचनोंको इस माधवानुक्रमणीमें संकलित कर दिया गया है। यह एक दृष्टिसे ऋग्वेदभाष्यका एक भाग होकर पूर्ण भाष्य का यह एक रहस्यनिदर्शक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जा सकता है। उपोद्‌घात पढ़नेसे इसका समस्त रहस्य पाठकों को विदित हो जावेगा।

जिन विद्वानोंने इस ग्रन्थ को प्रकट करनेका यत्न किया है, वे वेदप्रेमियोंके अनेक धन्यवादोंको पात्र होंगे। उन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करके अपने काल के एक विशाल वेदज्ञ के परिष्कृत विचारों को चिर-जीवित कर दिया है। इन अनुक्रमणिकाओं में कैसे कैसे वैदिक सूक्ष्म रहस्य छुपे हैं, जिनसे प्रायः वेदानुशीलक अनभिज्ञ रहते हैं, इसलिये मैंने इस ग्रन्थ का भाषामें अनुवाद कर दिया है और स्थान स्थान पर संक्षिप्त मन्त्र-प्रतीकों को स्पष्ट रूपसे सस्वर उद्धृत करके माधवभट्टके अभिप्राय को स्पष्ट करने का यत्न किया है।

वेंकटार्य के पुत्र श्रीमाधवभट्ट वही है, जिनका उल्लेख, सायण ने ऋग्वेद के भाष्य (१०।८६) में किया है। यास्क निरुक्तके भाष्यकार पं० देवराज यज्वाने भी इस वेदभाष्यकार का नाम लिया है, इसकी बनाई अनेक अनुक्रमणियों का उल्लेख किया है। यह विद्वान् दाक्षिण भारत में चोल देश में कावेरी नदी के तटपर गोमट ग्राम का वासी है। गोमट ग्राम कदाचित् वर्तमान में त्रिचनापली प्रान्त में 'तिरुवदुथूरि' ग्राम है। वह एकवीर नाम राजा के राज्यमें रहा था। वह कदाचित् परान्तक प्रथम वीर चोल ही हो, जिसका काल ९०७-९५२ ई० तक रहा।

देवराज यज्वाकी उल्लिखित माधव-अनुक्रमणियां यही थीं या उसकी उद्धृत कारिकाएं किसी अन्य माधवकृत अनुक्रमणियों के भाग हैं, इसमें विद्वानों को सन्देह है। स्कंदस्वामीने भी अपने भाष्य में अनेक कारिकांश नामानुक्रमणी के उद्धृत किये हैं, उन सब की तुलना से इसका स्थिर निश्चय किया जायेगा।

परन्तु क्योंकि इस भाग में हमने आख्यातानुक्रमणी और नामानुक्रमणी दोनों को स्थान नहीं दिया है, अतः इसका निर्णय हम द्वितीय भाग की भूमिका में करेंगे।

काल।

इस माधव भट्टका काल निश्चय करना कठिन है, तो भी इतना कहा जा सकता है, वह अवश्य स्कंदस्वामीसे अनन्तर और सायणादिसे पूर्वतर है। इसका समय ६०० से १३०० ईस्वी के बीच होगा।

स्कन्दस्वामी।

स्कन्दस्वामी के काल के सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि, वह हरिस्वामी का गुरु था। हरिस्वामीने शतपथ का भाष्य किया है, जो सम्पूर्ण उपलब्ध हो गया है।

हरिस्वामी नागस्वामी के पुत्र थे, गुहस्वामीके पौत्र थे। और पक्षिल स्वामीके प्रपौत्र थे। क्वीन्स कालेज (बनारस)के हरिस्वामीके शतपथभाष्य के हस्तलेखमें अन्तमें कलिवत्सर ३७४० दिया है, जो वर्तमान गणनासे ६३९ ईस्वी पडता है।

एक शिलालेख में हरिस्वामी का नाम लिया है। वह शिलालेख ६०१ ईस्वीका है। (Epigraphica India Vol. IX, Page 342-5) परन्तु यह शिलालेख का हरिस्वामी भारद्वाजगोत्री है और भाष्यकार हरिस्वामी पराशरगोत्र का है।

इस प्रकार माधव वेंकटसूनु अवश्य ७ वीं से १३ वी सदीके बीच अपरान्तक प्रथम चोल राजके समय (९०७-९५२ ई०) का सम्भव है।

उपोद्घात भाग में माधवने १२ अनुक्रमणियों का पता दिया है, जिनको उसने स्वयं लिखा है। परन्तु हम यह उपोद्घातके साथ केवल आठ अनुक्रमणियां दे रहे हैं, जो आठ अष्टकों में विभक्त हैं। शेष चार अनुक्रमणियोंमें एक अनुक्रमणी स्वयं उसका भाष्य है और दूसरी शाकलोक्त पदपाठ है। इसके अतिरिक्त दो अनुक्रमणी आख्यातानुक्रमणी और नामानुक्रमणी हैं, जिनको अनेक संदिग्ध विद्वान् उक्त माधव (वेंकटसूनु) की कृति नहीं मानना चाहते। इसीसे उनको मद्रास की छपी पोथी में परिशिष्टमें दिया गया है।

हमें तो ये दोनों अनुक्रमणियें माधव वेंकटसूनु की ही प्रतीत होती हैं। इनका ही उपयोग स्कन्दस्वामी ने किया है। इससे अवश्य वह स्कन्दस्वामी से पूर्ववर्ती भी होना सम्भव है, इससे इसका काल ६०० ई० से भी पूर्व पहुंचेगा। इसका निर्णय अभी और भी सामग्री चाहता है। वेद के भाष्यकार अनेक माधव हुए हैं, जैसे सायण माधव और सामविवरणकार नारायणसूनु माधव। हम उन सब के ही कृतज्ञ हैं।

अभीतक जो माधवकृत ऋग्वेदानुक्रमणीरूपसे दे रहे हैं, वह वस्तुतः माधवकृत **ऋगर्थदीपिका** नामसे विदित है। इसलिये हम अपनी सुगमता के लिए उसे प्रथम भाग रूप में दे रहे हैं। द्वितीय भाग में **आख्यातानुक्रमणी** और **नामानुक्रमणी** होगी। जिनमें यास्कीय निघण्टु निरुक्त की तुलनासहित वेद में उन शब्दों का सस्वर निदर्शन भी दर्शाया जावेगा। वह एक विशाल ग्रन्थ हो जावेगा। इसलिये उसको हमने इसके साथ नहीं दिया।

उपसंहार में हम यही कहेंगे कि माधवभट्ट ने इन अनुक्रमणियोंमें अनेक रहस्य बतलाये हैं जिनका वेदानुशीलकों को अवश्य जानना योग्य है। इसी आशयसे प्रेरित होकर हमने यह परिश्रम किया है। त्रुटि रहना मानवस्वभाव है। अनेक प्रकारसे त्रुटि संभव हैं। **'समादधति सज्जनाः'** न्याय से विद्वान् जन त्रुटियोंपर दृष्टि न देकर कृति में गुणका अवलोकन करके गुणग्राहक होनेका परिचय देंगे।

अजमेर
ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी
वि० १९९८

विदुषाम् अनुचरः
जयदेव शर्मा
प्र० विद्यालंकारो मीमांसातीर्थः।

ऋग्वेदानुक्रमणी ।

उपोद्घातः ।

१. लोकः पदं स्वरो वाक्यं समभिव्याहृतिः श्रुतिः ।
आर्षाण्यपि च शास्त्राणि पदार्थज्ञानहेतवः ॥

(१) लोक- जगत् का व्यवहार, (२) पद, (३) स्वर, (४) वाक्य, (५) समभिव्याहृति- कुछ पदों का विशेष रूपसे एक साथ कहना, (६) श्रुति, वेद और ब्राह्मणों का प्रवचन और अर्थवाद और (७) ऋषिप्रणीत शास्त्र-व्याकरण, छन्दः, ज्योतिष, निरुक्त, निघण्टु आदि ये सभी वेदके पदों के अर्थोंको भली प्रकार जान लेनेमें सहायक कारण होते हैं।

२. व्युत्पत्तिहतत्र लोकः स्यात् पारम्पर्यसमागता ।
अग्निवाय्वाद्यः शब्दास्तत्र सर्वे निदर्शनम् ॥

'लोक' का अभिप्राय है परम्परा से जो ज्ञान गुरु से शिष्य को और लोकव्यवहार में एक से दूसरे को प्राप्त होता है, जैसे अग्नि, वायु, जल, आदि शब्दोंका सामान्य और विशेष प्रयोग का ज्ञान ।

३. प्रकृतिप्रत्ययव्यूहात् पदार्थपरिनिश्चयः ।
पदम् इत्युक्तमस्माभिर्घनो हन्ता हनो यथा ॥

प्रकृति (मूलधातु) और प्रत्यय के व्यूह अर्थात् पृथक् विश्लेषण से पद के अर्थनिर्णय करने के अभिप्राय से हमने 'पद' को पदार्थज्ञान में कारण बतलाया है । जैसे 'घनः' का अर्थ है हन्ता- मारनेवाला यह पद 'हन्' धातु से बना है ।

४. स्वरः प्रसिद्धो बहवस्तत्र चार्थाः प्रकल्पिताः ।
नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते ॥

'स्वर' को जो पदार्थ निश्चय का हेतु बतलाया है, वह 'स्वर' प्रसिद्ध है। उस स्वरके आधारपर बहुतसे भिन्न भिन्न अर्थ किये जाते हैं । स्वर से ही नाम और आख्यात (क्रियापद) का विभाग भी जाना जाता है । जैसे—

अपादादि में तिङन्त क्रियापद सर्वानुदात्त होता है, इसी प्रकार संबोधनपद सर्वानुदात्त होता है । 'ते' युष्मत् की चतुर्थी व षष्ठी का रूप अनुदात्त और तत् का प्रथमा बहुवचन 'ते' उदात्त होता है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ।

५. ज्ञातार्थानि पदानि स्युरर्थनिर्णयहेतवः ।
वाक्यं तदुक्तमस्माभिरपामर्थं निदर्शनम् ॥

जिन पदोंके अर्थ हमें ज्ञात हैं, वे वाक्यमें अर्थनिर्णयके कारण होते हैं, उनके सहयोग में अज्ञात पदोंका भी कुछ कुछ अर्थ पता लगता है । जैसे 'आपः' इस पद का अर्थ लोकप्रसिद्ध है ।

६. अर्थो हि निम्नवाच्यत्र क्लृप्तोक्तेर्वाक्ययोगतः ।
पदयोरेव संयोगः समभिव्याहृतिर्मता ॥

७. बृहन्तं चिद् ऋहतेऽत्र प्रसिद्धार्थं पदं बृहत् ।
पदेन तेन संयोगाद् अमहान् स्याद् ऋहन्निति ।

८. द्रविणोदाः सनरस्य सनरं स्थावरं भवेत् ।
द्रविणसस्तुरस्येति जङ्गमो हि तुरो यतः ॥

९. पलायमाना धावन्तो जिग्युभिः स्यात् समन्वयात् ।
ये धावद्भिर्हूयतेऽत्र जिग्यवो जयिनो नराः ॥

१०. नू च पुरा च सदनम् अद्याचिन्नू चित्तदपः ।
पुराद्याभ्यां समायोगान्नूशब्दार्थो द्विधा कृतः ।

११. ममत्तु नः परिज्मेति परिज्मा परितो गतेः ॥
वासार्हत्वाद् वसर्हा च पृथिव्या वाचके इति ।

१२. क्ष्णोत्रं स्वधितिसंयोगात् संशिशीते न चान्वयात्
तेजनार्था शिलेत्युक्तं बहवः सन्ति तादृशाः ॥

निम्न वेद-वाक्योंमें क्लृप्त वचन अर्थात् अमुक पद अर्थ को कह सकता है, इस रीतिसे और वाक्यकी योजना इस रीतिसे सम्भव है, इस प्रकार अर्थ ज्ञात होता है, वह दो पदोंके परस्पर संयोग-एक साथ आना, इसको 'सम्-अभि-व्याहृति' कहा गया है । जैसे-

(१) बृहन्तं चिद् ऋहते रन्धयानि०

(ऋ० १०।२८।९)

इस वाक्यमें 'बृहत्' पद का अर्थ प्रसिद्ध है । बृहत् का अर्थ है 'महान्'=बडा । इस पदके साथ 'ऋहते' पदा

गया है। इससे 'ऋहत्' का अर्थ होना चाहिये अमहान्=छोटा। अर्थात् (ऋहते) छोटे के उपकारके लिये मैं (बृहन्तं चित्) बडे को भी (रंधयानि) वश करूं।

(२) द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्र यंसत्। (ऋ० १।९६।८)

इस मन्त्रमें 'सनर' का अर्थ स्थावर होना चाहिये, क्योंकि पूर्व वाक्यमें 'तुर' पदका अर्थ निश्चय से जंगम प्रसिद्ध है।

(३) यः शूरेभिर्हव्यो यश्च भीरुभिर्धावद्भिर्हूयते यश्च जिग्युभिः॥

इस वाक्यमें 'धावन्' का अर्थ हैं 'भागते हुए' इस पद के साथ 'जिग्युभिः' पढा है, इससे 'जिग्यु' पदका अर्थ होना चाहिये जयशील, विजयी पुरुष।

(४) नू च पुरा च सदनं रयीणाम् जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्॥ (ऋ० १।९६।७)

(५) अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र॥ (ऋ० ६।३०।३)

इन दो वाक्योंमें 'नू' पदका एकमें 'पुरा' के साथ योग है, दूसरे वाक्यमें 'नू' का 'अद्य' के साथ योग है। इसलिये 'नू' शब्दके दो प्रकारके अर्थ हो गये। अर्थात् 'नू च पुरा च' इस स्थलपर 'नू' का अर्थ है अभी। और 'अद्याचित् नू चित्' इस वाक्यमें 'नू' का अर्थ है 'पहले'। 'नू' के ये दो अर्थ केवल समभिव्याहृतिके आधारपर हो गये हैं।

(६) ममत्तु नः परिज्मा वसर्हा ममत्तु वातो अपां वृषण्वान्॥ (ऋ० १।१२२।३)

इस मन्त्रमें सर्वत्र चारों ओर जानेयोग्य होने से परिज्मा' और वासयोग्य होनेसे 'वसर्हा' दोनों पद पृथिवी के वाचक हैं।

(७) इमा गिरो अश्विना युष्मयन्तीः क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं सं शिशीतम्॥ (ऋ० २।३९।७)

इस मन्त्रमें 'क्ष्णोत्र' पद स्वधिति (शस्त्र) पदके साथ पठित है, और 'सं शिशीतम्' (तेज करो) क्रियासे इसका सम्बन्ध होनेसे 'क्ष्णोत्र' पदका अर्थ शस्त्र तेज करनेवाली 'शिला' या 'सिल्ली' हुआ। वही वेदमंत्र में अभिप्रेत है। इस प्रकारके अनेक स्थल हैं।

१३. त्र्यम्बकार्थस्तु श्रुत्युक्तस्त्रिभार्यस्त्र्यम्बकेति सः। विश्वामित्रस्य शिष्यत्वाद् इन्द्र उक्तस्तु कौशिकः॥

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ तो श्रुतिने ही बतलाया है कि तीन भार्यावाला 'त्र्यम्बक' होता है।

इन्द्र को कौशिक इसलिये कहा जाता था, क्योंकि वह विश्वामित्र का शिष्य था।

[माधवभट्ट का ऐसा लिखना केवल वेद को इतिहास मानकरही हो सकता है अन्यथा नहीं।]

१४. निरुक्तव्याकरणयोः शब्दतत्त्वार्थ ईरितः। अपर्यवसितार्थेषु वाक्यसंयोगतो भवेत्॥

१५. मन्त्रेष्वर्थप्रवचनं तत्र चाहुर्निदर्शनम्। येना पावक चक्षसा त्वेषि तेनेति पूर्यते॥

निरुक्त और व्याकरण में शब्द का तत्त्वार्थ बतलाया गया है, अर्थवाले वाक्योंमें वाक्य-संयोगसे उसका अर्थ निश्चय करना चाहिये। इसका उदाहरण बतलाते हैं—

(१) येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ (ऋ० १।५०।६)

हे पावक वरुण! येन चक्षसा त्वं जनान् अनु पश्यसि तेन त्वं त्वेषि।

इस ऋचामें 'त्वेषि' और 'तेन' ये दो पद अधिक लगाकर मन्त्रार्थ को पूर्ण किया गया है।

['तत्ते वयं स्तुमः' इति वाक्यशेषः अपि वा उत्तरस्यामृचि सम्बन्धः तेन चक्षसा त्वेषि॥" (निरु० १२।२२)

इसमें 'तत्ते वयं स्तुम' हम तेरे उस प्रकाशकी स्तुति करते हैं- ऐसा शेष अंश पूर्ण करते हैं या अगली ऋचासे 'वि एषि' क्रिया का 'अपकर्ण' कर लेते हैं।

१६. ते हि पुत्रासो अदितेः पूर्वयर्चा समन्वितः। इमे चेतार इत्यस्या दुरोणे वावृधुस्ततः॥

(१) ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे ।
अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः ॥ (ऋ० ८।१८।५)

यह ऋचा अपने से पूर्व की ऋचासे समन्वित है । पूर्व मन्त्रमें देवोंसहित अदितिके आनेके लिये बुलाया है । इस मन्त्रमें 'अदितिके पुत्र देवों' का वर्णन किया है । इसी प्रकार इस ऋचा का समन्वय पूर्व मण्डल में पठित ऋचा 'इमे चेतारो०' से भी है-

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा
वरुणो हि सन्ति । इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे
शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥ (ऋ०७।६०।५)

१७. कदा न इन्द्र गिर्वणः कदार्थे पर्यवस्यति ।
किं वृत्तेष्वपि चान्येषु स्थातव्यं प्रश्न एव नः ॥

कदा त इन्द्र गिर्वणः स्तोता भवाति शंतमः ।
कदा नो गव्ये अश्व्ये वसौ दधः ॥
(ऋ० ८।१३।२२)

इस ऋचामें वाक्यार्थ 'कब ?' के प्रश्नमें ही समाप्त हो जाता है, इसी प्रकार अन्यभी अनेक 'किं' प्रयोगोंमें हमारे प्रश्नमें ही वाक्यार्थ समाप्त होता है ।

१८. नेमादित्या अघस्य यद् वाक्यद्वयमिदं भवेत् ।
नेमादित्यास्तदाप्नोति यदघस्य भवेदिति ॥

वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः ।
नेमादित्या अघस्य यत् ॥ (ऋ० ८।८३।५)

इस मन्त्रमें 'न ईम् आदित्या यत् अघस्य' मन्त्रांश में दो वाक्य हैं, अर्थात् आदित्यों को वह प्राप्त नहीं होता, जो पाप का होता है ।

१९. प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेरन् इति गम्यते ।
यः समिधा य आहुती स सर्वः स्वध्वरो भवेत्॥

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥४॥ (ऋ० १।९७।५)

इस मन्त्रमें 'जायेमहि' का अभिप्राय 'जायेरन्' है । अर्थात् 'हम उत्पन्न होते हैं' का अर्थ 'वे उत्पन्न होते हैं,' ऐसा है । इसी प्रकार-

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो
अग्नये । यो नमसा स्वध्वरः । (ऋ० ८।१९।५)

जो समिधासे, जो आहुतिसे, जो वेदसे और जो नमस्कारद्वारा अग्नि को देता है, वह सब उत्तम अध्वर (यज्ञ) वाले होते हैं । इसमें 'वे सब' पद मन्त्रमें नहीं हैं, उनको अध्याहार कर लेना चाहिये ।

२०. वामस्य हि क्षयस्येति स्यामेत्येतन्निहन्यते ।
तत ईशिषे इत्येतदध्याहार्यं पदं भवेत् ॥

वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया
वामभाजः स्याम ॥ (ऋ० ६।७१।६)

इस मन्त्रमें 'स्याम' पद निघात अर्थात् सर्वानुदात्त है। परन्तु 'हि'के योगमें सर्वानुदात्त नहीं होता, इसलिये यहां 'ईशिषे' पदका अध्याहार करना चाहिये,अर्थात्- 'हे देव! क्योंकि तुम समस्त उत्तम ऐश्वर्य के स्वामी हो, इसलिये हम इस बुद्धिसे ऐश्वर्यभागी हों।'

२१. आख्यातमाद्युदात्तं स्याद् यद् यद्यादिसमन्वितम्
अध्याहारेण तत्रैवं वाक्यभेदो भवेदिति ॥

समस्त क्रियापद यदि 'यत्' आदिका योग हो तो आद्युदात्त होते हैं । अतः उक्त मन्त्रमें 'हि' के योगमें 'स्याम' आद्युदात्त होना चाहिये, वह आद्युदात्त न होकर सर्वानुदात्त है, अतः अध्याहार करनेसे दो वाक्य हो जाते हैं, इससे 'स्याम' क्रियापदके साथ 'हि' का योग नहीं रहता। 'हि' योगमें निघात का निषेध है ।

२२. अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे तिष्ठन्तमिति गम्यते ।
आ देवान् सोमपीतयेआङ्अत्राक्षिपति क्रियाम्
२३. हव्या सुश्चन्द्र वीतये भवेयुरिति गम्यते ॥

(१) अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ (ऋ० ३।४१।९)

इस मन्त्रमें 'सुखदायक रथमें 'बैठे' तुझे दो घोडे ले जावें' ऐसा प्रतीत होता है । 'तिष्ठन्तं' पदका अध्याहार करना आवश्यक है ।

(२) आ देवान्त्सोमपीतये ॥ (ऋ० १।१४।६)

इस मन्त्रमें 'आङ्' उपसर्ग से क्रिया की प्रतीति होती है । यहां 'आ वह' क्रिया प्रतीत होती है ।

['आ वह इति शेषः- सायणः' इसी प्रकार-

'हव्या सुश्चन्द्र वीतये' । (ऋ० १।७४।६)

इस वाक्यमें 'भवेयुः' 'हों' यह क्रिया होनी आवश्यक प्रतीत होती है ।

विशेषणाद् विशेष्यस्य कल्पनं च भवेत् तथा ।

२४. रथो न यातः शिक्वभिः शक्तैः स्यात् शिल्पिभिः कृतः । भीमो न शृंगा भीमेन प्रतीत ऋषभो भवेत् ॥

[१] रथो न यातः शिक्वभिः कृतो द्याम् अङ्गेभिररुषेभिरीयते ॥ (ऋ० १।१४१।८)

इस वेदमन्त्रमें 'शिक्वभिः' का अर्थ है शक्त-शक्तिशाली शिल्पियोंसे बनाया गया । [यदि यहां शिल्पियों का विशेषण 'शिक्वभिः' न मानें तो वह 'अंगेभिः' का विशेषण भी हो सकता है । इस मन्त्रमें अरुष्-न गरम होनेवाले अंगोंसे बने आकाशगामी रथसे उपमा अग्निको दी है ।]

[२] भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः ॥ (ऋ० १।१४०।६)

इस मन्त्रमें 'भीम' शब्दसे प्रतीत होता है कि यह भयानक 'ऋषभ' (बैल) की उपमा है ।

२५. आख्यातान्युपमानेषु संगच्छेरन्नपि क्वचित् । तत्रोपमेयानुगुणमध्याहार्यं पदं भवेत् ॥

२६. स्रुचेव तमित्यत्र जुहुवाम क्रियापदम् । उपमाने भवेन्मुख्यमन्यत्रोच्चारणं मतम् ॥

२७. उद्यन्नद्य वि नो भज तदप्यत्र निदर्शनम् । दानं ह्यपेक्षितं तत्र न विभागस्तु रिक्थवत् ॥

२८. चतुरश्चिद् ददमानात् कक्षीवन्तं य औशिजः । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते त्वं महाँ इन्द्र यो ह च ॥

२९. अध्याहार्यमेषु वाक्यं तथा ह्यर्थान्विता भवेत् ॥

अनेक स्थलोंमें उपमानोंमें, क्रियापदों की संगति लग भी जाती है, परन्तु कहीं कहीं उपमेय के अनुरूप क्रियापद का अध्याहार करना पडता है । जैसे-

(१) उद्यन्नद्य वि नो भज पिता पुत्रेभ्यो यथा । दीर्घायुत्वस्य हेशिषे तस्य नो धेहि सूर्य ॥ (ऋ० खिल १।५०।२)

इस मन्त्रमें दान देना मात्र अभिप्राय है । वहां पैत्रिक धन के समान विभाग करना अभिप्रेत नहीं है ।

(२) चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥ (ऋ० १।४१।९)

(३) सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ (ऋ० १।१८।१)

(४) मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ (ऋ० १।१८।३)

(५) त्वं महाँ इन्द्र यो ह शुष्मैः० (ऋ० १।६३।१)

इस प्रकार के वाक्यों में अन्य वाक्य का अध्याहार करना चाहिये, तभी अर्थ संगत होता है ।

[(१) चतुरश्चिद्० मन्त्रपर यास्क लिखते हैं— चतुरोऽक्षान् धारयतः इति तद् यथा कितवाद् बिभीयाद् एवमेव दुरुक्ताद् बिभीयाद् न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

अर्थात् चारों पासे हाथ में लेकर फेंकनेवाले जुआरी से जिस प्रकार भय लगता है, उसी प्रकार दुरुक्त अर्थात् दुष्ट वचन से भय करे, दुष्ट वचन कहने की इच्छा न करे।

(२) कक्षीवान् यः देवेषु प्रसिद्धः तद् वद् (सायणः)

जिस प्रकार कक्षीवान् देवों में प्रसिद्ध था, इसी प्रकार यज्ञकर्ता को तू प्रसिद्ध कर ।

(३) शत्रुणा प्रयुक्तः अधिक्षेपः अस्मान् मा प्राप्नोतु इत्यर्थः (सायणः)

अर्थात् शत्रुका प्रयोग किया हिंसक दुखदायी वचन हम तक न पहुंचे ।

(४) त्वं महाँ इन्द्र यो ह शुष्मैर्द्यावा जज्ञानः पृथिवी अमे धाः । यद्ध ते विश्वा गिरयश्चिदभ्वा भिया दृळ्हासः किरणा नैजन् ॥ (ऋ० १।६३।१)

अत्र दृष्टांतः किरणा न यथा सूर्यरश्मय इतस्ततो नभसि कम्पंते तद्वत् ॥ (सायणः)

जिस प्रकार सूर्य की किरणें आकाश में कांपती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! तेरे भय से दृढ पर्वत और अन्य पदार्थ भी कांपते हैं ।

[जैसे उक्त मन्त्रों में पूर्ण अर्थ की संगति लगानेके लिये पूरा वाक्य ऊपर से जोडना पडता है, इसी प्रकार ऐसे अन्य स्थलों में भी जानना चाहिये ।]

३०. पादानामन्वयो मन्त्रे यथा विन्यासमेव नः ।
प्रायेण दृष्टं सर्वत्र दृश्यते त्वन्यथा क्वचित् ॥

३१. गूर्तश्रवसं दर्माणमेहीमस्य द्रवा पिब ।
अगन्म महा नमसा ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय ।
स्पृधा श्वेतं तरुतारमृचो व्यवहिता न्वयाः ॥

मंत्र में जिस क्रमसे पाद पठित हैं, उसी क्रमसे हमने प्रायः सर्वत्र अन्वय किया है । कहीं कहीं इससे भिन्न भी दिखाई देता है, जैसे—

(१)अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा समञ्जे।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥
(ऋ० १।६१।५)

[२] ०एहीमस्य द्रवा पिब ।
[३] अगन्म महा नमसा यविष्ठं० ।
चित्रभानुं रोदसी० ॥ (ऋ० ७।१२।१)
[४] ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय ।
(ऋ० ८।२।२३)
[५] युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं
तरुतारं दुवस्यथः । (ऋ० १।११९।१०)

इन समस्त ऋचाओं में अन्वय एक पाद तक सीमित नहीं है, प्रत्युत दूसरे पाद गत शब्दोंसे भी अन्वय होता है ।

३३. ऋगर्थः प्रति पादं च कश्चित् कश्चिदवांतरः ।
तेषामवांतरार्थानां सिद्धो मंत्रार्थ इष्यते ॥

एक एक पाद लेकर ऋचा का अर्थ कहा गया है, कोई कोई अन्य बात भी कही है । उन अन्य बातों से भी मन्त्र का ही अर्थ स्पष्ट करना इष्ट है ।

३४. अवान्तराणां वाक्यानां तथैव महतोऽपि च ।
सुप्तिङ्विभक्तयः सर्वा निदर्श्यंते यथोचिताः ॥

भिन्न वाक्यों के और बडे वाक्यों के भी सुबन्त और तिङन्त विभक्तियां सब यथोचित रीतिसे भाष्यमें दिखाई जाती हैं ।

३५. तत्रैकत्वबहुत्वानां पादभेदेन दर्शनम् ।
अवान्तरार्थभेदेन नैरुक्तानां न दुष्यति ॥

अन्य अर्थ भेदसे एकवचन बहुवचन भिन्न भिन्न पादमें दीखता है, नैरुक्तों के मत में यह कोई दोष नहीं है ।

३६. प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वपाताश्चैकेन संगताः ।
संगृह्यन्ते शाब्दिकस्तद् एतद् बाहुलकैरिति ॥

एक ही पादार्थ के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष वचनों के प्रयोग हैं । वैयाकरणोंने उनको भी संग्रह किया है । उनको 'बहुल' कहके प्रयोग माना है ।

३७. ऋक्षु हर्षविषादाभ्यां मृदुभिः कठिनैरपि ।
तैस्तैः पदैः प्रतीयन्ते इति केचन बह्वृचाः ॥

ऋचाओं में हर्ष और विषाद पूर्व कहे गये कोमल और कठिन अनेकानेक पदों से भी ऋचाओं का अर्थ प्रतीत होता है । ऐसा कुछ ऋग्वेदीय विद्वानों का मत है ।

३८. तद् विशेषपरिज्ञानं वाक्यैस्तृच्कृत्स्वरेण च ।
आख्यातः स्वरतश्चेति संगिरन्ते परे पुनः ॥

दूसरे विद्वान् कहते हैं कि उस सब का विशेष ज्ञान वाक्यों से और तृच् और कृत् प्रत्ययों के विशेष विशेष स्वरों से, क्रियापदके स्वरसे हो जाता है ।

अनुक्रमणिकाओं का परिचय ।

१. आख्यातानुक्रमणी ।

आख्यातानुक्रमणिका पठितव्याग्रतो नृभिः ।
तथा रूपाणि धातूनामर्थाश्च सुगमा इति ॥

सब से प्रथम मनुष्यों को 'आख्यातानुक्रमणी' पढनी चाहिये और धातुओं के रूप और उनके सुगम अर्थ जानने चाहियें ।

२. नामानुक्रमणी ।

अनुक्रमणिका नाम्नामध्येया तदनन्तरम् ।
नासंस्कृता अधीयीरन्ननुक्रमणिके इमे ॥

इसके पश्चात् 'नाम-अनुक्रमणी' का अध्ययन करना चाहिये । विना यज्ञोपवीतसंस्कार हुए इन दोनों अनुक्रमणिओं का अध्ययन न करना चाहिये ।

३. निपातानुक्रमणी ।

निपातानुक्रमणिका शीलनीया ततो द्विजैः ।
अर्था हि बहवस्तस्यां मया व्युत्पादिता इति ॥

इसके पश्चात् द्विजविद्यार्थियोंको निपातानुक्रमणी पढनी चाहिये। उसमें मैंने बहुतसे अर्थ स्पष्ट किये हैं ।

४. गूढार्थपदानुक्रमणी ।

अनुक्रमणिका तुर्या गूढार्थपदगोचरा ।
तयैवाव्यक्तसंस्कारा निरुच्यन्ते क्रमादिति ॥

चौथी गूढार्थ पदानुक्रमणी है, जिन पदों में व्याकरणानुसार प्रकृतिप्रत्यय के संस्कार स्पष्ट नहीं है, उनको क्रम से इस अनुक्रमणी में कहा गया है ।

आयुष्कामो न निर्ब्रूयान्नावयाकरणाय च ।
न चाप्यनुपसन्नाय न चाशुश्रूषवे तथा ॥
न कथं चन निर्ब्रूयादशुचिभ्यः प्रमादतः ।
आचार्यपुत्रशुश्रूषुर्मान्त्रे दश दर्शिताः
निर्ब्रूयात् तेभ्य एवेति सोऽयं शिष्टविनिर्णयः ।

जो गुरु अपनी दीर्घ आयु चाहता है,वह इसका उपदेश इनको न करे, (१) जो व्याकरण न जानता हो, (२) जो समीपवर्ती शिष्य न बना हो, (३) शुश्रूषा न करता हो, (४) जो प्रमाद से शुद्ध, स्वच्छ न हो उनको तो कभी पढावे ही नहीं, (५) यदि आचार्यपुत्र भी तो शुश्रूषा करनेवाला हो, तभी उसको ज्ञान दे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में दश विद्यार्थी बतलाये गये हैं। उनको ही भली प्रकार उपदेश करे, ऐसा ही शिष्ट पुरुषोंका निर्णय है ।

मन्त्रार्थश्चावगन्तव्यो यथाशक्ति द्विजैरिति ।
वक्ष्यन्ते हेतवस्तत्र ग्राह्या सा बहृचैरिति ॥

द्विजों को शक्तिअनुसार मन्त्रों के अर्थ अवश्य जानने चाहियें। इसमें हेतु आगे कहेंगे । इसलिये यह चतुर्थ अनुक्रमणी पढनी चाहिये ।

५. विभक्त्यर्थानुक्रमणी ।

पञ्चम्यनुक्रमणिका विभक्त्यर्थप्रदर्शिनी ।
तया सुप्तिङ्विभक्त्यर्थवृत्तयो दर्शिता इति ॥

पांचवी अनुक्रमणी विभक्त्यर्थ बतलाती है। इससे सुप और तिङ् विभक्तियों के अर्थ और उनके प्रयोग बतलाए गये हैं ।

६. स्वरानुक्रमणी ।

अनुक्रमणिका षष्ठी स्वरतोऽर्थस्य निर्णयः ।
प्रदर्शयति मन्त्रेषु ग्राह्या सा निपुणैर्नृभिः ॥

छठी स्वरानुक्रमणी है, इसमें मन्त्रोंके स्वर से अर्थ का निर्णय किया जाता है। निपुण विद्यार्थियों का उसका अध्ययन करना चाहिये ।

७. समयानुक्रमणी ।

सप्तम्यनुक्रमणिका शाकल्यमनुधावति ।
व्याख्यातैव हि तेनेयं संहितापददर्शनात् ॥

७ वीं समयानुक्रमणी शाकल्यकृत पदपाठका अनुसरण करती है। उसने संहितापद दिखलाकर समयानुक्रमणीका उपदेश किया है ।

पदतस्तद्वियत्तायाः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
धक्षि-धुक्षि-प्रवादेषु स्वरूपस्य च निर्णयः ॥

पदपाठसे प्रकृति और प्रत्यय का परिमाण और उनके स्वरूप का निश्चय होता है और 'धक्षि' 'धुक्षि' आदि विवादस्थलों में भी निर्णय होता है ।

तथा रेफितविज्ञानमनार्षेणेतिना कृतम् ।
तथैवान्ये विशेषाश्च तेनानार्षेतिना कृतम् ॥

अनार्ष 'इति' पदसे पदपाठमें शाकल्यने रेफित पद का विज्ञान बतलाया है। अर्थात् जिस पदमें विसर्ग या रकार अन्तमें दीखता है,वह क्या विसर्गान्त है या रेफान्त इसका निर्णय करनेके लिये शाकल्यने रेफित को इति पद लगाकर स्पष्ट कर दिया है। 'इति' पद मूल वेदसंहिता का भाग न होनेसे वह 'इति' पद अनार्ष है। इसी प्रकार अन्य अनेक विशेष बातें भी शाकल्यने अनार्ष 'इति' पद लगाकर बतलाई हैं ।

समस्तपदविज्ञानं क्रमाध्ययनतो भवेत् ।

क्रमाध्ययन अर्थात संहिताक्रम पठित पदपाठ से समस्त (समासयुक्त) पदों का ज्ञान भी हो जाता है ।

संहितायां समानायामडाटो दर्शनं क्वचित् ।
क्वचिच्चादर्शनं चेति स च भेदोऽर्थकारितः ॥

संहिता एकसमान होनेपरभी 'अट्' और 'आट्' आगम कहीं तो दीखते हैं, कहीं नहीं दीखते हैं। यह भेद अर्थभेद के कारण है।

केचिद् विसर्जनीयान्ताः शाकल्येन प्रदर्शिताः।
केचित् स्वरान्तास्तेनापि भूयानर्थस्य निर्णयः॥
पुनः पदानि नाधीते तेषामर्थः स एव चेत्।
विभक्तिस्वरसाम्ये च तस्मिन्नेव क्रमे सति॥

शाकल्यने कुछ पद विसर्गनीयान्त बतलाये हैं, और कुछ स्वरान्त बतलाये हैं, इससे भी बहुतसा अर्थनिर्णय होता है। यदि उन पदोंका अर्थ वही होता और विभक्ति और स्वर भी समान होता और संहिताका पदक्रम भी वही होता, तो शाकल्य पुनः उन पदोंका पाठ नहीं करता।

पदोपादानहानाभ्यां बह्वाश्चर्यमदीदृशत्।
कृतव्याख्यैव तेनेयमृषिणा दाशतय्यभूत्॥

इस प्रकार पदोंके पाठ करने और न करने की शैलीसे ही शाकल्यने बहुत आश्चर्य दर्शाया है। एक प्रकारसे शाकल्य ऋषिने समस्त दाशतयी (ऋग्वेदसंहिता) की व्याख्या ही कर डाली है।

समयानुक्रमणिका यत्नेन महता द्विजैः।
बह्वृचैरवगन्तव्या तस्मात् प्राज्ञतमैरिति॥

इसलिये अति बुद्धिमान् ऋग्वेदीय विद्वानों को बडे यत्नसे समयानुक्रमणी का ज्ञान करना चाहिये।

८. आर्ष्यनुक्रमणी।

ऋषिनामार्षविज्ञानाद् ऋचामर्थविनिश्चयः।
अनुक्रमणिका तस्मादार्षी ग्राह्याष्टमी द्विजैः॥

ऋषियोंके नाम और मन्त्रों के ऋषिज्ञान होनेसे भी मन्त्रोंके अर्थोंका निश्चय होता है, इसलिये विद्वान् द्विजोंको अष्टमी आर्षी अनुक्रमणी का भी ज्ञान करना चाहिये।

९. छन्दोऽनुक्रमणी।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिद्वान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्याप्रकल्पितः॥
छन्दोऽनुक्रमणी तस्माद् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकापरैः।
हातव्यान्यतिरिक्तानि पदान्यर्थबुभुत्सुभिः।
न्यूनानि चाध्याहार्याणि तच्च तत्रैव दर्शितम्॥

ऋचाओंके प्रतिपादमें भिन्न भिन्न अर्थ हैं। उनका समुदाय ऋचा का पूर्ण अर्थ बुद्धिपूर्वक कल्पना किया जाता है।

इसलिये सूक्ष्मदर्शी विद्वानोंको छन्दोऽनुक्रमणीका अध्ययन करना चाहिये। अर्थ जानने के इच्छुकों को अधिक पद छोड देने चाहियें, और न्यून पदोंका अध्याहार कर लेना चाहिये। यह सब इसी अनुक्रमणीमें दिखलाया है।

१०. देवतानुक्रणी।

दशम्यनुक्रमणिका देवतानां प्रदर्शनी।
देवताज्ञानपूर्वा हि मन्त्रार्थेषु नृणां गतिः॥

दशवीं अनुक्रमणी देवताओं को बतलाती है। देवता का ज्ञान होकरही मन्त्रों के अर्थों में मनुष्यों की बुद्धि चलती है।

११. इतिहासानुक्रमणी।

एकादशीतिहासानामनुक्रमणिका ततः।
अज्ञातेष्वितिहासेषु न ह्यर्थः प्रतिभाति नः॥

अनन्तर ११ वीं अनुक्रमणी इतिहाससम्बन्धी है। इतिहासों को विना जाने हमें मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं होता।

१२. मन्त्रार्थानुक्रमणी।

एताभिरेकादशभिर्यास्वर्थो नावभासते।
द्वादश्यनुक्रमणिका तासामर्थं वदेदिति॥

इन ११ अनुक्रमणियों से भी जिन ऋचाओं का अर्थ नहीं प्रतीत होता, उनका अर्थ १२ वीं अनुक्रमणी बतलाती है।

अंगैः किञ्चैकादशभिरर्था ये प्रतिपादिताः।
व्यक्ता भवन्ति ते सर्वे मंत्रार्थानां प्रदर्शनात्॥

और इन ११ अंगोंसे जो अर्थ बतलाये हैं, वे भी मंत्रार्थों के स्पष्ट बतलानेसे और भी प्रकट हो जाते हैं।

तत्रैतदवगन्तव्यम् ऋषयः संहितामिमाम्।
नानाविधैरभिप्रायैर्दृष्ट्वा जग्मुः दिवं प्रति॥
मन्त्रार्थतत्त्वविज्ञानमनृषीणां तथा सति।
तादृग्भाष्यानागमात्नृणां न भवन्त्यतपस्विनाम्॥

इस प्रसंगमें यह भी जानना चाहिये कि ऋषिलोग इस संहिताको अनेक प्रकारके अभिप्रायों से साक्षात् करके स्वर्ग वा मोक्ष को चले गये । ऐसी स्थिति में जो ऋषि नहीं हैं, ऐसे मनुष्य विना उनके वास्तविक अभिप्रायों के जाने, मन्त्रोंके अर्थोंका तत्वज्ञान विना तपस्वी बने उनको नहीं हो सकता ।

शास्त्रैऋगर्था ज्ञातव्या दीपरत्नसमाश्च ताः ।
यो जागारेति चाहर्भिर्ग्राह्याण्यंगानि शाकलैः ॥

सभी शास्त्रों से ऋचाओं के अर्थ जानने चाहियें, वे ऋचाएं दीपकोंसे प्रकाशित रत्नों के तुल्य हैं । ऋषि (वेद) कहता है—

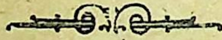
यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ (ऋ.५।४४।१४)

जो जागता है, उसे ऋचाएं चाहती हैं, उसे साम प्राप्त होते हैं, उसीको सोम कहता है. कि मैं तेरा हूं, मित्रभावसे तेरे साथ हूं ।

नारायणः सुदुर्ज्ञेयो यज्ञाश्चामी तदात्मजाः ।
अथाप्यनुविधीयन्ते प्रीयतां भगवानिति ॥

नारायण बडी कठिनतासे जाना जाता है, ये सब यज्ञ उसीके आत्मा से उत्पन्न, उसके पुत्रवत् हैं । इसीसे उन यज्ञों का विधान अनुष्ठान किया जाता है कि भगवान् प्रसन्न हो जावें ॥

॥ इत्यों नमो नारायणाय इत्युपोद्घातः ॥



स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भवतके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिक धर्म ।

अगस्त १९४१
श्रावण १९९८



सेनाकर्ते डॉ० हेडगेवार ।

वर्ष २२] क्रमांक २६० [अंक ८

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ८

विषयानुक्रमणिका

१ धन।		२९३
२ श्रीवाल्मिकि रामयणका मुद्रण ।		२९४
३ रामायणकालीन आर्यसंस्कृति ।	पं. वि० दा० पंडित	२९५
४ माताजीसे वार्तालाप। (१२)	श्री. मदनगोपाल गाडोदिया	३२३
५ आनंदमय सृष्टिमें असंतोष क्यों ?	पं. रामचंद्रजी, बी. ए.	३२९
६ योग क्या है ?	श्री ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव	३३५
७ ब्राह्मण क्या हुए ?	श्री. भारतचंद्र चौधरी	३४३

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६०

वर्ष २२ : : : : अङ्क ८

श्रावण संवत् १९९८

अगस्त १९४१

धन ।

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यम्
भागमा सुव स हि रत्नधा असि ।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे
स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥

(ऋ० १०।३५।७)

"हे (सवितः) सब के उत्पन्न कर्ता देव ! (नः) हमारे लिये (अद्य) आजही (श्रेष्ठं वरेण्यं भागं) उत्तम स्वीकार करने योग्य भाग्य, धन (नः आ सुव) हम सबको दे । क्योंकि तूहि (रत्नधा असि) रत्नों का धारण करनेवाला है । (रायः जनित्रीं) धनों को उत्पन्न करने- वाली (धिषणां) बुद्धिकी (उप ब्रुवे) मैं प्रशंसा करता हूं, क्योंकि वही धन देनेवाली है । हम सब (समिधानं अग्निं स्वस्ति ईमहे) प्रज्वलित अग्नि के पास कल्याण के लिये प्रार्थना करते हैं ।"

ईश्वर हमें धन, उत्तम बुद्धि और कल्याण देवे ।



वाल्मीकीय रामायण का मुद्रण।

(भाषानुवाद, टिप्पणी तथा विस्तृत उपसंहार समेत सचित्र)

उपसंहार समेत बालकाण्ड अगले महिने में तैयार होगा।

वाल्मीकीय रामायण का मुद्रण हो रहा है। इस राष्ट्रीय ग्रंथ का मननपूर्वक वाचन घर घरमें होना चाहिये, ऐसा अपूर्व श्रेष्ठ यह ग्रंथ है। इसका उत्तम मुद्रण हम कर रहे हैं और सहूलियत से ग्राहकों को देना चाहते हैं। इस विषय का विज्ञापन इस अंकमें अन्यत्र प्रकाशित हुआ है, वह पाठक अवश्य देखें। और इस सहूलियत से अवश्य और शीघ्र लाभ प्राप्त करें।

बालकाण्ड उपसंहार के समेत छपकर करीब करीब तैयार हुआ है। अगले महिने के अन्त तक तैयार होगा और उसके बाद जिल्द आदि होकर ग्राहकों के पास भेजा जायगा।

पेशगी मूल्य की अवधि बालकाण्ड प्रकाशित होने तकही है।

यह रामायण १० विभागों में प्रकाशित होगा और इन सब विभागों का मूल्य ३०) रु० है, डा० व्य० ६॥) अलग है। पर जो पेशगी मूल्य भेजेंगे उनको हम यह ग्रंथ केवल २०) में देंगे। बालकाण्ड तैयार होने तकही यह सहूलियत की अवधि है। इसलिये जो लोग इस सहूलियत से लाभ उठाना चाहते हैं, वे अति शीघ्र २०) भेजकर ग्राहक बनें।

बालकाण्ड तैयार होने के बाद जो ग्राहक होंगे, उनको २२) बाईस रु० मूल्य होगा और आगे प्रत्येक काण्ड तैयार होनेपर दो दो रु० मूल्य बढता जायगा। इसका विचार कर इस समय पेशगी मूल्य भेजकर, ग्राहक अधिक से अधिक लाभ उठावें। इस समय २०) रु० पेशगी मूल्य भेजनेसे १६॥) का लाभ है।

प्रबन्धकर्ता– स्वाध्याय–मण्डल, औंध, जि० सातारा

रामायणकालीन आर्यसंस्कृति।

(प्रथम भाग)

विषयोपन्यास।

(लेखांक १.)

राम-पदार्थ-निर्णय।

(लेखक- श्रीवाल्मीकिवाक्प्रदीप विष्णु दामोदरशास्त्री पंडित (तोफखाने) ग्वालियर आर्मी ऑर्डनन्स्-रिटायर्ड)
[अनुवादक — लेफ्टनन्ट् बालकृष्ण दामोदरशास्त्री पंडित, (तोफखाने) ग्वालियर आर्मी-रिटायर्ड]

प्रस्तुत निबन्ध में **रामायणकालीन आर्यसंस्कृति** का ऐतिहासिक दृष्ट्या निरीक्षण कर्तव्य है। विषयोपक्रम करनेसे पूर्व उन कतिपय शब्दोंका स्पष्टीकरण होना अवश्य है, जिनका प्रस्तुत निबन्ध में विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है।

स्पष्टीकरण।

(१) "**संस्कृति**"- इस शब्दका व्यवहार प्रस्तुत निबन्धमें आंग्ल भाषाके Civilisation अर्थात् सभ्यता के अर्थ में किया गया है।

(२) "**भारतीय आर्य**"- भारतीय आर्यों के व्यतिरिक्त यदि कोई अन्य 'आर्य' हों भी तो उनकी संस्कृति का विचार प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है।

(३) "**रामायणकालीन आर्यसंस्कृति**"- ऋग्वेद-काल से लेकर भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मकालतक एक बृहत् कालखण्ड प्रस्तुत निबन्धमें "**रामायणकालीन**" कहा गया है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदकाल से लेकर--आगे--**श्रीरामचन्द्रजी के समय तक**, तथा **श्रीकृष्णजन्म से** लेकर--तत्पूर्व--**श्रीरामचंद्रजी** के समय-तक अर्थात् **श्रीरामचन्द्रजी के राजत्वकाल** में हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति का स्वरूप पूर्णतया यथार्थतः प्रतीत होता है। अतएव उसको "**रामायणकालीन**" कहा है।

हमारे शास्त्रों के मतानुसार '**ऋग्वेदपूर्व**' न तो कोई 'काल' है और न '**भारतीय आर्यों**' के व्यतिरिक्त अन्य कोई 'आर्य' भी हैं। परन्तु विदेशीय (पाश्चात्य) पंडित और उन्हींके अनुगामी हमारे देशीय पंडित भी '**ऋग्वेदपूर्व**' कोई 'काल' (Pre Rigvedic age) तथा "**भारतीय आर्यों**" के व्यतिरिक्त--अन्यत्र भी "**आर्यों**" का अस्तित्व मानते हैं, उससे जो घोटाला उपस्थित होने का संभव है, वह न होने पाए इस हेतुसे, हमारे विचार-विषयक कालखंड की मर्यादा यहाँ निश्चित कर दी, तथा हमारे "**आर्य**" शब्द की व्याप्ति कहांतक है, इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ कर दिया है। अर्थात् "**ऋग्वेदपूर्व**" और "भगवान् श्रीकृष्णजन्म के पश्चात्" वर्तमानकाल तक--दोनों कालान्तर्गत संस्कृतिका विचार प्रस्तुत निबन्ध में किया नहीं है।

भगवान् **श्रीकृष्णके** जन्मकाल के पश्चात् वर्तमान कालतक भारतीयोंकी '**अवनति**' ही का काल है, जिस का विचार एक स्वतंत्र लेख में यथासमय किया जायगा।

यद्यपि हमारे शास्त्रों के मतानुसार **शूद्रवर्ग** का समावेश **आर्यों** में नहीं हो सकता, तथापि वर्तमानकालीन शूद्रोंमें जो '**सत्-शूद्र**' तथा '**स्पृश्य शूद्र**' हैं, उनकी उत्पत्ति त्रैवर्णिक अर्थात् **आर्यों** ही से हुई है। अतः उन की संस्कृति का विचार पृथक्तया करनेकी सुतराम् आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, हम भारतीयोंकी समाज-रचना ही **चातुर्वर्ण्य-प्रधान** है और **शूद्रवर्ण** उसी समाजका एक **महत्तम** तथा **महत्त्व** का घटक है, इस कारण से सामाजिक दृष्ट्या उसको संस्कृतिविचार से पृथक् रखने की कोई आवश्यकता नहीं है और न ऐसा करना चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विचार से इष्ट भी है।

प्रस्तुत निबन्ध '**रामायणकालीन**' संस्कृतिसे संबंध रखता है, अतः उसके लिए प्रमाणभूत ग्रन्थ **आदिकवि महर्षि वाल्मीकिप्रणीत रामायण** ही हमें मान्य है। अर्थात् '**श्रीरामचरित्र**' विषयक जो लेख अन्यत्र कहीं हों, यदि वे **वाल्मीकिरामायणके विरोधी होंगे**, तो वे **अप्रमाण** अतएव त्याज्य होंगे। उसी प्रकार अन्यत्र उल्लेखित कोई लेख यदि वाल्मीकिरामायणके पृष्ट पोषक होंगे, तो वे आवश्यकतानुसार हमें ग्राह्य भी होंगे। अन्यान्य ग्रन्थान्तर्गत प्रमाणोंका विचार भी आवश्यकतानुसार किया जाएगा।

यह एक **त्रिकालाबाधित सिद्धान्त** है कि, किसी संशोधन कार्य के लिए जो ग्रंथ प्रणामभूत माना जाए, उसका **सूक्ष्म अभ्यास** करने की आवश्यकता होती है, और सूक्ष्म अभ्यास करनेके लिए उस ग्रंथमें निर्दिष्ट किये हुए **पद-पदार्थ** का पूर्ण ज्ञान होनेकी भी आवश्यकता होती है। ग्रन्थलेखनमें ग्रंथकर्ता का उद्देश्य, उसका लेखन-काल, तत्कालीन समाज की अवस्था, ग्रंथकर्ताके आस-पास की स्थिति, उपलब्ध साधन और ग्रंथकर्ताका अधिकार इत्यादि अनेक बातों का विचार होना चाहिए। संक्षेपतः संशोधक-उस ग्रंथकर्ता की जगह स्वयं अपने को मानकर, अपने आसपास उस ग्रंथकर्ता की सारी परिस्थिति को प्रत्यक्ष समझकर, अर्थात् उस ग्रन्थकर्ताके साथ **पूर्ण तदाकार-वृत्ति** बनकर ही उसके ग्रन्थ का विचार कर सकता है। अन्यथा उस ग्रन्थ का रहस्य समझना नितान्त अशक्य है। ग्रन्थकारसे तदाकारवृत्ति होनेकी संशोधक में जितनी अधिक शक्ति होगी, उतनाही ग्रन्थका मर्माविष्करण करना उसके लिए सहल होगा। **श्रीवाल्मीकिरामायण** का अभ्यास भी इसी सिद्धान्तानुसार होना चाहिए।

अब **पदार्थज्ञान** के संबंधमें थोडासा दिग्दर्शन करके मुख्य ग्रन्थ का विचार प्रारंभ करेंगे। ग्रन्थमें जो शब्द-प्रयोग होते हैं, उन्हें '**पद**' कहते हैं। अपने ग्रन्थमें ग्रन्थ-कर्ताने कौनसा शब्द कहाँ और किस अर्थमें व्यवहृत किया है, तथा उस स्थानपर उस शब्द का उसी प्रकार व्यवहार करनेमें ग्रन्थकर्ता का क्या आशय है, इत्यादि बातें '**पद**' विचारमें आवश्यक होती हैं। उसी प्रकार '**पदार्थ**' अर्थात् '**पात्र**' या 'ग्रन्थान्तर्गत व्यक्ति'। इस '**पदार्थ**' विचारमें ग्रन्थान्तर्गत पात्रों की योग्यता, अपनी अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक पात्र की भूमिका यथायोग्य सधी है या नहीं, इत्यादि बातें विचारणीय होती हैं। अर्थात् उस पात्र के स्थानपर स्वयं अपनी कल्पना करके, उसपर जो कुछ भलीबुरी बीती हो, और उससे पार होनेके लिए उसने जिस उपायका अवलंब किया हो, वह योग्य था या अयोग्य? यदि हम उसकी जगह होते, तो क्या करते? इत्यादि बातों का पूर्ण विचार होना चाहिए, तभी उस पात्र की अवस्था का ज्ञान तथा उस अवस्थामें उसने जो कुछ किया, वह योग्य था या अयोग्य, इसका निर्णय करना संशोधक के लिए सहल होगा।

उदाहरणार्थ- **भगवान् श्रीरामचंद्रजीने** शूर्पणखा राक्षसी जो उनपर अनुरक्त होकर आई थी, उसके नाक कान लक्ष्मणजीसे कटवाकर उसकी विडंबना की। आधुनिक विद्वान् मंडलीमें कई लोग श्रीराचन्द्रजी का यह कृत्य गर्हणीय मानते हैं। परन्तु यह विद्वान् जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की इस कुकर्म (?) के लिए भर्त्सना करते हैं, उनसे हमारा सविनय अनुरोध है कि वे महाशय स्वयं भगवान् श्रीरामचंद्रजी की भूमिकापर आरूढ होकर **श्रीसीताजी के स्थान पर अपनी गृह-देवीजी** को अधि-ष्ठित करें। अब मान लें कि, वे महाशय अपनी गृहदेवीजी को साथ लिये हुए किसी जंगल से गुजर रहे हैं। अकस्मात् वहाँ उनके पास कोई पठानी आती है और उनपर मोहित होकर उनसे अनुनय करती है कि, वे महाशय अपनी गृहदेवी का त्याग कर, उस (पठानी) का स्वीकार करें। उक्त महाशय अस्वीकार करते हैं, परन्तु वह पठानी इस अस्वीकार का कारण उन महाशय की गृहदेवी को समझ-कर उसे मार डालने के लिए उसपर छुरा ताने हुए दौड जाती है। अब वे महाशय इस अवस्थामें क्या करेंगे? क्या वे उस पठानी को '**अहिंसातत्त्व**' का उपदेश करेंगे या उसके आक्रमण से अपनी गृहदेवी के प्राण बचाने का यत्न करेंगे? हमें विश्वास है कि उक्त महाशय ऐसी अवस्थामें अपनी गृहदेवी को उस पठानी से बचाने की ही **प्राणपण से चेष्टा** करेंगे, यहाँतक कि उसकी हत्या करनेपर भी उतारू हो जायँगे। उस पठानी की हत्या करते हुए वे महाशय तनिक भी हिचकिचाएंगे नहीं और न उसमें कुछ अन्याय भी समझेंगे। यही न्याय **श्रीरामचंद्रजी** को भी लगाया जाए, तो उन्होंने जो दण्ड शूर्पणखा को दिया, उसके लिए वे अपराधी या अन्यायी नहीं कहे जा सकते।

हमारे विचारसे तो उन्होंने उस राक्षसी को बहुतही सौम्य दण्ड देकर छोड दिया। शूर्पणखा श्रीसीताजीपर 'भक्षयिष्यामि मानुषीम्' कहती हुई मारने के लिए ही दौड गई थी। ऐसी अवस्थामें श्रीरामचंद्रजीने उसके केवल नाककानही कटवा कर उसे बिदा कर दिया, इसमें उन्होंने कौनसा अपराध या अन्याय किया, इसका उत्तर आक्षेप करनेवाले विद्वान् लोग देने की कृपा करें।

तात्पर्य यह है कि पदार्थज्ञान प्राप्त करनेमें भी अभ्यासक को ग्रन्थान्तर्गत पात्र की भूमिका से पूर्ण समरस होना पडता है। अन्यथा उस ग्रन्थका मर्म समझना उसके लिये सर्वथा अशक्य है। इसी भाँति यदि हमें वाल्मीकि रामायण के ही आधार से हमारी संस्कृतिका विचार कर्तव्य है, तो वाल्मीकिरामायणांतर्गत पद-पदार्थ का समुचित ज्ञान हमें सर्वप्रथम कर लेना चाहिये।

वाल्मीकि रामायणमें मुख्य पदार्थ तीन हैं। (१) नर, (२) वानर, (३) राक्षस। इन्हीं तीनों पदार्थोंके अन्तर्भूत अनेक उपपदार्थ या उपपात्र भी हैं। उदाहरणार्थ, 'नर' पदार्थ में प्रधान पात्र 'श्रीरामचंद्र' या 'राम' और तदितर सीताजी, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, कौसल्या, कैकेयी, मन्थरा, वसिष्ठ, सुमन्त्र इत्यादि अनेक उपपात्र हैं, जिनका अन्तर्भाव एक 'नर' पदार्थ में ही होता है। 'वानर' पदार्थमें प्रधान पात्र 'हनुमान्' और तदितर वाली, सुग्रीव, तारा, अंगद और जांबवान् इत्यादि उपपात्र अन्तर्भूत हैं और 'राक्षस' पदार्थ में प्रधान पात्र 'रावण,' तथा मन्दोदरी, कुम्भकर्ण बिभीषण, शूर्पणखा, मारीच, सुमाली इत्यादि उपपात्र हैं। एवम् वाल्मीकि रामायणांतर्गत सब पात्रोंका अन्तर्भाव 'नर', 'वानर' और 'राक्षस' इन्हीं तीन पदार्थोंमें है। इन तीनों पदार्थों का निर्णय होने से उनके पारस्परिक व्यवहार तथा और भी कई संशयास्पद बातोंका निराकरण सुगमतासे हो सकेगा। अतएव 'नर,' 'वानर' और 'राक्षस' ये पदार्थ क्या हैं, इसका विचार सर्वप्रथम होना चाहिये।

परन्तु उपरिनिर्दिष्ट विचार करते हुए, हमें निम्नलिखित बन्धनों का भी विचार करना पडता है। ये बन्धन चार हैं- अर्थात् (१) अधिकारी, (२) अभिधेय, (३) संबंध और (४) प्रयोजन। इन बन्धनोंको हम तोड नहीं सकते, क्योंकि इन्हीं बंधनोंमें रहकर किया हुआ कार्यही विद्वज्जन-मान्य होना संभवनीय होता है- अन्यथा नहीं होता। इन चार बन्धनों को 'अनुबंध-चतुष्टय' कहते हैं। इन का भी विशेष स्पष्टीकरण यहां पर कर देना उचित है।

(१) 'अधिकारी'- अर्थात् अभिधेय पदार्थ ग्रहण करने का सामर्थ्य अथवा योग्यता रखनेवाली व्यक्ति।

(२) 'अभिधेय'- (इसी को विषय भी कहते हैं)- अर्थात् उक्त अधिकारी के ग्रहण करनेयोग्य पदार्थ।

(३) 'सम्बंध'- जो अधिकारी और विषय दोनोंका ग्रहण-धारण द्वारा होता है।

(४) 'प्रयोजन'- अर्थात् कारण या हेतु। यह दो प्रकार का होता है। एक मुख्य और दूसरा अवांतर अर्थात् गौण।

रामायणके अभ्यासक अधिकारीके भी दो प्रकार हैं- एक 'सुप्त जनता' और दूसरी 'प्रबुद्ध-जनता'। सुप्त यानी मुँहपर लिहाफ ओढकर सोये हुए नहीं, अपितु स्वकर्तव्य-पराङ्मुख लोग, जिन्हें केवल खाना, पीना और मजे उडाना, इसके व्यतिरिक्त न तो अपने देह-संबंधी कर्तव्य का ज्ञान है, और न राष्ट्रविषयक कर्तव्य को भी वे कुछ जानते हैं। दूसरी 'प्रबुद्ध जनता'; इस में उन लोगोंका समावेश है कि, जो अब थोडे जग पडे हैं- अर्थात् जिन्हें अब देश-काल-परिस्थितिका कुछ कुछ ज्ञान होने लगा है। देश के लिए, समाज के लिए, अन्ततो गत्वा स्वयं अपने लिए कोई निश्चित कर्तव्य है, और वह करना ही होगा, इस बात को जो अब समझने लगे हैं। उक्त दोनों प्रकार के-सुप्त और प्रबुद्ध-लोगों में जागृति करके उन्हें स्व-कर्तव्याभिमुख करना यही मुख्य प्रयोजन है। तथा हमारे रामायणादिक पवित्र ग्रन्थों पर और तदन्तर्गत पवित्र और पूजनीय व्यक्ति पर अनेक प्रकारके असम्बद्ध, अप्रमाण और कुत्सित अधिक्षेप जो कोई अर्वाचीन विद्वान् लोग कर बैठते हैं और अपने अधिक्षेपों द्वारा जनता का बुद्धिभेद करनेकी यथासाध्य चेष्टा करते हैं, उनका सप्रमाण और सयुक्तिक खण्डन करके हमारी आर्य-संस्कृति का यथार्थ स्वरूप जनता के सम्मुख विचारार्थ रखना, यह अवान्तर या गौण प्रयोजन है।

यह हम आरंभ ही में कह चुके हैं कि अभिधेय विषय "रामायणकालीन आर्यसंस्कृति" है। "अधिकारी" अर्थात् 'सुप्त' और 'प्रबुद्ध' जनता के साथ ग्रहण-धारणद्वारा इस अभिधेयविषयका संबंध है। हमारे 'अधिकारी' वर्ग में ज्ञाति अथवा वर्णभेदके लिए कोई अवकाश ही नहीं है। अर्थात् हमारे अभिधेय विषय की अधिकारी सर्व ज्ञाति की जनता है।

बहुसंख्य अर्वाचीन शिक्षित जनता का यह दृढ विश्वास हो चुका है कि, "हमारे पूर्वज निरे पूजापाठी या कर्मकाण्डी ही थे। अर्वाचीन सभ्यता का उन्हें गन्ध भी नहीं था। जो कुछ सायन्स, केमिस्ट्री, इलेक्ट्रीसिटी और अन्यान्य अनेक शास्त्रोंका उद्गम भारतवर्ष में दिखाई देता है, वह सब पाश्चिमात्य लोगों के ही कारणसे है। हमारे पूर्वज सीधे-सादे और अज्ञान थे! हम लोगोंको ब्रिटिश लोगोंने ज्ञान-दान किया! पाश्चिमात्य लोग 'सिंह' हैं और हम उनके आगे निरे 'भेड-बकरी' हैं! उनकी योग्यता पाना हमारे लिए असाध्य है।" इत्यादि स्वाभिमानशून्य और निरुत्साहयुक्त भावना जो अर्वाचीन शिक्षित जनता के हृदय में दृढमूल हो बैठी है, वह नष्ट होकर, "हम भी सिंह ही हैं, हमारे पूर्वज कोई गँवार या अशिक्षित नहीं थे, अपि तु महान् पराक्रमी, तत्त्वान्वेषी और सामर्थ्यवान् थे; उन्होंने आध्यात्मिक और आधिभौतिक शास्त्रोंमें अपूर्व और महनीय संशोधन करके उन शास्त्रों की अत्यंत प्रगति की थी। उन्होंने बडे बडे युद्धोंमें विजय प्राप्त किये थे और स्वपराक्रमसे अखिल भूमंडल पर अत्यंत विस्तीर्ण साम्राज्य स्थापन किये थे कि, उनपर सूर्यास्त कभी होता ही नहीं था। हमारे पूर्वज उन्नति के सर्वोच्च शिखरपर आरूढ थे, और उन्हीं की सन्तान हम आज किस स्थानपर हैं? अवनति-कूप में कहाँतक गहरे डूबे हुए हैं!" इत्यादि बातों का उन्हें ज्ञान हो जाय, उनमें ईर्षा उत्पन्न होकर उनका उत्साह बढे, स्वाभिमान जागृत हो जाय, और हमारे अत्यंत बलविक्रमशाली तथा तेजस्वी पूर्वजों के सदृश हम भी उन्नति के सर्वोच्च शिखरपर आरूढ होवें" इस इच्छासे वे कर्तव्यशील तथा दृढ प्रयत्नशील हों, यही इस जागृति का साध्य है।

केवल इसी हेतुसे हमारी प्राचीन संस्कृति का धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से चिकित्सापूर्वक अभ्यास करना अत्यावश्यक है, और जब कि यह अभ्यास हम श्री-वाल्मीकि रामायण के आधार से ही कर रहे हैं, उस ग्रन्थ के अन्तर्गत पद-पदार्थ के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता भी स्पष्टही है। अतएव यही ज्ञान अत्यन्त विचारपूर्वक सर्वप्रथम संपादन करना चाहिए।

परन्तु उक्त पद-पदार्थज्ञानसंपादनार्थ ऐसे गुरु का आश्रय लेने की आवश्यकता है कि जो ज्ञानमें हमारी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हों। हमारी दृष्टि में ऐसे गुरु दो प्रकार के हैं। एक हमारे प्राचीन विद्याप्रवीण शास्त्री, पंडित, कथा-कीर्तनकार तथा संतमंडली। इन्हें हम 'प्राचीन' शिक्षक कहेंगे। दूसरे वे युरोपीय पंडित-मण्डली, जिन्होंने सहस्रावधि मीलों का समुद्रपर्यटन किया, लक्षावधि धन समुद्र को समर्पण कर दिया, अपना जीवित भी संकटमें डाला, तथापि भारतवर्षमें आकर हमारे वेदशास्त्रोंका अत्यन्त परिश्रमपूर्वक सूक्ष्म अभ्यास करके, उन्हें अनुवादित कर-हमारे सम्मुख रक्खा! तथा उक्त यूरोपीय विद्वानों के सांप्रदायी-देशीय तथा विदेशीय विद्यापीठों के उपाधिधारी डॉक्टर्स, प्रोफेसर्स इत्यादि-हमारी भारतीय विद्वान् मंडली। इन्हें हम 'अर्वाचीन' शिक्षक कहेंगे।

उक्त 'प्राचीन' तथा 'अर्वाचीन' दोनों शिक्षकों की विचार--दृष्टियाँ भी विभिन्न हैं। प्राचीन शिक्षकों की दो प्रकार की और अर्वाचीन शिक्षकों की दो प्रकार की। प्रथमत: हम प्राचीन शिक्षकों की दोनों दृष्टियों का विचार करेंगे।

प्राचीन शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् वेदान्ती पंडित हैं। उनकी दृष्टिसे श्रीरामचंद्रजी तो सच्चिदानन्द परब्रह्म ही हैं, राक्षस षड्विकार हैं, और वानरजाति चंचल मनोवृत्तियाँ हैं। दूसरे शिक्षक सामान्य विद्वत्ता रखनेवाले पंडित, कथा--कीर्तनकार तथा संतमंडली, जिनकी दृष्टिमें श्रीरामचंद्रजी साक्षात् परमेश्वर ही हैं। उन्होंने राक्षसों को कराल दांतवाले, भयंकराकृति, सूप जैसे कानवाले, पर्वत गुहा जैसी नाकवाले, भयानक दरीके सदृश मुखवाले और बडे बडे गवाक्षों के सदृश नेत्र-

वाले ही बना दिया। उनके मुखसे उनकी जिह्वा सवा गज बाहर निकाल दी, दोचार प्रेत उनके कन्धोंपर लाद दिये, तो दोचार उनके दांतों तले भी रख दिये, उनके गलोंमें रुंडमालाएँ पहना दीं, तथा रक्तमांस से उन्हें लीप पोत कर उनका स्वरूप बीभत्स ही बना दिया! सारांश, दूसरी श्रेणी के प्राचीन शिक्षकोंने राक्षसों को धर्म-ध्वंसक, यज्ञ-याग का विध्वंस करनेवाले, गोब्राह्मण-भक्षक, विकराल, दीर्घकाय, विजातीय जीवही निश्चित कर छोडा! तथा वानरों को भी सामान्य पशु- लम्बी पूँछवाले बन्दर ही बनाकर छोड दिया!

अर्वाचीन शिक्षक तथा उनकी दो दृष्टियां-अर्वाचीन शिक्षक राक्षसों और वानरों को मनुष्य तो मानते हैं, परंतु उन्हें वे 'बार्बेरियन्स' (Barbarians) अर्थात् जंगली या 'अनार्य' समझते हैं। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको भी 'काल्पनिक व्यक्ति' (Ficticious Person) तथा रामायण को 'काल्पनिक काव्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनानुसार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकारके शिक्षकों की विचारप्रणाली चार प्रकार की है। परन्तु, हमारे अभिप्रायसे दोनों शिक्षकोंने जनता को केवल भ्रम में डाल रक्खा है। उन्होंने किस प्रकार जनता को भ्रम में डाला, इस का स्पष्टीकरण किये बिना पदार्थका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता, अतः यह स्पष्टीकरण भी हमें अपनी ही विचारदृष्टि के द्वारा कर लेना होगा। हमारी विचारदृष्टि भी दो प्रकार की है- (१) आध्यात्मिक (Spiritual View) और (२) आधिभौतिक (Material View)। दोनों प्रकारसे विचार किये बिना हमारे प्राचीन ग्रन्थों का रहस्यज्ञान नहीं हो सकेगा। पाश्चात्य संस्कृति केवल भौतिक स्वरूपकी ही Material होने के कारण उसका विचार भौतिक दृष्टिसे करना पर्याप्त हो सकता है, परन्तु हमारी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति के सदृश केवल भौतिक ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक भी है। अतः भारतीय आर्यों की संस्कृति का विचार केवल भौतिक दृष्टि ही से करना पर्याप्त नहीं होगा, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भी करना आवश्यक होगा। परन्तु जहाँतक हो सके, हम आधिभौतिक दृष्टि (Material View) के अनुसार ही आर्यसंस्कृति का विचार करेंगे। हाँ, जहाँ आधिभौतिक शास्त्र की सीमा ही समाप्त हो जाएगी, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि की भी शरण ले लेंगे।

अब हम प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षकोंने जनता को किस प्रकार भ्रममें डाला, इसका विचार उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की दृष्टिसे करने का यत्न यथासाध्य करते हैं। सर्वप्रथम प्राचीन शिक्षकों में जो वेदान्ती पण्डित उन की दृष्टि से 'नरोत्तम राम' यह पदार्थ विचारार्थ लेते हैं।

वेदान्ती पण्डित श्रीरामचन्द्रजीको 'परब्रह्म' मानते हैं और उनके 'परब्रह्मत्व' का समर्थन भी करते हैं। हम भी उपासना की दृष्टिसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को उपास्य देवता अर्थात् परब्रह्म ही समझते हैं। उन्हें परब्रह्म मानने में हमें कोई प्रत्यवाय नहीं है। परन्तु यह परब्रह्म श्रीरामचन्द्र रामायण-काव्य के नायक (Hero) नहीं हो सकते। क्योंकि परब्रह्म के जो लक्षण हैं, वे रामायण काव्य के नायक दशरथ-पुत्र सीतापति रामचन्द्रजी के विषय में घटनीय नहीं हो सकते। परब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निरवयव, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, नित्यानंदमय, सर्वात्मा इत्यादि लक्षणों से युक्त होता है। किन्तु रामायणकाव्य के नायक रामचन्द्रजी इन लक्षणों से ठीक विपरीत ही दिखाई देते हैं। यथा- (१) यदि वे निर्गुण हैं, तो रामायण काव्यकी रचना हो ही नहीं सकती। क्योंकि निर्गुण का गुणवर्णन अशक्य है, और रामायण तो एक गुणवर्णनात्मक काव्य है। (२) यदि वे निर्विकार हैं, तो उनकी रावण से शत्रुता तथा बिभीषण से मित्रता होने का कोई कारण ही नहीं था। (३) यदि निराकार तथा निरवयव हैं, तो उनका अरण्यवास, धनुष्यबाण धारण करना, तथा युद्धविक्रम करना संभवनीय ही नहीं था। (४) यदि 'सर्वज्ञ' हैं, तो सीताजीको कौन हरण कर ले गया और उसने उनको कहाँ रक्खा, इस का ज्ञान उन्हें आप ही आप या समाधिद्वारा हो जाना चाहिये था, जिससे हनुमानजी को उन्हें ढूंढने के समुद्रपार जाने का प्रयास करने की कोई आवश्यकता ही न होती। (५) यदि 'सर्वव्यापी' हैं, तो वे अयोध्यामें, दण्डकारण्यमें लंकामें, सभी जगह व्याप्त रहे थे। न कहीं गये थे और न कहीं से आये भी थे। अतः दशरथको पुत्रशोक होनेका कोई कारण

ही नहीं था। (६) यदि '**नित्यानन्दमय**' हैं, तो सीतावियोग से– और अन्यान्य प्रसंगोंमें भी– वे दुःख, शोक, मोहादि में क्यों मग्न हुए? (७) यदि '**सर्वात्मा**' हैं, तो वे रावण में, बिभीषण में, दशरथ में, वाली–सुग्रीव में, कैकेयी–मन्थरा में– सर्वत्र आत्मारूप से भरे हुए थे ही! **रावण में और उनमें तत्त्वतः कोई भेद तो था ही नहीं!** फिर सीताजी रावणके पास रहीं, अथवा श्रीरामचन्द्रजीके पास रहीं, एक ही बात थी। फिर उन की मुक्ति के लिए इतनी वानरसेना इकट्ठी करके समुद्रपर सेतु बांधनेकी और युद्धमें कोट्यवधि राक्षसों का और वानरोंका संहार करवा कर **रावणवध** करनेकी भी कौनसी आवश्यकता थी? (८) यदि '**सर्वशक्तिमान्**' हैं, तो उन्हें **वानरराज सुग्रीव** से क्यों सहायता लेनी पडी थी? कहनेका तात्पर्य यह है कि, **रामायणकाव्य** के नायक **श्रीरामजी** '**परब्रह्म**' नहीं थे और न उन्होंने **स्वयं अपनेको** '**परब्रह्म**' **समझा भी था।** **रावणवध** के पश्चात् **सीताजीने आत्मशुद्ध्यर्थ अग्निप्रवेश** किया, तब **श्रीरामचंद्रजी उद्विग्न हो** बैठे थे। ब्रह्मदेव, महादेव, इन्द्र, वरुण आदि लोकपालोंने उस प्रसंगपर श्रीरामचन्द्रजी का सान्त्वन करते हुए कहा—

"**कथं देवगणश्रेष्ठं आत्मानं नावबुध्यसे?**"

इसपर श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर दिया कि—

"**आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।**"

(युद्धकांड, सर्ग ११७।११)

इस उत्तर से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि, **श्री रामचंद्रजी स्वयं अपने को 'परब्रह्म' नहीं मानते थे।** जब उन्हीं को यह 'परब्रह्मत्व' स्वीकार नहीं है, तो वह उनपर **हठात् लादने** से क्या लाभ? एतावता **रामायणके नायक श्रीरामचंद्रजी 'परब्रह्म' हो नहीं सकते।**

तब क्या श्रीरामचन्द्रजी '**ईश्वर**' हैं? नहीं, वे '**ईश्वर**' **भी नहीं हैं।** क्योंकि **ईश्वर** भी सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी तथा जगत् की उत्पत्ति का कारण है। **श्रीरामचंद्रजीमें** इनमेंसे एक भी गुण दिखाई नहीं देता। अतः **श्रीरामचंद्रजी ईश्वर भी नहीं हो सकते।** तब श्रीरामचन्द्रजी क्या पदार्थ हैं? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि, वे **ईश्वर के अंशावतार हैं,** अर्थात् हम जैसे **मनुष्य ही हैं।** क्योंकि मनुष्य भी ईश्वरांश ही होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

एतन्नानावताराणां निदानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

(श्रीमद्भागवत–स्कंध १)

अर्थात् जिस चैतन्य का अंश **श्रीरामचन्द्रजी** में है, वही **हममें** भी है। उसमें **लवमात्र भिन्नता** नहीं है। तब फिर श्रीरामचंद्रजी को ही क्यों इतना श्रेष्ठत्व दिया जाय? यह एक प्रश्न स्वाभाविकतया उपस्थित होता है। उसका उत्तर यह है कि, यद्यपि श्रीरामचंद्रजी स्थूल शरीर से हमारे सदृश हैं, तथापि योग्यतामें वे हमारी अपेक्षा **अनंत गुणित श्रेष्ठ** हैं और इसी कारण से उनको श्रेष्ठत्व दिया गया है। निम्नलिखित **विद्युद्दीप** के दृष्टान्त द्वारा इसका विशेष स्पष्टीकरण किया जाता है।

बिजली के लट्टू (Electric bulbs) एकही पदार्थ के–कांचके–बनते हैं और उनमें बिजली का जो चैतन्यांश होता है, वह भी एकही होता है। तथापि प्रत्येक लट्टू के चैतन्यांश के न्यूनाधिक प्रमाणानुसार उसकी कार्यक्षमता न्यून वा अधिक होती है, फलतः उसकी योग्यता भी न्यून वा अधिक मानी जाती है। यथा, एक कॅन्डल् पॉवर की बत्तीसे पांच कॅन्डलवाली बत्ती श्रेष्ठ, ५ कँडलवाली से १० कँडल पॉवरवाली श्रेष्ठ, १० कँडल पॉवरवाली से १०० कँडल पॉवरवाली और १०० कँडलवाली पॉवर से १००० कँडल पॉवरवाली बत्ती। इस तरह हरएक बत्ती क्रमशः श्रेष्ठ मानी जाती है। उसी प्रकार मनुष्यमात्र के शरीर यद्यपि समानाकृति होते हैं, उनके घटक–द्रव्य, रक्त, मांस, अस्थि, चर्म, इत्यादि समसमान ही होते हैं, प्रत्येक शरीरमें उसी ईश्वरका चैतन्यांश विद्यमान है, तथापि वह चैतन्यांश व्यक्तिमात्रके **पूर्व सुकृतानुसार न्यून वा अधिक प्रमाण** में होता है और उसी प्रमाणमें उस व्यक्तिको **श्रेष्ठत्व या कनिष्ठत्व** मिलता है। १० कँडल पॉवर की बत्ती के आगे ५ कँडल पॉवरवाली बत्ती का उजाला फीका पड जाता है, १०० कँडल पॉवर की बत्ती के आगे १० कँडल पॉवर की बत्तीका और १००० कँडल पॉवर की बत्ती आगे १०० कँडल पॉवर की बत्तीका

उजाला फीका पड जाता है। इसी न्याय से श्रेष्ठ मनुष्य के सम्मुख कनिष्ठ मनुष्य का प्रभाव फीका पड जाता है। राजा के सम्मुख सर्वसाधारण लोग नम्र हो जाते हैं, तथा उसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, इसका कारण यही है कि सर्व-साधारण लोगों की अपेक्षा राजामें तेजस् अंश का प्रमाण अधिक ही होता है। सम्राट् को राजा से श्रेष्ठ मानते हैं, और सार्वभौम राजा सम्राट् से भी श्रेष्ठ होता है। फिर, ऐसे शतावधि सार्वभौम राजाओं से भी अनंतगुणित श्रेष्ठत्व जिनमें पाया जाता है, उन श्रीरामचंद्रजी को श्रेष्ठतम मान लिया जाए, तो उसमें दोषही क्या है? इसी श्रेष्ठत्व या सामर्थ्य को विभूतिमत्त्व कहते हैं, और यह विभूतिमत्त्व जिसमें होता है, वह निःसंदेह ईश्वर का अंशावतार ही होता है। यथा—

यत् यत् विभूतिमत् सत्वं श्रीमत् ऊर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

इस भगवदुक्तिके अनुसार उपर्युक्त कारणोंसे श्रीरामचन्द्रजी मनुष्यशरीर होनेपर भी वे अनन्तगुणित श्रेष्ठ विभूतिमान् थे। फलतः उनको श्रेष्ठत्व दिया गया और उन्हें ईश्वर भी मान लिया गया। श्रेष्ठत्व मनुष्यके विभूतिमत्त्व में होता है और विभूतिमत्त्व मनुष्यसाध्य होता है। 'जो नर करनी करे, तो नरका नारायण होय,' इस सन्तवचनानुसार मनुष्य यदि प्रयत्न करे, तो उस के लिए 'श्रीरामचन्द्र' होना असाध्य नहीं है।

अब श्रीरामचन्द्रजीको और रामायणको केवल 'कल्पना-चित्र' माननेवालों की दृष्टि से भी विचार करना चाहिये। हमारे विचारसे तो श्रीरामचन्द्रजी एक ऐतिहासिक और सत्य व्यक्ति हैं और रामायण भी एक सत्य ऐतिहासिक काव्य है। इन्हें 'कल्पना-चित्र' मानने-वालों के संतोषार्थ तुष्यतु० इस न्यायसे हम भी क्षणभर के लिये उन्हें कल्पनाचित्र ही मान लें, तो भी हमारे मुख्य उद्देश्य में कोई व्याघात नहीं पहुंचता। हमारा प्रतिपाद्य विषय है 'भारतीय आर्योंकी संस्कृति' न कि, श्रीरामचन्द्रजी या रामायण। अभ्यास की दृष्टि से अभ्यासकको राम या रावण समसमान ही हैं। क्योंकि, अभ्यासक की दृष्टिमें सज्जनकी सच्चरित्रता का जितना महत्त्व होता है, उतना ही दुर्जनके दुश्चरित्रका भी होता है। यदि उसमें भिन्नता होती है, तो वह केवल ग्राह्यांश और त्याज्यांश की होती है। अतः यदि रामायण को कोई काल्पनिक काव्य माने, तो उससे हमारी संस्कृति-सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती। रामायण में धर्म, राजनीति, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, युद्धशास्त्र, ललितकला इत्यादि अनेक शास्त्रों और कलाओंका वर्णन है और वह अत्युच्च श्रेणीका है। ऐसे उच्च श्रेणीके वर्णन केवल कल्पना की ही सहायतासे करनेवाले मस्तिष्क जिस समाज में होते हैं, और जिस समाज की सभ्यता का इस प्रकार उच्च श्रेणीका वर्णन हो सकता है, वह समाज असभ्य, जंगली (Barbarian) या अर्धसभ्य (Semi-Barbarian) हो ही नहीं सकता। कल्पित काव्यान्तर्गत व्यक्तियाँ भले ही काल्पनिक हों, परन्तु उनके पारस्परिक व्यवहार, उनसे लगाव रखनेवाले पदार्थ सृष्टि में यथापूर्व विद्यमान होने ही चाहिए। जो पदार्थ सृष्टि ही में न हों, उनका वर्णन कवि कभी नहीं कर सकता। कवि किसी पदार्थके वर्णन में अत्युक्ति भले ही कर जाय, परन्तु उस अत्युक्ति के लिए भी मूलतः उस पदार्थ के अस्तित्व की अपेक्षा उस कवि को रहती ही है। अतः रामायण में जितना काव्यभाग है, उसे छोडकर उसके मुख्य इतिहास की छानबीन की जाए, तो यही सप्रमाण सिद्ध होता है कि भारतीय आर्योंकी सभ्यता वर्तमान सभ्यता-शिखरारूढ पाश्चिमात्य राष्ट्रीयों की सभ्यता की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं थी, किन्तु श्रेष्ठ ही थी। सारांश, श्रीरामचन्द्रजी को 'काल्पनिक व्यक्ति' और रामायण को 'काल्पनिक काव्य' कहनेवालों के विचार से भी हमारी भारतीय आर्यों की संस्कृति सर्वोच्च ही सिद्ध होती है। तथापि हम यह पहलेहि लिख चुके हैं कि, हम श्रीरामचन्द्रजी को सत्य-ऐतिहासिक व्यक्ति और रामायणको सत्य ऐतिहासिक काव्य मानते हैं, अतएव हमारा विषयप्रतिपादन भी उत्तरोत्तर उसी विश्वास पर होगा।

परन्तु श्रीरामचन्द्रजी को जो लोग 'काल्पनिक' मानते हैं, उसका भी कोई कारण है। यह धारणा सर्व-प्रथम पाश्चिमात्य विद्वान् लोगोंकी हुई, और उनकी यह धारणा होने के लिए हमारे महाविद्वान् वेदान्तशास्त्री

कारणीभूत हुए। वेदान्तियोंकी शिक्षासे पाश्चिमात्य विद्वान् लोगों के मस्तिष्क में यह कल्पना उदित होकर वहाँ दृढमूल हो गई, इन पाश्चिमात्य विद्वानों से परंपरासे हमारे पाश्चिमात्यानुयायी अर्वाचीन विद्वान् लोगों में आकर रूढ हो गई। पाश्चिमात्य विद्वानों का इसमें कोई दोष नहीं है, अपितु हमारे ही विद्वानों के अप्रासंगिक वेदान्तप्रतिपादन का है।

जब यूरोपीय विद्वान् वेदशास्त्रादि के अभ्यासार्थ हमारे पंडितोंके पास पहले पहल गये, तब उन्होंने विना सोचे समझे वेदान्त के गूढ तत्त्व उनको सिखाये। उन तत्त्वोंको ग्रहण करनेका अधिकार यूरोपीय विद्वानों का है या नहीं, इसका उन्होंने तनिक भी विचार नहीं किया। रामायण सिखाते हुए श्रीरामचंद्रजी को 'परब्रह्म,' सीताजीको 'चित्कला,' हनुमानजीको 'सदसद्विचार-शक्ति,' रावणको 'अहंकार,' लंकाको 'लिंगदेह,' राक्षसोंको 'कामक्रोधादि षड्रिपु,' और वानरोंको 'चंचल मनोवृत्तियाँ' इत्यादि संज्ञाएँ देकर अपने यूरोपीय छात्रोंको रामायण का यह अर्थ समझाया कि 'अहंकाररूप रावणने चित्कला-रूप सीताजी का हरण किया, विवेकरूप हनुमानजीने उनका पता लगाया, फिर परब्रह्मरूप श्रीरामचन्द्रजीने लिंगदेहरूप लंका पर चढाई करके अहंकाररूप रावण का वध किया, फिर अपनी चित्कलारूप सीताजी को वापिस लाये और उनके साथ स्वाराज्यसिंहासन पर अधिष्ठित हुए। यह राम-रावण युद्ध सदा सर्वकाल इसी प्रकार से हो रहा है।' इस प्रकार से वेदान्तपर अर्थ उन लोगोंके मस्तिष्कमें ठूँसने का वृथा उद्योग हमारे वेदान्तनिपुण पंडितोंने किया। अब यह विचारने की बात है कि, जिन यूरोपीय लोगों को हमारे साधारण धर्मतत्त्वोंको भी ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं थी, उनके सम्मुख वेदान्तरूपकात्मक रामायण रखनेसे क्या परिणाम हुआ? वे यूरोपीय विद्वान् वेदान्ती पंडितों के वेदान्त-विवरण को तो ग्रहण नहीं कर सके, किंतु उनके मस्तिष्क में वेदान्तियों के प्रतिपादन से रामायण के विषयमें विपरीत भावनाएँ इतनी दृढमूल हो गईं कि वे रामायण को 'काल्पनिक काव्य' और श्रीरामचंद्रजी को 'काल्पनिक व्यक्ति' मानही तो बैठे। यहाँतक हमारे वेदान्ती पंडितोंने नरदेहधारी दशरथपुत्र अयोध्याधीश श्रीरामचंद्रजी का यथार्थ स्वरूप अपनी विद्वत्ताके प्रवाह में बहाकर नष्टप्रायही कर दिया। उन्होंने अनधिकारियों को वेदान्तविद्या सिखाने की चेष्टा की, जिसका यही दुष्परिणाम होनहार था!

वस्तुतः वेदान्तशास्त्र सब शास्त्रोंको ललामभूत अति-श्रेष्ठ शास्त्र है। वह ब्रह्मविद्या है। जिस प्रकार ब्रह्ममें अखिल ब्रह्मांड का अन्तर्भाव होता है, उसी तरह सब विद्याओंका अन्तर्भाव ब्रह्मविद्यामें होता है। स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने भी उसे 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहा है। अर्थात् वह श्रीभगवत्स्वरूप ही है। परन्तु, अनधिकारी के हाथ से उसका दुरुपयोग हुआ और सामान्य जनता का उसने मतिविभ्रम कर दिया। अत्युत्तम शस्त्र का उपयोग शत्रुहनन के बदले यदि आत्म-हनन में किया जाय, तो उसमें शस्त्र का क्या दोष? अग्नि का उपयोग उत्तमोत्तम सुस्वादु पक्वान्नों को बनाने के लिए हो सकता है, तथा किसी वस्तु को जलाने के लिए भी हो सकता है। अग्नि किसी बुद्धिमान् मनुष्य के हाथमें जानेपर वह उससे सुस्वादु पाकनिष्पत्ति करेगा। इसके विपरीत वही अग्नि किसी बन्दर के हाथमें लग जाय, तो वह किसी के घरको उससे जला देगा। ठीक यही दशा हमारे वेदान्तशास्त्रकी हुई। हमारे वेदान्ती पंडितोंने धन-लोभ के वश होकर अनधिकारी और अपात्र लोगों को सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या प्रदान की, उसकाही यह प्रतिफल है कि, 'राम' यह 'काल्पनिक व्यक्ति' और 'रामायण' यह एक 'कल्पित काव्य' है, ऐसे विधान करने का अवसर उन लोगों के हाथ लगा। यह 'अपात्रे विद्यादान' का फल है। तथा 'राम ईजिप्शियन् था, युधिष्ठिर ईरानी था, कुश-लव रावण की सन्तान थे, कौसल्या और दशरथ सहोदर बहिन-भाई थे,' इत्यादि अत्यन्त मिथ्या, अत्यन्त घृणाजनक और अत्यंत निरर्गल लेख प्रसिद्ध हो रहे हैं, जो कि कुपात्रोंको विद्यादान करने का फल है।

यहाँतक जो विवेचन किया गया, उससे यह स्पष्ट है कि, रामायण के नायक श्रीरामचन्द्रजी न तो परब्रह्म ही हैं और न काव्यात्मक-काल्पनिक व्यक्ति ही हैं। अपितु वे सत्य, ऐतिहासिक तथा अवतारी विभूतिमान् मनुष्य ही हैं, इसमें लवमात्र सन्देह नहीं है।

(२)

क्या राक्षस और वानर [बार्बेरियन्स (बर्बर)] जंगली थे ?

इस प्रकार राम पदार्थ का निर्णय हुआ; अब राक्षस और वानर पदार्थों का विचार किया जाता है।

हमारे प्राचीन शिक्षकों का कथन है कि, " राक्षस यह कोई भयानक, विशालकाय, कुरूप, बीभत्स, घिनौने, धर्मध्वंसक, यज्ञयागविध्वंसक, गोब्राह्मणभक्षक, विजातीय जीव थे, तथा वानर लंबी पूंछवाले और काले मुँहवाले पशु थे।" इसी तरह अर्वाचीन शिक्षक कहते हैं कि, "राक्षस और वानर, मनुष्य तो थे, किन्तु ' बार्बेरियन्स (बर्बर) ' और " अनार्य " थे। 'वास्तवमें राक्षस और वानर यह क्या पदार्थ हैं, इस का निर्णय करते हुए, उपरिनिर्दिष्ट दोनों प्रकार के शिक्षकों के मतोंका विचार करके, हमें यह प्रतिपादन करना है कि, प्राचीन शिक्षकों के कथनानुसार न तो राक्षस भी कोई भयंकर विजातीय जीव थे और न वानर भी कोई लम्बी पूँछवाले, तथा काले मुँहवाले पशु थे, किन्तु वे हमारे ही सदृश श्रौताचारसंपन्न मनुष्य थे। उसी तरह अर्वाचीन शिक्षकों के कथनानुसार वे बर्बर या अनार्य भी नहीं थे, अपितु आधुनिक सभ्यताके अत्युच्च शिखरारूढ पाश्चात्य लोगों से भी सभ्यतामें बहुत बढे चढे थे। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है कि, प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के शिक्षकों ने जनता को केवल दिङ्मूढ ही करके रक्खा है।

इस विषयमें हमें पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि का विचार प्रथमतः करना होगा। परन्तु, यह विचार करते हुए हमें यह बात नहीं भूल जाना चाहिये कि, पाश्चात्य पंडितोंने तो हमको बहुत ही उपकृत कर रक्खा है कि, विचारकी एक नवीन दृष्टि उन्होंने हमको दी। पाश्चात्य लोगोंने सहस्रों मीलों का समुद्र पार किया, अपना जीवित धोखेमें डाला, लक्षावधि रुपयों का धन गँवाया और हमारे भारतवर्ष में आकर वेदशास्त्रादि ग्रंथों का चिकित्सापूर्वक अभ्यास किया, तथा उन ग्रन्थों के अनुवाद करके हमारे सम्मुख विचारार्थ उपस्थित कर दिये। भारतवर्ष पर ब्रिटिश साम्राज्य अठारहवीं शताब्दि के बदले यदि आठवीं शताब्दिमें होता, तो यवनों के हाथोंसें पडकर हमारे जो लक्षावधि ग्रन्थों के भंडार नष्ट हो गये, वे कभी नष्ट नहीं होने पाते और न उन ग्रन्थोंके साथ साथ हमारी संस्कृति भी नष्ट हो जाती। हमारे ग्रन्थों का नाश जैसा मुसलमान- यवनोंने किया, वैसा अंग्रेज लोगोंने कदापि किया न होता, किन्तु वे उन ग्रन्थों का अभ्यास करके उनके अनुवाद कर रखते, जिससे हमारी संस्कृति को समझना हमारे लिए सुसाध्य हो जाता। क्योंकि यदि वाङ्मय-ग्रंथ जीवित रह जाएँ, तो संस्कृति भी उनके साथ जीवित रह सकती है; अन्यथा उसका नष्ट हो जाना अनिवार्य ही है। फिर भी, मुसलमानों के हाथों से जो कुछ वाङ्मय नष्ट होते होते बच गया और अंग्रेजोंके हाथ लगा, उसीका उन्होंने आस्थापूर्वक तथा चिकित्सक दृष्टिसे अभ्यास किया और उसका अनुवाद करके रक्खा, जिससे हमें आज अपनी संस्कृति का यथार्थ ज्ञान कर लेने का सुलभ साधन उपलब्ध हो सका है। इससे अधिक उन्होंने हमारे लिए क्या करना था ? वस्तुतः इस विषयमें तो हमें उनका सर्वदा कृतज्ञतापूर्वक उपकारबद्ध ही रहना चाहिये।

अब यह बात निःसन्देह सत्य है कि, पाश्चात्योंने हमारी आर्यसंकृति का जो चित्र खींचा है, वह उन्होंने स्वाभाविकतया अपनीही कल्पनाके अनुसार खींचा है। यह एक साधारण नियम है कि, चित्रकार खुद अपना ही चित्र खींचता है और कवि काव्यमें अपने ही भावों का वर्णन करता है। इस नियम के अनुसार पाश्चात्य लोगोंने आर्यसंस्कृति का जो चित्र रंगा है, वह उन्होंने अपनी पाश्चात्य कल्पना के अनुसार ही रँगा है, और इसी कारण से यदि उसमें त्रुटियाँ रह गई हों, तो वे क्षमा करने के योग्य भी हैं। क्योंकि पाश्चात्य लोगों को हमारे आचारविचार, रीतिव्यवहार, स्वभाव-धर्म आदि का ज्ञान न होनेसे उनके विचार एकांगी और एकमुखी होना विशेष सम्भवनीय है। अतएव उनके द्वारा हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति के स्वरूप का बोध यथार्थतया नहीं हो सकता।

दो हजार वर्षोंसे पूर्व पाश्चात्य लोगों की संस्कृति ही क्या थी ? पहले पहल यह लोग भेड बकरियों के झुंड साथ लिये हुए इधर उधर घूमा फिरा करते थे। अनेक प्रकार के रंगोंसे अपने शरीर को चित्रविचित्र बनाते थे,

चमडा ओढते थे, तथा कच्चा-अधकच्चा मांस खाते थे। संक्षेपतः यह लोग दो हजार वर्षोंसे पूर्व निरे बर्बर यानि जंगली ही थे। फिर उत्तरोत्तर सुधरते गये और अनेक स्थानोंपर जाकर वहां उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये। जहाँ जहाँ उन्होंने ऐसे उपनिवेश बसाये, वहाँ के आदिम निवासियों को मार डाला और उन की भूमि और धन छीनकर वहीं जम बैठे। जिन पाश्चात्य लोगोंकी पूर्व संस्कृति इस प्रकार की थी, उन लोगोंने भारतीय आर्यों का चित्र भी अपनी ही प्राचीन संस्कृति के अनुसार खींचा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। सर्वप्रथम उन्होंने भारतीय आर्यों का मूलस्थान उत्तर ध्रुव पर निश्चित कर दिया और वहाँ से उनको अपनी गौओं के जत्थों को साथ साथ लिए हुए इधर उधर घुमा फिराकर एशियामें लाकर उन्हें रख दिया। फिर वहांसे पंजाबमें खदेडा, पंजाबसे मध्य भारतमें उतार दिया। मध्य भारत से भी फिर दक्षिण भारतमें उन्हें ले जाकर वहाँके आदिम निवासियों का उनके हाथों समूल उच्छेद करवा दिया, तथा उन्हीं के जीते हुए प्रदेशों में उन आर्यलोगोंका राज्य भी स्थापित करवा दिया। सारांश, दो हजार वर्षसे पहले जो सभ्यता पाश्चात्य लोगों की थी, उसी के साँचेमें उन्होंने भारतीय आर्यों की संस्कृति को भी डाल दिया।

परन्तु, वाल्मीकि-रामायणमें ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कि, वाली और रावण-जिनको वर्तमानकालीन विद्वान् लोग " आनार्य " कहते हैं- दोनों को मार कर श्रीरामचन्द्रजीने उनके राज्य अपने साम्राज्यमें सम्मिलित (annex) कर लिये। अपितु यही उल्लेख मिलता है कि, श्रीरामचन्द्रजीने उनके राज्य उन्हीं के उत्तराधिकारियों को दे दिये।

किसी देश को युद्ध में जीत लेते ही तथा उस देश का राजा परास्त होकर विजयी राजाके हाथ लगते ही लगते उस राजा को फांसी पर चढा देना, अथवा उसको राज्य-भ्रष्ट करके उसका राज्य अपने राज्यमें मिला (annex) लेना, प्रजाका स्वातन्त्र नष्ट करना, उनके स्वराज्य और स्वसंरक्षा के अधिकार छीन लेना तथा उस विजित देश की संस्कृति भी नष्ट कर देना, इत्यादि कार्य आर्यसंस्कृति के लिए अस्वाभाविक हैं। किसी राष्ट्रपर विजय पाने के पश्चात् उस विजित राष्ट्र को केवल कहने भरके लिए ही विजय पानेवाले राष्ट्र की ' अधीनता ' में जाना पडता था। विजयी राष्ट्र- विजयी राष्ट्र से कुछ करभार ले लेता था, परन्तु उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता का, उस की प्रजाकी संरक्षण-क्षमता का, तथा उस राज्य का अपहार नहीं करता था। विजित राष्ट्र को अपने राष्ट्रमें स्वराज्यसुख भोगने की तथा आत्मरक्षा करने के सर्व साधन पास रखकर उनका उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती थी। इस व्यवस्था का परिणाम भी यही होता था कि, वर्तमानयुगीन " बोल्शेव्हिजम् " जैसी आपत्तियां उस कालमें कहीं भी उपस्थित नहीं होती थीं। युद्धमें विजयी राजा के हाथ यदि शत्रु-राजा जीते जी लग जाता था, तो उससे कुछ करभार लेकर उसका राज्य विजयी राजा उसको फेर देता था। यदि शत्रु-राजा युद्धमें मारा जाता, तो विजयी राजा उस शत्रु-राजा के पुत्र, पुत्री या अन्य उत्तराधिकारी को वह जीता हुआ राज्य सौंप देता था। इस प्रकार जित राष्ट्र कायम रखा जाता था, न कि नष्टभ्रष्ट कर दिया जाता था। गुह राजा अनार्य होने पर भी श्रीरामचन्द्रजी का एक घनिष्ठ मित्र था। अस्तु ! उपर्युक्त विवेचन से यह भली भाँति ज्ञात हो जाएगा कि, भारतीय आर्यसंस्कृति के बारेमें जो विधान पाश्चात्य विद्वानोंने किये हैं, वे कितने असत्य और कैसे असमंजसता भरे हैं !

हमारे पुराने पंडितों को तो ऐतिहासिक दृष्टि मानो होती ही नहीं है, तथा उन्हें आंग्ल भाषा का भी ज्ञान नहीं होता। फलतः पाश्चात्य लोगोंने हमारे धार्मिक तथा ऐतिहासिक पूजनीय ग्रन्थों पर कैसे कैसे असंबद्ध और अप्रमाण आक्षेप किये हैं और हमारी संस्कृति के बारेमें कैसे कैसे विपर्यस्त विधान उन्होंने कर रक्खे हैं, इसका ज्ञान ही उन पुराने पंडितों को नहीं है, और न वह ज्ञान प्राप्त कर लेने की ओर उनकी मनःप्रवृत्ति भी है।

अतएव, अब जो कुछ विचारविनिमय हमें करना है, वह आधुनिक विद्वान् मंडली के साथ ही हम कर सकते हैं। क्योंकि यह लोग आंग्ल तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में प्रवीण होते हैं और विशेषतः देशीय तथा विदेशीय महाविद्यालयों से प्राप्त की हुई अत्युच्च उपाधियोंसे मंडित- उभयतोमुख पंडित होते हैं। वस्तुतः इन विद्वानों

को चाहिये था कि, पाश्चात्य विद्वानों के अपसिद्धान्तों का खण्डन करते, परन्तु इनका ध्यान तो आकर्षित हुआ रामायणादि महाकाव्यों के शब्दसौष्ठव, पदलालित्य, अर्थगांभीर्य, उपमा, अलंकार आदि बातों की ओर ! प्रस्तुत ऋषिप्रणीत महाकाव्य में ऐतिहासिक दृष्ट्या विचारनेयोग्य कुछ है या नहीं, यह बात स्वप्न में भी उन्होंने नहीं सोची ! पाश्चात्य लोगोंने जो कुछ विपर्यस्त विधान हमारी आर्यसंस्कृति के उपलक्ष्यमें अपनी कल्पनाके अनुसार कर रक्खे हैं, उन्हीं को श्रुतिवचन मानकर उन्हींका अभ्यास इन आधुनिक विद्वानोंने स्वयं किया, तथा अपने छात्रोंसे भी करवाया। बस, इसीमें अपने कर्तव्य की परिसीमा हमारे उभयतोमुख आधुनिक विद्वान् समझ बैठते हैं। यह कितनी खेदजनक तथा लज्जास्पद बात है ! हमारे आधुनिक विद्वानों को अब यह वृत्ति छोड देनी चाहिये और रामायणादि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का परिशीलन केवल काव्यदृष्टिसे करना छोडकर ऐतिहासिक दृष्टि से तथा चिकित्सापूर्वक उन ग्रन्थोंका अभ्यास करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।

यह बात बडे सौभाग्य की है कि, कोई कोई विद्वान् अब इन आर्ष ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करने लगे भी हैं, तथा उनका चिकित्सापूर्वक संशोधन करनेमें भी वे प्रयत्नवान् हैं, तथापि उनकी संख्या अभी "दरियामें खसखस" के बराबर ही है। पुनः उनकी बुद्धि पर भी वही पाश्चात्य विचारों के संस्कार जो उनकी छात्रावस्था से दृढमूल हो बैठे हैं, उन्हीं की छाया उनके संशोधनोंमें भी दिखाई देती है। यह विद्वान् लोग पाश्चात्य शास्त्रों के तत्त्वानुसार हमारी संस्कृति की उच्चता वा नीचता का निर्णय करने का यत्न करते हैं, मानो उनका यह दृढ विश्वास हो चुका है कि, पाश्चात्य दृष्टि का अवलम्ब किये विना हमारी संस्कृति का विचार यथार्थतया हो ही नहीं सकता। इन विद्वानों की विचारपद्धतिसे पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारों की गुत्थी होकर केवल भ्रम ही भ्रम बढता जाता है और निर्णय कुछ भी नहीं हो पाता। यही परिणाम निश्चित भी है। हजारों या लाखों वर्षपूर्व जो घटनाएँ पौर्वात्य जगत्में हुई थीं, उनका निरीक्षण पाश्चात्यों का चश्मा आंखों पर चढाकर करना कहांतक ठीक हो सकेगा ? तथा उस निरीक्षण से हमारी संस्कृति का यथातथ्य ज्ञान भी हमें क्यों कर हो सकेगा ?

किसी संस्कृति का विचार- उस संस्कृति के प्रतिपादक तथा निदर्शक उसी भाषा के ग्रन्थों के आधार पर स्वतंत्र रीत्या होना चाहिये। परकीय संस्कृतिप्रतिपादक ग्रन्थों के तत्त्व तथा विचारों का मिश्रण उन में नहीं होने देना चाहिये। अन्यथा दोनों प्रकार के विचारों की गुत्थी होकर निर्णय कुछ भी नहीं हो पायगा। केवल अपने मंतव्य के विशदीकरणार्थ आवश्यकतानुसार दृष्टान्त के लिए कोई अंश या विचार अन्य भाषा के ग्रन्थ से उद्धृत कर लेना दोषास्पद नहीं है, परन्तु केवल अपने पांडित्य का तथा अपनी अनेक भाषाभिज्ञता का प्रदर्शन करनेके हेतु से अन्य भाषीय ग्रन्थों के अवतरण तथा विचारों की भरमार अपने वक्तव्य या लेखों में कर देना अनावश्यक तथा उपहासास्पद ही होगा।

पूर्वोक्त तत्त्वके अनुसार अपनी भी दृष्टिसे हमारी संस्कृति का अभ्यास करते हुए हमें भी आधिभौतिक (Material) और आध्यात्मिक (Spiritual) दोनों दृष्टियों (Views) द्वारा काम लेना चाहिये। अन्यथा हमारी संस्कृति का यथार्थ ज्ञान होना अशक्य ही है। क्योंकि हमारी संस्कृति मुख्यतः आध्यात्मिक स्वरूप की है, अतः केवल भौतिक दृष्टि ही से उसका पार नहीं लग सकेगा। भौतिक शास्त्र की मर्यादा ही जहां समाप्त हो जायगी, वहाँ हमें आध्यात्मिक दृष्टि की भी शरण लेनी होगी, यह हम प्रस्तुत लेख के आरंभ ही में लिख चुके हैं। अतः उसी के अनुसार हम पाश्चात्य विद्वान् लोगोंके विचारों का प्रथमतः परीक्षण करेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों के विचार से राक्षस और वानर "Barbarian (बर्बर)" तथा "अनार्य" थे। उनके कथनानुसार 'क्या राक्षस सचमुच (बार्बेरियन् यानि) बर्बर जंगली ही थे या क्या ?' इसका विचार प्रथम करेंगे और उसके अनंतर "वानर बर्बर थे या क्या ?" इस अभिमत पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

क्या राक्षस बर्बर थे ?

श्रीरामचंद्रजी की सेनाएँ जब समुद्र पार कर लंका में पहुंच गईं और सुवेलाचल पर उन्होंने अपनी छावनी कायम

*

की, तब उसका संवाद रावण के गुप्तचरों ने जाकर रावण को सुनाया, जिसको सुनकर वह किंचित् काल उद्विग्न हुआ और तुरन्त अपना मंत्रिमंडल इकट्ठा करके "अब क्या करना चाहिये?" यह प्रश्न विचारार्थ उनके सम्मुख रक्खा। मंत्रिमण्डल ने विचार किया कि जबतक श्रीरामचन्द्रजी जीवित हैं, तबतक सीताजी रावण के वशीभूत नहीं होंगी, अतएव श्रीरामचन्द्रजी की मृत्यु का उन्हें विश्वास दिला दिया जाए, जिससे निराधार होने के कारण आप ही आप रावण के वश में आ जाएंगी। इस कार्य को सफल करने के लिए कोई ऐसा कृत्रिम साधन निर्माण किया जाना चाहिये, जिस को देखकर सीताजी को पूर्ण विश्वास हो जाय कि अब श्रीरामचन्द्रजी जीवित नहीं हैं। इस प्रकार मंत्रिमण्डल का विचार निश्चित होते ही रावण ने सभा विसर्जित की और अपने अन्तःपुर में-अनेक माया जाननेवाले विद्युज्जिह्व नामक शिल्पकलाकोविद को बुलाकर उसे आज्ञा दी कि, "मोहयिष्यामहे सीतां मायया जनकात्मजाम्" अर्थात् "किसी कृत्रिम उपायद्वारा सीता को हम मोहित करना चाहते हैं, इसलिये हे निशाचर! (विद्युज्जिह्व):-

> शिरो मायामयं गृह्य राघवस्य निशाचर।
> मां त्वं समुपतिष्ठस्व महच्च सशरं धनुः ॥८॥
> एवमुक्तस्तथेत्याह विद्युज्जिह्वो निशाचरः।
> दर्शयामास तां मायां सुप्रयुक्तां स रावणे ॥९॥
> तस्य तुष्टोऽभवद्राजा प्रददौ च विभूषणम् ॥१०॥
> (युद्धकांड, सर्ग ३१)

रामचन्द्रका हाल ही का कटा हुआ बनावटी मस्तक बनाकर तथा उसके धनुष्यबाण के सदृश दूसरा धनुष्यबाण बनाकर मेरे पास ले आ।" आज्ञा के अनुसार विद्युज्जिह्वने रामचन्द्रजी के शिर के सदृश हाल ही का कटा हुआ एक नकली शिर तथा उनके धनुष्यबाण के सदृश नकली धनुष्यबाण बनाकर रावणके सम्मुख उपस्थित किये। काम अपनी इच्छानुसार ठीक बना देखकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने विद्युज्जिह्व को एक अलंकार पुरस्कार में दे कर आज्ञा दी कि, "मैं सीता को वश करने के लिये अशोकवाटिकामें जाता हूँ, तू यह नकली सिर तथा धनुष्यबाण लेकर वहीं कहीं एक ओर खडे रहना और जब मैं बुलाऊं तब सामने आकर सीता के आगे रामचन्द्र का नकली सिर तथा धनुष्यबाण रख देना।" रावणने अशोकवाटिकामें जाकर सीताजी को अपने वशमें लाने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह उसके वश न हुई। यह देखकर रावण अतिशयित क्रुद्ध होकर बोला—

> "अल्पपुण्ये निवृत्तार्थे मूढे पण्डितमानिनि।
> शृणु भर्तृवधं सीते घोरं वृत्रवधं यथा ॥१७॥
> (युद्धकांड, सर्ग ३१)

हे मूढ स्त्री! जिसके बल पर तू इतना घमंड कर रही है, वह तेरा पति रामचन्द्र अब कहां है? वह तो कभी का मारा गया! कैसे? सो भी सुन ले!" यह कहकर उसने जोर से पुकारा कि, "कहाँ है, वह विद्युज्जिह्व, जो स्वयं युद्धक्षेत्र से राम का कटा हुआ शिर लाया है? उसे कह दो कि, वह कटा हुआ सिर लाकर यहाँ रख दे, जिससे यह घमंडी स्त्री अपने पति की अन्तिम दशा को देख ले।" आज्ञानुसार विद्युज्जिह्व सामने हो गया और उसने बनावटी धनुष्यबाण तो रावण के हाथमें दे दिये तथा एक थालीमें रामचन्द्रजी का कटा हुआ नकली सिर रखकर वह थाली सीताजी के सम्मुख धर दी। सीताजीने देखा, तो वह मस्तक सचमुच उनके प्राणपति श्रीरामचन्द्रजी का ही था और हाल ही का कटा जान पडता था। उसी समय रावणने धनुष्यबाण भी सीताजीके सामने पटक दिये और कहा, "ले, इन्हें भी पहचान ले!" रावण की कल्पना थी कि, नकली मस्तक तथा धनुष्यबाण को देखकर सीताजी एकदम धोखेमें आ जाएँगी, परन्तु यह नहीं हुआ। सीताजीने एकदम धोखा नहीं खाया, किन्तु उन्हें सन्देह अवश्य हो गया और कटे हुए मस्तक का वे बडे ध्यान से निरीक्षण करने लगीं। महर्षि वाल्मिकीने इस प्रसंग का वर्णन किया है—

> सा सीता तच्छिरो दृष्ट्वा तच्च कार्मुकमद्भुतम्।
> सुग्रीवप्रतिसंसर्गं कथितं च हनूमता ॥१॥
> नयने मुखवर्णं च भर्तुस्तत्सदृशं मुखम्।
> केशान् केशान्तदेशं च तं च चूडामणिं शुभम् ॥२॥
> एतैः सर्वैरभिज्ञानैः अभिज्ञाय सुदुःखिता ॥३॥
>
> × × ×
>
> जगाम जगतीं बाला छिन्ना तु कदली यथा ॥६॥
> सा मुहूर्तात् समाश्वस्य परिलभ्याऽथ चेतनाम्।

तच्छिरः समुपास्थाय विललापायतेक्षणा ॥ ७ ॥
(युद्धकांड, सर्ग ३२)

सीताजीने वह कटा हुआ सिर और धनुष्यबाण देखे और सोचने लगीं कि, "अभी तो थोडे ही दिन पहले हनुमानजीने आकर वार्ता सुनाई थी कि, श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीवमें मित्रता हुई है, रावणसे युद्ध करने के लिए, सुग्रीवने बडी भारी सेना एकत्रित की है और उस सेना को लेकर हमें रावण की कैद से छुडाने के लिए श्रीरामचन्द्रजी अब शीघ्र ही आनेवाले हैं।" उन्होंने फिर सोचा कि, श्रीरामचन्द्रजी स्वयं एक अलौकिक पराक्रमी और अत्यन्त सावधान पुरुष हैं। फिर, उनके संरक्षणार्थ लक्ष्मण जी जैसा एकनिष्ठ शूर वीर तथा बुद्धिमान् भाई अत्यन्त सावधानता से सदा बद्धपरिकर है और सुग्रीव के समान अनुरक्त, अत्यन्त पराक्रमशाली और बुद्धिमान् मित्र अपनी अगणित सेना साथ लेकर तथा "बुद्धिमतां वरिष्ठ" हनुमानजी, वृद्ध जांबवान्, सेनापति नील और वालिपुत्र युवराज अंगद इत्यादि अलौकिक बुद्धिवाले तथा बल विक्रमवाले मंत्रिमण्डल को साथ लिए हुए, श्रीरामचन्द्रजी की रक्षामें अहोरात्र कटिबद्ध हैं। इतना सुप्रबन्ध होते हुए भी श्रीरामचन्द्रजी का राक्षसों की चंगुलमें फँस जाना तथा राक्षसों को उनका वध करने का अवसर मिल जाना, यह घटनाएँ नितान्त असंभवनीय हैं।" फलतः सीताजी को यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि, 'वह मस्तक सत्य नहीं है, किन्तु कुछ धोखेकी टट्टी है,' और इसी सन्देह से उन्होंने उस कटे मस्तक का विशेष सूक्ष्मता से निरीक्षण करना शुरू कर दिया।

सबसे प्रथम उन्होंने (१) नयने- यानि दोनों आँखों की परीक्षा की। दोनों आँखें ठिठुरी हुई थीं। मृत शरीरकी ठिठुरी आँखों में और बनावटी ठिठुरी आँखों में- यद्यपि वे बनावटी आँखें अत्यंत कुशलता से बनाई गई हों- स्वभावतः कुछ अन्तर रह ही जाता है। परन्तु इस नकली सिर की आँखें इतनी कुशलता से बनाई हुई थीं कि, सीताजी उनकी परीक्षा में धोखा खा गईं। उनको विश्वास हो गया कि ये आँखें श्रीरामचन्द्रजी की ही हैं।

(२) मुखवर्णं च (मुखवर्ण)- चेहरे का रंग पूर्णतः श्रीरामचन्द्रजी के ही रंग का सा है और उसमें तनिक भी फरक नहीं है। मृत मनुष्य के चेहरे का रंग यद्यपि बदल जाता है, तथापि उसमें भी जो स्वाभाविकता होती है, वह नकली चेहरे को रंगनेमें आ नहीं सकती। परन्तु यह नकली चेहरा ऐसी कुशलता से रँगा हुआ था कि, उसके पहचानने में सीताजी धोखा खा ही गईं।

(३) भर्तुस्तत्सदृशं मुखम्- अपने पति के मुख के सदृश मुख है! श्रीरामचन्द्रजी के मुख में और इस कटे हुए मुख में राई रत्तीभर भी फरक नहीं है, इसका सीताजी को पूर्ण विश्वास हो गया। यहां भी वे धोखा खा गईं।

(४) केशान्- मृत मनुष्य के मस्तक पर जो केश होते हैं, वे स्वाभाविक होते हैं। स्वाभाविक केशों में और ऊपर से चिपकाये हुए कृत्रिम केशों में अवश्यमेव फरक रहता है। परन्तु सीताजी के उन केशों को खूब ध्यान से देखने पर भी उन्हें उन में कृत्रिमता का लवमात्र आभास नहीं मिला। केश भी श्रीरामचन्द्रजी के ही हैं, यह उन्हें पूरा विश्वास हो गया।

(५) केशान्त-देशं च- भालप्रदेश अर्थात् माथा। ठीक वही श्रीरामचन्द्रजी के समान है। शंका के लिए कोई अवकाश ही नहीं है।

(६) तं च चूडामणिं शुभम्- राजा जनक ने एक चूडामणि श्रीरामचन्द्रजी को विवाह के यौतुक में दिया था, जिसे वे सर्वदा अपनी शिखा से सादर बांधे रहते थे। सीताजी को यह नकली चूडामणि देखकर भी विश्वास हो गया कि, यह वही चूडामणि है, जो कि उनके पिताने श्रीरामचन्द्रजी को विवाह के यौतुक में दिया था। सारांश, इस प्रकार सब बाह्य चिन्हों को देखकर, तथा उनकी यथेष्ट जाँच कर लेने पर सीताजीने विश्वास कर लिया कि सम्मुख रखा हुआ कटा सिर श्रीरामचन्द्रजी का ही है।

उक्त कथा राक्षसों की संस्कृति प्रमाणित करने में कहाँ तक सहायता पहुँचाती है, यह देखने के लिए अब हमें तेरह वर्ष पीछे हटना होगा।

श्रीरामचन्द्रजी पंचवटी में पर्णकुटी बनाकर रहते थे। शूर्पणखा के कुटिलता भरे प्रोत्साहन से रावण भिक्षुवेष धारण करके सीताजी को हर ले जाने के हेतु से श्रीरामचन्द्रजी की पर्णकुटी पर आया। मायामृग का आमिष

दिखाकर पहले तो उसने श्रीरामचन्द्रजी को कुटी से बाहर निकाला। फिर, " भवितव्यता बलवती " इस न्याय के अनुसार सीताजी को भी लक्ष्मणजी को अश्राव्य कटुवच सुनाकर- कुटी से बाहर निकाल देने की बुद्धि हुई। सीताजी उस पर्णकुटी में अब अकेली ही रह गई थी। यह अवसर साधकर भिक्षुवेषधारी रावण ने उस पर्णकुटी में प्रवेश किया। ब्राह्मण अतिथि को देखकर सीताजीने उसे बैठने के लिए आसन दिया और उसका यथोचित् सत्कार करके उससे कहा, " हे अतिथि, श्रीरामचन्द्रजी मृगया करने के लिए बाहर गये हैं, वे अब शिकार लिये हुए वापिस आ ही रहे होंगे। वे आवें, तबतक आप यहाँ पर विश्राम करें। " रावण ने पूछा कि, " तुम कौन हो ? देव, गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर इत्यादि जातियों में भी तुम्हारे सदृश रूपवती स्त्री इस पृथ्वी तल पर आज से पहले मैंने कभी नहीं देखी।

इस घोर अरण्यमें-जहाँ भयानक क्रूर राक्षस और हिंस्र प्राणियों की वस्ती है— ऐसी एकान्त जगहमें तुम क्यों रहती हो ? सो मुझे कहो। " सीताजी के पास रावण अतिथि बनकर गया हुआ था। उसने जो बात पूछी, उस का उत्तर न देने से शायद अतिथि अप्रसन्न होकर कुछ शाप दे बैठे, इस भय से सीताजीने अपना गतेतिहास उसको सुनाया—

दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः।
सीतानाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषी प्रिया ॥३
उषित्वा द्वादशसमाः इक्ष्वाकूनां निवेशने।
भुंजाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी ॥४
तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमंत्रिभिः ॥५
तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने।
कैकेयी नाम भर्तारं ममार्या याचते वरम् ॥६
परिगृह्य तु कैकयी श्वशुरं सुकृतेन मे।
मम प्रव्राजनं भर्तुः भरतस्याभिषेचनम् ॥७
(अरण्यकांड, सर्ग ४७)

"हे अतिथि ! मैं महात्मा जनक राजा की पुत्री हूं। मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्रजी की भार्या हूं। विवाह के अनन्तर बारह वर्ष मैंने इक्ष्वाकुगृहमें सुख से बिताये। तेरहवें वर्ष मेरे श्वशुर राजा दशरथजीने मन्त्रिमण्डल की अनुमति से मेरे पति श्रीरामचन्द्रजी को यौवराज्य का अभिषेक करने का विचार किया। अभिषेक की सर्व सिद्धता हो गई थी और अब कल अभिषेक होने ही वाला था कि, कैकेयी नामक मेरी एक सौतेली सासने बीचमें ही विघ्न उपस्थित कर दिया। रानी कैकेयी को राजा दशरथने किसी समय दो वर ऐसे देने का वचन दिया था कि, उन्हें रानी अपनी इच्छा से जब चाहे तभी मांगे। रानी कैकेयीने इसी अवसर पर अपने इच्छित वर राजा से मांगे और उनके पूरा करने के लिए राजा को उनके सर्व सुकृत की शपथ दी थी। एक वर से रानी कैकेयीने अपने पुत्र भरत के लिए यौवराज्य मांग लिया और दूसरे वर से श्रीरामचन्द्रजी के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांग लिया। इसी दूसरे वर के अनुसार हम सांप्रत वनवास में हैं।"

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि, सीताजी विवाहोत्तर बारह वर्ष अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी (अपने पति) के सहवासमें थीं। फिर वनवास के बारह वर्ष पूर्ण हुए और तेरहवें वर्ष के अन्तमें माघ या फाल्गुनमास की अष्टमी तिथि को रावण उन्हें हर ले गया। अर्थात् अयोध्या के बारह और वनवास के तेरह मिला कर पूर्ण पच्चीस वर्ष सीताजी श्रीरामचन्द्रजी के सहवास में थी। अब सोचने की बात है कि, पूरे पच्चीस वर्ष पति के निकट सहवासमें छाया के सदृश रहनेवाली सीताजी जैसी विचक्षण स्त्री भी सामने रक्खा हुआ, अपने पति का श्रीरामचन्द्रजी का कटा हुआ नकली मस्तक खूब ध्यान से देखकर भी वह ' नकली ' है या ' असली ', यह पहचान न सकीं। जिस ' नकली मस्तक ' ने उनको इतने भ्रममें डाल दिया था, उस मस्तक का बनानेवाला कुशल शिल्पकार एक राक्षस ही था। जिन राक्षसों की शिल्पकला उन्नति के शिखरपर इतनी पहुँच चुकी थी, क्या वे राक्षस कभी ' बर्बर ' हो सकते हैं ?

पाश्चात्य राष्ट्र जो कि आजकल उन्नति के शिखरपर विराजमान हैं, उनमें से किसीने भी शिल्पकला में अभी तक इतनी प्रगति नहीं की। सार्वदेशिक शिल्पकला की प्रदर्शनियां प्रतिवर्ष होती हैं और उनमें विविध शिल्पकला के सर्वोच्च नमूने रक्खे जाते हैं, जिन्हें दूर से देखकर

यद्यपि दृग्भ्रम हो जाता है; तथापि पास जाने पर उनकी कृत्रिमता प्रकट हो ही जाती है। उन्हें बहुत चिकित्सा-पूर्वक ध्यान देकर देखने की बारी ही नहीं आती। यदि पाश्चात्य शिल्पकला, उपर्युक्त राक्षसों की शिल्पकला के सदृश उन्नति को पहुंची हुई होती, तो आज तक दैनिक, साप्ताहिक, या अर्धसाप्ताहिक समाचारपत्रों में तथा मासिक या पाक्षिक पत्रोंद्वारा उनका डंका सारे जगत् में बज गया होता।

परन्तु उतनी उन्नत शिल्पकला जब कि वर्तमान सभ्यता में श्रेष्ठतम कहलानेवाले यूरोपीय राष्ट्रों में भी अभीतक न कभी देखी, न सुनी गई, तो वे यूरोपीय राष्ट्रही जिन राक्षसों को बर्बर कहते हैं– उन्हीं राक्षसों की शिल्प-कला के साथ अभीतक टक्कर नहीं मार सकते, यह बात निःसंदेह प्रमाणित होती है।

अब यह बात भी नितान्त सत्य है कि, पाश्चात्य लोग विद्वान् संशोधक तथा अथक परिश्रमी होते हैं। उन में द्रव्यबल भी यथेष्ट है, तथा उन के लिए स्वतंत्रता भी पूरी पूरी है। अतः कालान्तर से शिल्पकला में उपरि-निर्दिष्ट प्रगति भी करके दिखा देंगे। परन्तु आज वे उतने उन्नत नहीं हैं, अपि तु राक्षसों से अभी पिछले हुए ही हैं।

यहाँ पर अब और भी एक प्रश्न उपस्थित होता है कि, यह विद्युज्जिह्व शिल्पी नकली चेहरे को श्रीरामचन्द्रजी के असली चेहरे से पूर्णतया मिला देनेमें क्यों कर सफल हो सका? श्रीरामचन्द्रजी को अपने सम्मुख बैठक (Sitting) देकर यह काम करना तो उसके लिए शक्य ही नहीं था? यदि उसने दूर से कहीं से दृश्य (view) लिया हो, तो कोट्यवधि वानरसेना के बीचमें श्रीराम-चन्द्रजी घिरे हुए थे और उनकी रक्षा के हेतु लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, जांबवान्, अंगद और सेनापति नील आदि महान् पराक्रमी तथा अलौकिक बुद्धिमत्तावाले वानरवीर रातदिन अनिमिष नेत्र से जागरूक रहते थे, उनकी दृष्टिसे खुद को बचाकर दृश्य (view) ले लेना कोई बच्चों का सा खिलवाड नहीं था। अर्थात् विद्युज्जिह्व को यह काम इतनी बृहत् वानरसेना से बहुत ही दूर रह कर करना पडा होगा। यह बात स्पष्ट ही दिखाई देती है। अर्थात् कई मील के अन्तरपर रहकर वहाँ से उसने आवश्यक दृश्य लिया होगा, जिससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि, राक्षसों के पास इतनी दूर से दृश्य लेने का कोई यांत्रिक साधन अवश्य ही होगा। अनेक मीलों के अन्तर से फोटो खींचने की कला उन्नति शिखरारूढ पाश्चात्य राष्ट्रोंमें भी अभीतक इतनी पूर्णावस्था को पहुँची हुई सुनाई नहीं दी। अतः War-photography में भी तत्कालीन राक्षसलोग वर्तमान उन्नतिशिखरस्थ पाश्चात्य लोगों की अपेक्षा बहुत प्रगति कर गये थे, यह स्पष्ट ही है।

अब यदि यह मान लिया जाय कि, राक्षसों को सद्यः-कालीन फोटोग्राफी की कल्पना भी नहीं होगी, तो भी यह कहनेमें कुछ प्रत्यवाय नहीं कि, उनके पास आधुनिक फोटोग्राफी की अपेक्षा श्रेष्ठ और अनोखा कोई अन्य साधन अवश्यही हो सकता है। अब वह साधन चाहे भौतिक (Material) हो या आध्यात्मिक (Spiritual); राक्षसों की श्रेष्ठ सभ्यता ही उससे विशेष रूपेण प्रमाणित हो रही है। यदि उस साधन को 'भौतिक' कहा जाय, तो पाश्चात्यों के पास अभीतक ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं है और यदि आध्यात्मिक कहा जाय, तो यह सिद्ध ही है कि, पाश्चात्य लोग अभीतक अध्यात्म-विद्या का "श्रीगणेश" भी नहीं जानते। फलतः दोनों प्रकार से राक्षसों की श्रेष्ठता वर्तमानकालीन पाश्चात्य लोगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर ही प्रमाणित होती है। अतएव वे बर्बर नहीं हो सकते।

एक उदाहरण और भी देख लीजिये। यह उदाहरण तत्कालीन राक्षसों की आकाशयुद्ध की प्रवीणता का दिग्द-र्शक है, जिससे War-Science में राक्षस उस जमानेमें कहांतक आगे बढे हुए थे, इसका अनुमान हो सकता है। श्रीरामचन्द्रजी की सेना किष्किन्धा से आगे बढकर समुद्र-पर पहुँची। अब युद्ध छिडना अनिवार्य देखकर रावणने अपना मंत्रिमण्डल इकट्ठा किया और उनके सम्मुख प्रश्न रक्खा कि, "अब क्या करना चाहिये?" उस समय वज्रदंष्ट्रनामक एक सेनापतिने कहा—

" इदं ममापरं वाक्यं श्रुणु राजन् यदीच्छति।
उपायकुशलो ह्येव जयेत् शत्रून् अतन्द्रितः ॥१२॥

कामरूपधराः शूराः सुभीमा भीमविक्रमाः ॥
राक्षसाणां सहस्राणि राक्षसाधिप निश्चिताः ॥१३
काकुत्स्थं उपसंगम्य विवृतं मानुषं वपुः ॥
सर्वे ह्यसंभ्रमा भूत्वा ब्रुवन्तु रघुसत्तमम् ॥१४
प्रेषिता भरतेनैव भ्रात्रा तव यवीयसा ॥
स हि सेनां समुत्थाप्य शीघ्रमेवोपयास्यति ॥१५
ततो वयं इतःस्तूर्णं शूलशक्तिगदाधराः ॥
चापबाणासिहस्ताश्च त्वरितास्तत्र यामहे ॥१६
आकाशे गणशः स्थित्वा हत्वा तां हरिवाहिनीम्॥
अश्मशस्त्रमहावृष्ट्या प्रापयाम यमक्षयम् ॥१७
(युद्धकांड सर्ग ८)

हे राजन्, यदि इच्छा हो, तो मेरी भी एक प्रार्थना सुन लीजिये। सर्वकाल सावधान रहनेवाला तथा उपाय-कुशल (अनेक प्रकार के दाँवघातमें प्रवीण,) पुरुष ही शत्रु पर विजय पाता है। केवल सैन्यसंख्या और अद्य-यावत् शस्त्रास्त्रादि साधनों की विपुलता विजयप्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। अतः मेरे विचारमें आता है कि, यथेष्ट रूप धारण करनेवाले तथा वेषानुसार अभिनय करने में कुशल, देखनेमें रोबीले, अच्छे बलवान् तथा पराक्रमी ऐसे कई एक हजार राक्षसों का एक दल तैयार किया जावे। यह दल मनुष्यवेष (श्रीरामचन्द्रजी की सेना के सदृश (Uniform) + धारण करे और निडर होकर श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित हो, कहे कि, 'आप के छोटे भाई भरतजीने आपकी सहायतार्थ हमको आगे भेजा है और वे भी अधिक सेना साथ लेकर पीछे से आ रहे हैं।'

इस बहाने से हमारा यह राक्षसदल श्रीरामचन्द्रजी की सेना में मिल जाय। इसके उपरान्त यहाँ से हम अपनी दूसरी सेना सर्व शस्त्रास्त्रों से सिद्ध करके आकाश में ले जा कर गणशः (By companies, etc) खडी कर देंगे और वहाँ से नीचे पृथ्वी पर, रामचन्द्रजी की सेनापर शस्त्रास्त्रों की वृष्टि करके उसे यमपुर भेज देंगे।" इस परामर्श में वज्रदंष्ट्र सेनापति की यह योजना स्पष्ट दिखाई दे रही है कि, कई एक हजार राक्षसों का दल छद्मवेष धारण करके (शत्रुसेना का भेष बना कर) श्रीरामचन्द्रजी की सेना में घुसे और बाद में राक्षसों की सेना जो आकाश में एकत्र होगी, उससे इशारा (Signal) मिलते ही वानर-सेना में छद्मवेष से घुसे हुए राक्षस उस सेना की मार-काट शुरू कर दें। ऊपर से आकाशस्थ सेना भी उस पर शस्त्रास्त्र की वृष्टि करे, जिससे वह (रामचंद्रजी की) सेना नष्ट हो जाय।

उपर्युक्त कथा का ऐतिहासिक दृष्ट्या विचार करने से क्या परिणाम निकलता है, सो भी अब देख लीजिये। वज्रदंष्ट्र रावण के दरबार का एक मंत्री (Counciller) तथा सेनापति भी था। उसने जो परामर्श दिया, वह कोई ऊटपटांग तो दिया ही नहीं था। यदि वज्रदंष्ट्र का परामर्श अनुचित वा अविचारपूर्ण होता, तो अन्य मंत्री भी उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलानेयोग्य विवेकहीन नहीं थे, न रावण भी बुद्धिहीन था। अर्थात् आकाश में सैनिकदल एकत्रित करके वहाँ से नीचे पृथ्वीपर रहनेवाले दल पर शस्त्रास्त्रों की वृष्टि करना यानि आकाशयुद्ध तत्कालीन राक्षसों को पूर्णतया अवगत था, यह बात यहाँ प्रमाणित होती है; तथा जब कि, यह सब राक्षससेना आकाश में खडी रहकर युद्ध करती थी, ऐसा रामायण में स्पष्ट ही उल्लेख है, तो उससे यह भी निर्विवाद प्रमाणित हो रहा है कि, उस राक्षससेना को आकाश में खडी रखने के साधन भी तत्कालीन राक्षसों के पास यथेष्ट थे।

आकाश में सेना एकत्रित खडी रखने के उपर्युक्त साधन 'भौतिक' हो सकते हैं, 'आध्यात्मिक' हो सकते हैं, अथवा दोनों प्रकार के हो सकते हैं। यदि वे 'भौतिक' हों, तो क्या वर्तमानकालीन एरोप्लेन्स जैसे थे या अन्य किसी प्रकार के थे? कैसे भी हों, जब कि उनमें बैठकर राक्षस-सेना आकाश से पृथ्वी पर की सेना से लड सकती थी, और जब कि वे आकाशयान युद्धोपयोगी थे, यह वर्णन रामायण में स्पष्टतः दिखाई देता है, तो वे साधन वर्तमान उन्नतिशिखरारूढ पाश्चात्य राष्ट्रों के साधनों (आकाशयानों) की अपेक्षा अत्यंत श्रेष्ठ थे। किसी प्रकार न्यून नहीं थे।

+ वर्तमान युद्धपद्धति में भी यह प्रथा जारी है। गत यूरोपीय महायुद्धमें (१९१४-१९) रूसने अपनी कतिपय पलटनों को जर्मन सेना का यूनिफॉर्म पहना कर जर्मनी को धोखा दिया था।

वायुयानों (Aeroplanes या Zeppelines) में फौजें बिठाकर उनके द्वारा जमीन की फौजों से लडाई लेना शक्य है और वह आज भी हम देख रहे हैं। परन्तु वायु-यान के व्यतिरिक्त आकाशमें खडे रहकर युद्ध करना शक्य है या नहीं, इस बात का विचार भी ' भौतिक ' (अर्थात् Modern Science की) दृष्टि से करना चाहिये।

सायन्स (भौतिक शास्त्र) सदासर्वकाल प्रगमनशील (progressive) होता है और मनुष्य की बुद्धिमत्ता भी अपार होती है। आज जो एक व्यक्ति मछली के आकार के यानमें आकाशमें संचार करता हुआ दिखाई देता है, कालान्तर से वही व्यक्ति एक छोटेसे खटोलेमें, तत्पश्चात् शरीर को पंख लगा कर, या कोई कोटटोपी या चादर ओढकर, गलेमें तावीज बांधकर अथवा मुँहमें कोई सिद्ध गुटिका रखकर आकाशमें अव्याहत संचार करता हुआ दिखाई देगा। क्योंकि सायन्स की प्रगति और मानवी बुद्धि की मर्यादा कहाँतक पहुँचेगी, इसका कोई निश्चय नहीं है। पूर्वोक्त श्लोक १७ में " आकाशे गणशः स्थित्वा" इ० उल्लेख से यही प्रमाणित होता है कि, विमान या अन्य भौतिक साधनों के अतिरिक्त और भी कोई श्रेष्ठ साधन राक्षसों के व्यवहार में थे। अर्थात् तत्कालीन राक्षस आकाशयुद्धमें भी सभ्यता के शिखरपर पहुँचे हुए आज के यूरोपीय लोगोंसे बहुत ही आगे बढे हुए थे। ' बर्बर ' या ' जंगली ' नहीं थे, यह यथार्थतः प्रमाणित होता है।

'सिद्ध-पारद-गुटिका' मुँहमें रखकर, तथा कोई एक मंत्री हुई खडाऊं पाँवमें पहन कर आकाशमार्ग से या जलपृष्ठ पर से संचार करने की विद्या का उल्लेख किसी किसी ग्रंथमें और कहीं कहीं " नानी की कहानियों " में भी मिलता है। संप्रति वह सांप्रदाय नष्ट ही हो चुका है; अतएव उसका प्रत्यक्ष अनुभव आज नहीं दिखाया जा सकता। तथापि, जो बात आज हमारे लिये कल्पनातीत है, वह संसारमें ' भूतकालमें कभी थी ही नहीं ' अथवा ' भविष्यत् में कभी होगी, ही नहीं ' ऐसे विधान कर बैठना दुराग्रहमात्र है। योगियों को अणिमादि अष्टसिद्धियाँ साध्य होती हैं, जिन की बदौलत वे आकाशसंचार तथा गुप्त संचारादि चमत्कार यथेष्ट कर सकते हैं। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से भी राक्षसों की संस्कृति निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होती है।

अब ' वानर बर्बर थे या क्या ' इस का विचार आगे किया है।

(३)

क्या वानर बार्बेरियन् (बर्बर) थे ?

हनुमानजी सीताजी की खोज लगाकर लंका से किष्किन्धा को लौट आये और श्रीरामचन्द्रजी को लंका में सीताजी के सकुशल होने का समाचार सुनाकर सीताजी का अन्तिम सन्देशा भी सुनाया कि—

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज।
ऊर्ध्वं मासात् न जीवेयं रक्षसा वशमागता॥

अर्थात् " हे रामचन्द्रजी, एक मास तक ही मैं अब जीव धारण करूंगी। राक्षसों के बन्धनमें मैं अब एक मास से अधिक नहीं जी सकती।" हनुमानजीने फिर कहा कि, " बीचमें विस्तीर्ण समुद्र पडा है, उसको पार करने का कोई उपाय अब सोचना चाहिये।" लंका को जाते हुए बीचमें एक प्रचण्ड समुद्र आता है, यह बात हनुमान् जी से सुनकर श्रीरामचन्द्रजी का किंचित् काल उत्साहभंग हुआ और इतने बडे समुद्र को पार करके लंकामें वानरसेना क्यों कर पहुँच सकेगी, इस विचार से वे चिन्तातुर हो गये। यह देखकर उनके प्रधान सेनापति वानरराज सुग्रीवने कहा, " आपको किसी सामान्य मनुष्य के अनुसार चिंता करना योग्य नहीं है। यह समय इस प्रकार हताश होकर शोक करने का नहीं है। क्योंकि शोक पुरुष के धैर्य को नष्ट कर देता है। अतएव-

तदलं शोकमालंब्य क्रोधमालंब भूपते।
निश्चेष्टाः क्षत्रिया मन्दाः सर्वे चण्डस्य बिभ्यति॥
(युद्ध० २।१९)

हे महाराज, शोक को त्याग दीजिये और क्रोध को धारण कीजिये। पराक्रमहीन सौम्य क्षत्रिय की कोई बात भी नहीं पूछता, किंतु क्रोधी पुरुष से सब लोग

डरते हैं। इसलिए धैर्य का अवलम्ब करके- बीचमें आने-वाला समुद्र लांघ कर सर्व सेना उस पार लंकामें किस प्रकार पहुँचाई जाय, इस के बारेमें मंत्रिमण्डल के साथ अब विचार-विनियम कीजियेगा। क्योंकि,

सेतुबन्धः समुद्रे च यावत् लंका समीपतः।
सर्वं तीर्णं च मे सैन्यं जितमित्यवधार्यताम्॥
(युद्ध० २।१२)

" एक बार लंका तक सेतुबन्धन होकर हमारा सैन्य समुद्र पार हो जाए, कि फिर लंका को हमने ले लियासा ही समझियेगा। " सुग्रीवने पुनः कहा—

" कथंचित् परिपश्यामि लंघितं वरुणालयम्।
हतं इत्येव तं मन्ये युद्धे शत्रुनिबर्हण॥
(युद्ध० २।२३)

' किसी प्रकार मेरी सेना समुद्र उतर कर लंका में तो पहुँच जाय, फिर रावण को तो मरा ही जानियेगा। ' और भी—

किमुक्त्वा बहुधा चापि सर्वथा विजयी भवान्।
(युद्ध० २।२४)

" हे महाराज, अधिक क्या कहूं। जीत निश्चय से आपकी ही है, इस का आप विश्वास रक्खें। "

सुग्रीव के उत्साहभरे वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने हनुमानजी को लक्ष्य करके कहा, " समुद्र उल्लंघन करने के लिये हम सर्वथा समर्थ हैं। परन्तु यह लंका नगरी कैसी है ? इस की रखवाली का क्या प्रबन्ध है ? किस स्थान पर किस प्रकार की और कितनी फौज रखवाली के लिए नियुक्त है ? इत्यादि सब बातें मुझे यथातथ्य विदित होनी चाहिये। " तब हनुमानजीने लंका का सारा प्रबंध श्रीरामचन्द्रजी को कह सुनाया और फिर कहा कि, "इतना कडा प्रबन्ध होने पर भी मैंने कई खंदकों के पुल तोड दिये, और उनको पाटकर बराबर कर दिया, तथा लंका को भी जला दिया। इसलिये हे रामचन्द्रजी-

येन केन तु मार्गेण तराम वरुणालयम्।
हतेति नगरी लङ्का वानरैरुपधार्यताम्॥
(युद्ध० ३।३०)

"हमको किसी उपायसे एक बार समुद्र उतर कर लंकामें तो पहुँच जाने दीजिये, फिर निश्चय जानिये कि, लंका वानरों के हाथों से मटियामेट हो ही गई ! अंगद, द्विविद, मैन्द, जांबवान्, पनस, नल, नील, और मैं- हम आठ जने ही समुद्र को तैर कर पार कर जाएंगे और लंका को यहीं पर उठा ले आएंगे। इतनी बडी सेना की वहाँ आवश्यकता भी क्या है ? बस, आप तो अब निःशंक सेना तैयार कर लंका को कूच करने की आज्ञा शीघ्र दे दीजियेगा। "

सारांश, सुग्रीव और हनुमान् दोनों सेनापतियों और श्रेष्ठ मंत्रियों का मतैक्य हो गया कि, किसी उपाय से समुद्र अपने हाथमें आ जाए, तो लंका पर विजय पाना कोई कठिन नहीं होगा। अतएव सबसे पहले समुद्र पर कब्जा करना चाहिये।

सुग्रीव और नेपोलियन।

वर्तमानकालीन यूरोपीय युद्धप्रणालि के प्रणेता जग-द्विख्यात सेनानी वीर नेपोलियन् बोनापार्टने भी किसी समय यही कहा था कि, " Let us be the masters of the Channel for Six hours and we are the masters of the whole world. "

अर्थात्- " केवल ६ घण्टों के लिए ही समुद्र हमारे अधिकारमें आ जाय, तो हम सर्व जगत् के स्वामी बन जाएँगे। " नेपोलियन बोनापार्टने सारा यूरुपखण्ड पादा-क्रान्त कर रक्खा था, परन्तु ब्रिटिशद्वीप और फ्रान्स के बीचमें इंग्लिश चॅनल् था, जो कि ब्रिटन के अधिकारमें था। इंग्लिश चॅनल् पर अधिकार हुए बिना ब्रिटिश द्वीपों पर नेपोलियन का अधिकार होना अशक्य था; अतः इंग्लिश चॅनल्ल को सर्व प्रथम हस्तगत करना नेपोलियन् के लिए अत्यन्त महत्त्व का और आवश्यक कार्य था, यह बात जान कर ही नेपोलियनने उपर्युक्त वाक्य कहा था। अब देखिये, १९ वीं शताब्दि ईसवी के आरम्भमें एक अर्वाचीन सेनापति के और त्रेतायुगीन वानरसेनापति के विचारोंमें कितना चमत्कृतिपूर्ण साम्य है ! नेपोलियन कहता है, " इंग्लिश चॅनल हाथमें आ जाने दो, कि ब्रिटिश द्वीपों को हथियाना कोई कठिन नहीं है। " इसी प्रकार सुग्रीव और हनुमान् भी कहते हैं कि, " समुद्रपर हमारा अधिकार हो जाए कि, लंका का हाथमें आना कुछ कठिन नहीं है। "

उपर्युक्त दोनों सेनापतियों के विचारों में जैसा साम्य दिखाई देता है, वैसा ही अनोखा साम्य दोनों युद्धक्षेत्रमें भी दीखाई देता है, जो कि ध्यान देनेयोग्य है। उधर एक ओर सारा यूरुपखण्ड, बीचमें इंग्लिश चॅनल और उसके पार ब्रिटिश द्वीप। इधर एक भारतवर्ष, बीचमें समुद्र और उसके पार लंकाद्वीप। ब्रिटिश द्वीप इंग्लॅंड, स्कॉटलॅंड, आयर्लंड, इत्यादि तीन भागोंमें विभक्त है, लंका भी इसी प्रकार त्रिकूटाचल, सुवेलाचल, और निकुंभिला इत्यादि तीन विभागोंमें विभक्त थी। भरतखण्ड से लंका पर चढाई होने की थी और ब्रिटिश द्वीप पर यूरुपखण्ड से चढाई होना थी। अन्तमें फरक केवल इतना ही हो गया कि, सुग्रीव की जीत हुई और नेपोलियन की हार हुई। अस्तु।

श्रीरामचन्द्रजी की सेना किष्किन्धा से चल कर समुद्र के निकट पहुँच गई। यहाँ मंत्रिमण्डलने एकत्रित होकर विचार किया कि, समुद्रपर पुल (सेतु) बांधना चाहिये। बिभीषण जो श्रीरामचन्द्रजी के पक्ष में हाल ही में आकर मिला था, उसने भी यही अभिप्राय दिया और कहा कि, " समुद्र को प्रथमतः सामोपचार से अपने वशमें कर लेना उचित है। " तदनुसार श्रीरामचन्द्रजीने प्रायोपवेशन करके अपनी आध्यात्मिक शक्तिद्वारा समुद्र को वशमें लाने का प्रयत्न किया, परन्तु समुद्र वश नहीं हुआ। तीन दिनतक उपवास करके भी समुद्र पर उसका कुछ परिणाम नहीं हुआ; अर्थात् सामोपचार से समुद्र को अपने वशमें न आता देखकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा कि, " देखो; यह समुद्र कितना उन्मत्त है। हम इससे इतनी अनुनयविनय कर रहे हैं, पर यह हमारी ओर ध्यान ही नहीं देता है। ठीक ही है—

न साम्ना शक्यते कीर्तिः न साम्ना शक्यते यशः।
प्राप्तुं लक्ष्मण लोकेऽस्मिन् जयो वा रणमूर्धनि ॥
(युद्ध० २१।१६-१७)

हे लक्ष्मणजी, संसारमें कीर्ति और यश तथा युद्धमें विजय सामोपचारद्वारा कभी नहीं मिलते।

सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः सत्कुरुते नरम्।

सब जगह यही देखा गया है कि, जिसके हाथमें डंडा होता है, उसी से सब लोग डरते भी हैं। हम इस समुद्र के साथ नम्रता का बर्ताव कर रहे हैं, इसी कारण से यह अकड रहा है और हमको नगण्य समझ रहा है। अतः अब धनुष्यबाण के द्वारा ही इस की बुद्धि ठिकाने पर लाएँगे। " यह कह कर श्रीरामचन्द्रजीने धनुष्यबाण हाथ में लिये और समुद्रके ऊपर जलते हुए बाणों की वर्षा की। बाणों की मार पडते ही समुद्र हाथ बांधकर सामने आया और उसने श्रीरामचन्द्रजी को सेतुबन्धन के लिए योग्य स्थान बता दिया। अब सेतुबन्धन का काम सुरू हुआ, उसका वर्णन महर्षि वाल्मीकिने इस प्रकार किया है—

हस्तिप्रायान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥
(युद्धकांड, २२।५६)

अर्थात् हाथी के समान बडे बडे पत्थर और शैल-खण्ड (पहाडों के टीले) जडमूल से उखाड कर बडे बडे डील-डौलवाले वानरवीर यंत्रोंद्वारा उन्हें ढो रहे थे। इस श्लोक में " **समुत्पाट्य** " और " **यन्त्रैः** " यह दोनों शब्द विशेष ध्यान देनेयोग्य हैं। महर्षि वाल्मीकि यहां " **खनित्वा** " ऐसा शब्दप्रयोग नहीं करते, किन्तु " **समुत्पाट्य** " शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। क्योंकि हाथियों जैसे बडे बडे पत्थर और शैलखण्ड इतने साधारण नहीं होते कि, गैंती या बेलचों से खोद डाले जाएँ। अतः उन को **जडमूल से उखाडने** का अन्य कोई **अधिक शक्तिमान्** साधन वानरों के पास होने का अनुमान किया जा सकता है। यह साधन कैसा था, इसी का दिग्दर्शन महर्षि वाल्मीकि " **समुत्पाट्य** " इस शब्द के प्रयोग से स्पष्टतया कर रहे हैं। " **समुत्पाट्य** " शब्द का अर्थ-सम्=सम्यक् रीति से यानि जितना चाहिये उतना ही और "उत्पाट्य" = उखाड कर, ऐसा होता है। अर्थात् बडे बडे हस्तिप्राय पत्थर और शैल--खण्ड विना खोदे-- समूल उखाडने का- (Blasting करने का) कोई साधन (सुरंग लगाने या पत्थर फोडने की बारूद अथवा तत्सम कोई अन्य पदार्थ) वानरों को मालूम था, जो कि अनुमानतः वर्तमान सुधरे हुए यूरोपीय राष्ट्र जिसे

" ब्लास्टिंग पॉवडर " या " डायनामाइट " कहते हैं, ऐसा ही कुछ हो सकता है। अन्यथा "**समुत्पाटय**" शब्द का प्रयोग यथार्थ हो ही नहीं सकता ।

ये जो बडे बडे हस्तिप्राय पत्थर और शैलखण्ड उखाडे जाते थे, उन को ढोने के लिये भी कोई शक्तिमान् और सुधरा हुआ साधन वानरों के पास होना चाहिये, इसका अनुमान " **यन्त्रैः परिवहन्ति च** " इस वर्णन से हो सकता है। हस्तिप्राय पत्थर और शैलखण्ड ढोना साधारण बैलगाडियों का काम नहीं था ! क्योंकि ऐसे बडे शैलखण्ड या पत्थर उन पर लादते ही— ढोना तो अलग ही रह जाता— पहले उन गाडियों का ही चकनाचूर हो जाता ! परन्तु "**दृश्यन्ते परिधावन्तो देवदानवसंनिभाः**" अर्थात् देव और दानवों के सदृश महाबली वानरवीर उन पत्थरों और पर्वतखण्डों को लेकर दौडते हुए दिखाई दे रहे थे । इस महर्षि वाल्मीकिजी के वर्णन से भी यह स्पष्ट मालूम होता है कि, वानरों के पास **अतिशय शक्तिवाली और वेगवाली यंत्रसामुग्री**(Extremely powerful and speedy machinary) थी। अर्थात् **वानर बर्बर नहीं थे**, यह बात निश्चितरूप से सिद्ध होती है ।

सेतु किस प्रकार बांधा गया, इस का भी वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी के शब्दोंमें ही देखिये-

> **सूत्राण्यन्ये प्रगृह्णन्ति ह्यायतं शतयोजनम् ।**
> **दण्डान्यन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथापरे ।**
> **नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः ।**
> (युद्धकाण्ड, २२।५८-६०)

अर्थात् कोई वानरवीर हाथ में सूत्र लिये हुए लंबाई-चौडाई नापने का काम करने पर नियुक्त थे और कोई दंड हाथ में लेकर ऊँचाई-निचाई (लेव्हल्) देखते थे और शेष वानरवीर पत्थर, मिट्टी, वृक्ष आदि लाकर यथास्थान गर्तोंमें डालते थे और उनको पाटकर बराबर कर देते थे।"

उपर्युक्त वर्णन में जो '**सूत्र**' शब्द है, वह आधुनिक **फीता** या (Measuring tape) और '**दंड**' शब्द (Measuring pole) या (Levelling staff) यानि '**लट्ठे**' के द्योतक हैं। फीते से लंबाई और चौडाई नापी जाती है और लट्ठे से लेव्हल देख कर किस जगह कितना भराव डालना या किस जगह कितना खोदना इसका ज्ञान होता है ।

वर्तमानकालीन **मिलिटरी इंजिनियरिंग** बेडों के पूल वगैरह बनाने के काम इसी प्रकार से होते हैं। इससे मालूम होता है कि, आधुनिक Military Engineering में भी त्रेतायुगीन वानर पीछे नहीं थे, किन्तु इतना बडा विस्तीर्ण समुद्र केवल पांचही दिन के अत्यल्प काल में पाट दिया, इस वर्णन से तो वानरों का Military Engineering बहुतही उच्चश्रेणीका था, यह मान्य करना ही पडेगा । इससे भी **वानर बर्बर नहीं थे**, यही सिद्ध होता है ।

अब यहाँ पर पाश्चात्य विद्वानों के सांप्रदायिक हमारे आधुनिक विद्वान् लोग यह शंका उपस्थित करेंगे कि, " बारूद का आविष्कार तो सबसे पहले यूरोप में इसवी सन् १२४७ में **फ्रायर बेकन** नामक एक यूरोपीय रासायनिक ने किया है । इससे पूर्व बारूद जब संसार में ही नहीं थी, तो वह रामायणकालीन भारतवर्ष में कहाँ से आती? लेखक महाशय को "**हमारी संस्कृति सर्वोच्च थी**" यह बात किसी प्रकार से प्रमाणित करना है, सो उसके लिए रामायण के श्लोकों के **मनगढंत और खींचतान** कर अर्थ कर रहे हैं । आधुनिक विद्वान् लोगों की इस प्रकार विपरीत भावना हमारे उपर्युक्त विधानों के कारण हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि औवल तो इन आधुनिक विद्वान् लोगों में **संस्कृत भाषा** के लिए **अत्यन्त अनादर** और **अनास्था होती है**, और दूसरा संशोधक बुद्धि का अभाव भी होता है । इंग्लिश ग्रन्थ- यदि भारतवर्ष में न मिल सकते हों, तो अनापशनाप रुपया खरच करके विदेश से मंगाएँगे और उन्हें पढने में दिन और रात भी एक कर देंगे । परन्तु संस्कृत ग्रन्थ ? हरे राम ! एक भी मिले और वह भी विनामूल्य- तथापि फुर्सत में भी उसे पढने की उनकी इच्छा नहीं होगी, क्योंकि "उसमें रक्खा ही क्या है ? " यह विश्वास तो इन विद्वान् लोगोंने पहले ही कर लिया है ! ठीक ही तो है !

बाल्यावस्था ही में उनका शिक्षासंस्कार इंग्लिश पद्धति से हुआ ! इंग्लिश विचारों की छाया उनके अन्तःकरण पर

पूर्णता से पड़ी हुई ! स्वाभिमान खो दिया हुआ ! भारतवर्ष में कोई विद्या, कला या आविष्कार आज से पहले कभी थे ही नहीं, यह कल्पना दृढमूल हो चुकी हुई ! ऐसी अवस्था में आधुनिक विद्वान् लोगों के सम्मुख संस्कृत ग्रंथों के शतशः प्रमाण भी उद्धृत करके रख दिये जाएँ, तो भी उनका विश्वास उन प्रमाणों पर होना अशक्य है। तथापि वेही प्रमाण यदि किसी पाश्चात्य विद्वान् की लेखनी से कागज पर उतरे हुए देख लें, तो हमारे आधुनिक विद्वान् लोग उन्हें "वेदवाक्यतुल्य" मानते हैं। अतएव उग लोगों के समाधानार्थ (Satisfaction) पाश्चात्य विद्वान् लोगों के ग्रंथों से हमारे विधानों का समर्थन करनेवाले कतिपय लेख या अवतरण (Quotations) यहां उद्धृत करने की आवश्यकता हमें मालूम होती है। वस्तुतः हमारी आर्यसंस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये हमें पाश्चात्य ग्रंथों की सहायता लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। अस्तु। आधुनिक विद्वान् लोगों का भी समाधान (Satisfaction) यथाशक्ति कर देना हमारा कर्तव्य है, अतएव बारूद ईसवी सन् १२४७ से पूर्व, अपितु कल्पनातीत पुरातन काल से भारतवर्ष में है, इसके कतिपय प्रमाण यूरोपीय विद्वानों के ग्रन्थों से हम आगे उद्धृत करते हैं—

(१) यूरोप की वर्तमान युद्ध-प्रणाली के आद्य प्रणेता **नेपोलियन बोनापार्ट अपने** "Aid Memory to Military Sciences" नामक ग्रंथ में लिखते हैं "Gun-powder was known to India and China, and was used for the purpose of war many centuries before Christian Era,' अर्थात् बारूद बनाना और युद्ध में उसका उपयोग करना, दोनों बातें भारतीय तथा चीनी लोगों को ईसामसीह के जन्मकाल से कई शताब्दियाँ पूर्व मालूम थीं।

(२) **ग्रीनर** नामक एक पाश्चात्य इतिहासकार अपने "Gunnery in 1857" नामक ग्रंथ में लिखता है- "The inhabitants of India were unquestionably acquainted with its (of gunpowder) composition at an early date." अर्थात् भारतीय लोग बहुत प्राचीन काल से बारूद और उसके घटक द्रव्यों को जानते थे। यही ग्रंथकार फिर कहता है--

Alexander is supposed to have avoided attacking the Oxydracca, a people dwelling between the Hydaphasis and Ganges, from a report of their having supernatural means of defence; for it is said, "They do not come out to fight those who attack them, but those holy people beloved by God, overthrow their enemies, with tempest and thunderbolts shot from their walls and when Egyptian Herculese and Baccus overrun India, they attacked those people, but were repulsed with storms of thunderbolts and lightning, hurled from above." This is no doubt evidence of the use of gunpowder.

सुना है कि, जगज्जेता **सिकन्दर बादशाहने** गंगा और ब्रह्मपुत्रा नदियों के बीच के प्रदेश में जो **'ऑक्सीड्रेक्रा'** जाति के लोग रहते थे, उन पर जब आक्रमण करने का विचार किया, तब ही उसको किसीने कहा था कि, "वे लोग बड़े बिकट हैं। उन पर कोई शत्रु आक्रमण करके जाय, तो वे उससे लडने के लिये अपने किलों से बाहर कभी नहीं निकलते, किन्तु वे ईश्वर के प्यारे और पवित्र लोग किलों की प्राचीरों पर से ही उन आक्रमणकारियों पर वज्र बरसाकर उनका नाश करते हैं। जब मिश्र देश के **हक्यूंलीज्** और **बेकस** दोनों भारतवर्ष पर चढाई करके आये थे, तब उन लोगोंने अपने किलों की प्राचीरों पर से ही उन पर **विद्युत और वज्रों की वर्षा कर** के उनको भगा दिया था।" ग्रंथकार (ग्रीनर) कहता है कि, "**भारतवर्ष में उस जमाने में तोप में चलनेवाली बारूद का व्यवहार युद्ध में होता था**, इसका यह एक निःसंदिग्ध प्रमाण है।

(३) प्रेसिडेन्सी कॉलेज मद्रास के प्राध्यापक **गुस्टाव ऑपर्ट**, एम्. ए, पी एच्. डी. (Professor Gustav Oppert, M. A, Ph. D.) अपने Weapons,

Army Organisation and Political Maxims of the Ancient Hindus नामक ग्रंथ के चतुर्थ अध्यायमें- India- the Home of Gunpowder and Firearms शीर्षक विषयमें लिखते हैं- (१) " Every Schoolboy (in India) prepares his own gunpowder अर्थात् भारतवर्षमें प्रत्येक शालेय विद्यार्थी अपनी बंदूक की बारूद स्वयं बना लिया करता है।"

(२) " Explosive powder for discharging projectiles was known in India from the earliest period- अर्थात् तोप के गोलों को दूर तक फेंकनेवाली बारूद का बनाना भारतवासी लोग अत्यन्त प्राचीन काल से जानते थे। "

(३) " Gunpowder has been known in China as well as in Hindustan far beyond all period of investigation अर्थात् चीन और भारतवासी लोग बन्दूक की बारूद कल्पनातीत प्राचीन काल से जानते हैं। "

प्रोफेसर गस्टाव और भी कहते हैं कि, " विपक्षी के विरुद्ध जिन जिन अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है, उनमें बारूद-भरे धुएँ के गोलों का भी प्रयोग होता है, ऐसा महर्षि वैशंपायन अपने ' नीतिप्रकाशिका ' नामक ग्रंथमें लिखते हैं। इन धुएँ के गोलों को संस्कृत भाषामें ' धूम्र-गोलक ' अथवा ' चूर्णगोलक ' कहते हैं और उन्हीं को इंग्लिश भाषामें ' Smoke-balls ' कहते हैं।"

पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों से उद्धृत किये हुए उपर्युक्त प्रमाणों से हमें आशा है कि, हमारे आधुनिक विद्वानों को यह विश्वास करनेमें अब कोई प्रत्यवाय नहीं होगा कि, वानरों को सुरंग लगाने की बारूद बनाने का तथा उस का प्रयोग करने का यथेष्ट ज्ञान था। अर्थात् वानर बर्बर नहीं थे। किन्तु यह बात निर्विवाद प्रमाणित हो रही है कि, उनको Military Engineering का इतना ज्ञान था कि, जो आधुनिक पाश्चात्य इंजिनियरों से कम नहीं कहा जा सकता।

अब एक और दृष्टान्त वानरों की युद्धकुशलता का भी देखिये-

हनुमानजी की युद्ध-कुशलता।

(सुप्रबन्ध के साथ संनिवर्तन)
(Orderly Retreat)

श्रीरामचंद्रजी की सेनाएँ समुद्र पार होकर लंकामें गई और उन्होंने लंका के चारों ओर घेरा डाल दिया। लंका के उत्तरद्वार पर स्वयं रावण अपने चुने हुए राक्षसदल को लेकर राम-सेना से भिडने के लिये तैयार था, क्योंकि श्रीरामचंद्रजी भी उसी ओर आक्रमण करने के लिये अपनी सेना के साथ सज्ज थे। लंका के पश्चिमीद्वार पर महान् पराक्रमी इंद्रजित् अपने दलबलसमेत खडा था और उसके सामने उस से भिडने के लिए हनुमानजी अपने दलबलसमेत खडे थे। इंद्रजित् हनुमानजी को धोखा देने के हेतु से एक मायामयी (नकली) सीता बनाकर रथ पर बिठा लाया और हनुमानजी तथा उनके वानरदल के सामने ही-उनके देखते देखते ही-उस नकली सीता के खड्ग से टुकडे करने लगा। हनुमानजी को यह दृश्य सत्य ही जान पडा और उन्होंने क्रुद्ध होकर इंद्रजित की कठोर शब्दोंमें भर्त्सना की। लेकिन उसने कुछ ध्यान नहीं दिया, तब हनुमानजीने उस से घोर युद्ध करना शुरु कर दिया। परन्तु इंद्रजित् के सामने हनुमानजी का शौर्य उस समय न्यून पडने लगा। इंद्रजित् का जोर बढ रहा था और हनुमानजी की फौज अब विपक्षी के फन्देमें लगभग फँस चुकी थी। ऐसी अवस्थामें युद्ध जारी रखने से वृथा सैन्यनाश होता है और इस तरह वृथा सैन्यनाश होने देना उचित नहीं है, यह सोच कर हनुमानजीने अपनी सेनामें से कुछ चुने हुए वीरों को साथ लेकर इंद्रजित् की सेना को आगे बढने से रोक रक्खा, और अपनी आड से (under-cover) शेष सब वानरसेना एक भी वानर न गँवाकर युद्धस्थल से पीछे निकलवाकर बचा ली। इस प्रसंग का वर्णन महर्षि वाल्मीकिने इस भाँति किया है-

सुस्कन्धविटपैः शैलैः शिलाभिश्च महाबलः।
हनूमान् कदनं चक्रे रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥१८॥
सन्निवार्य परानीकं अब्रवीत् तान् वनौकसः।
हनूमान् सन्निवर्तध्वं न नः साध्यं इदं बलम् ॥१९॥

यन्निमित्तं हि युद्ध्यामो हता सा जनकात्मजा ॥२०
इमं अर्थं हि विज्ञाप्य रामं सुग्रीवमेव च ।
तौ यत्प्रतिविधास्येते तत्करिष्यामहे वयम् ॥२१
इत्युक्त्वा वानरश्रेष्ठो वारयन् सर्व वानरान् ।
शनैः शनैःअसंत्रस्तः सबलः सन्यवर्तत ॥२२॥
(युद्धकांड, सर्ग ८२)

अर्थात्- बडे बडे शैलखण्ड और वृक्षों की वर्षा करके हनुमानजीने उन भयंकर युद्ध करनेवाले राक्षसों का संहार करना शुरू किया । परन्तु ' राक्षसों का जोर बढता जा रहा है और अपनी सेना राक्षसों की चंगुलमें फंस रही है,' यह देखकर, ऐसी दुरवस्थामें वृथाभिमानमें पडकर तथा अप्रासंगिक शौर्य दिखाकर सेना को व्यर्थ कटवा देना अनुचित है, यह सोचकर हनुमानजीने उस सेना से पर्याप्त संख्या का चुने हुए वीरों का एक दल अपने साथ लेकर इंद्रजित् का मुकाबला किया, और उसकी आगे बढती हुई सेना को रोककर, अपनी शेष सेना को आज्ञा दी कि, "आज शत्रु-सेना से जीतना कठिन है, इसलिए ' **सन्निवर्तध्वम्** ' पीछे को लौट चलो । (इस आज्ञा को ही Order for the Retreat कहते हैं) जिन सीताजी के हेतु हम अपने प्राणों की भी परवा न करके युद्ध कर रहे हैं, उन सीताजी का तो वध इंद्रजितने कर ही दिया । अतः यह वृत्तान्त श्रीरामचंद्रजी और सेनापति सुग्रीव को सुनाकर उन की जो आज्ञा होगी, उसी के अनुसार बर्तेंगे। (श्लोक २०।२१)" यह कह कर हनुमान्‌जीने वानरसेना को पीछे लौट जाने की आज्ञा दी और आप भी **शनैः शनैः** (gradually), **असंत्रस्तः**- यानि शान्त चित्त से (undisturbed), यानि अपने प्रबन्धमें किसी प्रकार की गडबड या अव्यवस्था न होने देकर, ' **सबलः** '- (with the army) सेना को साथ लेकर, ' **सन्यवर्तत्** '- (retreated) वापिस लौट गये । इस प्रकार के सैन्यसंचालन को-सुप्रबन्ध के साथ फौज को पीछे हटाने को (Orderly Retreat) कहते हैं ।

अब यहाँ पर यह सोचना चाहिये कि, युद्ध में जीत होने पर विपक्षी की हारी हुई सेना पर दबाव डालना कोई बडी बात नहीं है, किन्तु जब लडाई पलटा खा जाती है और शत्रु-सेना पर विजय पाने के बदले अपनीही सेना हार कर विपक्षी की चंगुल में फँस जाने की बारी आती है, तो ऐसे अवसर पर अपनी सेना को विपक्षी के फंदे से बचाकर निकाल ले जाने में ही सेनापति की युद्ध-कुशलता का परिचय मिलता है । यह कुशलता हनुमान् जी में थी, इसका प्रमाण भी पूर्वोक्त श्लोकों में पाया जाता है ।

यह एक लोकोक्ति है कि—

" **मंत्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।**
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पंडितः ॥"

इसका भावार्थ यह है कि, जब तक सब काम निर्विघ्न चल रहे हैं, और उन में किसी प्रकार की बाधा बीच में नहीं आती, तब तक सभी बुद्धिमान् होते हैं, परन्तु कोई काम बिगड जाने पर उसके बनाने में ही विशेष बुद्धि-मानी होती है । राज-काज बिगडने पर उसको संभाल लेने में **मंत्री की बुद्धिमत्ता**, व्याधि-प्रकोप होने पर उसको सँभाल कर रोगी के प्राण बचाने में **वैद्य की कुशलता** प्रतीत होती है । हनुमानजी समय पर प्रसंगावधान (presence of mind) रखकर इंद्रजित् की मार से अपनी सेना को बचाकर उसको बेदाग निकाल ले गये, इसी में उनके सेनापतित्व का **आत्यन्तिक कौशल्य** दिखाई देता है।

सन् १९०६ ईसवी में **रूसो-जपानी युद्ध** में ऐसी ही एक घटना हुई थी । सेनापति जनरल **क्यूरोपाट्किन्** के पास २५०००० सेना थी और जापानी सेनापति **मार्शल् ओयामा** के पास २३०००० जापानी सेना थी । **ल्यॅहो यांग** के मैदान में दोनों फौजें लड गईं । मार्शल ओयामाने रूसो सेना को एक ऐसी बिकट जगह में फँसा दिया था कि, या तो वह सेना शस्त्र छोडकर जापानियों के हाथ कैद हो जाती या सब लोगों को मृत्यु की शरण में जाना पडता । ऐसी बिकट अवस्था में जनरल क्यूरोपाट्किन् ने जापानियों की फौज के आगे ४०००० रूसी फौज की दीवार खडी कर दी और उसके द्वारा जापानियों की चाल को रोक कर उसी की आड से (under cover) दो लाख रूसी फौज को जापानियों की मार से बचाकर निकाल ले गया । जनरल क्यूरोपाटकिन् के इस युक्तिपूर्ण सैन्य

संचालन (operation) की उस समय सारे यूरूप भरमें अत्यंत प्रशंसा हुई और वह एक **कौशल्यपूर्ण सेनापतित्व** (Skilful Generalship) माना गया।

महाराष्ट्र के इतिहास में भी सेनापति की कुशलताका ऐसा ही एक उदाहरण मिलता है। **पावनखिंड घाटीमें** ३०० मावले सिपाही लेकर उनकी सहायतासे प्रचंड यवन सेना को **वीर बाजीप्रभुने** रोक रक्खा और अपनी आड (Cover) में **श्री शिवाजी छत्रपति** को धोखे की जगह से निकाल कर उन्हें सुरक्षित स्थानपर पहुँचनेमें **प्राणपण से सहायता दी**। वीर बाजीप्रभुने स्वामीके कार्य में रणक्षेत्र में अपने प्राण विसर्जन कर दिए, जनरल क्यूरोपाट्किन् केवल जखमी होकर बच गया, परन्तु **हनुमानजी तो बिलकुल बेदाग** अपनी सेना समेत बचकर निकल आए थे। ऐसे युद्धकुशल सेनापति जिस वानर जाति में उत्पन्न हुए थे, वह **वानर-जाति क्या बर्बर** हो सकती है?

वानरों का ध्वनिवाहक साधन।

हनुमानजी और इन्द्रजित् का युद्ध हो रहा था और हनुमान् जी की सेना इन्द्रजित् की सेनाका दबाव पडनेसे प्रतिक्षण निरुत्साह हो रही थी। यह बात **श्रीरामचंद्रजी** को मालूम हुई और उन्होंने तुरन्तही **जांबवान्**को अपनी सेना लेकर हनुमानजी की सहायता को जाने की आज्ञा दी। तदनुसार वे अपनी ऋक्षसेना लेकर तत्काल हनुमानजी की सहायता को गये। इस प्रसंग का वर्णन महर्षि वाल्मीकिने इस प्रकार किया है—

राघवश्चापि विपुलं तद्राक्षस-वनौकसाम्।
श्रुत्वा संग्रामनिर्घोषं जांबवन्तं उवाच ह ॥१॥
सौम्य नूनं हनुमता कृतं कर्म सुदुष्करम्।
श्रूयते च यथा भीमः सुमहान् आयुधस्वनः ॥२॥
तत् गच्छ कुरु साहाय्यं स्वबलेनाभि संवृतः।
क्षिप्रं ऋक्षपते तस्य कपिश्रेष्ठस्य युद्ध्यतः ॥३॥
ऋक्षराजस्तथेत्युक्त्वा स्वेनानीकेन संवृतः।
अगमत् पश्चिमं द्वारं हनूमान् यत्र वानरः ॥४॥
अथायान्तं हनूमन्तं ददर्शर्क्षपतिस्तदा।
वानरैः कृतसंग्रामैः श्वसद्भिरभिसंवृतम् ॥५॥
दृष्ट्वा पथि हनूमांश्च तदृक्षबलमद्भुतम्।
नीलमेघनिभं भीमं सन्निवार्य न्यवर्तत ॥६॥
(युद्धकाण्ड, सर्ग ८३)

अर्थ- श्रीरामचन्द्रजीने इन्द्रजित् और हनुमानजी के युद्ध का भयंकर कोलाहल सुनकर जांबवान् से कहा ॥१॥ 'हे सौम्य, शस्त्रास्त्रों की यह जो बडी जोर की खनखनाहट (हनुमानजी की ओर से, सुनाई दे रही है, उससे मालूम होता है कि हनुमानजी आज बहुत **बडा दुष्कर कर्म** (घमासान युद्ध) कर रहे हैं ॥२॥ (परन्तु, उनके पास यहाँ से सहायता भेजने की अत्यंत आवश्यकता जान पडती है) सो हे ऋक्षराज, तुम अपनी सेना लेकर वहाँ जाओ और इन्द्रजित् से भिडे हुए उन कपिश्रेष्ठ हनुमानजी की सहायता करो' ॥३॥ 'जो आज्ञा' कहकर ऋक्षराज जांबवान् अपनी सेनासमेत लंका के पश्चिमद्वार की ओर-जहाँ हनुमानजी युद्ध कर रहे थे- अत्यंत शीघ्रतासे चल दिया ॥४॥ आधे रास्तेमें ही जांबवान् ने हनुमानजीको इंद्रजित से युद्ध करके थकी हुई अपनी सेनाको बचाकर वापिस ले आते हुए देखा ॥५॥ हनुमानजी ने भी नीलवर्ण मेघ के सदृश भयंकर और अद्भुत ऋक्षसेना को अपनी सहायता के लिये आती हुई देखकर उसे आगे जानेसे रोक दिया और अपने साथही वापिस लिवा लाये। श्रीरामचन्द्रजीने हनुमानजीकी सहायताको जांबवान् को सेनासहित भेजनेका जो कार्य किया, उसे 'Sending Reinforcements' (सहायता भेजना) कहते हैं।

अब इस जगह यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, लंका के चौगिर्द वानरसेना का जो घेरा पडा हुआ था, उसमें उत्तरद्वार पर **रावण** के मुकाबले में **श्रीरामचन्द्रजी** अपनी सेना समेत उपस्थित थे और पश्चिमद्वारपर **इन्द्रजित्** के मुकाबले में **हनुमानजी** अपनी सेनासमेत उपस्थित थे। इन दोनों (श्रीरामचन्द्रजी और हनुमानजी) के बीचका अन्तर कितना कितना होगा? तो महर्षि वाल्मीकि के वर्णन के अनुसार—

दशयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता।
(युद्धकाण्ड, सर्ग ३९, श्लो० २०)

अर्थात् दस योजन यानि ५० मील चौडाई और बीस

योजन यानि १०० मील लंबाई विस्तार रावणकी राजधानी लंका नगरी का था। (योजन= ५ मील)

लंका नगरी की रक्षा के लिये, अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी की सेनाके आक्रमणसे बचाने के लिये, उत्तरद्वार के आगे पर्याप्त अन्तर पर रावण की लक्षावधि सेना सज्ज थी, और इस सेना के सम्मुख--लंकाके प्राकारपर लगाई हुई तोपों की मारसे बाहर- (out of the range of enemy's guns)-- श्रीरामचन्द्रजी अपनी वानरसेना को लिये हुए खडे थे और उनके पृष्ठभाग (rear)में समुद्र तक वानर-सेना का फैलाव था। इसी तरह लंकाके पश्चिमद्वार के आगे--प्राकार से बाहर--इंद्रजित् की लक्षावधि सेना युद्ध के लिये सज्ज खडी थी और उस सेना के सामने लंका के पश्चिमी प्राकार पर लगाई हुई तोपों की मार से बाहर हनुमानजी की सेना पीछे की ओर कई मीलोंतक फैली हुई थी। दोनों सेनाओं की आघाडी (front) से निकलती हुई सरल रेषाओं से बनते हुए समकोण (Right angle) की जगह पर ऋक्षराज जांबवान् को रक्खा था, जिससे कि वह अपने दाहने और बाँये को हनुमानजी और श्रीरामचंद्रजी को यथासमय आवश्यकतानुसार सहायता दे सके।

उपर्युक्त सैन्य-रचना का विचार करनेसे मालूम होता है कि श्रीराचंद्रजी और रावणके बीचमें ही कई मीलोंका अन्तर होना संभवनीय है। इसी प्रकार इन्द्रजित् और हनुमान् के बीचमें भी कई मीलोंका अन्तर होगा। अब रावण और इन्द्रजित् के बीच का अन्तर—लंका के उत्तरद्वारसे पश्चिमद्वार तक लंका के प्राकार के अन्दर से एक कर्णरेषा खींची जाय, तो ५६ मील (गणितशास्त्रसे Mathematically) होता है। अर्थात् रावणसे कई मील के अंतर पर खडे हुए श्रीरामचंद्रजी, और इन्द्रजित् से कई मीलोंपर खडे हुए हनुमानजी दोनोंके बीच का अंतर ५६ मील से कई मील अधिकही होगा। अब महर्षि वाल्मीकिजीने रावण और श्रीरामचंद्रजी दोनों ओर की सैन्यसंख्या का जो वर्णन दिया है, वह बीस या पचीस गुणा अत्युक्तिपूर्ण भी माना जाय, तो भी श्रीरामचंद्रजी और हनुमानजीके बीचमें—लंकाके बाहरी युद्धक्षेत्रमें- ७५ या ८० मील के लगभग अंतर हो सकता है। इससे कम नहीं हो सकता। इतने अंतर पर से श्रीरामचंद्रजी को इन्द्रजित् से लडती हुई हनुमानजी की सेनाका 'निर्घोष' और 'आयुधस्वन' सुनाई दिया, इत्यादि वर्णन पूर्वोक्त श्लोक २ में है, और इसी 'निर्घोष' और 'आयुधस्वन' को सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने ऋक्षराज जांबवान को- जो कि श्रीरामचंद्रजीसे लगभग ७०-७२ मील दूर थे-तत्काल हनुमानजी की सहायता को- सेना लेकर-जाने की आज्ञा दी। (पूर्वोक्त श्लोक ३) इस वर्णन से स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि, तत्कालीन वानरों के पास दूरध्वनिवाहक कोई यन्त्र या अन्य साधन अवश्य होगा।

अब यह दूर ध्वनिवाहक साधन क्या होगा इसका भी विचार कर्तव्य है। महर्षि वाल्मिकिजी के रामायण-ग्रन्थमें जब कि 'श्रुत्वा संग्रामनिर्घोषम्' और—

'श्रूयते च यथा भीमः सुमहान् आयुधस्वनः।'

इस प्रकार वर्णन है, तो उससे यह अनुमान होता है कि यह दूरध्वनिवाहक साधन वर्तमानकालीन रेडियो या तत्सदृश कोई अन्य साधन हो सकते हैं। और जब कि ऐसे दूरध्वनिवाहक साधन तत्कालीन वानरसेना के पास-ग्रन्थाधारतः-पाये जाते हैं, तो उनसे यह अच्छीतरह प्रमाणित होता है कि, तत्कालीन वानर आधुनिक पाश्चात्य लोगों की अपेक्षा युद्धविषयक पदार्थविज्ञान (War-science) में भी किसी प्रकार से न्यून नहीं थे। अतएव वानर 'Barbarians' अर्थात् 'बर्बर' या 'जंगली' थे, यह पाश्चात्य विद्वानों का विधान सुतराम् असत्य है।

वानरी और राक्षसी स्त्रियों की शिक्षा।

सभ्य और सुधरा हुआ समाज वही समझा जाता है, कि जिस समाज की स्त्रियां भी सुशिक्षिता, शीलवती, पतिव्रता, और स्वार्थत्यागिनी हों। इसमें मतभेद होनेके लिये कोई अवकाश ही नहीं है। किसी समाज का अकेला पुरुषवर्ग ही सुशिक्षित हो, तो उस समाजको पूर्णतया 'सभ्य' या सुधरा हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि समाज का अर्ध-भाग जो स्त्रीवर्ग वह जबतक सुशिक्षित नहीं होता, तबतक समाज की सभ्यता पूर्णत्व को नहीं पहुँच सकती। इस नियम के अनुसार वानर और राक्षसों के साथ उनकी स्त्रियों का भी विचार कर्तव्य है। अतएव

प्रथमतः वानरराज वाली की स्त्री 'तारा' का विचार करके अनन्तर राक्षसी स्त्रियों का भी विचार करेंगे।

श्रीरामचंद्रजी के बाण से मर्माहत होकर वाली पृथ्वी पर गिर पडा। तब सुग्रीव, अंगद, तारा और हनुमानजी आदि अन्य वानरमन्त्री उसके पास इकट्ठे हुए। वालीने राज्य सौंपने के चिह्नस्वरूप अपने गले की कांचनी माला सुग्रीव के गलेमें पहना दी और अनन्तर राज्य-तन्त्र चलाने का अन्तिम परामर्श देते हुए वह **तारा** को लक्ष्य कर सुग्रीव से बोला—

> **सुषेणदुहिता चैषा अर्थसूक्ष्मविनिर्णये ।**
> **औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥१३**
> **यत् एषा साध्विति ब्रूयात् कर्तव्यं मुक्तसंशयम्।**
> **नहि तारामतं किंचित् अन्यथा परिवर्तते॥१४॥**
>
> (किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग २२)

'हे सुग्रीव, सुषेण वानर की पुत्री-- यह तुम्हारी भाभी जो तुम्हारे सम्मुख बैठी है, किस योग्यता की स्त्री है, यह तुमको मालूम ही है। यह अत्यंत सूक्ष्म और पेचीले राजकीय प्रश्नोंका निर्णय करनेमें तथा अनेक राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाकर राजतंत्रको सुव्यवस्थित करनेमें अत्यंत निपुण है। जिस कार्यमें इसकी अनुमति होगी, वह कार्य तुम निःसन्देह करते जाओ। उसमें कभी असफल नहीं रहोगे।' (यदि मैंने भी इस समय तारा का कहा माना होता, तो मेरी भी ऐसी दुरवस्था कभी नहीं होती।

उपर्युक्त वर्णन से यह अनुमान निकलता है कि, राजसभामें अत्यन्त विश्वासपात्र (Most reliable) ऐसे श्रेष्ठ मन्त्री (Member of the Royal Council)की योग्यता रखनेवाली **सुशिक्षित स्त्रियां** जिस वानरसमाजमें थीं, वह वानरसमाज **बर्बर** कैसे हो सकता है? इसी प्रकार तत्कालीन वानरसमाज **स्त्री--शिक्षा--सम्बन्धी** सुधारमें भी कितना आगे बढा हुआ था, तथा वर्तमानकालीन स्त्रियों की अपेक्षा तत्कालीन वानरी स्त्रियों को शिक्षा किस प्रकार की तथा कितनी उच्च श्रेणी की दी जाती थी, यह बात भी ध्यानमें रखने के योग्य है।

अब तारा की **पतिपरायणता** और **स्वार्थविन्मुखता** का भी नमूना देखिये। श्रीरामचन्द्रजी के बाण से वाली मर्माहत होकर पृथ्वीपर गिरते ही उसके पक्ष के वानरोंमें भागदौड मच गई। तारा के कानोंमें यह वार्ता आतेही वह दौडती हुई रणक्षेत्र पर- जहां वाली मरणोन्मुख होकर पडा हुआ था-- आई। उस समय उसके मंत्रियोंने उसे बहुत समझाया कि 'हे महारानी! आप लौट जाइये और युवराज अंगद की रक्षा कीजिये। आपका इस समय यहाँ आना अच्छा नहीं हुआ है, क्योंकि किष्किन्धा पर शीघ्रही शत्रु का आक्रमण होनेका संभव है। इसलिये आप जल्दी लौट जाइये और नगरप्राकार के कुल दरवाजे बन्द करके प्राकार के चारों ओर शूर वीर वानरों की सेना लगाकर नगर रक्षा का प्रबन्ध कीजिये। **युवराज अंगदको** शीघ्रता से राज्य सिंहासनपर स्थापित कर दीजिये, जिससे सब वानर आपके पक्षमें आ मिलेंगे, तथा **हम सब आपके ही सहायक हैं।**' यह सुनकर ताराने उत्तर दिया—

> **पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना।**
> **कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥१८॥**
> **पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।**
> **योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥१९॥**
>
> (किष्किंधाकांड सर्ग १९)

"ये महाभाग कपिश्रेष्ठ! मेरे पतिदेव मृत्युशय्यापर पडे हुए हैं और मेरा सौभाग्य भी उन्हींके साथ नष्ट हो रहा है। अब मुझे पुत्र से और राज्यसे भी क्या प्रयोजन है? रामचन्द्रजी के बाण से ये मेरे पतिदेव, रण में आहत हुए हैं, सो इन्हींके चरणोंपर मैं अपना शरीर समर्पण कर दूंगी।" यह कह कर तारा वाली के शरीरपर पछाड खाकर गिरी और अत्यन्त आक्रोश करने लगी। तब हनुमानजीने आगे बढकर सान्त्वना होते हुए तारा से कहा कि, 'हे महारानी, जो होना था सो हो गया! अब शोक करना छोडकर आगे के लिए राज्यप्रबंध की योग्य आज्ञा दीजिये। **युवराज अंगदसमेत हम सब वानरवीर तथा यह सारा वानरराष्ट्र आपही के अधीन है।** आप की देखभाल में युवराज अंगद सिंहासनाधिष्ठित होंगे और हम सब आप के आज्ञानुवर्ती रहेंगे। पुत्र को सिंहासनपर अधिष्ठित देखकर आप सुखी होंगी और कालान्तर से इस शोक को भी भुला देंगीं।' हनुमानजी के इस वक्तव्यपर ताराने जो उत्तर दिया, वह प्रत्येक **आर्यगृहिणी** को आस्थापूर्वक

अपने हृदय के अन्तःस्थल में मुद्रित कर रखने के योग्य है। तारा ने कहा—

अंगदप्रतिरूपाणां पुत्राणां एकतः शतम् ।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥१३॥
(किष्किंधाकांड, सर्ग २१)

पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी ।
धनधान्यसमृद्धाऽपि विधवेत्युच्यते बुधैः ॥१२॥
(किष्किंधाकांड, सर्ग २३)

अर्थात्- "अंगद के समान एक सौ ऐश्वर्यवान् पुत्रों को साथ लेकर ऐश्वर्य भोगने की अपेक्षा इस वीर मृत पति के साथ सती हो जाना अधिक श्रेयस्कर है। (पुत्र का ऐश्वर्य, राजमाता का मानसंमान, संपूर्ण राष्ट्र का सर्वाधिकार, इत्यादि का प्रलोभन जो तुम मुझे दिखा रहे हो, वह सब वृथा ही है।) क्योंकि पतिहीन स्त्री, यद्यपि कई पुत्रोंवाली हो, धनधान्यसे समृद्ध हो, तथापि वह 'विधवा' ही कही जाती है। उसे 'सुहागिन कोई नहीं कहता।' देखिये, कितनी यह पतिनिष्ठा और कहाँतक यह स्वार्थत्याग है! **राजमाता का मान, सारे वानरराष्ट्रका सर्वाधिकार, सब मंत्रियों की अनुकूलता, राजैश्वर्य और तज्जन्य सर्व सुखोपभोग,** इत्यादि सब मिलते हुए भी जो स्त्री लोभवश नहीं हुई, किन्तु सब को तुच्छवत् मानकर, तथा अपने जीवित को भी तृणवत् समझकर जो साध्वी अपने मृत पति के साथ चितापर आरूढ हो जाने को तैयार हो गई, **उसके त्याग की, आत्मसुखविन्मुखता की, धैर्य की तथा पतिप्रेम की** जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी ही है।

इस प्रकार स्वार्थत्याग करनेवाली, आत्मसुखपराङ्मुखी, पतिपरायणा, राजसभा के मंत्रिमण्डल में भी श्रेष्ठता पाने के योग्य, **तारा के सदृश सुशिक्षित** स्त्रियाँ जिस वानरसमाज में जन्म लेती थी, वह वानरसमाज यदि 'Barbarian यानि 'बर्बर,' 'असभ्य' या जंगली कहा जाने के योग्य हो, तो एक पति के साथ यथेष्ट सुखप्राप्ति नहीं हुई, तो उसको छोडकर उससे अधिक धनवान् दूसरा पति किया, पुनः उससे भी अधिक सुखचैन मिलने की अथवा कोई विशिष्ट स्वार्थसाधन की आशा दिखाई दी कि उस दूसरे पति को भी ठुकरा कर कोई तीसरा लक्ष्मीपुत्र या राजपुत्र गाँठा! ऐसी केवल विषयसुखलोलुपा, स्वार्थैक परायणा पतिव्रता (??) स्त्रियाँ जिस समाज में मुँह ऊँचा उठाकर प्रतिष्ठा के साथ संचार कर सकती हैं, क्या वह पाश्चात्य समाज '**सभ्य**' (Civilised) कहा जानेके योग्य है? और क्या ऐसी स्त्रियाँ '**सुशिक्षित**' कही जा सकती हैं?

अब **राक्षससमाज** की स्त्रियों की सुशिक्षा का भी नमूना देखिये। प्रातःस्मरणीया रावण-पत्नी मन्दोदरीको तो सब जानते ही हैं? परन्तु **कुंभीनसी** नाम की राक्षसी को कदाचित् कोई भी नहीं जानता। यह रावण की मौसेरी बहिन थी और उसकी बडी दुलारी थी। रावण एक बार दिग्विजय के लिये लंका से कहीं बाहर गया था। उसके पश्चात् मथुरा का राजा-मधुदैत्य-लंका में आया और कुंभीनसी को भगा के मथुरामें ले जाकर उसके साथ उसने विवाह भी कर लिया। रावण जब दिग्विजयसे लौटकर लंका में आया, तब महलमें उसको कुंभीनसी कहीं दिखाई नहीं दी। पूछनेपर मालूम हुआ कि, उसको मधुदैत्य भगा ले गया है। तब रावणको क्रोध चढ आया, और उसने मधुदैत्यकी राजधानी पर चढाई करने के लिए अपनी सेना को कूच करने की आज्ञा दी, तथा स्वयं पुष्पकविमान में बैठकर मथुरा को रवाना हुआ।

रावण मधुदैत्य की राजधानीके पास पहुंचा। मधुदैत्य उस समय भोजनोत्तर अपने शयनकक्षमें सो रहा था और कुंभीनसी उसका पादसंवाहन कर रही थी। उसने रावणके विमानका ध्वनि सुना और समझ गई कि, वह उसके पति (मधुदैत्य) को-उसे भगा लानेके अपराध का-दण्ड देने आया है। उसने अपने पति को नहीं जगाया। यदि जगा देती, तो वह भी वीर पुरुष था और रावण भी वीर पुरुष ही था। दोनों आपस में लड जाते और फिर शूर्पणखा के सदृश अपनी भी दशा होकर वृथा का अनर्थ हो जाता। यह अनर्थ टालनेके विचारसे वह दूरदर्शी बाला कुंभीनसी अपने पतिको निद्रित अवस्था में ही छोडकर अपने महल के महाद्वारपर तुरन्त जा पहुंची और अपने भाईका स्वागत करनेके लिए वहाँ खडी हो गई।

रावण का विमान इसी समय वहाँ आ पहुँचा। अपनी प्रिय भगिनी को अपने स्वागतार्थ द्वार पर खडी हुई देखते ही रावण का क्रोध तत्काल शान्त हो गया। वह विमानसे

नीचे उतर कर भगिनी से मिलने को गया। कुंभीनसी रावण के पैरोंपर गिर पडीं। रावण के मुँह से प्रेमवश " **सौभाग्यवती भव** " यह आशीर्वाद स्वाभाविकतया निकल पडा और फिर उसने कुंभीनसी को- जो उसकी इच्छा हो, माँगने का अनुरोध किया। प्रिय पाठक, आपकी क्या कल्पना है कि, कुंभीनसीने रावणके पास क्या माँगा? यदि वह **इन्द्रका ऐश्वर्य, कुबेर की संपदा, अथवा वरुण का अक्षय्य निधि भी मांग** लेती, तो रावण उस को देने के लिए समर्थ था। परंतु कुंभीनसीने इनमें से कुछ भी नहीं मांगा। वह ऐसे किसी ऐश्वर्यादि के लोभ में नहीं पडी और रावण से अत्यंत दीनतापूर्वक प्रार्थना करने लगी—

भर्तारं न ममेहाद्य हन्तुमर्हसि मानद।
नहीदृशं भयं किंचित् कुलस्त्रीणां इहोच्यते॥४२॥
भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत्।
सत्यवाक् भव राजेन्द्र मां अवेक्षस्व याचतीम्॥४३
(उत्तरकांड, सर्ग २५)

अर्थात्- " प्यारे भैया! **मेरे पतिका वध न करो।** कुलस्त्रियोंके लिए सर्व भयों की अपेक्षा **वैधव्य-भय** महाभयानक होता है। अतः मुझे केवल मेरे **सुहागकी भिक्षा** दो और अपना वचन सत्य कर दिखाओ। " रावण ने " एवमस्तु " कहा और कुंभीनसी भी संतुष्ट होकर अपने पतिके पास गई, तथा उसकी रावणके साथ मित्रता भी करवा दी।

अब यहाँ पर सोचना चाहिये कि, रावण तो मधुदैत्य का वध ही करनेके निश्चय से वहाँ आया हुआ था। यदि वह अपने निश्चय के अनुसार मधुदैत्यको मार भी डालता, तो कुंभीनसी की उसमें आर्थिक हानि कौनसी हुई होती? उस के मुख से इच्छा प्रकट होते ही उसे **इन्द्रका ऐश्वर्य** तथा **कुबेर की धनसंपत्ति** मिल सकती थी और रावण भी उसकी इच्छा पूरी करनेके लिये समर्थ था। तथापि उसने सबका लोभ छोड कर केवल **अपने पतिके प्राणों की भिक्षा मांगी**। पतिके प्राण के आगे इन्द्र का ऐश्वर्य तथा कुबेरकी धनसंपत्ति को भी उसने तुच्छ समझा। इस परसे उसका पतिप्रेम कितना गाढ और **कैसा निःस्वार्थ** तथा उच्च था, इसका अनुमान हो सकता है।

केवल **पतिप्रेम** ही के हेतु तथा पतिके प्राण बचानेके लिए, ऐसे महान् राजैश्वर्य तथा अगाध धनसंपत्ति को ठुकरा देनेवाली स्वार्थत्यागिनी स्त्रियाँ जिस राक्षससमाज में उत्पन्न होती हैं, वह राक्षससमाज यदि Barbarian यानि ' बर्बर, ' ' असभ्य ' या जंगली कहलाने के लायक हो, तो फिर, विवाहविच्छेद (divorce) करने पर पूर्वपति की धनसंपत्ति का तीसरा भाग मिलता है, केवल इतने ही तुच्छ धनप्राप्ति के लोभसे पांच वर्ष में सत्रह बार विवाहविच्छेद करके अठारहवीं बार फिर उसी (divorce) के लिए अदालत की सीढी चढनेवाली स्त्रियाँ - (मानो divorce करना यही एक जिनका अर्थोत्पादक व्यवसाय हो गया है, ऐसी स्त्रियाँ) जिस समाज में उन्नत मस्तक करके प्रतिष्ठा के साथ स्वच्छन्द संचार कर सकती हैं, क्या वह पाश्चात्य समाज ' सभ्य ' (Civilised) कहलाने के योग्य है?

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चितरूपसे ध्यान में आ सकता है कि वर्तमानयुगीन अत्युच्च सुधरी हुई पाश्चात्य स्त्रियोंकी अपेक्षा **वानरी और राक्षसी स्त्रियाँ अधिकतर सुसंस्कृता तथा सुशिक्षिता थीं**। सारांश, वानर और राक्षस वर्तमानयुगीन सर्वोन्नत पाश्चात्य लोगोंसे- समाजसुधार में भी बहुत आगे बढे हुवे थे। अतएव वानर और राक्षस (Barbarian यानि) ' बर्बर, ' ' असभ्य ' या ' जंगली ' थे, यह पाश्चात्य विद्वानों का विधान नितान्त मिथ्या है।

अब इसके उपरान्त " **राक्षस और वानर अनार्य**" थे, यह जो पाश्चात्य पंडितों का दूसरा विधान है, इसके मिथ्यात्व का विचार करेंगे।

(क्रमशः)

माताजी से वार्तालाप।

(१२)

[अनुवादक- श्री० मदनगोपाल गाडोदिया।]

क्या योगी सब प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है? विज्ञानमय अवस्था तक पहुंच-शारीरिक परिवर्तन के लिये ध्यान या एकाग्रता- ध्यानद्वारा सफलता पानेकी शर्तें!

="क्या योगी चेतनाकी किसी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो सकता है, जिस अवस्थामें पहुंचकर वह सब कुछ जान सके, समस्त प्रश्नोंका, यहां तक कि सायंस की कठिन समस्याओं का, जैसे कि 'सापेक्षता-वाद' की परिकल्पना के विषय में भी, उत्तर दे सके?"

परिकल्पनात्मक रूपसे और सिद्धांततः यह ठीक है कि योगी के लिये सब कुछ जान लेना असंभव नहीं है, पर सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि, वह योगी कौन है।

ज्ञान ज्ञानमें भेद होता है। मन जिस तरीकेसे जानकारी लाभ करता है, योगी का ज्ञान वैसा नहीं होता। योगी यदि सब कुछ जानता है, तो उसका कारण यह नहीं कि वह यह सब इसलिये जान पाता है, चूंकि हरेक संभावित खबर के अंदर उसका प्रवेश होता है, या चूंकि उस के मन के अंदर विश्वके समस्त तथ्य भरे पडे होते हैं, या चूंकि उसकी चेतना किसी अद्भुत विश्वकोष के जैसी होती है। वह जान पाता है वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियोंके साथ उसकी जो धारणात्मक रूपसे या सक्रिय रूपसे तादात्म्य हो जाने की क्षमता होती है, उसके कारण। अथवा वह इसलिये जान पाता है कि वह चेतनाकी एक ऐसी भूमिका में रहता है या एक ऐसी चेतनाके संस्पर्शमें होता है, जिस में सत्य और ज्ञान स्थित है।

यदि तुम सत्य चेतना में होओ, तो तुम्हें मिलनेवाला ज्ञान भी सत्य का ज्ञानही होगा। इस अवस्था में भी ज्ञेय के साथ अपने को एक करके ही तुम उसके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि तुम्हारे-सामने कोई समस्या उपस्थित की जाय, यदि तुमसे यह पूछा जाय कि, अमुक अवसर विशेषपर क्या करना चाहिये, तो तुम उस विषयपर पर्याप्त ध्यान देकर और एकाग्र होकर उस विषय के आवश्यक ज्ञान और सत्य उत्तर को अनायास प्राप्त कर सकते हो। इस ज्ञान को तुम किसी परिकल्पनाका यत्नपूर्वक उपयोग करके अथवा उस परिकल्पनाको मनोमय प्रक्रियाद्वारा कार्यान्वित करके प्राप्त नहीं करते। इन पद्धतियों की आवश्यकता तो जड वैज्ञानिक मनको ही अपने निर्णयों तक पहुंचने के लिये होती है। परन्तु योगीका ज्ञान तो सीधा और तत्क्षण होता है, वह निगमनात्मक नहीं होता। यदि किसी इंजीनियर को एक मेहराब बनानी हो, तो वह उसके ठीक ठीक स्थान को, उसकी गोलाईकी रेखा और उसके पोले स्थानके कदको नाप-जोखकर ठीक करता है, इस विषय को वह अपनी भौतिक विद्याकी सामग्री को मिला-जुलाकर ठीक करता है। परन्तु योगीको इस तरह की किसी चीज की जरूरत नहीं होती; वह तो उस वस्तुकी तरफ दृष्टि डालता है, अपनी दिव्य दृष्टि से उसके स्वरूपको ग्रहण करता है और वह देख पाता है कि इस चीज को इस प्रकार से करना होगा, केवल इसी प्रकारसे करना होगा और किसी दूसरे प्रकारसे नहीं, और उसका यह देखना ही उसका ज्ञान होता है।

यद्यपि सामान्यतया और किसी अर्थमें यह ठीक है कि, योगी अपनी दृष्टि और चेतनाके क्षेत्रमें से सभी बातोंको जान सकता और सभी प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी प्रश्न ऐसे नहीं होते, जिनका उत्तर देना योगीके लिये कठिन न हो, फिर ऐसे भी प्रश्न हो सकते हैं, जिनका उत्तर देना वह चाहे ही नहीं। जिस योगीको प्रत्यक्ष ज्ञान, वस्तुओंके सच्चे सत्य का ज्ञान प्राप्त है, वह उन प्रश्नोंका, जो सर्वांशतः मानवमनकी ही रचनाओंकी कोटिके होते हैं, उत्तर देनेकी परवाह नहीं करेगा, शायद उसे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें कठिनाई भी हो। यह हो सकता है कि वह वस्तुओंके

केवल मिथ्या और बाह्य स्वरूप से संबंध रखनेवाली तुम्हारी समस्याओं और कठिनाइयोंका हल करना न चाहे या न कर सके। उसके ज्ञानकी क्रिया मनमें नहीं होती और यदि तुम उसके सामने उपर्युक्त प्रकार का कोई फूहड मानसिक प्रश्न करो, तो शायद वह उसका उत्तरही न दे। यह जो आम धारणा है कि जिस प्रकार ऊंचे दर्जेके किसी स्कूल-मास्टर से प्रश्न किया जाता है, उसी प्रकार किसी योगीसे भी तुम जो कोई अज्ञानयुक्त प्रश्न कर सकते अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यकालके किसी भी समाचारको पूछ सकते हो और वह इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये बाध्य है, वह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। यह बात उतनीही बेढंगी है, जितनी कि किसी आध्यात्मिक पुरुषसे यह आशा रखना कि वह कोई ऐसे असाधारण पराक्रम या चमत्कार करके दिखावे, जिनसे साधारण असंस्कृत और बहिर्मुख मनको संतुष्टि मिलती और वह आश्चर्यचकित रह जाता है।

इसके अतिरिक्त "योगी" शब्द बहुत ही अस्पष्ट और व्यापक है। योगी बहुत तरहके होते हैं, आध्यात्मिक अथवा गुह्य तत्त्वोंकी साधनाकी अनेक धाराएं और दिशाएं हैं, और फिर इन साधनोंद्वारा प्राप्त होनेवाली चढती-उतरती अनेक प्रकारकी सिद्धियां हैं। कुछ योगी ऐसे हैं, जिनकी शक्तियां मानसिक भूमिका से ऊपर नहीं होतीं, दूसरे ऐसे हैं जो इस भूमिका से ऊपर उठे हैं। सब कुछ उनकी साधनाकी भूमिका या उसके स्वभावपर, जिस ऊंचाईतक वे पहुंचे हैं, उस पर तथा जिसे चेतनाका स्पर्श उन्हें मिला है अथवा जिस चेतना में उन्होंने प्रवेश किया है, उसपर निर्भर करता है।

="क्या यह ठीक नहीं है कि जड वैज्ञानिक(Scientist) भी कभी कभी मनोमय भूमिका से परे जाते हैं? ऐसा कहा जाता है कि आइनस्टाइनने सापेक्षता-वादकी परिकल्पना का आविष्कार किसी तर्क की प्रक्रियाद्वारा नहीं किया था, बल्कि यह परिकल्पना उन्हें एक सद्यः-प्रेरणा के रूप में प्राप्त हुई थी। क्या इस प्रेरणाका विज्ञान से कोई संबंध था।"

जडविज्ञानकी खोज करनेवाले जिस किसी व्यक्तिको इस तरह की कोई प्रेरणा होती है, जिस के फलस्वरूप वह किसी नवीन सत्य का दर्शन करता है, वह उसको अंतर्ज्ञान देनेवाले मनकी भूमिकासे होती है। इस तरहका ज्ञान तब मिलता है जब कि उसका उस उच्चतर मनोमय भूमिका के साथ जो कि और भी अधिक ऊपर की ज्योति-द्वारा प्रकाशमान होती है, सीधा संबंध हो जाता है और वहां से उसको प्रेरणा मिलने लगती है। परन्तु इस सबसे विज्ञान की क्रियाका कोई संबंध नहीं है और यह उच्चतर मनोमय भूमिका विज्ञानमय भूमिका से कोसों दूर है। औसत अवस्था से जरा ऊपर उठते ही मनुष्य बडी जल्दी यह विश्वास करने लग जाते हैं कि वे पूर्ण भागवतक्षेत्रों में पहुंच गये। साधारण मानव मन और विज्ञान के बीच अनेक अवस्थाएं, अनेक स्तर और अनेक भूमिकाएं हैं। यदि कोई साधारण कोटिका आदमी इन मध्यवर्ती भूमिकाओंमेंसे किसी एकके भी सीधे संपर्क में आ जाय, तो वह चौंधिया जायगा और उसकी आंखें वहां के प्रकाश में अंधी हो जायंगी, वह वहांकी विशालताके भानके बोझके नीचे कुचलसा जायगा अथवा अपने संतुलन को गंवा देगा, और फिर भी वह अभीतक विज्ञानलोकसे दूर ही होगा।

योगी सभी बातों को जान सकता है और सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, इस साधारण धारणा के पीछे जो असली तथ्य है वह यह है कि, मनके अंदर एक ऐसा स्तर है जहां समस्त वस्तुओं की स्मृति संगृहीत हुई रहती है और वह सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवन में होने वाली समस्त मानसिक क्रियाएं इस स्तर में स्मृतिगत और अंकित की जाती हैं। जिन लोगों में वहांतक पहुंचने की क्षमता है और जो वहां तक जाने का कष्ट उठाना चाहते हैं, वे वहां के बहीखातों में दर्ज किसी भी चीजको बांच और जान सकते हैं। परन्तु इस क्षेत्र को विज्ञानमय भूमिका समझ लेनेकी भूल नहीं करनी चाहिये। और फिर भी यहां तक पहुंचने के लिये भी तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मनको निश्चल और नीरव कर लेना होगा, तुम्हें इस योग्य बन जाना होगा कि तुम अपने समस्त संवेदनों को एक किनारे रख सको और अपनी साधारण मनोमय क्रियाओंको, फिर चाहिये वह कैसी भी क्यों न हों, बंद कर सको, तुम्हें अपने प्राणके दायरेसे बाहर निकल आना होगा; तुम्हें अपने शरीर की गुलामी से मुक्त हो जाना होगा। ऐसा होने परही तुम इस क्षेत्र में प्रवेश पा सकोगे,

तथा वहां जो कुछ है, उसको देख सकोगे । पर यदि तुम इस प्रयास को करने के लिये पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहां पहुंच सकते हो और पृथ्वीकी स्मृति में जो कुछ लिखा हुआ है उसे बांच सकते हो ।

इस प्रकार यदि तुम अपने अंदर की गहराई में उतरो और वहां की निश्चल-नीरवता में पहुंच जाओ, तो तुम चेतना की एक ऐसी भूमिका को प्राप्त कर ले सकते हो, जहां पर तुम्हारे लिये यह असंभव नहीं है कि तुम अपने सभी प्रश्नों का उत्तर पा लो । और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो विज्ञानलोक के पूर्ण सत्य के प्रति सचेतन रूपसे उद्घाटित हो, उसके साथ उसका सतत संपर्क हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवाल का उत्तर दे सकता है, जो विज्ञानलोक के प्रकाशसे उत्तर दिये जाने लायक हो। ऐसे व्यक्तिसे किया जानेवाला प्रश्न अवश्य ही इस तरह का होना चाहिये कि वह वस्तुओं के पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है, उससे सम्बन्ध रखता हो। बहुतसे प्रश्न और विवादग्रस्त समस्याएं ऐसी होती हैं, जिनको मन मकडी के जाले की तरह बुनकर तैयार करता है और वे वस्तुओं के मिथ्या पार्श्वसे ही सम्बन्ध रखती हैं । इनका वास्तविक ज्ञान से संबंध नहीं होता, ये तो ज्ञान की एक विकृति मात्र होती हैं, उनका सब ताना बाना ही अज्ञानका होता है। अवश्य ही मन के अज्ञानद्वारा उपस्थित की हुई समस्याओं का भी उत्तर विज्ञानमय ज्ञान दे सकता है, पर यह उत्तर उसका अपना उत्तर होगा और बहुत संभव है कि, मनकी भूमिका से प्रश्न करनेवाले व्यक्तियोंको यह जरा भी संतुष्ट न कर सके अथवा यह भी हो सकता है कि, यह उनकी समझ में ही न आवे । मनकी तरह ही विज्ञान भी काम करे, ऐसी तुम्हें आशा नहीं करनी चाहिये और न तुम्हारी यह मांग ही होनी चाहिये कि सत्य चेतनामें रहनेवाले ज्ञानको इस योग्य होना चाहिये कि उसे अज्ञान में रहनेवाले अर्धज्ञानके साथ टांका जा सके। मनकी आयोजना एक बात है, लेकिन विज्ञान बिलकुल दूसरी ही बात है और यदि वह मानसिक आयोजना की मांगके अनुसार अपने-आपको बना ले, तो उसकी विज्ञानमयता ही जाती रहे। ये दोनों इतने भिन्न हैं कि ये एक ही माप से मापे जाने के लायक नहीं हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते।

="चेतना जब विज्ञान के आनन्द को प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह मनके व्यापारों में दिलचस्पी लेना बंद कर देती है?"

मानसिक व्यापारों में विज्ञान उसी प्रकार से दिलचस्पी नहीं लेता जैसा कि मन लेता है। विश्वकी समस्त गतियों में ही उसके अपने ढंग की दिलचस्पी होती है, किंतु यह एक भिन्न दृष्टिबिंदु से होती है और एक भिन्न चक्षुद्वारा होती है। उसकी दृष्टिके सम्मुख जगत् का रूप बिलकुल दूसरे ही प्रकार का दीखने लगता है। यहां पर दृष्टिकोण पलट जाता है और इस भूमिका परसे सभी चीजें जैसी कि मनसे नजर आया करती है, उससे दूसरेही प्रकारकी, बल्कि बहुधा बिलकुल उससे विपरीत तक नजर आती हैं। यहां पर वस्तुओंका अर्थ ही बदल जाता है; उनका पहलू, उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषय का सभी कुछ दूसरी ही आंखों से देखा जाता है। यहांपर सब कुछ के पीछे विज्ञान रहता है; मनकी गतियोंमें, उसी प्रकार प्राण और स्थूल भौतिक गतियों में भी, इतनाही नहीं बल्कि विश्वकी समस्त लीलामेंही विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किंतु उसकी वह दिलचस्पी एक दूसरेही प्रकार की होती है। मन और विज्ञान की दिलचस्पियोंके भेद को कठपुतलियोंके खेलके दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। कठपुतली के खेलमें एक तो उसकी दिलचस्पी होती है, जो कठपुतलियों की बागडोर अपने हाथमें रखता है और यह जानता होता है कि इन कठपुतलियोंको क्या करना है, उस इच्छा को जानता होता है जो उन्हें घुमाती है, और वह यह भी जानता होता है कि केवल उस इच्छा के अनुसार ही वे हिलडुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है, जो इस खेल का दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण--क्षणेपर बदलते जानेवाली घटनाओंकोही देखता है, अन्य कुछ भी नहीं जानता।

जो व्यक्ति खेलका दर्शक होता है और उसके रहस्योंसे अनजान होता है, उसकी खेलमें घटनेवाली घटनाओं के प्रति जो दिलचस्पी होती है, वह अधिक तीव्र उत्सुकतापूर्ण और आवेशमय होती है और वह उसकी अभीतक अज्ञात नाटकीय घटनाओं को उत्तेजनापूर्ण कौतूहल के साथ देखता है, किंतु दूसरा, जिसके हाथमें खेल की बाग-

डोर है और जो तमाशे का संचालक है स्थिर और शांत रहता है। दिलचस्पी की एक ऐसी प्रखरता या प्रगाढता होती है, जो अज्ञान से ही आती है और वह भ्रमके साथ जुडी हुई होती है और जब तुम अज्ञान से बाहर निकल आते हो, तब यह भी जाती रहती है। वस्तुओं के प्रति मानव-प्राणियोंकी जो दिलचस्पी होती है, उसकी स्थापना भ्रमपर होती है और यदि भ्रम हटा दिया जाय, तो फिर इस लीलामें उनको कोई दिलचस्पी रहेगी ही नहीं, उन्हें यह रूखी और नीरस लगेगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान और भ्रम इतने दिनों तक टिका रह सका है; यह इसलिये है कि मनुष्य इसे पसंद करते हैं और इससे तथा इसमें जो उन्हें एक विशिष्ट रस मिलता है, उससे वे चिपके रहते हैं।

="जो कोई अपनी शारीरिक अवस्था को परिवर्तित करना, किसी रोगका निवारण करना अथवा किसी शारीरिक अपूर्णताको दूर करना चाहता हो, तो उसे क्या करना चाहिये? क्या उसे अपने प्राप्य लक्षके प्रति तन्मय हो जाना चाहिये और अपने कार्यकी पूर्तिके लिये अपनी संकल्पशक्ति का प्रयोग करना चाहिये अथवा उसे केवल इस दृढ विश्वास में निवास करना चाहिये कि, यह सब होही जायगा या यह भरोसा रखना चाहिये कि, भागवत शक्ति अपने समयपर और अपने तरीके से वांछित परिणामको लेही आवेगी?"

ये सभी उस एकही कामको करनेके अनेक उपाय हैं और अवस्थाविशेष के अनुसार प्रत्येकही फलदायक हो सकता है। तुम किस पद्धतिका उपयोग कर अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त कर सकोगे यह बात इसपर निर्भर करती है कि तुमने कौनसी चेतना को विकसित किया है अथवा तुम जिन शक्तियों को कार्यक्षेत्रमें उतार सकते हो, वे कौनसी हैं। तुम यह कर सकते हो कि तुम उस चेतनामें रहने लगो, जहां रोग दूर हो चुका है या उसका पूर्ण परिवर्तन हो चुका है और इस प्रकार तुम्हारा जो आंतरिक गठन बन जायगा, उसकी शक्तिद्वारा तुम यह कर सकोगे कि धीरे-धीरे तुम अपने बाह्य परिवर्तन को भी सिद्ध कर लो। अथवा यदि उस शक्तिको तुम जानते हो और उसका तुम्हें दर्शन हो चुका है, जो ऐसे कार्यों को सिद्ध कर सकती है, और यदि तुम्हें उस शक्तिका उपयोग करनेकी कुशलता प्राप्त है तो तुम उसका आवाहन कर सकते हो और जिन अंगोंमें उसकी क्रिया की आवश्यकता हो, वहां उसका उपयोग कर सकते हो और वह उस परिवर्तन को कार्यान्वित कर देगी। अथवा तुम यह कर सकते हो कि तुम अपनी कठिनाई को भगवान्के सामने, भागवत शक्ति में विश्वासपूर्ण भरोसा रखते हुए, उपस्थित कर दो और उनसे पूछो कि तुम्हारे रोगका इलाज क्या है।

परन्तु तुम जो कुछ भी करो, तुम किसी प्रक्रियाका उपयोग करो, फिर चाहे उस प्रक्रिया का उपयोग करनेमें तुम्हें बडा भारी कौशल या सामर्थ्यही क्यों न प्राप्त हो गया हो, तो भी उसका जो फल होगा, उसको तो तुम्हें भगवान्के हाथोंमेंही छोड देना चाहिये। सदा प्रयत्न करते रहना तुम्हारा काम है, किंतु उस प्रयत्न के फल को देना या न देना, यह भगवान् का काम है। अब यहांपर आकर तुम्हारी अपनी ताकत बन्द हो जाती है और यदि कोई परिणाम होता है, तो उसको तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं बल्कि भागवतशक्ति लाती है। तुम्हें क्या इस बातकी शंका है कि भगवान् से इन सब चीजों को मांगना उचित है या नहीं। परन्तु यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिये भगवान् से प्रार्थना करनेमें कोई बुराई नहीं है, तो फिर किसी भौतिक अशुद्धि या अपूर्णता को दूर करनेके लिये भगवान् की ओर मुंह करना उससे कुछ अधिक बुरा नहीं है। परन्तु तुम जो कुछ भी मांगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब कि तुम अपनी भरपूर चेष्टा कर रहे होओ, फिर चाहे इस चेष्टामें तुम ज्ञान का प्रयोग करते होओ या शक्तिका, तुम्हें यह सदा अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की कृपापर निर्भर करता है। एक बार यदि तुमने इस योगमार्ग को स्वीकार कर लिया है, तो फिर तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहिये। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये- "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करना चाहता हूं, मुझ से जो कुछ हो सकता है, वह मैं करता हूँ, किंतु इसका जो फल होगा, उसके लिये मैं अपने आपको संपूर्ण रूपसे भगवान् के हाथोंमें सौंपता हूँ।"

=" यदि कोई ऐसा कहे कि, 'मुझे परिणामके विषयमें निश्चय है, मैं इस बातको जानता हूँ कि जो मैं चाहता हूँ,

उसे भगवान मुझे देंगे' तो क्या इससे कोई सहायता मिलती है ?"

इस बातको तुम इस रूपमें ले सकते हो । तुम्हारी श्रद्धा की तीव्रता या अटलता का ही यह अर्थ हो सकता है कि भगवान् ने यह निर्धारित कर रखा है कि तुम्हारी श्रद्धा जिसका निर्देश करती है वह अवश्य पूर्ण हो। अचल श्रद्धा भागवत संकल्प के विद्यमान होनेका चिन्ह होती है, जो कुछ होनेवाला है, उसकी निदर्शिका होती है ।

="जिस समय कोई निश्चल-नीरव ध्यानावस्था में होता है, उस समय उसके अन्दर कौनसी शक्तियां काम कर रही होती हैं ?"

यह बात ध्यान करनेवाले व्यक्तिपर निर्भर करती है ।

="परन्तु क्या निश्चल-नीरव ध्यान की अवस्थामें साधक अपने-आपको पूर्ण रूपसे शून्य नहीं कर देता ? तब फिर कोई भी बात उसपर कैसे निर्भर कर सकती है ?"

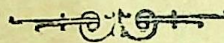
यदि तुम अपने-आपको संपूर्णरूपसे शून्य भी कर डालो, तो भी इससे तुम्हारी अभीप्सामें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका कार्यक्षेत्र नहीं बदलता । किसी की अभीप्सा मानसिक भूमिकाओंपर अथवा प्राणके क्षेत्रों में कार्य करती होती है; किसी की अभीप्सा आध्यात्मिक होती है । जिस जातिकी तुम्हारी अभीप्सा होगी, वैसी ही शक्ति उसका उत्तर देगी और उसी तरह का काम वह शक्ति आकर करेगी । ध्यान के समय अपने-आपको शून्य कर लेनेसे यह होता है कि तुममें एक आंतरिक निश्चल-नीरवता पैदा हो जाती है; इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारा व्यक्तित्व आस्तित्वविहीन हो गया अथवा तुम कोई निर्जीव या जड वस्तु बन गये । तुमने अपने-आपको खाली करके रिक्त पात्र कर लिया, तो इसका यह मतलब हुआ कि तुमने उस वस्तु का आवाहन किया, जो आकर उस रिक्त स्थान को भर देगी; अर्थात् तुमने अपनी आंतरिक चेतना के दबाव को सिद्धि की ओर कर दिया । तो तुम्हारी चेतना के स्वभावपर और उसका दबाव कितना है, इसपर यह निर्भर करता है कि किन शक्तियों को तुम कार्यक्षेत्रमें उतारकर ला सकोगे और यह कि वे शक्तियां तुम्हारे कार्य में सहायता पहुंचावेंगी और उसको सफल करेंगी या तुम्हारे कार्य को विफल करेंगी अथवा यह कि वे तुम्हारे कार्यमें हानि करनेवाली और बाधा पहुंचानेवाली भी हों ।

जिन अवस्थाओंके अंतर्गत तुम ध्यान न करने बैठते हो, वे अनेकविध होती हैं और उन सभी अवस्थाओंका अन्दर की ओर या नीचे की ओर उतार लायी गयी शक्तियोंपर तथा उनके कार्यपर प्रभाव पडता है । यदि तुम अकेले ध्यान करने बैठो, तो तुम्हारी आंतर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी । और यदि तुम दूसरोंके साथ मिलकर ध्यान करने बैठो, तो फिर मुख्य बात यह होगी, वहांकी सार्वजनिक अवस्था । परन्तु इन दोनोंही दशामें अवस्थाएं सदा बदलती रहेंगी और जो शक्तियां उनका उत्तर देंगी वे कभी भी दुबारा वे ही न होंगी । उचित रूपमें की गई सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति बन जा सकती है । ऐसी एक प्राचीन कहावत है कि "यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्सा को एक करके भगवान् को पुकारें, तो भगवान् प्रकटे बिना न रह सकेंगे । "

परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, उनकी अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये । कारण यह हो सकता है कि, इस प्रकार का प्रयास करनेवाले किसी प्रकार की जडता के वश अथवा किसी भ्रांत या विकृत इच्छा के कारण एक हो गये हों और ऐसी अवस्थामें प्राप्त होनेवाले परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं ।

ध्यान के समय जो पहली और अनिवार्य आवश्यकता है, वह यह कि तुम्हारी समस्त चेतना पूर्ण और नितान्त सचाई की अवस्था में हो । यह अपरिहार्य है कि तुम अपने-आप को धोखा न दो और न दूसरे को धोखा दो या दूसरे के धोखे में आओ । बहुधा लोगों को कोई कामना होती है, कोई मनकी पसंद या प्राण की वासना होती है; वे चाहते हैं कि उन के ध्यान में होनेवाली अनुभूति किसी विशिष्ट रूपमें हो अथवा वह कुछ ऐसा मार्ग ले, जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसंदोंको संतोष हो; वे रिक्त और निष्पक्ष होकर नहीं रहते और यह नहीं करते कि जो कुछ घटना घटे, उसे केवल सचाई के साथ साक्षीरूपसे देखते रहें । ऐसी अवस्थामें यदि ध्यान के समय घटनेवाली घटना तुम्हें पसंद न हो, तो तुम्हारे लिये अपने-आपको धोखा देना सहज हो जायगा । तुम देखोगे तो कोई और चीज, किंतु उसको थोडासा तोड मरोड के कोई दूसरी ही चीज बना डालोगे अथवा तुम यह करोगे कि, किसी सहज और स्पष्ट वस्तु को विकृत कर

डालो या उसको किसी असाधारण अनुभूति में बढा चढा डालो। तुम जब ध्यान करने बैठो, तब तुम्हें एक बालक की भांति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मनको किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए, कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, किसी तरह का हठ नहीं करना चाहिये। यदि यह अवस्था हो जाय, तो बाकी सब कुछ तुम्हारी अंदरकी अभीप्सापर निर्भर करेगा। यदि तुम अंदरसे शांति मांगोगे, तो वह मिलेगी; यदि बल मांगोगे, शक्ति मांगोगे, ज्ञान मांगोगे, तो वे भी मिलेंगे,- किन्तु ये सब-के-सब प्राप्त होंगे तुम्हारी ग्रहण करनेकी शक्ति के परिमाणमें। और यदि तुम भगवान् का आवाहन करो,- सदा यह स्वीकार करते हुए कि भगवान् तुम्हारे आवाहन को सुनने के लिए सदा तैयार रहते हैं और इस का यह अर्थ हुआ कि यदि तुम्हारा आवाहन उन तक पहुंचने के लिए पर्याप्तरूपसे शुद्ध और बलवान् है,- तो तुम्हें उसका उत्तर अवश्य मिलेगा।



आनन्दमय भगवान्‌की आनन्दमयी सृष्टिमें

यह असन्तोष क्यों ?

अवतारवादपर विचार ।

[लेखक— पं० रामचंद्रजी, अंबालाशहर]

सब ही ईश्वरवादी धर्म अवतारवाद को किसी न किसी रूपमें मानते हैं, क्योंकि इसकी तह में आस्तिक भाव है कि मनुष्य की आत्मिक उन्नति का भी ईश्वर ऐसा ही प्रबन्ध करता है, जैसा कि वह उसके भौतिक जीवन का करता है। जिस तरह मनुष्यके भौतिक जीवनके वास्ते उसने जल, वायु, अग्नि आदि अनेक भौतिक साधन उत्पन्न किये हैं; इसी तरह वह अवतार, पैगम्बर आदि की सूरत में उसकी आत्मिक उन्नति का भी प्रबन्ध करता है। परन्तु हिन्दू धर्म में इस सिद्धान्त की एक विशेष महिमा है। पाठक-वृन्द मेरा पक्षपात छोडकर इसपर विचार करें।

'अवतार'का अर्थ- अवतारः (अव+तृ- करणे घञ्) के अर्थ है- (१) **अवतरणं** अवतारः अर्थात् नीचे उतरना। (२) **अवतरति यः सः अवतारः**- अर्थात् वह जो उतरता है। (३) **अवतरति विशुद्धस्वरूपेण ईश्वरीयगुणः यस्मिन् स अवतारः**। वह व्यक्ति जिसमें प्रभुकी विभूति विशेष रूपसे उतरी हो। (४) **अवतारयति यः स अवतारः**। जो दूसरोंको संसार-सागरसे उतारे। हिंदू धर्म का शब्द अवतार इन चारोंही अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है।

भगवान् साधारण रूपसे सर्वत्रही व्यापक हैं +। परन्तु कभी कभी ऐसे व्यक्तिविशेष भी देखे गये हैं, जिनके भीतर ईश्वरीय सत्ता का प्रकाश विशेष रूप से प्रकाशित प्रतीत होता है। सूर्य वैसे तो साधारण तथा सबही चीजोंपर पडता है, परन्तु बाजी वस्तुएँ ऐसी हैं कि उनपर उसका प्रकाश प्रतीत भी नहीं होता; और बाजी ऐसी हैं कि जो स्वयं भी सूर्य-प्रकाश से जगमगा जाती हैं और दूसरों को भी अपने प्रकाश से जगमगाती हैं। यह सूर्य-प्रकाश का ग्रहण, वस्तुओंकी सफाई, स्वच्छता, निर्मलता और प्रकाश ग्रहण करनेकी सत्तापर निर्भर है। सूर्य-प्रकाश तो सब वस्तुओंपर एक जैसा पडता है, परन्तु प्रत्येक वस्तु लेती है उसको उतनाही जितनी उसकी सामर्थ्य है। इसी तरह जो आत्माएँ अत्यन्त शुद्ध, निर्मल और स्वच्छ हो जाती हैं, वह विशेष रूपमें ईश्वरीय गुणों को धारण कर लेती हैं। उन महान् आत्माओं को अवतार या पैगम्बर, आदि नामों से पुकारा जाता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई मुक्तात्मा जिनको कारक पुरुष कहते हैं, मर्त्य-लोक-वासियोंपर तरस खाकर स्वेच्छासे या भगवान् की प्रेरणा से, मर्त्य लोकमें आकर मर्त्य-लोक-वासियोंको धर्मपथ दिखाती हैं और अधर्म को दूर करके धर्म को पुनः स्थापित करती हैं। ऐसे ऐसे महानुभाव धर्मसंशोधक (Reformers) सभी धर्मों और देशोंमें पाए जाते हैं। परन्तु विशेष महत्व का अवतरण वह है कि जिसमें भगवान् स्वयं किसी न किसी रूपमें प्रकट होकर बिगडी हुई धर्मप्रथाका पुनः जीर्णोद्धार करते हैं। भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् ईसामसीह ऐसेही अवतारों में गिने जाते हैं। भगवान् कृष्णने तो स्वयं यह कहा है—

> **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
> **अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥**
> **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
> **धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥**

उपरोक्त सिद्धान्त दुनिया के सभी बडे बडे धर्मों में मान्य है।

हजरत मुहम्मद साहेब एक जगह कहते हैं कि प्रत्येक शताब्दीके आरम्भमें ईश्वर मर्त्यलोकवासियोंके हितके लिये किसी ऐसे महान् पुरुषको भेजता है जो धर्ममार्ग दिखावें।

+ यह भगवान् का व्यापक होना और सृष्टि रचना एक प्रकार का अवतरणही है। अर्थात् 'कूटस्थ' की उच्च अवस्था से सृष्टि में उतरना। अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामें आना अवतरणही है। देखो, पुरुषसूक्त (ऋ० मं० १०, सू० ९०) इसमें यह दर्शाया है कि पुरुष- प्रभु ही सब सृष्टि के अन्दर अवतरण हुआ है। तथा देखो (बृ० उ० २।५।१२)

*

At the beginning of each hundred years,
God will raise up, for peoples of the earth,
Some one to make religion fresh for them,
(Quoted from the Unit of all Religions, p. 108)

So says Budha- " In due time another Budha will rise. He will be known as Maitraya "

Jesus says- "I will come again, receive you unto myself, that where I am, you be also."
(The Place of Christianity in the World.)

" The High Emperor of the sombre heaveas, descends to earth ... hundreds... (upon) hundreds of times, to become the companion of common people & teach them the truth...... to heal the sick...to endure suffering patiently, give his life again & again, that his pain may be a spring of joy & righteousness to many hearts."

यह भाव गीता के "यदा यदा हि धर्मस्य" वाले श्लोक से बहुत ही मिलता जुलता है। यह भाव इसलाम धर्म में भी प्रकट किया गया है। एक सूफी कहता है—

नुह गुफ्त अब सरकशाँ। मन, मन नयम्।
मन जे जाँ मुर्दम् जे जानाँ में जियम्॥

हजरत नूहने कहा है- अविश्वासियों! विश्वास करो कि मैं, मैं नहीं हूं। विश्वास करो कि मेरा क्षुद्रात्मा (जीवात्मा) बहुत देरसे नष्ट हो गया। अब विश्वात्मा मेरे अन्दर बोलता है।

एक और तरह से भी ईश्वरका अवतरण सिद्ध हो सकता है। सब मुसलमान मानते हैं कि कुरानशरीफ वही के तौरपर मुहम्मद साहेब के ऊपर उतरी। अब जरा सोचें कि यह 'वही' का उतरना क्या अर्थ रखता है? यदि यह कहें कि कुरान शरीफ एक पुस्तक की सूरतमें पार्सल बन्द होकर आई, तो इसको न वह ऐसा मानते हैं और न कोई बुद्धिमान् ऐसा कह सकता है। और यदि यह मानें कि खुदावन्द करीमने मुहम्मद साहिब के कानमें कुछ सुना दिया, तो इसमें यह दोष आसकता है कि सम्भव है कि मुहम्मद साहिब उस आदेश को ज्योंका त्यों न दोहरा सके हों। अतः इस दोष को दूर करनेके लिये यह मानना पडेगा कि मुहम्मद साहिब के मुख द्वारा खुदावन्द करीम ने स्वयं कुछ बोला होगा जिस तरह कि फोनोग्राफ के रिकार्ड द्वारा कोई गानेवाला बोलता है और यही बात सब समझदार मुसलमान मानते हैं। यथा—

गर्चे कुरआँ अज् लेब पैगम्बर अस्त।
हर्के गोयद हक न गुफता, काफिरेस्त॥

अगर्चे कुरानशरीफ पैगम्बर साहिब की जबानसे निकली, परन्तु जो यह कहता है कि उसका बोलनेवाला खुदा नहीं था, वह काफिर है। अब सोचिये, ऐसा माननेमें खुदा का मुहम्मद साहिब की जबाँ पर अवतरण नहीं तो और क्या है? यही नहीं बल्कि कुरानशरीफ में एक जगह यह भी लिखा है कि खुदा विविध देशोंमें अपना सन्देश सुनानेके लिये रसूलों को भेजते हैं—

व मा अरसल्ना मिहरसूलिन् बि-लेस्सा नी कौमेहि। व कजलिक औ है ना इलैके कुरानन अैरबिपललेनु जेरा उम्मलकोरा व मन हौलाहा। व लड ज अलनहो कुरानन अनमियल लाकल। ल ओ ल फुस्सीलन अयातोह।

अर्थात् "प्रत्येक जाति के पास गुरु (उस्ताद) रसूले भेजे जाते हैं ताकि वह उनको उनकी भाषामें शिक्षा दें। निस्सन्देह अरबी भाषा में कुरान उन लोगोंके वास्ते है जो अरबी जानते हैं। यदि खुदा प्रत्येक भाषामें उनके वास्ते हिदायत न करते तो यह उनके साथ अन्याय होता।"

वैदिक मतानुयायी भी यही कहते हैं कि ब्रह्माजीके या चार ऋषियोंके द्वारा प्रभुने वेदज्ञान मनुष्योंको दिया है।+

+ यहां दो पक्ष हैं, एक वेदज्ञानका अवतरण ब्रह्माजी द्वारा, दूसरा- चार ऋषियों द्वारा मानते हैं। हमें यहां इस बहस में पडनेकी जरूरत नहीं कि कौनसा पक्ष सत्य है। हमने दोनों ही विधानों का निकट कर दिया है। हमारा मतलब केवल यही है कि चाहे भी कोई पक्ष मानो, उसमें ईश्वरका ही अवतरण विवश होकर मानना पडेगा।

यह 'देना' भी उसी तरह बन सकता है जिस तरह कुरानशरीफ का। यदि यह मानें कि प्रभुने अपना ज्ञान ऋषियों या ब्रह्माजीके हृदयोंमें डाल दिया तो यह कहना बनता नहीं। ज्ञान कोई साकार वस्तु नहीं जो किसी के हृदयमें डाला जाय। साथही ज्ञान और प्रभु दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं। प्रभु तो ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमय, ज्ञानघन है। ऐसा नहीं हो सकता कि वह आप तो कहीं बैठा रहे और अपना ज्ञान किसी डब्बेमें डालकर कहीं भेजे। यह ख्याल तभी तक हमको सूझते हैं जबतक कि हम शब्दों के अन्दर नहीं घुसते अर्थात् उनका मर्म नहीं पकडते। बस, ईश्वरका वेदों को किसी मनुष्यविशेष को देना यही अर्थ रखता है कि ईश्वर जो ज्ञानस्वरूप है, स्वयं उसके हृदय में आकर उसके मुख द्वारा बोले। अब देखिये बुद्ध मत क्या कहता है—

"They call me Goutama, who have no faith, in what I say; but who do believe as the Enlightened One, the Budha, they call me the teacher & the blessed one, and this is right, for even in his life have I passed Nirvana, & the being of Goutama has been extinguished.+"

बाइबल भी इस बातको स्पष्टतया कहती है।

"Believest thou not that I am in the Father & the Father in me? The words that I speak unto you, I speak not of myself, but Father that dwelleth in me, doeth the works."

अर्थ— क्या तुमको विश्वास नहीं कि मैं पिता (ईश्वर) में हूं, और पिता मुझमें? शब्द जो मैं बोलता हूं, वह मैं नहीं बोलता, बल्कि वह पिता जो मुझमें वास कर रहा है, बोलता है। वही इस सब कामोंको कर रहा है।

इन सब उपरोक्त कथनों का यही अभिप्राय है कि ईश्वर का अवतरण सब ही धर्म स्वीकार करते हैं यद्यपि इनमें से कई एक इसको 'अवतार' का शब्द नहीं देते।

अब हम कई एक शंकाओं का समाधान कर के फिर पौराणिक मतानुसार अवतारविषयपर प्रकाश डालेंगे। क्योंकि हम समझते हैं कि पौराणिकों से अधिक किसीने इस विषयपर विचार नहीं किया।

प्रथम शंका यह है कि क्या ईश्वर का अवतार गर्भ में आकर होता है या वैसे ही? यदि वह गर्भमें आता है तो क्या उसको भी साधारण जीवोंकी तरह गर्भका कष्ट सहना पडता है? और क्या ईश्वर जो अजन्मा है, गर्भ में आकर जन्म ले सकता है? और जो ऐसा कहता है तो फिर ईश्वर को अज, अमर, अजर कहना व्यर्थ ही हुआ!

इन शंकाओंका समाधान इस तरह है कि ईश्वर विना गर्भ में आए हुए भी अपने सत्व को किसी शुद्ध अंतःकरण में अवतरण कर सकता है। उसको अंशावतार कहते हैं। ऐसे ऐसे अंशावतार बहुधा देखने और सुननेमें आते हैं। फ्रांस देशकी लेडी जेन ग्रे जो एक ऐतिहासिक व्यक्ति है, इसका एक उदाहरण हो सकती है। कई बार ऐसा होता है कि जब कोई महात्मा कोई पुस्तक लिख रहा है या व्याख्यान दे रहा है, उस समय उसकी लेखनी और उसकी जबान स्वयंहि चलती हुई प्रतीत होती है। उसको पीछे जाकर यह मालूम होता है कि मैं नहीं जानता कि यह शब्द किस तरह मेरी लेखनी या मुख से निकले। स्वा० रामकृष्ण-परमहंस, स्वा० विवेकानन्द, स्वा०रामतीर्थ, श्री० अरविन्द घोषादि महानुभावों के लेख या कथन ऐसेही प्रतीत होते हैं। इनको Inspired talks, or Divine talks, दिव्य सन्देश कह सकते हैं। हां, यह आवेश अंतःकरणकी योग्यता तथा सामयिक आवश्यकतानुसार ही होता है। दूसरे देशों या धर्मों में भी ऐसे ऐसे आविष्कार सुनने में आये हैं।

और यह सिद्धांत वैज्ञानिक रीत्यानुसार भी सिद्ध किया जा सकता है। जब कोई अंतःकरण सांसारिक वासनाओं, तृष्णाओं, और संगों से सर्वथा शुद्ध हो जाता है, तो उस अंतःकरणावच्छिन्न व्यक्ति का आत्मा स्वरूप में अवस्थित होता है। स्वरूपावस्था और ऐश्वर्यावस्था एक ही बात है।

+ जिनको मेरे कथन में विश्वास नहीं वह मुझे गौतम जानते हैं। परन्तु वह जो विश्वासी हैं मुझे गुरु (भगवान्) समझते हैं। क्योंकि मैं इसी जीवनमें निर्वाणपद (परमपद)को प्राप्त हो गया हूँ और गौतमका शरीर लय हो चुका है।

अर्थात् उस समय उस शुद्ध अंतःकरणपर ईश्वरका अवतरण बडी आसानीसे हो सकता है।

इसके अलावा गर्भमें भी अवतरण होता है। यह किसी घटनाविशेष के कारण होता है। यह भी दो प्रकार का, अंशावतार या पूर्णावतार। अंशावतार में ईश्वर के किसी अंश का अवतरण होता है, और पूर्णावतार में पूर्णांश का।

और यह कहना कि गर्भ में आकर भगवान् को गर्भ का दुःख होना होगा, ठीक नहीं। भला जो स्वयं आनन्द-स्वरूप है, रसस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, उसको दुःख कैसा? हम लोक बडी भूल करते हैं जो आत्मिक भूमिकाको जैवी भूमिका के साथ मिला देते हैं।

गर्भका या कोई भी दुःख उन मनुष्यात्माओं को नहीं होता जो भक्ति और ज्ञान द्वारा आत्मिक भूमिका (Spiritual plane) में चढ गये। प्रह्लादका पहाडसे गिराया जाना, अग्नि में जलाया जाना, सुकरात का जहर का प्याला पीना, मनसूर का सूली पर चढाना, हकीकतका तलवारके नीचे शिर देना, अनेक शीख गुरुओंका शरीरको टुकडे टुकडे कटवा देना इत्यादि अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वह महानुभाव सुखदुःखभूमिकासे ऊपर उठवाए थे। प्रह्लादने क्या ही अच्छा कहा है!

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकानि
भयानि सर्वाणि अपयान्ति तात॥

भला जब एक सच्चा प्रह्लाद ऐसा कह सकता है तो भगवान्के सम्बन्धमें यह कल्पना करना कि उनको गर्भ का दुःख होता है, इस रहस्यसे अनभिज्ञता ही सूचित करना है। क्या हम यहां इस भौतिक भूमिकापर/नहीं देखते कि एक डिपटीकमिश्नर साहिब के और एक कैदी के जेलमें जानेमें कितना अन्तर है? कैदी एक कैदीके हैसियत में जाता है और अफसर, अफसरकी। अतः यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

अब रही यह बात कि अज, अमर, अजर, परमेश्वर का जन्म लेना बनता नहीं। तो इसका समाधान यह है कि भगवान् कृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं—

जन्म कर्म च दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(अ० ४।९)

"हे अर्जुन! जो मनुष्य मेरे इस दिव्य (mysterious अनोखे) जन्म और कर्म को तत्वतः समझ जाता है फिर यह देह को छोडकर पुनः जन्ममें नहीं आता, बल्कि मुझ को प्राप्त होता है।" पाठक इस प्रभावशाली तथा आशापूर्ण शब्दोंपर ध्यान दें।

यदि कोई कहे कि हम इस गीता के वचन को नहीं मानते, तो यह वेदविरुद्ध है। हम उनको संतोष देनेके लिए कुछ वेद के प्रमाण भी देते हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अंतरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजु० ३१।१९)

अर्थ— (प्रजापतिः) सब प्रजाओं का पालक, (गर्भे अन्तः चरति) गर्भके अन्दर विचरता है। यह (अजायमानः) कभी न जन्म लेनेवाला भी है, तोभी (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। (धीराः तस्य योनिं परिपश्यन्ति) धीर अर्थात् वह जिनकी बुद्धि आत्मिक भूमिका में रमण करती है, उसके मूल स्थान अर्थात् उसकी स्वरूपावस्था को ही देखते हैं। (तस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसी में सब भुवन स्थित हैं। और भी देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अंतः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥+
(यजु० ३२।४)

+ यही देव सब दिशोपदिशाओं में है। वह (पूर्वः जातः) पहिले हुआ और फिर (स उ गर्भे अन्तः) वही गर्भमें आता है। (स एव जातः स जनिष्यमाणः) वही पहिले हुआ और भविष्य में होनेवाला है। (प्रत्यङ् जनाः तिष्ठति सर्वतोमुखः) हे लोगों! वही सर्वत्र मुख करके अवस्थित होनेवाला (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थ में है।

अन्यत्र-- रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूप ईयते ×॥
(ऋ० ६।९७२ बृ० उ० २।५।१९)

बृ० उ० में इससे पूर्व खंड में ही कहा है--

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वां पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरीशयो नैतेन किंचिदनावृतं नैतेन किञ्चिदसंवृतम् *॥ (बृ० उ० २।५।१८)

यह वैदिक और औपनिषदिक भाव गीतामें (४-६)यों प्रकट किया है-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य संभवाम्यात्ममायया॥

इससे पता लगता है कि गीता कैसी वेदानुकूल है। बस पाठको! यह शंका कि वह अजन्मा होकर किस तरह अवतारभाव में जन्म लेता है, बिलकुल मिट जाती है, जब इन इन वचनों और वाक्यों को श्रद्धा और आस्तिक-बुद्धि से मनन करते हैं।

वास्तव में बात यह है कि आना, जाना, जन्म लेना इत्यादि शब्द ईश्वर के विषय में बनते नहीं। क्योंकि जो सदा और सर्वत्र व्यापक है, उसका जन्म लेना, आना, जाना, प्रकट होना कुछ अर्थ नहीं रखता, परन्तु मानुषी भाषा इतनी परिमित और संकुचित है कि इन उच्च दिव्य भावों को प्रकट नहीं कर सकती। परन्तु फिर भी जब उनको प्रकट करना पडता है तो भौतिक जगत् की भाषा से ही काम लेना पडता है। भौतिक जगत् में भी बहुत से ऐसे व्यवहार हैं जो वास्तवमें हैं नहीं, पर उनको मानना और बोलना पडता है। सबही जानते हैं कि सूर्य न उदय होता है और न अस्त होता है। वह तो सदा एक स्थान में ही स्थिर रहता है। केवल हमारी पृथ्वी ही उसके सामने आती या परे हटती है। पर कहनेमें यही आता है कि सूर्य चढ गया, सूर्य छिप गया।

सभी जानते हैं कि वायुसे कभी भी कोई जगह खाली नहीं हो सकती। परन्तु गर्मी में जब वायु का विरोध (हबस) हो जाता है, तो हम कहते हैं कि हवा बिलकुल नहीं है। और जब वह जोरसे चल पडती है तो कहते हैं कि हवा आगई। इत्यादि अनेक व्यवहारों से हमको पता लगता है कि हमारी मानुषी या भौतिक भाषा कितनी संकुचित है।

इसी तरह यहाँ हर अवतारवादमें भी यह कहना पडता है कि ईश्वर का अवतरण हुआ। वास्तवमें तो वह सदासे ही वहां उपस्थित था, परन्तु कारणविशेष से अव्यक्त था। और पुनः किसी कारणविशेष से ही वह व्यक्त हो जाता है। यही उसका जन्म लेना या प्रकट होना है।

अब रही यह शंका कि सर्वव्यापक, अनन्त प्रभु किस तरह एक व्यक्तिविशेषमें समा सकता है? और क्या वह जब एक व्यक्तिविशेष में प्रकट होता है, तो क्या अन्य स्थानोंमें व्यापक नहीं रहा? यह शंकाएँ सर्वथा निर्मूल और बच्चोंकीसी हैं। यह शंकाएँ वही करेंगे जिसने कभी इस मन्त्रपर विचार नहीं किया—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह पूर्ण (Infinite) है, और यह दृश्यमान भी (पूर्ण) असीम है। पूर्ण से पूर्ण को निकाला जाता है। पूर्णमेंसे पूर्ण को लिया, फिर भी शेष पूर्ण ही रहा।

अर्थात् पूर्ण जो Infinite (असीम) है वह कभी न कहीं से हट सकता है और निकल सकता है, और न कम होता है। वह तो एकरस रहता है, परन्तु मनुष्य की सापेक्ष दृष्ट्यानुसार उसका निकलना, आना, जाना कहा या बोला जाता है। भला जब विद्युत् बादलोंमें लसक

× प्रत्येक रूपका वह प्रतिरूप अर्थात् आदर्श है। अर्थात् जो रूप हम यहां जगत् में देखते हैं, वह रूप पहिले भगवान् में बन चुके होते हैं। यह उसका विराट्स्वरूप देखने योग्य है। बात सच यह है कि इन्द्र अर्थात् ईश्वर ही अपनी विविध क्रियाओंसे प्रत्येक रूपका नमूना बनता है।

* उसी प्रभुने दो पांववाले और चार पांववाले शरीर बनाए। और वह पुरुष पहिले पक्षी बनकर इन शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ। निस्सन्देह वह पुरुष इन सब पुरों (शरीरों) पुरिशय हैं। अर्थात् इसीसे इसको पुरुष कहते हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इससे ढकी हुई न हो। और कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इससे भरपूर न हो। देखो तैत्तिरीयोपनिषद्।

दिखा जाती है, तो क्या वह और स्थानों से निकल गई थी ? क्या जब आंधी चलती है, तो क्या वायु किसी देश-विशेष से बिलकुल चली गई ? क्या जब एक लकडी के किसी भागमें अग्नि जल रही हो तो क्या उसके अन्दर से सारी आग जो गुप्त रूपसे थी निकल गई ? यह शंकाएँ सचमुच नास्तिकवादमें निमग्न मनमें ही उठ सकती हैं । आस्तिक बुद्धिमें इनको कोई स्थान नहीं। भला यह कहना कि ईश्वर अवतार नहीं ले सकता, उसको परिमित और संकुचित करना नहीं तो और क्या है ? या शब्दान्तरमें ईश्वर को 'अनीश्वर' बनाना नहीं तो और क्या है ? हम कौन हैं जो यह शर्त लगावें कि असीम ईश्वर सीमित नहीं हो सकता ? क्या हमको सारे सृष्टि नियम ज्ञात हैं ? भला जो ईश्वर दूर भी है, नजदीक भी, अन्दर भी है, बाहर भी, प्रकट भी, अप्रकट भी, अणु भी, महान् भी, उसके बारेमें मानुषी बुद्धि क्या शर्त लगा सकती है ? +

शंका- ईश्वर को क्या जरुरत पडती है जो वह अवतार लेता है ? क्या वह विना अवतार धारण किये उस कार्य को नहीं कर सकता ?

समाधान- जो जरूरत ईश्वर को सृष्टिके आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि उत्पन्न करते, तथा नवयुवक स्त्री पुरुष उत्पन्न करते या चार ऋषियों या ब्रह्माजी द्वारा वेदज्ञान को देने की पडी थी, वही या उसी तरह की जरूरत पडनेपर भगवान् भी तदावश्यकतानुसार अपना अवतरण करके उस कठिनाई को पूर्ण करते हैं । अर्थात् जिस तरह सृष्टि के आरम्भमें असाधारण नियमों को अवलम्बन करके अमैथुनी सृष्टि रची जाती है (ऐसा कुछ लोग मानते हैं), तो इसी तरह अवतारवाद में भी असाधारण नियमों का ही अवलम्बन करना पडता है। तभी तो कृष्ण भगवान् कहते हैं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति, मामेति सोऽर्जुन ॥४।८

भला असीम, अथाह, अनन्त भगवान् के नियमों को यह छोटीसी मानुषी बुद्धि क्या समझ सकती है ? सच तो यह है-

भटकते फिरते हैं हजारों पंडित हजारों स्याने।
जो खूब देखा तो यार आखिर खुदाकी बातें खुदा ही जाने ॥

बस, जो भाई अवतारवाद को कल्पित या ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध समझते हैं, हमारी समझमें वह ईश्वरत्व कोही नहीं समझे ।

प्रश्न- भला जब यह सृष्टि भगवान् की रची हुई है, और भगवान् सर्वज्ञ हैं तो उसकी रचनामें कोई त्रुटि नहीं रहनी चाहिये, और जब कोई त्रुटि या कमी न होगी, तो अवतार की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर- भगवान् की रचनामें तो कोई त्रुटि नहीं । यह जो त्रुटि आजाती है वह हमारे ही समझ या करतूत के कारण आजाती है । भगवान् की रचना तो सर्वथा शुद्ध है, निर्भ्रान्त है, निःशंक्य है। हां शुद्धबुद्धि द्वारा ही वह समझी जाती है । आओ, इसको समझनेका प्रयत्न करें ।

आप जानते हैं कि एक ही वस्तु होती है, साधारण दृष्टि से देखनेसे तो वह कुछ और तरह नजर आती है, जब जरा गौर (ध्यान)से देखें तो फिर किसी अन्य प्रकार की ×। एक फोटोको लीजिये, साधारण दृष्टिसे वह कागज की सतह पर केवल लकीरोंका आकार मात्र नजर आती है, परन्तु यदि उसकी ओर टिकटिकी लगाकर देखें तो आपको हूबहू वह जीव या मनुष्यकी पूरी पूरी आकृति जिसमें मोटाई आदि सब ही भाव साफ साफ प्रतीत होते हैं, नजर आवेगी। तसबीर वही है केवल दृष्टिभेद से ही और की और दीखती है । इसी तरह जब आप इस सृष्टि की तरफ ध्यान से देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि इसमें बडाही गूढ ज्ञान और रहस्य छिपा पडा है। यह सृष्टि फिल्म की तसबीरों की तरह या एक रिकार्ड के गाने की तरह सदा एक जैसी नहीं रहती ।

(क्रमशः)

+ तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥ (यजु० अ० ४०)

× तमसाग्रस्तवद् भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः । ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ॥

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। इसमें ।) एक बारका पैकिंग और ।) एक बारकी रजिस्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है।

ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण।

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण शुरू हुआ है। एक दो महिनों में 'बालकाण्ड' छपकर तैयार होगा। इस ग्रंथ में बालकाण्ड के कथाभाग का विवरण चित्रों और नकशों के साथ रहेगा।

पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानों में विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शा कर सत्य पाठ दर्शाया है।

इस बालकाण्ड में दो रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं। जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है।

काण्ड की समाप्ति के पश्चात् विस्तृत टीका तथा टिप्पणी और विवरण दिया है। वानर कौन थे, राक्षस कौन थे, ये मानववंशीय थे या और कुछ थे, आर्यराजाओं की सभ्यता कैसी थी और वानरों और राक्षसों की सभ्यता किस प्रकार की थी, यह सब सप्रमाण यहां बताया है। इसलिये यह ग्रन्थ केवल वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही नहीं है, यह ग्रन्थ एक रामायणकालीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है।

इस तरहकी इतिहासिक विवेचना इस समयतक किसीने नहीं की है, अतः यह अपूर्व ग्रन्थ है।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ||=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० ६||) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री- **स्वाध्याय-मण्डल**, औंध (जि० सातारा)

Aundh, (Dist. Satara)

आत्म-ज्ञानसे लाभ ।

योग क्या है ?

(३)

(लेखक– श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, बम्बई)

ध्यान की अच्छी तरह विस्मृति अर्थात् केवल संस्कार शेष अवस्था 'समाधि' है ।

राजयोग के सम्बन्धमें तेजोबिन्दु उपनिषद्में अष्टांग के के स्थान पर पन्द्रह अंग कहे गये हैं । यथा–

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबंधश्च देहसाम्यं च दृकूस्थितिः ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानिवैक्रमात् ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ ×
(१।१५-१७)

१. 'सम्पूर्ण ब्रह्म ही है' – इस ज्ञान से जो इन्द्रियों का संयम है, सो ही 'यम' है । इस यम का जिज्ञासुको पुनःपुनः अभ्यास करना चाहिए ।

२. सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात् क्रियते बुधैः ।

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियाँ का तिरस्कार 'नियम' है । विद्वान् लोग नियम से इसका अनुष्ठान करते हैं ।

३. त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ।
(१।१९)

अनात्म-चिंता का न करना ही 'त्याग' है । यह महान् पुरुषों का पूज्य है, – शीघ्र मोक्ष-दाता है ।

४. इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् । (१।२२)

ब्रह्म मन-वाणी का अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुति-प्रमाण से अनात्म वस्तु है नहीं, इस निश्चय को 'मौन' कहते हैं ।

५. आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्नविद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥
(१।२३)

वस्तुतः जिसमें सर्वथा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपञ्च नहीं है । सर्व का विवर्ताधिष्ठान होने से जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है, उस अपने आत्मा को ही योगियोंने अभ्यास के लिये निर्जन एकांत 'देश' कहे हैं ।

६. कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥
(१।२४)

ब्रह्मादि सर्व भूतों की जिसमें क्षणभर में कल्पना होती है, ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यास के योग्य 'काल' है । अर्थात् अभ्यासी को देश-काल की भ्रांति का त्याग करना चाहिए ।

७. सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयादन्यत् सुखविनाशनम् ॥
(१।२५)

योगसाधन के लिए सिद्धासन (विधि आगे लिखी जायगी) श्रेष्ठ होनेपर भी जिस आसन से सुखपूर्वक निरंतर ब्रह्मका चिन्तन हो सके, वही आसन योगी को उपादेय है । अर्थात् जिस स्थिति में एकाग्र मन ब्रह्मचिंतन कर रहा हो, उस स्थिति को न बदले । स्थिति बदलनेपर एकाग्रता का सुख नष्ट हो जायगा । वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धों की सिद्धिका निमित्त है, जो सर्व भूतों का आदि है, जो विश्व का अधिष्ठान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है । यथा–

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासन-
मुच्यते ॥

८. यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥
(१।२६-२७)

× कल्याण के "योगांक" से ।

जो सर्व लोकों का मूल है, जो चित्तनिरोध का मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियों को सदा सेवन करना चाहिए। यही मूलबन्ध है। अन्य जुदा संकोचनरूप मूल बन्ध जिज्ञासुके लिए सेव्य नहीं है।

९. अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत्॥
(१।१२८)

अपने हस्तादि सम्पूर्ण अंगों के ब्रह्मरूप समझे; इस प्रकार समझनेवाला योगी ब्रह्म में ही लीन होता है। इस ज्ञान के विना केवल कटि आदि अंगों की समता या ऋजुता या शुष्क-वृक्ष की सरलता की तरह व्यर्थ है।

१०. दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥
(१।१२९)

ज्ञानदृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मरूप देखे, यही दृष्टि परम उदार मोक्ष को देनेवाली है; नासिका के अग्रभाग को विषय करनेवाली दृष्टि मुमुक्षु के लिये कर्तव्य नहीं है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। इसका भाव यह है कि, यदि योगी नेत्रों को अधिक खोलेगा, तो विक्षेप होगा; यदि सर्वथा नेत्र बंद रखेगा, तो आलस्यादि से चित्त का लय होगा। अतः योगी शांभवी-मुद्रा से स्थित रहे, भ्रुकुटी के मध्य में आन्तर-तत्त्व में लक्ष्य रक्खे, नेत्रों को किञ्चित खुला रक्खे, इसी को शांभवी मुद्रा कहते हैं।

११. चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायाम स उच्यते॥
(१।१३१)

चित्तादि सर्व पदार्थों में ब्रह्मभावना के परिपाक से सर्व वृत्तियों का निरोध हो जाता है, और सर्व वृत्तियों के निरोध से प्राण का भी निरोध होता है। यही मुख्य प्राणायाम है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुंभकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानं घ्राणपीडनम्॥
(१।१३२-३३)

'नेति नेति' श्रुति के बल से प्रपञ्च का अभाव निश्चय करना 'रेचक' प्राणायाम है। "ब्रह्मैवाहमस्मि" इस वृत्ति का नाम 'पूरक' है। "ब्रह्मैवाहमस्मि- इस वृत्ति की निश्चलता 'कुंभक' है, ब्रह्मनिष्ठों का यही प्राणायाम है। केवल नाक दबाकर प्राणों का रोकना अज्ञानियों का प्राणायाम है।

सद्गुरु कृपा-लब्ध संपुट मन्त्र का अजपा सिद्ध हो जाने पर उपर्युक्त प्राणायाम का प्रत्यक्ष लक्षण अपने शरीर में अनुभव होता रहता है। यह तो ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान की स्वरूपावस्था है; परन्तु नवीन साधक तो अज्ञान ही होता है, अतः उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रोक्त प्राणायाम (यह विषय आगे लिखा जायगा) की विशेष आवश्यकता है। शास्त्रोक्त प्राणायामद्वारा एक याम कुंभक-कारी साधक के लिये स्वयमेव ही ब्रह्मज्ञान का द्वार खुल जाता है। नवीन साधक का पारदवत् चञ्चल मन नाना प्रकार के प्राणायामादि के सिवा स्थिरता प्राप्त नहीं होता है। हाँ, सद्गुरु की कृपा हो, तो बात दूसरी है।

१२. विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
(१।१३४)

सम्पूर्ण विषयोंमें आत्मदृष्टि करने से जो चित्त का सन्तोष और शांति होती है, वही प्रत्याहार है। यही प्रत्याहार का योगी को अभ्यास करना चाहिये।

१३. यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता॥ (१।१३५)

जहाँ जहाँ मन जावे, वहाँ वहाँ ब्रह्म का दर्शन हो, यही उत्तम धारणा है।

१४. ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतयास्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः॥
(१।१३६)

अन्य विषयशून्य जो "ब्रह्मैवाहमस्मि" वृत्ति की एकतानता है, वही ध्यान है। यह ध्यान परमानन्द का देनेवाला है।

१५. निर्विकारतयावृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते॥
(१।१३७)

निर्विकार अद्वितीय ब्रह्माकारवृत्ति की स्थिति के अनन्तर परिणामित्वादि दोषदर्शन पुरःसर परवैराग्य से जो सर्वथा वृत्ति का विस्मरण और विलय है, सो संसार शेष अवस्था समाधि है। इस समाधि का तब तक पूर्णतया अभ्यास होना चाहिये, जबतक सम्पूर्ण विषय शून्य ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वस्वरूप से स्फुरण न हो जाय।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

उपर्युक्त राजयोग की बातें "त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्" में सविस्तार वर्णन है; परन्तु मेरा लक्ष्य श्रीमद्भगवत् गीतोक्त राजयोग का है। अतः जो सब साधक योगियों की भाँति कठोर साधना में असमर्थ हैं, वे कर्म, ज्ञान और भक्ति का आश्रय लेकर राजयोग की साधना करें। परन्तु उसमें भी अधिकारी भेद स्वीकृत हुआ है। जो जैसे अधिकारी हों, वे वैसे ही योग का सहारा लेकर साधनामें प्रवृत्त हों। भगवानने कहा है-

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगश्च कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघ शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
(भागवत ११।२०।६-११)

'अर्थात् मैंने मनुष्यों के श्रेयःसाधन यानि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्गसाधन के लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग इन तीन प्रकार के योग की बात कहा है। इसके अतिरिक्त श्रेयःसाधन के लिये और दूसरा कोई उपाय नहीं है। इन तीनों प्रकार के योगमें जो साधक निर्विण्ण अर्थात् दुःखदायक समझ कर धर्म और कर्मविषय में विरक्त हैं, उनके लिये ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है, तथा सिद्धिप्रद है। कर्म और कर्मफलविषय में जो कामी है, जिन्हें संसार के भोगों में तृप्ति नहीं हुई है, उनके लिए कर्मयोग ही सिद्धि दे सकता है और किसी प्रकार से भाग्योदय के कारण मेरे (भगवान्) प्रसंगमें जिन्हें नितांत श्रद्धा उत्पन्न होती है, एवं कर्म और तत्फलादि विषयोंमें जो विरक्त या अत्यासक्त नहीं होते हैं, उनके लिए भक्तियोग ही सिद्धिप्रद है। जबतक कर्मादि विषयोंमें विरक्ति न हो, तथा मेरा कथाश्रवणादि विषय में श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय, तबतक साधक नित्य-नैमित्तिक कर्म करे। हे उद्धव! स्वधर्ममें रहकर कामना परित्याग कर, जो व्यक्ति यज्ञादि का साधन करते हैं, एवं निषिद्ध कर्म नहीं करते, ऐसा करने से वे स्वर्ग या नरकमें गमन नहीं करते हैं। निषिद्ध कर्मत्यागी स्वधर्मानुष्ठायी शुद्धचेता व्यक्ति इस लोकमें वर्तमान रहकर ही विशुद्ध ज्ञानयोगलाभ करते हैं, या सौभाग्य के कारण मद्भक्तिलाभ करते हैं।'

अतः किसी भी प्रणालि की सहायता लेकर राजयोग की साधना करने से ही साधक का परममंगल हो सकता है। इसमें जो साधक योगशास्त्रान्तर्गत विधि से राजयोग की साधना करते हैं, उनके सौभाग्य की तो बात ही क्या लिखी जाय? इस राजयोग की साधनामें सिद्धिलाभ करने से साधक ऊर्ध्वरेता तथा जरामरणशून्य होते हैं। यथा-

अभ्यासात्तु स्थिरः शांत ऊर्ध्वरेताश्च जायते।
परमानन्दमयो योगी जरामरणवर्जितः॥
(योगशास्त्र)

इस राजयोगमें अभ्यास होने पर योगिगण शांत, ऊर्ध्वरेता × जरामरणवर्जित एवं परमानन्दमय बन जाते हैं।

× ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानवः।
'ब्रह्मचर्यसाधन' पुस्तकमें इस साधना की विधि लिखी गई है।

*

अतएव मैं सर्व प्रकार के साधकों को विशेष प्रयत्न के साथ राजयोग की साधना के लिये अनुरोध करता हूँ। क्योंकि-

दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः।
राजयोगो मनोवायुं स्थिरं कृत्वा प्रयत्नतः॥
(योगशास्त्र)

दत्तात्रेय आदि महात्मागणने मन और प्राण स्थिर करके यत्न के साथ राजयोग की साधना की थी।

योगशास्त्रान्तर्गत राजयोग की साधना की विधि पूर्णरूप से 'कल्याण' के साधनांक का द्वितीय, तृतीय तथा सप्तम खण्डमें प्रकाशित हुई है। यद्यपि उस लेख का नाम "प्रकृति-पुरुष-योग" रक्खा है, पर वास्तवमें वह अष्टांगयोग की विधि से राजयोग ही है। ऐसा कहना भी अत्युक्ति न होगी कि, ये सभी विषय एक ही हैं। जिस का उद्देश्य एक, गन्तव्य-स्थल एक, साधन-विधि एक, तथा फल भी एक है, फिर उसके नाम में भेद होने से कुछ बनता--बिगडता नहीं। खैर आगे उस प्रबंध को परिवर्धित रूपमें पुस्तकाकार प्रकाशित करने की दृढ इच्छा है। परन्तु मैं तो दीन--हीन गरीब भिखारी हूं। यदि किसी सज्जन या साधकेच्छु सज्जन की सहायता से वह प्रबंध पुस्तकाकार प्रकाशित हो सका, तो विशेष उपकार होगा। इसके लिये मुझ से पत्रव्यवहार कर सकते हैं। पुस्तकाकार लेख तैयार हुआ है, तथा उसका आय श्री श्री सद्गुरु महाराजके समाधि-मन्दिर का पुजार्चनादि के लिए उत्सर्ग किया गया है। अस्तु। अब चतुर्थ-

लययोग।

की बात सुनिये। स्वल्पजीवी कलिकाल के निरक्ष मानवों के लिये सहज और सुखसाध्य 'लययोग' की व्यवस्था उत्तम है। दूसरे सब योगों को छोडकर केवलमात्र लययोग का अनुष्ठान करने पर भी परमागतिलाभ हो सकती है। कृष्णद्वैपायनादि ऋषिगण नवचक्रमें लययोग का साधन करके यमदण्ड को तोडकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे थे। यथा-

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥
(योगशास्त्र)

अर्थात् वेदव्यासादि महात्माओंने नवचक्रमें × मनोनय करके लययोग की साधना की थी।

लययोगश्चित्तलय कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्।
स एव लययोगः स्यात् ... ... ॥
(योगतत्त्वोपनिषद् २३।४)

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥
(हठयोग-प्रदीपिका ४।२९)

इंद्रियों का नाथ (स्वामी) मन है, मन का स्वामी प्राण है, प्राण का नाथ मन का लय है, मन का लय नाद के श्रवण से होता है। वही नाद इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥
(हठयोगप्रदीपिका ४।८३,५९)

नाद का अभ्यास (श्रवण) बाहरी ध्वनि को सब ओर से रोक देता है, जिससे योगी-पुरुष समस्त विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है, तथा जैसे अग्निमें पडते ही कर्पूर और जलमें पड जाने से सैंधव (नमक) उसी में लय हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वमें लगाता हुआ मन तत्त्वमें ही लय हो जाता है।

× सर्वसाधारण या साधारण साधक षट्चक्र की बात जानते हैं। परन्तु वास्तवमें षट्चक्र नहीं नव चक्र हैं। यथा-
नवचक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। स्वदेहे ये न जानंति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥
(उत्पत्ति-तंत्र)

नवचक्र षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और पञ्चाकाश की बात "प्रकृति-पुरुष-योग" नामक पुस्तकमें प्रकाशित करूंगा या 'योगी गुरु' नामक सर्वांगसुन्दर पुस्तक देखें।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य
निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥ (योगवाशिष्ठ)

हे राम, यह सारा जगत् संकल्प का विस्तारमात्र है, जो कि मन का खेल है । अतः संकल्प मति को त्यागकर निर्विकल्प का आश्रय लेकर निश्चयपूर्वक शांति को प्राप्त होओ ।

पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ।
(योगशिखोपनिषद्)

लययोग होनेपर पवन (प्राण) स्थिरता को प्राप्त हो जाता है । लययोग से परमसुख, परमपद, स्वात्मानन्द प्राप्त हो जाता है ।

निर्विकल्पे निराधारे निराकारे निरञ्जने ।
सर्वभूतलयं दृष्ट्वा भूतसिद्धिः प्रजायते ॥

निर्विकल्प, निराधार, निराकार, निरञ्जनमें सकल भूतमात्र का लय प्रत्यक्ष अनुभव करके भूतसिद्धि हो जाती है।

लययोग भी अनन्त प्रकार का है। बाहरी और भीतरी के भेद से जितनी प्रकार की चीजों का होना सम्भव हो सकता है, उन सबमें ही लययोग का साधन हो सकता है । अर्थात् चित्त को किसी भी एक वस्तुमें निविष्ट करके उसमें एकतान हो जाने से ही लययोग सिद्ध होता है ।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि
वसंति लोके । (योगातारावली ।)

जगत्में योगेश्वर का बताया हुआ एक लाख पचीस हजार का लययोग विद्यमान है; परन्तु साधारणतः योगिगण चार प्रकार के लययोग का अभ्यास करते हैं । यथा-

शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥
(घेरण्डसंहिता ।)

शांभवी मुद्रा से ध्यान लगाना, खेचरी मुद्रा से रसास्वादन करना, भ्रामरी कुंभक से नाद को सुनना और योनिमुद्रा से आनन्दयोग करना, इन चार प्रकार के उपायों से ही लययोग की सिद्धि होती है ।

इन चार प्रकार के लययोगों का और भी सहज-कौशल सिद्ध योगिगणद्वारा प्रकट हुआ है । उन्होंने लययोग के बीचमें नादानुसंधान, आत्मज्योतिःदर्शन और कुंडलिनी-उत्थापन, इन्हीं तीन प्रकार की प्रक्रियाओं को श्रेष्ठ और सुख-साध्य बतलाया है । इनमें भी कुंडलिनी उत्थापन-क्रिया विशेष कठिन है । वह क्रिया इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय न होने के कारण इस पुस्तकमें प्रकाश नहीं किया जायगा तथा ' प्रकृति-पुरुष-योग ' नामक दूसरी पुस्तकमें शीघ्र ही प्रकाशित करने की इच्छा है । दूसरी नादानुसंधान तथा आत्मज्योतिदर्शन की क्रियाएँ इस पुस्तकमें सविस्तार लिखी जाती है ।

लययोगमें नादानुसंधान तथा आत्मज्योतिःदर्शन की साधना बहुत सीधा और सरल से होने जैसी है । अवश्य यमनियमादि के साथ नित्यनियमितरूप से साधन-सम्पन्न सज्जन ही इस सुखसाध्य साधना का अनुष्ठान कर सर्व पाश से मुक्त तथा सर्व गुणयुक्त बनकर शांतिमय सच्चिदानन्द के सन्निधानमें समुपस्थित हो, स्वरूप-ज्ञान-लाभ करते हुए सर्वानन्द तथा मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं। मैंने भी श्री श्री सद्गुरुप्रदत्त इन क्रियाओंका अभ्यास कर शास्त्रोक्ति की सत्यता प्रत्यक्ष उपलब्ध करते हुए अपार आनन्द प्राप्त किया था । साधक-सज्जनों को मेरा आनन्द का अंशीभागी बनाने के लिये ही अपने यह स्वल्प प्रयत्न है । अस्तु ।

लययोग की साधना के लिये भी सम्यक् रूप से शरीर-तत्त्व जान लेना परमावश्यक है । आजकल योगसंबंधी अनेक पुस्तकोंमें शरीर-तत्त्व पर नाना प्रकार की चर्चा रहने पर भी मेरी सम्मति से उन पुस्तकोंमें ' योगी गुरु ' पुस्तक हीं सर्वोत्तम तथा निर्दोष है । अतः निष्ठावान साधक ' योगी-गुरु ' नामक पुस्तक का अवलोकन कर भली भाँति शरीर-तत्त्व को जान लें । मैंने विस्तारभय से इस पुस्तकमें केवल साधनकौशल ही लिख रहा हूँ ।

योग की साधना करना हो, तो योग के आठ अंगों को जान लेना उचित है । साधना का अर्थ अभ्यास करना है । योग के वे आठ अंग ये हैं-

यमश्च नियमश्चैव आसनश्च तथैव च ।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा ॥
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने ॥
(योगी याज्ञवल्क्य १।४५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यही आठ योग के अंग हैं। पूर्ण मानव बनकर आत्मज्ञानलाभ के लिये योग के इन आठों अंगों की साधना यानी अभ्यास करना चाहिये। अब-

यम।

किसे कहते हैं, तथा उसका साधनप्रणाली क्या है, सो सुनिए-

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन २।३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचों को यम कहते हैं ।

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
(तेजोबिन्दूपनिषद्)

' यह सब ब्रह्म है, ' इस ज्ञान से इंद्रियों का संयम करना ही ' यम ' है। इसी का बारंबार अभ्यास करना चाहिये ।

यदि कोई शक्ति योग की परिक्रमा को काममें लाना चाहता हो, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि, उसके चारों ओर शांति का वातावरण हो, अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये साधन भजन में सब से पहले शांति का वातावरण उत्पन्न करने के लिये प्रत्येक साधक को यम की साधना करनी चाहिये। साधना के लिए शांतिमय वातावरण की सृष्टि करना जैसा परमावश्यक है, ठीक वैसा ही जन्म के हेतुभूत काम्यधर्म से निवृत्ति कराके मोक्षके हेतुभूत निष्कामधर्म में प्रेरणा करनेवाले तपादि जो साधन हैं, उन्हें ' नियम ' कहते हैं। **यह यम और नियम मानव के शांतिपथ के सर्वप्रधान एवं सर्वप्रथम साधना हैं।** इन दोनों को परित्याग कर कोई भी मानव धर्म-जगत्में एक कदम भी आगे बढ नहीं सकता। हाँ, सच्चिदानन्दमय सद्गुरु की कृपा हो, तो मुहूर्तमात्र में भी दैत्य-दानव देवत्व लाभ कर सकता है। किन्तु यह बात संसारमें अति विरल ही है। अतः सर्वसाधारण को तो विधिमार्ग से ही चलना उचित है। विधिमार्गमें चलनेवाले को तो यम-नियम की साधना की विशेष आवश्यकता है। दूसरी ओर सद्गुरु-कृपालब्ध साधक तो उनकी अहैतुकी कृपा से ही उनमें पारंगत हो जाता है।

कल्याण-मार्ग के एकनिष्ठ साधक, यम-नियम पर प्रखर दृष्टि रखनेवाले श्री श्रीभगवान् के प्यारे भक्त आत्मस्वरूप चि० श्रीमान् जयदयालजी गोयेनका महाशयने ' योगांक ' में " अष्टांगयोग " के प्रारम्भ में ही यम-नियम पर जो आलोकपात किया है, उसे प्रकाश करना परमावश्यक समझकर सुधि साधकों के लिये यहाँ उद्धृत करता हूँ। वे लिखते हैं कि-

" अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इस का कारण यह है कि, समाधि की सिद्धि के लिये यम-नियमों के पालन की विशेष आवश्यकता है। यम-नियमों के पालन किए बिना ध्यान और समाधि सिद्ध होना अत्यंत कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार की वृत्तियों के नष्ट हुए बिना चित्त का एकाग्र होना कठिन है, और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधि की इच्छावाले पुरुषों को योगके आठों ही अंगों का साधन करना चाहिये; किंतु यम और नियमों का पालन, तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींव के बिना मकान नहीं ठहर सकता, वैसे ही यम-नियमों का पालन किए बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमों में भी पुरुष यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन करना चाहता है, अतः उससे नियमों का पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥
(मनुस्मृति ४।२०४)

' बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करें। केवल नियमों का नहीं; जो यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन

करता है, वह साधनपथ से गिर जाता है। इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधि की सिद्धि होना कठिन है। अतः योग की सिद्धि चाहनेवाले पुरुष को यमनियमों का साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालन से चोरी, जारी, झूट, कपट आदि दुराचारों का और काम, क्रोध, क्षोभ, मोह आदि दुर्गुणों का नाश होकर अन्तःकरण की पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणों का समावेश होकर इष्टदेवता के दर्शन एवं आत्मा का साक्षात्कार भी, जो कि साधक चाहता है, हो सकता है। परन्तु यम-नियमों का पालन किए बिना ध्यान और समाधि की बात तो दूर रही, अच्छी प्रकार से प्राणायाम भी होना कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायाम के लिये यत्न करते हैं, किंतु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूट, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार तथा प्राणायामविषयक क्रिया के ज्ञान का अभाव ही इस सफलता में प्रधान बाधक होता है। यम-नियमों का पालन करने से उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणों का नाश हो जाता है। अतएव प्राणायाम के साधन करनेवाले को भी प्रथम यम-नियमों का पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गण और दुराचार सभी साधनों में बाधक होते हैं। इसीलिये ध्यान और समाधि की इच्छा करनेवाले साधकों को दोषों का नाश करने के लिये प्रथम यम-नियमों का पालन करकेही, योग के अन्य अंगों का अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योग के आठों अंगों को अच्छी प्रकार से साधन कर लेता है, उसका अंतःकरण पवित्र होने पर ज्ञान की अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाले पुरुष तो निश्चय ही क्लेश और कर्मों से छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।"

अब यम के जो पाँच अंग हैं, उनका भिन्न भिन्न वर्णन किया जाता है।

अहिंसा।

मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामपीडनं अहिंसा।

मन, वाक्य और देह से सर्वभूत को कष्ट न पहुँचने का नाम अहिंसा है।

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन॥
दैवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम्।
न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः प्रोक्तोऽस्ति यन्महान्।

(श्रीस्वामी नारायणजी शिक्षापत्री ११।१२)

हमारे आश्रित जन किसी भी जीव प्राणी की हिंसा न करें और जानबूझकर छोटे जूँ, खटमल, मच्छर आदि को भी न मारें। देवता, पितृ, याग, आदि के लिये बकरा आदि की हिंसा भी कभी न करें; क्योंकि 'अहिंसा' ही परमधर्म है।

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २।३५)

जब हृदय में दृढरूप से अहिंसा प्रतिष्ठित हो जायगी, तब दूसरा उसके प्रति अपने आप वैरभाव का परित्याग कर देगा।

अहिंसाविषय में वर्तमान समयमें प्रायः सब देशों की सर्व जातियाँ ही तत्पर हो गई हैं। विशेषतः गांधी महाराज, तो इस विषय पर नाना प्रकार के सुविचार सविस्तार वर्णन करते ही रहे हैं। सब देशों के सब साधारण व्यक्ति भी इस विषय पर गम्भीर विचार करने लगे हैं। अतः इस विषय का अधिक विचार करने की जरुरत नहीं है। अस्तु-

सत्य।

परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्।

दूसरे के मंगल के लिये वाक्य और मन का जो यथार्थ भाव, उसको सत्य कहते हैं। सरल चित्त का अप्रकट-वाक्य ही जिसमें कि दुर्विचार का लेश भी न हो, सत्य भाषण कहलाता है।

मिथ्यापवादः कस्मिँश्चिदपि स्वार्थस्य सिद्धये।
नारोप्यो नापशब्दाश्च भाषणीयाः कदाचन॥

(शिक्षापत्री २०)

अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये कभी मिथ्या न बोलना, मिथ्या आरोप न करना और अपशब्द भी न बोलना।

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दप्रमाण से जिन जिन बातों का जिस-जिस प्रकार से निश्चय किया हुआ हो, उन उन बातों का उस उस निश्चयानुसार श्रोताको अनुद्वेग करने-

वाले, प्रिय लगनेवाले, परिणाममें हित करनेवाले, कपट-रहित और निर्भ्रान्त वचनों द्वारा यथार्थ कहना एवं आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ को सत्य न मानना तथा " तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत " उस सत्य-आनन्द-निधि ब्रह्म का लक्ष्य करके, उसके सत्य को जानना ही सत्य है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
(योगदर्शन २।३६)

हृदयमें सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर कोई कार्य न करके भी फल प्राप्त हो जाता है, अर्थात् सत्यप्रतिष्ठित व्यक्ति वाक्सिद्ध हो जाता है। केवल मात्र सत्य की रक्षा करने पर सत्यस्वरूप सच्चिदानन्द की प्राप्ति हो सकती है।

अस्तेय।

परद्रव्यापहरणत्यागोऽस्तेयम्।

दूसरे की चीज-वस्तु को चुराना छोड देने का नाम ही अस्तेय है। जिस समय दूसरे की चीज को लेने की जरा भी इच्छा न होगी, तभी अस्तेय का साधन सिद्ध होगा।

स्तेनकर्म न कर्तव्यं धर्मार्थमपि केनचित्।
स्वस्वामिकाष्ठपुष्पादि न ग्राह्यं तदनाज्ञया॥
(शिक्षापत्री १७)

धर्मकार्य के लिए भी हमारा कोई भी आश्रित चोरी का कार्य न करे और मालिक के काष्ठ-पुष्प आदि जो हों, उनको उसकी आज्ञा बिना न ले, इत्यादि को अस्तेय कहते हैं।

निषिद्ध रीति से दूसरों का द्रव्य ग्रहण न करना अर्थात् जिस का कुछ भी मूल्य हो ऐसी कोई वस्तु उसके स्वामी की अनुमति के विना न लेना और हृष्ट सांसारिक विषय एवं पदार्थों का सेवन न करना तथा किसी पदार्थ या विषय की इच्छा नहीं रखना ही अस्तेय है।

अस्तेय-प्रतिष्ठानां सर्वरत्नोपस्थानम्॥
(योगदर्शन २।३७)

मानव के हृदयमें अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके सामने संसार के सब रत्न अपने-आप आ पहुँचते हैं। अर्थात् अस्तेय की प्रतिष्ठा करनेवाले व्यक्ति को कभी धन-रत्न का अभाव नहीं होता।

ब्रह्मचर्य।

वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम्।

शरीरस्थ वीर्य को अविचलित और अविकृत अवस्थामें धारण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। शुक्र या वीर्य ही ब्रह्म है, सुतरां सर्वत्र सर्वदा सर्वावस्थामें मैथुन का परित्याग करके वीर्य धारण करना साधक मात्र के लिए आवश्यक कर्तव्य है। आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग करने से ही ब्रह्मचर्यमें सिद्धि मिलती है।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

स्मरण, कीर्तन, हँसी-मजाक, रागपूर्वक दर्शन, एकान्त में वार्तालाप, सङ्कल्प, मैथुन करने का प्रयत्न और मैथुन, यही मैथुन का आठ अंग है; इनके विपरीत कर्म को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

साधन-तत्त्व का हिसाब से ब्रह्मचर्य का यथार्थ अर्थ समझना भी आजकल के समयमें कठिन है। बहुत से लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ आजन्म कोरा रहने या मिथ्या भेष बनाकर जटाजूट रखे घूमने-फिरने को ही ब्रह्मचर्य मान लेते हैं। किंतु यथार्थमें ऐसा अर्थ करना ब्रह्मचर्य की हत्या करना ही है। ब्रह्मचर्य का बन्धन न तो कुँवारपन से है, न किसी वेष-भूषा से ही है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यनिरोध या कामदमन का है; परन्तु इतनेमें ही ब्रह्मचर्य का यथार्थ अर्थ नहीं हो जाता। ब्रह्मचर्य का यथार्थ अर्थ है, वीर्य को रोकना; वेदज्ञान को प्राप्त करना, सत्-चित्-आनन्दमें अपने को समाविष्ट कर देता है। वीर्य एक दिव्य तेज का नाम है। योगियों के मत से वीर्य ही ब्रह्म है। फिर शतपथब्राह्मण में भी कहा है कि, "वीर्यं वै भर्गः।" यानी वीर्य ही तेज, आभा या प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्म के दीपन से ही ब्रह्मवेद के तत्त्वज्ञान का दर्शन और वेद-तत्त्व के ब्रह्मदीपक सत्-चित्-आनन्द-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

(क्रमशः)

वेदका अध्ययन।

आसान पाठविधि।

वेदका अध्ययन करनेके लिये 'वेदपरिचय' के तीन भाग बनाये हैं। ये ग्रन्थ इतने सुबोध, सुपाठ्य और आसान बनाये हैं कि इनसे और अधिक सुबोध पाठविधि हो नहीं सकती। सर्वसाधारण स्त्रीपुरुष भी अपना नियत थोडासा समय इस कार्य के लिये देंगे, तो ४।५ वर्षोंमें वे वेदज्ञ हो सकते हैं।

इतनी पाठविधि सुगम होनेसेही स्वाध्याय-संघ के सदस्य होकर सैंकडों मनुष्य इस समय अध्ययन कर रहे हैं और स्वतंत्र रीतिसे भी सैंकडों लोग अध्ययन करते हैं।

इससे कार्य समाप्त हुआ है, ऐसा समझना नहीं चाहिये। क्योंकि सहस्रों वेदाध्यायियोंमें कोई क्वचित् वेदतत्त्वज्ञ हो सकता है। हमें यत्न तो प्रथम इस बातका करना चाहिये कि सहस्रों वेदाध्यायी हों। घरघरमें तथा मोहल्ले मोहल्लेमें तथा ग्रामग्राममें वेदके मन्त्रों का विचार करनेवाले हों। इन वेदविचारकों के होनेके पश्चात् दूसरी अवस्था वेदतत्त्वज्ञोंकी है। वेदाध्यायी तो हम बना सकते हैं, पर वेदतत्त्वज्ञ बनाना हरएकसे नहीं हो सकता। वह तो बडी बुद्धि का तथा बडे अनुसंधान का कार्य है। वैसे लोग विरला ही होंगे।

इस समय हमारे हाथमें इतनाही है कि वेदाध्यायी पैदा करें। इसके पश्चात् का कार्य बुद्धिमान् पुरुषों के हाथ में होगा।

इसी कार्यके लिये हमने वेदपरीक्षाओंकी आयोजनाका निश्चित कार्यक्रम रखा है–

वर्ष	परीक्षानाम	पाठ्य मंत्रसंख्या	पुस्तक संख्या	उपाधि
प्रथम	वेदपरिचय	३००	३	वेदपरिचित
द्वितीय	वेदप्रवेश	५००	५	वेदप्रविष्ट
तृतीय	वेदप्राज्ञ	१०००	५	वेदप्राज्ञ
चतुर्थ	वेदविशारद	२०००	५	वेदविशारद
पंचम	वेदपारंगत	५०००	५	वेदपारंगत
षष्ठ	वेदाचार्य	स्वतंत्र खोजपूर्ण निबंध		वेदाचार्य

इन सब परीक्षाओं की पाठविधि निश्चित की है। इनके ग्रंथ क्रमानुसार प्रकाशित होंगे। ५ वर्षोंमें करीब ९ हजार मन्त्रों की पाठविधि होनी है। जो शनैः शनैः अभ्यास करेंगे, उनके लिये थोडी अधिक अवधि लगेगी, पर जो प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन रखेंगे, उनको इस पाठविधिके लिये ५ वर्षोंसे अधिक समय नहीं लगेगा।

वेदाचार्य की परीक्षाके लिये कोई नियत पाठविधि नहीं है। संपूर्ण चारों वेदों की सब संहिताओंमें से किसी एक विषय का खोजपूर्ण निबंध लिखकर स्वाध्याय-मण्डलमें पेश करना होगा।

प्रति पृष्ठपर २००० अक्षर रहेंगे, ऐसे १०० पृष्ठ निबंध के होने चाहिये। वह निबंध स्वतंत्र खोज करके होना चाहिये। किसी अन्यका लिया लेख नहीं चल सकेगा।

वेदसम्बन्धी यही परीक्षा अंतिम होगी और जिसका निबंध उत्तम रहेगा, वही 'वेदाचार्य' उपाधि को प्राप्त करेगा।

तबतककी पाठविधि नियत रहेगी। तथा इनकी मंत्र-संख्या भी नियत रहेगी। जो ऊपर दी है।

हरएक परीक्षाके लिये जितनी मन्त्रसंख्या नियत है, उतनी तैयार होनेपर परीक्षार्थी परीक्षाके लिये तैयार होनेकी सूचना स्वाध्याय-मंडलको देवे। सूचना आनेपर प्रश्नपत्र यहांसे भेजे जांयगे और नियमानुसार परीक्षार्थीके स्थानपर ही परीक्षार्थीने किसी निरीक्षकके सामने उत्तरपत्र लिखकर भेजने होंगे। परीक्षाके नियम तथा परीक्षाके निरीक्षक समय समयपर निश्चित किये जांयगे।

हरएक परीक्षार्थीके लिये अध्ययन करनेका अवसर जितना चाहे उतना मिलेगा। घरमें रहता हुआ वह अध्ययन कर सकेगा। अध्ययन की सब सुविधा इन पाठविधिके ग्रंथोंमें रहेगी। अब किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहा है। केवल वेदके अध्ययन की इच्छा ही चाहिये। जिसके पास इच्छा है, वह ५ वर्षोंमें वेदज्ञ हो सकता है।

स्थानस्थानमें जहां आवश्यकता होगी, वहां वेदमंत्रोंके साथ ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त आदि ग्रंथों के पर्याप्त प्रमाण दिये जांयगे। इस तरह इस पाठविधिसे वैदिक धर्मका आवश्यक ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि इस पाठविधिसे वैदिक धर्मी वेदका ज्ञान प्राप्त करेंगे।

'वेदपरिचय' परीक्षा की पाठविधि।

स्वाध्याय-मण्डल द्वारा वेद की जो परीक्षाएँ होती हैं, उनकी पाठविधि नियत हो चुकी है। उन परीक्षाओं में प्रथम परीक्षा 'वेद-परिचय' नामक है। इस परीक्षा के लिए तीन सौ वेदमन्त्रों की पाठविधि नियत हुई है। इस पाठविधिकी प्रथम पुस्तक जिसमें १०० वेदमन्त्र हैं, पाठकों के सामने पहलेही रखी है, और अब उसका दूसरा भाग १०० मंत्रोंका पाठकोंके सामने रख रहे हैं। तीसरा भाग भी १०० मंत्रोंका छप रहा है।

इन पुस्तकों में जो वेदमन्त्र दिए हैं, वे फुटकर नहीं हैं, संपूर्ण सूक्तके सूक्त दिए हैं। इससे मन्त्रका अर्थ करने के समय सूक्तके आगे पीछेके मन्त्रोंका अनुसंधान करनेकी रीति पाठकोंके ध्यानमें स्वयं आजाएगी।

इन में मन्त्र, मन्त्र के पद, पदोंका अन्वय, अन्वयका अर्थ तथा भावार्थ दिया है। पश्चात् मन्त्रके पदोंका विशेष अर्थ भी स्वतन्त्र परिशिष्ट में दिया है। इसके पश्चात् संक्षिप्त अर्थ इंग्लिश भाषामें दिया है। अन्तमें सूक्तके सुभाषित, जो नित्य स्मरण करने योग्य हैं और जिनसे मानव-धर्मका प्रकाश होता है, दिए हैं। इन सबके अध्ययनसे पाठकों को वेदमन्त्रोंका ठीक ठीक आशय ध्यान में आजायगा।

ये अध्ययन के ग्रन्थ हैं।

पाठविधि के सब के सब ग्रन्थ अध्ययन के लिए बनाए जा रहे हैं। ये केवल एकबार पढकर छोड देनेके नहीं हैं। इनका जहांतक अध्ययन किया जाय, वहांतकके मन्त्र कण्ठ होने चाहिएँ। इनके अध्ययनकी विधि यह है-

१. सबसे प्रथम मन्त्र कण्ठ करिए। मन्त्र कण्ठ होनेके पश्चात्,

२. मन्त्रके पद कण्ठ करिए और साथ साथ अन्वय कैसा होता है यह भी देखिए। और मन्त्रके यदि पद कण्ठ हुए होंगे, तो अन्वय स्वयं स्मरणमें रहेगा।

३. मन्त्र और उसके पद कण्ठ करनेके समय मन्त्रोंके स्वर भिन्न हैं और पद होनेपर स्वर भिन्न हुए हैं, यह बात आप के ध्यान में आजायगी।

४. मन्त्र और पद कण्ठ करनेके समय नीचे रेखावाले अक्षर निम्न स्वरसें, चिह्नरहित अक्षर उससे उच्च स्वरमें और ऊपर रेखावाले अक्षर उससे ऊंचे स्वरमें पढिये। मोटे तौरपर उक्त अक्षरोंके क्रमशः 'सा, रे, ग' ये स्वर होंगे। इस उच्चारण की एक पुस्तक तैय्यार की जा चुकी है। पाठकोंको इस परीक्षा के पश्चात् उसका अध्ययन करना चाहिए। उसमें स्वरोंके उच्चारकी रीति ठीक ठीक दी है।

५. मन्त्र, पद और अन्वय कण्ठ होनेके पश्चात् अर्थको भी कण्ठ करनेके समान ही स्मरणमें रखना चाहिए। मन्त्र बोलते ही, पद, अन्वय और अर्थ तथा भावार्थ पुस्तक देखे बिना बोल सकें, ऐसा आपका अध्ययन होना चाहिए। आप आपने किसी मित्रके हाथमें पुस्तक रखें। और आप मन्त्र, पद, अन्वय अर्थ और भावार्थ जबानी बोलते जाएँ, जब इस प्रकार मन्त्र शुद्ध जबानी याद होंगे, तभी समझे कि इस पुस्तक का अध्ययन संपूर्ण हुआ।

६. पाठक यहाँ दिया हुआ अर्थ देखें और कण्ठ करें, परन्तु साथ ही अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे भी अधिक अर्थ की खोज करें। स्वतन्त्र रीतिसे विचारशक्ति का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

पाठक यदि एक एक मन्त्र प्रतिदिन याद करते जायँगे, तो तीन सौ मन्त्रोंकी पुस्तक एक वर्षमें निःसंदेह याद हो सकेगी। जैसे जैसे अभ्यास बढता जाएगा, वैसे वैसे पाठशक्ति भी बढेगी और एक वर्षमें इससे दो तीन गुणे मन्त्र स्मरणमें रह सकेंगे।

आशा है पाठक इस पाठविधिसे अधिक से अधिक लाभ उठाएँगे।

औंध (सातारा)

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संचालक, स्वाध्याय-मण्डल

ब्राह्मण क्या थे?

(लेखक- श्री० रायसाहब श्रीभारतचन्द्र चौधरी, बी० ए०, विद्यावारिधि, सिलहट)
[अनुवादक- श्री० विद्यालङ्कार श्री शिवनारायण शर्मा, माईथान- आगरा]

जन्मगत ब्राह्मण ।

हिंदुओं की धारणा है कि, मनुष्य मृत्यु के बाद यम-राज के लोक में जाता है, वहां पापफल भोगकर तब स्वर्गमें जाता है। स्वर्लोकमें पुण्यभोग शेष होने पर पृथ्वीपर फिर जन्म लेता है। यह धारणा बिलकुल सत्य है। किन्तु यहां एक समस्या उपस्थित होती है कि, यमालयमें पाप का भोग और स्वर्लोकमें पुण्य का भोग यदि समाप्त हो गया, तब तो मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो गया, फिर उस का जन्म क्यों होगा ? इस का संक्षिप्त उत्तर कहते हैं।

मनुष्य दश इंद्रियुक्त स्थूल देहद्वारा भूलोकमें, काम-क्रोधादि भावमय कामदेहद्वारा भुवर्लोक वा कामलोकमें, एवं सङ्कल्प-विकल्प-विचार शक्ति आदि समन्वित कारण देहानुकल्प मानस देहद्वारा स्वर्लोक वा मानस लोकमें साथ ही साथ निवास करता है। स्थूल देह जिस तरह परमाणुओं से बनता है, कामदेह (सूक्ष्म शरीर) भी उसी तरह सूक्ष्म परमाणुओंद्वारा गठित है, और मानसदेह (कारण-शरीर) उस से भी सूक्ष्मतर परमाणुओं से बनता है। चैतन्यसत्ता (वा consciousness) देहाश्रय से अपना प्रकाश जीवरूप से करती है। जीवित कालमें हमारी चैतन्यसत्ता स्थूल-देहाश्रयी है, मरने पर वह कामदेहाश्रय करेगी, किन्तु स्थूल-देह की भांति काम-देह की भी मृत्यु है। पार्थिव मृत्युकाल में चैतन्यसत्ता स्थूल देह त्यागकर कामदेह का आश्रय करती है, और कामदेह के मृत्युकाल में वह चैतन्य कामदेह से मानस देहमें सञ्चारित होता है। यमालयका दूसरा नाम भुवर्लोक, कामलोक और प्रेतलोक है। भुवर्लोकमें सात स्तर हैं, उनमें सब से नीचे के तीन स्तर यम का दक्षिणद्वार कहे जाते हैं, एवं कामलोक का केवल यही अंश यन्त्रणाप्रद और नरक कहा जाता है।

नरक और स्वर्ग में यथाक्रम से पाप पुण्य भोग कर लेने के बाद मुक्ति क्यों नहीं होती, यह समझने के लिये एक दृष्टान्त लिखते हैं। रामने क्रोधित होकर यदु पर प्रहार किया। इस प्रहारकर्म का दो तरह का फल उत्पन्न होगा। (१) कामदेहस्थित क्रोध जातीय उपादान आलोडित होकर शक्ति प्राप्त करना। एवं (२) प्रहार जनित एक अदृष्ट (संस्कार) उत्पन्न होना। जो व्यक्ति जीवित-काल में अनेक वार क्रुद्ध होकर क्रोध का बल बढाता है और बढा चुका है, मृत्यु के बाद कामदेहमें इस क्रोध को जीर्ण करने में उसे बहुत समय लगेगा। जिसका कामदेह जितना दुर्बल है, मृत्यु के बाद उसका कामदेह उतना ही शीघ्र क्षय होता है, एवं जीवात्मा भी उतना ही शीघ्र स्वर्लोकमें जा सकता है।

जीवित काल में कामक्रोधादिके अनुशीलन द्वारा काम-देह को सबल करने से ही मृत्यु के बाद कामदेहमें वास करना होता है, कामदेह में वास करना ही नरकभोग है। किन्तु इस नरकभोगद्वारा पूर्व कहा हुआ प्रहारजनित अदृष्ट नष्ट न होगा, क्योंकि अदृष्ट वासना से उत्पन्न है और दूसरे के साथ उस का सम्बध रहता है। इस जन्ममें वा पर जन्ममें प्रहृत व्यक्ति से बदला मिले बिना वह अदृष्ट नष्ट न होगा। कामक्रोधादि नरक के देनेवाले होने ही के कारण रिपु कहे गये हैं, किन्तु ये अदृष्ट के जनक नहीं हैं। पुनर्जन्मप्राप्ति के हेतुभूत अदृष्ट वासना से उत्पन्न हैं।

अब हमने समझा कि मनुष्य का मृत्युमार्गसे गमनागमन तीन देहों के आश्रय से सम्पन्न हुआ। पृथिवी पर का जल भाप बनकर अन्तरिक्षमें जाता है और वहां से मेघमंडलमें जाकर कण-देह (crystal) अवलम्बनकर कुछ देर विचरने के बाद वृष्टिरूप से भूतल पर गिरता है, उसी तरह मनुष्य स्थूलदेह त्यागकर कामदेह के आश्रय से भुवर्लोकमें, और कामदेह त्यागकर मानस देह से स्वर्लोकमें जाता है और अपने किये पुण्य-परिमाण-काल वहां अवस्थिति कर फिर भूलोकमें जन्म लेता है। किन्तु हम तीन

+ पहला लेख- वैदिक धर्म- जून १९४१ पृ० २२५ पर देखो।

देहों के आश्रय से जन्म-मृत्युद्वारा गमनागमन करता कौन हैं? यही कारण देहाश्रयी जीवात्मा। उसका स्वरूप और प्रकृति क्रमशः इस प्रबन्धमें स्पष्ट होगी। जीवात्माको कहांसे ये तीन शरीर प्राप्त होते हैं, अब उस की आलोचना करते हैं।

यह तो सब ही जानते हैं कि, मातापिता से हम को स्थूल-देह प्राप्त हुई है; स्थूल देह के जनक की भांति कामदेह और मानस देह के जनक भी पितृ ही कहे जाते हैं। मार्कण्डेय पुराण के ९६ अध्याय के रुचिस्तवमें अग्निष्वात्त बर्हिषद आदि के सिवाय और भी इकतीस पितृगणों का उल्लेख है। देहगठनरूप जो विराटकर्म विश्व सृष्टि के अन्तर्गत है, उस का सम्पादन करना ही उनका कर्तव्य है। एक एक गणमें बहु संख्यक पितृलोग हैं, देवता, असुर, सिद्धचारण आदि विभिन्न श्रेणीके जीवोंका कामदेह, मानसदेह इत्यादि गठन करना विभिन्न गणों के पितृलोगों का कर्तव्य है। इनका विस्तृत वर्णन वायुपुराण और मत्स्यपुराणमें देखिये, किन्तु पौराणिक विचार प्रणाली से यदि प्रवेश न कर सकोगे, तो समझमें नहीं आ सकेगा। हम यहां केवल मानवीय पित्रों की बात कहते हैं।

मानव का मानसदेह अग्निष्वात्त पितृगण निर्माण कर देते हैं, क्योंकि मानस देहाश्रित मानुष देवतारूपसे स्वर्गभोग करते हैं, एवं अग्निष्वात्त गणद्वारा वह निर्मित होता है। पुराण पाठक जानते हैं कि, पुराणोंमें अग्निष्वात्त गण देवपितृरूप से वर्णित हुए हैं। स्वर्गमें ३३ जाति के देवता हैं। वे चार श्रेणियों में विभक्त हैं, यथा— (१) अष्ट वसु, (२) एकादशरुद्र (३) द्वादश आदित्य (४) दो अश्विनीकुमार (इन्द्र और प्रजापति) इनके सिवाय जिनको हम देवतारूप जानते हैं वे स्वर्लोकवासी नहीं हैं, बल्कि महर्लोक जनलोक आदि अन्यान्य लोकोंमें वास करते हैं और उनके विभिन्न पितृगण हैं। वसु रुद्र आदि की संख्या जोडने से तेतीस होती हैं। इन तेतीसमें प्रत्येक के अन्तर्गत असंख्य वा कोटि देवता हैं, इसी से तेतीस कोटि देवता प्रसिद्ध हैं। देव-पितृ-अग्निष्वात्तगण सात श्रेणीमें विभक्त हैं, उनमें से तीन श्रेणी निर्वाणोन्मुख और अमूर्त हैं, इन्होंने कर्म की सीमा अतिक्रम कर ली है। अवशिष्ट चार श्रेणी अपने अनुरूप देवदेह निर्माण करती हैं, एवं देहनिर्माताओं की चार श्रेणीभेद हैं, वा प्रकृति भेद-वश देवताओं के चार श्रेणीभेद हुए हैं। मानवीय मानस-देह उक्त चार श्रेणी के अग्निष्वात्त पितृगणद्वारा गठित होने से मानुष की विचारप्रणाली (Reasoning) एवं स्वतःसिद्ध ज्ञान (intuition) प्रत्येक चार प्रकार का हुआ है। (१) आस्तिक, (२) आनुमानिक, (३) दार्शनिक और (४) वैज्ञानिक। इन चार प्रकृतियोंमें मनुष्यों की विचारप्रणाली विभक्त है। फिर स्वतःसिद्ध ज्ञान प्रकारभेद से (१) सहजात, (२) सविकल्प-समाधिगत, (३) निर्विकल्प-समाधिगत और (४) गुरुपदध्यानलब्ध ये चार संज्ञा प्राप्त होती हैं।

देहनिर्माता अग्निष्वात्तादि पित्रों के श्रेणीभेदानुसार देवताओंमें जैसे वसु आदि चार श्रेणी हैं, मनुष्यों की भी उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार स्वाभाविक श्रेणी हैं। इस श्रेणी-विभाग का वर्णभेद कहा जाता है, क्योंकि यह प्राकृतिक विभेद कामदेह के वर्ण-विभेद पर प्रतिष्ठित है। शास्त्रमें कहा है और इस देशमें सब ही जानते हैं कि, ब्राह्मण श्वेतवर्ण, क्षत्रिय रक्तवर्ण, वैश्य पीतवर्ण और शूद्र कृष्णवर्ण हैं। अनेक लोक समझते हैं कि, स्थूल देहके ही ये वर्ण होना उचित है। कृष्णवर्ण होने से चाणक्य अब्राह्मण सिद्ध हुआ था, एवं इस अपमान-जनित क्रोधाग्नि से नन्दवंश का नाश हुआ था। किन्तु हम जानते हैं कि, स्वयं व्यासदेव ब्राह्मण होकर भी कृष्ण-वर्ण थे, एवं राम, कृष्ण और अर्जुन क्षत्रियोचित रक्तवर्ण देहधारी नहीं थे। इससे समझा जा सकता है कि, ब्राह्मणादि का वर्णभेद स्थूलदेहानुयायी नहीं हैं। यदि स्थूल देह के वर्णानुसार ब्राह्मणादि का वर्णभेद-निर्णय किया जाय, तो यूरोपीयों को ब्राह्मण, अमेरिका के रेड इण्डियनों को क्षत्रिय, चीनवासियों को वैश्य एवं निग्रो जाति को शूद्र मानना पडेगा।

वस्तुतः कामदेह के वर्णानुसार ब्राह्मणादि वर्ण निर्णीत हुए थे। जो पितृगण मानव का कामदेह निर्माण करते हैं, देवपितृ-अग्निष्वात्तादि की भांति इन की भी सात श्रेणियां हैं। उनमें से तीन श्रेणी वे पार्थिव कर्म की सीमा अतिक्रम की है, एवं शेष चार श्रेणी मानव का कामदेह निर्माणमें नियुक्त हैं। मत्स्यपुराण के त्रयोदश अध्याय में मत्स्यरूपी भगवानने मनु से कहा है—

हन्त ते कथयिष्यामि पितॄणां वंशमुत्तमम् ।
स्वर्गे पितृगणाः सप्त त्रयस्तेषाममूर्तयः ॥२॥
मूर्तिमन्तोऽथ चत्वारः सर्वेषाममितौजसः ।
अमूर्तयः पितृगणा वैराजस्य प्रजापतेः ॥३॥

अर्थ-- अहो ! तुम से पित्रों का वंश वर्णन करता हूं । स्वर्गमें सात प्रकार के पितृगण हैं, उनमें तीन प्रकार के मूर्तिरहित हैं। सब के पितृरूपी चार प्रकार के शेष मूर्ति-सम्पन्न हैं। जो अमूर्त हैं वे वैराज प्रजापति की सृष्टि के पितृरूपी हैं। अर्थात् जो अमूर्त हैं, ये मानव का कामदेह गठन नहीं करते, किन्तु वैराज प्रजापति जिन जिन भिन्न लोकों के सृष्टिकार्यमें नियुक्त हैं, उस सृष्टि का प्रयोजनीय देहनिर्माण उनका कर्तव्य है ।

जो चार श्रेणी के पितृ मानुष का कामदेह निर्माण करते हैं, वे श्रेणीभेद से श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण, इन चार वर्णवाले हैं। ये अपने अपने वर्ण के अनुरूप देह निर्माण करते रहते हैं। कामदेह के वर्णानुयायी ब्राह्मणादि का स्वाभाविक वर्णभेद वा श्रेणीभेद होता है। किन्तु ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, शूद्र का पुत्र शूद्र इत्यादि श्रेणी-भेद कृत्रिम है, स्वाभाविक नहीं। इस कृत्रिम श्रेणीभेद को जिस भाव से स्वाभाविक वर्णभेद के साथ सङ्गत किया हुआ था, उसी से आर्य ऋषियों की सर्वदर्शिता, अतु-लनीय प्रतिभा और विश्वहितैषिता का परिचय पाते और उस परिचय से विस्मयमें विभोर हो जाते हैं। यह विस्मयकर व्यापार क्रमशः वर्णित किया जाता है ।

यूरोपमें वर्तमानमें Eugenics वा " उत्तम जनन विद्या " नाम से एक नूतन विद्या का अनुशीलन आरम्भ हुआ है। परीक्षाद्वारा बीजमिश्रण का विभिन्न फल जान-कर जिस से उत्कृष्ट सन्तानोत्पादन हो सके, केवल ऐसी प्रणाली से समाजमें यौन सम्मिलनकी व्यवस्था करना, इस विद्या का लक्ष्य है। Experiment और गवेषणा के फल से जो तत्त्व (Mendelism) आविष्कृत हुआ है, उस से यूरोप के प्राणिविज्ञानमें युगान्तर उपस्थित हुआ है। तथापि अबतक आविष्कृत सत्य का परिणाम इतना थोड़ा है कि, उस को भित्ति मानकर उसके ऊपर कोई पूर्णाङ्ग सामाजिक शृङ्खलागठन नहीं की गई है। जर्मन पण्डित Weismann गर्भस्थ सन्तान की (Embryo) प्राथमिक गठन-प्रणाली के अनुधावनद्वारा जो तत्त्व आवि-ष्कार कर गये हैं, वैज्ञानिक लोग अभी उसका सम्पूर्ण फल-भोग नहीं कर सके हैं, क्योंकि वे स्थूल जगत् के साथ सूक्ष्म जगत् का सम्बन्ध अभी तक आविष्कार नहीं कर सके हैं, एवं स्थूल जगत् को स्वतन्त्र समझने से विजमैन के आविष्कृत तत्त्व की पूर्ण सङ्गति नहीं होती। इस बीसवीं शताब्दि का पाश्चात्य विज्ञान अभी अन्धे की तरह लाठी के सहारे "उत्तम जनन का मार्ग" खोजता है, किंतु भारतीय ऋषि उत्कृष्ट सन्तान पाने का उपाय हजारों वर्ष-पूर्व आविष्कार करके उसे समाजमें प्रवर्तित कर सके थे, एवं विज्ञान जितनी दूर तक अग्रसर हुआ है, उससे ऋषियों का आविष्कृत मार्ग सत्यपर प्रतिष्ठित सिद्ध होता है ।

पाश्चात्य देश में Heredity वा " वंशानुसृति " विज्ञान की आलोचना होती है । पिता की व्याधि, पिताके चरित्र की कुछ विशेषता इत्यादि किस तरह सन्तान में सञ्चारित होती है; और क्यों अनेक स्थलों में पिता के साथ सन्तान का सादृश्य नहीं पाया जाता; फिर क्यों प्रपितामह की कोई व्याधि वा प्रकृति उसके पुत्र वा पौत्र में प्रकट न होकर प्रपौत्र में आकर देखी जाती है, इत्यादि प्रश्नों की गवेषणा यूरोप में बडी तेजीसे आगे बढ रही है। इन विषयों पर वहां अनेक मूल्यवान खण्ड आविष्कृत होते हैं, तथापि बाह्य जगत् की सब अवस्थाओं का साम-ञ्जस्य वा सङ्गतिविधान कर सके, ऐसा कोई व्यापक-तत्त्व अब तक वैज्ञानिक सिद्धान्तरूप में परिणत नहीं हुआ है। वैज्ञानिकों का अटल और साग्रह अध्यवसाय होने पर भी उनकी दृष्टि बहिर्मुखी होने से कृतकार्यता पाने में विलम्ब होता है। जिसका मूल भीतर है उसे बाहर खोजने से किस तरह पाओगे ।

प्राणिविज्ञान-विषय में आर्य ऋषियों के आविष्कार की कथा अब कहता हूं। ऋषि परोक्षद्रष्टा थे, अतएव उनका आविष्कार अनुमान मात्र नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन के ऊपर प्रतिष्ठित है ।

मनुष्य का अन्नमय कोष सदा परिवर्तनशील है, यह निरन्तर शीर्ण होता रहता है, इसीसे इसका नाम शरीर है। प्रतिक्षण असंख्य परमाणु शरीर से उड जाते हैं, और भुक्त वस्तु के समीकरण द्वारा नये परमाणुओं से वह स्थान

पूर्ण हो जाता है। मान लीजिये कि, आज हमने वेगुन खाया; तो खाये हुए वेगुन के कुछ परमाणु समीकरण प्रणाली से परिवर्तित होकर हमारे मस्तिष्क से श्रवणेन्द्रिय में गये। हम आज जितने शब्द सुनेंगे प्रत्येक शब्द स्पन्दन के साथ उक्त परमाणु स्पन्दित होंगे। हमने जितने प्रकार के शब्द सुने इन परमाणुओंने उतनेही प्रकार शब्दानुग स्पन्दनशक्ति पाई। भुक्त वेगुन के जिन परमाणुओं का दर्शनेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुआ, उन्होंने हमारे विभिन्न प्रकार दर्शन के फलसे विभिन्न रूपानुग-स्पन्दन-शक्ति प्राप्त की।

वेगुन में दर्शन वा श्रवणशक्ति नहीं है, अतएव दर्शन वा श्रवण की अभिज्ञता इन परमाणुओं ने हमारे शरीर में आकर प्रथम प्राप्त की। ऋषियों के मत से परमाणु भी निर्जीव न हीं हैं; मानुष वा तदूर्ध्वश्रेणीके जीवों की भांति इनका भी अभिज्ञताद्वारा क्रमविकास होता है। ये परमाणु हमारी देह में स्थायी न रहेंगे, ये वेगुन जन्म व्यतीत कर मनुष्य-देहमें पुनर्जन्म को प्राप्त हुए थे, फिर उनका मृत्युकाल उपस्थित हुआ, तो हमारी देह से विच्युत होकर अन्य किसी की देह में भिन्न आकार से जन्म लेंगे। किन्तु उनकी अर्जित शब्दानुग स्पन्दन- शक्ति वा रूपानुग -स्पन्दन-शक्ति नष्ट न होगी। श्रवण वा दर्शन का सुयोग उपस्थित होते ही वे तदनुसार स्पन्दित हो सकेंगे और उसके द्वारा श्रवण वा दर्शन की सामर्थ्य बढा लेंगे। यदि इन परमाणुओं में से कोई कटहल के पत्ते में नव जन्म प्राप्त करे तो उसकी दर्शन-श्रवणानुग स्पन्दनशक्ति कुछ काल निद्रित रहेगी; किन्तु यदि किसी बकरीने उस पत्ते को खा लिया तो ये परमाणु बकरी के अन्य किसी शरीरांश के साथ समीकृत न होकर, पूर्वार्जित शक्ति की प्रेरणा से श्रवण वा दर्शनेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होंगे और उनकी पूर्वार्जित शक्ति फिर जाग उठेगी।

क्रमोन्नति का यह अतुलनीय भगवत्- विधान केवल परमाणु-जगत् ही के लिये नहीं है, बल्कि पशु, पक्षी, मानुष, गन्धर्व, देवता आदि सबमें एक ही विधान से जन्म मृत्युद्वारा अभिज्ञता प्राप्त करते करते, क्रमोन्नति के मार्ग पर चला जाता है। ऐसा मङ्गलमय जिसका विधान है, आइये, उस मङ्गलमय के उद्देश्य से भक्तिविगलित हृदय से प्रणत हों।

आज हमारी देहमें जितने परमाणु हैं, सातवर्ष में वे उड जायंगे, एक भी शेष न रहेगा। इनका स्थान खाये हुए पदार्थों से समीकृत नये परमाणुओं के दखल में हो जायगा। यह पाश्चात्य विज्ञान सम्मत है। तब प्रश्न यह होता है कि, सात वा सत्तर वर्ष के पूर्व की अनुभूति फिर हममें कैसी रहती है? कलकत्ते के मास्टर मदन ने असाधारण सङ्गीत-ज्ञान लेकर जन्म लिया तो उसकी पूर्वजन्मार्जित सङ्गीतविद्या किसकी सहायता से मृत्यु और परकाल अतिक्रम करके इस जन्म में आकर उसका आश्रय कर सकी? पाश्चात्य विज्ञानने जडवादी होने से मस्तिष्क में स्मृति का स्थान निर्णय किया था। किंतु क्रमशः अपना भ्रम समझ सकते हैं। एक जन्म का ज्ञान वा स्मृति मस्तिष्क के आधार से परजन्म में नहीं पहुंच सकती; क्योंकि मस्तिष्क के साथ से जीव का सम्बन्ध मृत्यु के साथ ही विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु जीवात्मा का आश्रय करके स्मृति अवस्थान करती है, यह मत ग्रहण करने से सब भ्रम दूर हो जाता है। अतएव जीवात्मा में पूर्वजन्म के संस्कार रह जाते हैं, और पारिपार्श्विक अवस्थाघटित सुयोग उपस्थित होते ही वे थोडे थोडे जागरित हो जाते हैं, यही मत सत्य प्रतीत होता है। किन्तु यह मत केवल तर्क की खातिर से मान लेनेसे सत्य का अनुभव न होगा, सत्य-अवधारण के लिये, जीवात्मा शब्द की वाच्यवस्तु सम्यक् समझनी होगी।

हमने समझाया है कि, शुद्ध चैतन्यसत्ता (consciousness) आकाश की भांति निर्विकार है; योगवासिष्ठ में यह सत्ता चिदाकाश नाम से अभिहित हुई है। विभिन्न देहाश्रय से इस चैतन्य सत्ता की विभिन्न उपाधियां होती हैं, व्यापकभाव से चैतन्यसत्ता सात व्याहृतियों में प्रकटित होती है। प्राणी का आश्रय होने के कारण व्याहृति का नामान्तर 'लोक' है। प्रत्येक लोक के परमाणुद्वारा गठित मानुष की विभिन्न सात देह हैं।

गीता के त्रयोदश अध्यायमें चैतन्यसत्ता को क्षेत्रज्ञ और प्रत्येक श्रेणी के देह को क्षेत्र कहा गया है। वास्तवमें क्षेत्र की लीला ही के लिये ही क्षेत्र सृष्ट हुए हैं, क्षेत्र के व्याहृतिरूप सात स्तरोंमें तपः और सत्य हमारे लिये

अव्यक्त हैं, एवं भूलोक और भुवर्लोक नाशवान हैं। क्योंकि स्थूल और कामदेह नाशवान है, मृत्यु के अधीन है। अतएव जनः, महः और स्वर्लोक के परमाणुद्वारा गठित त्रिविध देह को समष्टिभाव से अनेक स्थलोंमें कारण-शरीर कहा गया है। किन्तु वास्तवमें जनलोक का देह ही कारण शरीर वाच्य है। ब्रह्मा की लोकसृष्टि जनलोक से आरम्भ हुई थी। सनकादि कुमार जनलोक के अधिवासी हैं। इन्होंने सृष्टि करने की आज्ञा सुनकर ब्रह्मा की आज्ञा नहीं मानी, तब ब्रह्मा के क्रोध से रुद्र की उत्पत्ति हुई। इस के बाद ब्रह्मा के मानस पुत्र ऋषि नामधारी प्रजापति-गण उत्पन्न हुए, उन्होंने सृष्टि की। महर्लोक ऋषियों का आवास स्थान है।

मुण्डकोपनिषद के तृतीय मुण्डक के प्रथमखण्ड में

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि-षस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाक-शीति ॥१॥

इस प्रसिद्ध मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा-भेद से मानस-देहमें स्थित दो आत्माओं का उल्लेख है। परमात्मा द्रष्टा और जीवात्मा भोक्ता है। परमात्मा सत्य और तपो व्याहृतिमें अधिष्ठित क्षेत्रज्ञ है; वह अव्यक्त रहकर अनासक्तभाव से समस्त दर्शन मात्र करता है, किंतु स्वयं निर्लिप्त है। और जन से भूपर्यन्त पांच व्याहृतियोंमें अधिष्ठित क्षेत्रज्ञ का नाम जीवात्मा है, यह व्यक्त है, कर्मी है, वह संसार-संसर्ग से अभिज्ञता प्राप्त करता है और उस का फल भोगता है। संसारासक्त जीवात्मा का (१) स्थूलदेह दश इंद्रियों की अधिष्ठान-भूमि हैं, (२) कामदेह काम-क्रोधादि भावों का आश्रयस्थल है, (३) कारण वा मानस देह सङ्कल्प, विकल्प, विचार आदि का आवास है। (४) महर्लोक के उपादान से गठित आत्मिक देह सर्व विकार रहित शुद्ध ज्ञान का स्थान है, (५) महर्लोक के उपादान से गठित वैदिक देह बुद्धि और स्वतःसिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान का आश्रय है।

जीवात्मा स्थूल-देहस्थ दश इंद्रियों की सहायता से बाह्य पदार्थों के संसर्ग में आया। यदि इंद्रिया न होतीं तो यह भी नहीं जान सकता कि बाहर संसार है वा नहीं। भूर्भुवादि विभिन्न लोकों के उपादान से गठित विभिन्न देह यदि न रहतीं, तो उन लोकों की बाह्य वस्तुओं के साथ जीवात्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता। बहिर्ज्ञान पाने के लिये प्रत्येक लोक में देह की जरूरत है। ब्रह्मसत्ता ने स्वरूपावस्थित न रहकर जो अनेक रूप से अपना विकाश किया उसका उद्देश्यही यह हुआ कि खण्ड आत्मा अनात्म वस्तु वा बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्धयुक्त होकर अभिज्ञता प्राप्त करे, अथवा गीता की भाषा में पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करें। ये कई एक बातें अच्छी तरह समझ लेने से जान पडता है कि, हम जन्म-मृत्यु का रहस्य उद्घाटन करके जन्म-जन्मान्तर के पूर्वार्जित ज्ञान वा स्मृति की अबाध गति का कारणतत्व समझ सकेंगे और साथ ही बीजगत वर्णभेद का व्यापार भी परिष्कार हो जायगा।

इससे पूर्वस्थूल देह के उपादानभूत परमाणुओं के निरन्तर परिवर्तन की बात कही है। इस परिवर्तन से सात वर्ष में देह नये परमाणुओं द्वारा पुनर्निर्मित होती रहती है। यहां प्रश्न उठा था कि, इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन के बाद सात वर्ष वा उससे अधिक पूर्ववर्ती काल की स्मृति मानस देह में अवस्थित रहने पर भी स्थूल-देह के मस्तिष्क में वह किसके आश्रय से फिर उदित होती होगी? इस के उत्तर में और एक तत्व की व्याख्या करने से सब रहस्य स्पष्ट हो जायगा।

अखण्ड परमात्मा का जन्म-मृत्यु नहीं है। जो जीवात्मा जन्ममरणद्वारा ज्ञान से क्रमोन्नति प्राप्त करता हुआ चला है, वह खण्डात्मक है, व्यापक नहीं है। इसकी खण्डता का उपादान क्या है, वह हमको जानना आवश्यक है। काशिदास ने महाभारत के एक अंश में लिखा है- "यत्र जीव तत्र शिवरूप नारायण"। नारायण व्यापक चैतन्य-सत्ता है, और शिव पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र, विशिष्ट खण्ड-भाव है। भूलोकका एक परमाणु, भुवर्लोकका एक, स्वर्लोकका एक, महर्लोक का एक और जनलोकका एक ये पांच परमाणु एकत्र ग्रथित रह कर चैतन्य सत्ता के आश्रय से जीव-संज्ञा प्राप्त होती है। महर्लोक के परमाणु (वा बुद्धितत्व) से निःसृत एक सूत्र द्वारा ये परमाणुपञ्चक ग्रथित रहने से इसको सूत्रात्मा कहा जाता है। यह सूत्रात्माही जन्म-

मरणद्वारा गमनागमन करता है, और इसी में हमारी अर्जित सब प्रकार की अभिज्ञता सञ्चित रहती है। जिस वस्तु को सूत्रात्मा नाम से कहा है, उसकी प्रकृति अच्छी तरह समझ सकने से, जीव प्रकृति समझाने में फिर कुछ बाधा न होगी।

तन्त्र मत से मूलाधार में जो जीवरूपी शिव निवास करता है, वही यह सूत्रात्मा है। दर्शन, श्रवण, स्पर्शन आदि जितने प्रकार के स्पन्दन इस स्थूल- देह में उदित होते हैं, उन प्रत्येक के साथही सूत्रात्माग्रथित भू-परमाणु स्पन्दित होते रहते हैं। हमारी देह में स्थित असंख्य परमाणु उस एक परमाणु को ही आहार संग्रह किया करते हैं।

हम यदि गुलाब को सूंघे तो घ्राणेन्द्रिय संसृष्ट परमाणु स्पन्दित होकर सूत्रात्मा स्थित भूपरमाणु को स्पन्दित करेंगे। इसी प्रकार दश इन्द्रियों के कार्य द्वारा वह भूपरमाणु निरन्तर स्पन्दित होते हैं और नाना प्रकार की स्पन्दन-शक्ति प्राप्त करते हैं। दर्शनेन्द्रिय की सहायता से अशेष प्रकार की रूपानुग-स्पन्दन-शक्ति, घ्राणेन्द्रिय की सहायता से असंख्य गन्धानुग स्पन्दन शक्ति, तथा अन्य तीन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से क्रम से अनन्त प्रकार रसानुग, स्पर्शानुग और रूपानुग स्पन्दन शक्ति प्राप्त करके बहिर्जगतविषयक ज्ञान से सृष्टि प्राप्त करते हैं। इन स्थायी भूपरमाणुओं द्वारा सूत्रात्मारूपी शिव स्थूल जगत् का ज्ञान आहार वा आहरण करते हैं, इसी से उनके पञ्च वक्त्र में से एक वक्त्र और उस स्पन्दनशक्ति के नियामक सत्व, रज और तमः गुण की ज्यो ज्ञानोन्द्भासक त्रिविध क्रिया है, वही त्रिनेत्र हैं। पण्डित पाठक "अत्र वक्त्रे वक्त्रे त्रिनेत्रः" इस वाक्य की भी सङ्गति कर सकेंगे। अथवा भूपरमाणु को पूर्ववक्त्र माननेसे केवल "पूर्वे वक्त्रे त्रिनेत्र" यह मत-भेद भी समझ जायेंगे। समस्त विश्वप्रकृति इस 'प्रमत्त शक्तिसंयुक्त' सूत्रात्मारूपी शिव का आलिङ्गन करके उन्हें "श्रृङ्गारादि रसोल्लास" कर डालती है।

किन्तु सूत्रात्म ग्रथित भूपरमाणु केवल ज्ञानाहार करके ही क्षान्त नहीं रहते बल्कि वे कर्मेन्द्रियों की सहायता से बहिर्जगत् को भी आलिङ्गन दानकर कृतार्थ करते हैं। बाह्य वस्तु के साथ ज्ञानेन्द्रिय के उपस्पर्श से जो स्पन्दन उत्पन्न होता है, वह सूत्रात्मा स्थित भूपरमाणुओं के सहयोग से भुवः परमाणुओंमें सञ्चारित होकर क्रमशः स्वः- परमाणु और महः- परमाणुमें होते हुए जन परमाणुओंमें जा पहुँचते हैं। फिर जन वा उस से ऊपर के दो लोकोंमें किसी से उत्पन्न कोई स्पन्दनतरंग निम्नगामी होकर स्वर्लोकमें पहुँचने से कोई वासना सिद्ध हो, तो वह भुव परमाणुओंमें अवतरण करने पर, उस स्पन्दनतरंग वासना के अनुयायी कर्मेन्द्रियविशेष को आश्रय करके बहिर्जगत में अपना प्रकाश करती है। बोलने की वासना होनेपर वह स्पन्दन भूपरमाणुसे वागिन्द्रियका आश्रय करेगी, इत्यादि। मस्तिष्क के साथ सुषुम्नामार्ग से सूत्रात्मा-स्थित भूपरमाणु का संयोग है, एवं मस्तिष्क से शरीर से सर्वांगमें विशेष कर इंद्रियों के द्वारक अनुमति-ग्रहण और भाव-प्रेरण के निमित्त, दो प्रकार (Sensory and motor) के स्नायु वा नाडियां फैली हुई हैं। शङ्कराचार्यने आत्मानात्मविवेक का विषय लिखा है; इस आत्मवस्तु और अनात्मवस्तुमें आदानप्रदान के निमित्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के आश्रय से जो विस्मयकर कौशलमय और जटिल यन्त्र इस स्थूल देहमें निर्मित हुए हैं, उन्हें पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने आविष्कार करके तब मनोविज्ञान (New psycholgg) तयार किया है। यहां उस का वर्णन करने का अवकाश नहीं, यही दुःख है।

अब देखिये सूत्रात्मा स्थित भूपरमाणु, इंद्रियों के साथ बाह्य जगत्के उपस्पर्शसे जैसे नूतन नूतन स्पन्दन-शक्ति प्राप्त करते हैं, उसी तरह अन्तर्जगत् सम्भूत बहिर्गामी स्पन्दन से भी नित्य नवशक्ति प्राप्त करते रहते हैं। यहां किसी किसी के मनमें प्रश्न उठ सकता है कि, एक मात्र परमाणु में इतनी शक्ति का स्थान होगा कहाँ? जिन्हें ऐसा सन्देह उठे, वे शुक्ल यजुर्वेदीय शान्ति मन्त्र को विचार लें।

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

पूर्णमें से पूर्ण को, अनन्तमें से अनन्त को घटाने से पूर्ण वा अनन्त शेष रहता है। अब आप किसको अपूर्ण वा ससीम कहेंगे? पूर्णमिदः-वह भी पूर्ण है, पूर्णमिदं-यह भी पूर्ण है। अनन्त ब्रह्म का क्षुद्रतम अंश इस जगत् का

प्रत्येक परमाणु ही पूर्ण है, उस की सीमा कहां पाओगे ? अनन्त ब्रह्माण्डरूप क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ की जो लीला चलती है, प्रत्येक परमाणुरूप क्षेत्रमें भी वही घटती है। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।" प्रत्येक परमाणु ही उस अनन्त देव की अनन्त लीला का क्षेत्र है। पाश्चात्य विज्ञान भी स्वीकार करता है कि, Macrocosm और Microcosm में कुछ भेद नहीं। बृहत् ब्रह्माण्डमें जो है, क्षुद्र ब्रह्माण्ड-परमाणुमें भी वही है। संसार की किसी वस्तुमें डुब की लगाने से समझ सकोगे कि, वह अतुल-स्पर्शी है। किन्तु डुबकी लगाने की शक्ति संग्रह करना आवश्यक है, अतएव सूत्रात्मास्थित भूपरमाणु जो अनन्त शक्ति सञ्चय करते रहें, तो इसमें सन्देह ही क्या है ? इस विषय का सन्देह उक्त शांति सन्त्रमें विचार कीजिये।

सूत्रात्मा-स्थित भूपरमाणु के जो लक्षण वर्णित हुए हैं, अवशिष्ट चार परमाणुओं के विषयमें भी वैसा ही समझिये। अन्तर केवल यह है कि, भूपरमाणुओं का साक्षात् संबंध इन्द्रियों के साथ है। किन्तु भुवः-परमाणुओं का सम्बन्ध कामक्रोधादि भावों के साथ है और स्वः- परमाणुओं का सम्बन्ध संकल्प-विकल्पादि के साथ है इत्यादि। इन भूपरमाणुओं का परिणाम क्या है, उस का विचार अब करना होगा। पूर्व कहा है कि, शुक्र द्रव्य समीकृत होने पर जो शारीरिक परमाणु उत्पन्न होते हैं वे निरन्तर उडते जाते हैं। हम प्रतिपल मरते और जन्म लेते रहते हैं।

रवि कविने यह भी कहा है कि- "जीवन तो मृत्युकी समाधि है।" जितने परमाणु नरदेह में देहांशरूपसे जन्म ग्रहण करते हैं वे सब ही जन्म काटकर मरते हैं। एवं मरकर देहच्युत हो जाती है किन्तु केवल सूत्रात्मास्थित परमाणु नहीं मरते हैं। उनमें निद्रा है, किन्तु महानिद्रा नहीं है। स्थूल देह के मृत्युकाल में जब सूत्रात्मा स्थूल देह से विच्छिन्न होता है, तब इंद्रियसंयोग न रहने से भूपरमाणु निद्रित हो जाते हैं। काम-देह की मृत्यु होने से भुवः- परमाणु भी इसी तरह निद्राग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु यह उनकी महा निद्रा नहीं है। पुण्यक्षय होने पर जब स्वर्गलोक से लौट-कर जीवात्मा कामदेह और स्थूल देह पाकर पृथिवीपर जन्म लेता है, तब ये फिर जाग्रत होते हैं और पूर्ववत् नूतन नूतन स्पन्दनशक्ति प्राप्त करते रहते हैं।

इन स्थायी परमाणुओं में पूर्वार्जित स्पदनशक्ति सञ्चित रहने से, पारिपार्श्विक अवस्था द्वारा उद्बुद्ध होने का सुयोग मिलने पर वे जाग्रत होते हैं। मानुष मानुष में जो शक्ति की विषमता है वह केवल सूत्रात्मा की वयस के ऊपर निर्भर है। क्योंकि जो सूत्रात्मा जितना पहले गठित हुआ है, उसकी अभिज्ञता उतनीही अधिक है, उसके स्थायी परमाणुओं में सञ्चित स्पन्दन-शक्ति संख्या और परमाणु में उतनी अधिक है और सामर्थ्य में भी उतनीही अधिक विकास को प्राप्त हुआ है। सूत्रात्माही जन्मान्तर ग्रहण करता है। जीव सम्बन्धी असंख्य परिवर्तनों में सूत्रात्माही ध्रुव है। जो सूत्र बाल्य और वार्धक्य को ग्रथित करता है वह यही सूत्रात्मा है और एक जीव के अनेक जन्मों में सम्बन्ध स्थापन करता है वह भी सूत्रात्मा यही है। फिर जब हम इस सौर जगत में मानवीय विकाश की सीमापर उपस्थित होंगे, तब एक नूतन श्रेणी के जीव जीवरूप से नूतन प्रकार का क्रमविकाश प्राप्त करने के लिये हमें एक नूतन सौर जगत में जाना होगा; तब भी हमारा सङ्गी यह सूत्रात्मा ही होगा। सूत्रात्मा सती स्त्री की भांति सर्वत्रही सहगमन करता है।

हमारे प्रति जन्म में अग्निष्वात्त पितृगण मानस देह और मानवीय पितृगण कामदेह निर्माण कर देते हैं। सूत्रात्मा-स्थित स्वः- परमाणु के अनुरूप मानस देह और भुवःपरमाणु के अनुरूप कामदेह गठित होता है। जो कण तत्व विषयक (Crystalograpby) विज्ञान का विषय जानते हैं उन्हें मालूम है कि, मिश्री तय्यार करते समय डोरे में जो कण लगा दिये जाते हैं, बने हुए कण वही आकृति धारणकर उसमें आ मिलते हैं, विश्वकर्मा के विवर्तन विभाग की निर्माण-प्रणाली सर्वत्र इसी प्रकार है। अतएव सूत्रात्मास्थित विभिन्न परमाणुओं के अनुरूप ही स्थूल देह, कामदेह आदि निर्मित होंगे, यही नियम है।

अब मानव के स्थूल-देह पाने की कथा कहते हैं। अग्निष्वात्त पित्रों से मानस-देह और मानवीय पित्रों से कामदेह पाकर जी मातापिता से स्थूल-देह पाता है, उस की प्रणाली ऐतरेयोपनिषद् प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्डमें इस प्रकार लिखी है—

" पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति।

पदेतद्रेतस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैतज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म। " (ऐ० उ० ४।१)

अर्थ— वह (जायमान-जीवात्मा) प्रथमतः पुरुषमें गर्भ होता है। समस्त अंग से सम्भूत तेज ही रेतः है। यह रेतः आत्मामें आत्मा को भरण वा पोषण करता है। जब यह स्त्रीमें सिञ्चन करता है, तब ही इस को जन्म देता है। वही इस का प्रथम जन्म है।

पुण्यक्षय से जीवात्मा स्वर्गच्युत होने पर स्वर्लोक के कर्म देवगण उसे अग्निष्वात्त पितृगण निर्मित मानस देहमें प्रवेश करा कर भुवर्लोक-स्थित कर्म देवों के हाथमें समर्पण कर देते हैं। ये जीवात्मा के कर्म फलानुसार उसे श्वेत, रक्त, पीत अथवा कृष्णवर्ण काम-देह में प्रवेश कराकर प्राक्तन कर्म और काम-देह के उपयोगी किसी पुरुषमें गर्भ-रूप से अर्पण करते हैं। यह गर्भ प्रथम दोनों भ्रू के बीच-स्थित चन्द्रलोकमें वास करता है। मनुष्य की आहार्य वस्तु की परिणतिसे रक्त उत्पन्न होता है। रक्त की परिणति से शुक्र उत्पन्न होता है, उसका स्थान उरस् वा वक्षःस्थल है। शुक्र की परिणति द्वारा चन्द्र उत्पन्न होता है, उस का स्थान भ्रूमध्य है। चन्द्र से मन, मन से बुद्धि इत्यादि क्रम परिणति की कथा यहाँ कहना आवश्यक नहीं। चन्द्र-स्थान भ्रूमध्य से स्त्रीमें सिञ्चित होनेपर्यन्त गर्भरूपी जीवात्मा पांच स्तर अतिक्रम करता है। ये स्तरपञ्चक एक एक करके छान्दोग्य-उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के चतुर्थ से अष्टम खण्डपर्यन्त एक एक खण्ड में वर्णित हैं।

(१) चन्द्रलोक में गर्भ श्रद्धा वा अनुरागद्वारा पुष्ट होता है, वहां से (२) उरस् वा वक्षमें आकर रजः प्रभादीप्त सोमाहुति द्वारा एवं (३) मूलाधारमें जाकर वर्ष वा अमृतरसद्वारा पुष्ट होता है। तत् परवर्ती स्तरमें (४) अण्डकोष में अन्न के विकार शुक्रद्वारा पुष्ट होकर (५) स्त्रीमें सिञ्चित होनेके बाद रेतः वा सर्वाङ्ग-सम्भूत तेजद्वारा पुष्ट होता है।

इन स्तरों का विचार वर्तमान प्रबन्ध के लिये आवश्यक नहीं। बल्कि जीवात्मा प्रथमतः जिस पुरुष में गर्भ होता है, वही हमें विचारना है। पुरुष जितना उन्नत होगा उतनाही उन्नत आत्मा उस में गर्भरूप से निवेशित होगा। अनुन्नत स्त्रीमें वह सिञ्चित होने से उसमें आंशिक अपकृष्टता आ जायगी, किंतु उसकी उन्नत प्रकृति न होगी। इसी कारण वर्णसङ्कर की उत्पत्ति में पिता जितने उच्च वर्ण का होगा पुत्र का स्थान उतनाही उच्च निर्णीत हुआ है। शास्त्र की इस व्यवस्था पर लक्ष्य करके ही कि यूरोप में " उत्तम जननविद्या की " सहायता से समाजशृंखला करने की दुर्बल चेष्टा मात्र चलती है, किन्तु इस देश में बहुत पूर्वकाल से उक्त विद्या पूर्णाङ्ग को प्राप्त हुई थी एवं तदनुरूप यौन सम्मिलन की व्यवस्था समाज में प्रवर्तित हुई थी।

पूर्ववर्णित सूत्रात्मा मानस देह में भी कामदेह द्वारा आवृत होकर पिता की देह का आश्रय करता है एवं भ्रूमध्य से उरस् द्वारा मूलाधार में जाकर पिता के सूत्रात्मा से मिलता है। फिर आनन्द के वेग से वहां से विच्युत होकर अण्डकोष के मार्ग से स्त्रीमें सिञ्चित होता है।

जिसका कामदेह शुक्लवर्ण है, उससे साधारणतः शुक्लवर्ण कामदेहवाला सूत्रात्माही गर्भरूप से अर्पित होता है। किन्तु मूलाधार में पिता और गर्भ का सूत्रात्मा जब मिश्रित भाव से रहते हैं, तब पिता के दोष-गुण गर्भ में संक्रामित होकर उसका अपकर्ष वा उत्कर्ष सम्पादन कर सकते हैं। एवं पिता के सूत्रात्मा की उस समय की अवस्था ही गर्भ में संक्रामित होती है। प्रत्येक मनुष्य में दोष और गुण दोनोंही हैं अर्थात् प्रत्येक सूत्रात्मा में जैसे उन्नत श्रेणी की स्पन्दनशक्ति सञ्चित है, वैसे ही अपकृष्ट जातीय स्पन्दनशक्ति भी है। दोनों सूत्रात्माओं की मिलनावस्था के समय यदि पिता के सूत्रात्मा में मन्द जातीय स्पन्दन उद्भूत हो, तो वह सन्तान में संक्रामित होकर उसका भविष्यत् नष्ट करेगा। वस्तुतः इसी कारण अनेक जगह सच्चरित्र पिता के कुचरित्र पुत्र उत्पन्न हुए हैं, पिता का गुप्त मन्दचरित्र संक्रामित होनेही का कारण ऐसा हुआ है। अब समस्या यह खडी हुई कि, किस उपाय द्वारा वंश उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता रहे ? किस उपाय से पिता के दोष गर्भ में संक्रामित होने रोके जा सकते हैं ! हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियोंने इस समस्या का भी समाधान किया था, वह नीचे लिखते हैं।

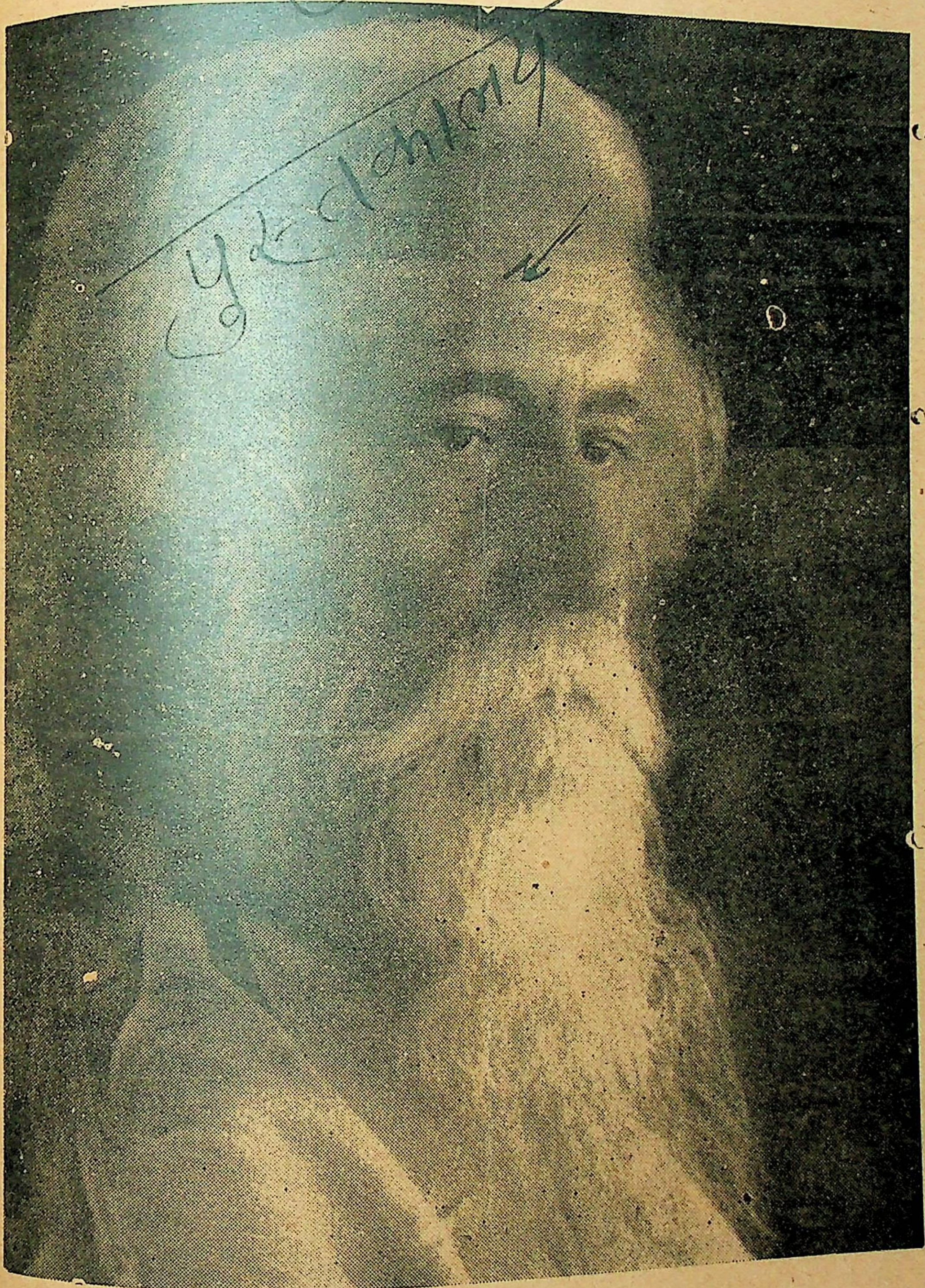
(क्रमशः)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिक धर्म ।

सप्टेंबर १९४१
भाद्रपद १९९३



कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकूर ।

वर्ष २२]
क्रमांक २६१
[अंक ९

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]
संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क ९

विषयानुक्रमणिका

१ ईश्वर उपासना । ३५१
२ श्रीवाल्मिकि रामायणका मुद्रण । ३५२
३ रामायणकालीन आर्यसंस्कृति । (२) वाल्मिकिवाक्प्रदीप वि० दा० पंडित ३५३
४ योग क्या है ? ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्यदेव ३९३
५ ब्राह्मण क्या थे ? श्री भारतचंद्र चौधरी ४०१
६ चार वेदोंकी संहिताएं । ४०८

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६१

वर्ष २२ : : : : अङ्क ९

भाद्रपद संवत् १९९८

सितंबर १९४१

ईश्वर उपासना।

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥

(ऋ० ८-६-२८)

" (गिरीणां उपह्वरे) पर्वतों की गुहामें, तथा (नदीनां संगमे) नदियों के संगम में उपासना करने से जो (धिया) धारणावती बुद्धि प्राप्त होती है, उससे (विप्रः) विशेष ज्ञानी, विशेष प्रतिभासम्पन्न विद्वान्, विशेष उच्च ज्ञानका अनुभव करनेवाला (अजायत) होता है। "

ईश्वर उपासना के लिये ये एकान्त-स्थान अच्छे हैं।

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण।



वाल्मीकि रामायण का मुद्रण शुरू हुआ है। एक दो महिनों में 'बालकाण्ड' छपकर तैयार होगा। इस ग्रंथ में बालकाण्ड के कथाभाग का विवरण चित्रों और नकशों के साथ रहेगा।

पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानोंमें विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शा कर सत्यपाठ दर्शाया है।

इस बालकाण्ड में तीन रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं। जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है।

काण्ड की समाप्ति के पश्चात् विस्तृत टीका तथा टिप्पणी और विवरण दिया है। वानर कौन थे, राक्षस कौन थे, ये मानववंशीय थे या और कुछ थे, आर्यराजाओं की सभ्यता कैसी थी और वानरों और राक्षसों की सभ्यता किस प्रकार की थी, यह सब सप्रमाण यहां बताया है। इसलिये यह ग्रन्थ केवल वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही नहीं है, यह ग्रन्थ एक रामायणकालीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है।

इस तरहकी इतिहासिक विवेचना इस समयतक किसीने नहीं की है, अतः यह अपूर्व ग्रन्थ है।

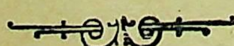
इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। बालकांड प्रकाशित होनेपर यह मूल्य २२) होगा, और आगे प्रत्येक काण्ड प्रकाशित होनेपर २) रु. मूल्यमें वढते जायंगे। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायण की एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)
Aundh, (Dist. Satara)



रामायणकालीन आर्यसंस्कृति।

(प्रथम भाग)

(लेखांक ४.)

क्या राक्षस और वानर अनार्य थे?

(लेखक- श्रीवाल्मीकिवाक्प्रदीप विष्णु दामोदरशास्त्री पंडित (तोफखाने), ग्वालियर आर्मी ऑर्डनन्स्-रिटायर्ड)
[अनुवादक— लेफ्टनन्ट् बालकृष्ण दामोदरशास्त्री पंडित, ग्वालियर आर्मी-रिटायर्ड]

राक्षस और वानर Barbarians (बार्बेरियन्) अर्थात् बर्बर नहीं थे, यह हमने पूर्वलिखित निबन्धों में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है। अब पाश्चात्य पंडितों का जो दूसरा विधान है कि, 'राक्षस और वानर अनार्य थे' उसकी मिथ्यात्वसिद्धि, यही प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है। इसके लिए सबसे पहले 'आर्य' शब्द का अर्थ क्या है, तथा 'आर्य' किसको कहना चाहिये, आदि बातों का निर्णय होना आवश्यक है।

'आर्य' शब्द का निर्णय, वह शब्द जिस भाषा का है, उसी भाषा के शास्त्रानुसार ही होना चाहिये। क्योंकि, किसी भाषा के शब्द के अर्थ का निर्णय, उसी भाषा के व्याकरणानुसार उस शब्द का धात्वर्थ, प्रकृतिप्रत्ययविभाग, रूढार्थ, व्याप्ति, अव्याप्ति इत्यादि कुल बातें पूर्ण विचार में लेकर ही होना चाहिये। अन्यथा उस शब्द के अर्थ का निर्णय होना नितान्त अशक्य है। 'आर्य' यह शब्द मूलतः वैदिक भाषा का है। ऋग्वेद में यह शब्द कमसे कम २०-२५ जगह आया हुआ है, उनमें से यहां केवल तीनही उदाहरण दिये जाते हैं। 'आर्य' शब्द के अर्थ-निर्णय के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे।

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः॥
(ऋग्वेद ८।१०३।१)

इस मंत्र में 'आर्यस्य' का 'उत्तमवर्णस्य' ऐसा अर्थ भाष्यकारोंने किया है। 'आर्य' यानी 'उत्तमवर्णीय पुरुष।' अब यहां यह शंका उपस्थित होती है कि, 'उत्तमवर्णीय' यानी कैसा? तो उसका निराकरण निम्न लिखित मन्त्रद्वारा किया जाता है—

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुताऽदेव इन्द्र युधये चिकेतति। (ऋ० १०।३८।३)

इस मन्त्रमें 'आर्य' शब्द का अर्थ भाष्यकारोंने "आर्यः त्रैवर्णिकः" इस प्रकार किया है; यानी आर्यों को पूर्वोक्त मन्त्रमें जो 'उत्तमवर्णीय' कहा है, उस 'उत्तमवर्णीय' शब्द के अर्थ में 'त्रैवर्णिक' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य ये तीनों वर्ण समाविष्ट हैं। तीनों 'द्विज' अर्थात् ब्राह्मण ही हैं। तीनों वर्ण उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठान करने के अधिकारी हैं। उपनयन यह एक धार्मिक संस्कार है। अर्थात् उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठान का अधिकारी जो 'त्रैवर्णिक समाज' उसी का बोधक 'आर्य' शब्द है। यानी उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठान का अधिकारी जो 'त्रैवर्णिक' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये ही 'आर्य' हैं। 'आर्य' शब्द की वेदनिर्णित व्याख्या इस प्रकार है।

यहाँ अब शंका उपस्थित हो सकती है कि, उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठान का अधिकारी जो त्रैवर्णिक वही 'आर्य' है, तो कोई म्लेच्छ, यवन वा क्रिश्चियन भी यदि अपना उपनयनसंस्कार करवा ले और वेदोक्त कर्मानुष्ठान करने लगे, तो क्या वह भी 'आर्य' कहा जा

सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि, 'वह 'आर्य' नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि, 'उपनयनसंस्कार' जन्मतः त्रैवर्णिक अर्थात् जन्मही से जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य है, उसी के लिए विहित है। अर्थात् जो जन्मही से ब्राह्मण है, या जन्मही से क्षत्रिय है, या जन्म ही से वैश्य है, उसी का उपनयनसंस्कार हो सकता है। जो जन्मतः त्रैवर्णिक नहीं है, उनके लिए उपनयनसंस्कार की विधिही नहीं है। अतएव त्रैवर्णिकबाह्य जो शूद्र और यूरोपीयन, यवन आदि म्लेच्छ हैं, उनका उपनयनसंस्कार हो ही नहीं सकता। यदि कोई त्रैवर्णिकबाह्य मनुष्य हठात् अपना उपनयन करवा ले और वेदोक्त कर्म करने लगे, तो भी वह जन्मतः 'त्रैवर्णिक' न होने के कारण 'आर्य' नहीं कहा जा सकेगा। यह बात निम्नलिखित मंत्र से स्पष्ट होती है--

> अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ॥
>
> (ऋ० १०।४९।३)

इस मंत्र का भाष्य 'आर्यं पूज्यं इति असाधारणं नाम दस्यवे न दत्तवान् अस्मि,' इस प्रकार है। इस मंत्र के अनुसार 'दस्यु' को 'आर्य' कहने का स्पष्ट निषेध है। अतएव 'उपनयनसंस्कारपूर्वक' 'वेदोक्त' कर्मानुष्ठान के अधिकारी जो 'त्रैवर्णिक' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये ही तीनों यथार्थतः 'आर्य' हैं, और चतुर्थ वर्ण जो शूद्र है, वह 'अनार्य' है। उक्त चारों वर्णों से जो बाह्य हैं- (अर्थात् यूरोपीयन् यवन आदि) वे वैदिकी दृष्टि से 'म्लेच्छ' वा 'दस्यु' हैं। वेदों के अनुसार 'आर्य' शब्द का निर्णय इस प्रकार से है।

अब इसी 'आर्य' शब्द का व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार विचार करेंगे। 'आर्य' यह शब्द 'ऋ' इस गतिवाचक धातु को 'ऋ-हलोर्ण्यत्' इस (पाणिनि ३-१-१२४) सूत्र के अनुसार 'ण्यत्' प्रत्यय लगकर सिद्ध हुआ है। अर्थात् 'आर्य' शब्द का धात्वर्थ 'गतिमान्', 'प्रगतिमान्' 'प्रगमनशील' इस प्रकार होता है।

निरुक्तान्तर्गत वैदिक निघण्टु के अध्याय ३, खण्ड ९ में 'अथ गति-कर्माण:' संज्ञक शीर्षक में जो १२२ गतिवाचक धातु कहे हैं, उनका निपात निरुक्त में 'आर्यति' ऐसा दिया हुआ है। अर्थात् 'आर्य' शब्द को ही गमनार्थी धातु मान कर उसका रूप 'आर्यति' ऐसा सिद्ध किया है। 'आर्यति इति आर्य:' अर्थात् 'जो आगे आगे बढता जाता है, जो प्रगमनशील है, वही आर्य है।' वेदों में 'आर्य' शब्द का धात्वर्थ यही अभिप्रेत है।

शब्दकल्पद्रुम, शब्दरत्नावली, हेमचन्द्र, रामाश्रमी, वाचस्पतीयम् आदि भाषाकोशकारोंने भी 'ऋ + ण्यत्' यही व्युत्पत्ति 'आर्य' शब्द की दी है, और स्वामी, गुरु, सुहृत, श्रेष्ठकुलोत्पन्न, श्रेष्ठ, पूज्य, उदारचरित, उदार, कर्तव्यकर्मानुष्ठाता, न्यायपथावलंबी, धर्मशील, सदाचारशील, सभ्य, सज्जन और साधु इत्यादि जितने 'उत्तम' 'श्रेष्ठ' और 'प्रशस्त' (High, noble, lofty and grand) अर्थवाचक शब्द हैं, वे सब 'आर्य' शब्द के पर्यायवाची शब्द कहे हुए हैं। वैदिक निरुक्तकार भी 'आर्य' शब्द का अर्थ 'ईश्वरपुत्र' कहते हैं। 'अर्य' का पुत्र सो 'आर्य'। 'अर्य' यानी 'जितेन्द्रिय' 'ईश्वर', 'दूसरों पर अपना अधिकार प्रस्थापित करनेवाला,' 'जो किसी का दास नहीं है,' इत्यादि 'आर्य' शब्द के रूढार्थ हैं।

उक्त 'आर्य' शब्द की व्याप्ति केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंतक ही मर्यादित है। त्रैवर्णिकबाह्य ❀ जो शूद्र और दस्यु यानी यूरोपीयन, यवन आदि म्लेच्छसमाज के लिए 'आर्य' शब्द की अव्याप्ति है। सारांश, जिस प्रकार बपतिसम (Baptism)

❀ प्रस्तुत निबन्धमें शूद्र, म्लेच्छ और दस्यु, आदि शब्दों का जो उल्लेख है, उन शब्दों का कुछ स्पष्टीकरण होना यहाँ पर आवश्यक जान पडता है। (१) शूद्र वर्ग यद्यपि 'अनार्य' है, तथापि उस को पर्यायतः वेदोक्त कर्मानुष्ठान का अधिकार होता है। (२) म्लेच्छ शब्द का अर्थ- जो आर्यभाषा का शुद्ध उच्चार नहीं कर सकता, 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे, अस्फुटे अपशब्दे' यही म्लेच्छ शब्द का धात्वर्थ भी है और (३) 'दस्यु' यह बिलकुल वर्णबाह्य ही है। चारों वर्णों के लोग जो क्रियादि लोप हो जाने के कारण पतित हो जाते हैं, वे 'दस्यु' कहलाते हैं। मनुस्मृतिमें 'दस्यु' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

संस्कारपूर्वक 'बायबल' उपदिष्ट कर्मानुष्ठान करनेवाला, वही 'क्रिश्चियन् होता है, 'सुन्नत' संस्कारपूर्वक 'कुरआन' उपदिष्ट कर्मानुष्ठान करनेवाला वही 'मुसलमान' होता है, उसी प्रकार 'उपनयन' संस्कारपूर्वक 'वेदोक्त' कर्मानुष्ठान करनेवाला जो 'त्रैवर्णिक' वही 'आर्य' है। यही 'आर्य' शब्द का निश्चयात्मक अर्थ है और यही उस शब्द की निश्चित व्याख्या भी है। इसी व्याख्या के अनुसार राक्षस और वानर 'आर्य' थे या 'अनार्य' थे, इसका विचार अब किया जाता है।

(१) क्या राक्षस अनार्य थे ?

(१) सीताजी का शोध करने के लिए जब हनुमानजीने लंकामें प्रवेश किया, तब उन्हें घर घरमें वेदघोष सुनाई दिया और स्वाध्यायनिरत अर्थात् वेदपाठ करनेमें निमग्न ऐसे राक्षस भी उन्होंने देखे। महर्षि वाल्मीकिने उस प्रसंग का वर्णन यों किया है-

शुश्राव जपतांस्तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै।
स्वाध्यायनिरतांश्चापि यातुधानान् ददर्श सः॥

(सुन्दरकांड ४।१३)

(२) तदनन्तर रात को अशोकवाटिकामें हनुमानजी रहे। प्रातःकाल होते होते उन को बडे बडे यज्ञयाग करनेवाले और षडंग-वेदज्ञाता ब्रह्मराक्षसों का सुस्वर और कर्णमधुर वेदघोष सुनाई दिया। महर्षि वर्णन करते हैं-

षडंगवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

(सुन्दरकाण्ड १८।२)

उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि, राक्षस वैदिक मंत्रों का जप किया करते थे। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिवचन के अनुसार सर्व काल स्वाध्यायनिरत अर्थात् वेदपठन में व्यस्त रहा करते थे। 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस श्रुतिवचन के अनुसार वे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्दःसूत्र-समवेत षडंग वेद के जाननेवाले तथा वेदप्रणीत महान् क्रतु (सयूप यज्ञ) करनेवाले थे। पुनः 'ब्रह्मरक्षसाम्' इन शब्दोंसे लंकामें ब्राह्मण-राक्षस, क्षत्रिय-राक्षस, वैश्य-राक्षस और शूद्र-राक्षस इस प्रकार वेदोक्त वर्णव्यवस्था का होना भी प्रतीत होता है। फलतः राक्षस 'अनार्य' नहीं, किन्तु 'आर्य' ही सिद्ध होते हैं।

(३) सीताजी को छोड देने के लिए रावण की प्रार्थना करने को प्रातःकालमें जब विभीषण गया, तब उसने देखा कि, रावणने यथाविधि पूजा करके, दान देकर जिन वेदपाठी ब्राह्मणों को संतुष्ट किया है, वे उस को वेदमंत्रपूर्वक आशीर्वाद दे रहे हैं। महर्षि कहते हैं-

पुण्यान् पुण्याहघोषांश्च वेदविद्भिरुदाहृतान्।
शुश्राव सुमहातेजा भ्रातुर्विजयसंश्रितान्॥८॥
पूजितान् दधिपात्रैश्च सर्पिर्भिः सुमनोक्षतैः।
मंत्रवेदविदो विप्रान् ददर्श स महाबलः॥९॥

(युद्धकांड सर्ग १०)

इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि, रावण ब्राह्मणभक्त था। वह नित्य वेदज्ञ ब्राह्मणों का पूजन किया करता था और वे ब्राह्मण उसको वेदमंत्रोंद्वारा विजयाशीर्वाद देते थे। अर्थात् राक्षस "अनार्य" नहीं थे।

(४) राक्षस जब युद्ध के लिए बाहर निकलते थे, तब प्रयाणसे पूर्व घरके अग्नि (गार्हपत्याग्नि) को आहुति देकर ब्राह्मणों से आशीर्वाद लिया करते थे। महर्षि कहते हैं-

हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्॥२१॥
स्रजश्च विविधाकाराः जग्रहुस्त्वभिमंत्रिताः॥२२

(युद्धकाण्ड, सर्ग ५७)

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः ते सर्वे दस्यवः स्मृताः॥

(मनु० १०।४५)

भाष्य (कुल्लूकभट्ट) 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां क्रियालोपादिना या जातयो बाह्या जाताः म्लेच्छभाषायुक्ता आर्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः।' म्लेच्छ मूलतः ही वर्णबाह्य होता है और ब्राह्मणादि आर्य तथा शूद्र अपने वर्णोचित संस्कारों के लोप से और वर्णोचित कर्मों के त्याग से तथा पारस्परिक अधर्म्य सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण 'दस्यु' बनते हैं। शूद्र भी पतित होने पर 'दस्यु' हो जाता है। अर्थात् दस्युजाति शूद्र से भी निकृष्ट होती है। 'दस्यु' शब्द लुटेरी जातियां (Criminal Tribes) यानी जरायमपेशा जातियों के लिए व्यवहार किया जाता है।

अर्थात् राक्षसों के घरों में अग्निहोत्र हुआ करता था। उस अग्नि में हवन करके, ब्राह्मणों की वंदना करके, ब्राह्मणों की दी हुई अभिमंत्रित पुष्पमाला को श्रद्धा के साथ प्रसादवत् गले में धारण करके तथा उनके आशीर्वाद ग्रहण करके राक्षसवीर युद्धार्थ रणक्षेत्र को जाया करते थे। इस वर्णन से भी राक्षसों का ब्राह्मणभक्त होना, अग्निहोत्र करना, वेदोक्त कर्मानुष्ठान करना आदि बातें प्रमाणित हो रही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि, वे 'आर्य' ही थे। 'अनार्य' नहीं थे।

(५) रणक्षेत्रमें रावणका अन्त होने पर उसका अन्त्य-संस्कार एक अग्निहोत्री के सदृश वेदोक्त मंत्रसेही किया गया था। उसका वर्णन युद्धकाण्ड सर्ग १११, श्लोक १०३ 'संस्कारयितुमारेभे भ्रातरं रावणं हतम्' से प्रारंभ करके

स ददौ पावकं तस्य विधियुक्तं बिभीषणः।
स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान् दर्भविमिश्रितान्॥१२०
उदकेन च संमिश्रान् प्रादाय विधिपूर्वकम्॥१२१

इस १२१ वे श्लोक तक मूल ग्रंथ में ही विस्तरशः देखा जावे। एवं च उपरिनिर्दिष्ट प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि, राक्षस विधिपूर्वक वेदोक्त कर्मानुष्ठान के अधिकारी थे। अर्थात् रावणादि 'वैदिक आर्य' थे, न कि 'अनार्य'। अतएव पाश्चात्यों का यह विधान कि, 'राक्षस अनार्य' थे, नितान्त भ्रांतिमूलक है, अतएव मिथ्या है।

अब वानर अनार्य थे या क्या? यह प्रश्न विचारार्थ लेते हैं।

(१) रावण को युद्ध का मद बहुत ही था। ज्योंही वह सुन पाता कि जगतीतल के ऊपर और भी कोई विख्यात वीर है, त्योंही वह उससे युद्ध करने के लिए चल देता था। उसने ज्योंही सुना कि, "वाली नामक किष्किन्धा का वानर राजा महान् बलाढ्य और अजेय है,' त्योंही उससे युद्ध करने हेतु वह किष्किन्धा को गया और उसने वाली को युद्धार्थ आह्वान (Challenge) दिया। वह समय मध्याह्न का था और वाली दक्षिण समुद्र पर मध्याह्न संध्या के लिये गया हुआ था। वालीके अमात्योंने कहा कि, 'हमारे महाराजा वाली दक्षिण समुद्र पर मध्याह्न संध्या के लिए गये हुए हैं। वे लौटकर आवें, तब तक आप विश्राम कर लें। परन्तु इस बात को आप खूब याद रखियेगा कि, यद्यपि आपने अमृतपान भी किया होगा, तो भी वाली से भिडंत होने पर जीते जी लंका को लौट जाना आपके लिए कठिन ही हो जायगा।

'इस पर भी आपको स्वर्गलोक में जाने की यदि इतनी जल्दी ही है, तो आप दक्षिण समुद्र पर पधारियेगा; वहाँ आप का हमारे महाराजा से मुकाबला हो जायगा।' प्रत्युत्तर में रावण ने उन अमात्यों की भर्त्सना करके पुष्पक विमान को दक्षिण समुद्र की ओर मोड दिया और वाली जहाँ संध्योपासना कर रहा था, वहाँ जा पहुँचा। वाली को सन्ध्योपासना में मग्न देखकर, उसे चुपचाप उठाकर समुद्र में फेंक देने के इरादे से रावण पुष्पकविमान से उतर कर दबे पाँव उसकी ओर जाने लगा। इसी समय संयोगवश किसी कारण से वालीने भी पीछे की ओर गर्दन फेरी थी। रावण का इस तरह दबे पैर अपनी ओर आना वालीने देख लिया और ताड लिया कि, उसका हेतु शुद्ध नहीं है। परन्तु उसकी कुछ भी परवाह न करके, मौन धारण कर गायत्रीमंत्र का जप करता हुआ वह निश्चल बैठे रहा। महर्षि कहते हैं-

शशमालक्ष्य सिंहो वा पन्नगं गरुडो यथा।
न चिन्तयति तं वाली रावणं पापनिश्चयम्॥१५॥
जपन् वै नैगमान् मंत्रान् तस्थौ पर्वतराडिव॥१८॥
(उत्तरकाण्ड सर्ग ३४)

अर्थात् 'जिस प्रकार खरहे को देखकर सिंह या सर्प को देखकर गरुड निर्भीक रहता है, उसी प्रकार पापबुद्धि को धारण किये हुए रावण को अपनी ओर आता हुआ देखकर वालीने उस की तनिक भी परवाह नहीं की और नैगम मंत्रोंका जप करता हुआ पर्वत के सदृश निश्चल बैठे रहा।'

उक्त श्लोकों में 'जपन् वै नैगमान् मंत्रान् तस्थौ पर्वतराडिव' यह वर्णन है, जिस से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वाली वैदिक मंत्र के जपानुष्ठान का अधिकारी था। अतः वह 'आर्य' ही था, 'अनार्य' नहीं था।

(२) श्रीरामचन्द्रजी के बाण से वाली गतप्राण होने के पश्चात् उसका और्ध्वदेहिक क्रियाकर्म वेदोक्त विधि से किया गया। उसका वर्णन महर्षि करते हैं-

ततोऽग्निं विधिवद्दत्वा सोऽपसव्यं चकार ह ।
पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ॥ ५० ॥
संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत् प्लवगर्षभाः ।
आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम् ॥ ५१ ॥

अर्थात् ' तत्पश्चात् अंगदने वाली को यथाविधि अग्नि देकर अपसव्य किया । विधिपूर्वक अर्थात् वेदोक्त विधि से वाली का अग्निसंस्कार (दाहक्रिया) करके सब बडे बडे वानरवीर उसे जलांजलि देने के लिए नदी पर आये । " वेदोक्त मृतकसंस्कार अर्थात् वेदोक्त मंत्रों से मृतक की दाहक्रिया और उदकक्रिया 'आर्यों' की होती है । 'अनार्यों' की नहीं होती ।

(३) सुग्रीव के राज्याभिषेक का वर्णन महर्षि ने इस प्रकार किया है—

ततस्ते वानरश्रेष्ठं अभिषेक्तुं यथाविधि ।
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोषयित्वा द्विजर्षभान् ॥ २९
ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं जातवेदसम् ।
मंत्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ॥३०॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ॥ ३४ ॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमान् जांबवांस्तथा ॥३५॥
अभ्यषिंचत सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवः वासवं यथा ॥ ३६ ॥
(किष्किन्धाकाण्ड सर्ग २६)

अर्थ- तत्पश्चात् उस वानरश्रेष्ठ को यथाविधि राज्याभिषेक करने के समय उन वानरवीरोंने सहस्रावधि महा विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन, वस्त्र और रत्नादि दान देकर सन्तुष्ट किया । तदनन्तर कुशों का परिस्तरण करके यानी होमकुण्ड के चारों ओर कुश बिछा कर समिधाओं से प्रज्वलित किये हुए अग्निमें वेदोक्त मन्त्रपूर्वक अभिमन्त्रणद्वारा पवित्र किये हुए हविर्द्रव्यों का हवन करके मन्त्रवेत्ता वैदिक ब्राह्मणोंने सूत्रकार महर्षियोंने बतलाई हुई विधि से सुग्रीव को राज्याभिषेक किया । यह अभिषेक गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, मैन्द, द्विविद, हनूमान्, जांबवान् इन श्रेष्ठ वानरोंने उत्तम सुगन्धयुक्त जलद्वारा जिस प्रकार अष्ट वसुओंने इन्द्रको किया था, उसी प्रकार सुग्रीव को अभिषेक किया । "

उक्त वर्णन से यह स्पष्टतया ज्ञात हो सकता है कि, वानरराज सुग्रीव ' आर्य ' था, न कि ' अनार्य ।' क्योंकि वेदोक्त विधि से राज्याभिषेक का अधिकार केवल ' आर्य ' को ही होता है; ' अनार्य ' को नहीं होता । वानरराज सुग्रीव का राज्याभिषेक तो पूर्णतः वेदविधि से ही हुआ है, अतएव सुग्रीव वानर का ' आर्य ' होना सर्वथा प्रमाणित है ।

पुनः हजारों वैदिक ब्राह्मणों को भोजन देने का तथा वस्त्र और रत्नादि दान देने का उल्लेख उपर्युक्त वर्णनमें है । ये दान लेनेवाले ब्राह्मण, तथा जिन मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने अभिषेक किया, तथा विधिपूर्वक हवनादि कर्म किये, वे किष्किन्धा ही के- वहीं के राजाश्रित पुरोहित होना निश्चित है । अर्थात् वानरोंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था थी, तथा वे वेदोक्त कर्मानुष्ठान के अधिकारी भी थे । अतएव वे ' आर्य ' ही थे, न कि ' अनार्य ' ।

यहाँतक के विवरण से यह बात पूर्णतया ध्यानमें आ जायगी कि, राक्षस और वानर दोनों वैदिक आर्य थे । उनमें वर्णव्यवस्था थी और वे वेदोक्त कर्मानुष्ठान के भी अधिकारी थे । फलतः पाश्चात्यों का यह विधान कि, ' राक्षस और वानर अनार्य थे, ' नितान्त अज्ञानमूलक अतएव मिथ्या है ।

जब कि, ' आर्य ' वेदोक्त कर्मानुष्ठान के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये ही तीनों वर्ण हैं, तो शेष रहा हुआ चौथा वर्ण जो शूद्र, वही ' अनार्य ' है । यूरोपीय तथा अन्यान्य यवन जातियाँ शूद्रवर्ण से भी निकृष्ट हैं । अर्थात् वे 'म्लेच्छ ' या ' दस्यु ' हैं । वैदिक ' आर्य ' की व्याख्यानुसार उन को ' आर्य ' नहीं कहा जा सकता। अब पाश्चात्य जर्मनादिक लोग भी अपने आप को 'आर्य' मानते हैं, सो उन का अपने आपको ' आर्य ' कह लेना कहाँतक ठीक है, इस का भी विचार होना चाहिये ।

इंग्लिश, फ्रेंच्, रशियन, जर्मन, आदि पाश्चात्य लोग अपने को ' आर्य ' बतलाते हैं । इनमें भी जर्मन लोगों की ' आर्य ' कहला लेने की आकांक्षा इतनी प्रबल दिखाई देती है कि, उन के विचार से जो लोग ' अनार्य ' निश्चित हुए हैं, उन से वे विवाहसम्बन्ध भी नहीं करते ।

इन तथा-कथित अनार्यों से वे इतना विद्वेष रखते हैं कि, वे इन्हें अपने देशमें भी रहने देना नहीं चाहते। हाल ही में जर्मनीने यहूदियों को जर्मनी से निर्वासित कर दिया है, क्योंकि जर्मन लोग- हिटलर- यहूदियोंको 'अनार्य' मानते हैं। जर्मन लोग स्वयं अपने को शुद्ध वंशके- आर्य रक्त के- समझते हैं और अपने शुद्ध रक्तमें 'अनार्य' 'ज्यू' के रक्त का मिश्रण नहीं होने देना चाहते। इस उदाहरण से यदि हमारे अद्ययुगीन सुधारप्रिय विद्वान् और राष्ट्र के नेता लोग योग्य शिक्षा लेंगे, तो राष्ट्र का बहुत बडा उपकार होगा।

अब यदि जर्मनादि यूरोपीय लोग खुद अपने को आर्य कहते हैं, तो यथेष्ट कह लें। तथापि उन का 'आर्य' शब्द हमारे 'वैदिक आर्य' शब्द का अर्थ नहीं रखता। क्योंकि, हमारा आर्य शब्द वैदिक कर्मानुष्ठान का अधिकारी अर्थात् धर्मप्रधान जो त्रैवर्णिक समाज है, उसी का वाचक है। पाश्चात्य 'आर्य' शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है। पाश्चात्य राष्ट्रोंमें धर्म को प्राधान्य है ही नहीं, अर्थ को है। अर्थात् पाश्चात्य समाज केवल अर्थप्रधान ही होता है। अर्थात् उस (पाश्चात्य) समाज का वाचक जो 'आर्य' शब्द है, उस के मूलमें यह आर्थिक भावना ही है। हमारा 'आर्य' शब्द धर्मप्रधान समाज का वाचक है, क्योंकि उस के मूलमें हमारी धार्मिक भावना है। अतएव हमारा 'आर्य' शब्द तथा पाश्चात्यों का 'आर्य' शब्द दोनों समानार्थी नहीं हो सकते। सारांश, पाश्चात्य समाज के लोग हमारी 'आर्य' शब्द की व्याख्या के अनुसार 'आर्य' नहीं हो सकते। फलतः वे और हम एक भी नहीं हो सकते। पाश्चात्य समाज यदि अपने को 'आर्य' कहता है, तो भले ही कह ले, हमारी उसमें तनिक भी हानि नहीं है। कोई अपने घरमें खुद को 'राजा' कहलाने लगा, तो पडोसी का उससे क्या बिगडने का है? अपने घरमें कोई 'राजा' ही नहीं, 'राजाधिराज' भी कहला ले, तो क्या हुआ? घर से बाहर कोई उस को नहीं पूछता। केवल नामधारण करने से ही कोई राजा, महाराजा या सत्ताधीश नहीं हो जाता।

समाज अथवा राष्ट्र के नेता ये शास्त्रकारों के सदृश होते हैं। प्रत्येक शास्त्रकार सौकर्यार्थ अपने शास्त्र की कतिपय परिभाषाएँ या संज्ञाएँ (सांकेतिक शब्द) निश्चित कर लेता है, और ऐसी संज्ञाएँ या संकेत अपनी इच्छानुकूल बना लेने के लिए वह स्वतंत्र भी होता है। परन्तु यह संज्ञाएँ या संकेत उसी के विवक्षित शास्त्र में ही सार्थ होते हैं। उस शास्त्र के बाहर उनको कोई सार्थकता नहीं होती। यथा, महर्षि पाणिनि अपने व्याकरणशास्त्र में 'वापी' को 'नदी' कहते हैं और 'बाल' को 'वृद्ध' कहते हैं; क्योंकि उन्हें अपने शास्त्र की प्रक्रिया के सौकर्यार्थ दीर्घ 'ई'कारान्त तथा दीर्घ 'ऊ' कारान्त स्त्रीलिंगी शब्दों को एक ही संज्ञा के द्वारा दिखाना है। अर्थात् जहां कहीं दीर्घ ईकारान्त या दीर्घ ऊकारांत स्त्रीलिंगी शब्द भाषा में आता है, वहाँ उस शब्दको वे (महर्षि पाणिनि) 'नदी' संज्ञक कहते हैं और यह कार्य वे अपने 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' (१-४-३) इस सूत्र के द्वारा सिद्ध कर लेते हैं। अर्थात् 'वापी' यह शब्द दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिंगी होनेके कारण, पाणिनीके शास्त्रानुसार 'नदी' यह संज्ञा पाता है। उसी तरह 'वृद्धाच्छः' (४-२-११४) इस सूत्र की सिद्धिके लिए 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' (१-१-७३) इस सूत्र से 'बाल' शब्दको 'वृद्ध' ऐसी संज्ञा महर्षि पाणिनि देते हैं। यानि 'बाल' को 'वृद्ध' कहते हैं। इस तरह महर्षि पाणिनि अपने शास्त्र में 'वापी' को 'नदी' और 'बाल' को 'वृद्ध' भले ही कहा करें, उनके शास्त्र में ही उन शब्दों की सार्थकता है। परन्तु व्यवहार में यदि 'वापी' को 'नदी' तथा 'बाल' को 'वृद्ध' कहा जाएगा, तो वह हास्यास्पद ही होगा।

सारांश, शास्त्रकारों की संज्ञाएँ, संकेत और व्याख्याओं की सार्थता उन्हींके शास्त्रों तक ही मर्यादित रहती हैं। इसी न्याय से जो राष्ट्र या समाजके नेता होते हैं, वे भी अपने राष्ट्र या समाज के लिए कोई संज्ञा या नियम निश्चित कर लेते हैं, अर्थात् ऐसी संज्ञाओं या ऐसे नियमों की व्याप्ति भी उसी राष्ट्र या समाजतक ही मर्यादित रहती है। अतः पाश्चात्य लोगों के 'आर्य' शब्द की व्याप्ति भी उन्हीं के समाजतक ही मर्यादित है। हमारे 'आर्य' शब्द से उसका कुछ भी संबंध नहीं है। हमारा 'आर्य' शब्द उपनयनपूर्वक वेदत्रयी-प्रणीत कर्मानुष्ठान का अधिकारी धर्मप्रधान समाज का वाचक होने के कारण उसकी व्याप्ति ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य इस वर्णत्रयीतक ही मर्यादित है। यूरोपीय या तत्सम अन्य जो अर्थप्रधान समाज हैं, उन के 'आर्य' शब्द से हमारा 'आर्य' शब्द सादृश्य नहीं रखता। अर्थात् हम 'भारतीय आर्य' और 'यूरोपीय आर्य' दोनों एक नहीं हो सकते। संक्षेपतः जिस तरह, जो क्रिश्चियन् नहीं, वह Infidel (इन्फिडेल्), जो 'इस्लाम' नहीं, वह 'काफिर' है, उसी तरह जो 'त्रैवर्णिक' नहीं, वही 'अनार्य' है। यही हमारा निर्णय है।

पाश्चात्यों का आर्यानार्यविचार का जो शास्त्र है, उसे 'शीर्षमापनशास्त्र' कहते हैं। उस शास्त्र के अनुसार खोपरी की विशिष्ट आकृति पर से वे लोग आर्यत्व या अनार्यत्व का निर्णय करते हैं। उसी तरह शारीरिक वैशिष्ट्य-द्वारा तथा शरीर के वर्णद्वारा भी पाश्चात्य विद्वान् आर्यानार्यत्व निश्चित करते हैं। अब पाश्चात्य समाज तो प्रागतिक है। उसमें प्रतिदिन नये नये विद्वान् उदित हो रहे हैं और नये नये आविष्कार वे लोग कर रहे हैं। उन लोगों की बुद्धिमत्ता समुद्रतल से लेकर सूर्यमण्डल तक, या यों कहिये कि उसको भी फोडकर अंतरालतक स्वैर भ्रमण करती रहती है। आज उनके यहाँ एक विद्वान् ने शीर्ष-मापनशास्त्र का आविष्कार किया और प्रमाणित कर दिया कि, किसी एक विशिष्ट आकार की खोपरीवाला मनुष्य ही आर्य है और ऐसी खोपरी जिसकी नहीं है, वह अनार्य है।

कल दूसरा कोई विद्वान् उठेगा और 'नासिकामापन-शास्त्र' का आविष्कार करके कहेगा कि, 'जिस किसी की नाक इतने इतने इंच लंबी और सीधी हो, वही आर्य, अन्यथा अनार्य है।' और परसों कोई तीसरा महा-पंडित 'कर्णमापनशास्त्र' का आविष्कार करेगा और उसके आधार से कह उठेगा कि 'जिसके कान इतने इतने इंच लंबे हों, वही आर्य है, अन्यथा अनार्य है।' सारांश, हरएक विद्वान् अपने अपने मतानुसार प्रतिपादन करता रहेगा, लेकिन वह सब सत्यही होगा, यह निश्चय नहीं है। क्योंकि विद्वान् लोग कुशल चित्रकारों के सदृश होते हैं। कुशल चित्रकार जैसे समतल चित्रफलक पर ऊंचे पहाड, गहरे गर्त, विस्तीर्ण समुद्र, रेतीले मैदान, ऊँचे गगनचुंबी वृक्ष और छोटे छोटे पौधे आदि के दृश्य दिखा सकते हैं, वैसेही विद्वान् पंडितगण अपना अपना पक्ष समर्थन करने के लिए अपने बुद्धिसामर्थ्य द्वारा सच को झूट और झूट को सच प्रमाणित करके दिखा सकते हैं। यथा--

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्तीह वादिनः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥

वस्तुतः समतल फलक पर या दीवार पर ऊँचे पहाड भी नहीं होते और गहरे गढे भी नहीं होते, पानी की बूँद भी नहीं होती और छोटासा पौधा भी कहीं नहीं होता। तथापि चित्रकार अपनी कुशलता की सामर्थ्यद्वारा देखनेवालों को भ्रम में डाल सकता है; उसी तरह विद्वान् लोग भी अपनी तर्कवितर्क-कुतर्कप्रचुर वाक्पटुताद्वारा जनता को भ्रम में डाल सकते हैं।

पाश्चात्य पंडितों के मतानुसार गौरवर्ण, ऊंचे कदका, चौडे ललाट का, ऊँची और उठावदार नाकवाला, पतले होंठोंवाला, बडी चमकीली आँखोंवाला इत्यादि लक्षणों से युक्त मनुष्य आर्य है। अर्थात् इनके विपरीत लक्षणों का मनुष्य--यानी कृष्ण वर्ण का, नाटे कद का, सकडे ललाट का, चपटी नाकवाला, मोटे होठोंवाला तथा बारीक आँखोंवाला आदमी अनार्य है। परन्तु इनके मतानुसार आर्यानार्यत्व-निर्णय करनेसे क्या दृश्य दिखाई देगा, सो भी देख लीजिये।

एक स्त्री के कई पुत्र और कन्याएँ हैं। उनमें एक पुत्र ऊंचे कद का है और दूसरा नाटे कद का है। अर्थात् पाश्चात्यों के मतानुसार इन दोनों भाइयों में से एक भाई आर्य और दूसरा अनार्य होगा। एक कन्या चौडे ललाट की तथा लंबी और उठी हुई नाकवाली और दूसरी सकरे ललाट की तथा चपटी नाकवाली है, अतः पहली बहन आर्य है और दूसरी अनार्य है। बहिन ऊँचे कद की और गौरवर्ण की है, तो भाई नाटे कद का और श्यामवर्ण का है, अतएव बहिन आर्य है और भाई अनार्य है! लेकिन यह कहाँतक संभवनीय है?

हमारे आधुनिक नवमतवादी विद्वानों में से भी कोई विद्वान् महाशय व्यक्तिभिन्नता के आधार पर यह कह उठेंगे कि 'Paternity is but an inference' (यानी पितृत्व केवल अनुमानहीसे जाना जा सकता है।) उनके इस आक्षेप का उत्तर यही है कि, कोई एक ही व्यक्ति कद की लंबी और रंग से काली, अथवा नाटे कद

की परन्तु गोरे रंग की, बडी और सतेज नेत्रोंवाली लेकिन मोटे होंठोंवाली ऐसे मिश्र लक्षणों से युक्त भी हो सकती है। ऐसी व्यक्ति के लिए Inference (अनुमान) निश्चयात्मक क्यों कर हो सकता है ? और ऐसी मिश्र-लक्षणसपन्न व्यक्ति के विषय में आर्यानार्यत्व का निर्णय भी किस तरह किया जाय ? यदि इसका किसी विद्वान् ने कोई निश्चयात्मक सिद्धान्त आविष्कृत किया हो, और यदि लोकोपकारार्थ वे महाशय उसे प्रकाशित करेंगे, तो उनकी बडी कृपा होगी।

हमारी अल्पबुद्धि के अनुसार स्थूल शरीर के आकार से या वर्ण से आर्यानार्यत्व निश्चित करने का पाश्चात्य पंडितों का सिद्धान्त भ्रांति-उत्पादक अतएव मिथ्या है। आर्यत्व आत्मोन्नतिपर अधिष्ठित है; केवल शारीरिक या भौतिक उन्नति पर निर्भर नहीं है। उसके लिए आत्मोन्नति के सहयोग की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए **उपनयनपूर्वक वेदत्रयीप्रणीत कर्मानुष्ठान के अधिकारी जो भारतीय आर्य हैं, वे ही यथार्थ में आर्य हैं। पाश्चात्य लोग अथवा यवन आर्य नहीं हैं, अनार्य हैं।**

हमारे पाश्चात्य विद्याविभूषित विद्वानों में भी बहुतेरे सज्जन यूरोपीय लोगोंको आर्य कहते हैं और अपने विधान की पुष्टि में यह कहते हैं कि, उत्तर ध्रुव से जो आर्य नीचे दक्षिण की ओर उतर कर फैलते गये, उन की एक शाखा यूरुप में गई और दूसरी शाखा एशिया में से होती हुई सिन्धु नद के मार्गसे भारतवर्ष में आई। भारतीय आर्यों के पूर्वज और यूरोपीय आर्यों के पूर्वज मूलतः एक ही हैं, अतः भारतीय आर्य और यूरोपीय आर्य एक ही वंश के हैं और इस ऐक्य को वे विद्वान् लोग भारतीय आर्यों की भाषा और यूरोपीय लोगों की भाषा के कतिपय शब्दों के उच्चारसाम्य से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यथा- (१) पितर्-फादर्, (२) मातर्-मदर्, (३) भ्रातर्-ब्रदर् इत्यादि सम्बन्धवाचक शब्द, अथवा (१) त्रिंशतिः-थर्टी, (२) षष्टिः- सिक्स्टी, (३) अशीतिः- एटि (४) नवतिः- नाइन्टी इत्यादि संख्यावाचक शब्द। इसी तरह कतिपय शब्दों के अर्थों का साम्य या कतिपय चालचलन या व्यवहारसादृश्य इत्यादि बातें हमारे विद्वान् लोग, भारतीय आर्य और यूरोपीय लोगों का ऐक्य प्रमाणित करने के लिए आगे रखते हैं। परन्तु इस तरह उच्चार-सादृश्य से या अर्थसादृश्य से ऐक्य सिद्ध होता ही है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। यदि शब्दों के उच्चारसाम्य से ऐक्यसिद्धि हो सकती है, तो (१) Harry David और ' हरी द्विवेदी ' दोनों एक ही व्यक्ति हैं, यह सिद्ध होने में कोई प्रत्यवाय नहीं हो सकता। लेकिन ये दोनों व्यक्तियाँ पृथक् हैं। Harry David एक इंग्लिश सज्जन हैं और हरि द्विवेदी एक भारतीय आर्य ब्राह्मण है। Mr. Carson और कर्सन, Mr. Vancutt और वेंकट भी एक हो जाएँगे, परन्तु वास्तव में वे एक नहीं हैं। एक यूरोपीय है और दूसरा भारतीय है। (२) Lancashire लँकेशायर और लंकेश्वर दोनों का उच्चारसाम्य है, अतः उनको भी एक मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, परन्तु वस्तुतः वे एक नहीं हैं। Lancashire लँकेशायर यह इंग्लिश्तान का एक कसबा है और लंकेश्वर यह एक प्राचीन भारतीय राक्षस राजा का नाम है। (३) Thames तेम्स् और तमसा भी उच्चारसादृश्य से एक नहीं हो सकते, क्योंकि टेम्स् नदी इंग्लिश्तान में है और तमसा नदी भारतवर्ष में अयोध्या के पास शरयू नदी में गिरनेवाली एक नदी है। फलतः उच्चारसादृश्य की दलील टिक नहीं सकती। इसी तरह अर्थसादृश्य से भी ऐक्यसिद्धि नहीं होती। यथा- (१) Mr. Hills, मिस्टर हिल् और श्रीयुक्त डूंगरसी या श्रीयुक्त पर्वतराय 'एक' नहीं कहे जा सकते। (२) Lord Tenmouths लॉर्ड टेन्माउथ और महाराज दशानन एक ही व्यक्ति नहीं माने जा सकते, क्योंकि न तो वे एक व्यक्ति ही हैं और न वे एक देशके या एक वंशके भी हैं, यह बात सूर्यप्रकाश जैसी सत्य है। सारांश, भाषाशास्त्र के अनुसार भी ऐक्य के लिए केवल शब्दों का उच्चारसाम्य या अर्थसाम्य ही पर्याप्त नहीं होता, अपितु व्युत्पत्ति, व्याकरण और इतिहास का भी आधार होना चाहिये। तात्पर्य, खाली उच्चार-**सादृश्य या अर्थसादृश्य से ऐक्यसिद्धि** नहीं हो सकती।

अब जो कुछ भी साम्य यहां दिखाई देता है, उस का भी कारण है। वह यह है कि, विजयी राष्ट्र के लोगों की

भाषा, आचारविचार, रहनसहन इत्यादि बातों का संस्कार विजित लोगों की भाषा, आचारविचार और रहन-सहन आदि पर हो ही जाता है। यह एक ऐतिहासिक सिद्धान्त है और उसका प्रात्यक्षिक अनुभव भी हमें मिल रहा है। भारतवर्ष पर मुसलमानों के आधिपत्यकाल में हमारी भाषा में यावनी शब्दों का कितना मिश्रण हुआ है? तत्पश्चात् ब्रिटिश आधिपत्य में भी हमारी भाषा में इंग्लिश भाषा के शब्दों का मिश्रण हो गया।

यह मिश्रण अब इतना पक्का हो गया है कि, कई शब्दों के बारेमें वह शब्द मूलतः हमारा है या परकीय है, इस की कल्पना भी हमें अब नहीं रही है। आज हमारा रहन-सहन, रीतिरिवाज इंग्लिश पद्धति के अनुसार हुए जा रहे हैं। कन्या-पुत्र के नामकरणमें भी इंग्लिश नामों का अनुकरण होने लगा है। पितापुत्र, भाईभाई, भाईबहिन, पतिपत्नी आदि का आपसी पत्रव्यवहार तथा संभाषण भी आंग्ल भाषामें होता है और वह शिष्टाचार (Etiquette) माना जाता है। पुत्र या कन्या को पुकारते हुए प्रायः इंग्लिश उपनाम (Nicknames) का उपयोग किया जाता है। यथा– बॉब्, बेबी आदि (Bob, Baby etc.)। हमारे भारतीय रस्मरिवाजों से और देशभाषा से हम शनैःशनैः इतने दूर जा रहे हैं कि, कालान्तरसे वे ही रस्म-रिवाज भविष्यत् के विद्वान् लोगों के लिए संशोधनविषय (Research works) हो जाएँगे और देशभाषा या मातृभाषा केवल 'classics' क्लॅसिक्स याने शास्त्रीय भाषा के सदृश ही रह जायगी। यह जो परिणाम परकीय आधिपत्य के कारण भारतीय लोगों पर वर्तमानकाल में दिखाई देता है, भूतकालमें एक जमानेमें यही दशा अन्य राष्ट्रों की भी उन पर भारतीय आधिपत्य होने कारण हो चुकी थी और उस समय उन राष्ट्रों पर भी हमारी भाषा आदि का परिणाम हो गया था।

महाभारतीय युद्ध के समय कौरव सार्वभौम थे और उन का आधिपत्य ग्रीक, रोमन, इत्यादि यवनराष्ट्रों पर था। गत यूरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) में जिस प्रकार भारतीय सेनाएँ सार्वभौम सरकार की सहायता के लिए-सार्वभौम झंडे के तले युद्ध के वास्ते यूरप, आफ्रिका, मध्य एशिया आदि देशोंमें गई हुई थीं, उसी प्रकार महाभारतीय युद्ध के समय भी तत्कालीन विजित राष्ट्रों की यानी ग्रीक, रोमन आदि यवनसेनाएँ कौरवों के झंडे के आश्रय से पांडवों से लडने के लिए आई थीं और वे सब कृपाचार्यके आधिपत्य में (Under Command) दी गई थीं। कौरवों के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर की सार्वभौम सत्ता उपर्युक्त सब अन्यदेशीय राष्ट्रों पर हुई और युधिष्ठिर के पश्चात् भी कई पुश्तोंतक कायम रही थी।

तदनन्तर चन्द्रगुप्त, अशोक आदि सम्राटों का साम्राज्य भी भारतवर्ष के बाहर के कई यवनदेशों पर था, इस का साक्षी इतिहास है। अर्थात् हमारी भाषा के शब्द परकीय ग्रीक, रोमन, यवन, शक, हूण, आदि म्लेच्छ लोगों की भाषामें स्वाभाविकतया जा कर मिल गये, परन्तु हमारे शुद्ध संस्कृत शब्दों का उच्चार शुद्ध और स्पष्ट करना म्लेच्छों के लिए अशक्य था, फलतः उन्होंने हमारे जो संस्कृत शब्द ग्रहण किये, वे स्वभावतः अपभ्रष्ट रूपमें ही ग्रहण किये और कालान्तर से इन्हीं लोगोंने जब भारतवर्ष पर अपना आधिपत्य प्रस्थापित किया, तब वे ही अपभ्रष्ट शब्द विजेता लोगों की भाषा के होने के कारण हमने ग्रहण किये और इस तरह वे शब्द हमारी भाषामें मिल गये। यानि हमारे साम्राज्यकाल में हमारे संस्कृत शब्द अपभ्रष्ट होकर अन्य म्लेच्छ भाषामें गये और वे ही शब्द उन लोगों का आधिपत्य हमारे ऊपर होने के पश्चात् उसी अपभ्रष्ट स्वरूपमें हमारी भाषामें आकर मिल गये। अर्थात् वे शब्द मूलतः हमारी ही भाषा के होने से उनमें उच्चार-सादृश्य दिखाई देना कोई अनहोनी बात नहीं है। वांशिक साम्य से उस का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब वांशिक साम्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् और तत्सांप्रदायी हमारे देशीय विद्वान् जो विधान करते हैं कि, वर्तमानकालीन भारतीय आर्यों के पूर्वज उत्तरध्रुव से भारतवर्ष में आये हैं, वह उनका विधान सर्वमान्य नहीं हुआ है। स्वयं स्वामी विवेकानन्दजीने इसका प्रतिवाद किया है कि, 'आर्य लोग मूलतः उत्तर ध्रुव के निवासी हैं और वे वहीं से भारतवर्ष में यहाँ आये हुए हैं, यह कौनसे वैदिक सूक्तों के आधार से कहा जाता है?' इस प्रतिवाद का उत्तर किसीने दिया हुआ, अभी तक पाया नहीं गया। तथापि इस वादविवाद से हमें कोई मतलब नहीं है।

यह बात सिद्धान्तभूत है कि मनुष्यप्राणी वृक्ष के अनुसार भूमि पर ऊगता नहीं है और न वृक्ष के अनुसार एकही जगह पर स्थिर भी रहता है ।

मनुष्यप्राणी यह एक चलताफिरता जीव है। यदि आर्यलोग उत्तरध्रुव से भारतवर्ष में आये हों, तो उत्तर ध्रुव की भूमि में से भी वे ऊगकर बाहर नहीं निकल आये हैं, अपि तु वहां भी किसी दूसरे ही स्थान से आये हुए हैं, और उस दूसरे स्थान पर भी किसी तीसरे ही स्थान से आये होंगे । एवंच मनुष्यप्राणी का मूल उत्पत्ति-स्थान कहाँ है, इस बात का निर्णय होने तक आर्यों का मूल स्थान अनिश्चित ही रहेगा । तथापि, पाश्चात्य विद्वानों का वांशिक ऐक्य के बारे में जो मत है, वह नितान्त अग्राह्य भी नहीं है । परन्तु वे जिस स्वरूप में उसका प्रतिपादन करते हैं, वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है ।

किंतु उसका स्वरूप बिलकुल भिन्न है। अर्थात् भारतीय आर्यों के पूर्वज बाहर से भारतवर्ष में आये हुए नहीं हैं, किन्तु यहीं से- भारतवर्ष ही से- वे चीन, मध्य एशिया और यूरुप आदि देशों में गये, और वहीं वे उपनिवेश (Colonies) बसा कर रहे और शनैःशनैः वहाँ अपने साम्राज्य भी उन्होंने प्रस्थापित किये, इसका सबल आधार हमारे ही धर्मशास्त्र में पाया जाता है । यथा--

शनकैस्तु क्रियालोपात् इमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥४३॥
पौंड्रकाश्चोडद्रविडाः कांबोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥
(मनु० अ० १०)

उक्त वचनों से यही प्रमाणित हो रहा है कि, उनमें जो बारह जतियाँ महर्षि मनुने परिगणन की हैं, वे मूलतः भारतीय क्षत्रिय अर्थात् वैदिक आर्योंकी ही थीं। वे लोग दिग्विजय करते हुए भारतवर्ष से बाहर चले गये और उत्तरोत्तर आगेको बढते ही गये, जिससे वे अपने देशसे बहुत दूर हो गये । वहाँ उन्हों ने अपने लिए नये उपनिवेश बसाये और वहीं रहने लगे । परन्तु ब्राह्मणोंने आर्यावर्त को छोडकर अन्यत्र जाना स्वीकृत नहीं किया, अतः वे ब्राह्मणोंको साथ लिये विना ही उधर चले गये, जिससे, उनके आर्योचित वैदिक धर्मसंस्कारों और क्रियाओंका लोप हो गया, फलतः वे धर्मसे पतित होकर वृषलत्वको प्राप्त हुए। उसी तरह ययातिराजाने अपने पुत्रोंको उन्होंने पित्राज्ञा-भंग किया था, इस अपराधका दण्डस्वरूप- म्लेच्छ होने का शाप देकर उन्हें भारतवर्ष से निर्वासित कर दिया था और समुद्र तथा म्लेच्छ देशों का आधिपत्य उन्हें दिया था । अर्थात् वर्तमानकालीन यूरोपीय तथा यवनादि म्लेच्छ जातियाँ मनुमहर्षिकथित उपरिनिर्दिष्ट बारह जातियों तथा ययातिराजा के पुत्रों के वंशज हैं और इस तरह वे मूलतः भारतीय आर्यों ही की वंशज हैं, यह स्पष्ट ही है ।

यद्यपि उन लोगों के धर्मसंस्कारों और क्रियाओं का लोप हो गया था, तथापि उनके रीतिरिवाज, धार्मिक भावना और भाषा एकसाथ नष्ट नहीं हो सके । इतिहास के नियमानुसार विजेता होने के कारण उनका प्रभाव स्वाभाविकतया विजित लोगों पर पडा और उन के धार्मिक आचारोंमें, रीतिरिवाजोंमें तथा भाषामें हमारे धर्म-तत्वों का विकृत स्वरूपमें ही क्यों न हो- मिश्रण होता गया ।

खृष्टीय और महंमदी धर्मों के उदित होने तक, यूरुप, अमेरिका, आफ्रिका, और एशियाँ इन चारों खंडों के लोग हम भारतीय आर्यों के सदृश ही सूर्य और अग्नि के उपासक और मूर्तिपूजक थे । अनन्तर खृष्टीय और महंमदीय दोनों पराक्रमणशील धर्मपन्थों के अप्रशस्त आक्रमण से अग्नि की उपासना और मूर्तिपूजा तो नष्ट हो गई, परन्तु भाषामें मिले हुए शब्दों का लोप नहीं हो सका । यही कारण है कि, कतिपय शब्दों के उच्चारणमें सादृश्य पाया जाता है । उसी तरह उनके धर्मग्रन्थ 'बायबल ' और ' कुरआन ' पर भी भारतीय आर्यों के धार्मिक विचारों की छाया दृग्गोचर होती है। अतएव जो कुछ साम्य दीखाई देता है, उस का कारण यह नहीं है कि, भारतीय आर्य और यूरोपीय यवनादि म्लेच्छों के पूर्वज 'एक ' ही थे, अपितु यह कारण है कि, भारतवर्ष के बाह्यदेशीय लोग ही भारतीय आर्यों के वंशज हैं।

अब यह निबंध समाप्त करने से पहले खोपरी के विषयमें भी विचार कर लेना उचित है। अकेली खोपरी

ही नहीं, किंतु मनुष्य के सारे शरीर का आकार, रंग, रूप, मुखाकृति, आदि- वह मनुष्य जिस देशमें जन्म पाता है और जहाँ उस की सारी आयु बीत जाती है, उसी देश के जल, वायु, परिस्थिति आदि के परिणाम से उसी देश-वासी लोगों के सदृश बनते हैं।

दृष्टांत के लिए कल्पना कीजिए कि, भारतवर्ष के सैंकडो श्रौताचारसम्पन्न आर्य लोगोंमें से कई लोग अपने कुटुंबपरिवारसमेत भारतवर्ष से बाहर निकल गये। उनमें से कई इंग्लिस्तान में जा बसे, कइयोंने आफ्रिका में डेरा डाला, कई अफगानिस्तान में गये और कई चीनमें जा कर रहे। ये लोग जहाँ जाकर रहे, वहीं उनकी कई पुश्तें गुजर गईं, तथापि वहाँ उन्होंने अपना वेदाध्ययन और वैदिक आचारों और संस्कारों का पूर्णतः रक्षण किया। वहाँ के मूल निवासियों के साथ वे विवाहसूत्र से नहीं बँधे और अपनी वांशिक शुद्धता भी उन्होंने सुरक्षित रख ली। विवाहादि व्यवहार स्वजातीय लोगों में ही किये और तद्देशीय लोगों के रक्त का मिश्रण स्वजाति के रक्तमें नहीं होने दिया। तथापि उन्होंने जिन जिन देशोंमें अपने उप-निवेश बसाये होंगे, उन देशों के अन्न, जल, वायु आदि का परिणाम उन की शारीरिक प्रकृति पर होगा ही। फलतः इंग्लिस्तानमें रहनेवाला ब्राह्मण अपना धर्म, आचार, वैवा-हिक सम्बन्ध इत्यादि अपनी पूर्वपरंपरा के अनुसार करने पर भी उस का रंग, रूप, भाषापद्धति इत्यादिमें फरक पडही जायगा; अर्थात् इंग्लिस्तान का रहनेवाला ब्राह्मण शरीर, रूप और रंग से इंग्लिशमैन् दिखाई देगा।

आफ्रिकामें रहा हुआ ब्राह्मण कई पुश्तों के अनन्तर अपने धर्माचरण तथा आचारविचार पर स्थिर रह कर भी शरीर, रूप और रंग से आफ्रिकन ही हो जायगा। इसी तरह चीनवासी ब्राह्मण चीनी और अफगानिस्तानवासी ब्राह्मण अफगान दिखाई देगा। तथापि जिस अवस्था में विदेशमें जा बसने पर भी अपने परंपरागत धर्म पर स्थिर रहे, वेदाध्ययन नहीं छोडा, वैदिक संस्कारों से भ्रष्ट नहीं हुए, स्वजाति में ही विवाहसंबंध करके अपनी वांशिक शुद्धता भी कायम रक्खी, उस अवस्था में केवल शारीरिक आकृति, रूप, रंग इत्यादि के बदलने से उनका आर्यत्व नहीं नष्ट होता और उन लोगोंको अनार्य नहीं कहा जा सकता। वे लोग वैदिक आर्य ही रहेंगे और उनको 'आर्य' ही कहना पडेगा। खोपरी के आकार से, शरीर की बनावट से अथवा रंग से मनुष्य का आर्यानार्यत्व प्रमाणित नहीं हो सकता। इस लिए यह जो पहले लिखा गया है कि 'बाप्तिस्म' संस्कारपूर्वक बायबल में उपदिष्ट कर्मानुष्ठान करनेवाला वही 'क्रिश्चियन्' 'सुन्नत' संस्कारपूर्वक कुराआनमें उपदिष्ट कर्मानुष्ठान करनेवाला वही 'मुसलमान' वैसे ही उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठानी त्रैवर्णिक ही 'आर्य' है। और जब कि, राक्षस और वानर दोनों समाज वेदोक्त कर्मानुष्ठान, तथा वैदिक धर्माचरण करते हुए रामायणमें स्पष्टतया दिखाई देते हैं, तो वे हमारी पूर्वोक्त 'आर्य' शब्द की व्याख्या के अनुसार 'वैदिक आर्य' ही थे, 'अनार्य' नहीं थे, यह बात निर्विवाद प्रमाणित होती है।

यहाँतक 'आर्वाचीन शिक्षकों' के अभिमत का विचार किया गया। अब आगामी निबन्धमें 'प्राचीन शिक्षकों' के अभिमत विचारार्थ लेकर राक्षसों और वानरों की मनुष्यत्वसिद्धि करेंगे।

(५)

वानरों और राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि।

पूर्वलिखित निबन्धों में राक्षस और वानर (Barbarian) अर्थात् 'जंगली' और 'अनार्य' थे, ये जो पाश्चात्य पंडितों के विधान हैं, उनका सप्रमाण खंडन किया गया और यह समर्पक प्रमाणित कर दिया गया कि, राक्षस और वानर बर्बर या अनार्य तो थे ही नहीं, अपितु वे वर्तमान सभ्यता के शिखर को पहुँचे हुए पाश्चात्य लोगों की अपेक्षा सभ्यता में बहुत ही आगे बढे हुए थे। तथा वे उपनयनसंस्कारपूर्वक वैदिक कर्मानुष्ठानी आर्य भी थे। इस प्रकार अर्वाचीन शिक्षकों के विचारों की समालोचना यथासाध्य की गई।

अब हम हमारे प्राचीन शिक्षक अर्थात् शास्त्री पंडित, कथा-वाचक पौराणिक और कीर्तनकार आदि के विचारों की समालोचना करने का प्रयत्न यथासाध्य करेंगे।

उक्त प्राचीन शिक्षकोंके अभिमत से राक्षस ये दीर्घकाय तथा विकराल ऐसे कोई महाभयानक विजातीय जीव हैं, और वानर ये कोई लंबी पूँछवाले लंगूर अर्थात् पशु हैं। परन्तु जब कि, हमने वानरों और राक्षसों को 'वैदिक आर्य' सिद्ध किया है, और जब कि आर्यत्व भी मनुष्यत्व पर ही अधिष्ठित है, तो राक्षस और वानर ये मनुष्येतर जीव नहीं हैं, यह सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त राक्षस और वानरों के सारे व्यवहार तथा आचार मनुष्यों के सदृश ही थे, ऐसे वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी के रामायण में स्पष्टतया पाये जाते हैं, अतएव राक्षसों और वानरों का मनुष्य के व्यतिरिक्त कोई अन्य जीव होना संभवनीय नहीं मालूम होता, किंतु वे मनुष्य ही थे, यही सिद्ध होता है। तथापि, हमारे प्राचीन शिक्षकों का समाधान करने के लिए यही बात और भी अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है, इसलिए अब हम प्रथमतः वानरों की मनुष्यत्वसिद्धि करेंगे।

वानरों की मनुष्यत्वसिद्धि।

(१) श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी सीताजी का शोध लगाते हुए घूमते फिरते पंपासरोवर के निकट ऋष्यमूक पर्वत के तले आ पहुँचे। सुग्रीवने जब उनको देखा, तो उसे यह सन्देह हुआ कि शायद उसे मारने के लिए वालीने दोनों को (श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को) घातक नियुक्त करके भेजा है। सो इस बात का पता लगाने के लिए सुग्रीवने हनुमानजी से कहते हुए यह कहा कि--

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छद्मचारिणः ।

(किष्किन्धाकांड सर्ग २।२२)

अर्थात् 'मनुष्य को, छद्मवेष बनाकर संचार करनेवाले शत्रुओं को पहचान लेना चाहिये।' यह जो सुग्रीव ने कहा, उसमें 'मनुष्येण' ऐसा शब्द-प्रयोग है; जिससे यही जान पडता है कि, सुग्रीव अपने आपको तथा हनुमान् प्रभृति मंत्रियों को 'मनुष्य' ही मान रहा है, 'वानर' नहीं मानता।

(२) सुग्रीव की आज्ञानुसार हनुमानजी वेष बदलकर श्रीरामचन्द्रजी के पास गये और उनके साथ उन्होंने अत्यंत विद्वत्ताप्रचुर संभाषण किया, जिससे श्रीरामचन्द्रजी बहुत विस्मित होकर लक्ष्मणजी से बोले कि, 'हे लक्ष्मणजी, देखिये, यह बटु कैसा अच्छा संभाषण कर रहा है!

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यं एवं विभाषितुम् ॥२८
नूनं व्याकरणं कृत्स्नं अनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ॥२९॥
अविस्तरं असंदिग्धं अविलंबितमव्यथम् ।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥३१॥
संस्कारक्रमसंपन्नां अद्भुतां अविलंबिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥३२॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यंजनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तं उद्यतासेररेरपि ॥३३॥
एवं गुणगणैर्युक्ताः यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥

(किष्किन्धाकांड सर्ग ३)

भावार्थ- जिसने ऋग्वेद का अभ्यास सांगोपांग और सरहस्य किया नहीं है, जो यजुर्वेद में निष्णात नहीं है और जो सामवेद का ज्ञाता नहीं है, वह इस बटु के सदृश भाषण कर ही नहीं सकता। सचमुच इस बटुने संपूर्ण व्याकरणशास्त्र का अभ्यास अनेक प्रकार से किया हुआ मालूम होता है, क्योंकि, इसके इतने बडे संभाषण में एक भी अशुद्ध शब्द इसके मुँह से निकला नहीं है। जिसमें व्यर्थ का विस्तार नहीं है, जो बिलकुल संदिग्ध नहीं है, और जो सुननेवालों को अप्रिय नहीं लगता; पुनः जो न तो बहुत उच्च स्वर में और न बिलकुल मन्दस्वर में बोल रहा है, किंतु मध्यम स्वर में अस्खलित भाषण कर रहा है।

इसके संभाषण में व्याकरणसंस्कार और शब्दक्रम यथोचित है। न इसकी वाणी में अति शीघ्रता है और न वह एक एक शब्द रुक रुक कर बोल रहा है। इसका संभाषण इतना सुन्दर और मधुर है कि, सुनकर हृदय हर्ष से पुलकित हो जाता है। शत्रु भी- जो तलवार उठाकर

मारने ही के लिए खडा है- इस बटु की अनोखी और मधुर भाषापद्धति से द्रवित हो जाएगा और मारने के लिए उठाया हुआ शस्त्र भी उसके हाथ से छूट पडेगा। इसके सदृश सर्वगुणसम्पन्न स्वामिकार्य के करनेवाले दूत जिस राजा के पास होते हैं, उस राजा के बडे बडे राज्य-कार्य केवल ऐसे दूतों की वाक्पटुता ही से सिद्ध हो जाते हैं।'

श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजी से हनुमानजी की विद्वत्ता और वाक्पटुता की जो प्रशंसा की, उस से प्रतीत होता है कि, ऐसे वेदत्रयीपारंगत, व्याकरणशास्त्र के महान् पंडित और इतना आश्चर्यकारक वक्तृत्व करनेवाले हनुमानजी बंदर कदापि नहीं है। क्या बंदर वेद-शास्त्र पढ सकता है? कदापि नहीं। अर्थात् हनुमानजी वानर नहीं, किन्तु मनुष्य ही हैं।

(३) इसके अनन्तर हनुमानजी, श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को अपने साथ लिवा ले गये और सुग्रीव से उन की भेंट करवाई, तथा अग्नि को साक्षी रख कर दोनों में मित्रता भी स्थापित करवा दी। इस प्रसंग का वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी इस प्रकार करते हैं—

ततो हनूमान् सन्त्यज्य भिक्षुरूपं अरिन्दमः।
काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयामास पावकम् ॥ १३ ॥
दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥ १४ ॥
तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधे सुसमाहितः।
ततोऽग्निं दीप्यमानं तं चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वं उपागतौ ॥ १६ ॥

(किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ५)

अर्थात् हनुमानजीने काष्ठों को घर्षण करके उनसे अग्नि उत्पन्न किया और वह प्रज्वलित होने पर उसका पुष्पों से सत्कारपूर्वक पूजन करके उन्होंने वह अग्नि श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव के बीच में स्थापित किया। फिर श्रीरामचंद्रजी और सुग्रीवने परस्पर करग्रहण करके अग्नि-प्रदक्षिणा की और इस प्रकार वे दोनों आपस में अभिन्नहृदय मित्र बन गये।

उक्त वर्णन में यह बात विचारनेयोग्य है कि, एक अग्नि-होत्री के अनुसार काष्ठोंका घर्षण करके अग्नि उत्पन्न करना, फिर उसका पुष्पद्वारा पूजन करना, उसको दो जनों के बीचमें रख कर परिक्रमा करना और अग्निसाक्ष सख्य प्रस्थापित करना इत्यादि व्यवहारों को मनुष्य ही कर सकता है। बंदर नहीं कर सकता। अतएव सुग्रीव हनुमान् आदि वानर 'पशु' यानी 'जातिवानर' (बंदर) हो ही नहीं सकते, किन्तु 'मनुष्य' ही हो सकते हैं।

(४) श्रीरामचंद्रजी और सुग्रीव का अग्निसाक्षिक सख्य हुआ और उनमें एक दूसरेकी सहायता करनेके बारेमें शपथ-क्रियाएं भी हो गईं। फिर श्रीरामचंद्रजीने सुग्रीव और वालीमें शत्रुता होने का कारण सुग्रीव से पूछा, तो उसने कहा—

वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिबर्हणः।
पितुर्बहुमतो बाल्ये मम चापि तथा पुरा ॥ १ ॥
पितर्युपरते राम ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः।
कपीनां ईश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ २ ॥
राज्यं प्रशासतः तस्य पितृपैतामहं महत्।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत् स्थितः ॥ ३ ॥

(किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ९)

भावार्थ- 'वालीनामक मेरा बडा भाई हमारे पिताजी का बडा प्यारा था और मैं भी उसका भक्त था। हमारे पिताकी मृत्यु होने पर वाली जेठा होनेके कारण मंत्रियोंने उसको राजगद्दीपर बिठाया। वह अपने पितृपैतामह (बाप-दादाओं से चला आया हुआ) राज्य का उपभोग करता था और मैं केवल एक सेवक के सदृश नम्रता धारण करके सदासर्वकाल उसके सम्मुख उपस्थित रहा करता था।'

सुग्रीवके इस भाषणसे क्या अर्थ निकल रहा है? इससे यही अर्थ निकल रहा है कि, वानरों में समुचित राज्य-व्यवस्था थी। राजा की मृत्यु होनेके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य-सिंहासन पर स्थापित किया जाता था और उसमें मन्त्रिमंडल की भी सम्मति ली जाती थी। वानरों में 'पितृपैतामही' परम्परा भी थी। ये सब बातें मनुष्यों में ही हुआ करतीं हैं; बंदरों में नहीं हुआ करतीं। अतएव वाली, सुग्रीव आदि वानर मनुष्य थे, यही सिद्ध होता है।

(५) श्रीरामचंद्रजी की सेनाएँ समुद्र को लाँघ कर लंकामें जा पहुँचीं और वहाँ उन्होंने अपना पडाव डाला। रावणने उनकी टोह लेनेके लिए अपना एक गुप्तचर-शार्दूल नामक एक राक्षस-वानरसेना में भेजा। वह जब टोह

लेकर रावण के पास लौट आया, तब रावणने उससे पूछा-

चरिता भवता सेना केऽत्र शूरा प्लवंगमाः ॥१६॥
किं प्रभाः कीदृशाः सौम्य वानरा ये दुरासदाः।
कस्य पुत्राश्च पौत्राश्च तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१७
(युद्धकाण्ड सर्ग ३०)

अर्थात् ' हे सौम्य, तूने सारी सेनाभर में घूम कर टोह लगाई ही है, अतः राम के पक्षमें लडने के लिए जो वानर-वीर आये हुए हैं, उनमें कौन कौन प्रमुख हैं ? और वे किन के पुत्र तथा पौत्र हैं, सो सब मुझे ब्यौरेवार सुना।'

रावणके इस प्रश्नमें 'किनके पुत्र और पौत्र' यह पूछने से उसका यह जाननेका हेतु स्पष्ट ही मालूम हो रहा है कि, जो वानरवीर युद्ध के लिए लंकामें आये हुए हैं, वे परम्परागत आनुवंशिक वीर हैं या केवल सैनिकवेष धारण किये हुए (सिपाही की वरदी = Uniform चढाये हुए,) बहु-रूपिये हैं। रावण के प्रश्न से यह स्पष्ट होता है कि, वानरोंमें पुत्रपौत्रादि कुलपरम्परा भी थी। यह पुत्रपौत्रादि कुलपरम्परा मनुष्यों ही में हुआ करती है, न कि पशुओं में हुआ करती है। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के सहकारी ' जाति वानर ' यानी ' पशु ' नहीं थे, मनुष्य ही थे; यही सिद्ध होता है।

(६) श्रीरामचन्द्रजी के बाण से वाली आहत होकर जब धराशायी हुआ, तब वह श्रीरामचन्द्रजी को दोष देकर कहने लगा कि, ' मुझ निरपराधी को मारकर तुमने कौनसा अर्थ सिद्ध किया ? ' इसका उत्तर श्रीरामचन्द्रजी देते हैं—

तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥१८॥
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाऽप्यनुजस्य च ॥२२॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दंडो वधः स्मृतः ॥२३॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥१९॥
तत् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याविमर्शेऽस्मिन् दंडोऽयं प्रतिपादितः ॥२०
(किष्किन्धाकांड सर्ग १८)

भावार्थ- ' मैंने किस कारण से तेरा वध किया, सो सुन ले। तूने सनातन धर्म की मर्यादा उल्लंघन करके अपने छोटे भाई की स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार किया है। तेरा छोटा भाई सुग्रीव जीवित है और उस की स्त्री रुमा तेरे लिए स्नुषा (पतोहू) के समान है, जिसके साथ तूने कामतः पापकर्म किया है। जो मनुष्य सहोदरा भगिनी या अनुज भार्या (भावह) के साथ कामतः आचरण करता है, उस के लिए प्राणदण्ड का ही विधान धर्मशास्त्रने किया है। तूने भ्रातृभार्याविमर्श का अपराध किया है, उस का मैंने तुझे यह दंड दिया है।' इस उत्तर में श्रीरामचन्द्रजी वाली को लक्ष्य कर ' नरः कामात् ' कहते हैं, ' वानरः कामात् ' नहीं कहते। अर्थात् वाली यह ' नर ' यानी ' मनुष्य ' ही हो सकता है। पशु नहीं हो सकता।

उपर्युक्त उत्तरमें ' तूने सनातन धर्म का अतिक्रमण कर के पापाचार किया है, ' ऐसा श्रीरामचन्द्रजी वाली को कह रहे हैं, तथा अपने इस कथन के पुष्ट्यर्थ ' औरसीं भगिनीं वाऽपि भार्यां वाऽप्यनुजस्य च ' यह मानवधर्म-शास्त्र का आधार भी दे रहे हैं। यहां यह विचार करना चाहिये कि, बहन, भाई, भौजाई, भावह (अनुज-वधू), पतोहू इत्यादि सम्बन्ध मनुष्योंमें होते हैं, पशुओंमें नहीं होते। अब, जब कि श्रीरामचन्द्रजी वाली को लक्ष्य कर पूर्वोक्त भाषण कर रहे हैं, तो वाली जातिवानर (बंदर) नहीं, अपितु मनुष्य ही सिद्ध होता है। इसी विषयमें श्रीरामचन्द्रजी मानवधर्मशास्त्रका और भी आधार देते हैं-

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्र्यवत्सलौ।
गृहीतौ धर्मकुशलैः तदेतच्चरितं मया ॥३०॥
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३१॥
शासनात् वापि मोक्षात् वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥३२
(किष्किन्धाकांड सर्ग १८)

इस का अर्थ यह है कि, ' अपराधी मनुष्य को इस के अपराध का योग्य दंड मिल जाने पर वह पाप से मुक्त होकर सन्तों के सदृश स्वर्ग को पाता है। अन्याय से दंड देने के कारण अथवा लोभ के वशीभूत होकर अपराधी को छोड देने के कारण से भी, अपराधी तो पापमुक्त हो जाता है, परन्तु राजा उस अपराधी के पापका भागी होता है।

आजतक बडे बडे धर्मकुशल न्यायदान करनेवाले न्याया-धीश इसी नियम के अनुसार न्याय करते हुए चले आये हैं और मैंने भी उसी नियम के अनुसार तुझे प्राणदंड दिया है । '

उक्त संवाद को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि, श्रीरामचन्द्रजीने ' मानवधर्मशास्त्र ' के अनुसार वाली को दंड दिया । सो, मानवधर्मशास्त्र तो केवल मनुष्यों के लिये ही लागू किया जाता है, पशुओं के लिये नहीं किया जाता ।

वर्तमान युगमें भी पिनलकोड (Penal code) की धाराएँ, पशुओं के साथ नहीं बरती जातीं । यथा- कोई मनुष्य राजपथ पर खडा रहकर मलमूत्रादि विसर्जन करे या नियमविरुद्ध वर्तन करे, तो उसे उस के अपराध के लिए योग्य देहदंड या धनदंड दिया जाता है, किन्तु बग्घी या तांगों के घोडे, बैलगाडी के बैल, मैलागाडी के भैंसे, बोझा लादने के गदहे, सडक पर घूमनेवाले कुत्ते आदि को उन के अपराध के लिये पिनल-कोड की कोई धारा नहीं लगाई जाती, वे उस पिनलकोड की तनिक भी परवा नहीं करते, किंतु राजमार्ग पर ही यथेष्ट मलमूत्र-विसर्जन करते हैं । इतना ही नहीं, किन्तु और भी मनमाने ढंग राजमार्ग के ऊपर निःशंक होकर करते हैं, तथापि उनको कोई दंड नहीं देता, उलटे उन्होंने किया हुआ बटोरने के लिए वेतन देकर मनुष्यों ही को नियुक्त किया जाता है । सार यह है कि, मानवधर्मशास्त्र मनुष्यों के ही लिए लागू होता है, पशुओं के लिए लागू नहीं होता, और जब कि वह श्रीरामचन्द्रजीने वाली को लागू किया है, तो यह सिद्ध है कि, वाली जातिवानर (बंदर) नहीं, अपितु मनुष्य ही है ।

(७) श्रीरामचंद्रजीने वाली को बाण मारा, इस के लिए उसने श्रीरामचंद्रजी की भर्त्सना करते हुए, जो वचन कहे, इन पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि, वाली भी राजनीति और धर्मशास्त्रमें असामान्य प्रवीणता रखता था । वाली का यह वक्तव्य किष्किन्धाकांड सर्ग १७, श्लोक १६ से लेकर सर्ग १८ श्लोक ५३ तक मूलग्रंथ में ही देखिये । इस प्रकार का वक्तव्य केवल मनुष्य ही-ऐसा ही मनुष्य कि, जो राजनीतिमें निपुण तथा बहुश्रुत विद्वान् हो- कर सकता है, बंदर कभी नहीं कर सकता । वालीने अपने जीवन की अंतिम घडीमें अपने पुत्र अंगद को जो उपदेश किया है, वह प्रत्येक राजपुरुष को अपने अन्तः-करणमें जतन कर रखने के योग्य है । वाली उस समय अंगद से कहता है—

' देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥२०॥
यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मन्यते ॥२१॥
मास्यामित्रैर्गतं गच्छेः मा शत्रुभिररिन्दम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥२२॥
न चाति प्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महादोषं तस्मात् अन्तरदृक् भव ' ॥२३॥
(किष्किन्धाकांड सर्ग २२)

भावार्थ- ' हे पुत्र, आजतक तुमने जो कुछ मेरे रहते हुए किया, वह सब निभ गया, पर अब इसके आगे तुम्हारा अल्हडपन निभ नहीं सकेगा । इस लिए देश, काल, वर्तमान का विचार करके अपना बर्ताव यथोचित रखते जाओ । समय पर सुग्रीवका कटु भाषण भी सहन करो और समय-विशेष पर सुखदुःख की परवा न करके सुग्रीव की आज्ञा का पालन करते रहो । आजतक मैंने तुम्हारा लालनपालन किया और तुमने भी मेरे साथ अपत्योचित अल्हडपन का बर्ताव रक्खा, पर यह अल्हडपन अब सुग्रीवको अच्छा नहीं लगेगा । सुग्रीव से उदासीन रहनेवाले अथवा उसके जो शत्रु हों, उनसे कभी मित्रता न करो और न उनके सहवास में भी कभी रहो । सुग्रीवको अपना पितृव्य(काका) न मानो, अपितु स्वामी मानो और उसी के हितसाधन में एकनिष्ठ रहकर तथा अपने मनको स्वाधीन रखते हुए सुग्रीव के आज्ञाकारी बनकर रहो । सुग्रीव से न तो पहले जैसे निकटवर्ती रहो और न उससे बहुत फटकर भी रहो, क्यों-कि इन दोनों प्रकार के बर्ताव से हानि ही निश्चित है, इस लिये मध्यवर्ती पंथ स्वीकार कर रहना ही उचित है ।' यह उपदेश वाली 'वानर' ने अपने पुत्र (अंगदवानर)को अपने जीवन की अंतिम घडी में किया है । अपने पुत्र को ऐसा उच्च विचारपरिप्लुत उपदेश करनेवाला वाली 'पशुवानर' अर्थात् ' बंदर ' नहीं हो सकता, किन्तु ' मनुष्य ' ही हो

सकता है।

(८) वाली के साथ अपनी शत्रुता क्यों हुई, इत्यादि वृत्तान्त कहते हुए सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी से कहता है--

(अ) एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः॥१६॥
(किष्किन्धाकांड सर्ग १०)

अर्थ- 'यह कह कर वालीने मुझे मेरे पहने हुए एकही वस्त्र के साथ निर्वासित कर दिया।'

(आ) सुग्रीव ने वाली को युद्धार्थ आह्वान दिया। वालीने जब देखा कि सुग्रीव युद्ध के लिए सामने आकर खडा है, तब उसने अपनी धोती की काँछ खूब दृढता से कस ली। महर्षि वाल्मीकिजी वर्णन करते हैं—

स तं दृष्ट्वा महाबाहुः सुग्रीवं पर्यवस्थितम्।
गाढं परिदधे वासो वाली परम कोपनः॥१६॥
(किष्किन्धाकांड सर्ग १६)

(इ) अशोकवाटिका में वृक्षशाखाओं की ओट में छुपे हुए हनुमान्जी सीताजी को दिखाई दिये, इस प्रसंग का वर्णन महर्षि करते हैं-

ततः शाखान्तरे लीनं दृष्ट्वा चलितमानसा।
वेष्टितार्जुनवस्त्रं तं विद्युत्संघातपिंगलम्॥१॥
(किष्किन्धाकांड सर्ग ३२)

अर्थात् बिजली के सदृश चमकदार रेशमी वस्त्र पहने हुए हनुमानजी को देखकर सीताजी भयचकित हो गईं।

(ई) रावणवध के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या को वापिस जा रहे थे। रास्ते में किष्किन्धा में पुष्पक विमान को ठहराया, वहाँ तारा प्रभृति सब वानरी स्त्रियों को अपने साथ अयोध्याको ले चलने की मनीषा सीताजीने प्रकट की। श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीव से कह कर सब वानरी स्त्रियों को वहां बुलवाया। इस प्रसंग का वर्णन महर्षि करते हैं-

तारया चाभ्यनुज्ञाताः सर्वा वानरयोषितः।
नेपथ्यविधिपूर्वं तु कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्॥३६॥
अध्यारोहन् विमानं तं सीतादर्शनकांक्षया॥३७॥
(युद्धकांड सर्ग १२३)

अर्थात् सब वानरी स्त्रियाँ नेपथ्यविधिपूर्वक-यानी-वस्त्रालंकारों से सजधजकर सीताजी को देखने के लिए विमानपर आरूढ हुईं।

यह जितने प्रमाण ऊपर लिखे गये हैं, उनसे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि, वानर वस्त्र पहनते थे और वानरी स्त्रियां भी वस्त्राभूषणों से सजा करती थीं। अब यदि ये वानर, पशु यानी बंदर होते, तो उनका वस्त्र पहनना तथा उनकी स्त्रियों का-- बंदरियों का-- वस्त्राभूषणों से सजना संभवनीय नहीं था। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के सहायक सुग्रीव हनुमान् आदि वानरवीर 'जातिवानर' (पशु) नहीं थे; 'मनुष्य' ही थे।

(९) सीताजी की खोज के विषय में सुग्रीव की शिथिलता देखकर उसको सावधान करने के लिए श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजी को किष्किन्धा में सुग्रीव के पास भेजा। लक्ष्मणजीने किष्किन्धा में प्रवेश किया और राजमार्ग से जाते हुए उन्होंने दोनों ओर प्रमुख प्रमुख वानरवीरों की भव्य और सुदृढ बनी हुई ऐसी अनेक बडी बडी हवेलियाँ देखीं। इसका वर्णन महर्षि करते हैं-

एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम्।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि लक्ष्मणः × ॥
(किष्किन्धाकांड सर्ग ३३)

(१०) सीताजी की खोज में भेजे हुए वानरवीरों को एक मास का अवधि दिया गया था। 'यदि एक मास से अधिक समय लगा और सीताजी का पता न पाया, तो कालातिक्रमण करनेवालों को प्राणदंड दिया जावेगा,' ऐसी कठोर आज्ञा सुग्रीव ने घोषित कर रक्खी थी। अंगद

× इसके आगे सुग्रीव के महल का वर्णन दिया है। यह महल राजा दशरथ के प्रासाद के समान ही विस्तीर्ण सात चौक का बना हुआ था और सर्व प्रकार की मूल्यवान् वस्तुओं तथा धनसंपत्ति से परिपूर्ण था। सुग्रीव के अन्तःपुर का वर्णन भी-रावण के अन्तःपुर के सदृश ही-रामायण में किया हुआ है। विस्तार के भय से वह वर्णन यहां नहीं उद्धृत किया गया। (किष्किन्धा काण्ड सर्ग ३३, श्लोक १४ से २५ तक देखिये)। बडे बडे महल बांधकर रहना और स्त्रियों को अन्तःपुर में रखना इत्यादि व्यवहार बंदरों के नहीं होते; मनुष्यों ही के होते हैं।

हनुमान् आदि वानरवीर दक्षिण दिशा को गये थे। उनको दिया हुआ अवधि समाप्त हो गया, लेकिन सतीजी का पता नहीं लगा। अब यदि खाली हाथ हिलाते हुए लौट जाते हैं, तो 'प्राण-दण्ड' अवश्यंभावी है। और यदि न लौट जाएँ तो घर-गृहस्थी, बालबच्चे, धनसंपदा आदि सब से हाथ धोकर यहीं जंगल में रहना पडेगा, यह बातें सोच कर अंगदने अपने सब साथियों से कहा--

तस्मात् क्षमं इहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम्॥ १५॥
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च १६
(किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ५३)

उक्त वर्णन से भी ज्ञात होता है कि, वानर घरबारी हुआ करते थे, बालबच्चेदार भी थे, उन में कौटुंबिक व्यवस्था भी थी, तथा वे धनसंचय भी किया करते थे, अर्थात् वे 'पशु' नहीं थे, किन्तु 'मनुष्य' ही थे।

(११) कुंभकर्ण रणक्षेत्रमें गया। उसकी भयानक आकृति को देखते ही सब वानरवीर अपने अपने प्राणों को लेकर भाग जाने लगे। बडे बडे वानरवीरों का हतधैर्य होकर खेत छोड भागना देखकर वालीपुत्र अंगदने उत्तेजक भाषण करके उन भगौडोंको वापिस लौटाया। महर्षि वाल्मीकिजी इस प्रसंग का वर्णन करते हैं—

तान् समीक्ष्यांगदो भग्नान् वानरान् इदमब्रवीत्।
अवतिष्ठत युध्यामो निवर्तध्वं प्लवंगमाः॥ १८॥
भग्नानां वो न पश्यामि परिक्रम्य महीम् इमाम्।
स्थानं सर्वे निवर्तध्वं किं प्राणान् परिरक्षथ॥ १९॥
निरायुधानाम् क्रमताम् असंगगतिपौरुषाः।
दारा ह्युपहासिष्यन्ति स वै घातः सुजीवताम्॥२०॥
कुलेषु जाता सर्वेऽस्मिन् विस्तीर्णेषु महत्सु च।
क्व गच्छथ भयत्रस्ताः प्राकृताः हरयो यथा॥२१॥
अनार्याः खलु यद्भीताः त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत।
विकत्थनानि वो यानि भवद्भिर्जनसंसदि॥
तानि वः क्नु यातानि सोदग्राणि हतानि च॥ २२
भीरोः प्रवादाः श्रूयन्ते यस्तु जीवति धिक्कृतः।
मार्गः सत्पुरुषैर्जुष्टः सेव्यतां त्यज्यतां भयम्॥२३॥
शयामहे वा निहताः पृथिव्यां अल्पजीविताः।
प्राप्नुयामो ब्रह्मलोकं दुष्प्रापं च कुयोधिभिः॥२४॥
अवाप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे।
निहता वीरलोकस्य भोक्ष्यामो वसु वानराः॥२५॥
(युद्धकाण्ड सर्ग ६६)

भावार्थ- भग्नधैर्य हो कर इतस्ततः भागते हुए वानरों को देखकर अंगद उच्च स्वरसे गरज कर कहने लगा, 'अरे क्यों भागे जा रहे हो? खडे रहो! मत भागो! लौट आओ, हम युद्ध करेंगे। भाग कर अब तुम जाओगे भी कहाँ? सारी पृथ्वीभरमें भी तुम्हारे लिए अब ठौर कहाँ है? इसलिए हे वीरो! वापिस लौटो। यदि तुम प्राण बचाकर भाग भी निकले, तो कौनसा लाभ होनेवाला है? क्योंकि रणक्षेत्र छोड कर शत्रुओंको पीठ दिखा कर भागनेवालों को सुग्रीवजी अवश्य ही प्राणदण्ड देंगे। अपने राजा के हाथों भी तो मारे ही जाओगे? किसी तरह तुम्हारे प्राण बच नहीं सकते।

"हे वीरो, आजतक तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारी गति कहीं भी कुंठित नहीं हुई थी। फिर आज ही यह तुमको क्या हो गया है कि, शस्त्र फेंककर भागे ही जा रहे हो? भला! प्राण बचाकर घर पर भी पहुँच गये, तो तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारा किस प्रकार स्वागत करेंगी, इस की भी तुम्हें कल्पना है? रणक्षेत्र से पीठ दिखाकर भाग आये हुए, तुम लोगों को देखकर वे तुम्हारा तीव्र उपहास करेंगी और फिर तुम्हें मरण से भी अधिक दुःख होगा! तुम उच्चकुलोत्पन्न वीर हो। अपने कुल का अभिमान भूलकर क्षुद्र वानरों जैसे भय खाकर कहाँ भागे जा रहे हो? जब कि तुम इस तरह भयग्रस्त होकर शत्रुओं को पीठ दिखाते हुए समरभूमि से भागे जा रहे हो, तब तुम लोग अवश्य ही कोई 'अनार्य' हो। भाइयो, जो इस प्रकार लज्जायुक्त जीवन व्यतीत करता है, उस कायर पुरुष की सर्वत्र निन्दा ही हुआ करती है।

"इसलिए भय छोड दो। सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करो और शत्रुओं के सामने वीरता के साथ लडो। युद्ध से पहले तुम लोगोंने अपने शौर्य, धैर्य और साहस की जो बडी बडी डींगें मारीं थीं, वे अब कहाँ रह गईं? यदि शत्रुओं से युद्ध करते करते हम मर भी गये, तो हमको ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी, जो कि कायरों के लिए कभी प्राप्य नहीं है। यदि युद्ध में हमने शत्रुको मार दिया, तो

हमारी सारे जगत् में कीर्ति ही होगी और यदि हम शत्रु-के हाथ से युद्ध में मारे गये, तो हम ही स्वर्गलोक के ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे।"

अंगद के उपरिनिर्दिष्ट वक्तव्य को विचारार्थ लीजिये। 'दारा ह्युपहसिष्यन्ति' इस वाक्यसे पाया जाता है कि 'रणक्षेत्र से शत्रुओंको पीठ दिखा कर भाग जाने से अपनी स्त्रियाँ उपहास करेंगीं और ऐसा उपहसित जीवन रखना भी अपने लिए लज्जास्पद होगा,' इस बातका ज्ञान वानरों को था। इसी तरह उच्च कुलोत्पन्न होकर युद्धमें पीठ दिखा कर भागनेसे कुलकी कीर्ति को कलंक लगेगा, यह कुलाभिमान भी वानरोंमें जागृत था, यह बात 'कुलेषु जाता सर्वेऽस्मिन् विस्तीर्णेषु महत्सु च' इस वचन से स्पष्ट हो रही है।

'पुनः अनार्याः खलु यद्भीताः त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत'। इस वाक्य से युद्ध छोडकर भाग जाना अनार्योंके ही लिये योग्य (अनार्यजुष्ट) है, इस बातको भी वानरवीर जानते थे, फलतः वे अपने आप को आर्य ही समझते थे। 'मार्गः सत्पुरुषैर्जुष्टः सेव्यतां त्यज्यतां भयम्' इस वाक्यसे 'सत्' और 'असत् पुरुष' तथा उनके मार्गों की वानरों को यथार्थ कल्पना थी और वे अपने को 'पुरुष' अर्थात् 'मनुष्य' ही समझते थे, यह भी स्पष्ट है। अंततो गत्वा 'प्राप्नुयामो ब्रह्मलोकं दुष्प्रापं च कुयोधिभिः।' इस कथन से वानरों को ब्रह्मलोक की भी कल्पना थी, तथा--

'अवाप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे।
निहता वीरलोकस्य भोक्ष्यामो वसु वानराः।'

इस कथन से शत्रुओंपर विजय प्राप्त करने से कीर्ति-लाभ होना, तथा शत्रुद्वारा युद्ध में मारे जाने से स्वर्ग के ऐश्वर्य का लाभ होना, सारांश, स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, मोक्ष इत्यादि पारलौकिक कल्पनाएँ भी उन में रूढ थीं। स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, मोक्ष आदि कल्पनाएँ केवल मनुष्यों ही में रूढ होती हैं, पशुओं में इन कल्पनाओं का होना ही सम्भवनीय नहीं है। अतएव वानरों का 'मनुष्य' होना सुतराम् सिद्ध है, इस में सन्देह के लिए अब कुछ अवकाश ही नहीं रहता।

महाभारत के युद्ध के आरम्भ में अर्जुनने धनुष्यबाण छोड दिये थे और वह युद्धपराङ्मुख हो बैठा था। उस समय 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं अकीर्तिकरमर्जुन'। यह कह कर 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'। ऐसा उपदेश भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुन को किया है। ठीक वैसा ही उपदेश अंगदने अपने वानरवीरों को भी युद्धप्रसंग पर ही किया है। 'अनार्याः खलु यद्भीताः त्यक्त्वा वीर्यं प्रधावत।' तथा 'अवाप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे। निहता वीरलोकस्य भोक्ष्यामो वसु वानराः।' यह अंगद का उपदेश और भगवान् श्रीकृष्णजी का 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।' यह उपदेश, इन दोनों में क्या ही अनोखा साम्य है!

मनुष्यों को करनेयोग्य उपदेश उचित प्रसंग पर अंगद 'वानर' अपने वानरवीरों को कर रहा है। प्रत्यक्ष श्रीमद्भगवद्गीता की योग्यता रखनेवाला उपदेश जिस 'वानर' ने किया और जिन 'वानरवीरों' को किया, वह अंगद तथा वे वानरवीर 'मनुष्येतर प्राणी' यानी 'पशु' होना कदापि शक्य नहीं है। इस प्रकार उपदेश देने का तथा ग्रहण करने का अधिकारी 'पशु' कभी नहीं होता; अतएव, अंगद सुग्रीवादि वानर 'जाति वानर' यानि 'पशु' (बंदर) नहीं हैं, अपितु 'मनुष्य' ही हैं। अब, जब कि ये सब वानर मनुष्य ही हैं, तो फिर इन्हें वानर क्यों कहा गया, यह प्रश्न स्वाभाविक ही सामने आकर उपस्थित होता है। सो इस का भी विचार आगे करते हैं।

मनुष्य होते हुए भी सुग्रीवादि वीरोंको 'वानर' क्यों कहा गया? इस प्रश्न का उत्तर देनेसे पूर्व वानरों की उत्पत्ति से विचारारम्भ करना चाहिए। राजा दशरथने अश्वमेधयज्ञ किया था और उस यज्ञमहोत्सव में सम्मि-लित होनेके लिए भारतवर्ष के अनेक क्षत्रिय राजपुरुष अयोध्या में आकर एकत्रित हुए थे। इन सब राजाओं को रावणने पददलित कर रक्खा होने के कारण उन सबके हृदयों पर उसकी पूरी धाक जमी हुई थी और वह धाक सब राजाओं को असह्य हो रही थी। अतएव, वे रावण की सत्ता को अपने ऊपर से हटा देनेके विचार में अपने अपने स्थान पर व्यस्त रहा करते ही थे। ऐसी अवस्थामें दशरथ राजा के यहाँ अश्वमेध-यज्ञ-महोत्सव के निमित्त विनायास

ही सब राजाओं के एकत्रित होने का संयोग प्राप्त हुआ। वहाँ बडे बडे महर्षि और ब्रह्मर्षि भी आये हुए थे, तथा ब्रह्मादि देवगण भी अपना अपना हविर्भाग लेने के लिए वहाँ पर प्राप्त हुए थे।

सब लोग एकत्रित हुए हैं, ऐसे ही अवसर पर रावण-विषयक प्रश्नको ठिकाने लगा देना उचित है; (क्योंकि सब राजा लोग अपने स्थान पर चले जाने पर फिर जल्दी एकत्रित नहीं हो सकेंगे।) इस विचारसे, सब क्षत्रिय राजाओंकी ओरसे सर्व × ऋषिमंडली मिलकर ब्रह्माजी के पास गये और उनके सम्मुख अपना सारा संकट निवेदन करके उस संकट से मुक्ति दिलाने के संबंधमें उनसे प्रार्थना की। ब्रह्माजी उन सब को भगवान् विष्णु के पास ले गये और उन्होंने रावण का वध कर के सर्व संसार को दुःखविमुक्त करने के लिए दशरथ राजाके घर रामरूप से अवतार धारण करने का अभिवचन उनसे (भगवान् विष्णु से) प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार 'नेता' (Leader)की तो व्यवस्था हो गई, लेकिन उसकी सहायता करने के लिये सेनाकी भी आवश्यकता थी। उस की व्यवस्था किस प्रकार की जाय, इस सोच में ब्रह्माजी पड गये। क्योंकि तत्कालीन क्षत्रिय राजाओं पर रावणकी इतनी धाक जमी हुई थी कि, रावण का नाम सुनते ही वे सब राजा तथा उनकी सेनाएँ भयके मारे काँप उठते थे और उनके हाथोंसे उनके शस्त्र छूट पडते थे। ऐसी आतंकग्रस्त सेनाएँ रावणके सम्मुख लडनेके लिए अनुपयोगी थीं। फलतः ऐसी सेना तैयार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई कि, जिसे रावणविषयक भय या आतंककी कल्पना भी न हो। अतएव ऐसी ही सेना नयी उत्पन्न करने का विचार ब्रह्माजीने ठान लिया और उसी के अनुसार सर्व देवों को अपने पास बुलाकर यह आज्ञा दी-

सत्यसन्धस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥२॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे।
नयज्ञान् बुद्धिसंपन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥३॥
असंहार्यान् उपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान्।
सर्वास्त्रगुणसंपन्नान् अमृतप्राशनान् इव ॥४॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ॥५॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रान् तुल्यपराक्रमान् ॥६॥
ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम्।

× इस प्रसंग पर कोई क्षत्रिय राजा ऋषिमण्डली के साथ ब्रह्माजी के पास गया होने का उल्लेख रामायण में नहीं है। क्षत्रियराजाओं की ओर से ऋषि अर्थात् ब्राह्मण ही गये थे। इस का कारण यह है कि, उस समय क्षत्रियलोग जो कुछ कार्य किया करते थे, उस में ब्राह्मणोंको ही अग्रसर बनाते थे, यह बात बालकाण्ड सर्ग ६, श्लोक १९ 'क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत्० ' इत्यादिसे प्रमाणित होती है। राष्ट्रकी हिताहितकी दृष्टिसे यह प्रथा बडा महत्त्व रखती थी, ऐसा प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ- किसी सार्वभौम सत्ता के विरुद्ध क्रान्ति करना हो और उस क्रान्ति में कोई माण्डलिक राजा अग्रसर (Leader) बने, तो वह क्रान्ति असफल होने पर उस राजा को, उस के मन्त्रियों को तथा सेनापति आदि को सार्वभौम सत्ता की क्रोधाग्नि में भस्म होनेकी बारी आ जायगी तथा उस राजाका राज्य भी नष्ट हो जायगा, उस राज्य की सारी धनसम्पदा लुट जायगी, प्रजाजन स्वराज्य से हाथ धो बैठेंगे, तथा परसत्ता के दास बन जाएँगे। उनको अनेक प्रकार के अत्याचार, देहदण्ड तथा द्रव्यदण्ड भी भुगतने पडेंगे। परन्तु ब्राह्मणों के अग्रसरत्व में क्रान्तिकार्य करने से सफलता मिलने पर राजा और राज्य का सर्व प्रकार से हित ही होगा और यदि दैववशात् कार्य असफल रहा, तो जो कुछ भलाबुरा होना हो, वह केवल एक ही ब्राह्मण तथा उसके षड्यंत्र के सहकारी ब्राह्मणों ही का होगा। राजा तथा राज्य को कुछ भी आँच नहीं आवेगी। ब्राह्मण (ऋषि) आत्यन्तिक स्वार्थत्यागी, तपोधन तथा बडे दयावान् होने के कारण वे राजा तथा राष्ट्र के हितार्थ अपने प्राणों का भी बलिदान करते हुए पीछे नहीं हटते थे। इस विषय में इन्द्र को अपने अस्थि देनेवाले दधीचि ऋषि की कथा सर्वश्रुत है ही। उक्त विवरण से- ऋषिमण्डली के साथ क्षत्रियराजा क्यों नहीं गये थे, यह स्पष्ट होता है, तथा इनके न जानेका वर्णन महर्षि वाल्मीकिजीने क्यों नहीं किया, इसका मर्म भी समझ में आ जाता है।

जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥७॥
ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः।
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः ॥८॥
(बालकाण्ड सर्ग १७)

" सत्यप्रतिज्ञ श्रीभगवान् विष्णु जो हम सबके हितार्थ अवतार धारण करनेवाले हैं, उनकी सहायता के लिये इच्छानुरूप वेष धारण करनेवाले, अनेक मायाओं के जाननेवाले, शूर वीर, वायुके सदृश वेगवान्, सैन्य संचालन करने में कुशल, बुद्धिसंपन्न, महाविष्णु के समान पराक्रमी, जिनका संहार करना शत्रुके लिए अशक्य है, जो संकटकाल में संकटमुक्त होनेका उपाय त्वरित सोचनेवाले, दिव्य शरीरवाले, मानो अमृतपान करनेवाले देव ही हैं, ऐसे वानर-रूपी पुत्र, हे देवगण, तुम उत्पन्न करो। सब प्रमुख अप्स-राएँ, गन्धर्वी, यक्षिणी, पन्नग-कन्याएँ, ऋक्षी, विद्याधरी, किन्नरी और वानरी स्त्रियों के गर्भसे अपने सदृश पराक्रमी तथा साहसी वानररूपी पुत्र उत्पन्न करो। "

इस प्रकार भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी की आज्ञा सुनकर सर्व देवोंने वानररूपी पुत्र उत्पन्न किये। बडे बडे ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, उरग, चारण सबहीने वनचारी (वन में संचार करनेवाले) पुत्र उत्पन्न किये। किस देवने कौनसा पुत्र उत्पन्न किया, इसका वर्णन संक्षेपतः महर्षि वाल्मीकिजी ने किया है-

वानरेन्द्रं महेन्द्राभं इन्द्रो वालिनमात्मजम्।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥१०॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारं नाम महाकपिम्।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तं अनुत्तमम् ॥११॥
धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः।
विश्वकर्मा त्वजनयत् नलं नाम महाकपिम् ॥१२॥
पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलो हरिचमूपतिः।
तेजसा यशसा वीर्यात् अत्यरिच्यत वीर्यवान् ॥१३॥
रूपद्रविणसम्पन्नौ अश्विनौ रूपसम्मतौ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥१४॥
वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम्।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः ॥१५॥
मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतः वैनतेयसमो जवे ॥१६॥
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिवान् बलवान् अपि।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः ॥१७॥
अप्रमेयबला वीराः विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥१८॥
ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे ॥१९॥
(बालकाण्ड सर्ग १७)

अर्थात् इन्द्रने अपने ही समान वाली नामक पुत्र उत्पन्न किया और सूर्यने सुग्रीव नामक पुत्र उत्पन्न किया। बृहस्पतिने तार नामक वानरवीर उत्पन्न किया। कुबेर से गंधमादन और विश्वकर्मा से नल नामक वानरवीर उत्पन्न हुए। अत्यंत तेजस्वी और वीर्यवान् सेनापति नील अग्निदेव से उत्पन्न हुआ। मैन्द और द्विविद नामके दो वानरवीर महारूपवान् अश्विनीकुमार से उत्पन्न हुए। वरुणने सुषेण नामक पुत्र उत्पन्न किया और पर्जन्यने महाबलवान् पुत्र शरभको उत्पन्न किया। सर्व वानरसेनापतियों में अत्यंत बुद्धिमान्, बलवान् सिंह के समान सुदृढ तथा गरुडतुल्य वेगवान् पुत्र हनूमान् (मारुति) वायुदेवने उत्पन्न किया।

इस प्रकार किस किस देव के अंश से कौन कौन पुत्र उत्पन्न हुआ, इसका वर्णन करनेके पश्चात् महर्षि वाल्मीकिजी पुनः कहते हैं-

यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः ॥१९॥
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक् ॥२०॥
(बालकांड सर्ग १७)

अर्थात् जिस देव के अंश से जो वानरवीर उत्पन्न हुआ, उस देव का जैसा रूप, शरीर तथा बलविक्रम था, उसका उत्पन्न किया हुआ वानरवीर भी रूप, देहयष्टि तथा बल, पराक्रम से उसीके सदृश हुआ। महेन्द्र का अंशज वाली महेन्द्रके सदृश ही रूपवान्, महेन्द्रके सदृश ही डीलडौल-वाला, महेन्द्र के तुल्य ही बलवान् तथा पराक्रमी हुआ। सूर्यांश सुग्रीव रूप, देह और पराक्रम से सूर्यतुल्य ही हुआ। बृहस्पतिअंश वानरवीर तार बृहस्पति जैसा ही पराक्रमी और बुद्धिमान् हुआ। अग्न्यंश वानरवीर नील अग्नि के सदृश ही तेजस्वी हुआ। अश्विनीकुमार के अंश मैंद और द्विविद अश्विनी कुमार के समानही रूपसंपन्न हुए और वायुदेव का अंश मारुति-हनुमान् वायुदेव के तुल्यही वेगवान् तथा पराक्रमी हुआ।

इस प्रकार ब्रह्माजी की आज्ञा से सब देवोंने अपने अपने अंशसे पृथ्वीपर पुत्र उत्पन्न किये। जन्म ही से उनका पालनपोषण और संवर्धन वनोंमें ही किया गया; उन्हें वनोंमें ही सर्व शस्त्रास्त्रों की तथा सर्व प्रकार की सामरिक शिक्षा दी गई। इनको-किसी को भी नगरवासियों की हवा नहीं लगने दी और नागरिक जीवन से बिलकुल पृथक् ही रक्खे गये। यदि इन्हें नागरिकोंकी हवा लग जाती, तो नागरिक तो पहले ही से रावण के प्रताप के आतंक से हतधैर्य बन चुके थे। उनके मुँहसे रावण के प्रताप की अत्युक्तिपूर्ण गाथाएँ इन (वानरों) के कानों में प्रवेश कर जातीं और इन के भी अंतःकरणों में रावणविषयक आतंक को दृढमूल कर देतीं, तब फिर ये वानर भी रावण से युद्ध करने के योग्य नहीं बन सके होते। पुनः नगरवासियों का बन ठन कर रहना, उनके कृत्रिम आहार-विहार और ऐसे आहार-विहार से प्रादुर्भूत होनेवाले अनेकानेक दुर्गुण इन वानरों को भी लग जाते और उसका परिणाम यह होता कि ये वानर ब्रह्मचर्य से पतित हो जाते और फिर शारीरिक सुदृढता तथा हृष्टपुष्टता को खोकर सैनिक-कर्म करने के लिए नितांत अनुपयोगी बन जाते।

उपर्युक्त आपत्तियों को टालने के लिए इन वानरों का नगरवासियों से बिलकुल संबंध नहीं आने दिया, और प्राचीन परंपरागत गुरुकुलपद्धति के ही नियमों में और भी समुचित कठिन नियमों की वृद्धि की जाकर उनके अनुसार सब वानरवीरों को शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, वर्षा, वायु इत्यादि अनेक प्रकार के सृष्टिनिर्मित आघातों को सहन करने के लिए समर्थ, नितांत ब्रह्मचारी, हृष्टपुष्ट तथा सुदृढ, शूर और साहसी वीर (Hardy and sturdy warriors), परन्तु सर्वांगीण सुशिक्षित ऐसे समरवीर बनाया गया। ये वानरवीर किस प्रकार के तैयार हुए थे। इसका वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी करते हैं-

अप्रमेयबलाः वीराः विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसंकाशाः वपुष्मन्तो महाबलाः ॥१८॥
कामरूपबलोपेताः यथाक्रमविचारिणः ॥२४॥
सिंहशार्दूलसदृशाः दर्पेण च बलेन च।
शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पर्वतयोधिनः ॥ २५ ॥
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः।
विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान् २६
क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्।
दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यां आप्लवेयुर्महार्णवान् ॥ २७॥
नभस्तलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान्।
गृह्णीयुरपि मातंगान् मत्तान् प्रव्रजतो वने ॥२८॥
नर्दमानाश्च नादेन पातयेयुर्विहंगमान्।
ईदृशानां प्रसूतानि हरीणाम् कामरूपिणाम् ॥२९॥
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम्।
ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ॥३०॥
बभूवुर्यूथपश्रेष्ठाः वीरांश्चाजनयन् हरीन्।
अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थान् उपतस्थुर्महाबलाः ॥३१॥
अन्ये नानाविधान् शैलान् काननानि च भेजिरे ३२
ते तार्क्ष्यबलसम्पन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः।
विचरंतोऽर्दयन् सर्वान् सिंहव्याघ्रमहोरगान् ॥३४॥

(बालकाण्ड सर्ग १७)

यानी वे असीम बलवान् शूर वीर, पराक्रमी, इच्छानुसार वेष धारण करने में कुशल, हाथी तथा पर्वतकीसी विशाल देहवाले, स्वरूपसुन्दर, इच्छानुसार चाहे जहाँ जानेवाले, सिंह और व्याघ्र के सदृश महाबलवान्, पाषाण से युद्ध करने में निपुण, पहाडी लडाई लडने (Mountain Warfare) में कुशल, सर्व शस्त्रास्त्रों के मर्मज्ञ होने पर भी केवल नख और दन्त से शत्रुओं को फाड डालने की सामर्थ्य रखनेवाले, बाहुबल से पहाड को भी हिला देनेवाले, मोटे तने के खडे वृक्षों को हाथों से ही चीर कर फेंक देनेवाले, समुद्र को भी क्षुब्ध कर देनेवाले, लात मारकर पृथ्वी को विदार देनेवाले, बाहुबल से विस्तीर्ण महासागरों को भी तैर जानेवाले, ऊंची उडान मार कर मेघमण्डल को भी हाथ लगानेवाले, वन में इतःस्ततः भागते हुए मस्त हाथी को भी पकड कर एक जगह बांध देनेवाले, केवल गर्जना हीसे उडते हुए पक्षीको नीचे गिरा देनेवाले एवंगुणविशिष्ट लक्षावधि यूथप, यानी वानरों के यूथों-दलों-पर अधिकार चलानेयोग्य नायक (Leaders or officers) सिखला कर तैयार किये गये। ये ही शिक्षित (Trained) वानर फिर अन्यान्य वानरपथकों पर सरदार (Leaders or officers) नियुक्त किये गये और फिर उन्होंने अपने अपने पथक के वानरों को सर्व

शस्त्रास्त्र तथा सामरिक शिक्षा (War-Training) देकर रणवीर बना दिया।

इनमें से कई वानरपथकों को ऋक्षवान् पर्वत के आसपास रक्खा गया। दूसरे कइयों को अनेक पर्वतों में तथा अरण्यों में रक्खा। वे सब वानरवीर गरुड के समान वेगवान्, बलवान्, तथा युद्धकलानिपुण थे और सिंह, व्याघ्र तथा बडे बडे अजगरों को हाथों से चीर कर फेंक देते थे और जंगलों में यथेष्ट संचार किया करते थे।

यह जो वानरसेना तैयार की गई, उसके प्रत्येक सैनिक की बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया। क्योंकि युद्धमें शत्रुओंपर विजय पाने के लिए केवल अद्यावत् (Up-to-date) सुधरे हुए शस्त्रास्त्र तथा यांत्रिक साधन ही पर्याप्त नहीं होते, किन्तु उनका योग्य उपयोग करने के लिए मनुष्यों ही की आवश्यकता होती है और ये मनुष्य जितने सुशिक्षित, हृष्टपुष्ट, सुदृढ और परिश्रमी होंगे, उतनी ही शत्रुओंपर विजय पानेकी शक्यता भी अधिक होती है। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इन वानर सैनिकों की सामरिक शिक्षा में यांत्रिक साधनसामुग्री, वरदी (Uniform) आदि बाह्य उपाधियों को महत्त्व नहीं दिया गया और उन्हें केवल कार्यक्षम सैनिक बनाने का ही लक्ष्य रक्खा गया।

इसी का परिणाम यह हुआ कि, रावण के प्रताप का आतंक सर्व जगत् पर जमा हुआ होनेके कारण दीर्घकाल तक जिन राक्षसों को शस्त्रास्त्र चलाने का कामही नहीं पडा था, सार्वत्रिक शांतता होनेके कारण जिन के स्वभाव में सुखभोग, विषयलोलुपता तथा उत्सवप्रियता का परिपोष होकर, शरीरमें शिथिलता बिलकुल भीन चुकी थी और जो केवल अपने पूर्व पराक्रमों के घमंड में ही फूले न समाकर शत्रुओं को बिलकुल तुच्छ समझते थे, उन्हीं राक्षसों के ऊपर ये वानरवीर विजय प्राप्त करनेके लिए समर्थ हो गये।

अब इन को "वानर" किस लिए कहा गया, इसका भी स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। रावण से युद्ध करने के लिए कोट्यवधि सैनिकों की सेना तैयार करने की आवश्यकता थी। इतनी बडी अजस्र सेनाको नित्यकी अन्नसामुग्री (Rations), वरदी (Uniform), रहने के लिए बारगें (Barracks), डेरे, रावटियाँ, पाल, इत्यादि सामान कितना लग जाता ? केवल दैनिक भोजन के लिए ही इतना अन्न लग जाता कि पृथ्वीपर उसका दुर्भिक्ष ही पड जाता ! वस्त्रों के बारे में भी यही दशा हुई होती। अतएव ऐसी ही सेना तैयार करने की आवश्यकता समझी गई कि जिस को अन्न, वस्त्र, डेरे, रावटी, बारगें आदि की आवश्यकताही न पडे। शीत, उष्ण, वायु, पर्जन्य, क्षुधा, तृषा इत्यादि सहन करनेवाले सुदृढ, निश्चयी, साहसी और चपल, ऐसे ही वीर उस सेना में चाहिये थे। उक्त गुणोंसे युक्त तथा मनुष्यसे सादृश्य रखनेवाला ऐसा एक ही प्राणी-वानर (बंदर) दिखाई दिया और उसी का प्रतीक सम्मुख रखकर उक्त वानरसेना तैयार करनेका उपक्रम किया गया।

वानर यानी बंदर यह प्राणी वनचर होता है, उक्त वानरसेना को वनों में ही रक्खा। वानर (बंदर) जन्म से ही कंद, मूल, फल तथा झाड, पत्ते खाकर रहता है, उक्त वानरसेना के सैनिकों को भी कंद, मूल फल, झाड पत्ते खानेका अभ्यास कराया गया। अन्न मनुष्य के लिए सात्म्य होता है, यानी अभ्यास से कोई भी अन्न सुपच तथा शरीर के लिए पोषक हो जाता है, यह वैद्यशास्त्र का सिद्धान्त है, और अनुभव भी ऐसा ही है। बंदरों को वस्त्रों की आवश्यकता ही नहीं होती। उक्त वानरसेनाके सैनिकों को केवल लंगोटा बांधकर रहने ही की आदत लगा दी। बंदर जंगलों में, वृक्षोंपर, पहाडों की कंदराओं में रह सकते हैं, वानरसैनिकों की भी वैसी ही आदत डाल दी गई। सार यह है कि, वानरोंकी शिक्षा दीक्षा की पद्धति ही ऐसी रक्खी गई कि, उनको वन्य बंदरों की आदतें लगकर वे शीतोष्ण, वायु, पर्जन्य, क्षुधा, तृषा, आदि सर्व प्रकारके क्लेश (Hardships) सहन कर सकें और शरीर से सुदृढ, हृष्टपुष्ट तथा शूर और साहसी वीर (Hardy and Sturdy Warriors) बन जाएँ।

साधारणतः यह देखा गया है कि, मनुष्य से वानर (बंदर) अधिक निरोगी, अधिक शक्तिमान्, अधिक सुदृढ, सहनशील तथा अत्यंत चपल प्राणी होता है। वस्तुतः वह झाडपत्तियों से क्षुधा निवारण करता है, और खुले जंगल में वस्त्रहीन रहता है। उसको मनुष्य के सदृश पौष्टिक अन्न नहीं मिलते, शक्तिवर्धक औषधियाँ (Tonics) भी जो मनुष्य को मिलती हैं. बंदर को नहीं मिलतीं। मनुष्य

शीत, वायु, पर्जन्य तथा प्रखर सूर्यताप से संरक्षित ऐसे घरों में रहता है, शीत लगने पर ऊनी लोइयोंसे अथवा नरम नरम रजाइयों से अपने शरीर को ढक लेता है। वानर को न घर है और न उस के पास शीतनिवारणार्थ कोई वस्त्र भी है, तिस पर भी वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक निरोगी, शक्तिमान्, सुदृढ, सहनशील और चपल होता है। नगरवासी मनुष्यों की अपेक्षा भील, किरात आदि वन्य जातियों के मनुष्य ही अधिक सुदृढ, शक्तिमान्, साहसी, तथा चपल होते हैं। इस का कारण यही दिखाई देता है कि, इन वन्य लोगों के पास नागरिकों जैसे वस्त्र नहीं होते और न इनको नागरिकों जैसा सुस्वादु भोजन भी मिलता है। ये निरे घासफूस के छप्परोंमें रहते हैं और फिर भी वे और उन के बालबच्चे, कडाके की धूपमें, जाडेमें ठंडी या जोरों की हवामें तथा मूसलधार वर्षामें निःशंक घूमते फिरते हैं, लेकिन उनको जाडा या जुकाम की बाधा प्रायः कम होती है। ये लोग नगरवासियों की अपेक्षा अधिक सुदृढ, सहनशील, शक्तिमान्, निरोगी और दीर्घायुषी होते हैं। जितना बोझा ये लोग पीठ पर उठा लेते हैं, या खींच कर ले जाते हैं, उस से आधा भी कोई नगरवासी उठाकर या खींचकर ले जा नहीं सकता। कारण स्पष्ट ही है। इन लोगों के आहारविहार आदि स्वाभाविकतया निसर्गनियमानुकूल होते हैं, तथा नागरिकों के आहारविहार कृत्रिम अतएव निसर्गनियमों के प्रतिकूल होते हैं।

आकृतिमें मनुष्य से सादृश्य रखनेवाला किंतु सृष्टिनियमों का पूर्णतः अनुसरण करनेवाला प्राणी एक वानर (बंदर) ही है, यह देखकर और उसी का प्रतीक सम्मुख रखकर इस नयी पीढी (young generation) का शिक्षण-संवर्धन किया गया। उनमें वानरों के से गुण उत्पन्न किये गये और उन्हीं गुणों का उनमें परिपोष किया गया। उन के आहार वानरों के सदृश ही रक्खे गये। सारांश, महर्षि वाल्मीकिजी के वर्णन किये हुए वानर आकृति से मनुष्य परन्तु गुण और प्रकृति से वानर (बंदर) बनाये गये और उन्हें 'वानर' संज्ञा दी गई। साम्य दो प्रकार का होता है, एक आकृतिसाम्य और दूसरा गुणसाम्य। वाल्मीकिवर्णित वानरों का पशु वानरों के साथ गुणसाम्य है; आकृति से वे मनुष्य ही हैं। उनमें चातुर्वर्ण्यव्यवस्था भी है, तथा वे वैदिक कर्मानुष्ठानी भी हैं, अतएव वे 'वैदिक आर्य' हैं। 'वानर' यह केवल उन का लाक्षणिक 'उपनाम' है।

वर्तमानकालीन सभ्यताशिखरारूढ पाश्चात्य राष्ट्रोंमें भी ऐसे उपनाम पाये जाते हैं। यथा रूस का उपनाम White bear अर्थात् 'श्वेत वराह' है। फ्रान्स का Lion अर्थात् 'सिंह' है। जर्मनी का Eagle अर्थात् गरुड है, तथा इंग्लिस्तान का उपनाम John Bull अर्थात् 'महोक्ष' है। ये सब उपनाम उन सब की देशविशिष्टता या गुणविशिष्टता से सम्बन्ध रखते हैं। उक्त देशवासियोंमें से किसी के भी शरीर की आकृति अपने देश के उपनाम के पशु की आकृति से साम्य रखनेवाली नहीं है, यह प्रत्यक्ष ही है। महर्षि वाल्मीकिवर्णित वानर भी ऐसे ही उपाधिधारी वानर हैं। उनमें वानरों के सदृश गुणों का विकास होने के कारण उन का भी उपनाम वानर हो गया, वस्तुतः वे हम जैसे मनुष्य ही हैं।

यहाँ पर अब यह शंका उपस्थित होती है कि, यदि महर्षि वाल्मीकिकथित वानर मनुष्य ही हैं, तो उनके मुँह की बनावट बंदरों जैसी क्यों है? तथा उनके बंदरों जैसी पूँछ भी तो है? सो इसका निराकरण यह है कि, उन के मुंह बंदरों के नहीं है, किंतु वे उनके मुँह पर बंदरों की मुखाकृति के बनाकर चढाये हुए "शिरस्त्राण" हैं। इसी तरह "पुच्छ" जो कहा गया है, वह भी उनकी कमरसे लपेटे हुए पाशसंज्ञक आयुध का पीछे को लटकता हुआ एक सिरा है। यह सिरा (End) लटकता हुआ होने के कारण उसको "पुच्छ" कहा गया है।

किसी मनुष्य का चित्र खींचा जाता है, तो वह उसकी प्रसंगानुकूल वेषभूषामें- उसके वस्त्र, आभूषणों तथा शस्त्रास्त्रोंसमेत खींचा जाता है। केवल खुले शरीर का चित्र विशिष्ट प्रसंगों को छोडकर शायद ही कभी खींचा जाता होगा। चित्र शाब्द हो या दृश्य हो, दोनों के लिए यही नियम लागू है। रामायण में जो वानरों के वर्णन हैं, वे उनके शब्द-चित्र हैं। उदाहरणार्थ- हनुमानजी सीताजी की खोज करने को लंका में गये थे, अर्थात् वे

शत्रुराष्ट्र में गये हुए थे। उस समय का उनका चित्र, सिर "शिरस्त्राण" से ढका हुआ, कन्धेपर गदा रक्खी हुई, कमर से पाश लपेटा हुआ ऐसा ही होना चाहिये था और वैसा ही उस प्रसंग पर खींचा गया था, तथा अभीतक वैसा ही खींचा भी जा रहा है। यही नियम अन्य वानरों के लिए भी लागू है।

हम राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, राठौर वीर दुर्गादास आदि ऐतिहासिक वीरों के वर्णन पढते हैं, तथा उन के उपलब्ध चित्रों को (तस्वीरोंको) भी देखते हैं। वे नखशिखान्त युद्ध की पोशाक जिरह बख्तर और टोप पहने हुए, हाथमें भाला लिये हुए, कमर से तलवार और पेशकबज बांधे हुए, पीठ पर ढाल लटकाये हुए, घोडे पर सवार ऐसी समरवेषभूषा में ही हम को दिखाई देते हैं। इस का अर्थ यह नहीं कि वे प्रतिदिन भोजन के समय या निद्रा लेते हुए भी सर्वकाल इसी वेषभूषामें रहते हों। अर्थात् उन के जो उक्त वेषभूषा के चित्र हैं, वे प्रासंगिक स्वरूप के हैं, न कि सत्य स्वरूप के। उसी प्रकार रामायण में जो वानरस्वरूप के वर्णन हैं, वे उन के विशिष्ट प्रसंग के शब्दचित्र हैं, यथार्थ स्वरूप के या शरीर के चित्र नहीं हैं। वर्तमानयुगीन पाश्चात्य वीर भी युद्ध के विशेष प्रसंग पर विषैली गॅस का प्रयोग (Gas attack) होने पर Gas Masks (गॅस् मास्क्स्), Gas helmets (गॅस हेल्मेट्स्) या Respirators (रेस्पिरेटर्स) इत्यादि विविध भाँति के शिरस्त्राण पहनते हैं; उस समय उन के भी चेहरे वानर, वराह, भालू या राक्षसों के चेहरों के सदृश दिखाई देते हैं। इन शिरस्त्राणों को पहनकर खींचे हुए, फोटोमें भी वे वैसे ही यानी वानरमुख, वराहमुख, ऋक्षमुख या राक्षसमुख दिखाई देते हैं, परन्तु वह उन के वास्तविक स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि उन के मुख के ऊपर उपर्युक्त शिरस्त्राण चढे हुए हैं। इसी प्रकार रामायणमें वर्णन किये हुए, **वानरमुख या राक्षसमुख भी वास्तविक नहीं है, किन्तु वे उन के मुँह के ऊपर चढाये हुए शिरस्त्राण हैं।**

रामायणकाल में वानरों और राक्षसों के जो युद्धप्रसंग होते थे, वे विशेषतः गदायुद्ध ही के होते थे। अर्थात् विपक्षी की गदाके आघात से सिरको बचाने के लिए उन्हें योग्य शिरस्त्राण भी पहनने पडते थे। इन शिरस्त्राणों के बनाने में आँख, कान, नाक मुँह इत्यादि के बचाव का विचार विशेष रूपसे किया जाना स्वाभाविक ही है। माथे से थोडा नीचे और ठुड्डीके ऊपरका यानी आँख, कान, नाक, मुँह आदिको ढकनेवाला भाग खूब आगेको बढा हुआ तथा ढलुआँ बनाना पडता होगा, जिससे यदि विपक्षी की गदा का आघात लगे, तो उसी भाग पर लगे और प्रत्यक्ष आँख, कान, नाक, या मुँह पर कुछ चोट न आने पावे। आँखों की जगह अद्यतन गॅस मास्क (Gas-Mask) की तरह अभ्रकके गोल टुकडे लगाये जाते होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि, रामायणमें वर्णित वानरोंके मुँह वास्तविक नहीं है, किन्तु उनके वास्तविक मुखपर चढाये हुए शिरस्त्राण हैं। यह शिरस्त्राण राक्षसों के और वानरों के भिन्न भिन्न प्रकार के होते थे, जिनसे उनको पहचाननेमें सुभीता होता था। यूरप में प्राचीन कालमें रोमन वीरता (Roman Chivalry)के युगमें और उसके अनंतर भी प्रत्येक सरदार (Knight) के कुल के शिरस्त्राण की बनावट अपने विपक्षी के शिरस्त्राण से भिन्न प्रकार की होती थी, जिससे वे स्वपक्षीय हैं या विपक्षीय, यह विनायास पहचाना जा सकता था।

वानरों के पुच्छ के संबंध में विशेष विचार।

वानरोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विवरण अन्यत्र (बालकाण्ड सर्ग १७ से उद्धृत किया हुआ) हो चुका है, उस पर से वानर "देवांश" अर्थात् देवों की सन्तान सिद्ध होती है। वाली "इन्द्र" का पुत्र है, सुग्रीव "सूर्यपुत्र", तार "बृहस्पति" का, नील "अग्निदेव" का, मैंद और द्विविद "अश्विनिकुमार" के, हनुमानजी "वायुदेव" के और जांबवान् "ब्रह्माजी" के पुत्र हैं। इसी प्रकार अन्यान्य वानर भी "देवपुत्र" हैं या "ऋषिपुत्र" हैं। इनके विषयमें महर्षि वाल्मीकि निश्चयसे कह रहे हैं कि-

यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः।
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक्॥
(बालकाण्ड सर्ग १७, श्लोक १९-२०)

अर्थात् 'जिस देव का जैसा रूप, जैसा शरीर तथा जैसा पराक्रम था, उस देव का अंशभूत वानर भी रूप से,

शरीर से, तथा पराक्रम से उसी देव के तुल्य हुआ। '

यहां अब सोचने की बात है कि, जिन देवों के अंशभूत उपर्युक्त वानर उत्पन्न हुए, उनमें किसी देव के पुच्छ होना, या लंगूर का मुँह होना अथवा उसका शरीर लंगूर के शरीर जैसा होना इत्यादि वर्णन किसी पुराणग्रन्थ में किसीने पढा है क्या? क्या इन्द्र के या सूर्य के "पुच्छ" होने का वर्णन किसी पुराण में देखा गया है? क्या बृहस्पति के शरीर पर बंदरों के सदृश बालों का होना कहीं सुना है? क्या अश्विनीकुमारों के मुख बंदर जैसे काले हैं? किसी देव के सम्बन्ध में ऐसी बातें न कभी पढने में आईं और न कभी कहीं सुनाई भी दी हैं। यदि उक्त देव पुच्छयुक्त नहीं हैं, तो उन्हीं के अंशभूत–रंग, रूप, शरीर से भी उन्हीं देवों के सदृश उत्पन्न हुए वानरों को 'पुच्छ' क्योंकर हो सकता है?

अब यहाँ दूसरी भी एक शंका उपस्थित होती है। रावण ने हनुमानजी के पुच्छ को चिथडे लपेट कर सुलगा दिया था, तथा अन्य वानरों के भी पुच्छ थे, ऐसा वर्णन रामायण ही में है, तो फिर उसका अर्थ क्या है? इस शंका का निराकरण "पुच्छ" यह क्या वस्तु है, इसका विशेष स्पष्टीकरण करने से होगा।

वानरों का जो "पुच्छ" है, वह उनका "पाश" नामक एक आयुध है। यह पाश विशेष प्रकार की बनावट का तथा बहुत लंबा रस्सी के सदृश होता है। भागते हुए शत्रु के ऊपर इसका फन्दा बना कर फेंका जाता है और उसमें उसको फाँस कर पीछे खींच लिया जाता है। यह पाश कमरसे लपेटा जाता है और आवश्यकता के समय पर तुरंत खुल सके, ऐसी उस में गांठ लगा कर उस का एक छोर पीछे की तरफ लटकता हुआ छोड दिया जाता है। 'पुच्छ' की तरह लटकता होने से यही छोर उन वानरों का 'पुच्छ' कहलाया गया और कवियों को इसी कल्पना के घोडे पर सवार होकर निरंकुश संचार करने के लिये यथेष्ट विषय मिल गया। कवियोंने जैसा वर्णन शब्दोंमें किया, चित्रकारोंने भी उन्हें चित्रमें वैसा ही रंग दिया और पौराणिकों ने वैसाही अपने श्रोतागणों को 'जो है, सो श्रवण कराय' दिया। इस प्रकार जो वास्तव में मनुष्य थे, वे कवि, चित्रकार तथा पौराणिकों की कृपा से सचमुच ही बंदर बन गये। वास्तव में, यदि वे बंदर होते अथवा ऋक्ष यानी भालू होते, तो जांबवान् की पुत्री जांबवती भगवान् श्रीकृष्णजी की प्रधान अष्ट नायिकाओं में से एक क्योंकर हो सकती थी? राजकन्या रुक्मिणी, सत्राजित् की कन्या सत्यभामा आदि अत्यन्त रूपसुन्दरी नायिकाओं की पंक्ति में यह काली कलूटी, सारे शरीर पर लंबे लंबे बालोंवाली, तथा हाथ भरकी लंबी पूँछवाली रीछनी नायिका क्या ही अच्छी शोभा देती! भागवत-माहात्म्य में कहा है—

> विप्रैः पौराणिकी वार्ता गेहे गेहे जने जने।
> कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥

यह उक्ति यहां पर यथार्थ ही प्रतीत हो रही है।

मराठा साम्राज्य में सिलहदारी सेना के सिलहदार (सैनिक) इस पाश का उपयोग करते हुए पाये जाते हैं, परन्तु वे इसकी परतें बनाकर घोडे के चारजामे के पुठ्ठे पर कस देते थे। संभवतः घोडे की पिछाडी (Heel rope) का ही उपयोग वे पाश की जगह करते हों। बाजीराव पेशवा (प्रथम) की जीवनी में, उसने अपने कनिष्ठ भ्राता को एक पत्र, भागते हुए निजामको पकडने के सम्बन्ध में लिखा है, उसमें ऐसे पाश का उल्लेख है।

वर्तमान युग में भी हिमालयपर्वत प्रदेश में रहनेवाले पहाडी लोगोंके पास एक पाश होता है, जिसको वे अपनी कमर सेही लपेट कर रखते हैं। इस पाश से वे भागते हुए हिरन को भी पकड लेते हैं। शिकार के लिए गये हुए मिलिटरी के ब्रिटिश ऑफिसरों के भागे हुए घोडे ये पहाडी लोग अपने तथाकथित पाश से पकड कर ले आते हैं। संभवतः फारसी भाषा का 'कमन्द' यही होगा।

सारांश, वाल्मीकि महर्षि के वर्णन किये हुए वानरों का पुच्छ उनके शरीर का कोई अवयव नहीं है, किन्तु शरीर से पृथक् पाश संज्ञक एक आयुध है। यह आयुध वानर सैनिक अपनी कमर से लपेटते थे और आवश्यकता पडने पर तुरंत खुल जाय, ऐसी उसमें गाठ देकर उसका एक सिरा पीछे की ओर लटकता हुआ छोड देते थे। यही लटकता हुआ सिरा 'पुच्छ' कहलाया गया। यदि यह शरीर का कोई अवयव होता तो, रावणने जब हनुमानजी के पुच्छ को चिथडे बांधकर उसमें आग लगवा दी थी,

तब हनुमानजी को भी उसकी आँच लगनी चाहिये थी। लेकिन उनको तो कुछ भी अपाय नहीं हुआ। इसी से यह स्पष्ट है कि, उनका पुच्छ उनके शरीर का कोई अवयव नहीं था, अपितु शरीर से पृथक् ही कोई वस्तु थी। यदि अग्नि को हस्तस्पर्श हो, तो हाथ जल उठेगा, परन्तु हाथमें लकडी या रस्सी लेकर उससे छुआ जायगा, तो वह लकडी या रस्सी जल उठेगी, लेकिन हाथ को कुछ भी आँच नहीं लगेगी। क्योंकि, वह लकडी या रस्सी हाथ से पृथक् है। उसी प्रकार रामायण में कथित वानरों के पुच्छ उनके शरीर से पृथक् वस्तु हैं, उनके शरीर का अवयव नहीं है।

यह पुच्छ अथवा पाश संभवतः सूती, रेशमी, ऊनी या चर्मी इनमें से किसी एक पदार्थ का बुना हुआ हो सकता है। वह किसी भी पदार्थ का बुना हुआ हो, सारी लंका को जलाने तक उसका भी जल जाना निश्चित ही है। लेकिन वह ज्यों का त्यों रहा है, जला नहीं। लंकादहन करने के पश्चात् हनुमानजी ने अपने पुच्छ के अग्नि को समुद्र में जाकर बुझा दिया और फिर वह उसको हिलाते हुए आकाशमार्ग से किष्किन्धा को चल दिये, ऐसा स्पष्ट वर्णन सुन्दरकांड ५४-५७ में है। यथा-

लंकां समस्तां संपीड्य लांगूलाग्निं महाकपिः।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिपुंगवः ॥ ४९ ॥
ननाद सुमहानादं लांगूलं चाप्यकंपयत् ॥ १७ ॥

लांगूल को लगा हुआ अग्नि हनुमानजीने समुद्रमें बुझा दिया। लांगूल जला नहीं। यह कैसे हुआ? लगभग ५० वर्ष हो गये, महाराष्ट्र भाषा के एक मासिक पुस्तक (केरल-कोकिल) में पढा हुआ हम को याद है कि, एक ऐसा पत्थर है कि, उसे आग की भट्टीमें डालने पर जलने के बदले उसका कपास बन जाता है। इस कपास को धुन कर उसका सूत काता जा सकता है, तथा कपडा भी बुना जा सकता है। यह कपडा मैला होने पर आगमें डालते ही धोबी से धुले हुए कपडेके सदश उजला हो जाता है।

मार्कण्डेयपुराण में दुर्गा सप्तशती उत्तमचरित्र अध्याय ५, श्लोक ९९ में अग्निद्वारा शुद्ध होनेवाले ऐसे वस्त्र का वर्णन है। यथा—

वह्निरपि ददौ तुभ्यं अग्निशौचे च वाससि ॥९९॥

इस से प्रतीत होता है कि, हनुमानजी का पुच्छ उपरि-निर्दिष्ट सूत का बुना हुआ होगा, अथवा उस पर ऐसी कोई रासायनिक क्रिया की गई होगी कि, जिस से वह इस प्रकार (Fire proof) फायर-प्रूफ हो गया होगा।

इस प्रकार रामायणमें वर्णन किये हुए वानरों के पुच्छों के सम्बन्धमें हमने यथामति अपने विचार विद्वान् विचारकों के सम्मुख विचारपूर्वक परीक्षणार्थ सादर रख दिये हैं। कोई विद्वान् इस से भी अधिक तर्कशुद्ध संगति लगा कर सप्रमाण प्रकट करेंगे, तो उस का सानंद और सधन्यवाद स्वीकार किया जायगा। हमारा अभिमत यदि विद्वज्जनों के विचार से अयथार्थ सिद्ध हुआ, तो उसका हमें कोई विषाद नहीं होगा। क्योंकि 'न ह्येकस्य क्षमा प्रज्ञा तत्त्वार्थ-परिनिर्णये'। सत्य क्या है? इस का निर्णय होना ही चाहिये। यही हमारी आंतरिक इच्छा है और उसी के हेतु हमारा यह प्रयत्न भी है। 'वाल्मीकि रामायण' यह ग्रन्थ हम सब भारतीय आर्यों का राष्ट्रीय ग्रन्थ है, अतएव उस के संशोधनकार्य में सहायता देना 'भारतीय आर्य' कहलानेवाली प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त पवित्र कर्तव्य है।

अब, वानरों की उत्पत्ति के सम्बन्धमें कतिपय विद्वान् लोगों का जो आक्षेप है, उस का विचार करके प्रस्तुत लेख को समाप्त करेंगे।

उक्त विद्वान् लोगों का यह आक्षेप है कि, यह वानर-सृष्टि देवादिकों के द्वारा अप्सरादि स्त्रियों के क्षेत्र से उत्पन्न करवाई गई है, अतः वह 'क्षेत्रज' होने के कारण 'अधर्म्य' है। परन्तु यह आक्षेप ही अनुचित है। क्योंकि यह वानर-सृष्टि भगवान् प्रजापति ब्रह्मदेव की आज्ञा से उत्पन्न की गई है, अर्थात् वह 'नियोगजन्य' है और 'नियोग' आपत्काल में धर्मशास्त्रतः विहित अर्थात् 'धर्म्य' ही माना गया है।

'रावण का संकट' यह एक तत्कालीन आत्यन्तिक जागतिक आपत्ति थी और उस आपत्ति को नष्ट करने के लिए जिस प्रकार के सैन्य की आवश्यकता थी, उस को उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य मार्ग ही नहीं रहा था, अतएव प्रजापति ब्रह्मदेव को इस जागतिक आपत्ति का सामना करने के लिए ऐसे 'आपद्धर्म' का अवलम्ब करना पडा।

पुनः यह वानरसृष्टि देवांश है। देव तपोबलवान् तथा

योगारूढ होते हैं। तपोबल सम्पादन किये विना देवत्व प्राप्त हो ही नहीं सकता। इस के अतिरिक्त देवों को प्रत्यक्षतः शरीरसम्बन्ध करने की आवश्यकता ही होती है, ऐसा कोई निश्चय नहीं है। कर्ण के विषयमें महर्षि वेद-व्यास से कुंतीने प्रश्न किया था, उस का जो उत्तर महर्षि-जीने दिया, वह विचारणीय है।

साधु सर्वं इदं भाव्यं एवमेव यथात्थ माम् ।
अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि ॥२१॥
देवाश्चैश्वर्यवन्तो हि शरीराण्याविशन्ति वै ।
सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पात् जनयन्ति ते ॥२२॥
वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पंचधा ।
मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति ॥२३॥
इति कुन्ति विजानीहि व्येतु ते मनसो ज्वरः ॥२४॥
(महाभारत पुत्रदर्शनपर्व)

उपर्युक्त श्लोकोंमें ' धर्मेण हि न दुष्यति ' इस वचन से यह प्रमाणित होता है कि, ' अधर्म्य सम्बन्ध देवों के साथ होने पर भी दूषित ही है। ' यथा इन्द्र और अहल्या का सम्बन्ध अधर्म्य है। केवल वाणी, दृष्टि, या हस्तादि स्पर्श-मात्र से कोई दोष नहीं होता।

गत १९१४ ईसवी के यूरोपीय महायुद्धमें फ्रान्समें प्रकारान्तर से नियोग धर्म प्रचलित करने की बारी आई थी। युद्धमें असंख्य वीर काम आये और राष्ट्रमें वीरों की कमी पड गई, तब फ्रान्समें एक कानूनका प्रस्ताव हुआ था कि, जो स्त्री राष्ट्रको एक पुत्र उत्पन्न कर दे, उसको चालिस पाउंडों का पारितोषिक दिया जावे। इस प्रकार प्रत्येक पुत्र को जन्म देने के लिए उस की माता को पुरस्कार देने का का प्रस्ताव था। अब यह प्रश्न उठा कि, यह पारितोषिककी रकम कहाँ से पैदा की जावे? इस प्रश्न को प्रस्तावकोंने इस प्रकार हल किया कि, अपुत्रवती स्त्री के ऊपर चालीस पाउंड्स् कर (Tax) रक्खा जा कर, वह उससे वसूल किया जावे और पुत्रवती को दिया जावे। प्रचलित महा-युद्धमें भी फ्रान्समें अविवाहित स्त्रीपुरुषों पर कर (Tax) लगाया गया है और यह टॅक्स (कर) उन अविवाहित स्त्रीपुरुषों के विवाहित हो जाने पर बंद हो जाता है। जर्मनीने तो विवाह करना तथा विवाहविच्छेद करना दोनों बातें राष्ट्र के ही अधिकार में रक्खी हैं। कोई जर्मन व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार न तो विवाह ही कर सकता है और न विवाहविच्छेद भी अपनी इच्छा से कर सकता है।

स्त्रीदाक्षिण्य के पाठ दूसरों को देनेवाले तथा अपने आपको सभ्यता के शिखर पर आरूढ समझनेवाले पाश्चात्यों के स्त्री-दाक्षिण्य का यह अनोखा नमूना देख लिया जाय! स्त्रीजाति की इससे अधिक विडंबना हो ही क्या सकती है? इसका कारण केवल यही है कि, पाश्चात्य समाज अर्थ-प्रधान है तथा उसके पीछे धर्म का अधिष्ठान बिलकुल नहीं है। हमारा हिन्दुसमाज धर्मप्रधान है। उसके मूल में ही धर्म का दृढ अधिष्ठान होने से परम पवित्र स्त्रीजाति के लिए ऐसे मानहानिकारक, अनार्यजुष्ट तथा अत्यन्त लज्जास्पद कानून बनाने की कभी आवश्यकता ही अभी तक नहीं हुई। हमारा विवाहसंस्कार धार्मिक विधि में समाविष्ट होने के कारण अविवाहितों पर Tax (कर) लगाने की तथा कानूनी जबर्दस्ती से किसी का विवाह कर देने की हास्यजनक बारी ही हमारे हिंदुसमाज में कभी नहीं आती, और जब तक विवाह की यही विधि कायम रहेगी, तब तक ऐसी बारी कभी आनेकी भी नहीं। जब तक यूरोपीय समाज अपनी घटना धार्मिकता की नीव पर नहीं करेंगे और जन्मतः जातिव्यवस्था पर अमल नहीं करेंगे, तब तक उनके समाज सुव्यवस्थित कभी नहीं हो सकेंगे और न उनको कभी स्थैर्य ही प्राप्त हो सकेगा।

बडे बडे यूरोपीय राष्ट्र केवल " चार दिनोंकी चांदनी " के सदृश दिखाई दिये और नष्ट भी हो गये। उनकी केवल राजकीय सत्ता ही नष्ट नहीं हुई, अपितु उनके समाज भी नष्ट हो गये। राजकीय सत्ता नष्ट हुई, तो भले ही हुआ करे, लेकिन समाज क्यों नष्ट हो गये? इसका एकमेव कारण यही है कि, उन समाजों की घटना धार्मिक भावनापर नहीं थी। उनमें जन्मसिद्ध ' जातिव्यवस्था ' नहीं थी। इसके विपरीत हमारा हिन्दुसमाज आज ३००० वर्षों से परकीय आक्रमणों के असंख्य आघातों को झेल कर भी अभी तक टिका हुआ है और रहेगा। क्योंकि हिंदु समाज की घटना वैदिक धर्म की सुदृढ नीव पर हुई है और उसमें जन्मसिद्ध ' वर्णव्यवस्था ' (जातिव्यवस्था) भी है। इस विषय में महाराष्ट्र को ललामभूत तथा सारे

भारतवर्ष के ही केवल नहीं अपितु यूरप के भी विद्वान् लोगों में जिनके विचारों का समुचित आदर हो चुका है, वे न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे महोदय क्या कहते हैं ? उनके विचार उद्बोधक होने के कारण यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

'How could they, inspite of the periodical inroads of the various conquerors, have preserved their nationality, their religious and social institutions also intact ? the Assyrians, the Babylonians, the Egyptians the Phoenicians, the Romans, the Greeks appeared for some time, above the political horizon, attained a certain degree of civilisation and political greatness and then disappeared.' (A sketch of the life and work of the late Mr. Justice Ranade vol. 2- page 80)

अर्थात् 'अनेक परकीय विजेताओं के समय समय पर आक्रमण हुए, उनसे हतोत्साह न हो कर वे (हिन्दु) अपना राष्ट्रीयत्व, अपनी धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ अभीतक ज्यों की त्यों किस प्रकार स्थिर रख सके ? असीरियन्स्, बाबीलोनियन्स्, ईजिप्शियन्स्, फिनिशियन्स्, रोमन्स् तथा ग्रीक लोग अल्पकाल तक राजकीय क्षितिजपर चमकते हुए दिखाई दिये, कुछ थोडा समाज सुधार कर लिया, कुछ थोडा राजकीय महत्त्व भी प्राप्त कर लिया और अन्तमें 'अस्त' भी हो गये। जस्टिस रानडे महोदय के कहने का इत्यर्थ यही है कि, परदेशीयों के अनेक आक्रमणों तथा आपत्तियोंको झेलकर भी एक हिंदुसमाज ही ऐसा है कि जो अपनी संस्कृति को लिये हुए अभीतक स्थिर रह सका है, जिसका एकमेव कारण हिंदुसमाज की घटना धर्म के आधारपर की हुई है और उस समाज में 'वर्णव्यवस्था' जन्मसिद्ध जातिव्यवस्था है। हमको पाश्चात्य लोगों का अनुकरण करने की सुतराम् आवश्यकता नहीं है। उनका अंधानुकरण करने से हमारा हिंदुसमाज भी कालान्तर से उनके सदृश ही नामशेष रह जाने का संभव है।

गत महायुद्ध का वृत्तान्त देने के कारण यहाँ पर कुछ विषयान्तरसा हुआ प्रतीत होगा। किन्तु इतिहास की पुनरावृत्ति किस प्रकार होती है, इसका दिग्दर्शन करने की आवश्यकता प्रतीत होने के कारण, यह वृत्तांत यहां दिया गया है। अस्तु।

यहाँ तक वानरों की मनुष्यत्वसिद्धि यथामति की गई। इससे भी अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन इस विषय में किया जा सकता है, परन्तु उसकी अब कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। अतएव अब आगामी निबन्ध में 'राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि' करेंगे।

(६)

राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि।

इससे पहले के निबन्ध में वानरों की मनुष्यत्वसिद्धि सप्रमाण की गई। अब प्रस्तुत निबन्ध में राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि करेंगे।

राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि के लिए हमें उत्तरकांड की शरण लेना होगा। परन्तु यह बेचारा उत्तरकांड सचमुच अभागा ही है ! इसमें सीतात्याग, लक्ष्मणत्याग, श्रीरामचन्द्रजी का निर्याण, सीताजी का भूमिप्रवेश इत्यादि अनेक दुःखान्त घटनाओं का वर्णन होने के कारण प्राचीन शिक्षक इस उत्तरकाण्ड को 'अशुभ' समझते हैं, और इसी कारण से उसकी ओर देखते ही नहीं है। इधर अर्वाचीन शिक्षक तो उसे वाल्मीकिप्रणीतही मानते नहीं है। वे उसे 'प्रक्षिप्त' समझकर उसकी ओर ध्यानही नहीं देते। एवंच प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही पक्ष के विद्वान् उत्तरकांड को उपेक्षादृष्टि से देखते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि, रामायणान्तर्गत ऐसी बहुतसी महत्त्व की बातें जिनका स्पष्टीकरण यथार्थतया होना आवश्यक है, वे विना स्पष्टीकरण के ही रह जाती हैं। और केवल निष्कारण तथा निरर्थक वादविवाद बढ जाते

का कारण होती हैं । हमारी अल्पबुद्धि के अनुसार उत्तरकाण्ड 'प्रक्षिप्त' नहीं है, किन्तु रामायण का 'परिशिष्ट' है, अतः रामायणान्तर्गत बहुतसी सन्दिग्ध बातों का स्पष्टीकरण होने के लिए इस 'उत्तरकाण्ड के अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है ।

उत्तरकाण्ड 'प्रक्षिप्त' नहीं है, इस बात को हम यथावकाश आगे चलकर प्रमाणित करेंगे, क्योंकि हमारा प्रस्तुत विचाराधीन प्रधान विषय 'राक्षसोंकी मनुष्यत्वसिद्धि' है । उसको प्रथम पूरा कर लें, और फिर उत्तरकांड का भी विचार यथावकाश करेंगे ।

वस्तुतः गत निबन्धों में वानरों के सदृश ही राक्षसों की भी संस्कृति अत्युच्च थी तथा वे वैदिक आर्य थे, यह सिद्ध हो चुका ही है, और जब कि, संस्कृति तथा आर्यत्व का अधिष्ठान मनुष्यत्व ही पर निर्भर है, तो वानरों के सदृश राक्षस भी मनुष्य ही हैं, यह बात आप ही आप सिद्ध हो जाती है । तथापि प्राचीन शिक्षकों के संतोषार्थ और भी थोडा विस्तारपूर्वक विवेचन कर देना आवश्यक मालूम होता है ।

राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि ।

राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि का अनुसन्धान प्रथमतः उनकी उत्पत्ति से करना आवश्यक है । राक्षसों की उत्पत्ति का वर्णन वाल्मीकि रामायणमें उत्तरकांडमें इस प्रकार है—

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिलसंभवः ।
तासां गोपायने सत्वान् असृजत् पद्मसंभवः ॥९॥
ते सत्वाः सत्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः ।
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः॥१०॥
प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन् इव ।
आभाष्य वाचा यत्नेन 'रक्षध्वम्' इति 'मानवाः' ११॥
'रक्षाम' इति तत्रान्यैः 'यक्षाम' इति चापरैः ।
भुंक्षिताभुंक्षितैरुक्तं ततस्तान् आह भूतकृत् ॥१२॥
'रक्षाम' इति यैरुक्तं 'राक्षसाः' ते भवन्तु वः ।
'यक्षाम' इति यैरुक्तं 'यक्षा' एव भवन्तु वः ॥१३॥
(उत्तरकांड सर्ग ४)

भावार्थ- प्रजापतिने सर्वप्रथम 'जल' को उत्पन्न किया और इस जल की रखवाली करने के लिए प्राणियों को उत्पन्न किया । वे प्राणी क्षुधा और तृषा से व्याकुल होकर प्रजापति के पास आये और सविनय बोले, 'हम क्या करें, इस की हमें आज्ञा हो ।' तब प्रजापतिने हँस कर कहा- 'हे मानवाः रक्षध्वम्' यानी हे मानवो, रक्षा करो ।' यह सुनकर उनमें से कई बोल उठे- 'रक्षामः' अर्थात् हम रक्षा करेंगे, (हमारे पेट के लिये कुछ दो ।) शेष रहे हुओंने कहा 'यक्षामः' अर्थात् 'हे प्रजापते, हम तो आपका केवल यजन करेंगे, (निष्काम भक्ति करेंगे, हमारे पेट को कुछ मिले या न मिले ।) यह सुनकर प्रजापतिने कहा कि, 'यक्षामः' कहनेवाले मानव 'यक्ष' नाम से विख्यात होंगे और 'रक्षामः' कहनेवाले मानव 'राक्षस' नाम से विख्यात होंगे ।

उक्त श्लोकोंमें 'रक्षध्वं इति मानवाः' इस 'मानव' शब्द से यह प्रमाणित हो रहा है कि, प्रजापतिने जल की रक्षा के लिए, जो प्राणी निर्माण किये, वे 'मानव' अर्थात् 'मनुष्य' थे । इनमें से जिन मानवोंने 'रक्षामः' कह कर जल की रक्षा करना स्वीकार किया, वे मानव 'राक्षस' नाम से विख्यात हुए और जिन्होंने 'यक्षामः' कह कर यजन करना स्वीकार किया, वे मानव 'यक्ष' कहलाये । अर्थात् राक्षस कोई विजातीय मनुष्येतर प्राणी नहीं हैं, अपितु 'मनुष्य' ही हैं, यही सिद्ध होता है । 'रक्षा करनेवाला' अथवा 'संरक्षक' यही राक्षस शब्द का अर्थ है । उसमें कोई बुरे भाव नहीं पाये जाते । वेतन या पुरस्कार के बदलेमें कोई कार्य करना दोषास्पद नहीं है ।

भगवान् श्रीकृष्णजीने भी श्रीमद्भगवद्गीतामें ' 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' ऐसी दो प्रकार की ही सृष्टि का वर्णन किया है । एक 'दैवी' और दूसरी 'आसुरी' । दैवी संपत्ति से जो युक्त हैं, वे 'देव' और आसुरी संपत्ति से जो युक्त हैं, वे 'असुर' हैं । इन्हीं को महर्षि वाल्मीकि 'यक्ष' और 'राक्षस' कह रहे हैं । सारांश, जो 'देव' हैं, वे ही 'यक्ष' और जो 'असुर' हैं, वे ही 'राक्षस' हैं । वस्तुतः दोनों मनुष्य ही हैं, इस का विशेष विवेचन आगे चल कर किया जायगा ।

राक्षसों की कुलपरंपरा तथा उनके विवाहसंबंध ।

इस राक्षसकुल में हेति और प्रहेति नाम के दो भाई

मधुकैटभ के तुल्य पराक्रमी और शत्रुनाशक थे। ये ही सब राक्षसों के अधिपति थे। प्रहेति महान् धर्मशील था, अतः वह तपस्या करने के लिए वनमें चला गया। हेति ने दारपरिग्रह (विवाह) के लिए बडा प्रयत्न किया और यमधर्म की सहोदरा भगिनी सूर्यकन्या 'भया' को स्वयमेव यमधर्म से विवाहार्थ माँग कर, उससे विवाह किया। इस भया के गर्भ से हेति को विद्युत्केश नामक पुत्र हुआ। विद्युत्केशने संध्यानामक राक्षसी की पुत्री सालकटंकटा से विवाह किया। सालकटंकटा से विद्युत्केश को सुकेश नामक पुत्र हुआ। सुकेश को-जन्मते ही उसकी माता सालकटंकटा मंदराचल पर छोडकर चली गई। वहाँ उसका संरक्षण तथा संवर्धन प्रत्यक्ष जगन्माता पार्वती ने किया। यह सुकेश बडा धर्मशील था। उसने भगवान् शंकर को प्रसन्न करके बहुत अच्छे अच्छे वर प्राप्त किये, जिनसे प्रभावित होकर ग्रामणी नामक गन्धर्वराज ने अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी कन्या देववती सुकेश के साथ ब्याह दी। इस देववती के गर्भ से सुकेश को माली, सुमाली, और माल्यवान् नामक तीन पुत्र हुए। ये तीनों भाई तपोबलवान्, ज्ञानी और पराक्रमी थे। तीनोंहीने घोर तपश्चर्या करके भगवान् ब्रह्मदेव को प्रसन्न किया और उनसे अच्छे अच्छे वर प्राप्त करके वे तीनों ही लंका में जा बसे और वहाँ का राज्य करने लगे।

उस समय नर्मदा नामक एक गन्धर्वी थी, और उसके केतुमती, वसुदा और सुन्दरी नामक तीन कन्याएँ थीं। उसने ये तीनों कन्याएँ उक्त तीनों भाइयोंको-माली, सुमाली तथा माल्यवान् को- क्रमशः- विवाह-विधि से अर्पण कर दीं। इन्हीं तीनों भाइयों में से मँझले भाई सुमाली राक्षस को वसुदा (गन्धर्वपुत्री) के गर्भ से कैकसी नामक कन्या हुई। यही कैकसी रावण की जन्मदात्री माता थी। इस कैकसी का विवाह प्रत्यक्ष ब्रह्माजी के पौत्र विश्रवा ब्रह्मर्षि के साथ हुआ, और इसी के गर्भ से विश्रवा ब्रह्मर्षि को रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण आदि चार संतान हुए। अर्थात् रावण प्रत्यक्षतः ब्रह्मदेव का प्रपौत्र ही था। रावण को दैत्यराज मयासुर ने अपनी कन्या मन्दोदरी विवाह-विधि से समर्पण की थी। राक्षसों की कुलपरम्परा इस प्रकार है। अब इनके विवाहादि सम्बन्ध में विचार करेंगे।

उपर्युक्त राक्षसों के मूलपुरुष हेति और प्रहेति नाम के दो भाई थे। धर्मशील प्रहेति तपश्चर्या के लिए वन में चला गया और हेति ने विवाह का विचार करके सूर्यपुत्र यमधर्म से उसकी सहोदरा भगिनी 'भया' विवाहार्थ स्वयमेव माँग ली। यमधर्म ने भी अपनी सहोदरा भगिनी (देव-कन्या) के लिए हेति राक्षस को सुपात्र वर समझकर ही उसके साथ अपनी बहिन का विवाह कर दिया। यह एक साधारण नियम है कि, कन्या जिस कुल में ब्याही जाती है, वह कुल कन्या के कुल से उच्च होना चाहिए, अथवा कमसे कम समसमान तो होना ही चाहिए। अपने से नीचे कुल में अपनी कन्या कोई नहीं ब्याह देता। और जब कि यमधर्म ने अपनी बहिन हेति राक्षस को विवाह-विधि से दी है, तो हेति राक्षस का कुल यमधर्म के कुल से मान-मर्यादा में निदान समता तो अवश्य ही रखता होगा।

इस के उपरान्त भी विद्युत्केश राक्षस का विवाह साल-कटंकटा नामक राक्षसकन्या से हुआ, सुकेश राक्षस का देववती नामक गन्धर्वकन्या से हुआ, सुमाली राक्षस का केतुमती नामक गन्धर्वकन्या से, कैकसी नामक राक्षस-कन्या का विश्रवा महर्षि नामक मनुष्य से, रावण का मंदो-दरी नामक दैत्यकन्या से, कुंभकर्ण का विरोचन दैत्य की दौहित्री वृत्रज्वाला से और बिभीषण का विवाह गन्धर्व-राज शैलूष की कन्या सरमा से, इस प्रकार अनेक विवाह-सम्बन्ध हुए थे, जिन से यही निष्कर्ष निकलता है कि, राक्षसों के विवाहसम्बन्ध देव, दैत्य, गन्धर्व और मनुष्य आदि कुलोंमें हुआ करते थे। ये गन्धर्व, देव, दैत्य तीनों तपोबलद्वारा उत्तरोत्तर श्रेष्ठता पाये हुए मनुष्य ही हैं और जब कि, राक्षसों के विवाहसम्बन्ध उक्त सब कुलों में हुए हैं, तो राक्षस भी निःसंदेह मनुष्य ही हैं। उन का मनुष्येतर होना शक्य ही नहीं है। क्योंकि मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में परस्पर विवाहसम्बन्ध कभी नहीं हुआ करते।

(२) श्रीरामचन्द्रजी की सेनाएँ किष्किन्धासे चल-कर समुद्रकिनारे जा पहुँची। अब युद्ध छिडना अनिवार्य है, यह देखकर रावणने अपना मंत्रिमण्डल एकत्र किया और 'अब क्या करना चाहिए?' यह प्रश्न विचारार्थ

उन के सम्मुख रक्खा। उस समय वज्रदंष्ट्र नामक सेनापतिने कहा—

कामरूपधराः शूराः सुभीमाः भीमविक्रमाः।
राक्षसाणां सहस्राणि राक्षसाधिप निश्चिताः ॥१३॥
काकुत्स्थं उपसंगम्य बिभ्रतं मानुषं वपुः।
सर्वे ह्यसंभ्रमा भूत्वा ब्रुवन्तु रघुसत्तमम् ॥१४॥
प्रेषिता भरतेनैव भ्रात्रा तव यवीयसा।
स हि सेनां समुत्थाप्य क्षिप्रमेवोपयास्यति ॥१५॥
(युद्धकांड सर्ग ८)

अर्थात्- ' इच्छानुसार वेष धारण करने में कुशल, शूर, रोबीले और पराक्रमी ऐसे कई सहस्र राक्षस चुनकर निकाले जावें और उनका एक पृथक् दल बनाया जावे। यह दल बाह्यतः मनुष्यवेष (श्रीरामचन्द्रजी की सेना का Uniform = वरदी) धारण करके निर्भीकता से श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित होकर कहे कि, 'आप के कनिष्ठ भ्राता भरतजीने हमको आपकी सहायता के लिए भेजा है, और वे स्वयं भी हमारे पीछे पीछे और अधिक सेना को साथ लिये हुए आ रहे हैं और इस बहाने से वह दल श्रीरामचन्द्रजी की सेना में मिल जाय।'

यहाँ अब सोचने की बात है कि, यदि एक आध मनुष्य की बात होती, तो वह छद्मवेष से किसी समाज में घुसकर भले ही छुप सका होता, परन्तु हजारों की सेना का दल, किसी परकीय सेनामें- जहाँ हर आने जानेवाले पर तीव्र दृष्टि रक्खी जाने का संभव है, जो सदासर्वदा सचेत और सतर्क है, ऐसी सेना में- उसके सैनिकों की बोलचाल, चालढाल, शरीर की ऊँचाई तथा बनावट आदि के साथ पूर्ण साम्य हुए विना केवल वेषपरिवर्तन करके- इस प्रकार सम्मिलित हो जाय कि, कोई इतनी बडी संख्या के दलको पहचान ही न सके, यह बात नितान्त अशक्य है। अर्थात् राक्षसों का मनुष्यों के साथ सर्वांश में आत्यंतिक साम्य था, यानी वे मनुष्य थे, यही सिद्ध होता है।

(३) रावण जब भिक्षुवेष धारण करके सीताजी को हरण करने के हेतु से दण्डकारण्य में श्रीरामचन्द्रजी के आश्रम में गया, तब उसे ब्राह्मण अतिथि समझकर सीताजीने उसका यथोचित सत्कार किया। सीताजी जैसी चतुर स्त्री भी रावण का सत्य स्वरूप- (वह राक्षस है या मनुष्य है) केवल उसके वेषपरिवर्तन के कारण ही- पहचान न सकी, इससे भी सिद्ध हो सकता है कि, ' राक्षसों और मनुष्यों ' में किसी प्रकार का वैलक्षण्य नहीं था; अर्थात् वे (राक्षस) मनुष्य ही थे।

(४) युद्धप्रारम्भ होने से पहले श्रीरामचन्द्रजीने एक स्थायी अनुशासन (Standing) अपनी सारी सेना में जारी कर रक्खा था--

न चैवं मानुषं रूपं कार्यं कपिभिराहवे।
एषा भवतु नः संज्ञा युद्धेऽस्मिन् वानरे बले ॥३३॥
वानरा एव वश्चिह्नं स्वजनेऽस्मिन् भविष्यति।
वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान् ॥३४॥
अहमेव सहभ्रात्रा लक्ष्मणेन महौजसा।
आत्मना पंचमश्चायं सखा मम बिभीषणः ॥३५॥
(युद्धकांड, सर्ग ३७)

इसका भावार्थ यह है कि ' इस युद्ध में कोई वानर मनुष्यवेष धारण नहीं करेगा। हमारी सेनाके सैनिकों को पहचानने का चिह्न उनका वानरवेष ही होगा। इसलिये ऋक्ष, वानर, गोलांगूल आदि सब वानरवेष ही धारण किये रहेंगे। केवल भ्राता लक्ष्मणजीसहित मैं, सखा बिभीषण और उसके साथी चारों मंत्री, ऐसे हम सात जने ही मनुष्यवेष में रहकर रावण से युद्ध करेंगे।

यह हुकुम जारी करने का हेतु यही था कि, मनुष्यवेषधारी वानरसैनिक ठीक राक्षससैनिक जैसा ही दिखाई देता और फिर अपना या पराया पहचानना कठिन हो जाता, जिससे बहुत ही गडबड घोंटाला हो जानेकी संभावना थी। अब, जब कि वानरसैनिक केवल मनुष्यवेष धारण करने से ही राक्षससैनिक जैसा दिखाई देता था, तो यह स्पष्ट ही है कि, राक्षस मनुष्य ही थे। पुनः बिभीषण और उसके चारों मंत्री तो राक्षस थे ही। वे यदि मनुष्यवेष धारण करके मनुष्यों में मिल सकते हैं, तो राक्षस और वानर दोनों भी मनुष्य के व्यतिरिक्त अन्य कोई प्राणी हो ही नहीं सकते, यह निर्विवाद सिद्ध होता है। श्रीरामचन्द्रजी का उपर्युक्त हुकुम युद्ध के प्रारम्भ से युद्ध के अन्त तक स्थायी रहने का था। इस प्रकार के हुकुम को (Standing Order) कहते हैं।

(५) हनुमानजी सीताजी के शोधार्थ लंकामें गये।

वहाँ रावण के अन्तःपुर में उन्होंने जो स्त्रियाँ देखीं, उनका वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी ने सुन्दरकाण्ड सर्ग ९, श्लोक ३३ से सर्ग ११, श्लोक ३६ तक किया है, जो कि मूलतः ही-महर्षि वाल्मीकिजी के शब्दों में ही- देखने-योग्य है । तथापि पाठकों के अवलोकनार्थ कतिपय श्लोक यहाँ उद्धृत किये देते हैं-

रावणाननशंकाश्च काश्चित् रावणयोषितः ।
मुखानीव सपत्नीनाम् उपाजिघ्रन् पुनः पुनः ॥
अन्या वक्षसि चान्यस्याः तस्याः काश्चित् पुनर्भुजम् ।
अपरा त्वंकमन्यस्याः तस्याश्चाप्यपरा कुचौ ॥६०॥
ऊरु-पार्श्व-कटि-पृष्ठं अन्योन्यस्य समाश्रिताः ।
परस्परनिविष्टांग्यः मदस्नेहवशानुगाः ॥६१॥
अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा ।
मालेव ग्रथिता सूत्रे शुशुभे मत्तषट्पदा ॥६३॥
उचितेष्वपि सुव्यक्तं न तासां योषितां तदा ।
विवेकं शक्यमाधातुं भूषणांगांबरस्रजाम् ॥६६॥

(सुंदरकांड सर्ग ९)

अर्थात् (रावण के अन्तःपुर में) देव, दैत्य, गंधर्व, राक्षस और मनुष्यस्त्रियाँ एक दूसरी से लिपटकर सोई हुई थीं । कई रावणस्त्रियाँ अपनी सौतों के मुखों को रावण ही का मुख समझकर बार बार सूँघती थीं । (उन रावण-स्त्रियों का रावण से इतना गाढ प्रेम था) । उन सौतों में भी परस्पर प्रेम इतना उत्कट था कि, सौतियाडाह को भूलकर वे एक दूसरी की छाती पर, पेट पर, कोख पर, पीठ पर या गोद में पडी हुई निःशंक निद्रासुख का अनुभव कर रही थीं । एक दूसरी की भुजाओं के सिरहाने बनाकर, उन पर अपने अपने मस्तक रखकर सोई हुई वे रावणस्त्रियाँ ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो उनके भुजारूपी सूत्र से उनके मुखकमलों की मालाही ग्रथित की हुई है । अन्त में, महर्षि वाल्मीकिजी वर्णन करते हैं कि, इन सब स्त्रियों के वस्त्र, आभूषण आदि सब कुछ उनके शरीर की गठन के अनुरूप भिन्नभिन्न बने हुए होने पर भी-कौनसा वस्त्र किसका है, तथा कौनसा आभूषण किसका है, तथा वे आभूषण पहने हुए हस्तपादादिक अवयव कौनसे किसके हैं, यह भी पहचाना नहीं जा सकता था । क्योंकि उन राक्षसी और मानुषी स्त्रियों के रंग, रूप तथा शारीरिक गठन में आत्यंतिक साम्य था ।

प्राचीन शिक्षकों के वर्णनानुसार यदि राक्षसी स्त्री सात ताड ऊँची होती और मानुषी स्त्री उस के सामने एक नन्ही बच्ची की तरह छोटी होती, यानी इतनी विषमता मानुषी और राक्षसी स्त्रियोंमें होती, तो राक्षसी स्त्री के श्वास खींचते ही उस के पास सोई हुई, मानुषी स्त्री अपनी सौत की नाकमें उस श्वास के साथ साथ चली जाती, या उस के बाहर श्वास छोडने के साथ ही मानुषी स्त्री उसके झोंके से दूर फेंक दी जाती । राक्षसी स्त्री के किसी प्रचंड अवयव के नीचे बेचारी मानुषी स्त्री कुचली जाकर उस का कचूमर ही बन जाता । राक्षसी स्त्री के छाती या पेट से लिपट कर सोने के लिए या तो राक्षसी स्त्री ही मानुषी स्त्री को उठा कर लिपटा लेती, या मानुषी स्त्री को ही राक्षसी स्त्री के पेट, छाती या जंघाओं पर चढकर सोने के लिए नसेनी की आवश्यकता आ पडी होती । मानुषी स्त्री की भुजा का सिरहाना राक्षसी स्त्री को मिलना तो दूर रहा, वह मानुषी स्त्री सारी की सारी राक्षसी स्त्री के कान के नीचे छुप गई होती, और फिर--

' अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा ।'

अथवा—

' मुखानीव सपत्नीनाम् उपाजिघ्रन् पुनः पुनः ।'

ऐसा वर्णन भी महर्षि वाल्मीकिजी कर ही न सके होते । राक्षसी स्त्री की अँगूठी मानुषी स्त्री के लिए करधनी बन जाती या मानुषी स्त्री की करधनी राक्षसी स्त्रीने अपनी अंगुलीमें पहन ली होती । परन्तु, यहाँ तो महर्षि वाल्मीकिजी वर्णन कर रहे हैं कि--

(न) विवेकं शक्यमाधातुं भूषणांगांबरस्रजाम् ।

अर्थात् ' उन स्त्रियों के हस्तपादादि अवयवोंमें, आभूषणोंमें तथा वस्त्रोंमें, कौनसा किस का है, यह पहचानना ही अशक्य था । ' अर्थात् यह स्पष्ट है कि, राक्षसी स्त्रियाँ मानुषी स्त्रियों की अपेक्षा बहुत ऊँची नहीं थीं, किन्तु दोनों डीलडौलमें एकसी ही थीं । यही बात आगे चलकर जब मन्दोदरी हनुमानजी की दृष्टिमें पडती है, उस समय के वर्णन से सुतराम् सिद्ध हो जाती है । सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता । वह वर्णन भी देख लीजिए-

तासां एकान्तविन्यस्ते शयानां शयने शुभे ।
ददर्श रूपसंपन्नां अथ तां स हरिः स्त्रियम् ॥ ५० ॥
मुक्तामणिसमायुक्तैः भूषणैः सुविभूषिताम् ।
विभूषयन्तीमिव च स्वश्रिया भवनोत्तमम् ॥ ५१ ॥
गौरीं कनकवर्णांगीं इष्टां अन्तःपुरेश्वरीम् ।
कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम् ॥ ५२ ॥
स तां दृष्ट्वा महाबाहुः भूषितां मारुतात्मजः ।
तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा ॥ ५३ ॥

(सुन्दरकांड सर्ग १०)

अर्थात् उस अन्तःपुर में उन सोई हुई स्त्रियों से बिलकुल अलग एकान्तमें बिछे हुए पलंग पर सोई हुई एक रूपसम्पन्ना स्त्री हनुमानजीने देखी। वह स्त्री हीरे-मोतियों के आभूषणों से मंडित थी और अपनी अंगकांति से उस अन्तःपुर की शोभा बढा रही थी। उस की शरीर-कान्ति सुवर्ण के सदृश उज्ज्वल (गौर) थी। वह स्त्री उन सब अन्तःपुरवासिनी स्त्रियों की स्वामिनी रावण की अत्यन्त प्रिय पत्नी मन्दोदरी थी, जिस को देखते ही उस की देहयष्टि, उस का रूपयौवन, उस की शरीरकांति आदि को देखकर हनुमानजीने समझा कि, ' यही सीताजी हैं । '

अब यहाँ सोचना चाहिए कि, हनुमानजीने अभीतक मन्दोदरी को देखा नहीं था और न अभीतक सीताजी को भी देखा था। यदि दोनोंमें से एक को भी इस से पहले देखा होता, तो वे ऐसे भ्रममें कदापि न पडे होते। तथापि अबतक देखी हुई स्त्रियों से वे राक्षसी और मानुषी स्त्रियों से तो भली भाँति परिचित हो ही चुके थे। यदि राक्षसी स्त्री सात ताड ऊँचे कद की होती, तो 'बुद्धिमतां वरिष्ठ' मंत्रिश्रेष्ठ हनुमानजी को मंदोदरी को देखकर यह सन्देह क्यों हुआ होता कि, ' यही सीताजी हैं ? ' इस से यह स्पष्ट जान पडता है कि, राक्षसी स्त्री मन्दोदरी और मानुषी स्त्री सीताजी दोनों की शरीरयष्टिमें, रंगरूप में, तथा अवयवों में सर्वथा आत्यन्तिक साम्य था। यानी राक्षसी स्त्रियाँ और मानुषी स्त्रियाँ दोनों एक दूसरी के सदृश ही थीं। उनमें यत्किंचित् भिन्नता नहीं थी। अतः राक्षस ' मनुष्य ' थे, यह सिद्ध ही है।

(६) रावण के अन्तःपुर में जो स्त्रियाँ थीं, उनका वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी करते हैं–

राजर्षि-विप्र-दैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः ।
रक्षसां चाभवत्कन्याः तस्य कामवशं गताः ॥६८॥
युद्धकामेन ताः सर्वाः रावणेन हृताः स्त्रियः ।
समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः ॥६९॥

(सुन्दरकांड सर्ग ९)

अर्थात् ' रावण के अन्तःपुर में जो स्त्रियाँ थीं, वे सब राजर्षि, विप्र, दैत्य, और गन्धर्वादिक बडे बडे कुलों की अविवाहिता कन्याएँ थीं। वे रावण के रूप पर मोहित होकर आप ही उस के पीछे लगकर आई हुई थीं। ' इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि, राजर्षि, विप्र, दैत्य और गंधर्व आदि बडे बडे कुलवान् लोगों की कन्याएँ जिस को देखकर काममोहित होकर उस के पीछे हो लेती थीं, वह रावण अवश्य ही सुन्दर पुरुष होगा। फलतः रावणादि राक्षस विकराल तथा महा भयानक रूपवाले थे, यह विधान नितांत भ्रमपूर्ण है।

(७) वैषयिक प्रेमभावना का संभव प्राणिमात्र में सजातीयों तथा समानाकृतियोंमेंही होता है। विजातीय और विषम आकृतिके प्राणियोंमें नहीं होता। यथा गाय–घोडा, बकरी–भैंसा, ऊँट और भैंस आदि प्राणियों में पारस्परिक काम-वासना कभी उत्पन्न होती ही नहीं है। इसी तरह छः साढे छः फीट का ऊँचा आदमी और डेढ दो साल की नन्हीं बच्ची, अथवा एक बडी स्त्री और दो या तीन वर्ष की आयु का बालक, इनमें वैषयिक भावना कभी उत्पन्न नहीं होती। वैषयिक भावना उत्पन्न होने के लिए दोनों प्राणी– स्त्रीपुरुष– सजातीय तथा समानाकृति होने चाहिए। यदि राक्षस विशालकाय और महाविकराल होते, तो उनको केवल नन्हीं दुधमुँही बालिका के सदृश दिखाई देनेवाली मानुषी स्त्रीसे वैषयिक प्रेम ही क्यों कर हो सकता था? तथा वे स्त्रियाँ भी काममोहित होकर ऐसे महाविकराल तथा विशालकाय राक्षस के पीछे लग कर कैसे चली जातीं? सारांश, राक्षस आकार से विशालकाय, विकरालस्वरूप, और विजातीय जीव नहीं थे अपितु सर्व प्रकार से मनुष्य के सदृश–मनुष्य ही थे।

(८) किसी क्रूर, महा भयानक सिंह को कोई सुन्दरी स्त्री संयोग-वश मिल जाय, तो वह बडे प्रेम से

उसका स्वीकार एक " भोज्य पदार्थ " के सदृश कर लेगा । भोगेच्छा से कदापि नहीं करेगा । राक्षस जितनी स्त्रियाँ हरण कर ले गये थे, उन सब को भोगेच्छा से ही ले गये थे, ऐसे ही वर्णन सर्वत्र पाये जाते हैं। भोगेच्छा और उसके लिए शरीरसंबंध केवल सजातीय प्राणियों में ही शक्य हैं; अतएव राक्षस मनुष्य थे, यही सिद्ध है।

(९) राक्षसों का सारा इतिहास अगस्ति और श्रीरामचन्द्रजी के संभाषणप्रसंग में रामायण में आया हुआ है। राज्याभिषेक के अनंतर, बधाई देने के लिए आये हुए ऋषिमंडल के साथ श्रीरामचंद्रजी वार्तालाप कर रहे थे । उन्होंने अगस्ति ऋषि से पूछा कि, " रावण के व्यतिरिक्त अधिक बलवान् और अधिक पराक्रमी और भी कोई राक्षस क्या इससे पहले कभी हुए ही नहीं थे ? " उत्तरमें अगस्ति ऋषिने राक्षसों की उत्पत्ति का इतिहास कथन करके श्रीरामचंद्रजी से कहा—

ये त्वया निहताः ते तु पौलस्त्या नाम राक्षसाः।
सुमाली माल्यवान् माली ये च तेषां पुरःसराः ॥
सर्वे एते महाभागा रावणात् बलवत्तराः ॥ २४ ॥
(उत्तरकांड सर्ग ८)

"हे रामचंद्रजी, आपने जो ये राक्षस मारे, वे पौलस्त्य-कुलोत्पन्न थे, और मैंने अभी जिन सुमाली, माल्यवान् और माली आदि राक्षसों के विषय में आप से कहा, वे (सालकटंकट वंश के) रावणादि राक्षसों से बहुत पहले हुए थे और रावण की अपेक्षा बहुत अधिक बलवान् थे। "

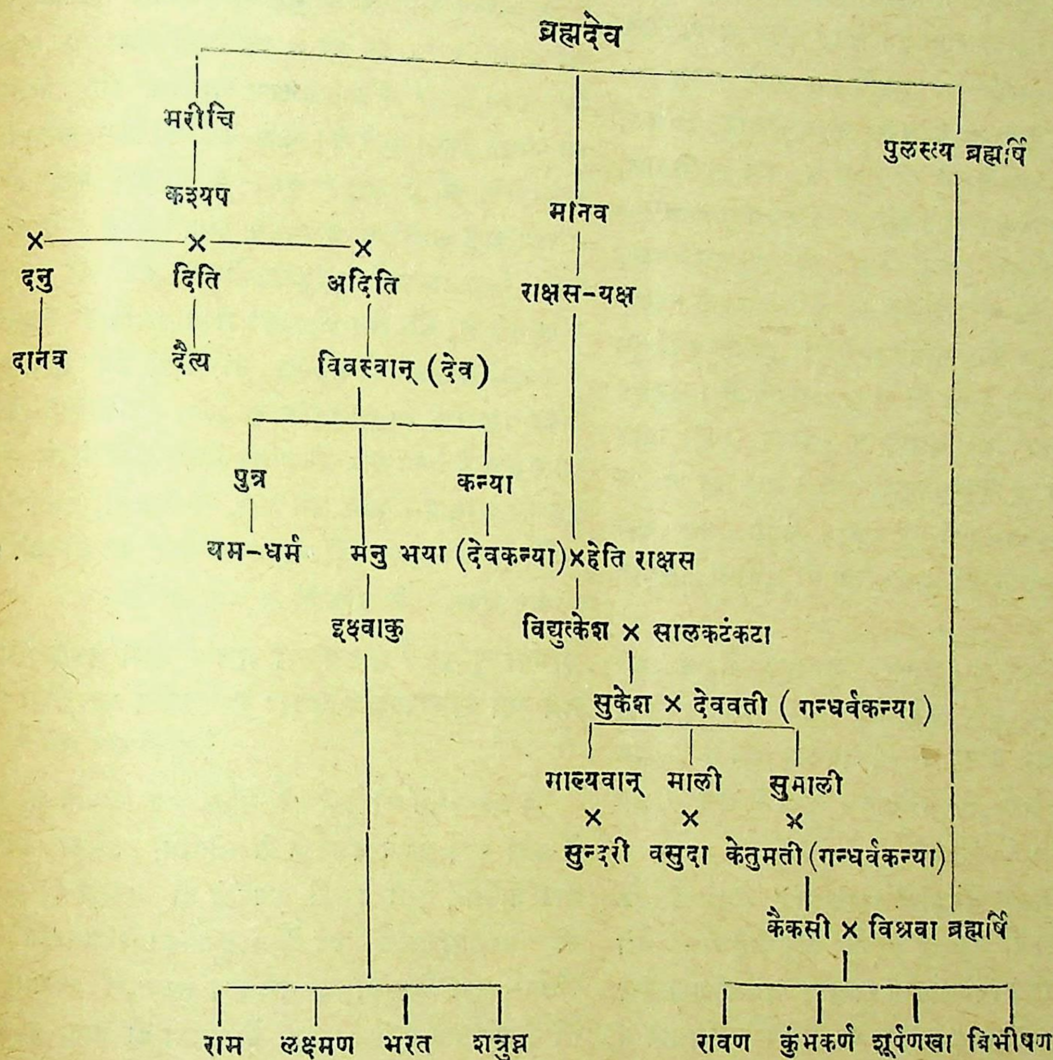
अगस्ति ऋषि के उपर्युक्त वक्तव्य से रावण से अन्य और भी राक्षसकुलों का पता लगता है। सामान्यतः दानव, दैत्य, राक्षस, असुर इत्यादि शब्द एकार्थवाची ही हैं, यानी एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं, और यद्यपि " मनुष्यजाति " इस दृष्टि से वे सब (दानव, दैत्य, राक्षस और असुर) एक ही हैं, तथापि उनकी माताएँ भिन्न भिन्न होनेके कारण उनके नामों को तथा कुलों को मातृतः भिन्नत्व प्राप्त हुआ है। यथा दक्षप्रजापति की तेरह पुत्रियाँ कश्यप प्रजापति की स्त्रियाँ थीं। उन्हीं में दनु, दिति और अदिति से क्रमशः दानव, दैत्य और आदित्य (देव) उत्पन्न हुए। ये सब आपुस में सापत्न भ्राता (सौतेले भाई) थे, परन्तु अपनी अपनी माताओंके नाम से इनके नाम दानव, दैत्य, आदित्य इत्यादि हो गये, और कालान्तर से वे भिन्न भिन्न कुलों के प्रवर्तक हो गये और इसी कारण से उन को भिन्नता भी प्राप्त हो गई।

उदाहरणार्थ, किसी एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हैं। उन से होनेवाली संतान को पहचानने के लिए प्रायः उन की माताओंका नाम पहले लिया जाता है और व्यवहार भी ऐसा ही है, तथापि उससे उनकी जाति नहीं बदल जाती। कालान्तर से ज्यों ज्यों उन का वंशविस्तार होता रहेगा, त्यों त्यों वे पृथक् होते जाएँगे और उन के आपुस के संबंध भी छूट जाएँगे, यहाँतक कि उनमें आपसमें युद्ध भी छिड जाएँगे, तथापि उन की जातिमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। अर्थात् दानव, दैत्य और आदित्य (देव) ये सब एक ही मनुष्य-पिता (कश्यप) की सन्तान हैं और उन की माताएँ-भी-दक्षप्रजापति की कन्याएँ-मानुषी ही हैं, अतएव ये माताएँ भिन्न होनेपर भी उनकी संतानें दानव, दैत्य और आदित्य (देव) स्पष्टतया मनुष्य ही हैं। आदित्य (देव) के अनुसार ही दानव और दैत्य आदि संज्ञाएँ मातृतः होने के कारण वे तिरस्करणीय हों, ऐसा कोई अर्थ उनमें नहीं है।

(१०) दानव, दैत्य और आदित्य (देव) ये तीनों काश्यप, अर्थात् कश्यप प्रजापति के वंश के हैं, परन्तु रावणादि राक्षस कश्यपवंश के नहीं हैं। उन का कुल बिलकुल पृथक् है और वे वास्तवमें मनुष्य ही हैं, यह पहले ही उन की उत्पत्ति के वर्णनमें सिद्ध कर दिया है। हेति राक्षस का विवाह कश्यपवंश की देवकन्या भया के साथ होने के कारण इन राक्षसों का कश्यपकुल के साथ संबंध जुड गया। हेति राक्षस और देवकन्या भया का प्रपौत्र सुमाली राक्षस हुआ। सुमाली की कन्या कैकसीने ब्रह्माजी के प्रपौत्र पुलस्त्यपुत्र विश्रवा ब्रह्मर्षि से विवाह किया और इसी कैकसी के गर्भ से विश्रवा ब्रह्मर्षि को रावणादि पुत्र उत्पन्न हुए। अतः रावणादि राक्षस 'पौलस्त्य' अर्थात् पुलस्तिऋषि के वंश के कहे जाते हैं। वे 'काश्यप' नहीं हैं। काश्यपी संतानमें देव, दैत्य और आदित्य (देव) हैं, राक्षस बिल-

कुल नहीं है। 'राक्षस' नाम का एक मानववंश पृथक् ही है। उसी तरह पौलस्त्य भी एक पृथक् मानववंश है। निम्नलिखित वंशवृक्ष से उपर्युक्त सब बातों का स्पष्टीकरण यथार्थतया हो सकता है।

श्रीरामचन्द्रजी और रावण की कुलपरंपरा।



इस वंशवृक्ष से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि, दानव, दैत्य, और आदित्य (देव) ये ब्रह्माजी से तृतीय प्रजापति कश्यप के वंश के हैं। राक्षसों का मानवकुल कश्यपकुल से पृथक् है और पुलस्ति का मानवकुल भी दूसरा एक पृथक् ही कुल है। तथापि वे सब के सब हैं मानवकुल ही। इस प्रकार अनेक मानववंश भूतकाल में हो गये और भविष्यत् में भी- सृष्टि का अन्त होने तक- होते ही रहेंगे।

दूसरी भी एक बात विशेष रूप से इस वंशवृक्ष में दिखाई देती है। श्रीरामचन्द्रजी का पितृकुल और रावण का मातृकुल एकही सिद्ध होता है। कश्यप का पुत्र विवस्वान् (सूर्य), उसका पुत्र वैवस्वत मनु, वैवस्वत मनु का पुत्र इक्ष्वाकु, और इक्ष्वाकु के वंश में ही श्रीरामचन्द्रजी हुए। उसी कश्यपपुत्र विवस्वान् की पुत्री भया,- वैवस्वत मनु की सहोदरा भगिनी के वंश में रावण हुआ। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी वैवस्वत मनु के पुत्र के वंशज हैं और रावण-कन्या

का वंशज है।

(११) असुर नामका कोई पृथक् कुल या जाति नहीं है। वह एक गुणबोधक सामान्य संज्ञा है। परंतु उस संज्ञाका उपयोग सामान्यतः दानव, दैत्य और राक्षसोंके ही लिए किया हुआ पाया जाता है। केवल ऐहिक सुखके लिये यत्नवान्, आत्मस्वार्थी, आत्मसुखके हेतु सारे जगत् का नाश हो जाए, तोभी उसकी परवा न करनेवाले, दांभिक, दुरभिमानी, फलप्राप्ति की ही इच्छा से कर्म करनेवाले, अपने ऐहिक स्वार्थके लिए दूसरोंका जानबूझकर नुकसान करनेवाले, परमेश्वर तथा मोक्ष को न माननेवाले, कामोपभोग को ही सारे जीवित की इतिकर्तव्यता मानने-वाले और अन्याय से धनसंग्रह करनेवाले इत्यादि मनोवृत्ति के जो मनुष्य होते हैं, वे ही असुर कहलाते हैं। विशेष स्पष्टीकरणके लिए श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६, श्लोक ६ से १८ तक (दैवासुरसंपद्विभाग) मूल ही देखना उचित है। विस्तारभय से वह प्रकरण यहाँ उद्धृत नहीं किया गया, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता तो सभीका परिचित ग्रंथ है।

सारांश, असुर या राक्षस भूतकाल में थे और अब नहीं हैं, यह मान लेने की तथा पृथ्वीपर उन्हें अन्यत्र कहीं खोज ने की भी आवश्यकता नहीं है। हम में ही लगभग सबके सब प्रतिसहस्र ९९९ अंशोंसे राक्षस या असुर ही हैं।

(१२) 'राक्षस नरमांसभक्षक थे' ऐसा भी एक आरोप उनपर किया जाता है। (और कोई कोई राक्षस वैसे होंगे भी), परंतु रावणादिक राक्षस नरमांसभक्षक थे, ऐसा कोई भी सबल प्रमाण वाल्मीकि रामायण में नहीं मिलता। हनूमानजी जब रावण के अंतःपुर में प्रवेश करके वहाँकी पानभूमिमें गये थे, तब उन्होंने अनेक प्रकारके मांसभोजन के पदार्थ वहां देखे थे, ऐसा वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी करते हैं, उस वर्णन में नरमांस से बने हुए व्यंजनोंका कहीं भी वर्णन नहीं है। उसी तरह कुंभकर्ण को जगाने के लिए जो राक्षस भेजे थे, उनके साथ कुंभकर्ण के खाने के लिए जो प्राणी और मांस-व्यंजन भेजे गये, उनमें मनुष्य के कोमल अर्भक, या नरमांस की भरी हुई टोकरियाँ भेजने का कहीं भी वर्णन नहीं है।

श्रीरामचन्द्रजी, सीताजी, तथा लक्ष्मणजी जब पंचवटी में रहते थे, तब शूर्पणखाने उनका लहू पीने की अपनी इच्छा खर राक्षस से प्रकट की थी, ऐसा एक उल्लेख रामायण में है। उससे केवल इतनाही निष्कर्ष निकल सकता है कि, शायद शूर्पणखा के मुँह को नरमांस की चाट पड गई होगी। परन्तु उस पर से यह नहीं कहा जा सकता कि, रावण के घर के सभी राक्षस नर-रक्त और नरमांस का भोजन किया करते थे। आज-कल भी किसी श्रौताचार-संपन्न पंडितजी के सत्पुत्र यूरुप में जाकर, कोई उच्च परीक्षा पास करके उच्च उपाधि प्राप्त करने के साथ ही साथ जिह्वालौल्यार्थ कुक्कुटांडभोजन की भी उपाधि लगा लेते हैं, और फिर भारतवर्ष में आकर किसी रेस्टॉरण्ट के स्थायी ग्राहक बन जाते हैं, तो क्या उन श्रौताचार-संपन्न पंडितजी का सारा कुल का कुलही मांसाहारी कहा जा सकता है? या एक निरामिषभोजी जाति में से कोई एक घर मांसाहार करने लग जाए, तो क्या पूरी जाति की जाति ही मांसाहारी कही जा सकती है? कदापि नहीं।

अब रावणने जो सीताजी से कहा था कि-

द्वाभ्यां तु ऊर्ध्वं मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशाय सूदाः छेत्स्यन्ति खण्डशः॥
(सुंदरकांड सर्ग २२)

तो वह उसने सीताजी को केवल भय दिखाने के हेतु से कहा था। डराने धमकाने से सीताजी उसका कहना मान जाएँगी, ऐसी उसकी कल्पना हो सकती है; परन्तु वह 'नरमांसभक्षक' था, ऐसा इस-डराने-धमकाने का परिणाम नहीं निकाला जा सकता। साधारण व्यवहार में भी देखा जाता है कि, आपुस में झगडा हो जाता है, तब लडनेवाले एक दूसरे से- अत्यन्त क्रोधवश होकर- कह पडते हैं कि, 'मैं तुझे कच्चाही खा जाऊँगा' या 'पूरा का पूरा निंगल जाऊंगा,' 'तेरा कीमा या कचूमर बना डालूंगा,' अथवा 'तेरा खून पी जाऊंगा' इत्यादि। तो इससे यह अर्थनिष्पत्ति नहीं होती कि वह कहनेवाला मनुष्य सचमुच अपने कथनानुसार करही डालता है। यह तो एक भाषासांप्रदाय है और रावणने भी अपने संभाषण में उसी को व्यवहृत करके सीताजी को केवल धमकी ही दी हुई है। अब—

'कदाचित् अप्यहं वीर्यात् पर्यटन् पृथिवीं इमाम् ।
व्यचरं दण्डकारण्यं ऋषिमांसानि भक्षयन् ॥ '

(उत्तरकांड सर्ग २८)

यह जो मारीच राक्षसने स्वयं अपने लिए ही रावण के सम्मुख कहा था, रावण के लिए उसको प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता । क्योंकि मारीच राक्षस कोई-पुलस्त्य ब्रह्मर्षि जैसे ब्रह्मर्षि-कुल का खानदानी राक्षस नहीं था, किन्तु एक शापित राक्षस था। सार यह है कि, रावण के पितृकुल तथा मातृकुल दोनों में नरमांसभक्षक कोई नहीं था । रावण का पितृकुल अत्यंत पवित्र पुलस्त्य ब्रह्मर्षि का था और मातृकुल भी महान् तपस्वी तथा धर्मनिष्ठ राक्षसों का था, जिनके विवाहसम्बन्ध देव, गंधर्व आदि कुलों की कन्याओं के साथ हुआ करते थे। यदि राक्षस नरमांसभक्षक होते, तो देव और गन्धर्व अपनी कन्याएँ उन्हें विवाहविधि से कभी समर्पण नहीं करते और विश्रवा ब्रह्मर्षि भी ऐसे नरमांसभक्षक राक्षस कुल की कन्या का पत्नीरूप में स्वीकार कभी नहीं करते। यों तो फिर राक्षसों के नाम से वृथा आक्रोश करने की एक प्रथा ही हो गई है । विराध या कबन्ध राक्षसों के दृष्टान्त यहाँ पर लागू नहीं होते । क्योंकि वे शापित राक्षस थे और उनकी कोई उल्लेखनीय ऐसी कुलपरम्परा भी नहीं थी। उनके दृष्टान्त अपवादभूत (Exceptional) हो सकते हैं; सिद्धान्त नहीं हो सकते ।

सारांश, जब कि रामायणवर्णित राक्षसों के आचार, विचार, धार्मिक संस्कार, व्यवहार, सामाजिक नीति, तथा राजनीति, मनोवृत्ति तथा शरीर-रचना इत्यादि गुणों का मनुष्यों के इन्हीं सर्व गुणों से पूर्ण साम्य है, तो राक्षस मनुष्यों से भिन्न नहीं हो सकते । अर्थात् 'राक्षस मनुष्यही थे,' यह निःसन्देह सिद्ध होता है ।

इस साम्य के संबंध में और भी विस्तारपूर्वक विवेचन किसी दूसरे निबन्ध में किया जाएगा। यहाँ तकके विवेचन में राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि सप्रमाण हो गई, तथा राक्षस पदार्थ का भी निर्णय हो गया।

अबतक के छः निबन्धों में जितना विवेचन किया गया, उससे यह भली भाँति समझ में आ सकता है कि, श्रीवाल्मीकि रामायणमें वर्णन किये हुए वानर और राक्षस अर्वाचीन शिक्षकों के मतानुसार, अर्थात् पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके सांप्रदायवाले हमारे भारतीय विद्वान्, जैसे उन्हें बर्बर तथा अनार्य समझते हैं, वैसे वे बर्बर और अनार्य नहीं थे, अपितु वे पूर्ण सभ्य तथा वैदिक आर्य थे। उसी तरह हमारे प्राचीन शिक्षक अर्थात् वेदान्ती, शास्त्री, पंडित पौराणिक कथावाचक आदि, जैसे वानरों को लंबी पूँछवाले बंदर- लंगूर यानी पशु समझते हैं, वैसे वे पशु भी नहीं थे, तथा राक्षस भी उनके मतानुसार अक्रालविकराल, विशालकाय, घिनौने, तथा महाभयानक दिखाई देनेवाले विजातीय जीव नहीं थे, किन्तु हम जैसे मनुष्य ही थे, तथा श्रौताचारसंपन्न विद्वान् वैदिक आर्य भी थे।

यहाँ तक 'वानर' और 'राक्षस' पदार्थों का यथामति निर्णय करके विद्वान् पाठकों के सम्मुख विचारपूर्वक परीक्षणार्थ रक्खा है। अब इस के आगे 'राक्षसों का गूढ षड्यंत्र ' शीर्षक निबंध विद्वान् पाठकों के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जायगा ।

(७)

राक्षसों का गूढ षड्यंत्र ।

ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते ।
ये तिष्ठंति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः॥
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेना शतेभ्योऽधिका ।
शत्रून्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु माऽगान्मम ॥

(विशाखदत्त)

अर्थ- जो कोई अपने मनमें कुछ विचार निश्चित करके मुझे छोडकर चले गये, वे तो अब जा ही चुके हैं; और जो कोई अभीतक मेरे साथ हैं, वे भी यदि जाना चाहें, तो सुख से इच्छा हो वहाँ चले जावें; परन्तु इच्छित कार्य को साध्य करनेके हेतु सैंकडों सेनाओंसे भी जो अधिक बलवती है और शत्रु का समूल उच्छेद करने में जो अपना प्रभावी महिमा दिखा चुकी है, वह एकमेव मेरी बुद्धि मुझको

न छोड जावे ।

पूर्वलिखित निबन्ध में राक्षसों की मनुष्यत्वसिद्धि सप्रमाण की गई और उससे भी पहलेके निबन्धोंमें उनकी सभ्यता, वीरता तथा युद्धशास्त्रनिपुणता का परिचय पाठकों को कराया गया । अब इस निबंधमें राक्षस कैसे गूढ षड्-यन्त्रकारी तथा कूटनीतिनिपुण थे, इस का दिग्दर्शन विद्वान् पाठकों को करानेका हेतु है । इससे हमारा यह दर्शाने का हेतु है कि, श्रीरामचन्द्रजी किस योग्यता के पुरुष थे। क्योंकि राक्षसों की योग्यता जितनी अधिक प्रमाण में दर्शाई जावेगी, उतनी ही अधिकाधिक प्रमाण में श्रीराम-चन्द्रजी की भी योग्यता प्रमाणित होगी । इस के लिए श्रीरामचन्द्रजीने राक्षसों पर जो विजय प्राप्त किये, वह किस स्वरूप के थे, यह पाठकों को दिखा देना अत्यावश्यक है ।

श्रीरामचन्द्रजीने राक्षसों के ऊपर जो विजय प्राप्त किये, क्या वे उस स्वरूप के थे, जो कि, स्पैनियर्ड (Spaniard) लोगोंने अमरीकावासी अर्धसभ्य इंकाज् (Incas) के ऊपर प्राप्त किये थे ? अथवा महाधूर्त इंग्लिश लोगोंने अत्यन्त प्राचीन काल से सभ्यता में उन से (इंग्लिश लोगों से) भी अत्यंत श्रेष्ठ, परन्तु स्वभावतः अत्यंत सीधे-सादे, धर्मभीरु तथा निष्कपट भारतवासियों पर प्राप्त किये हुए विजयों के स्वरूप के थे, अथवा उन से भी कुछ अनोखे ढंग के थे ? इत्यादि बातों का विचार होना चाहिये, और वही विचार हम पाठकों के सम्मुख रावणजन्म के इतिहास के द्वारा उपस्थित करते हैं । श्रीरामचंद्रजी की सर्वोच्चता सिद्ध करने के लिए रावणजन्म के इतिहास का ही आधार इसलिये लिया गया है कि, हम श्रीराम-चंद्रजी का जन्मोत्सव तो प्रतिवर्ष अत्यंत प्रेम और भक्ति के साथ बडे समारोह से मनाया करते हैं, परन्तु जिस का जन्म होने के कारण ही, उन अनन्तकोटि ब्रह्मांडनायक भगवान् महाविष्णु को 'रामरूप' से पृथ्वी के ऊपर जन्मधारण करना पडा, उस रावण के जन्म के सम्बन्ध में क्या किसी को कुछ मालूम भी है ? हम समझते हैं कि, दस हजार में एक आध ही कोई जानकार कदाचित् ऐसा मिलेगा कि, जिस को रावण के जन्म में कुछ विशेष घटना हुई है, इसकी कुछ कल्पना हुई हो । शेष नौ हजार नौसो निन्नानवे मनुष्यों को इस की कुछ भी कल्पना नहीं है, यह कहा जाय तो कोई मिथ्योक्ति नहीं होगी। क्योंकि रावण एक दुष्ट व्यक्ति, दुराचारी राक्षस, उस के जन्म का वर्णन करने की ऐसी आवश्यकता ही कौनसी है ? यही भावना सर्वसाधारणों के अंतःकरणों में जड पकड कर बैठी हुई है । परन्तु 'रावण-जन्म' यही 'राक्षसोंका एक गूढ षड्यंत्र' है कि, उसको जानने पर आश्चर्यचकित होना ही पडता है ।

लंका का अधिराज्य देवों के अधिकार में गया हुआ था। उसे पुनः राक्षसों के अधिकार में लाने के हेतु उपर्युक्त गूढ षड्यंत्र का उपक्रम रावण को जन्माने से किया गया था और तब से उस षड्यंत्र को इतना गुप्त रक्खा था कि, रावण का जन्म भी हो गया, वह युवावस्था को प्राप्त होकर राज्य संभालने के योग्य भी हो गया, तब तक, उसको भी उस षड्यंत्र की गंध तक लगने नहीं दी और योग्य अवसर के आते ही अपना एक भी आदमी गँवाये विना, तथा शत्रुपक्ष का एक भी आदमी मारे विना अत्यंत धूर्तता से जिन राक्षसों ने लंकाके ऊपर अपना अधि-राज्य पुनश्च प्रस्थापित कर लिया, ऐसे अत्यंत सुधरे हुए, अत्यंत कूटनीतिनिपुण तथा गूढ षड्यंत्रकारी राक्षसों पर भी जिन श्रीरामचन्द्रजीने विजय प्राप्त किये, उन श्रीराम-चन्द्रजी की योग्यता कितनी श्रेष्ठ थी, इसी का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रस्तुत निबन्ध का उपक्रम किया गया है। पाठकों की समझ में यह षड्यंत्र भली भाँति आ जाए, इस हेतु से अनुसंधानार्थ थोडा पूर्वेतिहास यहाँ दिया जाता है ।

विषयानुसन्धान ।

लंकाका अधिराज्य बहुत पुरातन कालसे राक्षसों ही के अधिकार में था, और माली, सुमाली और माल्यवान् नाम के तीन सहोदर भ्राता उस राज्य को सँभालते थे। तीनों भ्राताओंने महान् तपश्चर्या करके भगवान् प्रजापतिको प्रसन्न कर लिया और उनसे (प्रजापतिसे) बडे बडे वर-दान प्राप्त करके उनके प्रभावसे वे महान् बलाढ्य बन गये और त्रैलोक्य को पीडा देने लगे । तब भगवान् गरुडध्वज महाविष्णु के आधिपत्य में सब देवगण एकत्रित हुए और उन्होंने राक्षसों के साथ घोर रणसंग्राम करके उनको परास्त किया । इस युद्ध में तीनों भ्राताओं में सबसे ज्येष्ठ भ्राता

माली मारा गया, तथा सुमाली और माल्यवान् दोनों ने देवों के साथ संधि कर ली और उस संधि की शर्त के अनुसार दोनों भाई लंका को खाली करके अपने कुटुंब, परिवार तथा सब ज्ञातिबांधव (राक्षसों) को साथ ले कर पाताल में जा बसे।

इधर विश्रवा ब्रह्मर्षि के पुत्र-वैश्रवण कुबेर ने-घोर तपाचरण करके भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और उनसे अपने लिए लोकपालत्व प्राप्त कर लिया। उसके रहने के लिए कोई स्थान नहीं था, अतएव राक्षसों के निर्वासित हो जाने से खाली पडी हुई लंका नगरी उसको दी गई। वैश्रवण कुबेर ने उसको फिर से बसाया और उसे सर्व प्रकार से समृद्ध बनाकर वहाँ का राज्यशासन करने लगा। आगे की घटना समझ में आने के लिए इतना पूर्वेतिहास पर्याप्त है।

इस प्रकार कुबेर को लंका का अधिराज्य भोगते हुए कई वर्षों का काल बीत जाने के बाद, एक दिन सुमाली राक्षस अपनी लक्ष्मी के सदृश सौंदर्यवती विवाहयोग्य पुत्री को साथ लेकर पाताल से पृथ्वीलोक पर आया और सर्वत्र परिभ्रमण करता हुआ स्वाभाविकतया लंका नगरी में भी-जहाँ का पहले वह राजा था, वहाँ की वर्तमान अवस्था को देखने के हेतु से-जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि आगे को छडीदार-चोबदार पुकार रहे हैं, भाट बंदीजन बिरुदावली गा रहे हैं, गन्धर्वों का गायन तथा अप्सराओं का नृत्य भी हो रहा है, ऐसी बडी सजधज के साथ श्रीमान् धनेश्वर कुबेर महाराज पुष्पक विमान में बैठकर चले जा रहे हैं। उस अग्नितुल्य देदीप्यमान तथा देवतुल्य भाग्यवान् कुबेर को ऐसे समारोह के साथ जाते हुए देखकर उस वृद्ध सुमाली का हृदय इतना व्यथित हो गया कि मानो सहस्रों बिच्छुओं ने एक साथ डंख मार दिये हों। वह अपने मन में कहने लगा, 'हाय! हाय! इस लंकापुरी का यह सब राजैश्वर्य हमारा ही था! इसको हडप कर आज ये देव उसका उपभोग ले रहे हैं! यहाँ आज जिधर देखो, उधर सर्वत्र देव ही देव भरे हुए हैं! बेचारे राक्षसों का तो कहीं चिह्न भी नहीं दिखाई देता है! वे बेचारे पाताल में पडे पडे अत्यंत दरिद्रावस्था में दिन काट रहे हैं! हर! हर!

किं कृत्वा श्रेय इत्येवं वर्धेमहि कथं वयम्?

'कौनसा उपाय किया जाय कि जिससे लंका का अधिराज्य अपने हाथ में पुनः आकर यहाँ राक्षसों की पुनश्च ऐश्वर्यसमृद्धि हो?' यह विचार उसके मन में उत्पन्न होते ही उसने अपना आगे का परिभ्रमण स्थगित कर दिया और तुरन्त पाताललोक में अपने घर को लौट गया।

घर पर आने पर भी सदा सर्वकाल उस के मस्तिष्क में यही विचारचक्र घूमता रहा कि, "किं कृत्वा श्रेय इत्येवं वर्धेम हि कथं वयम्" (क्या किया जाय कि, जिस से अपना गत वैभव फिर से अपने हाथ आ जावे?) वह दिनरात इसी विचार में मग्न रहने लगा। इसी चिंता में न तो उसको खाना-पीना सूझता था और न रात में नींद भी आती थी! अपनी लाडिली बेटी की ओर भी उसने देखना छोड दिया था। केवल एक ही निदिध्यास-जागृति में तथा स्वप्न में भी उसको लगा हुआ था कि, लंका का राज्य राक्षसों के हाथ में आकर वहाँ पुनः राक्षसों का बोलबाला कैसे होगा! सोच ही सोच में उसकी पागल की सी अवस्था हो गई थी!

बाप की यह दुरवस्था देखकर बेटी (कैकसी) को भी उसके लिए बडी चिंता उत्पन्न हुई और वह उसकी देखभाल करनेके लिए आठों पहर उसी के सन्निध रहने लगी।

सुमाली के मस्तिष्क में तो विचारों के चक्र खूब ही जोर से चल रहे थे। एक विचार किया, नहीं जमा-छोड दिया; दूसरा किया, उस पर भी स्थिर नहीं हो सका, तीसरा करने लगा। इस प्रकार विचार करते करते एक दिन उसके मस्तिष्क में आकस्मिक एक विचारकी झलक आ गई कि, 'देवों में प्रमुख अवगुण कौनसा है, इसका पता लगाकर उससे लाभ उठाया जावे'। इसी बात पर विचार करते करते उसके ध्यान में आ गया कि, 'देवों में स्त्रीलंपटता का दुर्गुण प्रमुखता से वास करता है। वे अत्यंत स्त्रीलंपट होते हैं। ऐसे लोगों को स्त्रियों के मोहजाल में फाँसकर अपना स्वार्थ साध लेना कोई कठिन नहीं है।'

सुमाली विचार की इस परिसीमा तक तो पहुँच गया, लेकिन अब उस के मन में दूसरा प्रश्न उठा कि, 'अब इस काम के लिए स्त्री कहाँ से पैदा की जाए?' इस प्रश्न का उस के मन में उठना और उस की दृष्टि अपने सम्मुख

खडी हुई अपनी बेटी पर पडना दोनों बातें एक ही साथ हो गईं और मानो कोई कठिनतम समस्या हल हुई हो, ऐसे हर्ष में उसने अकस्मात् ताली बजाई! वह मन ही मन कहने लगा- "अहा हा! है, तो सही हमारे पास एक मोहिनी! इसी के द्वारा मायाजाल फैलाकर लंका का अधिराज्य पुनश्च हस्तगत कर लेना चाहिये! बस, अब यही विचार स्थिर हुआ! यही लडकी कुबेर से ब्याह देने से इस के जो पुत्र होगा, वही कुबेर के पश्चात् अनायास ही लंका के अधिराज्य का उत्तराधिकारी होगा, और इस प्रकार दौहित्र का आधिपत्य लंका के ऊपर हो जाने से, वह राज्य अपने ही हाथों में आने के समान होगा। यदि अपने वंश में न रहा और अपनी पुत्री के वंश में लंका का अधिराज्य रह गया, तो उस में क्या हानि है? वह भी तो अपना ही है।' यह सोच कर कह अपनी बेटीसे बोला-

पुत्रि, प्रदानकालस्ते यौवनं व्यतिवर्तते।
प्रत्याख्यानाच्च भीतैः त्वं न वरैः परिगृह्यते ॥८॥

त्वत्कृते च वयं सर्वे यंत्रिता धर्मबुद्धयः।
त्वं हि सर्वगुणोपेता साक्षात् श्रीरिव पुत्रिके ॥९॥

कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम्।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके ॥१०॥

मातृकुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते।
कुलत्रयं च सा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति ॥११॥
सा त्वं—

'बेटी, अब तू विवाहयोग्य हो गई है। तेरा यौवन अकारण बीता जा रहा है, परन्तु अस्वीकृत होने के भय से अभीतक किसी राजा या राजपुत्र की ओर से तेरी मंगनी नहीं हुई है। क्योंकि एक समय हम भी सम्राट् थे और अन्यान्य अनेक राजा हमारे सामंत थे। यदि इनमें से कोई तेरी मंगनी करे, तो कदाचित् हमारे मन में उसके लिए यह विकल्प आने की सम्भावना है कि, 'आज हमारे दिन फिरे हुए हैं, इसीलिये, जो एक समय हमारे सेवक थे, आज वे ही हमारी बेटी को मांगने का हौसला दिखाकर हम से बराबरी करने जा रहे हैं!' यही सोच कर शायद कोई तेरे लिए मंगनी नहीं भेजता। मेरी दुलारी, तू सर्व गुणों से पूर्ण साक्षात् लक्ष्मी ही है। तेरे लिए रूपगुणसम्पन्न, सर्वथा सुपात्र वर कैसे मिलेगा, यही चिन्ता हम धर्मनिष्ठ लोगों के मन में घर किये हुए बैठी है। सचमुच कन्या-पिता होना मानधन पुरुषों के लिए महान् दुःखदायी होता है। क्योंकि, अपनी बेटी को कौन पात्र मिलेगा और वह कैसा होगा, इत्यादि बातें कोई भी कन्या-पिता औवल नहीं जान पाता। बेटी का जन्म होते ही वह मातृकुल, पितृकुल, तथा जिस कुल में ब्याही जायगी, वह कुल आदि तीनों कुलों को सन्देह में डाल देने का कारण हो जाती है। सो तू-'

इतना कहते ही सुमाली राक्षस एकदम चुप हो गया। उसका विचार तो औवल यह हुआ था कि, कुबेर के साथ विवाह करने का अनुरोध अपनी बेटी से करे; परन्तु इतने ही में एक आशंका उसके मस्तिष्क में अचानक बिजलीसी दौड गई कि, 'कुबेर तो राज्यपदस्थ राजा है। राजालोग अपना विवाह करने के लिए स्वाधीन नहीं हुआ करते। मंत्रिमण्डल की अनुमति पाये बिना वे अपना विवाह कर ही नहीं सकते। क्योंकि उनका विवाह 'राजकीय विवाह' होता है, और उस पर राज्य का हानि-लाभ भी बहुत कुछ निर्भर होता है। यदि बेटी कुबेर के साथ ब्याहने का विचार किया जाय, तो वह राक्षस-कन्या 'शत्रु-कन्या' होनेके कारण अव्वल तो मंत्रिमण्डल इस विवाह-कार्य के लिए संमति ही नहीं देंगे। यदाकदाचित् मंत्रि-मंडल का कहना न मानकर कुबेर अपनी ही इच्छा से विवाह कर भी ले, तो 'राक्षसी स्त्री के गर्भजात पुत्र को देव-राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं होगा,' ऐसा कानून ही मंत्रीगण बना लेंगे और उसे व्यवहार में भी ले आएँगे। परिणाम यह होगा कि, लंका तो हाथ से औवल ही जा चुकी है, और अब बेटी भी हाथ से जाती रहेगी। यानी, 'दोनों दीन से गये पांडे और हलुआ मिला न मांडे,' इस प्रकार दोहरी हानि होगी, अतः कुबेर के साथ बेटी का विवाह करने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता। यह बात उस वृद्ध सुमाली के ध्यान में तुरन्त आ गई। उसने कुबेर को बेटी देने का विचार रद किया और फिर सोच में पड गया कि 'अब क्या किया जाय?'

(क्रमशः)

योग क्या है ?

(४)

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, बम्बई)

ब्रह्मचर्य ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा न करने से योग की बात तो भुल जाइये, किसी भी प्रकार की साधना में सिद्धि नहीं मिल सकती है। ब्रह्मचर्य की निष्ठा के बिना योग में लिप्त होना मानो यमराज को आमन्त्रण देना है। परन्तु लययोग की जिस जिस विधि से अनाहत-ध्वनि सुनकर आत्म-ज्ञान लाभ किया जा सकता है, उस विधि के अनुसार चलने-वाले साधक अगर विवाहित जीवन में भी शास्त्रविधि के अनुसार अपनी धर्मपत्नी के साथ पुत्रार्थ रमण करें, तो विशेष हानि की बात नहीं होती; परन्तु उसमें भी वह यदि 'अति' की सहायता लेगा, तो अन्तमें उसे अंगूठा ही चूसना पडेगा। ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त साधकका मन सरलतासे एकाग्र होता है, एवं दीर्घ समय तक उसमें साधन करनेकी शक्ति भी रहती है। यह बात शास्त्र में भी कही है, यथा **'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः'** यानी वीर्यके स्थिर हो जाने से प्राण भी स्थिर हो जाते हैं। योगशास्त्र में लिखा है कि-

'सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिद्ध्यति भूतले।'

हे देवि ! बिन्दु के सिद्ध हो जाने पर ऐसी कौनसी सिद्धि है, जो साधक को प्राप्त न हो सके ?

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुतः।

(हठयोगप्रदीपिका।)

जब तक साधक बिन्दु को ऊर्ध्वगामी रखता है, तब तक उसको काल-मृत्यु-प्राणक्षय का भय नहीं है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्यरूप तप से ही देवोंने मृत्यु को मार डाला।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

(शिव-संहिता)

बिन्दु का पतन ही मृत्यु एवं बिन्दु का धारण ही जीवन है। अन्यत्र भी है कि—

' अहं बिन्दुः शिवे बिन्दुः '।

शिवजी कहते हैं कि, 'मैं ही बिन्दु हूँ, शिवही बिन्दु है।' आगे फिर कहते हैं कि, 'हे पार्वति ! मैं बिन्दु के जय से ही - शिवपद को प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दु के धारण से ही तो 'ॐ' का ॐकार- ईश्वरत्व को प्राप्त हो गया है। उसके सिरपर से बिन्दु को हटाने से वह फिर ॐ नहीं रह जाता, बिन्दु हटते ही वह ईश्वरत्व से च्युत हो जाता है। बिन्दुधारण से ही उसे ईश्वरत्व-पद मिला है।'

योगशास्त्र के जन्मेश्वर स्वयं योगेश्वर भगवान् शिवने पार्वती से कहा है कि, 'एकमात्र बिन्दु का धारण से ही मुझे शिवत्व मिला है। सर्व शास्त्र के आदि मंत्र ॐ के ओमृत्व का कारण भी जब बिन्दु धारण ही है, तब साधारण ब्रह्मचर्यहीन मानव बिंदु धारण न करके कैसे योग में सिद्धिलाभ कर सकेगा ?' अतएव ब्रह्मचर्य के बिना योग का साधन करना एक ओर जैसा मौत का सामना करना है, दूसरी ओर वैसा ही धर्म के स्थान पर अधर्म को भी बुलाना है। अतः योगसाधनरत किसी भी साधक को किसी भी कारण से, कोई भी समय बिन्दुपात नहीं करना चाहिये।

शास्त्र में वीर्य को बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु, भार्गादि नाम कहे हैं और वीर्य को सृष्टि का उत्पादक, पालक, संहारक भी कहा है। परन्तु योग-शास्त्र में वीर्य को ब्रह्मबिन्दु, ब्रह्मबीज तक कहा गया है। महादेवजीने योगका वर्णन करते समय कहा है कि, **' अहं बिन्दुः रजः शक्तिः '** अर्थात्

में बिन्दु यानी वीर्य हूँ और रज शक्ति यानी पार्वती है। 'प्रकृति-पुरुष-योग' निबन्ध में मैंने लिखा है कि, मूलाधार में प्रकृति यानी 'रज' विद्यमान है और सहस्रार में बिन्दुरूप महादेव विराजमान हैं। इन दोनों का मिलन ही योग का आन्तिम फल है। अतः वीर्यनाश करने से प्रकारांतरमें बिन्दु का नाश हो जाता है। सर्वसाधारणमें भी देखा जाता है कि, कामातुर उन्मत्त मानव की मस्तिष्क-शक्ति क्षीण हो जाती है। उसमें किसी भी विषय की उद्दीपना, संयम, धारणाशक्ति, तेज, वीरत्व, धीरत्व आदि कुछ भी नहीं रहती है और यदि वह रहती भी है, तो अति निस्तेज रूपमें रहती, जिस से कुछ भी लाभ नहीं। अतः क्या सांसारिक कामकाज में और क्या धार्मिक क्रिया-कर्म में अथवा क्या योगसाधन में यानी किसी भी काममें सिद्धि लाभ करना हो, तो सतत सर्वावस्थामें वीर्य की रक्षा करनी चाहिये। पातञ्जल योगदर्शन में लिखा है कि-

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥

(योगदर्शन २।३८)

अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने से वीर्यलाभ होता है, यानी ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठित व्यक्ति के देह में ब्राह्मण्य-देव की विमल-ज्योतिः प्रकाशित होती है। इस ब्रह्मचर्य की साधना की बात सम्यक् रूपसे जानना हो, तथा इस संबंध में सम्यक् रूप से साधना भी करना हो, मेरे इष्टदेव-प्रणीत 'ब्रह्मचर्यसाधन' नामक पुस्तक अवश्य ही पढना चाहिये।

नैष्ठिकव्रतवन्तो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः।
तैः स्पृश्या न स्त्रियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया॥
तासां वार्ता न कर्तव्या न श्रव्याश्च कदाचन।
तत्पादचारस्थानेषु न च स्नानादिकाः क्रियाः॥
न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योषितोंऽशुकम्।
न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया॥

(शिक्षापत्री १७५-१७७)

नैष्ठिक-व्रत के ब्रह्मचारी लोग स्त्रियों को स्पर्श न करें, उन से भाषण न करें, उनको न देखें, न उन की बातें करें, न सुनें, उन के आनेजाने के स्थानों पर स्नानादि न करें, स्त्री का चित्र न बनावें, स्त्री के वस्त्रों को स्पर्श न करें, मैथुनासक्त प्राणी को न देखें इत्यादि।

अपरिग्रह।

देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः।

शरीर-रक्षा के अतिरिक्त भोग-विलास के साधनों के परित्याग करने का नाम अपरिग्रह है। जब 'यह चाहिये, वह चाहिये,' यह भाव मनमें पैदा ही नहीं होगा, तभी अपरिग्रह सिद्ध हो जायगा।

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित्।

(शिक्षापत्री। १८९)

द्रव्यादि का संग्रह कभी न करें और न करावे।

नष्ट-पदार्थों का संग्रह करके, उन के सम्बन्ध में, रक्षण में, एवं प्रचारमें, आसक्त होकर, चित्त का विक्षेप करके मूढ-विपत्ति खडी नहीं करना और आलस्य, प्रमाद तथा संशय को न बढाना ही अपरिग्रह है।

अपरिग्रहप्रतिष्ठायां जन्मकथन्ता संबोधः॥

(साधनपाद २।३९)

अपरिग्रह की प्रतिष्ठा होने पर पूर्वातिपूर्व जन्मों की बातें स्मरण हो जाती हैं।

इन सब बातों की साधना में सिद्धि मिलने पर अष्टांग-योग के प्रथम अंग 'यम' साधना में सिद्धि लाभ होती है। प्रकृत मनुष्यत्व लाभ करना हो, तो सब देश के सब श्रेणी के समस्त लोगों को इसे 'यम' की साधना में सिद्धि लाभ करना चाहिये, नहीं तो मानव और जन्तु में कोई भेद ही नहीं रह जाता। अब अष्टांगयोग के दूसरे अंग-

नियम।

नियम किसे कहते हैं और उन्हें कैसे सिद्ध करना होता है, सो जान लेना चाहिये। जन्म के हेतुभूत काम्य धर्म से मन को निवृत्त करके मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में प्रेरणा करनेवाले तपादि को 'नियम' कहते हैं। जीवन्मुक्त महामानवों के मन में एकान्तवास निःसङ्गता, औदासीन्य, यथा प्राप्त में सन्तोष, विषय में विरसता और गुरु के प्रति दृढ अनुरागद्वारा मनोवृत्ति को नियम में लाने को नियम कहते हैं। वह नियम भी पाँच प्रकार का है। यथा-

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

(पातञ्जल-साधनपाद ३२)

शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, इन्हीं पाँच प्रकार की क्रियाओं को नियम कहते हैं। उनके अभ्यास का नाम ही नियम-साधन है।

शौच।

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यंतरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथांतरा॥
(योगी याज्ञवल्क्य।)

शरीर और मन की मलिनता दूर करने को शौच कहते हैं। परन्तु साबुन, तैल, फुलेल, तथा इत्र इत्यादि विलासिता की सामग्रियाँ शौच के साधन नहीं हैं। गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादि के द्वारा ही शरीर, तथा दया, करुणा इत्यादि सद्गुणों के द्वारा मन की मलिनता को दूर करना चाहिये।

शरीर की कायिक, वाचनिक तथा मानसिक शुद्धता, स्वच्छता, जिससे शुद्धाचरण में सहायता मिलकर रोगादि का निवारण तथा दीर्घायु होना एवं अन्तर्बाह्य मल का बिनाश अथवा परसंसर्ग का अभाव होकर शरीर के द्वारा आत्मा का प्रकाश फैलाना ही शौच है। बाह्य शौच की सिद्धि होने से अपने शरीर में ग्लानि तथा दूसरों के साथ असम्बन्ध होता है। इससे ब्रह्मचर्यरक्षा में विशेष सहायता मिलती है। आभ्यंतर शौच से सत्त्व (बुद्धि) की शुद्धि, सौमनस्य (सुविचार-युक्त मन), एकाग्र इन्द्रिय-जय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

शौचात् सांगजुगुप्सा परैरसंगश्च।
(योगदर्शन २।४०)

हृदय में पवित्रता रहने से शरीर में यदि कहीं जरा भी अपवित्रता मालूम पड़ेगी, तो उससे घृणा होने लगेगी, एवं दूसरे के साथ संसर्ग करने में भी घृणा होगी। उस समय अवधूत-गीता का यह महान् वाक्य मन में जाग्रत हो उठेगा कि-

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥
(८।१४)

विष्ठादि परिपूरित इस भगको नरक का द्वार बनाया गया है। अरे चित्त! क्या तू यह नहीं देखता, जो उसी की ओर बारंबार दौड़ता है?

इन सब की साधनामें सिद्धि लाभ करना हो, तो सर्वप्रथम सदाचारी बनना होगा। महर्षि मनुने कहा है कि-

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

सदाचार पालन करना परम धर्म है, यह बात वेद तथा स्मृतिशास्त्र में कही हुई है। अतः सच्चरित्र, सुधी, साधन प्यासु को सतत सर्वावस्था में सम्यक् रूप से सदाचार का पालन करना सर्वतोभावेन स्वकर्तव्य है। +

सन्तोष।

यदृच्छालाभते नित्यं मनः पुंसो भवेदिति)
या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणं॥
(योगी याज्ञवल्क्य।)

प्रतिदिन जो कुछ भी मिल जाय, उसीसे मन को सन्तुष्ट रखने का नाम सन्तोष है। अर्थात् दुराकांक्षा परित्याग करने का नाम ही संतोष है।

भाव्यं शमदमक्षान्तिसंतोषादिगुणान्वितैः।
(शिक्षापत्री ८९)

साधक को सदा शम, दम, क्षमा, संतोष आदि से युक्त होना चाहिये।

प्रारब्ध कर्मानुसार जो अन्न-वस्त्रादि भोग प्राप्त हों, उनमें ही तृप्त रहना और स्वास्थ्य एवं शांति चित्त में समाधान रखना, तृष्णा का विलय होकर पूर्णकाम होना और निजमें ईश्वर का दर्शन होगा, ऐसा स्थिर विश्वास रखना ही संतोष है। भोगविलास आदि इंद्रिय-भोग्य विषयों की तो कोई बात ही नहीं, - सभी क्षणिक हैं, परन्तु यश, मान, संभ्रम तथा प्रतिष्ठा इत्यादि भी भला कितने दिन के लिये रहनेवाले हैं? इस प्रकार से इन विषयों की असारता और क्षणभंगुरता को भली-भाँति समझने पर ही संतोष की साधना सिद्ध होती है।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः। (योगदर्शन २।४८)

+ सदाचार के सम्बन्ध में दूसरी एक विशेष उपयोगी पुस्तक जो कि दैनिक संसारयात्रा में विशेष सहायक हो सके, इस ढंग से शास्त्रविधि के अनुसार लिखी गयी है, जिसे प्रत्येक सनातनी को पढ़ने योग्य विविध विषय हैं। शीघ्र प्रकाशित होगा।

सन्तोष की सिद्धि होने पर अनुपम सुख प्राप्त होता है। यह सुख वर्णनातीत है, वह विषय-निरपेक्ष सुख है, अर्थात् बाहरी वस्तुओं से उस सुख का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

तपस्या।

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपस्यां तप उत्तमम्॥

(योगी याज्ञवल्क्य)

वेदविधि के अनुसार कृच्छ्र-चान्द्रायण इत्यादि व्रतोपवासद्वारा शरीर को शुष्क करने का नाम उत्तम तपस्या है।

उपवासदिने त्याज्या दिवा निन्द्रा प्रयत्नतः॥

(शिक्षापत्री ८०)

उपवास के दिन-दिनमें निद्रा नहीं लेना, रात्रिको जागरण करना, तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक-वाचिक भेदों से नाना प्रकार के नियम शिक्षापत्रीमें लिखिबद्ध है।

शीतोष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वको सहन करके नियमित और संयम-जीवन व्यतीत करना, तथा अनुष्ठान, मंत्रजप, उपासनाद्वारा अशुद्धि का नाश करना 'तप' है। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, पूज्य, गुरु, प्राज्ञ का सत्कार और सेवन तथा शौच, आर्जव (नम्रता), ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा का पालन **शारीरिक** तप है। उद्वेगरहित, सत्य, प्रिय, हित भाषण, और स्वाध्याय अभ्यास **वाङ्मय तप** है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन और आत्मनिग्रह **मानस** तप है। इन तीनों को आचारमें लाकर इनमें सिद्धिलाभ करना 'तपस्या' है। अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्यादि का यमोंमें वर्णन किया गया है, उन सब को पालन करने का अर्थ स्वधर्म पालन के लिए तीव्र कष्ट सहन भी कहा जा सकता है।

नातपस्विनो योगः सिध्यति।

तपस्या न करने पर योगमें सिद्धि लाभ नहीं हो सकती।

कामेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(पातञ्जल, साधनपाद ४३)

तपस्या के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धियाँ नष्ट हो जातीं हैं। अर्थात् शरीर के शुद्ध हो जाने पर इच्छानुसार उन्हें सूक्ष्म तथा स्थूल करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एवं इंद्रिय शुद्ध हो जाने पर सूक्ष्मदर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद, ग्रहण, स्पर्शन आदि यानी अणिमादि ऐश्वर्यों का लाभ होता है।

स्वाध्याय।

स्वाध्यायः प्रणवश्रीरुद्रपुरुषसूक्तादि मन्त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनश्च॥

प्रणव और सूक्त मंत्रादि के अर्थ का चिन्तन करके जप एवं वेद और धर्मशास्त्र इत्यादि के भक्तिपूर्वक अध्ययन करने को 'स्वाध्याय' कहते हैं।

संस्कृतप्राकृतग्रंथाभ्यासश्चापि यथामति।

(शिक्षापत्री ६५)

अभ्यासो वेदशास्त्राणां कार्यश्च गुरुसेवनम्।

(शिक्षापत्री १८५)

यथामति संस्कृत, प्राकृत ग्रंथों का तथा वेदशास्त्रों का अभ्यास करने एवं गुरुसेवन करने को स्वाध्याय कहते हैं।

पठन, पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना, सब जड-चेतन पदार्थमात्र वर्णानुक्रम में ग्रथित हैं। अतएव नियमित वर्णों के उच्चारणद्वारा विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करके उन का आकर्षण कर लेना एवं अभ्यासद्वारा परापर विद्याओं का सम्पादन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

(योगदर्शन २।४४)

स्वाध्याय के द्वारा अपने इष्टदेवता का साक्षात् दर्शन होता है।

ईश्वर-प्राणिधान।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (पातञ्जल-योगदर्शन।)

भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक ईश्वर में चित्त समर्पण करके उस की पूजा करने का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

भक्तैस्तैस्तु कृष्णायानर्पितं वार्यपि क्वचित्।
न पेयं न भक्ष्यं च पत्रकन्दफलाद्यपि॥

(शिक्षापत्री ६०)

भगवद्भक्तों को चाहिये कि, भगवान् को समर्पण किये बिना जल भी कभी न पीये और फल-मूल भी अर्पण किये बिना अपने उपभोग में न लावे।

सब कर्म और कर्मों का फल ईश्वर को अर्पण करके निष्काम होना, कर्मवीर बनकर कर्मक्षेत्रमें निजका प्रति-

धान कर लेना, शारीरिक, मानसिक सब व्यापार ईश्वर को समर्पित करके अनन्य भक्तियुक्त हो जाना एवं साक्षात्कार प्राप्त करके समाधिस्थ हो जाना ईश्वर-प्रणिधान है।

समाधिरीश्वरप्रणिधानात्। (योगदर्शन २।४५)

ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा योग के सर्वोच्च फल समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वर-प्रणिधानद्वारा जितनी शीघ्रतासे चित्तकी एकाग्रता होकर सर्वेन्द्रिय शुद्ध हो जाती है, इतनी और किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती; क्योंकि उनके चिन्तन से उन की ही भास्कर-ज्योति हृदय में आकर-सब मलिनता को दूर कर देती है।

उपर्युक्त यम-नियमों की साधना जगत् के सर्व जातियों, सर्व धर्मों तथा सर्व मानवों के किये, सर्वश्रेष्ठ तथा सर्व-प्रथम साधना है। इसके अनुष्ठान के बिना क्या सांसारिक जीवन में और क्या धार्मिक जीवन में किसीको भी एक कदम आगे बढने की शक्ति नहीं है। इन की साधना सुनने या पढनेमें जितनी सहज मालूम होती है, वास्तव में वे उतनी सरल नहीं। मेरे अनुभव से तो इन्हीं की साधना ही सब से कठिन है। परन्तु स्थिर चित्तवाले व्यक्ति दृढ प्रतिज्ञापूर्वक शुद्ध वातावरण में रहकर भोजनादि के विषय में दृढ लक्ष्य रखते हुए उपयुक्त गुरु के समीप यदि इनकी साधनामें तत्पर रहेंगे, तो परम करुणामय परम पिताकी कृपा से उन्हें सुगमता से सिद्धि मिल सकती है। सुकुमार वयस्क बालकबालिका को शिशुकालसे ही इस का अभ्यास कराया जाय, तो वह शिशु मनुष्यत्व का अधिकारी बनकर भविष्य में देवत्व, ईश्वरत्व, ब्रह्मत्व तक प्राप्त कर सकता है। इसी कारण से हमारे सनातन धर्मानुसार सनातन काल से इन सब की शिक्षा के लिये यथोपयुक्त गुरु के समीप शिशुओं को भेजा जाता था। वहाँ शम, दम, तितिक्षापरायण ब्रह्मज्ञ गुरु के समीप में निवास कर बालक का मन स्वतः ही तन्मात्रापन्न बन जाता था। फलस्वरूप गुरुदेव की शक्ति शिष्य में सञ्चारित होकर शिष्य आप ही आप सद्‌गुणों से भूषित हो जाता था। वे यम-नियमों की साधना में आप ही आप सिद्ध हो जाते थे। स्थूल बात तो यही है कि, वह सांसारिक सद्‌गुणों से शोभित हो जाते थे। यम-नियमों की साधना का मूल तात्पर्य तो यही है कि, मनुष्य उन सर्व प्रकार के सद्‌गुणों से भूषित हो जाय, जिन सद्‌गुणों के द्वारा हम जैसे जीवों को मनुष्यत्व लाभ करना है।

परन्तु वर्तमान समय के शिक्षा तथा वातावरण, खान-पान, चालचलन, आचारव्यवहार सभी में व्यभिचारिता का प्रवेश होकर सब का ही सत्यनाश हो गया है। वर्तमान समय में महात्माजी अहिंसा और सत्यके लिए काय-मन-वाक्यों से विशेष प्रयत्न करने पर भी 'कोटी में गुटि' यानी करोडों में एक को भी उस में प्रतिष्ठित देखने में नहीं आता है। इस का मूल कारण यह है कि, यम-नियमों में जो दशविध साधना है, उन में से आठ को तिलाञ्जली देकर दो को पकडने से उस में सिद्धिलाभ के बदले केवल मनस्ताप ही भोगना पड रहा है। कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय मिलकर कुल दश हैं, इनमें से केवल एक या दो की साधना करने से बाकी इंद्रियों की जो दशा होती है, उसी दशा वर्तमान समय में देखने में आ रही है। खैर, जो कुछ भी प्रयत्न हो, वही उत्तम है। फिर भी आत्मज्ञानलाभेच्छु साधक को छोड अन्य के लिए आत्म-गठन करना तथा सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित होना असंभव है। क्योंकि सर्व प्रकार के भोग--सुख में रत रह-कर, साधन--शून्य तथा आचारभ्रष्ट होने से सत्य तथा अहिंसा का प्राप्त होना वामन के चन्द्रमा को छूने के प्रयत्न की भाँति वृथा है। खैर--

मैं सविनय-पूर्वक प्रत्येक साधक के चरणों में सिर नवाकर नम्र प्रार्थना करता हूँ कि, यदि आप लोगों को साधन-भजन कर आत्मोन्नति करने की सच्ची इच्छा हो, तो सर्वप्रथम, दृढ प्रतिज्ञा-पूर्वक अनुकूल वातावरण में केवल यम-नियम की साधना में लिप्त हो जाईये। इन्हीं की साधना में यदि आप सिद्धि लाभ कर सकेंगे, तो आगे की साधना में आप को कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी, एवं सुगमता से आगे की साधना में सिद्धि-लाभ करते हुए चिरशांतिमय अवस्था को प्राप्त कर आवागमन से छुटकारा पा जायँगे। वृक्ष की जड काट कर उसके अग्रभाग में जल डालने से वृक्ष की जो दशा होती है, ठीक वही दशा आप की होगी, यदि आप यम-नियम की साधना के सिर पर पैर रखकर आगे बढने की कोशिश करेंगे। जैसे नीव पक्की न होने से मकान की जो दशा होती है, यम-

नियमों की साधना में सिद्धि लाभ न करने से अर्थात् यम-नियमरूपी नींव पक्की न होने से आप साधन-भजन की तो बात ही छोड दीजिये, आप का सांसारिक जीवन भी वैसा ही होगा। अतः सर्व प्रकार प्रयत्न से तन-मन-धन लगाकर इन्हीं की साधना में लिप्त हो जाईये। साथ ही साथ मनकी स्थिरता तथा साधनपटु शरीर प्राप्त करने के लिए आप अष्टांगयोग के तृतीय अंग-

आसन।

का अभ्यास शुरू कीजिए; क्योंकि उच्चांग का किसी भी प्रकार की साधना में आप लिप्त क्यों न हों, जब तक आसनद्वारा शरीर साधन-क्षम न होगा, एवं जब तक आसन में सिद्धिलाभ नहीं होगा, तब तक आप उच्चांग की साधना के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि, स्थिरासन से दीर्घ समयपर्यन्त आप जब तक बैठही नहीं सकेंगे, तब तक न तो मन स्थिर ही होगा न साधना ही बनेगी। अतः यम-नियम के साथ ही साथ सर्वप्रथम आसन का अभ्यास शुरू करना चाहिये।

आसन अनेक प्रकारके हैं, अर्थात् जितने प्रकार के जीव हैं, उतने प्रकार के आसन होते हैं। उनमें से योग-शास्त्र में चतुरशीति (८४) प्रकार के आसनों की बात लिखी है। इन इन चतुरशीति आसनों में योग-साधना के लिए

सिद्धासन

को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसकी साधना भी दूसरे सर्व प्रकार के आसनों की अपेक्षा सब से सरल तथा सहज-साध्य है। इसके लिए योगशास्त्र में लिखा है कि-

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्।
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये धृत्वा समं विग्रहम्॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरंतरं।
चैतन्यारण्यकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥
(गोरक्ष-संहिता।)

योनिस्थान को वाम पद के मूल देश से दबा और एक चरण मेढ्देश में आबद्ध करके एवं हृदय में ठोढी-को जमाते हुये देह को सरल रख दोनों भौंहों के मध्यदेश में दृष्टिस्थापनपूर्वक यानी शिवनेत्र होकर निश्चल भाव से बैठने का नाम सिद्धासन है।

मेरे सद्‌गुरु महाराज महायोगीन्द्रने अपनी 'योगी गुरु' पुस्तक में इस सिद्धासन के बारे में लिखा है कि-

'सिद्धासन सिद्धिलाभ के लिए सहज और सरल आसन है। सिद्धासन का अभ्यास करने से अति शीघ्र ही योग की निष्पत्ति होती है। इसका कारण यही है कि, लिंगमूल में जीव एवं योनिस्थान में कुण्डलिनी-शक्ति विराजमान है। सिद्धासनद्वारा वायु का पथ सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायु का विकाश और समस्त शरीर की बिजली के लिए चलने-फिरने का सुभीता होता है। योग-शास्त्र में कहा है कि, सिद्धासन मुक्तिपथ के द्वार खोल देता है, एवं सिद्धासन से आनन्दकरी 'उन्मनी' दशा प्राप्त होती है।'

हठयोगीके लिए भी सिद्धासन उत्तम माना गया है। यथा-

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत् सिद्धासने सदा॥
(हठयोग-प्रदीपिका, प्रथमोपदेश, ३४)

सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं। इनमें भी श्रेष्ठ यह है कि, सदा सुख-स्वरूप सिद्धासन पर बैठे।

अतः किसी भी प्रकार की साधना में आप क्यों न बैठे, सिद्धासन सर्व प्रकार की साधना के लिए सर्व-श्रेष्ठ है। परन्तु जो साधक कठोर ब्रह्मचर्य की रक्षा में असमर्थ है, उनके लिए सिद्धासन ठीक नहीं है। क्योंकि केवल सिद्धासन से ही किसी-किसी भाग्यवान् साधक की कुण्डलिनी-शक्ति जग जाती है। उस समय कर्मणा, मनसा, वाचा, सतत, सर्वावस्था में ब्रह्मचर्य की रक्षा न करके रतिक्रिया में लिप्त होने से हानि के अतिरिक्त लाभ पहुँचने की सम्भावना कम रहती है। दूसरी ओर रोग-शोक या अन्य किसी कारण से रुग्ण व्यक्ति यदि नित्यनियमित रूप से ब्रह्मचर्य की रक्षा कर केवल सिद्धासन का ही अभ्यास करे, तो उसकी व्याधि दूर होकर शरीर स्वस्थ हो जायगा, एवं शरीरका लावण्य दिन-दिन बढकर ज्योतिःवान् होता जायगा। अतः यदि संसार-विमुख जीव के लिए सिद्धासन करने की शक्ति न हो या किसी कारणवश जिन्हें सिद्धासन की इच्छा न हो, तो वे—

पद्मासन

कर सकते हैं। पद्मासन से भी वही अवस्था प्राप्त होती

है,- परन्तु देर से। दूसरी ओर संसार-विमुख जीव के अतिरिक्त सांसारिक-सुख-शांति-आरोग्य-लाभेच्छु व्यक्ति भी इस का अभ्यास कर सकते हैं। पद्मासन के लिए शास्त्र में लिखा है, कि—

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि चैव बंधनविधिं कृत्वा कराभ्यां दृढं॥
तत् पृष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्।
एतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते॥

(गोरक्षसंहिता १२)

बायीं जांघपर दाहिना पैर एवं दाहिनी जांघपर बाया पैर रखकर दोनों हाथ पीठ की ओर घुमा बाये हाथ से बाये पैर का अंगूठा और दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकडना चाहिये और छाती में चिबुक (ठोढी) टिकाकर नाक की नोक पर दृष्टिस्थापनपूर्वक बैठना चाहिये, इसी का नाम **पद्मासन** है।

पद्मासन दो प्रकार का है, यथा मुक्त और बद्ध। उपर्युक्त नियम से बैठने को **बद्ध पद्मासन** और हाथ से पीठ की ओर पैरों के अंगूठे न पकड कर दोनों जांघों पर दोनों हाथ चित् रखकर बैठने का नाम **मुक्त-पद्मासन** है।

पद्मासन लगाने से निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देह की ग्लानियाँ निकल जातीं हैं। पद्मासन के प्रभाव से कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है, एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है। **पद्मासन से बैठकर दाँतोंकी जड में जीभ की नोक जमाने से सब बीमारियाँ छूट जातीं हैं।** (योगी गुरु)।

साधनसम्पन्न शरीर न होने पर भी साधना करने की जिन्हें तीव्र इच्छा है, अथवा अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, दुराचार आदि किसी भी कारण से जिनका शरीर रोग-ग्रस्त हो, उनके लिए पहले-पहल बद्ध-पद्मासन का अभ्यास करना उत्तम है। बद्ध-पद्मासन थोडा-सा कठिन है सही, लेकिन उससे शरीर की सारी इन्द्रियाँ तथा समस्त नाडियाँ (नसें) जडत्व को त्याग कर सचेतन हो जाती हैं, एवं नस-नस में रक्त का जोरसे प्रवाह होने के कारण शीघ्र ही शरीर रोग-मुक्त हो लावण्यमय हो जाता है। आयुर्वेद के अनुसार जिसे स्नायविक-दौर्बल्य कहा जाता है, वह रोग भी इसके अभ्यास से जल्दी ही मिट जाता है। कोई भी साधक कष्ट उठाकर यदि नित्य नियमित-रूप से इसका अभ्यास केवल आधा घण्टा क्रम से दिन-रात में चार बार या कम से कम दो बार भी कर सके, तो मेरी बात की सत्यता वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है।

बद्ध-पद्मासनद्वारा जठराग्नि प्रदीप्त होकर पाचन-शक्ति अच्छी-हो जाती है, एवं यकृत् और प्लीहा रोग-ग्रस्त जीव भी आसानी से इन रोगों से छुटकारा पा जाता है।

बद्ध-पद्मासन से शरीर स्वस्थ होने के बाद मुक्त-पद्मासन या सिद्धासन कर सकते हैं। किंतु बद्ध-पद्मासन से शंकरोक्त 'नाडीशोधन' या 'प्राणायाम' बन नहीं सकता; क्योंकि दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकडने पडे, तो प्राणायाम के लिए अंगुलियों से नाक को कैसे पकडना सकेगा? अर्थात् बद्ध-पद्मासन से बैठकर शरीर स्वस्थ और ध्यान तो किया जा सकता है, किंतु पूजा भी नहीं हो सकती।

युक्तप्रदेश, मध्यभारत, पञ्जाब, राजपूताना, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात, बर्म्मा, मालव, आसाम, तिब्बत आदि प्रान्तों में भ्रमण करते समय मुझे मालूम पडा कि, इन भागोंमें अनेक सज्जन '**शीर्षासन**' करते हैं, तथा शीर्षासन की विशेष प्रशंसा भी करने लगते हैं। केवल कसरत के लिए या शरीरस्वस्थता के लिए कोई व्यक्ति यदि शीर्षासन करे, तो कोई हानि नहीं है; किंतु पूजा-पद्धति, प्राणायाम या किसी प्रकार की उच्चांग की साधना इस आसन से नहीं हो सकती। यहाँ तक कि ध्यान भी उत्तम रूप से नहीं जमता है।

शीर्षासन करनेवाले अनेक सज्जनोंने मुझे कहा है कि, उनका न तो ध्यान ही जमता है, न मन स्थिर ही होता है। शीर्षासन से रक्त-स्रोत मस्तिष्क की ओर जोरों से प्रवाहित होता है, उससे किसी-किसी के मस्तिष्क की शक्ति बढ सकती है सही, किंतु आयुर्वेद के अनुसार उनको मस्तिष्क का रोग, यहाँ तक कि उन्माद रोग भी पैदा हो सकता है, तथा अन्त में उन्हें रक्त-चाप (High Blood Pressure) का व्याधि होने का भय रहता है। दूसरी ओर मस्तिष्क अत्यधिक गर्म हो जाने से, उन्हें सुनिद्रा

भी नहीं आ सकती। 'मस्तिष्क' के गर्म होने से जीव सुविचार-शून्य हो जाता है, तथा सूक्ष्माति-सूक्ष्म विचार-शक्ति उसके दर्शनमात्र से ही भाग खडी होती है।

अतः मेरी सम्मति में किसी भी सज्जन को शीर्षासन नहीं करना चाहिये; वरना उसके बदले बद्ध-पद्मासन कर शीर्षासन का लाभ उठाना चाहिये। शीर्षासन से जितनी बिमारियाँ होने की संभावना रहती है, बद्ध-पद्मासन से वे सब बिमारियाँ तो हो ही नहीं सकतीं; बल्कि यदि दूसरी कोई बीमारी होती तो, वह भी मिट जायगी। अतः प्रत्येक सज्जन को चाहिये कि वह शीर्षासन की ओर ध्यान न देकर अपनी अपनी सुविधानुसार मुक्त-पद्मासन या सिद्धासन का ही अभ्यास करें।

आसन करते समय एक बात पर ध्यान रखने की विशेष आवश्यकता है। वह बात यह है कि, आसन में बैठकर मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) को बराबर सीधा रखकर बैठे। आसन करके भी यदि मेरुदण्डको सीधा न रक्खा, तो सारा परिश्रम ही मिट्टी में मिल जायगा और कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि रोग की उत्पत्ति होने की संभावना रहती। अतः मेरुदण्ड को सीधा रखकर ही आसन लगाया जाय। मेरुदण्ड सीधा न रखने पर कदाचित् किसी कारणवश किसी की कुण्डलिनी-शक्ति चैतन्य हो जाय, तो मेरुदण्ड का वक्रांश भेदकर वह निकल जायगी, इससे तुरंत ही शरीर छूट जायगा। अन्यथा कुब्जता आदि रोग होने की संभावना तो रहती ही है। अतः मेरुदण्ड सीधा रखना आसन का सर्वप्रधान कार्य है। फिर जो सज्जन प्राणायामादि आभ्यंतरिक क्रिया करते हैं, उनके लिये तो मेरुदण्ड अवश्य ही सीधा रखना चाहिये, नहीं तो अवश्य नुकसान पहुँचेगा, इसमें शंका नहीं।

यह बात सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि, आसन के समय शरीर न हिले, न डुले, न दुखे, और चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग न हो, ऐसी अवस्था में सुख से बैठने को ही आसन कहते हैं। फिर उसके अभ्यास से यह लाभ होता है, कि-

ततो द्वन्द्वाभिघातः। (पातञ्जल-साधनपाद। ४८)

आसन का अभ्यास से सर्व प्रकार के द्वन्द्व छूट जाते हैं। अर्थात् शीत, ग्रीष्म, क्षुधा, तृष्णा, राग-द्वेष आदि किसी प्रकार के द्वन्द्वयोग-साधन में या दूसरे किसी प्रकार की भी साधना में बाधा नहीं डाल सकते।

आसनके विषय में सिद्ध योगीगण कहते हैं कि, विभिन्न साधना में विभिन्न आसन से शरीर और मन का विशेष सम्बन्ध होता है, और योग-साधन करते समय दीर्घ समय तक एक ही आसन से बैठे रहना, योग-साधन का एक प्रधान अंग है। योगाभ्यास के समय साधक के देह में नई क्रिया उत्पन्न होती है, एवं स्नायुप्रवाह भी नये पथ में चलता रहता है और वह सब मेरुदण्ड के बीच में से ही होता है; अतः मेरुदण्ड जिस भाव से एवं जिस अवस्था में रखने से यह क्रिया उत्तमरूप से सम्पन्न होती है, वह सभी ठीक ठीक स्वरूप में आसन-प्रणाली में विद्यमान है। मेरुदण्ड वक्षोदेश (छाती), ग्रीवा, कण्ठ, मस्तक और पञ्जरास्थि-ये सब जिस भाव से रखने से साधना बन पडती है, वही आसन का प्रधान लक्ष्य है। अतः आसन की शिक्षा भी किसी अनुभवी सज्जन से लेना अवश्य उचित है; नहीं तो यथायथ लाभ नहीं पहुँचेगा और विडम्बना भोगनी पडेगी। आसन लगाकर बैठने से जब शरीर में दर्द या किसी प्रकार का कष्ट अनुभव न होकर एक प्रकार का आनन्द का उदय होगा, तभी समझना चाहिये कि आसन में सिद्धि मिली है।

नित्य-नियमित रूपसे चार बार और प्रति बारमें कमसे कम आधा घण्टा तक आसन का अभ्यास करने से छः महीनेमें आसनकी विशेष उपकारिता उपलब्ध हो सकेगी। परन्तु जो साधक एकासनसे प्रति बार तीन घण्टे तक स्थिर-भाव से बैठ सकते हैं, उनके लिए योग की उच्चांग की साधना विशेष सहजगम्य है। नियमित रूप से तीन घण्टे तक एकासन में बैठनेवाला साधक छः महीनेमें आसन में सिद्धि लाभ कर सकता है।

(क्रमशः)



ब्राह्मण क्या थे ?

(३)

(लेखक- श्री० रायसाहब श्रीभारतचन्द्र चौधरी, बी० ए०, विद्यावारिधि, सिलहट)

[अनुवादक- श्री० विद्यालङ्कार श्री शिवनारायण शर्मा, माईथान- आगरा]

ऋषियोंने प्रवरसंस्कार और कुल सृष्टि द्वारा वंश की पवित्रता रक्षाकी व्यवस्था की थी। उनकी इस विस्मयकर साधना का मर्म जानने के लिये, प्रवर क्या और कुल क्या, यह हमें समझना होगा।

वेद में प्रवर का नामान्तर आर्षेय अर्थात् ऋषिसृष्ट है। ऐतरेय-ब्राह्मण सप्तम पञ्चिका, चतुर्विंश अध्याय के सप्तम खण्ड में दीक्षावेदन की कथा में तथा अन्यान्य स्थलों में भी आर्षेय पद प्रवर के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दीक्षा-वेदन-काल में आर्षेय उच्चारण कर अपना परिचय देना होता है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, उन में इष्टियज्ञ भी कई प्रकार का है, सब प्रकार के इष्टियज्ञ के आरम्भ में यजमान के प्रवरकर्ता पूर्व पुरुषों की अग्नि का आवाहन करके कर्म आरम्भ करने की विधि है, इस आवाहनक्रिया का वैदिक नाम प्रवर प्रवरण है। वर्तमानकाल में हमारे सब प्रकार के धर्मकर्म बाहिरी अनुष्ठानमात्र रह गये हैं, वैदिक युग में बहिरनुष्ठान आभ्यन्तरिक क्रिया के अनुवर्ती कर्म शृङ्खला का नियामक मात्र था। अतएव अपनी प्रवराग्नि का विषय जाने बिना दीक्षित व्यक्ति जिस कर्म में दीक्षित हुआ है, उसका आभ्यन्तरिक अनुष्ठान किस तरह करेंगे ? और प्रवराग्नि बिना इष्टि यज्ञ का अनुष्ठान तो हो ही नहीं सकता। अब हम प्रवराग्नि क्या पदार्थ है, वह समझाते हैं।

आजकल भी हम आलङ्कारिक वाक्यों में कामाग्नि, क्रोधाग्नि, उत्साहवह्नि आदि शब्दों का बारबार व्यवहार करते हैं, किन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि के अभाववश इनका अन्वर्थ ग्रहण न करके रूपकार्यमात्र ग्रहण करते हैं। सब ही जानते हैं कि वेदका एकमात्र अनुष्ठान यज्ञ है; पूजादि परवर्ती पौराणिक युग की व्यवस्था है। यज्ञ और ब्राह्मण में नित्य सम्बन्ध है। यज्ञहीन ब्राह्मण हो नहीं सकता और ब्राह्मणहीन यज्ञ नहीं। अब समझ में आया कि, यज्ञ का यथार्थ स्वरूप हम जैसे क्षुद्र जीवों को दुर्ज्ञेय है और उसे जानने की चेष्टा वातुलता मात्र है। इस तरह अपने को दुर्बल समझकर हम ब्राह्मण-कर्म से भ्रष्ट हो गये हैं। परन्तु वास्तव में ठीक ठीक भाव से यज्ञानुष्ठान हमारे लिये कृच्छ्रसाध्य होने पर भी असाध्य नहीं है। यज्ञ और अग्नि ये दो वस्तुएं समझ लेने से ही हम प्रवर समझ सकेंगे। यज्ञ और अग्नि व्यापक प्राकृतिक पदार्थ हैं, इस कारण दूसरों के कहनेमात्र से इन का सम्यक् अर्थ समझ में आ नहीं सकता, शास्त्रवाक्य सुनकर उन का निदिध्यासन करने से, इस विषय का ज्ञान भीतर से ही खिल उठेगा।

शास्त्र कहता है, ' देवोद्देश से त्याग का ' नाम यज्ञ है, यज्ञ के देवता विष्णु हैं, अतएव यज्ञ और विष्णु में अभेद है। देवयज्ञ अग्निबिना हो नहीं सकता; देवोद्देश से अग्नि में त्याग ही यज्ञ है। किन्तु किसका त्याग ? अग्नि में क्या त्याग करना होगा ? जिस यज्ञ में जिस जातीय समिध् की व्यवस्था है, वही त्याग करना होता है। ये बातें वैदिक युग की भाषा में कही गई हैं, इस बीसवीं शताब्दी की भाषा में अब उन की पुनरावृत्ति करते हैं। मंगलमय उद्देश्य लेकर जो कर्म किया जाय, वही यज्ञ है। आदर्श इस का देवता, उत्साह इस की अग्नि, एवं प्रयोज्य शक्ति इस की समिध् हैं। इंग्रेजोंने इस देश के राजा होकर इंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार किया है। शिक्षा का जो आदर्श उन का उपास्य है, वही इस कर्मयज्ञ का देवता वा विष्णु है। अर्थात् व्यापक भाव है। लोक का मंगल विधान करने की आकांक्षाजनित उत्साह ही अग्नि है, एवं निर्दिष्ट आदर्श के उद्देश्य से शक्तिप्रयोग ही समिध्-प्रदान है। इस यज्ञ के फल से भारतीय जनसमाज एक नूतन आकार धारण कर रहा है। किन्तु वैदिक यज्ञ का अधिकार मानवदेहमात्र है।

मनुष्य अपनी देह चरित्र और मन की अधिष्ठानभूमि सूत्रात्मा की उन्नति के लिये स्वयं संकल्पकर्ता यजमान और अध्वर्यु होकर जो यज्ञ कर सके, वही वैदिक यज्ञ है।

उत्साह ही सब कर्मों का मूल है। युद्ध में जिसको उत्साह नहीं वह तो भागने का सुयोग देखता है, दूसरे के द्वारा बाध्य होकर वह युद्ध नहीं कर सकता। उत्साह को अग्नि कहा है, क्योंकि वह उत्ताप प्रकृतिवाला है। रसायन-शास्त्रविद् जानते हैं कि, दो वस्तुओं में रासायनिक आकर्षण है, उनके उत्साहपूर्ण रासायनिक संमिश्रण के फल से बाहिर की अग्निकी उत्पत्ति होती है। उत्साह वीर्य-सम्भूत है। निर्वीय व्यक्ति को किसी काम में उत्साह नहीं। स्त्रीपुरुष के आकर्षण की भांति रासायनिक आकर्षण भी आकृष्यमाण परमाणुगत वीर्य की अभिव्यक्ति है। आकर्षण-मात्र ही वीर्यरूपी प्राण का लक्षण और जगत् का सब प्रकार उत्ताप ही प्राणन-क्रिया का फल है। इस प्राणन-क्रिया का ही नामान्तर उत्साह है और वही वीर का भाव वा वीर्य है। जिस व्यक्ति में प्राणक्रिया निर्विघ्न चलती है, वही वीर्यवान् होता है। सूत्रात्मा की जो व्याख्या पूर्व की गई है, उस से समझा जायगा कि, सब प्रकार के स्पंदनों का केंद्रस्वरूप सूत्रात्मा में अवस्थित है। प्राणन-क्रिया भी मूलतः सूत्रात्मा के आश्रय से सम्पादित होती है। प्राणन-क्रिया से उत्पन्न वीर्य की शारीरिक अभिव्यक्ति का नाम बल है, मानसिक अभिव्यक्ति का नाम सहः है, जिस से साहस शब्द बना है, एवं इन्द्रियसंसृष्ट अभिव्यक्ति का नाम ओज है। यह तीन प्रकार की तथा अन्य सब प्रकार की शक्तियों का आश्रय भी सूत्रात्मा है। अतएव सूत्रात्मा को आयत्त कर सकने से इच्छानुसार सृष्टि की जा सकती है, यह सत्य अनुभव करके ऋषि इस का उपाय विचारने में प्रवृत्त हुए।

उत्साह ही अग्नि है। उत्साह वीर्यसम्भूत है। वीर्य प्राणन-क्रिया से उत्पन्न है। अथवा इन तीनों को अभेद भी जान सकते हैं। वीर्य से उत्पन्न यह उत्साहरूप अग्नि अवस्थाभेद से अनेक रूप और नामवाली होती है। किन्तु प्राणन-क्रिया का समष्टिगत उत्ताप नाभिस्थान के मणिपूर नामक प्राणचक्र में प्रकाश पाता है, इस उत्ताप का नाम वैश्वानराग्नि है। यौवन आकर्षण के फल से विवाह-काल में जिस अग्नि की उत्पत्ति होती है, (आश्वलायन गृह्यसूत्र के प्रारम्भ में इस की व्याख्या है।) एवं नित्य समिध् डाल कर जिस को निर्वापित होने न देना दम्पति का एक प्रधान कर्तव्य है, उस का नाम गार्हपत्याग्नि है। गार्हपत्याग्नि से अग्नि लेकर आहवनीयादि श्रौताग्नि प्रज्वलित करना आहिताग्नि गृहस्थ का कर्तव्य है। दाम्पत्यजीवन का कर्तव्य ठीक ठीक सम्पन्न करके गार्ह-पत्याग्नि में नित्य यज्ञानुष्ठान के फल से गायत्री में कहे हुए भर्ग को प्रत्यक्ष करना ही गृहस्थ का प्रधान लक्ष्य है, किन्तु सामाजिक कर्तव्य सम्पादन के लिये श्रौताग्नि, लौकिकाग्नि आदि से भी यज्ञ करते हैं।

जैसे आकृति, शक्ति आदि विषयमें दो व्यक्तियोंके चक्षुः समान नहीं हैं, वैसेही दो व्यक्तियों की गार्हपत्याग्नि समान नहीं हो सकती। व्यक्तित्व की विषमता से अग्निका पार्थक्य अवश्यही होगा, किन्तु बनावट और शक्तिगत सादृश्य लक्ष्य करके डाक्टर लोग दर्शनेन्द्रिय का श्रेणीविभाग कर सकते हैं; ठीक इसी प्रणालीसे गार्हपत्याग्नि का भी श्रेणीविभाग हो सकता है, ऋषियोंने वही किया था। कुलधारा की क्रमोन्नति विधान के उद्देश्य से जिन ऋषियोंने तीन वा पांच श्रेणी की गार्हपत्याग्नि के संयोग से आभ्यन्तरिक प्रवरयज्ञ निष्पन्न किये थे, वे अग्नि ही उन के कुल की प्रवराग्नि में परिणत हुए। भिन्न प्रकृति के मिश्रणद्वारा उन्नततर यौगिक प्रकृति गठन ही प्रवरसंस्कार का एक-तम लक्ष्य है। इसी से यजमान दोचार उत्तर साधक जन रखने होते हैं, उसी से यजमान के तीन वा पांच प्रवर होते हैं। परोक्ष द्रष्टा ऋषियों के विना अन्य कोई प्रवरयज्ञ द्वारा साधारण के अदृश्य सूत्रात्मा के साथ प्रवराग्नि का संयोग साधन नहीं कर सकता। विशेषतः ब्राह्मण के सिवाय अन्य किसी का ऋत्विक् कर्म में अधिकार नहीं था। इसी कारण क्षत्रियादि वर्ण का प्रवर-संस्कार हो नहीं सकता। ये लोग पुरोहित से कुल-क्रिया का कौशल जान कर पुरो-हित के प्रवर को प्राप्त होते हैं, इस का प्रमाण पूर्वोल्लिखित ऐतरेय ब्राह्मण के चौतीसवें अध्याय के छठे खण्ड में स्पष्ट है।

प्रवर-संस्कार का उद्देश्य संस्कृत-कुल-धारा को विशुद्ध रखना है। अतएव कुल क्या पदार्थ है, उसे समझे बिना प्रवर क्या है, यह अच्छी तरह समझ में नहीं आ सकेगा।

सब शक्तियों के आश्रयस्वरूप सूत्रात्मा में अन्यान्य शक्तियों के साथ जननशक्ति भी विद्यमान है। सूत्रात्मा को हमने पूर्व पञ्चवक्त्र शिव कहा है। शिव ही आद्या शक्ति का आधार वा आश्रय है। सूत्रात्मास्थित ज्ञानशक्ति (वा जगज्जननी) की विशुद्धि, सम्पादन ही कुल सृष्टि है। प्रवराग्नि (जिसको उद्देश्य साधन के उपयोगी रूप से वरण किया गया है) विशुद्ध जननशक्ति को उत्तम प्रजा सृष्टि के निमित्त प्रेरणा करती है। सूत्रात्मारूपी शिव की अष्ट मूर्ति का विषय चिन्तन करने से, कुल के उपादान जाने जायेंगे। अष्टमूर्ति में पांच पञ्चभूत और शेष तीन, यजमान, सोम और सूर्य हैं। इनमें यजमान अहङ्कारतत्त्व है, क्योंकि अहंताबोध ही यजन में प्रवृत्ति देता है। सोम मनस्तत्त्व है, क्योंकि सोम वा चन्द्र से ही मन की उत्पत्ति है, अथवा ये दोनों आ[illegible] हैं। सूर्य बुद्धितत्व के समानार्थक है, क्योंकि सूर्यसत्त्व ही इस सौर जगत् सम्पर्क से महत्तत्व के स्थलवर्ती है। सूत्रात्मास्थित जन परमाणु महान् (महत्तत्व) है, महः परमाणु अहङ्कार, स्वः परमाणु मन है एवं भुवः और भूः परमाणु दोनों पञ्चभूतात्मक और विनाशशील हैं।

सूत्रात्मारूपी शिव की यह अष्टमूर्ति विश्व के अष्ट अवयव अपरा प्रकृति से अभिन्न हैं। भगवान् ने गीता में कहा है—

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

पुरुषोत्तम की परा और अपरा भेद से दो प्रकृति हैं। प्रकृति सब ही पदार्थों में वर्तमान हैं, किन्तु उसका कोई अंश कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रह सकता है। गीता कहती है कि, परम पुरुष की अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है, किन्तु आठ विभिन्न पदार्थोंसे नहीं बनी है। जैसे जीवों में मनुष्य, पशु, पक्षी, इत्यादि प्रकार भेद हैं, तथापि जीवत्व सबमें विद्यमान है; उसी तरह मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि आठ प्रकार की प्रकृति में प्रकृतित्व समान है। शिव की जो अष्टमूर्ति है, अष्टधा प्रकृति भी वही है। पञ्चभूतों का नाम उभयत्र ही समान है। अवशिष्ट त्रिमूर्ति में यजमानमूर्ति गीता का अहङ्कार सोममूर्ति गीता का मन एवं सूर्यमूर्ति गीताकी बुद्धि है। ये शिवकी मूर्ति हैं, शिव नहीं हैं। इनके अतिरिक्त स्वयं शिव जीवरूपी भगवान् हैं। शिव ही जीवभूत परा प्रकृतिरूप से आ ब्रह्मस्तम्भपर्यन्त विद्यमान हैं।

सूत्रात्मा के वर्णन में महः परमाणु से निःसृत जिस सूत्र ने अन्यान्य परमाणुओं को ग्रथित किया है, वही चैतन्य सत्ता विशिष्ट होने से जीवभूत प्रकृति है। जीवभूत प्रकृति-द्वारा ही जगत् और जागतिक वस्तुएं धृत हो रही हैं। जीवित काल में जीवप्रकृति द्वारा शरीर के विभिन्नांश धारण होते हैं और मृत होने पर जीव प्रकृति की क्रिया के अभाव से शरीर सड़ने लगता है अर्थात् पूर्व जिसे जीवात्मा धारण किये था, वह बन्धन के अभाव से पृथक् हो जाता है। यह जीव प्रकृति ही आकर्षणशक्ति है, यही शाक्तोंकी महामाया है। माया का अर्थ है, स्नेह वा आकर्षण, अन्तर्जगत् की माया स्नेह है और बहिर्जगत् की माया आकर्षण वा मध्याकर्षण है। जीवभूत प्रकृति वा माया—

> सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
> संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी।
>
> (चण्डी १।५२)

यह सनातनी और मुक्ति का हेतुभूत परमज्ञानस्वरूपा है। यह पराप्रकृति तत्व अवगत हो सकने से "ज्ञाना-न्मुक्तिरनन्तरम्"। यह प्रसन्न होनेसे परा प्रकृति की क्रिया अविरुद्ध भावपूर्वक चलने से मानव की मुक्ति का कारण होती है। फिर संसारबंधन का हेतु भी वही है। स्नेह रूप से यह परिवारबन्धन और समाजबन्धन सृष्टि करती है, जैविक आकर्षणरूप शरीरकोषों (organs) में सम्बन्ध स्थापन करने पर "संघात" बन्धन का हेतु है, एवं माध्याकर्षणरूप से ग्रह उपग्रहादि में बन्धन स्थापन करके सौर जगत् को शृंखलाके मार्गपर चलाती है। यह जीवभूता प्रकृति शिवकी अष्टमूर्ति का आश्रय करके जो नृत्य करती है, उस का नाम प्राणनक्रिया है, स्पन्दन प्राणन-क्रिया का बहिर्विकास है। काली वा दुर्गा की जो अष्टशक्ति पूजी जाती हैं, वे जीवभूता परा प्रकृति की सह-चरी अष्टधा अपराप्रकृति से भिन्न नहीं हैं। ये ही अष्टपाश-द्वारा बन्धन किए हुए हैं, क्योंकि पराप्रकृति की प्राणन-

क्रिया आकर्षणरूपा है और आकर्षण ही गुण वा रज्जुरूपी है और सत्व, रज और तम ये गुण वा आकर्षण-शक्ति के अवस्थाभेद हैं।

मिट्टी की एक प्रकृति यह है कि, यह जलसंयोग से नरम होती है। इस की दूसरी प्रकृति यह है कि, नरम होने पर उसे इच्छानुसार आकृति में परिणत किया जाता है। मिट्टी को तपाने से वह खूब सरल हो जाती है। यह उसकी तीसरी प्रकृति है। मिट्टी की ये तीन प्रकृतियां हम जानते हैं, एवं मिट्टी को पकडने और हिलाने की शक्ति हम में है। इन दो कारणों से हम मिट्टीद्वारा घडे, ईंटें, आदि इच्छानुसार बना सकते हैं। जो विश्व वा विश्व की नवधा प्रकृति को जानते हैं और इस नवधा प्रकृति के आश्रयभूत सूत्रात्मा को पकडकर इच्छानुसार चला सकते हैं, वे यदि उसके द्वारा इच्छानुसार वस्तु बना सके, तो आश्चर्य ही क्या ? किन्तु प्रकृति का नियम उल्लंघन कोई कर नहीं सकता, प्राकृतिक नियम के अनुगत भाव से ही घट वा ईंट बनाई जा सकती है। उसी तरह ऋषियोंने कुल गढने की एक पद्धति कर ली थी, उस पद्धति का व्यतिक्रम होने की आशङ्का से ही अर्जुन चीत्कार कर उठे थे—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ॥इत्यादि॥

यह नवधा प्रकृति कुलनाम से प्रसिद्ध है, यह बात महानिर्वाणतन्त्र में स्पष्ट कही है। यथा—

जीवः प्रकृतितत्त्वं च दिक्कालाकाशमेव च ।
भूमिरापोऽनलो वायुः कुलमित्यमिधीयते ॥

यहां गीता की नवधा प्रकृति के साथ नाम का भेद है, किन्तु वस्तुभेद नहीं। पञ्चभूतों का उल्लेख जैसा गीता में है, वैसा ही यहां भी है। यहां जिस को जीव कहा गया है, गीता में उस को जीवभूता परा प्रकृति कहा गया है। गडबड केवल प्रकृतितत्व, दिक् और काल, इन तीन नामों में है। तन्त्रसाधनशास्त्र होने से साधना की दिक् से नामकरण हुआ है। सांख्य की जो मूल प्रकृति है, वह अव्यक्त है। मूलाप्रकृति का प्रथम व्यक्त परिणाम महत्तत्व है, इसी कारण तन्त्र के अनेक स्थलों में प्रकृतिका अर्थ व्यक्त प्रकृति वा महत्तत्व है। गुरुपरम्परा से भी जाना जाता है कि, प्रकृतितत्वतन्त्र के साम्राज्याभिषेकस्तर को साध्य है। पूर्णाभिषेकस्तर में मनकी साधना पूर्ण करके साम्राज्याभिषेकस्तर में बुद्धि वा स्वतःसिद्ध ज्ञान (intuition) की साधना आरम्भ करते हैं, इस से प्रतीत होता है कि, यहां प्रकृतितत्व गीता की बुद्धिसे अभिन्न है।

दिक् शब्द का इंग्रेजी प्रतिशब्द (Direction) है और ग्राम्य भाषा में उसे दिशा कहते हैं। दिशा शब्द संस्कृत देश शब्द से आया है। 'दिक् काल' का अर्थ देश और काल (Space and Time)। Directions वा 'दिशा'– समूह की समष्टि लेकर देश वा Space जगत् के सब पदार्थ ही साथ साथ देश और काल में अवस्थित हैं। किसी बालक का जन्म एक पदार्थ है। यह जन्म प्रसूति, धातृ आदि के संस्रव से देश के एक अंश में संघटित है, वैसे ही काल के भी एक अंश से जुडा है। हमारे हाथ का कलम जैसे देश वा स्थान से जुडा है, वैसे ही वह काल में भी अवस्थित है। किंतु सब वस्तुओं का ही मानसिक अंश काल से और स्थूल अंश देश में अवस्थित है। मनन, स्मृति, आदि केवल कालपर अवस्थित हैं, किन्तु स्थूलदेहाश्रित मानव में मस्तिष्क गत होकर ये देहाश्रयी हैं। तान्त्रिक साधक की दो दिशा हैं। एक दिशा 'मैं' और दूसरी दिशा "जो 'मैं' नहीं हूं।"

इस आत्मानात्मविवेक के ऊपर उनकी साधना प्रतिष्ठित है। दोनों दिशाओं का बोध ही अहङ्कार तत्व की मिति भूमि है। अहंभाव न रहने से मैं-तुम नहीं, शीत, ग्रीष्म नहीं, प्रकाश अन्धकार नहीं, किसी प्रकार का द्वन्द्व ज्ञात नहीं। इस कारण साधक के निकट अहङ्कारतत्व ही दिक् नाम से परिचित है। और काल तो मन का ही रूपविशेष है। घटना परम्परा का बोध लेकर मन जिस अवस्था को प्राप्त होता है, वही काल घटना का पूर्वापर्य न रहने से, काल का अस्तित्व नहीं रहता, मन एक पर एकवि षय ग्रहण करता है, मन का यह पर पर भाव ही काल है। अतएव तन्त्र का काल गीता का मन, तन्त्रका दिक्, गीता का अहंकार, और तन्त्र का 'प्रकृतितत्व' गीता की बुद्धि है। अब हम 'कुल' गठन पद्धति समझाने की चेष्टा करते हैं।

सूत्रात्मा वीर्य वा शुक्रद्वारा आवृत अथवा परिवेष्टित है। यह वीर्य वा शुक्र शरीर का धातुविशेष नहीं है।

वीर्य का अर्थ है वीर का भाव—उत्साहपूर्ण अवस्था मात्र। शुक्र शंकराचार्य के मत से शुभ्र वा शुद्ध अवस्था है, जिस में मलिनता न हो। पाश्चात्य वैज्ञानिक कुछ समय पहले समझते थे कि, कैलोरिक (caloric) नामक एक प्रकार अति सूक्ष्म पदार्थ है, वह अन्य वस्तु में प्रविष्ट होनेसे गर्म होता है। अथवा कैलोरिक ही गर्मी है। परवर्ती अनुसन्धान से स्थिर हुआ है कि, कैलोरिक कोई पदार्थ नहीं, उत्ताप उपनिषदुक्त दहर वा ईथर पदार्थ के स्पन्दनके फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

वह किसी प्रकार गति रुक जाने से ही उत्ताप में परिणत हो जाता है। स्पन्दन, आकर्षण, विकर्षण, आदि सब ही गति हैं। जगत् शब्द गम् धातु से बना है। उस से भी गति समझी जाती है। शास्त्र कहता है कि, मुक्ति का नाम परमा गति है। विज्ञानने प्रमाण पाया है कि, उत्ताप कैलोरिक नहीं है, ईथर की गति की अवस्था विशेषमात्र है। हमारे ऋषियोंने भी ऐसे ही प्रमाण पाये थे कि, सूत्रात्मा जो वीर्य वा शुक्रद्वारा परिवेष्टित है, वह शरीरस्थ सात धातुओं में से एक नहीं है, वह शुद्धगतिविशेष है, वह सब वस्तुओं में वर्तमान है। प्रलय के बाद सृष्टिकाल में उसी में सनातन विभु प्रविष्ट हुए थे। इसी कारण शुक्र यजुर्वेदीय ईशोपनिषद् के अष्टम श्लोक में कहा है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो
अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

अर्थ- वह स्वयम्भू है– जो स्वयं हुआ है, जिस की उत्पत्ति में कोई अन्य कारण नहीं। वह शुक्रमय व्याप्त हुआ है। (यह शुक्र शुद्ध और ज्योतिष्मती गति है।) क्योंकि यह आकृतिरहित है, अव्रण अर्थात् अक्षत है, इस कारण विरुद्ध शक्तिद्वारा अविप्लुत है। यह शुक्र अस्नाविर अर्थात् शिरारहित है और शारीरिक शुक्र की तरह रोगादि हेतु से अशुद्ध वा पापानुष्ठानद्वारा अपनी प्रकृति से भ्रष्ट नहीं होता, उसने कवि मनीषी, परिभू और स्वयम्भू परमात्मा, शुक्रानुप्रविष्ट अवस्था अवलम्बन करके संवत्सर नाम के प्रजापतियों को उन का कर्तव्य विभाग कर दिया है। संवत्सर नामक प्रजापति कौन हैं ?

दिन की प्रकृति से रात्रि की प्रकृति भिन्न है। शुक्र पक्ष की प्रकृति से कृष्ण पक्ष की प्रकृति भिन्न है, सब ऋतुओं की प्रकृति समान नहीं है, उत्तरायण और दक्षिणायन में प्रकृतिभेद है। काल के ये सब और अन्य प्रकार के विभाग के अधिष्ठातृरूप से भिन्न भिन्न प्रजापति हैं, उन के प्रकृतिभेद के कारण ही कालगत सृष्टिकर्म का प्रकृतिभेद है। ये ही संवत्सरनामक प्रजापति हैं। शुक्रनामक शुद्ध गति से व्याप्त आत्मा के प्रभाव से प्रजापतियों का और उनके कर्म का प्रकृतिभेद है, इसी का नाम उनका कर्तव्यविभाग कर देना है। शुक्रनामक शुद्ध गति के अनुरूप एक पदार्थ शरीरस्थ धातुविशेष का नाम भी शुक्र हुआ है। यह जीवों में शुक्र नाम से, उद्भिद् में रसनाम से वा गीता की भाषा में 'रसात्मक सोम' रूप से एवं अचेतन पदार्थों में संयोगशक्ति रूप से (Cohesion) वर्तमान है। 'तदेव ब्रह्म तच्छुक्रम्' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य में शुक्र शब्दद्वारा शुद्ध गति ही उपलक्षित है। उस गति को आश्रय करके रहना ही असल ब्रह्मचर्य है, तथापि अपनी शक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध से हम 'वीर्यधारणमेव ब्रह्मचर्यम्' जानते हैं और यह ज्ञान भी सत्य का विरोधी नहीं है, क्योंकि शुक्र धातु शुक्र ब्रह्म से ही अनुसृत है। कुल सिसृक्षु ऋषियों ने शुक्र ब्रह्म का रहस्य जानकर उसकी सहायता से प्रजापति देवों को हस्तगत किया और प्रजापति की कृपा से प्रवराग्निद्वारा शुक्र धातु की विशुद्धि साधन करके अभीप्सित कुलधारा का प्रवर्तन किया।

कुल कोई अबोध्य, अद्भुत वस्तु नहीं है। वर्तमान युग की भाषा में कुल की व्याख्या करता हूं। बीजगत जो प्रकृति है, उसका नाम कुल है। परा प्रकृति वा जीव सर्वत्र एक है, क्योंकि 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५।७) उसका जो अंश जीव है, वह सनातन है। किन्तु वह सनातन अपरा प्रकृतिरूप आधार के भेदवश भिन्नवत् प्रतीत होता है। मनुष्यों में जो आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है, वह उस के सूत्रात्मा का उपादानभूत है। अतएव सूत्रात्मा के अवस्थाभेद से अपरा प्रकृति का भेद हुआ है। एक मनुष्य में परस्परविरोधी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां रहती हैं। इन प्रवृत्तियों का समष्टिगत फल उस मनुष्य का चरित्र है। प्रवृत्तियों में परिवर्तन होने से

उनके समष्टिगत फलस्वरूप चरित्र का भी परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह सूत्रात्मा के अन्तर्गत अपरा-प्रकृति के उपादान से गठित, परमाणुपञ्चक की शक्ति समष्टि ही कुल है। इस सूत्रात्मागत कुल का आश्रय करने से अकुल संसारसमुद्र में कुल पाया गया; एवं जो अनन्त और असीम है, वह भी इस कुल को आश्रय कर सान्त और ससीम हुआ है। कुल में प्रतिष्ठा प्राप्त करके ही ऋषि लोग अनन्त की लीला का रहस्य समझने में समर्थ हुए थे।

ऊपर कहा है कि, कुल कोई अद्भुत वस्तु नहीं है। सूत्रात्मावस्थित पञ्च परमाणुओं की विभिन्न जातीय स्पंदन-शक्ति का समष्टिगत फल (Resultant) ही प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव निर्धारण कर देता है। प्रवराग्नि की सहायता से सूत्रात्मा के शोधनद्वारा क्षमा, धृति, अद्रोह आदि ब्राह्मणोचित गुणों पर चिरप्रतिष्ठा पाना ही कुल सृष्टि है। इस के साथ शुक्रगत दोष क्रमशः शोधित होकर विशुद्ध कुलधारा उत्पन्न होती है। पाश्चात्य उत्तम जनन-विद्या (Eugenics) अबतक कुलवस्तु का अस्तित्व अनुभव नहीं कर सकी है। विजमैन (Weismann) के के आविष्कृत मार्ग पर कुछ काल अनुसन्धान चलनेसे शुक्रगत कुल हाथ आवेगा; किंतु सूत्रात्मागत कुल केवल अन्तर्दृष्टिसम्पन्न ऋषियों के तुल्य लोग ही जान सकते हैं, अन्य लोग नहीं।

शुक्रगत कुलधारा एक दिनमें नहीं रची गई है, यह बात विशेष याद रखनेयोग्य और आवश्यक है। प्रवराग्नि द्वारा शोधित बीजने वंशपरम्परा से क्रमशः पुष्टि पाकर ब्राह्मण के बीजगत स्वातन्त्र्य उत्पन्न किया था। वेदविहित कठोर ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचारी की अनुष्ठेय दण्डक्रिया, गृही की गार्हपत्याग्नि और सोमयज्ञ आदि बीजशोधन के अनुकूल क्रिया हैं। कुल प्राकृतिक शाश्वत वस्तु है, यह सदा विद्यमान है। तथापि जिस कुल सृष्टि की बात यहां कहते हैं, वह असल सृष्टि नहीं है, संशोधन मात्र है। कुल अदृश्य होने पर भी उस का अस्तित्व भूलोक में वंशरक्षावृत्ति से (propagation of the race) प्रकाश पाता है और मानसलोक में कल्पनाशक्ति से हम उस की क्रिया देख पाते हैं। कल्पना वा ध्यानशक्ति की और वंशरक्षावृत्ति की विशुद्धि करना ही कुल सृष्टि कही जाती है।

गदले जल से भी प्यास बुझ जाती है, तो भी यह कोई नहीं कह सकता कि, स्वच्छ जल की आवश्यकता नहीं है। उसी तरह अशोधित कुलद्वारा संसार के काम चलने पर भी कुलशुद्धि आवश्यक है। तांत्रिक साधक कुल को कामकलातत्त्व कहते हैं- सुना जाता है कि, यज्ञ-क्रिया के अनुसङ्ग से प्रवर यज्ञ का कौशल अब भी गुरुपरम्परा से रक्षित है, प्रवरसंस्कारद्वारा कुलशोधन का अनुष्ठान अब नहीं होता है; सम्भवतः कुलज्ञ सहकारी का अभाव ही इस का कारण है, किन्तु तन्त्र में यह बार बार कहा है कि, कुलज्ञ गुरु से दीक्षा ली जाय।

अर्जुनने गीतामें कहा है –

'+ कुलधर्माः सनातनाः।' (गीता १।४३)

कुल सनातन हुए विना उसका धर्म सनातन हो नहीं सकता। अर्जुन कहता है कि, क्षत्रिय का प्रवर-संस्कार न रहने पर भी गुरु से यज्ञगत कौशल जानकर गुरुप्रवर के अनुसार कुलधर्मानुष्ठान का अधिकार क्षत्रिय का है। (तैत्तिरीय ब्राह्मण की सप्तम पञ्चिका ३४ अध्याय देखिये।) यह कर्म सस्त्रीक करना चाहिये। युद्ध में क्षत्रिय-कुल नष्ट होने से अन्य प्रकार का बीज क्षत्रिय स्त्री में बोकर वर्णसङ्करसृष्टि होगी। जगत् जिस शक्ति से ठहरा हुआ है वही धर्म है, शृङ्खला और नियम उसके धर्म के दृष्ट फल हैं। कुल सृष्टि के हेतु से कामदेह के वर्णभेदानुगत भाव से बीजगत वर्णभेद की जो श्रृङ्खला आर्यसमाज में प्रवर्तित हुई थी, वर्णसङ्कर की उत्पत्ति होने से समस्त कुल (कुलं कृत्स्नं) अधर्माभिभूत अर्थात् उलटपलट होकर उस

+ कुलधर्माः- जीव का स्वाभाविक धर्म। जो शक्ति विराट् ब्रह्माण्ड को धारण किये है, उस का नाम है धर्म; और जो शक्ति जीव के देहरूप क्षुद्र ब्रह्माण्ड को जिस भाव से धारण कर रक्खे वह कुलधर्म है। जैसे सूर्य अपनी शक्ति के प्रभाव से पृथिवी को धारण किये है और पृथिवीने अपने ऊपर की वस्तुओं को आकृष्ट कर रक्खा है। उसी तरह विराट् आकर्षणशक्ति जीवात्मा को धारण किये है और जीवात्मा शरीर को धारण किये है। आज्ञाचक्र उपकुल है, सहस्रार कुल ही आज्ञाचक्र का स्पर्श किये विना कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। (उपनिषद्रहस्य)

समाजशृङ्खला को नष्ट कर देगा। हमारी वर्तमान काल में जो अवस्था हुई है, वही अर्जुन ने आशङ्का की थी।

कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद से ही आर्यों की समाज-शृङ्खला शिथिल हो रही है और उस शिथिलता के फल से सब वर्णों में वर्णसङ्करों ने स्थान पाया है। किन्तु अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों में वर्णसङ्कर अल्पतर जान पडते हैं। बीजशुद्धि की रक्षा के लिये स्मृतिशास्त्र में जो विधान किया हुआ था, वह हजारों वर्ष तक प्रतिपालित नहीं हुआ; और अब तो प्रायः बिलकुल ही लांघ चुके हैं, तो भी केवल बीजगत प्रवरसंस्कार के बहुदूरगामी फल के कारण अब भी ब्राह्मण-प्रकृति का पहचानना विशेष कठिन नहीं हुआ है। अत्यन्त दुष्कर्मी ब्राह्मण में भी उसकी बीजगत प्रकृति कुछ न कुछ मौजूद है। यह बीजगत कुल-धारा वंशपराम्परागत हजारों वर्ष साधना के फल से उत्पन्न और दृढ की गई थी, इस कारण अनेक शताब्दियों के अत्याचार सहकर भी अब तक उसका पूर्ण विनाश नहीं हो सका है। जिन में ब्रह्मबीज-सङ्करता नहीं हुई है, केवल वर्णधर्मप्रतिपालन न करने में ही अभिभूत हुए हैं, वे कुलज्ञ गुरु से कौशल सीखकर कुलज्ञ का अनुष्ठान करने से अल्प काल में ही ब्राह्मण्य के मार्ग पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, एवं पुत्र-पौत्रादि क्रम से उस अनुष्ठान की रक्षा करने से बीजगत दोष क्रमशः दूर हो जायगा।

प्रवर-संस्कृत कुल-धारा की रक्षा और उत्कर्षविधान के लिये निम्न लिखित कुछ विधान थे।

(१) विवाह के समय वर और कन्या के पितृवंश के प्रवर उच्चारित होते थे, इससे प्रवराग्निप्रयोग की सुविधा होती थी और उसमें यह भी निर्देश था कि, किस प्रवर के साथ किस प्रवर के मिलने से बीज का उत्कर्ष घट सकेगा। ......हमारी समझ में यज्ञवित् पञ्च ब्राह्मणों ने वंशधर राजशक्ति की सहायता ले 'कुल' का पुनरुद्बोधन करने की चेष्टा की थी, परन्तु अनधिकारी के हाथ में पडकर जैसे सब विषय नष्ट होते हैं, वैसे ही कौलीन्य भी विनष्ट हो गया।

(२) वर्णधर्म की व्यवस्थाद्वारा कुलप्रकृति के अनुरूप वृत्तिग्रहण और धर्मानुष्ठान करना होता था। स्मृति में प्रत्येक वर्ण की वृत्ति और पृथक् भाव से निर्दिष्ट हैं। वर्ण-धर्म की व्यवस्था लंघन कर के हमने प्रायः कुल नष्ट कर डाले हैं।

(३) स्मृतिशास्त्र में आहार और संसर्गविषय में जो विधि निर्धारित है, वह कुलनाश के रोकनेवाली है। अधर्माभिभव के कारण उस विधि का आजकल पालन नहीं होता, तब उत्कर्ष पाने की आशा किस तरह कर सकते हैं? आहार के साथ धर्म का अति निकट सम्बन्ध है। खाये हुए पदार्थ जीर्ण होने पर उस से रस और रस से शोणित उत्पन्न होता है। रक्त की परिणतिसे शुक्रधातु, शुक्र से चंद्र, चंद्र से मन, मन से बुद्धि इत्यादि भुक्त द्रव्य के विपाक वश उत्पन्न होते रहते हैं। अतएव आहार्य वस्तु की प्रकृति के अनुसार जो मन बुद्धि अहंकार आदि विवर्तन होगा, इस में तो कुछ सन्देह ही नहीं। आहार्य वस्तु और संसर्ग से वह पारिपार्श्विक अवस्था उत्पन्न होती है, जिस के द्वारा सूत्रात्मा की क्रिया नियन्त्रित है। हम पल्लवग्राही हैं। परन्तु दम्भापहत बुद्धि होकर अब आहार और संसर्ग का विचार नहीं करते। अतएव हम केवल उदरपोषण के ध्यान में रह कर ही अधःपतन के मार्ग पर तेजी से जा रहे हैं, तो इस में आश्चर्य का कारण ही क्या है?

(४) ब्रह्मचर्याश्रम में उत्तम प्रजासृष्टि की योग्यता प्राप्त कर विवाह करने की विधि प्रचलित थी। सोलह वर्ष-तक गुरुगृहवास के समय भूमिशय्या पर शयन, हविष्यान्न-भोजन, व्रतधारण, शीतातप में सम ज्ञान, गुरुसेवा इत्यादि द्वारा सब प्रकार शारीरिक और मानसिक दुष्प्रवृत्तियों का दमन और सद्वृत्तियों का उद्बोधन करना होता था। वर्तमान काल में हम आतुरगृह में ही सन्तान को बाबू बनाना आरम्भ कर देते हैं। उस का फल यह होता है कि, विलास-भोग करने की शक्ति उत्पन्न होने के पूर्व ही बालक विलासिता के ऐसे अभ्यासी हो जाते हैं कि, युवावस्था में विलासद्रव्य का अभाव होने से उन्हें असह्य क्लेश होता है, किन्तु अभ्यास सहने का होता, तो विलासद्रव्य उन्हें कुछ भी सुख नहीं दे सकते। प्राचीन समय की व्यवस्था से राजपुत्रों को भी गुरुगृह में ब्रह्मचारीरूप से वास करना होता था। इस का एक अबाध फल यह होता था कि, वे युवावस्था में घर लौटने पर भी विलासिता में अनासक्ति रख सकते थे। (क्रमशः)

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण (छप रहा है)	३)	१)	॥)	१॥)
	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। इसमें ।) एक बारका पैकिंग और ।) एक बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य सेही मिलेंगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता । (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥≡)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग ।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध

वैदिक धर्म।

अक्तूबर १९४१
आश्विन १९६३

पुष्प कुमारी



वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]
संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २२] विषयानुक्रमणिका [अङ्क १०

१ उन्नति ।		४०९
२ स्वाध्याय-मंडलका कार्य		४१०
३ वेदो रक्षति रक्षितः	पं० नरदेवशास्त्री	४११
४ माताजीसे वार्तालाप ।	श्री. मदनगोपाल गाडोदिया	४१४
५ गायत्री ।	श्री. रुलियाराम कश्यप	४२३
६ भक्तके भगवान् । (भाग दूसरा)	श्री. रुलियाराम कश्यप	४२९
७ रामायणकालीन आर्यसंस्कृति । (समाप्त)	पं. वि० दा० पंडित	४३३
८ श्रीवाल्मीकिरामायणका मुद्रण ।		४६३
९ शुद्ध चार वेद ।		४६४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६२

वर्ष २२ : : : : अङ्क १०

आश्विन संवत् १९९८

अक्टूबर १९४१

उन्नति ।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय । संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥

(वा० यजु० २७।८, काण्व० २९।८; अथर्व० ७।१६।१)

" हे (बृहस्पते) ज्ञान के स्वामी ईश्वर ! हे (सवितः) सब के उत्पादक ईश्वर ! (एनं वर्धय) इस उपासक की वृद्धि कर, (महते सौभगाय) इसको बडा सौभाग्य प्राप्त हो इसलिये इसको योग्य मार्ग का (ज्योतय) प्रकाश कर, अर्थात् इसको शुभ मार्ग बता। पहिलेसे तीक्ष्ण रही इसकी बुद्धि अथवा इसका ज्ञान (संशिशाधि) अधिक तीक्ष्ण कर और (विश्वे देवाः) सब देव (एनं अनु मदन्तु) इसके अनुकूल हों, ऐसा कर । "

इस तरह इस उपासक की उन्नति होती रहे ।

स्वाध्याय-मण्डल का कार्य।

(१) दैवत-संहिता।

दैवत-संहिता का प्रथम भाग करीब करीब छप चुका है। अग्निदेवता के ढाई हजार मंत्र संग्रहित हुए हैं और इन्द्रदेवता के करीब साडे तीन हजार मंत्र संग्रहीत हुए हैं। अर्थात् दोनों देवताओं के मिलकर करीब छः हजार अर्थात् आधे ऋग्वेद के जितने मन्त्र हुए हैं। इससे वेदमें इन दोनों देवताओं का महत्त्व कितना है, यह स्पष्ट होता है। वेदों में इन दो देवताओं के जितने मन्त्र हैं, करीब उतने ही अन्य सब देवताओं के मिलकर हैं। वेदों का आधा भाग इन दो देवताओं के लिये समर्पित हुआ है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि, इन देवताओं का महत्त्व वेद में अधिकसे अधिक है।

बहुत ही पाठक बार बार पूछ रहे हैं कि, 'दैवत-संहिता' शीघ्र प्रकाशित क्यों नहीं होती है? उनसे निवेदन है कि, यदि यहां केवल देवतामंत्रों का ही संग्रह छापने का कार्य होता, तो वह इससे पूर्व ही हो जाता, पर दैवत-संहिता में इससे बहुत ही अधिक सामग्री इकट्ठी की जा रही है। इसलिये देरी लगती है।

प्रत्येक देवता के मन्त्र छापने के बाद (१) पुनरुक्त मंत्र तथा पुनरुक्त मन्त्रभागों की सूची छापी जाती है। इस सूची से कौनसा मन्त्र कहां दुबारा आया है, यह स्पष्ट हो जाता है, जो स्वाध्याय के लिये और नित्य पाठ से अर्थज्ञान होने के लिये अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके पश्चात् मंत्रों की (२) वर्णानुक्रमसूची छापी जाती है, जिससे कौनसा मन्त्र कहां है, इसका पता लगता है। केवल मन्त्र छापे जांय और यह सूची न हो, तो कौनसा मन्त्र कहां है, इसका पता कैसा लग सकता है? इस कारण यह सूची आवश्यक है। इस के पश्चात् (३) 'विशेषणसूची' छापी है। अग्निदेवता के स्वरूप का निर्णय उस देवता के विशेषणों से हो सकता है। ये सब विशेषण इस सूची में वर्णानुक्रम से दिये हैं और उनके पते भी दिये हैं। चतुर्थ सूची (४) 'उपमाओं की सूची' है। अग्नि को कितनी उपमाएं वेद में दी हैं, यह इससे पता लग सकता है। उपमाओं से देवता के स्वरूप की पहचान होती है।

इस तरह सूचियां प्रत्येक देवता के साथ रहेंगीं। पाठक विचार करके देखेंगे, तो उन को पता लग जायगा कि, इन सूचियों के बिना दैवतों का मंत्रसंग्रह विशेष लाभदायक नहीं होगा। जो पाठक शीघ्रता करते हैं, वे इस बातका विचार करें कि ये सूचियां कामकी हैं वा नहीं।

आजतक किसीने इन सूचियों का संग्रह नहीं किया था। कोई पाठक अब इन सूचियों के विचार से अर्थात् अग्नि आदि देवताओं के विशेषण, उपमा, पुनरुक्त मन्त्रभाग आदि का मनन करके अग्निदेवता का ठीकठीक स्वरूप जान सकता है। यह सुविधा इस से पूर्व नहीं थी। यह सुविधा दैवत-संहिताद्वारा हो रही है। जैसी अग्नि-देवता की ये सूचियां छापी हैं, वैसी ही इन्द्र की भी छप रही हैं।

जो पाठक इन के बनानेके कष्टों को जानेंगे और इनका महत्त्व स्वाध्याय में कितना है, यह समझेंगे, वे थोडीसी देरी होने के कारण हमारे ऊपर क्रोध नहीं करेंगे।

हम अग्नि और इन्द्र इन दो देवताओं के मन्त्रों का एक भाग इकट्ठा प्रकाशित करना चाहते हैं।

(२) अथर्ववेद।

अथर्ववेद समाप्त हुआ है, पुनः छप रहा है। तीन महिनों में छप कर तैयार होगा। इस में भी मन्त्रों के चरण दर्शाये जांयगे और मन्त्रसूची भी रहेगी।

(३) रामायण।

रामायण का प्रथम काण्ड अगले महिनेमें तैयार होगा।

—प्रबंधकर्ता

वेदो रक्षति रक्षितः ।

('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः')

[लेखक- श्री० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ (जेलसे प्राप्त)]

मनुष्यजीवनको स्वोपयोगी, परोपयोगी अथवा सर्वोपयोगी बनानेमें स्वाध्यायका भी बडा हाथ है। जब पहिले पहिले चारही वेद थे, उनके उपबृंहण नहीं हुए थे, जब वेदोंको वेदोंसे ही पठन-पाठन की गुरुशिष्यपरंपरा थी, तब स्वाध्याय शब्द केवल अपने ही वेदका वाचक था। अपने ही वेदका अर्थ है, अपने ही कुलपरंपराके वेदका। जब प्रारम्भमें वेदाध्यायियोंकी बुद्धिका ह्रास दृष्टिगोचर होने लगा, जब वे चारों वेदोंको कण्ठस्थ रखने, उसकी परम्परा चलानेमें असमर्थसे रहने लगे, तब भावी पीढियोंके ऋषि-महर्षि, वेदाध्यायी ब्राह्मणोंने एक-एक वेदको संभाल रखनेका, उसीकी परम्परा चलानेका क्रम चलाया। तभीसे ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, अथर्ववेदी ब्राह्मणों की परम्परा चली और अबतक भारतवर्षमें किसी न किसी रूपमें विद्यमान है।

ऋग्वेदी प्रायः दक्षिणमें ही हैं। यजुर्वेदी प्रायः उत्तर भारतमें, कृष्णयजुर्वेदी मध्यभारत अथवा मध्यप्रदेशमें, और कुछ दक्षिणमें, सामवेदी बंगाल और गुजरातमें, अथर्ववेदी तो मुझे कोई मिला नहीं। हम ऋग्वेदी ब्राह्मण हैं, हमारी शाखा है ऐश्वलायन, हमारा ब्राह्मण है ऐतरेय, हमारी उपनिषद् है ऐतरेय, हमारा आरण्यक है ऐतरेय, हमारा श्रौतसूत्र है आश्वलायन पता नहीं कबसे-जब से भी हो- कालमाहात्म्य से इन वेदाध्यायी ब्राह्मणों में दो भाग हो गए। एक भाग अपने वेदको संभाल कर रखनेमें बराबर तत्पर रहा, परन्तु दूसरा भाग अपने जीविकार्थ अनेक उद्योगधंधों तथा राजसेवा में संलग्न रहने लगा। वह भाग वेदों को कैसे संभालता? प्रथम भाग पुरोहित भाग बनकर भट्ट कहलाने लगा, द्वितीय भाग यजमान 'राव' कहलाने लग गया। भट्टश्रेणीके लोग यजमानों के सब धार्मिक कृत्य कराने लगे। अब तो पुरोहित-भट्टश्रेणीमें भी ह्रास हो रहा है, क्योंकि इनकी संतान स्ववेद को छोडकर विदेशी राज्यशिक्षा में पड गयी, उसीकी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर राजसेवा करने लगी।

इसी प्रकार स्वाध्यायके ह्रासके साथ स्ववेद-रक्षाका प्रश्न भी जटिल हो गया। धन्य हैं वे हमारे पुरोहित ब्राह्मण जो अपने कुलक्रमागत, गुरुशिष्यपरम्परागत वेद तथा शास्त्रों की रक्षा कर रहे हैं। हमारे ही अपने कुलमें जिसने अंगरेजी शिक्षा दीक्षा प्राप्त करके फिर अपने वेदका अध्ययन किया, ऐसा मैं अकेला ही हूँ। अध्ययन तो मैंने किया, किन्तु स्ववेदको कहां संभालने पाता हूँ? सार्वजनिक कार्यों की बहुव्यापी व्यग्रता, संस्थाजाल की व्याकुलता के कारण स्वाध्याय को संभालना कठिन कार्य हो गया है। अब तो हम लोगों के लिए कारावास ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ कुछ स्वाध्याय कर लेते हैं, भूले हुएको फिर ताजा कर लेते हैं, विस्मृत को फिर स्मृतिपथपर लाते हैं। अब की बार कारावासमें प्रायः ऋग्वेदको एकवार आद्योपान्त देख जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनं।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम् ॥

इस मनुवचन को अनुभव करने का अलभ्य अवसर मिला।

"वेदश्चक्षुः सनातनम्"

इन भौतिक चक्षुओं को सनातन चक्षुओं द्वारा पवित्र करने का अवसर मिला। स्वाध्याय करते करते कई जगह कई ऐसे प्रकरण मिले, जो कि इतने दुरूह थे- उन मंत्रों में ऐसे निगूढ अर्थ थे, कि साधनाभाव से मैं उन के तत्त्वों को न जान सका। स्वाध्यायशील रहता, तो आज ऐसा प्रसङ्ग क्यों आता? एक ही समय में स्वदेश और स्वधर्म का संभालना कठिन कार्य हो गया है। विदेशी पद्धति के साम्राज्य में ऐसा होना अपरिहार्य है, क्योंकि शास्य-शासकवर्ग के धर्म और हिताहित सम्बन्ध सर्वथा विभिन्न हैं। विद्वान् लोग जब स्वाध्यायशील रहते हैं, तब उन के वेदशास्त्र प्रसन्न होकर अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं, जिस से मनुष्य केवल अपने जीवन को ही नहीं, अपितु मनुष्यमात्रके जीवनमें एक विचित्र अपूर्व नवजीवन

का संचार कर सकता है। पहिले पहिले स्वाध्याय शब्द स्ववेद का ही बोधक रहा।

" स्वाध्यायोऽध्येतव्यः "

का अर्थ 'स्व-वेद' ही रहा। "अधीयते असौ अध्यायः। स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः" यह व्युत्पत्ति रही। धीरेधीरे काल-चक्र-प्रभावसे, स्वबुद्धि ह्राससे जब वेद छूटतेगये, अङ्गोपाङ्ग का आश्रय लिया जाने लगा, तब स्वाध्याय शब्द अन्य शास्त्रों के स्वाध्याय के लिए भी चल पडा। अस्तु। जो हो मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि, ब्राह्मणकुलपरम्परा ने अबतक किसी प्रकार वेदों की रक्षा की, तदर्थ हम उन के कितने उपकार मानें, यही समझ में नहीं आता। हम उन के उपकारों के बोझ से इतने दबे हुए हैं कि, इस जन्म में तो क्या अनेक जन्मजन्मन्तार में उर्ऋण नहीं हो सकते। केवल हम ही नहीं, अपि तु समस्त संसार पर उन के ऋण का महाभार है !

वेदों को सस्वर कण्ठस्थ रखना, उन के दश प्रकार के पाठों को कण्ठस्थ रखना, उन के ब्राह्मणों, अनुब्राह्मणों, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्रों को कण्ठस्थ रखकर परम्परा अबतक को स्थिर रखना अत्यन्त कठिन था। यदि भविष्य में जो कुछ परम्परा बची है, इसमें भी ह्रास हुआ, तो आर्यसंस्कृति के उपासकों के दुर्दिन समझिये।

उधर स्वधर्मरक्षक, स्वधर्मपोषक राज्यपद्धति हमारे ऊपर नहीं रही। इधर कुलक्रमागत स्वाध्याय भी ढीला पड गया, ह्रास होना ही था। स्वा० दयानन्द के आने के पूर्व वेदशास्त्र नहीं थे, सो यह बात नहीं। ऋग्, यजु, साम, अथर्व सब थे, उन की परम्परा भी थी, केवल यह कह सकते हैं कि, परम्परा उन उन कुलों में ही सीमित रह गयी थी, कर्मकाण्ड भी इतना प्रधान हो गया था कि, उस के प्रधानत्व में बाह्य क्रिया-कलाप में अधिक ध्यान रहने से वेदों का स्वाध्याय ढीला पड गया था, नाम मात्र रह गया था। स्वा० दयानंद की विशेषता यही थी कि, उन्होंने पुनरपि वेदों के विषयमें इतने जोर से शंख-ध्वनि की कि, संसार जाग गया। 'वेद-वेद-वेद-वेद' यही ध्वनि चारों ओर गूंज उठी! वेदोंमें ही सब कुछ है, वेदों से ही सब कुछ होगा, वेदों के आश्रय से संसार उठेगा, वेदों द्वारा ही संसार में ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का साम्राज्य होगा, संसार सुखधाम बनेगा। इत्यादि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः।
चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्॥
भूतं भव्यं भविष्यं च।
सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥

इसी मनुमहर्षि की प्रतिज्ञा को उन्होंने दुहराया। जैसे बौद्धकालीन समय में भगवान् शंकराचार्यने वेदों का उद्धार किया, इसी प्रकार इस युग में वेदोद्धार का श्रेय स्वा० दयानन्द को देना पडेगा।

जैसे " अहिंसा " वेदोंकी ही थी, तो भी बुद्ध भगवान् ने " अहिंसा परमो धर्मः " पर अत्यधिक बल देकर संसार का ध्यान अहिंसातत्त्व की ओर दिलाया।

जैसे " सत्य " का सिद्धान्त अनादि काल से चला आ रहा है, पर सत्य हरिश्चन्द्र के समय में उस सिद्धान्त को बल मिला और हरिश्चन्द्र के दृष्टान्त से संसार सजग हो उठा–

जैसे 'सत्य, अहिंसा, अपकारके बदले उपकार' ये सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन हैं, पर इस बीसवी शताब्दीमें महात्मा गान्धी के कारण चहुँ ओर इसी की चर्चा है–

जैसे " कर्मयोग " का सिद्धान्त नर-नारायण से चला था, फिर वह कई बार लुप्त हुआ और महात्माओं की कृपा से कई बार जग गया। कलियुग के प्रारम्भ में उसको फिर नवीन रूप में जगत् के सामने लाने का श्रेय भगवान् कृष्ण को है—

इसी प्रकार प्राचीन वेद- परम्परागत वेदोंकी दुन्दुभि बजाने का श्रेय स्वा० दयानन्द को देना पडेगा। स्वा० दयानन्द के कुल में भी स्व-वेद परम्परागत क्रम से सुरक्षित था। मेरा अपना विचार है कि, स्वा० दयानन्द उस परम्परागत क्रम से सामवेदी थे। आश्चर्य है कि, उन्होंने सबसे पहिले सामवेद परही भाष्य क्यों नहीं किया।

स्वा० दयानन्द अपने समय में अपना काम ऐसी ही अपूर्वतासे कर गये, जैसे बुद्ध के पश्चात् भगवान् शङ्कराचार्य वेदरक्षा का काम कर गये। केवल अन्तर इतनाही था कि, भगवान् शंकर के समय में हमारे देश में परचक्र नहीं था, स्वदेश में स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति का पोषक रक्षक स्वराज्य था। दयानन्द के समय विदेशी धर्म,

विदेशी राज्य, विदेशी सभ्यता संस्कृति का प्रवेश हो चुका था । स्वसंस्कृति-स्वधर्म के पोषक छोटे मोटे राज्य थे, पर ऐसा कोई चक्रवर्ती राज्य नहीं था, जो सर्वसामान्य वेद-धर्म की रक्षा करता ।

एक सहस्र वर्ष के अनवरत परचक्र, पराऽऽक्रमण के कारण भारतवर्ष दास्यपङ्क में निमग्न हो गया था, ऐसे समय में दयानन्द ने बडा भारी काम किया । भगवान् शंकर को जैसा जोडीदार राजा सुधन्वा मिला था, इसी प्रकार कोई स्वसंस्कृतिका पोषक राज्य अथवा राजा स्वामिजी को मिल जाता, तो वे और भी चमत्कार दिखला सकते ।

उनके पीछे उन के अनुयायियों ने स्वधर्म और स्व-संस्कृति के प्रचार, प्रसार तथा पुनरुद्धार का काम चलाया- अच्छा काम हुआ- ये अनुयायी संसार के वेगवाले प्रवाह को काटकर पार होने में बराबर प्रयत्न करते रहे । किंतु प्रवाह इतने अधिक वेग का था कि, फिर उसीमें बह गये । अब भी यत्न कर रहे हैं, पर बार बार प्रवाह में बह जाते हैं । आज फिर प्रश्न है, वही स्वाध्याय का । केवल स्व-अध्याय = स्व-वेदका नहीं, अपितु चारों वेदोंका प्रश्न है ।

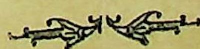
किसी न किसी रूप में आर्य जगत् के किसी न किसी कोने में स्वाध्याय का शब्द सुनाई पडता है, पर वह स्वाध्याय केवल साक्षर विद्वानों का है, न कि तपःपूत साक्षर विद्वानों का । आर्यलोग अपनी सन्तान को आंग्ल-शिक्षा-दीक्षा देने में ही संलग्न हो रहे हैं । गुरुकुलों में जो थोडे बहुत वेदशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वे भी संसार के प्रभाव से प्रभावित होकर स्वमार्ग को छोड रहे हैं । शास्त्र तो किसी प्रकार सुरक्षित रह रहे हैं, पर वेद सुरक्षित नहीं । जब वेद सुरक्षित नहीं, तब अरक्षित वेद हमारी रक्षा किस प्रकार करेंगे ।

" वेदो रक्षति रक्षितः "

आर्य जगत् में जो पंडितपरम्परा चली, उसने जैसा समय था, जैसी परिस्थिति थी, जैसी शक्ति थी, जैसी साधनसामग्री थी, जैसी विद्याबुद्धि थी, उन के अनुरूप वेद की ज्योति स्थिर रखने में महान् प्रयत्न किया । उन को तो एक हाथ से आर्यसमाज की रक्षा तथा दूसरे हाथ से स्वाध्याय-रक्षा का दुहेरी कार्य करना पडा, फिर भी उन्होंने अपना कर्तव्य भली भान्ति पालन किया, इस में सन्देह नहीं । पुरानी पीढी प्रायः समाप्त है । अब समस्त भार नई पीढी पर आ पडा है । यही देखना है कि, वह इस भार को किस प्रकार उठा सकती है । अबतक का अनुभव यह है कि, गुरुकुल में अध्ययन करनेवाले छात्रोंमें प्रतिशत $\frac{1}{2}$ ब्रह्मचारी एक वेद के कतिपय अंश पढने पाता है ।

शेष कुछ बीच में ही गुरुकुल छोड बैठते हैं, कुछ वहाँ के पाठ्य क्रम को समाप्त कर के स्नातक बन जाते हैं । इनको वेदविद् कहना उचित नहीं प्रतीत होता । हाँ, इनको ' अच्छे पंडित ' ' अमुक विषयके विद्वान् ' इत्यादि कह सकते हैं । फिर ये लोग जो कुछ भी पढकर निकलते हैं, उस की पूर्ण रूप से रक्षा नहीं कर सकते । गुरुकुल के वातावरण से निकलकर जब ये संसारी वातावरण में आ जाते हैं, घबरा जाते हैं । अपने आपको उसी में ढालने लगते हैं । कोई कोई देशकार्य में संलग्न हो जाते हैं, कोई धर्मप्रचारक बन जाते हैं, अधिकतर आयुर्वेदाचार्य अथवा प्राणाचार्य बनकर संसार की गति और धर्म का मेल कराने का यत्न करते रहते हैं । इन सब प्रयत्नों, उलझनों, संत्रासों में स्वाध्याय= स्ववेद का स्थापन कहाँ है, यही प्रश्न है ।

जबतक नई पीढी समस्त संसार की भावनाओं और वासनाओं छोडकर तपःपूर्वक वेदाध्ययन को ही अपना निष्कारण धर्म = फल की आशा छोडकर केवल कर्तव्य-बुद्धि से स्वाध्याय = स्ववेदपरिशीलन का पवित्र व्रत न लेगी, तबतक वेदरक्षा-वेदोपबृंहण की आशा नहीं, आर्य जगत् में तो आशा नहीं । क्या इस पवित्र व्रत को लेनेवाले आर्य जगत् में सौ पचास भी बुद्धिमान् नवयुवक न निकलेंगे ? मुझे तो ऐसा भान हो रहा है कि, जिनको हम ' सनातनी ' कह कर खिल्ली उडाते रहते हैं, उन्हीं की कुलपरम्परा में से ऐसे वेदरक्षक निकलेंगे और वे ही स्वामी दयानन्द के उद्देश्य को पूर्ण करेंगे । चाहे किसी प्रकार रक्षा हो, कहीं से भी हो, रक्षा होनी चाहिए । रक्षा होनी चाहिये देश की, रक्षा होनी चाहिए धर्म की, और सर्वोपरि रक्षा होनी चाहिए वेदोंकी । क्योंकि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । तथाऽस्तु एवमस्तु- ॐ शम् ।



माताजीसे वार्तालाप।

(१३)

(अनुवादक- श्री० मदनगोपाल गाडोदिया)

"सांप, बिच्छू जैसे कुछ जंतुओं से जो एक नैसर्गिक हटाव का भाव उत्पन्न होता है, उस का आधार क्या है?"

इस तरह के या किसी तरह के हटाव का होना कोई ऐसी बात नहीं है, जो अनिवार्य हो। बल्कि किसी प्रकार के हटाव का बिलकुल न होना, यह तो योग की प्रधान सिद्धियों में से एक है।

जिस हटाव की बात तुम कह रहे हो, वह भयके कारण होता है; यदि भय न हो, तो इस प्रकार के हटाव का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इस प्रकार के भय का आधार कोई तर्क नहीं होता; यह नैसर्गिक होता है; यह वैयक्तिक नहीं होता, बल्कि जातिगत होता है; यह एक आम सुझाव है और समग्र मानवजाति की चेतना में समाया हुआ है। कोई व्यक्ति जब मानवशरीर धारण करता है, तब उस के साथ साथ वह इस प्रकारके आम सुझावों, जातिगत विचारों, मानव-जातिकी अपनी भावनाओं, साहचर्यों, आकर्षणों, हटावों और भयों के एक समूह को भी स्वीकार करता है।

परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोणसे देखें, तो आकर्षण या हटाव के स्वभावमें कोई चीज सर्वथा व्यक्तिगत होती है। कारण ऐसी क्रियाएं प्रत्येक मनुष्य में एकसरीखी नहीं होतीं और ये बहुत कुछ निर्भर करती हैं विभिन्न मनुष्यों की प्राणमय सत्ताके कंपन के प्रकार-भेद पर। ऐसे लोग हैं जिन्हें सांप आदि जंतुओं से किसी प्रकार का हटाव नहीं होता। केवल इतनाही नहीं, बल्कि यहां तक होता है कि ये जंतु उन्हें अच्छे लगते हैं, उनमें इनके प्रति एक प्रकार का प्राणमय आकर्षण और पसंदगी होती है।

संसार ऐसी चीजों से भरा पडा है, जो सुखकर और सुंदर नहीं हैं। किंतु इस का यह अर्थ नहीं कि, मनुष्य इन चीजों से दिनरात घृणा करता रहे। घृणा और जुगुप्सा और भय के समस्त भावोंपर जो मन को क्षुब्ध और दुर्बल करते हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है। योगी को इन प्रतिक्रियाओंपर विजय प्राप्त करनी होगी; कारण योग-मार्गपर जहां तुमने पहला ही कदम रखा कि, उस की यह मांग होती है कि, तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं के सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना होगा। यही है योगी का पराक्रम। यदि तुम पूर्ण रूप से स्थिर और शांत होओ, तो तुम्हारे सामने आने पर खतरनाक और खूंखार पशु भी ठंडे पड जायंगे।

हटाव अज्ञानकी एक क्रिया है। यह आत्म-संरक्षण के लिये होनेवाली एक नैसर्गिक चेष्टा है। परन्तु जो चीज तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है, वह किसी खतरेसे विना कुछ सोचे विचारे दूर हट जाना नहीं, बल्कि वह है ज्ञान, इस बातका ज्ञान कि खतरा किस प्रकारका है और जिन साधनों से वह टल सकता था। निष्फल हो सकता है, उन साधनों का सचेतन उपयोग। ये क्रियाएं जिस अज्ञानमें से जन्म लेती हैं, वह अज्ञान एक साधारण मानव अवस्था है, किंतु इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; कारण हम असंस्कृत मानवप्रकृति से, जहां से हमारी बाह्य सत्ता का आरम्भ होता है और जो हमारे चारों ओर घिरी हुई है, बन्धे हुए नहीं हैं।

बढती हुई चेतनाद्वारा अज्ञान भगा दिया जाता है। जिस चीज की तुम्हें जरूरत है, वह है चेतना, सदैव अधिक और उससे अधिक चेतना, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मय चेतना। इस प्रकार की पूर्णता को प्राप्त हुई हुई चेतना के प्रकाश में चीजें अपने असली रूप में दिखायी देती हैं, न कि उस रूप में जैसा कि वे अपने को दिखाना चाहती हैं। यह प्रकाश एक चित्रपट की तरह होता है, जो उसके सामने से गुजरी हुई समस्त चीजों को हूबहू दिखा देता है। इस प्रकाश में तुम देख पाते हो कि कौनसी चीज

ज्योतिर्मय है और कौनसी अंधकारमय, कौनसी चीज ऋजु है और कौनसी वक्र। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पण की तरह काम करती है, पर यह तब होता है जब तुम निदिध्यासन की अवस्था में होते हो, केवल द्रष्टामात्र रहते हो और जब तुम सक्रिय होते हो, तब तो यह चेतना सर्चलाइट की तरह हो जाती है। यदि तुम्हें किसी स्थान की किसी चीज को साफ-साफ देखना हो और उसकी अंदरूनी जांच पडताल करनी हो, तो बस, तुम्हें केवल यही करना होगा कि अपनी इस सर्चलाइट को तुम उस चीज की ओर कर दो।

इस प्रकार की पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का उपाय यह है कि, तुम अपनी इस समय की चेतना को उसके वर्तमान घेरे और सीमासे बाहर निकालकर, विशाल बनाओ, उसे शिक्षित करो, उसे भागवत ज्योति की ओर खोलो और उसमें भागवत ज्योति को स्वतन्त्र और स्वच्छंद रूप से काम करने दो। परन्तु यह ज्योति अपना पूरा-पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है, जब कि तुम समस्त लालसाओं और भयसे मुक्त हो गये होओ, जब तुम्हारे अंदर कोई भी मानसिक पक्षपात हो ही नहीं, कोई प्राणमय पसंद होही नहीं, कोई भौतिक आशंका या आकर्षण होही नहीं, जो तुम्हें तमसाच्छन्न कर सके या बंधनमें डाल सके।

हटाव दुर्बलताकी एक क्रिया है। यह इसलिए होता है कि किसी वस्तुका तुमपर कभी असर हुआ है, उससे तुम को आघात पहुंचा है और तुम उस आघात पहुंचानेवाली वस्तुसे दूर हटना चाहते हो। यह हो सकता है कि किसी सत्ता या मनुष्य या पशु या तज्जनित प्रभावों का वातावरण तुम्हारे लिए हानिकर हो- यद्यपि सब लोग इस बातको इस रूपमें अनुभव न भी करते हो- और ज्यों ही वह वातावरण सीधे तुम्हें स्पर्श करे त्योंही तुम झझक जाओ। परन्तु यदि तुम पर्याप्त मात्रामें बलवान् होओ, तो तुम इस खतरेको जब वह तुमसे दूर हो, तभी रोक दोगे और उसको अपने पास तक पहुंचने न दोगे, या अपनेपर चोट न करने दोगे। कारण तुरंत तुमको यह ज्ञान हो जायगा और दिखायी दे जायगा कि वहां कोई हानिकर वस्तु है और तुम अपनी रक्षाके लिए एक बेडा बांध लोगे और यदि वह वस्तु तुम्हारे नजदीक आ भी जाय तो भी वह तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगी; उसकी उपस्थितिसे तुम अक्षत और अविचलित रहोगे।

" यदि भगवान् जो पूर्ण प्रेममय हैं, वे सृष्टिके मूल हैं, तो फिर पृथ्वी में ये सब जो बुराइयां भरी पडी हैं, वे कहां से आयी हैं ? "

सब कुछ भगवान्में से ही आया है; किन्तु उस एक चेतनाने, परमात्माने जगत्को सीधा अपने-आपमें से नहीं रचा है; एक शक्ति उसमें से निकली और वह अपने कार्य के अनेक क्रमविन्यास करती हुई नीचे उतरती चली गयी, तथा वह अनेक प्रभावोंके अन्दरसे गुजरी। अनेक सृष्टिकर्ता या आकारनिर्माता- यही उनका अधिक उपयुक्त नाम होगा- हैं, जिन्होंने सृष्टिकी रचनामें प्रमुखका काम किया है। ये मध्यवर्ती प्रतिनिधि हैं और मैं इन्हें सृष्टिकर्ता की अपेक्षा आकारनिर्माता कहना अधिक पसंद करती हूं; कारण इन्होंने जड तत्त्वको केवल आकार, प्रवृत्ति और स्वभाव ही दिया है। ये आकारनिर्माता अनेक हुए हैं और इनमेंसे कितनोंने सामंजस्यपूर्ण तथा कल्याणकारी वस्तुओंका निर्माण किया है, तो कितनोंने हानिकारक और बुरी वस्तुएं गढी हैं। और कुछ तो बनानेवालों की अपेक्षा विकृत करनेवाले ही हुए हैं, कारण उन्होंने जिस वस्तुको दूसरोंने अच्छे रूपमें आरंभ किया था, उसमें हस्तक्षेप किया और उसे बिगाड डाला है।

" क्या यह ठीक नहीं है कि, अनेकविध जगतों के समूह की जो यह सृष्टि है, उसमें अपना यह अन्नमय जगत् सबसे नीची श्रेणी का है ? "

हम लोग जिस जगत् में रहते हैं, वह अत्यंत स्थूल है। परन्तु चूंकि यह स्थूल है, इसलिए ही नीची श्रेणिका नहीं है; यदि यह नीची श्रेणिका है, तो वह इसलिए कि यह अज्ञानमय और अन्धकारमय है न कि इसलिए कि यह स्थूल है। जड तत्त्वको अज्ञान और अन्धकारका पर्यायवाची बना देना भूल है। इसके अतिरिक्त हम अकेले स्थूल भौतिक जगत् में ही तो नहीं रहते; यह तो उन अनेक जगतोंमें से जिनमें कि हमारा युगपत् निवास है, केवल एक जगत् है और यह एक तरहसे इन सब जगतोंमें सबसे अधिक प्रधान जगत् है। कारण जड तत्त्वका यह जगत् वह स्थान है, जहां बाकीके सब जगत् समाहृत होते हैं, यही वह क्षेत्र है, जहां सभी

जगतोंका पिंडीकरण होता है; यह वह स्थान है, जहां अभिव्यक्त होना है। वर्तमान में यह असामंजस्यपूर्ण और तमोगुण है सही; किंतु यह तो केवल एक दुर्घटना है, ऐसा समझो कि घुडदौड कि एक बाजीका 'फाल्स स्टार्ट' हो गया है। एक दिन आवेगा जब यह सुन्दर होगा, छन्दोमय होगा, ज्योतिसे भरपूर होगा, कारण यही वह पूर्णता होगी, जिसके लिए यह बनाया गया है।

(१४)

कला और योग।

" क्या योगी कलाकार हो सकता है ? अथवा क्या कोई कलाकार योगी हो सकता है ? कलाका योग से क्या सम्बन्ध है ? "

ये दो वस्तुएं अर्थात् कला और योग तुम जितना मानते दीखते हो उतने परस्परविरोधी नहीं हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है, जो योगीको कलाकार होनेसे अथवा कलाकार को योगी होने से रोके। परन्तु योग में प्रवेश करने के बाद वस्तुओं का जो तुम मूल्य आंकते हो, उसमें एक गंभीर परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन जैसा कि और चीजों के सम्बन्ध में होता है, वैसा ही कला के सम्बन्ध में भी होता है। अब तुम कलाको बिलकुल दूसरे ही दृष्टि-बिंदु से देखने लगते हो। अब कला तुम्हारे लिये एक-मात्र परम वस्तु नहीं रह जाती कि, तुम उसी में पूर्ण रूप से तन्मय हो जाओ, कोई ऐसी चीज नहीं रह जाती, जो जीवन का ही लक्ष्य हो। कला एक साधन है, साध्य नहीं, यह तो भावव्यंजना का एक साधनमात्र है और तब कलाकार ऐसा समझना छोड देता है कि, सारा संसार ही उस की कलाकृति को मुग्ध होकर देख रहा है अथवा यह कि, उस की रचना ही संसार की अबतक की रचनाओं में सब से अधिक महत्वपूर्ण है। अब उस के जीमें अपने व्यक्तित्वका कोई मूल्य नहीं रहता, वह तो प्रतिनिधि होता है, एक माध्यम होता है और उस की कला भगवान् के साथ उस के संबंधों की व्यंजना करने का एक साधन। और इसी प्रयोजन के लिये वह अपनी कला का उपयोग करता है, ठीक उसी तरह जैसे कि उसने अपनी प्रकृति की शक्तियों के अंगभूत अन्य किसी भी साधन का किया होता।

" परन्तु योगसाधन आरम्भ करने के बाद फिर भी क्या कलाकार को किसी रचना करने की प्रवृत्ति होती है ? "

उसे इस तरह की प्रवृत्ति क्यों नहीं होनी चाहिये ? वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की व्यंजना अपने कलारूपी साधन के द्वारा ठीक उसी प्रकार कर सकता है, जैसा कि वह और साधन के द्वारा करता। यदि तुम चाहते हो कि, कला सच्ची और उत्कृष्टतम प्रकार की हो, तो उसका रूप तो यही होना चाहिये कि, वह इस जड-प्राकृतिक जगत् में उतार लायी हुई किसी दिव्य जगत् की व्यंजना हो। सभी सच्चे कलाकारों को इस तरह का कुछ अनुभव होता है, इस तरह का कुछ भान होता है कि, वे किसी उच्चतर जगत् और इस भौतिक जगत् के बीच एक माध्यम हैं। यदि तुम इस दृष्टि से देखो, तो कला योग से बहुत भिन्न वस्तु नहीं है। परन्तु बहुधा कलाकार को इस प्रकार का एक अस्पष्ट अनुभव मात्र ही होता है, उसे इस बात का सचेतन ज्ञान नहीं होता।

तब भी, मैं कुछ कलाकारों को जानती थी, जिन्हें यह ज्ञान था, वे अपनी कला-रचना सचेतन होकर करते थे। वे यह जानते थे कि वे कौन हैं और यह कला-रचना वे क्यों कर रहे हैं। उन्होंने जो रचनाएं कीं, उस में अपने व्यक्तित्वको बहुत महत्व नहीं दिया, उसे जनता के आगे नहीं रखा। उन्होंने अपने कार्य को ऐसा समझा कि, यह उन की भगवान् को एक भेंट है और उन्होंने अपनी कलाद्वारा भगवान् के साथ अपने सम्बन्धको व्यक्त करनेकी चेष्टा की।

मध्यकालीन युग में यही कला का माना हुआ उद्देश्य था। " आदिकालीन " चित्रकारोंसे, मध्यकालीन युरोप के गिरजाघरों के निर्माताओं में कला के सम्बन्ध में यही भाव था और कुछ भी नहीं। भारतवर्ष की स्थापत्यकला, मूर्तिनिर्माणकला और चित्रकारी सब कुछ इसी मूल भाव से उत्पन्न हुई है और इन सब की प्रेरणा इसी आदर्श से हुई थी। मीराबाई के भजनों का, त्यागराज के संगीतका, भारत के भक्तों, संतों और ऋषियों के काव्य-साहित्यका स्थान संसार की सर्वोत्कृष्ट कला-संपत्ति में है।

" परंतु यदि कोई कलाका योगसाधन करता है, तो इससे उसकी रचनामें उन्नति होती है क्या ? "

कला की साधना के मूल में वही सिद्धांत है, जो योग-साधना में है। दोनों का उद्देश्य अधिकाधिक सचेतन होना है। दोनों में ही तुम्हें साधारण दृष्टि और अनुभव से परे की वस्तु को देखना और अनुभव करना सीखना पडता है, अंतः में प्रवेश करना और वहां जो गभीरतर वस्तुएं हैं, उन्हें बाहर ले आना सीखना पडता है। चित्रकारों को अपने नेत्रों की चेतना की वृद्धि के लिये एक साधना का अनुकरण करना पडता है, जो स्वयं प्रायः योग ही होती है।

जो सच्चे कलाकार होते हैं और जो बाह्य दृष्टि से परे की वस्तुओं को देखने का प्रयास करते, तथा अपनी कला का उपयोग आंतर जगत् की व्यंजना के लिये करते हैं, उन की चेतना इस एकाग्रताद्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है और यह चेतना योग के द्वारा जो चेतना मिलती है, उस से भिन्न नहीं होती। तो फिर यौगिक चेतना की कला-सम्बन्धी रचना में सहायरूप क्यों नहीं होना चाहिये? मैं कुछ ऐसे लोगों को जानती हूँ, जिनकी शिक्षा बहुत कम हुई थी और बहुत कुशल नहीं थे, किंतु फिर भी उन को योग के द्वारा लेखन-कला और चित्रकारी की अति सुन्दर योग्यता प्राप्त हुई थी।

मैं तुम को इस बात के दो उदाहरण दे सकती हूँ। इनमें एक तो एक युवती थी, जिसे किसी भी तरह की शिक्षा नहीं मिली थी। वह एक नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाचती थी। योग ले लेने के बाद वह केवल अपने मित्रों के आगे ही नाचती थी, किन्तु अब उस के नृत्यकी भाव-व्यंजना और सुन्दरता में एक ऐसी गहराई आ गयी, जो पहले नहीं थी और यद्यपि वह शिक्षित नहीं थी, फिर भी वह आश्चर्यजनक लेख लिखने लगी। इस का कारण यह था कि, उसे सूक्ष्म जगतों के दृश्यों का दर्शन होता था और उन का वर्णन वह अत्यन्त सुन्दर भाषा में करती थी।

परन्तु उस के योग में उतार-चढाव आता था और जब वह अच्छी अवस्था में होती तब तो सुंदर ढंगसे लिखती, अन्यथा वह सर्वथा मंद, मूर्ख और रचनाशक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा एक नौजवान था, जिसने कलाका अध्ययन किया था, किंतु बिलकुल थोडासा ही। वह किसी कूटनीतिज्ञका लडका था, उसे कूटनीतिक जीवनकी शिक्षा-दीक्षा दी गयी थी, किंतु उस का जीवन भोग-विलास में बीतने लगा और वह ऊंचे दर्जे की पढाई न कर सका। फिर भी ज्योंहि उसने योग करना आरम्भ किया त्योंही वह अंतःस्फुटित चित्रकारी करने लगा, जिसमें किसी आंतरिक ज्ञानकी अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक प्रकार की होती थी। अंत में वह एक महान् कलाकार हुआ।

"कलाकार प्रायः अनियमित आचरणवाले और चरित्रभ्रष्ट क्यों होते हैं ?"

जो ऐसे होते हैं, उनके ऐसे बन जाने का कारण यह है, कि वे साधारणतया प्राणमय भूमिका में रहते हैं और उनका प्राण-भाग उस जगत् की शक्तियोंके प्रति अत्यंत संवेदनक्षम होता है और यह उस जगत्के नाना प्रकारके प्रभावों और आवेगोंको ग्रहण करता रहता है और इस भागको वशमें रखनेकी उनमें शक्ति नहीं होती। और बहुधा यह भी होता है कि, उनके विचार अत्यंत स्वतंत्र होते हैं और साधारण मनुष्यका जीवन जिन तुच्छ सामाजिक रूढिओं और नैतिक प्रथाओंद्वारा नियंत्रित होता है, उसमें वे विश्वास नहीं करते। चालचलनसंबंधी प्रचलित नियमोंसे, तो वे अपनेको बंधा हुआ महसूस नहीं करते और इन नियमोंके स्थानपर आंतरिक नियमोंकी प्रतिष्ठा उनमें अभी तक हुई नहीं होती। चूंकि उनके अंदर वासनात्मा की गतियोंको रोकनेके लिये कोई भी चीज नहीं होती, इसलिये उनका जीवन आसानी से स्वच्छंद या असंयमित हो जाता है। परंतु सभी की यह हालत नहीं होती। मैं दस वर्ष तक कलाकारोंके बीच रही हूँ और अनेकोंको सोलह आने सद्गृहस्थ पाया; वे विवाहित थे और व्यवस्थित जीवन बिताते थे, सुपिता थे, सुपति थे, तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषयके जो नैतिक सिद्धांत हैं, उनका अपने जीवनमें अत्यंत कठोरतापूर्वक पालन करते थे।

एक कारण है जिससे योग कलाकारकी उत्पादक प्रेरणाको बंद कर सकता है। यदि उसकी कलाका मूल प्राणमय जगत् में हो, तो ज्यों ही वह योगी होगा, त्यों ही उसकी वह प्रेरणा चली जायगी, अथवा यों कहें कि, जिस मूलसे उसे प्रेरणा मिलती थी, वह अब उसे प्रेरित नहीं

करेगा, कारण तब प्राणमय जगत् अपने सच्चे स्वरूप में उसकी आंखोंके सामने आ जाता है, वह अपने सच्चे मूल्यको धारण कर लेता है, और यह मूल्य बहुत ही सापेक्षिक होता है। अपनेको कलाकार कहनेवाले अधिकांश व्यक्ति केवल प्राणमय जगत् से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं और इस प्रेरणामें कोई उच्च या महान् मर्म नहीं होता।

परंतु जब कोई सच्चा कलाकार, ऐसा कलाकार जो यह चाहता है कि, उसकी रचनाका मूल किसी उच्चतर जगत् में हो, योगकी ओर मुंह करता है, तो वह यह पावेगा कि उसकी प्रेरणा अधिक सीधी और शक्तिशाली हो गयी है, तथा उसकी भाव-व्यंजना अधिक स्पष्ट और अधिक गभीर। जिनके पास सच्चा कला-धन है, उनका यह धन योगकी शक्तिसे बढ जायगा, किंतु जिनमें कलाका मिथ्या दिखावा होगा, उनका वह दिखावा भी गायब हो जायगा, या उसका आकर्षण जाता रहेगा।

जिसमें योगकी सच्ची लगन होती है, उसकी सूक्ष्म दृष्टिके खुलते ही उस पर जो पहला असर पडता है, वह यह है कि वह जो कुछ करता है, वह विश्वव्यापी अभिव्यक्ति, विश्वव्यापी गतिकी तुलनामें अत्यंत सापेक्षिक होता है। परंतु कलाकार बहुधा वृथाभिमानी होते हैं और अपनेको एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, मानव जगत् में एक प्रकारका अर्धदेवता समझते हैं। बहुतसे कलाकार कहते हैं कि उनका जो यह विश्वास है कि वे कोई परम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, ऐसा यदि वे नहीं समझें, तो फिर वे कोई रचना कर ही न सकेंगे।

परन्तु मेरा कुछ ऐसे कलाकारोंसे परिचय रहा है, जिन्हें किसी उच्चतर जगत्से प्रेरणा मिलती थी और यह होते हुए भी उनका ऐसा विश्वास नहीं था कि वे जो कुछ करते हैं, वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तरहका भाव ही कलाके सच्चे भावके अधिक समीप है। यदि कोई मनुष्य कलाके अन्दर अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिए वास्तव में प्रेरित हुआ है, तो उसका अर्थ यह होता है कि भगवान् उसके अन्दर इस मार्गद्वारा प्रकट होना चाहते हैं और तब योगसे उसकी कलाको लाभ ही होगा, हानि नहीं। परन्तु यही तो सारा सवाल है- क्या कलाकारको भगवान् ने नियुक्त किया है अथवा वह अपने आपही नियुक्त हो गया है?

'परंतु यदि कोई योगसाधन करता है, तो क्या वह शेक्सपिअर या शेली जैसा उच्चकोटि का कलाकार हो सकता है? ऐसा कोई उदाहरण तो नहीं मिलता।'

क्यों नहीं? महाभारत और रामायण शेक्सपिअर या किसी भी कवि की काव्य-रचना से अवश्य ही हीन कोटि के नहीं हैं और इन के बारे में ऐसा कहा जाता है कि ये उन मनुष्योंकी कृति हैं, जो ऋषि थे तथा जिन्होंने यौगिक तपस्या की थी। गीता, जिसका स्थान उपनिषदोंकी ही तरह एकही साथ श्रेष्ठतम साहित्यिक और श्रेष्ठतम आध्यात्मिक पुस्तकोंमें है, किसी ऐसे व्यक्तिद्वारा नहीं लिखी गयी थी, जिसे योगका अनुभवही नहीं था। और भारतवर्ष या फारस या अन्य स्थानोंके सन्तों, सूफियों या भक्तोंकी रची हुई विख्यात कविताओंमें तुम्हारे मिल्टन और शेलीकी रचनाओंसे क्या कहीं कोई न्यूनता है? और फिर क्या तुम समस्त योगियोंको और उनकी कृतियोंको जानते हो?

क्या तुम यह कह सकते हो कि कौनसा कवि और रचयिता तो भगवान् के सचेतन संपर्क में था और कौन नहीं? कुछ लोग ऐसे हैं, जो योगीके नामसे विख्यात नहीं हैं, वे गुरु नहीं हैं, न उनके कोई चेले-चांटी हैं, वे क्या करते हैं, इसको संसार नहीं जानता, वे ख्याति के लिए लालायित नहीं हैं और मनुष्यों के ध्यानको अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। परन्तु उन में उच्चतर चेतना है, वे किसी भागवत शक्ति के संस्पर्श में हैं और ये लोग जब कोई रचना करते हैं, तो वहीं से करते हैं।

भारतवर्षकी सर्वोत्कृष्ट चित्रकारियों एवं सर्वोत्तम मूर्तियों और इमारतों के अधिकांश भागको बौद्ध भिक्षुओंने बनाया था, जिनका जीवन आध्यात्मिक मनन, निदिध्यासन और साधना में ही बीता। उन्होंने उत्कृष्टतम कला-रचनाएं कीं, किंतु भावी संततिके लिए अपना नाम छोड जानेकी परवाह नहीं की। योगी अपनी कलाद्वारा साधारणतया विख्यात क्यों नहीं हैं, इसका प्रधान कारण यह है कि, वे कला-व्यंजनाको अपने जीवनका प्रमुखतम भाग नहीं मानते और इसमें जो वे अपना इतना समय और शक्ति खर्च करते हैं, वह एक निरे कलाकारकी तरह नहीं करते। और

वे जो कुछ रचना करते हैं, वह सदा जनसाधारणतक पहुंचती भी नहीं। ऐसे अनेक हैं, जिन्होंने महान् कला-रचनाएं की, किंतु उन्हें संसारमें प्रकाशित नहीं किया?

'क्या योगियोंने शेक्सपिअरसे बढिया नाटक लिखे हैं?'

नाटक कलाका श्रेष्ठतम अंग नहीं है। एक लेखकने मुझसे एक दिन कहा कि नाटककी कला अन्य कलाओंसे ऊंचे दर्जेकी है और स्वयं कला तो जीवनसे भी अधिक महान् है। परन्तु यह बात ठीक ऐसी ही नहीं है। कलाकारका यह समझना, यह विश्वास करना भूल है कि कला-संबन्धी रचना कोई चीज है, जो स्वयं अपने आपसे स्थित है, अपने आपके लिए है और संसारके अन्य विभागों से स्वतन्त्र है। इन कलाकारोंने कलाको ऐसा समझा है मानो जीवनके विशाल क्षेत्रपर यह एक क्षणजीवी पदार्थ की तरह है, कोई ऐसी चीज है, जो नैमित्तिक और बाह्य है। कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके साथ जीवनकी घनिष्ठता हो।

इनके अनुसार कला गंभीर और स्थायी वस्तुसत्ताओं--तक नहीं पहुंचती, उनका स्पर्श नहीं करती, कला जीवन का कोई यथार्थ और अविभाज्य अंग नहीं बनती। सच्ची कलासे अभिप्रेत है, उस परम सुन्दरकी अभिव्यंजना, लेकिन यह व्यंजना होगी विश्वगतिके साथ अन्तरंग घनिष्ठता रखते हुए। संसारके बडेसे बडे राष्ट्रोंने और संसार की सर्वोच्च संस्कृत जातियोंने कला को सदा ही जीवनका एक भाग माना है और उन्होंने इसको जीवन की सेवा करनेके उपयोगी बनाया है।

जापानमें कलाका जो सर्वोत्कृष्ट काल था, उसमें कला ऐसी ही थी; कलाके इतिहासके जो सर्वोत्कृष्ट काल हैं, उन सबमें कलाका यही स्वरूप था। परन्तु अधिकांश कला--कार जीवनके प्रांत भागपर परिपुष्ट होनेवाले परोपजीवी जन्तुओंकी तरह होते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कला तो जीवनमें और जीवनके द्वारा भगवान् की अभि-व्यक्तिस्वरूप ही होनी चाहिए।

प्रत्येक वस्तुमें सर्वत्र, प्रत्येक संबन्धमें सत्यको ही उसके सर्वग्राही छन्दमें प्रकाशित करना चाहिए, तथा जीवनकी प्रत्येक गति, सौंदर्य और सामंजस्य की एक एक अभिव्यक्ति स्वरूप होनी चाहिए। कौशल कला नहीं है, प्रवीणता कला नहीं है। कला तो जीता--जागता सामंजस्य और सौंदर्य है, जिसे जीवनकी समस्त गतियोंमें अभिव्यक्त करना चाहिए। सौंदर्य और सामंजस्य की जो यह अभि-व्यक्ति है, वह पृथिवीपर भगवान्के साक्षात्कारका एक अंग ही है, उसका महत्तम अंग है, यहांतक कहना भी ठीक होगा।

कारण विज्ञानमय दृष्टिकोण से सौंदर्य और सामंजस्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी की भगवान् की अन्य कोई भी अभिव्यक्ति। परन्तु इनको अन्य अभिव्यक्तियोंसे अलग नहीं कर डालना चाहिए, अन्य समस्त संबंधोंसे जुदा करके नहीं देखना चाहिए, समग्रता में से बाहर नहीं निकाल लेना चाहिए; जीवनकी जो समग्ररूप अभिव्यक्ति है, उसके साथ इनको एक करके रखना चाहिए। लोगोंको यह कहने की आदत है कि, 'अरे, ये तो कलाकार हैं।' मानो कला-कार अन्य मनुष्यों के बीच एक मनुष्य नहीं है, बल्कि वह किसी दूसरे ही समाजसे संबन्ध रखनेवाला कोई असाधारण व्यक्ति है, तथा उसकी कला भी कोई असाधारण और निराली चीज है, जिसे संसार की साधारण वस्तुओंके जैसा नहीं समझा जाना चाहिए।

"कला कला के लिये" वाली कहावत भी इसी भूल को सत्य के नाम से सुझाने और समझाने की चेष्टा करती है। यह भूल वैसी ही है, जैसा कि लोग उस समय करते हैं, जब वे किसी मढी हुई तसबीर को अपने बैठकखाने के बीचोंबीच कमरे के अन्य सरो-सामान और दरो-दीवार के साथ उस का कुछ भी मेल न होते हुए रख देते हैं। यह तसबीर वहां केवल इसलिये रखी जाती है, क्योंकि वह एक 'कला-रचना' है।

सच्ची कला अखण्ड है और समग्रता से संबंध रखती है। वह एक है और जीवन के साथ गुंथी हुई है। प्राचीन यूनान और प्राचीन मिश्रमें इस प्रकार की घनिष्ठ अखण्डता का कुछ नमूना तुम्हें मिलता है; कारण उन के चित्र और मूर्तियाँ, तथा कलासम्बन्धी अन्यान्य सभी कुछ किसी भवनविशेष की स्थापत्य कलाविषयक योजना के अंग-भूत ही बनाया और सजाया गया है, वहां का प्रत्येक ब्यौरा इस अखण्डता का ही एक भाग है। जापानमें कला का यही स्वरूप है अथवा कमसे कम थोडे दिन पहले तक, जबतक कि उसपर उपयोगितावादी और व्यावहारिक

आधुनिकवाद का धावा नहीं हुआ था, तबतक था। जापानी मकान कला की इस अखण्डता का सुन्दर नमूना होता है।

उसमें सदा उचित वस्तु उचित स्थानपर होती है। ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो गलत तौरपर सजायी या रखी गयी हो, न कोई चीज बहुत अधिक होती है, न कोई बहुत कम। हर चीज ठीक उतनी ही होती है, जितनी कि आवश्यक हो और स्वयं वह मकान, तो इर्द-गिर्द की प्रकृति के साथ अद्भुत रूप से घुला-मिला हुआ होता है। यही बात भारतवर्ष की है। यहां भी चित्रकारी, मूर्तिनिर्माणकला और स्थापत्यकला एक सर्वांगसंपूर्ण सौंदर्य में गुंथी हुई थी, भगवान् की भक्ति की ओर इनका एक ही संगतिपूर्ण प्रवाह था।

इस के बाद संसार के अन्दर कला की इस दिशामें बडी भारी अधोगति हुई। कला की यह गिरती दशा विक्टोरिया युग और फ्रांस में उस के द्वितीय साम्राज्य के युग से आरम्भ हुई। तब से कमरों में ऐसे चित्रों को लटकाने की आदत पड गई है, जिनका आस-पास की चीजों के लिये कोई अर्थ नहीं होता; अब तो कोई भी चित्र, कलासम्बधी कोई भी चीज किसी भी जगह रख दी जा सकती है और इस से उस कमरे की समग्रता में कोई विशेष अन्तर आया हो, ऐसा नहीं समझा जाता। कलाका आजकल अर्थ हो गया है कौशल, चातुरी और प्रवीणता का प्रदर्शन करना; न कि, एक घरके अन्दर सामंजस्य और सौन्दर्य की किसी सर्वांगसंपूर्ण व्यंजनाको मूर्तिमान् करना।

परन्तु मध्यवर्ग की रुचि में लुढक जाने की इस अवस्था के विरुद्ध हाल में बगावत शुरु हो चुकी है। यह प्रतिक्रिया इतनी वेगवती हुई कि ऐसा दीखने लगा मानो लोग कला को उलटे मार्ग की ओर बहा ले जा रहे हैं और वह किसी निरर्थकता के दलदल में धंसी जा रही है। परन्तु धीरे धीरे इस विश्रृंखलाकी गहराई में से कोई चीज फूट निकली है, कोई ऐसी चीज फूट निकली है, जो अधिक युक्तिसंगत, तर्कपूर्ण और संहत है और जिसे एक बार फिरसे कलाका नाम दिया जा सकता है, जिसे कलाका जीर्णोद्धारित अथवा हम ऐसी आशा करें कि, पुनरुज्जीवित रूप कहा जा सकता है।

कलाको उसके तात्त्विक सत्यमें देखें, तो यह भागवत अभिव्यक्तिका, सौंदर्यका अंग है, उससे किसी तरह कम नहीं। इस दृष्टिसे देखनेपर सच्चे कलाकार संभवतः बहुत थोडेसे ही मिलेंगे; किंतु फिर भी कुछ लोग हैं और इनको मजेमें योगी कहा जा सकता है। कारण योगीकी तरह ही कलाकारको भी अपनी प्रेरणाकी प्रतीक्षा करने और उसको पाने के लिये हृदयकी गहराई में उतर कर चिंतन करना होता है। किसी वास्तविक सुंदर वस्तुकी रचना करनेके लिये पहले उसे उस वस्तुको अपने अंदर देखना पडता है, उस वस्तुको अपनी आंतरिक चेतना में एक अखंड वस्तु के रूपमें सिद्ध करना पडता है।

इस प्रकार उसे जब किसी वस्तुकी प्राप्ति, उसका दर्शन हो जाता है, वह वस्तु उसके हृदयमें अंकित हो जाती है, केवल तभी वह उस को बाहर प्रकट कर सकता है। वह अपनी रचना इस महत्तर आंतरिक दर्शन के अनुसार ही करता है। यह भी एक तरह की योग-साधना ही है, कारण इस के द्वारा उस का आंतरिक जगतों के साथ घनिष्ठ समागम होने लगता है। लियोनार्डो-दा-विंची जैसे मनुष्य योगी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे और यदि उन को सब से बडा चित्रकार न भी कहें, तो भी वे बडे-से-बडे चित्रकारों में से एक तो थे ही, हालांकि उन की कला केवल चित्रकारी में ही समाप्त नहीं हुई।

संगीत भी साररूप से आध्यात्मिक कला ही है और सदा ही इस का धार्मिक भाव और आंतरिक जीवन से साहचर्य रहा है। परन्तु यहां भी इस को भी हमने किसी स्वच्छन्द और स्वनिर्भर कला में, एक क्षणजीवी कला में परिणत कर दिया है। नाटक का संगीत इसी तरह का है। हमारे देखने और सुनने में आनेवाली अधिकांश कला-रचनाएं इसी कोटि की हैं और अधिकसे-अधिक हम उन में उस के पारिभाषिक दृष्टिकोण से ही रस ले सकते हैं। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि, नाटक के संगीत को भी उच्चतर कला-व्यंजना का माध्यम नहीं बनाया जा सकता; कारण आकार चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, लेकिन वह गभीरतर हेतु के लिये उपयोग में लाया जा सकता है।

सब कुछ स्वयं उस वस्तु पर, किस प्रकार उस का उप-

योग किया जाता है, इस पर और उस के पीछे क्या भाव है, इस पर निर्भर करता है। कोई भी चीज ऐसी नहीं, जो भगवान् के हेतु को सिद्ध करने के उपयोग में न लायी जा सके, ठीक उसी तरह जैसे कोई भी चीज यह बहाना भी कर सकती है कि, वह भगवान् के यहां से आयी है, फिर चाहे वह क्षणजीवी कोटि की ही हो।

आधुनिक काल के महान् संगीतज्ञों में ऐसे बहुतेरे हुए हैं, जिन की चेतना जब वे कोई कला-रचना करने बैठते थे, तब किसी उच्चतर चेतना के संस्पर्श में आ जाती थी। सीजर फ्रैंक (बेलजियमके एक प्रख्यात संगीतज्ञ) एक प्रेरित व्यक्ति की तरह आरगन बजाते थे, वे अन्तरात्मा के जीवन के प्रति खुले हुए थे और उन को इस बात का सचेतन ज्ञान था। तथा वे बहुत अंश तक इस जीवन को अपने वादनद्वारा अभिव्यक्त करते थे। बिथोवेन (बेलजियम के एक संगीतज्ञ) ने जब ५ वी सिम्फनी की रचना की थी, तब उन को किसी ऊर्ध्व लोक के ओर अपने उद्घाटन होने और इस पार्थिव भूमिकापर किसी उर्ध्व लोक के उतर आने का दर्शन हुआ था। वाग्नर (प्रख्यात जर्मन संगीतज्ञ) को सूक्ष्म लोकों से बलवान् और शक्तिशाली सूचनाएं मिलती थीं।

उन को सूक्ष्म गुह्य विद्या का सहज ज्ञान था और सूक्ष्म जगत् का उन्हें भान होता था, तथा इस के द्वारा ही उन को उन की महत्तम प्रेरणाएं प्राप्त हुई थीं। परन्तु उन की रचनाएं ज्यादातर प्राणमय भूमि का पर से ही होती थीं और उन का मन उन की प्रेरणाओं में लगातार हस्ताक्षेप करता रहता था, तथा उन को यांत्रिक कर डालता था। उन की रचना का अधिकांश भाग शक्तिशाली होते हुए भी बहुत अधिक मिलावटी, बहुधा अस्पष्ट और क्लिष्ट हुआ है। परन्तु जब कभी वे प्राणमय और मनोमय भूमिका का अतिक्रमण कर किसी उच्चतर लोक में पहुंच सके थे, तब उन को जो थोडी-सी झांकियां हुई थीं, उन में असाधारण सौंदर्य था। यह उन के ' पार्सिफाल ' नाटकके संगीत में, उन की ' ट्रीस्टन ' और ' इस्युल्टी ' नामी प्रेमकथाओं के संगीत के कुछ अंश में तथा ' लास्ट ग्रेट एक्ट ' के संगीत के अधिकांश भाग में अभिव्यक्त हुआ है।

नृत्यकला की आधुनिक संसार ने क्या दशा कर दी है, उसे भी जरा देखो, एक समय नृत्यकला की जो अवस्था थी, उस से इस की तुलना करो। एक ऐसा काल था, जब कि नृत्य आंतरिक जीवन की सर्वोच्च व्यंजनाओं में से एक था, इस का धर्म से सम्बन्ध था, यह धार्मिक पूजाओं को करने, उत्सवों को मनाने और भगवान् की भक्ति करने का एक मुख्य अंग था। कुछ देशों में यह सौंदर्य के बहुत ऊंचे स्थानपर पहुंचा और असाधारण पूर्णता को प्राप्त हुआ था।

जापान में लोगोंने नृत्य की परम्परा को धार्मिक जीवन का अंग बना कर रखा और चूंकि सौंदर्य और कला की ठीक-ठीक समझ जापानियों की नैसर्गिक संपत्ति है, इस लिये उन्होंने इस कला का किसी निम्नतर अर्थ में और मामूली उद्देश्य के लिये प्रयोग कर के इस की अधोगति नहीं होने दी। भारतवर्षने भी धार्मिक नृत्यों के ज्ञान को प्राप्त किया और इस कला की उन्नति की। यह सच है कि, हम लोगों के इस काल में प्राचीन यूनानी और अन्य नृत्यों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु इन समस्त पुनरुज्जीवनों में धार्मिक भाव का अभाव है और ये नृत्य की अपेक्षा छंदोबद्ध व्यायाम जैसे ही अधिक दिखायी देते हैं।

आज कल रूस के नृत्य प्रसिद्ध हैं, किन्तु ये प्राणमय जगत् की व्यंजना हैं, ये भयंकर रूप से प्राणमय हैं। प्राणमय जगत् से आनेवाली सभी चीजों की तरह ये नृत्य भी बहुत ही आकर्षक या बहुत ही घृणास्पद हो सकते हैं, किन्तु सदा ही ये अपने लिये ही होते हैं, न कि किसी उच्चतर जीवन की अभिव्यक्ति के लिये। रूसवालों का तो रहस्यवाद (mysticism) भी प्राणमय प्रकार का है। नृत्यकला के विशेषज्ञ की हैसियत से ये लोग अद्भुत होते हैं, किन्तु विशेषता तो केवल यंत्र है। यदि तुम्हारा यंत्र बढिया है, तो यह अधिक अच्छी बात है, किन्तु जबतक इस को भगवान् के अर्पण नहीं कर दिया जाता, तबतक यह चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पर रहता है उच्चतम से शून्य ही और किसी दिव्य उद्देश्य के लिये यह उपयोगी नहीं हो सकता।

कठिनाई यह है कि, जो लोग कलाकार होते हैं, उन में से अधिकांश व्यक्तियों का यह विश्वास होता है कि, वे

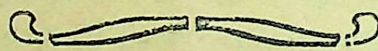
अपने ही पैरोंपर खडे हुए हैं और उन्हें भगवान् की ओर अभिमुख होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह बडे दुःखकी बात है, कारण भागवत अभिव्यक्तिमें कौशल उतना उपयोगी तत्त्व है, जितनी कि और कोई भी वस्तु। कौशल तो भागवत रचना का एक भाग ही है, उसे यह सीख लेना चाहिये कि, महत्तर वस्तुओं के आगे वह अपने को कैसे झुकाये रहे।

मनके बहुत दूर ऊपर एक लोक है, जिसे हम सामंजस्यका लोक कह सकते हैं और यदि तुम वहां पहुंच सको तो आजतक जितना भी सामंजस्य किसी भी रूपमें पृथिवी पर प्रकट हुआ है, उसका मूल तुमको वहां मिलेगा। उदाहरणके लिये बाककी गतों और बिथोवनकी गतोंको ले लो। ये दो संगीतज्ञ इस जगत्में आगे पीछे आये और इन्होंने जो कुछ रचनाएं कीं, उनके पीछे संगीतकी एक ही धारा, जिसमें कि कतिपय सर्वोत्तम स्वरोंका प्रयोग हुआ है, पायी जाती है। इन दोनों गुणियोंकी स्वरलिपि एक नहीं है, और इनकी गतें बाहरी कानोंको भी अलग-अलग सुन पडती हैं, किंतु साररूप से ये हैं एक ही। चेतना के बिलकुल एक ही प्रकारके कंपनने, अर्थपूर्ण सामंजस्यकी एक ही लहरने इन दोनों कलाकारोंको स्पर्श किया था।

इस कंपन और लहरको बिथोवन बाककी अपेक्षा कुछ अधिक पकड सके थे, किंतु उन के अंदर ये उन के अपने मनकी कल्पनाओं और क्षेपकों द्वारा अधिक मिश्रित हुए; बाक कुछ कम पकड सके, किंतु जो कुछ भी उनकी पकड में आया, उसको उन्होंने अधिक शुद्ध रखा। जिस कंपनको इन लोगोंने ग्रहण किया, वह चेतनाके विजयात्मक निष्क्रमणका कंपन था, चेतना अचेतनाके गर्भको फाडकर विजयात्मक रूपसे ऊपर उठ रही थी, जन्म ले रही थी।

योगके द्वारा यदि तुम उस लोकमें, जहांसे सभी कलाएं जन्म लेती हैं, पहुंच सको तो तुम सभी कलाओंके स्वामी बन सकते हो, यदि तुम वैसी इच्छा करो। पहले जो लोग वहां गये होंगे, उन्होंने वहां जो कुछ दिव्य सौंदर्य और दिव्य आनंद है, उसको वहीं रहकर भोगना संभवतः अधिक सुखकर, अधिक प्रिय अथवा एक आनंदमय चैनसे भरा हुआ पाया हो और उन्होंने वहांकी वस्तुको यहां प्रकट करने, इस पार्थिव भूमिका पर मूर्तिमान् करने की परवाह न की हो। परन्तु यह उदासीनता ही समस्त सत्य नहीं है, न यह योगका ही वास्तविक सत्य है; यह तो संन्यास के अधिक नकारात्मक भावसे पैदा हुई हुई योगकी गतिशील स्वतंत्रताकी विकृति है, उसका ह्रास है।

भगवान्का संकल्प प्रकट होनेका है, न कि सर्वथा अक्रियता और पूर्ण निश्चल-नीरवतामें एकांतवास करनेका। यदि भागवत चेतना वास्तवमें कोई ऐसी चीज होती, जो अप्रकट रहनेवाले आनंदकी अक्रियता ही हो, तब तो किसी प्रकारकी कोई सृष्टि ही न हुई होती।



गायत्री ।

(लेखक- प्रो० रुलियाराम कश्यप, ऐम्. ऐस्सी. लाहौर ।)

ओ३म् ॥ १ ॥

(वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्लयजुः संहिता अध्याय २, मन्त्र १३ अ० ४०, मन्त्र १५ तथा १७ ।)

जो सब स्थान पर है, था, और सदा रहेगा, वही सर्वव्यापक भगवान् ओ३म् है । उन्ही सर्वव्यापिनी शक्तियों का नाम आपः है ।

ओ३म् पिता है विश्वका, आपः उसी विश्व की माता है।

आप्लृ धातु से पुल्लिंग में ओ३म् शब्द की सिद्धि उपनिषद् तथा ब्राह्मण करते हैं । स्त्रीलिंग में आप्लृ से आपः की सिद्धि वैय्याकरण करते हैं ।

ओ३म् को सर्वव्यापक, आकाशवत् सर्वत्र वर्तमान सिद्ध करने के लिये वेद कहता है ।

खम् ॥ २ ॥

(वा० मा० शु० यजुः अध्याय ४० मंत्र १७ ॥)

ओ३म् खम् है । जैसे आकाश (Ether) तथा अवकाश (Space) सर्वत्र हैं, कोई स्थान उनसे रिक्त नहीं है, ठीक उसी प्रकार परम पुरुष भगवान् परमात्मदेव ओ३म्-कार सर्वत्र ही व्याप रहे हैं, अतः वह ओ३म् खम् है ।

ओ३म् को खम्, आकाश कहने का तात्पर्य यह भी है कि, जैसे पञ्चभूतों का मूल कारण सर्वव्यापक आकाश है, जिसे भूत-माता कहा जा सकता है, ऐसे ही सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण सर्वव्यापक आपः ओ३म् ही है, जिसे विश्व-माता, जगज्जननी कहते हैं ।

ओ३म् को विश्व का पिता दिखलाने के लिये वेद कहता है—

ब्रह्म ॥ ३ ॥

(वा० मा० शु० यजुः अ० ४०, मं० १७ ।)

ओ३म् ब्रह्म है । जैसे ब्रह्मा देवों का पिता है, वैसे ब्रह्म समस्त विश्व का ही आदिपिता है, यही ओ३म्कार भगवान् सभी को उत्पन्न भी करता है, तथा फिर उन का पालनपोषण भी करता है, अर्थात् उन्हें बनाता भी है, तथा उन को धारण भी करता है, उन का भरण भी करता है । सारे विश्व का पिता है, तो सब से बडा भी है । इन सब कारणों से भगवान् ओ३म् ब्रह्म कहलाता है ।

अतः ओ३म् खम् आपः माता हैं ।

ओ३म् खम् ब्रह्म पिता हैं ।

सांसारिक पिताओं के सम्बन्ध में जनता उन के जनक भाव को गौण समझ, उन के पोषक भाव को प्रबल मान, भगवान् को भी वह मुख्यतः पोषक, रक्षक ही मानने लग गयी, इस कारण वैय्याकरण विश्वपिता को भी अब रक्षणे धातु से सिद्ध ओ३म् नामवाला विश्वरक्षक पिता ही मानने लगे, अतः ओ३म् की सिद्धि अव् से है, यही मत प्रचलित हो गया ।

वास्तव में ओ३म् पहिले आपः खम् है । सर्वव्यापक है पीछे अविता रक्षक ब्रह्म हैं ।

माता पहिले है, पिता पीछे ॥

इसी भगवान् ओ३म् का स्मरण करना चाहिये । वेद कहता है—

ओ३म् क्रतो स्मर ॥ ४ ॥ (यजु० ४०।१५)

हे कर्मशील ! भगवान् ओ३म् का स्मरण कर, उस का ओ३म् नाम जप और उस के सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, जगत्पिता, जगज्जननी, रूपों को अनुभव कर । भक्तिभाव से उस ओ३म् आपः जननी, ओ३म् ब्रह्मपिता को सदा आदर तथा प्रेम से चित्त में बसा ॥

इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये वैदिक ऋषि भगवान् से इस विध प्रार्थना करता है कि—

ओ३म् प्रतिष्ठ ॥ ५ ॥ (यजु० २।१३)

हे भगवान् ओ३म्कार ! मेरे हृदयमन्दिर में, मेरी चित्तवेदी पर, मेरी आत्माके सिंहासन पर आप विराजिये । मैं आप को पूरे मान, प्रतिष्ठा के साथ वहां बिठलाता हूं, आप वहां चिरनिवासार्थ प्रतिष्ठित हूजिये । भगवन् ! आप उसे कभी भी न छोडिये, चाहे मैं अज्ञान, दुर्बलता, आलस्य प्रमाद आदि के वश हुआ, कभी आप की अवहेलना भी

कर बैठूं, परन्तु आप इस अपने अबोध बालक के समस्त अपराध क्षमाही करते हुए उस प्रतिष्ठित स्थान को न छोडिये, कारण कि आप की दया अनन्त है, मेरे अपराध सान्त हैं।

ओ३म् को इस प्रकार हृत्सिंहासन पर प्रतिष्ठापन करने का परिणाम होता है मनुष्य में शक्तिसंचार । इसी कारण वेद कहता है-

क्लिबे स्मर ॥६॥ (यजु० ४०।१५)

शक्ति (प्राप्ति) के लिये ओ३म् को स्मरण कर । अर्थात् जब दृढ निश्चय इस तथ्य पर हो जायगा कि, वह सर्वव्यापक, सज्जनरक्षक, विश्वपिता, जगज्जननी सदैव सर्वत्र मेरी रक्षा कर रही है, फिर दुर्बलता मनुष्य को अवश्य त्याग देती है। मरणासन्न भी पुरुष ओ३म् स्मरण से सशक्त हो जाता है। मृत्युभय भी ओ३म् भावनावान् को छोड भागता है, तो जीवित जाग्रत पुरुष तो चाहे कितना भी दुर्बल व्याधिग्रस्त क्यों न हो, अवश्य सशक्त हो ही जायगा, यदि वह हृदय से ओ३म् की भावना श्रद्धा से करे।

ओ३म् का जप तथा ओ३म् भावना शक्ति को क्यों उपजाते हैं, इस का सरल उत्तर वेद यूं देता है-

विश्वे देवास इह मादयन्ताम् ओ३म् प्रतिष्ठ। ॥७॥ (यजु० २।१३)

समस्त दिव्य शक्तियां, भाव, गुण, कर्म, व्यक्तियां, जातियां, विश्वेदेवास: यहीं पर आनन्द मनावें, इस कारण उन सब की जान, उन सब के प्राण, उन सब की जननी, भगवती ओ३म्कारमयी आपः देवीः, माता अदितिः को प्रतिष्ठापूर्वक आदर मानपूर्वक श्रद्धा, प्रेम, भक्ति से सर्वप्रथम अपने हृत्कमलरूपसिंहासन पर ब्रह्मा बनाकर बिठलाना चाहिये, ताकि समस्त यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हों। यह दीर्घायुष्यरूपी शतवर्षीय सहस्रवर्षीय वा सत्र सुखपूर्वक, आनन्दपूर्वक पूरा उतारा जा सके। कोई त्रुटि इस में न रहने पावे।

जो भक्त भगवान् ओ३म्कार को इस विध प्रतिष्ठा देता है, उस के लिये भगवान् तुरन्त असत् रूप से अव्यक्त भाव को उल्लांघ कर सत् रूप व्यक्त भाव धारण कर लेता है। भक्त तुरन्त कह उठता है, 'भगवान् अवश्य हैं। जो कहते हैं नहीं है, वे स्वयम् नहीं हैं। भगवान् तो अवश्य हैं ही।'

ऐसे भक्त के लिये भगवान् ओ३म् "प्रादुर्भवति" अर्थात् प्रसिद्ध सुप्रकट हो जाता है। बस "भवतीति भूः" भगवान् उसके लिये भूः हो जाता है। "ओ३म् भूः सत्" भगवान् ओ३म् है, प्रकट है, सर्वतो सिद्ध है।

पर है वह सर्वव्यापक, रक्षक, जननी, पिता दोनों। अतः वह अतीव विस्तृत सर्वोच्च परम प्राप्तव्य है, अर्थात् वह उत् (ऊंचा) तान (विस्तृत) पद (प्रापणीय) ऐसा उत्तानपद प्रभु है, इसी कारण वेद कहता है कि-

भूर्जज्ञ उत्तानपदो ... ... ॥ ४ ॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
... ... तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥
... ... देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥२॥
॥८॥ (ऋग्वेद मं० १०, सू० ७२ मं० २, ३, ४)

जब ओ३म् को कोई भक्त निज हृदय में प्रतिष्ठापन करता है, तब असत् अव्यक्त भगवान्, व्यक्त, सत्, भूः उत्तानपद रूप धर लेता है। जैसे साधारण बालबुद्धि जन भगवान् को कभी मानते, कभी न मानते हुए, इस को न के बराबर-सा समझते हुए, उसकी परवाह न करते हुए धोखा खाते हैं, इस की अनन्त सामर्थ्य से जुड कर लाभ नहीं उठा सकते, वैसे इस भक्त की दशा नहीं होती। वह तो भगवान् को स्थापन कर चुका, उसको नेस्ति तो वह अब कभी स्वप्न में भी कह नहीं सकता, उस के लिये तो प्रभु सदा सर्वत्र है ही। पिता, माता उसे ही वह समझता है, अतः उसके लिये तो परम प्राप्तव्य वही है, सर्वोच्च पदवी जहां उसने पहुंचना है, वही भगवान् है और वह अवश्य है, सामने प्रत्यक्ष बैठा दिखाई देता है। उसके हृदय में हो रही ओ३म् ओ३म् उसी की स्नेहमयी आवाज है, वह भगवान् सदैव उसे अपनी ओर अपनी इस मधुरतमा वाणी ओ३म् के द्वारा बुला रहा है, वह उधर न जाय, ऐसा हतभाग्य वह अपने को नहीं समझता। पिता माताकी ओर न जाय, तो कुएं में जाय अथवा गढे में डूब मरे? हां, यदि उसके पिता माता न होते तो स्यात् वह अनाथ की न्यायीं भटकता मारा मारा फिरता, उसके तो मातापिता दोनों ही स्वयं भगवान् ओ३म् ही एक हैं, जो उसके हृत्कमलस्थ सिंहासन पर सदा विराजमान हैं।

यह भूः सत् उत्तानपद ओ३म् तो पिता है, परन्तु यही

अदिति देवीः आपः माता भी स्वयं ओम् ही हैं। देखिये वेद क्या कहता है-

॥९॥ ... तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥३॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥४॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥५॥

यह सारा वर्णन भूः उत्तानपद पिता को ही अदितिः देवमाता सिद्ध करता है। अखण्ड सत्ता ओ३म् ही अदितिः देवमाता, ब्रह्मस्वयम्भूः देवपिता हैं, यह व्यक्त भगवान् हैं। विश्वेदेवाः की उत्पत्ति इन्हीं दिव्य मातापिता से है, अतः प्रथम पूर्व देवयुग ऊपर उसी समय को कहा है, जब असत्, अव्यक्त अक्षर, व्यक्त, सत्, भूः, अदिति, बनकर सुप्रसिद्ध हो बैठता है। यही वास्तव कारण है। विश्वेदेवा के उस समय आनन्द मनाने का जिस समय ओ३म् को प्रतिष्ठित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पिता के राज्य पाने पर उसके पुत्रोंके आनन्दकी सीमा नहीं रहती।

पितामाता तो सत् भूः अदिति हैं। उनके दिव्य पुत्र कौनसे हैं? विश्वेदेवा वास्तव में कौन हैं। उनमें से सबसे पहिला दक्ष है, यह अदिति का ज्येष्ठ पुत्र है। सात और देव अदिति से उत्पन्न होते हैं। इन सभी का सांझा नाम भुवः है, कारण कि यह भूः से उत्पन्न हुए हैं। आशाएं भी इन्हें कहा जाता है। ये ही आठ स्थूल रूप (Gross forms of matter) प्रकृति के विकार कहलाते हैं, इन्हीं का ज्ञान अष्टविधविज्ञान (Eight-fold science) कहलायेगा। अतः जब एक ही नाम से इस भूः से अगली अवस्था का स्मरण करना होगा, तो उसको चित् अवस्था, शक्ति, (Energy), तैजस् अवस्था आदि नाम मिलेंगे।

जो भक्त ओ३म् को प्रतिष्ठा देकर उस को भूः सत् अदिति ब्रह्म बनाता है, उसके लिये वह भगवान् स्वयमेव भुवः चित् दक्ष बनकर, सातों देव का रूप धारकर, समस्त उसकी क्रियाओं की सिद्धिनिमित्त, स्वयमेव ज्ञान तथा शक्ति का, उसके अर्थ, अटूट भण्डार बन जाता है।

यह अर्थ है भगवान् ओ३म् के हमारे हृदय में प्रतिष्ठित होने पर विश्वेदेवाः के आनन्दित होने का।

परिणाम इसका होता है, हमारे जीवनयज्ञ की त्रुटियों की पूर्ति। वेद कहता है कि-

॥१०॥ मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं दधात्वरिष्टं सम्मिमं दधातु। विश्वे देवासऽइह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥

(यजु० २।१३)

ओ३म्! प्रतिष्ठित हूजिये कि विश्वेदेवा यहीं पर आनन्दित हो विराजें। इस यज्ञ की त्रुटि पूर्ण हो जावे। (यज्ञ टूटा न रहकर जुड जावे) बडों के भी रक्षक बृहस्पति ओमकार आप ही इस यज्ञ को धारें इसका भरण करें। आप की सेवानिमित्त मैं घृत आप के अर्पण करता हूं। आप इसका भोग लगायें। हे ज्ञान तथा शक्ति के स्रोत् भगवान् मन ओम्कार! वास्तविक् वेग तो आप ही हैं।

इस मन्त्र में ओ३म् प्रतिष्ठ तो अव्यक्त ओ३म् को सत भूः बनाता है। विश्वेदेवास इह मादयन्ताम् उसे चित् भुवः बनाता है, इन देवों की तृप्तिनिमित्त भक्त को घृत, आज्य, का सेवन करना होता है, जिससे मन वेगवान् बन जाता है। भक्त उत्तम विचारवान् बनकर, क्रियाकुशल होकर, उसकी ज्ञान, कर्म, शक्तियां सार्थक हो जाती हैं, जीवनसत्र का वह यजमान सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

वह आनन्द में भर जाता है, उसका उन्नति सूर्य-उदय हो जाता है। Constructive, synthetic, निर्माणपरक भाव तथा शक्तियां उसमें प्रबल हो जाती हैं, वह बहुत बडा हो जाता है, उसको सभी नमस्कार करते हैं कि-

॥११॥ स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व० १०।८।१)

आनन्द ही केवल जिसका स्वरूप है, उसी बडों से भी बडे को नमस्कार होवे।

भुवः से स्वः, उन्नति सूर्य का, ज्ञान तथा शक्ति के आधीन, उदय होना वेद में इसविध वर्णित है कि-

॥१२॥ मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्।

(ऋग्० १०।८८।६)

शक्तिः ज्ञान अग्निः ओ३म् ही भुवः है। यही सब का शिरोमणि मस्तिष्क, शिर है। रात्रि के अन्धकार में तथा प्रलयकाल में तो सब कार्य यही सम्पादन करता है, ऐसे ही जब

मनुष्य स्वप्न अथवा समाधि में व्यवहार करता है, तब भी इसी के द्वारा ही सब विचार तथा क्रियायें व्यवहार चलाती हैं। परन्तु जब यह ज्ञान तथा कर्म की शक्ति स्थूल रूप धारती है केन्द्रित होकर, तब सूर्य कहलाती है। प्रलय तब सृष्टि में परिणत हो जाती है, रात्रि-दिन में, स्वप्न, जाग्रत तथा तुर्या में और समाधि अथवा विदेहमुक्ति, कर्मसंन्यास-योग अथवा जीवन्मुक्ति में। सुज्ञ भक्त विश्वप्रसिद्ध महात्मा बन बैठता है। जिसको लोक निकम्मा, आलसी, पागल समझते थे, उसे Saviour, Prophet, Leader नेता, महर्षि, पैगम्बर, अवतारी पुरुष मानकर पूजते हैं।

इस प्रकार भुवः अग्निः ओ३म् से स्वः सूर्य ओ३म् सुप्रसिद्ध हो उठता है, तभी वेद कहता है कि-

॥११॥ **हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खंम ब्रह्म। (यजु० ४०।१७)**

तेजोमय गोलकरूपी ढक्कन, जिसे हम सूर्य समझते हैं, से उस नित्य भूः सत् से उत्पन्न भुवः सत्य ज्ञानशक्ति-समूह का चेहरा ढका हुआ है, परन्तु उस भुवः मूर्धा अग्निः रूप आदित्य, अदितिनन्दन, सत्पुत्र के भी अन्दर, उसको भी अन्दर से पूर्ण कर रहा, जो सत् भूः पुरुष है। मैं तो वास्तव में वही ओ३म्कार सर्वव्यापक आकाशवत् सर्वत्रस्थ जगत्पिता, जनिता धर्ता हूं।

अर्थात् आत्मतत्त्व इस भौतिक स्वः सूर्य के अन्तर्गत, भुवः मूर्धा अग्निः आदित्य के भी भीतर, सूर्य तथा मनुष्य-देह दोनों से एकसा ही सम्बद्ध, अहम् पुरुष, खम् ब्रह्म, भगवान् ओ३म्कार स्वयम् ही है।

इस सत्य के रहते हुए मनुष्यों के लिये उचित यही है कि, वह समस्त समय इस ज्ञान के आधार पर कर्म करने में ही बितायें, इस के लिये आवश्यकता है। स्वच्छ बुद्धि की अतः गायत्री मंत्रद्वारा इसी के लिये प्रार्थना की जाती है, वह गायत्री प्रार्थना करती है कि—

॥१२॥ **धियो यो नः प्रचोदयात्** ॥

जो हमारी बुद्धियों को प्रकृष्ट ज्ञान, कर्म, भक्ति, उपासना की ओर प्रवृत्त करे। ऋत सत्य के फुरने जो हमारी बुद्धियों में खूब उठावे, तथा उन के अनुकूल आचरण में जो हमें पकड कर जबरदस्ती लगा देवे।

॥१३॥ **तत्...वरेण्यम्भर्गो धीमहि...** ॥

उस स्वीकरणीय तेज, अग्निः, भुवः, मूर्धा, का हम ध्यान धरते हैं, उस के भी अन्तर्गत् जो भूः सत् है, उस का भी हम आवाहन करते हैं, जो उस का भी मूल ओ३म् आत्मपुरुष है, उस को भी हम अधिकाधिक प्रतिष्ठित् करते हैं, तभी जाकर कहीं हमारी बुद्धि सन्मार्ग प्रवृत्त हो सकेगी।

वह 'वरेण्यम् भर्ग' स्थूल रूप में सृष्टि का कौनसा पदार्थ है? वेद कहता है कि—

॥१४॥ **... सवितुः... देवस्य ...** ॥

उस सवितादेव सूर्य का वह तेज भर्ग है, अर्थात् जो प्रकाशपुञ्ज गोलक इतना चमक रहा है, तथा समस्त पृथिवी आदि लोगों का तथा तत्स्थ स्थावरजंगम प्रजा का उत्पादक है, वही सवितादेव सूर्य उस अग्निः भुवः वरेण्यम्भर्ग का केन्द्रित स्थूल रूप है। देहीमात्र में जीवन-शक्ति-संचार वहीं से हो रहा है। अतः प्राणिमात्र के आनन्द का स्रोत वही है।

अतः मनुष्यों को उचित है कि, वह उस स्वःसूर्य के पीछे जो भुवः अग्निः है, सवितादेव के पीछे जो वरेण्यम्भर्ग है, उस ज्ञानशक्तिरूप ओ३म् को अपने में धारण करें, तब उन का अतःकरण जो इस देह को कर्मों में प्रवृत्त करता है, वह मन, बुद्धि, चित्ताहंकार ही भगवद्-ज्ञान तथा शक्ति से सुपथप्रवृत्त हो जायगा और देह को भी सुपथप्रवृत्त ही रक्खेगा।

परन्तु ऐसा कब सम्भव होगा, जब ओ३म् भूर्भुवस्स्वः की उपरोक्त महिमा समझ में आ जावेगी, इसलिये यजु० ३६।३ गायत्री के पूर्व इन को लगाता है। अतः ओ३म् को अपने में स्थापित करो, उसे भूर्भुवस्स्वः सच्चिदानन्द अनुभव करो, तो सवितादेव का वरेण्य भर्ग आप की बुद्धि को सुमति बना देगा।

सुमति पाकर आप यह जान पावेंगे कि—

॥१५॥ **वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर, कृतं स्मर ॥** (यजु० ४०।१५)

वास्तव में प्राणायामबल अन्त में इस अमर आत्मा को वायुवत् अदृश्य, अमर परमात्मा में पहुंचा देगा। तद्-

पश्चात् यह अन्न का बना शरीर (मृत देह, शव) भस्म किया जाकर, अन्त हो जायगा। (अदृश्य तत्वों में विभक्त हो दृष्टिपथ से लोप हो जायगा)।

अतः कर्तव्य मनुष्य का यही है कि, वह अपने पूर्व कृतकर्मों को स्मरण कर उन के प्रभाव से अप्रभावित होने के लिये अब प्रबलतम सत्कर्म प्रणव, जाप तथा भावना को करे कि, सब दुर्बलता दूर होकर वह सशक्त हो, अपने अंतिम कर्तव्य प्राणायामसमाधिद्वारा आत्मा को इस देह से निकाल अमर वायु परमात्मा में पहुंचा कर आनन्द में मुक्त कर सके।

॥१६॥ ओ३म्॥ भूर्भुवस्स्वः ॥ यजु० ३६।३ ॥
(यजु० ३।५॥ ३।३७॥७।२९॥८।५३॥२३।८॥)

के ही ध्यानधारण से, इसी में समाधिस्थ होने से उपरोक्त सभी क्रियायें सम्भव हो सकती हैं, इसी कारण यजुर्वेद के कई मंत्र इन्हीं से आरम्भ होते हैं, तथा किसी किसी मन्त्र के बीच में भी इन का प्रयोग हुआ है।

वैसे तो अकेला ओ३म् यजु० २।१३॥४०।१५॥४०।१७॥ में ही आया है। अकेला भूर्भुवस्स्वः यजु० ३६।३। ३।५॥३।३७॥७।२९॥८।५३॥ तथा २३।८॥ में और अकेली गायत्री यजु० ३६।३॥ २२।९॥ ३०।२॥३।३५॥ ऋग्० ३। ६२।१०॥ साम० उत्तर अध्या० १३ (६.३.१०) गीति १० में; परन्तु भूर्भुवस्स्वः युक्ता गायत्री केवल यजु० ३६। ३॥ ही है। ओ३म् उस के पूर्व यजु० ४०।१७॥ से लगा कर प्रणव महाव्याहृतियुक्ता सर्वाङ्गपूर्ण गायत्री बनती है, जिस की व्याख्या ऊपर की गई है।

यजु० ३।३७॥ का पूर्वार्ध इस विध है—

॥१७॥ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम्।
सुवीरोवीरैः सुपोषः पोषैः... ॥

यही यजु० ७।२९॥ का उत्तरार्थ है और यही यजु० ८।५३॥ का अन्तिम् भाग है, अतः यजुर्वेद इस वाक्य को भी महिमावान् ही मानता प्रतीत होता है, इसका अर्थ है-

मैं सच्चिदानन्द का उपासक सन्तानों से सुसन्तति-वाला होऊं, वीरों से सुवीर होऊं, पुष्टियों से सुपुष्ट होऊं, तथा पशु आदि प्रजाओं से सुप्रजाः होऊं। इस से सिद्ध हुआ कि, वैदिक धर्म मनुष्यों को हृष्टपुष्ट, बहादुर पुत्र-पौत्रयुक्त, उत्तम प्रजावाला राजा, उत्तम गौ, घोडे, हाथी आदि पशुओं का स्वामि बनाना चाहता है और वह ऐसा केवल सच्चिदानन्द के ध्यान से ही बन सकता है।

भूर्भुवः स्वः आदि में तो केवल गायत्री अर्थात् यजु० ३६।३ में, उपरोक्त यजु० ३।३७ में तथा यजु० ३।५ में ही आता है। गायत्री की व्याख्या हो चुकी, ३।३७ का पूर्वार्ध व्याख्यात हो गया, इस का उत्तरार्ध इस विध है-

॥१८॥ ... नर्य प्रजाम्मे पाहिशꣳस्य पशून्मे
पाहि अथर्य पितुम्मे पाहि ॥

हे नेताओं में श्रेष्ठ! मेरी सन्तान की रक्षा कर, उसे सुनीतिसम्पन्न कर। हे स्तुतियोग्यों में श्रेष्ठ! मेरे पशुओं को भी सुरक्षित रख कि, मैं तेरा स्तुतिसूक्तउच्चारण में गव्यादि आहुतियां तेरे नाम पर दे सकूं। हे अन्नपतियों में श्रेष्ठ! मेरे अन्न को भी सुरक्षित रख।

इस से पता चलता है कि, वैदिक धर्म में अन्न की प्राप्ति तथा रक्षा, पुत्रपौत्रों की प्राप्ति तथा रक्षा, पशुओंकी प्राप्ति तथा रक्षा, राज्यप्राप्ति तथा रक्षा, भगवान् की स्तुति, उस के नाम पर आहुतिदान, उस की उपासना, ये कर्म मुख्य हैं, तथा वेद मनुष्य को हृष्टपुष्ट, वीर पुत्र-पौत्रयुक्त उत्तम बहादुर हौसलेवाला सत्त्वसम्पन्न, पशुमान् राजा बनाना चाहता है।

जिस यजु० ३।५॥ के आदि में भी 'भूर्भुवस्स्वः' है, वही यज्ञ का मुख्य मंत्र है, वह इसविध है—

॥१९॥ भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नाद्मन्नाद्यायादधे ॥

हे सच्चिदानन्द! मैं भूमा, बहुतायत से सूर्य तथा प्रकाशमान लोकों की न्यायीं सुप्रकाशित होऊं। वरिमा श्रेष्ठ, क्षमा, धैर्य आदि से पृथिवीसमान गम्भीर होऊं। हे पृथिवी! मातृभूमि! जिस जिस तुझ पर देव, विद्वान् जन यज्ञ करते आये हैं, उस तुझ की पीठ पर मैं भी अग्नि-होत्र की अग्निः स्थापित करता हूं। वह अग्नि भगवान् का मुख है, जिस के द्वारा वह अन्न खाते हैं। मैं उस का स्थापन इस कारण करता हूं कि, भक्षणयोग्य अन्न मुझे भी विपुल प्राप्त हो। तथा इसलिये भी कि, अन्न हजमकरनी की शक्ति मुझ में मन्द न हो पावे।

अतः अग्निहोत्र मनुष्य की अन्नवृद्धिद्वारा सौभाग्यवृद्धि

करता है, वह धैर्यवान्, तेजस्वी हो जाता है ।

उपरोक्त भूर्भुवस्स्वः— सुपोषः पोषैः जिस यजु० ७।२९।। का उत्तरार्द्ध है, उसी का पूर्वार्द्ध इसविध है—

॥२०॥ कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामसि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम् ॥

हे सच्चिदानन्द ! आप कौन हो, आप तो अत्यन्त सुखआनन्दमय हो । आप किस से सुप्रकट हो, आप का नाप क्या है ? जिस आप का नाम हम ध्याते हैं, जिन आप को हम सोम अर्पण कर तृप्त करते हैं । निश्चय आप प्रजापति स्कम्भ, ओ३म् का व्यक्त रूप सच्चिदानन्द प्रभु हो, जिस को हम भक्तिरस पिला पिला कर सुतृप्त करते हुए, उसी का नाम जपते हैं ।

जिस यजु० ८।५३।। का अन्तिम् भाग भूर्भुवः स्वः— सुपोषः पोषैः है, उसी का पूर्ण भाग इस विध है-

॥२१॥ युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादपतं-तमिद्धतं वज्रेण तं तमिद्धतम् । दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत ।
अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः— ॥

हम हृष्टपुष्ट, वीर पुत्रयुक्त, उत्तम प्रजावान्, स्वयं ज्ञानी आनन्दित राजा होवें, इस कारण हे हमारे नायक योधाओ ! जो हम से लडे आप उस को इसविध मार भगाओ, जैसे भगवान् इन्द्र अपने बिजुलीरूपी वज्र से मेघरूप वृत्र को सर्वथा छिन्नभिन्न कर नष्ट कर देता है । अथवा जैसे पर्वत से गिर कर कोई चूर्ण हो वैसे आप जो शत्रुओं को काट-फांट सकते हो, उन को सर्वतः चूर्ण करो, जो हमारे शत्रु हमारी सेना में घुसते हुए अपना बल बढाते हैं, उन को हे शूर ! आप दूर भगाओ कि, हमें आल्हाद, आनन्द हो ।

इस प्रकार वैदिक धर्म तो सज्जनों की वृद्धि, दुर्जनों का नाश ही सम्मत रखता है, वह दुर्जनरक्षा सज्जन-विनाश का पोषक कदापि नहीं ।

भूर्भुवः स्वः उपरोक्त स्थलों के अतिरिक्त एक अन्य स्थान पर भी यजुर्वेद में आया है, वहां मन्त्र के शब्दों के बीच में वैसे ही खुलासा पडा है, यथा—

॥२२॥ वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जंतु जागतेन छन्दसा ।
भूर्भुवः स्वर्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽएतदन्नमद्धि प्रजापते (यजु० २३।८।।)

हे प्रजापति हिरण्यगर्भकः आदित्य पुरुष प्रभु ओ३म्कार ! सरल छन्द गायत्रीद्वारा बालब्रह्मचारी आप की कामना करें । त्रिष्टुप् छन्द द्वारा गृहस्थ ब्रह्मचारी स्नातक आप से प्रेम, भक्ति सम्पादन करें । लम्बे, कठिन जगती छन्द वाले मंत्रोंद्वारा तपस्वी वानप्रस्थ ब्रह्मचारी आप की उपासना में भरपूर उलझें । इस प्रकार सुस्थिति, प्रज्ञान, परमानन्द को वे प्राप्त हों । प्रसिद्ध सौरयान, देवयान को प्राप्त हों । ऐसे भक्त विद्वान् यव तथा गव्य का भरपूर सेवन करें, तथा उन से प्रदत्त गव्यमय मिष्टान्नआहुति का सेवन हे देवो आप करो, हे प्रजापति आप भी करो ।

भक्त के भगवान्।

[भाग दूसरा]

(लेखक- प्रो० रुलियाराम कश्यप, एम्. एस्सी., इं. राज स्कालर १९३८-१९३९)

सन १९३७ के अन्त में भक्त के भगवान् प्रथम भाग पूज्य सातवलेकरजीने छापकर सन १९३८ के प्रारम्भ में उस पर टाईटल पेज लगाकर प्रकाशित किया। अभी सन १९४१ आधा ही बीता है कि, उक्त पुस्तक की प्रथम एडीशन समाप्त सी ही हो चुकी है, अतः दूसरी एडीशन निकालने से पाहिले जो बातें उस एडीशन से अतिरिक्त नवीन प्राप्त हुई हों, उन का संग्रह कर लेना उचित ही होगा। अतः इस लेख को आरम्भ किया जाता है।

आजकल भगवान् की अपार दया से मेरे कालिज के दिनों के एक प्रोफेसर ही मुझे अपने योगी गुरु के रूप में प्राप्त हुए हुए हैं, उन की विचित्र बातें यहां लिखनी अनुचित न होंगी—

(१) एक मित्र वैद्यजीने उनको किसी जरासी व्याधि की निवृत्ति के लिये एक दवाई दे दी, जिसके प्रभाव से उनको ४०-४५ दस्त आ गये। समझो कि प्रति आध घंटे पर एक जुलाब आया और २४ घंटे यही दशा रही। पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि, कितनी अधिक निर्बलता, दुर्बलता उन्हें उस समय हो गयी होगी।

अगले दिन उनको विचार आया कि दरया को जाना चाहिये। आपने टांगा पकडा और चले गये, क्योंकि ३-४ मील का पंथ पैदल कैसे काटा जा सकता था। दरया पर पहुंच उन्होंने स्नान किया। सूर्य का जल में पडा प्रतिबिम्ब देख कर वह उसे सवितादेव का भर्ग मानकर बहुत प्रसन्न होते हैं। उन का विचार है कि, गायत्रीध्यान से बहुत शक्ति सम्पादन होती है।

सो उन्होंने वह गायत्रीध्यान किया, तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि, उन में शक्ति संचरित हो रही है।

ध्यानसमाप्ति पर उन की निर्बलता, दुर्बलता सब काफूर हो चुकी थी और उन में इतनी शक्ति आ चुकी थी कि, वह रावी नदी से अपने गवालमण्डी में घर तक का मार्ग ३-४ मील लम्बा पैदल ही बडे आराम से तैकर आये।

धन्य है ऐसी गायत्री जो वास्तव में प्राणों की रक्षक है और नमस्कार है, ऐसे ध्यानी को जो समस्त दुर्बलता गायत्रीध्यान से ही दूर कर सकता हो।

(२) एक बार आप जापानयात्रा के लिये गये, जब भारत को लौटे आ रहे थे, तो रास्ते में समुद्र में एक बडा तूफान आ गया। जहाज डगमगाने लगा, यात्रियों को आज्ञा कुप्तानने दी होगी। सभी डाक पर एकत्र हो गये स्थिति भयास्पद हो गयी कि, जहाज इतनेहि यात्रियोंसमेत डूब जायगा। उस समय आप को ध्यान और प्रार्थना सूझी कि, प्रभु के इतने पुत्रपुत्रीयां संकट में हैं, इन का बचाव कैसे हो। भगवान् को भी वह प्रार्थना सुन ही पडी होगी, क्योंकि तूफान शनैःशनैः घटने लगा और अन्त में सर्वथा शान्त हो गया। जहाज तथा यात्रीवर्ग सुरक्षित बच कर भारत पहुंच गये।

(३) पाठक जानते ही होंगे कि, प्रभु के भक्त कई प्रकार के होते हैं। कोई भक्त विह्वल होकर प्रेमाश्रुपात करते हैं, कोई भगवान् के वियोग में दुःखी होकर रोते हैं, कोई कोई आनन्दोल्हास से उल्हासित, सदा प्रसन्न रहते हैं, कोई कोई शान्त, हर्षशोकरहित होते हैं।

नं० १ में जिन वैद्यमित्रों का वर्णन हुआ है, वह एक दिन गुरुजी के पास मेरी उपस्थिति में ही विराजमान थे। आचार्य बोले सुनाइए वैद्यजी अब तो रोनाधोना सब छूट गया। वैद्यजी बोले हां महाराज! अब तो आप की कृपा से आनन्द ही आनन्द है। इस पर आचार्य मुझ से बोले, रुलियाराम! पंण्डितजी बहुत रोने के झमेले में रहते थे, अब वह सब छोड बैठे आनन्दप्रसन्न ही रहते हैं।

कितना परिवर्तन उक्त वैद्यजी में गुरुदेवने कर दिया, यह उन से ही पूछते बनता है या मुझ से जिस की प्रत्येक समस्या का ही इलाज गुरुदेव आजकल बने हुए हैं।

(४) गुरुजी संस्कृत तथा कैमिस्ट्री के डबल एम्. ए. हैं, परन्तु गवर्नमैंट कालिज लाहौर में बी. ए. तथा एम्. ए. श्रेणियों को फिजिक्स के लैक्चर दिया करते थे। मैं एफ्. एस्. सी. में सन १९१४–१९१६ तक उन से फिजिक्स पढता रहा, उस समय सब विद्यार्थी उन को एक अतीव सज्जन अध्यापक समझते थे, जो प्रमुख विद्यार्थी होंगे, उन को उन की योगिक दशा का स्यात् तब भी पता होगा, पर मुझे सर्वथा यह ज्ञान न था।

मुझे तब अचानक स्यात् सन १९३६ में एक मेरे मित्र स्व० बालकृष्ण एम्. एस्. सी. प्रोफेसरने बतलाया कि आप को नहीं मालूम चेतनानन्द का तो आसन जमीन से ऊंचा उठ जाता था। मैं हैरान रह गया कि, मैं ऐसे योगी आत्मीय से अब तक क्यूं इतना गहरा परिचित न हुआ। कुछ ही दिनों पीछे वह मेरे सामने अपने भाईसाहिब के मकान पर आये हुए थे कि, मैं अपने मकान के आंगन से उन को अपने बरामदे में खडे देख तुरन्त वहां जा कर उन से पूछने लगा कि, आप पर तो हमारा इतना हक था और आपने हमें अपना वास्तविक परिचय तक न दिया कहिये, वह जो बालकृष्ण आसन जमीन से उठनेवाली बात कहता है, वह कि सविध थी।

अब तो जब मुझे पहिले ही सब ज्ञात हो चुका था, तो वह मुझे कैसे टाल सकते थे? एक तो वैज्ञानिक, दूसरे मेरे प्रोफेसर, तीसरे योगी आर्यसमाजी, इतना होते हुए, वह सच को छुपा सकते ही न थे और इस पर यह कि, मुझे पहिले सब ज्ञात हो ही चुका था।

आप को मुस्करा कर अपने मुखारविन्द से स्पष्ट शब्दों में यह मानना ही पडा कि, भाई! असलमें हमें तो एक साइंस के स्टूडैन्ट की हैसियत में हरएक Experiment करना ही पडता है। एक साधुने हमें बतलाया कि, आसन ऊंचा उठ सकता है। हमारे पूछने पर उसने कुछ विधि बतलाई जो हमने तजरुबा कर लिया और जमीन से जरूर ऊंचा उठ गया; पर मेरी दशा में Health उतनी ठीक न होने से Strain बहुत पडा और उसी समय से यह आंखों में पानी जाने की शिकायत हो गयी, इस लिये हमने उसे छोड दिया।

यह विस्तृत वर्णन मैंने इस कारण किया है कि, योग-दर्शन में जो--

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते-श्चाकाशगमनम्॥ (योग० विभूतिपाद सूत्र ४२)

सूत्र में, आकाश में चलना लिखा है, उस का जीवित जाग्रत एक विज्ञानवेत्ता तथा योगी आचार्य इस घोर कलियुग में भी अधिकारी शिष्यवर्ग को guide करने के लिये भगवान्‌ने भेजा हुआ है, अतः न तो उपरोक्त योग-सूत्र पर किसी सन्देह किये जाने की सम्भावना है और न योग के अधिकारी शिष्यों को (यह समझ कर कि योग सिखानेवाले मिलते ही नहीं, हम किस से सीखें) निराश ही होने की कोई आवश्यकता।

आचार्यजी एक गायत्रीध्यान की ही अनुपम रीति सिखा कर भी शिष्यवर्ग को तृप्त कर सकने की शक्ति रखते हैं। उन्हें बार बार प्रणाम करते हैं।

स्वर्ग और नरक तथा मोक्ष।

[लेखक- श्री. रघुनाथ प्रसाद वर्मा, सहदेई बुजुर्ग।]

(क्रमांक २५८ से आगे)

वैदिक धर्म क्रमांक २५६ में उधृत स्वर्ग और नरक तथा मोक्ष के विषय में सम्पादक वैदिकधर्मने जो शंका-समाधान किया है, वह यथार्थ में सराहनीय है, जिस के लिये सम्पादकजी को हार्दिक धन्यवाद है। परन्तु उक्त विषयों के प्रति कुछ और भी लिखना है, जिसे यहां लिखे देता हूं। आशा है सम्पादकजी स्थान देंगे।

यो तो मेरा सिद्धांत नहीं कि, मैं अपना बडापन जताने के लिये किसी सज्जन को अनापशनाप लिख कर झूठमूठ का कष्ट दूं अथवा किसी सिधी बात को तर्कद्वारा उल्टी बतलाने की चेष्ठा करूं, फिर भी विद्वानों के मतैक्य न होने के कारण कुछ लिखा जाता है और क्रमांक २५६ में लिखा भी गया था, जिस के उत्तर में सम्पादकजीने सिर्फ 'अर्थों की खींचातानी की जाती है,' ऐसा लिखकर टाल दिया, परन्तु कहां पर और किस तरह खींचातानी की गई है, इसे बतलाने की कृपा नहीं थी। यदि भाष्यकारों की गल्ती अथवा उन के खींचातानी अर्थों का पता चल जाता, तो पुनः शंका ही क्यों की जाती? अतः सत्य की खोज करना पाप नहीं, बल्कि शंका-समाधानद्वारा सत्य को जान लेना ही ठीक है। क्योंकि इस से अशान्ति का भय है, अतएव मेरे लिखने को बुरा न मानें, यही प्रार्थना है।

अब आइये।

सर्वप्रथम सम्पादकजी नरक और स्वर्ग का शब्दार्थ करते हुए, लिखते हैं कि, 'स्वर्ग-नरक में सुख-दुःख भोगना होता है। यह हरएक का अपने कर्म से होता है। 'यह ईश्वर करता है,' ऐसा कहने के स्थान पर यदि 'यह स्वकीय कर्मों के नियमों से होता है, ऐसा कहा जाये, तो अधिक सत्य हो।' लेकिन मेरी ओर से सवाल यह है कि, इस विषय पर तो कोई शंका ही नहीं थी, यह तो स्वयंसिद्ध है कि, स्वर्ग-नरक तथा मोक्ष मनुष्य के स्वकृत कर्मफल हैं, जिसे वह भोगता है और अवश्य भोगना पडता है, फिर भी, चूंकि ईश्वर मनुष्य से किये गये, शुभाऽशुभ कर्मों का शुभाऽशुभ फल भोगाता है, इसलिये 'वह परमात्मा व्यवस्था करता है,' ऐसा कहा गया है, जिस का अर्थ यह कभी भी नहीं होता कि, ईश्वर अपनी ओर से कुछ करता है।

दूसरी बात- सम्पादकजी लिखते हैं कि, स्वर्ग-नरक मानसिक हैं और यह मानस देहद्वारा ही भोगा जाता है। इस स्वर्ग-नरकरूप सुख-दुःख को भोगने के लिये स्थूल शरीर रहने न रहने का अथवा जीवनमरण का कोई प्रश्न ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्रकार जब मनुष्य एक वार कर्म-बन्धन में फँस गया, तो फिर आगे चल कर उस की एक नामरूपात्मक देह का नाश होने पर कर्म फल के कारण उसे सृष्टि में भिन्नभिन्न रूपों का मिलना कभी नहीं छूटता, क्योंकि अन्य शास्त्रकारोंने भी पुनर्जन्म को समर्थन करते हुए कहा है कि, कर्म-शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता, किन्तु जो शक्ति आज किसी एक नाम-रूप से प्रगट होती है, तो वही शक्ति उस नाम-रूप के नाश होने पर किसी दूसरे नाम-रूप से प्रगट होती है और रखी, नाम-रूपात्मक परम्परा को ही जन्ममरण का चक्र कहा गया है, इस कारण स्वर्ग-नरकरूप सुखदुःख भोगने के लिये स्थूल शरीर तथा जीवनमरण की आवश्यकता अवश्य है, अतएव इस की पुष्टि के लिये (मनुस्मृति ४।१७३ तथा महाभारत आ० ८०, ३) को देखें। इतना ही नहीं।

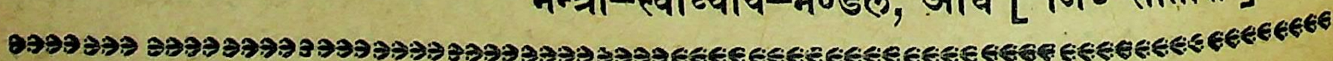
महाभारत शांतिपर्व १२९।२१ में कहा है कि, चाहे किसी आदमी को उस के पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न देख पडे, तथापि वह उसे ही नहीं, किन्तु उस के पुत्रपौत्रों तथा प्रपौत्रों तक को भोगना पडता है।

फिर छंदोग्योपनिषद् (३.१४.१) में कहा है कि, मनुष्य क्रतुमय है, जिस का जैसा क्रतु हो, उसे मृत्यु के पश्चात् वैसा ही फल भी मिलता है और भगवद्गीता भी कहती है कि, देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं में और पितरों की भक्ति करनेवाले पितरों में जा मिलते हैं। (गीता ९. २५) अन्यश्च, कर्मों का विवेचन करते हुए मनुमहाराजने मनुस्मृति (मनु अ० १२, म ८ और ९) में लिखा है कि, कर्म तीन प्रकार के होते हैं- कायिक, वाचिक तथा मानसिक और जिस का मूकल मनुष्य मनुवचन और शरीर से भोगता है। शरीर के कर्मदोषों से मनुष्य वृक्षादि योनि, वाणी के कर्मदोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्मदोष से चाण्डालादि कुल में उत्पत्ति पाता है। अब यदि कोई कहे कि, ये ग्रंथ भी केवल कल्पनाओं की गाथा हैं, तब तो 'स्वर्ग और नरकरूप सुखदुःख सिर्फ मानसिक है और यह मानसदेहद्वारा ही भोगा जा सकता, तथा इस को भोगने के लिये जीवन-मरण की कोई आवश्यकता नहीं' ठीक है, अन्यथा कोई कारण नहीं कि, इसे सत्य माना जाये। इतना ही नहीं आगे चल कर मनुस्मृति में किस किस कर्म तथा गुण से किस किस गति को जीव प्राप्त करता है, उस का उल्लेख बहुत अच्छे तरह से किया है, (मनु० अ० १८। म० २५ से ५२) अतएव सम्पादकजी इस पर भी विचार करेंगे।

अब तीसरी बात मोक्ष अथवा मुक्तिविषय की है। यद्यपि सम्पादकजीने मेरी शंका को दूर करने की बडी चेष्टा की है, तथापि इस विषय में कुछ और लिखना है, जिसे आगे के लेख में सप्रमाण लिखूँगा।

(इस का उत्तर पीछेसे विस्तृत लेख में दिया जायगा। सम्पादक)





वेदका अध्ययन।

आसान पाठविधि।

वेदका अध्ययन करनेके लिये 'वेदपरिचय' के तीन भाग बनाये हैं। ये ग्रन्थ इतने सुबोध, सुपाठ्य और आसान बनाये हैं कि इनसे और अधिक सुबोध पाठविधि हो नहीं सकती। सर्वसाधारण स्त्रीपुरुष भी अपना नियत थोडासा समय इस कार्य के लिये देंगे, तो ४।५ वर्षोंमें वे वेदज्ञ हो सकते हैं।

इतनी पाठविधि सुगम होनेसेही स्वाध्याय-संघ के सदस्य होकर सैंकडों मनुष्य इस समय अध्ययन कर रहे हैं और स्वतंत्र रीतिसे भी सैंकडों लोग अध्ययन करते हैं।

इससे कार्य समाप्त हुआ है, ऐसा समझना नहीं चाहिये। क्योंकि सहस्रों वेदाध्यायियोंमें कोई क्वचित् वेदतत्त्वज्ञ हो सकता है। हमें यत्न तो प्रथम इस बातका करना चाहिये कि सहस्रों वेदाध्यायी हों। घरघरमें तथा मोहल्ले मोहल्लेमें तथा ग्रामग्राममें वेदके मन्त्रों का विचार करनेवाले हों। इन वेदविचारकों के होनेके पश्चात् दूसरी अवस्था वेदतत्त्वज्ञोंकी है। वेदाध्यायी तो हम बना सकते हैं, पर वेदतत्त्वज्ञ बनाना हरएकसे नहीं हो सकता। वह तो बडी बुद्धि का तथा बडे अनुसंधान का कार्य है। वैसे लोग विरला ही होंगे।

इस समय हमारे हाथमें इतनाही है कि वेदाध्यायी पैदा करें। इसके पश्चात् का कार्य बुद्धिमान् पुरुषों के हाथ में होगा।

इसी कार्यके लिये हमने वेदपरीक्षाओंकी आयोजनाका निश्चित कार्यक्रम रखा है—

वर्ष	परीक्षानाम	पाठ्य मंत्रसंख्या	पुस्तक संख्या	उपाधि
प्रथम	वेदपरिचय	३००	३	वेदपरिचित
द्वितीय	वेदप्रवेश	५००	५	वेदप्रविष्ट
तृतीय	वेदप्राज्ञ	१०००	५	वेदप्राज्ञ
चतुर्थ	वेदविशारद	२०००	५	वेदविशारद
पंचम	वेदपारंगत	५०००	५	वेदपारंगत
षष्ठ	वेदाचार्य	स्वतंत्र खोजपूर्ण निबंध		वेदाचार्य

इन सब परीक्षाओं की पाठविधि निश्चित की है। इनके ग्रंथ क्रमानुसार प्रकाशित होंगे। ५ वर्षोंमें करीब ९ हजार मन्त्रों की पाठविधि होनी है। जो शनैः शनैः अभ्यास करेंगे, उनके लिये थोडी अधिक अवधि लगेगी, पर जो प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन रखेंगे, उनको इस पाठविधिके लिये ५ वर्षोंसे अधिक समय नहीं लगेगा।

वेदाचार्य की परीक्षाके लिये कोई नियत पाठविधि नहीं है। संपूर्ण चारों वेदों की सब संहिताओंमें से किसी एक विषय का खोजपूर्ण निबंध लिखकर स्वाध्याय-मण्डलमें पेश करना होगा।

प्रति पृष्ठपर २००० अक्षर रहेंगे, ऐसे १०० पृष्ठ निबंध के होने चाहिये। वह निबंध स्वतंत्र खोज करके होना चाहिये। किसी अन्यका लिया लेख नहीं चल सकेगा।

वेदसम्बन्धी यही परीक्षा अंतिम होगी और जिसका निबंध उत्तम रहेगा, वही 'वेदाचार्य' उपाधि को प्राप्त करेगा।

तबतककी पाठविधि नियत रहेगी। तथा इनकी मंत्र-संख्या भी नियत रहेगी। जो ऊपर दी है।

हरएक परीक्षाके लिये जितनी मन्त्रसंख्या नियत है, उतनी तैयार होनेपर परीक्षार्थी परीक्षाके लिये तैयार होनेकी सूचना स्वाध्याय-मंडलको देवे। सूचना आनेपर प्रश्नपत्र यहांसे भेजे जांयगे और नियमानुसार परीक्षार्थीके स्थानपर ही परीक्षार्थीने किसी निरीक्षकके सामने उत्तरपत्र लिखकर भेजने होंगे। परीक्षाके नियम तथा परीक्षाके निरीक्षक समय समयपर निश्चित किये जांयगे।

हरएक परीक्षार्थीके लिये अध्ययन करनेका अवसर जितना चाहे उतना मिलेगा। घरमें रहता हुआ वह अध्ययन कर सकेगा। अध्ययन की सब सुविधा इन पाठविधिके ग्रंथोंमें रहेगी। अब किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहा है। केवल वेदके अध्ययन की इच्छा ही चाहिये। जिसके पास इच्छा है, वह ५ वर्षोंमें वेदज्ञ हो सकता है।

स्थानस्थानमें जहां आवश्यकता होगी, वहां वेदमंत्रोंके साथ ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त आदि ग्रंथों के पर्याप्त प्रमाण दिये जांयगे। इस तरह इस पाठविधिसे वैदिक धर्मका आवश्यक ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि इस पाठविधिसे वैदिक धर्मी वेदका ज्ञान प्राप्त करेंगे।

'वेदपरिचय' परीक्षा की पाठविधि।

स्वाध्याय-मण्डल द्वारा वेद की जो परीक्षाएँ होती हैं, उनकी पाठविधि नियत हो चुकी है। उन परीक्षाओं में प्रथम परीक्षा 'वेद-परिचय' नामक है। इस परीक्षा के लिए तीन सौ वेदमन्त्रों की पाठविधि नियत हुई है। इस पाठविधिकी प्रथम पुस्तक जिसमें १०० वेदमन्त्र हैं, पाठकों के सामने पहलेही रखी है, और अब उसका दूसरा भाग १०० मंत्रोंका पाठकोंके सामने रख रहे हैं। तीसरा भाग भी १०० मंत्रोंका छप रहा है।

इन पुस्तकों में जो वेदमन्त्र दिए हैं, वे फुटकर नहीं हैं, संपूर्ण सूक्तके सूक्त दिए हैं। इससे मन्त्रका अर्थ करने के समय सूक्तके आगे पीछेके मन्त्रोंका अनुसंधान करनेकी रीति पाठकोंके ध्यानमें स्वयं आजाएगी।

इन में मन्त्र, मन्त्र के पद, पदोंका अन्वय, अन्वयका अर्थ तथा भावार्थ दिया है। पश्चात् मन्त्रके पदोंका विशेष अर्थ भी स्वतन्त्र परिशिष्ट में दिया है। इसके पश्चात् संक्षिप्त अर्थ इंग्लिश भाषामें दिया है। अन्तमें सूक्तके सुभाषित, जो नित्य स्मरण करने योग्य हैं और जिनसे मानव-धर्मका प्रकाश होता है, दिए हैं। इन सबके अध्ययनसे पाठकों को वेदमन्त्रोंका ठीक ठीक आशय ध्यान में आजायगा।

ये अध्ययन के ग्रन्थ हैं।

पाठविधि के सब के सब ग्रन्थ अध्ययन के लिए बनाए जा रहे हैं। ये केवल एकबार पढकर छोड देनेके नहीं हैं। इनका जहांतक अध्ययन किया जाय, वहांतकके मन्त्र कण्ठ होने चाहिएँ। इनके अध्ययनकी विधि यह है-

१. सबसे प्रथम मन्त्र कण्ठ करिए। मन्त्र कण्ठ होनेके पश्चात्,

२. मन्त्रके पद कण्ठ करिए और साथ साथ अन्वय कैसा होता है यह भी देखिए। और मन्त्रके यदि पद कण्ठ हुए होंगे, तो अन्वय स्वयं स्मरणमें रहेगा।

३. मन्त्र और उसके पद कण्ठ करनेके समय मन्त्रोंके स्वर भिन्न हैं और पद होनेपर स्वर भिन्न हुए हैं, यह बात आप के ध्यान में आजायगी।

४. मन्त्र और पद कण्ठ करनेके समय नीचे रेखावाले अक्षर निम्न स्वरमें, चिह्नरहित अक्षर उससे उच्च स्वरमें और ऊपर रेखावाले अक्षर उससे ऊंचे स्वरमें पढिये। मोटे तौरपर उक्त अक्षरोंके क्रमशः 'सा, रे, ग' ये स्वर होंगे। इस उच्चारण की एक पुस्तक तैय्यार की जा चुकी है। पाठकोंको इस परीक्षा के पश्चात् उसका अध्ययन करना चाहिए। उसमें स्वरोंके उच्चारकी रीति ठीक ठीक दी है।

५. मन्त्र, पद और अन्वय कण्ठ होनेके पश्चात् अर्थको भी कण्ठ करनेके समान ही स्मरणमें रखना चाहिए। मन्त्र बोलते ही, पद, अन्वय और अर्थ तथा भावार्थ पुस्तक देखे बिना बोल सकें, ऐसा आपका अध्ययन होना चाहिए। आप आपने किसी मित्रके हाथमें पुस्तक रखें। और आप मन्त्र, पद, अन्वय अर्थ और भावार्थ जबानी बोलते जाएँ, जब इस प्रकार मन्त्र शुद्ध जबानी याद होंगे, तभी समझें कि इस पुस्तक का अध्ययन संपूर्ण हुआ।

६. पाठक यहाँ दिया हुआ अर्थ देखें और कण्ठ करें, परन्तु साथ ही अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे भी अधिक अर्थ की खोज करें। स्वतन्त्र रीतिसे विचारशक्ति का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

पाठक यदि एक एक मन्त्र प्रतिदिन याद करते जायँगे, तो तीन सौ मन्त्रोंकी पुस्तक एक वर्षमें निःसंदेह याद हो सकेगी। जैसे जैसे अभ्यास बढता जाएगा, वैसे वैसे पाठशक्ति भी बढेगी और एक वर्षमें इससे दो तीन गुणे मन्त्र स्मरणमें रह सकेंगे।

आशा है पाठक इस पाठविधिसे अधिक से अधिक लाभ उठाएँगे।

औंध (सातारा)

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संचालक, स्वाध्याय-मण्डल

रामायणकालीन आर्यसंस्कृति।

(प्रथम भाग)

(७)

राक्षसों का गूढ षड्यंत्र।

(लेखक- श्रीवाल्मीकिवाक्प्रदीप विष्णु दामोदरशास्त्री पंडित (तोफखाने), ग्वालियर आर्मी ऑर्डनन्स-रिटायर्ड)

[अनुवादक- लेफ्टनन्ट् बालकृष्ण दामोदरशास्त्री पंडित, ग्वालियर आर्मी-रिटायर्ड]

परन्तु, बुड्ढा था दीर्घसोची! उसने तत्काल दूसरा विचार किया कि, कुबेर का वृद्ध पिता विश्रवा ब्रह्मर्षि मेरु-पर्वत पर आश्रम बनाकर तपस्या कर रहा है, उसी से बेटी का विवाह कर दिया जाय, जिससे उससे जो पुत्र बेटी को होगा, वह कुबेर का सौतेला भाई होगा, वह **कुबेर का प्रतिस्पर्धी-दावादार** बनेगा और फिर पूर्वोक्त बाधाएँ (मंत्री-मंडल की) अपने दौहित्र के मार्ग में नहीं आएँगी। यह विचार करके, तथा मन का दृढ निश्चय कर के वह सुमाली राक्षस अपनी बेटी से बोलाः-

सा त्वं मुनिवरं श्रेष्ठं प्रजापतिकुलोद्भवम्।
भज विश्रवसं पुत्रि पौलस्त्यं वरय स्वयम्॥ १२॥
ईदृशाः ते भविष्यन्ति पुत्राः पुत्रि न संशयः।
तेजसा भास्करसमो यादृशोऽयं धनेश्वरः॥ १३॥

(उत्तरकांड सर्ग ९)

" सो, तू प्रजापतिकुलोद्भव पुलस्ति ब्रह्मर्षिका पुत्र, जो विश्रवा ब्रह्मर्षि के नाम से विख्यात है, उसके पास जाकर, उसे स्वयं वर ले। (कुबेर को तूने देख ही लिया है)। विश्रवा ब्रह्मर्षि को वरने से तुझे भी ऐसे ही पुत्र होंगे, जो कि सूर्य के समान तेजस्वी- जैसा वह कुबेर है, उसके ही सदृश होंगे; इस में सन्देह नहीं है। "

बाप की यह बात सुनकर बेटी को तो मानो काठ ही मार गया! क्योंकि प्रथम जब बापने ' पुत्रि, प्रदान-कालस्ते ' कह कर विवाह की बात निकाली थी, तब वह अपने पिता के चित्तभ्रम के कारण को ताड गई थी। पिता को अपने विवाह की भारी चिंता लग रही है और वह इस दिनसे उत्पन्न हुई है कि, जिस दिन उसने लंका में राजा कुबेर को देखा था, और इसीपर से उसने यह भी अनुमान कर लिया था कि, अब पिताजी विवाह की बात कर रहे हैं, तो शायद उन्होंने कुबेर को ही अपने लिए पात्र निश्चित किया होगा। उसके मन में यह आकांक्षा उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं थी, क्योंकि वह भी एक राजकन्या ही थी, अतः उसकी वह आकांक्षा अयोग्य नहीं थी। ' अब पिताजी अपना विवाह कुबेर जैसे सुन्दर राजपुरुष के साथ कर देंगे, ' ऐसी आनन्ददायिनी कल्पना के समुद्र में वह गोते लगा रही थी, और ' कुबेरको वरण कर,' ऐसा ही पिताजी कहेंगे, इस रम्य कल्पना से उत्कंठित होकर वह अपने पिताकी ओर अपना मुँह उठाकर देखना ही चाहती थी कि, अकस्मात् पिताजी के मुँह से- राजपुरुष के बजाय, एक **दादा ही नहीं, किन्तु पर दादा** के सदृश वृद्ध तथा दरिद्र वानप्रस्थ को वरने का वज्रपाततुल्य अनुरोध सुनकर बेचारी उस बेटी की क्या दशा हुई होगी, इस की कल्पना उन्हीं भुक्तभोगिनी कुमारियों को हो सकती है कि, जिनका गठबंधन दुर्भाग्यवश ऐसे ही जरठ पतियों के साथ हुआ हो! कहाँ वह कुबेरका राजैश्वर्य, रहने के लिए बडे बडे प्रासाद, धारण करने के लिए अमूल्य वस्त्राभरण, भोजन के लिए उत्तम सुस्वादु व्यंजन, घूमने फिरने के लिए विमान-शिबिकादि अनेक प्रकार के वाहन और उपभोग के लिए अनेक प्रकार की मूल्यवान् शय्या आसनादि सामग्री और कहाँ वह एक जराजीर्ण अत्यंत दरिद्र ऋषि की टूटीफूटी पर्णकुटी, जीर्ण कंबल और कृष्णाजिन, तथा फटी और फूटी वस्तुओं से रातदिन का व्यवहार? दोनों पात्रों की परिस्थिति में

आकाश और पाताल का अन्तर था ! परन्तु सुमाली राक्षस की पुत्री यथार्थ में एक 'आर्यकन्या' ही थी । 'पिताकी आज्ञा' यही जिसके लिए 'वेदवचन' था, क्या वह ऐसे नाशवान् ऐश्वर्य के प्रलोभन में पड जाती ? कदापि नहीं । अपने वैयक्तिक सुख को पितृआज्ञा पालनरूप कर्तव्य-निष्ठा के आगे 'तुच्छ' मानकर एक सच्ची आर्यकन्या का कर्तव्य पालन करने के लिए वह बिना किसी आनाकानी के तैयार हो गई ।

भला; सुमाली भी क्या यह सब नहीं जानता था ? क्या उसके हृदय में अपनी पुत्री के सुखदुःख की तनिक भी संवेदना नहीं थी ? भला, यह कैसे हो सकता है ? अपनी पुत्री के सुखदुःख की उसके मन में अवश्य संवेदना थी, परन्तु उस की 'ध्येयनिष्ठा' उसके अपत्य-प्रेम की अपेक्षा भी अधिक बढी चढी थी । अपना देश देवों के पंजेसे किस प्रकार छुडाया जाय, अपने राष्ट्र का पारतंत्र्य-विमोचन क्यों कर हो, यही एकमेव ध्येय उसके सम्मुख प्रस्तुत था । उसकी पूर्ति के लिए जितना स्वार्थ-त्याग करना पडे, उतना स्वार्थत्याग करने का, इतना ही नहीं, किन्तु सर्व सुख का- अपने सर्वस्व का भी बलिदान राष्ट्रदेवता के चरणों पर करने का अवसर आ जाए, तो भी जिसे अपने ध्येय की पूर्ति के आगे उसकी कुछ भी परवा नहीं थी, अपने ध्येय की सिद्धि के लिए अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करने में जिसे आनाकानी नहीं थी, उसे अपने बेटी के सुखदुःख की चिन्ता ही क्यों होने लगी ? सच है,

'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'

सुमाली ने अपनी बेटी को विश्रवा ब्रह्मर्षि जैसे जरठ तथा दरिद्र पति के गले में बांधने का विचार इस इच्छा से थोडे ही किया था कि, उसे वैवाहिक सुख का उपभोग यथोचित और यथेष्ट प्राप्त हो ? उस को तो केवल विश्रवा ब्रह्मर्षि के नामसे अपनी बेटी का एक पुत्र-कुबेर के लिए सौतेला भाई- लंकाके आधिपत्य के लिए एक दावादार- चाहिये था । अतएव, उसने अपने बेटी के सुखदुःख को जानबुझकर भुला दिया और उसको विश्रवा ब्रह्मर्षि के हीं गले में मढ देने का निश्चय कर लिया । तथापि इस में भी वह एक चाल तो चलही गया ! विधिपूर्वक कन्यादान करने की बात टाल कर उस के बजाय उसने अपनी पुत्री से ही "वरय स्वयं" (स्वयं जाकर विश्रवा ब्रह्मर्षि को वर ले) यह कह कर उस को अकेली ही विश्रवा ब्रह्मर्षि के आश्रम में जाने का अनुरोध किया ।

विधियुक्त कन्यादान को टालने में सुमाली का यह हेतु दिखाई देता है कि, विधियुक्त विवाह करने में बहुतसी बाधाएँ बीचमें आ पडने का संभव था । यथा- विश्रवा ब्रह्मर्षि वयोवृद्ध थे । एक नवयौवना के साथ विवाह करना शायद उन्होंने स्वीकार ही न किया होता । यदाकदाचित् उससे विवाह करने का विचार भी उन्होंने किया होता, तो यह संभवनीय था कि, कुबेर जैसे प्रौढ, कर्ताधर्ता, राज्यपदारूढ पुत्र की अनुमति पूछने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई होती । पुनः इतनी वृद्धावस्था में विवाह करने की इच्छा करना, तथा उसके लिए पुत्र की अनुमति पूछना नितांत अनुचित तथा लज्जाजनक भी था । इस पर भी यदि पुत्र की अनुमति मांगी होती, तो कुबेर की ओर से उपहास तथा भावी विवाह में बाधा ही होने का संभव अधिक था ।

अब, यह भी मान लो कि, पितृभक्ति के कारण कुबेर अपने पिता के विवाह में बाधा नहीं डालता, अपि तु पिता के विवाह में भी सम्मिलित हुआ होता, तो भी विधियुक्त विवाह में दूसरी ही एक बाधा उपस्थित होने की संभवना थी । आरंभ में ही कन्यादानके संकल्पमें कुल गोत्र आदि का उच्चार करने के समय 'अमुक नाम्नः प्रपौत्रीम् अमुक नाम्नः पौत्रीम् सुमालीनाम्नः पुत्रीम् कैकसी नाम्नीं कन्याम् तुभ्यं अहं संप्रददे । '' इत्यादि कन्या के पितृत्रयी की पुकार अवश्यही हुई होती, जिससे वधू 'राक्षसकन्या' तथा 'शत्रुकन्या' है, यह भेद खुल जाता और फिर विवाहकार्य एक ओर रहकर दोनों पिता-पुत्री के लिए कदाचित् चितारोहण करने ही की नौबत आ गई होती ।

सारांश, विधियुक्त विवाह करने में जितनी कठिनता थी, उतनी ही सुगमता आविधियुक्त विवाह करने में थी । पहले में, वधूवर-दोनों-के कुलगोत्र, शील, अनुकूल, प्रतिकूल आदि अनेक बातों का विचार करने की आवश्यकता होती है । दूसरे में- यानी अविधियुक्त विवाह में इन में से एक भी बात बाधक नहीं होती, किन्तु सभी

प्रतिकूल बातें अनुकूल हो जाती हैं। फिर दूलहा-दुलहिन की जन्मकुंडलियों का भी आपस में पूरा मेल हो जाता है। छत्तीस गुण और बत्तीस लक्षण ही नहीं-अपितु-बहत्तर गुण और चौंसठ लक्षण भी पूरे पूरे मिल जाते हैं। धर्म तथा ज्ञाति की भी अडचन बीच में नहीं आती। 'मियां बीबी राजी तो क्या करेगा काजी!' इन्हीं सब बातों को सोचकर वृद्ध सुमाली राक्षसने बडी दूर दृष्टि के साथ अपना मतलब गाँठने के लिए यह **अविधियुक्त विवाह** का मार्ग ही निश्चित किया, और अपनी पुत्री को '**वरय स्वयं**' कह कर अपना विवाह-कार्य आप ही कर लेने के लिए प्रवृत्त किया।

पिता का अनुरोध बेटीने भी शिरोधार्य कर लिया और विश्रवा ब्रह्मर्षि के पास मेरुपर्वत पर जाना स्वीकार किया, सुमालीने फिर अपनी पुत्री को वस्त्राभूषणों से सजा कर उसका **अभिसारिका** का वेष बना दिया और उसको अपने साथ लेकर विश्रवा ब्रह्मर्षि के आश्रम पर जा पहुँचा। और ऐन संध्या के समय-**राक्षसी** वेलामें- उसको ब्रह्मर्षि की यज्ञशाला में पहुँचा कर, स्वयं आप भी अपनी साहस-पूर्ण युक्ति का परिणाम क्या होता है, यह देखने के लिए यज्ञशाला के बाहर एक भींत की आड में छुप रहा।

सायंकाल का समय था। विश्रवा मुनि अपनी यज्ञ-शाला में सायं होम करने में लगे हुए थे। ऐसे ही राक्षसी समय में वह- सुमाली राक्षस की पुत्री- यज्ञशाला में जा लज्जावनत मुख से पैर के अँगूठे से भूपृष्ठको खुतरती हुई ब्रह्मर्षि के सामने खडी हो गई। अपने तेज से उस आश्रमको दीप्तिमान् करनेवाली उस युवती को देख कर परम उदार विश्रवा ब्रह्मर्षिने उससे निम्न लिखित प्रश्न किये—

भद्रे! कस्याऽसि दुहिता? कुतो वा त्वं इहागता?
किं कार्यं? कस्य वा हेतोः? तत्त्वतो ब्रूहि शोभने।१८
(उत्तरकांड सर्ग ९)

'हे कल्याणि! तू किस की पुत्री है? यहाँ कहाँ से आई है? तेरा क्या काम है? किस के पास आई है? इत्यादि सब तू मुझे सत्य कह दे'। तब-

एव मुक्ता तु सा बाला कृतांजलिरभाषत।
आत्मप्रभावेण मुने ज्ञातुमर्हसि मे मतम् ॥१९॥

किन्तु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात् पितुरागताम्।
कैकसी नाम नाम्नाऽहं शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥२०॥
(उत्तरकांड, सर्ग ९)

ब्रह्मर्षिने जो उपर्युक्त प्रश्न किए, उनका उत्तर देना टाल कर वह बाला हाथ जोडकर कहने लगी, '**आत्मप्रभावेण मुने ज्ञातुमर्हसि मे मतम्।**' अर्थात् हे महाराज, मेरा यहाँ आने में क्या हेतु है, उसे आप अपने आत्मबल से ही जान सकते हैं।' अब इस चालाकी को तो देखिए। ब्रह्मर्षि के पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देने में वह लडकी कैसी टालमटोल कर गई है? थी भी तो आखिर वह सुमाली राक्षस ही की पुत्री! ब्रह्मर्षि का पहला प्रश्न था, '**कस्याऽसि दुहिता?**' यानी 'किस की पुत्री है?' इस का उत्तर यदि उसने यह दिया होता कि 'मैं सुमाली राक्षस की पुत्री हूँ,' तो **सुमाली राक्षस** की अर्थात् शत्रुकी कन्या का पत्नीरूप में स्वीकार करना तो दूर ही रह जाता, किन्तु उलटे उसको ब्रह्मर्षि की कोपाग्नि में अपनी ही आहुति देनी पड जाती! दूसरा प्रश्न, '**कुतो वा त्वं इहागता?**' (यहाँ कहाँ से आई है?) इस का उत्तर यदि उसने दिया होता, तो फिर भी वही परिणाम निश्चित था। क्यों-कि '**पाताल से आई हूँ**' यह कहने से ब्रह्मर्षि विश्रवा को यह संदेह अवश्यमेव हो गया होता कि, पाताल में तो सब राक्षस हमारे शत्रु ही- रहते हैं, अतः यह युवती भी किसी **राक्षस** की ही कन्या होगी। तीसरे और चौथे प्रश्नोंका उत्तर स्पष्टतया देने में स्त्रीजाति की स्वाभाविक लज्जा रुकावट डालती थी, तथा उसकी उतनी आवश्य-कता भी नहीं थी। इस प्रकार उसने अपने ज्ञाति कुल आदि की पूर्ण गुप्तता रक्खी; तथापि, कदाचित् यह स्त्री '**पर-पूर्वा**' (दूसरे की विवाहिता) होगी, यह संदेह ब्रह्मर्षि के मन में उत्पन्न हो जायगा, यह सोचकर, ऐसा सन्देह उत्पन्न होने से पहले ही उसने कह दिया कि-

किंतु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात् पितुरागताम्।
कैकसी नाम नाम्नाहं शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥२०॥

'मैं अपने पिता की आज्ञा के अनुसार यहाँ आई हूँ।' अर्थात् 'मेरे ऊपर मेरे पिता का ही अधिकार है, दूसरे किसी का अधिकार अभीतक हुआ नहीं है।' अर्थात् मेरा विवाह अभीतक नहीं हुआ है,' '**मैं कुमारी ही हूँ**,' यह

उसने अपने उत्तर के आरंभ में ही दर्शा दिया। मेरा नाम कैकसी है ' और ' शेष आप अपने तपोबलद्वारा जान सकते हैं,' यह उत्तर देकर वह कैकसी लज्जावनत होकर चुप हो रही। तब ब्रह्मर्षिने क्षणैक मन में सोचकर उसके आगमन का हेतु जान लिया और उस से कहा-

विज्ञातं ते मया भद्रे कारणं यन्मनोगतम् ॥२१॥
सुताभिलाषो मत्तः ते मत्तमातंगगामिनि ॥
दारुणायां तु वेलायां यस्मात् त्वं समुपस्थिता॥२२॥
श्रुणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशान् जनयिष्यसि।
दारुणान् दारुणाकारान् दारुणाभिजनप्रियान्॥२३॥
प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः ॥२४॥
(उत्तरकांड, सर्ग ९)

"हे कल्याणि ! तू मेरे पास किस हेतु से आई है, यह मैंने जान लिया है। तुझे मुझसे पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा है, किन्तु जब कि, तू ऐसी दारुण और राक्षसी वेला में आई है, तब तेरे जो पुत्र होंगे, वे महान् भायानक क्रूरकर्म करनेवाले राक्षस होंगे।" ब्रह्मर्षिका यह वचन सुनकर कैकसीने नम्र होकर प्रार्थना की-

भगवन् ईदृशान् पुत्रान् त्वत्तोऽहं ब्रह्मवादिनः।
नेच्छेऽहं सुदुराचारान् प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१५॥
(उत्तरकांड, सर्ग ९)

"हे भगवन् आपके सदृश ब्रह्मनिष्ठ से और ऐसे भयंकर क्रूरकर्मा, दुराचारी राक्षसपुत्र !! मैं ऐसे पुत्रों को नहीं चाहती। हे भगवन् ? आप मुझ पर दया कीजिये।"

कैकसी की कातर प्रार्थना सुनकर ब्रह्मर्षि ने उस को यह वरदान दिया-

पश्चिमो यः तव सुतः भविष्यति वरानने।
मम वंशानुरूप यः स धर्मात्मा न च संशयः॥२७॥

"सबसे पिछला-कनिष्ठ पुत्र जो तुझे होगा, वह मेरे कुल के योग्य धर्मात्मा ही होगा।" और यह वरदान देकर उसको अपने आश्रम में रहनेकी अनुमति दे दी।

कैकसी का पिता सुमाली राक्षस आश्रम के बाहर एक भिंत की आड में खडा खडा अपनी पुत्री और विश्रवा ब्रह्मर्षि दोनों की बातें कान देकर सुन रहा था। ब्रह्मर्षि ने कैकसी को दिया हुआ शापरूप अभिवचन " प्रसविष्यसि सुश्रो णिराक्षसान् क्रूरकर्मणः " इत्यादि जब उसने सुन लिया, तब उस से भी उसको अत्यंत हर्ष हुआ। क्योंकि उसका काम तो ऐसे शापरूप अभिवचन ही से बननेवाला था। उस की ऐसी अभिलाषा कब थी कि 'मेरी पुत्री के पुत्र श्रौताचारसंपन्न, धर्मभीरु, शान्त, दांत तथा सात्विक प्रकृति के सज्जन हों ? " अपितु उसको तो देवोंसे अखंड शत्रुता करनेवाले राक्षसप्रकृति पुत्रों ही की आवश्यकता थी। और वह आवश्यकता ब्रह्मर्षि के उक्त शापरूप अभिवचनद्वारा ही पूर्ण होनेवाली थी, इसलिए उसको तो " शापोऽप्यदृष्टतनयानन-पद्मशोभे। सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयं' (रघुवंश) इस कव्युक्तिका अनुभव हो रहा था। उसका अब विश्वास हो गया कि, 'अपनी आकांक्षा फलद्रूप होनेका मार्ग अब निष्कंटक हो गया।' और अब वहाँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह सोच कर वह (सुमाली राक्षस) अपने घरको वापिस लौट गया।

योग्य समयावधि बीत जाने पर विश्रवा ब्रह्मर्षि को कैकसी से रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा और बिभीषण नामक चार संतानें हुईं। उनका उपनयन, वेदाध्ययन आदि कर्म यथाक्रम होते गये। लंकाधिपति कुबेर भी बीच बीच में कभी कभी अपने पिता के दर्शन के लिए आ जाया करता ही था।

एक दिन नित्यक्रमानुसार कुबेर पुष्पक विमान पर चढ कर अपने पिता के-विश्रवा ब्रह्मर्षि के दर्शन के लिए आया। उस का राजसी तेज तथा ठाठबाट देख कर कैकसी के हृदय में स्त्रीजातिका स्वाभाविक सापत्नभाव-जो अबतक सुप्त था-जाग उठा। उसने रावण से कहा—

वत्स वैश्रवणं पश्य ज्वलंतं तेजसावृतम्।
भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम् ॥४२॥
दशग्रीव तथा यत्नं कुरुष्वामितविक्रम।
यथा त्वमपि मे पुत्र भवेर्वैश्रवणोपमः।'४३॥
(उत्तरकांड, सर्ग ९)

'मेरे लल्ला ! अपने बडे भाई को देख ! अपने ऐश्वर्य के तेज से वह कैसा शोभायमान दिखाई दे रहा है ? तुम दोनों भाई एक ही पिता के पुत्र हो, परन्तु दोनों की मान-मर्यादा में कितना बडा अन्तर है। तेरा बडा भाई कुबेर आज राजपदारूढ राजा है और उसकी तुलना में तू निकृष्ट

अवस्था में रहनेवाला एक क्षुद्र जीव है! पुत्र, क्या तू भी ऐसा कोई प्रयत्न करेगा कि, मैं तुझे भी इस कुबेर के जैसा ऐश्वर्यवान् बना हुआ देख सकूंगी ?'

माता के ये मर्मभेदक वाग्बाण प्रतापी रावण सह न सका। उसने उसी क्षण माता के सम्मुख प्रतिज्ञा की-

सत्यं ते प्रतिजानीहि भ्रातृतुल्योऽधिकोऽपि वा।
भविष्याम्योजसा चैव संतापं त्यज सुव्रते ॥४५॥
(उत्तरकांड सर्ग ९)

'हे माता! दुखी न हो। बडे भाई के सदृश ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना कोई बडी बात नहीं है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं बडे भाई के तुल्य ही नहीं, अपितु, उससे भी अधिक ऐश्वर्यवान् तथा तेजवान् हो जाऊंगा।' माता से यह कहकर वह (रावण) शीघ्रही अपने भाई कुंभकर्ण और बिभीषण को साथ लेकर उसी दिन गोकर्णक्षेत्र में तपःसाधन करने के लिए चला गया।

गोकर्णक्षेत्र में रावणने उग्र तपाचरण करके भगवान् प्रजापति ब्रह्मदेव को प्रसन्न किया और अपने लिए वरदान प्राप्त कर लिया कि, देव, दानव, यक्ष, नाग, किन्नर आदि में से कोई भी उस का वध न कर सके। कुंभकर्ण और बिभीषणने भी तपश्चर्या करके अपने लिए उपयुक्त वरदान मांग लिए। इसके अनंतर तीनों भाई अपने घर आकर मातापिता के साथ सुखसे कालयापन करने लगे।

इधर वृद्ध सुमाली राक्षस, रावण वरप्रदान प्राप्त करके पीछा कब लौट आता है, इस की प्रतीक्षा कर ही रहा था। रावणने तपश्चर्या करके ब्रह्माजी को प्रसन्न किया और उन से श्रेष्ठ वर संपादन करके अब वह अपने घर पर पीछा लौट आया है, यह सुनते ही वह मारीच, सुबाहु आदि मंत्रियों को साथ लेकर रावण को बधाई देनेके लिए उस के घर गया और सर्वप्रथम अपने दौहित्र को खूब प्रेमसे आलिंगन करके उससे बोला-

दिष्ट्या ते वत्स संप्राप्तः चिंतितोऽयं मनोरथः।
यस्त्वं त्रिभुवनश्रेष्ठात् लब्धवान्वरमुत्तमम् ॥४॥
यत्कृते च वयं लंकां त्यक्त्वा याता रसातलम्।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम्। ॥५॥
असकृत् तत् भयात् भग्नाः परित्यज्य स्वमालयम्
विद्रुताः सहिताः सर्वे प्रविष्टाः स्म रसातलम् ॥६॥

अस्मदीया च लंकेयं नगरी राक्षसोषिता।
निवेशिता तव भ्रात्रा धनाध्यक्षेण धीमता ॥७॥
यदि नामात्र शक्यं स्यात् साम्ना दानेन वाऽनघ।
तरसा वा महाबाहो प्रत्यानेतुं कृतं भवेत् ॥८॥
त्वं च लंकेश्वरस्तात भविष्यसि न संशयः।
त्वया राक्षसवंशोऽयं निमग्नोऽपि समुद्धृतः ॥९॥
सर्वेषां नः प्रभुश्चैव भविष्यसि महाबल ॥१०॥
(उत्तरकांड, सर्ग ११)

'हे वत्स रावण! तूने त्रिभुवनश्रेष्ठ प्रजापति ब्रह्माजी से उत्कृष्ट वर प्रदान प्राप्त कर लिया है, सो तेरी इस कृतकृत्यता के लिए तुझे धन्यवाद देता हूँ। वर्षों से जिन अभिलाषाओं को अपने हृदय में मैं जतन कर रहा हूँ, वे मेरी अभिलाषाएँ- वे मेरे सब मनोरथ आज परिपूर्ण हो गए हैं। जिसके कारण हमको लंका का परित्याग करके पाताल में जाकर छुप रहना पडा है, उस महाविष्णु का भय अब से नष्ट हो चुका है। देवों के सम्मुख किए युद्धों में बार बार हमारी हार होने के कारण हम लोगोंने लंका का निवासस्थान छोड दिया और वहाँ से भागकर पाताल में जाकर छुप बैठे हैं। हे वत्स! यह लंका नगरी पहले अपनी ही थी। इस पर अपना राक्षसों का ही आधिपत्य था और इस नगरी में सब राक्षस ही रहा करते थे। यह नगरी अब तेरे बुद्धिमान् भ्राता धनपति कुबेरने हथियाली है। इसलिए, साम, दान, भेद, दंड आदि हर उपाय से अब लंका अपने हाथ में कर लेनी चाहिए। हे तात! हमारे राक्षसकुल का तो पतन हो ही चुका था, परन्तु तूने उस का अब पुनरुद्धार किया है। अतएव, तू अब कुबेर से अपनी लंका नगरी को फेर ले, और उसको पुनश्च अपनी अधीनता में ले आ। फिर तू ही हम सब राक्षसों का अधिपति होगा और हम तुझे ही अपना राजा बनाएँगे।'

नानाजी का परामर्श रावण को अच्छा नहीं मालूम हुआ। तथापि उसने शांत चित्तसे ही उत्तर देकर उनका निषेध किया। वह बोला--

'वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हसे वक्तुमीदृशम्।
'नानाजी, कुबेर हमारे लिए पितृतुल्य हैं; आपका हम को इस प्रकार उपदेश देना उचित नहीं है।'

दौहित्र का यह उत्तर सुनकर बेचारे सुमाली राक्षस को

तो काठ ही सा मार गया ! जिसके भरोसे पर उसने पिछले कई वर्षों से अनेकानेक मनसूबे बांधे थे, उससे इस प्रकार का उत्तर मिलेगा और वे सब मनसूबे हवा में बांधे हुए महलों की भाँति हवा में ही उड जाएँगे, इस की उस बेचारे को क्या कल्पना थी ? रावण के उत्तर से हताश होकर उसने अपने भाग्य को ठोंक लिया और आज ही अधिक वादविवाद में लाभ न होता देखकर वह (सुमाली राक्षस) अपने घर को चुपचाप लौट गया।

घरपर पहुँचते ही सुमाली से प्रहस्त महोदय (रावण के एक तथाकथित मामा) ने पूछा कि, ' क्या समाचार हैं ?' सुमालीने उत्तर में भाग्य को हाथ लगाकर कहा कि, ' लल्ला के सिर में तो अब सींग ऊग आये हैं ! उसने तो मेरी आजतक की सारी आशाओंपर पानी ही फेर दिया ! आजतक का मेरा सारा परिश्रम वृथा ही हो गया ! वह बीज तो आखिर एक ब्राह्मण ही का है न ? वह अपने बापके स्वभाव पर ही जायगा ! उसने तो मुझे साफ उत्तर दे दिया कि **वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हसे वक्तुमीदृशम्** । कुबेर हमारे लिए पितृतुल्य है; हमको ऐसी बातें मत सिखाओ । ' बोलो, अब क्या किया जाय ? ' मानो अपना सर्वस्व जाता रहा हो, इस तरह वह सुमाली राक्षस हताश हो बैठा ! तब प्रहस्तने उसको सान्त्वना देते हुए उसे कहा– ' तनिक धैर्य धारण करो; कुछ दिन बीत जाने दो । रावण को इस बात की विस्मृति हो जाने दो; फिर देख लेंगे । '

कुछ दिनावधि बीत जाने पर प्रहस्त मामा स्वयं रावण से मिलने गये और रावण को उसके वर सम्पादन की बधाई देकर कहने लगे– ' लल्ला ! तुमने जो अपने नानाजी को उस दिन उत्तर दिया था, वह योग्य था ? क्या तनिक सोचो तो सही कि शूर वीर लोगों में कहीं भाई–भाईका नाता भी माना जाता है ? कुबेर तुम्हारा बडा भाई हो ही कैसे सकता है ? उस की माता न्यारी और तुम्हारी भी माता न्यारी ।

' तनिक और भी सोच देखो कि, **अदिति और दिति दोनों सगी बहिनें कश्यप प्राजपति** की स्त्रियाँ थीं । अदिति के पुत्र देव और दिति के पुत्र दैत्य; दोनों सगी बहिनों की संतानें। आपस में **सौतेले** भाई तथा **मौसेरे** भाई होकर भी दोनों में शत्रुता क्यों होनी चाहिए ? यह ' **सपर्वतवनार्णवा** ' संपूर्ण पृथ्वी प्रथम ही से दैत्यों की थी । इसपर दैत्यों ही का आधिपत्य था। **महाविष्णुने** दैत्यों को परास्त करके उनसे पृथ्वी का यह सब आधिराज्य छीन लिया और देवों के अधीन कर दिया । तब से ये अदिति के पुत्र देव सारे जगत् के अधिपति बन बैठे हैं। अब तुम ही सोचकर देखो कि, दिति और अदिति दोनों ही सगी बहिनें– दक्षप्रजापति की पुत्रियाँ । उन के पुत्र कश्यप प्रजापति की सन्तान । **दैत्य और देव** दोनों आपसमें भाई–भाई । दैत्य ज्येष्ठ और देव **कनिष्ठ** । ऐसी अवस्था होकर भी देवोंने दैत्योंसे अर्थात् अपने ज्येष्ठ **भ्राताओं** से युद्ध करके उनको हरा दिया और उनका आधिराज्य छीन ही लिया ।

' और भी एक विचारने की बात है कि, दिति और अदिति दोनों एकही पिता की अर्थात् दक्षप्रजापति की पुत्रियाँ थीं । दोनों सगी बहिनें थीं । दोनों की संतानें दैत्य और देव–कश्यप प्रजापति के पुत्र– आपुस में सौतेले भाई तथा मौसेरे भाई भी थे । उनका इतना निकट संबन्ध था, तब भी दोनोंमें–दैत्यों और देवोंमें– आजतक **शत्रुता** चली आ रही है । अब इस दृष्टिसे विचार कर देखो, तो तुम्हारा कुबेर से नाता ही क्या होता है ? कुबेर की माता **भरद्वाजऋषि की पुत्री** है और तुम्हारी माता **सुमाली राक्षस** की पुत्री है । दोनों का आपस में कोई नाता नहीं है, किन्तु दोनों के कुल भी भिन्न भिन्न हैं। वास्तव में दोनों का किसी प्रकार से तनिक भी संबन्ध नहीं है । पुनः **धर्मशास्त्र** के विचार से भी लंका के राज्य का हकदार कुबेर बिलकुल नहीं हो सकता । क्योंकि लंका सुमाली की, अर्थात् तुम्हारे नाना की है और तुम सुमाली के दौहित्र हो, अतः लंकापर तुम्हारा ही अधिकार होना चाहिए । कुबेर चाहे तो अपने नाना की कुटियापर भलेही अपना अधिकार दिखलावे । लंका से उसका कोई संबन्ध नहीं है । धर्मशास्त्र के विचार से लंका पर यथार्थतः स्वत्व तुम्हारा ही है और तुम ही लंकाके सच्चे स्वामी हो। **देव और दैत्यों की शत्रुता तो परम्परासे चली आ रही है**; उसको तुम ही आज मिटाने चले हो क्या ? उनमें ऐक्यता प्रस्थापित होना नितांत असंभव है ।

'अनादि काल से चली आती हुई, देव-दैत्यों की यह शत्रुता आत्यंतिक यत्न करने पर भी मिटनेवाली नहीं है। और **न इस का मिटना इष्ट भी है।** उन में ऐक्यभाव प्रस्थापित करने का प्रयत्न करना सुतराम् अकारथ है। अतएव, तुम मेरा कहा मानो और अपनी लंका कुबेर से लौटा लेने का उद्योग करो।'

प्रहस्त मामा का यह उपदेश रावण के मन पर परिणाम कर गया, और 'आप के परामर्श का मैं यथोचित विचार करूंगा,' यह कह कर उसने उन (प्रहस्त मामा) को बिदा कर दिया। इतने ही में रावण-माता कैकसीने उस जगह आकर रावण से पूछा- 'मामाजी क्या कह रहे थे?' प्रत्युत्तर में रावणने मामाजीने जो कुछ उपदेश दिया था, वह सब अपनी माता को सुना दिया, जिस को सुन कर वह बोली- 'सच तो है! मामाजी का कहना बिलकुल सच है। लंका मेरे ही पिता की है और कुबेर का उस पर कोई स्वत्व नहीं है। अतएव, हे पुत्र! तुम अपने पिता के पास जाकर उन से कहो कि, 'कुबेर से हमारी लंका नगरी हम को दिला दो।' मैं भी तुम्हारी पृष्ठपोषक हो जाऊँगी।'

माता से इस प्रकार प्रोत्साहन मिलते ही रावण अपने पिता विश्रवा ब्रह्मर्षि के पास जाकर बोला, 'कुबेर भैयाने लंका का शासन अबतक यथेष्ट कर लिया है, परन्तु अब लंका मुझ को मिलनी चाहिये। क्योंकि वह मेरे नाना की है और मैं ही उस का स्वत्वाधिकारी हूँ।' रावण की यह बातें सुन कर **विश्रवा ब्रह्मर्षिने** उस को बहुत कुछ ऊँच-नीच समझाया, परन्तु **रावण** कब माननेवाला था? निषेध करने पर भी रावणने माना नहीं। 'लंका मुझ को मिलनी ही चाहिये,' ऐसी हट पकड कर बैठ गया। तब विश्रवा ब्रह्मर्षि अत्यन्त क्रोधाविष्ट होकर शापवचन बोले कि, 'तेरे हाथ में लंका का अधिराज्य आने पर तू उसको खो देगा और स्वयं अपना भी नाश कर लेगा। तुझ को लंका मिलना कदापि इष्ट नहीं है।'

विश्रवा ब्रह्मर्षि के मुँह से उपर्युक्त शापवचन का उच्चार होते ही घर में से बिजली कडक उठी! वह गरजती हुई बाहर आकर बोली- 'लंका का राज्य रावण को मिलना इष्ट नहीं है? क्यों भला? उस की नाना की दौलत पर दूसरे मजे उडावें और वास्तविक अधिकारी भीख मांगता फिरे, यह कहाँ का न्याय है? लंका मेरे बाप की है। उस पर कुबेर का अधिकार ही कैसे पहुँचता है? आप तो बडे धर्मशास्त्रों के ज्ञाता हैं! आप ही विचार कर देखिये। लंका मेरी बाप की है और रावण मेरे बाप का दौहित्र है। आप का धर्मशास्त्र क्या कह रहा है? यही न कि, '**दौहित्र एव च हरेत् अपुत्रस्याखिलं धनम्।**' (मनु) तो क्या ये शास्त्रवचन दूसरों को ही सुनाने के हैं और घर में बरतने के नहीं हैं? कुबेरसे लंका का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा रावण अब प्रौढ और कर्ताधर्ता हो गया है, इसलिए अब उस की लंका उस को मिलनी ही चाहिये।'

रावण की माताने इस प्रकार अपने पतिदेव को आडे हाथों लेकर उन की बुद्धि ठिकाने पर लाकर रख दी। ठीक ही है। '**वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी**' बेचारे ब्रह्मर्षि हार मान गये और अन्त में जब यह अभिवचन उन्होंने दे दिया कि, अब की बार कुबेर आएगा, तब, उस से कह कर रावण को लंका दिला दूंगा, तब कहीं वह चण्डी शांत हुई!

यहाँ तक बात आ जाने पर अब क्या रावण कुबेर के आने तक उस की बाट जोहता हुआ, चुपचाप बैठा रह जाता? उसने तुरंत ही प्रहस्त के साथ परामर्श करके तथा उसी को अपने साथ लेकर लंका को प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचते ही त्रिकूटाचल पर अपने डेरे डाल दिये। अनन्तर रावणने प्रहस्त को ही अपना अगुआ, तथा संदेशवाहक दूत बना कर उस के द्वारा कुबेर को सन्देश भेजा। रावणने प्रहस्त से कहा-

प्रहस्त शीघ्रं गच्छ त्वं ब्रूहि नैर्ऋतपुङ्गवम् ॥२२॥
वचसा मम वित्तेशं सामपूर्वं इदं वचः।
इयं लंकापुरी राजन् राक्षसानां महात्मनाम् ॥२३॥
त्वया निवेशिता सौम्य नैतत् युक्तं तवानघ।
तत् भवान् यदि नो ह्यद्य दद्यात् अतुलविक्रम ॥२४॥
कृता भवेत् मम प्रीतिः धर्मश्चैवानुपालितः ॥२५॥
(उत्तरकांड सर्ग ११)

'हे प्रहस्त! तुम शीघ्र कुबेर के पास जाकर उस को सविनय मेरा संदेशा सुनाओ कि, 'यह लंकापुरी बहुत

प्राचीन काल से राक्षसों की है। इस में आप आकर बस रहे हो, यह बात उचित नहीं है। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता मेरे पिता के समान हैं, तथा मैं आपका बालक हूँ। यदि आप यह लंकापुरी अब मुझे सौंप देंगे, तो आप का वह कृत्य मुझ बालक के ऊपर अत्यंत दुलार करने के तुल्य होगा, तथा आप से **धर्मपालन** भी यथोचित होगा। क्योंकि जिस सुमाली राक्षस का पहले इस लंका पर स्वामित्व था, उसी **सुमाली राक्षस** का मैं **दौहित्र** हूँ। अर्थात् उस का सच्चा उत्तराधिकारी मैं ही हूँ। '

रावण का संदेश लेकर प्रहस्त मामा लंकापुरी में गये और उन्होंने प्रथमतः कुबेर से एकांतिक भेंट की, (ऐसी भेंट को ' private visit कहते हैं। इस में महत्त्व के विषयपर समुचित ऊहापोह होकर यहीं उस का निर्णय भी हो जाता है और फिर आम दरबार में उस का प्रकटीकरण होता है।) और उससे बडे विनीत भाव से कहा– ' हे सदाचारी श्रेष्ठ कुबेरजी ! आप के **कनिष्ठ भ्राता रावण** महाराजने मुझे आप के पास भेजा है। हे सर्वशास्त्रविशारद महाबुद्धिमान् कुबेरजी, आप के कनिष्ठ भ्राता का आप के लिए यह संदेश है कि–

इयं किल पुरी रम्या सुमालिप्रमुखैः पुरा।
भुक्तपूर्वा विशालाक्ष राक्षसैर्भीमविक्रमैः ॥२७॥
तेन विज्ञाप्यते सोऽयं सांप्रतं विश्रवात्मज।
तदेषा दीयतां तात याचतः तस्य सामतः ॥२८॥
(उत्तरकांड सर्ग ९)

' इस लंकापुरी का उपभोग हमारे मातामह सुमाली प्रमुख महान् पराक्रमी राक्षसों ने लिया हुआ है। (अर्थात् यह लंकानगरी पुरातन काल से राक्षसों की है) अतएव, हे कुबेरजी ! आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि, रावण आप से जबतक सामपूर्वक लंका मांग रहा है, तभीतक वह उसके हाथमें सौंप देना आपके लिए उचित है। "

प्रहस्त का यह वक्तव्य सुनते ही **कुबेर की आंखें एकदम खुल गईं** ! पिताजी ने बुढौतीमें विवाह किया, वह आगे जाकर अपने लिए इस प्रकार बाधक होगा, इसकी उस बेचारे देवप्रकृति कुबेर को कल्पना भी नहीं थी ! पिताका यह **विवाह** ही उससे लंका का हडप लेने के लिये राक्षसों के रचे हुये **गूढ षड्यंत्रका मूल** है, यह बात अब उसके कहीं ध्यान में आई। परंतु अब क्या हो सकता था ? क्योंकि अब तो अवसर हाथसे निकल गया था।

कुबेर का हृदय डाँवाडोल हो गया और उस में खलबली मच गई ! तथापि वह राजपुरुष था। यदि हृदय के अंदर मची हुई खलबली बाहर दिखाई दे, तो फिर वह राजपुरुष ही काहेका ? मानो "कुछ हुआ ही नहीं है, " ऐसी निर्विकार चर्या रख कर अत्यंत शांति के साथ आत्मीयता की भावना दिखाता हुआ वह प्रहस्त से बोला, "मुझे पिताजीने जिस दिन यह लंका सौंपी थी, उस दिन तो इस में एक भी राक्षस नहीं था। यह बिलकुल उजडी हुई पडी थी। मैंने इसको बसाने के लिए बडे बडे यत्न किये हैं। किसी को बडे बडे पुरस्कार दिये हैं, किसी की मानमर्यादा बढाई है, अनेकों को बडी बडी पदवियोंसे विभूषित किया है, तथा अनेकोंको अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं, तब कहीं जाकर इस लंकापुरी में इतनी बडी बसती दिखाई दे रही है। अब आप यह कह रहे हैं कि, "यहाँ राक्षसों की बसती और राक्षसों की ही सत्ता थी, " तो मेरे यहाँ आकर बसने से पहले होगी भी ! आप मुझ से झूठ थोडे ही कहते होंगे! परंतु इस वादविवाद की आवश्यकता ही कौनसी है ? रावण मेरे लिए कोई पराया तो है ही नहीं ? मेरा छोटा भाई ही तो है। उसको आपके साथ इस प्रकार संदेशा भेजने की आवश्यकता ही क्या थी ? सीधा मेरे पास क्यों नहीं चला आया ? आपही उसको अपने साथ यहाँ क्यों नहीं ले आये ? मेरे विचार से तो आप पीछे लौट जाएँ और रावण से मेरा संदेशा कहें कि, "यह लंका, यह राजपाट, यहाँ की सब धनसंपत्ति, अश्वशाला, गजशाला, आदि जो कुछ **मेरा** है, वह सब **तेरा** ही है। तू यहाँ सुख से चला आ और इस राज्यश्रीका उपभोग यथेष्ट कर। राजशासन आदि के झगडों में पडने की तुझे क्या आवश्यकता है ? तू यहाँ चला आ और मनमानी मौजें उडा ! "

काम इतनी सरलता से बनता देखकर प्रहस्त मामा बडे हर्षित हो गये। परंतु कुबेर इधर कुछ दूसरी ही चाल सोच रहा था। उसने थोडी देर रुक कर फिर मामाजी से कहा–"हाँ तो मामाजी ! लंका तो अब आपको सौंप देना निश्चित ही है ! तथापि, राजकार्य होनेके कारण

यह बात मंत्रिमंडल के सामने रखकर इस में उन की अनुमति लेने का शिष्टाचार भी पालना आवश्यक है। जो कुछ कारवाई अब आगे होनी है, वह राजनियमानुसार (officially) होती ही रहेगी। यह काम घंटे दो घंटे का तो है ही नहीं? दोचार दिन तो लग ही जाएँगे। इसलिए मेरी आप से यह प्रार्थना है कि, तबतक आप मेरे घर की पहुनाई स्वीकार करें। क्योंकि यह लंका अब आप की होनेवाली है। फिर मुझे कब ऐसा अवसर मिलेगा कि, मैं अपने घर में आप की सेवा करूं? आप रावण के मामा हैं, वैसे मेरे भी तो हैं? कोई दूसरे तो हैं ही नहीं। आप के लिए तो जैसा रावण वैसा ही मैं भी हूं। आज के जैसा अवसर फिर कभी हाथ आनेवाला नहीं है।'

इस प्रकार मधुर भाषणद्वारा प्रहस्तमामाजी को कुबेरने अपने वाग्जाल में फाँस लिया और उन्हें अपने पाहुन बना कर एक अच्छे सजेसजाये महल में रख दिया। मामाजी के लिये हाजिरबाश (A. D. Cs.) नियुक्त कर दिये और महल के चौगिर्द पहरे चौकी लगा दिये। मामाजी को कहीं घूमने, फिरने या हवाखोरी को जाने की इच्छा होने-पर हाथी, घोडे, रथ, शिबिकाओं आदि का प्रबन्ध उन की सवारी के लिए कर दिया। बाहर निकलते ही शरीररक्षक (body-guard), छडीदार, चोपदार, सिपाहीपयादे आदि सब ऐश्वर्य उन के साथ रखने का प्रबन्ध कर दिया और स्वयं वह (कुबेर) भी दिनभर मामाजी की हाजिरी में रहा। रात में मामाजी की पहुनाई और भी अधिक समारोहके साथ हुई। नृत्य, गायन, खान, पान आदि बातों में पहर रात बीत गई। मामाजी भी निद्रावश हो गये।

मामाजी को निद्रादेवी की गाढ आराधना में लगा कर, कुबेर चुपचाप पुष्पक विमान पर चढकर आधी रातके समय मेरुपर्वत पर विश्रवा ब्रह्मर्षि के आश्रम में जा पहुँचा। उस को आधी रात बीते इस तरह आया हुआ देखकर विश्रवा मुनि आश्चर्यचकित हो गये और उन्होंने कुबेर से ऐसी मध्यरात्रिमें आनेका कारण पूछा। कुबेरने प्रत्युत्तर दिया-

एष तात दशग्रीवः दूतं प्रेषितवान् मम ॥३४॥
दीयतां नगरी लंका पूर्वं रक्षगणोषिता।
मयाऽत्र किमनुष्ठेयं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत ॥३५॥
(उत्तरकांड सर्ग ११)

"रावणने मेरे पास अपना दूत भेजकर कहला भेजा है कि, 'यह लंकापुरी पहले राक्षसों की थी। अतएव यह मुझको अब सौंप दो।' सो, हे पिताजी! मैं इस समय क्या करूं, इस की मुझे आज्ञा हो।'

यह सुनकर महर्षिने कहा, "अरे, क्या वह तुम्हारे पास आ भी पहुँचा? उसने मेरे सामने इस विषय में बात निकाली थी, परन्तु मैंने उस का तीव्र निषेध किया और जब उसने मेरा निषेध नहीं माना, तब क्रोधावेश में आकर उस को मैंने शाप भी दे दिया कि, 'तेरे अधीन लंका का अधिराज्य आने पर तू उस को खो देगा और स्वयं अपना भी नाश कर लेगा।"

कुबेरने कहा, 'पिताजी! आपने रावण का अवश्य ही निषेध किया होगा और उस को शाप भी दिया होगा। पर अब मेरे लिए आप की क्या आज्ञा है?' तब प्रत्युत्तर में विश्रवा मुनिने कहा- 'पुत्र! यदि मेरी संमति पूछते हो, तो कल्याणकारक और धर्म के अनुसार मैं तुम को मार्ग बतलाता हूँ, उस का अनुसरण करो-

श्रेयोऽभियुक्तं धर्म्यं च श्रृणु पुत्र वचो मम ॥३८॥
वरप्रदानसंमूढो मान्यामान्यं सुदुर्मतिः।
न वेत्ति मम शापाच्च प्रकृतिं दारुणां गतः ॥३९॥
तस्माद्गच्छ महाबाहो कैलासं धरणीधरम्।
निवेशय निवासार्थं त्यक्त्वा लंकां सहानुगः ॥४१॥
(उत्तरकांड सर्ग ११)

'वह दुर्मति रावण वरप्रदान प्राप्त कर के उन्मत्त हो गया है। वह अब किसी को कुछ समझता ही नहीं है। पुनः मेरे शाप से वह अब अत्यन्त चिढा हुआ भी है। इसलिए मेरा तुम से अनुरोध है कि, तुम लंका उस को सौंप दो और अपने सब कुटुंबी, परिजन आदि अपने साथ लेकर कैलास पर्वत पर जाकर रहो। यह तुम जानते ही हो कि, रावणने बहुत बडा वरदान प्राप्त किया है। उस से शत्रुता कर के तुम पार न पा सकोगे। इस के अतिरिक्त, ऐसी शत्रुता मैं इष्ट भी नहीं समझता। क्योंकि उस में दोनों की सेनाएं मारी जाएँगीं और युद्ध में तुम को विजय मिलेगी ही, इस का कोई निश्चय भी नहीं है। अबतक लंका के राज्य का तुम उपभोग कर ही चुके हो। अब उस को रावण के हाथ में सौंप कर झगडा मिटा दो। आखिर

वह भी तो तुम्हारा छोटा भाई ही है । '

एवं उक्तो गृहीत्वा तु तद्वचः पितृगौरवात् ।
सदारपुत्रः सामात्यः सवाहनधनो गतः ॥४४॥
(उत्तरकांड सर्ग ११)

कुबेर अपने पिता की आज्ञा माथे पर चढाकर लंका को रातोरात वापिस लौट आया और सूर्य का उदय होने से पहले ही अपने अधिकार में लंका की सब धनसम्पत्ति, कोश, हाथी, घोडे, रथ, इत्यादि सब कैलासपर्वत की ओर रवाना कर दिये, तथा स्वयं लंका का त्यागपत्र प्रहस्त के हाथ में देने के लिए सूर्योदय की बाट जोहता बैठा ।

लंका की सर्व धनसम्पत्ति, कोश, हाथी, घोडे, रथ इत्यादि सब कैलास पर्वत की ओर जाने लगे । उन का कोलाहलध्वनि सुनकर प्रहस्त मामाजी की नींद खुल गई । उन्होंने अपने महल की खिडकी के बाहर झांका और आँखें खुली रखकर भली भाँति देख लिया कि, लंका की धनसम्पत्ति, हाथी, घोडे, रथ आदि सब लंका से बाहर जा रहे हैं और लंका खाली हो रही है । लेकिन चुपचाप बैठने के व्यतिरिक्त कर ही क्या सकते थे ? वे तो बेचारे यहाँ पहुनाई में फँसे हुए थे !

प्रातःकाल हुआ । कुबेरने अपनी राजसभा बुलाई और मामाजी को बडे समारोह के साथ दरबार में बुला कर उन्हें उच्चासन पर अपने निकट बिठाया और बडे आदर के साथ उन के हाथ में त्यागपत्र के साथ खाली की हुई लंका भी सौंप दी । मामाजीने भी विचार किया कि, लंका हाथ में आकर अपना पैर तो वहाँ जम गया । अब गई हुई धनसम्पत्ति, रथ अश्व, गज आदि ले लेना कौन कठिन कार्य हैं ? अतः लंका हस्तगत होते ही वह (प्रहस्त) रावण के पास गया और बोला कि, ' कुबेर लंका को खाली कर के अपने परिजनोंसमेत लंका से बाहर निकल गया है, सो अब तुम चलकर उस को अपनी अधीनता में ले लो और अपने धर्म का पालन करो । ' तब रावणने अपने परिजनोंसमेत लंका में प्रवेश किया और प्रहस्त, सुमाली आदि राक्षसोंने बडे समारोह के साथ लंका की राजगद्दी पर उस की स्थापना की । इस प्रकार राक्षसोंने अत्यन्त दूरदर्शिता से गूढ षड्यंत्र रचकर अपना तथा शत्रु का एक भी मनुष्य न मरने देते, देवों की चंगुल में फँसा हुआ अपना लंका का राज्य पुनः प्राप्त कर लिया ।

यहाँतक की वर्णन की हुई घटना से– राजकीय षड्यन्त्र कैसे दीर्घ कालतक पकते रहते हैं, तथा उन को अंततक पहुँचाने के लिए कैसी कैसी चालें चलनी पडती हैं और इतिहासकी पुनरावृत्ति कैसी होती है, इत्यादि बातें विचार करनेयोग्य निकलती हैं । इन में से प्रथमतः राजकीय षड्यंत्र दीर्घ कालतक कैसे पकते रहते हैं, इस का विचार करेंगे–

(१) कोईं भी राजकीय गुप्त षड्यन्त्र जब जनता में प्रकट होता है, वह प्रकट होने से कई दिनपूर्व, किंच कई वर्षों पहले से उस की घटना अत्यन्त गुप्त हुआ करती है । सुमाली राक्षस के मन में अपनी लंका पुनः प्राप्त करने की कल्पना का उद्भव हुआ, उस दिन से लेकर वह कल्पना मूर्त स्वरूपको पहुँचाने तक ४०–४२ वर्ष लग गये । इतनी अवधि में उसने कुबेर का प्रतिद्वंद्वी निर्माण करने की कल्पना को लेकर अपने संकल्पित गुप्त षड्यन्त्र की रचना की और वह इतनी गुप्त रक्खी कि, जिस के आधार पर उसकी पूर्तता निर्भर थी, उस रावण को भी योग्य समय आने तक उस की गंध भी नहीं लगने दी !

रावण बाल्यावस्था में ही तपश्चर्या के लिए गोकर्णक्षेत्र को गया था । उस समय वह सम्भवतः पंद्रह या बारह वर्षका होगा । वहाँ उसने दश सहस्र वर्षोंतक तपश्चर्या की होने का वर्णन है । अब यदि मीमांसकों के सिद्धांतानुसार एक वर्ष को ' एक दिन ' मान लिया जाय, तो दस हजार दिनों के लगभग अट्ठाईस वर्ष होते हैं । अर्थात् रावण तपश्चर्या पूरी कर के और प्रजापति ब्रह्मदेव से वरप्राप्ति कर के वापिस घर को आया, तबतक वह ४०–४२ वर्षका हो चुका था । अर्थात् सुमालीने अपने गुप्त षड्यन्त्र का बीजारोपण ४०–४२ वर्ष के पूर्व ही कर रक्खा था और गुप्त रीति से ४०–४२ वर्षोंतक– उसका वृक्ष बन कर उस पर फल लगाने तक, अर्थात् अपना इच्छित हेतु सिद्ध होने तक–वह उस का परिपोष कर रहा था ।

ई० स० १९१४ का यूरोपीय महायुद्ध भी कोई आकस्मिक घटना नहीं थी । कहा जाता है कि उसकी आग

कैसर (जर्मनी) के पेट में ४० वर्षों से पहले पैदा होकर धीरे धीरे छुपे तौरपर ४० वर्षोंतक सुलग रही थी और अंत में १९१४ में उसकी ज्वाला एकदम भडक उठी थी।

कोई एक राजकीय षड्यंत्र इतने इतने वर्षों में परिपक्व होकर सिद्ध हो जायगा, इसका अनुमान बांधकर उसकी रूपरेषा राजमंत्री अपने गुप्त (Blue Book) ' ब्ल्यू बुक ' में लिख रहते हैं और पीढी दरपीढी उसके संशोधन, पुनर्घटनादि संस्कार जो हुआ करते हैं, वे भी उस ब्ल्यू बुक में लिख दिए जाते हैं, तथा योग्य समयतक उन्हें गुप्त भी रक्खा जाता है। किसी एक राजा या मंत्री के अनुशासन में किसी गुप्त षड्यन्त्र का बीज बोया जाता है और उस राजा या मन्त्री की कई पीढियों के पश्चात् होनेवाले किसी राजा या मन्त्री के समय उसकी फलप्राप्ति होती है। सुमाली राक्षस का गुप्त षड्यन्त्र इसी प्रकार का दीर्घसूत्री पाया जाता है। कैसर का भी ऐसाही दीर्घसूत्री था।

(२) ऐसे गुप्त षड्यन्त्रों को सिद्ध करने के हेतु जो कुछ युक्तियाँ या चालें चलाई जाती हैं, उन्हीं में अपनी विवाहयोग्य कन्या का शत्रु राजा के अन्तःपुर के अन्दर प्रवेश करा देना और फिर उससे होनेवाले पुत्रके द्वारा उस शत्रुराज्य पर अपना स्वत्व प्रस्थापित करके, उसको हडप लेना यह भी एक चाल है। इसीका अवलंब सुमालीने किया हुआ पूर्वोक्त घटना से प्रतीत होता है।

(३) इतिहास की पुनरावृत्ति–

' अरयोऽपि च संधेया सति कार्यार्थगौरवे । '

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात्– अपना कोई बडा मतलब साधना हो, तो शत्रु से भी मित्रता करनी चाहिए। इसके उदाहरण–

(१) प्राचीन काल में **अमृतप्राप्ति** के लिए देवों को समुद्र मंथन करना था। इस काम के लिए मेरुपर्वत की मंथनी बनाई गई और वासुकी नाग की रज्जु बनाई गई। इस रज्जु का एक छोर पकडकर खींचने के लिए देवगण तैयार थे, परन्तु दूसरे छोर को पकडने के लिए कोई नहीं था। अब इस काम के लिए कौन बुलाया जावे, इस सोचमें देव पड गए और **भगवान् महाविष्णु** से इस का उपाय पूछने लगे। तब भगवान् महाविष्णुने उन्हें **दैत्यराज** बलिके पास जाकर दैत्यों की सहायता प्राप्त करने का परामर्श दिया। परन्तु बलि आदि दैत्यों से तो देवों की पूरी शत्रुता थी। उनसे सहायता की याचना कैसे की जाय, इस सोच में देव फिर पड गए। तब महाविष्णुने कहा– ' भाईयो, ऐसे सोच में क्यों पडे हो? **' अरयोऽपि च संधेया सति कार्यार्थगौरवे '** यदि कोई महत्कार्य सिद्ध करना हो, तो उसके सिद्ध होने तक शत्रु के भी गले में हाथ डालकर (उससे मित्रता करके) अपना मतलब गाँठ लेना चाहिए और कार्यसमाप्ति होते ही **' श्मशानघटि का इव वर्जनीयाः '** इस उक्ति के अनुसार उनसे संबन्ध परित्याग कर देना चाहिए। ' भगवान् महाविष्णु के इस मन्त्रके अनुसार उस समय के लिए **देव विनम्र बन गए और दैत्यों से संधि करके,** उन्हें समुद्र मंथन में अपना सहायक बनाकर अपना काम निकाल लिया। यह है इतिहास की प्रथमावृत्ति।

(२) लंका का अधिराज्य देवों से पुनः प्राप्त कर लेना था। इसके लिए जिन देवोंने राक्षसों को पराजित करके उनसे लंका छीन ली थी और राजा सुमाली को पदभ्रष्ट करके सब राक्षसजातिसमेत वहाँ से निर्वासित कर दिया था, उन्हीं देवों से लंका लौटा लेने के लिए **सुमाली राक्षसने** अपनी विवाहयोग्य पुत्रीका शत्रु-राजा कुबेर के पिताके घरमें प्रवेश करवा दिया और उससे पुत्रोत्पत्ति करवा कर, उस पुत्र के द्वारा लंकापर अपना स्वत्वाधिकार प्रस्थापित करवाया और इस प्रकार लंका का राज्य राक्षसों ने पुनश्च अपनी अधीनता में कर लिया। यह इतिहास की द्वितीय पुनरावृत्ति हुई।

(३) **इंग्लिश** और **फ्रेंच** लोगोंका **अहि-नकुल-संबंध नेपोलियन् बोनापार्ट** के समय से चला आ रहा था; यह बात इतिहासप्रसिद्ध है। परन्तु सन् १९१४ ई० में जब जर्मनीने युद्ध की घोषणा की थी, तब इंग्लिश लोगोंने अपना पुराना वैर भुला दिया था और फ्रेंच लोगों से सख्य जोड लिया था। यह हुई **' अरयोऽपि च संधेया सति कार्यार्थगौरवे '** की तृतीयावृत्ति।

सारांश, इस प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति सृष्टिके आरम्भ से होती हुई चली आ रही है और सृष्टिका अन्त होने तक ऐसी ही होती रहेगी।

अबतक किये हुए विवेचन से प्रवीण पाठकों के ध्यान में यह बात भली भाँति आ गई होगी कि राक्षस कैसे **गूढ षड्यंत्रकारी** तथा चालबाज थे। ऐसे कूटनीतिज्ञ, धूर्त, शूर, विद्वान् तथा सभ्यता में पुरोगामी राक्षसों पर भी श्रीरामचंद्रजीने विजय प्राप्त किए, इस से उन की श्रेष्ठता तथा उन्होंने प्राप्त किए हुए विजयों की उज्ज्वलता विद्वान् पाठकों के ध्यान में आ जाएंगी।

(८)

विपर्यास-निरसन।

गत निबंध में "**राक्षसों का गूढ षड्यंत्र**" वर्णन कर के, राक्षस कैसे **गूढ षड्यंत्रकारी** तथा **चालबाज** थे, यह बातें विद्वान् पाठकों के ध्यान में ला देने का यत्न यथाशक्ति किया गया; अब प्रस्तुत निबंध में मुख्य ग्रंथांतर्गत जिन कथाओं के विपर्यास किये गये हैं, उन में से कतिपय कथाओं के विपर्यासों का निरसन करके उन के सत्य स्वरूपों को महर्षि वाल्मीकिजी ही की उक्तियों के आधार पर विद्वान् पाठकों के सम्मुख रखने का विचार है। दृष्टान्त के लिए रामायणांतर्गत तीन कथाभाग हमने विचारार्थ लिये हैं, उनका विचार प्रथमतः कर के उस के पश्चात् उत्तरकांड का भी विचार करेंगे।

विचारान्तर्गत कथाएँ निम्नलिखित हैं- **(१) सीता-स्वयंवर, (२) अहल्या-शिला** और **(३) शबरी के उच्छिष्ट बेर।**

(१) सीतास्वयंवर।

सीताजी के स्वयंवर के विषय में अनेक कवियोंने रसपूर्ण काव्यरचनाएँ की हैं। कथावाचक पौराणिक भी अपनी अपनी कल्पनाओं से उस में अधिकाधिक रसोत्पत्ति कर के सामयिक श्रोताओंका मनोरंजन कर देते हैं।

वे (कथावाचक, पौराणिक) प्रथम रावण को स्वयंवर की रंगभूमि पर जबर्दस्ती से खींच लाते हैं और उससे शिवधनुष्य उठवाते हैं। वह धनुष्य रावण से उठाता नहीं है। बडी कठिनाई से वह उस को उठा भी पाता है, तो ऐसे भारी धनुष्य का तोल न सँभलने के कारण वह पृथ्वी पर उतान गिर पडता है और धनुष्य के नीचे दब जाता है। फिर वही धनुष्य श्रीरामचंद्रजी से उठवा कर उस के नीचे दबे हुए रावण को कथावाचक लोग मुक्त करवा देते हैं! फिर रावण अपने वस्त्र आदि की धूल झाडता हुआ, उठ कर खडा हो जाता है, उपस्थित राजा और राजपुत्र उस की ठठौली करते हैं और इस प्रकार सर्व प्रकार से अपमानित करवा के कथावाचक लोग रंगभूमि से रावण को बिदा कर के अपने 'श्रोतागण' को खूब हँसा हँसा कर छोडते हैं। परन्तु, सच तो यह है कि, सीताजी के विवाह के समय धनुष्य उठाने के लिए उस स्वयंवर मंडप में न तो रावण आया ही है और न सीताजी का स्वयंवर भी हुआ है। ये सब कविकल्पनाओं के खेल हैं और लोकरंजन के विचार से वे उचित भी हो सकते हैं; परन्तु हमें तो वाल्मीकि रामायण के आधार से इस विषय का विचार ऐतिहासिक दृष्ट्या करना है।

ऐतिहासिक दृष्ट्या विचार करने में सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि, मूल ग्रंथ में इस के लिए कुछ आधार है या नहीं। सीताविवाह का वर्णन मूल ग्रंथ-वाल्मीकि रामायण में बालकांड सर्ग ७० से सर्ग ७३ के समाप्त होने तक किया हुआ है। उस में रावण स्वयंवरमंडप में आया होने का कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी का विवाह **ब्राह्म पद्धति से** हुआ है, ऐसा ही स्पष्ट वर्णन सर्वत्र पाया जाता है। **स्वयंवर** का कहीं नाम भी नहीं है। तब फिर सीताजी के विवाह को अनेकोंने '**स्वयंवर**' क्यों कहा, यह प्रश्न स्वाभाविकतया यहाँ उपस्थित होता है। अतः उसका निराकरण करने के लिए प्रथमतः स्वयंवर शब्द का स्पष्टीकरण कर देना हमें आवश्यक प्रतीत होता है।

'स्वयंवर' शब्द का अर्थ यह है कि, वधू अपनी इच्छाके अनुसार वर को पसंद करके उसके साथ विवाह करे। यही '**स्वयंवर**' शब्द की व्याख्या है। इस व्याख्या के अनुसार विचार करने से सीताजी के विवाह

को 'स्वयंवर' नहीं कहा जा सकता। 'क्योंकि जो कोई शिवधनुष्य को नवा कर उसको प्रत्यंचा चढा देगा, उसी के साथ सीताजी ब्याही जायँगी,' यह प्रण राजा जनकने-सीताजी के पिताने-किया था, सीताजीने नहीं किया था। इस प्रण का अर्थ यही होता था कि, जो कोई उस प्रण को पूरा करता, उसी के गले में वरमाला पहनाना सीताजीके लिए अवश्य था। श्रीरामचंद्रजीने उस प्रण को पूरा किया इस लिए सीताजीने श्रीरामचंद्रजी को वरण किया। यदि रावणने प्रण पूरा किया होता, तो उन्हें रावणको ही बरना पडता अथवा अन्य किसीने प्रण पूरा किया होता, तो उसको वरना पडता। इसमें सीताजी की इच्छा या अनिच्छा को कोई प्राधान्य नहीं था। अर्थात् सीताजी के विवाह को 'स्वयंवर' कैसे कहा जा सकता है? वह 'स्वयंवर' नहीं है, अपितु 'समाह्वय' है।

मानवधर्मशास्त्र में 'द्यूत-समाह्वय' प्रकरण में 'द्यूत' और 'समाह्वय' दोनों शब्दों की व्याख्या मनु महर्षिने स्पष्ट ही कर दी है। यथा–

'अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥'
(मनु. अध्याय ९, श्लोक २२३)

अर्थात्– निर्जीव वस्तु पर जो दाँव बदा जाता है, उस को द्यूत कहते हैं, और सजीव वस्तु पर जो प्रण लगाया जाता है उसको 'समाह्वय' कहते हैं।

कानून की भाषामें कहा जाय, तो सीताजी एक 'सजीव वस्तु' ही है और उसी सजीव वस्तु के ऊपर राजा जनकजीने प्रण लगाया है, इसीलिए वह 'समाह्वय' है, 'स्वयंवर' नहीं है।

ऐसा है, तो फिर अनसूयाजी के पूछने पर सीताजीने प्रत्युत्तर में जो अपना स्वयंवर होना स्वयं स्वीकार किया है, उसकी संगति कैसे लगाई जाए? अनसूयाजीने पूछा था–

स्वयंवरे निर्जितासि त्वं अनेन यशस्विना ।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥
(अयोध्याकांड सर्ग ११८)

अर्थात्– हे सीताजी! इन यशस्वी श्रीरामचंद्रजीने तुम को स्वयंवर में जीत लिया है, ऐसी वार्ता मेरे कानपर आई है, उसको मैं तुम्हारे मुखसे सुनना चाहती हूँ; सो, वह मुझे विस्तारपूर्वक सुनाओ। तब सीताजीने कहा था–

तस्य बुद्धिरियं जाता चिंतयानस्य सांप्रतम् ।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धीमतः ॥३८॥
एवं दत्ताऽस्मि रामाय तदा तस्मिन् स्वयंवरे ॥५४॥
(अयोध्याकांड सर्ग ११८)

उक्त प्रत्युत्तर में अपना स्वयंवर होना, स्वयं सीताजीने ही मान्य किया है। इसपर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि, इस स्थानपर 'स्वयंवर' शब्द 'औपचारिक' अर्थ में है, 'वास्तविक' अर्थ में नहीं है। कोई एक बात किसी दूसरी बात के सदृश बाह्यतः दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में वह वैसी नहीं होती, उसको 'औपचारिक' कहते हैं। यथा– 'वृषलस्य पत्नी' पाणिनि मुनिने 'पत्नी' शब्दको सिद्ध करने के लिए 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४-१-३३) यह सूत्र कहा हुआ है। इसका स्पष्टीकरण वृत्तिकारोंने किया है कि, 'जिस स्त्री का अपने पतिके साथ यज्ञकर्म में संयोग होता है, यानी जो स्त्री अपने पति की यज्ञकर्म की सहकारिणी होती है, उसी स्त्री को पत्नी कहते हैं।' अब यहाँ ऐसी शंका उपस्थित हुई कि, यज्ञकर्म का अधिकार तो केवल त्रैवर्णिक द्विजाति ही को होता है, वृषल यानी शूद्र को यज्ञ-कर्म का अधिकार नहीं होता; तब फिर, 'वृषलस्य पत्नी' यह शब्दप्रयोग कैसे हुआ? इसका समाधान वृत्तिकार यों करते हैं कि, 'पत्नी इव पत्नी इति' उपचारात्', अर्थात् वह पत्नी ही के सदृश होने से उसको 'उपचारात्' यानि औपचारिक रीतिसे 'पत्नी' कहा गया है। यानी, पति यज्ञकर्म का अधिकारी न होनेके कारण यद्यपि वृषल-पत्नी अपने पति को एक यज्ञकार्य में सहायता नहीं देती, तो क्या हुआ? इतर सब वृषलोचित धर्मकार्यों तथा गृहकार्यों में तो- द्विजाति की पत्नी के सदृश ही- वह अपने पति की सहकारिणी होती ही है; अतएव, उस को भी 'पत्नी' ही कहना चाहिये।

दूसरा दृष्टान्त- 'सदा दिवाली संत घर जो गुड गेहूँ होय।' अर्थात् "जिसके घर में खानेपीने की सर्व प्रकार से समृद्धि होती है, उसके घर में सदा 'दिवाली' ही रहा करती है।" इस लोकोक्ति के अनुसार क्या सच-

मुच ही किसी समृद्धिशाली घर में नित्यशः 'दीवाली' हुआ करती है? वस्तुतः नहीं हुआ करती। परन्तु उसे औपचारिक रीत्या 'दिवाली' ही कहते हैं।

इसी न्याय से सीताजी के विवाह को भी '**स्वयंवर**' कहा गया है। क्योंकि उसमें भी तो स्वयंवर के सदृश ही अनेक राजाओं का एकत्र होना, उनके रहने के लिए उचित निवासस्थानों का प्रबन्ध होना, उनके लिये प्रति दिन बडी बडी दावतें होना, नित्यप्रति नृत्य, गायन, वादन आदि मनोरंजक जलसे होना, रंगभूमि के ऊपर सब राजाओं तथा राजपुत्रों का एकत्रित होना आदि सब बातें स्वयंवर के अनुसार ही हुई हैं। स्वयंवरों में यही सब बातें हुआ करती हैं। अंतर केवल इतनाही रह जाता है कि, यहाँ वधू अपने लिये वर का चुनाव स्वयं नहीं करती, किंतु जो कोई उसमें लगाये हुए निश्चित प्रण को जीत लेता है, वही उस वधू को- उसकी इच्छा-अनिच्छा का कुछ विचार न करके ग्रहण करता है, और फिर उन दोनों का यथाविधि विवाह हो जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट विवरण से यह बात स्पष्टतया ध्यान में आ सकती है कि, सीताजी का '**स्वयंवर**' नहीं हुआ था। उसके सब उपचार '**स्वयंवर** के सदृश ही हुए थे, इसलिए उसको **औपचारिक रीत्या** '**स्वयंवर**' कहा गया है।

वास्तव में स्वयंवर **सावित्री** का हुआ था। उसने चुना हुआ वर 'अति अल्पायुषी' है, 'एक ही वर्ष के अन्दर मृत्युवश होगा,' यह भविष्य नारदमुनिने कहा होने पर भी, तथा पिता के निवारण करने पर भी सावित्री ने—

सत्यवान् अनुरूपो मे भर्तेति मनसावृतः ॥१०॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृत् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥११॥

(महाभारत, वनपर्व अ० २९५)

यह उत्तर देकर, जिसको एक वार आत्मसमर्पण कर दिया था, उसी को उसने वरण किया। भावी वैधव्य आँखों के सामने मूर्तिमान् दीखता होने पर भी वह अपने निश्चय से नहीं डिगी और अपनी अविचल पतिनिष्ठा के बल पर अपने पति को प्रत्यक्ष यमधर्म के हाथ से छुडा लाई।

दूसरा स्वयंवर **दमयंती** का हुआ था। इंद्र, सूर्य, यम और वरुण- चारों लोकपाल पुण्यश्लोक राजा नल का रूप धारण करके स्वयंवरमंडप में आये थे। वहाँ एकसाथ पाँच नलरूपधारी पुरुषों को देखकर दमयंतीने हाथ जोड कर अत्यंत नम्रतापूर्वक उन से कहा—

हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥१७॥
मनसा वचसा चैव यथा नातिचराम्यहम्।
तेन सत्येन विबुधाः तमेव प्रदिशन्तु मे ॥१८॥
स्वं चैव रूपं पुष्यन्तु लोकपाला महेश्वराः।
यथाऽहं अभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥२०॥

(महाभारत वनपर्व अध्याय ५४)

अर्थात्- हंसों के वचन सुनकर जिस सत्य के बल पर निषधाधिपति राजा नल को मैंने मनोमन वरा है, उसी सत्य के बल से हे देवगण! आप में वास्तविक राजा नल कौन है, यह मुझे दिखा दीजिये। मैं मन से तथा वचन से भी राजा नल का अतिक्रमण नहीं करना चाहती, इसलिए हे देवगण! उसी सत्य के बल से वही नलराजा मुझे दिखा दीजिये। हे महान् ऐश्वर्यवाले लोकपालो! आप अपने मूलस्वरूप का पुनश्च अवलंब कीजिये, जिससे मैं उस पुण्यश्लोक राजा नल को पहिचान सकूं।

दमयन्ती की यह प्रार्थना सुन कर चारों लोकपालोंने बनावटी नलवेष त्याग कर अपना वास्तविक रूप धारण किया और फिर **दमयंतीने राजा नल को** वरमाला पहनाई। इस कथा का विस्तृत वर्णन महाभारत, वनपर्व अध्याय ५४ (नलोपाख्यानपर्व) में देखा जावे।

वास्तव में दमयन्तीने यदि चारों लोकपालों में से किसी एक को वरा होता, तो उसको देवत्व प्राप्त होकर वह अजरामर हो जाती और सार्वभौम राजा के लिए भी दुर्लभ ऐसे दिव्य भोग उसको प्राप्त हुए होते। परन्तु उसने उन सब भोगों को तुच्छ मानकर जिस को एक बार मनसे आत्मसमर्पण किया था, उस पुण्यश्लोक राजा नल ही को उसने वरा। इसी को कहते हैं **स्वयंवर**।

तीसरा स्वयंवर **रुक्मिणी** का हुआ था। यह स्वयंवर उपरिनिर्दिष्ट दोनों स्वयंवरों की अपेक्षा कुछ निराले ही ढंग का हुआ है। यानी वह अद्ययुगीन सामाजिक सुधार के अनुरूप ही हुआ है। इस स्वयंवर में रुक्मिणी का

नैतिक धैर्य (Moral courage) पूर्णतया दिखाई देता है।

मातापिताने नियोजित किया हुआ वर-चेदिराज शिशुपाळ बरात लेकर विदर्भ की राजधानी में आ पहुँचा था। बरात में वरपक्षमें मगधाधिपति सम्राट् जरासंध भी आया हुआ था। वर का सीमान्तपूजन आदि सब विधि हो चुके थे और अब केवल कन्यादानविधि ही होना शेष रह गया था। परन्तु उधर रुक्मिणीने तो अवसर पाकर अत्यन्त गुप्तता से दूत के साथ अपने इच्छित वर को-भगवान् श्रीकृष्णजी को - पहले ही से प्रेमपत्र (Love-letter) भेज रक्खा था और उस पत्र में किस समय और किस स्थानपर मिलना, किस प्रकार खुद को हरण कर ले जाना, इत्यादि सब संकेत लिख भेजे थे। इसी पत्र के अनुसार श्रीकृष्णजी यथासमय संकेतस्थल पर आ पहुँचे और ऐन विवाह के समय सब लोगों के देखते ही देखते रुक्मिणी उन के साथ-अपने इच्छित वर के साथ घर से निकल पडी।

जिन प्रेमी मातापिताने सब प्रकारके कष्ट अपने लिए झेले थे और बडे परिश्रम से अपने को पालापोसा था, अज्ञान से सज्ञान बनाया था, हर प्रकार से दुलार किया था, उन मातापिता के मुहँ को अपनी इस करनी से स्याही पुत जायगी, बिरादरी में उन को नीचा देखना पडेगा, मानहानि से चिढे हुए शिशुपाल तथा उस के पक्ष के जरासंध आदि राजा अपने पिता के शत्रु बनकर विदर्भ देश पर आक्रमण करेंगे और अपने वृद्ध पिता को राज्यभ्रष्ट कर देंगे, वृद्ध मातापिता को शायद जन्मभर शत्रु के यहाँ बंदी होकर रहना पडेगा, युद्ध में दोनों ओर के हजारों वीर मारे जाएँगे, उन की स्त्रियाँ विधवा होंगी, उन के बालबच्चे अनाथ हो जाएंगे, इत्यादि अनेक अनर्थों की मालिका रुक्मिणी की आँखों के सामने थी, तथापि उन की तनिक भी परवा उसने नहीं की और केवल अकेले अपने ही स्वार्थ के पीछे अपने पूज्य और प्रेमी माता-पिता को घोर संकट में डाला, हजारों शूर वीरों को काल के मुँह में दे दिया, उन की स्त्रियाँ तथा बालबच्चों को सदा के लिए शोकसागर में डुबो दिया और रुक्मिणी श्रीकृष्णजी के साथ चली गई! इसी को कहते हैं सच्चा नीतिधैर्य (Moral Courage)? और इसी को कहते हैं, स्वयंवर।

नवमतसांप्रदायी हमारे कालेजकुमार-गणोंसे और कालेज-कुमारी-गणोंसे हमारा अनुरोध है कि, वे रुक्मिणी को अपने आदर्श प्रेमविवाह की आद्य देवता मानकर प्रति वर्ष कॉलेज के वार्षिक गैदरिंग के समय रुक्मिणी-स्वयंवर-महोत्सव बडी धूम-धाम से मनाया करें और इस तरह आदर्श स्वयंवर की मार्गदर्शिका--आदर्श प्रेमविवाह की आद्यदेवता के ऋण से--पूरे नहीं, तो अंशतः ही सही-उऋण होने का यत्न करें।

परन्तु, नवमतानुयायी कालेज-कुमार-कुमारीगण इस बात का भी पूरा स्मरण रक्खें कि, रुक्मिणी का अनुकरण यदि उनको करना ही है, तो वह पूरा पूरा करें। रुक्मिणी का श्रीकृष्णजी के प्रति अलौकिक और दृढ प्रेम था। उसने जैसे अपने प्रेमसर्वस्व के लिए मातापिता, बंधुबांधव आदि सभी स्वजनों का परित्याग कर दिया था, वैसे ही श्रीकृष्णजी के देहावसान की वार्ता को सुनते ही उसने भी अपना शरीर जीतेजी अग्नि को समर्पण कर दिया था। श्रीकृष्णजी के पश्चात् एक क्षणभर के लिए भी जीवित रहना, उसको स्वीकृत नहीं हुआ। नवमतानुयायी विदुषी कुमारीगण भी इसी प्रकार अपने पति के प्रति सच्चा प्रेम और दृढ निष्ठा दिखावें।

विवाह- यह एक महत्तम पवित्र बंधन है। इस बंधन में बद्ध होनेवाले स्त्रीपुरुषों को एक दूसरे के लिए कुछ न कुछ स्वार्थ-त्याग करने के लिए सर्वकाल बद्धपरिकर रहना चाहिये, यह बात निर्विवाद है। इन में स्त्री के त्याग की मर्यादा तो यहाँ तक बढी हुई है कि, उसको पतिके पीछे स्वयं अपना भी अस्तित्व भूल जाने को तैयार हो जाना चाहिये। गंगा का अस्तित्व समुद्रके साथ उसका संगम होनेतक ही रहता है। समुद्र से मिलने पर अपना अमृततुल्य जीवन खारी हो जायगा, तथा अपना अस्तित्व ही मिट जायगा, इस बात का उस गंगा को भान ही रहता नहीं है। अपने पतिको--रत्नाकर को-उसके सब रत्नों का अपहार करके उसे पथका भिखारी बना देने का प्रयत्न अनादि काल से देवदैत्यों की ओर से होता रहा है, और इस बातको आँखें खोले हुए देखकर भी वह अपने अखंड प्रेमप्रवाह से उसको (रत्नाकरको) भरकर पुष्टि ही दे

रही है। समुद्र से अपना संगम हुआ है, इसलिए समुद्र में रहनेवाले नक्रमकरादि अनेक भयानक जीव अपने जल में घुस कर उस का यथेष्ट मंथन करेंगे, इत्यादि बातों की ओर गंगा का ध्यान ही नहीं जाता। अपनी अनेक सौतों का उसको डाह नहीं होता। एक समुद्र को छोड कर अन्यत्र कहीं भी दृष्टि न होने से वह स्वयमेव समुद्र ही हो चुकी है। किसी अवस्था में वह समुद्र की ओर जाते हुए अपने प्रवाह को पीछा नहीं लौटाती। विवाह-विच्छेद (divorce) की भाषा ही क्या, किन्तु उस की कल्पना भी गंगा के पास नहीं है। पतिस्वरूप में विलीन हो जाना, यही उस के पतिप्रेम की चरम सीमा है। **रुक्मिणी और भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम को** भी यही उपमा योग्य हो सकती है। जिसने अपने प्राणों की भी परवा नहीं की, उस के आगे ब्रह्मांड की भी कौन गिनती थी? श्री-कृष्णजी का देहावसान हुआ, यह सुनते ही उसने अपने आपको भी अग्निसात् कर लिया। इतना दृढ निश्चय जिन का हो, जिन्हें यह पूरा पूरा विश्वास हो कि, '**उन का उन के पतिपर सच्चा प्रेम है,**' रुक्मिणी के अनुसार ही पति के पश्चात् जिन की **जल मरने की तैयारी हो**, वे ही रुक्मिणी का अनुकरण कर सकती हैं, किसी ऐरीगैरी का यह काम नहीं है। **पति 'स्वामी,'** तो **पत्नी** उस की '**सेविका,**' पति '**परमेश्वर**' तो पत्नी उस की '**एकनिष्ठ भक्त**।' केवल एकतान भक्ति करना ही भक्त का कर्तव्य होता है। '**भगवान् धोखा देंगे**' इस की एकनिष्ठ भक्त के हृदय में कल्पना भी उदित नहीं होने पाती। और यदि यह कल्पना उस के हृदय में उदित हो जाए, तो फिर वह '**भक्त**' भी **कहलाने के लायक नहीं रहता**। रुक्मिणी के सदृश आदर्श पतिप्रेम में किसी समाचारपत्र में '**आवश्यकता**' के शीर्षक में '**विधवा-विवाहेच्छु वर चाहिए,**' इत्यादि विज्ञापन देने के लिए अवकाश ही नहीं है। सारांश, यदि रुक्मिणी का ही अनु-करण करना है, तो वह पूरा पूरा ही किया जाना चाहिये।

यह स्वयंवरप्रथा हमारे भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इन स्वयंवरों में (१) **सावित्री** का (२) **दमयंती** का (३) **रुक्मिणी** का (४) **सीताजी** का और (५) **द्रौपदी** का, ऐसे पाँच स्वयंवर प्रसिद्ध हैं। इन में प्रथम तीन ही '**स्वयं-वर**' कहलाने के लायक हैं, किन्तु तीनों में भी प्रकार-भिन्नता पाई जाती है। यथा–

(१) **प्रथम प्रकार– सावित्री के स्वयंवर का।** इस स्वयंवर में वधू (सावित्री) मातापिता की आज्ञा लेकर देशदेश में वरशोधन के लिए स्वयं परिभ्रमण करती है और अपने लिए अनुरूप वर मिलते ही उस को मन से वर भी लेती है। जिस वर को एक बार उसने प्रेमसमर्पण कर दिया, वह राज्यभ्रष्ट है, दरिद्र है, वनवासी है, तथा वह स्वयं एक राजपदारूढ राजा की कन्या है, इस का वह कुछ भी विचार नहीं करती। नारदजी के कथन से वैधव्य संकट निश्चित होकर भी वह अपने निश्चयपर अटल रह कर जिस को एक बार प्रेम समर्पण कर दिया उसी को वरती है। **यह पूर्ण निःस्वार्थ तथा दैवी प्रेम का नमूना है।**

(२) **दूसरा प्रकार दमयंती के स्वयंवर का।** इस में वरशोधन के लिए वधू स्वयं कहीं नहीं गई है, किंतु वधू-पिता के घर पर ही सब वर इकट्ठे हुए हैं। इस में दमयंती का नल के प्रति निःस्वार्थ तथा अटल प्रेम, नल का दमयंती के हेतु **स्वार्थत्याग** तथा औदार्य, **देवताओं** (लोकपालों) की **उदारता** तथा अन्यान्य राजा और राजपुत्रों की समंजसता तथा विचारशीलता इत्यादि बातें भली भाँति प्रतीत होती हैं। यथा–

(अ) **दमयंती का निःस्वार्थ और अटल प्रेम**:– यदि दमयन्तीने चारों लोकपालों में से किसी भी एक को वर लिया होता, तो उस को देवत्व प्राप्त हो जाता, वह अजरामर हो जाती और मनुष्यलोक में सार्वभौम राजा को भी प्राप्त न होनेवाले दिव्य भोग उस को प्राप्त हो जाते। तथापि, उन सब को नगण्य समझ कर एक बार जिस को आत्मसमर्पण कर दिया था, उस पुण्यश्लोक राजा नल के प्रेम से वह तिलभर भी नहीं डिगी और देवताओं को भी तुच्छ मान कर राजा नल ही के गले में उसने वरमाला पहना दी।

(आ) **राजा नल का स्वार्थत्याग तथा औदार्य**– राजा नल को पूर्णतया मालूम था कि, दमयंती उन पर प्रेम करती है। इन्द्रादि लोकपाल भी अपनी प्रेमिका-दमयंती-पर ही प्रेम करते हैं, यह जान लेने पर– यदि वह

उन लोकपालों में से किसी एक को वरना स्वीकार करेगी, तो उस को देवत्व प्राप्त होकर वह अजर और अमर हो जायगी और हमारी अपेक्षा अनन्तगुणित सुख की प्राप्ति उस को होगी, इत्यादि बातों का विचार कर के राजा नल ने केवल अपनी प्रेमिका के हितसाधन के लिए ही अपने प्रेम को जलांजलि देकर उन लोकपालों का दौत्य स्वीकार किया और दमयन्ती का मन फेर कर लोकपालों की ओर लगाने का यत्न किया।

(इ) इन्द्रादि लोकपालों की उदारता-इंद्रादि चारों लोकपाल नल का वेष धारण करके रंगभूमिपर राजा नलके ही पास बैठे थे। चारों दमयंती का अभिलाष रख-कर ही आये हुए थे। परन्तु, उनके ऐश्वर्य से दमयन्ती का चित्त विचलित नहीं हुआ, यह देखकर चारों लोकपालोंने मनोनिग्रह किया। दमयन्ती की प्रार्थना सुनते ही उसकी नलके ऊपर दृढ भक्ति, तथा उत्कृष्ट प्रेम को देखकर, प्रसन्न होकर चारों लोकपालोंने उसका अभिलाष छोड दिया और दोनों प्रेमियोंका- **नल और दमयंती का मीलन करा दिया।** इस में उन चारों लोकपाल देवताओं की भी त्याग-वृत्ति तथा उदारता प्रतीत होती है।

(ई) स्वयंवर को आए हुए राजा और राज-पुत्रों की समंजसता तथा विचारशीलता-- दमयंतीने राजा नल को वरमाला पहनाई, इस से उपस्थित राजाओं तथा राजपुत्रोंने-किसीने भी अपनी मानहानि नहीं समझी और लडाई, झगडा खडा नहीं किया, किंतु प्रसन्नता के साथ नल-दमयंती के विवाह-मंगल में सहकार्य करके बिना किसी विघ्नबाधा के उस शुभ कार्य को पूरा होने दिया। इस में उन राजा और राजपुत्रों की उदारता, समंजसता तथा विचारशीलता भली भाँति प्रतीत होती है।

(३) तीसरा प्रकार रुक्मिणी के स्वयंवर का- इस में रुक्मिणी का भगवान् श्रीकृष्णजीके प्रति प्रेम पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। यहाँतक कि अपने अकेली के प्रेम के लिए घोर रक्तपात और मनुष्य--हानिका मार्ग स्वीकार करने के लिए श्रीकृष्णजी को पत्र भेजकर अपने पास बुला लाने का भी साहस वह कर गई है और इसी कारण से उसके प्रेमको स्वार्थी तथा आसुरी स्वरूप प्राप्त हुआ है।

(४) द्रौपदीका स्वयंवर सीताजीके स्वयंवर के सदृश ही है। याने यह भी '**स्वयंवर**' नहीं है, किंतु '**समाहूय**' ही है। द्रौपदी के पिताने प्रण कर रक्खा था कि, 'जो कोई वीर धनुर्धर **मत्स्ययन्त्र** का भेदन करेगा, उसी को द्रौपदी वरमाला पहनायगी'। अर्थात् द्रौपदी भी सीताजी जैसी ही प्रण में लगाई हुई कन्या (सजीव वस्तु) थी। इस स्वयंवर में रुक्मिणी के स्वयंवर जैसी रक्त की नदी नहीं बही तथा मनुष्यहानि भी नहीं हुई, तथापि थोडी बहुत मारपीट अवश्य हो गई थी।

स्वयंवर में मारकाट या खूनखराबी हो जाए, तो आश्चर्य ही क्या है? किंतु न हो तभी आश्चर्य है। **दमयन्ती** के स्वयंवर जैसा कोई एक-आध स्वयंवर अपवादभूत भले ही हो जाय। भारतवर्ष में परकीय यवनों के पैर जमने के लिए तथा भारतवर्ष सदा के लिए **परतंत्रता के कर्दम में फँसने के** जो अनेक कारण हुए हैं, उन्हीं में से एक कारण इस **स्वयंवरप्रथा** को भी मान लिया जाए, तो वह अन्यथा नहीं होगा।

स्वयंवर में जितने राजा या राजपुत्र एकत्रित होंगे, उन में से किसी एक ही को वधू विवाहमाला पहनाएगी, यही निश्चित है। परन्तु जब वह वधू अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक को वरमाला पहना देती है, तब उस के विवाह-मंगल में सहर्ष सम्मिलित होकर सहकार्य करना छोड, बाकी सब राजा और राजपुत्र एकत्रित होकर उस प्राप्तयश वर से युद्ध करने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं और फिर दोनों ओर के सैनिकों की अकारथ हत्या होकर वे क्षीण-बल हो जाते हैं और फिर तीसरा ही कोई इस अवसर से लाभ उठा लेता है।

इस स्वयंवरप्रथा से भी भारतवर्ष के राजा हतबल हुए और परस्थ शत्रुओं का प्रतिकार करने की शक्ति उन में नहीं रही। अन्त में इस **स्वयंवरप्रथाने** ही भारतवर्ष के अन्तिम **सम्राट् पृथ्वीराज चौहान** के विरुद्ध **महंमद गोरी** को अपने घर में घुसा लेने के लिए **कन्नौज के राजा जयचन्द** को प्रवृत्त किया था। इस का परिणाम यह हुआ कि, **महंमद गोरीने पृथ्वीराज** को तो मार ही डाला, परन्तु जिस **जयचन्दने** उस को अपने घर में घुसा लिया था, उस **जयचन्द को** भी मार कर,

उस का भी राज्य उसने हडप लिया, तथा दिल्ली में मुसलमानी राज्य प्रस्थापित कर दिया । इस प्रकार स्वयंवर-प्रथा की बदौलत भारतवर्ष सदा के लिए परतंत्रता की बेडी में जकड गया ।

यहाँतक सीता-स्वयंवर तथा भारतवर्षीय स्वयंवरपद्धति का यथामति विचार किया गया । अब " अहल्या शिला " हुई और फिर श्रीरामचन्द्रजी के पदस्पर्श से वह पूर्ववत् ' स्त्री ' हो गई, इस के सम्बन्ध में विचार करेंगे ।

(२) अहल्या शिला ।

वाल्मीकि रामायण में बालकांड सर्ग ४८ श्लोक, ११ से ४९ सर्ग के अन्ततक यह कथाभाग आया हुआ है । विश्वामित्रजी का यज्ञ समाप्त होने के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी उन के साथ मिथिलानगरी को गये । मिथिलानगरी के समीप ही एक उजडा हुआ आश्रम देख कर श्रीरामचन्द्रजीने विश्वामित्रजी से पूछा कि, ' यह आश्रम किसका है ? ' प्रत्युत्तर में विश्वामित्रजीने उस का जो पूर्ववृत्तान्त कहा, वह यहाँ संक्षेपतः उद्धृत कर के, फिर उस पर विचार करेंगे ।

विश्वामित्रजी कहने लगे- ' हे रामचन्द्रजी ! अति प्राचीन काल से यह आश्रम महात्मा गौतमऋषि का है । इसी आश्रम में वे अपनी धर्मपत्नी अहल्या के साथ तपस्या किया करते थे । अहल्या की रूप-सुन्दरता पर देवराज इन्द्र आसक्त हो गया था और सदा उसकी ताक में रहा करता था । इस प्रकार अहल्या को घूरते घूरते एक दिन देवराज इन्द्र को अवसर मिल गया और वह गौतमऋषि का रूप धारण कर के उन के आश्रम में आकर अहल्या से कहने लगा—

> ऋतुकाले प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
> संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥१८॥
> (बालकांड सर्ग ४८)

गौतम ऋषि की ऐसी असमय याचना सुन कर अहल्या को संदेह हो गया और ज्योंही उसने उस छद्मवेषधारी गौतम को निरख कर देखा, त्योंही वह उस को पहचान गई कि, वह देवेन्द्र है और गौतमऋषि का वेष बना कर आया है । तत्रापि, रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा जैसी अत्यन्त रूपवती साठ सहस्र अप्सराएँ तथा त्रैलोक्य-सुंदरी शची जैसी स्त्री सेवा में सदासर्वकाल प्रस्तुत होकर भी देवराज इन्द्र अपनी सुंदरता पर मोहित होकर आया है, यह देख कर उस को अपनी सुंदरता का अत्यन्त गर्व हुआ और वह अपना पति गौतमऋषि नहीं है, किन्तु, देवेंद्र है, यह जान कर भी देवेन्द्र के समागम-सुख का अनुभव लेने के लोभ में पड गई और उसने देवेंद्र की प्रेमयाचना को स्वीकार कर लिया । महर्षि वाल्मीकि इस का वर्णन करते हैं ।—

> मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुपुंगव ।
> मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥

अस्तु ।

अनन्तर देवेंद्र के समागम-सुख का अनुभव हो जाने से अपने आप को कृतार्थ समझ कर- अपना जन्मसाफल्य मानकर- अहल्या देवराज इंद्र से विनीत भाव से बोली-

> कृतार्थाऽस्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रं इतः प्रभो ॥२०॥
> आत्मानं मां च देवेश सहसा रक्ष गौतमात् ॥२१॥

अर्थात्— ' हे सुरश्रेष्ठ ! आप के समागम से मैं कृतार्थ हो गई हूँ, परन्तु अब आप यहाँ से पधारिये और गौतम-ऋषि के क्रोध से मुझे तथा अपने आपको भी बचाइये । अब उन के आने का समय हो गया है । '

अहल्या की यह विनंति सुनकर देवेंद्रने भी हँसकर कहा- ' मैं भी तेरे समागम से अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूँ और अब मैं वापिस जाता ही हूँ । ' इतना कह कर सचमुच ही ' अब गौतमऋषि से कहीं भेंट न हो जाए, ' इस भय के मारे वह जल्दी आश्रम से बाहर जाने लगा, इतने ही में अचानक गौतमऋषि सामने ही आते हुए, आश्रम के द्वार में ही दिखाई दिये । उन्हें देखते ही देवेंद्र की तो मानो आत्मा ही कूच कर गई ! गौतमऋषिने अपना छद्मवेष धारण किये हुए देवेंद्र को देखकर अत्यन्त क्रोध से उस को शाप दिया—

> मम रूपं समास्थाय कृतवान् असि दुर्मते ।
> अकर्तव्यं इदं यस्मात् विफलस्त्वं भविष्यसि ॥२७॥
> गौतमेनैवमुक्तस्य सरोषेण महात्मना ॥
> पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥२८॥
> (बालकांड सर्ग ४८)

" रे दुर्मते देवेन्द्र ! तूने मेरा रूप धारण करके जो यह पापकर्म किया है, उसके प्रतिफल (दंड) में तेरे वृषण गिर पड़ेंगे और तू पौरुषहीन हो जायगा।" यह शापवाणी सुनते ही देवेन्द्र के वृषण पृथ्वीपर गिर पडे और वह पौरुषहीन हो गया। देवेन्द्र को शाप देने के अनन्तर उन्होंने अपनी भार्या- अहल्या को भी शाप दिया-

इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ॥२९॥
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ॥
अदृश्या सर्वभूतानां आश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि३०
यदात्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ॥
आगमिष्यति दुर्धर्षः तदा पूता भविष्यसि ॥३१॥
तस्यातिथ्येन दुर्मेधे लोभमोहविवर्जिता ॥
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥३२॥
(बालकांड सर्ग ४८)

" हे दुर्वृत्ते! तू भी इसी आश्रम में विना आहार किये- केवल वायुभक्षण करके अपने पापकर्म के लिए पश्चात्ताप करती हुई भस्म में ही शयन करके सहस्रों वर्षों तक पडी रह। किसी की दृष्टि में न पड और न किसी को अपना मुँह दिखा। जिस समय दशरथनंदन श्रीरामचन्द्रजी इस वन में आयेंगे और तू लोभ तथा मोह का परित्याग करके उनका आतिथ्य करेगी, तब तू पापमुक्त होगी और मेरे साथ रहकर सुख से कालयापन करेगी।" इस प्रकार अहल्या को शाप देकर गौतमऋषि हिमालयपर्वत पर तपाचरण करने के लिये चले गये।

उपर्युक्त पूर्वेतिहास श्रीरामचचंद्रजी से कहकर विश्वामित्रजी बोले- " हे श्रीरामचन्द्रजी! वही गौतमपत्नी अहल्या तुम्हारी मार्गप्रतीक्षा कर रही है, इसलिए अब वहाँ चलकर उस महाभाग्यवती देवस्वरूपिनी अहल्या का उद्धार कीजिये।"

विश्वामित्रजी का कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी उनके पीछे पीछे हो लिये और गौतमऋषि के आश्रम में उन्होंने प्रवेश किया। आश्रम के द्वार के अन्दर पाँव रखते ही श्रीरामचन्द्रजी को अहल्या दिखाई दी। इस प्रसंग का वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी करते हैं—

ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ॥
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥१३॥
प्रयत्नात् निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीं इव।
धूमेनाभिपरीतांगीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥१४॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥१५॥
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।
त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ॥
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥१६॥
(बालकांड सर्ग ४९)

अर्थात्- तपःप्रभाव से चारों ओर जिसकी प्रभा फैली हुई थी, तीनों लोक तथा सुरासुरों के लिए भी जिसके दर्शन दुर्लभ थे, जिसको बनाने में ब्रह्माजीने अपने परिश्रम की तथा निपुणता की पराकाष्ठा करके मानो दिव्य मायामयीके सदृश ही बना दिया था, अथवा जो धुएँ से छाई हुई अग्निशिखा के समान थी, अथवा जो अभ्राच्छादित चन्द्रप्रभा के तुल्य थी अथवा जो जल के अन्दर प्रतिबिंबरूप से पडी हुई तथा देखने के लिए कठिन ऐसी सूर्यप्रभा के समान दिखती थी, एतादृशी अहल्या श्रीरामचन्द्रजी को दिखाई पडी।

गौतमऋषि की आज्ञानुसार श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन होने तक अहल्या किसी की दृष्टिमें नहीं पडी थी। शाप का अवधि बीतते ही पहले पहल वह श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी, तथा विश्वामित्रजी इन तीनों ही को दिखाई दी थी। ब्रह्मर्षि आगे वर्णन करते हैं-

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जग्रहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ॥१७॥
(बालकांड सर्ग ४९)

इस प्रकार अहल्या दिखाई देते ही श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी दोनों ने बारी बारी से उसके पैर पकड कर उनपर अपने मस्तक रख दिये। गौतमऋषि के शाप का स्मरण होने से उसने दोनों भ्राताओं को अपने निकट बिठा लिया और उनका यथाविधि आतिथ्य किया। रामायण में वर्णन किया हुआ इतिहास इस प्रकार का है। अब इसकी छानबीन करेंगे।

गौतमऋषिने अहल्या को " तू शिला हो जा, ' यह शाप दिया और उससे वह ' शिला ' हो गई, ऐसा सार्वत्रिक प्रवाद है; परन्तु वाल्मीकि रामायण में गौतम-

ऋषि ने जो शापवचन कहे हैं, वे इस प्रकार के हैं—

इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ।
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ॥
बहुवर्षसहस्राणि आश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि ॥

उपर्युक्त वचन में 'तू शिला हो जा,' इस अर्थ का एक भी शब्द नहीं है। 'बहुत वर्षोंतक तपाचरण करती हुई, यहीं रह' इस अर्थ के शब्द हैं। तपाचरण किस विधि से करना इस का भी निर्णय गौतमऋषिने कर दिया है। यथा- (१) 'वातभक्षा निराहारा' यानी, कुछ खाये विना, केवल वायुभक्षण कर के ही, (२) 'तप्यन्ती' यानी अपने पापकर्म के प्रायश्चित्तार्थ पश्चात्तापाग्नि में अहोरात्र अपने हृदय को जलाती हुई (अपने हृदय को कोसती हुई) और (३) 'भस्मशायिनी,' यानी आश्रम में ही हवन की राख में पडी रहकर ऐसे अनेक सहस्र वर्षों तक उसी आश्रम में तपश्चर्या करने के लिये अहल्या को गौतममहर्षिने कहा हुआ था, इत्यादि वर्णन वाल्मीकि रामायण में है।

अब यहाँ यह विचार करना चाहिये कि, यदि अहल्या 'शिला' हुई होती, तो उस के लिए 'वातभक्षण' करना, 'पश्चात्ताप की अग्नि में अहोरात्र अपने हृदय को जलाना,' आदि क्रियाएँ क्यों कर संभवनीय होतीं? क्योंकि 'शिला' न तो कुछ खाती भी है, और न उस के हृदय भी होता है। यदि उपर्युक्त सारे शब्दों का लाक्षणिक अर्थ भी लिया जाए और 'तप्यन्ती' शब्द के आधार से यह कहा जाय कि, 'वह सूर्यके प्रखर ताप में पडी हुई थी,' तो यह भी सम्भवनीय नहीं है। क्योंकि किसी को दिखाई न पडे' इसी हेतु से उस को 'आश्रम के ही अन्दर एक अन्धेरी जगह में बैठी रहने' के लिये कहा था। उस जगह सूर्य की किरण भी नहीं पहुँच सकती थी, तो फिर सूर्य का प्रखर ताप वहाँ कैसे पहुंच जाता?

अपराधी मनुष्य को जो दंड दिया जाता है, उसका हेतु यह होता है कि, वह अपराधी मनुष्य अपने अपराधके लिए पश्चात्ताप करता रहे, उस के अन्तःकरण को बार बार ग्लानि होती रहे और पुनश्च कभी वह अपराध करने के लिए प्रवृत्त न हो। यदि अहल्या 'शिला' हुई होती, तो उसे दंड देने का उक्त हेतु कैसे साध्य हुआ होता? क्या शिला के भी कहीं अन्तःकरण होता है? पुनः विश्वामित्र के साथ आश्रम में ही प्रवेश करते श्रीरामचन्द्रजी को अहल्या दिखाई दी है। कैसी दिखाई दी, इस का वर्णन श्लोक १३ से १६ तक ग्रंथ में स्पष्ट ही दिया हुआ है। उस में 'अहल्या' दिखाई देने का वर्णन है, 'शिला' दिखाई देनेका नहीं है। 'उस को देखते ही श्रीरामचन्द्रजीने अपना मस्तक उस के पाँव पर रख दिया,' ऐसा वर्णन श्लोक १७ में है। यदि वह 'शिला' हुई होती, तो उस के पांवपर श्रीरामचन्द्रजी को अपना मस्तक रख देना कैसे शक्य हुआ होता? क्या शिला के भी मनुष्य के सदृश पाँव होते हैं? अब यदि यह कहा जाय कि, 'वह शाप होते ही पत्थर की मूर्ति बन गयी थी, तो फिर 'पूर्णचन्द्रप्रभामिव' 'दीप्तां सूर्यप्रभामिव,' इत्यादि गुण उस मूर्ति में कहाँ से पैदा हो गए? उपर्युक्त वर्णन पाषाणमूर्ति के लिए लागू नहीं हो सकते, किन्तु मनुष्य ही को लागू होते हैं।

सारांश, यहाँतक के किये हुए विवरण का इत्यर्थ यही है कि, (१) अहल्या 'शिला' नहीं हुई थी। वह मनुष्य ही थी। उस के लिए 'शिला' होने का गौतम-ऋषि की शापवाणी में कहीं निर्देश भी नहीं था।

(२) आश्रम के द्वार में पहुँचते ही श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को वह बैठी हुई दिखाई दी और उसी क्षण दोनों भाईयों ने उसके पैरोंपर बारी बारी से अपने मस्तक रख दिये। श्रीरामचन्द्रजीने अहल्या को पादस्पर्श नहीं किया। अहल्या ब्राह्मण स्त्री थी, तथा वह एक ब्रह्मर्षि की धर्मपत्नी भी थी। श्रीरामचन्द्रजी मर्यादा-पुरुषोत्तम क्षत्रिय कुमार थे। प्राकृत जनों को धर्म की मर्यादा पालन करने की शिक्षा देने के ही हेतु जिन्होंने अवतार धारण किया था, वे ब्राह्मणी तथा ब्रह्मर्षि की धर्म-पत्नी को, यद्यपि वह अत्यन्त पापिनी और पतिता थी, तथापि उसको अपने पैर से स्पर्श करके धर्ममर्यादा का उल्लंघन कर जाते और फिर हम प्राकृत जनों के लिए भी इसी प्रकार धर्ममर्यादा उल्लंघन करने का मार्ग दिखा देते, यह कब संभवनीय था? औवल तो ब्राह्मणी, दूसरे ब्रह्माजी की पुत्री, फिर ब्रह्मर्षि की पत्नी इत्यादि गुणों से युक्त अहल्या को 'शिला' बनाकर, तथा उसको श्रीराम-

चन्द्रजी द्वारा पादस्पर्श करवा कर,– मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी से धर्ममर्यादाभंग करवाने के साथ ही साथ उनके माथे अधर्माचरण का भी दोष भक्त-जनों ने मढ दिया है। बलिहारी है भक्तजनों की! भक्ति के सहारे ये भक्तजन अपने उपास्य देवता से क्या क्या कर्म करवा लेंगे, इसकी कुछ भी कल्पना नहीं की जा सकती। अस्तु।

इस प्रकार अहल्या के 'शिला' होने के विषय में हमारे विचार यथामति हमने विद्वान् पाठकों के सम्मुख विचारार्थ रक्खे हैं; क्योंकि, 'न ह्येकस्य क्षमा प्रज्ञा तत्त्वार्थपरिनिर्णये।'

अब, इसके आगे शबरी के उच्छिष्ट बेर श्रीरामचन्द्रजी ने सेवन किये या क्या? इस विषय पर हम अपने विचार यथामति प्रकट करेंगे।

(२) शबरी के उच्छिष्ट बेर।

शबरी की कथा को पौराणिक कथावाचक खूब ही रंग देते हैं और उसके द्वारा अपने श्रोतागणों के अन्तःकरणों को भक्तिरस में पूरा तराबोर कर देते हैं। पौराणिक कथा-वाचक जो कथा वर्णन करते हैं, उसका सारांश यह है कि, श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी सीताजी की खोज में घूमते फिरते पंपासरोवर के समीप मातंग ऋषि के आश्रम पर आ पहुँचे। वहाँ शबरी नाम की एक वृद्ध तापसी रहती थी, उससे श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी मिले। शबरीने दोनों का अत्यंत भक्तिभाव से आतिथ्य किया। उस समय श्रीरामचन्द्र उसकी भक्ति से अत्यंत प्रसन्न हो गये और उसकी भक्ति में वे इतने तन्मय हो गये और इतनी सुध-बुध भूल गये कि शबरीने समर्पण किये हुए अपने 'उच्छिष्ट' बेर बडे प्रेम से उन्होंने खा लिये और शबरी को मुक्ति प्रदान की। मूल कथाभाग अरण्यकांड सर्ग ७४ में है।

केवल भक्तिरस का परिपोष करने के लिए तथा भक्ति का माहात्म्य बढाने के लिए मूल कथा का विपर्यास किया गया है। परंतु वाल्मीकि रामायण में इसके लिए यत्किंचित् आधार नहीं है। महर्षि वाल्मीकिजी के वर्णन के अनुसार प्रथम तो शबरी 'भीलनी' थी ही नहीं। दूसरे, उसने श्रीरामचन्द्रजी का जो आतिथ्य किया है, उस में उसने अर्पण किये हुए फलों में बेर का नाम भी नहीं है। उसने श्रीरामचन्द्रजी को न तो अपने उच्छिष्ट बेर खिलाये और न श्रीरामचन्द्रजीने भी उसके उच्छिष्ट बेर खाये। यह सब भक्त-कवियों की कल्पनाओं के खेल हैं, जो कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्टतया ध्यान में आ सकेंगे।

श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी शबरी के आश्रम में पहुँचे, उस समय का वर्णन महर्षि वाल्मीकिजी करते हैं–

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम्।
सुरम्यं अभिवीक्षन्तौ शबरीं अभ्युपेयतुः॥५॥
तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृतांजलिः।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः॥६॥
पाद्यं आचमनीयं च सर्वं प्रादात् यथाविधि।
तां उवाच ततो रामः शबरीं धर्मसंस्थिताम्॥७॥
कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चित्ते नियतः कोपः आहारश्च तपोधने॥८॥
कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि॥९॥
(अरण्यकांड सर्ग ७४)

भावार्थ– वे दोनों श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी-शबरी के आश्रम में आ पहुँचे। उन दोनों को देखकर वह तपः-सिद्धि प्राप्त की हुई शबरी हाथ जोडकर खडी हुई और उसने दोनों भ्राताओं के पावों पर अपना मस्तक रक्खा, तथा यथाविधि पाद्य, आचमनीय आदि के द्वारा दोनों का सत्कार किया। इसके अनन्तर उस धर्म-स्थित तापसी शबरी से श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा– "हे शबरी, तेरे तपाचरण के मार्ग में बाधा डालनेवाले कामक्रोधादिक विघ्नों के ऊपर तू ने विजय प्राप्त कर लिया है न? हे तपो-धने, तेरा तप वर्धमान हो रहा है न? तूने क्रोध को जीत लिया है न? तू ने सब नियमों का पालन यथाविधि किया है न? तेरे मन को पूर्ण समाधान प्राप्त हो गया है न? तेरी गुरुसेवा सफल हो गई है न?" इत्यादि। तब शबरीने उत्तर दिया–

अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव सन्दर्शनात् मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥११॥
अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते भरतर्षभ॥१२॥

" हे रामचन्द्रजी ! आप के दर्शन से आज मेरा जन्म सफल हो गया है। आज मुझे मेरे तपकी सिद्धि प्राप्त हो गई है। आज मेरी गुरुसेवा भी सफल हो गई है। आज आप के दर्शन हो जाने से मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया है। हे रामचन्द्रजी ! सर्व देवताओं में श्रेष्ठ आप के पूजन का लाभ होने से मेरा तप फलीभूत हो गया है, सो अब मुझे निश्चय करके स्वर्गप्राप्ति होगी। हे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी !

मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसंभवम् ॥१८॥

'इस पंपासरोवर के किनारे उपजे हुए अनेक प्रकार के वन्य (जंगली) कंद, मूल, फलों का आप के लिए मैंने संग्रह कर रक्खा है। सो, हे रामचन्द्रजी ! आप उन फलों को ग्रहण कीजिये। '

यह प्रार्थना सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने कठोर व्रत पालन करनेवाली उस शबरी से कहा—

अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम् ॥३१॥

' हे कल्याणि ! मैं तेरे किये हुए आदरातिथ्य से पूर्ण प्रसन्न हो गया हूं। अतएव अब तू अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ चाहे तहाँ सुख से गमन कर। '

श्रीरामचन्द्रजी के यह वचन सुनते ही शबरीने चिता प्रज्वलित की और उन्हीं के सम्मुख अग्नि में प्रवेश कर के मुक्ति प्राप्त की और दिव्य देह धारण कर के विमान में बैठकर स्वर्गलोक को चली गई।

उपर्युक्त कथाभाग में निम्नलिखित बातें विचारणीय निकलती हैं- (१) क्या शबरी भिल्लजातीया स्त्री थी ? (२) क्या शबरीने अपने 'उच्छिष्ट' बेर श्रीरामचन्द्रजी को खाने को दिये थे ? (३) क्या शबरीने श्रीरामचन्द्रजी को अर्पण किये हुए बेर सचमुच 'उच्छिष्ट' थे ? और क्या सत्य ही ऐसे 'उच्छिष्ट' बेर श्रीरामचन्द्रजीने खा लिये थे ?

कबन्ध राक्षसने शबरी का जो वृत्तांत श्रीरामचन्द्रजी से कहा था, वह महर्षि वाल्मीकिजीने इस भांति वर्णन किया है—

तेषां गतानां अद्यापि दृश्यते परिचारिणी ।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥२६

(उत्तरकांड सर्ग ७३)

अर्थात् ' वे (मातंगऋषि) स्वर्गलोक को गये हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, तथापि उन की सेवा करने-वाली शबरी नाम की एक वृद्ध तापसी अभीतक वहीं- उन्हीं के आश्रम में बनी हुई है। '

उक्त श्लोक में, 'श्रमणी शबरी नाम,' ये शब्द विचारणीय हैं। टीकाकारोंने 'शबरी नाम' इन शब्दोंका स्पष्टीकरण 'शबरी इति आख्या' यानी 'शबरी' यह नाम (व्यक्तिवाचक) रखनेवाली, 'शबरी नामधारिणी,' इस भाँति किया है, तथा 'श्रमणी' शब्द का अर्थ 'तापसी' कहा है। इस से यह स्पष्ट होता है कि, उस वृद्ध तापसी का नाम ही 'शबरी' था। वह जाति की शबरी भीलनी नहीं थी। अब यदि वह जाति की भीलनी नहीं थी, तो वह किस जाति की थी ? इस प्रश्न का यहाँ उपस्थित होना स्वाभाविक है। अतः उस का भी विचार यहाँ होना अवश्य है।

यदि शबरी जाति की भीलनी (शूद्री) होती, तो शूद्र शंबूक को- तपस्या करने के कारण- जिन धर्मावतार श्रीरामचंद्रजीने प्राणदंड दिया था- उस का शिरच्छेद ही किया था- उन्हीं धर्मावतार श्रीरामचंद्रजीने तप करने-वाली इस शूद्री को भी उचित दंड देना चाहिये था। इस को दंड दिये विना उन्होंने कैसे छोड दिया ? दंड तो उन्होंने दिया ही नहीं, उलटे उस को ' तेरा तपाचरण यथायोग्य चल रहा है न ? ' 'तेरी गुरुसेवा फलीभूत हो गई है न ? ' ' तेरे व्रतनियमों का पालन निर्विघ्न हो रहा है न ? ' तेरे तप की सिद्धि तुझको मिल गई है न ?' इत्यादि इत्यादि कुशल प्रश्न श्रीरामचन्द्रजीने बडी सहानुभूति के साथ किये हैं, तो क्या वह शबरी (भीलनी?) उन की कोई मौसी लगती थी ? शंबूक शूद्र था, इसलिये उस को तपाचरण का अधिकार नहीं था, वैसी ही शबरी भी यदि भीलनी यानी शूद्री थी, तो उस को भी तपाचरण करने का अधिकार नहीं था। फिर शंबूक का तो शिरच्छेद करना और शबरी को विना दंड दिये छोड देना, यह धर्मावतार मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रजी का कौनसा न्याय था ? क्या ऐसे न्याय से श्रीरामचंद्रजी पर पक्षपात करने का दोष नहीं लगा ? इस से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि, शबरी जाति की भीलनी यानी शूद्री नहीं थी, अपि तु 'शबरी' यह उस का नाम ही था।

अब, जब कि, शबरी भीलनी यानी शूद्री नहीं थी, तो अवश्य ही वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि त्रैवर्णिकों में से किसीएक वर्ण-जाति-की होगी। परन्तु, जब कि उसने क्षत्रिय श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के पाँवों पर अपना माथा रक्खा है, तथा श्रीरामचंद्रजीने भी अपने पाँवों पर उसे माथा रखने दिया है, तो इस अवस्था में उस का ब्राह्मणी न होना स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है। क्योंकि श्रौताचारसंपन्न मर्यादापुरुषोत्तम क्षत्रियकुमार श्रीरामचंद्रजी एक तापसी ब्राह्मणी से उस का माथा अपने पैरों पर रखवा लेंगे और इस प्रकार स्वयं अनाचार कर के धर्ममर्यादा को तोड देंगे, यह बात संभवनीय नहीं दिखाई देती। अर्थात् शबरी ब्राह्मण जाति की स्त्री नहीं थी, यह स्पष्ट ही है।

अब क्षत्रिय और वैश्य ये दो जातियाँ रह गईं। तो इस विषय में '**योषिन्मूढाऽप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा।**' ऐसा शबरी का कथन श्रीरामचंद्रजी के प्रति होने का उल्लेख अध्यात्मरामायण में है। यानी शबरी कहती है कि, 'हे भगवन्! मैं हीनजाति की एक अज्ञ स्त्री हूं।' अर्थात् क्षत्रिय श्रीरामचन्जी की अपेक्षा शबरी हीनजाति की यानी वैश्य जाति की थी, यह वह स्वयं कह रही है। वह वैश्यजाति की स्त्री थी, यह बात उसी के कथन से सिद्ध होती है। अब, क्योंकि वैश्यजाति त्रैवर्णिक द्विजाति में से ही एक है, अतः उसे तपश्चर्या का अधिकार है ही। इसीलिए वैश्यजाति की शबरी तपाचरण करने के कारण शूद्र जंबूक के सदृश दंडनीय नहीं हुई और इसी कारण श्रीरामचन्द्रजीने भी उस को दंड नहीं दिया।

सारांश, शबरी ब्राह्मणी नहीं थी, इसलिए श्रीरामचन्द्रजीने अपने पाँवों पर उसे अपना माथा रखने दिया, इस से उन के मर्यादापुरुषोत्तमत्व को व्याघात बिलकुल नहीं पहुँचता; तथा वह शूद्री भी नहीं थी, वैश्यजाति यानी द्विजाति की थी, अतः तपाचरण की अधिकारणी थी और इसीलिए शूद्र शंबूक की भाँति तपाचरण के लिए वह दंडभागिनी भी नहीं थी। इसी कारण से श्रीरामचन्द्रजीने उस को दंड नहीं दिया, फलतः उनपर पक्षपातित्व का दोष लग ही नहीं सकता।

इसपर कोई यह आक्षेप उपस्थित करे कि, 'शबरी स्त्री थी। सेवा करना यही स्त्रियों का धर्म है; अर्थात् उसने जो तपाचरण किया, वह 'सेवारूप' तपाचरण किया है, क्योंकि स्वधर्माचरण करना भी एक प्रकार से तपाचरण ही है, अतः यह कोई सिद्धान्त नहीं है कि शबरी निश्चित रूप से द्विजाति में से ही किसी जाति की हो।' इस आक्षेप का उत्तर यह है कि, यद्यपि स्वधर्माचरण करना यह भी एक प्रकार का तप ही है, तथापि, केवल सेवा करनेवाले शूद्र को, अथवा केवल कृषिगोरक्षवाणिज्य करनेवाले वैश्यको, अथवा, स्वभावज क्षात्रकर्म करनेवाले क्षत्रियको अथवा नित्यकर्मानुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण को '**तपोधन**' कदापि नहीं कहा जा सकता। '**तपोधन**' संज्ञा प्राप्त करने के लिए किसी विशिष्ट तपाचरण की ही आवश्यकता होती है। यहाँ श्रीरामचन्द्रजीने शबरी को '**तपोधने**' कहकर संबोधन किया है। अर्थात् '**तपोधन**' की उपाधि प्राप्त करनेयोग्य किसी विशिष्ट प्रकार का ही उसका तप होगा। इस प्रकार विशिष्ट तप करने का अधिकार शूद्र को तो होता ही नहीं है; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि त्रैवर्णिकों को ही होता है, अतः शबरी शूद्री नहीं थी। द्विजाति में से ही वैश्य, या अधिक से अधिक क्षत्रिय जाति की हो सकती है। सारांश, शबरी की जाति क्षत्रिय की अपेक्षा उच्च अथवा वैश्य की अपेक्षा हीन नहीं हो सकती।

अब शबरी के '**उच्छिष्ट बेर**' का विचार किया जाता है। शबरी श्रीरामचन्द्रजीसे कहती है:-

मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसंभवम्॥

'हे रामचन्द्रजी! आप आश्रम में पधारेंगे तब आपका आतिथ्य करने के लिए मेरे गुरुने ब्रह्मलोक को प्रस्थान करने के समय मुझे आज्ञा दे रक्खी है। तब से इस पंपासरोवरके तीरपर उपजे हुए अनेक कन्द, मूल, फल आदि मैंने आपके लिए संग्रहित करके रक्खे हैं।' यह कहकर उसने सब कन्द, मूल, फल, श्रीरामचन्द्रजी को अर्पण कर दिए। इस वर्णन में यह भाव कहाँ आता है कि, श्रीरामचन्द्रजी को अर्पण किए हुए वे कन्द, मूल, फलादि शबरी के 'उच्छिष्ट' थे? यानी शबरीने अपने दातों से काटकर दिए थे? महर्षि वाल्मीकिजी तो ऐसा कहीं भी नहीं कहते।

'जूंठे बेर शबरी के पाये रुचि रुचि भोग लगाये।' इत्यादि भजन अथवा सूरसागर में किया हुआ यह उल्लेख कि 'शबरी चाख चाखकर मीठे फल रखती जाती थी,' इत्यादि के लिए वाल्मीकि रामायण में कोई आधार नहीं मिलता। तो क्या संतोंने ये बातें निरर्थक लिख दी हैं? उनकी बातें निरर्थक नहीं हैं, किंतु उनके लिखने का उनके सांप्रदायी 'भगत' लोगोंने विपर्यास कर रक्खा है। अतः 'जूंठे बेर शबरी के पाये' इत्यादि संतोक्ति का व्यावहारिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण होना अवश्य है।

(१) कल्पना कीजिए कि, किसी माता का पुत्र कहीं दूरस्थ विद्यालय में पढ रहा है और अब गरमी की छुट्टी (vacation) में घरपर आनेवाला है। माता अपने लाडिले बेटेके लिए उसे भानेवाली कोई मिठाई बनाती है और वह बनी हुई मिठाई अच्छी बनी है या उसमें कोई त्रुटि रह गई है, यह देखने के लिए उसमें से एक टुकडा तोडकर स्वयं चखती है, तथा पास बैठे हुए किसी और को भी चखने को दूसरा एक टुकडा उसी मिठाई में से निकाल कर देती है और शेष मिठाई एक डिब्बे में भरकर अपने लाडिले के लिए रख देती है, तो क्या इस अवस्था में वह डिब्बे में बन्द की हुई मिठाई 'उच्छिष्ट' कही जायगी?

(२) कोई कार्य सिद्ध होनेके लिए देवताओं के नाम-पर मिठाई या पेंडे बाँटने की मनौती मानी जाती है। कार्य सिद्ध हो गया और मनौतीके अनुसार देवी-देवताओं को बाँटने के लिए बाजार से पेंडे मंगवाये गए। हलवाई की दूकान के पेंडे ताजा हैं या बासी, यह देखने के लिए खरीदने से पहले एक आध पेडा किसी थाली में से लेकर चख लिया गया और फिर उसी थाली के पेडे खरीद कर घरको लाए गए, तथा मनौती के अनुसार देवता को उन्हीं पेंडों का भोग भी लगा दिया गया, तो इससे क्या यह समझा जाय कि, हलवाई की दूकान से पेडे 'उच्छिष्ट' आए और उन्हीं 'उच्छिष्ट पेंडों' का भोग देवता को लगाया गया?

(३) अपने पास एक आम का पार्सल कहीं से आया हुआ है। उस में की बानगी देखने के लिए एक आमको चीरकर उसकी एक फाँक चखने के लिए मुँह में डाली। इतने ही में कोई मित्र अपने पास आया, तो उसी चीरे हुए आमकी दूसरी फाँक निकाल कर उस मित्रको भी दी। तो क्या इस अवस्था में वह दूसरी फाँक 'उच्छिष्ट' कहलाई जायगी?

उपर्युक्त व्यावहारिक दृष्टान्तों से 'जूंठे बेर शबरीके पाये' इस संतोक्ति या वास्तविक अर्थ क्या होता है, सो हमारे सहृदय पाठकों के ध्यान में आया ही होगा। शबरी के बेर इन्हीं दृष्टान्तों आशय के अनुसार 'उच्छिष्ट' नहीं हो सकते।

वाल्मीकि रामायण में, शबरी की कथा में 'बेर' का कहीं नाम भी नहीं है। उस के 'मया तु संचितं वन्यं' इस कथन के 'वन्यं' शब्द में बेर का भी समावेश हो सकता है; अतः उसने संग्रह किये हुए वन्य फलों में बेर भी थे, यह मान लेना अनुचित न होगा। अन्यान्य फल इकट्ठे करने के लिए शबरी जैसी उन वृक्षों के पास गई, वैसी ही वह बेरके वृक्ष के पास भी गई ही होगी, और बेर भी तोडे ही होंगे। किसी बेरी के फल खट्टे होते हैं, किसी किसी बेरी के फलों में कीडे भी पडे हुए होते हैं। बेर तोडते हुए शबरीने वे खट्टे हैं या कीडे-वाले हैं, यह प्रत्येक बेरी से दोचार फल तोड कर, उनको दांतों से काट कर, तथा जिह्वा से उनका स्वाद लेकर जाँचा होगा और जिस बेरी के फल उसकी परीक्षा में मीठे और कृमिरहित जचे, उसी बेरी के फलों को तोड कर उनका उसने संग्रह किया होगा। ऐसी अवस्था में वे तोड कर इकट्ठे कर रखे हुए बेर 'उच्छिष्ट' यानी 'जूंठे' नहीं कहे जा सकते।

सारांश, शबरीने न तो अपने दाँतों से काटे हुए उच्छिष्ट बेर श्रीरामचंद्रजी को खिलाये और न श्रीरामचंद्रजीने शबरी के उच्छिष्ट बेर खाये भी हैं। भक्ति का माहात्म्य बढाने के लिए इस प्रकार के अवास्तव वर्णन भक्तजनों के भजनों में पाये जाते हैं। क्या दाँतों से काटे हुए और मुँह की राल से लथपथ ऐसे ही फल भगवान् को समर्पण करने में भक्ति होती है, और वृक्षों से तोडे हुए फलों को शुद्ध पानी से धोकर स्वच्छ हाथों से समर्पण करने से भक्ति नहीं होती? 'भगवान् को शुद्ध और पवित्र पदार्थ समर्पण किया ही नहीं जा सकता।' ऐसा कोई शास्त्रवचन हामारे देखने में अभीतक

नहीं आया ।

इस प्रकार के असंबद्ध और कपोलकल्पित वर्णन कर के धर्ममूर्ति मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी को "**पक्षपातित्व** तथा **अधर्माचरण** के दोष हम लगा रहे हैं, यह बात, वर्णन करने के समय 'भगत' लोग ध्यान में ही नहीं लाते । महर्षि वाल्मीकिजीने ऐसा असंबद्ध वर्णन कहीं भी नहीं किया है ।

इस पर कोई यह भी कह उठेंगे कि, प्राकृत जनता का मन भक्तिमार्ग पर लगाने के लिए तथा श्रीरामचंद्रजी की भक्ति का प्रभाव प्राकृत जनता के अन्तःकरण पर मुद्रित करने के लिए सद्धेतु ही से भक्त जनोंने ऐसे वर्णन कर रक्खे हैं । यह भी शक्य है । परंतु प्राकृत जनता में भक्ति उत्पन्न करना तथा उस को बढाना आदि के लिए कथाविपर्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं है और न उस के करने में कोई फलप्राप्ति भी है । क्योंकि इस प्रकार विपर्यास करने से सामान्य जनता की प्रवृत्ति भक्ति की ओर होने के बदले **उच्छिष्ट भक्षण करने की ओर** ही होती हुई अवश्य दिखाई देती है । जन्मभर रामायण पढनेवाले और सुननेवाले बहुशः **रावण** का ही **अनुकरण** करते हुए पाये जाते हैं । **श्रीरामचंद्रजीका अनुकरण** करनेवाले बहुत ही कम पाये जाते हैं । जब कि, जनता की स्वाभाविकी प्रवृत्ति यही पायी जाती है, तो फिर सीधे मार्ग ही का अवलंब क्यों न किया जाय ? बडे बडे शुचिर्भूत और कर्मनिष्ठ लोग—जिन्हें स्नान करने से पूर्व कुएँ से भरकर अपनेही हाथ से निकाले हुए घडे के जलका स्पर्श भी स्नान करने के अनंतर अशुद्ध मालूम होता है, ऐसे लोग भी सांप्रदायिक गुरु का- पात्र में खाकर छोड दिया हुआ अवशेष- "**प्रसाद**" के नाम पर ग्रहण करना "**अशुद्ध**" नहीं मालूम होता ! सत्यापलाप करके मूल कथा का विपर्यास कर देने से यही परिणाम अपेक्षित है । इस प्रकार **गुरु का भी उच्छिष्ट खाना सुतरां अधर्म तथा अनाचार ही है** । ऐसे **उच्छिष्ट खाने से मोक्षप्राप्ति** कदापि नहीं हो सकती ।

धर्मावतार तथा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने **भीलनी के उच्छिष्ट बेर** बिलकुल नहीं खाये थे । शबरीने श्रीरामचन्द्रजी को अपने **उच्छिष्ट बेर खिलाये** और श्रीरामचन्द्रजी ने **उच्छिष्ट बेर खाये**, इत्यादि प्रवाद नितांत निर्मूल हैं । वाल्मीकि रामायण में इसके लिए रत्तीभर भी आधार नहीं है ।

श्रीरामचन्द्रजी के परम-भक्त संतशिरोमणि **गोस्वामी तुलसीदासजी** को भी, "**शबरी भिल्ल जाति की स्त्री** थी," तथा "उसने अपने **उच्छिष्ट बेर** श्रीरामचन्द्रजी को समर्पण किये थे," इत्यादि विधान संमत नहीं हैं, यह बात उनके **रामचरित मानस** में पाई जाती है । यथा-

(चौपाई)

केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी ॥
अधमजाति मैं जडमति भारी ॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी ॥
तिन महँ मैं **अति मंद गँवारी** ॥ ३ ॥

इन चौपाइयों से यह अर्थ नहीं निकलता कि शबरी '**भीलनी**' जाति की स्त्री थी । उपर्युक्त चौपाइयों के अधोरेखांकित वचन जो गोस्वामीजीने शबरी के मुँहसे कहलाये हैं, वे केवल उसकी श्रीरामचंद्रजी के प्रति आत्यंतिक लीनता दर्शा रही हैं । साधारण बोलचाल में ब्राह्मण-भी किसीको लीनता दिखाते हुए कहते हैं, "मैं तो मंद-बुद्धि हूं," "मैं तो आप का दास हूं," इत्यादि, इत्यादि; तो क्या यह कह देनेसे वह ब्राह्मण सचमुच ही **शूद्र** हो जाता है ? कदापि नहीं होता । शबरी कहती है– 'हे प्रभो, श्रीरामचंद्रजी ! प्रथम तो नीच से नीच और उस से भी महानीच ऐसी **स्त्रीजाति** होती है, और मैं तो उन (स्त्रियों) में भी अत्यंत मूर्ख और गँवारी हूँ ।" इस कथन के '**अधम**' शब्दसे शबरी का केवल '**स्त्रीत्व**' ही अपेक्षित है, न कि उसकी **जाति** । अर्थात केवल अपने आप को '**अधम**' कह देने ही से शबरी का '**भीलनी**' होना **सिद्ध नहीं** होता और न गोस्वामीजीको भी उसका '**भीलनी**' होना मान्य है । रामचरित-मानस के टीकाकारोंने उसके "**शबरी**" **नाम** को ही उसकी 'जाति' मान कर उसको 'भीलनी' लिख दिया है, जो कि उनका नितांत भ्रम है ।

इसी प्रकार से 'शबरीने श्रीरामचंद्रजी को अपने **उच्छिष्ट बेर खिलाये** और श्रीरामचंद्रजीने उसके उच्छिष्ट

बेर खाये," यह विधान रामचरित मानसके निम्नलिखित दोहेसे निराधार ही सिद्ध होता है । यथा—

कन्द, मूल, फल, सरस अति दिये रामकहँ आनि ।
प्रेमसहित प्रभु खायउ, बारहि बार बखानि ॥५८॥
(अरण्यकांड)

इस दोहे में "बेर" का तो कहीं नाम भी नहीं है। अब, मान लो कि कंद, मूल, फल, आदि में 'बेर' का भी समावेश होता है, तो भी, "शबरीने अपने उच्छिष्ट बेर श्रीरामचन्द्रजीको खिलाये और "श्रीरामचन्द्र-जीने भी उसके उच्छिष्ट बेर खाये," यह आशय इस दोहेसे नहीं निकलता । अस्तु ।

इस प्रकार (१) सीतास्वयंवर (२) अहल्याशिला और (३) शबरीके उच्छिष्ट बेर, आदि तीनों कथाओंका विपर्यास-निरसन यथामति किया है । इन तीनों कथा-ओंमें महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीरामचंद्रजी के मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व का दिग्दर्शन बडी कुशलता से किया है । यथा—

(१) स्वयंवरपद्धति में प्रायः यही होता है कि, जो राजा या राजपुत्र निश्चित प्रणको पूरा करता है, वही वधू को ग्रहण करता है, अथवा वधू उस वर के गलेमें वरमाला पहनाती है । यदि कोई प्रण न बदा हुआ हो, तो वधूही अपनी इच्छानुसार कोई वर चुन कर उसीको वरमाला पहना देती है और फिर उन दोनोंका यथाविधि विवाह होता है ।

सीताजीके विवाहप्रसंग में इन में से एक भी घटना होनेका वर्णन महर्षि वाल्मीकिजीने नहीं किया है । क्योंकि उन में से एक भी बात यहाँ नहीं हुई थी । इसका कारण यह है कि, श्रीरामचंद्रजी विश्वामित्रजीके साथ जो मिथिला में आये हुए थे, वे स्वयंवर के लिए अपने पिताकी– राजा दशरथजी की आज्ञा लेकर नहीं आये थे । राजा दशरथजीने तो उनको विश्वामित्रजी के यज्ञ की रक्षा करने के हेतु विश्वामित्रजी के हाथ सौंपा था । सीताजी के स्वयंवरकी उस समय उनको कल्पना भी नहीं थी । मिथिला नगरी को तो श्रीरामचंद्रजी केवळ ऋषि विश्वामित्रजी के साथ– उन्हीं के अनुरोधसे–राजा जनकजीके धनुष्ययज्ञका उत्सव देखनेके लिये गये थे । स्वयंवर के लिए निमंत्रित राजकुमार के नाते से वे वहाँ नहीं गये थे । धनुष्यभंग भी उन्होंने केवल इसीलिये किया कि, इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न क्षत्रिय-वीरके स्वयं वहाँ उपस्थित रहते हुए, राजा जनकजी के "निर्वीरमुर्वीतलम्" (वीरविहीन मही मैं जानी) ऐसे मानहानिकारक वचन सुन लेना भी उनको (श्रीराम-चंद्रजीको) असह्य हो गया; अतः केवल अपने इक्ष्वाकु-कुलका यश और गौरव की रक्षा करनेके हेतु ही उन्होंने धनुर्भंग किया । तथापि, दारपरिग्रह यानी विवाहके लिए, पिता– राजा दशरथजीकी आज्ञा की आवश्यकता थी । पिताकी आज्ञा प्राप्त किये विना विवाह कर लेनेमें पिताकी अवज्ञा हुई होती । अतएव, उन्होंने धनुर्भंग करनेके अनंतर भी सीताजीसे विवाह करना अस्वीकार किया । यह बात जब सीताजीने अपने स्वयंवर का वृत्तांत अनसूयाजीको सुनाया, उसीमें स्पष्ट कह दी है । सीताजी अनसूयाजीसे कहती है—

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना ।
उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥५०॥
दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।
अविज्ञाय पितुश्छन्दं अयोध्याधिपतेर्विभोः ॥५१॥
(बालकांड सर्ग ११८)

"श्रीरामचन्द्रजीने मेरे पिताका निश्चित किया हुआ प्रण पूरा कर दिया (यानी धनुर्भंग किया) । यह देखते ही मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिताजीने मेरे दान का उदक श्रीरामचंद्र जीके हाथपर छोडनेके लिये उदकपात्र उठाया, परन्तु उन्होंने–अपने पिता राजा दशरथजी की अनुमति पाये विना मेरा पाणिग्रहण करना अनुचित समझकर अस्वीकार कर दिया ।" सीताजीके इस कथनसे श्रीरामचंद्रजी का मर्यादापुरुषोत्तमत्व भली भाँति दृष्टिगोचर होता है ।

सत्य तो यह है कि, श्रीरामचन्द्रजीने धनुर्भंग करके राजा जनकजीका प्रण तो पूरा करही दिया था, अतः सीताजी भी धर्मतः उन्हीं की हो चुकी थीं । सीताजीके पिता राजा जनकजी भी कन्यादान करने को प्रस्तुत ही थे । ऐसी अवस्थामें श्रीरामचंद्रजीने सीताजीका पाणिग्रहण कर लिया होता, तो उसमें अपनी 'अवज्ञा' हुई, यह मानकर श्रीराम-चन्द्रजी के ऊपर अप्रसन्न होनेका राजा दशरथजीके लिए वस्तुतः कोई कारण ही नहीं था और न राजा दशरथजी भी उनपर अप्रसन्न हुए होते; किन्तु उनका प्रसन्न होनाही

निश्चित था। परन्तु केवल पित्राज्ञा प्राप्त किये विना दार-परिग्रह करनेसे "मर्यादाभंग" का दोष लगेगा, इसी विचारसे सीताजी जैसी त्रैलोक्यसुन्दरी वधू, तथा उनके साथ विवाह-यौतुकसें मिलनेवाली अपार द्रव्यसंपत्ति इत्यादिके मोहसें श्रीरामचंद्रजी लवमात्र भी नहीं पडे और जब अयोध्यासे राजा दशरथजी मिथिला नगरी को आये और उन्होंने आज्ञा दी, तभी श्रीरामचन्द्रजीने विवाह किया। इसी सें श्रीरामचंद्रजीका मर्यादापुरुषोत्तमत्व है, और उसीको महर्षि वाल्मीकिजीने यहाँ इस प्रकार प्रदर्शित किया है।

(२) अहल्या की कथासें "गौतम ऋषिके आश्रमके द्वारसें पाँव रखते ही श्रीरामचन्द्रजी को अहल्या दिखाई दी थी, और उन्होंने स्वयं अपना माथा उसके पाँवोंपर रक्खा था," ऐसाही वर्णन महर्षि वाल्मीकिजीने किया है। "श्रीरामचंद्रजीने अहल्या को पादस्पर्श किया," ऐसा वर्णन वे नहीं करते। ठीकही है। ब्रह्मर्षिकी धर्मपत्नी, कैसी ही पापिनी और पतिता क्यों न हो, उस को अपने पैरोंसे स्पर्श करके धर्ममर्यादा का उल्लंघन क्षत्रिय राजकुमार श्रीरामचंद्रजी कैसे करेंगे? तथा अपने मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व को क्योंकर कलंकित होने देंगे? कदापि नहीं होने देंगे।

(३) शबरी की कथासें भी भक्तोंने उसको 'भीलनी' बना दिया, तथा उसके उच्छिष्ट बेर श्रीरामचंद्रजीको खिला-कर उनपर पक्षपातित्व तथा धर्माचारभंग के दोष लगाकर उनके मर्यादापुरुषोत्तमत्व को लांच्छन लगा दिया है। परन्तु, महर्षि वाल्मीकिजीके वर्णनसे इन सभी बातोंका मिथ्यात्व सिद्ध होकर श्रीरामचंद्रजी पूर्ण आचार-संपन्न तथा मर्यादापुरुषोत्तम थे, यही सिद्ध होता है।

एवं च पूर्वोक्त कथाओंसें श्रीरामचंद्रजी का मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व सिद्ध करनेमें ही महर्षि वाल्मीकिजीने पूरी पूरी दक्षता रक्खी है, और सारे रामायणग्रंथमें भी उन्होंने अपना यही लक्ष्य दक्षतापूर्वक रक्खा हुआ भली भाँति प्रतीत होता है।

अब उत्तरकांड का विचार करेंगे।

क्या उत्तरकांड प्रक्षिप्त है?

प्रायः पाश्चात्य विद्वान् तथा उन्हींके अनुयायी हमारे देशीय विद्वान् लोगोंका यह निश्चित सिद्धान्त हो चुका है कि, उत्तरकांड प्रक्षिप्त है, वाल्मीकिप्रणीत नहीं है और इसी कारणसे वे उसको अप्रमाण भी मानते हैं।

अब, यह बात अवश्य है कि, अन्य छः काण्डोंके अनुसार उत्तरकाण्ड का भी कुछ अंश प्रक्षिप्त होगा, और है भी; पर, इतनेही से "सम्पूर्ण उत्तरकांडही प्रक्षिप्त है," यह नहीं कहा जा सकता। किसी ग्रंथका कोई अंश उसी ग्रंथमें दो बार आया हो अथवा किसी अन्य ग्रन्थ का कोई अंश उद्धृत हुआ हो, तो वह अंश 'प्रक्षिप्त' ही है, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है।

किसी ग्रन्थमें कौनसा भाग "प्रक्षिप्त" है, इसका निर्णय करनेके हेतु प्रथमतः 'प्रक्षिप्त' का लक्षण, यानी 'प्रक्षिप्त' किसको कहना चाहिये, इसका विचार होना आवश्यक है। हमारी अल्प बुद्धिके अनुसार 'प्रक्षिप्त' उसी भागको कहा जा सकता है कि, जो ग्रंथकर्ता की मृत्यु होनेके पश्चात् उसके ग्रंथमें दूसरा कोई अपने पास से अथवा अपना ही गढा हुआ मिला देता है। यदि स्वयं ग्रंथकर्ता, किसी अन्य अभिवक्ता की वक्तृता का अथवा किसी लेखक के लेखका कुछ अंश-अपने ग्रंथके विषय का परिपोष करनेके लिए, उस अभिवक्ता या लेखक का नामनिर्देश करके-अपने ग्रंथमें समाविष्ट कर ले, तो उसको 'प्रक्षिप्त' नहीं कहा जा सकेगा। इसीके अनुसार विचार करनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि, उत्तरकाण्ड आरंभ से लेकर अन्ततक प्रक्षिप्त ही है।

उत्तरकाण्ड के प्रथम ३६ सर्ग संवादात्मक हैं। इनमें श्रीरामचन्द्रजी और अगस्ति ऋषि का संवाद है। श्रीरामचंद्रजी को राज्याभिषेक हो गया। दिनभरका कार्य-क्रम समाप्त होने के अनंतर भोजनोत्तर श्रीरामचंद्रजी ऋषिमण्डलीके साथ वार्तालाप करते हुए बैठे थे। बातें चलते चलते राक्षसोंका विषय छिडा, तब श्रीरामचंद्रजीने अगस्ति ऋषिसे पूछा कि, ये राक्षस कौन थे तथा कहांसे आए हुए थे? तब प्रत्युत्तरमें महर्षि अगस्तिजीने राक्षसों की उत्पत्तिसे आरंभ करके रावणजन्म, उसको लंका की प्राप्ति, उसके युद्धपराक्रम, हनूमानजीका जन्मवृत्त इत्यादि अनेक इतिहास श्रीरामचंद्रजी को सुनाये। इस अवसर पर महर्षि वाल्मीकिजी उस सभामें उपस्थित नहीं थे, परन्तु

उनके पट्टशिष्य भरद्वाज मुनि वहीं थे । उन्होंने सभामें जो जो बातें हुई थीं, उन सबको सुन लिया था । वे सब बातें उन्होंने महर्षि वाल्मीकिजीके आश्रमपर पहुँचते ही उनको अवश्यही सुनाई होंगीं। उन्हीं सब बातोंको सुनकर महर्षि वाल्मीकिजीने उन्हें अपने काव्य का 'परिपोष करनेवाली' समझा और अपने ग्रन्थमें भी समाविष्ट कर लिया। यह समाविष्ट किया हुआ वृत्तांत 'महर्षि अगस्तिकथित' है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख अपने रामायणमें करनेको भी महर्षि वाल्मीकिजी नहीं चूके हैं। अतएव यह भाग हमारे विचार से 'प्रक्षिप्त' नहीं है ।

पुनः, महर्षि वाल्मीकिजी उस सभामें उपस्थित नहीं थे, यह बात पृथक् है । पर, यद्यपि वे उस सभा में उपस्थित होते, तो भी राक्षसोंके विषयमें श्रीरामचन्द्रजीको जो कुछ पूछना था, वह सब उन्होंने महर्षि अगस्तिजी से ही पूछा होता । क्योंकि, जो मनुष्य जिस देश का निवासी होता है, उस देश का परिज्ञान उसी के द्वारा पूर्णतया प्राप्त होना शक्य है । क्योंकि, उस देश का जितना सम्यक् ज्ञान वहां के रहनेवाले मनुष्य को होता है, उतना सम्यक् ज्ञान जो मनुष्य उस देश का निवासी नहीं है, केवल चार दिन उस देशमें घूम फिरकर आया हुआ है, ऐसे मनुष्यको नहीं हो सकता । महर्षि आगस्तिजी दक्षिण देश के रहनेवाले थे, अतः राक्षसों और वानरों से उनका नित्यशः सम्बन्ध आया करता था । फलतः अगस्तिऋषि को राक्षसों के सम्बन्ध में जितना सम्यक् ज्ञान था, उतना सम्यक् ज्ञान दूरस्थ उत्तरभारत के निवासी वाल्मिकि महर्षिको होना शक्य ही नहीं था । अतएव श्रीरामचन्द्रजीने राक्षसविषयक चर्चा महर्षि अगस्तिजी से ही की और यदि महर्षि वाल्मीकिजी वहाँ होते, तब भी श्रीरामचन्द्रजीने राक्षसविषयक चर्चा महर्षि अगस्तिजीसे ही की होती । सारांश, उत्तरकाण्ड का यह सारा कथाभाग महर्षि अगस्तिकथित है और इसको महर्षि वाल्मीकिजीने अपने रामायणग्रन्थ में अगस्तिऋषिका नामनिर्देश करके समाविष्ट कर लिया है; अतएव, वह प्रक्षिप्त नहीं है । यही न्याय सर्वत्र वरता जाना अवश्य है ।

उत्तरकांड 'प्रक्षिप्त' तो नहीं है, किन्तु "रामायण का 'परिशिष्ट' है," यह बात बालकांड सर्ग ३, श्लोक ३९ से ही स्पष्ट होती है । यथा—

अनागतं च यत्किंचित् रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरेकाव्ये वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः ॥३९॥

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के चरित्रवर्णन में जो कुछ वर्णन करनेके लिये बाकी रह गया है, अर्थात् जो जो कथाप्रसंग छूट गये हैं, उन सब का समावेश भगवान् वाल्मीकि ऋषि ने उत्तरकाण्डमें किया है ।

उक्त श्लोकांतर्गत 'अनागतं' शब्द का अर्थ कतिपय टीकाकार 'भविष्यत्' काल में यानी श्रीरामचन्द्रजी के राज्यारोहणके अनन्तर किये हुए चरित्रोंकी ओर लगाते हैं। परन्तु केवल 'अनागतं' शब्दका भविष्यत्कालदर्शक प्रयोग हो ही कैसे सकता है? 'अनागतं' यानी न आया हुआ, अर्थात् इससे प्रथमके छः काण्डों में जो विषय नहीं आया है, अर्थात् वर्णन करनेसे रह गया है, या छूट गया है, चाहे फिर उसे महर्षि वाल्मीकिजीने भूल से वर्णन नहीं किया हो, अथवा पूर्वरचित छः काण्डोंमें उसको लाना महर्षिजी ने प्रयोजनीय नहीं समझा हो, अथवा उसका वर्णन पृथक्तया करना ही महर्षिजी को अभीष्ट हो, या अन्य किसी कारणसे छूट गया हो, उसका समावेश उत्तरकाण्डमें करके महर्षि वाल्मीकिजीने अपने ग्रन्थकी पूर्णता की है। अतएव उत्तरकाण्ड रामायण का परिशिष्ट ही है ।

यदि उत्तरकाण्ड की रचना महर्षि वाल्मीकिजीने न की होती, तो पिछले छः काण्डों में जो इतिहास आया हुआ है, उससे अधिकांश सम्बन्ध रखनेवाला तथा उसका पूरक ऐसा महत्त्व का ऐतिहासिक कथाभाग अज्ञात रह गया होता, अथवा नष्ट ही हो गया होता, फलतः रामायणग्रन्थ ही अपूर्ण रह जाता । निम्नलिखित दृष्टान्तों द्वारा हमारे विधान का विशेष स्पष्टीकरण होता है ।

यदि उत्तरकांड की रचना महर्षि वाल्मीकिजीने न की होती तो—

(१) राक्षसों की उत्पत्ति, उनकी कुलपरंपरा, रामरावण का वांशिक संबंध, रावणजन्मरहस्य, राक्षसोंका गूढ षड्यंत्र इत्यादि इतिहास अज्ञात ही रह जाते ।

(२) हनुमान्जी का जन्म तथा उनके पूर्वचरित्र का कुछ भी ज्ञान न हुआ होता ।

(३) श्रीरामचन्द्रजी से युद्ध होने से पूर्व- रावण के पराक्रम, तथा उनके आनुषंगिक अन्यान्य राजाओंके इतिहास अंधेरे ही में रह जाते ।

(४) राज्यारोहणके पश्चात् 'राजा'के नातेसे श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र, उनकी प्रजानुरंजन की दक्षता, उनके दोनों भ्राता भरत और शत्रुघ्न के पराक्रम, अपने भ्रातृपुत्रों के लिये पृथक् पृथक् स्वाधीन राज्यों की निर्मिति करके उनपर उनको प्रस्थापित करना और सर्व राज्यों के प्रबंध सुयंत्रित कर देना, इत्यादि इतिहास अज्ञात ही रह जाते।

(५) सीतात्याग, लवकुशजन्म, सीताजीका पुनरपि दिव्य करना, सीताजीके भूमिप्रवेशके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी का पुनः दारपरिग्रह न करके अंततक व्रतस्थ रहना, निजधाम को प्रस्थान करते समय श्रीरामचन्द्रजी के प्रति प्रजाजनोंने प्रकट किया हुआ असीम प्रेम, तथा अन्यान्य अनेक प्रसंगों का चिह्न भी शेष रहा न होता। सारांश, श्रीरामचन्द्रजीका राज्यारोहणसे आरंभ करके उनके निजधाम को प्रस्थान करने तक का सर्व इतिहास उत्तरकांड के कारण ही प्रकाश में आया हुआ है और उत्तरकाण्ड ही के कारण पिछले छः काण्डों को पूर्णता भी आई हुई है। यहां तक के विवेचन से सहृदय और विद्वान् पाठकों के ध्यान में आ जायगा कि उत्तरकाण्ड का महत्त्व कितना है।

संक्षेप में यही कहना ठीक होगा कि, जिसको रामायण का अभ्यास करना है, उसको उत्तरकाण्ड का अभ्यास अवश्यमेव करना ही चाहिये। उसके व्यतिरिक्त रामायण के अभ्यास की पूर्णता नहीं हो सकती। उत्तरकाण्ड रामायण का 'परिशिष्ट' है। कतिपय विद्वान् लोगोंके कथनानुसार वह प्रक्षिप्त नहीं है। अन्य छः कांडों के सदृश उत्तरकाण्ड भी वाल्मीकि महर्षिप्रणीत ही है।

इस प्रकार मैंने विपर्यासनिरसन करने का प्रयत्न यथासाध्य किया है और यहीं मेरी "रामायणकालीन आर्य-संस्कृति निबंधमाला" का प्रथम भाग भी हो समाप्त हो गया है। प्रथम छः निबन्धोंमें राक्षस और वानर हमारे ही सदृश मनुष्य हैं, तथा श्रौताचारसंपन्न वैदिक आर्य भी हैं, यह सप्रमाण सिद्ध किया है। सातवें निबंध में रावणजन्म के इतिहास के द्वारा राक्षसों के गूढ षड्यंत्र का प्रकटीकरण करके राक्षस कैसे कूटनीतिनिपुण थे, यह विद्वान् पाठकों को दर्शा दिया और अंतिम यानी आठवें निबंध में 'सीता-स्वयंवर,' 'अहल्या-शिला,' और 'शबरीके उच्छिष्ट बेर,' इत्यादि इतिहासोंके प्रचलित विपर्यासों का यथामति निरसन करके, उत्तरकांड 'प्रक्षिप्त' नहीं है, किंतु रामायणका 'परिशिष्ट' है, यह भी यथामति सिद्ध कर दिया है। पूर्वोक्त सब निबन्धों में प्रकट किये हुए विचारों से मैं किस भूमिका पर आरूढ होकर श्रीरामचंद्रजी और वाल्मीकि रामायणको देख रहा हूँ, तथा किस दृष्टिसे देख रहा हूँ, यह बात स्पष्ट रूपेण विद्वान् और सहृदय पाठकों के ध्यान में सहज ही में आ जायगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

एक पुरुष है। उसको उसका पिता "पुत्र" कहता है, तो उसका पुत्र उसे "पिता" कहता है। उसका शिष्य उसको 'गुरु' मानता है, तो गुरु उसको "शिष्य" मानता है। उसकी भगिनी उसे 'भ्राता' मानती है, पत्नी "पति" मानती है, सेवक उसको 'स्वामी' समझता है, तो उसका स्वामी उसे 'सेवक' समझता है। सारांश, प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी दृष्टिसे उस एक ही व्यक्ति को देखती है और प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि उसकी उसीके लिये योग्य ही होती है। इसी न्यायानुसार श्रीरामचंद्रजीको वेदान्ती 'परब्रह्म' मानते हैं, भक्तजन अपने 'उपास्य देवता' मानते हैं, रावण उन्हें अपना 'शत्रु' मानता है, तो बिभीषण, सुग्रीव, गुह आदि उन्हें अपना 'परम मित्र' मानते हैं। दशरथादि कौटुंबिक जन अपने अपने नातेसे उनको देखते हैं। सारांश, जो जिस दृष्टिसे श्रीरामचंद्रजी को देखता है, उसकी वह दृष्टि योग्य है या अयोग्य, यही बात केवल विचारार्ह होती है।

मैं श्रीरामचंद्रजी को 'लीलामानुष अवतार नरोत्तम' अर्थात् अत्यंत श्रेष्ठ विभूतिमान् पुरुष यानी मनुष्य मानता हूं, तथा राक्षस और वानरों को अत्यंत सभ्य (Civilised) वैदिक आर्य मानता हूं। मेरी भी यह एक दृष्टि तथा स्वतंत्र विचार की एक दिशा ही है। अब, वह शुद्ध है या अशुद्ध है और उसीके अनुसार प्रस्तुत विषय का जो मैंने परिशीलन और विवेचन किया है, वह निर्भ्रम है या भ्रमपूर्ण है, इसका विचारपूर्वक परीक्षण करके तत्पश्चात् निर्णय देनेका कार्य सहृदय तथा विद्वान् पाठकों का है। किसी को मेरे विचारोंमें कोई त्रुटि दिखाई दे या कोई अंश आक्षेपार्ह प्रतीत हो और वे सज्जन यदि कृपा करके उससे मुझे सूचित करेंगे, तो उनकी सूचनाओंका

सादर और धन्यवादपूर्वक स्वीकार करके उनपर मैं पुनश्च विचार करूंगा। क्योंकि- 'न ह्येकस्य क्षमा प्रज्ञा तत्त्वार्थपरिनिर्णये।' और इसीलिए 'अनुक्तं च दुरुक्तं च शोद्धव्यं तत्र पण्डितैः।' अर्थात् प्रतिपादित विषय में कहीं न्यूनता रह गयी हो, अथवा कहीं असंगति या असंबद्धता दिखाई दे, तो सहृदय विद्वान् पाठक क्षमापूर्वक उसका संशोधन करें, और-

युक्तियुक्तं तु संग्राह्यं बालस्यापि सुभाषितम्।
अयुक्तियुक्तं न ग्राह्यं अप्युक्तं परमेष्ठिना॥

इस सूक्तिके अनुसार जो युक्ति संगत हो और जो अपनी बुद्धि को जचे, उसीको ग्रहण करें।

अब इसके आगे द्वितीय भाग सहृदय विद्वान् पाठकोंकी सेवामें यथावकाश भेंट किया जायगा।

समाप्त



वाल्मीकि रामायण का मुद्रण ।

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण शुरू हुआ है। एक दो महिनों में 'बालकाण्ड' छपकर तैयार होगा। इस ग्रंथ में बालकाण्ड के कथाभाग का विवरण चित्रों और नकशों के साथ रहेगा।

पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानों में विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शा कर सत्य पाठ दर्शाया है।

इस बालकाण्ड में दो रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं। जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है।

काण्ड की समाप्ति के पश्चात् विस्तृत टीका तथा टिप्पणी और विवरण दिया है। वानर कौन थे, राक्षस कौन थे, ये मानववंशीय थे या और कुछ थे, आर्यराजाओं की सभ्यता कैसी थी और वानरों और राक्षसों की सभ्यता किस प्रकार की थी, यह सब सप्रमाण यहां बताया है। इसलिये यह ग्रन्थ केवल वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही नहीं है, यह ग्रन्थ एक रामायणकालीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है।

इस तरहकी इतिहासिक विवेचना इस समयतक किसीने नहीं की है, अतः यह अपूर्व ग्रन्थ है।

इसका मूल्य ।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २०) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये। (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा। अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायँगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं।

मन्त्री- **स्वाध्याय-मण्डल,** औंध (जि० सातारा)

Aundh, (Dist. Satara)

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण	३)	१)	॥)	१॥)
(छप रहा है)	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। इसमें ।) एक बारका पैकिंग और ।) एक बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेंगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें ।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० दशम काण्ड ,,	२)	॥)
११ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१३ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१५ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	=)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

पुस्तक	मू.	डा०व्य०
देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग ।	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत-संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे । आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है ।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)
,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)
,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है ।

आसन ।

' योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति '

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है । अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं । इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है । मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आना है । म० आ० से २।≡) रु० भेज दें ।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. -)

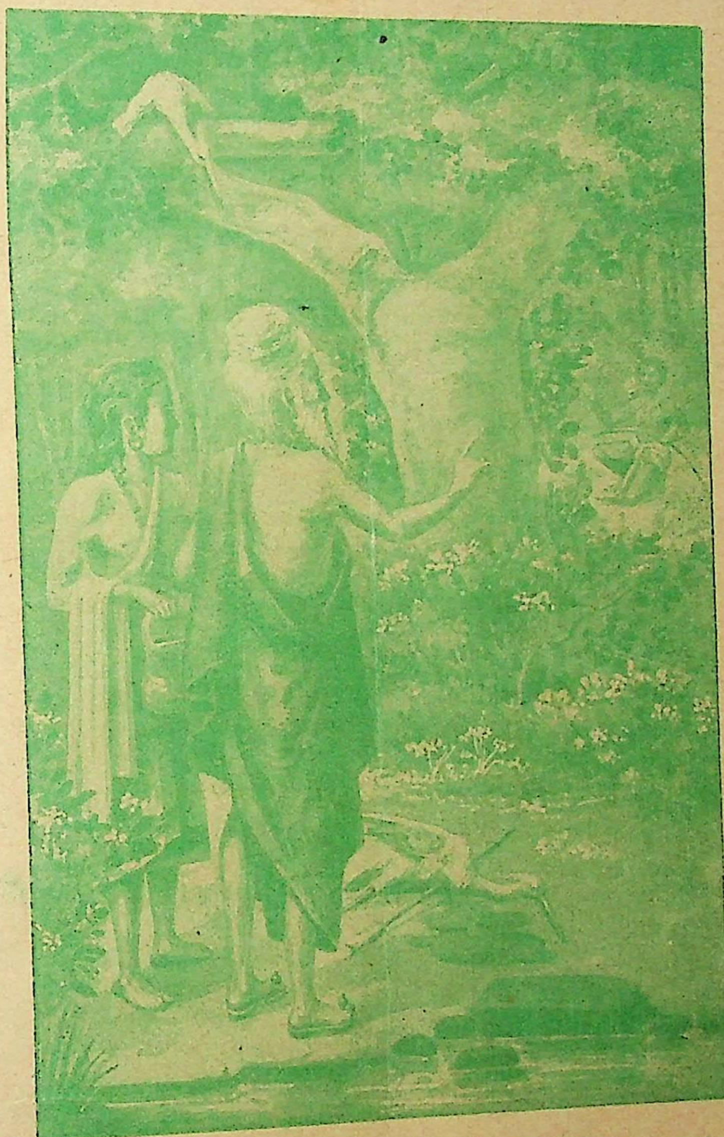
मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिक धर्म।

दिसेंबर १९४१
मार्गशीर्ष १९९८

क्रौंच-वध।



स्वाध्याय-मंडलद्वारा प्रकाशित श्रीवाल्मीकी रामायणके अन्तर्गत
बालकाण्डमें मुद्रित एक दृश्य।

[अंक १२

वर्ष २२]   क्रमांक २६४

संपादक— पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २२] [अङ्क १२

विषयानुक्रमणिका

१ प्रजाओंसे अमरत्व ।		५२३
२ वेद और अन्य मत ।		५२४
३ पुनर्जन्म और मुक्ति ।	संपादकीय	५२५
४ शब्दनिर्वचनोंका ऋग्वेदीय आधार ।	पं. रुलियाराम कश्यप	५३९
५ पातंजल-योगानुशासन शास्त्र ।	पं. रुलियाराम कश्यप	५४४
६ सदाचार ।	ब्र. गोपाल चैतन्य देव	५४७
७ ब्राह्मण । (५)	श्री भारतचन्द्र चौधरी	५५५
८ अष्टाध्यायीकी अन्वर्थक संज्ञाएं ।	श्री धर्मराज वेदालंकार	५६३
९ अवतरणिका ।	ब्र. गोपाल चैतन्यदेव	५६७
१० यात्रियोंकी सेवार्थ प्रार्थना ।	पं. रामचंद्रजी	५७२
११ विषय-सूची ।		५७७

पं० नरदेवशास्त्रीजी वेदतीर्थ की जेलसे मुक्तता ।

" वैदिक धर्म " के पाठकों को यह शुभ समाचार सुनाते हमें हर्ष होता है कि पं० नरदेव शास्त्रीजी वेदतीर्थ नवंबर मास में कारागृहसे रिहा हो गए हैं । गत वर्ष महात्माजी द्वारा संचालित सत्याग्रह-संग्राम में, जो कि भाषण स्वतंत्रता पानेकी इच्छासे प्रवर्तित किया गया था, पं० नरदेवजी कूद पड़े जिसके फलस्वरूप उन्हें एक वर्ष कारावास की सजा हुई। शास्त्रीजी सबको भली भाँति परिचित हैं । ये महोदय वेद के स्वाध्याय में गहरी दिलचस्पी लेते हैं । कारागृहमें रहते समय इन्होंने ऋग्वेदका भली भाँति स्वाध्याय किया है । हमें आशा है कि अपने गहरे अध्ययन का परिणाम शास्त्रीजी लेखोंद्वारा ' वैदिक धर्म ' के पाठकों के सम्मुख अवश्य ही रख देंगे ।

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६४

वर्ष २२ : : : : अङ्क १२

मार्गशीर्ष संवत् १९९८

दिसँबर १९४१

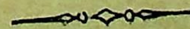
प्रजाओं से अमरत्व।

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानो
ऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि
प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्॥

(ऋ० ५-४-१०)

"(यः मर्त्यः) जो मरणधर्मवाला मैं (अमर्त्यं त्वा) अमरत्वधर्मवाले तुझको (कीरिणा हृदा) भक्तियुक्त अन्तः-करणसे (मन्यमानः) संमान करता हुआ (जोहवीमि) बुलाता हूं, हे (जातवेदः) जातवेदः! (अस्मासु यशः धेहि) हमारे अन्दर यशको स्थापन कर, तथा हम (प्रजाभिः) सन्तानों से, हे अग्ने! (अमृतत्वं अश्याम्) अमरत्वको प्राप्त हों।"

सन्तानपरम्परा का विच्छेद न होनेसे अमरत्व प्राप्त होता है।



वेद और अन्य मत।

वेद का सिद्धान्त कुछ और है और अन्य मतमतांतर कुछ और ही हैं। यह बात इस अंक के प्रथम लेख से पाठकों को स्पष्ट प्रतीत होगी। जब से वेद के अध्ययन का और वेद के मन्त्रों का विचार करना विद्वानों ने छोड दिया, तब से वेद के मत अन्य मतमतान्तरों से आच्छादित हुए और जनता वेद के सिद्धान्त से दूर होती गयी।

इस समय हमारे अन्दर जैन बौद्धों का दुःखवाद, चार्वाकों का सुखेच्छावाद, तार्किकों का दुःखनिवारक प्रेरणावाद, सांख्ययोगवादियों का जीवोन्नतिवाद तथा भिन्नात्म-श्रेणीवाद, ऐसे नाना वाद संमिश्रित हुए हैं। हमारे उपदेशक और धर्मप्रचारक इन सब वादों को अपनाते हुए अपने उपदेश कर रहे हैं और जनता भी वही अपना 'वैदिक धर्म' है, ऐसा मान रही है। इस दुष्ट प्रचार से जो अनर्थ हुए हैं और हो रहे हैं, वे इस समय जनता के समझ में नहीं आ सकते। क्योंकि उपदेशक और श्रोताजन दोनों इस एकही किश्ती में सवार हुए हैं और इसी प्रचार के लिये लाखों रुपयों का व्यय किया जा रहा है।

आज इस अंक में '**पुनर्जन्म और मुक्ति**' विषयक कुछ कल्पनाओं का शुद्ध वैदिक स्वरूप कितना गंभीर है, यह संक्षेप से बताया है। पाठक इसका वारंवार मनन करें, वेद-मन्त्रों का आशय समझने का यत्न करें और वेद के विचारों से तन्मय होने की पराकाष्ठा करें।

जो इस समय पाठकों के मन में मानी बातें हैं, उन को इस लेख से धक्का लगेगा। वह लगना आवश्यक ही है। जब अवैदिक मतों को काटकर दूर फेंकना है, तब इस प्रकार की शस्त्रक्रिया करने के समय दुःख अवश्य ही होगा। धक्का अवश्य लगेगा और विरोध भी अवश्य ही खडा हो जायगा।

पाठकों के अंदर '**वैदिक धर्म का अभिमान**' है, पर वह अभिमान '**वेदमंत्रोंद्वारा प्रकाशित धर्म का नहीं है,**' वह अभिमान उस मतसमुदायका है कि, जिस को वे वैदिक धर्म के स्थान में आज मान रहे हैं। जैसा '**जगत् दुःखमय है,**' और इस दुःखको हटाने के लिये यत्न करना आवश्यक है। किसी वेदमंत्रने जगत् को दुःखरूप कहा नहीं है। वेद का आशय इस विषय में कुछ और ही है। इस तरह वेद की मुक्ति कुछ और ही है और इस समय जिस को मुक्ति मानते हैं, वह कुछ और ही कल्पना है।

ऐसी अंदाधुंदी क्यों हुई है? इस का कारण एक ही है और वह है, '**वेदाध्ययन का अभाव**'। जब तक उपदेशक ही वेदाध्यायी और वेदाभ्यासी नहीं होंगे, तब तक उन से वैदिक धर्म का उपदेश और वेद-धर्म-प्रचार होना कहांतक बन सकता है, इस का विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। जो कूए में न होगा, वह घडे में कहां से आ जायगा?

इसलिए सबसे प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि जो सत्य वेद-धर्मपर श्रद्धा रखता है, जो सत्य वेद-धर्मको जानना चाहता है और जानकर वैदिक धर्मको अपनाना चाहता है, वह वेदका स्वयं अध्ययन करे। इस तरह वेदाध्ययन करनेवाले बहुत हुए, तो उनमें से कुछ वेद-विचारक होंगे और उन में कुछ सच्चे वैदिक धर्मका प्रकाश करने में समर्थ होंगे।

इस कारण **स्वाध्याय-मण्डल** द्वारा वेदाध्ययन का प्रबंध किया गया है। पाठ्य पुस्तकें '**वेद-परिचय**' प्रथम और द्वितीय भाग प्रकाशित हुए हैं और आगेके भाग भी छप रहे हैं। इन पुस्तकों से वेदाध्ययन की सुगमता हो चुकी है। पाठक यत्न करके स्वयं वेदका बोध प्राप्त करें।

पुनर्जन्म और मुक्ति।

असत्य कल्पना का प्रचार।

वेद की पुनर्जन्म और मुक्ति की कल्पना कुछ और ही है और अन्य ग्रंथों की इस विषय की कल्पना कुछ और ही है। पुनर्जन्म और मुक्ति के विषय में कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और उनमें प्रतिपादन करनेवालों ने दावा इस बात का किया है कि, यह प्रतिपादित मत वेदका है! यह पढ कर हमें आश्चर्य हुआ कि, वेद का मत न जानते हुए ही ये लेखक इस तरह अपना मत वेदपर क्यों लगा देते हैं?

आज कल अनेकानेक कुकल्पनाएं पुनर्जन्म और मुक्ति के विषय में फैली हैं। इसलिये उनका निरास करने की इच्छा से और वैदिक शुद्ध कल्पना का प्रचार करने के उद्देश्य से यह लेख प्रकाशित किया जाता है। पाठक इसका मनन करें और अनुकूल अथवा प्रतिकूल, जो भी मत उनका हो, लिखकर हमारे पास भेज दें। हम उसका प्रकाशन करेंगे और हम भी उन पर आवश्यक समालोचना करेंगे। इस तरह सत्य वैदिक सिद्धान्त का आन्दोलन होकर स्वयं सत्य तत्व सबके सामने प्रकाशित होगा।

मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म।

सब के सामने आजकल एकही पुनर्जन्म है, जो मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा को प्राप्त होता है। इसका वर्णन भगवद्गीता में तथा उपनिषदों में इस तरह हुआ है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही। (भ० गी० २।२२)

"जिस तरह फटे कपडे फेंककर मनुष्य नये धारण करता है, उसी तरह जीव भी जीर्ण देहों का त्याग कर नवीन देह धारण करता है।"

यहां पुनर्जन्म की स्पष्ट कल्पना है। मानो भगवद्गीता के अन्दर इस तरह की पुनर्जन्म की कल्पना का पूर्ण विकास हुआ है। उपनिषदों में यद्यपि इतने स्पष्ट शब्दों से नहीं कहा, तथापि अन्य शब्दों द्वारा यही कल्पना ऐसी ही स्पष्टता के साथ कही है।

तेषां न पुनरावृत्तिः। (बृ० उ० ६।२।१५)
पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं। (मुक्ति उ० १।२०)
अप पुनर्मृत्युं जयति। (बृ० १।२।७; १।५।२; ३।२।१०; ३।३।२)
स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। (ऐ० उ० २।२।४)
वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ते। (छां० उ० ५।३।२)
एतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। (छां० उ० ५।१०।५)
न च पुनरावर्तन्ते। (छां० उ० ८।१५।१)
वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता। (छां० ६।३।२)
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे। (कठ उ० २।६)
जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति। (मुण्ड० उ० २।७)
त एव पुनरावर्तन्ते। (प्रश्न० उ० १।९)
एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते। (प्रश्न० १।१०)
पुनर्जातः पुनर्मृतः। (गर्भ उ० ४)

इस तरह मरने के पश्चात् पुनः उत्पन्न होने तथा न होने की अर्थात् मुक्ति की कल्पना उपनिषदों में स्पष्ट कही है। इससे स्पष्ट होता है कि, उपनिषदों में इस तरह के मरने के पश्चात् के पुनर्जन्म की कल्पना है। यह कल्पना नास्तिक जैन बौद्धों ने भी मानी है। यह भी यहां कहना चाहिये कि जैसा पुनर्जन्म आजकल हम मान रहे हैं, वैसा पुनर्जन्म नास्तिक जैन-बौद्धोंने भी माना है!! जो कि जीव को मानते तक नहीं!!!

जैन-बौद्ध तो स्थायी जीव मानते नहीं, पर अन्तःकरण का, जीव-भाव का पुनर्जन्म मानते हैं। वास्तविक रीति से देखा जाय तो जीव की स्वतन्त्र सत्ता न माननेवाले जैन-बौद्धों को पुनर्जन्म नहीं मानना चाहिये। परन्तु वैदिक धर्मी आर्यों के पुनर्जन्मवादने जो प्रभाव इन पर डाला, उसके कारण वे पुनर्जन्म के अभाव को मानने में असमर्थ रहे और शरीर के नाश होने पर भी रहनेवाला जीवभाव पुनर्जन्म के लिये रहता है, ऐसा मानकर अपने

ही मत का नाश करने के लिये प्रवृत्त हुए!! यह एक प्रकार हमारे वैदिक मत का जीवित प्रभाव ही है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, जैसा पुनर्जन्म भगवद्गीता ने माना है और जैसा उपनिषद्वचनों में दीखता है, वैसा ही वेदमंत्रों में है वा नहीं? इसका सीधा उत्तर यही है कि, वेदमंत्रों में ऐसे कोई स्पष्ट मंत्र नहीं है कि, जिससे सुस्पष्टतया इस तरह का पुनर्जन्म सिद्ध हो जाय। पुनर्जन्म-विषयक जो मन्त्र पेश किये जाते हैं, वे ये हैं—

(आजीगर्तिः शुनःशेपः। कः, अग्निः। त्रिष्टुप्)

कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्
मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्,
पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्,
पितरं च दृशेयं मातरं च ॥२॥
(ऋ० १।२४।१-२)

" किस देव के नाम का हम मनन करें? जो हमें महती प्रकृति में फिर रखे और हम मातापिता को पुनः देखें। देवों में प्रथम अग्नि देव के सुन्दर नाम का हम मनन करें जिस से हम महती प्रकृति को पुनः प्राप्त होकर मातापिता को भी पुनः देखेंगे। "

इस में महती प्रकृति को पुनः प्राप्त होकर मातापिता को पुनः देखने का उल्लेख निःसंदेह पुनर्जन्म का बोध कराता है। इस विषय में जो अथर्ववेद के मन्त्र पेश किये जाते हैं, वे ये हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि
विश्वतोमुखः॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषा-
मुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो
मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥
(अथर्व० १०।८।२७-२८)

" तू ही स्त्री है और तू ही पुरुष है, तू कुमार है और तू ही कुमारी है, तू जीर्ण होकर हाथ में सोटी लेकर चलता है, और तू उत्पन्न होकर सब ओर मुखवाला होता है। तू इन का पिता है और इन का पुत्र भी है, इन में तू ज्येष्ठ भी है और कनिष्ठ भी है। तू एक ही देव है, जो मन में प्रविष्ट होकर प्रथम उत्पन्न होकर फिर भी गर्भ में आया है। "

ये ही मंत्र हैं, जो पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये प्रमाण समझ कर प्रतिपक्षी के सम्मुख रखे जाते हैं। ऋग्वेद के ऊपर दिये मंत्रों में 'महती अदिति के आधीन फिर से करना और मातापिताओं को फिर से देखने' का स्पष्ट उल्लेख है, इस लिये ये दो मंत्र पुनर्जन्म के समर्थक माने भी जा सकते हैं। परन्तु अथर्ववेद के ऊपर दिये मंत्रों के विषय में सचमुच बडा संदेह है, क्योंकि 'विश्वतोमुख' शब्द परमात्मा का वाचक है। सब ओर मुखवाला, जिस के मुख सब ओर हैं, यह वर्णन, जीव एकदेशी माना जाता है, इसलिये जीव का नहीं हो सकता।

" एक ही आत्मा जो विश्वतो-मुखी है, वही स्त्रीपुरुष कुमारकुमारी, जीर्ण (वृद्ध) युवा, पिता-पुत्र, ज्येष्ठ-कनिष्ठ होता है। यह मन में प्रविष्ट होकर एकवार जन्म लेकर भी पुनः गर्भ में आता है। " यह वर्णन केवल जीव का ही माना जाना कठिन है, क्योंकि ऐसा ही वर्णन परमात्मा का भी है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः
स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्य-
माणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥
(वा० यजु० ३२।४)

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा
विजायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्त-
स्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(वा० यजु० ३१।१९)

" यह देव सब दिशा-उपदिशाओं में है, वही पहिले जन्मा था और वही फिर गर्भ में आया है। वही भूत-जन्मा था और वही भविष्यकाल में जन्मनेवाला है, और वही वर्तमान काल में प्रत्येक व्यक्ति में रहता है। यही सर्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र मुखवाला है। "

" प्रजापति परमेश्वर ही स्वयं न जन्म लेनेवाला होने-पर भी गर्भ के अन्दर आता है और बहुत प्रकार से जन्म लेता है। इस के मूल-स्थान को बुद्धिमान् लोग ही देखते

है, इसी में सब भुवन ठहरे हैं।"

इस तरह का वर्णन अनेक मंत्रों में है। यहां 'दिशा-उपदिशाओं में व्यापक, सर्वतोमुख अर्थात् सब ओर जिस के मुख हैं, जो प्रजाओं का पालक है, जो ज्ञानियोंद्वारा जाना जाता है,' इत्यादि वर्णन है, निःसंदेह परमात्मा का ही है। अथर्वमंत्र में 'विश्वतोमुख' शब्द है और यहां 'सर्वतोमुख' है, दोनों का अर्थ एक ही है।

अथर्व०- प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।
यजु०- पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।

इस तरह दोनों स्थानों के वर्णनों में एक जैसे ही शब्द हैं, इसलिये अथर्ववेद के वर्णन से जीव का पुनर्जन्म सिद्ध हो सकेगा, ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता। शेष बात रही ऋग्वेद के ऊपर दिये मंत्रों की। उन में पुनः जन्म होने का वर्णन है, पर वह मरने के पश्चात् के पुनर्जन्म का वर्णन है, वा अन्य किस प्रकार के पुनर्जन्म का है, इस का विचार करना है।

येही मन्त्र पुनर्जन्म सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं। जो इनसे भिन्न हैं, वे इनसे भी अधिक अस्पष्ट हैं। अतः यह स्पष्ट है कि, मरने के पश्चात् के पुनर्जन्म का अतिस्पष्ट और निःसन्देह वर्णन वेदमन्त्रों में नहीं है। जो मन्त्र इस विषयके मिलते हैं, वे बहुत ही अस्पष्ट हैं। भगवद्गीता और उपनिषदों में मरने के बाद के पुनर्जन्म का स्पष्ट वर्णन है, वैसा वेदमन्त्रों में नहीं है, यह बात सत्य है। इससे कोई पाठक यह अनुमान न निकाले कि, वेदमन्त्रों में पुनर्जन्मवाद बिलकुल ही नहीं है। इस समय ऐसा अनुमान निकालना साहस होगा, क्योंकि पूर्वोक्त ऋग्वेदके मन्त्र अंशतः पुनर्जन्मवाद की कल्पना देते हैं। इसलिये वेद पुनर्जन्म मानता है, यह बात सत्य है, परन्तु इस तरह का पुनर्जन्म, जो मरने के पश्चात् प्राप्त होनेवाला है, वेदके मतसे बहुत ही गौण है। जो विषय बहुत गौण होता है, उनका वर्णन वेदमें बहुत ही संक्षिप्त होता है। इससे यह हम अनुमान निकालते हैं कि, वेदके मतसे मरने के पश्चात् का पुनर्जन्म गौण महत्त्व का है।

वेद की दृष्टि से और दो प्रकार के पुनर्जन्म हैं, जो विशेष महत्त्व के हैं। उनका वर्णन विशेष विस्तार में तथा मनन करनेयोग्य रीतिसे दिया है। इस का अब हम कुछ स्पष्टीकरण करते हैं-

मातापिता का रेतसे जन्म।

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः। मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ ३७॥
तां पूषन् छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्या मुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ३८॥
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः। प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ ३९॥
(अथर्व० १४।२)

"हे (पितरौ) माता और पिता! आप दोनों (ऋत्विये) ऋतुकाल के समय (सं सृजेथां) परस्पर मिलकर [अपने आपको] उत्पन्न करो। माता और पिता दोनों अपने (रेतसः) वीर्यसे, रेतसे (भवाथः) होते हैं। (मर्य इव एनां योषां अधिरोहय) युवा पुरुष के समान इस स्त्रीसे सम्बन्ध कर और (इह प्रजां कृण्वाथां) यहां प्रकृष्ट जनन-उत्तम प्रजा-उत्पन्न करो, (रयिं पुष्यतं) धन भी बढाओ।"

"हे पूषा! इसको प्रेरणा कर, इसमें मनुष्य बीज बोते हैं। समान इच्छावाली यह स्त्री आधार देती है और उसमें वैसी इच्छा करता हुआ पति बीज रखता है।"

"आरोहण कर, हाथ पकड, अपनी पत्नीको आलिंगन दे, मन में शुभ विचार धारण कर, दोनों आनंद से संतान उत्पन्न करें, सवितादेव आपको दीर्घायु करे।"

इन मन्त्रों में मातापिता का पुनर्जन्म अपने ही रेतसे होता है, (मातापिता रेतसः भवाथः) यह बात स्पष्ट कही है और मातापिता परस्पर मिलकर अपने ही रेतसे अपने आप को (पितरौ सं सृजेथां) जन्म देते हैं। यह सब ऋतुकाल में ही होता है। इस समय दोनों का (प्र+जां= प्र+जनन) विशेष प्रकार से श्रेष्ठ प्रकृष्ट जन्म होता है, इसलिये योग्य ऋतुकाल में यह समागम होवे। स्त्री (शिवतमा) अत्यन्त पवित्र रहे, उसके मनमें पाप-भाव न रहें, पवित्र भाव ही रहें। अन्तःकरण की तथा सब प्रकार की पवित्रता रहे, किसी प्रकार अपवित्रता न रहे।

स्त्री पति की इच्छा करे, और पति पत्नी की इच्छा करे (उशती, उशन्तः) इस तरह दोनों परस्पर का समागम चाहें। यह समागम पवित्रता और श्रेष्ठता की सिद्धि के लिये हो। (सुमनस्यमानः) उत्तम मनके भाव हों, श्रेष्ठ सदिच्छा से यह कर्तव्य किया जाय। (मोदमानौ प्रजां कृण्वाथां) आनन्दप्रसन्न रह कर संतानोत्पत्ति करो। यह केवल संतान नहीं है, यह प्रजा अर्थात् प्रकृष्ट तथा श्रेष्ठ गुणोंके साथ उत्पन्न होनेवाली संतति हो। अर्थात् अपनी संतति में विशेष श्रेष्ठ गुणों की वृद्धि हो, यही इच्छा मातापिता की रहे।

अपना पुनर्जन्म।

माता और पिता दोनों का अपने रजवीर्य से पुनर्जन्म होता है। यह अपना ही देहान्तरवास है, यह बात मातापिता मनमें समझें। पिताही भार्या में पुनर्जन्म को प्राप्त होता है, यह वेद का सिद्धान्त मातापिता दोनों जानें। दोनों इस बात को न भूलें। अपना भविष्य जन्म कैसा होना चाहिये, इसका निश्चय करके, वैसी सदिच्छा धारण करके ऋतुकाल में दोनों संगत हों। इस समय जो मातापिता सावधान नहीं रहते, वे अपने ही भविष्य जन्म का बिगाड करते हैं, यह बात मातापिता जानें।

दोनों का स्वर्ग।

(यमः। अग्निः। स्वराडार्षी पंक्तिः)

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम। गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥१७॥

(अथर्व० १२।३।१७)

(यमः। अग्निः स्वर्गः। त्रिष्टुप्)

यद्यज्जाया पचति त्वत्परः परः पतिर्वा जाये त्वत्तिरः। सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम्॥ (अथर्व० १२।३।३९)

" हमें स्वर्गलोक को पहुंचा दो, जहां हम अपनी स्त्री और उससे उत्पन्न हुए पुत्रों के साथ रहेंगे। मैंने इसका हाथ पकडा है। मेरे साथ यहां तक आवे। कोई कष्ट और शत्रु हमारे पास न आवे।"

" स्त्री तेरे से दूर दूर रहकर जो पकाती है अथवा पति भार्या को न समझते हुए जो कुछ करता है, वह सब (सं) मिलकर (सृजेथां) उत्पन्न करो, (वां सह तत् अस्तु) तुम दोनों का मिलकर ही वह है, किसी एक का नहीं है। क्योंकि आप दोनों (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) एक ही (पुत्ररूपी) लोक को मिलकर उत्पन्न करते हैं।"

दोनों का एक लोक।

यहां कहा है कि, मातापिता मिलकर पुत्ररूपी एक लोक की उत्पत्ति करते हैं। दोनों का यह एक ही स्वर्गधाम है। माता अलग और पिता भिन्न भाव से रहकर इस स्वर्गधाम को प्राप्त नहीं होंगे। यह तो दोनों ने मिलकर ही करनेवाला लोक है। यही स्वर्ग है, वास्तविक ही यह माता और पिता (स्वः-गः) स्वतः ही इस लोक में गमन करते हैं और इसे प्राप्त करते हैं। दोनों के मेल से मिलनेवाला यह स्वर्गधाम है।

वंशविच्छेद न हो।

(अथर्वा। यमः)

पितुर्नपातमादधीत वेधाः॥१॥
उशंति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य॥३॥ (अ० १८।१)

" पति को उचित है कि, वह अपने पिता के (न-पातं) वंश का पतन न करनेवाले, वंश का विच्छेद न करनेवाले पोते का, अर्थात् गर्भ का आधान अपनी स्त्री में करे। इस तरह के त्याग को देवताएं चाहती हैं।"

ये मंत्रभाग भाईबहिन के विवाह के निषेध के मंत्रों में हैं, तथापि ये मन्त्रभाग सामान्य निर्देश करनेवाले भी हैं; इसलिये यहां लिये हैं। यहां पोते को '**न-पात्**' कहा है, यह बात विशेष ध्यान में धरनेयोग्य है। पुत्र का पुत्र हुआ, तो वंश का क्रम जारी रहता है, यह बतानेवाला 'न-पात्' शब्द यहां है। पतिपत्नी को अपना आचरण ऐसा रखना चाहिये कि, जिससे संतान का विच्छेद न हो, संतति का क्रम अविच्छिन्न रीति से चलता रहना चाहिये। मनुष्य को जो '**आनन्त्य**' प्राप्त होना है, वह एक रीति से संतति के अविच्छेद से ही है। पाठक यहां इस बात को कभी न भूलें।

मुक्ति अर्थात् आनन्त्य।

मुक्ति का अर्थ है आनन्त्य। 'तदानन्त्याय कल्पते'

तब अनन्तत्व की प्राप्ति होती है। यह आनन्त्य संतान के अविच्छेद से होता है। वेदमंत्र का आशय यह है। पाठक इस वाक्य को पढकर चौंक उठेंगे, यह हम जानते हैं, क्योंकि पाठकोंने सुना है और पढा भी है कि, मुक्ति का अर्थ '**जन्म न होना**' है। सब उपदेशक मुक्ति का अर्थ ऐसा ही बताते आये हैं। परन्तु वेद मुक्ति का अर्थ '**आनन्त्य**' बताता है और आनन्त्य का अर्थ है अनन्तता, अर्थात् वंश का विच्छेद न होना, सतत वंश का संतति-परम्परा से चलता रहना है। आनन्त्य का अर्थ दूसरा भी है, जिसका वर्णन आगे प्रसंगवशात् आवेगा।

प्रजाभिरग्ने अमृतत्वं अश्याम् ॥ (ऋ० ५।४।१०)

"प्रजाओं से, संतति से अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त होगा।" संतानोत्पत्ति की परम्परा अखण्ड चलती रहने से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसी को '**आनन्त्य**' भी कहते हैं। यहां परम्परा से आनन्त्य है और परम्परा-विच्छेद से मुक्ति की हानि है।

वेद के इस सिद्धान्त को न इस समय तक किसीने प्रतिपादन किया और नाही किसीने इस पर कुछ लिखा। अतः इस तरह प्रथम वारहि यह बात यहां लिखी जा रही है, इसलिये सब पाठक घबरा जायंगे। परन्तु यह वेद का सिद्धान्त किसी न किसी समय जनता के सामने आना ही चाहिये।

पाठक यह चाहते हैं कि, किसी तरह अपना पुनर्जन्म न होकर अपनी पुनर्जन्म से मुक्तता हो। आजकल सर्वत्र यही प्रतिपादन हो रहा है। पाठकों को भी यह पसंद है। सब पाठक जन्म से घबरा रहे हैं। पर जन्म से घबराने का कोई कारण नहीं है। बहुत लोग कह रहे हैं, इसलिये जन्म से घबरा जाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

दर्शनोंने भी कहा है कि, '**दुःख-जन्म-दोष-प्रवृत्ति-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदंतराभावादपवर्गः**' मिथ्या ज्ञान दूर होने से प्रवृत्तिदोष हटते हैं, इनके हटने से जन्म नहीं होता और दुःख दूर होता है, यही मोक्ष है इस तरह के विचार दर्शनकारोंने प्रतिपादन किये हैं, तथा अन्यत्र भी ये विचार आजकल फैले हैं।

पर ये विचार अशुद्ध हैं। वेदसिद्धान्तपर सुदृढ विश्वास रखनेवालोंने अन्य विचार अपनाये, उस का यह परिणाम है। इसलिये वेद क्या कहता है, सो यहां देखिये—

ईश्वर का स्वरूप।

सब विश्व को '**ईश्वर का रूप**' वेद दर्शा रहा है। **पुरुष एव इदं सर्वं** (ऋ० १०।९०।२) ' ईश्वर ही यह सब विश्व का रूप है। यदि यह सब विश्व ईश्वर का ही रूप है, तब तो यह बंधन कैसे हो सकता है ? हम जन्म लेकर ही इस विश्वरूप में आते हैं, अर्थात् हम जन्म को प्राप्त होकर इस परमात्मा के विश्वरूप का भाग बनते हैं। क्या यह सत्य नहीं है ? फिर जिस जन्म से हम परमेश्वर के प्रकट रूप में प्रविष्ट होते हैं, विश्वरूप का भाग बनते हैं, वह जन्म दोष से उत्पन्न होता है, यह विचारसरणी वैदिक कैसी मानी जा सकती है ? यदि विश्व ईश्वररूप है, तब तो वह आनन्दरूप होना चाहिये।

विश्वरूप ईश्वर का स्वरूप होने से वह बंधनकारक नहीं है, नाही यह शरीर बंधन है, न जन्म दोषरूप है और नाही जन्मरहित होना मुक्ति है। यह सब आजकल फैली, विचारपरम्परा असत्य और अवैदिक होने से त्याज्य है।

वेद कहता है कि, '**दशास्यां पुत्रानाधेहि** (ऋ०)' 'स्वस्त्री में दश संतान उत्पन्न कर।' क्या कभी वेद कहेगा कि, दश जीवों को बंधन में अटकाओ ? नहीं, जन्म को बंधन कहना ही अशुद्ध है। शरीर भी बंधन नहीं है और नाही शरीरधारण बंधन है। इसलिये मुक्ति के लिये शरीर में रहने से प्रतिबंध नहीं होता। वैदिक मुक्ति शरीर में रहते भी मिलती है, वह एक प्रकार की मानसिक और आत्मिक समता की स्थिति है। दूसरी मुक्ति संतति के आनन्त्य से मिलती है। देखिये-

एक दम्पति (स्त्रीपुरुष) को दस संतान हुए। फिर उन दसों को विवाह करने पर प्रत्येक को दस दस संतान हुए, तो १०० हुए। इन में से प्रत्येक को दस संतान हुए तो तीसरी पुस्त में १००० हुए, चौथी पुस्त में १००००, पांचवी में १०००००, छठी पुस्त में १०००००० और सातवी में १०००००००० हुए। इस तरह यह आनन्त्य, अथवा अनन्तता संततिक्रम से प्राप्त होती है। स्मृतियों में सात पुस्तोंतक वंश की शुद्धता देखनी चाहिये, ऐसा कहा है, पर वैदिक धर्म के अनुसार लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे और प्रति पुस्त में दश संतान होते रहे, तो सातवी पिढी

में एक करोड की मानवसंख्या होती है। इस तरह यह अनन्तता होती है। लोग धर्मनियमों का पालन नहीं करते, आचारविचार में दोष करते हैं, इसलिये अल्पायु संतान होते हैं और संतान थोडी भी होती है। इसलिये सातवी पुश्त में इतनी संख्या नहीं होती। पर इतनी हो सकती है। धर्मका आचरण होकर यह संतानपरम्परा बननी चाहिये। संतति विच्छेद यह बडा भारी पाप है। यही बाधा या प्रतिबन्ध है। कितना भी विच्छेद हुआ, तो भी किसी न किसी रूप में यह आनन्त्य होता रहता ही है। गोत्र बढते ही हैं, पुरुषक्रम से अथवा पुत्री के क्रम से मनुष्य अनंतत्व को पहुंच रहे हैं। वेद में पुत्र का महत्त्व जो कहा है, वह इस आनंत्य की दृष्टि से है। वेद में पुत्र की महिमा बहुत ही वर्णन की है। निपुत्र के लिये कोई लोक नहीं है, वह एक बडी भारी आपत्ति है, ऐसा वेद का कथन है। सब लोग इस वेद के आदेश को भूल गये और जन्म और वंशरक्षा को ही नष्ट करने की अवैदिक बातको बार बार बोल रहे हैं और वेद के तत्त्वज्ञान को फैलाने का दावा भी साथ साथ करते हैं !!!

पाठक यदि वेदको प्रमाण माननेके इच्छुक हैं, तब तो उनको सन्तान के द्वारा आनंत्य के वैदिक तत्त्वका बडा विचार करना चाहिए।

आनन्त्य की दूसरी रीति।

संतानद्वारा अर्थात् पितृमातृपरम्पराद्वारा आनन्त्य का अल्प वर्णन ऊपर किया है। इसका अधिक विचार हम आगे और विशेष रूप से करेंगे। पर यहां प्रसंग आया है, इसलिये आनंत्य का दूसरा भी एक वैदिक मार्ग है, जो भी वैसा ही महत्त्व का है, जैसा कि, ऊपर बताया है। वेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में यह विषय विस्तार से है, उस का संक्षेप से निरूपण हम यहां कहते हैं—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥ (अथर्व० ११।५)

' उपनयन होते ही शिष्य-ब्रह्मचारी को आचार्य अपने विद्यारूपी देवी के गर्भ में रखता है, तीन रात्री तक (तीन प्रकार के अज्ञान दूर होने तक) उसे उदर में रखता है, पश्चात् वह जन्मता है, (यह उस का विद्याजन्म है) यह जन्म होते ही देव उसे देखने को आते हैं। '

यह इस विद्याजन्म का प्रभाव है। आचार्य अपना ज्ञानरूपी वीर्य इस समय शिष्य के अन्तःकरण में रखता है और शिष्य में स्वयं नया जन्म लेता है। जिस तरह पिता पुत्र के रूप में स्वयं जन्म लेता है, उसी तरह आचार्य अपने शिष्य में स्वयं जन्म लेता है। इस तरह शिष्यपरम्पराद्वारा आचार्य आनंत्य को, अनंतत्व को प्राप्त होते हैं। पिता पुत्रपरम्परा से और आचार्य शिष्यपरम्परा से अनंतता अथवा मुक्ति को इस तरह प्राप्त करते हैं।

बडे विस्तारसे इन दोनों मार्गोंका वर्णन वेदमें है। यही साधन आनंत्य का वेदद्वारा प्रकाशित हुआ है। आचार्यद्वारा शिष्यपरम्परा से आनंत्य के साधन को सूर्यमार्ग कहा है और पुत्रपरम्पराद्वारा आनंत्य के साधन को चन्द्रमार्ग कहा है।

यहां इन दो मार्गों का हम निर्देश कर के यह बताना चाहते हैं कि, अपना आनंत्य प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य वेदने सब वैदिकधर्मियों के सामने रखा है।

आत्मा एक है, वह बहुत होता है। '**एकोऽहं बहु स्यां**' बहु का ही अर्थ आनंत्य है। दोनों परम्पराएं अखण्ड चलनी चाहिये। इन में प्रति पुश्त उन्नति होनी चाहिये। सुप्रजा और सच्छिष्य की उत्पत्ति का यही महात्म्य है। इस सत्य सनातन वैदिक मार्ग का इस समय उच्छेद हुआ है, इसीलिये अवनति हुई है। यदि प्रति पुश्त सुप्रजा होने की बात जारी रहेगी और उसी तरह शिष्यपरम्परा भी उन्नत होगी, तो इस भूलोक पर सच्चा स्वर्ग दस पुश्तों में ही स्थापित हो सकता है। संपूर्ण समाज के संगठित प्रयत्न इस दिशा से होंगे, तो ही यह हो सकता है। इसलिये वैदिक मुक्ति वैयक्तिक नहीं है, वह एक सामुदायिक और सांघिक सिद्धि है।

पाठक अपनी आज की मुक्ति की कल्पना को इस वैदिक कल्पना के साथ तुलनाद्वारा विचार की दृष्टि से देखें और जानें कि वैदिक सिद्धांत कुछ और ही दृष्टिकोन जनता के सन्मुख रख रहे हैं और आजकल के लोग कुछ और ही मान रहे हैं।

जो आजन्म ब्रह्मचारी रहते हैं, वे ज्ञानादि के प्रचार से आनन्त्य को प्राप्त हो सकते हैं, ये शिष्यपरंपरा से अनन्त

बन सकते हैं। तथा जो गृहस्थ बनते हैं, वे सन्तानोत्पत्ति-द्वारा तथा ज्ञानप्रसारद्वारा अर्थात् इन दोनों साधनों से अनन्त बन सकते हैं। अब तीसरा एक मार्ग आनन्त्यप्राप्ति का है, वह स्वरूप से आनन्त्य है। उसकी कल्पना यह है।

स्वरूप से आनन्त्य।

इस संबन्ध के प्रमाण अनेक हैं। उन प्रमाणों का विचार कई वार इस मासिकमें हुआ है, अतः उन वचनों को दुहराने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये इस विषय का एक ही प्रमाण यहां देते हैं–

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋ० १०।९०।२)

"(पुरुष) ईश्वर ही (इदं सर्वं) यह सब है, (यत्) जो (भूतं) भूतकाल में हुआ था, (यत् च भव्यं) जो भविष्यकालमें होनेवाला है और जो वर्तमानकालमें है।"

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो भी कुछ है, वह (इदं सर्वं) सब (पुरुषः एव) ईश्वर ही है। ईश्वर से भिन्न यहां कुछ भी नहीं है। यदि सब कुछ ईश्वर का ही रूप है, तब तो उस सब में, उस विश्वरूप में हमारा रूप भी संमिलित है। क्या किसी का रूप भूत–वर्तमान–भविष्य-काल के सब रूपों में संमिलित नहीं है? ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता। मैं स्वयं विश्वरूप में संमिलित हूं, यह देखना और इसका अनुभव करना, यह एक बडा भारी साधन है, जिससे आनंत्य का साक्षात्कार होता है।

यह स्वरूप से आनन्त्य है। यह भी हरएक को ज्ञान से प्राप्त करना चाहिये। वस्तुतः ऐसा ही है, पर सब को भेद का ध्यास लगा है, वह स्वरूप के ज्ञान से दूर करके अपना स्वरूप से अनन्तत्व देखना और अनुभव करना आवश्यक है। वेदमन्त्रों के मनन से यह प्राप्त होनेवाली स्थिति है। ज्ञान के प्राप्त होनेपर इसका स्वभाव ही बनता है और स्वरूपस्थिति कभी विचलित नहीं होती। इस के पश्चात् स्वरूपस्थिति का कभी विस्मरण नहीं हो सकता।

स्वरूपज्ञान से जो आनन्त्य यहां कहा है, वह पूर्वोक्त दोनों आनन्त्यों के लिये आवश्यक है। वैदिक समय में यह ज्ञान ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्राप्त होता था और इसके पश्चात् गृहस्थ बनकर अथवा ब्रह्मचारी रहकर प्राप्त होने-वाला आनन्त्य प्राप्त करना उसको सहज होता था। यहां सब पाठक यह ठीक प्रकार से ध्यान में धारण करें कि, स्वरूप से आनन्त्य की प्राप्ति होने पर ही साधक उक्त दोनों आनन्त्यों की प्राप्ति करने का अनुष्ठान कर सकता है। आजकल जो मुक्ति का विचार करते हैं, वह केवल स्वरूपज्ञान से प्राप्त होनेवाली मुक्ति का ही विचार है। वे स्वरूपज्ञान होने पर ब्रह्मस्वरूप होते ही चुप रहना चाहते हैं। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने पर चुप रहना नहीं है। उसको अन्य दोनों अथवा एक प्रकारके आनन्त्योंका साधन करना आवश्यक है। इस बात को पाठक यहां न भूलें।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान का विवरण करने के पश्चात् पुत्रप्राप्ति का, शुभ सन्तान उत्पन्न करने का ज्ञान दिया है। यदि ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् कुछ भी कर्तव्य न होता, तो पुत्रोत्पादनविधि का उपदेश उक्त उपनिषद् में न होता।

अथर्ववेद (१०।२।२९) में ब्रह्मज्ञान का फल सुप्रजा, दीर्घायुष्य और नीरोगिता लिखा है। इसका भी विचार यहां करना आवश्यक है। आजकल ब्रह्मज्ञानीयों को न सुप्रजा से कर्तव्य है, न दीर्घायुष्य से। यह आजकल का भाव वेद के आदेश से सर्वथा विपरीत है। वैदिक ऋषि ब्रह्मज्ञानी बनकर विश्वसेवा का कार्य करते थे, जैसा कि वसिष्ठऋषि दशरथ के राज्य के प्रबन्ध में दक्ष दीखते हैं। इसी तरह अन्यान्य ऋषि भी करते थे। ये ऋषि ज्ञान-परम्पराद्वारा आनन्त्य को प्राप्त हुए हैं और वंशपरम्परा से भी। उनके गोत्र, तथा प्रवर आज सर्वत्र फैले हैं और उनका ज्ञान भी आज विश्वभर में फैला है। दोनों बातें उन ऋषियोंने सिद्ध करके दिखाई हैं, तथा स्वरूप के आनन्त्य की प्राप्ति के पश्चात् ही उन्होंने यह किया है। यह पाठक यहां अवश्य देखें और पूर्वोक्त लेख का रहस्य जानें।

हरएक बालक जो गुरुकुल में जाता था, वह ब्रह्मचर्य-समाप्ति तक ब्रह्मज्ञानी बनता था। इसमें उस समय की पाठविधि के अनुसार कोई कठिनता नहीं थी। कई राज-पुत्र ब्रह्मचर्य की अवधि के पूर्व ही गुरुकुल छोड देते थे, उनकी बात छोड देना उचित है। पर जो ब्रह्मचर्य की अवधि तक रहते थे, वे ब्रह्मज्ञानी होते थे। उसके पश्चात् वे विवाहित होकर दोनों प्रकार के आनन्त्य का अनुष्ठान

करते थे अथवा दूसरे केवल यती बनकर संन्यासविधि से अथवा ब्रह्मचर्य से शिष्यपरम्परा द्वारा आनन्त्य प्राप्त करते थे। पहिले प्रकार के बहुत और दूसरे प्रकार के विरला होते थे। अतः सब का मार्ग पहिला ही है, ऐसा समझना उचित है।

गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक वेदाध्ययन करके ब्रह्मज्ञानी बनकर, गृहस्थधर्म से रहकर सुप्रजाद्वारा तथा शिष्यपरंपरा से ज्ञानप्रसारद्वारा आनंत्य को वे प्राप्त करते थे। इससे पाठकों के ध्यान में यह स्पष्टताके साथ आ सकता है कि **गृहस्थधर्म इस आनंत्य का एक अपूर्व साधन है।** वैदिक धर्म में गृहस्थधर्म की बहुत प्रशंसा है। वेद भी मुक्त कंठ से गृहस्थधर्म की महिमा गाता है। पर आजकल ब्रह्मचर्य और संन्यासधर्म की महिमा गायी जाती है। इसकी महिमा है, पर गृहस्थ से कम। वेद आजन्म ब्रह्मचर्य की अपेक्षा गृहस्थधर्म की अधिक प्रशंसा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस गृहस्थधर्म में धर्मानुकूल व्यवहार करना अत्यंत आवश्यक है। अस्तु। इस गृहस्थधर्ममें जो सुप्रजानिर्माणद्वारा आनन्त्य की प्राप्तिका उपाय करना है, उसका वर्णन वेद कैसे गंभीर मंत्रोंसे करता है, वह अब देखिये–

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्या के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥
(अथर्व० ११।८)

"जब (मन्युः) उत्साहने (संकल्पस्य गृहात्) संकल्प के, कामके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी धर्मपत्नी को विवाहसंस्कारद्वारा प्राप्त किया, तब वधू (जन्याः के) पक्षके वहां कौन थे और (के वराः) वरपक्षके वहां कौन थे और उनमें (कः ज्येष्ठ वरः अभवत्) मुख्य वर कौन था ?" "तप और कर्म ये दो (महति अर्णवे) इस संसार महासागर में (आस्तां) हैं। (ते जन्याः आसन्) ये ही वधूपक्षके हैं, (ते वराः) येही वरपक्षके भी हैं। इनमें (ब्रह्म ज्येष्ठवरः) मुख्य वर ब्रह्म ही है।"

मुख्य वर जिस का विवाह होना है, वह प्रत्यक्ष 'ब्रह्म' है। ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्म कहलाता है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य से रहकर जो ब्रह्मज्ञानी हुआ, वह आचार्य की आज्ञा से जब गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होता है, वही ब्रह्म कहलाता है। वर 'ब्रह्म' कहलाने योग्य सिद्ध होना चाहिये। उस की स्त्री 'जन्या' है, जिस से ब्रह्म की प्रजा उत्पन्न होनी है। यह ब्रह्म की शक्ति है। यह शक्ति 'जन्या' और स्वयं 'ब्रह्म' मिलकर गृहस्थधर्म का प्रारम्भ होता है। पुराणों में इसी को 'लक्ष्मीनारायण' कहा है। वहां '**नारायणस्वरूपिणे वराय लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां संप्रददे**' अर्थात् 'नारायणरूप वर के लिये मैं अपनी लक्ष्मीरूप कन्या विवाह के लिये दान देता हूं' ऐसा विवाह के समय संकल्प किया जाता है। इस संकल्प में जो बात कही है, वही ऊपर के वेदमंत्रों में कही है।

'काम' के घर से मन्यु अर्थात् गृहस्थधर्मपालन का उत्साह धर्मपत्नी को अपने घर लाता है। इस तरह का उत्साह न रहा, तो विवाह ही नहीं होगा। तप और कर्म इस गृहस्थाश्रम में आवश्यक हैं। तप ही गृहस्थ का कर्तव्य है, सब व्यवसाय भी यहां कर्म हैं। वर और वधू के ये ही साथी हैं। इन के विना गृहस्थ का धर्म चल ही नहीं सकता। इन के परिवार में जन्या स्त्री वर के साथ संगत होती है। और सुप्रजा को उत्पन्न करके अपने पति को अपने शरीर से पुनः जन्म लेने में सहायता करती है। यह वैदिक 'पुनर्जन्म' है। आगे देखिये।

दश साकमजायंत देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
इन्द्रादिंद्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन्तदजानाद्वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन्वर्णमाभरत् ॥१७॥
यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
(अथर्व० ११।८)

" दस देवों से दस देव उत्पन्न हुए। जो इस तत्वज्ञान को जानता है, वही बडे ब्रह्मके विषयमें प्रवचन कर सकता है। प्राण-अपान, चक्षु, श्रोत्र, आकाश (अक्षितिः), पृथिवी (क्षितिः), व्यान उदान, वाणी और मन ये दस देव सचमुच एक विशेष संकल्पपूर्वक रचना करते हैं। इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता से ये ही देव अर्थात् इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता उत्पन्न हुए हैं। इन दस देवोंने बडे दस देवों से उत्पन्न होनेके पश्चात् अपने पुत्ररूप देवोंको विशेष स्थान प्रदान किया, पश्चात् ये पितृस्थानीय दस देव कहां भला रहनेके लिए गये? इन दस देवों का नाम 'संसिच्' है, क्योंकि ये विशेष सामग्रीको शुद्ध करते हैं। मर्त्य देह को जीवन से सिंचित करके सब देव उस मर्त्य देहमें प्रविष्ट होते हैं। ये सब देव सहायक होते हैं, यह सती वधू (प्रकृति) जानती है। सबको वश में रखनेवाले की यह जाया (स्त्री) है, यही इस देह में वर्ण की स्थापना करती है। त्वष्टा कारीगर है, उसका बडा पिता है, यह त्वष्टा कारीगर शरीर में सुराख बना देता है, मर्त्य घर-शरीर-बनाकर सब देव पुरुष में घुसे हैं। हड्डीयोंकी समिधा बनायी, आठ प्रकारके जल निर्माण किए, तथा रेत का घी बनाया और इनसे जो शरीर बना, उस में देव घुस गए हैं। आप्, देवता, विराट् और ब्रह्म हैं। शरीर में ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है, शरीरपर अधिष्ठाता प्रजापति है। सूर्य से चक्षु बना, वायु से प्राण हुआ, अन्य देवोंसे मनुष्यके अन्य इंद्रिय हुए हैं, सब देव इस पुरुष के अंगों में विभक्त होकर रहे हैं। इसलिए जो इस पुरुषको जानते हैं, वे 'यह ब्रह्म है,' ऐसा मानते हैं, क्योंकि सब देवताएं इसमें वैसी रहती हैं कि जैसी गोशाला में गौवें रहती हैं।"

*

इन वेदमंत्रों के अर्थ का थोडासा अधिक विवरण करना चाहिये।

विराट् पुरुष का देह।

विराट् पुरुष का मस्तक आकाश है, उस में रहनेवाले सूर्य, चन्द्र उस की आंखें हैं, दिशाएँ उस के कान हैं, अग्नि उस का मुख और वाणी है, अश्विनी देव उस के नासिकाएं हैं, वायु उस का प्राण है, मरुत् भी उस की छाती में रहते हैं, जठर-उदर में जाठर अग्नि है, समुद्र उस का हृदय है, नदियां उस की धमनियां हैं, वृक्ष वनस्पति, लता आदि उस के बाल हैं, आप् ही उस का रेत है, अन्तरिक्ष उस का उदर है, पृथ्वी उस के पांव हैं। इस तरह इस विराट् पुरुष परमात्मा के शरीर में ३३ देवताएं यथास्थान में रहती हैं।

विराट् पुरुष का अंश मानवदेह।

सूर्य का अंश चक्षु हुआ, आकाश का अंश कान हुआ। अग्नि का अंश वाणी बना, अश्विनी देवों का नासिका बना, वनस्पतिवृक्षलतादिकों के अंश बाल हुए, नदियों के अंश धमनियाँ हुईं, समुद्र का अंश हृदय बना, वायु का अंश प्राण बना, आप्तत्व से रेत बना, अन्तराल के अंश से इस का पेट निर्माण हुआ, पृथ्वी के अंश से इस के पांव बने। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के अंशों से मनुष्य के अन्यान्य अवयव और इंद्रिय बने और संपूर्ण विराट् पुरुष के विराट् देह के सब अंशों से मनुष्य का देह बना।

विराट् पुरुष के देह में ३३ देवताएं इंद्रियों और अवयवों के स्थानों में प्रत्यक्ष रहती हैं और उन के ३३ अंश मनुष्यदेह में रहते हैं। इस तरह पिता का यह पुत्र है। 'अमृतस्य पुत्राः' ऐसा मानवों को कहने का यही तात्पर्य है। ईश्वर के विराट्-विश्वरूप देह के संपूर्ण तत्वों के सब अंश इस मानवदेह में हैं। ईश्वर के देह में देवता पूर्णत्व से रहती हैं और मानवदेह में अंशरूप से रहती हैं।

ईश्वर का देह विश्व है और मानवदेह उस का एक अंश है। इसलिये विश्वदेही ईश्वरमें जो देवताएं हैं, वे ही यहां मानवदेह में अंशरूपेण हैं। सब से प्रथम यह अंशी और अंश का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ईश्वर अंशी है और मानव अंश है। पिता-पुत्र ये क्रमशः अंशी और अंश हैं।

पिता ही अपनी प्रकृति में अंशरूप से प्रविष्ट होकर पुत्र-रूप से प्रकट होता है। यह नियम यहां समझना उचित है।

मानव पिता और मानव पुत्र में भी यही नियम कार्य कर रहा है। मानव पिता में जो ३३ देवताओं के अंश हैं, उन ३३ देवताओं के अंश साररूप से, सूक्ष्म रूप से वीर्य-बिंदु में आते हैं और इस वीर्यबिंदु से पुत्र का जन्म होता है। इसीलिये कहते हैं कि, 'आत्मा वै पुत्र नामासि' आत्मा ही पुत्र हुआ है।

अंगादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥
(कौ० ब्रा० उ० २।११)

"पिता के प्रत्येक अंग के सत्त्व से तथा हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये पिता ही पुत्र है, ऐसा कहते हैं। वह सौ वर्ष जीवे।"

यहां पिता का सार अथवा सत्त्व पुत्र है, इसलिये पिता ही पुत्र है, ऐसा कहा है। तथा और देखिये—

तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः, तस्मादेनमनुशासति, स यदैवं विदस्माल्लोकात् प्रैति, अथ एभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति, ... स पुत्रेणैव अस्मिल्लोके प्रति तिष्ठति।
(बृ० उ० १।५।१७)

"पुत्र को यथावत् ज्ञान देने से उसकी लोकमें स्थिरता होती है। जब पिता इस लोकसे चल देता है, तब वह इन प्राणोंसे पुत्रमें प्रविष्ट होता है ... ... अतः पुत्ररूप से वह इस लोक में स्थिरता को प्राप्त होता है।" पिताही पुत्ररूपेण अवतीर्ण होता है और यदि पिताने अपना ज्ञान पुत्र को दिया, तो निःसंदेह वीर्यमय शरीर से और ज्ञान-मय शरीर से वही इस लोक में स्थिर रहता है। अब मनु के वचन देखिये—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥८॥
(मनु० ९)

"पति स्त्री में प्रविष्ट हो कर गर्भ बनकर यहां जन्म लेता है। इसीलिये स्त्री को जाया कहते हैं, क्योंकि इस स्त्रीमें वह पुनः जन्मता है।" वही बात ऐतरेय ब्राह्मण में कही है-

पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं, तस्यां पुनर्नवो भूत्वा, दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः॥
(ऐ० ब्रा० ७।१३)

"पति स्त्री में वीर्यरूप से प्रविष्ट होता है, उस वीर्य का गर्भ बनता है, उस माता में वह फिर नया होकर दसवें महिने में जन्मता है। स्त्री को इसीलिये जाया कहते हैं, क्योंकि इसमें पति पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।"

यहां 'पुनः नवो भूत्वा जायते' पति ही फिर नया होकर 'पुनर्जायते' पुनर्जन्म को प्राप्त होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। इसी पुनर्जन्म से पिता इस पृथ्वीपर पुनः नया बनकर सुस्थिर होता है। यह भार्या के द्वारा होने-वाला पुनर्जन्म है।

इसका महत्त्व समझनेके लिये (१) विराट् पुरुषके देह में अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देवताएं कैसी कहां हैं, (२) अपने देह में उन देवताओं के अंश कहां और कैसे हैं और क्या कार्य करते हैं, तथा इनका और विराट् पुरुष के अंग में स्थित देवताओं से क्या सम्बन्ध है, यह सब से प्रथम जानना चाहिये। इसके पश्चात् (३) अपने शरीर के अंग-अंग तथा इन्द्रिय-इन्द्रिय का सार-सत्त्व कैसा आता है, यह भी जानना उचित है। इस प्रकार "(१) विराट् पुरुष, (२) पुरुष और (३) पुरुषपुत्र" का परस्पर सम्बन्ध देखने से इस पुनर्जन्म की बात जानी जा सकती है।

मधुमक्षिका और मधुकरराजा।

मधुकर राजा और मधुमक्षिकाएं सबने देखी हैं। मधुकर राजा 'ब्रह्म' है और उसके साथ जानेवाले ३३ देवगण मधुमक्षिकाएं हैं। जहां मधुकर राजा जाता है, वहां मधु-मक्षिकाएं जाती हैं। इसकी रीति ऐसी है—

	मधुकरराजा	मधुमक्षिकाएं
(१) विराट् पुरुष में	ब्रह्म	३३ देवताएं हैं,
(२) पुरुष (मानवदेह) में	ब्रह्मांश (जीव)	३३ देवतांश (इंद्रियाँ) हैं,
(३) मानवपुत्र में	जीवांश	३३ इंद्रियांश हैं।

मानवपुत्र में जो अंशों के अंश हैं, वेही बढकर अंश बनते हैं और वे जब अपने आप को विराट् पुरुष के

देह में अनुभव करते हैं, तब वे विराट् पुरुष के साथ एकरूप होते हैं। मनुष्य का वीर्यबिन्दु जो पुत्ररूप में अवतीर्ण होता है, उसमें पिता के अंगप्रत्यंगों तथा इंद्रियों का सत्त्व सार निचोडा रहता है। माता के गर्भ में यह वीर्यबिन्दु प्रविष्ट होकर देहभाव को प्राप्त होता है। इसमें कई अवयव माता अथवा पिता जैसे होते हैं। बहुत अवयव मातापिता के सदृश होना और न होना मातापिता के ब्रह्मचर्य पर तथा उनके दृढ निश्चय पर अवलंबित है। जो मातापिता अच्छा ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, दो संतानों में योग्य अवधि का ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, तथा विशिष्ट बात बननी चाहिये ऐसा माननेवाले दृढ व्रती होते हैं, उनके संतान में मातापिता के सदृश अवयव उतरते हैं। जो इन बातों के विषय में पूर्ण उदास रहते हैं, उनकी उदासीनता के कारण पुत्र के अवयव वैसे नहीं बनते, तो भी कुछ न कुछ विशिष्टता आ ही जाती है।

पिता स्वयं अपनी जाया में 'पुनर्जन्म' को प्राप्त होता है, यह इस तरह श्रुति और स्मृति में स्पष्ट कहा है। यदि इस अपने सामर्थ्य का पता वैदिकधर्मियों को लग जायगा, तब वे अपने ही 'पुनर्जन्म' की तैयारी विशेष रीति से करेंगे और इस संसार में प्रभावशाली संतति उत्पन्न करेंगे। इस ज्ञान से युक्त मातापिता अपने पुनर्जन्म की तैयारी अवश्य करेंगे, अपने पुत्र में फलानी शक्तियां अवतीर्ण होनी चाहिये, इस इच्छा से वे यत्नवान् होंगे, अपना ही भवितव्य इस पुत्ररूपी पुनर्जन्म से निश्चित होना है, यह जान कर बडा सोच विचार कर के प्रयत्न करेंगे।

अनुष्ठान का स्वरूप।

अपने अंदर की ब्रह्मशक्ति को प्रकाशित करना और अपने अंदर की ३३ देवताओं को अपने सामर्थ्य से प्रकट होने देना, तथा ब्रह्म के अधिष्ठान में ३३ देवताओं का प्रभावशाली संगठन करना और इस सब को एक ध्येय से सफल करना, यह अनुष्ठान पितामाता को करना योग्य है। अपनी शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना और अपनी शक्तियों को एक ध्येय से प्रेरित करना, यहां मुख्य कर्तव्य है। यह सब विश्वव्यापी विराट् पुरुष के आनुकूल्य से करना है। विरोध खडा करने से अपना ही नाश होना है।

पितामाताकी इस तरह तैयारी होने पर, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त योग्य संतान जैसा चाहिये, वैसा उत्पन्न किया जा सकता है, यह विषय श० ब्रा० के अन्तिम भाग, (ब्र० उ० के अन्तिम भाग) में विशद किया है। मातापिता जैसा चाहेंगे, वैसा संतान उत्पन्न हो सकता है। मातापिता ही अपने आप को संतान के रूप में ढाल देते हैं, यह ज्ञान सब से पूर्व मातापिता को श्रुतिस्मृतियोंने दिया है। इस की ओर अर्थात् इस प्रकार के वैदिक पुनर्जन्म की ओर आजकल प्रायः सब लोग दुर्लक्ष्य ही कर रहे हैं, यह बडी ही शोचनीय बात है।

प्रत्यक्ष पुनर्जन्म।

जो पुनर्जन्म प्रत्यक्ष है, जिस का फल हम साल दो साल में प्रत्यक्ष देख सकते हैं, जिस की कृतकारिता की परीक्षा हम कर सकते हैं, जिस में फलानी सिद्धि सिद्ध करने की उपाययोजना करना सर्वथा हमारे हाथ में है, जिस की सुधार से संसार का सुधार होना सम्भव है, इस कारण जिसका वर्णन वेद-भगवान्ने बहुत विस्तारसे बहुत जगह किया है, उस पुनर्जन्म का विचार आजकल कोई नहीं करता, यह एक आश्चर्य की बात है !! पर जिस पुनर्जन्म के विषय में स्पष्ट प्रमाण कम है, जो बात संदेह से भरी है, कहां क्या होगा, इस की परीक्षा जिस विषय में करना असम्भव है, अतः जिस विषय में वेद स्वयं चुप हैं, उसी के विषय में आजकल आंदोलन बहुत हो रहा है और न समझते हुए बहुत कुछ लिखा जा रहा है !!!

वेद के इस प्रत्यक्ष फलदायी पुनर्जन्मवाद के महासिद्धांत की ओर वैदिकधर्मियों का ही पूर्ण दुर्लक्ष्य हुआ है, इसलिये उत्तरदायित्व के विना ही सर्वत्र संतानोत्पत्ति की जा रही है। जिस का परिणाम आजकल की जनता की स्थिति है। वास्तविक रीति से देखा जाय, तो वेद के सिद्धांत को अमल में लाने का यत्न बलपूर्वक और ज्ञानपूर्वक किया जाय, तो दस पुस्तों में ही स्वर्गधाम इस भूमण्डल पर प्रकट होना सम्भव है। पर उसके लिये 'विराट् पुरुष + पुरुष + पुरुषपुत्र' का परस्पर संबंध जानना और अपने अन्दर देवताओं का अनुभव करना और उनका प्रकटीकरण अपने पुत्र में अर्थात् अपने ही पुनर्जन्म में करने का प्रयत्न होना चाहिये।

वेदके द्वारा यह अपूर्व बात प्रकट हुई थी, तथा बुद्धपूर्व आर्यों में इसका कुछ विकास हुआ भी था, पर बुद्धोत्तर काल में यह सब ज्ञान छिप गया और जैन-बौद्धों के खडे किए मतमतांतरों के कारण अनेक विपरीत सिद्धांत हमारे अन्दर घुस गए और वे ही हमारे अन्दर सुदृढ हुए हैं। यह बडी भयानक बात है। इस तरह के विपरीत सिद्धांतों को दूर करना और वेदके शुद्ध सिद्धांतों को स्पष्ट रूपमें जनता के सामने लाना ही आजकल के वैदिक धर्मके विचारकों का प्रथम और मुख्य कर्तव्य है।

इस वैदिक पुनर्जन्मवादके बहुत ही पहलू हैं, उन सब पर विस्तार से लिखना चाहिए। इन विषयोंपर बहुतही मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं, यह हम जानते हैं। पर प्रत्येक मतभेद के लिए वेदका आधार देनेका यत्न कोई करेगा, तो बहुत मतभेदों के लिए स्थान ही नहीं रहेगा। इसलिए मतभेद के लेख लिखनेवाले वेदमन्त्र पेश करके अपने मतभेद लिखते जायगे, तो उनका उत्तर दिया जा सकता है।

वेदका यह पुनर्जन्मवाद प्रत्यक्ष फलदायी है और इससे बहुतसे संदेह दूर होनेवाले हैं। इस वैदिक पुनर्जन्म से हम इस समयमें किस तरह लाभ प्राप्त कर सकते हैं, यह एक बडा भारी गंभीर विषय है। इस विषयपर बडा विचार और बडा आंदोलन होना आवश्यक है। मृत्युके पश्चात् के पुनर्जन्म का विचार क्षणमात्र एक ओर रखा जाय, तो भी कोई हानि नहीं है।

कठोपनिषद् में मृत्यु के पश्चात् के पुनर्जन्म का प्रश्न नचिकेताने उठाया है। पर यमके उत्तरमें इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर नहीं है। आगे एक विभु आत्मा मानकर कुछ व्यवस्था कही है। इसका तात्पर्य यही है कि, जो पुनर्जन्म अन्तः-करणचतुष्टय का-जीवका-होता है, वह यहांके शुद्धाचारपर निर्भर है और वह ईश्वरीय नियम से होनेवाला होगा, तो होता रहेगा। उसका इससे अधिक न किसीको पता लगना है, नाही उसका अधिक प्रबंध करना हमारे अखत्यार में या इस जन्म में है।

पर जिस पुनर्जन्म का वर्णन वेद में अनेक स्थानपर है वह समक्ष दीखनेवाला, उसका प्रबंध हम कर सकते हैं, हम उसकी परीक्षा कर सकते हैं, सब कुछ इस विषय में हो सकता है। इसमें पतिपत्नी का ऐकमत्य और आवश्यक नियमोपनियमों का पालन करने की तैयारीहि चाहिए। इससे पाठकोंके मन में यह बात आवेगी कि, इस वैदिक पुनर्जन्म का विचार हमारे और राष्ट्र के हिताहित के साथ संबन्ध रखनेवाला है, तथा समक्ष फल बतानेवाला है।

इस पुनर्जन्म के विषय में इस लेख में इतना विवरण पर्याप्त है। पाठक इसपर विशेष विचार करें। अब थोडासा मुक्तिके विषयमें लिखते हैं। उक्त पुनर्जन्म के सिलसिलेसे ही मुक्ति होनी है, यह बात यहां भूलना नहीं चाहिए। इसका विचार इससे पूर्व इसी लेख में किया है-

मुक्तिका अनुष्ठान।

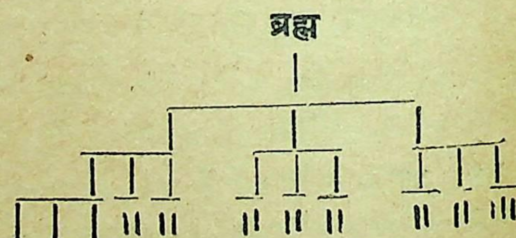
पूर्वोक्त विवरणसे मुक्तिके अनुष्ठानकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। तथापि यहां संक्षेपसे इस विषयपर कुछ लिखना आवश्यक है। आजकल मुक्तिकी कल्पना यह है कि 'जन्म-रहित, शान्त, प्रसन्न, आनन्दमय अवस्था।' पर वैदिक मुक्तिके लिये जन्म का भय नहीं है, शरीर का भी भय नहीं है। वैदिक मुक्ति में शान्त, प्रसन्न और आनन्दमयता तो जीते-जी भी प्राप्त होती है।

इस वैदिक मुक्तिके लिए निम्नलिखित प्रकार ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान से परिपूत सहजसिद्ध व्यवहार करना आवश्यक है-

सबसे प्रथम '**एकं सत्**' (ऋ० १।१६४।४५) एक ही सत् है, वह एक सत् अपने आपको सहस्रधा विभक्त करता है।

एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा। (अथर्व० १०।७।९)

सबके आधारस्तंभ परमात्माने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त करके उन सहस्रों विभागोंसे यह सब विश्व बना दिया है।



इस तरह यह विभक्तीकरण चल रहा है। यह सब स्वभाव से हो रहा है। पाठक यहां देखें कि पूर्वस्थान में एक पुरुष अपना वीर्यबिंदु जाया में स्थापन करके पुत्ररूप से अवतीर्ण होता है, इस तरह उसको दस सन्तान हुए, तो उसका दस पुत्रों में विभक्तीकरण हुआ। जो गृहस्थमें

विभक्त होनेका अथवा 'एकोऽहं बहु स्यां' यह भाव है, वही ब्रह्मका भाव है और उसी भाव से ब्रह्म विश्वरूप बना है।

इस तरह सब विश्व ब्रह्मरूप है, अथवा ब्रह्म का प्रकट रूप अखिल विश्व है, यह वेदका स्पष्ट मत है। प्रत्येक व्यक्ति विश्वका अंश है, यह तो स्पष्ट ही है। अतः प्रत्येक व्यक्ति विश्वरूप का एक छोटासा अंग है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को विश्व से अलग समझती है और प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को अपने से भिन्न जगत् को भी सर्वथा पृथक् समझती है और तदनुसार अपनी ढाई चावलों की खिचडी अलग अलग पकाती है, यही दुःख का हेतु, भ्रम, अज्ञान आदि है। अतः ज्ञान यही है कि, ब्रह्म का विश्वरूप है, इसको यथावत् समझकर अपने आपको उसका अंश मानना तथा अपने आपको विश्वरूपी परमात्मा से अनन्य, अपृथक् अर्थात् एकरूप समझना। मैं वही हूं (अहं ब्रह्म अस्मि), ब्रह्म ही यह सब कुछ है (ब्रह्म वा इदं सर्वं), ब्रह्म ही मैं हूं, इस ब्रह्मभाव को पूर्ण रूपेण प्राप्त कर वही अपना सहज भाव अनुभव करना। इस समय यह सिद्ध पुरुष जो अनुभव करता है, वह अनुभव इस तरह का है–

अहं एवाधस्तात्, अहं उपरिष्टात्, अहं पश्चात्,
अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः, अहं उत्तरतः,
अहं एवेदं सर्वमिति॥ (छां० उ० ७।२५।१)

"मैं ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, बाईं ओर और दाईं ओर हूं, मैं ही यह सब हूं।" व्यक्ति का अन्य-भाव तथा पृथग्भाव दूर हुआ और 'मैं यह सब हूं,' यह अनुभव हुआ, तो उसका ज्ञान पूर्ण हुआ। यह अनुभव जब सहज और अकृत्रिम होगा और जब विभिन्नता की लहर नहीं उठेगी, सदा यही वृत्ति रहेगी, तब समझना चाहिये कि, यह व्यक्ति कृतकृत्य हुई। अर्थात् ब्रह्मभाव, अनन्य भाव, अखण्ड भाव प्राप्त करना, यह जो उसका कर्तव्य था, वह उसका हो चुका है।

धर्म का जीवित स्रोत।

इस अवस्था में वह शरीरधारी रहता हुआ भी मुक्त है। उसको सहज ही से धर्म और अधर्म का निर्णय करने की योग्यता प्राप्त होती है। मानो उसकी सहज वृत्ति से ही सत्य धर्म का प्रकाश होता है। पहिले कहा ही है कि, यह अवस्था ब्रह्मचर्यविधि की समाप्ति के समय तक ब्रह्मचारी को प्राप्त होती है। इस सहज स्थिति को प्राप्त करता हुआ, वह आजकल समझा जाता है, वैसा निकम्मा नहीं होता, प्रत्युत वह जीवित धर्म ही बनकर विचरता है। इसके अन्दर मृत्यु का भय नहीं रहता, क्योंकि वह विश्वात्मा से अपने आप को अपृथक् अनुभव करता है और विश्वात्मा अमर ही है। इसीलिये उसको मृत्यु का भय नहीं रहता।

आजकल यहां ही समाप्ति समझी जाती है और अन्तिम सिद्धि उसको मिली, ऐसा माना जाता है। पर वेद के आदर्श से यह पाहिली सीढी है। उक्त सिद्धि प्राप्त होने के बाद वैसे ही सुयोग्य विदुषी के साथ वह विवाह करता है, अपने अन्दर ब्रह्म के साथ ३३ देवताओं का अवस्थान अनुभवता है और वैसे ही पुत्रों को तथा पुत्रियों को उत्पन्न करता है। इससे उन संतानों के अन्दर प्रथम से ही पिता–माता की सत्ता पूर्वोक्त प्रकार होने के कारण वे शुद्ध बीजसंपन्न रहते हैं, साथ ही साथ माता-पिता उनको अपना ज्ञान भी देते हैं। इस तरह उन संतानों में एक तो रजवीर्य से वे माता-पिता पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं और विद्या-जन्म से भी उनमें वे ही माता–पिता अवतरित होते हैं।

इस तरह किसी राष्ट्र में शोभन सन्तानें उत्पन्न होती रहीं, तो दस पुस्तोंमें कितनी प्रजा कैसी दिव्य भावसे युक्त हो सकती है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। हमारे धर्मशास्त्र में विवाह के समय ७ पुस्तोंतक विचार करके वधू-वर-परीक्षा करनेका आदेश है। सात पुस्तोंतक भी एक परिवार के लाखों आदमी हो जाते हैं। दस पुस्तोंतक करोडोंपर संस्कार होने में संदेह ही नहीं है।

पृथ्वीपर स्वर्गधाम।

उत्तम विद्याचारसम्पन्न ब्रह्मभाव से ब्रह्मवर्चस्वी बने, पचास स्त्रीपुरुष भी इस वैदिक धर्म के आदर्श की धुनके मिल जायंगे और वे क्रमपूर्वक दस पुस्तोंतक यह धुन जारी रख सकेंगे, तो दस पुस्तों में पचास करोड की जनसंख्या-पर दैवी भाव का प्रभाव दीख सकता है। इसी का नाम स्वर्गधामका पृथ्वीपर उतरना है, स्वर्गका साम्राज्य पृथ्वीपर

होना है, मर्त्यलोकमें अमर देवताओं का राज्य होना है।

वेद इसको 'मुक्ति' कहता है, इसको उपनिषदोंमें 'अतिमुक्ति' भी कहा है। पर वेद के सिवाय अन्यत्र इस स्थितिका वर्णन भी नहीं है और आजकल इसका कोई विचारतक नहीं करता। यहां तक विमुखता इस विषय के संबंधमें हुई है कि, बृहदारण्यक के अंतिम अध्यायमें यह विषय कहा है; पर किसी भी भाष्यकारने इसको छुआ तक नहीं है। क्योंकि सब विचारक वैयक्तिक ब्रह्म-भावको ही अंतिम स्थिति मान रहे हैं।

इस अधूरे विषय में समाधान होने के कारण वेदका जो महान् और विश्वव्यापक ध्येय है, उसको सब भूल गये। यह बडी भारी हानि हुई है। इसलिये यह विषय यहां संकेतरूप से दर्शा दिया है। आवश्यकता होने पर इस के एक एक पहलू का विचार किसी समय आगे करेंगे।

वचनों का अर्थ।

इतने विवरण से वैदिक पुनर्जन्म की स्पष्ट कल्पना पाठकों के अन्तःकरण में प्रकट हुई होगी। इस को मन में रखकर पुनर्जन्म के वचन पुनः देखे जायगें, तो उन में इस वैदिक पुनर्जन्म का भाव दीख सकता है। जैसा-

'वासांसि जीर्णानि' इस गीतावचन में पुत्ररूप पुनर्जन्म का भी विचार देखा जा सकता है। उपनिषदों के बहुत से वचनों में भी यह पुनर्जन्म दीख सकेगा। अर्थात् जो वचन मृत्यु के पश्चात् के पुनर्जन्म का वर्णन करनेवाले समझे जाते हैं, वे पुत्ररूप से होनेवाले पुनर्जन्मपरक भी लगना सम्भव है। सब वचनों के विषय में ऐसा ही अर्थ होगा, ऐसा हम इस समय नहीं कहते। क्योंकि यह एक विचाराधीन बात है। तथापि आधे से अधिक वचन इस पुनर्जन्म का भाव बता सकते हैं।

अस्तु। इस विषय पर अधिक विचार पाठक करें और इस का महत्व जान कर विशेष मनन के साथ इस का आन्दोलन करें।

ऋग्वेदीय शब्द-निर्वचनों का

ऋग्वेदीय आधार।

(२)

[लेखक– श्री० रुलियाराम कश्यप, एम्. एस्सी., लाहौर]

मार्च १९४० के अङ्कमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त से प्राप्य निर्वचन तथा उपयोगी सूचनाएं लेखबद्ध करने का यत्न किया गया था। इस लेखमें ऋग्वेद का स्वतःसिद्ध भाष्य-करण में जो सहायता इसी वेद के दूसरे सूक्तोंसे मिल सकती है, उस पर कुछ विचार किया जाता है। विषय रूखा तथा कठिन होना आवश्यक है, परन्तु यदि गवेषणा-प्रिय पाठकों ने इसे उपयोगी समझ इसे अपनाया, तो हमारा विचार इसे कुछ अङ्कों में जारी रखनेका है। जितने सूक्तों पर प्रकाश डाला गया है, उतना ही लाभ रहेगा। अस्तु।

वायुः ॥ ११ ॥ वायवा याहि... (ऋग्० १।२।१)

हे वायो! आप आइये, हमें सभी ओरसे प्राप्त हूजिये।

वायविन्द्रश्च ... तावा यातमुप द्रवत्।
(ऋग्० १।२। ५)

हे वायो तथा इन्द्र! आप दोनों हमारे समीप शीघ्र ही चले आइये (मानों दौडकर आप हमारे पास आन पहुंचें) (अत्यन्त वेग से आप हमें सभी ओर से प्राप्त हूजिये)।

वायविंद्रश्च...आयातमुप... ॥ (ऋग्० १।२।६)

हे वायो तथा इन्द्र! हमारे समीप आप चले ही आइये। (हमें अत्यन्त सान्निध्य से सभी ओर से प्राप्त हो जाइये न)।

इन तीनों तथा अनेक ऐसे अन्य ऋग्वेदस्थ प्रमाणों से जहां समीप आने का निमन्त्रण वायुदेवको बार बार दिया गया है, यह सुस्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि, वायु वह है, जो समीप आ सकता हो अर्थात् वायु शब्दकी निरुक्ति उप + आयुः ही सत्य वैदिक है और यदि शतपथ ब्राह्मण-कारने इसे जानते हुए इस का खण्डन किया है, तो दोष शतपथ के मत्थे मढना पडेगा न कि उस के कहनेसे इस निरुक्ति को त्यागना। क्योंकि जब वेदके शब्द सीधे इसका उपदेश स्वयं दे रहे हैं, तो हम कौन हैं, जो शतपथ ब्राह्मण की उक्ति इस से विरुद्ध जाती होने पर भी हम उसी शतपथीय उक्ति का समर्थन कर इस ऋग्वेदीय निर्व-चन का अनादर कर पाप के भागी बनें!

जरितारः ॥ १२ ॥ जरन्ते त्वामच्छा जरितारः॥
(ऋग्० १।२।२)

जरिता स्तोता जन आप की स्तुति अच्छे प्रकार करते हैं हे वायुदेव! स्तोत्रों के द्वारा।

अर्थात् " जरितारः " की निरुक्ति " जरन्ते ये ते " ही समीचीन वैदिक है (जो स्तुति करें वही स्तोता)।

इन्द्रः ॥१३॥ इन्द्रवायू इमे सुता... इन्दवो वामु-शन्ति हि ॥ (ऋग्० १।२।४)

वायविन्द्रश्च ...तावा यातमुपद्रवत्
(ऋग्० १।२।५)

हे इन्द्र तथा वायु! ये सुत इन्दु आप की कामना करते ही हैं।

हे वायु तथा इन्द्र! इन के समीप आप दौडते से चले आईये।

इन दोनों से पता चलता है कि, इन्द्र इन्दु की ओर दौडता चला आता है, अर्थात्

इन्दवे द्रवतीति इन्द्रः।

यह यास्कीय निर्वचन सर्वथा ऋचाओंसे ही निचोडा गया शाब्दिक सोम ही है।

ऋतावृधौ ॥१४॥ ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधौ ॥
(ऋग्० १।२।८)

मित्र तथा वरुण, ऋतके द्वारा बढनेवाले "ऋतावृधौ" " ऋतेन वर्धतः तौ " ऐसे हैं।

अर्थात् "ऋतावृधौ" का वैदिक निर्वचन "ऋतेन वर्द्धतः तौ" ही है।

ऋतस्पृशौ ॥१५॥ ऋतेन मित्रावरुणा... वृतस्पशा। (ऋग्० १।२।८)

मित्र तथा वरुण ऋतको स्पर्श करनेवाले "ऋतस्पृशौ 'ऋतस्पर्शकौ' ऐसे हैं। अतः " ऋतास्पृशौ की वैदिक निरुक्ति "ऋतस्य स्पर्शकौ तौ" ही है॥

अश्विना ॥१६॥ अश्विना ... शवीरया धिया... वनतं गिरः। (ऋग्० १।३।२)

पूज्य स्वामिजी महाराज इसका अर्थ करते हैं- वेगवत्या क्रियया प्रज्ञया सम्यग्वाणी सेविनौ स्तः यौ। जो वाणी का सेवन अपनी वेगवती बुद्धि तथा क्रिया के द्वारा अच्छी प्रकार करते हैं।

बस हम अश्विनौ का वैदिक निर्वचन यही मानते हैं कि—

आ + शवीरया + वनतं इति तौ अश्विनौ। सर्वतः वेगवती क्रियात्मिक बुद्धि के द्वारा जो वेद-वाणी का सेवन करते हों, वही अश्विनौ।

देवासः ॥१७॥ विश्वे देवास...दाश्वांसो दाशुषः सुतम्। (ऋग० १।३।७)

हे विश्वेदेवाः! आप देना चाहते हुए (आईये)। अर्थात् देव वही है, जो देना चाहें।

निरुक्तकार ने अतः ठीक ही कहा है- **देवो दानाद्।**

देवासः ॥१८॥ ओमासस्...देवास आ गत...। (ऋग्० १।३।७)

ओम् में बैठे हुए, देव में बैठे हुए...। अर्थात् परम देव तो ओ३म्कार प्रभु भगवान् स्वयं ही है।

ओमनि देवे ये आसीदन्ति ते विश्वे देवासः। विश्वे देवाः वहीं हैं, जो परम देव, देवाधिदेव प्रभु ओ३म्कार में ही बैठे हुए हैं।

उस्रा ॥१९॥...उस्रा इव स्वसराणि। (ऋग्० १।३।८)

अपने आप चलनेवाली किरणोंके समान हे विश्वे देवाः! आप अत्यन्त शीघ्रकारी हो तथा निचुडे सोम के प्रति तुरन्त पहुंचते हो। दाताके सद्योजात शिशु की रक्षाके निमित्त तुरन्त उस के समीप आ उपस्थित होते हो।

स्वयं सरन्ति ता स्वसराणि तद्वत् सरन्ति ता उस्राः सरतेर्गतिकर्मणः।

जो गति करें, सरकें वे ही स्राः। उत्तम गति से सरकें उस्राः= सूर्यकिरणें।

...वाजिनीवती ॥२०॥ वाजेभिर्वाजिनीवती...। (ऋग्० १।३।१०)

(वाजों) अन्नों के द्वारा, बुद्धि विद्या आदिके वेगों से वेगवती।

वाजेभिर्युक्ता सैव वाजिनीवती॥

जो अन्न, वेग, क्रियाकौशल्य आदि वाजयुक्ता हो, वही वाजिनीवती होती है।

सुदुघा ॥२१॥ सुदुघामिव गोदुहे...। (ऋ० १।४।१)

गौदोहन यज्ञक्रियामें जैसे सुगमतया दोही जानेवाली उत्तम धेनुका ही आवाहन मनुष्य करते हैं, इसी प्रकार मैं सुन्दर स्वरूप (करने) बनानेवाले इन्द्र भगवान् का आवाहन निज रक्षानिमित्त करता हूं।

सुदुघा दुहातेर्स् पूर्वात्।

सुदुघा सु उपसर्ग पूर्वक दुह्=दोहने धातुसे सिद्ध होता है।

सोमपाः, सोमपातमौ ॥२२॥ ...सोमस्य सोमपाः पिब...॥ (ऋग्० १।४।२)

हे सोम पीनेवाले भगवान् इन्द्र! सोमका पान कीजिये।

इन्द्राग्नी...ता सोमं सोमपातमा। (ऋग्० १।२१।१)

सोम पीनेवालों में श्रेष्ठ वे इन्द्राग्नी ही हैं।

...सोमपा सोमपीतये। (ऋग्० १।२१।३)

हे सोम पीनेवाले इन्द्र! सोमपान करनेके लिये हम आपका आवाहन करते हैं।

इन सब उद्धरणों से पता चलता है कि सोमपा तथा सोमपातमौ उसी और उन्हीं को कहते हैं, जो सोमको पीयें।

सोमम् पिबति इति सोमपाः।
सोमं पिबतः तौ श्रेष्ठौ सोमपातमौ।

सोमस्य पीतिर्यस्य ध्येयं स सोमपाः ।
ययोर्ध्येयं सोमपीतिः तौ श्रेष्ठौ सोमपातमौ ॥

अर्थात् सोमपीति जिस का इष्ट हो तथा जो सोम पिये, वह सोमपाः । तथा ऐसे सोम पीनेवालों में जो सर्वश्रेष्ठ दो वे सोमपातमौ अर्थात् वे दो श्रेष्ठ व्यक्ति जिन का इष्ट सोमपान, सोमपीतिः हो ।

निदः ॥२३॥...निदोनिः दधानाः... । (ऋ० १।४।५)

निदः नितरां दधानाः धारणकर्तारः ।

निदः उन भक्तोंका नाम है, जो सदैव निज हृदयों में भगवान् का धारण करते रहें। जिन के हृदय अपने में भगवान् की सत्ता क्षणभर के लिये भी भूल न पायें।

ऐसे ऋषिराज भक्त हमें उपदेश देवें। वे यदि हमारे देश के वासी न भी हों, तो भी वह जिस अन्य देश में उनका स्थान है, वहां से भी आकर हमारे धामों को पवित्र करें। निज अमृतवर्षारूप ऋतसत्योपदेशद्वारा ठीक जैसे आजकल भी विदेशीय विश्वविद्यालयों से महाविद्वान् वैज्ञानिक अन्य विद्यालयों में निमन्त्रित होकर जाते, तथा व्याख्यान देकर उन्हें कृतार्थ करते हैं।

हे इन्द्र ! हमारी सेवाशुश्रूषा मात्र से सुतृप्त वे हो जावें, अर्थात् वे हमारे प्रेमसे खिंचे चले आवें, तथा उनकी महती योग्यता के बदले यदि हम उनको यथोचित दक्षिणा आदि न भी दे पायें, तो भी वे हम से रुष्ट न होकर हम पर अपनी कृपा बनाये ही रखें।

पाठक देखेंगे कैसा अमूल्य तथा आजतक भी प्रवृत्त बहुमूल्य उपदेश इस वेदमन्त्र ने दिया है। मन्त्र इस विध है—

ओ३म् उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ (ऋग्० १।४।५)

हे इन्द्र ! आपको निरन्तर निज में धारण करनेवाले ऋषिराज भक्त अन्य देशोंसे भी आकर हमें विज्ञानभक्ति उपदेश करें ही, तथा हमारी सेवाशुश्रूषासे सुतृप्त हो जावें।

वाजिन ॥२४॥ ...प्रावो वाजेषु वाजिनम्।
(ऋग्० १।४।८)

संग्रामोंमें युद्धोंमें वेगवान् योद्धा की रक्षा अच्छी प्रकार कीजिये हे प्रभो !

वाजे वाजी इव क्षिप्रगतिं करोति इति वाजिन।

वाज युद्ध में घोडे की न्यायीं शीघ्रतमा फुरती से युद्ध करता है, वही योद्धा वाजिन।

वाजिन ॥२४॥ तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । (ऋग्० १।४।९)

हे सैंकडो प्रकार के यज्ञों के सञ्चालक प्रभो ! हम हे इन्द्र ! आप अत्यन्त योद्धाको अपने आवाहनों आदि द्वारा उत्तेजित करते हैं। शक्ति आप की हम सोम प्रदान द्वारा बढाते हैं।

वाजयन्ति एनं इति वाजिन।

यहां पर श्लेषालंकार है। एक अर्थ तो यह है कि, हम अपने सेनानायक को सोमपान करवा कर युद्ध के लिये उत्तेजित करते हैं। दूसरा अर्थ वह है, जहां से पारसी मतका एक प्रमुख सिद्धान्त निकलता है। पारसी धर्म की विशेषता यह है कि, वहां यह माना गया है कि, प्रभुकी शैतान पर विजयप्राप्ति उस मानवी सहायता पर निर्भर है, जो मनुष्य उसके यत्न करके उसे समय समय पर पहुंचाते रहते हैं।

उपरोक्त वेदमन्त्र का भाव यही है कि, सोमयाजक अपने यज्ञ के द्वारा प्रभु इन्द्र को शक्तिसम्पन्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि, इन्द्र वृत्र-हनन-समर्थ हो जाता है।

तिश्त्रतिर तारा जिसका युद्ध अपौष दानव के साथ अवस्थाके अनुसार होता है, वह कई बार हारता है। फिर मानवी उपयुक्त पूजा जब वह पाता है, तब वह जीत जाता है, अपौष हार जाता है।

हमारे यहां भी इन्द्रवृत्रासुरसंग्राम में इन्द्र की जीतका कारण वह सोममद ही है, जो उसे मनुष्यों से दिये गये सोम को पीकर चढता है।

एक स्थान पर इन्द्र वा उस का पुत्र कहता है कि, मैंने जो बहुत सोम पी लिया, तो अब कहो, क्या भूमिको यहां से उठाकर वहां धर दूं ? सूक्तविशेष के सभी मन्त्रों के अन्तिम शब्द यही "कुवित्सोमस्यापामिति" ही हैं कि, "सोमकी भारी मात्रा पान कर ली है मैंने।"

अतः यह ठीक ही है कि हृदयव्यापी सोये भगवान् को भक्त जगाकर उत्तेजित कर लेते हैं।

सोम ॥२६॥ ...इन्द्रमभि प्र गायत सखायः ...॥१॥
... इंद्रं सोमे सचा सुते ॥२॥
(ऋ० १।५।१,२)

हे मित्र लोगों! जब सोम निचुड चुके, तब इन्द्रसे संबंध जोड उसी की स्तुतियोंसे उसे अपने सम्मुख उपस्थित मान कर खूब गाओ।

"सोमे सुते" से पता चलता है कि जिसके सम्बन्धमें षूञ् (षवने) = निचुडना क्रिया हो सके, वही सोम है।

सुतपाव्ने ॥२७॥ सुतपाव्ने सुता...यन्ति वीतये।
सोमासः... ॥ (ऋ० १।५।५)
त्वं सुतस्य पीतये ... इन्द्रज्यैष्ठाय ... ॥
(ऋ० १।५।६)

यस्य वीतये पीतये वा सोमासः सुता यन्ति सः एव सुतपावा तस्मै सुत पाव्ने इन्द्राय हे सखायः! यूयं अभि प्रगायत ॥

हे मित्रवृन्द। निचुडे सोमको खाकर पीकर जो इंद्र पवित्र करता है, उसी सुतपावा इंद्र की स्तुतियां उसे अभिमुखस्थ अनुभव करके भले प्रकार गाओ।

सुतपावा वही है, जिसके खान (वीति), पान (पीति) के निमित्त समस्त निचुडे सोमरस (सुता) मानो भागे हुए उसकी ओर जा रहे हैं।

सुताः पीतये वीतये यस्मै स एव सुतपावा (इंद्रः)
आशवः ॥२८॥ आ त्वा विशंत्वाशवः सोमास इंद्र शं ते संतु ॥ (ऋ० १।५।७)

'आ विशंति इति आशवः' ठीक जैसे 'हिंसति इति सिंहः' जो आकर प्रविष्ट हो जाय वही आशवः। सोम आशवः इस कारण हैं कि वह इन्द्रके रोम रोममें पिये जाने के अतीव शीघ्र जा पहुंचते हैं।

आशुमें श तथा आ सर्वतो शान्ति के भी सूचक हैं। आसमन्तात् शमति शांत करोति इति आशुः।

ये दोनों निर्वचन एकही ऊपरके मंत्र (ऋ० १।५।७)में सुस्पष्ट तया दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

हे इंद्र! आप जिन सोमोंको पीकर सर्वथा शान्त शत्रुओं से निर्भय हो जाते हैं, वही सोम आप की ओर सभी यजमानों की ओरसे भागे हुए चले आ रहे हैं, उन्हें आप पीयें ही।

रोचनाः ॥२९॥ ... रोचंते रोचना दिवि ॥२९॥
(ऋ० १।६।१)

ये रोचंते ते रोचनाः। जो चमके वही चमकदार।

जो आसमान में प्रकाशित हो रहे हैं, उन प्रकाशमानों को तारे, रोचनाः आदि नामों से हम पुकारते हैं। इस मंत्र में रोचनाः नाम सूर्यकिरणों का है, जो भी प्रकाश को प्रकाशित करती हुई तथा स्वयं प्रकाशमान होती हुई सूर्य से निकल सभी दिशाओं में फैल रही हैं।

अर्क ॥३०॥...अर्चंत्यर्कम् ...त्वा शतक्रतो... ॥
(ऋ० १।१०।१)

पूजते हैं पूज्य तुझ इन्द्र को।

जिस को पूजते हैं, वही पूज्य। जिसका अर्चन करते हैं, वही अर्क।

अर्क ॥३१॥ इंद्रम् ...अर्केभिरर्किणः। (ऋ०१-७-१)

इंद्र को पूजाओं, ऋचाओं, के द्वारा पुजारीजन पूजते हैं (अर्चन्ति)।

अर्चंति एवम् अतः अयं अर्कः।
अर्चंति आभिः अतः इमाः अपि अर्काः ॥
जिसको अर्चते पूजते हैं, वह भी अर्क।
जिनके द्वारा इसे पूजते हैं, वह भी अर्क।
पूज्य भी, पूजा–साधन भी दोनों ही अर्क।
इंद्र भी, ऋचाएं भी दोनों ही अर्क॥

अर्किणः ॥३२॥ ... अर्चंत्यर्किणः ...॥
(ऋ० १।१०।१)
इंद्रम् ... अर्केभिरर्किणः ...॥ (ऋ० १।७।१)

पूजते हैं पुजारी इंद्र को पूजाओं के द्वारा। जो पूजते हैं (ये अर्चन्ति) (ते अर्किणः) वही पुजारी।

गायत्रिणः ॥३३॥ गायंति त्वा गायत्रिणः ... शतक्रतो ॥ (ऋ० १।१०।१)

हे इन्द्र! आप की महिमा गाते हैं गायक सज्जन।

गायन्ति ये ते गायत्रिणः। गाते हैं जो वे गायक।

गाथिनः स्मः ॥३४॥ इंद्रम् ... गाथिनः ... ॥
(ऋ० १।७।१

गायंति त्वा ... शतक्रतो ... ॥ (ऋ० १।१०।१)

हे सैंकडों यज्ञों के स्वामिन्! इन्द्र! गाथी गायक आप का यशोगान करते हैं।

गायन्ति ये ते गाथिनः।

गाते हैं जो वही गायक।

प्रभु भक्त रागी गायत्रिन्, गाथिन् संज्ञायें पाते हैं।

गिरः ॥३५॥ ... इंद्र ... ॥ (ऋ० १।१०।११)

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवंतु विश्वतः... ॥

(ऋ० १।१०।१२)

वसोरिंद्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणंत ... ॥

(ऋ० १।९।९)

धनपति, यज्ञेश, धन तथा यज्ञ के रक्षक प्रभुकी स्तुति, स्तुति गिराओं= वाणियोंके द्वारा भक्त करते हैं। हे इंद्र! वे भक्तोंकी वाणियां आपको सदैव सभी ओरसे घेरे ही रहें।

गृणंति आभिः तस्मादेते गिरः।

स्तुतियां उच्चारते हैं इन के द्वारा, इसलिये ये "गिरः" स्तुति+वाक् कहाती हैं।

गिर्वणः ॥३६॥ गिर्वणो गिरः ... (ऋ० १।१०।१२)

... गीर्भिर्गृणंत... (ऋ० १।९।९)

गिर्वणः, गिरावतः गिरः याभिः गृणन्तः।

स्तोताओं, स्तोमवान् ऋषियों की स्तुतियां जिनके द्वारा स्तव उच्चारण करते हुए भक्त प्रभु की उपासना करते हैं।

ये गीर्वन्तः तेषां गिर्वणः॥

जो वेदवाणीसंयुक्त हैं उन भक्तों की (गिर्वणः)।

शक्रः ॥३७-३८॥ ...स शक्र उत नः शकदिंद्रो वसुदयमानः। (ऋ० १।१०।६)

शक्नोति इति शक्रः। जो समर्थ है वही शक्र। धन-दान करता हुआ प्रभु इंद्र हमें शक्ति प्रदान करें, क्योंकि वही शक्र, समर्थ है।

...शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च।

(ऋ० १।१०।५)

शक्र प्रभु जैसे हमारे पुत्रों तथा सखा सम्बन्धियोंके मध्य में निज उपदेशके अत्यंत विस्तार द्वारा आनंद वर्षा करता रहता है।

शक्र वही है जो सखाओंमें रमण करावे, तथा जो अतिशय उपदेश द्वारा आनंद दे।

सर्वासु रमणसाधनः। उपदेशसमर्थः॥

सख्येषु सखासमाजेषु आनन्दोपदेशकर्ता॥

आश्रुत्कर्ण ॥३९॥ आश्रुतकर्ण श्रुधी हवं ...॥

(ऋ० १।१०।९)

हे सब ओरसे सुनने में समर्थ कानोंवाले प्रभु! हमारे आह्वान को सुन।

"आ+श्रृणोति+कर्णैः" इति आश्रुत्कर्णः।

सब ओरसे, निज श्रवणशक्ति से, जो सुन सके, वही आश्रुत्कर्ण। उसे निवेदन किया जाता है कि हे प्रभु! हमारे आवाहन को सुनिये।

पातञ्जल-योगानुशासनं नाम शास्त्रम् ।

तस्य सरलभाषायां काव्यमयी टीका ।

[काव्यकारः— पं० रुलियाराम काश्यप, एस्. एस्सी.]

अथ योगानुशासनम् ॥१॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥२॥

१. अब शिक्षा का योग की, फिर से हुआ आरम्भ ।
योग जानिये चित्त की, सकल-वृत्ति-सुस्तम्भ ॥
(स्तम्भन = रुकाव)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र

२. द्रष्टा का निज रूप में, तब होवे सुस्थान ।
अन्य दिशा में वही दिखे, वृत्तिः रूपसमान ॥
[द्रष्टा = आत्मा] (अवस्थान = टिकाव)

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥
प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥६॥

३. क्लेशसहित अथवा रहित, वृत्तिः पञ्च प्रकार ।
विकल्प निद्रा विपर्यय, त्रय प्रमाण सुस्मार॥ (स्मृति)

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

४. साक्षात् अरु शब्द से, अनुमानवत् ज्ञान ।
सच्चा याथातथ्य शुभ, सोई सदा परमाण ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

५. अन्य रूप दिखे अन्य ही, अज्ञान दुर्ज्ञान ।
झूठा दुःखदायी पुनः, उसे विपर्यय जान ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

६. शब्द से वस्तु झलकती, पर वस्तु कोई नांह ।
ज्ञानाभास विकल्प है, ज्ञान अज्ञान की छांह ॥
(विकल्प = Fancy)

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

७. सभी भावना त्याग कर, शून्य आश्रयाधार ।
चित्तसुषुप्ति धार ले, सो निद्रा व्यापार ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

८. अनुभव में जो आगयी, बात, उसे नहीं भूल ।
कभी त्यागना चित्त से, स्मृतिः सोई सम्मूल ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

९. वह निरोध अभ्यास अरु, वैराग्य से जान ।
स्थिर करनेका चित्तके, यत्न, अभ्यास, पहचान ॥
(योग = समाधि)

स तु दीर्घकालनैरंतर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

१०. आदर से चिरकाल तक, एकतार अभ्यास ।
सुस्थित् सुदृढ जाय हो, परिपक्व अनायास ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

११. दिखी सुनी सभी बातमें, चाह जब रह नहीं जाय भी
अनुभव सर्ववशित्व का, ही आरोग्य कहाय॥

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

१२. आत्माका जब ज्ञान हो, प्रकृति-गुण-अनुराग ।
छुटे सर्वथा स्वयं ही, वही परम वैराग ॥

वितर्कविचारानंदास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः१७
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वकः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

१३. योग है दो प्रकार का, संप्रज्ञात अज्ञात । (असंप्रज्ञात)
अहंकारयुत् प्रथम है, दूजा सुज्ञ विख्यात॥१७-१८॥

१४. वस्तु, विचार, आनंद, मैं, के अनुभव में लीन ।
सम्प्रज्ञात कहा गया, चहुं विध योग सुसीम ॥१७॥
(वस्तु = सम्बंधितर्कवितर्क)

१५. त्याग इन्हें कर शून्य के, अनुभव का अभ्यास ।
अनुभव ही जब बच रहे, सो अज्ञात सुवास ॥१८॥
(अज्ञात = असम्प्रज्ञात निर्बीज)

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

१६. देह स्थूल तो त्याग दी, हुए प्रकृतिः लीन ।
वैरागी थे उच्चतम्, जन्मसिद्ध तिन्हे चिन्ह ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

१७. श्रद्धा से बल प्राप्त कर, स्मृतिः धृतिः सम्पन्न ।
योगसमाधिज बुद्धि पा, योगी ब्रह्मप्रपन्न ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

१८. बनें शीघ्रही वीर्यबल, हो यदि प्रबल सुतीव्र।
मृदु मध्य उल्लांघ कर, अतिमात्र अतिशीघ्र ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

१९. अथवा भक्तिविशेषसे, आवाहन किये ईश।
भी कारणदक् फेर दें, सन्त बने योगीश ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः २४

२०. ईश्वर पुरुष विचित्र है, रहे सदा निर्लेप।
क्लेश, कर्म, फल, वासना, रहित तथा विक्षेप ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं ॥२५॥

२१. उससे बढकर नहीं कहीं, अधिक ज्ञान का मूल।
सभी ज्ञान सर्वज्ञता, है ईश्वर सन्मूल ॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

२२. वहां काल की पहुंच न, प्राचीनतम् ईश।
पूर्वाचार्यों का गुरुः, भी था वही योगीश ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

२३. उत्तम तथा नवीन शुभ, सर्वप्रथम ओ३म्कार।
नौ में इक, नौ-प्रक् शुभ, शून्य रहित-विस्तार ॥
२४. नौ की गति से सर्वथा, परे दूर, सुअनंत।
उसे बताते ईश-वर, योगी मुनी सुसन्त ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

२५. जाप उसी प्रिय ओ३म् का, ईश्वर-अनुभव साथ।
श्रद्धा भक्ति चावसे, सार्थक् जाप सनाथ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च २९

२६. विषयवासना त्यागकर, निज स्वरूप को ध्याय।
ऐसी चेतन आत्मा, इस ही से जग जाय ॥
२७. अडचन योग विषय सभी, विक्षेप भी दूर।
आत्मज्ञान होकर उदय, मनुज सन्त बने शूर ॥

व्याधिस्त्यान (or स्थान) -संशय-प्रमादालस्या-विरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकात्वानवस्थित-त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

२८. अडचन नौ परकार के, भोगी चित्त डुलायं।
रोग, शोक, सन्देह, मद, योगी पास न आयं ॥
(शोक = दौर्मनस्य, अकर्मण्यता)
२९. आलस, राग, अरु विपर्यय, योग-समाधि-आलाभ।
योग पाय नहीं स्थिर रहे, नवविध सब दुःख-नाभ ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

३०. साथ ही इन विक्षेप के, पांच हैं साथी और।
आना जाना सांस का, अङ्ग हिलें बेतौर ॥
३१. मन रहे व्याकुल टिके न, दुःख हो सदा प्रतीत।
एक ओम् अभ्याससे, सन्त हो इन से अतीत ॥

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

३२. करो चित्त आनंदयुत्, चार भावना धार।
स्नेह सुखियोपर, दुःखी जन, से करुणा व्यवहार ॥
३३. पुण्यशील को देखकर, करो प्राप्त शुभ हर्ष।
निहार पापी जनों को देखकर, पाओ न हर्षामर्ष ॥

प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

३४. अथवा चित्त टिकाओ निज, कर प्राण आयाम।
बाहर बल से फैंक कर, अथवा **वायुविराम** ॥
(वायुविराम= प्राण को रोकना)

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥३५॥

३५, दिव्य शक्ति किसी विषय में, इंद्रिय के उत्पन्न।
होकर मनको टिका दे, करें समाधि प्रपन्न ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

३६. शोकरहित् प्रज्ञानयुत्, आनन्द सुप्रकाश।
बुद्धि अरु अस्मितामें, युक्त करे चिदाकाश ॥

वीतरागविषयं वा चित्तं ॥३७॥

३७. अग्निः, सनक्, व्यासवत्, वैरागी ऋषिः चित्त।
का आलम्बन भक्त कर, टिका सके निज चित्त ॥

स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

३८. ले आश्रय कोई स्वप्न के, ज्ञान का, निद्राभाव।
धार दूसरा, चित्त निज, में उपजाए टिकाव ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

३९. अथवा मन जिस पर चले, कर उस ही का ध्यान।
चित्त टिका ले भक्त जन, पाय योगसम्मान ॥

परमाणु-परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

४०. क्रमशः चित्त टिकायकर, परम महत् सम स्थूल।
अरु अणु से भी सूक्ष्मतम, को ध्यावे सुखमूल ॥

४१. निश्शङ्क हो कर सदा, योगी बिना आघात।
वश में उस के ध्यान के, हुआ विश्व विख्यात्॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

४२. वृत्तिनाश से चित्त हो, मणिसमान सुप्रकाश।
पुरुष इन्द्रिय अरु विषयको, तब ध्यावे चिदाकाश॥

४३. हो समीप जिस किसी के, तदाकार हो जाय।
चित्त दशा यह उत्तमा, समापत्तिः कहलाय॥

शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का ॥४२॥

४४. नाम, विषय अरु ज्ञान सब, मिश्रित् कल्पित् हो।
चाहे सत्य ही, समापत, सवितर्का कही सो॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

४५. निर्वितर्क वह जानिये, जिस में अर्थ प्रकाश।
शब्द ज्ञान से पृथक् ही, केवल विषयविकास॥

४६. यह उपजे तब बुद्धि जब, निज भान भी ले खो।
स्मृतिः सर्वथा शुद्ध जब, चित्त अर्थमय हो॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

४७. स्थूल विषय में वितर्कन, सूक्ष्मसम्बन्धि विचार।
देशकाल-के भावयुत्, समापत्तिः सविचार॥

४८. देशकाल के भान से, रहित् सूक्ष्मका ध्यान।
समापत्तिः सोई जानिये, निर्विचार सुमहान्॥

सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानं ॥४५॥

४९. तन्मात्रा जो गन्ध की, उस से कर आरम्भ।
अलिङ्ग प्रकृति अन्त में, सूक्ष्म विषय समारम्भ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

५०. समापत्तिः सवितर्क पुनः, निर्वितर्क, सविचार।
निर्विचार, यही समाधिः, हैं सबीज सुख सार॥

निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

५१. निर्विचार में सात्विकी, बुद्धि-स्थिति-प्रवाह।
योगी आत्मा में भरे, प्रसन्नता उत्साह॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

५२. टिके हुए तब चित्त में, हो प्रज्ञाऽलोक।
ऋतम्भरा जो सार्थिकी, ऋत सत्य बेटोक॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ४९

५३. आगम अरु अनुमान के, विषय से इसका भिन्न।
है विशेष अपना विषय, ऋतम्भरा प्रतिपन्न॥

५४. इन्द्रिय से साक्षात् जो, हो न सके कबहुं ज्ञान।
ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी, के विशेष का दान॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

५५. इस प्रज्ञा-संस्कार से, विक्षेपज रुक जायं।
समाधिबलऋत सत्य सब, प्रबलतया जग जायं॥
(व्युत्थान-संस्कार)

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१

५६. रोक उसे भी, रोक सब, हो समाधि निर्बीज।
शुद्ध मुक्त निज-रूप-स्थित, पुरुष सकल-सुख-ईश॥

॥ इति योगपादः प्रथमः॥

सदाचार ।

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, बम्बई)

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

महर्षि मनुजीने कहा है, कि सदाचार पालन करना परमधर्म है, यह बात वेद तथा स्मृतिशास्त्रों में भी कही हुई है। अतः सच्चरित्र सुधि सनातन धर्मियों का सतत सर्वावस्था में सम्यक् रूप से सदाचार का पालन करना, सर्वतोभावेन सत्कर्तव्य है।

हिंदू जाति सैंकडों वर्षों से विधर्मी के अधीनता-पाशमें फँस जानेके कारण अपने आचार-नीति से भ्रष्ट हो गयी है। विशेषतः पाश्चात्य कूट-बुद्धि राजनीतिज्ञों की ' Victory by Culture' नामक नीतिसे अन्धे बनकर स्वधर्म तथा स्वजाति के सम्बन्ध में बुरी धारणा हृदय में पोषण करते-करते अपने उपर्युक्त विषयों में दृष्टि-शून्य बन गयी हैं। वर्तमान समयमें देखने में आता है कि, हिंदुओं में 'हिंदुत्व' बोलनेयोग्य विषय मानो कुछ भी शेष नहीं है। अपनी मति-गति, अपनी रीति-नीति, अपनी भाव-भङ्गी सभी में मानो पाश्चात्य देश की नकल हो रही है या वे मुसलमानोंके नियमानुसार चल रहे हैं। स्कूल-कालेजके विद्यार्थीवृन्द तक पाश्चात्य पंडितों का या पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित विद्वान् व्यक्तियों के उपदेश और उपदिष्ट नियमके अनुसार ही चल रहे हैं।

अतः हमारे देश से हिंदुओं के अपने आचार-व्यवहार आदि सभी काल के कराल-जाल में लुप्त हो रहे हैं। इससे हिंदू-जाति धीरे धीरे अधःपतित हो रही है, इसमें कोई शंका नहीं है। परन्तु इतना होनेपर भी अब परम मंगलमय परमपिता की परम- अनुकम्पा से आजकल यहाँ की हवा धीरे धीरे उल्टी बहने लगी है। आजकल अनेक पाश्चात्य शिक्षाभिमानी भद्र हिंदुओं के हृदय में अपनी जाति तथा अपने धर्मपर पडे हुए पाश्चात्य बुरे संस्कारोंका नाश होकर धीरे-धीरे अपनी संस्कृति पर विश्वास पैदा हो रहा है, एवं व्यावहारिक जीवनमें भी हिंदू के सदाचारका पालन करनेके लिए आग्रह हो रहा है।

इसे हिंदूजाति की पुनर्जागृति का शुभ लक्षण कहना पडेगा। आजकल देश के बालक-वृद्ध-वनिता (स्त्री) सभी की मति (बुद्धि) में परिवर्तन हो रहा है, - अनेक लोग हिंदुओं के आचार-नियम मानने लगे हैं, एवं उस के नियमानुसार चल भी रहे हैं और कोई कोई उस पथ पर चलने के लिए कोशिश कर रहे हैं। परन्तु यह देख कर खेद होता है कि, तद्रूप उपदेश एक साथ कहीं भी देखने में नहीं आता,- समाचार-पत्रों में भी इस विषय पर विशेषरूप से लेख नहीं निकल रहे हैं।

इसी इच्छा की पूर्ति के लिए साध्यानुसार सदाचार-विषय में लेख लिखने का प्रयत्न किया गया है; इस में धीरेधीरे ' सदाचारपालन का फल, ' ' दिनचर्या ' 'भोजन-व्यवस्था, ' 'उपवास,' 'क्षौर-कार्य,' 'प्रसाधनकी विधि,' 'वस्त्र धोनेकी विधि, ' ' सामाजिक और बहिरंग सदाचार ' ' स्त्री-आचार,' आदि पर विवेचन करने की चेष्टा करूंगा। इस में हिंदूशास्त्र के अनुसार शारीरिक और मानसिक सदाचार की विधियाँ, तथा अंगरेजी में जिन्हें etiquette कहते हैं, वे सामाजिक विधियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया जायगा। विद्वान् पाठकों के विश्वास के लिए बहुत से शास्त्रप्रमाण भी दिये जायेंगे। सदाचारपालन का फल क्या है, उसे पहिले सुन लीजिए-

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(मनु० ४।१५५)

सदाचारवान् मानव दीर्घजीवन लाभ करते हैं, अपनी मनमानी सन्तान लाभ करते हैं। सदाचार के प्रभाव से लब्ध धन की रक्षा होती है। शरीर में सहजात (जन्म के साथ) कोई दुष्ट लक्षण रहता है, तो उस का भी सदाचार के बल से नाश होता है।

महर्षि वसिष्ठने कहा है कि—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत्।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ (६।१)

शरीर के अंग-प्रत्यंग में किसी प्रकार के दुर्लक्षण यानी किसी प्रकार के शुभ-लक्षण न रहने पर भी जो मानव सदाचारपूत होता है, शास्त्र-वाक्य के प्रति श्रद्धायुक्त होता है, तथा गुणवान् सज्जन व्यक्ति के दोषों का आविष्कार नहीं करता है, वह मानव सुख के साथ सौ वर्ष जीवित रहता है।

भगवान् विष्णु ने कहा है--

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निंदितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(७१।९०)

आचार-भ्रष्ट पुरुष जनसमाज में निन्दा का भागी होता है, तथा सदा ही दुःख भोग करता है, रोगसे जीर्ण-शीर्ण तथा अल्प-आयु होता है।

काशीखण्ड में लिखा है--

लक्षणैः परिहीनोऽपि सम्यगाचारतत्परः।
श्रद्धालुरनसूयश्च नरो जीवेत् समाः शतम्॥
दुराचाररते लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चाभिभूयेत सदाल्पायुः सुदुःखभाक्॥
आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।
आचाराद्वर्धते ह्यायुराचारात् पापसंक्षयः॥

मानव देखने में दुर्लक्षण होने पर भी सदाचार-युक्त होने से दीर्घजीवी हो सकता है, तथा आचार-भ्रष्ट मानव सुलक्षण-युक्त होने पर भी रोगाक्रान्त, अल्पायु एवं दुःखी होता है। आचार ही परमधर्म है, आचार ही परम-तपस्या है, आचार के बल से पाप का नाश और आयु की वृद्धि होती है।

महर्षि चरकजीने लिखा है-

" तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तदनुष्ठानं युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिंद्रियविजयं चेति। '

अतः आत्मसुहिताभिलाषी व्यक्ति सर्वदा सर्वान्तःकरण से सदाचार का अनुष्ठान करे। सदाचारके अनुष्ठान से युगपत् (एक ही साथ) आरोग्य तथा इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

भावप्रकाश में लिखा है कि--

इत्याचारं समासेन भाषितं यः समाचरेत्।
स विंदत्यायुरारोग्यं प्रीतिं धर्मं धनं यशः॥
(१।२५६)

(संक्षेपरूप में, जैसे सदाचार के विषय ऊपर कहे गये हैं) जो सज्जन उसका आचरण करेंगे, वे आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश, प्रीति तथा धर्म प्राप्त करेंगे।

वाग्भट ने भी वैसा ही कहा है कि--

इत्याचारः समासेन सम्प्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशोलोकांश्च शाश्वतान्॥
(२।४८)

(संक्षेप में, जैसे सदाचार की बातें ऊपर कही गई हैं) जो सज्जन उसका आचरण करेंगे, वे आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश तथा अविनाशी लोक प्राप्त करेंगे।

अतः सदाचार-पालन करने पर धर्म-लाभ होता है, स्वास्थ्य तथा आयु की वृद्धि होती है, एवं मनुष्य सब-लोगों की प्रीति लाभ कर सकता है। सदाचारपरायण सज्जन को संसार के सभी लोक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे आप ही आप प्रसन्न भी रहते हैं, तथा उनकी सर्वार्थ-सिद्धि होती है।

महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि--

आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम्।

केवल मात्र सदाचार ही गुरुतर धर्म का लक्षण है। उक्त ग्रन्थ में और भी लिखा है कि सदाचार ही सारी तपस्या की जड है। यथा--

एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

जो सज्जन उपर्युक्त सदाचार पर परिनिष्ठित (स्थित) हुए हैं, वे ही संपूर्णरूप से धर्मलाभ करनेमें समर्थ हुए हैं। यह देखकर ही प्राचीन काल के योगी--ऋषि--मुनिगण ने सदाचार को ही सारी तपस्या का मूल समझा और विशेष यत्न व आग्रह के साथ उसका पालन किया है।

वास्तव में इस संसार में जितने पुरुष जन्म ग्रहण किए हैं, वे सभी सदाचारशील थे। संसार में जो सज्जन जन-साधारण से किसी न किसी कार्य में या गुण में श्रेष्ठ बने हैं, तथा संसार के लोगोंने भी जिन्हें श्रेष्ठ मान लिया है,

वे सभी सदाचारवान् थे--इस में कोई शंका नहीं है।

साधन तथा स्वर्णभूमि भारत की सरस्वती और दृषद्वती इन दो नदियोंके बीच में अवस्थित ब्रह्मावर्त नामक देश में सबसे पहिले आर्यों का आविर्भाव हुआ था, एवं इसी कारण ही मनु महाराजने कहा है कि, उस देश में जो आचार प्रचलित है, उसी आचार को ही सदाचार समझना चाहिए। निम्नलिखित वचन भी इसी देश को लक्ष्य करके कहा गया है।

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य क्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते। (१।१८)

ब्रह्मावर्त नामक देश में ब्राह्मण आदि वर्णचतुष्टय और वर्णसंकर सृष्टि के आरंभ से क्रमागत जो आचार व्यवहार में लेते आ रहे हैं, उसे ही सदाचार कहते हैं।

इस ब्रह्मावर्त देशसे ही सभ्यता धीरे-धीरे विस्तार लाभकर सारे भारतवर्षमें व्याप्त हुई है अथवा अन्य देशोंमें भी प्राप्त हुई है। ब्रह्मावर्त से जो सब आर्यगण भारत के भिन्न-भिन्न देश में गए थे, वे भी अपने पूर्वपुरुषों के आचरणों का सर्व प्रकारसे अनुसरण कर वंशानुक्रमसे अपने जातीत्व की रक्षा करते आ रहे हैं। फिर जो सज्जन उस पवित्र आर्य-वंश में जन्म ग्रहण कर उक्त सदाचार का पालन करते आ रहे हैं, वे संसार के सभी प्रकार के विषयों में उन्नति लाभ कर रहे हैं। वास्तव में सदाचारसंपन्न न होनेपर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता है। ब्रह्मसूत्रकारने लिखा है कि—

'न विरतो दुश्चरितात्'

यानी दुराचारशील व्यक्ति को कभी मुक्ति लाभ नहीं होता है। सुतरां इहलोक और परलोक के मंगल का कारण एकमात्र सदाचार ही है।

वाग्भटने कहा है कि—

नित्यं हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ (४।३७)

जो सज्जन नित्य हितकर आहार, हितकर विहार, तथा विशेष विवेचना के साथ काम-काज करते हैं, विषय में अत्यन्त (विशेष) आसक्त नहीं होते, तथा दानशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, क्षमाशील एवं सज्जनों की सेवा करनेवाले होते हैं, उन को कोई बीमारी नहीं होती है।

चरक-संहिता में व्याधि के तीन कारण लिखे हैं। यथा

'तन्त्रिविधमसात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेत्यतस्त्रिविधविकल्पा व्याधयः।'

अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम, ये तीन व्याधि के कारण हैं।

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग क्या है? जिन शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध का इंद्रियों को अभ्यास नहीं है, अचानक उन के अत्यंत उपभोग, अथवा मिथ्यायोग करने को ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। अति ऊँचा शब्द यानी उच्चैस्वर सुनना या कोई भी शब्द बिलकुल ही न सुनना, अतिशय शीत-उष्ण आदिका सहन करना, अतिशय तेजस्कर पदार्थ-दर्शन या दीर्घकाल तक कुछ भी दर्शन न करना, बहुत ही सूक्ष्म-पदार्थ दर्शन करना अथवा अन्धेरे में या अति क्षीण प्रकाश में दर्शन करना किंवा अधिक प्रकाश में दर्शन का अभ्यास डालना; लवणादि किसी भी वस्तु का खूब ज्यादा आस्वाद करना, सुगंध या दुर्गंध का अति मात्रामें ग्रहण करना, आदि को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। क्योंकि ऐसा करने पर मनुष्य अवश्य ही व्याधिग्रस्त होंगे। गर्मी के समय अपनी इच्छा से ही अति शीतल प्रदेश में जाना, अभक्ष्य (न खाने की) वस्तुओं का भोजन करना अथवा चिरकाल तक जिसके विषय में मनुष्य अनभ्यस्त हो, उस वस्तु का उपभोग करने से भी वैसे ही फल भोगना पडता है।

मद्य आदि वस्तु मिली हुई तथा विदेश में बनी हुई औषधि का सेवन भी हिन्दुओं के लिए असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग कहा जा सकता है। महर्षि चरक ने कहा है कि-

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
अन्यत्र वसतस्तस्य तद्रूपगुणमौषधम्॥

जिस देश में जिसका जन्म हुआ है, उसी देश की औषधि उसके लिए मंगल-जनक है। यदि वह व्यक्ति दूसरे देश में वास करे तो, अपने जन्मस्थान की औषधियों के समान गुणविशिष्ट औषधि ही उसको सेवन करनी चाहिए।

प्रज्ञापराध।

धी-धृति-स्मृति-विभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपनम्॥

अपनी बुद्धि, धैर्य तथा स्मृतिभ्रंश दोष के कारण जो अनुचित कर्म किया जाता है, उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। जो यह प्रज्ञापराध करता है, उसके शरीरस्थ वात-पित्त तथा श्लेष्मा ये त्रिदोष कुपित होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। चरक-संहिता में प्रज्ञापराध के विषय में विस्तृतरूप से आलोचना की गई है। अतः यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि--

यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥
बुद्ध्या विषमविज्ञानः विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयात् मनसा गोचरं ही तत्॥

रजोगुण और तमोगुण में फँसकर जो काम किया जाता है, पण्डितों ने उसे प्रज्ञापराध कहा है और यह प्रज्ञापराध ही व्याधि का कारण है। अपनी मनमानी कल्पित बुद्धि से विपरीत भाव लेकर पदार्थ का निर्णय करना तथा विपरीत बुद्धि से काम में लिप्त होना भी प्रज्ञापराध है। ये सब प्रज्ञापराध केवल अपने मन से ही समझे जा सकते हैं।

परिणाम।

काल-शक्ति को परिणाम कहते हैं। काल शीत-ग्रीष्म आदि रूप में परिणत होकर मानव को कष्ट पहुँचाता है। शीत काल में शीत (जाडे) न होकर गर्मी तथा ग्रीष्म के समय अत्यन्त शीत होना भी परिणाम है और यह परिणाम भी व्याधि का कारण है।

ऐसी दशा में विचार करने से मालूम होता है कि, असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग तथा प्रज्ञापराध के कारण जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, वास्तव में वह सदाचार-शून्यता का ही फल है। अतः रोग के आक्रमण से रक्षा करनी हो, तो सर्वतोभावेन सदाचार का पालन करना चाहिए।

ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए कि, केवल एकमात्र शारीरिक सदाचार पालन करना ही स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त है, अपि च मानसिक सदाचार पालन करना भी आवश्यक है। इसके न करने पर भी स्वास्थ्य की हानि होती है। शायद वर्तमान समय के पाश्चात्य-शिक्षाभिमानी मानव इस बात को हँसी में उडा देंगे, किन्तु यह बात तो हजारों बार प्रत्यक्ष प्रयोग करने पर भी सत्य सिद्ध हुई है कि, मनमें दुश्चिंता न रहने तथा सदा ही सत्य बात कहने का अभ्यास रहने और ईर्षा-हिंसा आदि मन से दूर रहने से मानव के शरीरस्थ धातुएँ प्रसन्न रहते हैं, एवं उसे कोई रोग होने की संभावना नहीं रहती है।

आनन्द का विषय है कि, इसके कहीं कहीं प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल गए हैं। यूरोपके एक ख्यातनामा चिकित्सकने एक स्वास्थ्यहीन धन-कुबेर व्यक्ति को स्वास्थ्य के पुनरुद्धार के विषय में केवल सच्ची बात कहने तथा सत्-पथ पर चलने और सदाचारपालन के लिए उपदेश दिया था। फल--स्वरूप चिकित्सक के उस उपदेश का पालन करके ही उस रोगीने पूर्ण स्वास्थ्यलाभ किया था। मानसिक सदाचार पालन करने से प्राप्त रोग-नाशिनी शक्ति का सच्चा परिचय इससे और अधिक क्या हो सकता है?

सदाचार पालन करने से मनुष्यपर लक्ष्मी देवी की कृपा-दृष्टि होती है, अर्थात् सदाचारपालनकारी सज्जन ऐश्वर्यवान् होते हैं। कम से कम मोटा कपडा और मोटे अन्न की प्राप्ति में तो कभी उसको कष्ट नहीं होता। बंगाल के वणिक तथा साहा (वैश्य) जाति अत्यन्त ही सदाचार-शील है; उनके ऊपर लक्ष्मी की कैसी कृपादृष्टि है, इसे बंगाल के सभी सज्जन जानते हैं। वहां के कापाली (चण्डाल जैसे) नामक जाति भी सदाचारपरायण है। वह भी आजकल लक्ष्मीवन्त हो रही है। आप लोग जरा लक्ष्य करके देखेंगे, तो पता चलेगा कि, ब्राह्मणमें जो लोग सदाचारपरायण है, वे लोग अत्यन्त सुख और स्वतन्त्र तथा आराम के साथ आनन्द से जीवन-यात्रा का निर्वाह कर रहे हैं।

सुतरां सदाचारका पालन करना इहलोक और परलोक दोनों के लिए मंगल का निदान है; अतः सर्वतोभावेन विशेष चेष्टा के साथ सदाचार का पालन करना चाहिए। सदाचार रक्षा करके किस विधिसे जीवनयात्रा सुसम्पन्न करनी चाहिए, इसका निर्देश करने के लिए हिंदू शास्त्रों के अनुसार प्रारंभ में दिनचर्या लिखी जाती है। वर्तमान

समय के अनुसार हमारे समाज के लिए जहाँ तक साध्य हो सकता है, विशेष विवेचना के साथ विधि-निषेध का निर्देश किया जाता है।

दिनचर्या।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
तत्र सर्वाघशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम्॥

(भावप्रकाश)

स्वस्थ व्यक्ति को आयु-रक्षा के लिये प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्त (सूर्योदय से ४ दण्ड यानी १ घण्टा ३६ मिनट) में शया (बिस्तरा) त्याग करना चाहिए, एवं सारे पापों की शांति के लिए मधुसूदन का पवित्र नामस्मरण करना चाहिए।

रात्रि के अन्तिम ४ दण्ड को ब्राह्म-मुहूर्त कहते हैं। प्रतिदिन उसी समय स्वस्थ व्यक्ति को बिस्तरा त्याग कर उठने के लिए तैयार होना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ रहेगा, एवं आयु की भी वृद्धि होगी। इस के बाद बिस्तरे में ही बैठकर मन ही मन परम स्नेहमय श्री श्री भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करें। चाहे शाक्त हों, चाहे वैष्णव हो, चाहे गाणपत्य हो, या चाहे किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, अपने-अपने सम्प्रदाय की विधि के अनुसार या अपने-अपने विश्वास-भक्ति के अनुसार भगवान् का पवित्र नामस्मरण तथा संख्यानुसार इष्ट मंत्र का जप करना चाहिए। परन्तु उस समय ब्रह्मरंध्रमें कोटि-कोटि सूर्य की भाँति समुज्ज्वल एवं कोटि-कोटि चन्द्रमा की भाँति सुशीतल उज्ज्वल शुभ्र ज्योति का ध्यान करना विशेष लाभदायक और सर्व व्याधिनाशक है। ×

यदि सिद्धासन या मुक्त-पद्मासन लगाकर उस ज्योतिः का ध्यान करे तो विशेष लाभ होगा। परन्तु स्मृतिशास्त्र में ऐसी व्यवस्था है कि—

प्रातः शिरसि शुक्लाब्जे त्रिनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
प्रसन्नवदनं शांतं स्मरेत्तं नामपूर्वकम्॥

नमस्तु गुरवे तस्मादिष्टदेवस्वरूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम्॥
अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानंदरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥
लोकेश चैतन्यमयाधिदेव।
श्रीकांतविष्णे भवदाज्ञयैव॥
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं।
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये॥
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

प्रातःकाल में शिरःस्थित शुक्ल-कमल में विराजमान त्रिनेत्र, द्विभुज, प्रसन्न वदन, शांतस्वभाव श्रीश्रीगुरुदेव का नामजप तथा जय उच्चारण करते हुए स्मरण करें। इस के बाद जिस के वाक्यरूप अमृत से संसार नामक विष का नाश होता है, उस इष्टदेवस्वरूप गुरुदेव को नमस्कार करें। तदनन्तर मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मुझे सुख-दुःख कुछ भी नहीं है, मैं नित्यमुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। हे लोकेश! हे चैतन्यमय! हे अधिदेव! हे श्रीकान्त! हे विष्णो! मैं आप की ही आज्ञानुसार, आप की ही प्रीति के लिए संसार-यात्रा सम्पादन करूंगा। हे हृषीकेश! मैं धर्म जानता हूँ। परन्तु उस में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती है, मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु मैं उस से भी निवृत्त नहीं हूँ। हे इंद्रियाधीश्वर! तुम हृद्-कमल में विराजित रह कर मुझे जिस काम में नियुक्त करते हो, मैं उसे ही करता हूं। इस प्रचार का सोचविचार करें। अनन्तर—

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥

आदि वचनद्वारा कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा ऋतुपर्ण राजा के नाम कीर्तन करें। इस से कलि का नाश होता है।

× ब्राह्म-मुहूर्त में आसन लगाकर इस ज्योति का ध्यान करने से विशेष ही फल लाभ होता है। इससे एक ओर जहां धार्मिक उन्नतिलाभ होता है, वैसी ही दूसरी ओर सर्व-प्रकार के रोग का भी नाश होता है। परन्तु किसी विशिष्ट साधनशील सज्जन से इस ध्यान-साधना की विधि की शिक्षा होनी चाहिए। साधना के लिए प्रत्यक्ष कर्म-पन्था का विशेष विवरण देखना हो, तो 'योगीगुरु' तथा 'ब्रह्मचर्य-साधन' नामक पुस्तकद्वय देखिये।

बाद में पुनः चित् होकर सो जाना चाहिए या उपर्युक्त क्रियाएँ सोते-सोते ही कर लेनी चाहिए। सोते-सोते कर लेना ही उत्तम है। उस के बाद हाथ-पैर संकोचित तथा प्रसारित करना चाहिए और रस्सी जैसा बनाया जाता है, उसी प्रकार सर्वांग को साधारणभाव से ५।७ बार मोड लेना चाहिए। स्मरण रहे कि, उस समय भी हाथ-पैर खूब प्रसारित रखना चाहिए। संकोचन-प्रसारन का काम भी ५।७ बार करना चाहिए। यह एक प्रकार अति साधारण करसत है; इस से सर्वांग की नसें का कसरत हो जाता, तथा आलस्य या शरीर भारीपन दूर होकर रक्त-प्रवाह जोर से चलना लगता है। अधिकन्तु कोष्ठ भी साफ हो जाता है।

हाथ-पैर एक ही साथ संकोचन से समय दोनों हाथ के कनुही यकृत् तथा प्लीहा के ऊपर साधारण दबा कर फिर हाथ-पैर प्रसारन करें। इस से लिवर (Liver) और प्लीहा (Spleen) का रोग रहने से नाश हो जाता है और फिर यह रोग होने की सम्भावना भी नहीं रहती है। प्रकृति के नियमानुसार साधारणतया शिशुगण आप ही आप यह कसरत करता है। उस के बाद दोनों हाथ की अंगुलियाँ मुट्ठी बद्ध कर उल्टा होकर सो जाना चाहिए, एवं वे मुट्ठियाँ नाभिस्थान में रखना चाहिए। इस से आसानी के साथ कोष्ठ साफ हो जाता है। कोष्ठबद्धरोग भी इस प्रक्रिया से समूल नष्ट हो जाता है।

तदन्तर श्वास-वायु को आकर्षण कर, जिस नथनेमें श्वास रहे, उस नथने की हाथली मुख पर रखकर नित्य जैसी प्रार्थना कर उठ बैठेंगे, वह प्रार्थना थोडे दिन में पूर्ण हो जायगी। स्मरण रक्खे कि, एक ही प्रकार की प्रार्थना नित्य करता रहे, जब तक वह पूर्ण न हो। प्रार्थना एकमुखी होने से भगवान् अवश्य वह प्रार्थना पूर्ण करते हैं।

उस के बाद विस्तरें में बैठकर दाहिने हस्त मुट्ठीबद्ध कर वृद्धांगुष्ठ के नीचे का भागद्वारा ५।७ बार कपाल पर घिस देना चाहिए। दोनों वक्त भोजन के बाद भी यह काम करना उत्तम है। इसे योगिगण 'कपाल-भाति' का नवीन संस्करण कहते हैं। इस से कफाश्रित वायु तथा श्लेष्माका दोष नाश हो जाता है। इससे आंखकी ज्योतिः बढती है।

तदनन्तर तर्जनी अंगुली-द्वय दोनों कर्णाभ्यन्तर में प्रवेश कराकर अंगुली-द्वय से कान के भीतरी भाग घिस देना चाहिए, इसे कर्णभाति कहते हैं। इस से कान का सर्व रोग नाश होता है और भविष्य में रोग की उत्पत्ति ही नहीं होती है।

उसके बाद विस्तरा त्याग करते समय श्वास-वायु को आकर्षण कर जिस नथने में श्वास रहे, उस तरफ का हाथ की हथैली मुख पर स्थापन कर उस ओर का पैर को पृथ्वी पर रक्खें। ऐसा करने से उस दिन उसका कोई नुकसान नहीं होगा और होने की संभावना रहने से स्वल्पांश में होगा।

बाद में शालग्रामादि विग्रह या घरस्थ देवी-देवता तथा तुलसी को प्रणाम करके घरके बाहर जावे और दधि, घी, आदर्श (आइना-शीश- Looking Glass), श्वेत-सर्षप, बिल्वपत्र या तुलसीपत्र, गोरोचन, पुष्पमाल्य, श्रोत्रिय ब्राह्मण, सुन्दरी नारी, गायी (गौ) एवं अग्नि आदि का यथा-संभव दर्शन तथा स्पर्शन करें। इस समय घी में अपने मुख का दर्शन करने से आयुवृद्धि होती है।

तदनन्तर विण्मूत्रोत्सर्गादि क्रिया की निष्पत्ति करनी चाहिए। भाव-प्रकाश में लिखा है कि—

आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम्।
तदन्त्रकूजनाध्मानोदरगौरव-वारणम्॥

प्रातःकाल में मल-मूत्रादि का विसर्जन (त्याग) करने से आयु बढती है। उससे अन्त्र का कूजन (शब्द होना), आध्मान (पेट में वायु जमना) तथा उदर का गुरुत्व (भारीपन) नहीं रहता है।

रात में सुनिद्रा होने से तीनों धातु साम्य-अवस्था में रहते हैं, इससे प्रातःकाल में स्वभावतः ही शरीर स्निग्ध (ठण्डा-साम्यावस्था) रहता है। उसके लिए मल-मूत्रादि का वेग आप ही आप उदय होता है। अतः उसी समय ही मल-मूत्रादि का विसर्जन करना चाहिए। कदा-च उसके वेग को रोकना उचित नहीं है। मलमूत्रादि के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

न चापि धारयेद्धीमान् वेगं मूत्रपुरीषयोः।
(आपस्तम्ब-संहिता)

अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी मल-मूत्र के वेग

को नहीं रोकना चाहिए।

आयुर्वेदशास्त्र ने भी मल-मूत्र के वेग को रोकने को मना किया है, तथा उसके वेग को रोकने से अनेक प्रकार के कठिन रोग उत्पन्न होने की संभावना बताते हैं। अतः प्रातःकाल में ही मल-मूत्रादि का त्याग करना उचित है, तथा अपने निवास-स्थान से दूर जाकर ये काम समाप्त करने चाहिए।

प्रातरुत्थाय विमूत्रे दूरतः परिवर्जयेत्।
(चरक-संहिता)

यानी प्रातःकाल में उठ दूर जाकर मल-मूत्र का परित्याग करना चाहिए।

तम्बाकू या चुरुट-बीडी पीते-पीते या संवाद-पत्र पढते-- पढते कभी भी मल-मूत्र त्याग न करें। ये कार्य स्वास्थ्य के लिए कभी मंगल--जनक नहीं होते हैं। मल-मूत्रादि परित्याग के समय मन में विशेष कोई उत्कट चिंता रखना उचित नहीं है। नंगे पैर तथा शिर को ढक कर मल--त्याग करना उचित है। मैदान-प्रांतर में या कोई झोप--झाप (झाडी) के अन्तराल (आड) में मलत्याग करना सब से मंगलजनक है। अगर ऐसी सुविधा न हो, तो टट्टी में ही जाना उचित है; परन्तु इस बात को सदा ही स्मरण रखना चाहिए कि, अनेक व्यक्ति जिस टट्टी में मलत्याग करते हैं, उस में न जाना ही मंगल-जनक है।

सूर्य, जल, गौ की ओर मुख करके मल-मूत्र त्याग करना उचित नहीं है। दिन में उत्तराभिमुख और रात्रिमें दक्षिणाभिमुख होकर इनका त्याग करना चाहिए। मल-मूत्र त्यागने के बाद मल--मूत्रके मार्ग को उत्तम रूप से धो डालना चाहिए यानी शौच--क्रिया उत्तमरूप से होनी चाहिए।

सत्य की रक्षा तथा उन लोगों के मंगल के लिए एक बात मुझे अवश्य ही कहने को विवश होना पडता है। वह बात यह है कि, पश्चिम, दक्षिण और मध्य भारत के यानी बंगदेश के बाहर प्रायः सभी सज्जन मूत्र (पेशाब) क्रिया समाप्ति के बाद, जिस विधि से शौच-क्रिया संपन्न करते हैं, वह विधि न तो स्वास्थ्य के लिए ही मंगल-जनक है, न उससे धर्म की ही रक्षा होती है! क्योंकि पेशाब के बाद मूत्रद्वार को अच्छी तरह से जलद्वारा धो डालना ही धर्मानुसार तथा चिकित्सा विधि-अनुसारविधि है और इसीसे स्वास्थ्य-रक्षा होती है-इसे ही शौच कहते हैं।

मूत्रद्वार को जलद्वारा अच्छी तरहसे धो डालनेसे शिश्न साफ तथा स्निग्ध रहता है। शिश्न स्निग्ध रहने से सारे शरीर भी स्निग्ध रहता है; क्योंकि सारे शरीर की नाडियों का केन्द्रस्थान यद्यपि नाभिदेश है, तथापि उस विधि से शौच करने से तमाम नाडियाँ स्निग्ध हो जाती है। जल--चिकित्सा के डाक्टरोंने शिश्नस्नान से बडा भारी उपकार बतलाये हैं। परन्तु हम अगर बिना जल-चिकित्सा ही इस विधि को काम में लेंगे तो, हमें वैसा ही फललाभ होता है। परन्तु मेरे हिंदुस्थानी भाई पेशाब करने के बाद सिर्फ हाथ धो डालते हैं, शिश्न नहीं धोते; अतः इससे क्या लाभ होता है, यह समझ में नहीं आता। अतएव मैं अपनी सुधी भाइयों को इस विषय में सोच-- विचार करने के लिए अनुरोध करता हूँ।

मल-त्याग के बाद मिट्टी से बायें हाथ को कम से कम दश बार धो डालना चाहिए। मुझे पञ्जाब और काश्मीर में रहनेवाले भाईयों में अनेक सज्जनों को साथ मिलने का मौका मिला है। वे दाहने हाथ से मलद्वार को साफ करते और बताते हैं कि, यही उन के देश का कायदा है। पता नहीं उन के देश में यही विधि चालू है या नहीं। परन्तु जितने सज्जनों से मेरी भेट हुई है, उन सब की यही हालत देखने में आई, चाहे वे कितने ही विद्वान् तथा धनवान् प्रतिष्ठित क्यों न हो। वे जरा भी सोच-विचार नहीं करते हैं कि, जिस हाथ से भोजन किया जाता है, खाना पकाया जाता है, तथा पुजार्चना आदि शुभ मंगल-जनक काम किए जाते हैं, उसी हाथ को क्यों शौचकार्य में लगाया जाय? बाये हाथ की सृष्टि का क्या मतलब है? शौचादि कार्य के लिए बायाँ हाथ है, एवं पूजनादि शुभ-शुद्ध मंगल-जनक कामों के लिए दाहिना हाथ है। अतः मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि, इस विषय में जरा विचार तो करें।

राजपूताना और मध्य भारत के कई राज्यों में राजा-महाराजा के महमान होने के बाद एक रोज मुझे सुनने में आया कि, कईएक दारोगा, (जो देशी राज्यों में राजाओं के खास नौकर होते हैं) बैठकर आपस में बात-

चीत कर रहे हैं कि, 'देखो खाने-पीने, लेने-देने आदि किसी भी काम में सीधा हाथ मत लगाओ, वरन् ये सब काम करते वख्त सदा ही उल्टा हाथ काम में लाओ।' तब उस में से एकने पूछा है कि, 'इस का मतलब क्या है?' दूसरेने जवाब दिया कि, 'नौकरी बडा ही घृणा का काम होता है। फिर मैं जिसके पास नौकर हूँ, वे तो सदा ही हमें बुरी तरह से देखते तथा घृणा करते हैं। अतः हमें चाहिए कि, उन्हें भी हम घृणा की दृष्टि से देखें। घृणा की दृष्टि से देखने और उन का अपमान करने के लिए सिर्फ इस काम के सिवाय दूसरा हमारे हाथ में क्या है? सुतरां मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि, इस विषय में हमेशा सावधान रहें।'

इस ढंग से वे लोग आपस में अनेक वार्तालाप करते हैं। परन्तु हमें यह देखना चाहिए कि, इस का मतलब क्या है? अतः उस प्रान्तवाले सज्जनों से प्रार्थना करता हूँ कि, वे यदि अपने अपने नौकरों का ऐसी बुरी शिक्षा से उद्धार करें, तो यह दोनों तरफ में अच्छा होता है। एक तो वे घृणा की दृष्टि से सेवा करने के कारण उल्टे पाप में गिरते हैं। मालिक इच्छा करे, तो समझा-बुझाकर उसे ये पाप से मुक्त कर सकते हैं। दूसरी ओर बायें हाथ से भोजनादि देना अपवित्र हैं, अतः उस अपवित्रता से भी मुक्त हो सकता हैं। अतः सुधी विचारवान् सज्जनों से इस विषयमें विचार करने के लिए अनुरोध करता हूँ।

उपर्युक्त अनेक प्रदेश के सज्जन तो टट्टी के बाद मिट्टी से हाथ तक नहीं धोते हैं, इस बात मुझे प्रत्यक्ष रूप से देखने को आई है। अस्तु। ×

× × × ×

शौच से आकर पहिले हाथ में मट्टि लेकर हाथ, पैर, मुख-मण्डल, मुखगह्वर आदि अच्छी तरह साफ करें।

गुह्यादि मलमार्गाणां शौचं कांतिबलप्रदम्।
पवित्रकरमायुष्यमलक्ष्मीकलिपापहृत॥
प्रक्षालनं मतं पाण्योः पादयोः शुद्धिकारणम्।
मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं राजसापहं॥

(चरक-संहिता)

गुह्यादि मल-मार्ग शुद्ध रखने से शरीर कांतियुक्त और बलिष्ठ (बलवान्) होता है। अलक्ष्मी और कलि का पाप दूर हो जाता है। हाथ और पैर को धोनेसे शरीर शुद्ध तथा निर्मल होता है, श्रांति (थकावट) दूर हो जाती है, तथा यह शरीर के लिए वृष्यजनक, चक्षु के लिए हितकर और पित्तदोष का नाशक है।

इसके बाद दाँतुन करना चाहिए।

भक्षयेद्दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्।
कनिष्ठिकाग्रवत् स्थूलमृज्वग्रंथि तथायतम्॥
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन तु।
दंतधावनचूर्णेन दंतमांसन्यबाधयन्॥

(भाव-प्रकाश)

बारह अंगुल लम्बा, कनिष्ठा (छोटी) अंगुली की भाँति मोटा, सरल, ग्रंथि-शून्य, नरम, दाँतुनके अग्रभागस्थ कुँचीसे धीरे धीरे एक-एक के हिसाब से दाँत का घर्षण करे, एवं दंतशोधन चूर्ण + से दाँतों के मांसपर चोट न पहुँचे, इस तरह से दाँत को साफ करें।

नीम का दाँतुन करना सब से श्रेष्ठ है; अगर वह न मिले, तो कदम्ब तथा खदिर काष्ठ आदि से भी कर सकते हैं। दाँतुन करते समय बात-चीत करना उचित नहीं है। दाँतुन करने के बाद मुख-गह्वर को अच्छी तरह से जल-द्वारा धो डालने के बाद किसी भी धातु से बनी हुई जीभी द्वारा धीरे-धीरे जिह्वा का मल साफ कर फिर जल से अच्छी तरह से धो डालना चाहिए। इसके बाद मुख के भीतर जितना जल आ सके, उतना जल लेकर मुख को बन्द करो। (क्रमशः)

× गुजरात और दक्षिण के सज्जन इस लेख पर विशेषरूप से ध्यान दें। यह कहने लज्जा आती है, कि इन देशों में मलत्याग के बाद मट्टी से हाथ धोने की रीवाज नहींसा है। (-रमापति मिश्र।)

+ दन्त-शोधन चूर्ण बनवाने की विधियां तथा वीर्यसंबंध पर अनुभवी फलप्रद औषधियाँ का विवरण देखना हो, तो "ब्रह्मचर्य-साधन" नामक पुस्तक देखना कर्तव्य है। वह पुस्तक सदाचार के लिए भी बहुत ही लाभदायक है। सनातन धर्म की जडभूमि भी कहा जा सकता है। प्राप्तिस्थान-सारस्वत-आश्रम, पोस्ट हालिशहर (Halisahar) २४ परगना, बंगल, ई० बी० आर०।

ब्राह्मण।

(क्या थे, क्या हुए हैं, क्या होंगे ?)

(५)

(लेखक- श्री० रायसाहब श्रीभारतचन्द्र चौधरी, बी० ए०, विद्यावारिधि, सिलहट)

[अनुवादक- श्री० विद्यालङ्कार श्री शिवनारायण शर्मा, माइथान- आगरा]

शिवजी ने मेखलाक्रिया को एक मन्त्र में परिणत करके कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में कहा है-

ब्रह्मादिकीटपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्त्मना।
निःश्वासोच्छ्वासरूपेण मन्त्रोऽयं विद्यते प्रिये ॥

क्रिया करने से जाना जायगा कि यह आभ्यन्तरीण मेखला भी त्रिरावृत्त है और वह इसकी कटि लपेटकर चलती है। इसी से इसका नाम मेखला है। क्रिया कुछ कठिन नहीं हैं, आठ वर्ष का बालक इसे अनायास आयत्त कर सकता था, और सिखाने से अब भी कर सकता है।

मेखलाक्रियाद्वारा क्या फल होता है, वह मन्त्र में कहा गया है। प्रथम तो मेखला दुरुक्त को सब तरफ से रोकती है। ब्राह्मण-कर्म का आभ्यन्तरिक प्रयोग कौशल समाज से लोप हो जाने पर लोग केवल पाण्डित्य से मन माना अर्थ मंत्रों का करने लगे हैं। परन्तु तत्त्वपिपासु सरल मन पाण्डित्यपूर्ण अर्थज्ञान को समझ नहीं सकता। क्रियानुगत असल अर्थ इस प्रकार है-

वेद में सर्वत्र " भावि " धातु का अर्थ जैसे पोषण है, वैसे ही 'वच्' धातु का मौलिक अर्थ स्पन्दन है। स्पन्दन-तत्त्व (Vibration) को लोग यूरोप का आविष्कार समझते हैं। योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण का उत्तर भाग पढने से उनकी यह धारणा दूर हो जायगी। वसिष्ठजीने अति स्पष्ट भाव से कहा है कि, जगत् स्पन्दन-समष्टि है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के पचीसवें अध्याय में भी यह तत्त्व विशेष भाव से वर्णित है। मेखलामन्त्र में " उक्त " शब्द का अर्थ स्पन्दन और दुरुक्त शब्द का अर्थ- मन्दजातीय स्पन्दन है।

जगत् जिस ताल पर स्पन्दित होकर शृङ्खला (order) और सामञ्जस्य (harmony) रखकर चलता है, वही सुस्पन्दन वा सूक्त है, और तालभङ्ग होने से वह दुःस्पन्दन वा दुरुक्त है। हमारे शरीर के परमाणु जब तक फुस् फुस् हृत्पिण्ड आदि विभिन्न यन्त्रों का सामञ्जस्य रखकर जगत् स्पन्दनके ताल पर स्पन्दित होता है, तब तक हम निरोग रहते हैं। इस ताल का व्यतिक्रम होने से ही हम बीमार हो जाते हैं, हमारी देह में दुरुक्त वायुः स्पन्दन उपस्थित होता है और सूक्त पुनः प्रतिष्ठित हुए विना निरोग हो नहीं सकता। अतएव दुरुक्त पीडा और सूक्त स्वास्थ्य है। काम-क्रोधादि जब तक शान्त रहते हैं, तब तक कामदेह का स्वास्थ्य रहता है। कामक्रोधादि के विजातीय स्पन्दन से कामदेह में दुरुक्त उपस्थित होता है और वह स्थूल देह और मानसदेह पर संक्रामित होकर सूक्त नष्ट कर देता है।

इसीसे कामक्रोधादि को रिपु कहा जाता है। मानस-देह में जब तक सूक्त रहता है, तब तक मस्तिष्क निर्मल रहता है; चिन्ता गवेषणा, भावग्रहण आदि अनायास आनंदपूर्वक निष्पन्न होते हैं और मानस देह में दुरुक्त उपस्थित होने से बुद्धि नहीं खिलती, दूसरे का भावग्रहण करने में कष्ट होता है, अस्वस्थ मन की अस्थिरता-वश किसी प्रकार गंभीर चिन्ता में निविष्ट नहीं हुआ जाता। प्राणापान-सहयोगसे सम्पादित मेखला-क्रिया-द्वारा स्थूल, काम और मानस इन तीनों देहोंमें ही दुरुक्त वा दुःस्पन्दन-बाधा को प्राप्त होते हैं। मानसदेहपर्यन्त मेखला का अधिकार " देवी " इस विशेषण-द्वारा सूचित होता है, क्योंकि " दिव् " का अर्थ स्वर्लोक है। कुपथ्य भोजन के कारण जिसकी देह में दुरुक्त आने लगा हो, वह यदि मेखला-क्रिया करे, तो उसे सब तरफसे बाधा प्राप्त होगी। क्रोधद्वारा त्रिदेह-व्यापी दुःस्पन्दन उत्पन्न हो, तो

मेखला-क्रिया-द्वारा वह शान्त हो जायगा। किन्तु मेखला दुरुक्त को सिर्फ बाधा दे सकती है। उसे सम्पूर्ण निवारण नहीं कर सकती। यदि कोई यह समझ कर बार बार दुष्कर्म करे कि, मेखलाद्वारा हम हटा लेंगे, तो काम नहीं चलेगा। तथापि मेखला-क्रिया-द्वारा स्थायी रोग की शान्ति से सर्वदा देखते हैं। मेखला-क्रिया मूलतः एक है, किन्तु तदनुगत और भी ६५ प्रकार के तदनुगत अनुष्ठान निर्दिष्ट हैं, उन विभिन्न अनुष्ठानों से विभिन्न रोगों की शान्ति होती है। रोग-चिकित्सा की इस प्रणाली का प्रयोग करके सदा विस्मयजनक फल प्रत्यक्ष करते हैं।

मेखला पवित्र वर्ण को और भी पवित्र करती है। जिनका काम-देह शुक्लवर्ण है, वे बिचारें कि मेखला-क्रिया की उन्हें क्या आवश्यकता है? उनका कामदेह तो स्वाभाविक भावसे ही शुद्ध है, परन्तु मेखला सब वर्णों के कामदेह को पवित्र करती है। काम के चार जुदे जुदे वर्ण केवल उसके श्रेणीगत उत्कर्ष अपकर्ष का परिचायक है। सब वर्णों के कामदेह में ही काम-क्रोधादिगत मलिनता है। मेखला उस मलिनता को दूर करती है। शाल रेशमी वस्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठ होनेसे क्या मलरहित रह सकती है? उसे भी परिष्कार करना होता है। शुक्ल कामदेहधारी ब्राह्मण भी भावगत मलिनतारहित नहीं हैं, मेखलाद्वारा उनको भी वह मलिनता दूर करनी होगी, अतएव मेखला चरित्रगत आध्यात्मिक उन्नति की भी सहायक है।

मेखला हमारी भगिनी है। मैं कौन हूं? जगत् का गूढ तत्त्व समझने के पूर्व हम साधारण बुद्धि से आत्मा का दो प्रकार का विकाश लक्ष्य कर सकते हैं- एक श्वास-प्रश्वास, दूसरा शुक्र। जब तक श्वास है, तब तक मैं हूं। श्वास न रहने से मैं नहीं। दूसरी तरफ शुक्र ही मैं हूं। ब्रह्मचारी माणवक सब से पहले शिक्षा पाता है कि, शुक्र सदा रक्षितव्य है। जो शुक्र नष्ट करता है, वह आत्मघाती है। शुक्र सुरक्षित रहने से देह में बल, मन में उत्साह, कर्म में उद्यम, प्राण में स्फूर्ति रहती है। जो शुक्र नष्ट करता है, सब प्रकार की निर्जीवता आकर उसे ग्रास करती है। अतएव श्वास-प्रश्वास और शुक्र एकही प्राणकी सन्तान हैं। माणवक ब्रह्मचर्य ग्रहण कर शुक्र के साथ अपने को अभिन्न समझने का उपदेश पाता है, अतएव श्वासप्रश्वास-रूपिणी मेखला उसकी भगिनी हुई। मेखला शब्द स्त्रीलिङ्ग होने से उसे भगिनी कहा गया। विशेषतः क्रियाद्वारा जाना गया कि, मेखला भगिनी की भांति, शुक्र और ब्रह्मचारीकी सेवा करती है।

" सु वा शुभ जनयित्री होने से मेखला सुभगा है।"

ब्रह्मचारी उपनयन के दिन ही मेखला-क्रिया सीखता है। यह क्रिया अनेक मंगल उत्पन्न करनेवाली है। इस से विशेष भावसे कामदेह की विशुद्धि होती है। फिर उस के फल से ब्रह्मचारी क्रमशः जितेंद्रिय और आसक्तिशून्य होता जाता है। जिस इंद्रियास्वीनता और आसक्ति के प्रभाव से हम संसार में पदपदपर अनायास साध्य स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास-क्रियाद्वारा ब्रह्मचारी उन दोनों दुर्दमनीय दोषों को सहज में परिहार कर सकते हैं। मेखला-द्वारा और भी एक उपादेय अवान्तर फल प्राप्त होता है। इस क्रिया के अनुष्ठान के समय ब्रह्मचारी के अज्ञातसार में उस के मणिपूर अनाहत और विशुद्ध चक्र स्पन्दित होकर कामदेह में अनुभूतिकेन्द्र गठन करते रहते हैं। इस से क्रमशः माणवक की सूक्ष्मानुभूति उत्पन्न होती रहती है। फिर दण्डक्रियाद्वारा भुवर्लोक और स्वर्लोक में दृष्टि खिलती है। इस प्रकार की शक्ति का प्राप्त होना वेदाध्ययन के लिये परम आवश्यक है।

क्यों? वह भी कहते हैं। पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षागार में नाना प्रकार के यन्त्रादि मौजूद रहते हैं। जिस यंत्र की सहायता से जिस प्रणाली से जो सत्य आविष्कृत हुआ था, वैसे ही यन्त्र की सहायता से उस सत्य की आविष्कारप्रणाली छात्रों को दिखाई जाती है। ऋषिलोग यंत्र निर्माण नहीं करते थे, वे देहयन्त्र की सहायता से आत्म-शक्ति का विकाश कर के बाह्य यंत्रों का असाध्य फल प्राप्त करते थे। वर्तमानकाल में डुस् वा (Cascade) कास-केड यंत्र की सहायता से कोष्ठबद्धता का मल निकाला जाता है। इस देशके योगियोंपर यंत्र नहीं थे। वे प्राणायाम-बल से अन्तर्धौति करते थे। उससे यंत्र की अपेक्षा उत्कृष्टतर फल होता था। वर्तमान काल में अणुवीक्षण की सहायता से सूक्ष्म वस्तुएं देखी जाती हैं, किन्तु अबतक ऐसा शक्तिशाली अणुवीक्षण (खुर्दबीन) निर्मित नहीं हुआ कि, जिस के द्वारा रासायनिक परमाणु दृष्टिगोचर

हो सकें। ऋषिलोग मेखलादि क्रियाद्वारा सूक्ष्म-दृष्टि-शक्ति का विकाश कर के परमाणु से भी सूक्ष्मतर कामलोक, स्वर्लोक आदि जगत् के प्रत्यक्ष तथ्य अनुसन्धान करते थे।

सूक्ष्मानुभूतिद्वारा जो सत्य जिस भाव से आविष्कृत होता था, शिष्य में सूक्ष्मानुभूति उदित कर उसी भाव से उस सत्यकी आविष्कारप्रणाली वे शिष्य को सिखा देते थे। सूक्ष्मानुभूति न रहने से वेदपाठ नहीं चलता, क्योंकि प्रत्येक मन्त्र के देवता और छन्दः सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए, सूक्ष्मानुभूति आवश्यक है। पाश्चात्य देश में जो सत्य आविष्कृत होते हैं, वे असम्पूर्ण होने से 'वेद' कहे जानेयोग्य नहीं, क्योंकि देवता और छन्दः आविष्कृत नहीं होते। न्यूटनने माध्याकर्षण तत्त्व आविष्कृत किया था, किंतु देवता और छन्दः अनाविष्कृत होने से अब तक कभी कोई यह नहीं कह सका कि, माध्याकर्षण क्यों है? केवल है, इतना ही जानते हैं। वेदाध्ययन उपनयनक्रिया के अन्तर्गत नहीं है, इसके लिए पृथक् आभ्युदयिक करने की व्यवस्था है। मेखला और दण्ड क्रियाद्वारा सूक्ष्म दृष्टि खुलने से वेदाध्ययन आरम्भ होता था। आजकल तो हम समावर्तन तक एक बैठक में समाप्त कर लेते हैं। पक्षी के मुख से जैसे ही नाम होता है, वैसा ही हमारे मुख से वेदपाठ होता है। वेद के लिए चिल्लाने से कुछ फल नहीं। वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है। ज्ञान के मार्ग पर चल सकने के बिना, केवल मन्त्र पढकर क्या होगा? ब्राह्मण्य का मार्ग फूलोंकी शय्या नहीं है। जिन क्रियाओं के फल से ब्राह्मण्य विकाश पाता है, वे सब स्वाभाविक होने के कारण सहजसाध्य हैं। किंतु सङ्कल्प की दृढता न रहने से पदपदपर पथभ्रष्ट होना सम्भव है। अतएव कुश या मूञ्ज की बनी हुई मेखला पर सन्तुष्ट रहने काम नहीं चलेगा; अविचलित प्रतिज्ञा के साथ प्राणापान से बनी हुई मेखला लेनी होगी। बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी न कर सकने से ब्राह्मणोंका कल्याण नहीं है।

यज्ञोपवीत मेखला का रूपांतरमात्र है, किंतु तथापि यह ऊर्ध्व स्तरकी क्रिया है। मेखलाका अर्थ है वेष्टन और उपवीत का अर्थ भी वेष्टन है, किंतु यज्ञोपवीत जगत् के आदियज्ञसम्भूत है। ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्चिका १० अध्याय, पञ्चम खण्ड में कहा गया है- 'यह यज्ञ देवताओं का रथस्वरूप है।' इस से यज्ञ की प्रकृति मालूम हो जाती है। इंद्रियादि के अधिष्ठातृ देवता यज्ञ-रूप रथ के आश्रय से अपना अपना कर्म पूर्ण करते हैं। अग्नि में समिक्षेप से यज्ञ का अवयव है। समित् क्या? ऐतरेय ब्राह्मण द्वितीय पञ्चिका, षष्ठ अध्याय, चतुर्थ खण्ड में लिखा है- 'समित् प्राण हैं।' यह जो कुछ है, प्राण ही उन शरीरजात पदार्थों का समिन्धन (प्रकाश) करते हैं। इसके द्वारा प्राण ही प्रसन्न करना, एवं यजमान में प्राण की प्रतिष्ठा करना है। उस ब्राह्मण की प्रथम पञ्चिका, द्वितीय अध्याय, प्रथम खण्ड में प्रायणीयेष्टि विधान व्यवस्थित हुआ है। गूढार्थ-जिज्ञासु होकर इसे पढने से यज्ञ आदि और भी स्पष्ट होंगे। एक स्थल उद्धृत करता हूं,- 'प्राण वायु प्रायणीय, उदान उदयनीय, समान वायु होता है। प्राण और उदान उभय में अभिन्न हैं। उस कर्मद्वारा, प्राण की सामर्थ्य उत्पन्न होती है, प्राण का विषय ज्ञान उत्पन्न होता।' सायण कहते हैं, अपूर्वक ई धातुसे प्रायणीय शब्द बना है- प्रयांति अनेन-प्रकृष्ट रूप से गमन करें (स्वर्ग में), जिसके द्वारा, उसका नाम प्रायणीय है।

यज्ञ बाहरकी वस्तु है या भीतरकी, इस विषयमें अब और सन्देह रहनेकी बात नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ में प्राण का प्रथम स्पन्दन ही आदि यज्ञ है। वह क्रिया सर्वदा जीव-देह में अपने आप चलती है। यह 'प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्' यह प्रजापतिके अग्रगामी होकर एकसाथ उत्पन्न हुई थी। इस स्वाभाविक प्राणक्रिया के साथ मेखला-क्रिया सङ्गत होने से मेखला स्वभावतः यज्ञोपवीतमें परिणत हो जाती है। इसके लिए पृथक् चेष्टा नहीं करनी होती। मेखला-क्रिया की यह स्वाभाविक परिणति है। इस कारण पारस्कर गृह्यसूत्र में यज्ञोपवीत ग्रहण की पृथक् व्यवस्था नहीं है। केवल इतना ही उल्लेख है कि, आचार-रक्षाके लिए इसे ग्रहण करें।

अब दण्डक्रिया की बात कहते हैं। दण्डग्रहण आभ्यन्तरिक क्रिया है। पलाश की शाखा का बना हुआ दण्ड उस क्रियाका चिह्नमात्र है। दण्डग्रहणके मंत्रमें कहा है कि, इस क्रियाके द्वारा आयु, ब्रह्म और ब्रह्मवर्चस् प्राप्त होता है। वेदमें पलाश को ब्रह्मवर्चस् का चिह्नस्वरूप (Symbol) ग्रहण करना कहा है। इसी से पलाश दण्डग्रहण की

व्यवस्था है। प्रमाणस्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण, द्वितीय पञ्चिका, षष्ठ अध्याय, प्रथम खण्ड से त्रिवेदी महाशय का बंगानुवाद उद्धृत करता हूं, यथा– ' तेजस्काम और ब्रह्मवर्चस् काम पलाश का यूप करे। पलाश ही वनस्पतियों में तेजःस्वरूप और ब्रह्मवर्चस् स्वरूप है। जो यह जान कर पलाश का यूप करता है, वह तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्-युक्त होता है। '

दण्डग्रहण का मंत्र माणवक को पढना चाहिये। क्योंकि क्रिया उसी को करनी है। मन्त्र यह है—

यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्यां।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥

अर्थ– शून्यसे उत्पन्न हमारा जो दण्ड भूमि का अधिकार कर सम्यक् पतित हुआ था; आयु, ब्रह्म और ब्रह्मवर्चस् पाने के उद्देश्य से उसे मैं फिर ग्रहण करता हूं।

पलाशदण्ड वैहायस् वा आकाशोत्पन्न नहीं है, विशेषतः उसे ग्रहण करने के पूर्व ' हमारा दंड ' कहने का कारण नहीं। ' एवं हमारा जो दंड भूमि को अधिकार कर पडा था, ' यह बात पलाशदंड पर किसी प्रकार नहीं घट सकती। अतएव समझना चाहिये कि, किसी आभ्यन्तरिक क्रिया पर मंत्रार्थ लक्ष्य करता है और पलाश दंड उस का बाह्य प्रतिभूरूप से व्यवहृत होता है। मंत्र का अर्थ यथासम्भव व्याख्या करता हूं।

दंड का अर्थ है मेरु। प्रसिद्ध ' मेरुदण्ड ' शब्द रूपक कर्मधारय है। पृथिवी का मेरु पृथिवी का आश्रय है। शरीर के मेरुदण्ड का आश्रय कर के शरीर है। जगत् की सब वस्तुओं में दृश्य वा अदृश्य भावसे मेरुदण्ड होता है। मेरुदण्ड का आश्रय किये विना कोई वस्तु टिक नहीं सकती। मेरु निरालम्ब गति है। जिस कुंडलिनी शक्ति को इंग्रजी विज्ञान spiral motion कहता है, उस का फल भूलोक में प्रकटित होने पर भी मूल ऊर्ध्व लोक में अवस्थित है। अंगुरीय (अंगूठी) माला की भांति कुंडलिनी दीर्घायत गति ही मेरुदंड है।

यह कुंडलायित गति निरालम्ब होने से उसे वैहायस् कहा जाता है। शरीर में मूलाधार भूलोक, स्वाधिष्ठान भुवर्लोक, मणिपूर स्वर्लोक इत्यादि केंद्रविभाग हैं। जब जीव मातृ-गर्भ में रहता है, तब उसे त्रिभुवन का ज्ञान रहता है। क्योंकि तब उस की दण्डरूपिणी कुंडलिनी मूलाधार, मणिपूर और स्वाधिष्ठान इन तीनों चक्रों को जाग्रत रखती है। मूलाधारस्थ कुंडलिनी से भूर्लोक का, स्वाधिष्ठानस्थ कुण्डलिनी से भुवर्लोक का और मणिपूरस्थ कुंडलिनी से स्वर्लोक का ज्ञान उत्पन्न होता है।

जीव भूमिष्ठ होने पर उस की कुंडलिनी की क्रिया मूलाधार में सीमाबद्ध हो जाती है, इसी कारण वह भुवर्लोक और स्वर्लोकसम्बन्ध में सचेत नहीं रह सकता। मातृगर्भ में रहते समय, जो जीव को दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पुराणों में कहा गया है। भूमिष्ठ होते ही जब श्वास चलने लगा, त्योंही कुंडलिनी की क्रिया मूलाधार में आरब्ध हुई। इस को कहा गया है कि, जो मेरा दंड भूमिपर अधिकार कर के पतित हुआ था, इस से पहले तीन चक्रों पर उस का अधिकार था। मूलाधार पक्ष पृथिवी वा भूमिस्वरूप है, उस में पृथिवी बीज (लँ) जप करते हैं। हमारे शरीर के सर्वांश के प्रत्येक परमाणु में कुंडलिनी की क्रिया है, किन्तु वह क्रिया ' हमारी ' कुंडलिनी वा दंड की क्रिया नहीं है। प्रत्येक परमाणु का पृथक् दंड वा मेरु है, अतएव प्रत्येक परमाणु की पृथक् कुंडलियाँ रहेंगीं। हमारे शरीर के फुस् फुस् हृत्पिण्ड, यकृत आदि विभिन्न यंत्र हैं।

पाश्चात्य विज्ञान में प्रमाण किया है कि, प्रत्येक यंत्र एक एक जीव है। फिर प्रत्येक यंत्र असंख्य जीवकोषोंद्वारा निर्मित और प्रत्येक जीवकोष असंख्य परमाणुगठित है। एक मनुष्य-समाज में बहुत से परिवार पृथक् रह कर भी समाज का एक जीवन गठिन कर लेते हैं। विभिन्न व्यक्तियोंद्वारा परिवार गठित है, ये व्यक्ति अपनी अपनी अभिलाषानुसार जीवन गठन करते हैं। उसी तरह शरीरस्थ यंत्र स्वाधीन जीवन निर्वाह कर के भी समष्टि से शरीर का जीवन पोषण करते हैं। खुर्दबीन (अणुवीक्षण) द्वारा देखा गया है कि, प्रत्येक यंत्र के उपादानभूत अगणित जीवकोष स्वाधीन भाव से चलते फिरते और आत्मजीवनरक्षा की चेष्टा में व्यस्त हैं; तथापि उन की स्वाधीनताकी जो सीमा है, उसके द्वारा यंत्रका जीवन पुष्ट और रक्षित होता है। अनेक जीवकोष मरकर शरीरच्युत होते हैं और नूतन जीवकोष उत्पन्न होकर उन के स्थान पर

अधिकार करते हैं। इस कारण यंत्रका जीवन समान भाव से ही चलता है।

विश्व में सर्वगत इस सृष्टिकौशल का ध्यान करने से विश्वेश्वर की भक्ति से हृदय भर जाता है। किन्तु कहा था कि, व्यष्टिजीवन का पृथक् पृथक् मेरु वा कुंडलिनी रहने से उस की जैसी स्वाधीनता है, वैसे ही समष्टिजीवन के कुण्डलिनीद्वारा नियंत्रित होनेसे, उस की स्वाधीनता की सीमा निर्दिष्ट है। प्रत्येक यंत्र का स्वाधीन जीवन रहने पर भी समग्र शरीर की जो स्वकीय कुंडलिनी है, उस के द्वारा उस का स्वाधीन जीवन नियंत्रित और सीमाबद्ध है। शरीरस्थ प्राणकेन्द्रस्वरूप विभिन्न चक्रों का भूर्भुवः आदि विभिन्न लोकों के साथ योग है और कुंडलिनी विभिन्न केंद्रों में क्रियाशालिनी होने से विभिन्न लोकों में दृष्टि खुलती है। ये केंद्र कल्पित नहीं हैं। पाश्चात्य विज्ञानने उन में कई एक का आविष्कार कर के उन का Plexus नाम रक्खा है। (षट् चक्रनिरूपण में इन का विस्तार से वर्णन है। अनुवादक)

दण्ड ग्रहण करने का उद्देश्य यह है कि, उसकी सहायता से कुण्डलिनी को क्रम से ऊर्ध्वचक्र में उठाकर भुवः आदि लोकोंका ज्ञान प्राप्त करना होगा। दण्डक्रिया मेखलाक्रिया का ही सम्प्रसारण (विस्तार) है। वर्तमान शिक्षा में जिस तरह पाठ्य विषय के स्तर पर स्तर शृङ्खला-बद्ध भाव से सुसज्जित हैं, ब्राह्मणों की अध्यात्मशिक्षा में भी उसी तरह क्रमविन्यस्त वैज्ञानिक प्रणालीबद्ध स्तरविभाग थे। मेखलाद्वारा प्राण और अपान का तत्त्व जानकर दण्डक्रिया द्वारा प्राणापान के आश्रयभूत निरालंब गतिपर पहुंचने की व्यवस्था थी। दण्डक्रियाद्वारा ब्रह्मचारी अन्ध भाव से एक निरालंब गतिके आश्रय से शक्ति खिला सकते थे, किंतु उस गतिका केन्द्र जो कुल और सूत्रात्मा है, उसे नहीं जान सकते थे। कुलगत शिक्षा गार्हस्थाश्रम में प्रारम्भ होती थी।

मेखला-क्रिया-द्वारा तीन वस्तुएं प्राप्त की जाती हैं- (१) आयु, (२) ब्रह्म और (३) ब्रह्मवर्चस्। आयु का अर्थ है। जीवन दण्डक्रिया से जीवनी शक्ति बढती है। एक चक्र में आबद्ध जीवन है, अन्यान्य चक्रों में प्रसार पाता है। ब्रह्म का अर्थ है। वेद वा ज्ञान यह साधारण ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान मन से मन में सञ्चारित है, जो हृदय में अपने आप उत्पन्न है, वह ज्ञान ही वेद वा ब्रह्म है। 'तेने ब्रह्महृदय आदि कवये' [यत् यस्मिन् ब्रह्माणि वेदे, सूरयः (ब्रह्मादयोऽपि) मुह्यन्ति (मोहिता भवन्ति तत्) ब्रह्म (वेदं) आदि कवये (ब्रह्मणे) हृदा (मनसैव, सर्वान्तर्यामित्वेन तत् सम्भवात्) तेन (प्रकाशितवान्)] यह भागवत की उक्ति याद कीजिये। सायणने ब्रह्मवर्चस् शब्द का अर्थ 'वेदाध्ययनसम्पत्ति' किया है। वर्तमानकाल में जो अर्थ करते हैं, वे पाठमात्र ही करते हैं, अध्ययन नहीं कर सकते। आचार्यके अभावमें वेद का अध्ययन हो नहीं सकता। हृदय के द्वारा ग्रहण वा देवताज्ञान और छन्दोज्ञानसहित मन्त्रार्थ की सम्यक् अनुभूति ही अध्ययन है। मेखलाक्रिया और दण्डक्रिया द्वारा सूक्ष्मानुभूतिशक्ति उदित होने से वेदाध्ययन का अधिकार उत्पन्न होता है। इस प्रकार अध्ययन के फल से, जो ज्ञान सम्पत्ति सञ्चित होती है, उसी को ब्रह्मवर्चस् कहते हैं।

दण्ड एक आभ्यन्तरिक क्रिया है, पलाशशाखा नहीं है, यह बात अब स्पष्ट समझ में आ गई होगी। अब **गायत्री ग्रहण का विषय** अति संक्षेप में कहते हैं। क्योंकि गायत्रीतत्त्व की आलोचना हमारे जैसे अज्ञ का कर्म नहीं है, विशेषतः यह तत्त्व गुह्यातिगुह्य है, अतएव प्रकाशयोग्य नहीं है। गायत्रीमन्त्र ब्राह्मणेतरजातीय अनेक जन पुस्तकों में देखकर समझते हैं कि, ब्राह्मण लोग जिस वस्तु को अब तक गोपन रखकर सब की आंखों में धूल डालकर समाज के ऊपर प्रभुत्व करते थे, बडे सौभाग्यवश आज वह सर्वसाधारण की सम्पत्ति हो गई। किन्तु गायत्री क्या कभी साधारण की सम्पत्ति हो सकती है? जिन कुछ अक्षरों से गायत्रीमन्त्र ग्रथित है, वे अक्षर तो गायत्री नहीं हैं।

गायत्री वेदमाता है, वह सावित्री है। गायत्री-मन्त्र-योग से ध्येय जो भर्ग है, क्या आजतक उसका पता पाया है? जो इस विषय में स्वाभाविक अधिकार संग्रह कर सकते हैं, उनके निकट तो वेदमाता अपने आप प्रकाशित होती है, उससे गायत्री को छिपानेका अधिकार और शक्ति किसकी है? (पक्षान्तर से) ब्राह्मणों में भी ऐसे अनेक होंगे, जो भर्ग शब्द का व्यवहार करने से वे हमारा

तिरस्कार करेंगे, जो भी गायत्री को अक्षरात्मक समझनेवाले होंगे। गायत्री बहुत दिन से मुद्रित आकार में प्रकाशित हुई है, किन्तु ऐसा हमने कोई नहीं सुना कि जिसने उसके द्वारा (विना सद्गुरुसहायता के) तत्त्वानुसन्धान पा लिया हो। असल अधिकारी आचार्य कृपापूर्वक तत्त्वानुसन्धान का मार्ग यदि न दिखा दें, तो हमारा विश्वास है कि कोई भी इस मार्ग पर नहीं चल सकेगा।

गायत्री छन्द और गायत्री मन्त्र है। ऐतरेय ब्राह्मण की तृतीय पञ्चिका त्रयोदश अध्याय में सोमहरण आख्यायिका है। उसमें राजा सोम को आहरण करने के लिये जगती, त्रिष्टुप् और गायत्री छन्द, देवता और ऋषियों द्वारा प्रेरित हुए थे। उन में जगती और त्रिष्टुप राजा सोम तक नहीं पहुंच सके। दीक्षा और तपस्या को आहरण करके जगती लौट आया और त्रिष्टुप् दक्षिणा ले आया। गायत्री छन्दः ने राजा सोम को आहरण किया था। राजा सोम ही भर्ग-स्थानीय है। ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्मनाल में गायत्री छन्द से सोमधारा प्रवाहित होती है। इस सोमधारा के साथ समावर्तन के समय परिचय होता है और गृहस्थाश्रम में उसकी साधना होती है। किन्तु राजा सोम का ध्यान ब्रह्मचर्याश्रम में करना चाहिये। राजा सोम ही सविता-देवता का भर्ग-स्वरूप है। आचार्य की कृपा से ब्रह्मचारी उसका स्थूल सन्धान पाकर गायत्रीद्वारा उस भर्ग को ध्यान करने का अधिकार प्राप्त करे। योगी याज्ञवल्क्य ने सवितासम्बन्ध में कहा है-

> हैरण्यं मण्डलं दीप्तं तपोज्ञान समुद्भवम्।
> एवं द्वादशधाभिन्नमदितिस्तमर्जाजनत्॥
>
> यस्योदबादुत्थितो मेरू रुधिरात् सप्त सिन्धवः।
> पर्वताश्च जटायुस्था नद्यो धमनी सम्भूताः॥

इत्यादि।

मेरु आदित्य के उत्थान से उत्थित है, इस कारण दण्ड-क्रिया के साथ- " आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्, " उस भर्ग का सम्बन्ध है।

आदित्य तपोज्ञानसमुद्भव मण्डल है, उससे मेरु का जन्म है। मेरु को अवलम्बन करके दण्ड-क्रिया सम्पन्न होती है। दण्ड-क्रिया मेखला का सम्प्रसारण है। शिक्षा के स्तरविभाग कैसे सुविन्यस्त थे, अब आप उन्हें समझ लीजिये। अब योगी याज्ञवल्क्य की उक्ति स्मरण कीजिये-

> हृदाकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते।
> स एवादित्यरूपेण बहिर्नभसि राजते॥

अतएव प्रत्येक मनुष्य में आदित्य है और उस में स्थित भर्ग का अवलम्बन कर के गायत्री कर्म कहते हैं। गर्भ-वस्तु आचार्य माणवक को प्रत्यक्ष कराकर गायत्री की ध्यान-क्रिया सिख देते हैं।

> चिन्तयामो वयं भर्ग धियो यो नः प्रचोदयात्।
> धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्ती पुनः पुनः॥

भर्ग, उपनीत ब्रह्मचारी के लिये अनिर्देश्य तेजमात्र नहीं है। आचार्य की कृपा से ब्रह्मचारी भर्ग का वस्तुत्व प्राप्त कर के उस की चिंता में मग्न हो सकता है। आदित्यान्तर्गत प्राणज्योतिः किस रूप में जीव और उद्भिद के जीवकोषद्वारा गृहीत होती है, उस समय वह उसे प्रत्यक्ष कर सकता है। जीवकोषद्वारा गृहीत वह गर्भ किस तरह बुद्धिवृत्तियों को विभिन्न विषय में नियोग करता है, उसी के ध्यान में ब्रह्मचारी एक अननुभूतपूर्व आनन्द की तरंगों पर तैरता चलता है। उपनीत ब्रह्मचारी को जगत् एक नूतन आकार में दिखाई देता है। पूर्व जो वृक्ष वा लता-मात्र थीं अब ये भर्ग के एक विशेष क्रीडाक्षेत्र में परिणत हुई हैं। भीतर कामदेहादि के संस्कारवश ब्रह्मचारी का जो द्विजत्व उत्पन्न हुआ है, उस के आश्रय से भर्गज्ञानने उस के निकट जगत् की मूर्ति ही बदल दी है। वेदारम्भ के पूर्वतक ब्रह्मचारी समित् संग्रह और गुरु का गोचारण करता फिरता था। ब्रह्मचर्याश्रम के करणीय कर्म चार भागों में विभक्त हैं। भागवत तृतीय स्कन्ध द्वादश अध्याय ४२ श्लोक में कहा है—

> सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा।

(१) गायत्री अध्ययन कर के भर्ग परिचय और ध्यान कौशल आयत्त करने में जो समय लगे, वह ब्रह्मचर्याश्रम का सावित्र भाग है। (२) व्रतादि आचरण कर के मेखला और दण्डक्रिया की सहायता से भुवर्लोकादि में जो अनुभूति खुलने में समय लगता है, ब्रह्मचर्याश्रम के उस भाग का नाम प्राजापत्य है। (३) मंत्रार्थ की अनुभूति की सहायता से वेदाध्ययन में जो समय करता

था, वह अंश ब्राह्म भाग कहा जाता था, एवं (४) ब्रह्मचर्याश्रम के जिस शेष अंश में मन्त्रार्थ की समालोचना और सामञ्जस्यविधान कर के विप्र-बुद्धिको विपरीत-बुद्धि दुरीकरणद्वारा ब्रह्मनिष्ठा पाने की चेष्टा चलती थी, उसे बृहत् कहते थे। ब्रह्मचर्याश्रम के प्राजापत्य भाग में समित् संग्रह और गोचारणादि कार्यनिर्वाहके समय भर्गानुसन्धान चलता था। माणवक वन में गायें छोडकर वृक्षलतादि से भर्ग की क्रिया प्रत्यक्ष करते करते आनन्द में मग्न होते थे। तब उन की सूक्ष्मानुभूति खिलना आरंभ होती थी। भर्ग-क्रीडा देखते देखते यदि कोई अंश दुर्बोध्य होता, तो वह तुरन्त दौडकर आचार्य के समीप जाते और उसे समझकर फिर गोचारण में लौट आते।

अनेक लोग समझते हैं कि, ब्रह्मचर्याश्रम के नियम बडे कठोर थे। प्राचीन ग्रीस के स्पार्टा देश के शिक्षा-नियम के साथ तुलना करने पर वह कह सकते हैं कि, ऐसी कठोरता भी एक प्रकार की असभ्यता है। वर्तमानकाल में ब्रह्मचर्याश्रम का नियम-पालन निर्दयता में गिना जायगा। जो ऐसा समझते हैं, वे शरीर सर्वस्व है, शरीर से अतिरिक्त कुछ आनन्द है।

जिसके प्रभावसे शारीरिक स्वाच्छन्द्य पर लोगोंकी दृष्टि भी नहीं पडती, उसकी वह चिन्ता नहीं करते। आहारसंबंध में दुग्ध और अन्नका अभाव ब्रह्मचारियोंको नहीं होता। वे प्रचुर फल खा सकते थे। दुग्ध और फल, या यह सबसे उत्तम खाद्य है, इसे पाश्चात्य-चिकित्साविज्ञान भी स्वीकार करता है। डाक्टर लोग क्षयरोगी को केवल दुग्ध और फल खाते रहने की व्यवस्था से दुश्चिकित्स्य रोग बिना औषध के अच्छा करते हैं। अतएव ब्रह्मचारियों को आवश्यक उपादेय खाद्य का अभाव नहीं था और जो प्राण के आनन्द में विभोर होते हैं, वे रसना के तृप्तिजनित आनंद को ग्राह्य ही नहीं करते। जिनका उच्चतर श्रेणीके सुखभोग में अधिकार नहीं है, वे ही केवल आहार और शय्याद्वारा श्रमकृष्ट (तुच्छ) सुख पाने की चेष्टा करते हैं। स्वास्थ्य के पक्ष में ब्रह्मचारी की भूमिशय्या अति उत्कृष्ट व्यवस्था है। पाश्चात्य डाक्टर लोग भी आजकल नंगे पैर कुछ देर टहलनेकी व्यवस्था देने लगे हैं। कारण कि धरतीमाता के साथ सम्बन्धरहित होकर हम विलासिता-धात्री की गोद में मातृहीन शिशु की भांति निर्वीर्य हो जाते हैं। वर्तमान सभ्यता की कृत्रिमता अनेक प्रकार से हमारा कितना अनिष्ट करती है, उस का हम अभी अच्छी तरह अनुभव नहीं कर सके हैं।

ब्राह्मणों की शिक्षा किस प्रकार की थी, वह संक्षेप में वर्णित हुई। यदि स्वाभाविक शक्ति का विकाश ही शिक्षा का उद्देश्य है, तो इस ब्राह्मणों की शिक्षापद्धति की अपेक्षा जगत् में उत्कृष्टतर और किसी का कभी आविष्कार हुआ था, ऐसा पाश्चात्य विज्ञान के इतिहास में नहीं पढा। वर्तमानकाल में जो शिक्षाकार्य पर नियुक्त हैं, वे जानते हैं कि, छात्रोंकी ब्रह्मचर्यरक्षा कैसा कठिन व्यापार है। जिस वस्तुके प्रभावसे शरीरमें बल, मनमें उत्साह और कर्म में स्फूर्ति आती है, विलासिताके प्रभावसे उसे नष्ट कर खिले हुए फूल जैसे बालक कीडोंके खाये कुसुमकी तरह अकाल में ही झर पडते हैं। अकाल मृत्यु, रोगों की प्रसारवृद्धि, रुग्ण सन्तान उत्पन्न, इत्यादि का क्या यही एक मूल कारण नहीं है? ब्रह्मचर्याश्रम जब सुप्रतिष्ठित था, तब इन विषयों की चिन्ता का कारण मूल से ही रोक दिया जाता था।

ब्रह्मचर्याश्रम का मूल उद्देश्य था गृहस्थाश्रम की उपयोगिता प्राप्त करना। गृहस्थाश्रम साधना का क्षेत्र है, इस साधना के लिये जिस सामग्री की आवश्यकता है, वह ब्रह्मचर्याश्रम में संगृहीत होती थी। वेदाध्ययनद्वारा जगत्-रहस्य जान कर अखण्ड ब्रह्मचर्य-अवस्था में परिणीत होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

(३)

ब्राह्मणों की साधना।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व समावर्तन-क्रिया से गार्हस्थ्य-तत्त्व जाने जाते हैं। पूर्व कहा है कि, गृहस्थाश्रम-साधना का क्षेत्र है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रकृति से ब्रह्मचारी भर्गतत्त्व का पर्यवेक्षण करके उसका स्वभाव जानते थे, किन्तु भर्ग को स्वकार्य में परिणत करने की प्रणाली कुछ नहीं जान सकते थे। वह कौशल समावर्तन के समय आचार्य की कृपा से जाना जा सकता था। मेघ की गोदमें बिजली खेलती-फिरती है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर

कोई व्यक्ति आकाश में मेघ उठते ही घर से बाहर निकले और विद्युत् का खेल देखकर आनन्दित हो, तो भी वह विद्युत् को किसी संसार के कार्य में नियोग करने का अधिकार नहीं पावेगा।

विद्युत् के साहचर्य से वह कवि हो सकता है, दोचार विद्युत् विषयक रचनायें भी कर सकेगा, किन्तु इसके द्वारा विद्युत् कभी उसके वश में न आवेगी। यदि विद्युत् को आयत्त करना चाहोगे, तो यन्त्र निर्माण करके यन्त्रमें विद्युत् को जमा करना होगा। फिर उसको कार्य व्यवहार करना भी सीखना होगा, तब उसे इच्छानुसार कार्य में लाने का अधिकार प्राप्त होगा। यन्त्र में आबद्ध बिजली आजकल हम को उज्ज्वल प्रकाश देती है, ग्रीष्मकाल में पङ्खा चलाती है, गाडी और ट्राम खींचकर मानव की अधीनता स्वीकार करती है। उसी तरह आदित्यान्तर्गत भर्ग की पार्थिव क्रीडा प्रत्यक्ष करके ब्रह्मचारी कवित्व प्राप्त और आनन्द भोग कर सकते हैं। किन्तु कुलोत्कर्षसाधन, सूत्रात्मा की उन्नति आदि कर्म में उस का नियोग करने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सकते।

इन उद्देश्यों के साधन के लिये भर्ग को जिस यन्त्र में आबद्ध करना होता है, वह यन्त्र स्त्री है। समावर्तन के समय गुरुकृपा करके यह यन्त्र निर्माणकौशल सिखा देता है और शिष्य विवाहित होकर भर्ग को स्वायत्त करने की साधना में प्रवृत्त होता है। आचार्य ने उसको ब्रह्मसदन पर उपनीत किया था, स्त्री की सहायता से अब वह 'परिणीत' होता है। वैदिक युग में 'परिणय' शब्द अन्वर्थ था। स्त्री सहधर्मिणी है, उसके साथ मिलन का नाम 'उद्वाह' है। वह मिलन यौवन सम्मिलनमात्र नहीं है, यह प्राण के साथ प्राण का, त्वक् के साथ त्वक् का, अस्थि के साथ अस्थि का सम्मिलन है। इस सम्मिलन के फल से कुल और सूत्रात्मा पुष्ट और शक्तिसम्पन्न होकर क्रमविकाश-मार्ग में जीवात्मा का उद्वहन करता है।

स्त्रीपुरुष का जो स्वाभाविक आकर्षण है, वह दूष्य नहीं है, किन्तु उस के अपव्यवहारवश दूष्य हुआ है। प्रत्येक मनुष्य में देवभाव, मनुष्यभाव और पशुभाव विद्यमान हैं। दयादाक्षिण्यादि देवत्व के, शौचसंयम आदि मनुष्यत्व के, एवं आहार, निद्रा, मैथुन आदि पशुत्व के परिचायक हैं। देवत्व और मनुष्यत्व के लक्षण हम में कुछ रहने से उन्हें हम लोक-समाज में प्रचार के लिये जैसे व्यस्त हैं, वैसे ही पशुत्व के लक्षण छिपाने में भी हमारा आग्रह है, इसी कारण 'औदरिक' 'कुम्भकर्ण' आदि शब्द गाली-वाचक हो गये हैं। तथापि पशुभाव मानवप्रकृति का अंश है, इस से उस का ध्वंस करना केवल असम्भव नहीं, बल्कि उस की चेष्टा भी अवश्य अनिष्टकर है।

अतएव पशुभाव को क्रमशः मनुष्यभावमें, फिर धीरेधीरे देवभाव में परिणत कर लेते हैं। कोई कर्म स्वतः पाप-जनक नहीं, परन्तु जिस उद्देश्य से वह किया जाता है, वह उद्देश्य ही उस का पापजनकत्व वा पुण्यजनकत्व निर्णय करता है। मान लीजिये कि कोई बालक क्षीर खाता है। यदि आत्मरसना की तृप्ति करना ही उस का एकमात्र उद्देश्य हो, तो यह कर्म पशुभाव के अंतर्गत हुआ और यदि जीवनधारण मात्र लक्ष्य कर के उस प्रयोजन से खीर भोजन करे, तो यह मनुष्यभाव है। किन्तु माता वा अन्य कोई स्नेहकारी व्यक्ति प्रसन्न हो, ऐसा समझ कर यदि बालक भोजन करे, तो उसने देवभाव का कर्म किया।

समावर्तन के मंत्रों की व्याख्या करने का अवकाश नहीं है। पंडित पाठक उन मंत्रों के अर्थ विचारने पर देखेंगे कि, उन में माल्यादि विलासद्रव्य ग्रहण करने में विलासिता का उद्देश्य बिलकुल वर्तमान नहीं है बल्कि उस के परिवर्तन में आत्मोन्नति की साधना में इस का सद्व्यवहार लक्षित हुआ है। माल्य-ग्रहण का लक्ष्य श्रद्धा, मेधा आदि है। छत्र-ग्रहण का उद्देश्य यश और तेज समादान है। पादुका-ग्रहण का प्रयोजन गतिविरोधी पदार्थ से अपनी रक्षा इत्यादि है। सांसारिक कर्ममात्र को आध्यात्मिक उन्नति के सोपान-स्वरूप कर डालना ही गृहस्थाश्रम की साधना है। आहार, निद्रा, मलत्याग, सन्तानोत्पादन आदि सब जिस प्रकार धर्म अङ्ग होकर क्रमोन्नति की सहायता करें, ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त ज्ञान और शक्ति के प्रभाव से शिक्षित गृहस्थ ऐसे भाव से सब कर्म सम्पादन करते थे। किन्तु गार्हस्थ्याग्नि की सहायता से कुल साधन ही उन का एकमात्र लक्ष्य रहता था और संसार के अन्यान्य कर्म कुलसाधना के अनुकूल भाव से सम्पन्न करते रहनेसे, वे सब कर्म धर्म के अंग हो जाते थे।

अष्टाध्यायीकी अन्वर्थक संज्ञाएं।

(लेखक- श्री० धर्मराज वेदालङ्कार, उपाध्याय व्याकरण, गुरुकुल-कांगडी)

शास्त्रमें संज्ञाएँ दो प्रकारकी होती हैं-कृत्रिम और अन्वर्थक। कृत्रिम संज्ञाएं वे हैं, जो किसी विशेष शास्त्रके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए थोडे अक्षरोंसे बनी होती हैं। इन संज्ञाओंमें प्रकृति प्रत्ययके आधारपर कोई अर्थ नहीं होता, प्रत्युत किसी विशेष उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर कोई खास अर्थ कृत्रिम रूपसे इन संज्ञाओंके साथ जोड दिया जाता है। प्राचीन सूत्रग्रन्थोंमें लाघवके हेतुसे इस तरहकी एक अक्षरसे बनी कृत्रिम संज्ञाएं स्थानस्थानपर उपलब्ध होती हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायीमें भिन्नभिन्न अक्षरसमुदायोंकी प्रत्याहार सूत्रोंके द्वारा अण् झल् जश् खर् आदि कृत्रिम संज्ञाएं इसलिये स्वीकार की गई हैं, ताकि बार बार उन सब अक्षरोंको न दोहराना पडे और इन संक्षिप्त शब्दोंसे ही काम बन जाए। इसी प्रकार लघुताको ही लक्ष्यमें रखकर शुक्लयजुःप्रातिशाख्यमें भी विविध वर्णसमुदायोंकी सिम् जित् सुत् धि आदि कृत्रिम संज्ञाएं की गई हैं।

कृत्रिम संज्ञाओंका मुख्य प्रयोजन लाघव तथा संक्षेप है। **'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'** इस उक्तिके अनुसार लाघव प्राप्त करने के लिए वैयाकरण क्या क्या नहीं कर सकते! लेकिन अपना अर्थ साक्षात् सूचित न करनेवाली घि घु घ टि भ आदि एकाक्षर-संज्ञाओंके अतिरिक्त पाणिनीय अष्टाध्यायीमें अन्य कितनी ही लम्बी लम्बी संज्ञाएं हैं, जिनका अर्थ आसानीसे कुछ समझमें नहीं आता। महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिका दृढ मत है कि जिन संज्ञाओंका प्रकृति प्रत्ययके आधारपर कोई अर्थ नहीं निकलता, अर्थात् जो रूढ संज्ञाएं हैं और अन्वर्थक नहीं हैं, उनका अक्षरपरिमाण लघुतम होता चाहिये, क्योंकि संज्ञाएं शास्त्रमें लघुता लानेके लिये ही बनाई जाती हैं। अगर कोई संज्ञा लघु न होकर महती है, तो उसे अवश्य अन्वर्थ या यौगिक संज्ञा होना चाहिये। महाभाष्यकारने निम्न वाक्यों को हूबहू इन्हीं शब्दों में बीसियों बार दोहराया है—

" महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्या, संज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम् अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत।"

अष्टाध्यायीमें एक अक्षरसे अधिक परिमाणवाली संज्ञाओंकी संख्या ७५के लगभग है। इनमेंसे करीब २५ तो ऐसी हैं, जिनकी अन्वर्थकता प्रदीपके प्रकाशके समान स्पष्ट एवं प्रसिद्ध है। शेष ५० संज्ञाएं बडी हैं और नियमानुसार उनका कोई योगार्थ हो सकना चाहिये, किन्तु अष्टाध्यायीका स्वाध्याय करनेवालोंके सामने वे प्रायः रूढ और कृत्रिम संज्ञाओंके समान व्युत्पत्तिमूलक अर्थको स्पष्ट नहीं करतीं। वस्तुतः ध्यानसे देखा जाय तो इनमें कोई न कोई यौगिक अर्थ निःसन्देह उपलब्ध हो सकता है। परन्तु जैसा कि सर्वत्र संज्ञाओं और वस्तुओंके नामोंके विषयमें होता है, वह अर्थ कालक्रमसे किन्हीं विशेष वाच्य पदार्थोंके साथ सीमित हो गया है। पारिभाषिक शब्दोंमें कहें, तो ऐसा कह सकते हैं कि इन संज्ञाओंकी अन्वर्थकता इनके योगरूढ होनेमें है। अब हम क्रमशः एक एक संज्ञाको लेकर उसके अर्थको स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे—

१. षट्- यह संज्ञा जिन प्रातिपदिकोंकी होती है, उनकी संख्या ६ है- षट् पञ्चन् सप्तन् अष्टन् दशन्। संज्ञी ६ होने से संज्ञाका नाम ही 'षट्' हो गया है। लोकमें इससे विपरीत व्यवहार यह है कि ४ को अम्बुधि, ५ को भूत, ७ को अश्व, ८ को वसु, ९ को ग्रह और १२ को आदित्य कहते हैं।

२. सार्वधातुकम्- ' धातोः सर्वेषु लकारेषूपतिष्ठते।' तिङ् और शित् प्रत्ययोंकी सार्वधातुक संज्ञा होती है। तिङ् प्रत्यय धातुसे आगे हरेक लकारमें आते हैं, जब कि आर्धधातुक प्रत्यय लुट् लट् लङ् आदि किन्हीं खास लकारोंमें ही आते हैं।

३. आर्धधातुकम्- ' धातोरर्धेषु केषुचिदेव लकारेषूत्पद्यन्ते। ' यहां 'अर्ध' शब्द एकांशवाची है। आर्धधातुक प्रत्यय आधे अर्थात् कुछेक लकारोंमें ही आते हैं।

४. सर्वनाम- ' सर्वेषां नाम ' । सर्व विश्व उभय आदि सर्वनाम शब्द विषेशण के रूपमें किसी भी नाम (Noun) के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं।

५. सर्वनामस्थानानि- ' सर्वाणि नामानि प्रातिपदिकानि भपदसंज्ञाकृतविकारेभ्यो रहितानि तिष्ठन्ति येषु सुप्सु तानि सर्वनामस्थानानि।' इस शब्दमें 'करणाधिकारणयोश्च' इस सूत्रसे अधिकरण अर्थमें ल्युट् प्रत्यय समझना चाहिये। ' सुडनपुंसकस्य ' से सु औ जस् अम् औट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है और इन ५ सुपडोंको छोडकर ही 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' तथा ' यचि भम् ' पदसंज्ञा और भ संज्ञा करते हैं, इसलिए सर्वनामस्थान प्रत्ययोंके परे होनेपर भ और पदसंज्ञासे होनेवाले विकार नहीं हो सकते।

६. गुणः- ' गुणीभूता अव्यपवर्गेण स्थिता वर्णा यत्र।' अ ए ओ की गुणसंज्ञा होती है। जिस प्रकार गुण गुणीमें घुलेमिले होते हैं और गुणीसे पृथक् रूपमें नहीं दिखाई देते, इसी प्रकार जिन दो वर्णोंको गुण एकदेश होता है, वे वर्ण गुण अक्षरमें अलग अलग उच्चारण किए जाते हुए प्रतीत नहीं होते। देव+ईश्वरः= देवेश्वरः यहां अ और ई के स्थानमें ' ए ' हुआ है, इस गुणरूप ए में अ और इ का समावेश अवश्य है, लेकिन दोनों का पृथक्त्व या व्यपवर्ग नहीं है। ए में दोनों हैं, इसका प्रमाण यह है कि अ इ कण्ठ्य और तालव्य हैं, गुण ए के कण्ठ और तालु दोनों ही उच्चारणस्थान हैं। ए में अ इ की ध्वनि गुणीभूत या गौण हो जाती है। इसके विपरीत वृद्धि अक्षरोंमें यह बात नहीं होती। ऐ और औ ऐसे सुनाई देते हैं जैसे ये 'अइ' और 'अउ' हों। यदि किसीको गुजराती अखबार देखनेका सौभाग्य हो, तो उसके लिए यह बात अच्छी तरहसे प्रमाणित हो सकती है। कई गुजराती वैधानिक को ' वइधानिक ' और ' औद्योगिक ' को ' अउद्योगिक ' लिखते हैं।

७. निपाताः- ' येऽकस्मादेव नितरां पतन्ति, नैव व्युत्पाद्यन्ते। ' निपातोंको धातुसे आगे प्रत्यय आदि लाकर सिद्ध नहीं किया जाता, इनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं होती, ऐसा लगता है, मानो अचानक कहींसे आकर गिर पडे।

' निपातन ' शब्दका अर्थभी इससे मिलता है। जो कार्य वैधानिक प्रक्रियासे सिद्ध न होकर एकदम हो जाता है, उसे निपातन कहते हैं।

८. उपसर्गः- 'उपेत्य धातुं विविधान् अर्थान् सृजति'। जो धातुके पास जाकर विभिन्न अर्थोंकी सृष्टि करे। प्रसिद्ध श्लोक है—

> उपसर्गेण धात्वर्थो बलाद् अन्यत्र नीयते।
> प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

९. गतिः- ' गमयन्त्यर्थान्तरं पदानि, गम्यते वार्थान्तरमनया '। गतिसंज्ञक शब्द पदोंके अर्थोंको बदल देते हैं अथवा इनसे उनका नया अर्थ प्रतीत होने लगता है। उपसर्ग भी गतिसंज्ञक होते हैं- उनसे किस प्रकार अर्थ बदलता है, यह अभी देख चुके हैं। ' ऊरीकृत्य ' अन्तर्हत्य ' ' साक्षात् कृत्य ' ' अलं कृत्य ' इत्यादि स्थलोंमें भी गतिसंज्ञक ऊरी अन्तर साक्षात् और अलम् अपने साथ की धातुके अर्थको नवीन रूपमें प्रकाशित कर रहे हैं।

११. सम्प्रसारणम्- ' सम्प्रसारण ' का स्पष्ट अर्थ है ' फैलाना ' य् व् र् ल् को क्रमशः इ उ ऋ ऌ करना सम्प्रसारण कहाता है। य् व् र् ल् व्यञ्जन होनेसे अर्धमात्रिक हैं, इ उ ऋ ऌ स्वर होनेसे मात्रिक हैं। यदि आधी मात्रावाले के स्थानपर पूरी मात्रावाला वर्ण आ जावे, तो इस प्रकार पहले की अपेक्षा सम्प्रसारण या फैलाव हो जाता है।

१२. अङ्गम्- प्रत्यय परे होनेपर प्रकृतिकी अङ्ग संज्ञा होती है। प्रकृति और प्रत्ययमें अङ्गाङ्गीभाव है, दोनोंमें प्रत्ययका प्राधान्य है। इस अवस्थामें अङ्गी प्रत्ययको ही माना जा सकता है। शेष प्रकृतिको प्रत्ययरूपी अङ्गीका अङ्ग मानना पडेगा।

१३. कृत्- ' करोतीति कृत् ।' ' कृ ' धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर यह शब्द बनता है। इसका अर्थ है 'कर्ता'। कृत् प्रत्यय ' कर्तरि कृत् ' से ' कर्ता ' अर्थमें होते हैं। ' कर्ता ' अर्थमें होनेवाले प्रत्ययोंका नाम भी कर्त्रर्थक ' कृत् ' शब्द होना उपयुक्त ही है।

१४. कृत्याः- ' क्रियत इति कृत्यः, करणं वा कृत्यम् '। इस शब्दको ' विभाषा कृवृषोः ' से भाव अथवा कर्ममें क्यप् करके सिद्ध कर सकते हैं। भाव और कर्ममें बने

हुए प्रत्ययान्त शब्दोंका 'कृत्य' प्रतिनिधि है, अतएव भाव और कर्ममें होनेवाले प्रत्ययोंका नाम भी 'कृत्य' रख दिया गया।

१५. प्रातिपदिकम्- 'पदे पदे भवम् प्रतिपदम्, तदेव प्रातिपदिकम्, स्वार्थे तद्धितप्रत्ययः'। रामः रामौ रामाः' इत्यादि सब रूप सुवन्त होनेसे पद हैं, इन सब पदोंमें राम प्रातिपदिक समान रूपसे विद्यमान है।

'प्रतिपदा चन्द्रतुल्यं शब्दरूपं प्रातिपदिकम्' यह अर्थ भी हो सकता है। प्रातिपदिक प्रतिपदाके चन्द्रके तुल्य है। जिस प्रकार प्रतिपदाका चन्द्रमा सूर्यकी किरणोंसे वृद्धिको प्राप्त होता है, इसी प्रकार सुपोंके आनेसे प्रातिपदिकके रूप भी बढते जाते हैं।

१६. कर्मधारयः- 'कर्म गुणं धारयतीति।' गुण और क्रियाके द्वारा व्यक्तिकी विशेषताका बोध होता है। कर्म क्रियावान् का विशेषक होता है। विशेषकत्व सामान्यसे कर्म और गुण पर्यायवाची हैं। इसीलिये निरुक्तमें गुणशब्दोंको 'कार्मनामिकानि' कहा गया है। 'नीलोत्पलम्' कर्मधारय समास है, यह 'नील' इस गुणवाची शब्दको धारण करता है।

'पूर्वोत्तरपदे यस्मिन् समासे युगपत् कर्म धारयतः' ऐसाभी अर्थ किया जा सकता है। कर्मधारय समासमें विद्यमान विशेषण और विशेष्य दोनोंका, अन्वय कर्म या क्रियाके साथ इकट्ठा होता है।

१७. द्वन्द्व- 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इस सूत्रसे निपातन करके यह शब्द सिद्ध होता है। यहां अर्थों में एक अर्थ अभिव्यक्ति भी है। 'महाभाष्य'में 'अत्यन्तसहचरितत्वेन लोकविज्ञानम्' 'ऐसा अभिव्यक्तिका अर्थ लिखा है। द्वन्द्वसमास उभयपदार्थप्रधान माना जाता है। इसमें पूर्वपदार्थ तथा उत्तरपदार्थ दोनोंकी अभिव्यक्ति- लोकविज्ञान या प्रतीति अत्यन्त साथ साथ या युगपत् होती है। इसलिये इसे द्वन्द्व कहना ठीक है। अन्य समासोंको द्वन्द्व इस लिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें से किसी में पूर्वपदार्थ (अव्ययी भाव), किसीमें उत्तरपदार्थ 'तत्पुरुष' और किसी में अन्यपदार्थ (बहुव्रीहि) प्रधान होता है, इसलिये इकट्ठी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

१८. तत्पुरुषः- इस पदके दो विग्रह किये जा सकते हैं, (१) 'तस्य पुरुषः' (२) 'स पुरुषः'। पहले विग्रहके अनुसार यह समास साधारण तत्पुरुष है और दूसरे विग्रहके अनुसार कर्मधारय तत्पुरुष। तत्पुरुषके ये ही दो मुख्य प्रकार हैं। दोनोंका प्रतिनिधि 'तत्पुरुष' शब्द है, अतएव उपलक्षित समासका नाम भी 'तत्पुरुष' हुआ।

१९. बहुव्रीहिः- 'बहवो व्रीहयो यस्य'। इस शब्दमें स्वयं अन्य पदार्थकी प्रधानता है। अन्य-पदार्थ-प्रधान-समासका प्रतिनिधि होनेसे यह उपलक्षित समासकी संज्ञा भी हो सकती है।

२०. अव्ययीभावः- 'अनव्ययम् अव्ययं भवति'। अव्ययीभाव समासकी अव्यय संज्ञा होती है। 'कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्' यहां कृष्ण जो पहले अव्यय नहीं था, समासमें आकर अव्यय बन गया है।

२१. द्विगुः- 'द्वाभ्यां गोभ्यां क्रीतम्, क्रीतार्थे ठकोलुक्'। यहां 'तेन क्रीतम्' यह तद्धितार्थ है, इसके अतिरिक्त यह शब्द संख्यापूर्वभी है। 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इन दो सूत्रोंके आधार-पर तद्धितार्थमें होना तथा संख्यापूर्व होना द्विगुसमासकी विशेषताएं हैं, ये दोनों विशेषताएं द्विगुमें विद्यमान हैं, अतएव इस समासका नाम यह उचित ही है।

२२. तद्धिताः- 'तस्मै हितम्' इत्यादि अर्थोंमें जो प्रत्यय हों, वे तद्धित कहलाते हैं। प्रसिद्ध अर्थको लेकर सेबका नाम पड गया है। पञ्चमाध्यायमें प्रत्यय हैं और वे सभी तद्धित हैं। इस अध्यायमें सबसे पहले 'तस्मै हितम्' यह अर्थ है, इसलिए भी तद्धित प्रत्ययोंका तद्धित नाम हो गया होगा।

२३. प्रत्ययः- 'प्रत्याय्यते प्रत्याययति वा प्रत्ययः' कर्मसाधन और कर्तृसाधन दोनों प्रकारका इस शब्दको भाष्यकारने माना है। 'अविकः' आदिमें जहां प्रत्यय स्वार्थिक है और प्रकृतिके द्वारा प्रत्ययार्थकी प्रतीति होती है, वहां प्रत्यय का कर्मसाधन अर्थ है। अन्यत्र जहाँ प्रत्यय प्रकृतिके अर्थको बतलाता है, वहां प्रत्यय शब्द कर्तृसाधन है।

प्रातिशाख्योंमें 'प्रत्यय' शब्दका अर्थ 'पर' है। प्रत्ययभी प्रकृतिसे परे होता है, इस आधारपर भी प्रत्ययकी अन्वर्थकता है।

२४. अभ्यस्तम्- 'ददति' में 'ददा' की 'उभे अभ्यस्तम्' के अनुसार अभ्यस्तसंज्ञा है। लोकमें दोहराने को अभ्यास कहते हैं, तो जो शब्दसमुदाय दोहरानेके बाद उत्पन्न हुआ हो, उसे 'अभ्यस्त' कहेंगे।

२५. उपधा- 'उपधीयते'। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' अन्तिम वर्णसे पहला वर्ण उपधा संज्ञक होता है। इसका कारण यह है कि वह 'उपधीयते' अन्तिम वर्णके पास रखा हुआ होता है।

२६. पदम्- 'पद्यते गम्यतेर्थोऽनेन'। सुबन्त और तिङन्त होनेपर ही शब्द अर्थका बोध करता है, इसलिये 'सुप्तिङन्तं पदम्' ऐसा कहा गया है।

२७. कारकम्- 'क्रियाया निर्वर्तकम्'। क्रियाको निष्पन्न करानेमें जो सहायक हो, वह कारक होता है। कर्ता, करण, संप्रदाय, अधिकरण, अपादान आदि सब क्रिया के होनेमें किसी न किसी प्रकार सहायक होते हैं।

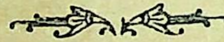
२८. कर्मप्रवचनीयाः- इस संज्ञाकी अन्वर्थताके विषयमें बालमनोरमाकारने स्वयं ही लेखनी उठाई है, अतएव उन्हींके वाक्य उद्धृत करना अच्छा होगा—

"कर्मप्रवचनीया इति महासंज्ञाकरणसामर्थ्याद् अन्वर्थत्वम्। कर्मेति क्रियोच्यते, तां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः, भूते कर्तरि बाहुलकाद् अनीयर् प्रत्ययः। ततश्च क्रियामेव न द्योतयन्ति किंतु क्रियानिरूपित सम्बन्धविशेषं द्योतयन्ति।"

'पर्जन्यो जपम् अनु प्रावर्षत्' यहां अनु कर्मप्रवचनीय वस्तुतः 'अनुनिशम्य' के अर्थको बतला रहा है, एवं निशमनरूप कर्म या क्रियाका प्रवचन करनेवाला होनेसे 'अनु' कर्मप्रवचनीय है, क्रियावाचक शब्दकी अविद्यमानतामें 'अनु' केवल क्रियासे निरूपित सम्बन्धका द्योतन करता है।

मुख्य मुख्य अन्वर्थक संज्ञाओंका निर्वचनप्रकार हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। आश्चर्य यह है कि अष्टाध्यायीपर सैकडों ग्रन्थ हैं, परन्तु ५-१० संज्ञाओंके अतिरिक्त अन्य किन्हींकी भी व्युत्पत्ति प्रदर्शित करनेका कष्ट उनमें नहीं किया गया है। इसका कारण एकमात्र यही हो सकता है कि हमारे वैयाकरणोंका ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ, अन्यथा वे तो जैसे तैसे किसी भी शब्दकी निरुक्ति कर ही लेते हैं। निरुक्तके द्वितीय अध्यायके आरम्भमें यास्काचार्यने कहा है- 'न त्वेव न निब्रूयात्' अर्थात् शब्दमें प्रकृतिप्रत्ययको ढूंड निकालना कितनाही कठिण क्यों न हो, लेकिन निर्वचन न करे, ऐसी बात नहीं, निर्वचन हर हालतमें अवश्य करे।

आशा है, विद्वान् समालोचक इस विषयको अपनी सूक्ष्म गवेषणसे उज्ज्वल बनानेका यत्न करेंगे।



"आत्मज्ञानलाभ" अर्थात् "नादानुसंधान" की

अवतरणिका ।

[लेखक– श्री० ब्रह्मचारी श्रीगोपाल चैतन्यदेव, बम्बई ।]

ॐ मन्नाथः श्री जगन्नाथो मद्गुरुः श्री जगद्गुरुः ।
महात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमोनमः ॥

मेरा नाथ ही श्रीजगन्नाथ तथा मेरा गुरु ही श्री जगद्-गुरु है; एवं मेरा आत्माही चराचर विश्वस्थ सर्व भूतों के आत्मारूप होनेका जिन्होंने मुझे अपनी अहैतुकी-अनुकम्पासे अनुभव कराया है; उन जगदाधार भुक्ति-मुक्ति दाता श्रीश्री सद्गुरु महाराजके तरुण अरुण सदृश सुकोमल श्रीश्रीचरणकमलों में बारंबार प्रणाम करता हूं ।

श्रीमन्महर्षि श्रीमत् रमण महाराजने लिखा है, कि—

हृदय-कुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं ।
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति ॥
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा ।
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥

(श्रीरमणगीता)

"हृदय की गुफाके भीतर केवलमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, जो सदा अहम्-अहम् (मैं मैं) के साक्षात् आत्मरूपसे प्रकाशित होता है । उस हृदयमें मनके साथ प्रवेश करो, अपने आत्माको ढूंडो या गहरेमें गोता लगाओ और प्राण निरोध करके आत्मामें स्थित हो जाओ । "

इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है, " आत्मज्ञानलाभ" । यह लययोग के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ एवं सरल मार्ग "नादानुसंधान " है । योगमें जितने प्रकार की क्रियाएँ मुझे श्रीश्री सद्गुरु महाराज की कृपासे प्राप्त हुई हैं, एवं अनेक साधु-सन्तके साथ जिनके विषयमें आलाप आलोचना हुई है, उन सब में से इस मार्ग को समस्त सज्जनोंने मुक्त कण्ठसे उत्तम बताया है। यह मार्ग मुझे गुरुकृपासे ही भली भाँति लब्ध हुआ था । अतः योगसाधनमार्गके अनुयायी आर्त साधकों की उत्कण्ठा की सामान्य निवृत्ति भी हो जाय, इस आशाको लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। इसमें कहाँ तक सफलता मिली है, वह तो सद्गुरु महाराज ही जानें ।

साधन-मार्गमें इससे भी एक सरल मार्ग सर्व जनोंके लिए गुप्त रूपसे किसी-किसी साधक सम्प्रदायमें विद्यमान है, उस मार्गका शुभ नाम "अजपा-जप" है। किंतु अजपा-जपके विषयमें भी नाना मत प्रचलित हैं । शास्त्रोक्ति निकाल कर कदर्थ करके भी अपनी वाणीकी सत्यता की रक्षा करनेवाले अनेक सज्जन मौजूद हैं । उनका मार्ग उत्तम या अधम है, इस विषय पर मैं वादानुवाद करनेमें असमर्थ हूं । एवं हाथ जोड कर इसके लिए क्षमा, प्रार्थना भी करता हूं । किंतु सत्यके लिए लिखने को विवश हूं कि, " अजपा " साधन ही एक ऐसे अनुपम साधन है, जिसकी कृपासे पशुभी मनुष्यत्व, देवत्व तथा ब्रह्मत्व लाभ कर सकते हैं । साधनामें साधक के लिए लाभ होना या न होना, पुस्तककी रचना में अथवा भाषणादिमें या प्रतिष्ठामें नहीं, वह तो अपनी आत्मा की उन्नति-अवनति पर आधार रखता है । सच्चा-मुमुक्षु-साधक तर्कवितर्कादि परित्याग कर, एकांतमें निवास करते हुए स्थिर चित्तसे विचार करें कि, उस साधनामें उसको कितना लाभ हुआ है? उसकी आत्माका स्फुरण हुआ है या नहीं? उसका माया-पाश कहां तक कटा है? सत्यमें वह प्रतिष्ठित हुआ है या नहीं? इन सब बातों का गंभीर विचार करनेसे ही साधक को लाभालाभका परिणाम स्वयं ही ज्ञात हो जायगा ।

उन्नति-शील साधक सत्यमें दृढ प्रतिष्ठित होनेसे, उसे ऐसा अनुभव होगा कि, इस संसारमें जो कुछ हो रहा है, सभी यथाक्रमसे केवल सत्यकाही प्रकाश हो रहा है । सत्य प्रतिष्ठित होनेसे स्वयमेव ही उसका विश्वास इतना दृढ हो जायगा कि किसी भी कारणवश सर्वावस्थामें वह अविचल बना रहता है । चोर लुच्चे आदि किसी प्रतारक का भी वह इतना विश्वास करने लगता है कि, वे (चोर प्रतारक आदि) भी उसके सामने सिर झुकाकर दास बन जाते हैं। ऐसे साधक किसी भी कारणवश पश्चात्ताप नहीं करते । गीताके दूसरे अध्यायमें वर्णित " स्थित-प्रज्ञ " की भाँति

उनकी स्थिति हो जाती है। स्वप्नमें भी वे किसी प्रकारसे विकारग्रस्त नहीं होतेहैं, वरन् साधकको पहले पहलका अनुभव तो स्वप्नमेंसे ही हो जाता है। शुद्ध बुद्धिवाले यम-नियमपारंगत साधक स्वप्न में देवी-देवता का दर्शन, तीर्थ-भ्रमण, सर्वलोकादिका परिक्रमण और सद्गुरु तथा जगद्गुरु का दर्शन पाता है। यह मेरी मनमानी बात नहीं, प्रत्येक साधकके हृदयमें ये सत्य अवश्यमेव प्रतिभात होंगे ही; चाहे वह किसी भी देश का, किसी भी धर्म का, कोई भी जाति का साधक क्यों न हो। सत्य सत्य ही है। वह सर्व देश, सर्व जाति तथा सर्व मानव के लिए सदा सर्वावस्थामें एक ही रूपमें विद्यमान रहता है। अतः साधककी उन्नति-अवनति के लिए उसे किसीके पास पूछने की आवश्यकता नहीं है। यह तो अपने आत्मामें अनुसंधान करनेसे स्वयं ही वह समझ जायगा।

हां, तो अजपा-साधन सद्गुरुकृपासे ही केवल-मात्र लाभ होता है। सद्गुरु साधक के हृदय की अवस्था समझकर किसी किसी भाग्यवान् साधक को ही विशेष अहैतुकी कृपासे यह साधना प्रदान करते हैं, सब को नहीं। यह साधन होती है- साधारणतः श्वासके साथ, श्वासोच्छ्वास के साथ नहीं। अवश्य "सोऽहं" मंत्र अनेक साधक श्वासोच्छ्वासके साथ जप अवश्य करते हैं; किंतु यह क्रिया उससे भिन्न ही है। क्योंकि साधक को पहले-पहल शक्ति सञ्चय करना पडता है। श्वासके साथ जितना मंत्रजप किया जाता है, यदि प्रश्वासके साथ उतना ही मंत्रजप किया जाय, तो आमद-खर्च दोनों बराबर ही हो जायंगे। वरन् स्वाभाविक श्वासोच्छ्वास की गतिसे आमदसे खर्चा ज्यादा हो जायगा। क्योंकि निःश्वासका स्वाभाविक नियम यह है कि:—

प्रवेशे दशभिः प्रोक्तो निर्गमे द्वादशांगुलं। (स्वरोदय)

अर्थात् श्वास लेते समय दश अंगुल परिमाण श्वास अन्दर घुसती है, एवं छोडते समय बारह अंगुल साँस की वायु बाहर निकलती है। अतः जितने मंत्र जपते-जपते श्वास वायु को ग्रहण करेंगे, श्वासपरित्यागके समय जब उसकी गति दीर्घ होती है, तब मंत्रका जपग्रहण से त्यागके समय जादा हो जायगा। अतः उससे क्या लाभ होता है, वे ही साधक जान सकते हैं, जो वैसी साधना में लिप्त होंगे। एक उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करता हूं।

साधारणतः जो प्राणायाम किया जाता है, उसमें पूरक के समय १६, कुंभकके समय ६४, एवं रेचकके समय ३२ मंत्रका जप करने की विधि है। अब आप विचार कीजिए कि पूरक और कुंभक का मंत्र १६+६४=८० शरीरके अभ्यंतरमें प्रवेश हुआ, तथा रेचकके समय आपने ३२ मंत्र का जप करके श्वास छोड दिया, तो आपके शरीरमें मंत्र ४८ की संख्यामें जमा रहा। इस हिसाबसे कितने मंत्र की शक्ति प्रत्येक प्रणायाममें अपने अभ्यंतरमें जमा होती रहेगी, यह आप सरलतासे समझ चुके होंगे।

प्रारंभिक साधकको बाहरकी शक्ति का आकर्षण करना चाहिए। विकीरण नहीं; परंतु सद्गुरु या महापुरुषवर्ग इसके विपरीत प्रणायाम करते हैं। इसका कारण यह है, कि, वे अपनी अफूरंत अपूर्व शक्तिको अपने शरीरसे विकीरण करें साधक सम्प्रदाय को सजीवित करते हैं। यह भी एक प्रकारका शक्तिसञ्चार ही है। यदि इस विषयकी विस्तृत चर्चा की जाय, तो भूमिका ही एक पुस्तकका आकार धारण कर लेगा। अतः विवश होकर यहां शांत होना पडता है।

हां, तो अजपा जपके साधक अपने इष्ट मंत्रका सेतुबंध कर केवल श्वास ग्रहण करते समय ही ताल-तालसे जप करते हैं (एक श्वासमें सिर्फ एक ही बार जप करने पडता है); साथ ही कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हैं। प्रश्वासके समय वे मंत्र जप नहीं करते। इससे एक अहोरात्रमें साधक केवलमात्र २१६०० (इक्कीस हजार छः सौ) बार अजपा जप कर सकता है। यही मानव का स्वाभाविक जप है। फलस्वरूप बहुत ही शीघ्र साधक की कुण्डलिनी शक्ति भी जग जाती है, एवं उसके शरीर के सभी अंगप्रत्यंग, यहां तक कि प्रत्येक अणु-परमाणु भी शुद्ध, सात्विक भावापन्न हो जाते हैं। किसीको सद्गुरु की कृपा से यह साधना प्राप्त हो जाय, तो साधक ६-७ महीने में ही एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है, जो अनौखी, अपूर्व एवं अवर्णनीय होती है। उस साधना में प्राणायामादि कठिन क्रियाएं करनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। थोडे दिन के बाद वह मंत्र साधक के श्वास के साथ ऐसा मिश्रित हो जाता है कि, साधक सदा सर्वावस्था में सर्व कार्य करते हुए भी उसमें चित्त को लगाया

हुआ अनुभव करता रहता है । उसके आत्मा मंत्र जप करता है, वह सुनता रहता है ।

जिस प्रकार वायुके साथ ऑक्सिजेन (oxygen) रहता है, आवश्यक परिमाण में शरीरके भीतर ऑक्सिजेन जानेसे शरीर स्वस्थ और मन पवित्र रहता है, ठीक उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् को पुकारने का जो मंत्र है, उसे सदासर्वदा सर्वावस्था में उस ऑक्सिजेन के साथ शरीरमें प्रवेश कराने से, वह शरीर के अंग-प्रत्यंग में यहां तक कि प्रति अणु-परमाणुमें प्रवेश कर सभी को शुद्ध, पवित्र बना लेता है । जिस प्रकार पवनकी गति चराचर-विश्वमें सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार दश वायुकी गति शरीरके प्रति अंग-प्रत्यंग में विद्यमान है । उसी पवनके साथ मंत्र का संयोग होने से, वह मंत्र आपने आपही शरीरस्थ प्रत्येक अंग प्रत्यंग में पहुंच जाता है, एवं शुद्ध तथा सिद्ध मंत्रके कारण शरीरस्थ अणु-परमाणु भी शुद्ध, पवित्र बन जाता है । तब साधक सर्व दोषों से मुक्त होकर राजा जनक की भाँति संसार में रहते हुए भी मुक्त रहता है । यह अति गुप्त साधना है, एवं विशिष्ट साधक सम्प्रदाय में गुरुपरम्परा यह साधना गुप्त भाव से प्रचलित है और उन्हें लेखबद्ध करके प्रकाश करने की आज्ञा नहीं है । अतः विवश हूं । सुज्ञ पाठक क्षमा करें ।

मानव की चार अवस्थाएँ हैं- जाग्रत, तन्द्रा, निद्रा और सुषुप्ति । एक तुरीयावस्था और है, वह सर्व-साधारण का अनुभव्य विषय नहीं है, उसे ठीकठीक भावसे समझाना भी असंभवसी बात है । अतः उस विषय पर चर्चा ही नहीं करूंगा । अस्तु ।-

जाग्रत अवस्था तो सभी सज्जनके सामने मौजूद है, दूसरी अवस्था है तन्द्रा । तन्द्रा, निद्रा और जाग्रत अवस्था के बीच की अवस्था है, अर्थात् आप सो गये; आपको तन्द्रा लगी । आपके पासमें बैठकर दूसरे व्यक्ति वार्तालाप कर रहे हैं और आप सुन रहे हैं, परंतु आप में उत्तर देनेकी शक्ति नहीं है,—यही तन्द्रावस्था है । तीसरी निद्रा । आप सो गये हों और गहरी नींद आ गई हो, तो आप के पास बैठकर मनुष्य कितना ही वार्तालाप करें, परंतु आपको मालूम नहीं होगा और आप स्वप्न देख रहे हो । यह है निद्रावस्था । चतुर्थ अवस्था सुषुप्ति है । सुषुप्ति भी दो प्रकारकी होती है, जैसा सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि । सुषुप्ति में सविकल्प की अवस्था ऐसी है, कि आप के गहरी नींद (Sound sleep) आ गई हो और आपके पास बैठकर कितने ही व्यक्ति चिल्लावें, या कितने ही शब्द क्यों न हो, वह आपको मालूम ही नहीं होगा और स्वप्न भी दिखाई नहीं देगा । उस अवस्था में आपको अनुभव होगा, आप साधना कर रहे हैं,— आप पूजार्चना या मंत्रादि जप कर रहे हैं । यह सुषुप्ति की प्रथम अवस्था है । ऐसी अवस्था में उसे जगानेसे वह व्यक्ति साधारणतः पागल हो जाता है । इसी कारणसे शायद निद्रित व्यक्ति को जगाने की विधि नहीं है । ऐसी अवस्था उन्नतिशील साधक अथवा अजपासिद्ध व्यक्ति को लाभ होता है- साधारण जीवको नहीं । यह सविकल्प समाधि जैसी अवस्था है । इस अवस्था में साधक कभी कभी यह भी देखता है, कि उसका शरीर साधना या जप में नियुक्त है-वह द्रष्टारूपमें देख रहा है। सुषुप्ति की दूसरी अवस्था ऐसी है कि, जिसमें सुषुप्ति की भाँति साधक को सभी अवस्थाएँ लाभ होने के बाद वह एक अखण्ड ज्योतिः के भीतर ज्योतिःरूप में प्रवेश करके स्वयं लुप्त हो जाता है । उसकी कोई सत्ता ही विद्यमान नहीं रहती; जैसा कि आत्माके साथ परमात्मा का मिलन या पुरुषके साथ प्रकृतिका मिलन होता है । तब वे दोनों एक होकर सत्य स्वरूप में ज्योतिःरूप में विद्यमान रहते हैं । ऐसी अवस्था उस साधक को प्राप्त होती है, जिस की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर चक्रसे चक्रांतर-भेद करती है । इस सुषुप्ति के साथ तुरीयावस्था का प्रत्यक्ष मेल है । किसी किसी साधक की सुषुप्ति ५।७ मिनटही होती है; किंतु वह ५।७ मिनटकी निद्रा ही उसके शरीरकी अवस्था के लिए पर्याप्त होती है । ऐसी सुषुप्ति के बाद जब उसकी आंख खुल जायगी यानी वह जाग्रत हो जाता है, तब उसके हृदय में इतना कम्प होने लगता है और वह ऐसी किसीएक वस्तु का अभाव अनुभव करने लगता है कि, जिसे वह वाणी या भाषा में प्रकट नहीं कर सकता तब वह फूट-फूट कर रोने लगता है। वह बहुत ही उदास हो जाता है । इसका कारण यह है कि भगवान् सत्यस्वरूप एवं पूर्णानन्दमय हैं । उसकी आत्मा उस सुषुप्ति-अवस्थामें सत्यस्वरूप भगवान्‌को लाभ करती है

एवं वह पूर्ण सुख अनुभव करता रहता है। उस अवस्था से विच्युत होनेसे उसकी आत्मा उस अवस्था की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो जाती है। हम जो नित्यनियमित रूपसे जपादि या साधनादि कर रहे हैं, उसका प्रधान उद्देश्य तो यह है कि, हमारा जपादि सदा सर्वावस्थामें हमें सदा याद रहे। तन्द्रा तथा निद्रामें ही जिसका इष्ट मंत्रादि याद नहीं रहते हैं, तब भला उसे सुषुप्ति में उनकी याद कैसी रहेगी? फिर जाग्रत अवस्था में ही जब हम जपादि भूल जाते हैं, तो फिर उपर्युक्त अवस्थाओंमें हमारी क्या दशा होगी? इसी कारण जपादि कार्य ठीक ठीक प्रकार से सम्पन्न होने पर वे सदैव के लिए याद रहेंगे, तथा जिन्हें हम तन्द्रा, निद्रा, सुषुप्ति किसी भी अवस्थामें भूल नहीं सकेंगे। नहीं तो मृत्यु के समय जब यमराजरूपी अज्ञात आकर गर्दन पकडेगा, तब हमारी दशा तोतेकी भाँति हो जायगी न? तब मृत्यु के बाद तो अज्ञान के द्वारा पकड लिया जाने पर हमें इष्ट मंत्रादि याद रह ही कैसे सकते हैं? इसीलिए जाग्रत, तन्द्रा, निद्रा और सुषुप्ति में जिसको इष्ट मंत्र का विस्मरण नहीं होता है, वह यमराज को भी अंगूठा बताकर सर्वापत्ति से मुक्त हो सच्चिदानन्दस्वरूप सद्गुरु के श्रीश्रीचरण में लीन हो जाता है।

अतः सद्गुरु-प्रदत्त अजपा-साधन ऐसा एक अनुपम विषय है, जिसका फलाफल हाथो-हाथ साधकको अनुभव होता है। परंतु यम-नियमयुक्त साधकके सिवा इसकी प्राप्ति सर्वथा असंभव होने पर भी किसी किसी भाग्यवान् साधकको श्रीश्री सद्गुरु की विशेष अनुकम्पा से यह साधना अवश्य प्राप्त हो जाती है। ऐसे भाग्यवान् मानव संसार में विरल होने पर भी वे अवश्य विद्यमान हैं—रहेंगे। अस्तु।

हां, तो साधनमार्ग अनंत हैं। कोई भी सज्जन यह नहीं सोचे कि, इस पुस्तक का वर्णित मार्ग के सिवा उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। क्योंकि जिस प्रकार दूकान पर एक ही प्रकार के तथा एक ही मापके कोट रक्खे जाय तो, वह कोट किसी किसी को बराबर बैठ सकता है सही? लेकिन अधिकांश व्यक्तियों के लिए वे काम के नहीं आ सकेंगे। ठीक इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के भी अनेक मार्ग विद्यमान हैं। अतः वे यदि इस पुस्तक में वर्णित साधना न भी करें, तो कोई हर्ज नहीं है। परंतु यम-नियम की साधना तो अति अवश्य ही करना चाहिए; उसके सिवा गत्यंतर नहीं। अनंत पथ, अनंत मत, अनंत प्रकारकी साधना, सभीका मुख्य उद्देश भगवत्प्राप्ति है। अतः कोई सज्जन मुझे अथवा इस पुस्तक में वर्णित विधिको साम्प्रदायिक मत समझकर पददलित न करें; क्योंकि यह भी साधन का एक मार्ग मात्र है। फिर यह मार्ग भी नवीन नहीं, सनातन है। अनेक योगी, ऋषि, मुनि, अनेक सन्त, महात्मा इस मार्ग से भी कैवल्यमुक्ति के अधिकारी बन गये हैं। गुरु-कृपा से यह मार्ग मुझे प्राप्त हुआ और इस मार्ग से मैंने भी अनेक प्रकार का आनन्द प्राप्त किया है। इस कारण यदि मेरे लेखसे किसी आर्त का उपकार हो जाय, तो मैं अपने को अहोभाग्य समझूंगा। इसी आशा से यह पुस्तक लिखी गई है। इसका दूसरा एक कारण यह भी है कि, विश्वकल्याण के सर्वश्रेष्ठ मासिकपत्र "कल्याण" के "योगांक" (१९३४) में "आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय" नामक एक लेख लिखा था। उस लेखके प्रकाशित होनेके बाद अनेक सज्जन मुझसे मिले और अनेक पत्रादि आने लगे। उनमेंसे अनेक सज्जन साधनामें प्रवृत्त हो गये। वह लेख बहुतही संक्षिप्त था। अतः उन लोगोंके आग्रहसे इस पुस्तक को लिखनेका प्रयत्न किया गया है।

मैं कोई लेखक नहीं हूँ। विद्या-बुद्धि भी मुझमें इतनी कम है कि, यदि मैं सच कहना चाहूँ, तो लोग मुझे असत्यवादी ही समझेंगे। अविद्वान् होते हुए भी जो कुछ लिखा है, वह सब सद्गुरु की कृपासे ही लिखा है—अपनी शक्ति से नहीं। इस कारण यदि कुछ भूल-भ्रांति या यशप्रतिष्ठा हो तो वह सभी मैं उनकेही चिरशांतिमयके श्रीश्रीचरण-सरोजोंमें समर्पण कर मुक्त हो जाता हूँ। इस पुस्तकसे यदि कुछ भी लाभ हो, तो वह भी उनके समाधिमंदिर में सप्रेम समर्पण करता हूँ। अर्थात् इसके सर्वस्व हर्ता-कर्ता वे ही हैं- मैं नहीं।

अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए, नाना शास्त्र मन्थन करके कालक्षेप न कर "कल्याण" के "योगांक" से मैंने अनेक शास्त्रोक्तियाँ उद्धृत की हैं तथा श्रीश्री सद्गुरु महाराज की "योगी गुरु" "ज्ञानी गुरु" पुस्तक

से भी विशेष सहायता ली है। इस कारण मैं इनको धन्यवाद नहीं देता हूं; क्योंकि वे तो मेरे अपने ही हैं।

मैं भिन्न भाषाभाषी हूँ, मेरी मातृभाषा बंगाली है। अतः टुटे-फुटे शब्द से पुस्तक लिखा हूँ। भाषा का ज्ञान भी मुझे तथैवच है। अतः किसी भी कारण वश कोई भूल भ्रान्ति हो या किसीके हृदय को किसी भी कारण से कोई कष्ट पहुँचे तो, मैं हाथ जोडकर उनके समीप क्षमाप्रार्थी हूँ। विश्वास है कि वे मुझे क्षमा करते हुए आशीष देंगे कि, श्रीश्रीसद्गुरु के श्रीश्रीचरणसरोजों में मेरी निश्चला भक्ति तथा अटूट विश्वास सदा सर्वदा सर्वावस्था में विद्यमान रहे।

अन्तमें बिदा लेते समय, मैं प्रत्येक पाठक, साधक तथा समालोचक के समीप फिर हाथ जोडकर क्षमा प्रार्थना करते हुए जगदाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वसाधनतत्त्वदर्शी, महायोगीन्द्र श्रीश्रीसद्गुरुमहाराज परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वतीदेवके श्रीश्रीचरण-कमलोंमें गिडगिडाकर आकुल प्रार्थना करता हूँ कि, वे अपनी अहैतुकी कृपासे सर्व जीवों की आत्मा को जाग्रत कर स्वरूप में पहुँचाने का अनुग्रह करें।

भक्तपदारविन्द-भिक्षु
गोपाल

देवृकामा अथवा देवकामा ?

इस विषयका लेख गत 'वैदिक धर्ममें' छापा और उसमें यह सिद्ध किया कि, 'ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद नहीं है। अतः वह वहां मानना अशुद्धि है और विवाहमें नियोगका ध्यान करनेका आदेश माननाभी भ्रान्ति है। ये लेख अनेक विद्वानोंके पास संमत्यर्थ भेजे गये, जिनमेंसे निम्न लिखित संमतियाँ प्राप्त हुई हैं।

पं० नरदेवशास्त्रीजी, आचार्य महाविद्यालय, ज्वालापुर की सम्मति।

(मार्गशीर्ष कृ० १० सं० १९९८)

मैं अभी सेंट्रल जेल, बरेली से छूटकर आकर, बैठा ही था कि, डाकमें आपके 'वैदिक धर्म' के कार्तिक मास का अंक मिला। आपका "देवकामा अथवा देवृकामा" लेख दो बार पढा- लेख इतना गम्भीर, इतना सुंदर, इतने पुष्ट प्रमाणोंसे परिपूर्ण है कि, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोडी है। एक वर्षतक जेलमें बन्द रहनेके कारण देश के समाचार हमको मिले ही नहीं। किसने क्या लिखा, इस बातको छोडभी दिया जाय, तो भी जो आपका लेख पढेगा, वह अवश्य आपसे सहमत हो जायगा।

— पं० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ।

पं० रामचन्द्रजी, अम्बाला की संमति।

(ता० ९।११।४१)

आपका लेख "देवकामा या देवृकामा" पढा। चिरकालसे मेरा यह ख्याल था कि, देवृकामाका जो अर्थ संस्कारविधि (अजमेर वैदिक यंत्रालयमुद्रित)में किया गया है, बहुतही मौकेके विपरीत तथा साधारण बुद्धि (Commonsense) के भी विपरीत है। आपने बडा उपकार किया, जो जनता की आंखें इस त्रुटिकी ओर खोल दीं। आशा है कि हठ छोडकर विद्वान् इस त्रुटिको दूर कर देंगे।

(पं०) रामचन्द्रजी, बी. ए., रिटायर्ड हेडमास्टर, रामनिवास, अम्बाला सिटी, पंजाब।

यात्रियों की सेवा में एक प्रार्थना।

[लेखक- श्री. पं. रामचन्द्रजी, हेडमास्टर, अम्बाला]

महोदय यात्री भाईयों ! आप लोग घरबार छोड कर कई प्रकार के कष्ट सहकर, तथा बडा खरच करके कुरुक्षेत्र-भूमि तथा हरिद्वार-प्रयागादि प्रसिद्ध स्थानों के तीर्थों का स्नान करने के लिये पधारा करते हैं। आप का बडा सौभाग्य है। परन्तु आप को यह ध्यान रहे कि, विधिविधान को अनुसरण किये बिना जो काम किया जाता है, वह पूरा फलदायक नहीं होता। शास्त्र कहते हैं " यद् विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। " अर्थात् जो भी अनुष्ठान आप करें, आप यदि उसको उसकी विधि, तथा उपनिषद् से हीन होकर करेंगे, तो उसका उचित फल नहीं होगा।

अतः इस भावना से प्रेरित होकर कि आप की यह यात्रा सफल हो, आप का कष्ट फलदायक हो, यह दास आप की सेवा करना चाहता है, यदि आप इसको स्वीकार करेंगे, तो आप का बडा अनुग्रह होगा।

१. प्रथम विचार यह है कि, तीर्थ क्या है ?- इस के सम्बन्ध में यह विचार है कि, तीर्थ तीन प्रकार के कहे गये हैं- १ स्थावर अर्थात् नदी, तालाबक्षेत्र, बन, पर्वत इत्यादि स्थान जिन में महात्माओं, ऋषिमुनियोंने अपने अनुष्ठान और तपस्या से एक ऐसा वातावरण उत्पादन किया हुआ है कि, जिस में श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से श्वास लेने, रहन सहन करने, स्नान, दान, तप, जप, करने से मनुष्य की आत्मा उच्च होती है।

२. मानसतीर्थ, यथा-

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्व भूत दया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं क्षमा तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादनम्॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
(स्कन्दपुराण- ६-३०-३२)

अर्थात् सत्य, क्षमा, इंद्रियनिग्रह, प्राणीमात्र पर दया, ऋजुता, दान, मनोनिग्रह, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रिय भाषण, विवेक, धृति और तपस्या (कष्ट सहन)। इन में सब से बडी मन की परम शुद्धि ही है। बस यह तीर्थयात्रा एक प्रकार का मनबहलावा है, जिस के द्वारा यात्री को इन उत्तम गुणों को अपने मन में, अपने जीवन में सम्पादन करने का अवसर मिलता है।

३. जंगम तीर्थ, महात्मा लोग जो तीर्थस्थानों पर निवास करते हों- धर्मराज युधिष्ठरने महात्मा विदुर से यही कहा था-

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदामृता॥
(१-१३-१०)

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्तेऽघभिद् हरिः॥
(भा० ९-९-६)

जो साधु ऐसे हैं कि, जिन्होंने इस लोक और परलोक की सारी वासनाओं का त्याग कर दिया है, जो शान्तचित्त, ब्रह्मनिष्ठ और स्वाभाविक तौर पर ही लोगों को पवित्र करते रहते हैं, वे अपने सत्संग से ही दूसरों के पापों को धो देते हैं, क्योंकि उन के भीतर अघनाशक भगवान् सदा ही निवास करते हैं।

सो प्रिय यात्रियों ! इन तीन प्रकार के तीर्थों में ही स्नान करना चाहिये। जैसा कि कहा है-

तेषु सम्यक् नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥

अतः आप केवल तीर्थों में स्नान करना तथा थोडाबहुत दान कर देना ही काफी न समझें। स्नान, दान, तप, जप भी करें और साधु महात्माओंका सत्संग भी करें। क्योंकि-

नलिनीदलगत जलवत् तरलं,
तद्वज्जीवनमतिशय चपलम्।

क्षणमपि सज्जन संगतिरेका,
भवति भवार्णव तरणे नौका ॥

मानुषी जीवन पद्मपत्र में ठहरे हुए जल की तरह चंचल है। इस का कोई भरोसा नहीं कि, कब समाप्त हो जावे। हां यह भगवान् की कृपा है कि, उसने यह नियम बना दिया है कि, मनुष्य इस असार जीवन से सार पदार्थ (मोक्ष) को उपलब्ध कर सके। वह नियम है कि, यदि मनुष्य विधिवत् एक क्षणभर भी महात्माओंका संग करले, तो वह उस का सत्संग संसारासार सागर से तरने के लिये एक नौका का काम दे जाता है।

२. तीर्थयात्रा की विधि-

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयुतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहात् उपावृत्तः संतुष्टो येन केन चित्।
अहंकार विमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अदाम्भिको निरारम्भो लघ्वाहारी जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वसंगैर्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

अर्थात् तीर्थयात्रा क्या है ? एक तरह का अवसर है, जिस में यात्री को हाथ, पैर और मन का संयम करने का मौका मिलता है। अपनी विद्या, विज्ञान और अनुभव को बढाना है। दान, जप, तप से कीर्ति बढाना और प्रतिग्रह को त्याग करने से अपनी आत्मा को उच्च बनाना है। जो कुछ मिल गया, उसी पर गुजारा करने से संतोष, धृति और धैर्य को प्राप्त करना है। अपने से अनेक रूप में बडों को देखकर अपने अहंकार और दम्भ को मिटाना है। घर-बार से कुछ समय पृथक् रहकर, सांसारिक आरम्भों से छुटकारा पाकर आत्म-स्मरण में मन को लगाना है। लघु (हितमित) आहार करने से आत्म-संयम तथा जितेन्द्रियता को लाभ करना है। सब कुसङ्गों से दूर रहकर क्रोध, लालच, मोहादि से पृथक् रहकर इन का मुकाबला करना सीखना है। ऐसा करने से उस के मन की मलिनता दूर होकर उसके अन्दर सत्य का संवेश होता है। उस का व्रत दृढ और वह सब भूतों को आत्मवत् समझने लग जाता है। बस जो यात्री ऐसा करता है, वही यात्रा का पूरा फल पाता है, परन्तु जो श्रद्धाहीन, पापात्मा, शास्त्रों में अविश्वासी संशयात्मा तथा जो केवल सैर सपाटे के वास्ते ही तीर्थयात्रा करते हैं, उनको कुछ फल नहीं मिलता, जैसा कि, निम्नलिखित श्लोक में दिखाया गया है—

अश्रद्धानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥

बस भाईयों ! देखे, टटोलो कि आप की यात्रा सचमुच की तीर्थयात्रा है या निरी बुरी विडम्बना है ? यदि आप को यह अनुभव होने लग जावे कि, तीर्थयात्रा के पश्चात् आप के मन का वासनाओं की ओर उतना खिचाव नहीं रहा, जितना पहले था। आप के अन्दर आत्म-संयम का भाव आने लग गया है, सत्य का अंकुर उत्पन्न होने लग गया है, दया की भावना जाग उठी है, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से आप मुकाबला करना सीख गये हैं, तो समझो कि आपकी यात्रा ठीक है। आप का कष्ट उठाना तथा रुपया व्यय करना सफल है, नहीं तो नहीं, आपका तीर्थस्थान केवल जलस्नान ही रहेगा, आत्म-ज्ञान की नदी में स्नान करना जरूरी है, बाहर के जलाशय उस के साधनमात्र हैं, जैसा कि कहा है—

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था।
सत्योदका शीलतटादयोर्मिः ॥
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र,
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थ- आत्मारूपी नदी में, संयमरूपी तीर्थ में, सत्यरूपी जल में, दयारूपी लहरों में आनकर हे पांडुपुत्र केवल जल में स्नान करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती।

३ यदि यात्री निम्नलिखित बातों का पालन करेंगे, तो उन की यात्रा स्वयमेव सफल हो जावेगी।

१. जब घर से यात्रा को जाना चाहो, तो मन में यह धारण करें कि, हमें यात्रा से कुछ आत्मोन्नति का लाभ उठाना है। अपनी कुछ त्रुटियों, कमियों, दुर्व्यसनों, दुःस्वभावों की पडताल करो और यह धारण करो कि, यात्रा से आकर अमुक अमुक बुरी बातों को पुनः अपने जीवन या आचरण में स्थान नहीं पाने देंगे। याद रक्खो यह मनोभावना बडी बलवती है। ऐसा धारण करते ही ये दुर्व्यसन भागना आरम्भ कर देंगे।

२. घर से चलने से पहिले पितृश्राद्ध तर्पण करो। जीवित पितरों से नम्रतापूर्वक आशीर्वाद लेकर चलो।

३- पूर्व समयमें तो यात्रा पैदल ही की जाती थी, परन्तु इस समय यह साधारणतया सम्भव नहीं। अतः सवारी में चलो, परन्तु जहांतक हो सके बैलगाडी की सवारी न करें, तो अच्छा है। रेल या मोटर का सफर सब से अच्छा है।

४. तीर्थस्थान पर आकर स्थान और वर्तनों के सिवाय कोई अन्य वस्तु किसी से ग्रहण न करो। मितहितभोजन करो। सात्त्विक पदार्थ ही खाओ पीवो। यह समझते हुए कि यहां आप अपने अन्दर सतोगुण सम्पादन करने ही आये हैं। प्याज, लसन, मांस, सिगरट आदि मादक तथा उत्तेजक द्रव्यों का सेवन न करो। जहां तक हो सके अपना भोजन आप ही बनाओ। बाजार के भोजन से परहेज ही करो, क्योंकि इस में सतोगुण का नाम भी नहीं होता। प्रथम तो घी, आटा, आदि सभी पदार्थ मिलावटी होने से स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक होते हैं। द्वितीय, उनके बेचनेवाले लोभादि दुर्भावों से युक्त मन और हाथों से उनको तैयार करते हैं। अतः उनके अन्दर शुभ और सात्त्विक प्रभाव नहीं रहता।

५. यात्रा में ऐश व इशरत के सामानों, जैसे सिनेमा, टाकीज, खेल तमाशे आदि दुर्व्यसनों से बचना चाहिए, यह तो घरों में नित्य प्रति प्राप्त ही हैं। यात्रा में भी इनके पीछे भटकना यात्रा के महत्त्व को तिरस्कृत करना ही है।

६. भोग और ऐश्वर्य को क्षणभंगुर समझते हुए, विवेक और वैराग्य को अपने अन्दर सम्पादन करके इंद्रियों और मनको वश में करने का पूरा प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके वास्ते अपने समय को भजन, कीर्तन, स्वाध्याय, सत्संग, साधु-सेवा, आर्त सेवा, जप, तप, स्नानध्यानादि शुद्ध व्यवहारों में लगाये रखना चाहिए।

७. काम, क्रोध, लोभ, मोहवश होकर किसी भी प्राणीको दुःख नहीं देना चाहिए। कुलियों, मजदूरों वगैरह से जो काम लिया जाय, उसके बदले उनको पूरी मजदूरी देनी चाहिए।

८. जब कीर्तन, स्वाध्याय या अन्य स्नानादि साधनों से खाली होओ, तो मौन रहना चाहिए। किसी की निंदा, स्तुति में वृथा समय नहीं खोना चाहिए।

९. जब किसी महात्मा से मिलो, तो श्रद्धापूर्वक उनसे अपनी शंकाओं की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करो। उनकी सेवाशुश्रूषा से उनके चित्त को प्रसन्न करके आशीर्वाद प्राप्त करो।

१०. मलमूत्र को तीर्थस्थानों से दूर फासले पर त्यागना चाहिए। तीर्थों को साबुन आदि से गन्दा करना भी पाप है। यदि आवश्यकता हो, तो घाटों से परे जाकर कपडा साफ करो। तीर्थ में तेल या साबुन से स्नान करना भी उचित नहीं।

११. अपने किसी भी संगवाले को किसी नौकरचाकर को भारी विपत्ति आने पर भी मत छोडो। किसी आत्मा का तिरस्कार करना भगवान् का ही तिरस्कार करना है, भगवान् ही सबकी आत्मा है। बीमारी या अन्य आपत्ति आने पर अपने संगी की पूरी सहायता करो।

१२. जैसे तीर्थ में किये हुए स्नान, दान, जप, तप आदि का महान् फल है, वैसे ही वहां किये हुए कूट, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि का पाप भी कई गुना लगता है। इसलिये तीर्थों में किसी प्रकार का जरा भी पापाचरण नहीं करना चाहिए।

१३. सर्दी, गर्मी, सुखदुःख, हानिलाभादि अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थों या घटनाओं को भगवान् की देन समझ कर सदा और सर्वथा प्रसन्न-वदन रहकर सहन करना चाहिए। उपनिषदों में इसको भी बडी तपस्या बतलाया है।

१४- तीर्थों पर जाकर कुछ शास्त्रानुसार दान भी करना चाहिए, क्योंकि इससे त्याग और वैराग्यका भाव बनता है। परन्तु दान के सम्बन्धमें यह ख्याल रहे कि जो दान देश, काल, पात्रको देखकर बिना किसी इच्छाके दिया जाता है, वही दान सात्त्विक है। सात्त्विक दान ही सचमुच दान है।

१५. मेलों के मौके पर बहुत से दम्भी और ठग लोग साधु या ब्राह्मण का रूप धार कर लोगों को ठगा करते हैं। ऐसे धूर्तों से बचते रहना चाहिए।

दान के सम्बन्ध में ये गीता के श्लोक सदा ध्यान में रहने चाहिए-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशेकाले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

से भी। जो दान करो, वह श्रद्धा से करो, जो जप, तप, स्नान, देवदर्शन, पूजन करो, वह भी श्रद्धा से करो। श्रद्धा बिना इनका कुछ फल नहीं। तथा–

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अर्थात् अश्रद्धा से हवन, दान, तप, जप, क्रिया 'असत्' कहलाती है। उसका फल न यहां है और न वहां, अर्थात् परलोक में।

१७. तीर्थोंपर जाकर तीर्थोंके पुरातन इतिहास, मर्यादा तथा फलको जानने और सुनने का प्रयत्न करो। ऐसा करने से पुरातन इतिहास का ज्ञान, ऋषिवचनों में श्रद्धा और भगवद्भक्ति बढती है और इसका फल भी बहुत है। यथा–

मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम्।
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात्॥
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमाप्नुयात्।
शूद्रो यातीप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन्॥
यश्चेदं शृणुयान् नित्यं तीर्थपुण्यं सदाशुचिः।
जातिं स्मरणत्वमाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते॥

अर्थ– तीर्थ का कीर्तन करना अथवा सुनना बुद्धि को बढाता है, उन्नतिपथ पर अग्रसर करता है। पुत्रहीन पुत्र को, और धनहीन धन को पाता है, तथा शूद्र मनःकामनाओं की प्राप्ति करता है, ब्राह्मण तो संसार से पार ही हो जाता है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है। और जो लोग तीर्थमहत्त्व को नित्य श्रद्धा से सुनते हैं, उनका अन्तरात्मा ऐसा पवित्र हो जाता है कि, उनको पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है और वे स्वर्ग-सुख को प्राप्त हो जाते हैं।

१८. जो वस्तु (छाता, जूता, वस्त्र, बर्तन इत्यादि) दान करो, वह निरी पूरी दिखावे की चीज न हो, अपि तु सुन्दर, बढिया, बर्तनेयोग्य होनी चाहिए। निकम्मी, हलकी चीजों का दान करना श्रद्धा की कमी का द्योतक है और श्रद्धाहीन कर्म निष्फल ही है। जब आप किसी बडे राजा या मित्र को कोई वस्तु उपहारके तौर पर देते हो, तो यथाशक्ति सुन्दर से सुन्दर देते हो। तो क्या जब तुम कुछ प्रभु के अर्पण करते हो, वह सर्वोत्तम नहीं होनी चाहिए? लोग प्रायः निकम्मी, सारहीन वस्तुओं, बूढी गउओं को दान देकर समझ लेते हैं कि, उन्होंने दान कर दिया। आप विश्वास करें कि यह कदापि दान नहीं। कोई भी वस्तु दान में न दो, जिसका आप स्वयं प्रयोग न करना चाहें।

१९. दान देकर ब्राह्मण पर अहसान न करो। उसने तो आप पर बडी कृपा की है, जो आपका प्रतिग्रह लेकर आप का फायदा और अपना नुकसान किया है। और नाही अपने दान को गाते फिरो। यह तो करीधरी को खो देना है।

२०. तीर्थों में केवल जल या स्थान बुद्धि न रक्खो, अपितु यह समझो कि इन स्थानों में या अवसरों में विशेष प्रभाव गर्भित है। जब आप उस प्रभावविशेष की बुद्धि लेकर वहां स्नानादि करोगे, तभी आपको उसका फल मिलेगा। फूल पर मधुमक्खी भी बैठती है, मकडी भी। परन्तु मधुमक्खी मधु की भावना से बैठती है, तो उसको मधु ही मिलता है, और मकडी जहर की भावना से बैठती है, तो उसको जहर ही मिलेगा। इसी प्रकार आप तीर्थों को भी समझें कि ये शुभ शक्तियों से प्रभावित किए गए स्थान विशेष हैं। क्या आप जानते नहीं कि स्थानविशेष में समयविशेष पर किये हुए कर्मविशेष कितने फलदायक होते हैं? स्थान-भ्रष्ट तथा समय-भ्रष्ट कार्य लाभके स्थानमें हानि पहुँचाते हैं। अतः इन शास्त्रवचनों पर विश्वास रक्खो–

यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः॥

अर्थात्, जैसे शरीर के कतिपय भाग पवित्रतम माने गए हैं, उसी तरह पृथिवी के कतिपय भाग (तीर्थादि) बहुत पवित्र माने गए हैं, क्यों? इसका उत्तर यह है–

प्रभावादद्भुतात् भूमेः सलिलस्य च तेजसः।
परि ग्रहान्मुनीनांच तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

अर्थात् भूमि, जल, तेज के अद्भुत प्रभाव के कारण, तथा मुनियों, महर्षियों, सन्तों और महात्माओं के निरन्तर निवास के कारण तीर्थों में पवित्रता की सम्भावना है।

नोट– यहां 'प्रभाव, से मतलब 'भौतिक प्रभाव' नहीं, अपितु 'आत्मिक प्रभाव' है।

बस श्रद्धेय यात्रियों! यदि आप लोग इन उपरोक्त पंक्तियों को पढकर थोडी देर विचारेंगे, तो आपको तीर्थ-यात्रा का महत्त्व ज्ञात हो जावेगा और आपकी यात्रा भगवान् सफल करेंगे, तथा यह सेवक भी आपका अनुगृहीत होगा।

वैदिक-धर्म

वर्ष २२ की

विषय-सूची।

पौष १९९७; जनवरी १९४१

सर्वाधार प्रभु। १
सदैकत्ववाद और द्वैतवाद। २
ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप। १७
कृष्ण कौन? २६
स्वास्थ्यरक्षा और हवनयज्ञ। २८
श्राद्ध और तर्पण पर विचार। ३४
श्री वाल्मीकि रामायण का भाषानुवादसमेत मुद्रण। ४४
वेदोपदेश। १७-२४
ऋग्वेदानुक्रमणी। ९७-१०४

माघ १९९७; फर्वरी १९४१

बड़ा यक्ष। ४३
अहल्या के उद्धार की कथा। ४४
वेद (ब्राह्म) धर्म ही सर्वतोभद्र क्यों है? ५५
धर्म, शिक्षण और समाज। ६२
आर्य विद्वानों से। ६४
मानसपापं। ६६
माताजी से वार्तालाप। ६९
वैदिक देवता। ७६
ऋग्वेदानुक्रमणी। १०५-११२
वेदोपदेश। २५-४०

फाल्गुन १९९७; मार्च १९४१

आधारस्तम्भ। ८३
संपूर्ण वेदों की पढाई की आयोजना। ८४
कल्याण की बात। ८५
अहल्या का जार। ९७
वैदिक देवता। ९९
भगवान् की सृष्टि में यह असंतोष क्यों? १०७
भृगुवंश और भारत। ११७
वेदोपदेश। ४१-४८
ऋग्वेदानुक्रमणी। ११३-१२८

चैत्र १९९८; अप्रैल १९४१

शत्रूपर हमला करो। १२३
दैवत-संहिता। १२४
स्वर्ग और नर्क तथा मोक्ष। १२५
भृगुवंश और भारत। १२८
चारों वेदों की पढाई पांच वर्षों में कैसी होगी? १४९
माताजी से वार्तालाप। १५१
ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप। १५६
वैदिक देवता। १६१
ऋग्वेदानुक्रमणी। १२९
वेदोपदेश। ४९-६४

वैशाख १९९८; मई १९४१

ईश्वर। १७३
ऋग्वेद-संहिता (नया संस्करण कैसा है?) १७४
एकोऽहं बहुस्याम। १७५
माताजी से वार्तालाप। १७९
यह असंतोष क्यों? १८५
क्या सत्ता एक है या अनेक? १९१
यज्ञ का व्यावहारिक स्वरूप। १९५
आचार्य स्वामी अभयदेवजी। १९७
ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप। २०२

ऋग्वेदानुक्रमणी । १३१-१५४

ज्येष्ठ १८६३; जून १९४१

प्रभु की महिमा । २०९
स्वाध्याय का संघ । २१०
सदैक्यवादपर शंकाएं । २११
मुक्तिसे लौटना !!! २२१
ब्राह्मण । २२५
नादानुसंधान । २३५
ईश्वरवादका वास्तविक स्वरूप । २४३
वेदका अध्ययन । २५१
ऋग्वेदानुक्रमणी । १५५-१७६

आषाढ १८६३; जोलाई १९४१

पुत्र । २५३
वाल्मीकि रामायण का मुद्रण । २५४
वैदिक सिद्धांत और मतमतांतर । २५५
माताजीसे वार्तालाप । २७१
ऋग्वेद का नया संस्करण संमतियाँ । २७६
नवीन विश्वविद्यालय । २७७
ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप । २८३
योग क्या है ? २८५
ऋगर्थ-दीपिका (समाप्त) १-१४

श्रावण १८६३; अगस्त १९४१

धन । २९३
श्री वाल्मीकि रामायण का मुद्रण । २९४
रामायणकालीन आर्यसंस्कृति । २९५
माताजीसे वार्तालाप । ३२३
आनन्दमय सृष्टि में असंतोष क्यों ? ३२९
योग क्या है ? ३३५
ब्राह्मण क्या हुए ? ३४३

भाद्रपद १८६३; सितंबर १९४१

ईश्वर उपासना । ३५१
श्री वाल्मीकि रामायण का मुद्रण । ३५२
रामायणकालीन आर्यसंस्कृति । ३५३
योग क्या है ? ३९३
ब्राह्मण क्या थे ?
चार वेदोंकी संहिताएं । ४०८

आश्विन १८६३; अक्तूबर १९४१

उन्नति । ४०९
स्वाध्याय-मंडल का कार्य । ४१०
वेदो रक्षति रक्षितः । ४११
माताजीसे वार्तालाप । ४१४
गायत्री । ४२३
भक्त के भगवान् (भाग दूसरा) ४२९
रामायणकालीन आर्यसंस्कृति (समाप्त) ४३३
श्री वाल्मीकि रामायण का मुद्रण । ४६३
शुद्ध चार वेद । ४६४

कार्तिक १८६३; नवम्बर १९४१

गृहकी स्वामिनी । ४६५
वाल्मीकि रामायण का बालकाण्ड तैयार हुआ । ४६६
ऋग्वेद में देवकामा है अथवा देवृकामा ? ४६७
योग क्या है ? ४७१
ब्राह्मण । ४९९
हिंदी साहित्य-संमेलन ३० वाँ अधिवेशन, अबोहर ५०७
माताजीसे वार्तालाप । ५०९
स्वास्थ्य-रक्षा और हवन । ५१३
दैवत-संहिता । ५२१

मार्गशीर्ष १८६३, डिसेंबर १९४१

प्रजाओंसे अमरत्व । ५२२
वेद और अन्यमत । ५२३
पुनर्जन्म और मुक्ति । ५२४
ऋग्वेदीय शब्द-निर्वचनों का ऋग्वेदीय आधार
पातञ्जल योगानुशासनं नाम शास्त्रम् । ५४४
सदाचार । ५४७
ब्राह्मण । ५५५
अष्टाध्यायी की अन्वर्थक संज्ञाएं । ५६५
अवतरणिका । ५६७
यात्रियों की सेवामें एक प्रार्थना । ५७२

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	।)	१।।)
२ यजुर्वेद	२)	।।)	।)	।।।)
३ सामवेद	३)	।।)	।)	।।।)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण (छप रहा है)	३)	१)	।।)	१।।)
	१३)	३।)	१।।)	४।।।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	।।।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	।।)	१।।)
३ काठक संहिता	५)	१)	।।)	१।।)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	।।)	१।।)
	१८)	३।।।)	१।।=)	५।।।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्ते यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध



